श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य

अथवा

कर्मयोगशास्त्र

लेखक

बाल गंगाधर तिलक

ॐ गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः॥ स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयोधाः। पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम्। विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रेस्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि। वैष्णवमसि विष्णवे त्वा। अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव। देव सवितर्यज्ञम्प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे। तेन यज्ञमवतेन यज्ञपतिं तेन मामव। मनोजूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञꣳ समिमं दधातु। विश्वेदेवास इह मादयन्तामों ३ प्रतिष्ठ॥

एक बार महाकवि इमर्सन संत थोरो के पास गये। उस समय महात्मा थोरो एक वृक्ष के नीचे टूटी खाट पर लेटे हुए थे। आस पास सर्प तथा बिच्छू भी आराम से चारों ओर पड़े थे। महाकवि ने संत महोदय से पूछा कि आप को इन विषाक्त जन्तुओं से भय नहीं लगता? इसपर संत महोदय ने भगवान की वाङ्मयीमूर्ति गीता की पुस्तक अपने सिरहाने से निकाल कर कहा भय कहाँ है जब कि गीतामाता मेरी रक्षा के लिए यहाँ मौजूद हैं where is fear when mother is there to protect ऐसी थी की भावना गीता के प्रति

The Hindu Philosophy of Life, Ethics and Religion

ॐ तत्सत् ।

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य
अथवा
कर्मयोगशास्त्र

गीता की बहिरंगपरीक्षा, मूल संस्कृत श्लोक, भाषा अनुवाद, अर्थनिर्णायक टिप्पणी, पूर्वी और पश्चिमी मतों की तुलना, इत्यादि सहित ।

लेखक

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

अनुवादक

श्रीमान् माधवरावजी सप्रे

नवम मुद्रण ।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

गीता. ३. १९.

शके १८७२] [सन १९५० ई.

मूल्य १२ रुपये

प्रकाशक
श्री. जयन्त श्रीधर तिलक
घरक्रमांक ५६८, नारायण पेठ, लो. तिलक-मन्दिर (गायकवाड वाडा), पुणें नं. २

मुद्रक
श्रीमान् वि. गं. केतकर,
लोकसंग्रह छापखाना, ६२४, सदाशिव पेठ, पुणें २.

॥ अथ समर्पणम् ॥

श्रीगीतार्थः क्व गंभीरः व्याख्यातः कविभिः पुरा ।
आचार्यैर्यश्च बहुधा क्व मेऽल्पविषया मतिः ॥

तथापि चापलादस्मि वक्तुं तं पुनरुद्यतः ।
शास्त्रार्थान् संमुखीकृत्य प्रत्नान् नव्यैः सहोचितैः ॥

तमार्याः श्रोतुमर्हन्ति कार्याकार्य-दिदृक्षवः ।
एवं विज्ञाप्य सुजनान् कालिदासाक्षरैः प्रियैः ॥

बालो गांगाधरिश्चाऽहं तिलाकान्वयजो द्विजः ।
महाराष्ट्रे पुण्यपुरे वसन् शांडिल्यगोत्रभृत् ॥

शाके मुन्यग्निवसुभू---संमिते शालिवाहने ।
अनुसृत्य सतां मार्गं स्मरंश्चापि वचो* हरेः ॥

समर्पये ग्रंथमिमं श्रीशाय जनतात्मने ।
अनेन प्रीयतां देवो भगवान् पुरुषः परः ॥

---

* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
गीता ९. २७.

गीतारहस्य की भिन्न भिन्न आवृत्तियाँ

(१)	मराठी	(पहली आवृत्ति)	जून, सन १९१५
	,,	(दूसरी ,,)	सप्टेंबर, १९१५
	,,	(तीसरी ,,)	१९१८
	,,	(चौथी ,,)	१९२३
	,,	(पाँचवी—दो भागों में पहली आवृत्ति)	१९२४-१९२६
	,,	(छठ्वी ,,)	१९५०
(२)	गुजराती	(पहली ,,)	१९१७
	,,	(दूसरी ,,)	१९२४
(३)	हिन्दी	(पहली ,,)	१९१७
	,,	(दूसरी ,,)	१९१८
	,,	(तीसरी ,,)	१९१९
	,,	(चौथी ,,)	१९२४
	,,	(पाँचवी ,,)	१९२५
		(दो भागों में पहिली आवृत्ति)	१९२६
	,,	(छठ्वी ,,)	१९२८
	,,	(सातवी ,,)	१९३३
	,,	(आठवी ,,)	१९४८
	,,	(नौवी ,,)	१९५०
(४)	कानड़ी	(पहली ,,)	१९१९
(५)	तेलगू	(पहली ,,)	१९१९
(६)	बंगला	(पहली ,,)	१९१९
(७)	तामिल	(दो भाग, अपूर्ण)	१९२४
(८)	अंग्रेजी	(दो भागोंमें)	१९२४
			१९३६

लो. तिलकजी के अन्य अंग्रेजी ग्रंथ।

(१) The Orion
वेदकाल का निर्णय, प्रथम संस्करण सन १८९३
द्वितीय संस्करण सन १९१६
तृतीय ,, सन १९२५

(२) The Arctic Home in The Vedas
आर्यों का मूल निवासस्थान, प्रथम संस्करण सन १९०३
द्वितीय संस्करण सन १९२५

(३) Vedic Chronology Vedânga Jyotish
वेदों का कालनिर्णय और वेदाङ्ग ज्योतिष, प्रथम संस्करण सन १९२५

भारतीय आध्यात्मिकता का सुमधुर फल

" प्रत्यक्ष अनुभव से यह स्पष्ट दिखाई देता है, कि श्रीमद्भगवद्गीता वर्तमान युग में भी उतनी ही नाविन्यपूर्ण एवं स्फूर्तिदात्री है, जितनी कि महाभारत में समाविष्ट होते समय थी। गीता के सन्देश का प्रभाव केवल दार्शनिक अथवा विद्वच्चर्चा का विषय नहीं है, अपितु आचार-विचारों के क्षेत्र में भी विद्यमान् होकर मार्ग बतलानेवाला है। एक राष्ट्र तथा संस्कृति का पुनरुज्जीवन गीता का उपदेश करता आया है। संसार के अत्युच्च शास्त्र-विषयक ग्रन्थों में उसका अविरोध से समावेश हुआ है। गीताग्रन्थ पर स्वर्गीय लोकमान्य तिलकजी की व्याख्या निरी मल्लीनाथी व्याख्या नहीं है। वह एक स्वतंत्र प्रबन्ध है। उसमें नैतिक सत्य का उचित निदर्शन भी है। अपनी सूक्ष्म और व्यापक विचारप्रणाली तथा प्रभावोत्पादक लेखनशैली के कारण मराठी भाषा का पहली श्रेणी का यह पहला प्रचण्ड गद्यग्रन्थ अभिजात वाङमय में समाविष्ट हुआ है। इस एकही ग्रन्थ से यह स्पष्ट होता है, कि यदि तिलकजी सोचते तो मराठी साहित्य और नीतिशास्त्र के इतिहास में एक अनोखा स्थान पा सकते। किन्तु विधाता ने उनकी महत्ता के लिये वाङमयक्षेत्र नहीं रखा था! इसलिये केवल मनोरंजनार्थ उन्होंने अनुसंधान का महान् कार्य्य किया। यह अर्थपूर्ण घटना है कि उनकी कीर्ति अजरामर करनेवाले उनके अनुसंधान-ग्रन्थ उनके जीवितकार्य्यों से विवशतापूर्वक लिये हुए विश्रान्तिकाल में निर्मित हुए हैं। स्वर्गीय तिलक जी की प्रतिभा के ये गौण आविष्कार भी इस हेतु से सम्बद्ध हैं कि इस राष्ट्र का महान् भवितव्य उसके उज्ज्वल गतेतिहास के योग्य हो। गीतारहस्य का विषय जो गीताग्रन्थ है वह भारतीय आध्यात्मिकता का परिपक्व सुमधुर फल ह। मानवी श्रम, जीवन और कर्म की महिमा का उपदेश अपनी अधिकारवाणी से देकर सच्चे अध्यात्म का सनातन सन्देश गीता दे रही है; जो कि आधुनिक काल के ध्येयवाद के लिये आवश्यक है।



बाबू अरविन्द घोष

— बाबू अरविंद घोष

दिव्य 'टीका'-मौक्तिक

" बाल्यावस्था में ही मुझे ऐसे शास्त्रीय ग्रन्थ की आवश्यकता प्रतीत होने लगी, जो कि जीवितावस्था के मोह तथा कसौटी के समय उचित मार्गदर्शक हो। मैंने कहीं पढ़ा था, कि केवल सात सौ श्लोकों में गीता ने सारे शास्त्रों का और उपनिषदों का सार-गागर में सागर-भर दिया है। मेरे मन का निश्चय हुआ। गीतापठन सुविधाजनक होने की दृष्टि रखकर मैंने संस्कृत का अध्ययन किया। वर्तमान अवस्था में तो गीता मेरा बाइबल या कुराण ही नहीं; बल्कि प्रत्यक्ष माता ही हुई है। अपनी लौकिक माता से तो कई दिनों से मैं बिछुड़ा हूँ! किन्तु तभीसे गीतामैया ने ही मेरे जीवन में उसका स्थान ग्रहण कर लिया है और उसकी त्रुटी नहीं के बराबर कर दी। आपत्काल में वही मेरा सहारा है।



महात्मा गान्धी

स्वर्गीय लोकमान्य तिलकजी अपने अभ्यास एवं विद्वत्ता के ज्ञानसागर से 'गीता प्रसाद' के बलपर ही यह दिव्य टीका-मौक्तिक पा चुके। बुद्धि से आविष्कार करने के व्यापक सत्य का भण्डार ही उन्हें गीता में प्राप्त हुआ।

गीतापर तिलकजी की टीकाही उनका शाश्वत स्मारक है। स्वराज्य के युद्ध में विजयश्री प्राप्त होनेपर भी वह सदा के लिये बना रहेगा। तिलक जी का विशुद्ध चारित्र्य और गीतापर उनकी महान् टीका दोनों बातों से उनकी स्मृति चिरप्रेरक होगी। उनके जीवनकाल में अथवा साम्प्रत भी असा कोई व्यक्ति मिलना असम्भव है; जिसका उनसे अधिक व्यापक और गहरा शास्त्रज्ञान हो। उनकी गीतापर जो अधिकारयुक्त टीका है, उससे अधिक मौलिक ग्रन्थ की निर्मिति न अभीतक हुई है और न निकट के भविष्यत्काल में होने की संभावना है। गीता और वेद से निर्मित समस्याओंका तिलकजीने जो सुचारु रूपसे संशोधन किया है, उससे अधिक अभीतक और किसीने नहीं किया है। अथाह विद्वत्ता, असीम स्वार्थत्याग और आजन्म देशसेवा के कारण जनताजनार्दन के हृन्मन्दिर में तिलकजी ने अद्वितीय स्थान पा लिया है। "

(बनारस-कानपुर के अभिभाषण)

-- महात्मा गान्धी

प्रकाशक का निवेदन

मेरे पितामह स्वर्गीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महोदय प्रणीत श्रीमत् भगवद्गीता अथवा कर्मयोगशास्त्र ग्रंथ का नवम मुद्रण प्रकाशित करने का सुअवसर आज प्राप्त हुआ है। इसके तीन संस्करण लोकमान्यजी के जीवनकाल में प्रसिद्ध हो चुके थे। चतुर्थ संस्करण में इस ग्रंथका थोड़े में इतिहास दिया था। यहाँ भी उसको रखना मैं उचित मानता हूँ।

गीतारहस्य ग्रन्थ लो. तिलक महोदय ने बर्मा के मण्डाले नगर में कारागृहवास के समय में लिखा था यह प्रस्ताव सर्वत्र सुविदित है। इस ग्रन्थ के मसविदे का आरम्भ मण्डाले में ता. २ नवम्बर सन १९१० में करके लगभग ९०० पृष्ठों का यह सम्पूर्ण ग्रन्थ ता. ३० मार्च १९११ के रोज़ (अर्थात् केवल पाँच महीनों में) उन्होंने अपने हाथ से अलग कर दिया, ऐसा हमारे पास की इस ग्रन्थ की मूल पेन्सिल से लिखी हुई हस्तलिखित चार प्रतियों से ज्ञात होता है। सोमवार, ता. ८ जून १९१४ इस रोज़ लोकमान्य महोदय की मण्डाले के कारागृह से मुक्तता हुई। वहाँ से पुणे को लौट आने पर कई सप्तकों तक राह देखके भी, मण्डाले के कारागृह के अधिकारी के स्वाधीन की हुई गीतारहस्य की हस्तलिखित पुस्तक जल्दी वापिस करने का सरकार का इरादा देख नहीं पड़ा। जैसे जैसे अधिक दिन व्यतीत हो जाने लगे, वैसे वैसे सरकार के हेतुओं के लिये लोक अधिकाधिक साशंक होते चले। कोई कोई तो आखिर स्पष्ट कहने लगे कि "सरकार का विचार कुछ ठीक नहीं मालूम होता। पुस्तकें वापिस नहीं करने का ढंग ही ज्ञात होता है"। ऐसे शब्द जब किसी के मुँह से निकल कर लोकमान्यजी के कानों पर आते थे, तब वे कहा करते थे, कि—'डरने का कुछ कारण नहीं। ग्रन्थ यदि सरकार के स्वाधीन है, तो भी उसका मज़मून मेरे मस्तिष्क में है। निवृत्ति के समय में शांतता से सिंहगढ़ के किले पर मेरे बंगले में बैठ कर ग्रन्थ फिर से मैं यथास्थित लिख डालूँगा'।—यह आत्मविश्वास की तेजस्वी भाषा उतरती उम्रवाले—अर्थात् ६० वर्ष के—वयोवृद्ध गृहस्थ की है, और यह ग्रन्थ मामूली नहीं; बल्कि गहन तत्त्वज्ञान के विषय से भरा हुआ ९०० पृष्ठों का है। इन सब बातों को ध्यान में लेने से लोकमान्य महोदय के प्रवृत्तिपर-प्रयत्नवाद की यथार्थ कल्पना त्वरित हो जाती है। सुभाग्य से तदनन्तर जल्दी से सरकार की ओर से सभी पुस्तकें सुरक्षित वापिस हुईं; और लोकमान्य के जीवनकालमें ग्रन्थ की तीन हिन्दी आवृत्तियाँ प्रकाशित हुईं।...............

गीतारहस्य का मूल मसविदा चार पुस्तकों में था, यह उल्लेख ऊपर किया गया है । उन पुस्तकों के सम्बन्ध में विशेष परिचय इस प्रकार है :—

पुस्तक ।	विषय ।	पृष्ठ	लिखने का काल ।
१	रहस्य, प्र. १ से ८ ।	१ से ४१३ ।	२ नवंबर १९१० से ८ दिसम्बर १९१०
२	रहस्य, प्र. ९ से १३ ।	१ से ४०२ ।	१३ दिसेंम्बर १९१० से १५ जनवरी १९११
३	रहस्य, प्र. १४ से १५ ।	१ से १४७	
	बहिरंगपरीक्षण ।	१५१–२४४ और ४०१–४१२.	
	मुखपृष्ठ, समर्पण और श्लोकों का अनुवाद ।	२४५–२४७	१५ जनवरी १९११ से ३० जनवरी १९११
	अध्याय १–३ ।	२४९–३९९	
४	श्लोकों का अनुवाद अध्याय ४ से १८ ।	१–३४० ३४४–३७४ ३८५–४०७	१० मार्च १९११ से ३० मार्च १९११
	प्रस्तावना ।	३४१–३४३ ३७५–३८४	

पुस्तक की अनुक्रमणिका, समर्पण और प्रस्तावना भी लोकमान्य महोदय ने कारागृह में लिखी थी; और जगह जगह पर कौन कौन-सी बातें रखनी थीं, उनकी सूचना भी लिख कर ग्रन्थ परिपूर्ण कर रखा था। उसपर से, उनको कारागृह से अपने जीते जी मुक्तता होगी या नहीं इस बात का भरोसा नहीं था; और मुक्तता न होने के कारण अपने परिश्रमपूर्वक संपादन किया हुआ ज्ञान और उस से सूचित विचार व्यर्थ न जायँ; बल्कि उनका लाभ अगली पीढ़ी को मिले यह उनकी अत्युत्कट इच्छा थी, यों ज्ञात होता है। पुस्तक की अनुक्रमणिका पहले दोनों पुस्तकों के आरम्भ में उन पुस्तकों के विषय की ही है; पुस्तक का मुखपृष्ठ और समर्पण तीसरे पुस्तक में २४५ से २४७ पृष्ठों में हैं और प्रस्तावना चौथे पुस्तक में ३४१ से ३४३ और ३७५ से ३८४ पृष्ठों में है। कारागृह से मुक्तता होने पर प्रस्तावना में कुछ सुधार किया गया है; और वह जिन्हों ने प्रकाशनकाल में सहायता दी थी उन व्यक्तिनिर्देशविषयक है। इस विषय में प्रथमावृत्ति की प्रस्तावना के अन्तिम पैरिग्राफ़ के पहले के पैरिग्राफ़ में लिखा है। अंतिम पैरिग्राफ़ तो कारागृह में ही लिखा हुआ था।

उनमें से पहली पुस्तक में पहले आठ प्रकरणों को 'पूर्वार्ध' संज्ञा दी गई है (वह पुस्तक के पृष्ठ के चित्र से ज्ञात होगा), दूसरी पुस्तक को उत्तरार्ध भाग पहला और तीसरी को उत्तरार्ध भाग दूसरा इस प्रकार संज्ञाएँ दी गई हैं। उसपर से ग्रंथ के

प्रथम दो भाग करने का उनका विचार था, यों ज्ञात होता है। उनमें से पहली पुस्तक के आठ प्रकरणों का मसविदा केवल एक महीने में ही लिखकर तैयार हुआ था; और ये ही प्रकरण अत्यन्त महत्त्व के हैं। उस पर से लोकमान्य महोदय इस विषय से कितने ओतप्रोत तैयार थे, इसका और उनके अस्खलित प्रवाह का यथार्थ ज्ञान पाठकों को सहज ही होगा। पुस्तकों से पृष्ठ फाड़ देने की अथवा नये जोड़ने की कारागृह के नियमानुसार उनको आज्ञा न थी; किन्तु विचार से सूचित होनेवाली बातों को नये पृष्ठों के भीतर जोड़ने की सुविधा उनको मिली थी। यह खबर दूसरे और तीसरे पुस्तक के मुखपृष्ठ में अन्दर के बाजू में दी हुई बातों से ज्ञात होती है। पहली तीन पुस्तकें एक एक महीने की अवधि में लिखी हैं। अन्तिम पुस्तक सिर्फ़ एक पक्ष में लिखी है। मुख्य बाबत दाहिने हाथ के तरफ़ के पृष्ठों पर लिखके उन पृष्ठों के पीछे की कोरी बाज़ू पर अगले पृष्ठ पर की अधिक बढ़नेवाली बाबत जोड़ी है। आशा है, कि मूल हस्तलिखित प्रति-सम्बन्धी जिज्ञासा इस विवेचन से पूर्ण होगी।

इस ग्रन्थ का जन्म होने के पहले प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में उनका व्यासंग जारी था, इसका उत्तम प्रमाण उनके और दो ग्रन्थों में है। 'मासानां मार्गशीर्षोऽहं' (गीता. १०–३५ गीतारहस्य पृष्ठ ७६०) इस श्लोक का अर्थ (भावार्थ) निश्चित करते समय उन्होंने वेद के महोदधि में डूबके 'ओरायन' रूपी मुक्ता जनता के स्वाधीन की है; और वेदोदधि का पर्यटन करते करते ही आर्यों के मूल वसतिस्थान का पता लगाया है। कालानुक्रम से गीतारहस्य अन्तिम ठहरा; तो भी महत्त्वदृष्टि से उसको ही—ऊपर के दो पुस्तकों का पूर्ववृत्तान्त ध्यान में रखने से—आद्यस्थान देना पड़ता है। गीता के संबंध के व्यासंग से ही ये दो पुस्तकें निर्माण हुई हैं। 'ओरायन' पुस्तक की प्रस्तावना में लोकमान्य महाशय ने गीता के अभ्यास का उल्लेख किया है।

"ओरायन" और "आर्यों का मूल वसतिस्थान" ये दोनों ग्रंथ यथावकाश प्रसिद्ध हुए और जगत्भर में विख्यात हो चुके। परन्तु गीतारहस्य लिखने का मुहूर्त लोकमान्य के तीसरे दीर्घ कारावास से प्राप्त हुआ। ऊपर लिखे हुए दोनों ग्रंथों का लेखन भी कारागृह में ही हुआ है। सार्वजनिक प्रवृत्तियों की उपाधि से मुक्त हो कर ग्रंथलेखन के लिये आवश्यक स्वस्थता कारागृह में मिल सकी। परन्तु प्रत्यक्ष ग्रंथलेखन का आरम्भ करने के पूर्व में उनको बड़ी भारी मुसीबतों से झगड़ना पड़ा। उन्हें उनके ही शब्दों में इस जगह कहना उचित है:— "ग्रंथ के संबंध में तीन वक्त तीन हुक्म आये...सब पुस्तकें मेरे पास रखने का कुछ दिन बन्द होकर सिर्फ़ चार पुस्तकें एक ही समय रखने का हुक्म हुआ। उस पर बर्मा सरकार को अर्ज़ करने पर ग्रंथलेखन के लिये सब पुस्तकें मेरे पास रखने की परवानगी हुई। पुस्तकों की संख्या जब मैं वहाँ से लौटा, तब ३५० से ४०० तक हुई थी। ग्रंथलेखन के लिये जो कागज़ देने में आते थे, वे छूटे न

दे कर, जिल्दबंद किताब बाँध के भीतर के सफ़े गिनके और उनपर दोनों ओर नम्बर लिख कर देने में आते थे; और लिखने को स्याही न देके सिर्फ़ पेन्सिलें छील कर देने में आती थीं"। (लोकमान्य तिलक महाशय के छूटने के बाद की पहली मुलाक़ात — "केसरी" ता. ३० जून १९१४)

अपनी कल्पनाशक्ति को थोड़ा ही और तान देने से वाचकवृन्द तिलक महोदय को ग्रन्थलेखन में कैसी मुसीबतों का सामना करना पड़ा होगा, यह बराबर समझ लेंगे। तिस पर भी उनकी पर्वाह न करके सन १९१० के जाड़े में उन्हों ने हस्तलिखित नक़ल लिखकर तैयार कर दी। पुस्तक का कच्चा मसविदा तैयार होने की ख़बर उन्होंने १९११ साल के आरम्भ में एक पत्र में देने पर वह पत्र सन १९११ के मार्च महीने में "मराठा" पत्र की एक संख्या में समग्र प्रसिद्ध हुआ। गीतारहस्य में दिया हुआ विवेचन लोगों को अधिक सुगम हो, इस कारण से तिलक महोदय ने सन १९१४ के गणेशोत्सव में चार व्याख्यान दिये थे; और बाद में ग्रन्थ छापने के काम का आरम्भ होने पर १९१५ के जून महीने में उसका पूर्णावतार हुआ। इसके आगे का पूर्ण इतिहास सर्वत्र सुविदित है।

काग़ज़-महर्गता के दिनों में जैसा काग़ज़ मिल गया उसीपर अष्टम संस्करण प्रकाशित करना पड़ा। इस ग्रंथ का अष्टम संस्करण ईसवी सन १९४८ में प्रकाशित हुआ। कई कारणोंसे यह कार्य संतोषप्रद न हो सका। ई. स. ४८ में महात्मा गान्धीजी की हत्या के अनन्तर सारे महाराष्ट्रभर जो अग्निकाण्ड हुआ उसमें 'लोकसंग्रह' मुद्रणालय भी भस्मसात् हुआ; जिसमें इस ग्रन्थ के अष्टम मुद्रण का कार्य्य चालू था। उसके कारण इस ग्रन्थ का आधा कार्य्य वैसाही छोड़ना पड़ा। ऐसी अवस्था में अन्य मुद्रणालयोंकी सहाय्यता हमें लेनी पड़ी, किन्तु मूलग्रन्थ जैसे टाइपोंकी वहाँ भी कमी थी। मुद्रण के अन्य साधन भी अत्यल्प थे। इसी-लिये किसी तरह अष्टम संस्करण छपाना पड़ा।

हम मानते हैं कि इस नयी आवृत्ति को देखकर पाठक अवश्यही सन्तोष पाएँगे। जहाँतक हो सके, इस नवम आवृत्ति को अद्ययावत् टिकाऊ एवं सुशोभित करने के लिये भारी परिश्रम उठाये गये हैं। इसकी विशेषता यह है, कि इसकी जिल्द पूर्णतया कपड़े की है; और ग्रन्थ में सफ़ेद काग़ज़ का उपयोग किया है।

कालानुसार आधुनिकता लाने की दृष्टि से ग्रन्थ के ऊपर वेष्टन चढ़ाने की कल्पना निकल पड़ी। ऐसी चाह थी, कि वेष्टनपर स्वर्गीय लोकमान्य तिलक-महोदय का—तथा उनकी कल्पना के अनुसार कुरुक्षेत्र की रणभूमि का—चित्र खिंचवा दिया जाय। मेरे चित्रकार-मित्र श्रीमान् दलालजी ने मूल कल्पना की

अपेक्षा भी वे दोनों चित्र इतनी सफलतापूर्वक चित्रित किये, कि उनकी अलग प्रशंसा करने की कोई आवश्यकता नहीं रही। चित्रकार से मोहक एवं अत्युत्तम चित्र खिंचवाये जानेपर भी छपाई का कार्य्य उतनी ही लगन से करना पड़ता है। बॉम्बे आर्ट आॉफ़सेट अॅण्ड लिथो वर्क्स ने वेष्टन–छपाई का वह कार्य्य अत्यन्त अल्पावधि में सुचारु रूपसे पूर्ण कर दिया।

इस प्रकार इस ग्रन्थ की सजावट में अनेकों ने परिश्रम उठाये हैं। स्वतन्त्र भारत के भाग्यशाली पाठकों के हाथ में आज यह ग्रन्थ हम दे रहे हैं। आशा है कि पाठक इसका सहर्ष और सानन्द स्वीकार करेंगे।

गणेशचतुर्थी
पुणें, दि. १५ सप्टेंबर १९५० } ज. श्री. टिळक

अनुवादक की भूमिका

भूमिका लिख कर महात्मा तिलक के ग्रन्थ का परिचय कराना मानों सूर्य को दीपक से दिखलाने का प्रयत्न करना है। यह ग्रन्थ स्वयं प्रकाशमान् होने के कारण अपना परिचय आप ही दे देता है। परन्तु भूमिका लिखने की प्रणाली-सी पड़ गई है। ग्रन्थ को पाते ही पत्र उलट-पलट कर पाठक भूमिका खोजने लगते हैं। इसलिये उक्त प्रणाली की रक्षा करने और पाठकों की मनस्तुष्टि करने के लिये इस शीर्षक के नीचे दो शब्द लिखना आवश्यक हो गया है।

सन्तोष की बात है, कि श्रीसमर्थ रामदासस्वामी की अशेष कृपा से तथा सद्गुरु श्रीरामदासानुदास महाराज (हनुमानगढ़, वर्धा निवासी श्रीधर विष्णु परांजपे) के प्रत्यक्ष अनुग्रह से जब से मेरे हृदय में अध्यात्म विषय की जिज्ञासा उत्पन्न हुई है, तभी से इस विषय के अध्ययन के महत्त्वपूर्ण अवसर मिलते जाते हैं। यह उसी कृपा और अनुग्रह का फल था कि मैं संवत् १९७० में श्रीसमर्थ के दासबोध का हिन्दी अनुवाद कर सका। अब उसी कृपा और अनुग्रह के प्रभाव से लोकमान्य बाल गंगाधर तिलककृत श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य के अनुवाद करने का अनुपम अवसर हाथ लग गया है।

जब मुझे यह काम सौंपा गया, तब ग्रन्थकार ने अपनी यह इच्छा प्रगट की, कि मूलग्रन्थ में प्रतिपादित सब भाव ज्यों-के-त्यों हिन्दी में पूर्णतया व्यक्त किये जायँ। क्योंकि ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों पर जो आक्षेप होंगे, उनके उत्तरदाता मूल लेखक ही हैं। इसलिये मैंने अपने लिये दो कर्तव्य निश्चित किये।—(१) यथामति मूलभावों की पूरी पूरी रक्षा की जावे; और (२) अनुवाद की भाषा यथाशक्ति शुद्ध, सरल, सरस और सुबोध हो। अपनी अल्पबुद्धि और सामर्थ्य के अनुसार इन दोनों कर्तव्यों के पालन करने में मैंने कोई बात उठा नहीं रखी है। और मेरा आन्तरिक विश्वास है, कि मूलग्रंथ के भाव यत्किञ्चित् भी अन्यथा नहीं हो पाये हैं। परन्तु सम्भव है, कि विषय की कठिनता और भावों की गम्भीरता के कारण मेरी भाषा-शैली कहीं कहीं क्लिष्ट अथवा दुर्बोध–सी हो गई हो। और यह भी सम्भव है, कि ढूँढनेवालों को इसमें 'मराठीपन की बू' भी मिल जाय। परन्तु इसके लिये किया क्या जाय? लाचारी है। मूलग्रन्थ मराठी में है। मैं स्वयं महाराष्ट्र का हूँ। मराठी ही मेरी मातृभाषा है। महाराष्ट्र देश के केन्द्रस्थल पुणें में ही यह अनुवाद छापा गया है! और मैं हिन्दी का कोई 'धुरंधर' लेखक भी नहीं हूँ। ऐसी अवस्था में यदि इस ग्रन्थ में उक्त दोष न मिले, तो बहुत आश्चर्य होगा।

यद्यपि मराठी 'रहस्य' को हिन्दी पोशाक पहना कर सर्वांगसुंदर रूप से हिन्दी पाठकों के उत्सुक हृदयों में प्रवेश कराने का यत्न किया गया है; और ऐसे

महत्त्वपूर्ण विषय को समझाने के लिये उन सब साधनों की सहायता ली गई है, कि जो हिन्दी साहित्य-संसार में प्रचलित हैं; फिर भी स्मरण रहे, कि यह केवल अनुवाद ही है--इसमें वह तेज नहीं आ सकता, कि जो मूलग्रंथ में है। गीता के संस्कृत श्लोकों के मराठी अनुवाद के विषय में स्वयं महात्मा तिलक ने उपोद्घात (पृष्ठ ५९८) में यह लिखा है :--"स्मरण रहे, कि अनुवाद आखिर अनुवाद ही है। हमने अनुवाद में गीता के सरल, खुले और प्रधान अर्थ को ले आने का प्रयत्न किया है सही; परन्तु संस्कृत शब्दों में और विशेषतः भगवान् की प्रेमयुक्त, रसीली, व्यापक और क्षण क्षण में नई रुचि उत्पन्न करनेवाली वाणी में लक्षणा से अनेक व्यंग्यार्थ उत्पन्न करने का जो सामर्थ्य है, उसे ज़रा भी न घटाबढ़ा कर दूसरे शब्दों में ज्यों-का-त्यों झलका देना असम्भव है...।" ठीक यही बात महात्मा तिलक के ग्रंथ के इस हिन्दी अनुवाद के विषय में कही जा सकती है।

एक तो विषय तात्त्विक, दूसरे गम्भीर और फिर महात्मा तिलक की वह ओजस्विनी, व्यापक एवं बिकट भाषा, कि जिसके मर्म को ठीक ठीक समझ लेना कोई साधारण बात नहीं है। इन दुहरी-तिहरी कठिनाइयों के कारण यदि वाक्य-रचना कहीं कठिन हो गई हो, दुरूह हो गई हो या अशुद्ध भी हो गई हो, तो उसके लिये सहृदय पाठक मुझे क्षमा करें। ग्रंथके अनुवाद में किन किन कठिनाइयों से सामना करना पड़ता है और अपनी स्वतन्त्रता का त्याग कर पराधीनता के किन किन नियमों से वन्ध जाना होता है? इसका अनुभव वे सहानभूतिशील पाठक और लेखक ही कर सकते हैं, कि जिन्होंने इस ओर कभी ध्यान दिया है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी को इस बात का अभिमान है, कि वह महात्मा तिलक के गीतारहस्यसम्बन्धी विचारों को अनुवादरूप में उस समय पाठकों को भेंट कर सकी है, जब कि और किसी भी भाषा का अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ,--यद्यपि दो एक अनुवाद तैयार थे। इससे आशा है, कि हिन्दीप्रेमी अवश्य प्रसन्न होंगे।

अनुवाद का श्रीगणेश जुलाई सन् १९१५ में हुआ था; और दिसंबर में उसकी पूर्ति हुई। जनवरी १९१६ से छपाई का आरंभ हुआ, जो जून सन १९१६ में समाप्त हो गया। इस प्रकार एक वर्ष में यह ग्रन्थ तैयार हो पाया। यदि मित्रमंडली ने मेरी पूर्ण सहायता न की होती तो मैं इतने समय में इस काम को कभी पूरा न कर सकता। इनमें वैद्य विश्वनाथराव लुखे और श्रीयुत मौलिप्रसादजी का नाम उल्लेख करने योग्य है। कविवर बा० मैथिलीशरण गुप्त ने कुछ मराठी पद्यों का हिन्दी रूपान्तर करने में अच्छी सहायता दी है। इसलिये ये धन्यवाद के भागी हैं। श्रीयुत पं० लल्लीप्रसाद पाण्डेय ने जो सहायता की है, वह अवर्णनीय एवं अत्यन्त प्रशंसा के योग्य है। लेख लिखने में, हस्तलिखित प्रति को दुहराने में और प्रूफ़ का संशोधन करने में आपने दिनरात कठिन परिश्रम किया है। अधिक क्या कहा जाय! घर छोड़ कर महीनों तक आपको इस काम के लिये पूने में रहना पड़ा है। इस सहायता और उप--

कार का बदला केवल धन्यवाद दे देने से ही नहीं हो जाता। हृदय जानता है, कि मैं आपका कैसा ऋणी हूँ ! हि० चि० ज० के संपादक श्रीयुत भास्कर रामचंद्र भालेराव ने तथा और भी अनेक मित्रों ने समय समय पर यथाशक्ति सहायता की है। अतः इन सब महाशयों को मैं आन्तरिक धन्यवाद देता हूँ ।

एक वर्ष से अधिक समय तक इस ग्रन्थ के साथ मेरा अहोरात्र सहवास रहा है। सोते जागते इसी ग्रन्थ के विचारों की मधुर कल्पनाएँ नजरों में झूलती रही हैं। इन विचारों से मुझे मानसिक तथा आत्मिक अपार लाभ हुआ है। अतः जगदीश्वर से यही विनय है, कि इस ग्रन्थ के पढ़नेवालों को इससे लाभान्वित होने का मंगलमय आशीर्वाद दीजिये।

श्रीरामदासी मठ, रायपुर (सी. पी.)
देवशयनी ११, मंगलवार, संवत् १९७३ वि०

माधवराव सप्रे

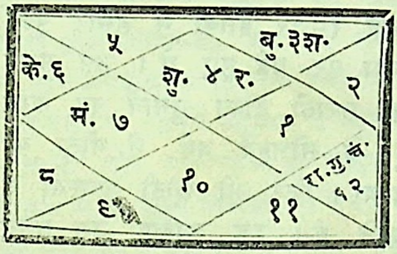
लो० तिलकजी की जन्मकुंडली, राशिकुंडली

तथा

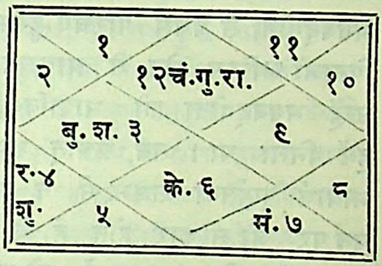
जन्मकालीन स्पष्टग्रह

शके १७७८ आषाढ कृष्ण, ६ सूर्योदयात् गत घ. २, प. ५.

जन्मकुंडली



राशिकुंडली



जन्मकालीन स्पष्टग्रह

र.	चं.	मं.	बु.	गु.	शु.	श.	रा.	के.	ल.
३	११	६	२	११	३	२	११	५	३
८	१६	४	२४	१७	१०	१७	२७	२७	१९
१९	३	३४	२९	५२	८	१८	३९	३९	२१
५१	४६	३७	१७	१६	२	७	१६	१६	३१

प्रस्तावना

संतों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी ।

जानूँ उसका भेद भला क्या, मैं अज्ञानी ॥ *

श्रीमद्भगवद्गीता पर अनेक संस्कृत भाष्य, टीकाएँ तथा देशी भाषाओं में सर्वमान्य निरूपण हैं। ऐसी अवस्था में यह ग्रन्थ क्यों प्रकाशित किया गया ? यद्यपि इसका कारण ग्रन्थ के आरम्भ में ही बतलाया दिया गया है, तथापि कुछ बातें ऐसी रह गई हैं, कि जिनका ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के विवेचन में उल्लेख न हो सकता था। उन बातों को प्रकट करने के लिये प्रस्तावना को छोड़ और दूसरा स्थान नहीं है। इनमें सब से पहली बात स्वयं ग्रन्थकार के विषय में है। कोई तेतालीस वर्ष हुए, जब हमारा भगवद्गीता से प्रथम परिचय हुआ था। सन १८७२ ईसवी में हमारे पूज्य पिताजी अन्तिम रोग से आक्रान्त हो शय्या पर पड़े हुए थे। उस समय उन्हें भगवद्गीता की भाषाविवृति नामक मराठी टीका सुनाने का काम हमें मिला था। तब, अर्थात् अपनी आयु के सोलहवें वर्ष में गीता का भावार्थ पूर्णतया समझ में न आ सकता था। फिर भी छोटी अवस्था में मन पर जो संस्कार होते हैं, वे दृढ हो जाते हैं। इस कारण उस समय भगवद्गीता के सम्बन्ध में जो चाह उत्पन्न हो गई थी, वह स्थिर बनी रही। जब संस्कृत और अंग्रेजी का अभ्यास अधिक हो गया, तब हमने गीता के संस्कृत भाष्य, अन्यान्य टीकाएँ और मराठी तथा अंग्रेजी में लिखे हुए अनेक पण्डितों के विवेचन समय समय पर पढ़े। परन्तु, अब मन में एक शङ्का उत्पन्न हुई; और वह दिनोंदिन बढ़ती ही गई। वह शङ्का यह है, कि जो गीता उस अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये बतलाई गई है, कि जो अपने स्वजनों के साथ युद्ध करने को बड़ा भारी कुकर्म समझ कर खिन्न हो गया था, उस गीता में ब्रह्मज्ञान से या भक्ति से मोक्षप्राप्ति की विधि का—निरे मोक्षमार्ग का—विवेचन क्यों किया गया है ? यह शङ्का इसलिये और भी दृढ होती गई, कि गीता की किसी भी टीका में इस विषय का योग्य उत्तर ढूँढे न मिला। कौन जानता है, कि हमारे ही समान और लोगों को भी यही शंका हुई न होगी ! परन्तु टीकाओं पर ही निर्भर रहने से टीकाकारों का दिया हुआ उत्तर समाधानकारक न भी जँचे, तो भी उसको छोड़ और दूसरा उत्तर सूझता ही नहीं है। इसीलिये हमने गीता की समस्त टीकाओं और भाष्यों को लपेट कर धर दिया; और केवल

* साधु तुकाराम के एक 'अभङ्ग' का भाव।

गीता के ही विचारपूर्वक अनेक पारायण किये। ऐसा करने पर टीकाकारों के चंगुल से छूटे; और यह बोध हुआ कि गीता निवृत्तिप्रधान नहीं है; वह तो कर्मप्रधान है। और अधिक क्या कहें! गीता में अकेला 'योग' शब्द ही 'कर्मयोग' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महाभारत, वेदान्तसूत्र, उपनिषद् और वेदान्तशास्त्रविषयक अन्यान्य संस्कृत तथा अंग्रेज़ी भाषा के ग्रन्थों के अध्ययन से भी यही मत दृढ होता गया; और चार पाँच स्थान में इसी विषयों पर व्याख्यान इस इच्छा से दिये कि सर्वसाधारण में इस विषय को छेड़ देने से अधिक चर्चा होगी। एवं सत्य तत्त्व का निर्णय करने में और भी सुविधा हो जायगी। इनमें से पहला व्याख्यान नागपुर में जनवरी सन् १९०२ में हुआ; और दूसरा सन् १९०४ ईसवी के अगस्त महीने में, करवीर एवं संकेश्वर मठ के जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य की आज्ञा से उन्हीं की उपस्थिति में संकेश्वर मठ में हुआ था। उस समय नागपुर-वाले व्याख्यान का विवरण भी समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त इसी विचार से, जब जब समय मिलता गया, तब तब कुछ विद्वान् मित्रों के साथ समय समय पर वाद-विवाद भी किया। इन्हीं मित्रों में स्वर्गीय श्रीपती बाबा भिंगारकर थे। इनके सहवास से भागवत सम्प्रदाय के कुछ प्राकृत ग्रन्थ देखने में आये; और गीतारहस्य में वर्णित कुछ बातें तो आप के और हमारे वाद-विवाद में ही पहले निश्चित हो चुकी थीं। यह बड़े दुःख की बात है, कि आप इस ग्रन्थ को न देख पाये। अस्तु; इस प्रकार यह मत निश्चित हो गया, कि गीता का प्रतिपाद्य विषय प्रवृत्तिप्रधान है; और इसको लिख कर ग्रन्थरूप में प्रकाशित करने का विचार किये भी अनेक वर्ष बीत गये। वर्तमान समय में पाये जानेवाले भाष्यों, टीकाओं, और अनुवादों में जो गीतातात्पर्य स्वीकृत नहीं हुआ है, केवल उसे ही यदि पुस्तकरूप से प्रकाशित कर देते—और इसका कारण न बतलाते, कि प्राचीन टीकाकारों का निश्चित किया हुआ तात्पर्य हमें ग्राह्य क्यों नहीं है—तो बहुत सम्भव था कि लोग कुछ-का-कुछ समझने लग जाते—उनको भ्रम हो जाता। और समस्त टीकाकारों के मतों का संग्रह करके उनकी सकारण अपूर्णता दिखला देना, एवं अन्य धर्मों तथा तत्त्वज्ञान के साथ गीताधर्म की तुलना करना कोई ऐसा साधारण काम न था, जो शीघ्रतापूर्वक चटपट हो जाय। अतएव यद्यपि हमारे मित्र श्रीयुत दाजी-साहब खरे और दादासाहब खापर्डे ने कुछ पहले ही यह प्रकाशित कर दिया था, कि हम गीता पर एक नवीन ग्रन्थ शीघ्र ही प्रसिद्ध करनेवाले हैं; तथापि ग्रन्थ लिखने का काम इस समझ से टलता गया कि हमारे समीप जो सामग्री है वह अभी अपूर्ण है। जब सन १९०८ ईसवी में सजा दे कर हम मण्डाले में भेज दिये, तब इस ग्रन्थ के लिखे जाने की आशा बहुत कुछ घट गई थी। किन्तु कुछ समय में ग्रन्थ लिखने के लिये आवश्यक पुस्तक

आदि सामग्री पूने से मँगा लेने की अनुमति जब सरकार की मेहरबानी से मिल गई, तब सन १९१०-११ के जाड़े के काल में (संवत् १९६७ कार्तिक शुक्ल १ से चैत्र कृष्ण ३० के भीतर) इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि (मसविदा) मण्डाले के जेहलखाने में पहले पहल लिखी गई । और फिर समयानुसार जैसे जैसे विचार सूझते गये, वैसे वैसे उनमें काटछाँट होती गई । उस समय समग्र पुस्तकें वहाँ न होने के कारण, कई स्थानों में अपूर्णता रह गई थी । यह अपूर्णता वहाँ से छुटकारा हो जाने पर पूर्ण तो कर ली गई है; परन्तु अभी यह नहीं कहा जा सकता, कि यह ग्रंथ सर्वांश में पूर्ण हो गया। क्योंकि मोक्ष और नीतिधर्म के तत्त्व गहन तो हैं ही। साथ ही इस सम्बन्ध में अनेक प्राचीन और अर्वाचीन पण्डितों ने इतना विस्तृत विवेचन किया है, कि व्यर्थ फैलाव से बच कर यह निर्णय करना कई बार कठिन हो जाता है, कि इस छोटे-से ग्रन्थ में किन किन बातों का समावेश किया जावे ? परन्तु अब हमारी स्थिति कवि की इस उक्ति के अनुसार हो गई है :—

यम-सेना की विमल ध्वजा अब 'जरा' दृष्टि में आती है ।
करती हुई युद्ध रोगों से देह हारती जाती है ॥ *

और हमारे सांसारिक साथी भी पहले ही चल बसे हैं । अतएव अब इस ग्रन्थ को यह समझ कर प्रसिद्ध कर दिया है, कि हमें जो बातें मालूम हो गई हैं; और जिन विचारों को हमने सोचा है, वे सब लोगों को भी ज्ञात हो जायँ । फिर कोई-न-कोई 'समानधर्मा' अभी या फिर उत्पन्न हो कर उन्हें पूर्ण कर ही लेगा ।

आरम्भ में ही यह कह देना आवश्यक है, कि यद्यपि हमें यह मत मान्य नहीं है, कि सांसारिक कर्मों को गौण अथवा त्याज्य मान कर ब्रह्मज्ञान और भक्ति प्रभृति निरे निवृत्तिप्रधान मोक्षमार्ग का ही निरूपण गीता में है; तथापि हम यह नहीं कहते, कि मोक्षप्राप्तिमार्ग का विवेचन भगवद्गीता में बिलकुल है ही नहीं । हमने भी ग्रन्थ में स्पष्ट दिखला दिया है कि, गीताशास्त्र के अनुसार इस जगत् में प्रत्येक मनुष्य का पहला कर्तव्य यही है, कि वह परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके उसके द्वारा अपनी बुद्धि को जितनी हो सके उतनी, और पवित्र कर ले । परन्तु यह कुछ गीता का मुख्य विषय नहीं है । युद्ध के आरम्भ में अर्जुन इस कर्तव्यमोह में फँसा था, कि युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म भले ही हो; परन्तु कुलक्षय आदि घोर पातक होने से जो युद्ध मोक्षप्राप्तिरूप आत्मकल्याण का नाश कर डालेगा, उस युद्ध को करना चाहिये अथवा नहीं ? अतएव हमारा यह अभिप्राय है, कि उस मोह को दूर करने के लिये शुद्ध वेदान्त के आधार पर कर्मअकर्म का और

* महाराष्ट्र कविवर्य मोरोपन्त की 'केका' का भाव ।

साथ ही साथ मोक्ष के उपायों का भी पूर्ण विवेचन कर इस प्रकार निश्चय किया गया है, कि एक तो कर्म कभी छूटते ही नहीं हैं; और दूसरे उनको छोड़ना भी नहीं चाहिये। एवं गीता में उस युक्ति का––ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग का––ही प्रतिपादन किया गया है, कि जिससे कर्म करने पर भी कोई पाप नहीं लगता; तथा अन्त में उसी से मोक्ष भी मिल जाता है। कर्म-अकर्म के या धर्म-अधर्म के इस विवेचन को ही वर्तमानकालीन निरे आधिभौतिक पण्डित नीतिशास्त्र कहते हैं। सामान्य पद्धति के अनुसार गीता के श्लोकों के क्रम से टीका लिख कर भी यह दिखलाया जा सकता था, कि यह विवेचन गीता में किस प्रकार किया गया है? परन्तु वेदान्त, मीमांसा, सांख्य, कर्म-विपाक अथवा भक्ति प्रभृति शास्त्रों के जिन अनेक वादों अथवा प्रमेयों के आधार पर गीता में कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है; और जिनका उल्लेख कभी कभी बहुत ही संक्षिप्त रीति से पाया जाता है, उन शास्त्रीय सिद्धान्तों का पहले से ही ज्ञान हुए बिना गीता के विवेचन का पूर्ण रहस्य सहसा ध्यान में नहीं जमता। इसीलिये गीता में जो जो विषय अथवा सिद्धान्त आये हैं, उनका शास्त्रीय रीति से प्रकरणों में विभाग करके प्रमुख प्रमुख युक्तियोंसहित गीतारहस्य में उनका पहले संक्षेप में निरूपण किया गया है; और फिर वर्तमान युग की आलोचनात्मक पद्धति के अनुसार गीता के प्रमुख सिद्धान्तों की तुलना अन्यान्य धर्मों के और तत्त्वज्ञानों के सिद्धान्तों के साथ प्रसङ्गानुसार संक्षेप में कर दिखलाई गई है। इस पुस्तक के पूर्वार्ध में जो गीतारहस्य नामक निबन्ध है, वह इसी रीति से कर्मयोगविषयक एक छोटा-सा किन्तु स्वतंत्र ग्रन्थ ही कहा जा सकता है। जो हो; इस प्रकार के सामान्य निरूपण में गीता के प्रत्येक श्लोक का पूर्ण विचार हो नहीं सकता था। अतएव अन्त में गीता के प्रत्येक श्लोक का अनुवाद दे दिया है; और इसी के साथ साथ स्थान पर यथेष्ट टिप्पणियाँ भी इसलिये जोड़ दी गई हैं, कि जिसमें पूर्वापर सन्दर्भ पाठकों की समझ में भली भाँति आ जाय; अथवा पुराने टीकाकारों ने अपने सम्प्रदाय की सिद्धि के लिये गीता के श्लोकों की जो खींचातानी की है, उसे पाठक समझ जायँ (देखो गी. ३. १७–१९; ६. ३; और १८. २); या वे सिद्धान्त सहज ही ज्ञात हो जायँ, कि जो गीता-रहस्य में बतलाये गये हैं। और यह भी ज्ञात हो जाय, कि इनमें से कौन कौन सिद्धान्त गीता की संवादात्मक प्रणाली के अनुसार कहाँ कहाँ किस प्रकार आये हैं? इसमें सन्देह नहीं, कि ऐसा करने से कुछ विचारों की द्विरुक्ति अवश्य हो गई है। परन्तु गीतारहस्य का विवेचन गीता के अनुवाद से पृथक् इसलिये रखना पड़ा है, कि गीताग्रंथ के तात्पर्य के विषय में साधारण पाठकों में जो भ्रम फैल गया है, वह भ्रम अन्य रीति से पूर्णतया दूर नहीं हो सकता था। इस पद्धति से पूर्व इतिहास और आधारसहित यह दिखलाने में सुविधा हो गई है, कि वेदान्त, मीमांसा और

भक्ति प्रभृति विषयक गीता के सिद्धान्त भारत, सांख्यशास्त्र, वेदान्तसूत्र, उपनिषद्, और मीमांसा आदि मूल ग्रन्थों में कैसे और कहाँ आये हैं ? इसमें स्पष्टतया यह बतलाना सुगम हो गया है, कि संन्यासमार्ग और कर्मयोगमार्ग में क्या भेद हैं ? तथा अन्यान्य धर्ममतों और तत्त्वज्ञानों के साथ गीता की तुलना करके व्यावहारिक कर्म-दृष्टि से गीता के महत्त्व का योग्य निरूपण करना सरल हो गया है। यदि गीता पर अनेक प्रकार की टीकाएँ न लिखी गई होतीं; और अनेकों ने अनेक प्रकार से गीता के तात्पर्यार्थों का प्रतिपादन न किया होता, तो हमें अपने ग्रंथ के सिद्धान्त के लिये पोषक और आधारभूत मूल संस्कृत वचनों के अवतरण स्थान स्थान पर देने की कोई आवश्यकता ही न थी। किन्तु यह समय दूसरा है; लोगों के मन में यह शंका हो जा सकती थी, कि हमने जो गीतार्थ अथवा सिद्धान्त बतलाया है, वह ठीक है या नहीं ? इसीलिये हमने सर्वत्र स्थलनिर्देश कर बतला दिया है, कि हमारे कथन के लिये प्रमाण क्या है ? और मुख्य स्थानों पर तो मूल संस्कृत वचनों को ही अनुवादसहित उद्धृत कर दिया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत वचनोंको उद्धृत करने का और भी प्रयोजन है। वह यह, कि इनमें से अनेक वचन वेदान्त-ग्रन्थों में साधारणतया प्रमाणार्थ लिये जाते हैं। अतः पाठकों को यहाँ उनका सहज ही ज्ञान हो जायगा और इससे पाठक सिद्धान्तों को भी भली भाँति समझ सकेंगे। किन्तु यह कब संभव है, कि सभी पाठक संस्कृतज्ञ हों ? इसलिये समस्त ग्रन्थ की रचना इस ढंग से की गई है, कि यदि संस्कृत न जाननेवाले पाठक--संस्कृत श्लोकों को छोड़ कर--केवल भाषा ही पढ़ते चले जायँ, तो अर्थ में कहीं भी गड़बड़ न हो। इस कारण संस्कृत श्लोकों का शब्दशः अनुवाद न लिख कर अनेक स्थलों पर उनका केवल सारांश दे कर ही निर्वाह कर लेना पड़ा है। परन्तु मूल श्लोक सदैव ऊपर रखा गया है। इस कारण इस प्रणाली से भ्रम होने की कुछ भी आशंका नहीं है।

कहा जाता है, कि कोहनूर हीरा जब भारतवर्ष से विलायत को पहुँचाया गया, तब उसके नये पहलू बनाने के लिये वह फिर खरादा गया; और, दुबारा खरादे जाने पर वह और भी तेजस्वी हो गया। हीरे के लिये उपयुक्त होनेवाला यह न्याय सत्यरूपी रत्नों के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है। गीता का धर्म सत्य और अभय है सही; परन्तु वह जिस समय और जिस स्वरूप में बतलाया गया था, उस देश-काल आदि परिस्थिति में अब बहुत अन्तर हो गया है। इस कारण अब उसका तेज पहले की भाँति कितनों ही की दृष्टि में नहीं समाता है। किसी कर्म को भला-बुरा मानने के पहले, जिस समय यह सामान्य प्रश्न ही महत्त्व का समझा जाता था, कि 'कर्म करना चाहिये अथवा न करना चाहिये' उस समय गीता बतलाई गई है। इस कारण उसका बहुत-सा अंश अब कुछ लोगों को अनावश्यक प्रतीत होता है। और, उस पर भी निवृत्तिमार्गीय टीकाकारों की लीपा-पोती ने तो गीता के कर्मयोग के विवेचन को आजकल बहुतेरों के लिये दुर्बोध कर डाला है। इसके अतिरिक्त कुछ नये विद्वानों की यह समझ हो गई है, कि अर्वाचीन काल में आधिभौतिक ज्ञान की पश्चिमी

देशों में जैसी कुछ बाढ़ हुई है, उस बाढ के कारण अध्यात्मशास्त्र के आधार पर किये गये प्राचीन कर्मयोग के विवेचन वर्तमान काल के लिये पूर्णतया उपयुक्त नहीं हो सकते, किन्तु यह समझ ठीक नहीं; इस समझ की पोल दिखलाने के लिये गीतारहस्य के विवेचन में गीता के सिद्धान्तों की जोड़ के ही पश्चिमी पंडितों के सिद्धान्त भी हमने स्थान स्थान पर संक्षेप में दे दिये हैं। वस्तुत: गीता का धर्म-अधर्म-विवेचन इस तुलना से कुछ अधिक सुदृढ नहीं हो जाता, तथापि अर्वाचीन कालमें आधिभौतिक शास्त्रों की अश्रुतपूर्व वृद्धि से जिनकी दृष्टि में चकाचौंध लग गई है; अथवा जिन्हें आजकल की एकदेशीय शिक्षापद्धति के कारण आधिभौतिक अर्थात् बाह्यदृष्टि से ही नीतिशास्त्र का विचार करने की आदत पड़ गई है, उन्हें इस तुलना से तना तो स्पष्ट ज्ञात हो जायगा, कि मोक्षधर्म और नीति दोनों विषय आधिभौतिक ज्ञान के परे के हैं; और वे यह भी जान जायँगे, कि इसी से प्राचीन काल में हमारे शास्त्रकारों ने इस विषय में जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं, उनके आगे मानवी ज्ञान की गति अब तक नहीं पहुँच पाई है, यही नहीं; किन्तु पश्चिमी देशों में भी अध्यात्मदृष्टि से इन प्रश्नों का विचार अब तक हो रहा है, इन आध्यात्मिक ग्रन्थ-कारों के विचार गीताशास्त्र के सिद्धान्तों से कुछ अधिक भिन्न नहीं हैं। गीतारस्य के भिन्न भिन्न प्रकरणों में जो तुलनात्मक विवेचन है, उनसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। परन्तु यह विषय अत्यन्त व्यापक है, इस कारण पश्चिमी पंडितों के मतों का जो सारांश विभिन्न स्थलों पर हम ने दे दिया है, उसके सम्बन्ध में यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है, कि गीतार्थ को प्रतिपादन करना ही हमारा मुख्य काम है। अतएव गीता के सिद्धान्तों को प्रमाण मान कर पश्चिमी मतों का उल्लेख हमने केवल यही दिखलाने के लिये किया है, कि इन सिद्धान्तों से पश्चिमी नीतिशास्त्रज्ञों अथवा पंडितों के सिद्धातों का कहाँ तक मेल है? और यह काम हमने इस ढँग से किया है, कि जिसमें सामान्य मराठी पाठकों को उनका अर्थ समझने में कोई कठिनाई न हो। अब यह निर्विवाद है, कि इन दोनों के बीच जो सूक्ष्म भेद हैं—और वे हैं भी बहुत—अथवा इन सिद्धान्तों के जो पूर्ण उपपादन या विस्तार हैं उन्हें जानने के लिये मूल पश्चिमी ग्रन्थ ही देखना चाहिये। पश्चिमी विद्वान् कहते हैं, कि कर्मअकर्मविवेक अथवा नीतिशास्त्र पर नियमबद्ध ग्रन्थ सब से पहले यूनानी तत्त्ववेत्ता अरिस्टाटल ने लिखा है। परन्तु हमारा मत है, कि अरिस्टाटल से भी पहले उसके ग्रंथ की अपेक्षा अधिक व्यापक और तात्त्विक दृष्टि से इन प्रश्नों का विचार महाभारत एवं गीता में हो चुका था; तथा अध्यात्मदृष्टि से गीता में जिस नीतितत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, उससे भिन्न कोई नीतितत्त्व अब तक नहीं निकला है। 'संन्यासियों के समान रह कर तत्त्वज्ञान के विचार में शान्ति से आयु बिताना अच्छा है अथवा अनेक प्रकार की राजकीय उथल-पुथल करना भला है'—इस विषय का जो खुलासा अरिस्टाटल ने किया है, वह गीता में है; और साक्रेटीज़ के इस मत का भी गीता में एक प्रकार से समावेश हो गया है, कि 'मनुष्य जो कुछ पाप करता

है, वह अज्ञान से ही करता है । ' क्योंकि गीता का तो यही सिद्धान्त है, कि ब्रह्मज्ञान से बुद्धि सम हो जाने पर फिर मनुष्य से कोई भी पाप हो नहीं सकता । एपिक्युरियन और स्टोइक पंथों के यूनानी पण्डितों का यह कथन भी गीता को ग्राह्य है, कि पूर्ण अवस्था में पहुँचे हुए ज्ञानी पुरुष का व्यवहार ही नीतिदृष्ट्या सब के लिये आदर्श के समान प्रमाण है; और इन पन्थवालों ने परम ज्ञानी पुरुष का जो वर्णन किया है, वह गीता के स्थितप्रज्ञ अवस्थावाले वर्णन के समान है । मिल, स्पेन्सर और कांट प्रभृति आधिभौतिकवादियों का कथन है, कि नीति की पराकाष्ठा अथवा कसौटी यही है कि प्रत्येक मनुष्य को सारी मानवजाति के हितार्थ उद्योग करना चाहिये । गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ के ' सर्वभूतहिते रताः ' इस बाह्य लक्षण में उक्त कसौटी का भी समावेश हो गया है । कांट और ग्रीन का नीतिशास्त्र की उपपत्तिविषयक तथा इच्छास्वातंत्र्यसम्बन्धी सिद्धान्त भी उपनिषदों के ज्ञान के आधार पर गीता में आ गया है । इसको अपेक्षा यदि गीता में और कुछ अधिकता न होती, तो भी वह सर्वमान्य हो गई होती । परंतु गीता इतने ही से संतुष्ट नहीं हुई; प्रत्युत उसने यह दिखलाया है, कि मोक्ष, भक्ति और नीतिधर्म के बीच आधिभौतिक ग्रंथकारों को जिस विरोध का आभास होता है, वह विरोध सच्चा नहीं है । एवं यह भी दिखलाया है, कि ज्ञान और कर्म में संन्यासमार्गियों की समझ में जो विरोध आड़े आता है, वह भी ठीक नहीं है । उसने यह दिखलाया है कि ब्रह्मविद्या का और भक्ति का जो मूलतत्त्व है, वही नीति का और सत्कर्म का भी आधार है । एवं इस बात का भी निर्णय कर दिया है, कि ज्ञान, संन्यास, कर्म और भक्ति के समुचित मेल से इस लोक में आयु बिताने के किस मार्ग को मनुष्य स्वीकार करे ? इस प्रकार गीताग्रंथ प्रधानता से कर्मयोग का है; और इसीलिये "ब्रह्मविद्यान्तर्गत (कर्म-) योगशास्त्र", इस नाम से समस्त वैदिक ग्रंथों में उसे अग्रस्थान प्राप्त हो गया है । गीता के विषय में कहा जाता है, कि "गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः"––एक गीता का ही पूरा पूरा अध्ययन कर लेना बस है । शेष शास्त्रों के कोरे फैलाव से क्या करना है ? यह बात कुछ झूठ नहीं है । अतएव जिन लोगों को हिन्दूधर्म और नीतिशास्त्र के मूलतत्त्वों से परिचय कर लेना हो, उन लोगों से हम सविनय किन्तु आग्रहपूर्वक कहते हैं, कि सब से पहले आप इस अपूर्व ग्रंथ का अध्ययन कीजिये । इसका कारण यह है, कि क्षरअक्षर-सृष्टि का और क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का विचार करनेवाले न्याय, मीमांसा, उपनिषद् और वेदान्त आदि प्राचीन शास्त्र उस समय जितने हो सकते थे उतने, पूर्ण अवस्था में आ चुके थे; और इसके बाद ही वैदिक धर्म को ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान एवं कर्मयोगविषयक अन्तिम स्वरूप प्राप्त हुआ; तथा वर्तमान काल में प्रचलित वैदिक धर्म का मूल ही गीता में प्रतिपादित होने के कारण हम कह सकते हैं, कि संक्षेप में किन्तु निस्सन्दिग्ध रीति से वर्तमानकालीन हिन्दुधर्म के तत्त्वों को समझा देनेवाला गीता की जोड़ का दूसरा ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में है ही नहीं ।

उल्लिखित वक्तव्य से पाठक सामान्यतः समझ सकेंगे, कि गीतारहस्य के विवेचन का कैसा क्या ढँग है? गीता पर जो शांकरभाष्य है, उसके तीसरे अध्याय के आरम्भ में पुरातन टीकाकारों के अभिप्रायों का उल्लेख है; इस उल्लेख से ज्ञात होता है, कि गीता पर पहले कर्मयोगप्रधान टीकाएँ रही होंगी। किन्तु इस समय ये टीकाएँ उपलब्ध नहीं हैं। अतएव यह कहने में कोई क्षति नहीं, कि गीता का कर्मयोगप्रधान और तुलनात्मक यह पहला ही विवेचन है। इसमें कुछ श्लोकों के अर्थ उन अर्थों से भिन्न हैं, कि जो आजकल की टीकाओं में पाये जाते हैं। एवं ऐसे अनेक विषय भी बतलाये गये हैं, कि जो अब तक की प्राकृत टीकाओं में विस्तार-सहित कहीं भी नहीं थे। इन विषयों को और उनकी उपपत्तियों को यद्यपि हमने संक्षेप में ही बतलाया है, तथापि यथाशक्य सुस्पष्ट और सुबोध रीति से बतलाने के उद्योग में हमने कोई बात उठा नहीं रखी है। ऐसा करने में यद्यपि कहीं कहीं द्विरुक्ति हो गई है, तो भी हमने उसकी कोई परवाह नहीं की। और जिन शब्दों के अर्थ अब तक भाषा में प्रचलित नहीं हो पाये हैं, उनके पर्याय शब्द उनके साथ-ही-साथ अनेक स्थलों पर दे दिये हैं। इसके अतिरिक्त इस विषय के प्रमुख प्रमुख सिद्धान्त सारांशरूप से स्थान स्थान पर, उपपादन से पृथक् कर दिखला दिये गये हैं। फिर भी शास्त्रीय और गहन विषयों का विचार थोड़े शब्दों में करना सदैव कठिन है; और इस विषय की भाषा भी अभी स्थिर नहीं हो पाई है। अतः हम जानते हैं, कि भ्रम से, दृष्टिदोष से, अथवा अन्यान्य कारणों से हमारे इस नये ढँग के विवेचन में कठिनाई, दुर्बोधता, अपूर्णता और अन्य कोई दोष रह गये होंगे। परन्तु भगवद्गीता पाठकों से अपरिचित नहीं है—वह हिन्दुओं के लिये एकदम नई वस्तु नहीं है, कि जिसे उन्होंने कभी देखी सुनी न हो। ऐसे बहुतेरे लोग हैं, जो नित्य नियम से भगवद्गीता का पाठ किया करते हैं; और ऐसे पुरुष भी थोड़े नहीं हैं, कि जिन्होंने इसका शास्त्रीयदृष्ट्या अध्ययन किया है अथवा करेंगे। ऐसे अधिकारी पुरुषों से हमारी एक प्रार्थना है, कि जब उनके हाथ में यह ग्रन्थ पहुँचे; और यदि उन्हें इस प्रकार के कुछ दोष मिल जायँ, तो वे कृपा कर हमें उनकी सूचना दे दें। ऐसा होने से हम उनका विचार करेंगे; और यदि द्वितीय संस्करण के प्रकाशित करने का अवसर आया, तो उसमें यथायोग्य संशोधन कर दिया जावेगा। सम्भव है, कुछ लोग समझें, कि हमारा कोई विशेष सम्प्रदाय है; और उसी सम्प्रदाय की सिद्धि के लिये हम गीता का एक प्रकार का विशेष अर्थ कर रहे हैं। इसलिये यहाँ इतना कह देना आवश्यक है, कि यह गीतारहस्य ग्रन्थ किसी भी व्यक्तिविशेष अथवा सम्प्रदाय के उद्देश से लिखा नहीं गया है। हमारी बुद्धि के अनुसार गीता के मूल संस्कृत श्लोक का जो सरल अर्थ होता है, वही हमने लिखा है। ऐसा सरल अर्थ कर देने से—और आजकल संस्कृत का बहुतकुछ प्रचार हो जाने के कारण बहुतेरे लोग समझ सकेंगे, कि अर्थ सरल है या नहीं—यदि इसमें कुछ सम्प्रदाय की गन्ध आ जावे, तो वह गीता की है, हमारी नहीं। अर्जुन ने भगवान् से कहा था, कि "मुझे दो चार मार्ग बतला

कर उलझन में न डालिये। निश्चयपूर्वक ऐसा एक ही मार्ग बतलाइये, कि जो श्रेयस्कर हो (गी. ३. २; ५. १)।" इससे प्रगट ही है, कि गीता में किसी-न-किसी एक ही विशेष मत का प्रतिपादन होना चाहिये। मूलगीता का ही अर्थ करके निराग्रहबुद्धि से हमें देखना है, कि वह एक ही विशेष मत कौन-सा है? हमें पहले ही से कोई मत स्थिर करके गीता के अर्थ की इसलिये खींचातानी नहीं करनी है, कि इस पहले से ही निश्चित किये हुए मत से गीता का मेल नहीं मिलता। सारांश, गीता के वास्तविक रहस्य का--फिर चाहे वह रहस्य किसी भी सम्प्रदाय का हो--गीताभक्तों में प्रसार करके भगवान् के ही कथनानुसार यह ज्ञानयज्ञ करने के लिये हम प्रवृत्त हुए हैं। हमें आशा है, कि इस ज्ञानयज्ञ की अव्यंगता की सिद्धि के लिये, ऊपर जो ज्ञानभिक्षा माँगी गई है, उसे हमारे देशबन्धु और धर्मबन्धु बड़े आनन्द से देंगे।

प्राचीन टीकाकारों ने गीता का जो तात्पर्य निकाला है उसमें--और हमारे मतानुसार गीता का जो रहस्य है उसमें--भेद क्यों पड़ता है? इस भेद के कारण गीतारहस्य में विस्तारपूर्वक बतलाये गए हैं। परन्तु गीता के तात्पर्यसम्बन्ध में यद्यपि इस प्रकार मतभेद हुआ करे, तो भी गीता के जो भाषानुवाद हुए हैं, उनसे हमें इस ग्रंथ को लिखते समय अन्यान्य बातों में सदैव ही प्रसंगानुसार थोड़ी-बहुत सहायता मिली है। एतदर्थ हम उन सब के अत्यन्त ऋणी हैं। इसी प्रकार उन पश्चिमी पण्डितों का भी उपकार मानना चाहिये, कि जिनके ग्रन्थों के सिद्धान्तों का हमने स्थान स्थान पर उल्लेख किया है। और तो क्या! यदि इन सब ग्रन्थों की सहायता न मिली होती, तो यह ग्रंथ लिखा जाता या नहीं--इसमें सन्देह ही है। इसी से हमने प्रस्तावना के आरम्भ में ही साधु तुकाराम का यह वाक्य लिख दिया है--"संतों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी"। सदा सर्वदा एक-सा उपयोगी होनेवाला अर्थात् त्रिकाल-अबाधित जो ज्ञान है, उसका निरूपण करनेवाले गीता जैसे ग्रन्थ से कालभेद के अनुसार मनुष्य को नवीन नवीन स्फूर्ति प्राप्त हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि ऐसे व्यापक ग्रन्थ का तो यह धर्म ही रहता है। परन्तु इतने ही से प्राचीन पण्डितों के वे परिश्रम कुछ व्यर्थ नहीं हो जाते, कि जो उन्होंने उस ग्रन्थ पर किये हैं। पश्चिमी पण्डितों ने गीता के जो अनुवाद अंग्रेज़ी और जर्मन प्रभृति यूरोप की भाषाओं में किये हैं, उनके लिये भी यही न्याय उपयुक्त होता है। ये अनुवाद गीता की प्रायः प्राचीन टीकाओं के आधार से किये जाते हैं। फिर कुछ पश्चिमी पण्डितों ने स्वतंत्र रीति से गीता के अर्थ करने का उद्योग आरम्भ कर दिया है। परन्तु सच्चे (कर्म-) योग का तत्त्व अथवा वैदिक धार्मिक सम्प्रदायों का इतिहास भली भाँति समझ न सकने के कारण या बहिरंगपरीक्षा पर ही इनकी विशेष रुचि रहने के कारण अथवा ऐसे ही और कुछ कारणों से इन पश्चिमी पण्डितों के ये विवेचन अधिकतर अपूर्ण और कुछ कुछ स्थानों में तो सर्वथा भ्रामक और भूलों से भरे पड़े हैं। यहाँ पर पश्चिमी पण्डितों के गीताविषयक ग्रंथों का विस्तृत

विचार करने अथवा उनकी जाँच करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने जो प्रमुख प्रश्न उपस्थित किये हैं, उनके सम्बन्ध में हमारा जो वक्तव्य है, वह इस ग्रन्थ के परिशिष्ट प्रकरण में है। किन्तु यहाँ गीताविषयक उन अंग्रेजी लेखों का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है, कि जो इन दिनों हमारे देखने में आये हैं। पहला लेख मि० ब्रुक्स का है। मि० ब्रुक्स थिओसफिस्ट पंथ के हैं। उन्होंने अपने गीता-विषयक ग्रन्थ में सिद्ध किया है, कि भगवद्गीता कर्मयोगप्रधान है; और वे अपने व्याख्यानों में भी इसी मत को प्रतिपादन किया करते हैं। दूसरा लेख मद्रास के मि० एस. राधाकृष्णम् का है। यह छोटे निबंध के रूप में अमेरिका के 'सार्वराष्ट्रीय नीतिशास्त्रसंबंधी त्रैमासिक' में प्रकाशित हुआ है (जुलाई १९११)। इसमें आत्मस्वातंत्र्य और नीतिधर्म इन दो विषयों के सम्बन्ध से गीता और कान्ट की समता दिखलाई गई है। हमारे मत से यह साम्य इससे भी कहीं अधिक व्यापक है; और कान्ट की अपेक्षा ग्रीन की नैतिक उपपत्ति गीता से कहीं अधिक मिलती जुलती है। परन्तु इन दोनों प्रश्नों का खुलासा जब इस ग्रंथ में किया ही गया है, तब यहाँ उन्हीं को दुहराने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार पण्डित सीतानाथ तत्त्वभूषण-कर्तृक 'कृष्ण और गीता' नामक एक अंग्रेजी ग्रन्थ भी इन दिनों प्रकाशित हुआ है। इसमें उक्त पण्डितजी के गीता पर दिये हुए बारह व्याख्यान हैं। किन्तु उक्त ग्रंन्थों के पाठ करने से कोई भी जान लेगा, कि तत्त्वभूषणजी के अथवा मि. ब्रुक्स के प्रतिपादन में और हमारे प्रतिपादन में बहुत अंतर है। फिर भी इन लेखों से ज्ञात होता है, कि गीताविषयक हमारे विचार कुछ अपूर्व नहीं हैं। और इस सुचिन्ह का भी ज्ञान होता है, कि गीता के कर्मयोग की ओर लोगों का ध्यान अधिकाधिक आकर्षित हो रहा है। अतएव यहाँ पर हम इन सब आधुनिक लेखकों का अभिनंदन करते हैं।

यह ग्रंथ मण्डाले में लिखा तो गया था, पर लिखा गया था पेन्सिल से; और काटछाँट के अतिरिक्त इसमें और भी कितने ही नये सुधार किये गये थे। इसलिये सरकार के यहाँ से इसके लौट आने पर प्रेस में देने के लिये शुद्ध कापी करने की आवश्यकता हुई। और यदि यह काम हमारे ही भरोसे पर छोड़ दिया जाता तो इसके प्रकाशित होने में न जाने और कितना समय लग गया होता! परन्तु श्रीयुत वामन गोपाळ जोशी, नारायण कृष्ण गोगटे, रामकृष्ण दत्तात्रेय पराड़कर, रामकृष्ण सदाशिव पिंपुटकर, अप्पाजी विष्णु कुलकर्णी प्रभृति सज्जनों ने इस काम में बड़े उत्साह से सहायता दी। एतदर्थ इनका उपकार मानना चाहिये। इसी प्रकार श्रीयुत कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर ने और विशेषतया वेदशास्त्रसम्पन्न दीक्षित काशीनाथशास्त्री लेले ने बम्बई से यहाँ आकर ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति को पढ़ने का कष्ट उठाया। एवं अनेक उपयुक्त तथा मार्मिक सूचनाएँ दीं जिनके लिये हम उनके ऋणी हैं। फिर भी स्मरण रहे, कि इस ग्रंथ में प्रतिपादित मतों की जिम्मेदारी हमारी ही है। इस प्रकार ग्रंथ छापने योग्य तो हो गया, परन्तु युद्ध के कारण कागज़ की कमी होनेवाली थी। इस कमी को बम्बई के स्वदेशी कागज़ के पुतलीघर के

मालिक मेसर्स 'डी. पदमजी और सन' ने हमारी इच्छा के अनुसार अच्छा काग़ज़ समय पर तैयार करके दूर कर दिया। इससे गीताग्रन्थ को छापने के लिये अच्छा काग़ज़ मिल सका। किन्तु ग्रन्थ अनुमान से अधिक बढ़ गया, इससे काग़ज़ की कमी फिर पड़ी। इस कमी को पूने के पेपर मिल के मालिकों ने यदि दूर न कर दिया होता, तो और कुछ महीनों तक पाठकों को ग्रन्थ के प्रकाशित होने की प्रतीक्षा करनी पड़ती। अतः उक्त दोनों पुतलीघरों के मालिकों को, न केवल हमही, प्रत्युत पाठक भी धन्यवाद दें। अब अन्त में प्रूफ़ संशोधन का काम रह गया; जिसे श्रीयुत रामकृष्ण दत्तात्रेय पराड़कर, रामकृष्ण सदाशिव पिंपुटकर और श्रीयुत हरि रघुनाथ भागवत ने स्वीकार किया। इसमें भी स्थान स्थान पर अन्यान्य ग्रन्थों का जो उल्लेख किया गया है, उनको मूल ग्रन्थों से ठीक ठीक जाँचने एवं यदि कोई व्यङ्ग रह गया हो, तो उसे दिखलाने का काम श्रीयुत हरि रघुनाथ भागवत ने अकेले ही ने किया है। बिना इनकी सहायता के इस ग्रन्थ को इतनी शीघ्रता से प्रकाशित न कर पाते। अतएव हम इन सब को हृदय से धन्यवाद देते हैं। अब रही छपाई; जिसे चित्रशाला छापाख़ाने के स्वत्वाधिकारी ने सावधानी-पूर्वक शीघ्रता से छाप देना स्वीकार कर तदनुसार इस कार्य को पूर्ण कर दिया। इस निमित्त अन्त में इनका भी उपकार मानना आवश्यक है। खेत में फ़सल हो जाने पर भी फ़सल से अनाज तैयार करने और भोजन करनेवालों के मुँह में पहुँचने तक जिस प्रकार अनेक लोगोंकी सहायता अपेक्षित रहती है, वैसी ही कुछ अंशों में ग्रन्थकार की--क्रम से कम हमारी तो अवश्य--स्थिति है। अतएव उक्त रीति से जिन लोगों ने हमारी सहायता की--फिर चाहे उनके नाम यहाँ आये हों अथवा न भी आये हों--उनको फिर एक बार धन्यवाद दे कर हम इस प्रस्तावना को समाप्त करते हैं।

प्रस्तावना समाप्त हो गई। अब जिस विषय के विचार में बहुतेरे वर्ष बीत गये हैं; और जिसके नित्य सहवास एवं चिन्तन से मन को समाधान हो कर आनन्द होता गया, वह विषय आज ग्रन्थ के रूप में हाथ से पृथक् होनेवाला है। यह सोच कर यद्यपि बुरा लगता है, तथापि सन्तोष इतना ही है, कि ये विचार--सध गये तो व्याजसहित, अन्यथा ज्यों-के-त्यों--अगली पीढ़ी के लोगों को देने के लिये ही हमें प्राप्त हुए थे। अतएव वैदिक धर्म के राजगुह्य के इस पारस को कठोपनिषद् के "उत्तिष्ठत! जाग्रत! प्राप्य वरान्निबोधत!" (क.३. १४) -उठो! जागो! और (भगवान् के दिये हुए) इस वरदान को समझ लो--इस मन्त्र से होनहार पाठकों को प्रेमोदकपूर्वक सौंपते हैं। प्रत्यक्ष भगवान् का ही निश्चयपूर्वक यह आश्वासन है, कि इसी में कर्म-अकर्म का सारा बीज है; और इस धर्म का स्वल्प आचरण भी बड़े बड़े सङ्कटों से बचाता है। इससे अधिक और क्या चाहिये? सृष्टि के इस नियम पर ध्यान दे कर कि, "बिना किये कुछ होता नहीं है" तुमको निष्कामबुद्धि से

कार्यकर्ता होना चाहिये, तब फिर सब कुछ हो गया। निरी स्वार्थपरायणबुद्धि से गृहस्थी चलाते चलाते जो लोग हार कर थके गये हों, उनका समय बिताने के लिये, अथवा संसार को छुड़ा देने की तैयारी के लिये गीता नहीं कही गई है। गीताशास्त्र की प्रवृत्ति तो इसलिये हुई है, कि वह इसकी विधि बतलावे, कि मोक्षदृष्टि से संसार के कर्म ही किस प्रकार किये जावें ? और तात्त्विक दृष्टि से इस बात का उपदेश करे, कि संसार में मनुष्यमात्र का सच्चा कर्तव्य क्या है ? अतः हमारी इतनी ही बिनती है कि पूर्व अवस्था में ही--चढ़ती हुई उम्र में ही--प्रत्येक मनुष्य गृहस्थाश्रम के अथवा संसार के इस प्राचीन शास्त्र को जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी समझे बिना न रहे।

पूना, अधिक वैशाख,
संवत् १९७२ वि०

बाळ गंगाधर टिळक

गीतारहस्य की साधारण अनुक्रमणिका।

गीतारहस्य के प्रत्येक प्रकरण के विषयों की अनुक्रमणिका।

पहला प्रकरण –– विषयप्रवेश।

दूसरा प्रकरण––कर्मजिज्ञासा।

तीसरा प्रकरण –– कर्मयोगशास्त्र।

चौथा प्रकरण -- आधिभौतिक सुखवाद ।

पाँचवाँ प्रकरण -- सुखदुःखविवेक ।

छठा प्रकरण -- आधिदैवतपक्ष और क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार ।

पश्चिमी सदसद्विवेकदेवतापक्ष--उसी के समान मनोदेवता के संबंध में हमारे ग्रन्थों के वचन--आधिदैवतपक्ष पर आधिभौतिकपक्ष का आक्षेप--आदत और अभ्यास में कार्य-अकार्य का निर्णय शीघ्र हो जाता है--सदसद्विवेक कुछ निराली शक्ति नहीं है--अध्यात्मपक्ष के आक्षेप--मनुष्यदेहरूपी बड़ा कारखाना--कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार--मन और बुद्धि के पृथक पृथक काम--व्यवसायात्मक और वासनात्मक बुद्धि का भेद एवं सम्बन्ध--व्यवसायात्मक बुद्धि एक ही है, परन्तु सात्त्विक आदि भेदों से तीन प्रकार की है--सदसद्विवेक बुद्धि इसी में है, पृथक नहीं है--क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार का और क्षर-अक्षर-विचार का स्वरूप एवं कर्मयोग से सम्बन्ध--क्षेत्र शब्द का अर्थ--क्षेत्रज्ञ का अर्थात् आत्मा का अस्तित्व--क्षर-अक्षर-विचार की प्रस्तावना । ... ... पृ. १२३--१४८ ।

सातवाँ प्रकरण -- कापिलसांख्यशास्त्र अथवा क्षराक्षरविचार ।

क्षर और अक्षर का विचार करनेवाले शास्त्र--काणादों का परमाणु-वाद--कापिलसांख्य शब्द का अर्थ--कापिलसांख्यविषयक ग्रन्थ--सत्कार्यवाद--जगत् का मूलद्रव्य अथवा प्रकृति एक ही है--सत्त्व, रज और तम उसके तीन गुण हैं--त्रिगुण की साम्यावस्था और पारस्परिक रगड़े-झगड़े से नाना पदार्थों की उत्पत्ति--प्रकृति अव्यक्त, अखण्डित, एक ही और अचेतन है--अव्यक्त से व्यक्त--प्रकृति से ही मन और बुद्धि की उत्पत्ति--सांख्यशास्त्र को हेकेल का जड़ाद्वैत और प्रकृति से आत्मा की उत्पत्ति स्वीकृत नहीं—प्रकृति और पुरुष दो स्वतन्त्र तत्त्व हैं--इनमें पुरुष अकर्ता, निर्गुण और उदासीन है, सारा कर्तृत्व प्रकृति का है--दोनों के संयोग से सृष्टि का विस्तार--प्रकृति और पुरुष के भेद को पहचान लेने से कैवल्य की अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति--मोक्ष किसका होता है? प्रकृति का या पुरुष का?--सांख्यों के असंख्य पुरुष और वेदान्तियों का एक पुरुष--त्रिगुणातीत अवस्था--सांख्यों के और तत्सदृश गीता के सिद्धान्तों के भेद । पृ. १४९--१६८ ।

आठवाँ प्रकरण -- विश्व की रचना और संहार ।

प्रकृति का विस्तार--ज्ञान-विज्ञान का लक्षण--भिन्न भिन्न सृष्टयुत्पत्तिक्रम और उनकी अन्तिम एकवाक्यता--आधुनिक उत्क्रान्तिवाद का स्वरूप और सांख्य के गुणोत्कर्ष तत्त्व से उसकी समता--गुणोत्कर्ष का अथवा गुणपरिणामवाद का निरूपण--प्रकृति से प्रथम व्यवसायात्मकबुद्धि की और फिर अहङ्कार की उत्पत्ति--उनके त्रिधात अनन्तभेद--अहङ्कार से फिर सेन्द्रियसृष्टि के मनसहित ग्यारह तत्त्वों की और निरिन्द्रियसृष्टि के तन्मात्ररूपी पाँच तत्त्वों की उत्पत्ति--इस बात का निरूपण, कि तन्मात्राएँ पाँच ही क्यों हैं? और सूक्ष्मेन्द्रियाँ ग्यारह ही क्यों हैं?--सूक्ष्मसृष्टि से स्थूल विशेष—पच्चीस तत्त्वों का ब्रह्माण्डवृक्ष--अनुगीता का ब्रह्मवृक्ष और गीता का अश्वत्थवृक्ष—पच्चीस तत्त्वों का वर्गीकरण करने की

नौवाँ प्रकरण -- अध्यात्म।

दसवाँ प्रकरण--कर्मविपाक और आत्मस्वातन्त्र्य ।

मायासृष्टि और ब्रह्मसृष्टि--देह के कोश और कर्माश्रयीभूत लिंगशरीर--कर्म, नामरूप और माया का पारस्परिक सम्बन्ध--कर्म की और माया की व्याख्या--माया का मूल अगम्य है । इसलिये यद्यपि माया परतन्त्र हो, तथापि मायात्मक प्रकृति का विस्तार अथवा सृष्टि ही कर्म है--अतएव कर्म भी अनादि है--कर्म के अखण्डित प्रयत्न--परमेश्वर इसमें हस्तक्षेप नहीं करता; और कर्मानुसार ही फल देता है (पृ. २६७)-कर्मबन्ध की सुदृढता और प्रवृत्ति-स्वातन्त्र्यवाद की प्रस्तावना--कर्मविभाग, सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण--" प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः "--वेदान्त को मीमांसकों का नैष्कर्म्यसिद्धिवाद अग्राह्य है--ज्ञान बिना कर्मबन्ध से छुटकारा नहीं--ज्ञान शब्द का अर्थ--ज्ञानप्राप्ति कर लेने के लिये शारीर आत्मा स्वतन्त्र है (पृ. २८२)--परन्तु कर्म करने के साधन उसके पास निजी नहीं हैं । इस कारण उतने ही के लिये परावलंबी है--मोक्षप्राप्त्यर्थ आचरित स्वल्प कर्म भी व्यर्थ नहीं जाता--अतः कभी-न-कभी दीर्घ उद्योग करते रहने से सिद्धि अवश्य मिलती है--कर्मक्षय का स्वरूप--कर्म नहीं छूटते, फलाशा को छोड़ो--कर्म का बन्धकत्व मन में है, न कि कर्म में--इसलिये ज्ञान कभी हो, उसका फल मोक्ष ही मिलेगा--तथापि उसमें भी अन्त-काल का महत्त्व (पृ. २८६)-कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड--श्रौतयज्ञ और स्मार्त-यज्ञ--कर्मप्रधान गार्हस्थ्यवृत्ति--उसी के दो भेद (ज्ञानयुक्त और ज्ञानरहित)--इसके अनुसार भिन्न भिन्न गति--देवयान और पितृयाण--कालवाचक या देवता-वाचक ?--तीसरी नरक की गति--जीवन्मुक्तावस्था का वर्णन ।... पृ. २६०-३०० ।

ग्यारहवाँ प्रकरण--संन्यास और कर्मयोग ।

अर्जुन का यह प्रश्न, कि संन्यास और कर्मयोग दोनों में श्रेष्ठ मार्ग कौन-सा है ?--इस पन्थ के समान ही पश्चिमी पन्थ--संन्यास और कर्मयोग के पर्याय शब्द--संन्यास शब्द का अर्थ--कर्मयोग संन्यास का अङ्ग नहीं है, दोनों स्वतन्त्र हैं--इस सम्बन्ध में टीकाकारों की गोलमाल--गीता का यह स्पष्ट सिद्धान्त, कि इन दोनों मार्गों में कर्मयोग ही श्रेष्ठ है--संन्यासमार्गीय टीकाकारों का किया हुआ विपर्यास--उस पर उत्तर--अर्जुन को अज्ञानी नहीं मान सकते (पृ. ३१२)--इस बात के गीता में निर्दिष्ट कारण, कि कर्मयोग ही श्रेष्ठ क्यों है--आचार अनादि काल से द्विविध रहा है । अतः वह श्रेष्ठता का निर्णय करने में उपयोगी नहीं है--जनक की तीन और गीता की दो निष्ठाएँ--कर्मों को बन्धक कहने से ही यह सिद्ध नहीं होता, कि उन्हें छोड़ देना चाहिये । फलाशा छोड़ देने से निर्वाह हो जाता है--कर्म छूट नहीं सकते--कर्म छोड़ देने पर खाने के लिये भी न मिलेगा--ज्ञान हो जाने पर अपना कर्तव्य न रहे, अथवा वासना का क्षय हो जाय, तो भी कर्म नहीं छूटते--अतएव ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् भी निःस्वार्थबुद्धि से कर्म अवश्य

सिद्धि--श्रद्धा से परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर भी निर्वाह नहीं होता--मन में उसके प्रतिफलित होने के लिये निरतिशय और निर्हेतुक प्रेम से परमेश्वर का चिन्तन करना पड़ता है, इसी को भक्ति कहते हैं--सगुण अव्यक्त का चिन्तन कष्टमय और दुःसाध्य है--अतएव उपासना के लिये प्रत्यक्ष वस्तु होनी चाहिये--ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग परिणाम में एक ही हैं--तथापि ज्ञान के समान भक्ति निष्ठा नहीं हो सकती--भक्ति करने के लिये ग्रहण किया हुआ परमेश्वर का प्रेमगम्य और प्रत्यक्ष रूप--प्रतीक शब्द का अर्थ--राजविद्या और राजगुह्य शब्दों के अर्थ--गीता का प्रेमरस (पृ. ४१७)--परमेश्वर की अनेक विभूतियों में से कोई भी प्रतीक हो सकती है--बहुतेरों के अनेक प्रतीक और उनसे होनेवाला अनर्थ--उसे टालने का उपाय--प्रतीक और तत्सम्बन्धी भावना में भेद--प्रतीक कुछ भी हो; भावना के अनुसार फल मिलता है--विभिन्न देवताओं की उपासनाएँ--इसमें भी फलदाता एक ही परमेश्वर है, देवता नहीं--किसी भी देवता को भजो, वह परमेश्वर का ही अविधिपूर्वक भजन होता है--इस दृष्टि से गीता के भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता--श्रद्धा और प्रेम की शुद्धता-अशुद्धता--क्रमशः उद्योग करने से सुधार और अनेक जन्मों के पश्चात् सिद्धि--जिसे न श्रद्धा है न बुद्धि, वह डूबा--बुद्धि से और भक्ति से अन्त में एक ही अद्वैत ब्रह्मज्ञान होता है (पृ. ४२९)--कर्मविपाकप्रक्रिया के और अध्यात्म के सब सिद्धान्त भक्तिमार्ग में भी स्थिर रहते हैं--उदाहरणार्थ, गीता के जीव और परमेश्वर का स्वरूप--तथापि इस सिद्धान्त में कभी कभी शब्दभेद हो जाता है--कर्म ही अब परमेश्वर हो गया--ब्रह्मार्पण और कृष्णार्पण--परन्तु अर्थ का अनर्थ होता हो, तो शब्दभेद भी नहीं किया जाता--गीताधर्म में प्रतिपादित श्रद्धा और ज्ञान का मेल--भक्तिमार्ग में संन्यासधर्म की अपेक्षा नहीं है--भक्ति का और कर्म का विरोध नहीं है--भगवद्भक्त और लोकसंग्रह--स्वकर्म से ही भगवान् का यजनपूजन--ज्ञानमार्ग त्रिवर्ण के लिये है, तो भक्तिमार्ग स्त्री, शूद्र आदि सब के लिये खुला हुआ है--अन्तकाल में भी अनन्यभाव से परमेश्वर के शरणापन्न होने पर मुक्ति--अन्य सब धर्मों की अपेक्षा गीता के धर्म की श्रेष्ठता। .... पृ. ४०५--४४०॥

चौदहवाँ प्रकरण--गीताध्यायसंगति।

विषयप्रतिपादन की दो रीतियाँ--शास्त्रीय और संवादात्मक--संवादात्मक पद्धति के गुणदोष--गीता का आरम्भ--प्रथमाध्याय--द्वितीय अध्याय में 'सांख्य' और 'योग' इन दो मार्गों से ही आरम्भ--तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्याय में कर्मयोग का विवेचन--कर्म की अपेक्षा साम्यबुद्धि की श्रेष्ठता--कर्म छूट नहीं सकते--सांख्यनिष्ठा की अपेक्षा कर्मयोग श्रेयस्कर है--साम्यबुद्धि को पाने के लिये इन्द्रियनिग्रह की आवश्यकता--छठे अध्याय में वर्णित इन्द्रियनिग्रह का साधन --कर्म, भक्ति और ज्ञान, इस प्रकार गीता के तीन स्वतन्त्र विभाग करना उचित नहीं है--ज्ञान और भक्ति, कर्मयोग की साम्यबुद्धि के साधन हैं--अतएव त्वम् तत्, असि इस प्रकार षडध्यायी नहीं होती--सातवें अध्याय से लेकर बारहवें

पन्द्रहवाँ प्रकरण--उपसंहार ।

परिशिष्ट प्रकरण--गीता की बहिरंगपरीक्षा ।

मायावाद--उपनिषदों की अपेक्षा गीता की विशेषता--सांख्यशास्त्र और वेदान्त की एकवाक्यता--व्यक्तोपासना अथवा भक्तिमार्ग--परन्तु कर्मयोगमार्ग का प्रतिपादन ही सब में महत्त्वपूर्ण विशेषता है--गीता में इन्द्रियनिग्रह करने के लिये बतलाया गया योग, पातञ्जलयोग और उपनिषद् ।--भाग ३. गीता और ब्रह्मसूत्रों की पूर्वापरता--गीता में ब्रह्मसूत्रों का स्पष्ट उल्लेख--ब्रह्मसूत्रों में 'स्मृति' शब्द से गीता का अनेक बार उल्लेख--दोनों ग्रन्थों के पूर्वापर का विचार--ब्रह्मसूत्र या तो वर्तमान गीता के समकालीन हैं या और पुराने, बाद के नहीं--गीता में ब्रह्मसूत्रों के उल्लेख होनका एक प्रबल कारण ।--भाग ४. भागवतधर्म का उदय और गीता --गीता का भक्तिमार्ग वेदान्त, सांख्य और योग को लिये हुए है--वेदान्त के मत गीता में पीछे से नहीं मिलाये गये हैं--वैदिक धर्म का अत्यन्त प्राचीन स्वरूप कर्मप्रधान है--तदनन्तर ज्ञान का अर्थात् वेदान्त, सांख्य और वैराग्य का प्रादुर्भाव हुआ--दोनों की एकवाक्यता प्राचीन काल में ही हो चुकी है--फिर भक्ति का प्रादुर्भाव--अतएव पूर्वोक्त मार्गों के साथ भक्ति की एकवाक्यता करने की पहले से ही आवश्यकता थी--यही भागवतधर्म की अतएव गीता की भी दृष्टि--गीता का ज्ञानकर्मसमुच्चय उपनिषदों का है । परन्तु भक्ति का मेल अधिक है--भागवतधर्मविषयक प्राचीन ग्रन्थ, गीता और नारायणीयोपाख्यान--श्रीकृष्ण का और सात्वत अथवा भागवतधर्म के उदय का काल एक ही है--बुद्ध से प्रथम लगभग सात-आठ सौ अर्थात् ईसा से प्रथम पन्द्रह सौ वर्ष--ऐसा मानने का कारण--न मानने से होनेवाली अनवस्था--भागवतधर्म का मूलस्वरूप नैष्कर्म्यप्रधान था, फिर भक्तिप्रधान हुआ; और अन्त में विशिष्टाद्वैतप्रधान हो गया--मूलगीता ईसा से प्रथम कोई नौ सौ वर्ष की है ।--भाग ५. वर्तमान गीता का काल--वर्तमान महाभारत और वर्तमान गीता का समय एक ही है--इन में वर्तमान महाभारत भास के, अश्वघोष के, आश्वलायन के, सिकन्दर के और मेषादि गणना के पूर्व का है; किन्तु, बुद्ध के पश्चात् का है--अतएव शक से प्रथम लगभग पाँच सौ वर्ष का है--वर्तमान गीता कालिदास के, बाणभट्ट के, पुराणों और बौधायन के, एवं बौद्धधर्म के महायान पन्थ के भी प्रथम की है; अर्थात् शक से प्रथम पाँच सौ वर्ष की है ।--भाग ६. गीता और बौद्ध ग्रन्थ--गीता के स्थितप्रज्ञ के और बौद्ध अर्हत के वर्णन में समता--बौद्धधर्म का स्वरूप और उससे पहले के ब्राह्मणधर्म से उसकी उत्पत्ति--उपनिषदों के आत्मवाद को छोड़ कर केवल निवृत्तिप्रधान आचार को ही बुद्ध ने अंगीकार किया--बौद्धमतानुसार इस आचार के दृश्य कारण, अथवा चार आर्य सत्य--बौद्ध गार्हस्थ्यधर्म और वैदिक स्मार्तधर्म में समता--ये सब विचार मूल वैदिक धर्म के ही हैं--तथापि महाभारत और गीताविषयक पृथक विचार करने का प्रयोजन--मूल अनात्मवादी और निवृत्तिप्रधान धर्म से ही आगे चल कर भक्तिप्रधान बौद्धधर्म का उत्पन्न होना असम्भव है

—महायान पन्थ की उत्पत्ति; यह मानने के लिये प्रमाण कि, उसका प्रवृत्तिप्रधान भक्तिधर्म गीता से ही ले लिया गया है—इससे निर्णीत होनेवाला गीता का समय। —भाग ७. गीता और ईसाइयों की बाईबल—ईसाईधर्म से गीता में किसी भी तत्त्व का लिया जाना असम्भव है—ईसाईधर्म यहूदीधर्म से धीरे धीरे स्वतन्त्र रीतिपर नहीं निकला है—वह क्यों उत्पन्न हुआ है? इस विषय में पुराने ईसाई पण्डितों की राय—एसीन पन्थ और यूनानी तत्त्वज्ञान—बौद्धधर्म के साथ ईसाई धर्म की अद्भुत समता—इनमें बौद्धधर्म की निर्विवाद प्राचीनता—उस बात का प्रमाण कि, यहूदियों के देश में बौद्ध यतियों का प्रवेश प्राचीन समय में ही हो गया था—अतएव ईसाईधर्म के तत्त्वों का बौद्धधर्म से ही अर्थात् पर्याय से वैदिकधर्म से ही अथवा गीता से ही लिया जाना पूर्ण सम्भव है—इससे सिद्ध होनेवाली गीता की निस्सन्दिग्ध प्राचीनता। ... ... पृ. ५०९–५९४

गीतारहस्य के संक्षिप्त चिन्हों का ब्योरा, और संक्षिप्त चिन्हों से जिन ग्रंन्थों का उल्लेख किया है, उनका परिचय।

अथर्व. अथर्व वेद। काण्ड, सूक्त और ऋचा के क्रम से नम्बर हैं।

अष्टा. अष्टावक्रगीता। अध्याय और श्लोक। अष्टेकर और मण्डली का गीतासंग्रह का संस्करण।

ईश. ईशावास्योपनिषद्। आनन्दाश्रम का संस्करण।

ऋ. ऋग्वेद। मण्डल, सूक्त और ऋचा।

ऐ. अथवा ऐ. उ. ऐतरेयोपनिषद्। अध्याय, खण्ड और श्लोक। पूने के आनन्दाश्रम का संस्करण।

ऐ. ब्रा. ऐतरेय ब्राह्मण। पंचिका और खण्ड। डा. हौग का संस्करण।

क. कठ. अथवा कठोपनिषद्। वल्ली और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

केन. केनोपनिषद्। (=तलवकारोपनिषद्)। खण्ड और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

कै. कैवल्योपनिषद्। खण्ड और मन्त्र। २८ उपनिषद्, निर्णयसागर का संस्करण।

कौषी. कौषीतक्युपनिषद्। अथवा कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद्। अध्याय और खण्ड। कहीं कहीं इस उपनिषद् के पहले अध्याय को ही ब्राह्मणानुक्रम से तृतीय अध्याय कहते हैं। आनन्दाश्रम का संस्करण।

गी. भगवद्गीता। अध्याय और श्लोक। गी. शां. भा. गीता शांकरभाष्य।

गी. रा. भा. गीता रामानुजभाष्य। आनन्दाश्रमवाली गीता और शांकरभाष्य की प्रति के अन्त में शब्दों की सूची है। हमने निम्न लिखित टीकाओं का उपयोग किया है:—श्रीवेंकटेश्वर प्रेस का रामानुजभाष्य। कुम्भकोण के कृष्णाचार्य द्वारा प्रकाशित माध्वभाष्य; आनन्दगिरि की टीका और जगद्धितेच्छु छापखाने (पूने) में छपी हुई परमार्थप्रपा टीका; नेटीव ओपिनियन छापखाने (बम्बई) में छपी हुई मधुसूदनी टीका; निर्णयसागर में छपी हुई श्रीधरी और वामनी (मराठी) टीका; आनन्दाश्रम में छपा हुआ पैशाचभाष्य; गुजराती प्रिंटिंग प्रेस की वल्लभ सम्प्रदायी तत्त्वदीपिका; बम्बई में छपे हुए महाभारत की नीलकण्ठी; और मद्रास में

छपी हुई ब्रह्मानन्दी। परन्तु इनमें से पैशाचभाष्य और ब्रह्मानन्दी को छोड़कर शेष टीकाएँ और निम्बार्क सम्प्रदाय की एवं दूसरी कुछ और टीकाएँ—कुल पन्द्रह संस्कृत टीकाएँ—गुजराती प्रिंटिंग प्रेस ने अभी छाप कर प्रकाशित की हैं। अब इस एक ही ग्रन्थ से सारा काम हो जाता है।

गी.र. अथवा गीतार. गीतारहस्य। हमारी पुस्तक का पहला निबन्ध।

छां. छांदोग्योपनिषद्। अध्याय; खण्ड और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

ज. सू. जैमिनी के मीमांसासूत्र। अध्याय, पाद और सूत्र। कलकत्ते का संस्करण।

तै. अथवा तै. उ. तैत्तिरीय उपनिषद्। वल्ली, अनुवाक और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

तै. ब्रा. तैत्तिरीय ब्राह्मण। काण्ड, प्रपाठक, अनुवाक और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

तै. सं. तैत्तिरीय संहिता। काण्ड, प्रपाठक, और मन्त्र।

दा. अथवा दास. श्रीसमर्थ रामदासस्वामीकृत दासबोध। धुलिया सत्कार्योत्तेजक सभा की प्रति का, चित्रशाला प्रेस में छपा हुआ, हिन्दी अनुवाद।

ना. पं. नारदपंचरात्र। कलकत्ते का संस्करण।

ना. सू. नारदसूत्र। बम्बई का संस्करण।

नृसिंह. उ. नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्।

पातञ्जलसू. पातञ्जलयोगसूत्र। तुकाराम तात्या का संस्करण।

पंच. पंचदशी। निर्णयसागर का सटीक संस्करण।

प्रश्न. प्रश्नोपनिषद्। प्रश्न और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

बृ. अथवा बृह. बृहदारण्यकोपनिषद्। अध्याय, ब्राह्मण और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण। साधारण पाठ काण्व; केवल एक स्थान पर माध्यन्दिन शाखा के पाठ का उल्लेख है।

ब्र. सू. आगे वे. सू. देखो।

भाग. श्रीमद्भागवतपुराण। निर्णयसागर का संस्करण।

भा. ज्यो. भारतीय ज्योतिःशास्त्र। स्वर्गीय शंकर बालकृष्ण दीक्षितकृत।

मत्स्य. मत्स्यपुराण। आनन्दाश्रम का संस्करण।

मनु. मनुस्मृति। अध्याय और श्लोक। डॉ. जाली का संस्करण। मण्डलीक के अथवा और किसी भी संस्करण में येही श्लोक प्रायः एक ही स्थान पर मिलेंगे मनु पर जो टीका है, वह मण्डलीक के संस्करण की है।

म. भा. श्रीमन्महाभारत। इसके आगे के अक्षर विभिन्न पर्वों के दर्शक हैं; नम्बर

अध्याय के और श्लोकों के हैं। कलकत्ते में बाबू प्रतापचन्द्र राय के द्वारा मुद्रित संस्कृत प्रति का ही हमने सर्वत्र उपयोग किया है। बम्बई के संस्करण में ये श्लोक कुछ आगे पीछे मिलेंगे।

मि. प्र. मिलिन्दप्रश्न। पाली ग्रन्थ। अंग्रेज़ी अनुवाद।

मुं. अथवा मुंड. मुण्डकोपनिषद्। मुण्ड, खण्ड और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण

मैत्र्यु. मैत्र्युपनिषद् अथवा मैत्रायण्युपनिषद्। प्रपाठक और मन्त्र। आनंदाश्रम का संस्करण।

याज्ञ. याज्ञवल्क्यस्मृति। अध्याय और श्लोक। बम्बई का छपा हुआ। इसकी अपरार्क टीका (आनंदाश्रम के संस्क०) का भी दो-एक स्थानों पर उल्लेख है।

यो. अथवा योग. योगवासिष्ठ। प्रकरण, सर्ग और श्लोक। छठे प्रकरण के दो भाग हैं. (पू.) पूर्वार्ध, और (उ) उत्तरार्ध। निर्णयसागर का सटीक संस्करण।

रामपू. रामपूर्वतापिन्युपनिषद्। आनंदाश्रम का संस्करण।

वाज. सं. वाजसनेयीसंहिता। अध्याय और मन्त्र। वेबर का संस्करण।

वाल्मीकिरा. अथवा वा. रा. वाल्मीकिरामायण। काण्ड, अध्याय और श्लोक। बम्बई का संस्करण।

विष्णु. विष्णुपुराण। अंश, अध्याय और श्लोक। बम्बई का संस्करण।

वे. सू. वेदान्तसूत्र। अध्याय, पाद और सूत्र। वे. सू. शां. भा. वेदान्तसूत्र-शांकरभाष्य। आनन्दाश्रमवाले संस्करण का ही सर्वत्र उपयोग किया है।

शां. सू. शांडिल्यसूत्र। बम्बई का संस्करण।

शिव. शिवगीता। अध्याय और श्लोक। अष्टेकर मण्डली के गीतासंग्रह का संस्करण।

श्वे. श्वेताश्वतरोपनिषद्। अध्याय और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

सां. का. सांख्यकारिका। तुकाराम तात्या का संस्करण।

सूर्यगी. सूर्यगीता। अध्याय और श्लोक। मद्रास का संस्करण।

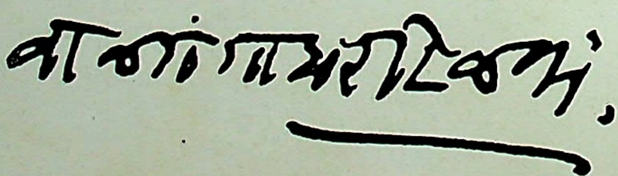
हरि. हरिवंश। पर्व, अध्याय और श्लोक। बम्बई का संस्करण।

नोट :—इनके अतिरिक्त और कितने ही संस्कृत, अंग्रेज़ी, मराठी एवं पाली ग्रन्थों का स्थान स्थानपर उल्लेख है। परन्तु उनके नाम यथास्थान पर प्रायः पूरे लिख दिये गये हैं; अथवा वे समझ में आ सकते हैं। इसलिये उनके नाम इस फ़ेहरिस्त में शामिल नहीं किये गये।



जन्म : २३ जुलाई १८५६

मृत्यु : १ अगस्त १९२०



श्रीगणेशाय नमः ।

ॐ तत्सत् ।

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य

अथवा

कर्मयोगशास्त्र ।

पहला प्रकरण ।

विषयप्रवेश ।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥*

महाभारत, आदिम श्लोक ।

श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्मग्रंथों में एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिंड-ब्रह्मांड-ज्ञानसहित आत्मविद्या के गूढ़ और पवित्र तत्त्वों को थोड़े में और स्पष्ट रीति से समझा देनेवाला, उन्हीं तत्त्वों के आधार पर मनुष्यमात्र के पुरुषार्थ की—अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णावस्था की पहचान करा देनेवाला, भक्ति और ज्ञान का मेल कराके इन दोनों का शास्त्रोक्त व्यवहार के साथ संयोग करा देनेवाला और इसके द्वारा संसार से दुःखित मनुष्य को शान्ति दे कर उसे निष्काम कर्तव्य के आचरण में लगानेवाला गीता के समान बालबोध ग्रंथ, संस्कृत के कौन कहे, समस्त संसार के साहित्य में नहीं मिल सकता। केवल काव्य की ही दृष्टि से यदि इसकी परीक्षा की जाय तो भी यह ग्रंथ उत्तम काव्यों में गिना जा सकता है; क्योंकि इसमें आत्मज्ञान के अनेक गूढ़ सिद्धान्त ऐसी प्रासादिक भाषा में लिखे गये हैं, कि वे बूढ़ों और बच्चों को एक समान सुगम हैं; और इसमें ज्ञानयुक्त भक्ति-रस भी भरा पड़ा है। जिस ग्रंथ में समस्त वैदिक धर्म का सार स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् की वाणी से संग्रहित किया गया है, उसकी योग्यता का वर्णन कैसे किया जाय? महाभारत की लड़ाई समाप्त होने पर एक दिन श्रीकृष्ण और अर्जुन प्रेमपूर्वक बातचीत कर रहे थे। उस समय अर्जुन के मन में इच्छा हुई कि श्रीकृष्ण से

---

* नारायण को, मनुष्यों में जो श्रेष्ठ नर है उसको, सरस्वती देवी को और व्यासजी को नमस्कार करके फिर 'जय' अर्थात् महाभारत को पढ़ना चाहिये—

एक बार और गीता सुनें। तुरन्त अर्जुन ने बिनती की "महाराज! आपने जो उपदेश मुझे युद्ध के आरंभ में दिया था उसे मैं भूल गया हूँ। कृपा करके एक बार और बतलाइये।" तब श्रीकृष्ण भगवान् ने उत्तर दिया कि—"उस समय मैंने अत्यन्त योगयुक्त अंतःकरण से उपदेश किया था। अब सम्भव नहीं कि मैं वैसा ही उपदेश फिर कर सकूँ।" यह बात अनुगीता के आरंभ (म. भा. अश्वमेध. अ. १६. श्लोक. १०-१३) में दी हुई है। सच पूछो तो भगवान् श्रीकृष्णचंद्र के लिये कुछ भी असंभव नहीं है; परन्तु उनके उक्त कथन से यह बात अच्छी तरह मालूम हो सकती है कि गीता का महत्त्व कितना अधिक है। यह ग्रंथ, वैदिक धर्म के भिन्न भिन्न संप्रदायों में, वेद के समान, आज करीब ढाई हज़ार वर्ष से, सर्वमान्य तथा प्रमाणस्वरूप हो रहा है; इसका कारण भी उक्त ग्रन्थ का महत्त्व ही है। इसी लिये गीता-ध्यान में इस स्मृतिकालीन ग्रंथ का अलंकारयुक्त, परन्तु यथार्थ वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

अर्थात् जितने उपनिषद हैं वे मानों गौ हैं, श्रीकृष्ण स्वयं दूध दुहनेवाले (ग्वाला) हैं, बुद्धिमान् अर्जुन (उस गौ को पन्हानेवाला) भोक्ता बछड़ा (वत्स) है, और जो दूध दुहा गया वही मधुर गीतामृत है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, कि हिन्दुस्थान की सब भाषाओं में इसके अनेक अनुवाद, टीकाएँ, और विवेचन हो चुके हैं; परन्तु जब से पश्चिमी विद्वानों को संस्कृत भाषा का ज्ञान होने लगा है; तब से ग्रीक, लेटिन, जर्मन, फरेन्च, अंग्रेज़ी आदि यूरोप की भाषाओं में भी इसके अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। तात्पर्य यह है, कि इस समय यह अद्वितीय ग्रंथ समस्त संसार में प्रसिद्ध है।

इस ग्रंथ में सब उपनिषदों का सार आ गया है; इसीसे इसका पूरा नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषत्' है। गीता के प्रत्येक अध्याय के अंत में जो अध्याय-समाप्ति-दर्शक संकल्प है उसमें "इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे" इत्यादि शब्द हैं। यह संकल्प यद्यपि मूलग्रंथ (महाभारत) में नहीं है, तथापि यह गीता की सभी प्रतियों में पाया जाता है।

यह श्लोक का अर्थ है। महाभारत (उ. ४८. ७–६ और २०–२२; तथा वन. १२. ४४–४६) में लिखा है, कि नर और नारायण ये दोनों ऋषि दो स्वरूपों में विभक्त—साक्षात् परमात्मा—ही हैं, और इन्हीं दोनों ने फिर अर्जुन तथा श्रीकृष्ण का अवतार लिया। सब भागवतधर्मीय ग्रंथों के आरंभ में इन्हीं को प्रथम इसलिये नमस्कार करते हैं, कि निष्काम-कर्म-युक्त नारायणीय तथा भागवत्-धर्म को इन्होंने ही पहले पहले जारी किया था। इस श्लोक में कहीं कहीं 'व्यास' के बदले 'चैव' पाठ भी है; परंतु हमें यह युक्तिसंगत नहीं मालूम होता; क्योंकि, जैसे भागवत-धर्म के प्रचारक नर नारायण को प्रणाम करना सर्वथा उचित है, वैसे ही इस धर्म के दो मुख्य ग्रंथों (महाभारत और गीता) के कर्ता व्यासजी को भी नमस्कार करना उचित है। महाभारत का प्राचीन नाम 'जय' है म. भा. आ. ६२. २०)।

इससे अनुमान होता है, कि गीता की किसी भी प्रकार की टीका होने के पहले ही, जब महाभारत से गीता नित्य पाठ के लिये अलग निकाल ली गई होगी तभी से उक्त संकल्पका प्रचार हुआ होगा । इस दृष्टि से, गीता के तात्पर्य का निर्णय करने के कार्य में उसका महत्त्व कितना है यह आगे चल कर बताया जायगा । यहाँ इस संकल्प के केवल दो पद (भगवद्गीतासु उपनिषत्सु) विचारणीय हैं । 'उपनिषत्' शब्द हिन्दी में पुल्लिंग माना जाता है; परन्तु वह संस्कृत में स्त्रीलिंग है । इसलिये "श्रीभगवान् से गाया गया अर्थात् कहा गया उपनिषद्" यह अर्थ प्रगट करने के लिये संस्कृत में "श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषत्" ये दो विशेषण-विशेष्यरूप स्त्रीलिंग शब्द प्रयुक्त हुए हैं; और यद्यपि ग्रंथ एक ही है, तथापि सम्मान् के लिये "श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु" ऐसा सप्तमी के बहुवचन का प्रयोग किया गया है । शंकराचार्य के भाष्य में भी इस ग्रंथ को लक्ष्य करके 'इति गीतासु' यह बहुवचनान्त प्रयोग पाया जाता है । परन्तु नाम को संक्षिप्त करने के समय आदरसूचक प्रत्यय, पद तथा अंत के सामान्य जातिवाचक 'उपनिषत्' शब्द भी उडा दिये गये; जिससे 'श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषत्' इन प्रथमा के एकवचनान्त शब्दों के बदले पहले 'भगवद्गीता' और फिर केवल 'गीता' ही संक्षिप्त नाम प्रचलित हो गया । ऐसे बहुत–से संक्षिप्त नाम प्रचलित हैं । जैसे—कठ, छांदोग्य, केन इत्यादि । यदि 'उपनिषत्' शब्द मूल नाम में न होता तो 'भागवतम्,' 'भारतम्' 'गोपीगीतम्' इत्यादि शब्दों के समान इस ग्रंथ का नाम भी 'भगवद्गीतम्' या केवल 'गीतम्' बन जाता; जैसा कि नपुंसकलिंग के शब्दों का स्वरूप होता है । परन्तु जबकि ऐसा हुआ नहीं है और 'भगवद्गीता' या 'गीता' यही स्त्रीलिंग शब्द अब तक बना है, तब उसके सामने 'उपनिषत्' शब्द को नित्य अध्याहृत समझना ही चाहिये । अनुगीता की अर्जुन मिश्रकृत टीका में 'अनुगीता' शब्द का अर्थ भी इसी रीति से किया गया है ।

परन्तु सात सौ श्लोक की भगवद्गीता को ही गीता नहीं कहते । अनेक ज्ञानविषयक ग्रंथ भी गीता कहलाते हैं । उदाहरणार्थ, महाभारत के शांतिपर्वांतर्गत मोक्षपर्व के कुछ फुटकर प्रकरणों को पिंगलगीता, शंपाकगीता, मंकिगीता, बोध्यगीता, विचख्युगीता, हारीतगीता, वृत्रगीता, पराशरगीता और हंसगीता कहते हैं । अश्वमेध पर्व में अनुगीता के एक भाग का विशेष नाम 'ब्राह्मणगीता' है । इनके सिवा अवधूतगीता, अष्टावक्रगीता, ईश्वरगीता, उत्तरगीता, कपिलगीता, गणेशगीता देवीगीता, पांडवगीता, ब्रह्मगीता, भिक्षुगीता, यमगीता, रामगीता, व्यासगीता, शिवगीता, सूतगीता, सूर्यगीता इत्यादि अनेक गीताएँ प्रसिद्ध हैं । इनमें से कुछ तो, स्वतंत्र रीति से निर्माण की गई हैं और शेष भिन्न भिन्न पुराणों से ली गई हैं। जैसे, गणेशपुराण के अन्तिम क्रीडाखंड के १३८ से १४८ अध्यायों में गणेशगीता कही गई है । इसे यदि थोड़े फेरफार के साथ भगवद्गीता की नक़ल कहें तो कोई हानि नहीं । कूर्मपुराण के उत्तर भाग के पहले ग्यारह अध्यायों में ईश्वरगीता है ।

इसके बाद व्यासगीता का आरंभ हुआ है। स्कंदपुराणान्तर्गत सूतसंहिता के चौथे अर्थात् यज्ञवैभवखंड के उपरिभाग के आरंभ (१ से १२ अध्याय तक) में ब्रह्म-गीता है और इसके बाद आठ अध्यायों में सूतगीता है। यह तो हुई एक ब्रह्म-गीता; दूसरी एक और भी ब्रह्मगीता है, जो योगवासिष्ठ के निर्वाण-प्रकरण के उत्त-रार्ध (सर्ग १७३ से १८१ तक) में आ गई है। यमगीता तीन प्रकार की है। पहली विष्णुपुराण के तीसरे अंश के सातवें अध्याय में; दूसरी, अग्निपुराणके तीसरे खंड के ३८१ वें अध्याय में; और तीसरी, नृसिंहपुराण के आठवें अध्याय में है। यही हाल रामगीता का है। महाराष्ट्र में जो रामगीता प्रचलित है वह अध्यात्म-रामायण के उत्तरकांड के पाँचवें सर्ग में है; और यह अध्यात्मरामायण ब्रह्मांड-पुराणका एक भाग माना जाता है; परन्तु इसके सिवा एक दूसरी रामगीता 'गुरुज्ञानवासिष्ठ-तत्त्वसारायण' नामक ग्रंथ में है; जो मद्रास की ओर प्रसिद्ध है। यह ग्रंथ वेदान्त-विषय पर लिखा गया है। इसमें ज्ञान, उपासना और कर्म-संबंधी तीन कांड हैं। इसके उपासना-कांड के द्वितीय पाद के पहले अठारह अध्याय में राम-गीता है और कर्मकांड के तृतीय पाद के पहले पाँच अध्यायों में सूर्यगीता है। कहते हैं कि शिवगीता पद्मपुराण के पातालखंड में है। इस पुराण की जो प्रति पूने के आनंदाश्रम में छपी है उसमें शिवगीता नहीं है। पंडित ज्वालाप्रसाद ने अपने 'अष्टादशपुराणदर्शन' ग्रंथ में लिखा है कि शिवगीता गौड़ीय पद्मोत्तरपुराण में है। नारदपुराण में, अन्य पुराणों के साथ साथ, पद्मपुराण की भी जो विषयानु-क्रमणिका दी गई है उसमें शिवगीता का उल्लेख पाया जाता है। श्रीमद्भागवत-पुराण के ग्यारहवें स्कंध के तेरहवें अध्याय में हंसगीता और तेईसवें अध्याय में भिक्षुगीता कही गई है। तीसरे स्कंध के कपिलोपाख्यान (२३–३३) को कई लोग 'कपिलगीता' कहते हैं; परन्तु 'कपिलगीता' नामक एक छपी हुई स्वतंत्र पुस्तक हमारे देखने में आई है, जिसमें हठयोग का प्रधानता से वर्णन किया गया है; और लिखा है, कि यह कपिलगीता पद्मपुराण से ली गई है; परन्तु यह गीता पद्मपुराण में है ही नहीं। इसमें एक स्थान (४.७) पर जैन, जंगम और सूफ़ी का उल्लेख किया गया है, जिससे कहना पड़ता है, कि यह गीता मुसलमानी राज्य के बाद की होगी। भागवतपुराण ही के समान देवीभागवत में भी, सातवें स्कंध के ३१ से ४० अध्याय तक, अेक गीता है जिसे देवी से कही जाने के कारण देवीगीता कहते हैं। खुद भगवद्गीता ही का सार अग्निपुराण के तीसरे खंड के ३८० वें अध्याय में, तथा गरुडपुराण के पूर्वखंड के २४२ वें अध्याय में दिया हुआ है। इसी तरह कहा जाता है, कि वसिष्ठजी ने जो उपदेश रामचंद्रजी को दिया, उसीको योगवासिष्ठ कहते हैं; परंतु इस ग्रंथ के अन्तिम (अर्थात् निर्वाण) प्रकरण में 'अर्जुनोपाख्यान' भी शामिल है; जिसमें उस भगवद्गीताका सारांश दिया गया है, कि जिसे भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था। इस उपाख्यान में भगवद्गीता के अनेक श्लोक ज्यों-के-त्यों पाये जाते हैं (योग

६ पू. सर्ग. ५२–५८)। ऊपर कहा जा चुका है कि पूने में छपे हुए पद्मपुराण में शिवगीता नहीं मिलती; परन्तु उसके न मिलने पर भी इस प्रति के उत्तरखंड के १७१ से १८८ अध्याय तक भगवद्गीता के माहात्म्य का वर्णन है, और भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय के लिये माहात्म्य-वर्णन में एक एक अध्याय है; और उसके संबंध में कथा भी कही गई है। इसके सिवा वराहपुराण में एक गीता-माहात्म्य है और शिवपुराण में तथा वायुपुराण में भी गीता-माहात्म्य का होना बतलाया जाता है; परन्तु कलकत्ते के छपे हुए वायुपुराण में वह हमें नहीं मिला। भगवद्गीता की छपी हुई पुस्तकों के आरंभ में 'गीता-ध्यान' नामक नौ श्लोकों का एक प्रकरण पाया जाता है। नहीं जान पड़ता, कि यह कहाँ से लिया गया है; परन्तु इसका "भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला०" श्लोक, थोड़े हेरफेर के साथ, हाल ही में प्रकाशित 'उरुभंग' नामक भास कविकृत नाटक के आरंभ में दिया हुआ है। इससे ज्ञात होता है, कि उक्त ध्यान भास कवि के समय के अनंतर प्रचार में आया होगा। क्योंकि यह मानने की अपेक्षा कि भास सरीखे प्रसिद्ध कवि ने इस श्लोक को गीता-ध्यान से लिया है; यही कहना अधिक युक्तिसंगत होगा, कि गीता-ध्यान की रचना भिन्न भिन्न स्थानोंसे लिये हुए, और कुछ नये बनाये हुए श्लोकों से की गई है। भास कवि कालिदास से पहले हो गया है। इसलिये उसका समय कम-से-कम संवत् ४३५ (शक तीन सौ) से अधिक अर्वाचीन नहीं हो सकता।*

ऊपर कही गई बातों से यह बात अच्छी तरह ध्यान में आ सकती है, कि भगवद्गीता के कौन कौन-से और कितने अनुवाद तथा कुछ हेरफेर के साथ कितनी नकलें, तात्पर्य और माहात्म्य पुराणों में मिलते हैं। इस बात का पता नहीं चलता, कि अवधूत और अष्टावक्र आदि दो चार गीताओं को कब और किसने स्वतंत्र रीति से रचा; अथवा वे किस पुराण से ली गई हैं। तथापि इन सब गीताओं की रचना तथा विषय-विवेचन को देखने से यही मालूम होता है, कि ये सब ग्रंथ, भगवद्गीता के जगत्प्रसिद्ध होने के बाद ही, बनाये गय हैं। इन गीताओं के संबंध में यह कहने से भी कोई हानि नहीं कि वे इसी लिये रची गई हैं, कि किसी विशिष्ट पंथ या विशिष्ट पुराण में भगवद्गीता के समान एक-आध गीता के रहे बिना उस पंथ या पुराणकी पूर्णता नहीं हो सकती थी। जिस तरह श्रीभगवान् ने भगवद्गीता अर्जुन को विश्वरूप दिखा कर ज्ञान बतलाया है, उसी तरह शिवगीता, देवीगीता और गणेशगीता में भी वर्णन है। शिवगीता, ईश्वरगीता आदि में तो भगवद्गीता के अनेक श्लोक अक्षरशः पाये जाते हैं। यदि ज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो इन सब गीताओं में भगवद्गीता की अपेक्षा कुछ विशेषता नहीं है; और भगवद्गीता में अध्यात्मज्ञान और कर्म का मेल कर देने की जो अपूर्व शैली है वह किसी भी अन्य गीता में नहीं है। भगवद्गीता में पातंजलयोग अथवा

* उपर्युक्त अनेक गीताओं तथा भगवद्गीता को श्रीयुत हरि रघुनाथ भागवत आजकल पूने से प्रकाशित कर रहे हैं।

हठयोग और कर्मत्यागरूप संन्यास का यथोचित वर्णन न देख कर, उसकी पूर्ति के लिये कृष्णार्जुन संवाद के रूप में, किसीने उत्तरगीता पीछे से लिख डाली है। अवधूत और अष्टावक्र आदि गीताएँ बिलकुल एकदेशीय हैं। क्योंकि इनमें केवल संन्यास-मार्ग का ही प्रतिपादन किया गया है। यमगीता और पांडवगीता तो केवल भक्ति-विषयक संक्षिप्त स्तोत्रों के समान हैं। शिवगीता, गणेशगीता, और सूर्यगीता ऐसी नहीं हैं। यद्यपि इनमें ज्ञान और कर्म के समुच्चय का युक्तियुक्त समर्थन अवश्य किया गया है, तथापि इनमें नवीनता कुछ भी नहीं है; क्योंकि यह विषय प्रायः भगवद्गीता से ही लिया गया है। इन कारणों से भगवद्गीता के गंभीर तथा व्यापक तेजके सामने बाद की बनी हुई कोई भी पौराणिक गीता ठहर नहीं सकी, और इन नक़ली गीताओं से उलटा भगवद्गीता का ही महत्त्व अधिक बढ़ गया है। यही कारण है, कि 'भगवद्गीता' का 'गीता' नाम प्रचलित हो गया है। अध्यात्मरामायण और योगवासिष्ठ यद्यपि विस्तृत ग्रंथ हैं तो भी वे पीछे बने हैं और यह बात उनकी रचना से ही स्पष्ट मालूम हो जाती है। मद्रास का 'गुरुज्ञानवासिष्ठतत्त्वसारायण' नामक ग्रंथ कई एकों के मतानुसार बहुत प्राचीन है; परन्तु हम ऐसा नहीं समझते; क्योंकि उसमें १०८ उपनिषदों का उल्लेख है, जिनकी प्राचीनता सिद्ध नहीं हो सकती। सूर्यगीता में विशिष्टाद्वैत मत का उल्लेख पाया जाता है (३.३०); और कई स्थानों में भगवद्गीता ही का युक्तिवाद लिया हुआ-सा जान पड़ता है (१.६८)। इसलिये यह ग्रंथ भी बहुत पीछे से—श्रीशंकराचार्य के भी बाद—बनाया गया होगा।

अनेक गीताओं के होने पर भी भगवद्गीता की श्रेष्ठता निर्विवाद सिद्ध है। इसी कारण उत्तरकालीन वैदिकधर्मीय पंडितों ने, अन्य गीताओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया, और वे भगवद्गीता ही की परीक्षा करने और उसीके तत्त्व अपने बंधुओं को समझा देने में, अपनी कृतकृत्यता मानने लगे। ग्रंथ की दो प्रकार से परीक्षा की जाती है। एक अंतरंग-परीक्षा और दूसरी बहिरंग-परीक्षा कहलाती है। पूरे ग्रंथ को देखकर उसके मर्म, रहस्य, मथितार्थ और प्रमेय ढूँढ़ निकालना 'अंतरंग-परीक्षा' है। ग्रन्थको किसने और कब बनाया, उसकी भाषा सरस है या नीरस, काव्य-दृष्टिसे उसमें माधुर्य और प्रसाद गुण हैं या नहीं, शब्दों की रचना में व्याकरण पर ध्यान दिया गया है या उस ग्रंथ में अनेक आर्ष प्रयोग हैं, उसमें किन किन मतों—स्थलों—और व्यक्तियों—का उल्लेख है; इन बातों से ग्रंथ के काल-निर्णय और तत्कालीन समाज-स्थिति का कुछ पता चलता है या नहीं; ग्रंथ के विचार स्वतंत्र हैं अथवा चुराये हुए हैं, यदि उस में दूसरों के विचार भरे हैं तो वे कौन-से हैं और कहाँ से लिये गये हैं; इत्यादि बातों के विवेचन को 'बहिरंग-परीक्षा' कहते हैं। जिन प्राचीन पंडितों ने गीता पर टीका और भाष्य लिखा है उन्होंने उक्त बाहरी बातों पर अधिक ध्यान नहीं दिया। इसका कारण यही है, कि वे लोग भगवद्गीता सरीखे अलौकिक ग्रंथ की परीक्षा करते समय उक्त बाहरी बातों पर ध्यान देने को ऐसा ही समझते थे,

जैसा कि कोई मनुष्य एक-आध उत्तम सुगंधयुक्त फूल को पाकर उसके रंग, सौंदर्य, सुवास आदि के विषय में कुछ भी विचार न करे, और केवल उसकी पँखुरियाँ गिनता रहे अथवा जैसे कोई मनुष्य मधुमक्खी का मधुयुक्त छत्ता पा कर केवल छिद्रों को गिनने में ही समय नष्ट कर दे! परन्तु अब पश्चिमी विद्वानों के अनुकरण से हमारे आधुनिक विद्वान् लोग गीता की बाह्य-परीक्षा भी बहुत कुछ करने लगे हैं। गीता के आर्ष प्रयोगों को देख कर एक ने यह निश्चित किया है कि यह ग्रंथ ईसा से कई शतक पहले ही बन गया होगा। इससे यह शंका बिलकुल ही निर्मूल हो जाती है, कि गीता का भक्तिमार्ग उस ईसाई धर्म से लिया गया होगा, कि जो गीता से बहुत पीछे प्रचलित हुआ है। गीता के सोलहवें अध्याय में जिस नास्तिक मत का उल्लेख है उसे बौद्धमत समझ कर दूसरे ने गीता का रचना-काल बुद्ध के बाद माना है। तीसरे विद्वान् का कथन है कि तेरहवें अध्याय में 'ब्रह्मसूत्र-पदैश्चैव०' श्लोक में ब्रह्मसूत्र का उल्लेख होने के कारण गीता ब्रह्मसूत्र के बाद बनी होगी। इसके विरुद्ध कई लोग यह भी कहते हैं, कि ब्रह्मसूत्र में अनेक स्थानोंपर गीता ही का आधार लिया गया है; जिससे गीता का उसके बाद बनना सिद्ध नहीं होता। कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि युद्ध में रणभूमि पर अर्जुन को सात सौ श्लोक की गीता सुनाने का समय मिलना संभव नहीं है। हाँ, यह संभव है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को लड़ाई की जल्दी में दस-बीस श्लोक या उनका भावार्थ सुना दिया हो, और उन्हीं श्लोकों के विस्तार को संजय ने धृतराष्ट्र से, व्यास न शुक से, वैशंपायन ने जनमेजय से और सूत ने शौनक से कहा हो; अथवा महाभारत-कार ने भी उसको विस्तृत रीति से लिख दिया हो। गीता की रचना के संबंध में मन की ऐसी प्रवृत्ति होने पर गीता-सागर में डुबकी लगा कर किसी ने सात* किसी ने अठाईस, किसी ने छत्तीस और किसी ने सौ मूल-श्लोक गीता के खोज निकाले हैं। कोई कोई तो यहाँ तक कहते हैं कि अर्जुन को रणभूमि पर गीता का ब्रह्मज्ञान बतलाने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी; वेदान्त विषय का यह उत्तम ग्रंथ पीछे से महाभारत में जोड़ दिया गया होगा। यह नहीं कि बहिरंग-परीक्षा की ये सब बातें सर्वथा निरर्थक हों। उदाहरणार्थ, ऊपर कही गई फूल की पँखुरियों तथा मधु के छत्ते की बात को ही लीजिये। वनस्पतियों के वर्गीकरण के समय फूलों की पँखुरियों का भी विचार अवश्य करना पड़ता है। इसी तरह गणित की सहायता से यह सिद्ध किया गया

* आजकल एक सप्तश्लोकी गीता प्रकाशित हुई है, उसमें केवल यही सात श्लोक हैं:—(१) ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म इ० (गी. ८. १३); (२) स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या इ० (गी. ११.३६); (३) सर्वतः पाणिपादं तत् इ० (गी. १३.१३.); (४) कविं पुराणमनुशासितारं इ० (गी. ८.९); (५) ऊर्ध्वमूलमधःशाखं इ० (गी. १५.१); (६) सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्ट इ० (गी. १५. १५); (७) मन्मना भव मद्भक्तो इ० (गी. १८. ६५) इसी तरह और भी अनेक संक्षिप्त गीताएं बनी हैं।

है, कि मधुमक्खियों के छत्ते में जो छेद होते हैं उनका आकार ऐसा होता है, कि मधु-रस का घनफल तो कम होने नहीं पाता; और बाहर के आवरण का पृष्ठफल बहुत कम हो जाता है; जिससे मोम की पैदायश घट जाती है। इसी प्रकार के उपयोगों पर दृष्टि देते हुए हमने भी गीता की बहिरंग-परीक्षा की है, और उसके कुछ महत्त्व के सिद्धान्तों का विचार इस ग्रंथ के अंत में, परिशिष्ट में किया है; परन्तु जिनको ग्रंथ का रहस्य ही जानना है, उनके लिये बहिरंग-परीक्षा के झगड़े में पड़ना अनावश्यक है। वाग्देवी के रहस्य को जाननेवालों तथा उसकी ऊपरी और बाहरी बातों के जिज्ञासुओं में जो भेद है उसे मुरारि कवि ने बड़ी ही सरसता के साथ दरशाया है—

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किं त्वस्य गंभीरताम्।
आपातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मंथाचलः॥

अर्थात्, समुद्र की अगाध गहराई जानने की यदि इच्छा हो तो किससे पूछा जाय? इसमें संदेह नहीं, कि राम-रावण-युद्ध के समय सैंकड़ों वानरवीर धड़ाधड़ समुद्र के ऊपर से कूदते हुए लंका में चले गये थे; परन्तु उनमें से कितनों को समुद्र की गहराई का ज्ञान है? समुद्र-मंथन के समय देवताओं ने मन्थनदंड बना कर जिस बड़े भारी पर्वत को समुद्र के नीचे छोड़ दिया था; और जो सचमुच समुद्र के नीचे पाताल तक पहुँच गया था; वही मंदराचल पर्वत समुद्र की गहराई को जान सकता है। मुरारि कवि के इस न्यायानुसार, गीता के रहस्य को जानने के लिये, अब हमें उन पंडितों—और आचार्यों—के ग्रंथों की ओर ध्यान देना चाहिये, जिन्होंने गीता-सागर का मंथन किया है। इन पंडितों में महाभारत के कर्ता ही अग्रगण्य हैं। अधिक क्या कहें, आजकल जो गीता प्रसिद्ध है, उसके यही एक प्रकार से कर्ता भी कहे जा सकते हैं। इसलिये प्रथम उन्हीं के मतानुसार संक्षेप में गीता का तात्पर्य दिया जायगा।

'भगवद्गीता' अर्थात् 'भगवान् से गाया गया उपनिषत्' इस नाम ही से बोध होता है, कि गीता में अर्जुन को उपदेश किया गया है वह प्रधान रूप से भागवतधर्म—भगवान् के चलाये हुए धर्म के विषय में होगा। क्योंकि श्रीकृष्ण को 'श्रीभगवान्' का नाम प्रायः भागवतधर्म में ही दिया जाता है। यह उपदेश कुछ नया नहीं है। पूर्व काल में यही उपदेश भगवान् ने विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को किया था। यह बात गीता के चौथे अध्याय-के आरंभ (१.३) में दी हुई है। महाभारतके, शांतिपर्व के अंत में नारायणीय अथवा भागवतधर्म का विस्तृत निरूपण है, जिसमें ब्रह्मदेव के अनेक जन्मों में अर्थात् कल्पान्तरों में भागवतधर्मकी परंपरा का वर्णन किया गया है। और अंत-में, यह कहा गया है:—

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ।
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः॥

अर्थात् ब्रह्मदेव के वर्तमान जन्म के त्रेतायुग में इस भागवतधर्म ने विवस्वान् मनु-इक्ष्वाकु की परंपरा से विस्तार पाया है (म.भा. शां. ३४८.५१,५२)। यह परंपरा गीता में दी हुई उक्त परंपरा से मिलती है (गीता. ४. १. पर हमारी टीका देखो)। दो भिन्न धर्मों की परंपरा का एक होना संभव नहीं है, इसलिये परंपरा की एकता के कारण यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि गीताधर्म और भागवतधर्म ये दोनों एक ही हैं। इन धर्मों की यह एकता केवल अनुमान ही पर अवलंबित नहीं है। नारायणीय या भागवतधर्म के निरूपण में वैशंपायन जनमेजय से कहते हैं :—

एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः॥

अर्थात् हे नृपश्रेष्ठ जनमेजय! यही उत्तम भागवतधर्म, विधियुक्त और संक्षिप्त रीति से हरिगीता अर्थात् भगवद्गीता में, तुझे पहले ही बतलाया गया है (म.भा. शां. ३४६. १०)। इसके बाद एक अध्याय छोड़ कर दूसरे अध्याय (म.भा. शां. ३४८.८) में नारायणीय धर्म के संबंध में फिर भी स्पष्ट रीति से कहा गया है कि :—

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपांडवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम्॥

अर्थात् कौरव-पांडव-युद्ध के समय जब अर्जुन उद्विग्न हो गया था तब स्वयं भगवान् ने उसे यह उपदेश किया था। इसमें यह स्पष्ट है, कि 'हरिगीता' से भगवद्गीता ही का मतलब है। गुरुपरंपरा की एकता के अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखने योग्य है, कि जिस भागवतधर्म या नारायणीय धर्म के विषय में दो बार कहा गया है, कि वही गीता का प्रतिपाद्य विषय है; उसी को 'सात्वत' या 'एकांतिक' धर्म भी कहा है। इसका विवेचन करते समय (शां. ३४७. ८०,८१) दो लक्षण कहे गये हैं :—

नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः॥

अर्थात् यह नारायणीय धर्म प्रवृत्तिमार्ग का हो कर भी पुनर्जन्म को टालनेवाला अर्थात् पूर्ण मोक्ष का दाता है। फिर इस बात का वर्णन किया गया है, कि यह धर्म प्रवृत्तिमार्ग का कैसे है। प्रवृत्ति का यह अर्थ प्रसिद्ध ही है, कि संन्यास न लेकर मरणपर्यन्त चातुर्वर्ण्य-विहित निष्काम—कर्म ही करता रहे। इसलिये यह स्पष्ट है, कि गीता में जो उपदेश अर्जुन को किया गया है, वह भागवतधर्म का है; और उसको महाभारतकार प्रवृत्ति-विषयक ही मानते हैं। क्योंकि उपर्युक्त धर्म भी प्रवृत्ति-विषयक है। साथ साथ यदि ऐसा कहा जाय, कि गीता में केवल प्रवृत्तिमार्ग का ही भागवतधर्म है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि वैशंपायन ने जनमेजय से फिर भी कहा है (म.भा. शां. ३४८.५३) —

यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥

अर्थात् हे राजा ! यतियों–अर्थात् संन्यासियों–के निवृत्तिमार्ग का धर्म भी तुझे पहले भगवद्‌गीता में संक्षिप्त रीति से भागवतधर्म के साथ बतला दिया गया है; परन्तु यद्यपि गीता में प्रवृत्तिधर्म के साथ ही यतियों का निवृत्तिधर्म भी बतलाया गया है, तथापि मनु-इक्ष्वाकु इत्यादि गीताधर्म की जो परंपरा गीता में दी गई है, वह यतिधर्म को लागू नहीं हो सकती। वह केवल भागवतधर्म ही की परंपरा से मिलती है । सारांश यह है, कि उपर्युक्त वचनों से महाभारतकार का यही अभिप्राय जान पड़ता है, कि गीता में अर्जुन को जो उपदेश किया गया है, वह विशेष करके मनु-इक्ष्वाकु इत्यादि परंपरा से चले हुए प्रवृत्ति-विषयक भागवतधर्म ही का है; और उसमें निवृत्ति-विषयक यतिधर्म का जो निरूपण पाया जाता है वह केवल आनुषंगिक है । पृथु, प्रियव्रत और प्रल्हाद आदि भक्तों की कथाओं से, तथा भागवत में दिये गये निष्काम–कर्म के वर्णनों से (भागवत. ४.२२.५१, ५२; ७.१०. २३ और ११.४.६ देखो) यह भली भाँति मालूम हो जाता है, कि महाभारत का प्रवृत्ति-विषयक नारायणीय धर्म और भागवतपुराण का भागवतधर्म, ये दोनों आदि में एक ही हैं । परन्तु भागवतपुराण का मुख्य उद्देश यह नहीं है, कि वह भागवतधर्म के कर्मयुक्त-प्रवृत्ति तत्त्व का समर्थन करे । यह समर्थन, महाभारत में और विशेष करके गीता में किया गया है; परंतु इस समर्थन के समय भागवत-धर्मीय भक्ति का यथोचित रहस्य दिखलाना व्यासजी भूल गये थे । इसलिये भागवत के आरंभ के अध्यायों में लिखा है, कि (भागवत. १. ५. १२) बिना भक्ति के केवल निष्काम–कर्म व्यर्थ है यह सोच कर, और महाभारत की उक्त न्यूनता को पूर्ण करने के लिये ही, भागवतपुराण की रचना पीछे से की गई । इससे भागवत पुराण का मुख्य उद्देश्य स्पष्ट रीति से मालूम हो सकता है । यही कारण है कि भागवतमें अनेक प्रकार की हरिकथा कह कर भागवतधर्म की भगवद्‌भक्ति के माहात्म्य का जैसा विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, वैसा भागवतधर्म के कर्म-विषयक अंगों का विवेचन उसमें नहीं किया है । अधिक क्या, भागवतकार का यहाँ तक कहना है, कि बिना भक्ति के सब कर्मयोग वृथा हैं (भाग. १. ५.३४) । अतएव गीता के तात्पर्य का निश्चय करने में जिस महाभारत में गीता कही गई है, उसी नारायणीयोपाख्यान का जैसा उपयोग हो सकता है, वैसा भागवत-धर्मीय होने पर भी, भागवतपुराण का उपयोग नहीं हो सकता; क्योंकि वह केवल भक्ति-प्रधान है । यदि उसका कुछ उपयोग किया भी जाय, तो इस बात पर भी ध्यान देना पड़ेगा, कि महाभारत और भागवतपुराण के उद्देश और रचना-काल भिन्न भिन्न हैं । निवृत्तिविषयक यतिधर्म और प्रवृत्तिविषयक भागवतधर्मका मूलस्वरूप क्या है ? इन दोनों में यह भेद क्यों हैं ? मूल भागवतधर्म

इस समय किस रूपान्तर से प्रचलित है ? इत्यादि प्रश्नों का विचार आगे चल कर किया जायगा ।

यह मालूम हो गया, कि स्वयं महाभारतकार के मतानुसार गीता का क्या तात्पर्य है । अब देखना चाहिये कि गीता के भाष्यकारों और टीकाकारों ने गीता का क्या तात्पर्य निश्चित किया है । इन भाष्यों तथा टीकाओं में आजकल श्री शंकराचार्य कृत गीता-भाष्य अति प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है । यद्यपि इसके भी पूर्व गीता पर अनेक भाष्य और टीकाएँ लिखी जा चुकी थीं; तथापि वे अब उपलब्ध नहीं हैं; और इसी लिये जान नहीं सकते, कि महाभारत के रचना-काल से शंकराचार्य के समय तक गीता का अर्थ किस प्रकार किया जाता था। तथापि शांकर-भाष्य ही में इन प्राचीन टीकाकारों के मतों का जो उल्लेख है (गी. शां.भा. अ. २ और ३ का उपोद्घात देखो), उससे साफ़ साफ़ मालूम होता है, कि शंकराचार्य के पूर्वकालीन टीकाकार, गीता का अर्थ, महाभारत-कर्ता के अनुसार ही ज्ञानकर्म-समुच्चयात्मक किया करते थे । अर्थात् उसका यह प्रवृत्ति-विषयक अर्थ लगाया जाता था, कि ज्ञानी मनुष्य को ज्ञान के साथ साथ मृत्युपर्यंत स्वधर्म विहित कर्म करना चाहिये। परन्तु वैदिक कर्मयोग का यह सिद्धान्त शंकराचार्य को मान्य नहीं था। इसलिये उसका खंडन करने और अपने मत के अनुसार गीता का तात्पर्य बताने ही के लिये उन्होंने गीता-भाष्य की रचना की है । यह बात उक्त भाष्य के आरंभ के उपोद्घातमें स्पष्ट रीति से कही गई है । 'भाष्य' शब्द का अर्थ भी यही है । 'भाष्य' और 'टीका' का बहुधा समानार्थी उपयोग होता है; परन्तु सामान्यतः 'टीका' मूलग्रन्थ के सरल अन्वय और इसके सुगम अर्थ करने ही को कहते हैं । भाष्यकार इतनी ही बातों पर संतुष्ट नहीं रहता, वह उस ग्रन्थ की न्याययुक्त समालोचना करता है; अपने मतानुसार उसका तात्पर्य बतलाता है; और उसी के अनुसार वह यह भी बतलाता है, कि ग्रन्थ का अर्थ कैसे लगाना चाहिये । गीता के शांकरभाष्य का यही स्वरूप है। परन्तु गीता के तात्पर्य के विवेचन में शंकराचार्य ने जो भेद किया है उसका कारण जानने के पहले थोड़ासा पूर्वकालिक इतिहास भी यहीं पर जान लेना चाहिये । वैदिक धर्म केवल तान्त्रिक धर्म नहीं है । उसमें जो गूढ तत्त्व हैं; उनका सूक्ष्म विवेचन प्राचीन समय ही में उपनिषदों में हो चुका है; परन्तु ये उपनिषद भिन्न भिन्न विषयों के द्वारा भिन्न भिन्न समय में बनाये गये हैं । इसलिये उनमें कहीं कहीं विचार-विभिन्नता भी आ गई है । इस विचार-विरोध को मिटाने के लिये ही बादरायणाचार्यने अपने वेदान्तसूत्रोंमें सब उपनिषदों की विचारैक्यता कर दी है; और इसी कारण से वेदान्तसूत्र भी उपनिषदों के समान ही प्रमाण माने जाते हैं। इन्हीं वेदान्त-सूत्रों का दूसरा नाम 'ब्रह्मसूत्र' अथवा 'शारीरकसूत्र' है । तथापि वैदिक कर्म के तत्त्वज्ञान का पूर्ण विचार इतने से ही नहीं हो सकता । क्योंकि उपनिषदों का ज्ञान प्रायः वैराग्यविषयक अर्थात् निवृत्तिविषयक है; और वेदान्तसूत्र तो सिर्फ़ उपनिषदों

का मतैक्य करने ही के उद्देश से बनाये गये हैं । इसलिये उनमें भी वैदिक प्रवृत्तिमार्ग का विस्तृत विवेचन कहीं भी नहीं किया है । इसीलिये उपर्युक्त कथानुसार जब प्रवृत्तिमार्ग-प्रतिपादक भगवद्गीता ने वैदिक धर्म की तत्त्वज्ञानसंबंधी इस न्यूनता की पूर्ति पहले पहल की, तब उपनिषदों और वेदान्तसूत्रों के मार्मिक तत्त्वज्ञान की पूर्णता करनेवाला यह भगवद्गीता ग्रन्थ भी, उन्हीं के समान, सर्वमान्य और प्रमाणभूत हो गया । और, अन्त में उपनिषदों, वेदान्तसूत्रों और भगवद्गीता का 'प्रस्थानत्रयी' नाम पड़ा । 'प्रस्थानत्रयी' का यह अर्थ है कि उसमें वैदिक धर्म के आधारभूत तीन मुख्य ग्रन्थ हैं, जिनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का नियमानुसार तथा तात्त्विक विवेचन किया गया है । इस तरह प्रस्थानत्रयी में गीता के गिने जाने पर और प्रस्थानत्रयी का दिनों-दिन अधिकाधिक प्रचार होने पर वैदिक धर्म के लोग उन मतों और संप्रदायों को गौण अथवा अग्राह्य मानने लगे, जिनका समावेश उक्त तीन ग्रन्थों में नहीं किया जा सकता था । परिणाम यह हुआ कि बौद्धधर्म के पतन के बाद वैदिक धर्म के जो जो संप्रदाय (अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि) हिंदुस्थान में प्रचलित हुए; उनमें से प्रत्येक संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य को, प्रस्थानत्रयी के तीनों भागोंपर (अर्थात् भगवद्गीता पर भी) भाष्य लिख कर, यह सिद्ध कर दिखाने की आवश्यकता हुई, कि इन सब संप्रदायों के जारी होने के पहले ही जो तीन 'धर्मग्रन्थ' प्रमाण समझे जाते थे, उन्हीं के आधार पर हमारा संप्रदाय स्थापित हुआ है और अन्य संप्रदाय इन धर्मग्रन्थों के अनुसार नहीं हैं। ऐसा करने का कारण यही है, कि यदि कोई आचार्य यही स्वीकार कर लेते कि अन्य संप्रदाय भी प्रमाणभूत धर्मग्रन्थों के आधार पर स्थापित हुए हैं; तो उनके संप्रदाय का महत्त्व घट जाता—और, ऐसा करना किसी भी संप्रदाय को इष्ट नहीं था । सांप्रदायिक दृष्टि से प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने की यह रीति जब चल पड़ी, तब भिन्न भिन्न पंडित अपने अपने संप्रदायों के भाष्यों के आधार पर टीकाएँ लिखने लगे । यह टीका उसी संप्रदाय के लोगों को अधिक मान्य हुआ करती थी जिसके भाष्य के अनुसार वह लिखी जाती थी । इस समय गीता पर जितने भाष्य और जितनी टीकाएँ उपलब्ध हैं उनमेंसे प्रायः सब इसी सांप्रदायिक रीति से लिखी गई हैं । इसका परिणाम यह हुआ, कि यद्यपि मूल गीता में एक ही अर्थ सुबोध रीति से प्रतिपादित हुआ है तथापि गीता भिन्न भिन्न संप्रदायों की समर्थक समझी जाने लगी । इन सब संप्रदायों में से शंकराचार्य का संप्रदाय अति प्राचीन है और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से वही हिन्दुस्थान में सब से अधिक मान्य भी हुआ है । श्रीमदाद्यशंकराचार्य का जन्म संवत् ८४५ (शक ७१०) में हुआ था। बत्तीसवें वर्ष में उन्होंने गुहा-प्रवेश किया (संवत ८४५ से ८७७*) ।

---

* यह बात आजकल निश्चित हो चुकी है ; परंतु हमारे मत से श्रीमदाद्यशंकराचार्य का समय और भी इसके सौ वर्ष पूर्व समझना चाहिये । इस आधार के लिये परिशिष्ट प्रकरण देखो ।

श्रीशंकराचार्य बड़े भारी और अलौकिक विद्वान् तथा ज्ञानी थे। उन्होंने अपनी दिव्य अलौकिक शक्तिसे उस समय चारों ओर फैले हुए जैन और बौद्धमतों का खंडन करके अपना अद्वैत मत स्थापित किया; श्रुतिस्मृति-विहित वैदिक धर्म की रक्षा के लिये, भरतखंड की चारों दिशाओं में चार मठ बनवा कर, निवृत्तिमार्ग के वैदिक संन्यास-धर्म को कलियग में पुनर्जन्म दिया। यह कथा किसी से छिपी नहीं है। आप किसी भी धार्मिक संप्रदाय को लीजिये; उसके दो स्वाभाविक विभाग अवश्य होंगे; पहला तत्त्वज्ञान का और दूसरा आचरण का। पहले में पिंड-ब्रह्मांड के विचारों से परमेश्वर के स्वरूप का निर्णय करके मोक्ष का भी शास्त्र-रीत्यानुसार निर्णय किया जाता है। दूसरे में इस बात का विवेचन किया जाता है, कि मोक्ष की प्राप्ति के साधन या उपाय क्या हैं---अर्थात् इस संसार में मनुष्य को किस तरह बर्ताव करना चाहिये। इनमें से पहली अर्थात् तात्त्विक दृष्टिसे देखने पर श्रीशंकराचार्य का कथन यह है कि:---(१) मैं-तू यानी मनुष्य की आँख से दिखनेवाला सारा जगत् अर्थात् सृष्टि के पदार्थों की अनेकता सत्य नहीं है। इन सबमें एक ही शुद्ध और नित्य परब्रह्म भरा करता है और उसी की माया से मनुष्य की इंद्रियों को भिन्नता का भास हुआ है; (२) मनुष्य का आत्मा भी मूलतः परब्रह्मरूप ही है; और (३) आत्मा और परब्रह्म की एकता का पूर्ण-ज्ञान अर्थात् अनुभवसिद्ध पहचान हुए बिना कोई भी मोक्ष नहीं पा सकता। इसी को 'अद्वैतवाद' कहते हैं। इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि एक शुद्ध-बुद्ध-नित्य-मुक्त परब्रह्म के सिवा दूसरी कोई भी स्वतंत्र और सत्य वस्तु नहीं है; दृष्टिगोचर भिन्नता मानवी दृष्टि का भ्रम, या माया की उपाधि से होनेवाला आभास है; माया कुछ सत्य या स्वतंत्र वस्तु नहीं है--वह मिथ्या है। केवल तत्त्वज्ञान का ही यदि विचार करना हो तो शांकर मत की इससे अधिक चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु शांकर-संप्रदाय इतने से ही पूरा नहीं हो जाता। अद्वैत तत्त्वज्ञान के साथ ही शांकर-संप्रदाय का और भी एक सिद्धान्त है जो आचार-दृष्टि से पहले ही के समान महत्त्व का है। उसका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि चित्तशुद्धि के द्वारा ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता पाने के लिये स्मृति-ग्रन्थों में कहे गये गृहस्थाश्रम के कर्म अत्यंत आवश्यक हैं, तथापि इन कर्मों का आचरण सदैव न करते रहना चाहिये; क्योंकि उन सब कर्मों का त्याग करके अंत में संन्यास लिये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। इसका कारण यह है कि कर्म और ज्ञान, अंधकार और प्रकाश के समान परस्पर-विरोधी हैं। इसलिये सब वासनाओं और कर्मों के छूटे बिना ब्रह्मज्ञान की पूर्णता ही नहीं हो सकती। इसी सिद्धान्त को 'निवृत्तिमार्ग' कहते हैं; और सब कर्मों का संन्यास करके ज्ञान ही में निमग्न रहते हैं; इसलिये 'संन्यासनिष्ठा' या 'ज्ञाननिष्ठा' भी कहते हैं। उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र पर शंकराचार्य का जो भाष्य है उसमें यह प्रतिपादन किया गया है कि उक्त ग्रन्थों में केवल अद्वैत ज्ञान ही नहीं है, किंतु

उनमें संन्यासमार्ग का, अर्थात् शांकर संप्रदाय के उपर्युक्त दोनों भागों का भी, उपदेश है; और गीता पर जो शांकरभाष्य है, उसमें कहा गया है कि गीता का तात्पर्य भी ऐसा ही है (गी. शां.भा. उपोद्घात और ब्रह्म. सू. शां.भा. २. १. १४ देखो)। इसके प्रमाण-स्वरूप में गीता के कुछ वाक्य भी दिये गये हैं; जैसे "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते"—अर्थात् ज्ञानरूपी अग्नि से ही सब कर्म जल कर भस्म हो जाते हैं (गी. ४. ३७) और "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" अर्थात् सब कर्मों का अंत ज्ञान ही में होता है (गी. ४.३३)। सारांश यह है, कि बौद्धधर्म की हार होने पर प्राचीन वैदिक धर्म के जिस विशिष्ट मार्ग को श्रेष्ठ ठहरा कर श्रीशंकराचार्यने स्थापित किया उसी से अनुकूल गीता का भी अर्थ है; गीतामें ज्ञान और कर्म के समुच्चय का प्रतिपादन नहीं किया गया है, जैसा कि पहले के टीकाकारों ने कहा है; किन्तु उसमें (शांकर-संप्रदाय के) उसी सिद्धान्त का उपदेश दिया गया है कि कर्म ज्ञान-प्राप्ति का गौण साधन है और सर्व कर्म-संन्यासपूर्वक ज्ञान ही से मोक्ष की प्राप्ति होती है—यही बातें बतलाने के लिये शांकरभाष्य लिखा गया है। इनके पूर्व यदि एक-आध और भी संन्यास-विषयक टीका लिखी गई हो तो वह इस समय उपलब्ध नहीं है। इस लिये यही कहना पड़ता है कि गीता के प्रवृत्ति-विषयक स्वरूप को निकाल बाहर करके उसे निवृत्तिमार्ग का सांप्रदायिक रूप शांकरभाष्य के द्वारा ही मिला है। श्रीशंकराचार्य के बाद इस संप्रदाय के अनुयायी मधुसूदन आदि जितने अनेक टीकाकार हो गये हैं उन्होंने इस विषय में बहुधा शंकराचार्य ही का अनुकरण किया है। इसके बाद एक यह अद्भुत विचार उत्पन्न हुआ, कि अद्वैत मत के मूलभूत महावाक्यों में से "तत्त्वमसि" नामक जो महावाक्य छांदोग्योपनिषद् में है उसी का विवरण गीता के अठारह अध्यायों में किया गया है। परन्तु इस महावाक्य के क्रमको बदल कर, पहले 'त्वं' फिर 'तत्' और फिर 'असि' इन पदों को लेकर, इस नये क्रमानुसार प्रत्येक पद के लिये गीता के आरंभ से छः छः अध्याय श्री भगवान्ने निष्पक्षपात बुद्धि से बाँट दिये हैं; कई लोग समझते हैं, कि गीता पर जो पैशाच भाष्य है वह किसी भी संप्रदाय का नहीं है—बिलकुल स्वतंत्र है, और हनुमानजी (पवनसुत) कृत है। परन्तु यथार्थ बात ऐसी नहीं है। भागवत के टीकाकार हनुमान पंडितनेही इस भाष्य को बनाया है और यह संन्यास मार्ग का है। इसमें कई स्थानोंपर शांकरभाष्यका ही अर्थ शब्दशः दिया गया है। प्रोफेसर मेक्समूलर की प्रकाशित 'प्राच्यधर्म-पुस्तकमाला' में स्वर्गवासी काशीनाथ पंत तैलंग कृत भगवद्गीताका अंग्रेजी अनुवाद भी है। इसकी प्रस्तावना में लिखा है कि इस अनुवाद में श्रीशंकराचार्य और शांकर संप्रदायी टीकाकारोंका जितना हो सका उतना, अनुसरण किया गया है।

गीता और प्रस्थानत्रयी के अन्य ग्रन्थों पर जब इस भाँति सांप्रदायिक भाष्य लिखने की रीति प्रचलित हो गई, तब दूसरे संप्रदाय भी इस बात का अनुकरण

करने लगे । मायावाद, अद्वैत और संन्यास का प्रतिपादन करनेवाले शांकरसंप्रदाय के लगभग ढाई सौ वर्ष बाद, श्रीरामानुजाचार्य (जन्म संवत् १०७३) ने विशिष्टाद्वैत संप्रदाय चलाया । अपने संप्रदाय को पुष्ट करने के लिये उन्होंने भी, शंकराचार्य ही के समान, प्रस्थानत्रयी पर (और गीता पर भी) स्वतंत्र भाष्य लिखे हैं । इस संप्रदाय का मत यह है, कि शंकराचार्य का माया-मिथ्यात्व-वाद और अद्वैत सिद्धान्त दोनों झूठ हैं । जीव, जगत् और ईश्वर ये तीन तत्त्व यद्यपि भिन्न हैं, तथापि जीव (चित्) और जगत् (अचित्) ये दोनों एक ही ईश्वर के शरीर हैं । इसलिये चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है, और ईश्वर-शरीर के इस सूक्ष्म चित्-अचित् से ही फिर स्थूल चित् और स्थूल अचित् अर्थात् अनेक जीव और जगत् की उत्पत्ति हुई है । तत्त्वज्ञान-दृष्टि से रामानुजाचार्य का कथन है (गी. रा. भा. २. १२; १३.२) कि यही मत (जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है) उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और गीता में भी प्रतिपादित हुआ है । अब यदि कहा जाय कि इन्हीं के ग्रंथों के कारण भागवत-धर्म में विशिष्टाद्वैत मत सम्मिलित हो गया है तो कुछ अतिशयोक्ति नहीं होगी; क्योंकि इनके पहले महाभारत और गीता में भागवतधर्म का जो वर्णन पाया जाता है उनमें केवल अद्वैत मत ही का स्वीकार किया गया है । रामानुजाचार्य भागवतधर्मी थे । इसलिये यथार्थ में उनका ध्यान इस बात की ओर जाना चाहिये था, कि गीता में प्रवृत्ति-विषयक कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है । परन्तु उनके समय में मूल भागवतधर्म का कर्मयोग प्रायः लुप्त हो गया था; और उसको तत्त्वज्ञान की दृष्टि से विशिष्टाद्वैत स्वरूप तथा आचरण की दृष्टि से मुख्यतः भक्तिका स्वरूप प्राप्त हो चुका था । इन्हीं कारणों से रामानुजाचार्य ने (गी. रा.भा. १८. १ और ३. १) यह निर्णय किया है, कि गीता में यद्यपि ज्ञान, कर्म और भक्ति का वर्णन है तथापि तत्त्व-ज्ञान-दृष्टिसे विशिष्टाद्वैत और आचार-दृष्टि से वासुदेवभक्ति ही गीता का सारांश हैं और कर्मनिष्ठा कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं—वह केवल ज्ञाननिष्ठा की उत्पादक है । शांकर—संप्रदाय के अद्वैत ज्ञान के बदले विशिष्टाद्वैत और संन्यास के बदले भक्ति को स्थापित कर के रामानुजाचार्य ने भेद तो किया, परन्तु उन्होंने आचार-दृष्टिसे भक्ति ही को अंतिम कर्तव्य माना है । इससे वर्णाश्रम-विहित सांसारिक कर्मों का मरण-पर्यन्त किया जाना गौण हो जाता है; और यह कहा जा सकता है, कि गीताका रामानुजीय तात्पर्य भी एक प्रकार से कर्मसंन्यास-विषयक ही है । कारण यह है कि कर्माचरण से चित्तशुद्धि होने के बाद ज्ञान की प्राप्ति होने पर चतुर्थाश्रम का स्वीकार करके ब्रह्मचिन्तन में निमग्न रहना, या प्रेमपूर्वक निस्सीम वासुदेव-भक्ति में तत्पर रहना, कर्मयोग की दृष्टि से एक ही बात है । ये दोनों मार्ग निवृत्ति-विषयक हैं । यही आक्षेप, रामानुज के बाद प्रचलित हुए संप्रदायों पर भी हो सकता है । माया को मिथ्या कहनेवाले संप्रदाय को झूठ मान कर वासुदेव-भक्ति को ही सच्चा मोक्ष-साधन बतलानेवाले रामानुज-संप्रदाय के बाद एक तीसरा संप्रदाय निकला । उसका मत है कि परब्रह्म और जीव को कुछ अंशों में एक, और कुछ अंशों में भिन्न मानना परस्पर

विरुद्ध और असंबद्ध बात है । इसलिये दोनों को सदैव भिन्न मानना चाहिये; क्योंकि इन दोनों में पूर्ण अथवा अपूर्ण रीति से भी एकता नहीं हो सकती । इस तीसरे संप्रदाय को 'द्वैत संप्रदाय' कहते हैं । इस संप्रदाय के लोगों का कहना है, कि इनके प्रवर्तक श्री मध्वाचार्य (श्रीमदानंदतीर्थ) थे, जो संवत् १२५५ में समाधिस्थ हुए और उस समय उनकी अवस्था ७९ वर्ष की थी । परन्तु डाक्टर भांडारकर ने जो एक अंग्रेजी ग्रन्थ "वैष्णव, शैव और अन्य पन्थ" नामक, हाल ही में प्रकाशित किया है उसके पृष्ठ ५६ में शिलालेख आदि प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया है, कि मध्वाचार्य का समय संवत् १२५४ से १३३३ तक था। प्रस्थानत्रयीपर (अर्थात् गीता पर भी) श्रीमध्वाचार्य के जो भाष्य हैं उनमें प्रस्थानत्रयी के सब ग्रन्थों का द्वैतमत-प्रतिपादक होना ही बतलाया गया है । गीता के अपने भाष्य में मध्वाचार्य कहते हैं, कि यद्यपि गीता में निष्काम-कर्म के महत्त्व का वर्णन है, तथापि वह केवल साधन है; और भक्ति ही अंतिम निष्ठा है । भक्ति की सिद्धि हो जाने पर कर्म करना और न करना बराबर है "ध्यानात् कर्मफलत्यागः"—परमेश्वर के ध्यान अथवा भक्ति की अपेक्षा कर्मफलत्याग अर्थात् निष्काम-कर्म करना श्रेष्ठ है—इत्यादि गीता के कुछ वचन इस सिद्धान्त के विरुद्ध हैं; परन्तु गीता के माध्वभाष्य (गी. मा. भा. १२. १३) में लिखा है, कि इन वचनों को अक्षरशः सत्य न समझ कर अर्थवादात्मक ही समझना चाहिये । चौथा संप्रदाय श्रीवल्लभाचार्य (जन्म संवत् १५३६) का है । रामानुजीय और माध्व-संप्रदायों के समान ही यह संप्रदाय वैष्णवपंथी है । परन्तु जीव, जगत् और ईश्वर के संबंध में, इस संप्रदाय का मत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत मतों से भिन्न है । यह पंथ इस मत को मानता है, कि मायारहित शुद्ध जीव और परब्रह्म ही एक वस्तु है; दो नहीं । इसलिये इसको 'शुद्धाद्वैती' संप्रदाय कहते हैं । तथापि वह श्रीशंकराचार्य के समान इस बात को नहीं मानता, कि जीव और ब्रह्म एक ही है; और इसके सिद्धान्त कुछ ऐसे हैं —जैसे जीव अग्नि की चिनगारी के समान ईश्वर का अंश है मायात्मक जगत् मिथ्या नहीं है; माया परमेश्वर की इच्छा से विभक्त हुई एक शक्ति है; मायाधीन जीव को बिना ईश्वर की कृपा के मोक्षज्ञान नहीं हो सकता; इसलिये मोक्ष का मुख्य साधन भगवद्भक्ति ही है—जिनसे यह संप्रदाय शांकर-संप्रदाय से भी भिन्न हो गया है । इस मार्गवाले परमेश्वर के अनुग्रह को 'पुष्टि' और 'पोषण' भी कहते हैं, जिससे यह पन्थ 'पुष्टिमार्ग' भी कहलाता है । इस संप्रदाय के तत्त्वदीपिका आदि जितने गीतासंबंधी ग्रन्थ हैं उनमें यह निर्णय किया गया है, कि भगवान् ने अर्जुन को पहले सांख्यज्ञान और कर्मयोग बतलाया है; एवं अंत में उसको भक्त्यमृत पिला कर कृतकृत्य किया है । इसलिये भगवद्भक्ति और विशेषतः निवृत्ति-विषयक पुष्टिमार्गीय भक्ति—ही गीता का प्रधान तात्पर्य है । यही कारण है कि भगवान् ने गीता के अन्त में यह उपदेश दिया है कि "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"—सब धर्मों को छोड़ कर केवल मेरी ही शरण ले (गी. १२. ६६.) । उपर्युक्त संप्रदायों के अतिरिक्त निम्बार्क का चलाया

हुआ एक और वैष्णव संप्रदाय है, जिसमें राधाकृष्ण की भक्ति कही गई है। डाक्टर भांडारकर ने निश्चय किया है, कि ये आचार्य–रामानुज के बाद और मध्वाचार्य के पहले–करीब संवत् १२१९ में हुए थे। जीव, जगत् और ईश्वर के संबंध में निंबार्काचार्य का यह मत है, कि यद्यपि ये तीनों भिन्न हैं; तथापि जीव और जगत् का व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है––स्वतंत्र नहीं है––और परमेश्वर में ही जीव और जगत् के सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। इस मत को सिद्ध करने के लिये निंबार्काचार्य ने वेदान्तसूत्रों पर एक स्वतंत्र भाष्य लिखा है। इसी संप्रदाय के केशव काश्मीरिभट्टाचार्य ने गीता पर 'तत्त्व-प्रकाशिका' नामक टीका लिखी है; और उसमें यह बतलाया है, कि गीता का वास्तविक अर्थ इसी संप्रदाय के अनुकूल है। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत पंथ से इस संप्रदाय को अलग करने के लिये इसे 'द्वैताद्वैती' संप्रदाय कह सकेंगे। यह बात स्पष्ट है, कि ये सब भिन्न भिन्न संप्रदाय शांकर-संप्रदाय के मायावाद को स्वीकृत न करके ही पैदा हुए हैं; क्योंकि इनकी यह समझ थी, कि आँख से दिखनेवाली वस्तु को सच्ची मा बिना व्यक्त की उपासना अर्थात् भक्ति निराधार या किसी अंश में मिथ्या भी हो जाती है। परन्तु यह कोई आवश्यक बात नहीं है, कि भक्ति उपपत्ति के लिये अद्वैत और मायावाद को बिलकुल छोड़ ही देना चाहिये। महाराष्ट्र के और अन्य साधु-सन्तों ने, मायावाद और अद्वैत का स्वीकार करके भी भक्ति का समर्थन किया है; और मालूम होता है, कि यह भक्तिमार्ग श्रीशंकराचार्य के पहले ही से चला आ रहा है। इस पंथ में शांकर–संप्रदाय के कुछ सिद्धान्त––अद्वैत, माया का मिथ्या होना, और कर्मत्याग की आवश्यकता––ग्राह्य और मान्य हैं। परन्तु इस पंथ का यह भी मत है, कि ब्रह्मात्मैक्यरूप मोक्ष की प्राप्ति का सब से सुगम साधन भक्ति है। गीता में भगवान् ने पहले यही कारण बतलाया है, कि "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्" (गी.१२.५) अर्थात् अव्यक्त ब्रह्म में चित्त लगाना अधिक क्लेशमय है; और फिर अर्जुन को यही उपदेश दिया है, कि "भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः" (गी. १२. २०) अर्थात् मेरे भक्त ही मुझ को अतिशय प्रिय हैं। अतएव यह बात है, कि अद्वैतपर्यवसायी भक्तिमार्ग ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। श्रीधरस्वामी ने भी गीता की अपनी टीका (गी. १८. ७८) में गीता का ऐसा ही तात्पर्य निकाला है। मराठी भाषा में इस संप्रदाय का गीतासंबंधी सर्वोत्तम ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी' है। इसमें कहा गया है, कि गीता के प्रथम छः अध्यायों में कर्म, बीच के छः अध्यायों में भक्ति और अन्तिम छः अध्यायों में ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है; और स्वयं ज्ञानेश्वरमहाराज ने अपने ग्रंथ के अंत में कहा है, कि मैंने गीता की यह टीका शंकराचार्यके भाष्यानुसार की है। परन्तु ज्ञानेश्वरी को इस कारण से एक बिलकुल स्वतंत्र ग्रन्थ ही मानना चाहिये, कि इसमें गीता का मूल अर्थ बहुत बढ़ा कर अनेक सरस दृष्टान्तों से समझाया गया है; और इसमें विशेष करके भक्तिमार्ग का तथा कुछ अंश में निष्काम–कर्म का श्रीशंकरा-

चार्य से भी उत्तम विवेचन किया गया है। ज्ञानेश्वर महाराज स्वयं योगी थे, इसलिये गीता के छठवें अध्याय के जिस श्लोक में पातंजल योगाभ्यास का विषय आया है उसकी उन्हों ने विस्तृत टीका की है। उनका कहना है, कि श्रीकृष्ण भगवान् ने इस अध्याय के अन्त (गी. ६. ४६) में अर्जुन को यह उपदेश करके, कि "तस्माद्योगी भवार्जुन"--इसलिये हे अर्जुन! तू योगी हो अर्थात् योगाभ्यास में प्रवीण हो--अपना यह अभिप्राय प्रगट किया है, कि सब मोक्षपंथों में पातंजल योग ही सर्वोत्तम है; और इसलिये आपने उसे 'पंथराज' कहा है। सारांश यह है, कि भिन्न भिन्न सांप्रदायिक भाष्यकारों और टीकाकारों ने गीता का अर्थ अपने मतों के अनुकूल ही निश्चित कर लिया है। प्रत्येक संप्रदाय का यही कथन है, कि गीता का प्रवृत्ति-विषयक कर्ममार्ग अप्रधान (गौण) है अर्थात् केवल ज्ञान का साधन है। गीता में वही तत्त्वज्ञान पाया जाता है, जो अपने संप्रदाय में स्वीकृत हुआ है। अपने संप्रदाय में मोक्ष की दृष्टि से जो आचार अंतिम कर्तव्य माने गये हैं, उन्हीं का वर्णन गीता में किया गया है--अर्थात् मायावादात्मक अद्वैत और कर्मसंन्यास, मायासत्यत्व-प्रतिपादक विशिष्टाद्वैत और वासुदेव-भक्ति, द्वैत और विष्णुभक्ति, शुद्धाद्वैत और भक्ति, शांकराद्वैत और भक्ति, पातंजल योग और भक्ति, केवल भक्ति, केवल योग या केवल ब्रह्मज्ञान (अनेक प्रकार के निवृत्तिविषयक मोक्षमार्ग) ही गीता के प्रधान तथा प्रतिपाद्य विषय हैं।* हमारा ही नहीं, किन्तु प्रसिद्ध महाराष्ट्र कवि वामन पंडित का भी मत ऐसा ही है। गीता पर आपने 'यथार्थदीपिका' नामक विस्तृत मराठी टीका लिखी है। उसके उपोद्घात में वे पहले लिखते हैं:--"हे भगवन्! इस कलियुग में जिसके मत में जैसा जँचता है, उसी प्रकार हर एक आदमी गीता का अर्थ लिख देता है"। और फिर शिकायत के तौर पर लिखते हैं:--"हे परमात्मन्! सब लोगों ने किसी-न-किसी बहाने से गीता का मनमाना अर्थ किया है, परन्तु इन लोगों का किया हुआ अर्थ मुझे पसन्द नहीं। भगवन्! मैं क्या करूँ?" अनेक सांप्रदायिक टीकाकारों के मत की इस भिन्नता को देख कर कुछ लोग कहते हैं, कि जब कि ये सब मोक्ष-संप्रदाय परस्पर विरोधी हैं; और जब कि इस बात का निश्चय नहीं किया जा सकता, कि इनमें से कोई एक ही संप्रदाय गीता में प्रतिपादित किया गया है; तब तो यही मानना उचित है, कि इन सब मोक्ष-साधनों का--विशेषतः कर्म, भक्ति और ज्ञान का--वर्णन स्वतंत्र रीति से संक्षेप में और पृथक् पृथक् करके भगवान् ने अर्जुन का समाधान किया है। कुछ लोग कहते हैं, कि मोक्ष के अनेक उपायों का यह सब वर्णन पृथक् पृथक् नहीं है; किन्तु इन सब की एकता ही गीता में सिद्ध की गई है। और, अंत में, कुछ

* भिन्न भिन्न सांप्रदायिक आचार्यों के गीता के भाष्य और मुख्य मुख्य पंद्रह टीका-ग्रंथ, बम्बई के गुजराती प्रिंटिंग प्रेस के मालिक ने, हाल ही में एकत्र प्रकाशित किये हैं। भिन्न भिन्न टीकाकारों के अभिप्राय को एकदम जानने केलिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

लोग तो यह भी कहते हैं, कि गीता में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या यद्यपि मामूली ढंग पर देखने से सुलभ मालूम होती है, तथापि उसका वास्तविक मर्म अत्यन्त गूढ है, जो बिना गुरु के किसी की भी समझ में नहीं आ सकता (गी. ४.३४)। गीता पर भले ही अनेक टीकाएँ हो जायँ, परन्तु उसका गूढार्थ जानने के लिये गुरुदीक्षा के सिवा और कोई उपाय नहीं है।

अब यह बात स्पष्ट है कि गीता के अनेक प्रकार के तात्पर्य कहे गये हैं। पहले तो स्वयं महाभारतकार ने भागवत-धर्मानुसारी अर्थात् प्रवृत्तिविषयक तात्पर्य बतलाया है। इसके बाद अनेक पंडित, आचार्य, कवि, योगी और भक्त-जनों ने अपने अपने संप्रदाय के अनुसार शुद्ध निवृत्तिविषयक तात्पर्य बतलाया है। इन भिन्न भिन्न तात्पर्यों को देख कर कोई भी मनुष्य घबड़ा कर सहज ही यह प्रश्न कर सकता है—क्या, ऐसे परस्पर-विरोधी अनेक तात्पर्य एक ही गीताग्रंथ से निकल सकते हैं? और, यदि निकल सकते हैं, तो इस भिन्नता का हेतु क्या है? इसमें संदेह नहीं, कि भिन्न भिन्न भाष्यों के आचार्य बड़े विद्वान्, धार्मिक और सुशील थे। यदि कहा जाय, कि शंकराचार्य के समान महातत्त्वज्ञानी आज तक संसार में कोई भी नहीं हुआ है, तो भी अतिशयोक्ति न होगी। तब फिर इनमें और इनके बाद के आचार्यों में इतना मतभेद क्यों हुआ? गीता कोई इन्द्रजाल नहीं है कि जिससे मनमाना अर्थ निकाल लिया जावे। उपर्युक्त संप्रदायों के जन्म के पहले ही गीता बन चुकी थी। भगवान् ने अर्जुन को गीता का उपदेश इसलिये दिया था कि उसका भ्रम दूर हो; कुछ इसलिये नहीं कि उसका भ्रम और भी बढ़ जाय। गीता में एकही विशेष और निश्चित अर्थ का उपदेश किया गया है (गी. ५. १, २) और अर्जुन पर उस उपदेश का अपेक्षित परिणाम भी हुआ है। इतना सब कुछ होने पर भी गीता के तात्पर्यार्थ के विषय में इतनी गड़बड़ क्यों हो रही है? यह प्रश्न कठिन है सही; परन्तु इसका उत्तर उतना कठिन नहीं है, जितना पहले पहल मालूम पड़ता है। उदाहरणार्थ, एक मीठे और सुरस पक्वान्न (मिठाई) को देख कर अपनी अपनी रुचि के अनुसार किसी ने उसे गेहूँ का, किसी ने घी का, और किसी ने शक्कर का बना हुआ बतलाया; तो हम उनमें से किसको झूठ समझें? अपने अपने मता-नुसार तीनों का कहना ठीक है। इतना होने पर भी इस प्रश्न का निर्णय नहीं हुआ कि वह पक्वान्न (मिठाई) बना किस चीज से है। गेहूँ, घी और शक्कर से अनेक प्रकार के पक्वान्न (मिठाई) बन सकते हैं; परन्तु प्रस्तुत पक्वान्न का निश्चय केवल इतना कहने से ही नहीं हो सकता कि वह गोधूमप्रधान घृतप्रधान, या शर्कराप्रधान है। समुद्र-मंथन के समय किसी को अमृत, किसी को विष, किसी को लक्ष्मी, ऐरावत, कौस्तुभ, पारिजात आदि भिन्न भिन्न पदार्थ मिले; परन्तु इतनेही से समुद्र के यथार्थ स्वरूप का कुछ निर्णय नहीं हो गया। ठीक इसी तरह सांप्र-दायिक रीति से गीता-सागर को मथनेवाले टीकाकारों की अवस्था हो गई है। दूसरा उदाहरण लीजिये। कंसवध के समय भगवान् श्रीकृष्ण जब रंग-मंडप में

आये, तब वे प्रेक्षकों को भिन्न भिन्न स्वरूप के—जैसे योद्धा को वज्र-सदृश, स्त्रियों को कामदेव-सदृश, अपने माता पिता को पुत्र-सदृश दिखने लगे थे। इसी तरह गीता के एक होने पर भी वह भिन्न भिन्न सम्प्रदायवालों को भिन्न भिन्न स्वरूप में दिखने लगी है। आप किसी भी सम्प्रदाय को लें; यह बात स्पष्ट मालूम हो जायगी, कि उसको सामान्यतः प्रमाणभूत धर्मग्रन्थों का अनुसरण ही करना पड़ता है; क्योंकि ऐसा न करने से वह सम्प्रदाय सब लोगों की दृष्टि में अमान्य हो जायगा। इसलिये वैदिक धर्म में अनेक संप्रदायों के होने पर भी कुछ विशेष बातों को छोड़—जैसे ईश्वर जीव और जगत् का परस्पर सम्बन्ध—शेष सब बातें सब सम्प्रदायों में प्रायः एक ही सी होती हैं। इसी का परिणाम यह देख पड़ता है, कि हमारे धर्म के प्रमाणभूत ग्रन्थों पर जो सांप्रदायिक भाष्य या टीकाएँ हैं, उनमें मूलग्रन्थों के फ़ी सदी नब्बे से भी अधिक वचनों या श्लोकों का भावार्थ, एक ही सा है। जो कुछ भेद है, वह शेष वचनों या श्लोकों के विषय ही में है। यदि इन वचनों का सरल अर्थ लिया जाय तो वह सभी सम्प्रदायों के लिये समान अनुकूल नहीं हो सकता। इसलिये भिन्न भिन्न सांप्रदायिक टीकाकार इन वचनों में से जो अपने संप्रदाय के लिये अनुकूल हों, उन्हीं को प्रधान मान कर और अन्य सब वचनों को गौण समझ कर, अथवा प्रतिकूल वचनों के अर्थ को किसी युक्ति से बदल कर, या सुबोध तथा सरल वचनों में से कुछ श्लेषार्थ या अनुमान निकाल कर, यह प्रतिपादन किया करते हैं, कि हमारा ही सम्प्रदाय उक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, गीता २. १२ और १६; ३. १९; ६. ३; और १८. २ श्लोकों पर हमारी टीका देखो। परन्तु यह बात सहज ही किसी की समझ में आ सकती है, कि उक्त सांप्रदायिक रीति से किसी ग्रन्थ का तात्पर्य निश्चित करना; और इस बात का अभिमान न करके, कि गीता में अपना ही संप्रदाय प्रतिपादित हुआ है; अथवा अन्य किसी भी प्रकार का अभिमान न करके समग्र ग्रन्थ की स्वतंत्र रीति से परीक्षा करना; और उस परीक्षा ही के आधार पर ग्रन्थ का मथितार्थ निश्चित करना, ये दोनों बातें स्वभावतः अत्यन्त भिन्न हैं।

ग्रन्थ के तात्पर्य-निर्णय की सांप्रदायिक दृष्टि सदोष है। इसलिये इसे यदि छोड़ दे, तो अब यह बतलाना चाहिये, कि गीता का तात्पर्य जानने के लिये दूसरा साधन है क्या। ग्रन्थ, प्रकरण और वाक्यों के अर्थ का निर्णय करने में मीमांसक लोग अत्यन्त कुशल होते हैं। इस विषय में उन लोगों का एक प्राचीन और सर्वमान्य श्लोक है—

> उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
> अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

जिसमें वे कहते हैं—किसी भी लेख, प्रकरण अथवा ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने में, उक्त श्लोक में कही हुई सात बातें साधन—(लिंग) स्वरूप हैं; इसलिये इन सब बातों पर अवश्य विचार करना चाहिये। इनमें सबसे पहली

बात 'उपक्रमोपसंहारौ' अर्थात् ग्रन्थ का आरम्भ और अन्त है । कोई भी मनुष्य अपने मन में कुछ विशेष हेतु रख कर ही ग्रन्थ लिखना आरम्भ करता है; और उस हेतु के सिद्ध होने पर ग्रन्थ को समाप्त करता है । अतएव ग्रन्थ के तात्पर्य-निर्णय के लिये उपक्रम और उपसंहार ही का सबसे पहले विचार किया जाना चाहिये । सीधी रेखा की व्याख्या करते समय भूमितिशास्त्र में ऐसा कहा गया है, कि आरम्भ के बिन्दु से जो रेखा दहिने–बाएँ या ऊपर––नीचे किसी तरफ़ नहीं झुकती और अन्तिम बिंदु तक सीधी चली जाती है, उसे सरल रेखा कहते हैं । ग्रन्थ के तात्पर्य–निर्णय में भी यही सिद्धान्त उपयुक्त है । जो तात्पर्य ग्रन्थ के आरम्भ और अन्त में साफ़ साफ़ झलकता है वही ग्रन्थ का सरल तात्पर्य है । आरम्भ से अंत तक जाने के लिये यदि अन्य मार्ग हों भी, तो उन्हें टेढ़े समझना चाहिये । आद्यन्त देख कर ग्रन्थ का तात्पर्य पहले निश्चित कर लेना चाहिये; और तब यह देखना चाहिये, कि उस ग्रन्थ में 'अभ्यास' अर्थात् पुनरुक्ति-स्वरूप में बार बार क्या कहा गया है । क्योंकि ग्रन्थकार के मन में जिस बात को सिद्ध करने की इच्छा होती है, उसके समर्थन के लिये वह अनेक बार कई कारणों का उल्लेख करके बार बार एक ही निश्चित सिद्धान्त को प्रगट किया करता है; और हर बार कहा करता है, कि "इसलिये यह बात सिद्ध हो गई;" "अतएव ऐसा करना चाहिये" इत्यादि । ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने के लिये जो चौथा साधन है उसको 'अपूर्वता' और पाँचवें साधन को 'फल' कहते हैं । 'अपूर्वता' कहते हैं 'नवीनता' को । कोई भी ग्रन्थकार जब ग्रन्थ लिखना शुरू करता है, तब वह कुछ नई बात बतलाना चाहता है; बिना कुछ नवीनता या विशेष वक्तव्य के वह ग्रन्थ लिखने में प्रवृत्त नहीं होता । विशेष करके यह बात उस ज़माने में पाई जाती थी जब कि छापाखाने नहीं थे । इसलिये किसी ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने के पहले यह भी देखना चाहिये, कि उसमें अपूर्वता, विशेषता या नवीनता क्या है । इसी तरह लेख अथवा ग्रन्थ के फल पर भी––अर्थात् उस लेख या ग्रन्थ से जो परिणाम हुआ हो उस पर भी––ध्यान देना चाहिये । क्योंकि अमुक फल हो, इसी हेतु से ग्रन्थ लिखा जाता है । इसलिये यदि घटित परिणाम पर ध्यान दिया जाय तो उससे ग्रन्थकर्ता का आशय बहुत ठीक ठीक व्यक्त हो जाता है । छठवाँ और सातवाँ साधन 'अर्थवाद' और 'उपपत्ति' है । 'अर्थवाद' मीमांसकों का परिभाषिक शब्द है (जै. सू. १. २. १. १८) । इस बात के निश्चित हो जाने पर भी, कि हमें मुख्यतः किस बात को बतला कर जमा देना है; अथवा किस बात को सिद्ध करना है । कभी कभी ग्रन्थकार दूसरी अनेक बातों का प्रसंगानुसार वर्णन किया करता है: जैसे प्रतिपादन के प्रवाह में दृष्टान्त देनेके लिये, तुलना करके एकवाक्यता करने के लिये, समानता और भेद दिखलाने के लिये, प्रतिपक्षियों के दोष बतला कर स्वपक्ष का मंडन करनेके लिये, अलंकार और अतिशयोक्ति के लिये, और युक्तिवाद के पोषक किसी विषय का पूर्व–इतिहास बतलाने के

लिये और कुछ वर्णन भी कर देता है । उक्त कारणों या प्रसंगों के अतिरिक्त और भी अन्य कारण हो सकते हैं; और कभी कभी तो कुछ भी विशेष कारण नहीं होता। ऐसी अवस्था में ग्रन्थकार जो वर्णन करता है, वह यद्यपि विषयान्तर नहीं हो सकता, तथापि वह केवल गौरव के लिये या स्पष्टीकरण के लिये ही किया जाता है । इसलिये यह नहीं माना जा सकता, कि उक्त वर्णन हमेशा सत्य ही होगा *। अधिक क्या कहा जाय, कभी कभी स्वयं ग्रन्थकार यह देखने के लिये सावधान नहीं रहता, कि ये अप्रधान बातें अक्षरशः सत्य हैं या नहीं । अतएव ये सब बातें प्रमाणभूत नहीं मानी जातीं; अर्थात् यह नहीं माना जाता, कि इन भिन्न भिन्न बातों का ग्रन्थकार के सिद्धान्त पक्ष के साथ कोई घना सम्बन्ध है। उलटा यही माना जाता है, कि ये सब बातें आगंतुक अर्थात् केवल प्रशंसा या स्तुति ही के लिये हैं । ऐसा समझ कर ही मीमांसक लोग इन्हें 'अर्थवाद' कहा करते हैं, और इन अर्थवादात्मक बातों को छोड़ कर फिर ग्रन्थ का तात्पर्य निश्चित किया करते हैं। इतना कर लेने पर उपपत्ति की ओर भी ध्यान देना चाहिये । किसी विशेष बात को सिद्ध कर दिखलाने के लिये बाधक प्रमाणों का खंडन करना और साधक प्रमाणों का तर्कशास्त्रानुसार मंडन करना 'उपपत्ति' अथवा 'उपपादन' कहलाता है । उपक्रम और उपसंहार-रूप आद्यन्त के दो छोरों के स्थिर हो जाने पर, बीच का मार्ग अर्थवाद और उपपत्ति की सहायता से निश्चित किया जा सकता है । अर्थवाद से यह मालूम हो सकता है, कि कौन-सा विषय प्रस्तुत और आनुषंगिक (अप्रधान) है । एक बार अर्थवाद का निर्णय हो जाने पर ग्रन्थ-तात्पर्य का निश्चय करने-वाला मनुष्य सब टेढ़े मेढ़े रास्तों को छोड़ देता है । और ऐसा करने पर जब पाठक या परीक्षक सीधे और प्रधान मार्ग पर आ जाता है, तब वह उपपत्ति की सहायता से ग्रन्थ के आरम्भ से अंतिम तात्पर्य तक आप–ही–आप पहुँच जाता है । हमारे प्राचीन मीमांसकों के ठहराये हुए, ग्रंथ तात्पर्य-निर्णय के ये नियम सब देशों के विद्वानों को एकसमान मान्य हैं । इसलिये इनकी उपयोगिता और आवश्यकता के सम्बन्ध में यहाँ अधिक विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है † ।

---

* अर्थवाद का वर्णन यदि वस्तुस्थिति (यथार्थता) के आधार पर किया गया हो तो उसे 'अनुवाद' कहते हैं; यदि विरुद्ध रीति से किया गया हो तो उसे 'गुणवाद' कहते हैं; और यदि इससे भिन्न प्रकार का हो तो उसे 'भूतार्थवाद' कहते हैं। 'अर्थवाद' सामान्य शब्द है; उसके सत्यासत्य प्रमाण से उक्त तीन भेद किये गये हैं।

† ग्रन्थ-तात्पर्य-निर्णय के ये नियम अंग्रेज़ी अदालतों में भी देखे जाते हैं । उदाहरणार्थ—मान लीजिये कि किसी फैसले का कुछ मतलब नहीं निकलता । तब हुक्मनामे को देख कर फैसले के अर्थ का निर्णय किया जाता है । और, यदि किसी फैसले में कुछ ऐसी बातें हों जो मुख्य विषय का निर्णय करने में आवश्यक नहीं हैं तो वे दूसरे मुकदमों में प्रमाण (नज़ीर) नहीं मानी जातीं । ऐसी बातों को अंग्रेज़ी में 'आबिटर डिक्टा' (Obiter Dicta) अर्थात् 'बाह्य विधान' कहते हैं; यथार्थ में यह अर्थवाद ही का एक भेद है ।

इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है, कि क्या मीमांसकों के उक्त नियम संप्रदाय चलानेवाले आचार्यों को मालूम नहीं थे। यदि ये सब नियम उनके ग्रंथों ही में पाये जाते हैं, तो फिर उनका बताया हुआ गीता का तात्पर्य एकदेशीय कैसे कहा जा सकता है? उनका उत्तर इतना ही है, कि एक बार किसी की दृष्टि सांप्रदायिक (संकुचित) बन जाती है, तब वह व्यापकता का स्वीकार नहीं कर सकता ——तब वह किसी-न-किसी रीति से यही सिद्ध करने का यत्न किया करता है, कि प्रमाणभूत धर्मग्रंथों में अपने ही संप्रदाय का वर्णन किया गया है। इन ग्रंथोंके तात्पर्य के विषय में सांप्रदायिक टीकाकारों की पहले से ही ऐसी धारणा हो जाती है, कि यदि उक्त ग्रंथों का कुछ दूसरा अर्थ हो सकता, हो जो उनके सांप्रदायिक अर्थ से भिन्न हो; तो वे यह समझते हैं, कि उसका हेतु कुछ और ही है। इस प्रकार जब वे पहले से निश्चित किये हुए अपने ही संप्रदाय के अर्थ को सत्य मानने लगते हैं, और यह सिद्ध कर दिखाने का यत्न करने लगते हैं, कि वही अर्थ सब धार्मिक ग्रंथों में प्रतिपादित किया गया है; तब वे इस बात की परवाह नहीं करते कि हम मीमांसाशास्त्र के कुछ नियमों का उल्लंघन कर रहे हैं। हिन्दू धर्मशास्त्र के मिताक्षरा, दायभाग इत्यादि ग्रंथों में स्मृतिवचनों की व्यवस्था या एकता इसी तत्त्वानुसार की जाती है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि यह बात केवल हिन्दू धर्मग्रंथों में ही पाई जाती है। क्रिस्तानों के आदिग्रंथ बायबल और मुसलमानों के कुरान में भी, इन लोगों के सैकड़ों सांप्रदायिक ग्रंथकारों ने ऐसा ही अर्थान्तर कर दिया है; और इसी तरह ईसाइयों ने पुरानी बायबल के कुछ वाक्यों का अर्थ यहूदियों से भिन्न भिन्न माना है। यहाँ तक देखा जाता है, कि जब कभी यह बात पहले ही से निश्चित कर दी जाती है, कि किसी विषय पर अमुक ग्रंथ या लेख ही को प्रमाण मानना चाहिये; और जब कभी इस प्रमाणभूत तथा नियमित ग्रंथ ही के आधार पर सब बातों का निर्णय करना पड़ता है, तब तो ग्रंथार्थ-निर्णय की उसी पद्धति का स्वीकार किया जाता है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। आजकल के बड़े बड़े क़ायदे-पंडित, वकील और न्यायाधीश लोग, पहले ही प्रमाणभूत क़ानूनी किताबों और फैसलों का अर्थ करने में जो खींचातानी करते हैं, उसका रहस्य भी यही है। यदि सामान्य लौकिक बातों में यह हाल है, तो उसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि हमारे प्रमाणभूत धर्मग्रंथों ——उपनिषद, वेदान्तसूत्र और गीता——में भी ऐसी खींचातानी होने के कारण, उन पर भिन्न भिन्न संप्रदायों के अनेक भाष्य, टीकाग्रंथ लिखे गये हैं। परन्तु इस सांप्रदायिक पद्धति को छोड़ कर, यदि उपर्युक्त मीमांसकों की पद्धति से भगवद्गीता के उपक्रम, उपसंहार आदि को देखें, तो मालूम हो जावेगा कि भारतीय युद्ध का आरंभ होने के पहले जब कुरुक्षेत्र में दोनों पक्षों की सेनाएँ लड़ाई के लिये सुसज्जित हो गई थीं; और जब एक दूसरे पर शस्त्र चलाने ही वाला था, कि इतने में अर्जुन ब्रह्मज्ञान की बड़ी बड़ी बातें बतलाने लगा और

'विमनस्क' हो कर संन्यास लेने को तैय्यार हो गया; तभी उसे अपने क्षात्रधर्म में प्रवृत्त करने के लिये भगवान् ने गीता का उपदेश दिया है। जब अर्जुन यह देखने लगा कि दुष्ट दुर्योधन के सहायक बन कर मुझसे लड़ाई करने के लिये कौन-कौन–से शूर वीर यहाँ आये हैं; तब वृद्ध भीष्म पितामह, गुरु द्रोणाचार्य, गुरुपुत्र अश्वत्थामा, विपक्षी बने हुए अपने बंधु कौरव-गण, अन्य सुहृद् तथा आप्त, मामा-काका आदि रिश्तेदार, अनेक राजा और राजपुत्र आदि सब लोग उसे देख पडे। तब वह मन में सोचने लगा कि इन सब को केवल एक छोटे-से हस्तिनापुर के राज्य के लिये निर्दयता से मारना पड़ेगा और अपने कुल का क्षय करना पडेगा। इस महत्पाप के भय से उसका मन एकदम दुःखित और क्षुब्ध हो गया। एक ओर तो क्षात्रधर्म उससे कह रहा था, कि 'युद्ध कर'; और दूसरी ओर से पितृभक्ति, गुरुभक्ति, बंधुप्रेम, सुहृत्प्रीति आदि अनेक धर्म उसे ज़बर्दस्ती से पीछे खींच रहे थे! यह बड़ा भारी संकट था। यदि लड़ाई करे तो अपने ही रिश्तेदारों की, गुरुजनों की, और बंधु-मित्रों की, हत्या कर के महापातक के भागी बनें! और लड़ाई न करें तो क्षात्रधर्म से च्युत होना पडे!! इधर देखो तो कुआँ और उधर देखो तो खाई!!! उस समय अर्जुन की अवस्था वैसी ही हो गई थी जैसी ज़ोर से टकराती हुई दो रेलगाडियों के बीच में किसी असहाय मनुष्य की हो जाती है। यद्यपि अर्जुन कोई साधारण पुरुष नहीं था, वह एक बड़ा भारी योद्धा था, तथापि धर्माधर्म के इस महान् संकट में पड़ कर बेचारे का मुँह सूख गया, शरीर पर रोंगटे खड़े हो गये, धनुष्य हाथ से गिर पड़ा और वह "मैं नहीं लड़ूँगा" कह कर अति दुःखित चित्त से रथ में बैठ गया। और अंत में समीपवर्ती बंधुस्नेह का प्रभाव—उस ममत्व का प्रभाव जो मनुष्य को स्वभावतः प्रिय होता है—दूरवर्ती क्षत्रियधर्म पर जम ही गया! तब वह मोहवश हो कहने लगा "पिता-सम पूज्य वृद्ध और गुरुजनों को, भाई-बंधुओं और मित्रों को मार कर तथा अपने कुल का क्षय करके (घोर पाप करके) राज्य का एक टुकड़ा पाने से तो टुकडे माँग कर जीवन निर्वाह करना कहीं श्रेयस्कर है! चाहे मेरे शत्रु मुझे अभी निःशस्त्र देख कर मेरी गर्दन उड़ा दें; परन्तु मैं अपने स्वजनों की हत्या करके उनके खून और शाप से सने हुए सुखों का उपभोग नहीं करना चाहता। क्या क्षात्रधर्म इसी को कहते हैं? भाई को मारो, गुरु की हत्या करो, पितृवध करने से न चूको, अपने कुल का नाश करो—क्या यही क्षात्रधर्म है? आग लगे ऐसे अनर्थकारी क्षात्रधर्म में और गाज गिरे ऐसी क्षात्रनीतिपर! दुश्मनों को ये सब धर्मसंबंधी बातें मालूम नहीं हैं; वे दुष्ट हैं; तो क्या उनके साथ मैं भी पापी हो जाऊँ? कभी नहीं। मुझे यह देखना चाहिये कि मेरे आत्मा का कल्याण कैसे होगा। मुझे तो यह घोर हत्या और पाप करना श्रेयस्कर नहीं जँचता; फिर चाहे क्षात्रधर्म शास्त्रविहित हो, तो भी इस समय मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है।" इस प्रकार विचार करते करते उसका चित्त डाँवाडोल हो गया और वह किंकर्तव्य-

विमूढ़ हो कर भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में गया। तब भगवान् ने उसे गीता का उपदेश दे कर उसके चंचल चित्त को स्थिर और शान्त कर दिया। इसका फल यह हुआ, कि जो अर्जुन पहले भीष्म आदि गुरुजनों की हत्या के भय के कारण युद्ध से पराङ्मुख हो रहा था, वही अब गीता का उपदेश सुन कर अपना यथोचित कर्तव्य समझ गया; और अपनी स्वतंत्र इच्छा से युद्ध के लिये तत्पर हो गया। यदि हमें गीता के उपदेश का रहस्य जानना है, तो उपक्रमोपसंहार और परिणाम को अवश्य ध्यान में रखना पड़ेगा। भक्ति से मोक्ष कैसे मिलता है? ब्रह्मज्ञान या पातञ्जल योग से मोक्ष की सिद्धि कैसे होती है? इत्यादि, केवल निवृत्ति-मार्ग या कर्मत्यागरूप संन्यास-धर्म-संबंधी प्रश्नों की चर्चा करने का कुछ उद्देश नहीं था। भगवान् श्रीकृष्ण का यह उद्देश नहीं था, कि अर्जुन संन्यास-दीक्षा ले कर और बैरागी बन कर भीख माँगता फिरे, या लँगोटी लगा कर और नीम के पत्ते खा कर मृत्युपर्यन्त हिमालय में योगाभ्यास साधता रहे। अथवा भगवान् का यह भी उद्देश नहीं था, कि अर्जुन धनुष-बाण को फेंक दे; और हाथ में वीणा तथा मृदंग ले कर कुरुक्षेत्र की धर्मभूमि में उपस्थित भारतीय क्षात्रसमाज के सामने भगवन्नाम का उच्चारण करता हुआ, बृहन्नला के समान और एक बार अपना नाच दिखावें। अब तो अज्ञातवास पूरा हो गया था और अर्जुन को कुरुक्षेत्र में खड़े हो कर और ही प्रकार का नाच नाचना था। गीता कहते कहते स्थान-स्थान पर भगवान्ने अनेक प्रकार के अनेक कारण बतलाये हैं; और अन्त में अनुमान-दर्शक अत्यन्त महत्त्व के 'तस्मात्' ('इसलिये') पद का उपयोग करके, अर्जुन को यही निश्चितार्थक कर्म-विषयक उपदेश दिया है कि "तस्माद्युद्धचस्व भारत"– इसलिये हे अर्जुन! तू युद्ध कर (गी. २. १८); "तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः"––इसलिये हे कौंतेय अर्जुन! तू युद्ध का निश्चय करके उठ (गी. २. ३७); "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर"–इसलिये तू मोह छोड़ कर अपना कर्तव्य-कर्म कर (गीता. ३. १९); "कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं"––इस लिये तू कर्म ही कर (गी. ४. १५.); "मामनुस्मर युद्धच च"––इसलिये मेरा स्मरण कर और लड़ (गी. ८. ७); "करने करानेवाला सब कुछ मैं ही हूँ, तू केवल निमित्त है, इसलिये युद्ध करके शत्रुओं को जीत" (गी. ११. ३३.) "शास्त्रोक्त कर्तव्य करना मुझे उचित है" (गी. १६. २४) अठारहवें अध्याय के उपसंहार में भगवान् ने अपने निश्चित और उत्तम मत को और भी एक बार प्रगट किया है––"इन सब कर्मों को करना ही चाहिये" (गी. १८. ६)। और अंत में (गी. १८. ७२), भगवान् ने अर्जुन से प्रश्न किया है, कि "हे अर्जुन! तेरा अज्ञान-मोह अभी तक नष्ट हुआ कि नहीं?" इस पर अर्जुन ने संतोषजनक उत्तर दिया:––

> नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
> स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥

अर्थात् "हे अच्युत ! स्वकर्तव्यसंबंधी मेरा मोह और संदेह नष्ट हो गया है; अब मैं आप के कथनानुसार सब काम करूँगा"। यह अर्जुन का केवल मौखिक उत्तर नहीं था; उसने सचमुच उस युद्ध में भीष्म-कर्ण-जयद्रथ आदि का वध भी किया। इस पर कुछ लोग कहते हैं, कि "भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया है वह केवल निवृत्तिविषयक ज्ञान, योग या भक्ति का ही है; और यही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भी है। परंतु युद्ध का आरंभ हो जाने कारण बीच बीच में, कर्म की थोडी-सी प्रशंसा करके भगवान् ने अर्जुन को युद्ध पूरा करने दिया है; अर्थात् युद्ध का समाप्त करना मुख्य बात नहीं है--उसको सिर्फ़ आनुषंगिक या अर्थवादात्मक ही मानना चाहिये"। परन्तु ऐसे अधर और कमज़ोर युक्तिवाद से गीता के उपक्रमोपसंहार और परिणाम की उपपत्ति ठीक ठीक नहीं हो सकती। यहाँ (कुरुक्षेत्र) पर तो इसी बात के महत्त्व को दिखाने की आवश्यकता थी कि स्वधर्म-संबंधी अपने कर्तव्य को मरणपर्यंत अनेक कष्ट और बाधाएँ सह कर भी करते रहना चाहिये। इस बात को सिद्ध करने के लिये श्रीकृष्ण ने गीता भर में कहीं भी बे-सिर पैर का कारण नहीं बतलाया है, जैसा ऊपर लिखे हुए कुछ लोगों के आक्षेप में कहा गया है। यदि ऐसा युक्तिहीन कारण बतलाया भी गया होता तो अर्जुनसरीखा बुद्धिमान् और छानबीन करनेवाला पुरुष इन बातों पर विश्वास कैसे कर लेता? उसके मन में मुख्य प्रश्न क्या था? यही न, कि भयंकर कुलक्षय को प्रत्यक्ष आँखों के आगे देखकर भी मुझे युद्ध करना चाहिये या नहीं; और युद्ध करना ही चाहिये तो कैसे, जिससे पाप न लगे? इस बिकट प्रश्न के (इस प्रधान विषय के) उत्तर को, कि "निष्काम-बुद्धि से युद्ध कर" या "कर्म कर"--अर्थवाद कह कर कभी भी नहीं टाल सकते। ऐसा करना मानों घर के मालिक को उसी के घर में मेहमान बना देना है! हमारा यह कहना नहीं है, कि गीता में वेदान्त, भक्ति और पातञ्जल योग का उपदेश बिलकुल दिया ही नहीं गया है। परन्तु इन तीनों विषयों का गीता में जो मेल किया गया है, वह केवल ऐसा ही होना चाहिये, कि जिससे परस्पर-विरुद्ध धर्मों के भयंकर संकट में पड़े हुए "यह करूँ कि वह" कहनेवाले कर्तव्य-मूढ अर्जुन को अपने कर्तव्य के विषय में कोई निष्पाप मार्ग मिल जाय; और वह क्षात्र-धर्म के अनुसार अपने शास्त्रविहित कर्म में प्रवृत्त हो जाय। इससे यही बात सिद्ध होती है, कि प्रवृत्तिधर्म ही का ज्ञान गीता का प्रधान विषय है; और अन्य सब बातें उस प्रधान विषय ही की सिद्धि के लिये कही गई हैं। अर्थात् वे सब आनुषंगिक हैं; अतएव गीताधर्म का रहस्य भी प्रवृत्तिविषयक अर्थात् कर्मविषयक ही होना चाहिये। परन्तु इस बात का स्पष्टीकरण किसी भी टीकाकार ने नहीं किया है, कि यह प्रवृत्ति-विषयक रहस्य क्या है; और वेदान्तशास्त्र ही से कैसे सिद्ध हो सकता है। जिस टीकाकार को देखो, वही गीता के आद्यन्त के उपक्रम-उपसंहार पर ध्यान न दे कर निवृत्तिदृष्टि से इस बात का विचार करने ही में निमग्न दीख पड़ता है, कि गीता का ब्रह्मज्ञान या भक्ति अपने ही संप्रदाय के अनुकूल है। मानों ज्ञान और भक्ति

का कर्म से नित्य सम्बन्ध बतलाना एक बड़ा भारी पाप है। यही शंका एक टीकाकार के मन में हुई थी; और उसने लिखा था, कि स्वयं श्रीकृष्ण के चरित्र को आँख के सामने रख कर भगवद्गीता का अर्थ करना चाहिये*। श्रीक्षेत्र काशी के सुप्रसिद्ध अद्वैती परमहंस श्रीकृष्णानन्द स्वामी का--जो अभी हाल ही में समाधिस्थ हुए हैं--भगवद्गीता पर लिखा हुआ 'गीता-परामर्श' नामक संस्कृत में एक निबंध है। उसमें स्पष्ट रीति से यही सिद्धान्त लिखा हुआ है कि "तस्मात् गीता नाम ब्रह्मविद्यामूलं नीतिशास्त्रम्" अर्थात्--इसलिये गीता वह नीतिशास्त्र अथवा कर्तव्यधर्मशास्त्र है, जो कि ब्रह्मविद्या से सिद्ध होता है†। यही बात जर्मन पंडित प्रो० डॉयसेन ने अपने 'उपनिषदों का तत्त्वज्ञान' नामक ग्रन्थ में कही है। इनके अतिरिक्त पश्चिमी और पूर्वी गीता-परीक्षक अनेक विद्वानों का भी यही मत है। तथापि इनमें से किसी ने समस्त गीता-ग्रन्थ की परीक्षा करके यह स्पष्टतया दिखलाने का प्रयत्न नहीं किया है, कि कर्मप्रधान दृष्टि से उसके सब विषयों और अध्यायों का मेल कैसे है। बल्कि डॉयसेन ने अपने ग्रन्थ में कहा है,‡ कि यह प्रतिपादन कष्टसाध्य है। इसलिये प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य उद्देश यही है, कि उक्त रीति से गीता की परीक्षा करके उसके विषयों का मेल अच्छी तरह प्रगट कर दिया जावे। परन्तु ऐसा करने के पहले, गीता के आरम्भ में परस्पर-विरुद्ध नीतिधर्मों से झगडे हुए अर्जुन पर जो संकट आया था उसका असली रूप भी दिखलाना चाहिये; नहीं तो गीता में प्रतिपादित विषयों का मर्म पाठकों के ध्यान में पूर्णतया नहीं जम सकेगा। इसलिये अब यह जानने के लिये कि कर्म-अकर्म के झगड़े कैसे विकट होते हैं; और अनेक बार "इसे करूँ कि उसे" यह सूझ न पड़ने के कारण मनुष्य कैसा घबड़ा उठता है; ऐसे ही प्रसंगों के अनेक उदाहरणों का विचार किया जायगा, जो हमारे शास्त्रों में--विशेषतः महाभारत में,--पाये जाते हैं।

---

* इस टीकाकार का नाम और उसकी टीका के कुछ अवतरण बहुत दिन हुए एक महाशय ने हमको पत्र द्वारा बतलाये थे। परन्तु हमारी परिस्थिति की गड़बड़ में वह पत्र न जाने कहाँ खो गया।

† श्रीकृष्णानन्दस्वामीकृत चारों निबंध (श्रीगीतारहस्य, गीतार्थप्रकाश, गीतार्थपरामर्श और गीतासारोद्धार) एकत्र कर के राजकोट में प्रकाशित किये गये हैं।

‡ *Prof. Deussen's Philosophy of the Upanishads. P.* 362. (*English Translation,* 1906.)

दूसरा प्रकरण ।

कर्मजिज्ञासा ।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः * ।

गीता ४. १६ ।

भगवद्गीता के आरंभ में, परस्पर-विरुद्ध दो धर्मों की उलझन में फँस जाने के कारण अर्जुन जिस तरह कर्तव्यमूढ हो गया था; और उस पर जो मौका आ पड़ा था, वह कुछ अपूर्व नहीं है । उन असमर्थ और अपना ही पेट पालनेवाले लोगों की बात ही भिन्न है, जो संन्यास ले कर और संसार को छोड़ कर वन में चले जाते हैं। अथवा जो कमजोरी के कारण जगत् के अनेक अन्यायों को चुपचाप सह लिया करते हैं । परन्तु समाज में रह कर ही जिन महान् तथा कार्यकर्ता पुरुषों को अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन धर्म तथा नीतिपूर्वक करना पडता है, उन्हों पर ऐसे मौक़े अनेक वार आया करते हैं । युद्ध के आरम्भ ही में अर्जुन को कर्तव्य-जिज्ञासा और मोह हुआ । ऐसा मोह युधिष्ठिर को—युद्ध में मरे हुए अपने रिश्तेदारों का श्राद्ध करते समय—हुआ था । उसके इस मोह को दूर करने के लिये 'शांतिपर्व' कहा गया है । कर्माकर्म संशय के ऐसे अनेक प्रसंग ढूँढ कर अथवा कल्पित करके उन पर बड़ बड़े कवियों ने सुरस काव्य और उत्तम नाटक लिखे हैं । उदाहरणार्थ, सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ नाटककार शेक्सपीयर का हैमलेट नाटक लीजिये । डेन्मार्क देश के प्राचीन राजपुत्र हैमलेट के चाचा ने राजकर्ता अपने भाई—हैमलेट के वाप को मार डाला; हैमलेट की माता को अपनी स्त्री वना लिया और राजगद्दी भी छीन ली । तब उस राजकुमार के मन में यहा झगड़ा पैदा हुआ, कि ऐसे पापी चाचा का वध करके पुत्र-धर्म के अनुसार अपने पिता के ऋण से मुक्त हो जाऊँ; अथवा अपने सगे चाचा, अपनी माता के पति और गद्दी पर बैठे हुए राजा पर दया करूँ ? इस मोह में पड़ जाने के कारण कोमल अंतःकरण के हैमलेट की कैसी दशा हुई; श्रीकृष्ण के समान कोई मार्ग-दर्शक और हितकर्ता न होने के कारण वह कैसे पागल हो गया और अंत में 'जियें या मरें' इसी बात की चिन्ता करते करते उसका अन्त कैसे हो गया, इत्यादि बातों का चित्र इस नाटक में बहुत अच्छी तरह से दिखाया गया है । कोरियोलेनस' नाम के दूसरे नाटक में भी इसी तरह एक और प्रसंग

* "पण्डितों को भी इस विषय में मोह हो जाया करता है, कि कर्म कौन-सा है और अकर्म कौन-सा है"। इस स्थान पर अकर्म शब्द को 'कर्म के अभाव' और 'वुरे कर्म' दोनों अर्थों में यथासम्भव लेना चाहिये । मूल श्लोक पर हमारी टीका देखो ।

का वर्णन शेक्सपीयर ने किया है। रोम नगर में कोरियोलेनस नाम का एक शूर सरदार था। नगरवासियों ने उसको शहर से निकाल दिया। तब वह रोमन लोगों के शत्रुओं में जा मिला और उसने प्रतिज्ञा की, कि "मैं तुम्हारा साथ कभी नहीं छोडूँगा"। कुछ समय के बाद इन शत्रुओं की सहायता से उसने रोमन लोगों पर हमला किया और वह अपनी सेना ले कर रोम शहर के दरवाज़े के पास आ पहुँचा। उस समय रोम शहर की स्त्रियों ने कोरियोलेनस की स्त्री और माता को सामने कर के, मातृभूमि के संबंध में उसको उपदेश किया। अन्त में उसको रोम के शत्रुओं को दिये हुए वचन का भंग करना पड़ा। कर्तव्य-अकर्तव्य के मोह में फँस जाने के ऐसे और भी कई उदाहरण दुनिया के प्राचीन और आधुनिक इतिहास में पाये जाते हैं। परन्तु हम लोगों को इतनी दूर जाने की कोई आवश्यकता नहीं। हमारा महाभारत-ग्रंथ ऐसे उदाहरणों की एक बड़ी भारी खानि ही है। ग्रंथ के आरंभ (आ. २) में वर्णन करते हुए स्वयं व्यासजी ने उसको 'सूक्ष्मार्थन्याययुक्तं,' 'अनेकसमयान्वितं आदि' विशेषण दिये हैं। उसमें धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र, सब कुछ आ गया है। इतना ही नहीं; किंतु उसकी महिमा इस प्रकार गाई गई, कि "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्"--अर्थात् जो कुछ इसमें है वही और स्थानों में है, जो इसमें नहीं है वह और किसी भी स्थान में नहीं है (आ. ६२. ५३)। सारांश यह है, कि इस संसार में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं; ऐसे समय बड़े बड़े प्राचीन पुरुषों ने कैसा बर्ताव किया, इसका सुलभ आख्यानों के द्वारा साधारण जनोंको बोध करा देने ही के लिये 'भारत' का 'महाभारत' हो गया है। नहीं तो सिर्फ़ भारतीय युद्ध अथवा 'जय' नामक इतिहास का वर्णन करने के लिये अठारह पर्वों की कुछ आवश्यकता न थी।

अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि श्रीकृष्ण और अर्जुन की बातें छोड़ दीजिये; हमारे तुम्हारे लिये इतने गहरे पानी में पैठने की क्या आवश्यकता है? क्या मनु आदि स्मृतिकारों ने अपने ग्रन्थों में इस बात के स्पष्ट नियम नहीं बना दिये हैं, कि मनुष्य संसार में किस तरह बर्ताव करे? किसी की हिंसा मत करो, नीति से चलो, सच बोलो, गुरु और बड़ों का सन्मान करो, चोरी और व्यभिचार मत करो; इत्यादि सब धर्मों में पाई जानेवाली साधारण आज्ञाओं का यदि पालन किया जाय, तो ऊपर लिखे कर्तव्य-अकर्तव्य के झगडे में पड़ने की क्या आवश्यकता है? परन्तु इसके विरुद्ध यह भी प्रश्न किया जा सकता है, कि जब तक इस संसार के सब लोग उक्त आज्ञाओं के अनुसार बर्ताव करने नहीं लगे हैं, तब तक सज्जनों को क्या करना चाहिये? क्या ये लोग अपने सदाचार के कारण दुष्ट जनों के फंदे में अपने को फँसा लें? या अपनी रक्षा के लिये "जैसे को तैसा" हो कर उन लोगों का प्रतिकार करें? इसके सिवा एक बात और है। यद्यपि उक्त साधारण नियमों को नित्य और प्रमाणभूत मान लें, तथापि कार्य-

कर्ताओं को अनेक बार ऐसे मौक़े आते हैं, कि उस समय उक्त साधारण नियमों में से दो या अधिक नियम एकदम लागू होते हैं। उस समय "यह करूँ या वह करूँ" इस चिन्ता में पड़ कर मनुष्य पागल-सा हो जाता है। अर्जुन पर ऐसा ही मौक़ा आ पड़ा था, परन्तु अर्जुन के सिवा और लोगों पर भी ऐसे कठिन अवसर अवसर आया करते हैं। इस बात का मार्मिक विवेचन महाभारत में कई स्थानों में किया गया है। उदाहरणार्थ, मनु ने सब वर्ण के लोगों के लिये नीतिधर्म के पाँच नियम बतलाये हैं—"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः" (मनु १०.६३)–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काया, वाचा और मन की शुद्धता, एवं इन्द्रिय-निग्रह इन नीतिधर्मों में से एक अहिंसा ही का विचार कीजिये। "अहिंसा परमो धर्मः" (म. भा. आ. ११. १३) यह तत्त्व सिर्फ़ हमारे वैदिक धर्म ही में नहीं; किन्तु अन्य सब धर्मों में भी प्रधान माना गया है। बौद्ध और ईसाई धर्म-ग्रंथों में जो आज्ञाएँ हैं, उनमें अहिंसा को मनु की आज्ञा के समान पहला स्थान दिया गया है। सिर्फ़ किसी की जान ले लेना ही हिंसा नहीं है। उसमें किसी के मन अथवा शरीर को दुःख देने का भी समावेश किया जाता है। अर्थात्, किसी सचेतन प्राणी को किसी प्रकार दुःखित न करना ही अहिंसा है। इस संसार में सब लोगों की सम्मति के अनुसार यह अहिंसा धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ माना गया है। परन्तु अब कल्पना कीजिये कि हमारी जान लेने के लिये या हमारी स्त्री अथवा कन्या पर बलात्कार करने के लिये, अथवा हमारे घर में आग लगाने के लिये, या हमारा धन छीन लेने के लिये, कोई दुष्ट मनुष्य हाथ में शस्त्र ले कर तैयार हो जाय और उस समय हमारी रक्षा करनेवाला हमारे पास कोई न हो; तो उस समय हमको क्या करना चाहिये? क्या, "अहिंसा परमो धर्मः" कह कर ऐसे आततायी मनुष्य की उपेक्षा की जाय? या, यदि वह सीधी तरह से न माने तो यथाशक्ति उसका शासन किया जाय? मनुजी कहते हैं—

> गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
> आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

अर्थात् "ऐसे आततायी या दुष्ट मनुष्य को अवश्य मार डालें; किन्तु यह विचार न करें कि वह गुरु है, बूढ़ा है, बालक है या विद्वान् ब्राह्मण है"। शास्त्रकार कहते हैं कि (मनु ८. ३५०) ऐसे समय हत्या करने का पाप हत्या करनेवाले को नहीं लगता; किन्तु आततायी मनुष्य अपने अधर्म ही से मारा जाता है। आत्मरक्षा का यह हक़–कुछ मर्यादा के भीतर–आधुनिक फ़ौजदारी क़ानून में भी स्वीकृत किया गया है। ऐसे मौक़ों पर अहिंसा से आत्मरक्षा की योग्यता अधिक मानी जाती है। भ्रूणहत्या सब से अधिक निन्दनीय मानी है; परन्तु जब बच्चा पेट में टेढ़ा हो कर अटक जाता है तब क्या उसको काट कर निकाल नहीं डालना चाहिये? यज्ञ में पशु का वध करना वेद में भी प्रशस्त माना है (मनु ५. ३१), परन्तु पिष्ट पशु के द्वारा

वह भी टल सकता है (म. भा. शां. ३३७; अनु. ११५. ५६) तथापि हवा, पानी, फल इत्यादि सब स्थानों में जो सैंकडों जीव-जंतु हैं उनकी हत्या कैसे टाली जा सकती है? महाभारत में (शां. १५. २६) अर्जुन कहता है :--

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः॥

"इस जगत् में ऐसे सूक्ष्म जन्तु हैं, कि जिनका अस्तित्व यद्यपि नेत्रों से देख नहीं पड़ता, तथापि तर्क से सिद्ध है। ऐसे जन्तु इतने हैं; कि यदि हम अपनी आँखों के पलक हिलावें, उतने ही से उन जन्तुओं का नाश हो जाता है"! ऐसी अवस्था में यदि हम मुख से कहते रहें, कि "हिंसा मत करो, हिंसा मत करो;" तो उससे क्या लाभ होगा? इसी विचार के अनुसार अनुशासन पर्व में (अनु. ११६) शिकार करने का समर्थन किया गया है। वनपर्व में एक कथा है, कि कोई ब्राह्मण क्रोध से किसी पतिव्रता स्त्री को भस्म कर डालना चाहता था; परन्तु जब उसका यत्न सफल नहीं हुआ तब वह स्त्री की शरण में गया। धर्म का सच्चा रहस्य समझ लेनेके लिये उस ब्राह्मण को उस स्त्री ने किसी व्याध के यहाँ भेज दिया। यहाँ व्याध मांस बेचा करता था; परन्तु था अपने माता-पिता का बड़ा भक्त! इस व्याध का यह व्यवसाय देख कर ब्राह्मण को अत्यन्त विस्मय और खेद हुआ। तब व्याध ने उसे अहिंसा का सच्चा तत्त्व समझा कर बतला दिया। इस जगत् में कौन किसको नहीं खाता? "जीवो जीवस्य जीवनम्" (भाग. १. १३. ४६)--यही नियम सर्वत्र दीख पड़ता है। आपत्काल में तो "प्राणस्यान्नमिदं सर्वम्" यह नियम सिर्फ़ स्मृतिकारों ही ने नहीं (मनु. ५. २८; म. भा. शां १५. २१) कहा है। किंतु उपनिषदों में भी स्पष्ट कहा गया है (वे. सू. ३. ४. २८; छां. ५. २. ८; बृ. ६. १. १४) यदि सब लोग हिंसा छोड़ दें तो क्षात्रधर्म कहाँ और कैसे रहेगा? यदि क्षात्रधर्म नष्ट हो जाय तो प्रजा की रक्षा कैसे होगी? सारांश यह है, कि नीति के सामान्य नियमों ही से सदा काम नहीं चलता; नीतिशास्त्र के प्रधान नियम--अहिंसा--में भी कर्तव्य-अकर्तव्य का सूक्ष्म विचार करना ही पड़ता है।

अहिंसा धर्म के साथ क्षमा, दया, शान्ति आदि गुण शास्त्रों में कहे गये हैं; परन्तु सब समय शान्ति से कैसे काम चल सकेगा? सदा शान्त रहनेवाले मनुष्यों के बाल-बच्चों को भी दुष्ट लोग हरण किये बिना नहीं रहेंगे। इसी कारण का प्रथम उल्लेख करके प्रल्हाद ने अपने नाती, राजा बलि से कहा है :--

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
... ...
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता॥

"सदैव क्षमा करना अथवा क्रोध करना श्रेयस्कर नहीं होता। इसीलिये,

हे तात ! पंडितों ने क्षमा के लिये कुछ अपवाद भी कहे हैं (म. भा. वन. २८. ६, ८) । इसके बाद कुछ मौक़ों का वर्णन किया गया है, जो क्षमा के लिये उचित हैं; तथापि प्रल्हाद ने इस बात का उल्लेख नहीं किया, कि इन मौक़ों को पहचानने का तत्त्व या नियम क्या है । यदि इन मौक़ों को पहचाने बिना, सिर्फ़ अपवादों का ही कोई उपयोग करे, तो वह दुराचरण समझा जायगा; इसलिये यह जानना अत्यंत आवश्यक और महत्त्व का है, कि इन मौक़ों को पहचानने का नियम क्या है ।

दूसरा तत्त्व " सत्य " है, जो सब देशों और धर्मों में भली भाँति माना जाता और प्रमाण समझा जाता है । सत्य का वर्णन कहाँ तक किया जाय ? वेद में सत्य की महिमा के विषय में कहा है, कि सारी सृष्टि की उत्पत्ति के पहले ' ऋतं ' और ' सत्यं ' उत्पन्न हुए; और सत्य ही से आकाश, पृथ्वी, वायु आदि पञ्चमहाभूत स्थिर हैं–" ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत " (ऋ. १०. १९०. १), " सत्येनोत्तमिता भूमिः " (ऋ. १०. ८५. १) । ' सत्य ' शब्द का धात्वर्थ भी यही है––' रहनेवाला ' अर्थात् " जिसका कभी अभाव न हो " अथवा ' त्रिकाल-अबाधित '; इसी लिये सत्य के विषय में कहा गया है, कि ' सत्य के सिवा और धर्म नहीं है; सत्य ही परब्रह्म है ' । महाभारत में कई जगह इस वचन का उल्लेख दिया गया है, कि ' नास्ति सत्यात्परो धर्मः ' (शां. १६२. २४) और यह भी लिखा है कि :–

> अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
> अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

" हज़ार अश्वमेध और सत्य की तुलना की जाय तो सत्य ही अधिक होगा " (आ. ७४. १०२) । यह वर्णन सामान्य सत्य के विषय में हुआ । सत्य के विषय में मनुजी एक विशेष बात और कहते हैं (मनु. ४. २५६) :––

> वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
> तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥

" मनुष्यों के सब व्यवहार वाणी से हुआ करते हैं । एक के विचार दूसरे को बताने के लिये शब्द के समान अन्य साधन नहीं है । वही सब व्यवहारों का आश्रय-स्थान और वाणी का मूल होता है । जो मनुष्य उसको मलिन कर डालता है, अर्थात् जो वाणी की प्रतारणा करता है, वह सब पूँजी ही की चोरी करता है " । इसलिये मनु ने कहा है, कि ' सत्यपूतां वदेद्वाचं ' (मनु. ६. ४६)––जो सत्य से पवित्र किया गया हो, वही बोला जाय । और धर्मों से सत्य ही को पहला स्थान देने के लिये उपनिषद में भी कहा है ' सत्यं वद । धर्मं चर ' (तै. १. ११. १.) । जब बाणों की शय्या पर पड़े पड़े भीष्म पितामह शान्ति और अनुशासन पर्वों में, युधिष्ठिर को सब धर्मों का उपदेश दे चुके; तब प्राण छोड़ने के पहले " सत्येषु यतितव्यं वः सत्यं हि परमं बलं " इस वचन को सब धर्मों का

सार समझ कर उन्हों ने सत्य ही के अनुसार व्यवहार करने के लिये सब लोगों को उपदेश किया है (म. भा. अनु. १६७. ५०)। बौद्ध और ईसाई धर्मों में भी इन्हीं नियमों का वर्णन पाया जाता है।

क्या उस बात की कभी कल्पना की जा सकती है, कि जो सत्य इस प्रकार स्वयंसिद्ध और चिरस्थायी है, उसके लिये भी कुछ अपवाद होंगे? परन्तु दुष्ट जनों से भरे हुए इस जगत् का व्यवहार बहुत कठिन है। कल्पना कीजिये, कि कुछ आदमी चोरों से पीछा किये जाने पर तुम्हारे सामने किसी स्थान में जा कर छिप रहे। इसके बाद हाथ में तलवार लिये हुए चोर तुम्हारे पास आ कर पूछने लगे, कि वे आदमी कहाँ चले गये? ऐसी अवस्था में तुम क्या कहोगे?--क्या तुम सच बोल कर सब हाल कह दोगे, या उन निरपराधी मनुष्यों की रक्षा करोगे? शास्त्र के अनुसार निरपराधी जीवों की हिंसा को रोकना सत्य ही के समान महत्त्व का धर्म है। मनु कहते हैं "नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः" (मनु-२. ११०; म. भा. शां. २८७. ३४)--जब तक कोई प्रश्न न करे, तब तक किसी से बोलना न चाहिये; और यदि कोई अन्याय से प्रश्न करे तो पूछने पर भी उत्तर नहीं देना चाहिये। यदि मालूम भी हो, तो सिड़ी या पागल के समान कुछ हूँ हूँ करके बात बना देनी चाहिये--"जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।" अच्छा, क्या हूँ हूँ कर देना और बात बना देना एक तरह से असत्य भाषण करना नहीं है? महाभारत (आ. २१५. ३४) में कई स्थानों में कहा है "न व्याजेन चरेद्धर्म" धर्म से बहाना करके मन का समाधान नहीं कर लेना चाहिये; क्योंकि तुम धर्म को धोखा नहीं दे सकते। तुम खुद धोखा खा जाओगे। अच्छा; यदि हूँ हूँ करके कुछ बात बना लेने का भी समय न हो, तो क्या करना चाहिये? मान लीजिय, कोई चोर हाथ में तलवार ले कर छाती पर आ बैठा है; और पूछ रहा है, कि तुम्हारा धन कहाँ है? यदि कुछ उत्तर न दोगे, तो जान ही से हाथ धोना पड़ेगा। ऐसे समय पर क्या बोलना चाहिये? सब धर्मों का रहस्य जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्ण--ऐसे ही चोरों की कहानी का दृष्टांत दे कर--कर्णपर्व (६९. ६१) में अर्जुन से और आगे शांतिपर्व के सत्यव्रत अध्याय (१०९. १५. १६) में भीष्म पितामह युधिष्ठिर से कहते हैं:--

> अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत्कथंचन।
> अवश्यं कूजितव्ये वा शंकेरन् वाप्यकूजनात्।
> श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्॥

अर्थात् "यह बात विचारपूर्वक निश्चित की गई है, कि यदि बिना बोले मोक्ष या छुटकारा हो सके, तो कुछ भी हो, बोलना नहीं चाहिये; और यदि बोलना आवश्यक हो; अथवा न बोलने से (दूसरों को) कुछ संदेह होना सम्भव हो, तो उस समय सत्य के बदले असत्य बोलना ही अधिक प्रशस्त है।" इसका कारण यह

है, कि सत्य धर्म केवल शब्दोच्चार ही के लिये नहीं है। अतएव जिस आचरण से सब लोगों का कल्याण हो, वह आचरण सिर्फ़ इसी कारण से निंद्य नहीं माना जा सकता, कि शब्दोच्चार अयथार्थ है। जिससे सभी की हानि हो, वह न तो सत्य ही है; और न अहिंसा ही। शांतिपर्व (३२६. १३; २८७. १६) में, सनत्कुमार के आधार पर नारदजी शुकजी से कहते हैं:—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् ।
यद्भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम ॥

"सच बोलना अच्छा है; परन्तु सत्य से भी अधिक ऐसा बोलना अच्छा है, जिससे सब प्राणियों का हित हो। क्योंकि जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित होता है, वही हमारे मत से सत्य है।" "यद्भूतहितं" पद को देख कर आधुनिक उपयोगितावादी अंग्रेज़ों का स्मरण करके यदि कोई उक्त वचन को प्रक्षिप्त कहना चाहें, तो उन्हें स्मरण रखना चाहिये, कि यह वचन महाभारत के वनपर्व में—ब्राह्मण और व्याध के संवाद में—दो तीन बार आया है। उनमें से एक जगह तो "अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम्" पाठ है (वन. २०६. ७३); और दूसरी जगह "यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा" (वन. २०८. ४), ऐसा पाठभेद किया गया है। सत्यप्रतिज्ञ युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य से 'नरो वा कुंजरो वा' कह कर उन्हें संदेह में क्यों डाल दिया? इसका कारण वही है, जो ऊपर कहा गया है; और कुछ नहीं। ऐसी ही और बातों में भी यही नियम लगाया जाता है। हमारे शास्त्रों का यह कथन नहीं है, कि झूठ बोल कर किसी ख़ूनी की जान बचाई जावे। शास्त्रों में ख़ून करनेवाले आदमी के लिये देहांत प्रायश्चित्त अथवा वधदंड की सज़ा कही गई है। इसलिये वह सज़ा पाने अथवा वध करने ही योग्य है। सब शास्त्रकारों ने यही कहा है, कि ऐसे समय, अथवा इसी के समान और किसी समय, जो आदमी झूठी गवाही देता है, वह अपने सात या अधिक पूर्वजोंसहित नरक में जाता है (मनु. ८. ८९–९९; म.भा. आ. ७. ३)। परन्तु जब कर्णपर्व में वर्णित उक्त चोरों के दृष्टान्तके समान हमारे सच बोलने से निरपराधी आदमियों की जान जाने की शङ्का हो, तो उस समय क्या करना चाहिये? ग्रीन नामक एक अंग्रेज़ ग्रंथकार ने अपने 'नीतिशास्त्र के उपोद्घात' नामक ग्रंथ में लिखा है, कि ऐसे मौक़ों पर नीतिशास्त्र मूक हो जाते हैं। यद्यपि मनु और याज्ञवल्क्य ऐसे प्रसंगों की गणना सत्यापवाद में करते हैं; तथापि यह भी उनके मत से गौण बात है। इसलिये अंत में उन्हों ने इस अपवाद के लिये भी प्रायश्चित्त बतलाया है—'तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः' (याज्ञ. २. ८३; मनु. ८. १०४–१०६)।

कुछ बड़े अंग्रेज़ों ने—जिन्हें अहिंसा के अपवाद के विषय में आश्चर्य नहीं मालूम होता—हमारे शास्त्रकारों को सत्य के विषय में दोष देने का यत्न किया है।

इसलिये यहाँ इस बात का उल्लेख किया जाता है, कि सत्य के विषय में प्रामाणिक ईसाई धर्मोपदेशक और नीतिशास्त्र के अंग्रेज़ ग्रंथकार क्या कहते हैं। क्राईस्ट का शिष्य पॉल बाइबल में कहता है "यदि मेरे असत्य भाषण से प्रभु के सत्य की महिमा और बढ़ती है (अर्थात् ईसाई धर्म का अधिक प्रचार होता है), तो इससे मैं पापी क्योंकर हो सकता हूँ" (रोम. ३. ७)? ईसाई धर्म के इतिहासकार मिलमैन ने लिखा है, कि प्राचीन ईसाई धर्मोपदेशक कई बार इसी तरह आचरण किया करते थे। यह बात सच है, कि वर्तमान समय के नीतिशास्त्र किसी को धोखा दे कर या भुला कर धर्मभ्रष्ट करना न्याय नहीं मानेंगे; परन्तु वे भी यह कहने को तैयार नहीं हैं, कि सत्यधर्म अपवादरहित है। उदाहरणार्थ, यह देखिये, कि सिजविक नाम के जिस पण्डित का नीतिशास्त्र हमारे कॉलेजों में पढ़ाया जाता है, उसकी क्या राय है। कर्म और अकर्म के संदेह का निर्णय जिस तत्त्व के आधार पर यह ग्रंथकार किया करता है उसको "सब से अधिक लोगों का सब से अधिक सुख" (बहुत लोगों का बहुत सुख) कहते हैं। इसी नियम के अनुसार उसने यह निर्णय किया है, कि छोटे लड़कों को और पागलों को उत्तर देने के समय, और इसी प्रकार बीमार आदमियों को (यदि सच बात सुना देने से उनके स्वास्थ्य के बिगड़ जाने का भय हो), अपने शत्रुओं को चोरों और (यदि विना बोले काम न सटता हो तो) जो अन्याय से प्रश्न करें, उनको उत्तर देने के समय, अथवा वकीलों को अपने व्यवसाय में झूठ बोलना अनुचित नहीं है *। मिल के नीतिशास्त्र-के ग्रंथ में भी इसी अपवाद का समावेश किया गया है ‡। इन अपवादों के अतिरिक्त सिजविक अपने ग्रंथ में यह भी लिखता है, कि "यद्यपि कहा गया है, कि सब लोगों को सच बोलना चाहिये; तथापि हम यह नहीं कह सकते, कि जिन राज-नीतिज्ञों को अपनी कारवाई गुप्त रखनी पड़ती है, वे औरों के साथ, तथा व्यापारी अपने ग्राहकों से, हमेशा सच ही बोला करें †"। किसी अन्य स्थान में वह लिखता है, कि यही रियायत पादरियों और सिपाहियों को मिलती है। लेस्ली स्टीफन नाम का एक और अंग्रेज़ ग्रंथकार है। उसने नीतिशास्त्र का विवेचन आधिभौतिक दृष्टि से किया है। वह भी अपने ग्रंथ में ऐसे ही उदाहरण दे कर अन्त में लिखता है, "किसी कार्य के परिणाम की ओर ध्यान देने के बाद ही उसकी नीतिमत्ता निश्चित की जानी चाहिये। यदि मेरा यह विश्वास हो, कि झूठ बोलने ही से कल्याण होगा; तो मैं सत्य बोलने के लिये कभी तैयार नहीं रहूँगा। मेरे इस विश्वास में यह भाव भी हो सकता है,

* Sidgwick's *Methods of Ethics*, Book III. Chap. XI, § 6. p. 355 (7th Ed.) Also, see pp. 315–317 (same Ed.)

‡ Mills *Utilitarianism*, Chap. II pp. 33–34 (15th Ed. Longmans, 1907.)

† Sidgwick's *Methods of Ethics*, Book IV. Chap. III, § 7. p. 454 (7th Ed.); and Book II Chap. V. § 3. p. 169.

कि इस समय, झूठ बोलना ही मेरा कर्तव्य है§। " ग्रीन साहब ने नीतिशास्त्र का विचार अध्यात्मदृष्टि से किया है । आप उक्त प्रसंगों का उल्लेख करके स्पष्ट रीति से कहते हैं, कि ऐसे समय नीतिशास्त्र मनुष्य के संदेह की निवृत्ति कर नहीं सकता । अन्त में आपने यह सिद्धान्त लिखा है, " नीतिशास्त्र यह नहीं कहता, कि किसी साधारण नियम के अनुसार--सिर्फ़ यह समझ कर कि वह है--हमेशा चलने में कुछ विशेष महत्त्व है; किन्तु उसका कथन सिर्फ़ यही है, कि 'सामान्यतः " उस नियम के अनुसार चलना हमारे लिये श्रेयस्कर है । इसका कारण यह है, कि ऐसे समय हम लोग केवल नीति के लिये अपनी लोभमूलक नीच मनोवृत्तियों को त्यागने की शिक्षा पाया करते हैं† " । नीतिशास्त्र पर ग्रंथ लिखनेवाले बेन, वेवेल आदि अन्य अंग्रेज पंडितों का भी ऐसा ही मत है ‡ ।

यदि उक्त अंग्रेज ग्रंथकारों के मतों की तुलना हमारे धर्मशास्त्रकारों के बनाये हुए नियमों के साथ की जाय, तो यह बात सहज ही ध्यान में आ जायगी, कि सत्य के विषय में अभिमानी कौन है । इसमें संदेह नहीं, कि हमारे शास्त्रों में कहा है :--

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥

अर्थात् " हँसी में, स्त्रियों के साथ, विवाह के समय, जब जान पर आ बने तब, और संपत्ति की रक्षा के लिये, झूठ बोलना पाप नहीं है " (म.भा. आ. ८२. १६. और शां. १०९ तथा मनु. ८. ११०) । परन्तु इसका मतलब यह नहीं है, कि स्त्रियों के साथ हमेशा झूठ ही बोलना चाहिये । जिस भाव से सिजविक साहब ने 'छोटे लड़के, पागल और बीमार आदमी' के विषय में अपवाद कहा है, वही भाव महाभारत के उक्त कथन का भी है । अंग्रेज ग्रंथकार पारलौकिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि की ओर कुछ ध्यान नहीं देते । उन लोगों ने तो खुल्लमखुल्ला यहाँ तक प्रतिपादन किया है, कि व्यापारियों को अपने लाभ के लिये झूठ बोलना अनुचित नहीं है । किन्तु वह बात हमारे शास्त्रकारों को सम्मत नहीं है । इन लोगों ने कुछ ऐसे ही मौक़ों पर झूठ बोलने की अनुमति दी है, जब कि केवल सत्य शब्दोच्चारण (अर्थात् केवल वाचिक सत्य) और सर्वभूतहित (अर्थात् वास्तविक

---

§ Leslie Stephen's *Science of Ethics* (Chap IX § 29, p. 369 (2nd Ed). " And the certainty might be of such a kind as to make me think it a duty to lie."

† Greens's *Prolegomena to Ethics*, § 315, p. 379, (5th Cheaper edition).

‡ Bain's *Mental and Moral Science*, p. 445 (Ed. 1875); and Whewell's *Elements of Morality*, Book II. Chaps. XIII and XIV. (4th Ed, 1864.)

सत्य) में विरोध हो जाता है, और व्यवहार की दृष्टि से झूठ बोलना अपरिहार्य हो जाता है। इनकी राय है, कि सत्य आदि नीतिधर्म नित्य--अर्थात् सब समय एक समान अबाधित--हैं। अतएव यह अपरिहार्य झूठ बोलना भी थोड़ा-सा पाप ही है; और इसी लिये प्रायश्चित्त भी कहा गया है। संभव है, कि आजकल के आधिभौतिक पंडित इन प्रायश्चित्तों को निरर्थक हौवा कहेंगे; परन्तु जिसने ये प्रायश्चित्त कहे हैं और जिन लोगों के लिये ये कहे गये हैं, वे दोनों ऐसा नहीं समझते। वे तो उक्त सत्य-अपवाद को गौण ही मानते हैं। और इस विषय की कथाओं में भी यही अर्थ प्रतिपादित किया गया है। देखिये, युधिष्ठिर ने संकट के समय एक ही बार दबी हुई आवाज़ से "नरो वा कुंजरो वा" कहा था। इसका फल यह हुआ, कि उसका रथ, जो पहले ज़मीन से चार अंगुल ऊपर चला करता था; अब और मामूली लोगों के रथों के समान धरती पर चलने लगा। और, अंत में एक क्षण भर के लिये उसे नरकलोक में रहना पड़ा (म.भा. द्रोण. १९१. ५७. ५८ तथा स्वर्गा. ३. १५)! दूसरा उदाहरण अर्जुन का लीजिये। अश्वमेधपर्व (८१. १०) में लिखा है, कि यद्यपि अर्जुन ने भीष्म का वध क्षात्रधर्म के अनुसार किया था; तथापि उसने शिखंडी के पीछे छिप कर यह काम किया था। इसलिये उसको अपने पुत्र बभ्रुवाहन से पराजित होना पड़ा। इन सब बातों से यही प्रगट होता है, कि विशेष प्रसंगों के लिये कहे गये उक्त अपवाद मुख्य या प्रमाण नहीं माने जा सकते। हमारे शास्त्रकारों का अंतिम और तात्त्विक सिद्धान्त वही है, जो महादेव ने पार्वती से कहा है:—

> आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
> न मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

"जो लोग, इस जगत् में स्वार्थ के लिये, परार्थ के लिये, या मजाक में भी कभी झूठ नहीं बोलते, उन्हीं को स्वर्ग की प्राप्ति होती है" (म.भा. अनु. १४४. १९)।

अपनी प्रतिज्ञा या वचन को पूरा करना सत्य ही में शामिल है। भगवान् श्रीकृष्ण और भीष्म पितामह कहते हैं, "चाहे हिमालय पर्वत अपने स्थान से हट जाय, अथवा अग्नि शीतल हो जाय, परन्तु हमारा वचन टल नहीं सकता" (म.भा. आ. ८०३. तथा उ. ८१. ४८) भर्तृहरि ने भी सत्पुरुषों का वर्णन इस प्रकार किया है—

> तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति। सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥

"तेजस्वी पुरुष आनन्द से अपनी जान भी दे देंगे; परन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा का त्याग कभी नहीं करेंगे" (नीतिश. ११०)। इसी तरह श्रीरामचंद्रजी के एक-पत्नीव्रत के साथ उनका एक बाण और एक वचन का व्रत भी प्रसिद्ध है; जैसा इस सुभाषित में कहा है—"द्विःशरं नाभिसंधत्ते रामो निर्नाभिभाषते" हरिश्चंद्र ने तो अपने स्वप्न में दिये हुए वचन को सत्य करने के लिये डोमकी नीच सेवा भी की थी। इसके उलटा, वेद में यह वर्णन है, कि इंद्रादि देवताओं ने वृत्रासुर

के साथ जो प्रतिज्ञाएँ की थीं उन्हें मेट दिया और उसको मार डाला । ऐसी ही कथा पुराणों में हिरण्यकशिपु की है । व्यवहार में भी कुछ कौल-क़रार ऐसे होते हैं, कि जो न्यायालय में बे-क़ायदा समझे जाते हैं; या जिनके अनुसार चलना अनुचित माना जाता ह । अर्जुन के विषय में ऐसी एक कथा महाभारत (कर्ण. ६६) में है । अर्जुन ने प्रतिज्ञा की थी, कि जो कोई मुझ से कहेगा कि " तू अपना गांडीव धनुष्य किसी दूसरे को दे दे" उसका शिर मैं तुरन्त ही काट डालूँगा । इसके बाद युद्ध में जब युधिष्ठिर कर्ण से पराजित हुआ, तब उसने निराश हो कर अर्जुन से कहा " तेरा गांडीव हमारे किस काम का है ? तू इसे छोड़ दे ! " यह सुन कर अर्जुन हाथ में तलवार ले युधिष्ठिर को मारने दौड़ा । उस समय भगवान् श्रीकृष्ण वहीं थे । उन्हों ने तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सत्यधर्म का मार्मिक विवेचन करके अर्जुन को यह उपदेश किया, कि " तू मूढ है । तुझे अब तक सूक्ष्म-धर्म मालूम नहीं हुआ है । तुझे वृद्धजनों से इस विषय की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये; 'न वृद्धाः सेवितास्त्वया'— तू ने वृद्धजनों की सेवा नहीं की है—यदि तू प्रतिज्ञा की रक्षा करना ही चाहता है, तो तू युद्धिष्ठिर की निर्भत्सना कर, क्योंकि सभ्यजनों को निर्भर्त्सना मृत्यु ही के समान है । " इस प्रकार बोध करके उन्हों ने अर्जन को ज्येष्ठभ्रातृवध के पाप से बचाया । इस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने जो सत्यानृत-विवेक अर्जुन को बताया है, उसी को आगे चल कर शान्तिपर्व के सत्यानृत नामक अध्याय में भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है (शां. १०६) । यह उपदेश व्यवहार में लोगों के ध्यान में रहना चाहिये । इसमें संदेह नहीं, कि इन सूक्ष्म प्रसंगों को जानना बहुत कठिन काम है । देखिये, इस स्थान में सत्य की अपेक्षा भ्रातृधर्म ही श्रेष्ठ माना गया है; और गीता में यह निश्चित किया गया है, कि बंधुप्रेम की अपेक्षा क्षात्रधर्म प्रबल है ।

जब अहिंसा और सत्य के विषय में इतना वाद-विवाद है, तब आश्चर्य की बात नहीं, कि यही हाल नीतिधर्म के तीसरे तत्त्व अर्थात् अस्तेय का भी हो । यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि न्यायपूर्वक प्राप्त हुई किसी की संपत्ति को चुरा ले जाने या लूट लेने की स्वतंत्रता दूसरों को मिल जाय, तो द्रव्य का संचय करना बंद हो जायगा; समाज की रचना बिगड़ जायगी, चारों तरफ़ अनवस्था हो जायगी और सभी की हानि होगी । परन्तु इस नियम के भी अपवाद हैं । जब दुर्भिक्ष के समय मोल लेने, मजदूरी करने या भिक्षा माँगने से भी अनाज नहीं मिलता, तब ऐसी आपत्ति में यदि कोई मनुष्य चोरी करके आत्मरक्षा करे, तो क्या वह पापी समझा जायगा; महाभारत (शां. १४१) में यह कथा है, कि किसी समय बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष रहा और विश्वामित्र पर बहुत बड़ी आपत्ति आई । तब उन्हों ने किसी श्वपच (चाण्डाल) के घर से कुत्ते का मांस चुराया और वे इस अभक्ष्य भोजन से अपनी रक्षा करने के लिये प्रवृत्त हुए । उस समय श्वपच ने

विश्वामित्र को "पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः" (मनु. ५. १८) * इत्यादि शास्त्रार्थ बतला कर अभक्ष्य-भक्षण और वह भी चोरी से न करने के विषय में बहुत उपदेश किया। परन्तु विश्वामित्र ने उसको डाँट कर यह उत्तर दिया :—

पिबन्त्येवोदकं गावो मंडूकेषु रुवत्स्वपि ।
न तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः ॥

"अरे! यद्यपि मेंढ़क टर्र टर्र किया करते हैं; तो भी गौएँ पानी पीना बंद नहीं करतीं; चुप रह! मुझ को धर्मज्ञान बताने का तेरा अधिकार नहीं है। व्यर्थ अपनी प्रशंसा मत कर।" उसी समय विश्वामित्र ने यह भी कहा है कि "जीवित मरणात्श्रेयो जीवन्धर्ममवाप्नुयात्"—अर्थात् यदि जिंदा रहेंगे तो धर्म का आचरण कर सकेंगे। इसलिये धर्म की दृष्टि से मरने की अपेक्षा जीवित रहना अधिक श्रेयस्कर है। मनुजी ने अजीगर्त, वामदेव आदि अन्याय्य ऋषियों के उदाहरण दिये हैं; जिन्हों ने ऐसे संकट समय इसी प्रकार आचरण किया है (मनु. १०.१०५–१०८)। हाब्स नामक अंग्रेज़ ग्रंथकार लिखता है "किसी कठिन अकाल के समय जब अनाज मोल न मिले, या दान भी न मिले; तब यदि पेट भरने के लिये कोई चोरी या साहस कर्म करे, तो यह अपराध माफ़ समझा जाता है †। और मिल ने तो यहाँ तक लिखा है, कि ऐसे समय चोरी करके अपना जीवन बचाना मनुष्य का कर्तव्य है!

'मरने से जिंदा रहना श्रेयस्कर है'—क्या विश्वामित्र का यह तत्त्व सर्वथा

---

*मनु और याज्ञवल्क्य ने कहा है कि कुत्ता, बन्दर आदि जिन जानवरों के पाँच पाँच नख होते हैं उन्ही में से खरगोश, कछुआ, गोह आदि पाँच प्रकार के जानवरों का मांस भक्ष्य है (मनु. ५.१८; याज्ञ. १. ११७)। इन पाँच जानवरों के अतिरिक्त मनुजी ने 'खड्ग' अर्थात् गेंडे को भी भक्ष्य माना है। परन्तु टीकाकार का कथन है, कि इस विषय में विकल्प है। इस विकल्प को छोड़ देने पर शेष पाँच ही जानवर रहते हैं; और उन्हीं का मांस भक्ष्य समझा गया है। "पंच पंचनखा भक्ष्याः" का यही अर्थ है। तथापि मीमांसकों के मतानुसार इस व्यवस्था का भावार्थ यही है, कि जिन लोगों को मांस खाने की सम्मति दी गई है, वे उक्त पंचनखी पाँच जानवरों के सिवा और किसी जानवर का मांस न खाये। इसका भावार्थ यह नहीं है, कि इन जानवरों का मांस खाना ही चाहिये। इस पारिभाषिक अर्थ को वे लोग 'परिसंख्या' कहते हैं। 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' इसी परिसंख्या का मुख्य उदाहरण है। जब कि मांस खाना ही निषिद्ध माना गया है तब इन पाँच जानवरों का मांस खाना भी निषिद्ध ही समझा जाना चाहिये।

† Hobbes, *Leviathan*, Part II. Chap. XXVII. p. 139 (Morley's Universal Library Edition). Mill's *Utilitarianism* Chap. V. p. 95. (15th Ed.) Thus, to save a life, it may not only be allowable but a duty to steal etc."

अपवादरहित कहा जा सकता है ? नहीं । इस जगत् में सिर्फ़ जिंदा रहना ही कुछ पुरुषार्थ नहीं है । कौए भी काकबलि खा कर कई वर्ष तक जीते रहते हैं । यही सोच कर वीरपत्नी विदुला अपने पुत्र से कहती है, कि बिछौने पर पड़े पड़े सड़ जाने या घर में सौ वर्ष की आयु को व्यर्थ व्यतीत कर देने की अपेक्षा, यदि तू एक क्षण भी अपने पराक्रम की ज्योति प्रगट करके मर जायगा तो अच्छा होगा- "मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरं" (म.भा. उ. १३२. १५)। यदि यह बात सच है, कि आज नहीं तो कल, अंत में सौ वर्ष के बाद मरना ज़रूर है (भाग. १०.१३८; गी. २. २७), तो फिर उसके लिये रोने या डरने से क्या लाभ है? अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से तो आत्मा नित्य और अमर है । इसलिये मृत्यु का विचार करते समय सिर्फ़ इस शरीर का ही विचार करना बाकी रह जाता है । अच्छा, यह तो सब जानते हैं, कि यह शरीर नाशवान् है; परन्तु आत्मा के कल्याण के लिये इस जगत् में जो कुछ करना हैं, उसका एक मात्र साधन यही नाशवान् मनुष्यदेह है । इसी लिये मनु ने कहा है, "आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि"— अर्थात् स्त्री और सम्पत्ति की अपेक्षा हमको पहले स्वयं अपनी ही रक्षा करनी चाहिये (मनु. ७.२१३)। यद्यपि मनुष्य-देह दुर्लभ और नाशवान् भी है; तथापि जब उसका नाश करके उससे भी अधिक किसी शाश्वत वस्तु की प्राप्ति कर लेनी होती है, (जैसे देश, धर्म और सत्य के लिये अपनी प्रतिज्ञा, व्रत और बिरद की रक्षा के लिये; एवं इज्ज़त, कीर्ति और सर्वभूतहित के लिये) तब ऐसे समय पर अनेक महात्माओं ने इस तीव्र कर्तव्याग्नि में आनन्द से अपने प्राणों की भी आहुति दे दी है। जब राजा दिलीप अपने गुरु वसिष्ठ की गाय की रक्षा करने के लिये सिंह को अपने शरीर का बलिदान देने को तैयार हो गया, तब वह सिंह से बोला, कि हमारे समान पुरुषों की "इस पाँचभौतिक शरीर के विषय में अनास्था रहती है । अतएव तू मेरे इस जड़ शरीर के बदले मेरे यशस्वरूपी शरीर की ओर ध्यान दे ।" (रघु. २. ५७) । कथासरित्सागर और नागानन्द नाटक में यह वर्णन है, कि सर्पों की रक्षा करने के लिये जीमूतवाहन ने गरुड को स्वयं अपना शरीर अर्पण कर दिया । मृच्छकटिक नाटक (१०–२७) में चारुदत्त कहता है:—

> न भीतो मरणादास्मि केवलं दूषितं यशः ।
> विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमः किल ॥

"मैं मृत्यु से नहीं डरता; मुझे यही दुःख है, कि मेरी कीर्ति कलंकित हो गई । यदि कीर्ति शुद्ध रहे, और मृत्यु भी आ जाय, तो मैं उसको पुत्र के उत्सव के समान मानूँगा।" इसी तत्त्व के आधार पर महाभारत (वन. १०० तथा १३१; शां. ३४२) में राजा शिबि और दधीचि ऋषि की कथाओं का वर्णन किया है । जब धर्म- (यम) राज श्येन पक्षी का रूप धारण करके कपोत के पीछे उडे; और जब वह कपोत अपनी रक्षा के लिये राजा शिबि की शरण में गया, तब राजाने स्वयं अपने शरीर का मांस काट कर उस श्येन पक्षी को दे दिया; और शरणागत कपोत की रक्षा की। वृत्रासुर

नाम का देवताओं का एक शत्रु था। उसको मारने के लिये दधीचि ऋषि की हड्डियों के वज्र की आवश्यकता हुई। तब सब देवता मिल कर उक्त ऋषि के पास गये; और बोले, "शरीरत्यागं लोकहितार्थं भवान् कर्तुमर्हसि"—हे महाराज! लोगों के कल्याण के लिये आप देह त्याग कीजिये। बिनती सुन दधीचि ऋषि ने बड़े आनन्द से अपना शरीर त्याग दिया; और अपनी हड्डियाँ देवताओं को दे दीं। एक समय की बात है, कि इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके, दानशूर कर्ण के पास कवच और कुंडल माँगने आया। कर्ण इन कवच-कुण्डलों को पहने हुए ही जन्मा था। जब सूर्य ने जाना, कि इन्द्र कवच-कुण्डल माँगने जा रहा है; तब उसने पहले ही से कर्ण को सूचना दे दी थी, कि तुम अपने कवच-कुण्डल किसी को दान मत देना। यह सूचना देते समय सूर्य ने कर्ण से कहा "इसमें संदेह नहीं, कि तू बड़ा दानी है; परन्तु यदि तू अपने कवच-कुण्डल दान में देगा, तो तेरे जीवन ही की हानि हो जायगी। इसलिये तू इन्हें किसी को न देना। मर जाने पर कीर्ति का क्या उपयोग है?— "मृतस्य कीर्त्या किं कार्यम्"। यह सुन कर कर्ण ने स्पष्ट उत्तर दिया, कि "जीवितेनापि मे रक्ष्या कीर्तिस्तद्विद्धि मे व्रतम्"—अर्थात् जान चली जाय तो भी कुछ परवाह नहीं; परन्तु अपनी कीर्ति की रक्षा करना ही मेरा व्रत है (म.भा. बन. २९९. ३८)। सारांश यह है, कि "यदि मर जायगा, तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी; और जीत जायगा तो पृथ्वी का राज्य मिलेगा" इत्यादि क्षात्रधर्म (गी. २. ३७) और "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" (गी. ३. ३५) यह सिद्धांत उक्त तत्त्व पर ही अवलंबित है। इसी तत्त्व के अनुसार श्रीसमर्थ रामदास स्वामी कहते हैं "कीर्ति की ओर देखने से सुख नहीं है; और सुख की ओर देखने से कीर्ति नहीं मिलती" (दास. १२. १०. १६; १८. १०. २५); और वे उपदेश भी करते हैं, कि "हे सज्जन मन! ऐसा काम करो, जिससे मरने पर कीर्ति बनी रहे"। यहाँ प्रश्न हो सकता है, कि यद्यपि परोपकार से कीर्ति होती है, तथापि मृत्यु के बाद कीर्ति का क्या उपयोग है? अथवा किसी सभ्य मनुष्य को अपकीर्ति की अपेक्षा मर जाना (गी. २. ३४), या जिंदा रहने से परोपकार करना, अधिक प्रिय क्यों मालूम होना चाहिये? इस प्रश्न का उचित उत्तर देने के लिये आत्म-अनात्म-विचार में प्रवेश करना होगा। और इसी के साथ कर्म-अकर्मशास्त्र का भी विचार करके यह जान लेना होगा, कि किस मौक़े पर जान देने के लिये तैयार होना उचित या अनुचित है। यदि इस बात का विचार नहीं किया जायगा, तो जान देने से यश की प्राप्ति तो दूर ही रही; परन्तु मूर्खता से आत्महत्या करने का पाप माथे चढ़ जायगा।

माता, पिता, गुरु आदि वन्दनीय और पूजनीय पुरुषों की पूजा तथा शुश्रूषा करना भी सर्वमान्य धर्मों में से एक प्रधान धर्म समझा जाता है। यदि ऐसा न हो तो कुटुंब, गुरुकुल और सारे समाज की व्यवस्था ठीक ठीक कभी रह न सकेगी। यही कारण है, कि सिर्फ़ स्मृति-ग्रन्थों ही में नहीं; किन्तु उपनिषदों में भी, "सत्यं वद, धर्मं चर" कहा गया है। और जब शिष्य का अध्ययन पूरा हो जाता, और

वह अपने घर जाने लगता, तब प्रत्येक गुरु का यही उपदेश होता था, कि "मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव" (तै. १.११. १ और ६.) । महाभारत के ब्राह्मण-व्याध आख्यान का तात्पर्य भी यही है (वन. अ. २१३) । परन्तु इस धर्म में भी कभी कभी अकल्पिक बाधा खड़ी हो जाती है । देखिये, मनुजी कहते हैं (२. १४५)——

उपाध्यायान्दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

"दस उपाध्यायों से आचार्य, और सौ आचार्यों से पिता, एवं हज़ार पिताओं से माता का गौरव अधिक है" । इतना होने पर भी यह कथा प्रसिद्ध है, (बन. ११६. १४) कि परशुराम की माता ने कुछ अपराध किया था । इस लिये उसने अपने पिता की आज्ञा से अपनी माता को मार डाला । शान्तिपर्व (२६५) के चिरकारिकोपाख्यान में अनेक साधक-बाधक प्रमाणोंसहित इस बात का विस्तृत विवेचन किया गया है, कि पिता की आज्ञा से माता का वध करना श्रेयस्कर है या पिता की आज्ञा का भंग करना श्रेयस्कर है । इससे स्पष्ट जाना जाता है, कि महा-भारत के समय ऐसे सूक्ष्म प्रसंगों की नीतिशास्त्र की दृष्टि से चर्चा करने की पद्धति जारी थी । यह बात छोटों से ले कर बड़ों तक सब लोगों को मालूम है, कि पिता की प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये पिता की आज्ञा से रामचंद्र ने चौंदह वर्ष बनवास किया; परन्तु माता के संबंध में जो न्याय ऊपर कहा गया है, वही पिता के संबंध में भी उपयुक्त होने का समय कभी कभी आ सकता है । जैसे; मान लीजिये, कोई लड़का अपने पराक्रम से राजा हो गया; और उसका पिता अपराधी हो कर इन्साफ़ के लिये उसके सामने लाया गया; इस अवस्था में वह लड़का क्या करे ?——राजा के नाते अपने अपराधी पिता को दंड दे या उसको अपना पिता समझ कर छोड़ दे ? मनुजी कहते हैं :——

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥

"पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित——इनमें से कोई भी यदि अपने धर्म के अनुसार न चले, तो वह राजा के लिये अदण्ड्य नहीं हो सकता; अर्थात् राजा उसको उचित दण्ड दे" (मनु. ८. ३३५; म.भा. शां. १२१. ६०)। इस जगह पुत्रधर्म की योग्यता से राजधर्म की योग्यता अधिक है । इस बात का उदाहरण (म.भा. ब. १०७; रामा. १. ३८ में) यह है, कि सूर्यवंश के महापराक्रमी सगर राजा ने असमंजस नामक अपने लड़के को देश से निकाल दिया था; क्योंकि वह दुराचरणी था, और प्रजा को दुःख दिया करता था । मनुस्मृति में भी यह कथा है, कि आंगिरस नामक एक ऋषि को छोटी अवस्था ही में बहुत ज्ञान हो गया था । इसलिये उसके काका-मामा आदि बड़े बूढ़े नातेदार उसके पास अध्ययन करने लग गये थे । एक दिन पाठ पढ़ाते पढ़ाते आंगिरस ने कहा, "पुत्रका

इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्"। बस, यह सुन कर सब वृद्धजन क्रोध से लाल हो गये; और कहने लगे कि यह लड़का मस्त हो गया है! उसको उचित दण्ड दिलाने के लिये उन लोगों ने देवताओं से शिकायत की। देवताओं ने दोनों ओर का कहना सुन लिया और यह निर्णय किया, कि "आंगिरस ने जो कुछ तुम्हें कहा वही न्याय्य है।" इसका कारण यह है :—

न तेन वृद्धो भवति येनाऽस्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥

"सिर के बाल सफ़ेद हो जाने से ही कोई मनुष्य वृद्ध नहीं कहा जा सकता; देवगण उसी को वृद्ध कहते हैं, जो तरुण होने पर भी ज्ञानवान् हो" (मनु. २. १५६ और म.भा. वन. १३३. ११; शल्य. ५१. ४७.)। यह तत्त्व मनुजी और व्यासजी ही को नहीं, किंतु बुद्ध को भी मान्य था। क्योंकि, मनस्मृति के उस श्लोक का पहला चरण 'धम्मपद'* नाम के प्रसिद्ध नीतिविषयक पाली भाषा के बौद्ध ग्रंथ में अक्षरशः आया है (धम्मपद २६०)। और उसके आगे यह भी कहा है, कि जो सिर्फ़ अवस्था ही से वृद्ध हो गया है, उसका जीना व्यर्थ है; यथार्थ में धर्मिष्ठ और वृद्ध होने के लिये सत्य, अहिंसा आदि की आवश्यकता है। 'चुल्ल वग्ग' नामक दूसरे ग्रंथ (६. १३. १) में स्वयं बुद्ध की यह आज्ञा है, कि यद्यपि धर्म का निरूपण करनेवाला भिक्षु नया हो, तथापि वह ऊँचे आसन पर बैठे और उन वयोवृद्ध भिक्षुओं को भी उपदेश करे, जिन्हों ने उसके पहले दीक्षा पाई हो। यह कथा सब लोग जानते हैं, कि प्रल्हाद ने अपने पिता हिरण्यकशिपु की अवज्ञा करके भगवत्प्राप्ति कैसे कर ली थी। इससे यह जान पड़ता है, कि जब कभी कभी पिता-पुत्र के सर्वमान्य नाते से भी कोई दूसरा अधिक बड़ा संबंध उपस्थित होता है, तब उतने समय के लिये निरुपाय होकर पिता-पुत्र का नाता भूल जाना पड़ता है। परन्तु ऐसे अवसर के न होते हुए भी, यदि कोई मुँहज़ोर लड़का उक्त नीति का अवलंब करके अपने पिता को गालियाँ देने लगे, तो वह केवल पशु के समान समझा जायगा। पितामह भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है "गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः" (शां. १०८. १७)—अर्थात् गुरु, माता-पिता से भी श्रेष्ठ है; परन्तु महाभारत ही में यह भी लिखा है, कि एक समय मरुत्त राजा के गुरु ने लोभवश हो कर स्वार्थ के लिये उसका त्याग किया, तब मरुत्त ने कहा :—

---

* 'धम्मपद' ग्रन्थ का अंग्रेज़ी अनुवाद 'प्राच्यधर्म-पुस्तकमाला' (*Sacred Books of the East Vol. X*) में किया गया है; और चुल्लवग्ग का अनुवाद भी उसी माला के *Vol. XVII* और *XX* में प्रकाशित हुआ है। धम्मपद का पाली श्लोक यह है :—

न तेन थेरो होति येनस्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो ति वुच्चति॥

थेर' शब्द बुद्ध भिक्षुओं के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह संस्कृत 'स्थविर का अपभ्रंश है।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम् ॥

" यदि कोई गुरु इस बात का विचार न करे, कि क्या करना चाहिये; और क्या नहीं करना चाहिये; और यदि वह अपने ही घमंड में रह कर टेढ़े रास्ते से चले, तो उसका शासन करना उचित है "। उक्त श्लोक महाभारत में चार स्थानों में पाया जाता है (आ. १४२. ५२. ५३; उ. १७९, २४; शां. ५७. ७; १४०. ४८)। इनमें से पहले स्थान में वही पाठ है; जो ऊपर दिया गया है। अन्य स्थानों में चौथे चरण में " दण्डो भवति शाश्वतः " अथवा " परित्यागो विधीयते " यह पाठांतर भी है। परन्तु वाल्मीकिरामायण (२. २१. १३) में जहाँ यह श्लोक है, वहाँ ऐसा ही पाठ है, जैसा ऊपर दिया गया है। इसलिये हमने इस ग्रंथ में उसी को स्वीकार किया है। इस श्लोक में जिस तत्त्व का वर्णन किया गया है, उसी के आधार पर भीष्म पितामह ने परशुराम से और अर्जुन ने द्रोणाचार्य से युद्ध किया; और जब प्रल्हाद ने देखा, कि अपने गुरु, जिन्हें हिरण्यकशिपु ने नियत किया किया है, भगवत्प्राप्ति के विरुद्ध उपदेश कर रहे हैं; तब उसने इसी तत्त्व के अनुसार उनका निषेध किया है। शांतिपर्व में स्वयं भीष्म पितामह श्रीकृष्ण से कहते हैं, कि यद्यपि गुरु लोग पूजनीय हैं, तथापि उनको भी नीति की मर्यादा का अवलंबन करना चाहिये; नहीं तो–

समयत्यागिने लुब्धान् गुरूनपि च केशव ।
निहन्ति समरे पापान् क्षत्रियः स हि धर्मवित् ॥

" हे केशव ! जो गुप्त मर्यादा, नीति अथवा शिष्टाचार का भंग करते हैं; और जो लोभी या पापी हैं, उन्हें लड़ाई में मारनेवाला क्षत्रिय ही धर्मज्ञ कहलाता है " (शां. ५५. १६)। इसी तरह तैत्तिरीयोपनिषद् में भी प्रथम " आचार्यदेवो भव " कह कर उसी के आगे कहा है, कि हमारे जो कर्म अच्छे हों उन्हीं का अनुकरण करो; औरों का नहीं—" यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि "—तै. १. ११.२)। इससे उपनिषदों का वह सिद्धान्त प्रगट होता है, कि यद्यपि पिता और आचार्य को देवता के समान मानना चाहिये; तथापि यदि वे शराब पीते हों, तो पुत्र और छात्र को अपने पिता या आचार्य का अनुकरण नहीं करना चाहिये। क्योंकि नीति, मर्यादा और धर्म का अधिकार माँ-बाप या गुरु से अधिक बलवान् होता है। मनुजी की निम्न आज्ञा का भी यही रहस्य है— " धर्म की रक्षा करो; यदि कोई धर्म का नाश करेगा; अर्थात् धर्म की आज्ञा के अनुसार आचरण नहीं करेगा; तो वह उस मनुष्य का नाश किये बिना नहीं रहेगा " (मनु. ८. १४–१६)। राजा तो गुरु से भी अधिक श्रेष्ठ एक देवता है (मनु. ७. ८ और म.भा. शां. ६८. ४०); परंतु वह भी इस धर्म से मुक्त नहीं हो सकता। यदि वह इस धर्म का त्याग कर देगा, तो उसका नाश हो जायगा। यह बात मनुस्मृति में कही गई है; और महाभारत में वही भाव, वेन तथा खनीनेत्र

राजाओं की कथा में, व्यक्त किया गया है (मनु. ७. ४१ और ८. १२८; म.भा. शां. ५६. ६२–१०० तथा अश्व. ४)।

अहिंसा, सत्य और अस्तेय के साथ इन्द्रिय-निग्रह की भी गणना सामान्य-धर्म में की जाती है (मनु. १०·६३)। काम, क्रोध, लोभ आदि मनुष्य के शत्रु हैं। इसलिये जब तक मनुष्य इनको जीत नहीं लेगा, तब तक समाज का कल्याण नहीं होगा। यह उपदेश सब शास्त्रों में किया गया है। विदुरनीति और भगवद्गीता में भी कहा है :—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

"काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं। इनसे हमारा नाश होता है। इस लिये इनका त्याग करना चाहिये" (गीता. १६. २१; म.भा. ३२. ७०)। परन्तु गीता ही में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने स्वरूप का यह वर्णन किया है "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ"—हे अर्जुन! प्राणिमात्र में जो 'काम' धर्म के अनकूल है, वही मैं हूँ (गीता. ७. ११)। इससे यह बात सिद्ध होती है, कि जो 'काम' धर्म के विरुद्ध है वही नरक का द्वार है। इसके अतिरिक्त जो दूसरे प्रकार का 'काम' है, अर्थात् जो धर्म के अनुकूल है, वह ईश्वर को मान्य है। मनु ने भी यही कहा है? "परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ"—जो अर्थ और काम धर्म के विरुद्ध हो, उनका त्याग कर देना चाहिये (मनु. ४. १७६)। यदि सब प्राणी कल से 'काम' का त्याग कर दें; और मृत्युपर्यंत ब्रह्मचर्यव्रत से रहनेका निश्चय कर लें, तो सौ-पचास वर्ष ही में सारी सजीव व सृष्टि का लय हो जायगा; और जिस सृष्टि की रक्षा के लिये भगवान् बार बार अवतार धारण करते हैं, उसका अल्पकाल ही में उच्छेद हो जायगा। यह बात सच है, कि काम और क्रोध मनुष्य के शत्रु हैं; परंतु कब? जब वे अपने को अनिवार्य हो जायँ तब। यह बात मनु आदि शास्त्रकारों को सम्मत है, कि सृष्टि का क्रम जारी रखने के लिये—उचित मर्यादा के भीतर—काम और क्रोध की अत्यंत आवश्यकता है (मनु. ५. ५६)। इन प्रबल मनोवृत्तियों का उचित रीति से निग्रह करना ही सब सुधारों का प्रधान उद्देश है। उनका नाश करना कोई सुधार नहीं कहा जा सकता; क्योंकि भागवत (११. ५. ११) में कहा है :—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥

"इस दुनिया में किसी से यह कहना नहीं पड़ता, कि तुम मैथुन, मांस और—मदिरा का सेवन करो। ये बातें मनुष्य को स्वभाव ही से पसन्द हैं। इन तीनों की कुछ व्यवस्था कर देने के लिये—अर्थात् इनके उपयोग को कुछ मर्यादित करके व्यवस्थित कर देने के लिये—(शास्त्रकारों ने) अनुक्रम से विवाह, सोमयाग और

सौत्रामणी यज्ञ की योजना की है; परन्तु तिस पर भी निवृत्ति अर्थात् निष्काम आचरण इष्ट है"। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है, कि जब 'निवृत्ति' शब्द का संबंध पञ्चम्यन्त पद के साथ होता है, तब उसका अर्थ "अमुक वस्तु से निवृत्ति अर्थात् अमुक कर्म का सर्वथा त्याग" हुआ करता है; तो भी कर्मयोग में "निवृत्ति" विशेषण कर्म ही के लिये उपयुक्त हुआ है। इसलिये 'निवृत्ति-कर्म' का अर्थ 'निष्काम बुद्धि से किया जानेवाला कर्म' होता है। यही अर्थ मनुस्मृति और भागवतपुराण में स्पष्ट रीति से पाया जाता है (मनु. १२.८९; भाग ११.१०.१ और ७.१५. ४७)। क्रोध के विषय में किरातकाव्य में (१. ३३) भारवि का कथन है :—

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ।

"जिस मनुष्य को अपमानित होने पर भी क्रोध नहीं आता, उसकी मित्रता और द्वेष दोनों बराबर हैं"। क्षात्रधर्म के अनुसार देखा जाय तो विदुला ने यही कहा है।—

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ।
क्षमावान्निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान्

"जिस मनुष्य को (अन्याय पर) क्रोध आता है, जो (अपमान को) सह नहीं सकता, वही पुरुष कहलाता है। जिस मनुष्य में क्रोध या चिढ़ नहीं है, वह नपुंसक ही के समान है" (म. भा. १. १३२. ३३)। इस बात का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, कि इस जगत् के व्यवहार के लिये न तो सदा तेज या क्रोध ही उपयोगी है, और न क्षमा। यही बात लोभ के विषय में भी कही जा सकती है; क्योंकि संन्यासी को भी मोक्ष की इच्छा होती ही है।

व्यासजी ने महाभारत में अनेक स्थानों पर भिन्न भिन्न कथाओं के द्वारा यह प्रतिपादन किया है, कि शूरता, धैर्य, दया, शील, मित्रता, समता आदि सब सद्गुण अपने अपने विरुद्ध गुणों के अतिरिक्त देश-काल आदि से मर्यादित हैं। यह नहीं समझना चाहिये, कि कोई एक ही सद्गुण सभी समय शोभा देता है। भर्तृहरि का कथन है:—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।

संकट के समय धैर्य, अभ्युदय के समय (अर्थात् जब शासन करने का सामर्थ्य हो तब) क्षमा, सभा में वक्तृता और युद्ध में शूरता शोभा देती है" (नीति. ६३)। शांति के समय 'उत्तर' के समान बकबक करनेवाले पुरुष कुछ कम नहीं हैं। घर बैठे बैठे अपनी स्त्री की नथनी में से तीर चलानेवाले कर्मवीर बहुतेरे होंगे; उनमें से रणभूमि पर धनुर्धर कहलानेवाला एक-आध ही देख पड़ता है। धैर्य आदि सद्गुण ऊपर लिखे समय पर ही शोभा देते हैं। इतना ही नहीं, किंतु ऐसे मौक़े के बिना उनकी सच्ची परीक्षा भी नहीं होती। सुख के साथी तो बहुतेरे हुआ करते हैं; परन्तु "निकषग्रावा तु तेषां विपत्"—विपत्ति ही उन की परीक्षा की सच्ची कसौटी है। 'प्रसंग' शब्द ही में देश-काल के अतिरिक्त पात्र आदि बातों का भी समावेश हो जाता है। समता से बढ़ कर कोई भी गुण श्रेष्ठ

नहीं है । भगवद्गीता में स्पष्ट रीति से लिखा है " समः सर्वेषु भूतेषु " यही सिद्ध पुरुषों का लक्षण है । परंतु समता कहते किसे हैं ? यदि कोई मनुष्य योग्यता-अयोग्यता का विचार न करके सब लोगों को समान दान करने लगे, तो क्या हम उसे अच्छा कहेंगे ? इस प्रश्न का निर्णय भगवद्गीता ही में इस प्रकार किया है—" देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदु " :—देश, काल और पात्र का विचार कर जो दान किया जाता है, वही सात्त्विक कहलाता है (गीता. १७. २०) । काल की मर्यादा सिर्फ़ वर्तमान काल ही के लिये नहीं होती । ज्यों ज्यों समय बदलता जाता है त्यों त्यों व्यावहारिक-धर्म में भी परिवर्तन होता जाता है । इसलिये जब प्राचीन समय की किसी बात की योग्यता या अयोग्यता का निर्णय करना हो, तब उस समय के धर्म-अधर्मसंबंधी विश्वास का भी अवश्य विचार करना पड़ता है । देखिये, मनु (१. ८५) और व्यास (म. भा. शां. २५६. ८) कहते हैं :—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगऱ्हासानुरूपतः ॥

" युगमान के अनुसार कृत, त्रेता, द्वापर और कली के धर्म भी भिन्न भिन्न होते हैं " । महाभारत (आ. १२२; और ७६) में यह कथा है, कि प्राचीन काल में स्त्रियों के लिये विवाह की मर्यादा नहीं थी; वे इस विषय में स्वतन्त्र और अनावृत थी; परंतु जब इस आचरण का बुरा परिणाम देख पड़ा, तब श्वेतकेतु ने विवाह की मर्यादा स्थापित कर दी; और मदिरापान का निषेध भी पहले पहल शुक्राचार्य ही ने किया । तात्पर्य यह है, कि जिस समय ये नियम जारी नहीं थे, उस समय के धर्म-अधर्म का और उसके बाद के धर्म-अधर्म का विवेचन भी भिन्न रीति से किया जाना चाहिये । इसी तरह यदि वर्तमान समय का प्रचलित धर्म आगे बदल जाय, तो उसके साथ भविष्य काल के धर्म-अधर्म का विवेचन भी भिन्न रीति से किया जायगा । कालमान के अनुसार देशाचार, कुलाचार, और जातिधर्म का भी विचार करना पड़ता है। क्योंकि आचार ही सब धर्मों की जड़ है । तथापि आचारों में भी बहुत भिन्नता हुआ करती है । पितामह भीष्म कहते हैं :—

न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः संप्रवर्तते ।
तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः ॥

" ऐसा आचार नहीं मिलता, जो हमेशा सब लोगों को समान हितकारक हो । यदि किसी एक आचार का स्वीकार किया जाय, तो दूसरा उससे बढ़ कर मिलता है; यदि इस दूसरे आचार का स्वीकार किया जाय, तो वह किसी तीसरे आचार का विरोध करता है " (शां. २५६. १७. १८) । जब आचारों में ऐसी भिन्नता हो, तब भीष्म पितामह के कथन के अनुसार तारतम्य अथवा सार-असार दृष्टि से विचार करना चाहिये ।

कर्म-अकर्म या धर्म-अधर्म के विषय में सब संदेहों का यदि निर्णय करने लगे तो दूसरा महाभारत ही लिखना पड़ेगा। उक्त विवेचन से पाठकों के ध्यान में यह बात आ जायगी, कि गीता के आरंभ में क्षात्र र्म और बंधुप्रेम के बीच झगड़ा उत्पन्न हो जानेसे अर्जुन पर कठिनाई आई, वह कुछ लोग-विलक्षण नहीं है; इस संसार में ऐसी कठिनाइयाँ कार्यकर्ताओं और बड़े आदमियों पर अनेक बार आया ही करती हैं; और जब ऐसी कठिनाइयाँ आती हैं तब कभी अहिंसा और आत्मरक्षा के बीच–कभी सत्य और सर्वभूतहित में, कभी शरीररक्षा और कीर्ति में और कभी भिन्न भिन्न नातों से उपस्थित होनेवाले कर्तव्यों में झगड़ा होने लगता है। शास्त्रोक्त, सामान्य तथा सर्वमान्य नीति-नियमों से काम नहीं चलता; और उनके लिये अनेक अपवाद उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे बिकट समय पर साधारण मनुष्यों से ले कर बड़े बड़े पंडितों की भी यह जानने की स्वाभाविक इच्छा होती है, कि कार्य-अकार्य की व्यवस्था––अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्य धर्म का निर्णय–करने के लिये कोई चिरस्थायी नियम अथवा युक्ति है या नहीं। यह बात सच है, कि शास्त्रों में दुर्भिक्ष जैसे संकट के समय 'आपद्धर्म' कहकर कुछ सुविधाएँ दी गई हैं। उदाहरणार्थ, स्मृतिकारों ने कहा है, कि यदि आपत्काल में ब्राह्मण किसी का भी अन्न ग्रहण कर ले, तो वह दोषी नहीं होता; और उषस्तिच क्रायण के इसी तरह बर्ताव करने की कथा भी छांदोग्योपनिषद् (याज्ञ. ३.४१; छां. १.१०.) में है; परन्तु इसमें और उक्त कठिनाइयों में बहुत भेद है। दुर्भिक्ष जैसे आपत्काल में शास्त्रधर्म और भूख, प्यास आदि इन्द्रियवृत्तियों के बीच में ही झगड़ा हुआ करता है। उस समय हमको इन्द्रियाँ एक ओर खींचा करती हैं; और शास्त्रधर्म दूसरी ओर खींचा करता है। परन्तु जिन कठिनाइयों का वर्णन ऊपर किया गया है, उनमें से बहुतेरी ऐसी हैं, कि उस समय इन्द्रिय-वृत्तियों का और शास्त्र का कुछ भी विरोध नहीं होता; किन्तु ऐसे दो धर्मों में परस्पर विरोध उत्पन्न हो जाता है, जिन्हें शास्त्रों ही ने विहित कहा है। और फिर उस समय सूक्ष्म विचार करना पड़ता है, कि किस बात का स्वीकार किया जावें। यद्यपि कोई मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार इनमें से कुछ बातों का निर्णय प्राचीन सत्पुरुषों के ऐसे ही समय पर किये हुए बर्ताव से कर सकता है, तथापि अनेक मौक़े ऐसे होते हैं, कि उनमें बड़े बड़े बुद्धिमानों का भी मन चक्कर में पड़ जाता है। कारण यह है, कि जितना जितना अधिक विचार किया जाता है, उतनी ही अधिक उपपत्तियाँ और तर्क उत्पन्न होते हैं; और अंतिम निर्णय असंभव–सा हो जाता है। जब उचित निर्णय होने नहीं पाता तब अधर्म या अपराध हो जाने की भी संभावना होती है। इस दृष्टिसे विचार करने पर मालूम होता है, कि धर्म-अधर्म या कर्म-अकर्म का विवेचन एक स्वतंत्र शास्त्र ही है, जो न्याय तथा व्याकरण से भी अधिक गहन है। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में 'नीतिशास्त्र' शब्द का उपयोग प्रायः राजनीतिशास्त्र ही के विषय में किया गया है; और कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेचन को 'धर्मशास्त्र' कहते हैं।

परन्तु आजकल 'नीति' शब्द ही में कर्तव्य अथवा सदाचरण का भी समावेश किया जाता हैं; इसलिये हमने वर्तमाल पद्धति के अनुसार, इस ग्रंथ में धर्म-अधर्म, या कम-अकर्म के विवेचन ही को "नीतिशास्त्र" कहा है। नीति, कर्म-अकर्म या धर्म-अधर्म के विवेचन का यह शास्त्र बड़ा गहन है; यह भाव प्रगट करने ही के लिये "सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य"--अर्थात् धर्म या व्यावहारिक नीति-धर्म का स्वरूप सूक्ष्म है--यह वचन महाभारत में कई जगह उपयुक्त हुआ है। पाँच पांडवों ने मिल कर अकेली द्रौपदी के साथ विवाह कैसे किया? द्रौपदीके वस्त्रहरण के समय भीष्म-द्रोण आदि सत्पुरुष शून्यहृदय होकर चुपचाप क्यों बैठे रहे? दुष्ट दुर्योधन की ओर से युद्ध करते समय भीष्म और द्रोणाचार्य ने अपने पक्ष का समर्थन करने के लिये जो यह सिद्धान्त बतलाया, कि "अर्थस्य पुरुषो दासः दासस्त्वर्थो न कस्यचित्"-- पुरुष अर्थ (सम्पत्ति) का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं हो सकता--(म.भा. भी. ४३. ३५), वह सच है या झूठ? यदि सेवाधर्म कुत्ते की वृत्ति के समान निन्दनीय माना है--जैसे "सेवा श्ववृत्तिरा-ख्याता" (मनु. ४०६), तो अर्थ के दास हो जाने के बदले भीष्म आदिकों ने दुर्योधन की सेवा ही का त्याग क्यों नहीं कर दिया? इनके समान और भी अनेक प्रश्न होते हैं, जिनका निर्णय करना बहुत कठिन है; क्योंकि इनके विषय में प्रसंग के अनुसार भिन्न भिन्न मनुष्यों के भिन्न भिन्न अनुमान या निर्णय हुआ करते हैं। यही नहीं समझना चाहिये, कि धर्म के तत्त्व सिर्फ़ सूक्ष्म ही हैं--"सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य"--(म.भा. १०. ७०); किन्तु महाभारत (बन. २०८.२) में यह भी कहा है, कि "बहुशाखा ह्यनंतिका"--अर्थात् उसकी शाखाएँ भी अनेक हैं, और उससे निकलनेवाले अनुभव भी भिन्न भिन्न हैं। तुलाधार और जाजलि के संवाद में धर्म का विवेचन करते समय तुलाधार भी यही कहता है, कि "सूक्ष्मत्वान्न स विज्ञातुं शक्यते बहुनिन्हवः"--अर्थात् धर्म बहुत सूक्ष्म और चक्कर में डालनेवाला होता है। इसलिये वह समझ में नहीं आता (शां. २६१. ३७)। महाभारतकार व्यासजी इन सूक्ष्म प्रसंगों को अच्छी तरह जानते थे; इसलिये उन्होंने यह समझा देने के उद्देश ही से अपने ग्रंथ में अनेक भिन्न भिन्न कथाओं का संग्रह किया है, कि प्राचीन समय के सत्पुरुषों ने ऐसे कठिन मौकों पर कैसा बर्ताव किया था। परन्तु शास्त्र-पद्धति से सब विषयों का विवेचन करके उसका सामान्य रहस्य महा-भारत सरीखे धर्मग्रंथ में कहीं बतला देना आवश्यक था। इस रहस्य या मर्म का प्रतिपादन--अर्जुन की कर्तव्य-मूढ़ता को दूर करने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने पहले जो उपदेश दिया था, उसी के आधार--पर व्यासजी ने भगवद्गीता में किया है। इससे 'गीता' महाभारत का रहस्योपनिषद् और शिरोभूषण हो गई है। और महाभारत गीता के प्रतिपादित मूलभूत कर्मतत्त्वों का उदाहरणसहित विस्तृत व्याख्यान हो गया है। उस बात की ओर उन लोगों को अवश्य ध्यान देना चाहिये; जो यह कहा करते हैं, कि महाभारत ग्रंथ में 'गीता' पीछे से

घुसेड़ दी गई है। हम तो यही समझते हैं, कि यदि गीता की कोई अपूर्वता या विशेषता है, तो वह यही है, कि जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। कारण यह है, कि यद्यपि केवल मोक्षशास्त्र अर्थात् वेदान्त का प्रतिपादन करनेवाले उपनिषद् आदि, तथा अहिंसा आदि सदाचार के सिर्फ़ नियम बतानेवाले स्मृति आदि अनेक ग्रंथ हैं; तथापि वेदान्त के गहन तत्त्वज्ञान के आधार पर "कार्याकार्यव्यवस्थिति" करनेवाला, गीता के समान कोई दूसरा प्राचीन ग्रंथ संस्कृत साहित्य में देख नहीं पड़ता। गीताभक्तों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, कि 'कार्याकार्यव्यवस्थिति' शब्द गीता ही (१६. २४) में प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द हमारी मनगढ़ंत नहीं है। भगवद्गीता ही के समान योगवासिष्ठ में भी वसिष्ठमुनि ने श्रीरामचन्द्रजी को ज्ञान-मूलक प्रवृत्तिमार्ग ही का उपदेश किया है। परन्तु यह ग्रंथ गीता के बाद बना है; और उसमें गीता ही का अनुकरण किया गया है। अतएव ऐसे ग्रंथों से गीता की उस अपूर्वता या विशेषता में—जो ऊपर कही गई है—कोई बाधा नहीं होगी।

तीसरा प्रकरण ।

कर्मयोगशास्त्र ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।*

गीता २-५० ।

यदि किसी मनुष्य को किसी शास्त्र के जानने की इच्छा पहले ही से न हो; तो वह उस शास्त्र के ज्ञान को पाने का अधिकारी नहीं हो सकता। ऐसे अधिकार-रहित मनुष्य को उस शास्त्र की शिक्षा देना मानों चलनी में दूध दुहना ही है। शिष्य को तो इस शिक्षा से कुछ लाभ होता ही नहीं; परन्तु गुरु को भी निरर्थक श्रम करके समय नष्ट करना पड़ता है। जैमिनि और बादरायण के सूत्रों के आरंभ में इसी कारण से "अथातो धर्मजिज्ञासा" और "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" कहा हुआ है। जैसे ब्रह्मोपदेश मुमुक्षुओं को और धर्मोपदेश धर्मेच्छुओं को देना चाहिये, वैसे ही कर्मशास्त्रोपदेश उसी मनुष्य को देना चाहिये; जिसे यह जानने की इच्छा या जिज्ञासा हो, कि संसार में कर्म कैसे करना चाहिये। इसी लिये हमने पहले प्रकरण में, 'अथातो' कह कर, दूसरे प्रकरण में 'कर्मजिज्ञासा' का स्वरूप और कर्मयोगशास्त्र का महत्त्व बतलाया है। जब तक पहले ही से इस बात का अनुभव न कर लिया जाय, कि अमुक काम में अमुक रुकावट है; तब तक उस रुकावट से छुटकारा पाने की शिक्षा देनेवाले शास्त्र का महत्त्व ध्यान में नहीं आता; और महत्त्व को न जानने से केवल रटा हुआ शास्त्र समय पर ध्यान में रहता भी नहीं है। यही कारण है, कि जो सद्गुरु है, वे पहले यह देखते हैं, कि शिष्य के मन में जिज्ञासा है या नहीं; और यदि जिज्ञासा न हो, तो वे पहले उसी को जागृत करने का प्रयत्न किया करते हैं। गीता में कर्मयोगशास्त्र का विवेचन इसी पद्धति से किया गया है। जब अर्जुन के मन में यह शंका आई, कि जिस लड़ाई में मेरे हाथ से पितृवध और गुरुवध होगा, तथा जिसमें अपने सब बंधुओं का नाश हो जायगा; उसमें शामिल होना उचित है या अनुचित; और जब वह युद्ध से पराङ्मुख हो कर संन्यास लेने को तैयार हुआ; और जब भगवान् के इस सामान्य युक्तिवाद से भी उसके मन का समाधान नहीं हुआ, कि 'समय पर किये जानेवाले कर्म का त्याग करना मूर्खता और दुर्बलता का सूचक है; इससे तुमको स्वर्ग तो मिलेगा ही नहीं, उलटी दुष्कीर्ति अवश्य होगी।' तब श्रीभगवान् ने पहले "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं

* "इसलिये तू योग का आश्रय ले। कर्म करने की जो रीति, चतुराई या कुशलता है उसे योग कहते हैं।" यह 'योग' शब्द की व्याख्या अर्थात् लक्षण है। इसके संबंधमें अधिक विचार इसी प्रकरण में आगे चल कर किया है।

प्रज्ञावादांश्च भाषसे " अर्थात् जिस बात का शोक नहीं करना चाहिये, उसी का तो तू शोक कर रहा है; और साथ साथ ब्रह्मज्ञान की भी बड़ी बड़ी बातें छाँट रहा है--कह कर अर्जुन का कुछ थोड़ा-सा उपहास किया; और फिर उसको कर्म के ज्ञान का उपदेश दिया। अर्जुन की शंका कुछ निराधार नहीं थी। गत प्रकरण में हमने यह दिखलाया है, कि अच्छे अच्छे पंडितों को भी कभी कभी " क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये ? " यह प्रश्न चक्कर में डाल देता है। परंतु कर्म-अकर्म की चिन्ता में अनेक अड़चनें आती हैं। इसलिये कर्म को छोड़ देना उचित नहीं है। विचारवान् पुरुषों को ऐसी युक्ति ' अर्थात् ' योग का स्वीकार करना चाहिये; जिससे सांसारिक कर्मों का लोप तो होने न पावे, और कर्माचरण करनेवाला किसी पाप या बंधन में भी न फँसे; --यह कह कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पहले यही उपदेश दिया है " तस्माद्योगाय युज्यस्व "--अर्थात् तू भी इसी युक्ति का स्वीकार कर । यही ' योग ' कर्मयोगशास्त्र है। और जबकि यह बात प्रगट है, कि अर्जुन पर आया हुआ संकट कुछ लोक-विलक्षण या अनोखा नहीं था--ऐसे अनेक छोटे बडे संकट संसार में सभी लोगों पर आया करते हैं-- तब तो यह बात आवश्यक है, कि इस कर्मयोगशास्त्र का जो विवेचन भगवद्गीता में किया गया है, उसे हर एक मनुष्य सीखे; किसी शास्त्र के प्रतिपादन में कुछ मुख्य मुख्य और गूढ अर्थ को प्रगट करनेवाले शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अतएव उनके सरल अर्थ को पहले जान लेना चाहिये; और यह भी देख लेना चाहिये, कि उस शास्त्र के प्रतिपादन की मूलशैली कैसी है। नहीं तो फिर उसके समझने में कई प्रकार की आपत्तियाँ और बाधाएँ होती हैं। इसलिये कर्मयोगशास्त्र के कुछ मुख्य मुख्य शब्दों के अर्थ की परीक्षा यहाँ पर की जाती है।

सब से पहला शब्द ' कर्म ' है। ' कर्म ' शब्द ' कृ ' धातु से बना है। उसका अर्थ ' करना, व्यापार, हलचल ' होता है; और इसी सामान्य अर्थ में गीता में उसका उपयोग हुआ है--अर्थात् यही अर्थ गीता में विवक्षित है। ऐसा कहने का कारण यही है, कि मीमांसाशास्त्र में और अन्य स्थानों पर भी इस शब्द के जो संकुचित अर्थ दिये गये हैं, उनके कारण पाठकों के मन में कुछ भ्रम उत्पन्न न होने पावे। किसी भी धर्म को लीजिये; उसमें ईश्वर-प्राप्ति के लिये कुछ-न-कुछ कर्म करने को बतलाया ही रहता है। प्राचीन वैदिक धर्म के अनुसार देखा जाय, तो यज्ञ-याग ही वह कर्म है; जिससे ईश्वर की प्राप्ति होती है। वैदिक ग्रंथों में यज्ञ-याग की विधि बताई गई है; परन्तु इसके विषय में कहीं कहीं परस्पर-विरोधी वचन भी पाये जाते हैं। अतएव उनकी एकता और मेल दिखलाने के ही लिये जैमिनि के पूर्वमीमांसाशास्त्र का प्रचार होने लगा। जैमिनि के मतानुसार वैदिक और श्रौत यज्ञ-याग करना ही प्रधान और प्राचीन धर्म है। मनुष्य कुछ करता है; वह सब यज्ञ के लिये करता है। यदि उसे धन कमाना है, तो यज्ञ के लिये और धान्य संग्रह करना है तो यज्ञ ही के लिये (म.भा. शां. २६.२५) ।

जबकि यज्ञ करने की आज्ञा वेदों ही ने दी है, तब यज्ञ के लिये मनुष्य कुछ भी कर्म करे; वह उसको बंधक नहीं होगा। वह कर्म यज्ञ का एक साधन है—वह स्वतंत्र रीति से साध्य वस्तु नहीं है। इसलिये यज्ञ से जो फल मिलनेवाला है, उसी में उस कर्म का भी समावेश हो जाता है—उस कर्म का कोई अलग फल नहीं होता। परन्तु यज्ञ के लिये किये गये य कर्म यद्यपि स्वतंत्र फल के देनेवाले नहीं हैं, तथापि स्वयं यज्ञ से स्वर्गप्राप्ति (अर्थात् मीमांसकों के मतानुसार एक प्रकार की सुखप्राप्ति) होती है; और इस स्वर्गप्राप्ति के लिये ही यज्ञकर्ता मनुष्य बड़े चाव से यज्ञ करता है। इसी से स्वयं यज्ञकर्म 'पुरुषार्थ' कहलाता है; क्योंकि जिस वस्तु पर किसी मनुष्य की प्रीति होती है; और जिसे पाने की उसके मन में इच्छा होती है; उसे 'पुरुषार्थ' कहते हैं (जै. सू. ४. १. १ और २)। यज्ञ का पर्यायवाची एक दूसरा 'ऋतु' शब्द है। इसलिये 'यज्ञार्थ' के बदले 'क्रत्वर्थ-' भी कहा करते हैं। इस प्रकार सब कर्मों के दो वर्ग हो गये:—एक 'यज्ञार्थ' (क्रत्वर्थ) कर्म, अर्थात् जो स्वतंत्र रीति से फल नहीं देते, अतएव अबंधक हैं; और दूसरे 'पुरुषार्थ' कर्म, अर्थात् जो पुरुष को लाभकारी होने के कारण बंधक हैं। संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ-याग आदि का ही वर्णन है। यद्यपि ऋग्वेद-संहिता में इन्द्र आदि देवताओं के स्तुति-संबंधी सूक्त हैं, तथापि मीमांसक गण कहते हैं, कि सब श्रुतिग्रन्थ यज्ञ आदि कर्मों ही के प्रतिपादक हैं। क्योंकि उनका विनियोग यज्ञ के समय में ही किया जाता है। इन कर्मठ, याज्ञिक, या केवल कर्मवादियों का कहना है, कि वेदोक्त यज्ञ-याग आदि कर्म करने से ही स्वर्ग-प्राप्ति होती है, नहीं तो नहीं होती। चाहे ये यज्ञ-याग अज्ञानता से किये जायँ या ब्रह्मज्ञान से। यद्यपि उपनिषदों में ये यज्ञ ग्राहच माने गये हैं, तथापि इनकी योग्यता ब्रह्मज्ञान से कम ठहराई गई है। इसलिये निश्चय किया गया है, कि यज्ञ-याग से स्वर्गप्राप्ति भले ही हो जाय; परन्तु इनके द्वारा मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष-प्राप्ति के लिये ब्रह्मज्ञान ही की नितान्त आवश्यकता है। भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में जिन यज्ञ-याग आदि काम्य-कर्मों का वर्णन किया गया है—"वेदवाद-रताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः" (गी. २. ४२)—वे ब्रह्मज्ञान के बिना किये जानेवाले उपर्युक्त यज्ञ-याग आदि कर्म ही हैं। इसी तरह यह भी मीमांसकों ही के मत का अनुकरण है, कि "यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः" (गी. ३. ९) अर्थात् यज्ञार्थ किये गये कर्म बंधक नहीं हैं; शेष सब कर्म बंधक हैं। इन यज्ञ-याग आदि वैदिक कर्मों के अतिरिक्त, अर्थात् श्रौत कर्मों के अतिरिक्त और भी चातुर्वर्ण्य के भेदानुसार दूसरे आवश्यक कर्म मनुस्मृति आदि धर्मग्रन्थों में वर्णित हैं; जैसे क्षत्रिय के लिये युद्ध और वैश्य के लिये वाणिज्य। पहले पहल इन वर्णाश्रम-कर्मों का प्रतिपादन स्मृति-ग्रन्थों में किया गया था। इसलिये इन्हें 'स्मार्त-कर्म' या 'स्मार्त-यज्ञ' भी कहते हैं। इन श्रौत और स्मार्तकर्मों के सिवा और भी धार्मिक कर्म हैं; जैसे व्रत, उपवास आदि। इनका विस्तृत प्रतिपादन पहले

पहल सिर्फ़ पुराणों में किया गया है। इसलिये इन्हें 'पौराणिक-कर्म' कह सकेंगे। इन सब कर्मों के और भी तीन—नित्य, नैमित्तिक और काम्य—भेद किये गये हैं। स्नान, संध्या आदि जो हमेशा किये जानेवाले कर्म हैं, उन्हें नित्यकर्म कहते हैं। इनके करने से कुछ विशेष फल अथवा अर्थ की सिद्धि नहीं होती; परन्तु न करने से दोष अवश्य लगता है। नैमित्तिक कर्म उन्हें कहते हैं, जिन्हें पहले किसी कारण के उपस्थित हो जाने से करना पड़ता है; जैसे अनिष्ट ग्रहों की शान्ति, प्रायश्चित्त आदि। जिसके लिये हम शान्ति और प्रायश्चित्त करते हैं, वह निमित्त कारण यदि पहले न हो गया; तो हमें नैमित्तिक कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं। जब हम कुछ विशेष इच्छा रख कर उसकी सफलता के लिये शास्त्रानुसार कोई कर्म करते हैं, तब उसे काम्य-कर्म कहते हैं; जैसे वर्षा होने के लिये या पुत्रप्राप्ति के लिये यज्ञ करना। नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों के सिवा भी कर्म हैं; जसे मदिरापान इत्यादि, जिन्हें शास्त्रों ने त्याज्य कहा है। इसलिये ये कर्म निषिद्ध कहलाते हैं। नित्य कर्म कौन कौन हैं, नैमित्तिक कौन हैं और काम्य तथा निषिद्ध कर्म कौन कौन हैं—ये सब बातें धर्मशास्त्रों में निश्चित कर दी गई हैं। यदि कोई किसी धर्मशास्त्री से पूछे, कि अमुक कर्म पुण्यप्रद है या पापकारक। तो वह सबसे पहले इस बात का विचार करेगा, कि शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार वह कर्म यज्ञार्थ है, या पुरुषार्थ; नित्य है, या नैमित्तिक; अथवा काम्य है, या निषिद्ध; और इन बातों पर विचार करके फिर वह अपना निर्णय करेगा। परन्तु भगवद्गीता की दृष्टि उससे भी व्यापक और विस्तीर्ण है। मान लीजिये, कि अमुक एक कर्म शास्त्रों में निषिद्ध नहीं माना गया है; अथवा वह विहित कर्म ही कहा गया है। जैसे युद्ध के समय क्षात्रधर्म ही अर्जुन के लिये विहित कर्म था। तो इतने ही से यह सिद्ध नहीं होता, कि हमें वह कर्म हमेशा करते ही रहना चाहिये; अथवा उस कर्म का करना हमेशा श्रेयस्कर ही होगा। यह बात पिछले प्रकरण में कही गई है, कि कहीं कहीं तो शास्त्र की आज्ञा भी परस्पर-विरुद्ध होती है। ऐसे समय में मनुष्य को किस मार्ग का स्वीकार करना चाहिये? इस बात का निर्णय करने के लिये कोई युक्ति है या नहीं? यदि है तो वह कौन-सी? बस, यही गीता का मुख्य विषय है। इस विषय में कर्म के उपर्युक्त अनेक भेदों पर ध्यान देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। यज्ञ-याग आदि वैदिक कर्मों तथा चातुर्वर्ण्य के कर्मों के विषय में मीमांसकों ने जो सिद्धान्त किये हैं, वे गीता में प्रतिपादित कर्मयोग से कहाँ तक मिलते हैं; यह दिखाने के लिये प्रसंगानुसार गीता में मीमांसकों के कथन का भी कुछ विचार किया गया है; और अंतिम अध्याय (गी. १८. ६) में इस पर भी विचार किया है, कि ज्ञानी पुरुष को यज्ञ-याग आदि कर्म करना चाहिये या नहीं। परन्तु गीता के मुख्य प्रतिपाद्य विषय का क्षेत्र इससे भी व्यापक है। इसलिये गीता में 'कर्म' शब्द का 'केवल श्रौत अथवा स्मार्त-कर्म' इतना ही संकुचित अर्थ नहीं लिया जाना चाहिये; किंतु उससे अधिक व्यापक रूप में लेना चाहिये।

सारांश, मनुष्य जो कुछ करता है—जैसे खाना, पीना, खेलना, रहना, उठना, बैठना, श्वासोच्छ्वास करना, हँसना, रोना, सूँघना, देखना, बोलना, सुनना, चलना देना, लेना, सोना, जागना, मारना, लड़ना, मनन और ध्यान करना, आज्ञा और निषेध करना, दान देना, यज्ञ-याग करना, खेती और व्यापार-धंधा करना, इच्छा करना, निश्चय करना, चुप रहना इत्यादि इत्यादि—यह सब भगवद्गीता के अनुसार कर्म' ही हैं; चाहे वह कर्म कायिक हो, वाचिक हो अथवा मानसिक हो '(गीता. ५. ८. ९) । और तो क्या, जीना-मरना भी कर्म ही है । मौक़ा आने पर यह भी विचार करना पड़ता है, कि 'जीना या मरना' इन दो कर्मों में से किसका स्वीकार किया जावे ? इस विचार के उपस्थित होने पर कर्म शब्द का अर्थ 'कर्तव्य-कर्म' अथवा 'विहित-कर्म' हो जाता है (गी. ४. १६) । मनुष्य के कर्म के विषय में यहाँ तक विचार हो चुका । अब इसके आगे बढ़ कर सब चर-अचर सृष्टि के भी—अचेतन वस्तु के भी—व्यापार में 'कर्म' शब्द ही का उपयोग होता है । इस विषयका विचार आगे कर्म-विपाक प्रक्रिया में किया जायगा ।

कर्म शब्द से भी अधिक भ्रम-कारक शब्द 'योग' है । आजकल इस शब्द का रूढार्थ "प्राणायामादिक साधनों से चित्तवृत्तियों या इन्द्रियों का निरोध करना" अथवा "पातञ्जल सूत्रोक्त समाधि या ध्यानयोग" है । उपनिषदों में भी इसी अर्थ से इस शब्द का प्रयोग हुआ है (कठ. ६. ११); परन्तु ध्यान में रखना चाहिये, कि यह संकुचित अर्थ भगवद्गीता में विवक्षित नहीं है । 'योग' शब्द 'युज्' धातु से बना है; जिसका अर्थ "जोड़, मेल, मिलाप, एकता, एकत्र अवस्थिति" इत्यादि होता है । और ऐसी स्थिति की प्राप्ति के "उपाय, साधन, युक्ति या कर्म" को भी योग कहते हैं । यही सब अर्थ अमरकोष (३. ३. २२) में इस तरह से दिये हुए हैं—"योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु"। फलित ज्योतिष में कोई ग्रह यदि इष्ट अथवा अनिष्ट हों, तो उन ग्रहों का 'योग' इष्ट या अनिष्ट कहलाता है; और 'योगक्षेम' पद में 'योग' शब्द का अर्थ "अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना" लिया गया है (गी. ९. २२) । भारतीय युद्ध के समय द्रोणाचार्य को अजेय देख कर श्रीकृष्ण ने कहा है, कि "एको हि योगोऽस्य भवेद्वधाय" (म.भा. द्रो. १८१. ३१) अर्थात् द्रोणाचार्य को जीतने का एक ही 'योग' (साधन या युक्ति) है; और आगे चल कर उन्होंने यह भी कहा है, कि हमने पूर्वकाल में धर्म की रक्षा के लिये जरासंध आदि राजाओं को 'योग' ही से कैसे मारा था। उद्योगपर्व (अ. १७२) में कहा गया है, कि जब भीष्म ने अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका को हरण किया, तब अन्य राजा लोग 'योग योग' कह कर उनका पीछा करने लगे थे । महाभारत में 'योग' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में अनेक स्थानों पर हुआ है । गीता में 'योग,' 'योगी' अथवा योग शब्द से बने हुए सामासिक शब्द लगभग अस्सी बार आये हैं; परन्तु चार पाँच स्थानों के सिवा (देखो

गी. ६. १२ और २३) योग शब्द से 'पातंजल योग' अर्थ कहीं भी अभिप्रेत नहीं है। सिर्फ 'युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, जोड़, मेल' यही अर्थ कुछ हेरफेर से सारी गीता में पाये जाते हैं। अतएव कह सकते हैं, कि गीताशास्त्र के व्यापक शब्दों में 'योग' भी एक शब्द है; परन्तु योग शब्द के उक्त सामान्य अर्थों से ही––जैसे साधन, कुशलता, युक्ति आदि से ही––काम नहीं चल सकता। क्योंकि वक्ता की इच्छा के अनुसार यह साधन संन्यास का हो सकता है; कर्म और चित्त-निरोध का हो सकता है; और मोक्ष का अथवा और भी किसी का हो सकता है। उदाहरणार्थ, कहीं कहीं गीता में अनेक प्रकार की व्यक्त सृष्टि निर्माण करने की ईश्वरी कुशलता और अद्भुत सामर्थ्य को 'योग' कहा गया है (गी. ७. २५; ९. ५; १०,७; ११. ८); और इसी अर्थ में भगवान् को 'योगेश्वर' कहा है (गी. १८. ७५)। परन्तु यह कुछ गीता के 'योग' शब्द का मुख्य अर्थ नहीं है। इसलिये, यह बात स्पष्ट रीति से प्रगट कर देने के लिये, कि 'योग' शब्द से किस विशेष प्रकार की कुशलता, साधन, युक्ति अथवा उपाय को गीता में विवक्षित समझना चाहिये। उस ग्रन्थ ही में योग शब्द की यह निश्चित व्याख्या की गई है––"योगः कर्मसु कौशलम्" (गी. २. ५०) अर्थात् कर्म करने की किसी विशेष प्रकार की कुशलता, युक्ति, चतुराई अथवा शैली को योग कहते हैं। शांकर-भाष्य में भी "कर्मसु कौशलम्" का यही अर्थ लिया गया है––"कर्म में स्वभावसिद्ध रहनेवाले बंधन को तोड़ने की युक्ति"। यदि सामान्यतः देखा जाय, तो एक ही कर्म को करने के लिये अनेक 'योग' और 'उपाय' होते हैं। परन्तु उनमें से जो उपाय या साधन उत्तम हो उसी को 'योग' कहते हैं। जैसे द्रव्य उपार्जन करना एक कर्म है। इसके अनेक उपाय या साधन हैं: जैसे; चोरी करना, जालसाजी करना, भीख माँगना, सेवा करना, ऋण लेना, मेहनत करना आदि। यद्यपि धातु के अर्थानुसार इनमें से हर एक को 'योग' कह सकते हैं; तथापि यथार्थ में 'द्रव्य-प्राप्ति-योग' उसी उपाय को कहते हैं; जिससे हम अपनी "स्वतंत्रता रख कर मेहनत करते हुए द्रव्य प्राप्त कर सकें।"

जब स्वयं भगवान् ने 'योग' शब्द की निश्चित और स्वतंत्र व्याख्या कर दी है (योगः कर्मसु कौशलम्–अर्थात् कर्म करने की एक प्रकार की विशेष युक्ति को योग कहते हैं), तब सच पूछो, तो इस शब्द के मुख्य अर्थ के विषय में कुछ भी शंका नहीं रहनी चाहिये; परन्तु स्वयं भगवान् की बतलाई हुई इस व्याख्या पर ध्यान न दे कर गीता का मथितार्थ भी मनमाना निकाला है। अतएव इस भ्रम को दूर करने के लिये 'योग' शब्द का कुछ और भी स्पष्टीकरण होना चाहिये। यह शब्द पहले पहल गीता के दूसरे अध्याय में आया है; और वहीं इसका स्पष्ट अर्थ भी बतला दिया गया है। पहले सांख्यशास्त्र के अनुसार भगवान् ने अर्जुन को यह समझा दिया, कि युद्ध क्यों करना चाहिये; इसके बाद उन्होंने कहा, कि 'अब हम

तुझे योग के अनुसार उपपत्ति बतलाते हैं' (गी. २. ३६)। और फिर इसका वर्णन किया है, कि जो लोग हमेशा यज्ञ-यागादि काम्य-कर्मों में निमग्न रहते हैं, उनकी बुद्धि फलाशा से कैसी व्यग्र हो जाती है (गी. २.४१-४६)। इसके पश्चात् उन्होंने यह उपदेश दिया है, कि बुद्धि को अव्यग्र, स्थिर या शान्त रख कर, "आसक्ति को छोड़ दे; परन्तु कर्मों को छोड़ देने के आग्रह में न पड़"; और "योगस्थ हो कर कर्मों का आचरण कर" (गी. २. ४८)। यहीं पर 'योग' शब्द का यह स्पष्ट अर्थ भी कह दिया है, कि "सिद्धि और असिद्धि दोनों में समबुद्धि रखने को योग कहते हैं"। इसके बाद यह कह कर, कि "फल की आशा से कर्म करने की अपेक्षा समबुद्धि का यह योग ही श्रेष्ठ है"; (गी. २. ४९) और बुद्धि की समता हो जाने पर कर्म करने-वाले को कर्मसंबंधी पाप-पुण्य की बाधा नहीं होती। इसलिये तू इस "योग' को प्राप्त कर।" तुरंत ही योग का यह लक्षण फिर भी बतलाया है, कि "योगःकर्मसु कौशलम्" (गी. २. ५०)। इससे सिद्ध होता है, कि पाप-पुण्य से अलिप्त रह कर कर्म करने की जो समत्वबुद्धिरूप विशेष युक्ति पहले बतलाई गई है, वही 'कौशल' है; और इसी कुशलता अर्थात् युक्ति से कर्म करने को गीता में 'योग' कहा है। इसी अर्थ को अर्जुन ने आगे चलकर "योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन" (गी. ६. ३३) इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया है। इसके संबंध में, कि ज्ञानी मनुष्य को इस संसार में कैसे चलना चाहिये। श्रीशंकराचार्य के पूर्व ही प्रचलित हुए वैदिक धर्म के अनुसार दो मार्ग हैं। एक मार्ग यह है, कि ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर सब कर्मों का संन्यास अर्थात् त्याग कर दें; और दूसरा यह, कि ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी कर्मों को न छोड़ें—उनको जन्म भर ऐसी युक्ति के साथ करता रहें, कि उनके पाप-पुण्य की बाधा न होने पावे। इन्हीं दो मार्गों को गीता में संन्यास और कर्मयोग कहा है (गी. ५. ५)। संन्यास कहते हैं त्याग को, और योग कहते हैं मेल को। अर्थात् कर्म के त्याग और कर्म के मेल ही के उक्त दो भिन्न भिन्न मार्ग हैं। इन्हीं दो भिन्न मार्गों को लक्ष्य करके आगे (गी.५. ४) "सांख्ययोगी" (सांख्य और योग) ये संक्षिप्त नाम भी दिये गये हैं। बुद्धि को स्थिर करने के लिये पातञ्जलयोग-शास्त्र के आसनों का वर्णन छठवें अध्याय में है सही; परन्तु वह किसके लिये है? तपस्वी के लिये नहीं; किन्तु वह कर्मयोगी—अर्थात् युक्तिपूर्वक कर्म करनेवाले मनुष्य को—'समता' की युक्ति सिद्ध कर लेने के लिये बतलाया गया है। नहीं तो फिर "तपस्विभ्योऽधिको योगी" इस वाक्य का कुछ अर्थ ही नहीं हो सकता। इसी तरह इस अध्याय के अन्त (६. ४६) में अर्जुन को जो उपदेश दिया गया है, कि "तस्माद्योगी भवार्जुन" उसका अर्थ ऐसा नहीं हो सकता, कि 'हे अर्जुन! तू पातंजल योग का अभ्यास करनेवाला बन जा'। इसलिये उक्त उपदेश का अर्थ "योगस्थः कुरु कर्माणि" (२. ४८), "तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्" (गी. २. ५०), "योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत" (४.४२) इत्यादि वचनों के

अर्थ के समान ही होना चाहिये। अर्थात् उसका यही अर्थ लेना उचित है, कि "हे अर्जुन! तू युक्ति से कर्म करनेवाला योगी अर्थात् कर्मयोगी हो।" क्योंकि यह कहना ही सम्भव नहीं, कि "तू पातञ्जल योग का आश्रय ले कर युद्ध के लिये तैयार रह।" इसके पहले ही साफ़ साफ़ कहा गया है, कि "कर्मयोगेण योगिनाम्" (गी. ३.३) अर्थात् योगी पुरुष कर्म करनेवाले होते हैं। भारत के (म.भा. शां. ३४८. ५६) नारायणीय अथवा भागवतधर्म के विवेचन में भी कहा गया है, कि इस धर्म के लोग अपने कर्मों का त्याग किये बिना ही युक्तिपूर्वक कर्म करके (सुप्रयुक्तेन कर्मणा) परमेश्वर की प्राप्ति कर लेते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि 'योगी' और 'कर्मयोगी' दोनों शब्द गीता में समानार्थक हैं; और इनका अर्थ "युक्ति से कर्म करनेवाला" होता है; तथा बड़े भारी 'कर्मयोग' शब्द का प्रयोग करने के बदले, गीता और महाभारत में छोटे-से 'योग' शब्द का ही अधिक उपयोग किया गया है। "मैंने तुझे जो यह योग बतलाया है, इसी को पूर्वकाल में विवस्वान् से कहा था (गी. ४. १); और विवस्वान् ने मनु को बतलाया था; परन्तु उस योग के नष्ट हो जाने पर फिर वही योग आज तुझसे कहना पड़ा"—इस अवतरण में भगवान्ने जो 'योग' शब्द का तीन बार उच्चारण किया है, उसमें पातंजल योग का विवक्षित होना नहीं पाया जाता; किन्तु "कर्म करने की किसी प्रकार की विशेष युक्ति, साधन या मार्ग" अर्थ ही लिया जा सकता है। इसी तरह जब संजय कृष्ण-अर्जुन संवाद को गीता में 'योग' कहता है (गी. १८. ७५) तब भी यही अर्थ पाया जाता है। श्रीशंकराचार्य स्वयं संन्यास-मार्गवाले थे। तो भी उन्होंने अपने गीता-भाष्य के आरम्भ में ही वैदिकधर्म के दो भेद-प्रवृत्ति और निवृत्ति—बतलाये हैं; और 'योग' शब्द का अर्थ श्रीभगवान् की की हुई व्याख्या के अनुसार कभी "सम्यग्दर्शनोपायकर्मानुष्ठानम्" (गी. ४. ४२) और कभी "योगः युक्तिः" (गी. १०. ७) किया है। इसी तरह महाभारत में भी 'योग और 'ज्ञान' दोनों शब्दों के विषय में स्पष्ट लिखा है, कि "प्रवृत्तिलक्षणो योगः ज्ञानं संन्यासलक्षणम्" (म. भा. अश्व. ४३. २५) अर्थात् योग का अर्थ प्रवृत्तिमार्ग और ज्ञान का अर्थ संन्यास या निवृत्तिमार्ग है। शान्तिपर्व के अन्त में, नारायणीयोपाख्यान में 'सांख्य' और 'योग' शब्द तो इसी अर्थ में अनेक बार आये हैं; और इसका भी वर्णन किया गया है, कि ये दोनों मार्ग सृष्टि के आरम्भ में क्यों और कैसे निर्माण किये गये (म. भा. शां. २४० और ३४८)। पहले प्रकरण में महाभारत से जो वचन उद्धृत किये गये हैं, उनसे यह स्पष्टतया मालूम हो गया है, कि यही नारायणीय अथवा भागवतधर्म भगवद्गीता का प्रतिपाद्य तथा प्रधान विषय है। इसलिये कहना पड़ता है, कि 'सांख्य' और 'योग' शब्दों का जो प्राचीन और पारिभाषिक अर्थ (सांख्य = निवृत्ति; योग = प्रवृत्ति) नारायणीय धर्म में दिया गया है, वही अर्थ गीता में भी विवक्षित है। यदि इसमें किसी को शंका हो, तो गीता में दी हुई इस व्याख्या से—

"समत्वं योग उच्यते" या "योगः कर्मसु कौशलम्"—तथा उपर्युक्त "कर्म-योगेण योगिनाम्" इत्यादि गीता के वचनों से उस शंका का समाधान हो सकता है। इसलिये अब यह निर्विवाद सिद्ध है, कि गीता में 'योग' शब्द प्रवृत्तिमार्ग अर्थात् 'कर्मयोग' के अर्थ ही में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक धर्म-ग्रंथों में कौन कहे; यह 'योग' शब्द, पाली और संस्कृत भाषाओं के बौद्धधर्म-ग्रंथों में भी, इसी अर्थ में प्रयुक्त है। उदाहरणार्थ, संवत् ३३५ के लगभग लिखे गये मिलिंदप्रश्न नामक पाली-ग्रन्थ में 'पुब्बयोगो' (पूर्वयोग) शब्द आया है; और वहीं उसका अर्थ 'पुब्बकम्म' (पूर्वकर्म) किया गया है (मि. प्र. १. ४)। इसी तरह अश्वघोष कविकृत — जो शालिवाहन शक के आरम्भ में हो गया है— 'बुद्धचरित' नामक संस्कृत काव्य के पहले सर्ग के पचासवें श्लोक में यह वर्णन है :—

आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तिमन्यैर्जनको जगाम।

अर्थात् "ब्राह्मणों को योग-विधि की शिक्षा देने में राजा जनक आचार्य (उपदेष्टा) हो गये। इनके पहले यह आचार्यत्व किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ था"। यहाँ पर 'योग-विधि' का अर्थ निष्काम-कर्मयोग की विधि ही समझना चाहिये। क्योंकि गीता आदि अनेक ग्रन्थ मुक्त कंठ से कह रहे हैं, कि जनकजी के बर्ताव का यही रहस्य है; और अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित (९, १९ और २०) में यह दिखलाने ही के लिये, कि "गृहस्थाश्रम में रह कर भी मोक्ष की प्राप्ति कैसे की जा सकती है" जनक का उदाहरण दिया है। जनक के दिखलाये हुए मार्ग का नाम 'योग' है; और यह बात बौद्ध-धर्म-ग्रन्थों से भी सिद्ध होती है। इसलिये गीता के 'योग' शब्द का भी यही अर्थ लगाना चाहिये। क्योंकि गीता के कथनानुसार (गी. ३. २०) जनक का ही मार्ग उसमें प्रतिपादित किया गया है। सांख्य और योगमार्ग के विषय में अधिक विचार आगे किया जायगा। प्रस्तुत प्रश्न यही है, कि गीता में 'योग' शब्द का उपयोग किस अर्थ में किया गया है।

जब एक बार यह सिद्ध हो गया, कि गीता में 'योग' का प्रधान अर्थ कर्म-योग और 'योगी' का प्रधान अर्थ कर्मयोगी है; तो फिर यह कहने की आवश्य-कता नहीं, कि भगवद्गीता का प्रतिपाद्य विषय क्या है। स्वयं भगवान् अपने उपदेश को 'योग' कहते हैं (गी. ४. १–३); बल्कि छठवें (६. ६३) अध्याय में अर्जुन ने और गीता के अन्तिम उपसंहार (१८. ७५) में संजय ने भी गीता के उपदेश को 'योग' ही कहा है। इसी तरह गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में, जो अध्याय-समाप्ति-दर्शक संकल्प हैं, उनमें भी साफ़ साफ़ कह दिया है, कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'योगशास्त्र' है। परन्तु जान पड़ता है, कि उक्त संकल्प के शब्दों के अर्थ पर भी टीकाकार ने ध्यान नहीं दिया। आरम्भ के दो पदों "श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु" के बाद इस संकल्प में दो शब्द "ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" और भी जोड़े गये हैं। पहले दो शब्दों का अर्थ है—"भगवान् से गाये गये उपनिषद् में'; और पिछले दो शब्दों का अर्थ "ब्रह्मविद्या का योगशास्त्र

—अर्थात् कर्मयोग-शास्त्र" है, जो कि इस गीता का विषय है । ब्रह्मविद्या और ब्रह्म-ज्ञान एक ही बात है; और इसके प्राप्त हो जानेपर ज्ञानी पुरुष के लिये दो निष्ठाएँ या मार्ग खुले हुए हैं (गी. ३. ३)। एक सांख्य अथवा संन्यास मार्ग—अर्थात् यह मार्ग जिसमें ज्ञान होने पर कर्म करना छोड़ कर विरक्त रहना पड़ता है; और दूसरा योग अथवा कर्ममार्ग—अर्थात् वह मार्ग, जिसमें कर्मों का त्याग न करके ऐसी युक्ति से नित्य कर्म करते रहना चाहिये, कि जिससे मोक्ष-प्राप्तिमें कुछ भी बाधा न हो । पहले मार्ग का दूसरा नाम 'ज्ञाननिष्ठा' भी है; जिसका विवेचन उपनिषदों में अनेक ऋषियों ने और अन्य ग्रन्थकारों ने भी किया है। परन्तु ब्रह्म-विद्या के अन्तर्गत कर्मयोग का या योगशास्त्र का तात्त्विक विवेचन भगवद्गीताके सिवा अन्य ग्रन्थों में नहीं है । इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है, कि अध्याय-समाप्ति-दर्शक संकल्प गीता की सब प्रतियों में पाया जाता है; और इससे प्रगट होता है, कि गीता की सब टीकाओं के रचे जाने के पहले ही उसकी रचना हुई होगी । इस संकल्प के रचयिता ने इस संकल्प में 'ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे' इन दो पदों को व्यर्थ ही नहीं जोड़ दिया है; किन्तु उसने गीताशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय की अपूर्वता दिखाने ही के लिये उक्त पदों को उस संकल्प में आधार और हेतुसहित स्थान दिया है । अतः इस बात का भी सहज निर्णय हो सकता है, कि गीता पर अनेक सांप्रदायिक टीकाओं के होने के पहले गीताका तात्पर्य कैसे और क्या समझा जाता था । यह हमारे सौभाग्य की बात है, कि इस कर्मयोग का प्रतिपादन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही ने किया है, जो इस योगमार्गके प्रवर्तक और सब योगों के साक्षात् ईश्वर (योगेश्वर = योग + ईश्वर) हैं; और लोकहित के लिये उन्होंने अर्जुन को उसको बतलाया है । गीता के 'योग' और 'योग-शास्त्र' शब्दों से हमारे 'कर्मयोग' और 'कर्मयोगशास्त्र' शब्द कुछ बड़े हैं सही; परन्तु अब हमने कर्मयोगशास्त्र सरीखा बड़ा नाम ही इस ग्रन्थ और प्रकरण को देना इसलिये पसंद किया है, कि जिसमें गीता के प्रतिपाद्य विषयके सम्बन्ध में कुछ भी संदेह न रह जावे ।

एक ही कर्म को करने के जो अनेक योग, साधन या मार्ग हैं, उनमें से सर्वोत्तम और शुद्ध मार्ग कौन है । उसके अनुसार नित्य आचरण किया जा सकता है या नहीं; नहीं किया जा सकता, तो कौन कौन अपवाद उत्पन्न होते हैं, और वे क्यों उत्पन्न होते हैं; जिस मार्ग को हमने उत्तम मान लिया है, वह उत्तम क्यों है; जिस मार्ग को हम बुरा समझते हैं, वह बुरा क्यों है; यह अच्छापन या बुरापन किसके द्वारा या किस आधार पर ठहराया जा सकता है; अथवा इस अच्छेपन या बुरेपन का रहस्य क्या है—इत्यादि बातें जिस शास्त्र के आधार से निश्चित की जाती हैं, उसको "कर्मयोगशास्त्र" या गीता के संक्षिप्त रूपानु-सार "योगशास्त्र" कहते हैं। 'अच्छा' और 'बुरा' दोनों साधारण शब्द हैं । इन्हीं के समान अर्थ में कभी कभी शुभ-अशुभ, हितकर-अहितकर, श्रेयस्कर-अश्रेयस्कर

पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म इत्यादि शब्दों का उपयोग हुआ करता है। कार्य-अकार्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, न्याय्य-अन्याय्य इत्यादि शब्दों का भी अर्थ वैसा ही होता है। तथापि इन शब्दों का उपयोग करनेवालों का सृष्टि-रचनाविषयक मत भिन्न भिन्न होने के कारण "कर्मयोग" शास्त्र के निरूपण के पन्थ भी भिन्न भिन्न हो गये हैं। किसी भी शास्त्र को लीजिये; उसके विषयों की चर्चा साधारणतः तीन प्रकार से की जाती है। (१) इस जड़ सृष्टि के पदार्थ ठीक वैसे ही हैं, जैसे कि वे हमारी इन्द्रियों को गोचर होते हैं। इसके परे उनमें और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से उनके विषय में विचार करने की एक पद्धति है जिसे आधिभौतिक विवेचन कहते हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य को देवता न मान कर केवल पाँचभौतिक जड़ पदार्थों का एक गोला मानें; और उष्णता, प्रकाश, वज़न, दूरी और आकर्षण इत्यादि उसके केवल गुण-धर्मों ही की परीक्षा करें; तो उसे सूर्य का आधिभौतिक विवेचन कहेंगे। दूसरा उदाहरण पेड़ का लीजिये। उसका विचार न करके, कि पेड़ के पत्ते निकलना, फूलना, फलना आदि क्रियाएँ किस अंतर्गत शक्ति के द्वारा होती हैं। जब केवल बाहरी दृष्टि से विचार किया जाता है, कि ज़मीन में बीज बोने से अंकुर फूटते हैं, फिर वे बढ़ते हैं; और उसी के पत्ते, शाखा, फूल इत्यादि दृश्य विकार प्रगट होते हैं, तब उसे पेड़ का आधिभौतिक विवेचन कहते हैं। रसायनशास्त्र, पदार्थविज्ञानशास्त्र, विद्युत्शास्त्र इत्यादि आधुनिक शास्त्रों का विवेचन इसी ढंग का होता है। और तो क्या; आधिभौतिक पंडित यह भी माना करते हैं, कि उक्त रीति से किसी वस्तु के दृश्य गुणों का विचार कर लेने पर उनका काम पूरा हो जाता है—सृष्टि के पदार्थों का इससे अधिक विचार करना निष्फल है। (२) जब उक्त दृष्टि को छोड़ कर इस बात का विचार किया जाता है, कि जड़ सृष्टि के पदार्थों के मूल्य में क्या है; क्या, इन पदार्थों का व्यवहार केवल उनके गुण-धर्मों ही से होता है, या उनके लिये किसी तत्त्व का आधार भी है; तब केवल आधिभौतिक विवेचन से ही अपना काम नहीं चलता। हमको कुछ आगे पैर बढ़ाना है। उदाहरणार्थ, जब हम यह मानते हैं, कि यह पाँच-भौतिक सूर्य नामक एक देव का अधिष्ठान है; और इसी के द्वारा इस अचेतन गोले (सूर्य) के सब व्यापार या व्यवहार होते रहते हैं; तब उसको उस विषय का आधिदैविक विवेचन कहते हैं। इस मत के अनुसार यह माना जाता है, कि पेड में, पानी में, हवा में, अर्थात् सब पदार्थों में, अनेक देव हैं; जो उन जड़ तथा अचेतन पदार्थों से भिन्न तो हैं; किन्तु उनके व्यवहारों को वही चलाते हैं। (३) परन्तु जब यह माना जाता है, कि जड़ सृष्टि के हज़ारों जड़ पदार्थों में हज़ारों स्वतंत्र देवता नहीं हैं; किन्तु बाहरी सृष्टि के सब व्यवहारों को चलानेवाली, मनुष्य के शरीर में आत्मस्वरूप से रहनेवाली, और मनुष्य को सारी सृष्टि का ज्ञान प्राप्त करा देनेवाली एक ही चित् शक्ति है, जो कि इंद्रियातीत है, और जिसके द्वारा ही इस जगत् का सारा व्यवहार चल रहा है; तब उस

विचार-पद्धति को आध्यात्मिक विवेचन कहते हैं। उदाहरणार्थ, अध्यात्मवादियों का मत है, कि सूर्य-चन्द्र आदि का व्यवहार, यहाँ तक कि वृक्षों के पत्तों का हिलना भी, इसी अचिन्त्य शक्ति की प्रेरणा से हुआ करता है। सूर्य-चन्द्र आदि में या अन्य स्थानों में भिन्न भिन्न तथा स्वतंत्र देवता नहीं हैं। प्राचीन काल से किसी भी विषय का विवेचन करने के लिये ये तीन मार्ग प्रचलित हैं; और इनका उपयोग उपनिषद्-ग्रन्थों में भी किया गया है। उदाहरणार्थ, ज्ञानेन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं या प्राण श्रेष्ठ है; इस बात का विचार करते समय, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में एक बार उक्त इन्द्रियों के अग्नि आदि देवताओं को और दूसरी बार उनके सूक्ष्म रूपों (अध्यात्म) को ले कर उनके बलाबल का विचार किया गया है (बृ. १. ५. २१ और २२; छां. १. २ और ३; कौषी २. ८); और, गीता के सातवें अध्याय के अन्त में तथा आठवें के आरंभ में ईश्वर के स्वरूप का जो विचार बतलाया गया है, वह भी इसी दृष्टि से किया गया है। "अध्यात्मविद्या विद्यानाम्" (गी. १०. ३२) इस वाक्य के अनुसार हमारे शास्त्रकारों ने उक्त तीन मार्गों में से, आध्यात्मिक विवरण को ही अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु आजकल उपर्युक्त तीन शब्दों (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक) के अर्थ को थोड़ा-सा बदल कर प्रसिद्ध आधिभौतिक फरेंच पंडित कोंट* ने आधिभौतिक विवेचन को ही अधिक महत्त्व दिया है। उसका कहना है, कि सृष्टि के मूल-तत्त्व को खोजते रहने से कुछ लाभ नहीं; यह तत्त्व अगम्य है। अर्थात् इसको समझ लेना कभी भी संभव नहीं। इसलिये इसकी कल्पित नीव पर किसी शास्त्र की इमारत को खड़ा कर देना न तो संभव है और न उचित। असभ्य और जंगली मनुष्यों ने पहले पहल जब पेड़, बादल और ज्वालामुखी पर्वत आदि को देखा, तब उन लोगों ने अपने भोलेपनसे इन सब पदार्थों को देवता ही मान लिया। यह कोंट के मतानुसार, 'आधदैविक' विचार हो चुका; परन्तु मनुष्यों ने उक्त कल्पनाओं को शीघ्र ही त्याग दिया; वे समझने लगे कि इन सब पदार्थों में कुछ-न-कुछ आत्मतत्त्व

---

* फरान्स देश में आगस्ट कोंट (Auguste Comte) नामक एक बड़ा पंडित गतशताब्दी में हो चुका है। इसने समाजशास्त्रपर एक बहुत बड़ा ग्रंथ लिखकर बतलाया है, कि समाजरचना का शास्त्रीय रीति से किस प्रकार विवेचन करना चाहिये। अनेक शास्त्रों की आलोचना करके इसने यह निश्चित किया है, कि किसी भी शास्त्र को लो; उसका विवेचन पहले पहल Theological पद्धति में किया जाता है; फिर Metaphysical पद्धति से होता है; और अन्त में उसको Positive स्वरूप मिलता है। उन्हीं तीन पद्धतियों को हमने इस ग्रन्थ में आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक ये तीन प्राचीन नाम दिये हैं। ये पद्धतियाँ कुछ कोंट की निकाली हुई नहीं हैं; ये सब पुरानी ही हैं। तथापि उसने उनका ऐतिहासिक क्रम नई रीति से बाँधा है; और उनमें आधिभौतिक (Positive) पद्धति को ही श्रेष्ठ बतलाया है; बस, इतना ही कोंट का नया शोध है। कोंट के अनेक ग्रन्थों का अंग्रेज़ी में अनुवाद हो गया है।

अवश्य भरा हुआ है। कोंट के मतानुसार मानवी ज्ञान की उन्नति की वह दूसरी सीढ़ी है। इसे वह 'आध्यात्मिक' कहता है; परन्तु जब इस रीति से सृष्टि का विचार करने पर भी प्रत्यक्ष उपयोगी शास्त्रीय ज्ञान की कुछ वृद्धि नहीं हो सकी, तब अंत में मनुष्य सृष्टि के पदार्थों के दृश्य गुण-धर्मों ही का और अधिक विचार करने लगा; जिससे वह रेल और तार सरीखे उपयोगी आविष्कारों को ढूँढ कर सृष्टि पर अपना अधिक प्रभाव जमाने लग गया है। इस मार्ग को कोंट ने 'आधिभौतिक' नाम दिया है। उसने निश्चित किया है, कि किसी भी शास्त्र या विषय का विवेचन करने के लिये अन्य मार्गों की अपेक्षा यही आधिभौतिक मार्ग अधिक श्रेष्ठ और लाभकारी है। कोंट के मतानुसार समाजशास्त्र या कर्मयोगशास्त्र का तात्त्विक विचार करने के लिये इसी आधिभौतिक मार्ग का अवलम्ब करना चाहिये। इस मार्ग का अवलम्ब करके इस पंडित ने इतिहास की आलोचना की; और सब व्यवहारशास्त्रों का यही मथितार्थ निकाला है, कि इस संसार में प्रत्येक मनुष्य का परम धर्म यही है, कि वह समस्त मानव-जाति पर प्रेम रख कर सब लोगों के कल्याण के लिये सदैव प्रयत्न करता रहे। मिल और स्पेन्सर आदि अंग्रेज़ पंडित उसी मत के पुरस्कर्ता कहे जा सकते हैं। इसके उलटे कान्ट, हेगेल, शोपेनहर आदि जर्मन तत्त्वज्ञानी पुरुषों ने, नीतिशास्त्र के विवेचन के लिये इस आधिभौतिक पद्धति को अपूर्ण माना है। हमारे वेदान्तियों की नाई अध्यात्मदृष्टि से ही नीति के समर्थन करने के मार्ग को आजकल उन्होंने यूरोप में फिर भी स्थापित किया है। इसके विषय में और अधिक लिखा जायगा।

एक ही अर्थ विवक्षित होने पर भी "अच्छा और बुरा" के पर्यायवाची भिन्न भिन्न शब्दों का—जैसे "कार्य-अकार्य" और "धर्म-अधर्म" का—उपयोग क्यों होने लगा? इसका कारण यही है, कि विषय-प्रतिपादन का मार्ग या दृष्टि प्रत्येक की भिन्न भिन्न होती है। अर्जुन के सामने यह प्रश्न था, कि जिस युद्ध में भीष्म, द्रोण आदि का वध करना पड़ेगा, उसमें शामिल होना उचित है या नहीं (गी. २. ७)। यदि इसी प्रश्न के उत्तर देने का मौका किसी आधिभौतिक पंडित पर आता, तो वह पहले इस बात का विचार करता, कि भारतीय युद्ध से स्वयं अर्जुन को दृश्य हानि-लाभ कितना होगा; और कुल समाज पर उसका क्या परिणाम होगा। यह विचार करके तब उसने निश्चय किया होता, कि युद्ध करना "न्याय्य" है या "अन्याय्य"। इसका कारण यह है, कि किसी कर्म के अच्छेपन या बुरेपन का निर्णय करते समय ये आधिभौतिक पण्डित यही सोचा करते हैं, कि इस संसार में उस कर्म का आधिभौतिक परिणाम अर्थात् प्रत्यक्ष बाह्य परिणाम क्या हुआ या होगा—ये लोग इस आधिभौतिक कसौटी के सिवा और किसी साधन या कसौटी को नहीं मानते। परन्तु ऐसे उत्तर से अर्जुन का समाधान होना संभव नहीं था। उसकी दृष्टि उससे भी अधिक व्यापक थी। उसे केवल अपने सांसारिक हित का विचार नहीं करना था; किन्तु उसे पारलौकिक दृष्टिसे यह भी विचरा कर

लेना था; कि इस युद्ध का परिणाम मेरे आत्मा पर श्रेयस्कर होगा या नहीं। उसे ऐसी बातों पर कुछ भी शंका नहीं थी, कि युद्ध में भीष्म-द्रोण आदिकों का वध होने पर तथा राज्य मिलने पर मुझे ऐहिक सुख मिलेगा या नहीं; और मेरा अधिकार लोगों को दुर्योधन से अधिक सुखदायक होगा या नहीं। उसे यही देखना था, कि मैं जो कर रहा हूँ वह 'धर्म' है या अधर्म;' अथवा 'पुण्य' है या 'पाप'; और गीता का विवेचन भी इसी दृष्टि से किया गया है। केवल गीता में ही नहीं; किन्तु कई स्थानों पर महाभारत में भी कर्म-अकर्म का जो विवेचन है, वह पारलौकिक अर्थात् अध्यात्म दृष्टि से ही किया गया है। और वहाँ किसी भी कर्म का अच्छापन या बुरापन दिखलाने के लिये प्रायः सर्वत्र 'धर्म' और 'अधर्म' दो ही शब्दों का उपयोग किया गया है। परन्तु 'धर्म' और उसका प्रतियोग 'अधर्म' ये दोनों शब्द अपने व्यापक अर्थ के कारण कभी कभी भ्रम उत्पन्न कर दिया करते हैं। इसलिये यहाँ पर इस बात की कुछ अधिक मीमांसा करना आवश्यक है, कि कर्मयोगशास्त्र में इन शब्दों का उपयोग मुख्यतः किस अर्थ में किया जाता है।

नित्य व्यवहार में 'धर्म' शब्द का उपयोग केवल "पारलौकिक सुख का मार्ग" इसी अर्थ में किया जाता है। जब हम किसी से प्रश्न करते हैं, कि "तेरा कौन-सा धर्म है?" तब उससे हमारे पूछने का यही हेतु होता है, कि तू अपने पारलौकिक कल्याण के लिये किस मार्ग—वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी, या पारसी—से चलता है; और वह हमारे प्रश्न के अनुसार ही उत्तर देता है। इसी तरह स्वर्ग-प्राप्ति के लिये साधनभूत यज्ञ-याग आदि वैदिक विषयों की मीमांसा करते समय "अथातो धर्मजिज्ञासा" आदि धर्मसूत्रों में भी धर्म शब्द का यही अर्थ लिया गया है; परन्तु 'धर्म' शब्द का इतना ही संकुचित अर्थ नहीं है। इसके सिवा राजधर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म इत्यादि सांसारिक नीति-बंधनों को भी 'धर्म' कहते हैं। धर्म शब्द के इन दो अर्थों को यदि पृथक् करके दिखलाना हो, तो पारलौकिक धर्म को 'मोक्षधर्म' अथवा सिर्फ़ 'मोक्ष' और व्यावहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवल 'धर्म' कहा करते हैं। उदाहरणार्थ, चतुर्विध पुरुषों की गणना करते समय हम लोग "धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष" कहा करते हैं। इसके पहले शब्द धर्म में ही यदि मोक्ष का समावेश हो जाता, तो अन्त में मोक्ष को पृथक् पुरुषार्थ बतलाने की आवश्यकता न रहती। अर्थात् यह कहना पड़ता है, कि 'धर्म' पद से इस स्थान पर संसार के सैकड़ों नीतिधर्म ही शास्त्रकारों को अभिप्रेत हैं। उन्हीं को हम लोग आजकल कर्तव्यकर्म, नीति, नीतिधर्म अथवा सदाचरण कहते हैं; परन्तु प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में 'नीति' अथवा 'नीतिशास्त्र' शब्दों का उपयोग विशेष करके राजनीति ही के लिये किया जाता है। इसलिये पुराने ज़माने में कर्तव्यकर्म अथवा सदाचार के सामान्य विवेचन को 'नीतिप्रवचन' न कह कर 'धर्मप्रवचन' कहा करते थे। परन्तु 'नीति' और 'धर्म' दो शब्दों का यह पारिभाषिक भेद सभी संस्कृत-ग्रन्थों में नहीं माना गया है।

इसलिये हमने भी इस ग्रन्थ में 'नीति', 'कर्तव्य' और 'धर्म' शब्दों का उपयोग एक ही अर्थ में किया है; और मोक्षका विचार जिन स्थानों पर करना है, उन प्रकरणों के 'अध्यात्म' और 'भक्तिमार्ग' ये स्वतंत्र नाम रखे हैं। महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है; और जिस स्थान में कहा गया है, कि "किसी को कोई काम करना धर्म-संगत है," उस स्थान में धर्म शब्द से कर्तव्यशास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्थाशास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है; तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है, उस स्थान पर अर्थात् शान्तिपर्व के उत्तरार्ध में 'मोक्षधर्म' इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है। इसी तरह मन्वादि स्मृति-ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के विशिष्ट कर्मों अर्थात् चारों वर्णों के कर्मों का वर्णन करते समय केवल धर्म शब्द का ही अनेक स्थानों पर कई बार उपयोग किया गया है। और भगवद्गीता में भी जब भगवान् अर्जुन से यह कह कर लड़ने के लिये कहते हैं, कि "स्वधर्ममपि चाऽवेक्ष्य" (गी. २. ३१) तब—और इसके बाद "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" (गी. ३. ३५) इस स्थान पर भी—'धर्म' शब्द 'इस लोक के चातुर्वर्ण्य के धर्म" अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। पुराने ज़माने के ऋषियों ने श्रम-विभागरूप चातुर्वर्ण्य संस्था इसलिये चलाई थी, कि समाज के सब व्यवहार सरलता से होते जावें, किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग पर ही सारा बोझ न पड़ने पावे, और समाज का सभी दिशाओं से संरक्षण और पोषण भली भाँति होता रहे। यह बात भिन्न है, कि कुछ समय के बाद चारों वर्णों के लोग केवल जातिमात्रोपजीवी हो गये; अर्थात् सच्चे स्वकर्म को भूलकर वे केवल नामधारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो गये। इसमें संदेह नहीं, कि आरम्भ में यह व्यवस्था समाज-धारणार्थ ही की गई थी। और यदि चारों वर्णों में से कोई भी एक वर्ण अपना धर्म अर्थात् कर्तव्य छोड़ दें, यदि कोई वर्ण समूल नष्ट हो जाय; और उसकी स्थानपूर्ति दूसरे लोगों से न की जाय, तो कुल समाज उतना ही पंगु हो कर धीरे धीरे नष्ट भी होने लग जाता है; अथवा वह निकृष्ट अथस्था में तो अवश्य ही पहुँच जाता है। यद्यपि यह बात सच है, कि यूरोप में ऐसे अनेक समाज हैं, जिनका अभ्युदय चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के बिना ही हुआ है; तथापि स्मरण रहे; कि उन देशों में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था चाहे न हो; परन्तु चारों वर्णों के सब धर्म जाति-रूप से नहीं तो गुण-विभागरूप ही से जागृत अवश्य रहते हैं। सारांश, जब हम धर्म शब्द का उपयोग व्यावहारिक दृष्टि से करते हैं, तब हम यही देखा करते हैं, कि सब समाज का धारण और पोषण कैसे होता है। मनु ने कहा है—'असुखोदर्क' अर्थात् जिसका परिणाम दुःखकारक होता है, उस धर्म को छोड़ देना चाहिये (मनु. ४. १७६) और शान्तिपर्व के सत्यानृताध्याय (शां. १०९. १२) में धर्म-अधर्म का विवेचन करते हुए भीष्म और उनके पूर्व कर्णपर्व में श्रीकृष्ण कहते हैं—

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

"धर्म शब्द धृ (=धारण करना) धातु से बना है। धर्म से ही सब प्रजा बँधी हुई है। यह निश्चय किया गया है, कि जिससे (सब प्रजा का) धारण होता है, वही धर्म है" (म.भा. कर्ण. ६९. ५९)। यदि यह धर्म छूट जाय, तो समझ लेना चाहिये, कि समाज के सारे बंधन भी टूट गये; और यदि समाज के बंधन टूटे, तो आकर्षणशक्ति के बिना आकाश में सूर्यादि ग्रहमालाओं की जो दशा हो जाती है, अथवा समुद्र में मल्लाह के बिना नाव की जो दशा होती है, ठीक वही दशा समाज की भी हो जाती है। इसलिये उक्त शोचनीय अवस्था में पड़कर समाज को नाश से बचाने के लिये व्यासजी ने कई स्थानों पर कहा है, कि यदि अर्थ या द्रव्य पाने की इच्छा हो, तो "धर्म के द्वारा" अर्थात् समाज की रचना को न बिगाड़ते हुए प्राप्त करो; और यदि काम आदि वासनाओं को तृप्त करना हो, तो वह भी "धर्म से ही" करो। महाभारत के अन्त में यही कहा है कि :—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

"अरे! भुजा उठा कर मैं चिल्ला रहा हूँ; (परन्तु) कोई भी नहीं सुनता! धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है (इसलिये) इस प्रकार के धर्म का आचरण तुम क्यों नहीं करते हो?" अब इससे पाठकों के ध्यान में यह बात अच्छी तरह जम जायगी, कि महाभारत को जिस धर्म-दृष्टि से पाँचवाँ वेद अथवा 'धर्मसंहिता' मानते हैं, उस 'धर्मसंहिता' शब्द के 'धर्म' शब्द का मुख्य अर्थ क्या है। यही कारण है, कि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों पारलौकिक अर्थ के प्रतिपादक ग्रन्थों के साथ ही—धर्मग्रन्थ के नाते से—"नारायणं नमस्कृत्य" इन प्रतीक शब्दों के द्वारा—महाभारत का भी समावेश ब्रह्मयज्ञ के नित्यपाठ में कर दिया है।

धर्म-अधर्म के उपर्युक्त निरूपण को सुन कर कोई यह प्रश्न करे, कि यदि तुम्हें 'समाज-धारण' और दूसरे प्रकरण के सत्यानृतविवेक में कथित 'सर्वभूतहित ये दोनों तत्त्व मान्य हैं, तो तुम्हारी दृष्टि में और आधिभौतिक दृष्टि में भेद ही क्या है? क्योंकि ये दोनों तत्त्व बाह्यतः प्रत्यक्ष दिखनेवाले और आधिभौतिक ही हैं। इस प्रश्न का विस्तृत विचार अगले प्रकरणों में किया गया है। यहाँ इतना ही कहना बस है, कि यद्यपि हमको यह तत्त्व मान्य है, कि समाज-धारणा ही धर्म का मुख्य बाह्य उपयोग है; तथापि हमारे मत की विशेषता यह है, कि वैदिक अथवा अन्य सब धर्मों का जो परम उद्देश आत्म-कल्याण या मोक्ष है, उस पर भी हमारी दृष्टि बनी है। समाज-धारण को लीजिये, चाहे सर्वभूतहित ही को यदि ये बाह्योपयोगी तत्त्व हमारे आत्म-कल्याण के मार्ग में बाधा डालें, तो हमें इनकी ज़रूरत नहीं। हमारे आयुर्वेद-ग्रन्थ यदि यह प्रतिपादन करते हैं,

कि वैद्यकशास्त्र भी शरीररक्षा के द्वारा मोक्षप्राप्ति का साधन होने के कारण संग्रहणीय है; तो यह कदापि संभव नहीं, कि जिस शास्त्र में इस महत्त्व के विषय का विचार किया गया है, कि सांसारिक व्यवहार किस प्रकार करना चाहिये। उस कर्मयोगशास्त्र को हमारे शास्त्रकार आध्यात्मिक मोक्षज्ञान से अलग बतलावें। इसलिये हम समझते हैं, कि जो कर्म हमारे मोक्ष अथवा हमारी आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हो, वही पुण्य है। वही धर्म और वही शुभकर्म है; और जो कर्म उसके प्रतिकूल वही पाप, अधर्म अथवा अशुभ है। यही कारण है, कि हम 'कर्तव्य-अकर्तव्य', 'कार्य-अकार्य' शब्दों के बदले 'धर्म' और 'अधर्म' शब्दों का ही (यद्यपि वे दो अर्थ के, अतएव कुछ संदिग्ध हों, तो भी) अधिक उपयोग करते हैं। यद्यपि बाह्य-सृष्टि के व्यावहारिक कर्मों अथवा व्यापारों का विचार करना ही प्रधान विषय हो, तो भी उक्त कर्मों के बाह्य परिणाम के विचार के साथ ही साथ यह विचार भी हम लोग हमेशा किया करते हैं, कि ये व्यापार हमारे आत्मा के कल्याण के अनुकूल हैं या प्रतिकूल। यदि आधिभौतिकवादी से कोई यह प्रश्न करे, कि "मैं अपना हित छोड़ कर लोगों का हित क्यों करूँ?" तो वह इसके सिवा और क्या समाधानकारक उत्तर दे सकता है, कि "यह तो सामान्यतः मनुष्य-स्वभाव ही है।" हमारे शास्त्रकारों की दृष्टि इससे परे पहुँची हुई है; और उस व्यापक आध्यात्मिक दृष्टि ही से महाभारत में कर्मयोगशास्त्र का विचार किया गया है; एवं श्रीमद्भगवद्गीता में वेदान्त का निरूपण भी इतने ही के लिये किया गया है। प्राचीन यूनानी पंडितों की भी यही राय है, कि 'अत्यन्त हित' अथवा 'सद्गुण की पराकाष्ठा' के समान मनुष्य का कुछ-न-कुछ परम उद्देश कल्पित करके फिर उसी दृष्टि से कर्म-अकर्म का विवेचन करना चाहिये। और अरिस्टाटलने अपने नीतिशास्त्र के ग्रन्थ (१.७. ८) में कहा है, कि आत्मा के हित में ही इन सब बातों का समावेश हो जाता है। तथापि इस विषय में आत्मा के हित के लिये जितनी प्रधानता देनी चाहिये थी, उतनी अरिस्टाटल ने दी नहीं है। हमारे शास्त्रकारों में यह बात नहीं है। उन्होंने निश्चित किया है, कि आत्मा का कल्याण अथवा आध्यात्मिक पूर्णावस्था ही प्रत्येक मनुष्य का पहला और परम उद्देश है। अन्य प्रकार के हितों की अपेक्षा उसी को प्रधान जानना चाहिये; और उसी के अनुसार कर्म-अकर्म का विचार करना चाहिये। अध्यात्मविद्या को छोड़ कर कर्म-अकर्म का विचार करना ठीक नहीं है। जान पड़ता है, कि वर्तमान समय में पश्चिमी देशों के कुछ पंडितों ने भी कर्म-अकर्म के विवेचन की इसी पद्धति को स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, जर्मन तत्त्वज्ञानी कान्ट ने पहले "शुद्ध (व्यवसायात्मक) बुद्धि की मीमांसा" नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ को लिख कर फिर उसकी पूर्ति के लिये "व्यावहारिक (वासनात्मक) बुद्धि की मीमांसा" नाम का नीतिशास्त्रविषयक ग्रन्थ लिखा है; * और इंग्लैंड में भी ग्रीन ने अपने "नीतिशास्त्र के उपोद्घात" का

*कान्ट एक जर्मन तत्त्वज्ञानी था। इस अर्वाचीन तत्त्वज्ञानशास्त्र का जनक सम-

सृष्टि के मूलभूत आत्मतत्त्व से ही आरम्भ किया है। परन्तु इन ग्रन्थों के बदले केवल आधिभौतिक पंडितों के ही नीतिग्रन्थ आजकल हमारे यहाँ अंग्रेजी शालाओं में पढ़ाये जाते हैं; जिसका परिणाम यह दीख पड़ता है, कि गीता में बतलाये गये कर्मयोग शास्त्र के मूलतत्त्वों का—हम लोगों में अंग्रेज़ी सीखे हुए बहुतेरे विद्वानों को भी—स्पष्ट बोध नहीं होता।

उक्त विवेचन से ज्ञात हो जायगा, कि व्यावहारिक नीतिबंधनों के लिये अथवा समाज-धारणा की व्यवस्था के लिये हम 'धर्म' शब्द का उपयोग क्यों करते हैं। महाभारत, भगवद्गीता आदि संस्कृत-ग्रन्थों में, तथा भाषा-ग्रन्थों में भी, व्यावहारिक कर्तव्य अथवा नियम के अर्थ में धर्म शब्द का हमेशा उपयोग किया जाता है। कुलधर्म और कुलाचार, दोनों शब्द समानार्थक समझे जाते हैं। भारतीय युद्ध में एक समय कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी ने निगल लिया था; उसको उठा कर ऊपर लाने के लिये जब कर्ण अपने रथ से नीचे उतरा, तब अर्जुन उसका वध करने के लिये उद्यत हुआ। यह देख कर कर्ण ने कहा "निःशस्त्र शत्रु को मारना धर्मयुद्ध नहीं है।" इसे सुन कर श्रीकृष्ण ने कर्ण को कई पिछली बातों का स्मरण दिलाया; जैसे कि द्रौपदी का वस्त्रहरण कर लिया गया था, सब लोगों ने मिल कर अकेले अभिमन्यु का वध कर डाला था इत्यादि। और प्रत्येक प्रसंग में यह प्रश्न किया है, कि 'हे कर्ण! उस समय तेरा धर्म कहाँ गया था?' इन सब बातों का वर्णन महाराष्ट्र कवि मोरोपंत ने किया है। और महाभारत में भी इस प्रसंग पर "क्व ते धर्मस्तदा गतः" प्रश्न में 'धर्म' शब्दका ही प्रयोग किया गया है। तथा अंत में कहा गया है, कि जो इस प्रकार अधर्म करे उसके साथ उसी तरह का बर्ताव करना ही उसको उचित दण्ड देना है। सारांश, क्या संस्कृत और क्या भाषा, सभी ग्रन्थों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग उन सब नीति-नियमों के बारे में किया गया है, जो समाज-धारणा के लिये शिष्टजनों के द्वारा अध्यात्म-दृष्टि से बनाये गये हैं। इसलिये उसी शब्द का उपयोग हमने भी इस ग्रंथ में किया है। इस दृष्टि से विचार करने पर नीति के उन नियमों अथवा 'शिष्टाचार' को धर्म की बुनियाद कह सकते हैं, जो समाज-धारणा के लिये शिष्टजनों के द्वारा प्रचलित किये गये हों; और जो सर्वमान्य हो चुके हों। और, इसलिये महाभारत (अनु. १०४ १५७) में एवं स्मृति ग्रंथों में "आचार प्रभवो धर्मः" अथवा "आचारः परमो धर्मः" (मनु. १. १०८), अथवा धर्म का मूल बतलाते समय "वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः" (मनु. २.१२) इत्यादि वचन कहे हैं। परन्तु कर्मयोगशास्त्र में इतनेही से काम नहीं चल सकता; इस बात का भी पूरा और मार्मिक विचार करना पडता है, कि उक्त आचार की प्रवृत्ति ही क्यों हुई—इस आचार की प्रवृत्ति ही का कारण क्या है।

झते हैं। इसके *Critique of Pure Reason* (शुद्ध बुद्धि की मीमांसा) और *Critique of Practical Reason* (वासनात्मक बुद्धि की मीमांसा) ये दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ग्रीन के ग्रन्थ का नाम *Prolegomena to Ethics* है।

'धर्म' शब्द की दूसरी एक और व्याख्या प्राचीन ग्रन्थों में दी गई है। उसका भी यहाँ थोड़ा विचार करना चाहिये । यह व्याख्या मीमांसकों की है "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जै. सू. १. १. २) । किसी अधिकारी पुरुष का यह कहना अथवा आज्ञा करना कि "तू अमुक कर" अथवा "मत कर" 'चोदना' यानी प्रेरणा है । जब तक इस प्रकार कोई प्रबंध नहीं कर दिया जाता, तब तक कोई भी काम किसी को भी करने की स्वतंत्रता होती है । इसका आशय यही है, कि पहले पहल निबंध या प्रबंध के कारण धर्म निर्माण हुआ । धर्म की यह व्याख्या कुछ अंश में, प्रसिद्ध अंग्रेज़ ग्रन्थकार हॉब्स के मत से मिलती है । असभ्य तथा जंगली अवस्था में प्रत्येक मनुष्य का आचरण, समय समय पर उत्पन्न होनेवाली मनोवृत्तियों की प्रबलता के अनुसार हुआ करता है। परन्तु धीरे धीरे कुछ समय के बाद यह मालूम होने लगता है, कि इस प्रकार का मनमाना बर्ताव श्रेयस्कर नहीं है; और यह विश्वास होने लगता है, कि इंद्रियों के स्वाभाविक व्यापारों की कुछ मर्यादा निश्चित करके उसके अनुसार बर्ताव करने ही में सब लोगों का कल्याण है । तब प्रत्येक मनुष्य ऐसी मर्यादाओं का पालन क़ायदे के तौर पर करने लगता है; जो शिष्टाचार से, अन्य रीति से, सुदृढ हो जाया करती हैं । जब इस प्रकार की मर्यादाओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है तब उन्हीं का एक शास्त्र बन जाता है । पूर्व समय में विवाह-व्यवस्था का प्रचार नहीं था । पहले पहल उसे श्वेतकेतु ने चलाया; और पिछले प्रकरण में बतलाया गया है, कि शुक्राचार्य ने मदिरापान को निषिद्ध ठहराया । यह न देख कर, कि इन मर्यादाओं को नियुक्त करने में श्वेतकेतु अथवा शुक्राचार्य का क्या हेतु था; केवल किसी एक बात पर ध्यान दे कर, कि इन मर्यादाओं के निश्चित करने का काम या कर्तव्य इन लोगों को करना पड़ा; धर्म शब्द की "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" व्याख्या बनाई गई है । धर्म भी हुआ तो पहले उसका महत्त्व किसी व्यक्ति के ध्यान में आता है; और तभी उसकी प्रवृत्ति होती है । 'खाओ-पीओ, चैन करो' ये बातें किसी को सिखलानी नहीं पड़तीं; क्योंकि ये इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्म ही हैं । मनुजी ने जो कहा है, कि "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने" (मनु. ५. ५६)—अर्थात् मांस भक्षण करना अथवा मद्यपान और मैथुन करना कोई सृष्टिकर्म-विरुद्ध दोष नहीं है—उसका तात्पर्य भी यही है । ये सब बातें मनुष्य ही के लिये नहीं, किन्तु प्राणिमात्र के लिये स्वाभाविक हैं—"प्रवृत्तिरेषा भूतानाम् ।" समाज-धारण के लिये अर्थात् सब लोगों के सुख के लिये इस स्वाभाविक आचरण का उचित प्रतिबंध करना ही धर्म है । महाभारत (शां. २९४, २९) में भी कहा है :—

> आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
> धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।

अर्थात् "आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्यों और पशुओंके लिये एक ही

समान स्वाभाविक हैं। मनुष्यों और पशुओं में कुछ भेद है तो केवल धर्म का (अर्थात् इन स्वाभाविक वृत्तियों को मर्यादित करने का)। जिस मनुष्य में यह धर्म नहीं है, वह पशु के समान ही है।" आहारादि स्वाभाविक वृत्तियों को मर्यादित करने के विषय में भागवत का श्लोक पिछले प्रकरण में दिया गया है। इसी प्रकार भगवद्गीता में भी जब अर्जुन से भगवान् कहते हैं (गी. ३. ३४)--

> इंद्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
> तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपंथिनौ॥

"प्रत्येक इंद्रिय में, अपने अपने उपभोग्य अथवा त्याज्य पदार्थ के विषय में, जो प्रीति अथवा द्वेष होता है, वह स्वभावसिद्ध है। इनके वश में हमें नहीं होना चाहिये। क्योंकि राग और द्वेष दोनों हमारे शत्रु हैं" तब भगवान् भी धर्म का वही लक्षण स्वीकार करते हैं, जो स्वाभाविक मनोवृत्तियों को मर्यादित करने के विषय में ऊपर दिया गया है। मनुष्य की इन्द्रियाँ उसे पशु के समान आचरण करने के लिये कहा करती हैं; और उसकी बुद्धि उसके विरुद्ध दिशा में खींचा करती है। इस कलहाग्नि में जो लोग अपने शरीर में संचार करनेवाले पशुत्व का यज्ञ करके कृतकृत्य (सफल) होते हैं, उन्हें ही सच्चा याज्ञिक कहना चाहिये; और वेही धन्य भी हैं।

धर्म को "आचार-प्रभव" कहिये, "धारणात्" धर्म मानिये अथवा "चोदनालक्षण" धर्म समझिये; धर्म की यानी व्यावहारिक नीतिबंधनों की, कोई भी व्याख्या लीजिये; परन्तु जब धर्म-अधर्म का संशय उत्पन्न होता है, तब उसका निर्णय करने के लिये उपर्युक्त तीनों लक्षणों का कुछ उपयोग नहीं होता। पहली व्याख्या से सिर्फ़ यह मालम होता है, कि धर्म का मूलस्वरूप क्या है; उसका बाह्य उपयोग दूसरी व्याख्या से मालूम होता है; और तीसरी व्याख्यासे यही बोध होता है, कि पहले पहल किसी ने धर्म की मर्यादा निश्चित कर दी है; परन्तु अनेक आचारों में भेद पाया जाता है। एक ही कर्म के अनेक परिणाम होते हैं; और अनेक ऋषियों की आज्ञा अर्थात् "चोदना" भी भिन्न भिन्न है। इन कारणों से संशय के समय धर्म-निर्णय के लिये किसी दूसरे मार्ग को ढूँढने की आवश्यकता होती है। यह मार्ग कौन--सा है? यही प्रश्न यक्ष ने युधिष्ठिर से किया था। उस पर युद्धिष्ठिर ने उत्तर दिया है कि---

> तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
> धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथाः॥

"यदि तर्क को देखें तो वह चंचल है, अर्थात् जिसकी बुद्धि जैसी तीव्र होती है, वैसे ही अनेक प्रकार के अनेक अनुमान तर्क से निष्पन्न हो जाते हैं। श्रुति अर्थात् वेदाज्ञा देखी जाय, तो वह भी भिन्न भिन्न हैं; और यदि स्मृतिशास्त्र को देखें तो ऐसा एक भी ऋषि नहीं है, जिसका वचन अन्य ऋषियों की अपेक्षा अधिक प्रमाण-भूत समझा जाय। अच्छा, (इस व्यावहारिक) धर्म का मूलतत्त्व देखा जाय,

तो वह भी अंधकार में छिपा गया है अर्थात् वह साधारण मनुष्यों की समझ में नहीं आ सकता। इसलिये महाजन जिस मार्ग से गये हों, वही (धर्म का) मार्ग है" (म. भा. बन. ३१२. ११५)। ठीक है! परन्तु महा-जन किस को कहना चाहिये? उसका अर्थ "बड़ा अथवा बहुतसा जनसमूह" नहीं हो सकता। क्योंकि जिन साधारण लोगों के मन में धर्म-अधर्म की शंका भी उत्पन्न नहीं होती, उनके बतलाये मार्ग से जाना मानों कठोपनिषद में वर्णित "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः"–वाली नीति ही को चरितार्थ करना है। अब यदि महा-जन का अर्थ 'बड़े बड़े सदाचारी पुरुष' लिया जाय––और यही अर्थ उक्त श्लोक में अभिप्रेत है––तो उन महा-जनों के आचरण में भी एकता कहाँ है? निष्पाप श्रीरामचन्द्र ने अग्निद्वारा शुद्ध हो जाने पर भी अपनी पत्नी का त्याग केवल लोकापवादके ही लिये किया; और सुग्रीव को अपने पक्ष में मिलाने के लिये उससे "तुल्यारिमित्र"––अर्थात् जो तेरा शत्रु वही मेरा शत्रु; और जो तेरा मित्र वही मेरा मित्र; इस प्रकार संधि करके बेचारे वाली का वध किया; यद्यपि उसने श्रीरामचन्द्र का कुछ अपराध नहीं किया था। परशुराम ने तो पिता की आज्ञा से प्रत्यक्ष अपनी माता का शिरच्छेद कर डाला। यदि पाण्डवों का आचरण देखा जाय तो पाँचों की एक ही स्त्री थी। स्वर्ग के देवताओं को देखें तो कोई अहल्या का सतीत्व भ्रष्ट करनेवाला है, और कोई (ब्रह्मा) मृगरूप से अपनी ही कन्या का अभिलाष करने के कारण रुद्र के बाण से विद्ध हो कर आकाश में पड़ा हुआ है (ऐ. ब्रा. ३. ३३)। इन्हीं बातों को मन में ला कर उत्तररामचरित्र नाटक में भवभूतिने लव के मुख से कहलाया है, कि "वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताः" इन वृद्धों के कृत्यों का बहुत विचार नहीं करना चाहिये। अंग्रेजी में शैतान का इतिहास लिखनेवाले एक ग्रन्थकार ने लिखा है, कि शैतान के साथियों और देवदूतों के झगड़ों का हाल देखने से मालूम होता है, कि कई बार देवताओं ने ही दैत्यों को कपटजाल में फँसा लिया है। इसी प्रकार कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् (कौषी. ३. १ और ए. ब्रा. ७. २८ देखो) में इन्द्र प्रतर्दन से कहता है, कि "मैंने वृत्र को (यद्यपि वह ब्राह्मण था) मार डाला; अरुन्मुख संन्यासियों के टुकड़े टुकड़े करके भेड़ियों को (खाने के लिये) दिये; और अपनी कई प्रतिज्ञाओं का भंग करके प्रल्हाद के नाते–दारों और गोत्रजों का तथा पौलोम और कालखंज नामक दैत्यों का वध किया। (इससे) मेरा एक बाल भी बाँका नहीं हुआ–"तस्य मे तत्र न लोम च मा मीयते!" यदि कोई कहे, कि तुम्हें इन महात्माओं के बुरे कर्मों की ओर ध्यान देने का कुछ भी कारण नहीं है; जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् (१. ११. २) में बतलाया है; उनके जो कर्म अच्छे हों, उन्हीं का अनुकरण करो; और सब छोड़ दो। उदाहरणार्थ, परशुराम के समान पिता की आज्ञा का पालन करो; परन्तु माता की हत्या मत करो"; तो वही पहला प्रश्न फिर भी उठता है, कि बुरा कर्म और भला कर्म समझने के लिये साधन है क्या? इसलिये अपनी करनी का उक्त प्रकार से वर्णन कर

इन्द्र प्रतर्दन से फिर कहता है, कि "जो पूर्ण आत्मज्ञानी है, उसे मातृवध, पितृवध, भ्रूणहत्या अथवा स्तेय (चोरी) इत्यादि किसी भी कर्म का दोष नहीं लगता। इस बात को तू भली भाँति समझ ले; और फिर यह भी समझ ले, कि आत्मा किसे कहते हैं—ऐसा करने से तेरे सारे संशयों की निवृत्ति हो जायगी!" इसके बाद इन्द्र ने प्रतर्दन को आत्मविद्या का उपदेश दिया। सारांश यह है, कि "महाजनो येन गतः स पन्थाः" यह युक्ति यद्यपि सामान्य लोगों के लिये सरल है, तो भी सब बातों में इससे निर्वाह नहीं हो सकता; और अन्त में महाजनों के आचरण का सच्चा तत्त्व कितना भी गूढ हो, तो भी आत्मज्ञान में घुस कर विचारवान् पुरुषों को उसे ढूँढ निकालना ही पड़ता है। "न देवचरितं चरेत्" —देवताओं के केवल बाहरी चरित्र के अनुसार आचरण नहीं करना चाहिये—इस उपदेशका रहस्य भी यही है। इसके सिवा कर्म-अकर्म का निर्णय करने के लिये कुछ लोगों ने एक और सरल युक्ति बतलाई है। उनका कहना है, कि कोई भी सद्गुण हो, उसकी अधिकता न होने देने के लिये हमें हमेशा यत्न करते रहना चाहिये; क्योंकि इस अधिकता से ही अन्त में सद्गुण दुर्गुण बन बैठता है। जैसे, देना सचमुच सद्गुण है; परन्तु "अतिदानाद्बलिर्बद्धः" दान– की अधिकता होने से ही राजा बलि फँस गया। प्रसिद्ध यूनानी पण्डित अरिस्टाटल ने अपने नीतिशास्त्र के ग्रन्थ में कर्म-अकर्म के निर्णय की यही युक्ति बतलाई है; और स्पष्टतया दिखलाया है, कि प्रत्येक सद्गुण की अधिकता होने पर दुर्दशा कैसे हो जाती है। कालिदास ने भी रघुवंश में वर्णन किया है, कि केवल शूरता व्याघ्र सरीखे श्वापद का क्रूर काम है, और केवल नीति भी डरपोकपन है; सलिये अतिथि राजा तलवार और राजनीति के योग्य मिश्रण से अपने राज्य का प्रबन्ध करता था (रघु. १७. ४७)। भर्तृहरि ने भी कुछ गुण-दोषों का वर्णन कर कहा है; कि यदि जादा बोलना वाचालता का लक्षण है, और कम बोलना घुम्मापन है, जादा खर्च करें तो उडाऊ और कम करें तो कंजूस, आगे बढ़ें तो दुःसाहसी और पीछे हटें तो ढीला, अतिशय आग्रह करें तो जिद्दी और न करें तो चंचल, जादा खुशामद करें तो नीच और ऐंठ दिखलावे तो घमंडी है; परन्तु इस प्रकार की स्थूल कसौटीसे अन्त तक निर्वाह नहीं हो सकता। क्योंकि, 'अति' किसे कहते हैं और 'नियमित' किसे कहते हैं—इसका भी तो कुछ निर्णय होना चाहिये न; तथा, यह निर्णय कौन किस प्रकार करे? किसी एक को अथवा किसी एक मौक़े पर जो बात 'अति, होगी वही दूसरे को, अथवा दूसरे मौक़े पर कम हो जायगी। हनुमानजी को पैदा होते ही सूर्य को पकड़ने के लिये उड्डान मारना कोई कठिन काम नहीं मालूम पड़ा (वा. रामा. ७. ३५); परन्तु यही बात औरों के लिये कठिन क्या, असंभव जान पडती है। इसलिय जब धर्म-अधर्म के विषय में संदेह उत्पन्न हो तब प्रत्येक मनुष्य को ठीक वैसा ही निर्णय करना पडता है, जैसा श्येनने राजा शिबि से कहा है:—

अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ।
विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम् ।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत् ॥

अर्थात् परस्पर-विरुद्ध-धर्मों का तारतम्य अथवा लघुता और गुरुता देख कर ही, प्रत्येक मौक़े पर, अपनी बुद्धि के द्वारा सच्चे धर्म अथवा कर्म का निर्णय करना चाहिये (म.भा. वन. १३१. ११, १२ और मनु. ६. २९९ देखो) । परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता, कि इतने ही से धर्म-अधर्म के सार-असार का विचार करना ही शंका के समय, धर्म-निर्णय की एक सच्ची कसौटी है । क्योंकि व्यवहार में अनेक बार देखा जाता है, कि अनेक पंडित लोग अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार सार-असार का विचार भी भिन्न भिन्न प्रकार से किया करते हैं; और एक ही बात की नीतिमत्ता का निर्णय भी भिन्न रीति से किया करते हैं । यही अर्थ उपर्युक्त "तर्कोऽप्रतिष्ठः" वचन में कहा गया है । इसलिये अब हमें यह जानना चाहिये, कि धर्म-अधर्म-संशय के इन प्रश्नों का अचूक निर्णय करने के लिये अन्य कोई साधन या उपाय हैं या नहीं; यदि हैं तो कौन से हैं; और यदि अनेक उपाय हों तो उनमें श्रेष्ठ कौन है । बस, इस बात का निर्णय कर देना ही शास्त्र का काम है । शास्त्र का यही लक्षण भी है, कि "अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्" अर्थात् अनेक शंकाओं के उत्पन्न होने पर, सब से पहले उन विषयों के मिश्रण को अलग कर दें, जो समझ में नहीं आ सकते हैं; फिर उसके अर्थ को सुगम और स्पष्ट कर दें; और जो बातें आँखों से दीख न पड़ती हों उनका, अथवा आगे होनेवाली बातों का भी यथार्थ ज्ञान करा दें । जब हम इस बात को सोचते हैं, कि ज्योतिषशास्त्रके सीखने से आगे होनेवाले ग्रहणों का भी सब हाल मालूम हो जाता है, तब उक्त लक्षण के "परोक्षार्थस्य दर्शकम्" इस दूसरे भाग की सार्थकता अच्छी तरह दीख पड़ती है । परन्तु अनेक संशयों का समाधान करने के लिये पहले यह जानना चाहिये, कि वे कौन-सी शंकाएँ हैं । इसीलिये प्राचीन और अर्वाचीन ग्रंथकारों की यह रीति है, कि किसी भी शास्त्र का सिद्धान्तपक्ष बतलाने के पहले उस विषय में जितने पक्ष हो गये हों, उनका विचार करके उनके दोष और उनकी न्यूनताएँ दिखलाई जाती हैं । इसी रीतिका स्वीकार गीतामें कर्मअकर्म निर्णय के लिये प्रतिपादन किया हुआ सिद्धान्त-पक्षीय योग अर्थात् युक्ति बतलाने के पहले, इसी काम के लिये जो अन्य युक्तियाँ पंडित लोग बतलाया करते हैं, उनका भी अब हम विचार करेंगे । यह बात सच है, कि ये युक्तियाँ हमारे यहाँ पहले विशेष प्रचार में न थीं; विशेष करके पश्चिमी पंडितों ने ही वर्तमान समय में उनका प्रचार किया है; परन्तु इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता, कि उनकी चर्चा इस ग्रन्थ में न की जावे । क्योंकि न केवल तुलना ही के लिये, किन्तु गीता के आध्यात्मिक कर्मयोग का महत्त्व ध्यान में आने के लिये भी इन युक्तियों को—संक्षेप में भी क्यों न हो—जान लेना अत्यन्त आवश्यक है ।

चौथा प्रकरण।

आधिभौतिक सुखवाद।

दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्। *

महाभारत, शांति. १३९. ६१।

मनु आदि शास्त्रकारों ने "अहिंसा सत्यमस्तेयं" इत्यादि जो नियम बनाये हैं उनका कारण क्या है, वे नित्य हैं कि अनित्य, उनकी व्याप्ति कितनी है, उनका मूलतत्त्व क्या है, यदि इनमें से कोई दो परस्परविरोधी धर्म एक ही समयमें आ पड़े तो किस मार्ग का स्वीकार करना चाहिये? इत्यादि प्रश्नों का निर्णय ऐसी सामान्य युक्तियों से नहीं हो सकता, जो "महाजनो येन गतः स पंथाः" या "अति सर्वत्र वर्जयेत्" आदि वचनों से सूचित होती हैं। इसलिये अब यह देखना चाहिये, कि इन प्रश्नों का उचित निर्णय कैसे हो; और श्रेयस्कर मार्ग के निश्चित करने के लिये निर्भ्रान्त युक्ति क्या है; अर्थात् यह जानना चाहिये, कि परस्पर-विरुद्ध धर्मों की लघुता और गुरुता – न्यूनाधिक महत्ता–किस दृष्टि से निश्चित की जावे। अन्य शास्त्रीय प्रतिपादनों के अनुसार कर्म-अकर्म-विवेचनसंबंधी प्रश्नों की भी चर्चा करने के तीन मार्ग हैं; जैसे: आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। इनके भेदों का वर्णन पिछले प्रकरण में कर चुके हैं। हमारे शास्त्रकारों के मतानुसार आध्यात्मिक मार्ग ही इन सब मार्गोंमें श्रेष्ठ है; परन्तु अध्यात्म मार्ग का महत्त्व पूर्ण रीति से ध्यान में जँचने के लिये दूसरे दोन मार्गों का भी विचार करना आवश्यक है; इसलिये पहले इस प्रकरण में कर्म-अकर्म-परीक्षा के आधिभौतिक मूलतत्त्वों की चर्चा की गई है। जिन आधिभौतिक शास्त्रों की आजकल बहुत उन्नति हुई है, उनमें व्यक्त पदार्थों के बाहय और दृश्य गुणों ही का विचार विशेषता से किया जाता है। इसलिये जिन लोगों ने आधिभौतिक शास्त्रों के अध्ययन ही में अपनी उम्र बिता दी है; और जिनको इस शास्त्र की विचारपद्धति का अभिमान है, उन्हें बाहय परिणामों के ही विचार करने की आदत–सी पड़ जाती है। इसका परिणाम यह होता है, कि उनकी तत्त्वज्ञानदृष्टि थोड़ी-बहुत संकुचित हो जाती है; और किसी भी बात का विचार करते समय वे लोग आध्यात्मिक, पारलौकिक, अव्यक्त या अदृश्य कारणों को विशेष महत्त्व नहीं देते। परन्तु यद्यपि वे लोग उक्त कारण से आध्यात्मिक और पारलौकिक दृष्टि को छोड़ दें, तथापि उन्हें यह मानना पड़ेगा, कि मनुष्य के सांसारिक व्यवहारों को सरलतापूर्वक चलाने और लोकसंग्रह करने के लिये नीति-नियमों की अत्यन्त आवश्यकता है। इसी लिये हम देखते हैं, कि उन पंडितों को भी कर्मयोगशास्त्र बहुत

* "दुःख से सभी छड़कते हैं और सुख की इच्छा सभी करते हैं।"

महत्त्व का मालूम होता है,कि जो लोग पारलौकिक विषयों पर अनास्था रखते हैं; या जिन लोगों का अव्यक्त अध्यात्मज्ञान में (अर्थात् परमेश्वर में भी) विश्वास नहीं है । ऐसे पंडितोंने पश्चिमी देशोंमें इस बातकी बहुत चर्चा की है -- और वह चर्चा अब तक जारी है–कि केवल आधिभौतिक शास्त्र की रीति से (अर्थात् केवल सांसारिक दृश्य युक्तिवाद से ही) कर्म-अकर्म-शास्त्र की उपपत्ति दिखलाई जा सकती है या नहीं। इस चर्चा से उन लोगोंने यह निश्चय किया है, कि नीतिशास्त्र का विवेचन करने में अध्यात्मशास्त्र की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। किसी कर्म के भले या बुरे होने का निर्णय उस कर्म के बाह्य परिणामों से–जो प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं–किया जाना चाहिये; और ऐसा ही किया भी जाता है । क्योंकि, मनुष्य जो जो कर्म करता है। वह सब सुख के लिये या दुःख-निवारणार्थ ही किया करता है । और तो क्या 'सब मनुष्यों का सुख' ही ऐहिक परमोद्देश है; और यदि सब कर्मों का अंतिम दृश्य फल इस प्रकार निश्चित है, तो नीति-निर्णय का सच्चा मार्ग यही होना चाहिये, कि सब कर्मों की नीतिमत्ता निश्चित की जावे। जबकि व्यवहार में किसी वस्तु का भला-बुरापन केवल बाहरी उपयोग ही से निश्चित किया जाता है--जैसे, जो गाय छोटे सींगोंवाली और सीधी हो कर भी अधिक दूध देती है वही अच्छी समझी जाती है-- तब इसी प्रकार जिस कर्म से सुख-प्राप्ति या दुःख-निवारणात्मक बाह्य फल अधिक हो, उसी को नीति की दृष्टि से भी श्रेयस्कर समझना चाहिये । जब हम लोगों को केवल बाह्य और दृश्य परिणामों की लघुता-गुरुता देख कर नीतिमत्ता के निर्णय करने की यह सरल और शास्त्रीय कसौटी प्राप्त हो गई है, तब उसके लिये आत्म-अनात्म के गहरे विचार-सागर में चक्कर खाते रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। "अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्" *--पास ही में मधु मिल जाय तो मधुमक्खी के छत्ते की खोज के लिये जंगल में क्यों जाना चाहिये? किसी भी कर्म के केवल बाह्य फल को देख कर नीति और अनीति का निर्णय करनेवाले उक्त पक्ष को हमने "आधिभौतिक सुखवाद" कहा है। क्यों कि नीतिमत्ता का निर्णय करने के लिये इस मत के अनुसार जिन सुख-दुःखों का विचार किया जाता है, वे सब प्रत्यक्ष दिखलानेवाले, और केवल बाह्य अर्थात् बाह्यपदार्थों का इंद्रियों के साथ संयोग होने पर उत्पन्न होनेवाले, यानी आधिभौतिक हैं; और यह पंथ भी सब संसार का केवल आधिभौतिक दृष्टि से विचार करनेवाले पंडितों से ही चलाया गया है । इसका विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में करना असंभव है--भिन्न भिन्न ग्रन्थकारों के

---

*कुछ लोग इस श्लोक में 'अर्क' 'शब्दसे' 'आक या मदार के पेड़' का भी अर्थ लेते हैं। परंतु ब्रह्मसूत्र ३.४.३. के शांकरभाष्य की टीका में आनन्दगिरि ने अर्क शब्द का अर्थ 'समीप' किया है। इस श्लोक का दूसरा चरण यह है:-- सिद्धस्यार्थस्य संप्राप्तौ को विद्वान्यत्नमाचरेत्।"

मतों का सिर्फ़ सारांश देने के लिये ही एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखना पड़ेगा। इसलिये श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के कर्मयोगशास्त्र का स्वरूप और महत्त्व पूरी तौर से ध्यान में आ जाने के लिये नीतिशास्त्र के इस आधिभौतिक पंथ का जितना स्पष्टीकरण अत्यावश्यक है, उतना ही संक्षिप्त रीति से इस प्रकरण में एकत्रित किया गया है। इससे अधिक बातें जानने के लिये पाठकों को पश्चिमी विद्वानों के मूलग्रन्थ ही पढ़ना चाहिये। ऊपर कहा गया है, कि परलोक के विषय में आधिभौतिकवादी उदासीन रहा करते हैं; परन्तु इसका यह मतलब नहीं है, कि इस पंथ के सब विद्वान् लोग स्वार्थ-साधक, अपस्वार्थी अथवा अनीतिमान् हुआ करते हैं। यदि इन लोगों में पारलौकिक दृष्टि नहीं है तो न सही। ये मनुष्य के कर्तव्य के विषय में यही कहते हैं, कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी ऐहिक दृष्टि ही को—जितनी बन सके उतनी—व्यापक बना कर समूचे जगत् के कल्याण के लिये प्रयत्न करना चाहिये। इस तरह अंतःकरण से पूर्ण उत्साह के साथ उपदेश करनेवाले कोन्ट, मिल, स्पेन्सर आदि सात्त्विक वृत्ति के अनेक पंडित इस पन्थ में हैं; और उनके ग्रन्थ अनेक प्रकार के उदात्त और प्रगल्भ विचारों से भरे रहने के कारण सब लोगों के पढ़ने योग्य हैं। यद्यपि कर्मयोगशास्त्र के पन्थ भिन्न हैं, तथापि जब तक "संसार का कल्याण" यह बाहरी उद्देश छूट नहीं गया है तब तक भिन्न रीति से नीतिशास्त्र का प्रतिपादन करनेवाले किसी मार्ग या पंथ का उपहास करना अच्छी बात नहीं है। अस्तु; आधिभौतिकवादियों में इस विषय पर मतभेद है, कि नैतिक कर्म-अकर्म का निर्णय करने के लिये जिस आधिभौतिक बाह्य सुख का विचार करना है वह किसका है? स्वयं अपना है या दूसरे का; एक ही व्यक्ति का है, या अनेक व्यक्तियों का? अब संक्षेप में इस बात का विचार किया जायगा, कि नये और पुराने सभी आधिभौतिक-वादियों के मुख्यतः कितने वर्ग हो सकते हैं, और उनके ये पंथ कहाँ तक उचित अथवा निर्दोष हैं।

इनमें से पहला वर्ग केवल स्वार्थ-सुखवादियों का है। उस पंथ का कहना है, कि परलोक और परोपकार सब झूठ है, आध्यात्मिक धर्मशास्त्रों को चालाक लोगों ने अपना पेट भरने के लिये लिखा है। इस दुनिया में स्वार्थ ही सत्य है, और जिस उपाय से स्वार्थ-सिद्धि हो सके, अथवा जिसके द्वारा स्वयं अपने आधिभौतिक सुख की वृद्धि हो उसी को न्याय्य, प्रशस्त या श्रेयस्कर समझना चाहिये। हमारे हिंदुस्थान में बहुत पुराने समय में चार्वाक ने बड़े उत्साह से इस मत का प्रतिपादन किया था और रामायण में जाबालि ने अयोध्याकांड के अंत में श्रीरामचंद्रजी को जो कुटिल उपदेश दिया है वह, तथा महाभारत में वर्णित कणिक-नीति (म.भा. आ. १४२) भी इसी मार्ग की है। चार्वाक का मत है, कि जब पञ्चमहाभूत एकत्र होते हैं, तब उसके मिलाप से आत्मा नाम का एक गुण उत्पन्न हो जाता है; और देह के जलने पर उसके साथ साथ वह भी जल जाता है। इसलिये विद्वानों का कर्तव्य है, कि आत्मविचार के झंझट में न पड़ कर जब तक यह शरीर जीवित अवस्था में है, तब तक "ऋण ले कर भी त्योहार मनावें"—ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्—क्योंकि

मरने पर कुछ नहीं है। चार्वाक हिन्दुस्थान में पैदा हुआ था, इसलिये उसने घृत ही से अपनी तृष्णा बुझा ली। नहीं तो उक्त सूत्र का रूपान्तर " ऋणं कृत्वा सुरां पिबेत् " हो गया होता। कहाँ का धर्म और कहाँ का परोपकार! इस संसार में जितने पदार्थ परमेश्वर ने,--शिव, शिव! भूल हो गई! परमेश्वर आया कहाँ से?--इस संसार में जितने पदार्थ हैं, वे सब मेरे ही उपयोग के लिये हैं। उनका दूसरा कोई भी उपयोग नहीं दिखाई पड़ता--अर्थात् हैं ही नहीं! मैं मरा कि दुनिया डूबी! इसलिये जब तक मैं जीता हूँ, तब तक आज यह तो कल वह; इस प्रकार सब कुछ अपने अधीन करके अपनी सारी काम-वासनाओं को तृप्त कर लूँगा। यदि मैं तप करूँगा, अथवा कुछ दान दूँगा तो वह सब मैं अपने महत्त्व को बढ़ाने ही के लिये करूँगा; और यदि मैं राजसूय या अश्वमेध यज्ञ करूँगा तो उसे मैं यही प्रगट करने के लिये करूँगा, कि मेरी सत्ता या अधिकार सर्वत्र अबाधित है। सारांश इस जगत् का "मैं ही केन्द्र हूँ; और केवल यही सब नीतिशास्त्रों का रहस्य है। बाकी सब झूठ है। ऐसे ही आसुरी मताभिमानियों का वर्णन गीता के सोलहवें अध्याय में किया गया है--ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी" (गीता १६. १४)--मैं ही ईश्वर, मैं ही भोगनेवाला; और मैं ही सिद्ध बलवान् और सुखी हूँ। यदि श्रीकृष्ण के बदले जाबालि के समान इस पन्थवाला को आदमी अर्जुन को उपदेश करने के लिये होता, तो वह पहले अर्जुन के कान मल कर यह बतलाता, कि "अरे तू मूर्ख तो नहीं है? लड़ाई में सब को जीत कर अनेक प्रकारके राजभोग और विलासोंके भोगने का यह बढ़िया मौका पाकर भी तू 'यह करूँ कि वह करूँ!' इत्यादि व्यर्थ भ्रम में कुछ-का-कुछ बक रहा है। यह मौक़ा फिर से मिलने का नहीं। कहाँ के आत्मा और कहाँ के कुटुम्बियों के लिये बैठा है। उठ, तैयार हो; सब लोगों को ठोक पीट कर सीधा कर दे; और हस्तिनापुर के साम्राज्य का सुख से निष्कंटक उपभोग कर! इसी में तेरा परम कल्याण है। स्वयं अपने दृश्य तथा ऐहिक सुख के सिवा इस संसार में और रखा क्या है?" परन्तु अर्जुन ने इस घृणित, स्वार्थ-साधक और आसुरी उपदेश की प्रतीक्षा नहीं की—उसने पहले ही श्रीकृष्ण से कह दिया कि:--

एतान्न हंतुमिच्छामिघ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराजस्य हेतोः किं नु महीकृते।

"पृथ्वी का ही क्या, परन्तु यदि तीनों लोकों का राज्य (इतना बड़ा विषय-सुख) भी (इस युद्ध के द्वारा) मुझे मिल जाय, तो भी मैं कौरवों को मारना नहीं चाहता। चाहे वे मेरी भले ही गर्दन उड़ा दें!" (गी. १. ३५)। अर्जुन ने पहले ही से जिस स्वार्थपरायण और आधिभौतिक सुखवाद का इस तरह निषेध किया है, उस आसुरी मत का केवल उल्लेख करना ही उसका खंडन करना कहा जा सकता है। दूसरों के हित-अनहित की कुछ भी परवाह न करके सिर्फ़ अपने खुद के विषयोपभोगसुख को परम-पुरुषार्थ मान कर नीतिमत्ता और धर्म को गिरा देने-

वाले आधिभौतिकवादियों की यह अत्यन्त कनिष्ठ श्रेणी कर्मयोगशास्त्र के सब ग्रन्थकारों के द्वारा और सामान्य लोगों के द्वारा भी बहुत ही अनीति की त्याज्य और गर्ह्य मानी गई है। अधिक क्या कहा जाय, यह पंथ नीतिशास्त्र अथवा नीति-विवेचन के नाम को भी पात्र नहीं है। इसलिये इसके बारे में अधिक विचार न करके आधिभौतिकसुखवादियों के दूसरे वर्ग की ओर ध्यान देना चाहिये।

खुल्लमखुल्ला या प्रगट स्वार्थ संसार में चल नहीं सकता। क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है, कि यद्यपि आधिभौतिक विषयसुख प्रत्येक को इष्ट होता है; तथापि जब हमारा सुख अन्य लोगों के सुखोपभोग में बाधा डालता है, तब वे लोग बिना विघ्न किये नहीं रहते। इसलिये दूसरे कई आधिभौतिक पंडित प्रतिपादन किया करते हैं, कि यद्यपि स्वयं अपना सुख या स्वार्थ-साधन ही हमेशा उद्देश है, तथापि सब लोगों को अपने ही समान रिआयत दिये बिना सुख का मिलना सम्भव नहीं है। इसलिये अपने सुख के लिये ही दूरदर्शिता के साथ अन्य लोगों के सुख की ओर भी ध्यान देना चाहिये। इन आधिभौतिकवादियों की गणना हम दूसरे वर्ग में करते हैं। बल्कि यह कहना चाहिये, कि नीति की आधिभौतिक उपपत्ति का यथार्थ आरम्भ यहीं से होता है। क्योंकि इस वर्ग के लोग चार्वाक के मतानुसार यह नहीं कहते, कि समाज-धारणा के लिये नीति के बन्धनों की कुछ आवश्यकता ही नहीं है। किंतु इन लोगों ने अपनी विचार-दृष्टि से इस बात का कारण बतलाया है, कि सभी लोगों को नीति का पालन क्यों करना चाहिये। इनका कहना यह है, कि यदि इस बात का सूक्ष्म विचार किया जाय, कि संसार में अहिंसा-धर्म कैसे निकला और लोग उसका पालन क्यों करते हैं; तो यही मालूम होगा, कि ऐसे स्वार्थमूलक भय के सिवा उसका कुछ दूसरा आदिकारण नहीं है, जो इस वाक्य से प्रगट होता है—"यदि मैं लोगों को मारूँगा तो वे मुझे भी मार डालेंगे; और फिर मुझे अपने सुखों से हाथ धोना पड़ेगा।" अहिंसा-धर्म के अनुसार ही अन्य सब धर्म भी इसी या ऐसे ही स्वार्थमूलक कारणों से प्रचलित हुए हैं। हमें दुःख हुआ, तो हम रोते हैं; और दूसरों को हुआ, तो हमें दया आती है। क्यों? इसी लिये न, कि हमारे मन में यह डर पैदा होता है, कि कहीं भविष्य में हमारी भी ऐसी ही दुःखमय अवस्था न हो जाय। परोपकार, उदारता, दया, ममता, कृतज्ञता, नम्रता, मित्रता इत्यादि जो गुण लोगों के सुख के लिये आवश्यक मालूम होते हैं, वे सब—यदि उनका मूलस्वरूप देखा जाय तो—अपने ही दुःखनिवारणार्थ हैं। कोई किसी की सहायता करता है, या कोई किसी को दान देता है। क्यों? इसी लिये न, कि जब हम पर भी आ बीतेगी, तब वे हमारी सहायता करेंगे। हम अन्य लोगों को इसलिये प्यार पर रखते हैं, कि वे भी हमपर प्यार करें। और कुछ नहीं तो हमारे मन में अच्छा कहलाने का स्वार्थमूलक हेतु अवश्य रहता है। परोपकार और परार्थ दोनों शब्द केवल भ्रांतिमूलक हैं। यदि कुछ सच्चा है तो स्वार्थ; और स्वार्थ कहते हैं अपने लिये सुख-प्राप्ति या अपने दुःखनिवारण को। माता बच्चे को दूध पिलाती

है; इसका कारण यह नहीं है, कि वह बच्चे पर प्रेम रखती हो; सच्चा कारण तो वही है, कि उसके स्तनों में दूध के भर जाने से उसे जो दुःख होता है, उसे कम करने के लिये--अथवा भविष्य में यही लड़का मुझे प्यार करके सुख देगा इस स्वार्थ-सिद्धि के लिये ही--वह बच्चे को दूध पिलाती है। इस बात को दूसरे वर्ग के आधिभौतिकवादी मानते हैं, कि स्वयं अपने ही सुख के लिये भी क्यों न हो; परन्तु भविष्य पर दृष्टि रख कर ऐसे नीतिधर्म का पालन करना चाहिये, कि जिससे दूसरों को भी सुख हो। बस, यही इस मत में और चार्वाक के मत में भेद है। तथापि चार्वाक-मत के अनुसार इस मत में भी यह माना जाता है, कि मनुष्य केवल विषय-सुखरूप स्वार्थ के साँचे में ढला हुआ एक पुतला है; इंग्लैंड में हॉब्स और फरान्स में हेल्वेशियस ने इस मत का प्रतिपादन किया है। परन्तु इस मत के अनुयायी अब न तो इंग्लैंड में ही और न कहीं बाहर ही अधिक मिलेंगे। हॉब्स के नीतिधर्म की इस उपपत्ति के प्रसिद्ध होने पर बटलर सरीखे विद्वानों ने उसका खंडन करके सिद्ध किया, कि मनुष्य-स्वभाव केवल स्वार्थी नहीं है; स्वार्थ के समान ही उसमें जन्म से ही भूत-दया, प्रेम, कृतज्ञता आदि सद्गुण भी कुछ अंश में रहते हैं। इसलिये किसी का व्यवहार या कर्मका नैतिक दृष्टि से विचार करते समय केवल स्वार्थ या दूरदर्शी स्वार्थ की ओर ही ध्यान न दे कर, मनुष्य-स्वभाव के दो स्वाभाविक गुणों (अर्थात् स्वार्थ और परार्थ) की ओर नित्य ध्यान देना चाहिये। जब हम देखते हैं, कि व्याघ्र सरीखे क्रूर जानवर भी अपने बच्चों की रक्षा के लिये प्राण देने को तयार हो जाते हैं; तब हम यह कभी नहीं कह सकते, कि मनुष्य के हृदय में प्रेम और परोपकारबुद्धि जैसे सद्गुण केवल स्वार्थ ही से उत्पन्न हुए हैं। इससे सिद्ध होता है, कि धर्म-अधर्म की परीक्षा केवल दूरदर्शी स्वार्थ से करना शास्त्र की दृष्टि से भी उचित नहीं है। यह बात हमारे प्राचीन पंडितों को भी अच्छी तरह से मालूम थी, कि केवल संसार में लिप्त रहने के कारण जिस मनुष्य की बुद्धि शुद्ध नहीं रहती है, वह मनुष्य जो कुछ परोपकार के नाम से करता है, वह बहुधा अपने ही हित के लिये करता है। महाराष्ट्र में तुकाराम महाराज एक बड़े भारी भगवद्भक्त हो गये हैं। वे कहते हैं, कि "बहू दिखलाने के लिये तो रोती है सास के हित के लिये; परन्तु हृदय का भाव कुछ और ही रहता है।" बहुत से पंडित तो हेल्वेशियस से भी आगे बढ़ गये हैं। उदाहरणार्थ, "मनुष्य की स्वार्थप्रवृत्ति तथा परार्थप्रवृत्ति भी दोषमय होती हैं--"प्रवर्तनालक्षणा दोषाः" इस गौतम-न्यायसूत्र (१. १. १८) के आधार पर ब्रह्मसूत्र भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने जो कुछ कहा है (वे.सू. शां.भा. २. २. ३), उस पर

---

*हॉब्स का मत उसके *Leviathan* नामक ग्रन्थ में संग्रहीत है, तथा बटलर का मत उसके *Sermon on Human Nature* नामक निबन्ध में है। हेल्वेशियस की पुस्तक का सारांश मोर्ले ने अपने *Diderot* विषयक ग्रन्थ (Vol. II, Chap. V) में दिया है।

टीका करते हुए आनंदगिरि लिखते हैं, कि "जब हमारे हृदय में कारुण्यवृत्ति जागृत होती है, और हमको उससे दुःख होता है; तब उस दुःख को हटाने के लिये हम अन्य लोगों पर दया और परोपकार किया करते हैं।" आनंदगिरि की यही युक्ति प्रायः हमारे सब संन्यासमार्गीय ग्रन्थों में पाई जाती है; जिससे यह सिद्ध करने का प्रयत्न दीख पड़ता है, कि सब कर्म स्वार्थमूलक होने के कारण त्याज्य हैं। परन्तु बृहदारण्यकोपनिषद् (२. ४; ४. ५.) में याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी का जो संवाद दो स्थानों पर है, उसमें इसी युक्तिवाद का उपयोग एक दूसरी ही अद्भुत रीति से किया गया है। मैत्रेयी ने पूछा "हम अमर कैसे?" इस प्रश्न का उत्तर देते समय याज्ञवल्क्य उससे कहते हैं "हे मैत्रेयी! स्त्री अपने पति को पति ही के लिये नहीं चाहती; किन्तु वह अपनी आत्मा के लिये उसे चाहती है। इसी तरह हम अपने पुत्रसे उसके हितार्थ प्रेम नहीं करते; किन्तु हम स्वयं अपने ही लिये उसपर प्रेम करते हैं*। द्रव्य, पशु और अन्य वस्तुओं के लिये भी यही न्याय उपयुक्त है। 'आत्मानस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'—अपने आत्मा के प्रीत्यर्थ ही सब पदार्थ हमें प्रिय लगते हैं। और, यदि इस तरह सब प्रेम आत्म-मूलक है, तो क्या हमको सब से पहले यह जानने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये, कि आत्मा (हम) क्या है?" यह कह कर अन्त में याज्ञवल्क्य ने यही उपदेश दिया है "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः—अर्थात् सब से पहले यह देखो, कि आत्मा कौन है; फिर उसके विषय में सुनो और उसका मनन तथा ध्यान करो।" इस उपदेश के अनुसार एक बार आत्मा के सच्चे स्वरूप की पहचान होने पर सब जगत् आत्ममय देख पड़ने लगता है; और स्वार्थ तथा परार्थ का भेद ही मन में रहने नहीं पाता। याज्ञवल्क्य का यह युक्तिवाद दिखने में तो हॉब्स के मतानुसार ही है; परन्तु यह बात भी किसी से छिपी नहीं है, कि इन दोनों से निकाले गये अनुमान एक दूसरे के विरुद्ध हैं। हॉब्स स्वार्थ ही को प्रधान मानता है; और सब पदार्थों को दूरदर्शी स्वार्थ का ही एक स्वरूप मान कर वह कहता है, कि इस संसार में स्वार्थ के सिवा और कुछ नहीं। याज्ञवल्क्य 'स्वार्थ' शब्द के 'स्व' (अपना) पद के आधार पर दिखलाते हैं, कि अध्यात्मदृष्टि से अपने एक ही आत्मा में सब प्राणियों का, और सब प्राणियों में ही अपने आत्मा का, अविरोध भाव से समावेश कैसे होता है। यह दिखला-

* "What say you of natural affection? Is that also a species of self-love? Yes; All is self-love. *Your* children are loved only because they are yours. *Your* friend for a like reason. And *Your* country engages you only so far as it has a connection with *Yourself*." ह्यूम ने भी इसी युक्तिवाद का उल्लेख अपने *Of the Dignity or Meanness of Human Nature* नामक निबन्ध में किया है। स्वयं ह्यूम का मत इससे भिन्न है।

कर उन्होंने स्वार्थ और परार्थ में दीखनेवाले द्वैत के झगड़े की जड़ ही को काट डाला है। याज्ञवल्क्य के उक्त मत और संन्यासमार्गीय मत पर अधिक विचार आगे किया जायगा। यहाँ पर याज्ञवल्क्य आदिकों के मतों का उल्लेख यही दिखलाने के लिये किया गया है, कि "सामान्य मनुष्यों की प्रवृत्ति स्वार्थ-विषयक अर्थात् आत्मसुख-विषयक होती है"—इस एक ही बात को थोड़ा-बहुत महत्त्व दे कर, अथवा इसी एक बात को सर्वथा अपवाद-रहित मान कर, हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों ने उसी बात से हॉब्स के विरुद्ध दूसरे अनुमान कैसे निकाले हैं।

जब यह बात सिद्ध हो चुकी, कि मनुष्य का स्वभाव केवल स्वार्थमूलक अर्थात् तमोगुणी या राक्षसी नहीं है—जैसा कि अंग्रेज़ ग्रन्थकार हॉब्स और फरेंच पंडित हेल्वेशियस कहते हैं—किन्तु मनुष्य-स्वभाव में स्वार्थ के साथ ही परोपकार बुद्धि की सात्त्विक मनोवृत्ति भी जन्म से पाई जाती है। अर्थात् जब यह सिद्ध हो चुका, कि परोपकार केवल दूरदर्शी स्वार्थ नहीं है, तब स्वार्थ अर्थात् स्वसुख और परार्थ अर्थात् दूसरों का सुख, इन दोनों तत्त्वों पर समदृष्टि रख कर कार्य-अकार्य-व्यवस्था-शास्त्र की रचना करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यही आधिभौतिक-वादियों का तीसरा वर्ग है। इस पक्ष में भी यह आधिभौतिक मत मान्य है, कि स्वार्थ और परार्थ दोनों सांसारिक सुखवाचक हैं, सांसारिक सुख के परे कुछ भी नहीं है। भेद केवल इतना ही है, कि इन पंथ के लोग स्वार्थबुद्धि के समान ही परार्थबुद्धि को भी स्वाभाविक मानते हैं। इसलिये वे कहते हैं, कि नीति का विचार करते समय स्वार्थ के समान परार्थ की ओर भी ध्यान देना चाहिये। सामान्यतः स्वार्थ और परार्थ में विरोध उत्पन्न नहीं होता; इसलिये मनुष्य जो कुछ करता है वह सब प्रायः समाज के भी हित का होता है। यदि किसी ने धनसंचय किया, तो उससे समस्त समाज का भी हित होता है; क्योंकि, अनेक व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं; और यदि उस समाज की प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की हानि न कर अपना अपना लाभ करने लगे, तो उससे कुल समाज का हित ही होगा। अतएव इस पंथ के लोगों ने निश्चित किया है, कि अपने सुख की ओर दुर्लक्ष करके यदि कोई मनुष्य लोकहित का कुछ काम कर सके, तो ऐसा करना उसका कर्तव्य होगा। परन्तु इस पक्ष के लोग परार्थ की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करते; किन्तु वे यही कहते हैं, कि हर समय अपनी बुद्धि के अनुसार इस बात का विचार करते रहो, कि स्वार्थ श्रेष्ठ है या परार्थ। इसका परिणाम यह होता है, कि जब स्वार्थ और परार्थ में विरोध उत्पन्न होता है, तब इस प्रश्न का निर्णय करते समय बहुधा मनुष्य स्वार्थ ही की ओर अधिक झुक जाया करता है, कि लोक-सुख के लिये अपने कितने सुख का त्याग करना चाहिये। उदाहरणार्थ, यदि स्वार्थ और परार्थ को एक समान प्रबल मान लें, तो सत्य के लिये प्राण देने और राज्य खो देने की बात तो दूर ही रही; परन्तु इस पंथ के मत से यह भी निर्णय नहीं हो सकता, कि सत्य के लिये द्रव्य की हानि सहना चाहिये या नहीं। यदि कोई उदार मनुष्य परार्थ

के लिये प्राण दे दें, तो इस पंथवाले कदाचित् उसकी स्तुति कर देंगे; परन्तु जब यह मौक़ा स्वयं अपने ही ऊपर आ जायगा, तब स्वार्थ परार्थ दोनों ही का आश्रय करनेवाले ये लोग स्वार्थ की ओर ही अधिक झुकेंगे । ये लोग, हॉब्स के समान परार्थ को एक प्रकार का दूरदर्शी स्वार्थ नहीं मानते; किन्तु ये समझते हैं, कि हम स्वार्थ और परार्थ को तराज़ू में तोल कर उनके तारतम्य अर्थात् उनकी न्यूनाधिकता का विचार करके बड़ी चतुराई से अपने स्वार्थ का निर्णय किया करते हैं। अतएव ये लोग अपने मार्ग को 'उदात्त' या 'उच्च' स्वार्थ (परन्तु है तो स्वार्थही) कह कर उसकी बड़ाई मारते फिरते हैं*; परन्तु देखिये, भर्तृहरि ने क्या कहा है :—

> एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये
> सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये ।
> तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
> ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥

"जो अपने लाभ को त्याग कर दूसरों का हित करते हैं वे ही सच्चे सत्पुरुष हैं । स्वार्थ को न छोड़ कर जो लोग लोकहित के लिये प्रयत्न करते हैं, वे पुरुष सामान्य हैं; और अपने लाभ के लिये जो दूसरों का नुकसान करते हैं वे नीच, मनुष्य नहीं हैं—उनको मनुष्याकृति राक्षस समझना चाहिये । परन्तु एक प्रकार के मनुष्य और भी है, जो लोकहित का निरर्थक नाश किया करते हैं—मालूम नहीं पड़ता कि ऐसे मनुष्यों को क्या नाम दिया जाय" (भर्तृ. नी. श. ७४)। इसी तरह राजधर्म की उत्तम स्थिति का वर्णन करते समय कालिदास ने भी कहा है :—

> स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः । प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ॥

अर्थात् "तू अपने सुख की परवाह न करके लोकहित के लिये प्रतिदिन कष्ट उठाया करता है ! अथवा तेरी वृत्ति (पेशा) ही यही है" (शाकुं. ५. ७)। भर्तृहरि या कालिदास यह जानना नहीं चाहते थे, कि कर्मयोगशास्त्र में स्वार्थ और परार्थ को स्वीकार करके उन दोनों तत्त्वों के तारतम्य-भाव से धर्म-अधर्म या कर्म-अकर्म का निर्णय कैसे करना चाहिये; तथापि परार्थ के लिये स्वार्थ छोड़ देनेवाले पुरुषों को उन्होंने जो प्रथम स्थान दिया है, वही नीति की दृष्टि से भी न्याय्य है । इस पर इस पन्थ के लोगों का यह कहना है, कि यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से परार्थ श्रेष्ठ है, तथापि परम सीमा की शुद्ध नीति की ओर न देख कर हमें सिर्फ़ यही निश्चित करना है, कि साधारण व्यवहार में 'सामान्य' मनुष्यों को कैसे चलना चाहिये । और इसलिये हम 'उच्च स्वार्थ' को जो अग्रस्थान देते हैं, वही व्यावहारिक दृष्टि से उचित है ! "† परन्तु हमारी समझ के अनुसार इस युक्तिवाद से कुछ लाभ

---

* अंग्रेजी में इसे enlightened self-interest कहते हैं । हमने enlightened का भाषांतर 'उदात्त' या 'उच्च' शब्दों से किया है ।

† Sidgwick's *Methods of Ethics*, Book I. Chap. II. § 2, pp. 18–29; also Book IV. Chap. IV. § 3 p. 474 यह

नहीं है। बाज़ार में जितने माप–तौल नित्य उपयोग में लाये जाते हैं, उनमें थोड़ा बहुत फ़र्क रहता ही है; बस, यही कारण बतला कर यदि प्रमाणभूत सरकारी माप तौल में भी कुछ न्यूनाधिकता रखी जाय, तो क्या इनके खोटे-पन के लिये हम अधिकारियों को दोष नहीं देंगे ? इसी न्याय का उपयोग कर्मयोगशास्त्र में भी किया जा सकता है। नीति-धर्म के पूर्ण शुद्ध और नित्य स्वरूपका शास्त्रीय निर्णय करने के लिये ही नीतिशास्त्र की प्रवृत्ति हुई है; और इस काम को यदि नीतिशास्त्र नहीं करेगा, तो हम उसको निष्फल कह सकते हैं। सिज्विक का यह कथन सत्य है, कि "उच्च स्वार्थ" सामान्य मनुष्यों का मार्ग है। भर्तृहरि का मत भी ऐसा ही है। परन्तु यदि इस बात की खोज की जाय, कि पराकाष्ठा की नीतिमत्ता के विषय में उक्त सामान्य लोगों ही का क्या मत है; तो यह मालूम होगा, कि सिज्विक ने उच्च स्वार्थ को जो महत्त्व दिया है, वह भूल है। क्योंकि साधारण लोग भी यही कहते हैं, कि निष्कलंक नीति के तथा सत्पुरुषों के आचरण के लिये यह कामचलाऊ मार्ग श्रेयस्कर नहीं है। इसी बात का वर्णन भर्तृहरि ने उक्त श्लोक में किया है।

आधिभौतिक सुख-वादियों के तीन वर्गों का अब तक वर्णन किया गया :– (१) केवल स्वार्थी; (२) दूरदर्शी स्वार्थी; और (३) उभयवादी अर्थात् उच्च स्वार्थी। इन तीन वर्गों के मुख्य मुख्य दोष भी बतला दिये गये हैं; परन्तु इतने ही से सब आधिभौतिक पंथ पूरा नहीं हो जाता। उसके आगे का—और सब आधिभौतिक पंथों में श्रेष्ठ पंथ वह है—जिसमें कुछ सात्त्विक तथा आधिभौतिक पण्डितों * ने यह प्रतिपादन किया है, कि "एक ही मनुष्य के सुख को न देख कर—किंतु सब मनुष्यजाति के आधिभौतिक सुख-दुःख के तारतम्य को देख कर ही—नैतिक कार्य-अकार्य का निर्णय करना चाहिये।" एक ही कृत्य से, एक ही समय में, समाज के या संसार के सब लोगों को सुख होना असम्भव है। कोई एक बात किसी को सुखकारक मालूम होती है, तो वही बात दूसरे को दुःखदायक हो जाती है। परन्तु जैसे घुग्घू को प्रकाश नापसन्द होने के कारण कोई प्रकाश ही को त्याज्य नहीं कहता; उसी तरह यदि किसी विशिष्ट सम्प्रदाय को कोई बात लाभदायक मालूम न हो, तो कर्मयोगशास्त्र में भी यह नहीं कहा जा सकता, कि वह सभी लोगों को हितावह नहीं है। और, इसी लिये "सब लोगों का सुख" इन शब्दों का अर्थ भी "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" करना पड़ता है। इस पंथ के मत का सारांश यह है, कि "जिससे अधिकांश लोगों का अधिक सुख हो, उसी बात को नीति की

तीसरा पंथ कुछ सिज्विक का निकाला हुआ नहीं है; परन्तु सामान्य सुशिक्षित अंग्रेज लोग प्रायः इसी पन्थ के अनुयायी हैं। इसे Common sense morality कहते हैं।

*बेन्थेम, मिल आदि पंडित इस पंथ के अगुआ हैं। Greatest good of the greatest number का हमने "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" यह भाषांतर किया है।

दृष्टि से उचित और ग्राह्य मानना चाहिये; और उसी प्रकार का आचरण करना इस संसार में मनुष्य का सच्चा कर्तव्य है।" आधिभौतिक सुखवादियों का उक्त तत्त्व आध्यात्मिक पंथ को मंज़ूर है। यदि यह कहा जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं, कि आध्यात्मिक-वादियों ने ही इस तत्त्व को अत्यन्त प्राचीन काल में ढूँढ निकाला था। और भेद इतना ही है, कि अब आधिभौतिकवादियों ने उसका एक विशिष्ट रीति से उपयोग किया है। तुकाराम महाराज ने कहा है, कि "संतजनों की विभूतियाँ केवल जगत् के कल्याण के लिये हैं––वे लोग परोपकार करने में अपने शरीर को कष्ट दिया करते हैं।" अर्थात् इस तत्त्व की सचाई और योग्यता के विषय में कुछ भी संदेह नहीं है। स्वयं श्रीमद्भगवद्गीता में ही, पूर्ण योगयुक्त अर्थात् कर्मयोगयुक्त ज्ञानी पुरुषों के लक्षणों का वर्णन करते हुए, यह बात दो बार स्पष्ट कही गई है, कि वे लोग "" सर्वभूतहिते रताः" अर्थात् सब प्राणियों का कल्याण करने ही में निमग्न रहा करते हैं (गी. ५. २४; १२. ४)। इस बात का पता दूसरे प्रकरण में दिये हुए महाभारत के "यद्भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा" वचन से स्पष्टतया चलता है, कि धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये हमारे शास्त्रकार इस तत्त्व को हमेशा ध्यान में रखते थे; परन्तु हमारे शास्त्रकारों के कथनुसार 'सर्व-भूतहित' को ज्ञानी पुरुषों के आचरण का बाह्य लक्षण समझ कर धर्म-अधर्म का निर्णय करने के किसी विशेष प्रसंग पर स्थूलमान से उस तत्त्व का उपयोग करना एक बात है; और उसी को नीतिमत्ता का सर्वस्व मान कर––दूसरी किसी बात पर विचार न करके––केवल इसी नीव पर नीतिशास्त्र का भव्य भवन निर्माण करना दूसरी बात है। इन दोनों में बहुत भिन्नता है। आधिभौतिक पंडित दूसरे मार्ग को स्वीकार करके प्रतिपादन करते हैं, कि नीतिशास्त्र का अध्यात्मविद्या से कुछ भी संबंध नहीं है। इसलिये अब यह देखना चाहिये, कि उनका कहना कहाँ तक युक्तिसंगत है। 'सुख' और 'हित' दोनों शब्दों के अर्थ में बहुत भेद है। परन्तु यदि इस भेद पर भी ध्यान न दें, और 'सर्वभूत' का अर्थ "अधि-कांश लोगों का अधिक सुख" मान लें, और कार्य-अकार्य-निर्णय के काम में केवल इसी तत्त्व का उपयोग करें; तो यह साफ़ दीख पड़ेगा, कि बड़ी बड़ी अनेक कठि-नाइयाँ उत्पन्न होती हैं। मान लीजिये, कि इस तत्त्व का कोई आधिभौतिक पंडित अर्जुन को उपदेश देने लगता, तो वह अर्जुन से क्या कहता। यही न, कि यदि युद्ध में जय मिलने पर अधिकांश लोगों का अधिक सुख होना संभव है, तो भीष्म पितामह को भी मार कर युद्ध करना तेरा कर्तव्य है। दीखने को तो यह उपदेश बहुत सीधा और सहज दीख पड़ता है; परन्तु कुछ विचार करने पर इसकी अपूर्णता और अड़चन समझ में आ जाती है। पहले यही सोचिये, कि अधिक यानी कितना? पांडवों की सात अक्षौहिणियाँ थीं और कौरवों की ग्यारह। इसलिये यदि पांडवों की हार हुई होती, तो कौरवों को सुख हुआ होता। क्या, उसी युक्तिवाद से पांडवों का पक्ष अन्याय्य कहा जा सकता है? भारतीय युद्ध ही की बात कौन कहे; और भी

अनक अवसर ऐसे हैं, कि जहाँ नीति का निर्णय केवल संख्या से कर बैठना बड़ी भारी भूल है। व्यवहार में सब लोग यही समझते हैं, कि लाखों दुर्जनों को सुख होने की अपेक्षा एक ही सज्जन को जिससे सुख हो, वही सच्चा सत्कार्य है। इस समझ को सच बतलाने के लिये एक ही सज्जन के सुख को लाख दुर्जनों के सुख की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् मानना पड़ेगा; और ऐसा करने पर "अधिकांश लोगों का अधिक बाह्य सुखवाला" (जो कि नीतिमत्ता की परीक्षा का एकमात्र साधन माना गया है) पहला सिद्धान्त उतना ही शिथिल हो जायगा। इसलिये कहना पड़ता है, कि लोक-संख्या की न्यूनाधिकता का नीतिमत्ता के साथ कोई नित्य-संबंध नहीं हो सकता। दूसरी यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है, कि कभी कभी जो बात साधारण लोगों को सुखदायक मालूम होती है, वही बात किसी दूरदर्शी पुरुष को परिणाम में सब के लिये हानिप्रद दीख पड़ती है। उदाहरणार्थ, साक्रेटीज और ईसामसीह को ही लीजिये। दोनों अपने अपने मत को परिणाम में कल्याणकारक समझ कर ही अपने देशबंधुओं को उसका उपदेश करते थे; परन्तु इनके देशबंधुओं ने इन्हें "समाज के शत्रु" समझ कर मौत की सज़ा दी। इस विषय में "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" इसी तत्त्व के अनुसार उस समय लोगों ने और उनके नेताओं ने मिल कर आचरण किया था; परन्तु अब इस समय हम यह नहीं कह सकते, कि उन लोगों का बर्ताव न्याययुक्त था। सारांश, यदि "अधिकांश लोगों के अधिक सुख," को ही क्षण भर के लिये नीति का मूलतत्त्व मान लें; तो भी उससे ये प्रश्न हल नहीं हो सकते, कि लाखों-करोड़ों मनुष्यों का सुख किसमें है, उनका निर्णय कौन और कैसे करें? साधारण अवसरों पर निर्णय करने का यह काम उन्हीं लोगों को सौंप दिया जा सकता है, कि जिनके बारे में सुख-दुःख का प्रश्न उपस्थित हो। परन्तु साधारण अवसर में इतना प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। और जब विशेष कठिनाई का कोई समय आता है, तब साधारण मनुष्यों में यह जानने की दोषरहित शक्ति नहीं रहती, कि हमारा सुख किस बात में है। ऐसी अवस्था में यदि इन साधारण और अधिकारी लोगों के हाथ नीति का यह अकेला तत्त्व "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" लग जाय, तो वही भयानक परिणाम होगा; जो सैतान के हाथ में मशाल देने से होता है। यह बात उक्त दोनों उदाहरणों (साक्रेटीज और क्राइस्ट) से भली भाँति प्रगट हो जाती है। इस उत्तर में कुछ जान नहीं, कि "नीतिधर्म का हमारा तत्त्व शुद्ध और सच्चा है; मूर्ख लोगों ने उसका दुरुपयोग किया तो हम क्या कर सकते हैं?" कारण यह है, कि यद्यपि तत्त्व शुद्ध और सच्चा हो, तथापि उसका उपयोग करने के अधिकारी कौन हैं, वे उनका उपयोग कब और कैसे करते हैं, इत्यादि बातों की मर्यादा भी, उसी तत्त्व के साथ देनी चाहिये। नहीं तो सम्भव है, कि हम अपने को साक्रेटीज के सदृश नीति-निर्णय करने में समर्थ मान कर अर्थ का अनर्थ कर बैठें।

केवल संख्या की दृष्टि से नीति का उचित निर्णय नहीं हो सकता; और इस बात का निश्चय करने के लिये कोई भी बाहरी साधन नहीं है, कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख किस में है । इन दो आक्षेपों के सिवा इस पन्थ पर और भी बड़े बड़े आक्षेप किये जा सकते हैं । जैसे, विचार करने पर यह अपने आप ही मालूम हो जायगा, कि किसी काम के केवल बाहरी परिणाम से ही उसको न्याय्य अथवा अन्याय्य कहना बहुधा असम्भव हो जाता है । हम लोग किसी घड़ी को उसके ठीक ठीक समय बतलाने न बतलाने पर, अच्छी या खराब कहा करते हैं । परन्तु इसी नीति का उपयोग मनुष्य के कार्यों के सम्बध में करने के पहले हमें यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये, कि मनुष्य–घड़ी के समान–कोई यंत्र नहीं है । यह बात सच है, कि सब सत्पुरुष जगत् के कल्याणार्थ प्रयत्न किया करते हैं । परन्तु इससे यह उलटा अनुमान निश्चयपूर्वक नहीं किया जा सकता, कि जो कोई लोक-कल्याण के लिये प्रयत्न करता है, वह प्रत्येक साधु ही है । यह भी देखना चाहिये, कि मनुष्य का अतःकरण कैसा है । यंत्र और मनुष्य में यदि कुछ भेद है तो यही, कि एक हृदयहीन है, और दूसरा हृदययुक्त है; और इसी लिये अज्ञान से या भूल से किये गये अपराध को क़ायदे में क्षम्य मानते हैं । तात्पर्य, कोई काम अच्छा है या बुरा, धर्म है या अधर्म, नीति का है अथवा अनीति का, इत्यादि बातों का सच्चा निर्णय उस काम के केवल बाहरी फल या परिणाम––अर्थात् वह अधिकांश लोगों को अधिक सुख देगा, कि नहीं इतने ही––से नहीं किया जा सकता । उसीके साथ साथ यह भी जानना चाहिये, कि उस काम को करनेवाले की बुद्धि, वासना या हेतु कैसा है । एक समय की बात है, कि अमेरिका के एक बड़े शहर में सब लोगों के सुख और उपयोग के लिये ट्रामवे की बहुत आवश्यकता थी । परन्तु अधिकारियों की आज्ञा पाये बिना ट्रामवे नहीं बनाई जा सकती थी । सरकारी मंजूरी मिलने में बहुत देरी हुई । तब ट्रामवे के व्यवस्थापक ने अधिकारियों को रिश्वत दे कर जल्द ही मंजूरी ले ली । ट्रामवे बन गई और उससे शहर के सब लोगों को सुभीता और फायदा हुआ । कुछ दिनों के बाद रिश्वत की बात प्रगट हो गई; और उस व्यवस्थापक पर फौजदारी मुकदमा चलाया गया । पहली ज्यूरी (पंचायत) का एकमत नहीं हुआ; इसलिये दूसरी ज्यूरी चुनी गई । दूसरी ज्यूरी ने व्यवस्थापक को दोषी ठहराया । अतएव उसे सज़ा दी गई । इस उदाहरण में अधिक लोगों के अधिक सुखवाले नीतितत्त्व से काम चलने का नहीं । क्योंकि, यद्यपि 'घूस देने से ट्रामवे बन गई' यह बाहरी परिणाम अधिक लोगों को अधिक सुखदायक था; तथापि इतने ही से घूस देना न्याय्य हो नहीं सकता*। दान करने को अपना धर्म (दातव्य) समझ कर निष्काम–बुद्धि से दान करना, और कीर्ति के लिये तथा अन्य फल की आशा से दान करना, इन दो कृत्यों का

*यह उदाहरण डॉक्टर पॉल केरस की *The Ethical Problem* pp. 58, 59 2nd Ed-) नामक पुस्तक से लिया गया है ।

बाहरी परिणाम यद्यपि एक-सा हो, तथापि श्रीमद्भगवद्गीता में पहले दान को सात्त्विक और दूसरे को राजस कहा है (गी. १७. २०,२१)। और यह भी कहा गया है, कि यदि वही दान कुपात्रों को दिया जाय, तो वह तामस अथवा गर्ह्य है। यदि किसी गरीब ने एक-आध धर्म-कार्य के लिये चार पैसे दिये; और किसी अमीर ने उसी के लिये सौ रुपये दिये; तो लोगों में दोनों की नैतिक योग्यता एक ही समझी जाती है। परन्तु यदि केवल "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" किसमें है, इसी बाहरी साधनद्वारा विचार किया जाय, तो ये दोनों दान नैतिक दृष्टि से समान योग्यता के नहीं कहे जा सकते। "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" इस आधिभौतिक नीति-तत्त्व में जो बहुत बड़ा दोष है, वह यही है, कि इसमें कर्ता के मन के हेतु या भाव का कुछ भी विचार नहीं किया जाता। और यदि अन्तस्थ हेतु पर ध्यान दें, तो इस प्रतिज्ञा से विरोध खड़ा हो जाता है, कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख ही नीतिमत्ता की एकमात्र कसौटी है। क़ायदा-क़ानून बनानेवाली सभा अनेक व्यक्तियों के समूह से बनी होती है। इसलिये उक्त मत के अनुसार इस सभा के बनाये हुए क़ायदों या नियमों की योग्यता-अयोग्यता पर विचार करते समय यह जानने की कुछ आवश्यकता ही नहीं, कि सभासदों के अंतःकरणों में कैसा भाव था--हम लोगों को अपना निर्णय केवल इस बाहरी विचार के आधार पर कर लेना चाहिये, कि इनके क़ायदों से अधिकों को अधिक सुख हो सकेगा या नहीं। परन्तु, उक्त उदाहरण से यह साफ़ साफ़ ध्यान में आ सकता है, कि सभी स्थानों में यह न्याय उपयुक्त हो नहीं सकता। हमारा यह कहना नहीं है, कि "अधिकांश लोगों का अधिक सुख या हित--" वाला तत्त्व बिलकुल ही निरुपयोगी है। केवल बाह्य परिणामों का विचार करने के लिये उससे बढ़ कर दूसरा तत्त्व कहीं नहीं मिलेगा। परन्तु हमारा यह कथन है, कि जब नीति की दृष्टि से किसी बात को न्याय्य अथवा अन्याय्य कहना हो, तब केवल बाह्य परिणामों को देखने से काम नहीं चल सकता। उसके लिये और भी कई बातों पर विचार करना पड़ता है। अतएव नीतिमत्ता का निर्णय करने के लिये पूर्णतया इसी तत्त्व पर अवलम्बित नहीं रह सकते। इसलिये इससे भी अधिक निश्चित और निर्दोष तत्त्व को खोज निकालना आवश्यक है। गीता में जो यह कहा गया है, कि "कर्म की अपेक्षा से बुद्धि श्रेष्ठ है" (गी. २. ४९) उसका भी यही अभिप्राय है। यदि केवल बाह्य कर्मों पर ध्यान दें, तो वे बहुधा भ्रामक होते हैं। "स्नान-संध्या, तिलक-माला" इत्यादि बाह्य कर्मों के होते हुए भी "पेट में क्रोधाग्नि" का भड़कते रहना असम्भव नहीं है; परन्तु यदि हृदय का भाव शुद्ध हो, तो बाह्य कर्मों का कुछ भी महत्त्व नहीं रहता। सुदामा के 'मुठ्ठी भर चावल' सरीखे अत्यन्त अल्प बाह्य कर्म की धार्मिक और नैतिक योग्यता, अधिकांश लोगों को अधिक सुख देनेवाले हज़ारों मन अनाज के बराबर ही समझी जाती है। इसी लिये प्रसिद्ध जर्मन तत्त्वज्ञानी कान्ट* ने कर्म के बाह्य और दृश्य परिणामों के तारतम्य-विचार को गौण

---

* Kant's *Theory of Ethics*, (trans. by Abbott) 6th Ed: p.6.

माना है। एवं नीतिशास्त्र के अपने विवेचन का प्रारम्भ कर्ता की शुद्ध बुद्धि (शुद्ध भाव) ही से किया है । यह नहीं समझना चाहिये, कि आधिभौतिक सुखवाद की यह न्यूनता बड़े बड़े आधिभौतिकवादियों के ध्यान में नहीं आई । ह्यूम* ने स्पष्ट लिखा है—जब कि मनुष्य का कर्म (काम या कार्य) ही उसके शील का द्योतक है; और इसी लिये जब लोगों में वही नीतिमत्ता का दर्शक भी माना जाता है; तब केवल बाह्य परिणामों ही से उस कर्म को प्रशंसनीय या गर्हणीय मान लेना असम्भव है । यह बात मिल साहब को भी मान्य है, कि "किसी कर्म की नीतिमत्ता कर्ता के हेतु-पर अर्थात् वह उसे जिस बुद्धि या भाव से करता है, उस पर पूर्णतया अवलंबित रहती है ।" परन्तु अपने पक्षमण्डन के लिये मिल साहब ने यह युक्ति भिड़ाई है, कि "जब तक बाह्य कर्मों में कोई भेद नहीं होता, तब तक कर्म की नीतिमत्ता में कुछ फ़र्क नहीं हो सकता। चाहे कर्ता के मन में उस काम को करने की वासना किसी भी भाव से हुई हो"† । मिल की इस युक्ति में सांप्रदायिक आग्रह दीख पड़ता है; क्योंकि बुद्धि या भाव में भिन्नता होने के कारण, यद्यपि दो कर्म दीखने में एक ही से हों, तो भी वे तत्त्वतः एक ही योग्यता के कभी नहीं हो सकते। और इसी लिये मिल साहब की कही हुई "जब तक (बाह्य) कर्मों में भेद नहीं होता, इत्यादि" मर्यादा को ग्रीन साहब$ निर्मूल बतलाते हैं। गीता का भी यह अभिप्राय है । इसका कारण गीता में यह बतलाया गया है, कि यदि एक ही धर्म-कार्य के लिये दो मनुष्य बराबर धनप्रदान करें, तो भी—अर्थात् दोनों के बाह्य कर्म एक समान होने पर भी—दोनों की बुद्धि या भाव की भिन्नता के कारण, एक दान सात्त्विक और दूसरा राजस या तामस भी हो सकता है । इस विषय पर अधिक विचार पूर्वी और पश्चिमी मतों की तुलना करते समय करेंगे। अभी केवल इतना ही देखना है, कि कर्म के केवल बाहरी परिणाम पर ही अव

* "For as actions are objects of our moral sentiment, so far only as they are indications of the internal character, passions and affections, it is impossible that they can give rise either to praise or blame, where they proceed not from these principles, but are derived altogether from external objects." —Hume's *Inquiry concerning Human Understanding*, *Section* VIII Part II (p. 368 of Hume's *Essays*–The World Library Edition).

† "Morality of the action depends entirely upon the intention, that is upon what the agent *wills to do*. But the motive, that is the feeling which makes him will so to do, when it makes no difference in the act, makes none in the morality." Mill's *Utilitarianism*, p. 27

$ Green's *Prolegomena to Ethics*, § 299 note p. 348. 5th Cheaper Edition.

लंबित रहने के कारण, आधिभौतिक सुखवाद की श्रेष्ठ श्रेणी भी, नीति-निर्णय के काम में कैसी अपूर्ण सिद्ध हो जाती है; और इसे सिद्ध करने के लिये हमारी समझ में मिल साहब की युक्ति ही काफी है।

"अधिकांश लोगों का अधिक सुख"--वाले आधिभौतिक पन्थ में सब से भारी दोष यह है, कि उसमें कर्ता की बुद्धि या भाव का कुछ भी विचार नहीं किया जाता। मिल साहब के लेख ही से यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है, कि उस (मिल) की युक्ति को सच मान कर भी इस तत्त्व का उपयोग सब स्थानों पर एक समान नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह केवल बाह्य फल के अनुसार नीति का निर्णय करता है, अर्थात् उसका उपयोग किसी विशेष मर्यादा के भीतर ही किया जा सकता है; या यों कहिये कि वह एकदेशीय है। इसके सिवा इस मत पर एक और भी आक्षेप किया जा सकता है, कि 'स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ क्यों और कैसे श्रेष्ठ है?--इस प्रश्न की कुछ भी उपपत्ति न बतला कर ये लोग इस तत्त्व को सच मान लिया करते हैं। फल यह होता है, कि उच्च स्वार्थ की बेरोक वृद्धि होने लगती है। यदि स्वार्थ और परार्थ दोनों बातें मनुष्य के जन्म से ही रहती हैं, अर्थात् स्वाभाविक हैं; तो प्रश्न होता है, कि मैं स्वार्थ की अपेक्षा लोगों के सुख को अधिक महत्त्वपूर्ण क्यों समझूँ? यह उत्तर तो संतोषदायक हो ही नहीं सकता, कि तुम अधिकांश लोगों के अधिक सुख को देख कर ऐसा करो। क्योंकि मूल प्रश्न ही यह है, कि मैं अधिकांश लोगों के अधिक सुख के लिये यत्न क्यों करूँ? यह बात सच है, कि अन्य लोगों के हित में अपना भी हित सम्मिलित रहता है। इसलिये यह प्रश्न हमेशा नहीं उठता; परन्तु आधिभौतिक पन्थ के उक्त तीसरे वर्ग की अपेक्षा इस अन्तिम (चौथे) वर्ग में यही विशेषता है, कि इस आधिभौतिक पन्थ के लोग यह मानते हैं, कि जब स्वार्थ और परार्थ में विरोध खड़ा हो जाय, तब उच्च स्वार्थ का त्याग करके परार्थ-साधन ही के लिये यत्न करना चाहिये। इस पन्थ की उक्त विशेषता की कुछ भी उपपत्ति नहीं दी गई है। इस अभाव की ओर एक विद्वान् आधिभौतिक पंडित का ध्यान आकर्षित हुआ। उसने छोटे कीड़ों से लेकर मनुष्य तक सब सजीव प्राणियों के व्यवहारों का खूब निरीक्षण किया; और अन्त में उसने यह सिद्धान्त निकाला, कि जब कि छोटे कीड़ों से ले कर मनुष्यों तक में यही गुण अधिकाधिक बढ़ता और प्रगट होता चला आ रहा है, कि वे स्वयं अपने ही समान अपनी सन्तानों और जातियों की रक्षा करते हैं; और किसी को दुःख न देते हुए अपने बन्धुओं की यथासम्भव सहायता करते हैं; तब हम कह सकते हैं, कि सजीव सृष्टि के आचरण का यही--परस्पर-सहायता का गुण--प्रधान नियम है। सजीव सृष्टि में यह नियम पहले पहल सन्तानोत्पादक और सन्तान के लालन-पालन के बारे में दीख पड़ता है। ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म कीड़ों की सृष्टि को देखने से--कि जिनमें स्त्री-पुरुष का कुछ भेद नहीं है--ज्ञात होगा--कि एक कीड़े की देह बढ़ते बढ़ते फूट जाती है; और उससे दो कीड़े बन जाते हैं। अर्थात् यही

कहना पड़ेगा, कि सन्तान के लिये--दूसरे के लिये --यह कीड़ा अपने शरीर को भी त्याग देता है । इसी तरह सजीव सृष्टि में इस कीड़े से ऊपर के दर्जे के स्त्री-पुरुषात्मक प्राणी भी अपनी अपनी सन्तान के पालन-पोषण के लिये स्वार्थ-त्याग करने में आनन्दित हुआ करते हैं । यही गुण बढ़ते बढ़ते मनुष्यजाति के असभ्य और जंगली समाज में भी इस रूप में पाया जाता है, कि लोग न केवल अपनी सन्तानों की रक्षा करने में--किंतु अपने जाति-भाइयों की सहायता करने में--भी सुख से प्रवृत्त हो जाते हैं । इसलिये मनुष्य को--जो कि सजीव सृष्टि का शिरोमणि है--स्वार्थ के समान परार्थ में भी सुख मानते हुए, सृष्टि के उपर्युक्त नियम की उन्नति करने तथा स्वार्थ और परार्थ के वर्तमान विरोध को समूल नष्ट करने के उद्योग में लगे रहना चाहिये । बस, इसी में उसकी इतिकर्तव्यता है । यह युक्तिवाद बहुत ठीक है; परन्तु यह तत्त्व कुछ नया नहीं है, कि परोपकार करने का सद्गुण मूक सृष्टि में भी पाया जाता है । इसलिये उसे परमावधि तक पहुँचाने के प्रयत्न में ज्ञानी मनुष्यों को सदैव लगे रहना चाहिये । इस तत्त्व में विशेषता सिर्फ़ यही है, कि आजकल आधिभौतिक शास्त्रों के ज्ञान की बहुत वृद्धि होने के कारण इस तत्त्व की आधिभौतिक उपपत्ति उत्तम रीति से बतलाई गई है । यद्यपि हमारे शास्त्रकारों की दृष्टि आध्यात्मिक है, तथापि हमारे प्राचीन ग्रन्थों में कहा है कि :--

> अष्टादशपुराणानां सारं सारं समुद्धृतम् ।
> परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

'परोपकार करना पुण्यकर्म है और दूसरों को पीड़ा देना पापकर्म है। वह यही अठारह पुराणों का सार है । " भर्तृहरि ने भी कहा है, कि " स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमान् एकः सतां अग्रणीः "--परार्थ ही को जिस मनुष्य ने अपना स्वार्थ बना लिया है, वही सब सत्पुरुषों में श्रेष्ठ है । अच्छा, अब यदि छोटे कीड़ों से मनुष्य तक की सृष्टि की उत्तरोत्तर क्रमशः बढ़ती हुई श्रेणियों को देखें, तो एक और भी प्रश्न उठता है । वह यह है--क्या, मनुष्यों में केवल परोपकार-बुद्धि ही का उत्कर्ष हुआ है, या इसी के साथ उनमें स्वार्थ-बुद्धि , दया, उदारता, दूरदृष्टि, तर्क, शूरता, धृति, क्षमा, इंद्रियनिग्रह इत्यादि अनेक अन्य सात्त्विक सद्गुणों की भी वृद्धि हुई है ? जब इस पर विचार किया जाता है, तब कहना पड़ता है, कि अन्य सब सजीव प्राणियों की अपेक्षा मनुष्यों में सभी सद्गुणों का उत्कर्ष हुआ है । इन सब सात्त्विक गुणों के समूह को " मनुष्यत्व " नाम दीजिये । अब यह बात सिद्ध हो चुकी, कि परोपकार की अपेक्षा मनुष्यत्व को हम श्रेष्ठ मानते हैं । ऐसी अवस्था में किसी कर्म की योग्यता-अयोग्यता या नीतिमत्ता का निर्णय करने के लिये उस कर्म की

---

*यह उपपत्ति स्पेन्सर के *Data of Ethics* नामक ग्रन्थ में दी हुई है । स्पेन्सर ने मिल को एक पत्र लिखकर स्पष्ट कह दिया था, कि मेरे और आपके मत में क्या भेद है । उस पत्र के अवतरण उक्त ग्रन्थ में दिये गये हैं । pp 57, 123, Also see Bain's *Mental and Moral* Science pp. 721, 722 (Ed. 1875).

परीक्षा केवल परोपकार ही की दृष्टि से नहीं की जा सकती--अब उस काम की परीक्षा मनुष्यत्व की दृष्टि से ही--अर्थात् मनुष्यजाति में अन्य प्राणियों की अपेक्षा जिन जिन गुणों का उत्कर्ष हुआ है, उन सब को ध्यान में रख कर ही--की जानी चाहिये। अकेले परोपकार को ध्यान में रख कर कुछ-न-कुछ निर्णय कर लेने के बदले अब तो यही मानना पड़ेगा, कि जो कर्म सब मनुष्यों के 'मनुष्यत्व' या 'मनुष्यपन' को शोभा दें, या जिस कर्म से मनुष्यत्व की वृद्धि हो, वही सत्कर्म और वही नीति-धर्म है। यदि एक बार इस व्यापक दृष्टि को स्वीकार कर लिया जाय, तो "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" उक्त दृष्टि का एक अत्यन्त छोटा भाग हो जायगा--इस मत में कोई स्वतंत्र महत्त्व नहीं रह जायगा, कि सब कर्मों के धर्म-अधर्म या नीतिमत्ता का विचार केवल "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" तत्त्व के अनुसार किया जाना चाहिये--और तब तो धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये मनुष्यत्व ही का विचार करना अवश्य होगा। और, जब हम इस बात का सूक्ष्म विचार करने लगेंगे, कि 'मनुष्यपन' या मनुष्यत्व' का यथार्थ स्वरूप क्या है; तब हमारे मन में याज्ञवल्क्य के अनुसार "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" यह विषय आप-ही-आप उपस्थित हो जायगा। नीतिशास्त्र का विवेचन करनेवाले एक अमेरिकन ग्रंथकार ने इस समुच्चयात्मक मनुष्य के धर्म को ही "आत्मा" कहा है।

उपर्युक्त विवेचन से यह मालूम हो जायगा, कि केवल स्वार्थ या अपनी ही विषय-सुख की कनिष्ठ श्रेणी से बढ़ते बढ़ते आधिभौतिकसुखवादियों को भी परोपकार की श्रेणी तक और अन्त में मनुष्यत्व की श्रेणी तक कैसे आना पड़ता है। परन्तु मनुष्यत्व के विषय में भी आधिभौतिकवादियों के मन में प्रायः सब लोगों के बाह्य विषय-सुख ही की कल्पना प्रधान होती है। अतएव आधिभौतिक-वादियों की यह अंतिम श्रेणी भी--जिसमें अंतःसुख और अंतःशुद्धि का कुछ विचार नहीं किया जाता--हमारे अध्यात्मवादी शास्त्रकारों के मतानुसार निर्दोष नहीं है। यद्यपि इस बात को साधारणतया मान भी लें, कि मनुष्य का सब प्रयत्न सुख-प्राप्ति, तथापि दुःख-निवारण के ही लिये हुआ करता है; तथापि जब तक पहले इस बात का निर्णय न हो जाय, कि सुख किसमें है--आधिभौतिक अर्थात् सांसारिक विषयभोग ही में है, अथवा और किसी में है--तब तक कोई भी आधिभौतिक पक्ष ग्राह्य नहीं समझा जा सकता। इस बात को आधिभौतिकसुखवादी भी मानते हैं, कि शारीरिक सुख से मानसिक सुख की योग्यता अधिक है। पशु को जितने सुख मिल सकते हैं, वे सब किसी मनुष्य को दे कर उससे पूछो कि "क्या, तुम पशु होना चाहते हो?" तो वह कभी इस बात के लिये राजी न होगा। इसी तरह, ज्ञानी पुरुषों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, कि तत्त्वज्ञान के गहन विचारों से बुद्धि में जो एक प्रकार की शांति उत्पन्न होती है, उसकी योग्यता सांसारिक सम्पत्ति और बाह्योपयोग से हजार गुनी बढ़ कर है। अच्छा; यदि लोकमत को देखें, तो भी यही ज्ञात होगा, कि नीति का निर्णय करना केवल संख्या पर अव-

लम्बित नहीं है । लोग जो कुछ किया करते हैं, वह सब केवल आधिभौतिक सुख के ही लिये नहीं किया करते—वे आधिभौतिक सुख ही को अपना परम उद्देश नहीं मानते । बल्कि हम लोग यही कहा करते हैं, कि बाह्यसुखों की कौन कहे, विशेष प्रसंग आने पर अपनी जान की भी परवाह नहीं करनी चाहिये । क्योंकि ऐसे समय में आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार जिन सत्य आदि नीति-धर्मों की योग्यता अपनी जान से भी अधिक है, उनका पालन करने के लिये मनोनिग्रह करने में ही मनुष्य का मनुष्यत्व है । यही हाल अर्जुन का था । उसका भी प्रश्न यह नहीं था, कि लड़ाई करने पर किस को कितना सुख होगा । उसका श्रीकृष्ण से यही प्रश्न था, कि "मेरा, अर्थात् मेरे आत्मा का श्रेय किसमें है सो मुझे बतलाइये" (गी. २. ७; ३. २.) । आत्मा का यह नित्य का श्रेय और सुख आत्मा की शांति में है । इसी लिये बृहदारण्यकोपनिषद् (२. ४. २.) में कहा गया है, कि "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' अर्थात् सांसारिक सुख और संपत्ति के यथेष्ट मिल जाने पर भी आत्मसुख और शांति नहीं मिल सकती । इसी तरह कठोपनिषद् में लिखा है, कि जब मृत्यु ने नचिकेता को पुत्र, पौत्र, पशु, धान्य, द्रव्य इत्यादि अनेक प्रकार की सांसारिक सम्पत्ति देना चाही, तो उसने साफ़ जवाब दिया, कि "मुझे आत्मविद्या चाहिये, सम्पत्ति नहीं;" और 'प्रेय' अर्थात् इन्द्रियों को प्रिय लगनेवाले सांसारिक सुख में तथा 'श्रेय' अर्थात् आत्मा के सच्चे कल्याण में भेद दिखलाते हुए (कठ. १. ३. २ में) कहा है कि :—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संप्रीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

"जब प्रेय (तात्कालिक बाह्य इंद्रियसुख) और श्रेय (सच्चा चिरकालिक कल्याण) ये दोनों मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं, तब बुद्धिमान् मनुष्य उन दोनोंमें से किसी एक को चुन लेता है । जो मनुष्य यथार्थ में बुद्धिमान होता है, वह प्रेय की अपेक्षा श्रेय को अधिक पसन्द करता है; परन्तु जिसकी बुद्धि मन्द होती है, उसको आत्मकल्याण की अपेक्षा प्रेय अर्थात् बाह्य सुख ही अधिक अच्छा लगता है ।" इसलिये यह मान लेना उचित नहीं, कि संसार में इन्द्रियगम्य विषय-सुख ही मनुष्य का ऐहिक परम उद्देश है; तथा मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब केवल बाह्य अर्थात् आधि-भौतिक सुख ही के लिये अथवा अपने दुःखों को दूर करने के लिये ही करता है ।

इन्द्रियगम्य बाह्यसुखों की अपेक्षा बुद्धिगम्य अन्तःसुख की—अर्थात् आध्यात्मिक सुख की—योग्यता अधिक तो है ही; परन्तु इसके साथ एक बात यह भी है, कि विषय-सुख अनित्य है । वह दशा नीति-धर्म की नहीं है । इस बात को सभी मानते हैं, कि अहिंसा, सत्य आदि धर्म कुछ बाहरी उपाधियों अर्थात् सुखःदुखों पर अवलम्बित नहीं हैं; किंतु ये सभी अवसरों के लिये और सब काम में एक समान उपयोगी हो सकते हैं। अतएव ये नित्य हैं । बाह्य बातों पर अवलंबित न रहनेवाली, नीति-धर्मों की यह नित्यता उनमें कहाँ से और कैसे आई—अर्थात् इस नित्यता का कारण क्या है ? इस प्रश्न का आधिभौतिक-वाद से हल होना

असंभव है। कारण यह है, कि यदि बाह्यसृष्टि के सुःख–दुखों के अवलोकन से कुछ सिद्धान्त निकाला जाय, तो सब सुख–दुःखोंके स्वभावतः अनित्य होने के कारण, उनके अपूर्ण आधार पर बने हुए नीति–सिद्धान्त भी वैसे ही अनित्य होंगे। और, ऐसी अवस्था में सुख–दुःखों की कुछ भी परवाह न करके सत्य के लिये जान दे देने के सत्य-धर्म की जो त्रिकालाबाधित नित्यता है, वह "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" के तत्त्व से सिद्ध नहीं हो सकेगी। इस पर वह आक्षेप किया जाता है, कि जब सामान्य व्यवहारों में सत्य के लिये प्राण देनेका समय आ जाता है, तो अच्छे लोग भी असत्य पक्ष ग्रहण करने में संकोच नहीं करते; और उस समय हमारे शास्त्रकार भी ज्यादा सख्ती नहीं करते; तब सत्य आदि धर्मोंकी नित्यता क्यों माननी चाहिये? परन्तु यह आक्षेप या दलील ठीक नहीं है; क्योंकि जो लोग सत्य के लिये जान देने का साहस नहीं कर सकते, वे भी अपने मुँह से इस नीति-धर्म की नित्यता को माना ही करते हैं। इसी लिये महाभारत में अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों की सिद्धि करनेवाले सब व्यावहारिक धर्मों का विवेचन करके, अन्त में भारत-सावित्री में (और विदुरनीति में भी) व्यासजी ने सब लोगों को यही उपदेश किया है :—

> न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
> धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।

अर्थात् "सुख-दुःख अनित्य हैं; परन्तु (नीति) धर्म नित्य है। इसलिये सुख की इच्छा से, भय से, लोभ से अथवा प्राण-संकट आने पर भी धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिये। यह जीव नित्य है; और सुख-दुःख आदि विषय अनित्य हैं"। इसी लिये व्यासजी उपदेश करते हैं, कि अनित्य सुख-दुःखों का विचार न करके नित्य-जीव का संबंध नित्य-धर्म से ही जोड़ देना चाहिये (म.भा. स्व. ५. ६०; उ. ३६. १२, १३)। यह देखने के लिये, कि व्यासजी का उक्त उपदेश उचित है या नहीं; हमें अब इस बात का विचार करना चाहिये, कि सुख-दुःख का यथार्थ स्वरूप क्या है, और नित्य सुख किसे कहते हैं।

पाँचवाँ प्रकरण।

सुखदुःखविवेक।

सुखमात्यंतिकं यत्तत् बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम्। *

गीता ६. २१।

हमारे शास्त्रकारों को यह सिद्धान्त मान्य है, कि प्रत्येक मनुष्य सुख-प्राप्ति के लिये, प्राप्त सुख की वृद्धि के लिये, दुःख को टालने या कम करने के लिये ही सदैव प्रयत्न किया करता है। भृगुजी भरद्वाज से शान्तिपर्व (म.भा. शां. १९०. ९) में कहते हैं, कि "इह खलु अमुष्मिंश्च लोके वस्तुप्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयन्ते। न ह्यतः परं त्रिवर्गफलं विशिष्टतरमस्ति।"—अर्थात् इस लोक तथा परलोक में सारी प्रवृत्ति केवल सुख के लिये है; और धर्म, अर्थ, काम का इसके अतिरिक्त कोई अन्य फल नहीं है। परन्तु शास्त्रकारों का कथन है, कि मनुष्य यह न समझ कर—कि सच्चा सुख किसमें है— मिथ्या सुख ही को सत्य सुख मान बैठता है; और—इस आशा से, कि आज नहीं तो कल अवश्य मिलेगा—वह अपनी आयु के दिन व्यतीत किया करता है। इतने में, एक दिन मृत्यु के झपेटे में पड़ कर वह इस संसार को छोड़ कर चल बसता है। परन्तु उसके उदाहरण से अन्य लोग सावधान होने के बदले उसीका अनुकरण करते हैं। इस प्रकार यह भव-चक्र चल रहा है, और कोई मनुष्य सच्चे और नित्य सुख का विचार नहीं करता! इस विषय में पूर्वी और पश्चिमी तत्त्वज्ञानियों में बड़ा ही मतभेद है, कि यह संसार केवल दुःखमय है, या सुखप्रधान अथवा दुःखप्रधान है। परन्तु इन पक्षवालों में से सभी को यह बात मान्य है, कि मनुष्य का कल्याण दुःख का अत्यन्त निवारण करके अत्यन्त सुख-प्राप्ति करने ही में है। 'सुख' शब्द के बदले प्रायः 'हित,' 'श्रेय' और 'कारण' शब्दों का अधिक उपयोग हुआ करता है। इनका भेद आगे बतलाया जायगा। यदि यह मान लिया जाय, कि 'सुख' शब्द में ही सब प्रकार के सुख और कल्याण का समावेश हो जाता है; तो सामान्यतः कहा जा सकता है, कि प्रत्येक मनुष्य का प्रयत्न केवल सुख के लिये हुआ करता है। परन्तु इस सिद्धान्त के आधार पर सुख-दुःख का जो लक्षण महाभारतान्तर्गत पराशरगीता (म. भा. शां. २९५. २७) में दिया गया है, कि "यदिष्टं तत्सुखं प्राहुः द्वेष्यं दुःखमिहेष्यते"—जो कुछ हमें इष्ट है, वही सुख है; और जिसका हम द्वेष करते हैं, अर्थात् जो हमें नहीं चाहिये, वही

*"जो केवल बुद्धि से ग्राह्य हो और इन्द्रियों से परे हो, उसे आत्यन्तिक सुख कहते हैं।"

दुःख है--उसे शास्त्र की दृष्टि से पूर्ण निर्दोष नहीं कह सकते। क्योंकि इस व्याख्या के अनुसार 'इष्ट' शब्द का अर्थ इष्ट वस्तु या पदार्थ भी हो सकता है; और इस अर्थ को मानने से इष्ट पदार्थ को भी सुख कहना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, प्यास लगने पर पानी इष्ट होता है; परन्तु इस बाह्य पदार्थ 'पानी' को 'सुख' नहीं कहते। यदि ऐसा होगा, तो नदी के पानी में डूबनेवाले के बारे में कहना पड़ेगा, कि वह सुख में डूबा हुआ है। सच बात यह है, कि पानी पीने से जो इन्द्रियतृप्ति होती है, उसे सुख कहते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि मनुष्य इस इन्द्रियतृप्ति या सुख को चाहता है; परन्तु इससे यह व्यापक सिद्धान्त नहीं बताया जा सकता, कि जिसकी चाह होती है, वह सब सुख ही है। इसी लिये नैय्यायिकों ने सुख-दुःख को वेदना कह कर उनकी व्याख्या इस तरह से की है "अनुकूलवेदनीयं सुखं" जो वेदना हमारे अनुकूल है, वह सुख है; और "प्रतिकूलवेदनीयं दुःखं" जो वेदना हमारे प्रतिकूल है, वह दुःख है। ये वेदनाएँ जन्मसिद्ध अर्थात् मूल ही की और अनुभवगम्य हैं। इसलिये नैय्यायिकों की उक्त व्याख्या से बढ़ कर सुख-दुःख का अधिक उत्तम लक्षण बतलाया नहीं जा सकता। कोई यह कहें, कि ये वेदनारूप सुख-दुःख केवल मनुष्य के व्यापारों से ही उत्पन्न होते हैं, तो यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि, कभी कभी देवताओं के कोप से भी बड़े बड़े रोग और दुःख उत्पन्न हुआ करते हैं, जिन्हें मनुष्य को अवश्य भोगना पड़ता है। इसी लिये वेदान्त ग्रन्थों में सामान्यतः इन सुख-दुःखों के तीन भेद--आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक--किये गये हैं। देवताओं की कृपा या कोप से जो सुखदुःख मिलते हैं उन्हें 'आधिदैविक' कहते हैं। बाह्य-सृष्टि के--पृथ्वी आदि पंचमहाभूतात्मक, पदार्थों का मनुष्य की इन्द्रियों से संयोग होने पर--शीतोष्ण आदि के कारण जो सुखदुःख हुआ करते हैं, उन्हें 'आधि-भौतिक' कहते हैं। और, ऐसे बाह्यसंयोग के बिना ही होनेवाले अन्य सब सुखदुःखों को 'आध्यात्मिक' कहते हैं। यदि सुख-दुःख का यह वर्गीकरण स्वीकार किया जाय, तो शरीर ही के वात-पित्त आदि दोषों का परिणाम बिगड़ जाने से उत्पन्न होनवाले ज्वर आदि दुःखों को--तथा उन्हीं दोषों का परिणाम यथोचित रहने से अनुभव में आनेवाले शारीरिक स्वास्थ्य को--आध्यात्मिक सुख-दुःख कहना पडता है। क्योंकि, यद्यपि ये सुख-दुःख पञ्चभूतात्मक शरीर से सम्बन्ध रखते हैं--अर्थात् ये शारीरिक हैं--तथापि हमेशा यह नहीं कहा जा सकता, कि ये शरीर से बाहर रहनेवाले पदार्थों के संयोग से पैदा हुए हैं। और इसलिये आध्यात्मिक सुख-दुःखों के वेदान्त की दृष्टि से फिर भी दो भेद--शारीरिक और मानसिक--करने पड़ते हैं। परन्तु यदि इस प्रकार सुख-दुःखों के 'शारीरिक' और 'मान-सिक' दो भेद कर दें, तो फिर आधिदैविक सुख-दुःखों को भिन्न मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि, यह तो स्पष्ट ही है, कि देवताओं की कृपा

अथवा क्रोध से होनेवाले सुख-दुःखों को भी आखिर मनुष्य अपने ही शरीर या मन के द्वारा भोगता है । अतएव हमने इस ग्रन्थ में वेदान्त-ग्रन्थों की परिभाषा के अनुसार सुख-दुःखों का त्रिविध वर्गीकरण नहीं किया है । किन्तु उनके दो ही वर्ग (बाह्य या शारीरिक और आभ्यंतर या मानसिक) किये हैं, और इसी वर्गीकरण के अनुसार, हमने इस ग्रन्थ में सब प्रकार के शारीरिक सुख-दुःखों को "आधिभौतिक" और सब प्रकार के मानसिक सुख-दुखों को "आध्यात्मिक" कहा है । वेदान्त ग्रन्थों में जैसा तीसरा वर्ग 'आधिदैविक' दिया गया है, वैसा हमने नहीं किया है । क्योंकि, हमारे मतानुसार सुख-दुःखों का शास्त्रीय रीति से विवेचन करने के लिये यह द्विविध वर्गीकरण ही अधिक सुभीते का है । सुखदुःख का जो विवेचन नीचे किया गया है, उसे पढ़ते समय यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये, कि वेदान्त-ग्रन्थों के और हमारे वर्गीकरण में भेद है ।

सुख-दुःखों को चाहे आप द्विविध मानिये अथवा त्रिविध । इसमें सन्देह नहीं, कि दुःख की चाह किसी मनुष्य को नहीं होती । इसी लिये वेदान्त और सांख्य शास्त्र (सां. का. १; गी. ६. २१, २२) में कहा गया है, कि सब प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति करना और आत्यन्तिक तथा नित्य सुख की प्राप्ति करना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है । जब यह बात निश्चित हो चुकी, कि मनुष्य का परम साध्य या उद्देश आत्यन्तिक सुख ही है; तब ये प्रश्न मन में सहज ही उत्पन्न होते हैं, कि अत्यन्त सत्य और नित्य सुख किसको कहना चाहिये । उसकी प्राप्ति होना संभव है या नहीं ? यदि संभव है तो कब और कैसे ? इत्यादि । और जब हम इन प्रश्नों पर विचार करने लगते हैं, तब सब से पहले यही प्रश्न उठता है, कि नैय्यायिकों के बतलाये हुए लक्षण के अनुसार सुख और दुःख दोनों भिन्न भिन्न स्वतंत्र वेदनाएँ, "अनुभव या वस्तु हैं", अथवा "जो उजेला नहीं वह अँधेरा;" इस न्याय के अनुसार इन दोनों वेदनाओं में से एक का अभाव होने पर दूसरी संज्ञा का उपयोग किया जाता है । भर्तृहरि ने कहा है, कि "प्यास से जब मुँह सूख जाता है, तब हम उस दुःख का निवारण करने के लिये पानी पीते हैं । भूख से जब हम व्याकुल हो जाते हैं,तब मिष्टान्न खा कर उस व्यथा को हटाते हैं; और काम-वासना के प्रदीप्त होने पर उसको स्त्रीसंग द्वारा तृप्त करते हैं ।" इतना कह कर अंत में कहा है कि :—

प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ।

"किसी व्याधि अथवा दुःख के होने पर उसका जो निवारण या प्रतिकार किया जाता है, उसी को लोग भ्रमवश 'सुख' कहा करते हैं ।" दुःखनिवारण के अतिरिक्त 'सुख' कोई भिन्न वस्तु नहीं है । यह नहीं समझना चाहिये, कि उक्त सिद्धान्त मनुष्यों के सिर्फ़ उन्हीं व्यवहारों के विषय में उपयुक्त होता है, जो स्वार्थ ही के लिये किये जाते हैं । पिछले प्रकरण में आनन्दगिरी का यह मत बतलाया ही गया है, कि जब हम किसी पर कुछ उपकार करते हैं, तब उसका कारण यही होता है, कि

उसके दुःख के देखने से हमारी कारुण्यवृत्ति हमारे लिये असह्य हो जाती है; और इस दुःसहत्व की व्यथा को दूर करने के लिये ही हम परोपकार किया करते हैं। इस पक्ष के स्वीकृत करने पर हमें महाभारत के अनुसार यह मानना पड़ेगा, कि :–

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ॥

"पहले जब कोई तृष्णा उत्पन्न होती है, तब उसकी पीड़ा से दुःख होता है; और उस दुःख की पीड़ा से फिर सुख उत्पन्न होता है" (शां. २५. २२; १७४. १९)। संक्षेप में इस पंथ का यह कहना है, कि मनुष्य के मन में पहले एक-आध आशा, वासना या तृष्णा उत्पन्न होती है; और जब उससे दुःख होने लगे, तब उस दुःख का जो निवारण किया जावे, वही सुख कहलाता है। सुख कोई दूसरी भिन्न वस्तु नहीं है। अधिक क्या कहें; उस पंथ के लोगों ने यह भी अनुभव निकाला है, कि मनुष्य की सब सांसारिक प्रवृत्तियाँ केवल वासनात्मक और तृष्णात्मक ही हैं। जब तक सब सांसारिक कर्मोंका त्याग नहीं किया जायगा, तब तक वासना या तृष्णा की जड़ उखड़ नहीं सकती; और जब तक तृष्णा या वासना की जड़ नष्ट नहीं हो जाती, तब तक सत्य और नित्य सुख का मिलना भी सम्भव नहीं है। बृहदारण्यक (बृ. ४. ४. २२; वे.सू. ३. ४. १५) में विकल्प से और जाबाल-संन्यास आदि उपनिषदों में प्रधानता से उसी का प्रतिपादन किया गया है; तथा अष्टावक्रगीता (९. ८; १०. ३–८) एवं अवधूतगीता (३. ४६) में उसीका अनुवाद है। इस पंथ का अन्तिम सिद्धान्त यही है, कि जिस किसी को आत्यन्तिक सुख या मोक्ष प्राप्त करना है, उसे उचित है, कि वह जितना जल्दी हो सके उतना जल्दी संसार को छोड़ कर संन्यास ले ले। स्मृतिग्रन्थों में जिसका वर्णन किया गया है, और श्रीशंकराचार्य ने कलियुग में जिसकी स्थापना की है, वह श्रौत-स्मार्त कर्म-संन्यास-मार्ग इसी तत्त्व पर चलाया गया है। सच है; यदि सुख कोई स्वतंत्र वस्तु ही नहीं है, जो कुछ है, सो दुःख ही है; और वह भी तृष्णामूलक है, तो इन तृष्णा आदि विचारों कोही पहले समूल नष्ट कर देने पर फिर स्वार्थ और परार्थ की सारी झंझटें आप-ही-आप दूर हो जायगी; और तब मन की जो मूल-साम्यावस्था तथा शांति है, वही रह जायगी इसी अभिप्राय से महाभारतान्तर्गत शांतिपर्व के पिंगल गीता में, और मंकिगीता में भी कहा गया है कि :—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

"सांसारिक काम अर्थात् वासना की तृप्ति होने से जो सुख होता है; और जो सुख स्वर्ग में मिलता है; उन दोनों सुखों की योग्यता, तृष्णा के क्षय से होनेवाले सुख के सोलहवें हिस्से के बराबर भी नहीं है" (शां. १७४. ४८. १७७. ४९)। वैदिक संन्यासमार्ग का ही आगे चल कर जैन और बौद्धधर्मों में अनुकरण किया गया है। इसी लिये इन दोनों धर्मों के ग्रन्थों में तृष्णा के दुष्परिणामों का और उसकी

त्याज्यता का वर्णन, उपर्युक्त वर्णन ही के समान--और कहीं कहीं तो उससे भी बढ़ा चढ़ा--किया गया है (उदाहरणार्थ, धम्मपद के तृष्णा-वर्ग को देखिये)। तिब्बत के बौद्ध धर्मग्रंथों में तो यहाँ तक कहा गया है, कि महाभारत का उक्त श्लोक, बुद्धत्व प्राप्त होने पर गौतम बुद्ध के मुख से निकला था। *

तृष्णा के जो दुष्परिणाम ऊपर बतलाये गये हैं, वे श्रीमद्भगवद्गीता को भी मान्य हैं। परन्तु गीता का यह सिद्धान्त है, कि उन्हें दूर करने के लिये कर्म ही का त्याग नहीं कर बैठना चाहिये। अतएव यहाँ सुख-दुःख की उक्त उपपत्ति पर कुछ सूक्ष्म विचार करना आवश्यक है। संन्यासमार्ग के लोगों का यह कथन सर्वथा सत्य नहीं माना जा सकता, कि सब सुख तृष्णा आदि दुःखों के निवारण होने पर ही उत्पन्न होता है। एक बार अनुभव की हुई (देखी हुई, सुनी हुई इत्यादि) वस्तु कि जब फिर चाह होती है तब उसे काम, वासना या इच्छा कहते हैं। जब इच्छित वस्तु जल्दी नहीं मिलती, तब दुःख होता है; और जब वह इच्छा तीव्र होने लगती है, अथवा जब इच्छित वस्तु के मिलने पर भी पूरा सुख नहीं मिलता; और उसकी चाह अधिकाधिक बढ़ने लगती है, तब उसी इच्छा को तृष्णा कहते हैं। परन्तु इस प्रकार केवल इच्छा के तृष्णा-स्वरूप में बदल जाने के पहले ही, यदि वह इच्छा पूर्ण हो जाय, तो उससे होनेवाले सुख के बारे में हम यह नहीं कह सकेंगे, कि वह तृष्णा-दुःख के क्षय होने से उत्पन्न हुआ है। उदाहरणार्थ, प्रतिदिन नियत समय पर जो भोजन मिलता है; उसके बारे में अनुभव यह नहीं है, कि भोजन करने के पहले हमें दुःख ही होता हो। जब नियत समय पर भोजन नहीं मिलता तभी हमारा जी भूख से व्याकुल हो जाया करता है--अन्यथा नहीं। अच्छा, यदि हम मान लें, कि तृष्णा और इच्छा एक ही अर्थ के द्योतक शब्द हैं; तो भी यह सिद्धान्त सच नहीं माना जा सकता, कि सब सुख तृष्णामूलक ही हैं। उदाहरण के लिये, एक छोटे बच्चे के मुँह में अचानक एक मिश्री की डली डाल दो। तो क्या यह कहा जा सकेगा, कि उस बच्चे को मिश्री खाने से जो सुख हुआ वह पूर्व-तृष्णा के क्षय से हुआ है? नहीं। इसी तरह मान लो, कि राह चलते चलते हम किसी रमणीय बाग में जा पहुँचे; और वहाँ किसी पक्षी का मधुर गान एकाएक सुन पड़ा। अथवा किसी मन्दिर में भगवान् की मनोहर छबि दीख पड़ी; तब ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता, कि उस गान के सुनने से, या उस छबि के दर्शन से होनेवाले सुख की हम पहले ही से इच्छा किये बैठे थे। सच बात तो यही है, कि सुख की इच्छा किये बिना ही उस समय हमें सुख मिला। इन उदाहरणों पर ध्यान देने से यह अवश्य ही मानना पड़ेगा, कि संन्यास-मार्गवाले सुख को उक्त

* Rockhill's *Life of Buddha* p. 33 यह श्लोक 'उदान' नामक पाली ग्रन्थ (२.२) में है। परन्तु उसमें ऐसा वर्णन नहीं है कि यह श्लोक बुद्ध के मुख से, उसे 'बुद्धत्व' प्राप्त होने के समय निकला था। इससे यह साफ़ मालूम हो जाता है, कि यह श्लोक पहले पहल बुद्ध के मुख से नहीं निकला था।

व्याख्या ठीक नहीं है; और यह भी मानना पड़ेगा, कि इन्द्रियों में भली-बुरी वस्तुओं का उपयोग करने की स्वाभाविक शक्ति होने के कारण जब वे अपना अपना व्यापार करती रहती हैं; और जब कभी उन्हें अनुकूल या प्रतिकूल विषय की प्राप्ति हो जाती है, तब पहले तृष्णा या इच्छा के न रहने पर भी हमें सुख-दुःख का अनुभव हुआ करता है। इसी बात पर ध्यान रख कर गीता (२. १४) में कहा गया है, कि "मात्रास्पर्श" से शीत, उष्ण आदि का अनुभव होने पर सुख-दुःख हुआ करता है। सृष्टि के बाह्य-पदार्थों को 'मात्रा' कहते हैं। गीता के उक्त पदों का अर्थ यह है, कि जब उन बाह्य-पदार्थों का इन्द्रियों से स्पर्श अर्थात् संयोग होता है, तब सुख या दुःख की वेदना उत्पन्न होती है। यही कर्मयोगशास्त्र का भी सिद्धान्त है। कान को कड़ी आवाज़ अप्रिय क्यों मालूम होती है? जिव्हा को मधुर रस प्रिय क्यों लगता है? आँखों को पूर्ण चन्द्र का प्रकाश आल्हादकारक क्यों प्रतीत होता है? इत्यादि बातों का कारण कोई भी नहीं बतला सकता। हम लोग केवल इतना ही जानते हैं, कि जीभ को मधुर रस मिलने से वह सन्तुष्ट हो जाती है। इससे प्रकट होता है, कि आधिभौतिक सुख का स्वरूप केवल इन्द्रियों के अधीन है; और इसलिये कभी कभी इन इन्द्रियों के व्यापारों को जारी रखने में ही सुख मालूम होता है—चाहे इसका परिणाम भविष्य में कुछ भी हो। उदाहरणार्थ, कभी कभी ऐसा होता है, कि मन में कुछ विचार आने से उस विचार के सूचक शब्द आप-ही-आप मुँह से बाहर निकल पडते हैं। ये शब्द कुछ इस इरादे से बाहर नहीं निकाले जाते, कि इनको कोई जान लें; बल्कि कभी कभी तो इन स्वाभाविक व्यापारों से हमारे मन की गुप्त बात भी प्रगट हो जाया करती है, जिससे हमको उल्टा नुकसान हो सकता है। छोटे बच्चे जब चलना सीखते हैं, तब वे दिनभर यहाँ-वहाँ यों ही चलते फिरते रहते हैं। इसका कारण यह है, कि उन्हें चलते रहने की क्रिया में ही उस समय आनन्द मालूम होता है। इसलिये सब सुखों को दुःखाभावरूप ही न कह कर यही कहा गया है, कि "इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ" (गी. ३. ३४) अर्थात् इन्द्रियों में और उसके शब्द-स्पर्श आदि विषयों में जो राग (प्रेम) और द्वेष हैं, वे दोनों पहले ही से 'अव्यस्थित' अर्थात् स्वतन्त्र-सिद्ध हैं। और अब हमें यही जानना है, कि इन्द्रियों के ये व्यापार आत्मा के लिये कल्याणदायक कैसे होंगे या कर लिये जा सकेंगे। इसके लिये श्रीकृष्ण भगवान् का यही उपदेश है, कि इन्द्रियों और मन की वृत्तियों का नाश करने का प्रयत्न करने के बदले उनको अपने आत्मा के लिये लाभदायक बनाने के अर्थ अपने आधीन रखना चाहिये—उन्हें स्वतन्त्र नहीं होने देना चाहिये। भगवान् के इस उपदेश में, और तृष्णा तथा उसी के साथ सब मनोवृत्तियों को भी समूल नष्ट करने के लिये कहने में, ज़मीन-आसमान का अन्तर है। गीता का यह तात्पर्य नहीं है, कि संसार के सब कर्तृत्व और पराक्रम का बिलकुल नाश कर दिया जाय; बल्कि उसके अठारहवें अध्याय (१८. २६) में तो कहा है, कि कार्य-कर्ता में सम-

बुद्धि के साथ धृति और उत्साह के गुणों का होना भी आवश्यक है। इस विषय पर विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ हमको केवल यही जानना है, कि 'सुख' और 'दुःख' दोनों भिन्न वृत्तियाँ हैं, या उनमें से एक दूसरी का अभाव मात्र ही है। इस विषय में गीता का मत उपर्युक्त विवेचन से पाठकों के ध्यान में आ ही गया होगा। 'क्षेत्र' का अर्थ बतलाते समय 'सुख' और 'दुःख' की अलग अलग गणना की गई है (गी. १३. ६); बल्कि यह भी कहा गया है, 'सुख' सत्त्वगुण का और 'तृष्णा' रजोगुण का लक्षण है (गी. १४. ६, ७); और सत्त्वगुण तथा रजोगुण दोनों अलग अलग हैं। इससे भी भगवद्गीता का यह मत साफ़ मालूम हो जाता है, कि सुख और दुःख दोनों एक दूसरे के प्रतियोग हैं; और भिन्न भिन्न दो वृत्तियाँ हैं। अठारहवें अध्याय में राजस त्याग की जो न्यूनता दिखलाई है, कि "कोई भी काम यदि दुःखकारक है, तो उसे छोड़ देने से त्यागफल नहीं मिलता; किंतु ऐसा त्याग राजस कहलाता है" (गीता १८. ८), वह भी इस सिद्धान्त के विरुद्ध है, कि "सब सुख तृष्णा-क्षय-मूलक ही है।"

अब यदि यह मान लें, कि सब सुख तृष्णा-क्षय-रूप अथवा दुःखाभावरूप नहीं हैं; और यह भी मान लें, कि सुख दुःख दोनों स्वतंत्र वस्तु हैं; तो भी (इन दोनों वेदनाओं के परस्पर-विरोधी या प्रतियोगी होने के कारण) यह दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है, कि जिस मनुष्य को दुःख का कुछ भी अनुभव नहीं है, उसे सुख का स्वाद मालूम हो सकता है या नहीं? कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है, कि दुःख का अनुभव हुए बिना सुख का स्वाद ही नहीं मालूम हो सकता। इसके विपरीत, स्वर्ग के देवताओं के नित्यसुख का उदाहरण दे कर कुछ पंडित प्रतिपादन करते हैं, कि सुख का स्वाद मालूम होने के लिये दुःख के पूर्वानुभव की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस तरह किसी भी खट्टे पदार्थ को पहले चखे बिना ही शहद, गुड, शक्कर, आम, केला इत्यादि पदार्थों का भिन्न भिन्न मीठापन मालूम हो जाया करता है, उसी तरह सुख के भी अनेक प्रकार होने के कारण पूर्व-दुःखानुभव के बिना ही भिन्न भिन्न प्रकार के सुखों (जैसे, रुईदार गद्दी पर से उठ कर परों की गद्दी पर बैठना इत्यादि) का सदैव अनुभव करते रहना भी सर्वथा सम्भव है। परन्तु सांसारिक व्यवहारों को देखने से मालूम हो जायगा, कि यह युक्ति ही निरर्थक है। पुराणों में देवताओं पर भी संकट पड़ने के कई उदाहरण हैं; और पुण्य का अंश घटते ही कुछ समय के बाद स्वर्ग-सुख का भी नाश हो जाया करता है। इसलिये स्वर्गीय सुख का उदाहरण ठीक नहीं है। और, यदि ठीक भी हो, तो स्वर्गीय सुख का उदाहरण हमारे किस काम का? यदि यह सत्य मान लें, कि "नित्यमेव सुखं स्वर्गे," तो इसी के आगे (म.भा. शां. १९०. १४) यह भी कहा है, कि "सुखं दुःखमिहोभयम्"–अर्थात् इस संसार में सुख और दुःख दोनों मिश्रित हैं। इसी के अनुसार समर्थ श्रीरामदास स्वामी ने भी कहा है, "हे विचारवान् मनुष्य, इस बात को अच्छी तरह सोच कर देख ले, कि इस संसार में पूर्ण सुखी कौन

है ?" इसके सिवा द्रौपदी ने सत्यभामा को यह उपदेश दिया है, कि :—

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं दुःखेन साध्वी लभते सुखानि ।

अर्थात् "सुख से सुख कभी नहीं मिलता; साध्वी स्त्री को सुख-प्राप्ति के लिये दुःख या कष्ट सहना पड़ता है" (म.भा. बन. २३३. ४); इससे कहना पड़ेगा, कि यह उपदेश इस संसार के अनुभव के अनुसार सत्य है। देखिये, यदि जामुन किसी के होंठ पर भी धर दिया जाय, तो भी उसको खाने के लिये पहले मुँह खोलना पड़ता है; और यदि मुँह में चला जाय, तो उसे खाने का कष्ट सहना ही पड़ता है। सारांश, यह बात सिद्ध है, कि दुःख के बाद सुख पानेवाले मनुष्य के सुखास्वादन में, और हमेशा विषयोपभोगों में ही निमग्न रहनेवाले मनुष्य के सुखास्वादन में बहुत भारी अंतर है। इसका कारण यह है, कि हमेशा सुख का उपभोग करते रहने से सुख का अनुभव करनेवाली इंद्रियाँ भी शिथिल होती जाती हैं। कहा भी है कि—

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः ॥

अर्थात् "श्रीमानों में सुस्वादु अन्न को सेवन करने की भी शक्ति नहीं रहती; परन्तु गरीब लोग काठ को भी पचा जाते हैं" (म. भा. शां. २८, २९)। अतएव जब कि हम को इस संसार के ही व्यवहारों का विचार करना है, तब कहना पड़ता है, कि इस प्रश्न को अधिक हल करते रहने में कोई लाभ नहीं, कि बिना दुःख पाये हमेशा सुख का अनुभव किया जा सकता है या नहीं। इस संसार में यही क्रम सदा से सुन पड़ रहा है, कि "सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्" (बन. २६०. ४९. शां. २५. २३) अर्थात् सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख मिला ही करता है। और महाकवि कालिदास ने भी मेघदूत (मे. ११४) में वर्णन किया है—

कस्यैकांतं सुखमुपनतं दुःखमेकांततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥

"किसी की भी स्थिति हमेशा सुखमय या हमेशा दुःखमय नहीं होती। सुख-दुःख की दशा पहिये के समान ऊपर और नीचे की ओर हमेशा बदलती रहती है।" अब चाहे यह दुःख हमारे सुख के मिठास को अधिक बढ़ाने के लिये उत्पन्न हुआ हो और इस प्रकृति के संसार में उसका और भी कुछ उपयोग होता हो; उक्त अनुभव-सिद्ध क्रम के बारे में मतभेद हो नहीं सकता। हाँ, यह बात कदाचित् असम्भव न होगी, कि कोई मनुष्य हमेशा ही विषय-सुख का उपभोग किया करें और उससे उसका जी भी न ऊबे। परन्तु इस कर्मभूमि (मृत्युलोक या संसार) में यह बात अवश्य असम्भव है, कि दुःख का बिलकुल नाश हो जाय; और हमेशा सुख-ही-सुख का अनुभव मिलता रहे।

यदि यह बात सिद्ध है, कि संसार केवल सुखमय नहीं है, किंतु वह सुख-दुःखात्मक है; तो अब तीसरा प्रश्न आप-ही-आप मन में पैदा होता है, कि संसार में

सुख अधिक है या दुःख ? जो पश्चिमी पंडित आधिभौतिक सुख को ही परम साध्य मानते हैं, उनमें से बहुतेरों का कहना है, कि यदि संसार में सुख से दुःख ही अधिक होता, तो (सब नहीं तो) अधिकांश लोग अवश्य ही आत्महत्या कर डालते। क्योंकि जब उन्हें मालूम हो जाता, कि संसार दुःखमय है; तो वे फिर उसमें रहने की झंझट में क्यों पड़ते ? बहुधा देखा जाता है, कि मनुष्य अपनी आयु अर्थात् जीवन से नहीं ऊबता; इसलिये निश्चयपूर्वक यही अनुमान किया जा सकता है, कि इस संसार में मनुष्य को दुःख की अपेक्षा सुख ही अधिक मिलता है; और इसीलिये धर्म-अधर्म का निर्णय भी सुख को ही सब लोगों का परम साध्य समझ कर किया जाना चाहिये। अब यदि उपर्युक्त मत की अच्छी तरह जाँच की जाय तो मालूम हो जायगा, कि यहाँ आत्महत्या का जो सम्बन्ध सांसारिक सुख के साथ जोड़ दिया गया है, वह वस्तुतः सत्य नहीं है। हाँ, यह बात सच है, कि कभी कभी कोई मनुष्य संसार से त्रस्त हो कर आत्महत्या कर डालता है; परन्तु सब लोग उसकी गणना 'अपवाद' में अर्थात् पागलों में किया करते हैं। इससे यही बोध होता है, कि सर्व-साधारण लोग भी 'आत्महत्या करने या न करने' का सम्बन्ध सांसारिक सुख के साथ नहीं जोड़ते; किंतु उसे (अर्थात् आत्महत्या करने या न करने को) एक स्वतंत्र बात समझते हैं। यदि असभ्य और जंगली मनुष्यों के उस 'संसार' या जीवन का विचार किया जावें, जो सुधरे हुए और सभ्य मनुष्यों की दृष्टि से अत्यन्त कष्टदायक और दुःखमय प्रतीत होता है; तो भी वही अनुमान निष्पन्न होगा, जिसका उल्लेख ऊपर के वाक्य में किया गया है। प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ चार्लस डार्विन ने अपने प्रवास-ग्रन्थ में कुछ ऐसे जंगली लोगों का वर्णन किया है, जिन्हें उसने दक्षिण-अमेरिका के अत्यन्त दक्षिण प्रान्तों में देखा था। उस वर्णन में लिखा है, कि वे असभ्य लोग--स्त्री, पुरुष सब--कठिन जाड़े के दिनों में भी नंगे घूमते रहते हैं; इनके पास अनाज का कुछ भी संग्रह न रहने से इन्हें कभी कभी भूखों मरना पड़ता है; तथापि इनकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है।* देखिये, जंगली मनुष्य भी अपनी जान नहीं देते; परन्तु क्या इससे यह अनुमान किया जा सकता है, कि उनका संसार या जीवन सुखमय है ? कदापि नहीं। यह बात सच है, कि वे आत्महत्या नहीं करते; परन्तु इसके कारण का यदि सूक्ष्म विचार किया जावे, तो मालूम होगा, कि हर एक मनुष्य को--चाहे वह सभ्य हो या असभ्य--केवल इसी बात में अत्यन्त आनन्द मालूम होता है, कि "मैं पशु नहीं हूँ; मनुष्य हूँ।" और अन्य सब सुखों की अपेक्षा मनुष्य होने के सुख को वह इतना अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है, कि यह संसार कितना भी कष्टमय क्यों न हो; तथापि वह उसकी ओर ध्यान नहीं देता; और न वह अपने इस मनुष्यत्व के दुर्लभ सुख को खो देने के लिये कभी तैयार रहता है। मनुष्य की बात तो दूर रही, पशु-पक्षी भी आत्महत्या नहीं करते। तो क्या इससे हम यह कह सकते हैं, कि उनका भी संसार या जीवन सुखमय

---

* Darwin's *Naturalist's Voyage Round the World*—Chap. X.

है ? तात्पर्य यह है, कि 'मनुष्य या पशु-पक्षी आत्महत्या नहीं करते' इस बात से यह भ्रामक अनुमान नहीं करना चाहिये, कि उनका जीवन सुखमय है। सच्चा अनुमान यही हो सकता है, कि संसार कैसा भी हो, उसकी कुछ अपेक्षा नहीं; सिर्फ़ अचेतन अर्थात जड़ अवस्था से सचेतन यानी सजीव अवस्था में आने ही से अनुपम आनंद मिलता है; और उसमें भी मनुष्यत्व का आनंद तो सब से श्रेष्ठ है। हमारे शास्त्रकारों ने भी कहा है :—

> भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
> बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥
> ब्राह्मणेषु च विद्वांसः विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
> कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः॥

अर्थात् "अचेतन पदार्थों की अपेक्षा सचेतन प्राणी श्रेष्ठ हैं। सचेतन प्राणियों में बुद्धिमान्, बुद्धिमानों में मनुष्य, मनुष्यों में ब्राह्मण, ब्राह्मणों में विद्वान्, विद्वानों में कृतबुद्धि (वे मनुष्य जिनकी बुद्धि सुसंस्कृत हो), कृतबुद्धियों में कर्ता (काम करनवाले), और कर्ताओं में ब्रह्मवादी श्रेष्ठ हैं।" इस प्रकार शास्त्रों (मनु. १. ९६, ९७; म.भा. उद्यो. ५. १ और २) में एक से दूसरी बढ़ी हुई श्रेणियों का जो वर्णन है, उसका भी रहस्य वही है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। और उसी न्याय से भाषा-ग्रन्थों में भी कहा गया है, कि चौरासी लाख योनियों में नरदेह श्रेष्ठ है, नरों में मुमुक्षु श्रेष्ठ है, और मुमुक्षुओं में सिद्ध श्रेष्ठ है। संसार में जो यह कहावत प्रचलित है, कि "सब को अपनी जान अधिक प्यारी होती है।" उसका भी कारण वही, जो ऊपर लिखा गया है। और इसी लिये संसार के दुःखमय होने पर भी जब कोई मनुष्य आत्महत्या करता है, तो उसको लोग पागल कहते हैं; और धर्मशास्त्र के अनुसार वह पापी समझा जाता है (म.भा. कर्ण. ७०. २८)। तथा आत्महत्या का प्रयत्न भी क़ानून के अनुसार जुर्म माना जाता है। संक्षेपमें यह सिद्ध हो गया, कि 'मनुष्य आत्महत्या नहीं करता'—इस बात से संसार के सुखमय होने का अनुमान करना उचित नहीं है। ऐसी अवस्था में हम को, 'यह संसार सुखमय है या दुःखमय ?' इस प्रश्न का निर्णय करने के लिये, पूर्वकर्मानुसार नरदेह-प्राप्ति-रूप अपने नैसर्गिक भाग्य की बात को छोड़ कर, केवल इसके पश्चात् अर्थात् इस संसार ही की बातों का विचार करना चाहिये। 'मनुष्य आत्महत्या नहीं करता; बल्कि वह जीने की इच्छा करता रहता है'—यह तो सिर्फ़ संसार की प्रवृत्ति का कारण है। आधिभौतिक पंडितों के कथनानुसार संसार के सुखमय होने का यह कोई सबूत या प्रमाण नहीं ह। यह बात इस प्रकार कही जा सकती है, कि आत्महत्या न करने की बुद्धि स्वाभाविक है; वह कुछ संसार के सुखदुःखों के तारतम्य से उत्पन्न नहीं हुई है; और, इसी लिये इससे यह सिद्ध हो नहीं सकता कि संसार सुखमय है।

केवल मनुष्य जन्म पाने के सौभाग्य को और (उसके बाद के) मनुष्य के सांसारिक व्यवहार या 'जीवन' को भ्रमवश एक ही नहीं समझ लेना चाहिये। केवल मनुष्यत्व, और मनुष्य के नित्य व्यवहार अथवा सांसारिक जीवन, ये दोनों भिन्न भिन्न बातें हैं। इस भेद को ध्यान में रख कर यह निश्चय करना है, कि इस संसार में श्रेष्ठ नरदेह-धारी प्राणी के लिये सुख अधिक है अथवा दुःख? इस प्रश्न का यथार्थ निर्णय करने के लिये केवल यही सोचना एकमात्र साधन या उपाय है, कि प्रत्येक मनुष्य के "वर्तमान समय की" वासनाओं में से कितनी वासनाएँ सफल हुईं और कितनी निष्फल। "वर्तमान समय की" कहने का कारण यह है, कि जो बातें सभ्य या सुधरी हुई दशा के सभी लोगों को प्राप्त हो जाया करती हैं, उनका नित्य व्यवहार में उपयोग होने लगता है; और उनसे जो सुख हमें मिलता है, उसे हम लोग भूल जाया करते हैं। एवं जिन वस्तुओं को पाने की नई इच्छा उत्पन्न होती है, उनमें से जितनी हमें प्राप्त हो सकती हैं, सिर्फ़ उन्हीं के आधार पर हम इस संसार के सुखदुःखों का निर्णय किया करते हैं। इस बात की तुलना करना, कि हमें वर्तमान काल में कितने सुख-साधन उपलब्ध हैं; और सौ वर्ष पहले इनमें से कितने सुख-साधन प्राप्त हो गये थे। और इस बात का विचार करना, कि आज के दिन मैं सुखी हूँ या नहीं; ये दोनों बातें अत्यंत भिन्न हैं। इन बातों को समझने के लिये उदाहरण लीजिये। इसमें संदेह नहीं; कि सौ वर्ष पहले की बैलगाड़ी की यात्रा से वर्तमान समय की रेलगाड़ी की यात्रा अधिक सुखकारक है। परन्तु अब इस रेलगाड़ी से मिलनेवाले सुख के 'सुखत्व' को हम लोग भूल गये हैं। और इसका परिणाम यह दीख पड़ता है, कि किसी दिन डाक देर से आती है; और हमारी चिठ्ठी हमें समय पर नहीं मिलती, तो हमें अच्छा नहीं लगता—कुछ दुःख ही सा होता है। अतएव मनुष्य के वर्तमान समय के सुख-दुःखों का विचार, उन सुख साधनों के आधार पर नहीं किया जाता कि जो उपलब्ध हैं; किन्तु यह विचार मनुष्य की 'वर्तमान' आवश्यकताओं (इच्छाओं या वासनाओं) के आधार पर ही किया जाता है। और, जब हम इन आवश्यकताओं, इच्छाओं या वासनाओं का विचार करने लगते हैं, तब मालूम हो जाता है, कि उनका तो कुछ अन्त ही नहीं—वे अनन्त और अमर्यादित हैं। यदि हमारी एक इच्छा आज सफल हो जाय, तो कल दूसरी नई इच्छा उत्पन्न हो जाती है; और मन में यह भाव उत्पन्न होता है, कि वह इच्छा भी सफल हो। ज्यों ज्यों मनुष्य की इच्छा या वासना सफल होती जाती है, त्यों त्यों उसकी दौड़ एक कदम आगे ही बढ़ती चली जाती है; और, जबकि यह बात अनुभवसिद्ध है, कि इन सब इच्छाओं या वासनाओं का सफल होना सम्भव नहीं, तब इसमें संदेह नहीं, कि मनुष्य दुःखी हुए बिना रह नहीं सकता। यहाँ निम्न दो बातों के भेद पर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए :— (१) सब सुख केवल तृष्णा-क्षय-रूप ही हैं; और (२) मनुष्य को कितना ही सुख मिले, तो भी वह असंतुष्ट ही रहता है। यह कहना एक बात है, कि प्रत्येक

सुख दुःखाभावरूप नहीं है। किंतु सुख और दुःख इन्द्रियों की दो स्वतन्त्र वेदनाएँ हैं; और यह कहना उससे बिलकुल ही भिन्न है, कि मनुष्य किसी एक समय पाये हुए सुख को भूल कर और भी अधिकाधिक सुख पाने के लिये असंतुष्ट बना रहता है। इनमें से पहली बात सुख के वास्तविक स्वरूप के विषय में है; और दूसरी बात यह है, कि पाये हुए सुख से मनुष्य की पूरी तृप्ति होती है या नहीं? विषय-वासना हमेशा अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है, इसलिये जब प्रतिदिन नये नये सुख नहीं मिल सकते, तब यही मालूम होता है, कि पूर्व-प्राप्त सुखों को ही बार बार भोगते रहना चाहिये--और इसी से मन की इच्छा का दमन नहीं होता। विटेलियस नामक एक रोमन बादशाह था। कहते हैं कि वह जिह्वा का सुख हमेशा पाने के लिये, भोजन करने पर किसी औषधि के द्वारा कै कर डालता था; और प्रतिदिन अनेक बार भोजन किया करता था। परन्तु, अन्त में पछतानेवाले ययाति राजा की कथा इससे भी अधिक शिक्षादायक है। यह राजा शुक्राचार्य के शाप से, बुड्ढा हो गया था; परन्तु उन्हीं की कृपा से इसको यह सहूलियत भी हो गई थी, कि अपना बुढापा किसी को दे कर इसके पलटे में उसकी जवानी ले लें। तब इसने अपने पुरु नामक बेटे की तरुणावस्था माँग ली, और सौ दो सौ नहीं; पूरे एक हज़ार वर्ष तक सब प्रकार के विषय-सुखों का उपभोग किया। अन्त में उसे यही अनुभव हुआ, कि इस दुनिया के सारे पदार्थ एक मनुष्य की भी सुख-वासना को तृप्त करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं। तब उसके मुख से यही उद्गार निकल पड़ा कि :--

> न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

अर्थात् "सुखों के उपभोग से विषय-वासना की तृप्ति तो होती ही नहीं; किंतु विषय-वासना दिनोंदिन उसी प्रकार बढ़ती जाती है; जैसे अग्नि की ज्वाला हवन-पदार्थों से बढ़ती जाती है" (म.भा. आ. ७५. ४९)। यही श्लोक मनुस्मृति में भी पाया जाता है (मनु. २. ९४)। तात्पर्य यह है, कि सुख के साधन चाहे जितने उपलब्ध हों, तो भी इन्द्रियों की इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। इसलिये केवल सुखोपभोग से सुख की इच्छा कभी तृप्त नहीं हो सकती, उसको रोकने या दबाने के लिये कुछ अन्य उपाय अवश्य ही करना पड़ता है। यह तत्त्व हमारे सभी धर्म-ग्रन्थकारों को पूर्णतया मान्य है; और इसलिये उनका प्रथम उपदेश यह है, कि प्रत्येक मनुष्य को अपने कामोपभोग की मर्यादा बाँध लेनी चाहिये। जो लोग कहा करते हैं, कि इस संसार में परम साध्य केवल विषयोपभोग ही है; वे यदि उक्त अनुभूत सिद्धान्त पर थोड़ा भी ध्यान दें, तो उन्हें अपने मन की निस्सारता तुरन्त ही मालूम हो जायगी। वैदिक धर्म का यह सिद्धान्त बौद्धधर्म में भी पाया जाता है; और, ययाति राजा के सदृश, मान्धाता नामक पौराणिक राजा ने भी मरते समय कहा है :--

न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति
अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति ॥

"कार्षापण नामक महामूल्यवान् सिक्के की यदि वर्षा होने लगे, तो भी कामवासना की तित्ति अर्थात् तृप्ति नहीं होती; और स्वर्ग का भी सुख मिलने पर कामी पुरुष की कामेच्छा पूरी नहीं होती।" यह वर्णन धम्मपद (१८६. १८७) नामक बौद्ध ग्रन्थ में है। इससे कहा जा सकता है, कि विषयोपभोगरूपी सुख की पूर्ति कभी हो नहीं सकती; और इसी लिये हरएक मनुष्य को हमेशा ऐसा मालूम होता है कि, "मैं दुःखी हूँ!" मनुष्यों की इस स्थिति को विचारने से वही सिद्धान्त स्थिर करना पड़ता है,जो महाभारत (शां. २०५, ६; ३३०. १६) में कहा गया है :—

सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः ॥

अर्थात् "इस जीवन में यानी संसार में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है।" यही सिद्धान्त साधु तुकाराम ने इस प्रकार कहा है :—"सुख देखो तो राई बराबर है, और दुःख पर्वत के समान है।" उपनिषत्कारों का भी सिद्धान्त ऐसा ही है (मैत्र्यु. १. २–४)। गीता (८. १५ और ९. ३३) में भी कहा गया है, कि मनुष्य का जन्म अशाश्वत और "दुःखों का घर" है, तथा यह संसार अनित्य और "सुखरहित" है। जर्मन पंडित शोपेनहर का ऐसा ही मत है, जिसे सिद्ध करने के लिये उस ने एक विचित्र दृष्टान्त दिया है। वह कहता है, कि मनुष्य की समस्त सुखेच्छाओं में से जितनी सुखेच्छाएँ सफल होती हैं, उसी परिमाण से हम उन्हें सुखी समझते हैं; और जब सुखेच्छाओं की अपेक्षा सुखोपभोग कम हो जाता है, तब कहा जाता है, कि वह मनुष्य उस परिणाम से दुःखी है। इस परिमाण को गणित की रीति से समझाना हो, तो सुखोपभोग को सुखेच्छा से भाग देना चाहिये और अपूर्णाङ्क के रूप में $\frac{\text{सुखोपभोग}}{\text{सुखेच्छा}}$ ऐसा लिखना चाहिये। परन्तु यह अपूर्णांक है भी विलक्षण; क्योंकि इसका हर (अर्थात् सुखेच्छा), अंश (अर्थात् सुखोपभोग) की अपेक्षा, हमेशा अधिकाधिक बढ़ता ही रहता है। यदि यह अपूर्णांक पहले $\frac{१}{२}$ हो, और यदि आगे—उसका अंश १ से ३ हो जाय, तो उसका हर २ से १० हो जायगा—अर्थात् वही अपूर्णाङ्क $\frac{३}{१०}$ हो जाता है। तात्पर्य यह है, यदि अंश तिगुना बढ़ता है, तो हर पँचगुना बढ़ जाता है; जिसका फल यह होता है, कि वह अपूर्णांक पूर्णता की ओर न जा कर अधिकाधिक अपूर्णता की ओर ही चला जाता है। इसका मतलब यही है, कि कोई मनुष्य कितना ही सुखोपभोग करे, उसकी सुखेच्छा दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है; जिससे यह आशा करना व्यर्थ है, कि मनुष्य पूर्ण सुखी हो सकता है। प्राचीन काल में कितना सुख था; इसका विचार करते समय हम लोग इस अपूर्णांक के अंश का तो पूर्ण ध्यान रखते हैं; परन्तु इस बात को भूल जाते हैं, कि अंश की

अपेक्षा हर कितना बढ़ गया है । किन्तु जब हमें सुख-दुःख की मात्रा का ही निर्णय करना है, तो हमें किसी काल का विचार न करके सिर्फ़ यही देखना चाहिये, कि उक्त अपूर्णांक के अंश और हर में कैसा संबंध है । फिर हमें आप-ही-आप मालूम हो जायगा, कि इस अपूर्णांक का पूर्ण होना असंभव है । " न जातु कामः कामानां ' इस मनुवचन का (२. ९४) भी यही अर्थ है । संभव है, कि बहुतेरों को सुख-दुःख नापने की गणित की यह रीति पसन्द न हो; क्योंकि यह उष्णतामापक यंत्र के समान कोई निश्चित साधन नहीं है । परन्तु इस युक्तिवाद से प्रगट हो जाता है, कि इस बात को सिद्ध करने के लिये भी कोई निश्चित साधन नहीं, कि " संसार में सुख ही अधिक है । " यह आपत्ति दोनों पक्षों के लिये समान ही है इसलिये उक्त प्रतिपादन के साधारण सिद्धान्त में--अर्थात् उस सिद्धान्त में जो सुखोपभोग की अपेक्षा सुखेच्छा की अमर्यादित वृद्धि से निष्पन्न होता है--यह आपत्ति कुछ बाधा नहीं डाल सकती । धर्म-ग्रंथों में तथा संसार के इतिहास में इस सिद्धान्त के पोषक अनेक उदाहरण मिलते हैं । किसी ज़माने में स्पेन देश में मुसलमानों का राज्य था । वहाँ तीसरा अबदुल रहमान* नामक एक बहुत ही न्यायी और पराक्रमी बादशाह हो गया है । उसने यह देखने के लिये-कि मेरे दिन कैसे कटते हैं-एक रोज़नामचा बनाया था; जिसे देखके अन्त में उसे यह ज्ञात हुआ, कि पचास वर्ष के शासन-काल में उसके केवल चौदह दिन सुखपूर्वक बीते । किसी ने हिसाब करके बतलाया है, कि संसारभर के--विशेषतः यूरोप के--प्राचीन और अर्वाचीन सभी तत्त्वज्ञानियों के मतों को देखो; तो यही मालूम होगा, कि उनमें से प्रायः आधे लोग संसार को दुःखमय कहते हैं; और प्रायः आधे उसे सुखमय कहते हैं । अर्थात् संसार को सुखमय तथा दुःखमय कहनेवालों की संख्या प्रायः बराबर है † । यदि इस तुल्य संख्या में हिंदू तत्त्वज्ञों के मतों को जोड़ दें, तो कहना नहीं होगा, कि संसार को दुःखमय माननेवालों की संख्या ही अधिक हो जायगी ।

संसार के सुख-दुःखों के उक्त विवेचन को सुन कर कोई संन्यासमार्गीय पुरुष कह सकता है, कि यद्यपि तुम इस सिद्धान्त को नहीं मानते, कि " सुख कोई सच्चा पदार्थ नहीं है; फलतः सब तृष्णात्मक कर्मों को छोड़े बिना शांति नहीं मिल सकती । " तथापि तुम्हारे ही कथनानुसार यह बात सिद्ध है, कि तृष्णा से असंतोष और असंतोष से दुःख उत्पन्न होता है । तब ऐसी व्यवस्था में यह कह देने में क्या हर्ज है, कि इस असंतोष को दूर करने के लिये मनुष्य को अपनी सारी तृष्णाओं का और उन्हीं के साथ सब सांसारिक कर्मों का भी त्याग करके सदा सन्तुष्ट ही रहना चाहिये--फिर तुम्हें इस बात का विचार नहीं करना चाहिये, कि उन कर्मों को तुम परोपकार के लिये करना चाहते हो या स्वार्थ के लिये । महाभारत (वन. २१५. २२) में भी कहा है कि " असंतोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम् "

* *Moors in Spain* p. 128 (Story of the Nations Series)

† *Macmillan's Promotion of Happiness* p. 26.

अर्थात् असंतोष का अन्त नहीं है और संतोष ही परम सुख है। जैन और बौद्ध धर्मों की नींव भी इसी तत्त्व पर डाली गई है; तथा पश्चिमी देशों में शोपेनहर* ने अर्वाचीन काल में इसी मत का प्रतिपादन किया है; परन्तु इसके विरुद्ध यह प्रश्न भी किया जा सकता है, कि जिह्वा से कभी कभी गालियाँ वगैरह अपशब्दों का उच्चारण करना पड़ता है। तो क्या जीभ को ही समूल काट कर फेंक देना चाहिये? अग्नि से कभी कभी मकान जल जाते हैं; तो क्या लोगों ने अग्नि का सर्वथा त्याग ही कर दिया है? या उन्हों ने भोजन बनाना ही छोड़ दिया है? अग्नि की बात कौन कहे; जब हम विद्युत् शक्ति को भी मर्यादा में रख कर उसको नित्यव्यवहार के उपयोग में लाते हैं, उसी तरह तृष्णा और असन्तोष की भी सुव्यवस्थित मर्यादा बाँधना कुछ असंभव नहीं है। हाँ, यदि असन्तोष सर्वांश में और सभी समय हानिकारक होगा, तो बात दूसरी थी; परन्तु विचार करने से मालूम होगा कि सचमुच बात ऐसी नहीं है। असन्तोष का यह अर्थ बिलकुल नहीं, कि किसी चीज़ को पाने के लिये रात दिन हाय हाय करते रहें, रोते रहें; या न मिलने पर सिर्फ़ शिकायत ही किया करें। ऐसे असन्तोष को शास्त्रकारों ने भी निंद्य माना है; परन्तु उस इच्छा का मूलभूत असन्तोष कभी निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। जो यह कहे, कि तुम अपनी वर्तमान स्थिति में ही पड़े पड़े सड़ते मत रहो; किंतु उसमें यथाशक्ति शान्त और समचित्त से अधिकाधिक सुधार करते जाओ; तथा शक्ति के अनुसार उसे उत्तम अवस्था में ले जाने का प्रयत्न करो। जो समाज चार वर्णों में विभक्त है; उसमें ब्राह्मणों ने ज्ञान की, क्षत्रियों ने ऐश्वर्य की और वैश्यों ने धन-धान्य की उक्त प्रकार की इच्छा या वासना छोड़ दी, तो कहना नहीं होगा; कि वह समाज शीघ्र ही अधोगति में पहुँच जायगा। उसी अभिप्राय को मन में रख कर व्यासजी ने (शां. २३. ९) युधिष्ठिर से कहा है, कि "यज्ञो विद्या समुत्थानमसंतोषः श्रियं प्रति"—अर्थात् यज्ञ, विद्या, उद्योग और ऐश्वर्य के विषय में असंतोष (रखना) क्षत्रिय के गुण हैं। उसी तरह विदुला ने भी अपने पुत्र को उपदेश करते समय (म.भा. उ. १३२–३३) कहा है, कि "संतोषो वै श्रियं हन्ति"—अर्थात् संतोष से ऐश्वर्य का नाश होता है; और किसी अन्य अवसर पर एक वाक्य (म.भा. सभा. ५५. ११) में यह भी कहा गया है, कि "असंतोषः श्रियो मूलं" अर्थात् असंतोष ही ऐश्वर्य का मूल है†। ब्राह्मण-धर्म में संतोष एक गुण बतलाया गया है सही; परन्तु उसका अर्थ केवल यही है, कि वह चातुर्वर्ण्य-धर्मानुसार द्रव्य और ऐहिक ऐश्वर्य के विषय में संतोष रखे। यदि

---

*Schopenhauer's *World as Will and Representation*, Vol. II Chap. 46. संसार के दुःखमयत्व का, शोपेनहरकृत वर्णन अत्यन्त ही सरस है। मूलग्रन्थ जर्मन भाषा में है और उसका भाषान्तर अंग्रेज़ी में भी हो चुका है।

† *Cf.* "Unhappiness is the cause of progress." Dr. Paul Carus' *The Ethical Problem*, p. 251 (2nd Ed.).

कोई ब्राह्मण कहने लगे, कि मुझे जितना ज्ञान प्राप्त हो चुका है, उसी से मुझे संतोष है; तो वह स्वयं अपना नाश कर बैठेगा। इसी तरह यदि कोई वैश्य या शूद्र, अपने अपने धर्म के अनुसार जितना मिला है उतना पा कर ही, सदा संतुष्ट बना रहे तो उसकी भी वही दशा होगी। सारांश यह है, कि असंतोष सब भावी उत्कर्ष का, प्रयत्न का, ऐश्वर्य का, और मोक्ष का बीज है। हमें इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि यदि हम असंतोष का पूर्णतया नाश कर डालेंगे, तो इस लोक और परलोक में भी हमारी दुर्गति होगी। श्रीकृष्ण का उपदेश सुनते समय जब अर्जुन ने कहा, कि " भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् " (गी. १०. १८) अर्थात् आप के अमृततुल्य भाषण को सुन कर मेरी तृप्ति होती ही नहीं। इसलिये आप फिर भी अपनी विभूतियों का वर्णन कीजिये—तब भगवान् ने फिर से अपनी विभूतियों का वर्णन आरम्भ किया। उन्हों ने ऐसा नहीं कहा, कि तू अपनी इच्छा को वश में कर। असंतोष या अतृप्ति अच्छी बात नहीं है। इससे सिद्ध होता है, कि योग्य और कल्याणकारक बातों में उचित असंतोष का होना भगवान् को भी इष्ट है। भर्तृहरि का भी इसी आशय का एक श्लोक है। यथाः " यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ " अर्थात् रुचि या इच्छा अवश्य होनी चाहिये। परंतु वह यश के लिये ही। और व्यसन भी होना चाहिये। परन्तु वह विद्या का हो, अन्य बातों का नहीं। काम-क्रोध आदि विकारों के समान ही असंतोष को भी अनिवार्य नहीं होने देना चाहिये। यदि वह अनिवार्य हो जायगा, तो निस्संदेह हमारे सर्वस्व का नाश कर डालेगा। इसी हेतु से, केवल विषयभोग की प्रीति के लिये तृष्णा पर तृष्णा लाद कर और एक आशा के बाद दूसरी आशा रख कर सांसारिक सुखों के पीछे हमेशा भटकनेवाले पुरुषों की सम्पत्ति को गीता के सोलहवें अध्याय में " आसुरी संपत्ति " कहा है। ऐसी रात दिन की हाय हाय करते रहने से मनुष्य के मन की सात्त्विक वृत्तियों का नाश हो जाता है। उसकी अधोगति होती है; और तृष्णा की पूरी तृप्ति होना असंभव होने के कारण कामोपभोग-वासना नित्य अधिकाधिक बढ़ती जाती है; तथा वह मनुष्य अंत में उसी दशा में मर जाता है। परन्तु, विपरीत पक्ष में तृष्णा और असंतोष के इस दुष्परिणाम से बचने के लिये सब प्रकार के तृष्णाओं के साथ सब कर्मों को एकदम छोड़ देना भी सात्त्विक मार्ग नहीं है। उक्त कथनानुसार तृष्णा या असंतोष भावी उत्कर्ष का बीज है। इसलिये चोर के डर से साह को ही मार डालने का प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिये। उचित मार्ग तो यही है, कि हम इस बात का भली भाँति विचार किया करें, कि किस तृष्णा या किस असंतोष से हमें दुःख होगा; और जो विशिष्ट आशा, तृष्णा या असंतोष दुःखकारक हो, उसे छोड़ दें। उनके लिये समस्त कर्मों को छोड़ देना उचित नहीं। केवल दुःखकारी आशाओं को ही छोड़ने और स्वधर्मानुसार कर्म करने की इस युक्ति या कौशल्य को ही योग अथवा कर्मयोग कहते हैं (गी. २. ५०); और यही गीता का मुख्यतः प्रतिपाद्य विषय है। इसलिये यहाँ थोड़ा-सा इस बात का और

विचार कर लेना चाहिये, कि गीता में किस प्रकार की आशा को दुःखकारी कहा है ।

मनुष्य कान से सुनता है, त्वचा से स्पर्श करता है, आँखों से देखता है, जिह्वा से स्वाद लेता है तथा नाक से सूँघता है । इंद्रियों के ये व्यापार जिस परिमाण से इंद्रियों की स्वाभाविक वृत्तियों के अनुकूल या प्रतिकूल होते हैं, उसी परिमाण से मनुष्य को सुख अथवा दुःख हुआ करता है । सुख-दुःख के वस्तुस्वरूप के लक्षण का यह वर्णन पहले हो चुका है; परन्तु सुख-दुःखों का विचार केवल इसी व्याख्या से पूरा नहीं हो जाता । आधिभौतिक सुख-दुःखों के उत्पन्न होने के लिये बाह्य-पदार्थों का संयोग इंद्रियों के साथ होना यद्यपि प्रथमतः आवश्यक है, तथापि इसका विचार करने पर—कि आगे इन सुख-दुखों का अनुभव मनुष्य को किस रीति से होता है—यह मालूम होगा, कि इंद्रियों के स्वाभाविक व्यापार से उत्पन्न होनेवाले इन सुख-दुःखों को जानने का (अर्थात् इन्हें अपने लिये स्वीकार या स्वीकार करने का) काम हरएक मनुष्य अपने मन के अनुसार ही किया करता है । महाभारत में कहा है, कि "चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा" (म.भा. शां. ३११, १७)—अर्थात् देखने का काम केवल आँखों से ही नहीं होता; किंतु उस में मन की भी सहायता होती है । और यदि मन व्याकुल रहता है, तो आखों से देखने पर भी अनदेखा-सा हो जाता है । बृहदारण्यकोपनिषद् (१. ५. ३) में भी यह वर्णन पाया जाता है; यथा (अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्) "मेरा मन दूसरी ओर लगा था; इसलिये मुझे नहीं दीख पड़ा" और (अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्) "मेरा मन दूसरी ही ओर था; इसलिये मैं सुन नहीं सका"—इससे यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है, कि आधिभौतिक सुखदुःखों का अनुभव होने के लिये इंद्रियों के साथ मन की भी सहायता होनी चाहिये; और आध्यात्मिक सुख-दुःख तो मानसिक होते ही हैं । सारांश यह है, कि सब प्रकार के सुख-दुःखों का अनुभव अंत में हमारे मन पर ही अवलम्बित रहता है; और यदि यह बात सच है, तो यह भी आप-ही-आप सिद्ध हो जाता है, कि मनोनिग्रह से सुख-दुःखों के अनुभव का भी निग्रह अर्थात् दमन करना कुछ असम्भव नहीं है । इसी बात पर ध्यान रखते हुए मनुजी ने सुख-दुःखों का लक्षण नैय्यायिकों के लक्षणसे भिन्न प्रकार का बतलाया है। उनका कथन है कि :—

> सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
> एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

अर्थात् "जो दूसरों की (बाह्य-वस्तुओं की) अधीनता में है, वह सब दुःख है; और जो अपने (मन के) अधिकार में है, वह सुख है । यही सुख-दुःख का संक्षिप्त लक्षण है" (मनु. ४. १६०) । नैय्यायिकों के बतलाये हुए लक्षण के 'वेदना' शब्द में शारीरिक और मानसिक दोनों वेदनाओं का समावेश होता है; और उससे सुख-दुःख का बाह्य वस्तुस्वरूप भी मालूम हो जाता है; और मनु का विशेष ध्यान सुख-दुःखों के केवल आन्तरिक अनुभव पर है । बस, इस बात को ध्यान में रखने से

सुख-दुःख के उक्त दोनों लक्षणों में कुछ विरोध नहीं पड़ेगा। इस प्रकार जब सुख-दुःखों के अनुभव के लिये इंद्रियों का अवलम्ब अनावश्यक हो गया, तब तो यही कहना चाहिये कि :—

भैषज्यमेतद् दुखस्य यदेतन्नानुचिंतयेत् ।

"मन से दुःखों का चिंतन न करना ही दुःखनिवारण की अचूक औषधि है' (म. भा. शां. २०५. २); और इसी तरह मन को दबा कर सत्य तथा धर्म के लिये सुखपूर्वक अग्नि में जल कर भस्म हो जानेवालों के अनेक उदाहरण इतिहास में भी मिलते हैं। इसलिये गीता का कथन है, कि हमें जो कुछ करना है उसे मनोनिग्रह के साथ और उसकी फलाशा को छोड़ कर तथा सुख-दुःख में समभाव रख कर करना चाहिये। ऐसा करने से न तो हमें कर्माचरण का त्याग करना पड़ेगा और न हमें उसके दुःख की बाधा ही होगी। फलाशा-त्याग का यह अर्थ नहीं है, कि हमें जो फल मिले उसे छोड़ दें; अथवा ऐसी इच्छा रखें, कि वह फल किसी को कभी न मिले। इसी तरह फलाशा में—और कर्म करने की केवल इच्छा, आशा, हेतु या फल के लिये किसी बात की योजना करने में—भी बहुत अंतर है। केवल हाथ पैर हिलाने की इच्छा होने में और अमुक मनुष्य को पकड़ने के लिये या किसी मनुष्य को लात मारने के लिये हाथ पैर हिलाने की इच्छा में बहुत भेद है। पहली इच्छा केवल कर्म करने की ही है। उसमें कोई दूसरा हेतु नहीं है; और यदि यह इच्छा छोड़ दी जाय, तो कर्म का करना ही रुक जायगा। इस इच्छा के अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य को इस बात का ज्ञान भी होना चाहिये, कि हरएक कर्म का कुछ-न-कुछ फल अथवा परिणाम अवश्य ही होगा। बल्कि एसे ज्ञान के साथ साथ उसे इस बात की इच्छा भी अवश्य होनी चाहिये, कि मैं अमुक फल-प्राप्ति के लिये अमुक प्रकार की योजना करके ही अमुक कर्म करना चाहता हूँ। नहीं तो उसके सभी कार्य पागलों के-से निरर्थक हुआ करेंगे। ये सब इच्छाएँ, हेतु या योजनाएँ, परिणाम में दुःखकारक नहीं होतीं; और, गीता का यह कथन भी नहीं है, कि कोई उनको छोड़ दें। परन्तु स्मरण रहे, कि स्थिति से बहुत आगे बढ़ कर जब मनुष्य के मन में यह भाव होता है, कि "मैं जो कर्म करता हूँ, मेरे उस कर्म का अमुक फल मुझे अवश्य ही मिलना चाहिये"—अर्थात् जब कर्मफल के विषय में, कर्ता की बुद्धि में ममत्व की यह आसक्ति, अभिमान, अभिनिवेश, आग्रह या इच्छा उत्पन्न हो जाती है और मन उसी से ग्रस्त हो जाता है—और जब इच्छानुसार फल मिलने में बाधा होने लगती है, तभी दुःख-परम्परा का प्रारम्भ हुआ करता है। यदि यह बाधा अनिवार्य अथवा दैवकृत हो, तो केवल निराशामात्र होती है; परन्तु वही कहीं मनुष्यकृत हुई तो फिर क्रोध और द्वेष भी उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे कुकर्म होने पर मर मिटना पड़ता है। कर्म के परिणाम के विषय में जो यह ममत्वयुक्त आसक्ति होती है, उसी को 'फलाशा', 'संग', और 'अहंकारबुद्धि' कहते हैं; और यह बतलाने के लिये, कि संसार की दुःखपरम्परा यहीं से शुरू होती है, गीता के

दूसरे अध्याय में कहा गया है, कि विषय-संग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से मोह और अन्त में मनुष्य का नाश भी हो जाता है (गी. २. ६२, ६३)। अब यह बात सिद्ध हो गई, कि जड़ सृष्टि के अचेतन कर्म स्वयं दुःख के मूल कारण नहीं हैं, किन्तु मनुष्य उनमें जो फलाशा, संग, काम या इच्छा लगाये रहता है, वही यथार्थ में दुःख का मूल है। ऐसे दुःखों से बचे रहने का सहज उपाय यही है कि सिर्फ़ विषय की फ़लाशा, संग, काम या आसक्ति को मनोनिग्रह द्वारा छोड़ देना चाहिये। संन्यासमार्गियों के कथनानुसार सब विषयों और कर्मों ही को, अथवा सब प्रकार की इच्छाओं ही को, छोड़ देने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी लिये गीता (२. ६४) में कहा है, कि जो मनुष्य फलाशा को छोड़ कर यथाप्राप्त विषयों का निष्काम और निस्संगबुद्धि से सेवन करता है, वही सच्चा स्थितप्रज्ञ है। संसार के कर्म-व्यवहार कभी रुक नहीं सकते। मनुष्य चाहे इस संसार में रहे या न रहे; परन्तु प्रकृति अपने गुणधर्मानुसार सदैव अपना व्यापार करती ही रहेगी। जड़ प्रकृति को न तो इसमें कुछ सुख है, और न दुःख। मनुष्य व्यर्थ अपनी महत्ता समझ कर प्रकृति के व्यवहारों में आसक्त हो जाता है। इसी लिये वह सुख-दुःख का भागी हुआ करता है। यदि वह इस आसक्त-बुद्धि को छोड़ दे; और अपने सब व्यवहार इस भावना से करने लगे, कि "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" (गी. ३. २८)—प्रकृति के गुणधर्मानुसार ही सब व्यापार हो रहे हैं, तो असंतोषजन्य कोई भी दुःख उसको हो ही नहीं सकता। इस लिये यह समझ कर, कि प्रकृति तो अपना व्यापार करती ही रहती है; उसके लिये संसार को दुःखप्रधान मान कर रोते नहीं रहना चाहिये; और न उसको त्यागने ही का प्रयत्न करना चाहिये। महाभारत (शां. २५, २६) में व्यासजी ने युधिष्ठिर को यह उपदेश दिया है कि :—

> सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
> प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥

"चाहे सुख हो या दुःख, प्रिय हो अथवा अप्रिय, जो जिस समय जैसा प्राप्त हो वह उस समय वैसा ही, मन को निराश न करते हुए (अर्थात् निखट्टू बनकर अपने कर्तव्य को न छोड़ते हुए) सेवन करते रहो।" इस उपदेश का महत्त्व पूर्णतया तभी ज्ञात हो सकता है, जब कि हम इस बात को ध्यान में रखें, कि संसार में अनेक कर्तव्य ऐसे हैं, जिन्हें दुःख सह कर भी करना पड़ता है। भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ का यह लक्षण बतलाया है, कि "यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्" (२. ५७.)—अर्थात् शुभ अथवा अशुभ जो कुछ आ पड़े, उस के बारे में जो सदा निष्काम या निस्संग रहता है, और जो उसका अभिनंदन या द्वेष कुछ भी नहीं करता, वही स्थितप्रज्ञ है। फिर पाँचवें अध्याय (५. २०) में कहा है, कि "न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्"—सुख पा कर फूल न जाना चाहिये; और दुःख में कातर भी न होना चाहिये। एवं दूसरे अध्याय

(२. १४, १५) म इन सुख-दुःखों को निष्काम-बुद्धि से भोगने का उपदेश किया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने उसी उपदेश को बार बार दुहराया है (गी. ५. ६; १३. ६)। वेदान्तशास्त्र की परिभाषा में उसी को "सब कर्मों को ब्रह्मार्पण करना" कहते हैं। और भक्तिमार्ग में 'ब्रह्मार्पण' के बदले 'श्रीकृष्णार्पण' शब्द की योजना की जाती है। बस, यही गीतार्थ का सारांश है।

कर्म चाहे किसी भी प्रकार का हो; परन्तु कर्म करने की इच्छा और उद्योग को बिना छोड़े, तथा फल-प्राप्ति की आसक्ति न रख कर (अर्थात् निस्संग बुद्धि से) उसे करते रहना चाहिये; और साथ साथ हमें भविष्य में परिणाम-स्वरूप में मिलने वाले सुख-दुःखों को भी एक ही समान भोगने के लिये तैयार रहना चाहिये। ऐसा करने से अमर्यादित तृष्णादि और असन्तोषजनित दुष्परिणामों से तो हम बचेंगे ही; परंतु दूसरा लाभ यह होगा, कि तृष्णा या असन्तोष के साथ साथ कर्म को भी त्याग देने से जीवन के ही नष्ट हो जाने का जो प्रसंग आ सकता है, वह भी नहीं आ सकेगा; और हमारी मनोवृत्तियाँ शुद्ध हो कर प्राणिमात्र के लिये हितप्रद हो जावेंगी। इसमें सन्देह नहीं, कि इस तरह फलाशा छोड़ने के लिये भी इन्द्रियों का और मन का वैराग्य से पूरा दमन करना पड़ता है; परन्तु स्मरण रहे, कि इन्द्रियों को स्वाधीन करके स्वार्थ के बदले वैराग्य से तथापि निष्काम-बुद्धि से लोकसंग्रह के लिये उन्हें अपने अपने व्यापार करने देना कुछ और बात है; और संन्यास-मार्गानुसार तृष्णा को मारने के लिये इंद्रियों के सभी व्यापारों को अर्थात् कर्मों को आग्रहपूर्वक समूल नष्ट कर डालना बिलकुल ही भिन्न बात है। इन दोनों में ज़मीन-अस्मान का अन्तर है। गीता में जिस वैराग्य का और जिस इन्द्रियनिग्रह का उपदेश किया गया है, वह पहले प्रकार का है; दूसरे प्रकार का नहीं; और उसी तरह अनुगीता (महा. अश्व. ३२. १७–२३) में जनक-ब्राह्मण संवाद में राजा जनक ब्राह्मणरूपधारी धर्म से कहते हैं कि :—

> शृणु बुद्धिं च यां ज्ञात्वा सर्वत्र विषयो मम ।
> नाहमात्मार्थमिच्छामि गंधान् घ्राणगतानपि ॥
> ... ...
> नाहमात्मार्थमिच्छामि मनो नित्यं मनोन्तरे ।
> मनो मे निर्जितं तस्मात् वशे तिष्ठति सर्वदा ॥

—अर्थात् "जिस (वैराग्य) बुद्धि को मन में धारण करके मैं सब विषयों का सेवन करता हूँ, उसका हाल सुनो। नाक से मैं 'अपने लिये' वास नहीं लेता, (आँखों से मैं 'अपने लिये' नहीं देखता, इत्यादि) और मन का भी उपयोग मैं आत्मा के लिये, अर्थात् अपने लाभ के लिये नहीं करता। अतएव मेरी नाक (आँख इत्यादि) और मन मेरे वश में हैं, अर्थात् मैंने उन्हें जीत लिया है।" गीता के वचन (गी. ३. ६, ७) का भी यही तात्पर्य है, कि जो मनुष्य केवल इन्द्रियों की वृत्ति को

तो रोक देता है, और मन से विषयों का चिंतन करता रहता है, वह पूरा ढोंगी है; और जो मनुष्य मनोनिग्रहपूर्वक काम्य-बुद्धि को जीत कर, सब मनोवृत्तियों को लोकसंग्रह के लिये अपना अपना काम करने देता है, वही श्रेष्ठ है। बाह्य-जगत् या इंद्रियों के व्यापार हमारे उत्पन्न किये हुए नहीं हैं, वे स्वभावसिद्ध हैं। हम देखते हैं, कि जब कोई संन्यासी बहुत भूखा होता है तब उसको--चाहे वह कितना ही निग्रही हो--भीख माँगने के लिये कहीं बाहर जाना ही पड़ता है (गी. ३. ३३); और, बहुत देर तक एक ही जगह बैठे रहने से ऊब कर वह उठ खड़ा हो जाता है। तात्पर्य यह है, कि निग्रह चाहे जितना हो; परन्तु इन्द्रियों के जो स्वभाव-सिद्ध व्यापार हैं वे कभी नहीं छूटते। और यदि यह बात सच है, तो इंद्रियों की वृत्ति तथा सब कर्मों को और सब प्रकार की इच्छा या असन्तोष को नष्ट करने के दुराग्रह में न पड़ना (गी. २. ४७; १८. ५६), एवं मनोनिग्रह-पूर्वक फलाशा छोड़ कर सुख-दुःख को एक-बराबर समझना (गी. २. ३८), तथा निष्काम-बुद्धि से लोकहित के लिये कर्मों को शास्त्रोक्त रीति से करते रहना ही, श्रेष्ठ तथा आदर्श मार्ग है। इसी लिये--

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥

इस श्लोक में (गी. २. ४७) श्रीभगवान् अर्जुन को पहले यह बतलाते हैं, कि तू इस कर्मभूमि में पैदा हुआ है। इसलिये "तुझे कर्म करने का ही अधिकार है;" परन्तु इस बात को भी ध्यान में रख, कि तेरा यह अधिकार केवल (कर्त्तव्य) कर्म करने का ही है। 'एव' पद का अर्थ है 'केवल;' जिससे यह सहज विदित होता है, कि मनुष्य का अधिकार कर्म के सिवा अन्य बातों में--अर्थात् कर्मफल के विषय में--नहीं है। यह महत्त्वपूर्ण बात केवल अनुमान पर ही अवलंबित नहीं रख दी है; क्योंकि दूसरे चरण में भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है, कि "तेरा अधिकार कर्मफल के विषय में कुछ भी नहीं है।" अर्थात् किसी कर्म का फल मिलना न मिलना तेरे अधिकार की बात नहीं है। वह सृष्टि के कर्मविपाक पर या ईश्वर पर अवलम्बित है। तो फिर जिस बात में हमारा अधिकार ही नहीं है उसके विषय में आशा करना--कि वह अमुक प्रकार हो--केवल मूर्खता का लक्षण है; परन्तु यह तीसरी बात भी अनुमान पर अवलंबित नहीं है। तीसरे चरण में कहा गया है कि "इसलिये तू कर्म-फल की आशा रख कर किसी भी काम को मत कर।" क्योंकि, कर्मविपाक के अनुसार तेरे कर्मों का जो फल होना होगा वह अवश्य होगा ही। तेरी इच्छा से उसमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं हो सकती; और न उसके देरी से या जल्दी से हो जाने ही की संभावना है। परन्तु यदि तू ऐसी आशा रखेगा या आग्रह करेगा, तो तुझे केवल व्यर्थ दुःख ही मिलेगा। अब यहाँ कोई कोई --विशेषतः संन्यासमार्गी पुरुष--प्रश्न करेंगे, कि कर्म करके फलाशा छोड़ने के झगड़े में पड़ने की अपेक्षा कर्माचरण को ही छोड़ देना क्या अच्छा नहीं होगा?

इसलिये भगवान्‌ने अंत में अपना निश्चित मत भी बतला दिया है, कि " कर्म न करने का (अकर्मणि) तू हठ मत कर, " तेरा जो अधिकार है उसके अनुसार—परंतु फलाशा छोड़ कर—कर्म करता जा। कर्मयोग की दृष्टि से ये सब सिद्धान्त इतने महत्त्वपूर्ण हैं, कि उक्त श्लोकों के चारों चरणों को यदि हम कर्मयोगशास्त्र या गीता-धर्म के चतुःसूत्र भी कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यह मालूम हो गया, कि इस संसार में सुख-दुःख हमेशा क्रम से मिला करते हैं; और यहाँ सुख की अपेक्षा दुःख की मात्रा अधिक है। ऐसी अवस्था में भी जब यह सिद्धान्त बतलाया जाता है, कि सांसारिक कर्मों को छोड़ नहीं देना चाहिये; तब कुछ लोगों की यह समझ हो सकती है, कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति करने—और अत्यन्त सुख प्राप्त करने—के सब मानवी प्रयत्न व्यर्थ हैं। और, केवल आधिभौतिक अर्थात् इंद्रियगम्य बाह्य विषयोपभोगरूपी सुखों को ही देखें, तो यह नहीं कहा जा सकता, कि उनकी यह समझ ठीक नहीं है। सच है; यदि कोई बालक पूर्णचंद्र को पकड़ने के लिये हाथ फैला दें, तो जैसे आकाश का चंद्रमा उस के हाथ में कभी नहीं आता; उसी तरह आत्यन्तिक सुख की आशा रख कर केवल आधिभौतिक सुख के पीछे लगे रहने से आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति कभी नहीं होगी। परन्तु स्मरण रहे, आधिभौतिक सुख ही समस्त प्रकार के सुखों का भाण्डार नहीं है। इसलिये उपर्युक्त कठिनाई में भी आत्यन्तिक और नित्य सुख-प्राप्ति का मार्ग ढूँढ लिया जा सकता है। यह ऊपर बतलाया जा चुका है, कि सुखों के दो भेद हैं—एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। शरीर अथवा इंद्रियों के व्यापारों की अपेक्षा मन को ही अन्त में अधिक महत्त्व देना पड़ता है। ज्ञानी पुरुष जो यह सिद्धान्त बतलाते हैं, कि शारीरिक (अर्थात् आधिभौतिक) सुख की अपेक्षा मानसिक सुख की योग्यता अधिक है, उसे वे कुछ अपने ज्ञान का घमंड से नहीं बतलाते। प्रसिद्ध आधिभौतिकवादी मिल ने भी अपने उपयुक्ततावादविषयक ग्रन्थ में साफ़ साफ़ मंजूर किया है* कि उक्त सिद्धान्त में ही श्रेष्ठ मनुष्यजन्म की सच्ची सार्थकता और महत्ता है। कुत्ते, शूकर और बैल इत्यादि को भी इंद्रियसुख का आनन्द मनुष्यों के समान ही होता है; और मनुष्य की यदि यह समझ होती, कि संसार में सच्चा सुख विषयोपभोग ही है; तो फिर मनुष्य पशु बनने पर भी राज़ी हो गया होता। परन्तु पशुओं के सब विषय-सुखों के नित्य मिलने का अवसर आने पर भी कोई मनुष्य पशु होने को राज़ी नहीं होता। इससे यही विदित होता है, कि मनुष्य और पशु में कुछ-न-कुछ विशेषता अवश्य है। इस विशेषता को समझने

* "It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied; better to be Socrates dissatisfied than a fool satisfied. And if the fool, or the pig, if of a different opinion, it is because they only know their own side of the question." *Utilitarianism:* P. 14 (Longmans 1907).

के लिये, उस आत्मा के स्वरूप का विचार करना पड़ता है, जिसे मन और बुद्धि-द्वारा स्वयं अपना और बाह्यसृष्टि का ज्ञान होता है; और, ज्योंही यह विचार किया जायगा, त्योंही स्पष्ट मालूम हो जायगा, कि पशु और मनुष्य के लिये विषयोपभोग-सुख तो एक ही सा है; परन्तु इसकी अपेक्षा मन और बुद्धि के अत्यन्त उदात्त व्यापार में तथा शुद्धावस्था में जो सुख है, वही मनुष्य का श्रेष्ठ और आत्यन्तिक सुख है । यह सुख आत्मवश है, इसकी प्राप्ति किसी बाह्यवस्तु पर अवलम्बित नहीं है; इसकी प्राप्ति के लिये दूसरों के सुख को न्यून करने की भी कुछ आवश्यकता नहीं है । यह सुख अपने ही प्रयत्न से हमीं को मिलता है । और ज्यों ज्यों हमारी उन्नति होती जाती है, त्यों त्यों इस सुख का स्वरूप भी अधिकाधिक शुद्ध और निर्मल होता चला जाता है । भर्तृहरि ने सच कहा है, कि "मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः"—मन के प्रसन्न होने पर क्या दरिद्रता और क्या अमीरी, दोनों समान ही हैं । प्लेटो नामक प्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्ता ने भी यह प्रतिपादन किया है, कि शारीरिक (अर्थात् बाह्य अथवा आधिभौतिक) सुख की अपेक्षा मन का सुख श्रेष्ठ है, और मन के सुखों से भी बुद्धिग्राह्य (अर्थात् परम आध्यात्मिक) सुख अत्यन्त श्रेष्ठ है * । इसलिये यदि हम अभी मोक्ष के विचार को छोड़ दें, तो भी यही सिद्ध होता है, कि जो बुद्धि आत्मविचार में निमग्न हो, उसे ही परम सुख मिल सकता है । इसी कारण भगवद्गीता में सुख के (सात्त्विक, राजस और तामस) तीन भेद किये गये हैं; और इनका लक्षण भी बतलाया गया है । यथा :—आत्मनिष्ठ बुद्धि (अर्थात् सब भूतों में एक ही आत्मा को जान कर, आत्मा के उसी सच्चे स्वरूप में रत होनेवाली बुद्धि) की प्रसन्नता से जो आध्यात्मिक सुख प्राप्त होता है, वही श्रेष्ठ और सात्त्विक सुख है—"तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं आत्मबुद्धि-प्रसादजम्" (गी. १८. ३७); जो आधिभौतिक सुख इंद्रियों से और इंद्रियों के विषयों से होते हैं, वे सात्त्विक सुखों से कम दर्जे के होते हैं, और राजस कहलाते हैं (गी. १८. ३८) । और जिस सुख से चित्त को मोह होता है, तथा जो सुख, निद्रा या आलस्य से उत्पन्न होता है, उसकी योग्यता तामस अर्थात् कनिष्ठ श्रेणी की है । इस प्रकरण के आरम्भ में गीता का जो श्लोक दिया है, उसका यही तात्पर्य है । और गीता (६. २२) में कहा है, कि इस परम सुख का अनुभव मनुष्य को यदि एक बार भी हो जाता है, तो फिर उसकी यह सुखमय स्थिति कभी नहीं डिगने पाती । कितने ही भारी दुःख के ज़बरदस्त धक्के क्यों न लगते रहें; यह आत्यन्तिक सुख स्वर्ग के भी विषयोपभोगसुख में नहीं मिल सकता । इसे पाने के लिये पहले अपनी बुद्धि प्रसन्न होनी चाहिये । जो मनुष्य बुद्धि को प्रसन्न करने की युक्ति को बिना सोचे समझे केवल विषयोपभोग में ही निमग्न हो जाता है, उसका सुख अनित्य और क्षणिक होता है । इसका कारण यह है, कि जो इंद्रिय-सुख आज है, वह कल नहीं रहता । इतना ही नहीं; किन्तु जो बात हमारी

* *Republic Book* IX.

इंद्रियों को आज सुखकारक प्रतीत होती है, वही किसी कारण से दूसरे दिन दुःखमय हो जाती है। उदाहरणार्थ, ग्रीष्म ऋतु में जो ठंडा पानी हमें अच्छा लगता है, वही शीतकाल में अप्रिय हो जाता है। अस्तु, इतना करने पर भी उससे सुखेच्छा की पूर्ण तृप्ति होने ही नहीं पाती। इसलिये, सुख शब्द का व्यापक अर्थ ले कर यदि हम उस शब्द का उपयोग सभी प्रकार के सुखों के लिये करें, तो हमें सुख-सुख में भी भेद करना पड़ेगा। नित्य व्यवहार में सुख का अर्थ मुख्यतः इंद्रिय-सुख ही होता है। परन्तु जो सुख इंद्रियातीत है, अर्थात् जो केवल आत्मनिष्ठ बुद्धि को ही प्राप्त हो सकता है, उसमें और विषयोपभोग-रूपी सुख में जब भिन्नता प्रगट करनी हो, तब आत्मबुद्धि-प्रसाद से उत्पन्न होनेवाले सुख को—अर्थात् आध्यात्मिक सुख को—श्रेय, कल्याण, हित, आनन्द अथवा शांति कहते हैं; और विषयोपभोग से होनेवाले आधिभौतिक सुख को केवल सुख या प्रेय कहते हैं। पिछले प्रकरण के अन्त में दिये हुए कठोपनिषद् के वाक्य में, प्रेय और श्रेय में, नचिकेता ने जो भेद बतलाया है, उसका भी अभिप्राय यही है। मृत्यु ने उसे अग्नि का रहस्य पहले ही बतला दिया था। परन्तु इस सुख के मिलने पर भी जब उसने आत्म-ज्ञान-प्राप्ति का वर माँगा, तब मृत्यु ने उसके बदले में उसे अनेक सांसारिक सुखों का लालच दिखलाया। परन्तु नचिकेता इन अनित्य आधिभौतिक सुखों को कल्याणकारक नहीं समझता था। क्योंकि ये (प्रेय) सुख बाहरी दृष्टि से अच्छे हैं, पर आत्मा के श्रेय के लिये नहीं। इसी लिये उसने उन सुखों की ओर ध्यान नहीं दिया। किंतु उस आत्मविद्या की प्राप्ति के लिये ही हठ किया; जिसका परिणाम आत्मा के लिये श्रेयस्कर या कल्याणकर है, और उसे अंत में पाकर ही छोड़ा। सारांश यह है, कि आत्मबुद्धि-प्रसाद से होनेवाले केवल बुद्धिगम्य सुख को—अर्थात् आध्यात्मिक सुख को—ही हमारे शास्त्रकार श्रेष्ठ सुख मानते हैं। और उनका कथन है, कि यह नित्य सुख आत्मवश है, इसलिये सभी को प्राप्त हो सकता है; तथा सब लोगों को चाहिये, कि वे इनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करें। पशु-धर्म से होनेवाले सुख में, और मानवी सुख में जो कुछ विशेषता या विलक्षणता है, वह यही है; और यह आत्मानन्द केवल बाह्य उपाधियों पर कभी निर्भर न होने के कारण सब सुखों में नित्य, स्वतंत्र और श्रेष्ठ है। इसी को गीता में निर्वाण, अर्थात् परम शांति कहा है (गी. ६. १५), और यही स्थितप्रज्ञों की ब्राह्मी अवस्था की परमावधि का सुख है (गी. २. ७१; ६. २८; १२. १२; १८. ६२ देखो)।

अब इस बात का निर्णय हो चुका, कि आत्मा की शान्ति या सुख ही अत्यन्त श्रेष्ठ है; और वह आत्मवश होने के कारण सब लोगों को प्राप्य भी है। परन्तु यह प्रगट है, कि यद्यपि सब धातुओं में सोना अधिक मूल्यवान् है, तथापि केवल सोने से ही—लोहा इत्यादि अन्य धातुओं के बिना—जैसे संसार का काम नहीं चल सकता, अथवा जैसे केवल शक्कर से ही—बिना नमक के—काम नहीं चल सकता, उसी तरह आत्मसुख या शांति को भी समझना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं, कि

इस शान्ति के साथ--शरीर-धारण के लिये सही--कुछ सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता है; और इसी अभिप्राय से आशीर्वाद के संकल्प में केवल "शान्तिरस्तु न कह कर" शान्तिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु"--शान्ति के साथ पुष्टि और तुष्टि भी चाहिये, कहने की रीति है। यदि शास्त्रकारों की यह समझ होती, कि केवल शान्ति से ही तुष्टि हो जा सकती है, तो इस संकल्प में 'पुष्टि' शब्द को व्यर्थ घुसेड़ देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसका यह मतलब नहीं है, कि पुष्टि--अर्थात् ऐहिक सुखों की वृद्धि के लिये रात दिन हाय हाय करते रहो। उक्त संकल्प का भावार्थ यही है, कि तुम्हें शान्ति, पुष्टि और तुष्टि (सन्तोष) तीनों उचित परिणाम से मिलें; और इनकी प्राप्ति के लिये तुम्हें यत्न भी करना चाहिए। कठोपनिषद् का भी यही तात्पर्य है। नचिकेता जब मृत्यु के अर्थात् यम के लोक में गया तब यम ने उससे कहा, कि तुम कोई भी तीन वर माँग लो; उस समय नचिकेता ने एकदम यह वर नहीं माँगा, कि मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करो। किन्तु उसने कहा, कि "मेरे पिता मुझपर अप्रसन्न हैं, इसलिये प्रथम वर आप मुझे यही दीजिये, कि वे मुझपर प्रसन्न हो जावें।" अनन्तर उसने दूसरा वर माँगा कि, "अग्नि के --अर्थात् ऐहिक समृद्धि प्राप्त करा देनेवाले यज्ञ आदि कर्मों के--ज्ञान का उपदेश करो।" इन दोनों वरों को प्राप्त करके अन्त में उसने तीसरा वर यह माँगा, कि "मुझे आत्मविद्या का उपदेश करो।" परन्तु जब यमराज कहने लगे, कि इस तीसरे वर के बदले में तुझे और भी अधिक सम्पत्ति देता हूँ; तब--अर्थात् प्रेय (सुख) की प्राप्ति के लिये आवश्यक यज्ञ आदि कर्मों का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर उसी की अधिक आशा न करके--नचिकेता ने इस बात का आग्रह किया, कि "अब मुझे श्रेय (आत्यन्तिक सुख) की प्राप्ति करा देनेवाले ब्रह्मज्ञान का ही उपदेश करो।" सारांश यह है, कि इस उपनिषद् के अन्तिम मन्त्र में जो वर्णन है, उसके अनुसार 'ब्रह्मविद्या' और 'योगविधि' (अर्थात् यज्ञ-याग आदि कर्म) दोनों को प्राप्त करके नचिकेता मुक्त हो गया है (कठ. ६. १८)। इससे ज्ञान और कर्म का समुच्चय ही इस उपनिषद् का तात्पर्य मालूम होता है। इसी विषय पर इन्द्र की भी एक कथा है। कौषीतकी उपनिषद् में कहा गया है, कि इन्द्र तो स्वयं ब्रह्मज्ञानी था ही, परन्तु उसने प्रतर्दन को भी ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया था। तथापि जब इन्द्र का राज्य छिन लिया गया और प्रल्हाद को त्रैलोक्य का आधिपत्य मिला, तब उसने देवगुरु बृहस्पति से पूछा कि "मुझे बतलाइये कि श्रेय किस में है?" तब बृहस्पति ने राज्यभ्रष्ट इन्द्र को ब्रह्मविद्या अर्थात् आत्मज्ञान का उपदेश करके कहा कि "श्रेय इसी में है"--एतावच्छ्रेय इति--परन्तु इससे इन्द्र का समाधान नहीं हुआ। उसने फिर प्रश्न किया "क्या और भी कुछ अधिक है?"--को विशेषो भवेत्? तब बृहस्पति ने उसे शुक्राचार्य के पास भेजा। वहाँ भी वही हाल हुआ; और शुक्राचार्य ने कहा कि "प्रल्हाद को वह विशेषता मालूम है।" तब अन्त में इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके प्रल्हाद का शिष्य बन कर सेवा

करने लगा। एक दिन प्रल्हाद ने उससे कहा, कि शील (सत्य तथा धर्म से चलने का स्वभाव) ही त्रैलोक्य का राज्य पाने की कुंजी है और यही श्रेय है। अनन्तर, जब प्रल्हाद ने कहा, कि "मैं तेरी सेवा से प्रसन्न हूँ, तू वर माँग", तब ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्र ने यही वर माँगा कि "आप अपना शील मुझे दीजिये।" प्रल्हाद के 'तथास्तु' कहते ही उसके 'शील' के साथ धर्म, सत्य, वृत्त, श्री अथवा ऐश्वर्य आदि सब देवता उसके शरीर से निकल कर इन्द्र के शरीर में प्रविष्ट हो गये। फलतः इन्द्र अपना राज्य पा गया। यह प्राचीन कथा भीष्म ने युधिष्ठिर से महाभारत के शान्तिपर्व (शां. १२४) में कही है। इस सुंदर कथा से हमें यह बात साफ़ मालूम हो जाती है, कि केवल ऐश्वर्य की अपेक्षा केवल आत्मज्ञान की योग्यता भले ही अधिक हो; परन्तु जिसे इस संसार में रहना है, उसको अन्य लोगों के समान भी अपने लिये तथा अपने देश के लिये, ऐहिक समृद्धि प्राप्त कर लेने की आवश्यकता और नैतिक हक़ भी है। इसलिये जब यह प्रश्न उठे, कि इस संसार में मनुष्य का सर्वोत्तम ध्येय परम उद्देश क्या है। तो हमारे कर्मयोगशास्त्र में अन्तिम उत्तर यहीं मिलता है, कि शांति और पुष्टि, प्रेय और श्रेय अथवा ज्ञान और ऐश्वर्य दोनों को एक साथ प्राप्त करो। सोचने की बात है, कि जिन भगवान् से बढ़ कर संसार में कोई श्रेष्ठ नहीं; और जिनके दिखलाये हुए मार्ग में अन्य सभी लोग चलते हैं (गी. ३. २३)। उन भगवान् ने ही क्या ऐश्वर्य और सम्पत्ति को छोड़ दिया है?

> ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
> ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

अर्थात् "समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, संपत्ति, ज्ञान, और वैराग्य—इन छः बातों को 'भग' कहते हैं।" भग शब्द की ऐसी व्याख्या पुराणों में है (विष्णु ६. ५. ७४)। कुछ लोग इस श्लोक के ऐश्वर्य शब्द का अर्थ योगैश्वर्य किया करते हैं। क्योंकि श्री अर्थात् संपत्तिसूचक शब्द आगे आया है। परन्तु व्यवहारमें ऐश्वर्य शब्द में सत्ता, यश और संपत्ति का, तथा ज्ञान में वैराग्य और धर्म का समावेश हुआ करता है। इससे हम बिना किसी बाधा के कह सकते हैं, कि लौकिक दृष्टि से उक्त श्लोक का सब अर्थ ज्ञान और ऐश्वर्य इन्हीं दो शब्दों से व्यक्त हो जाता है। और जबकि स्वयं भगवान् ने ही ज्ञान और ऐश्वर्य को अंगिकार किया है, तब हमें भी अवश्य करना चाहिये (गी. ३. २१; म.भा. शां. ३४१. ३५)। कर्मयोग मार्ग का सिद्धान्त यह कदापि नहीं, कि कोरा आत्मज्ञान ही इस संसार में परम साध्य वस्तु है। यह तो संन्यास मार्ग का सिद्धान्त है; जो कहता है, कि संसार दुःखमय है; इसलिये उसको एकदम छोड़ ही देना चाहिये। भिन्न भिन्न मार्गों के इन सिद्धान्तों को एकत्र करके गीता के अर्थ का अनर्थ करना उचित नहीं है। स्मरण रहे, गीता का ही कथन है, कि ज्ञान के बिना केवल ऐश्वर्य सिवा आसुरी संपत् के और कुछ नहीं है। इसलिये यही सिद्ध होता है, कि ऐश्वर्य के साथ ज्ञान, और

ज्ञान के साथ ऐश्वर्य, अथवा शान्ति के साथ पुष्टि, हमेशा होनी चाहिये। ऐसा कहने पर कि ज्ञान के साथ ऐश्वर्य होना अत्यावश्यक है; कर्म करने की आवश्यकता आप-ही-आप उत्पन्न होती है। क्योंकि मनु का कथन है "कर्मण्यारम्भमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते" (मनु. ६. ३००)--कर्म करनेवाले पुरुष को ही इस जगत् में श्री अर्थात् ऐश्वर्य मिलता है, और प्रत्यक्ष अनुभव से भी यही बात सिद्ध होती है; एवं गीता में जो उपदेश अर्जुन को दिया गया है, वह भी ऐसा ही है (गी. ३. ८)। इस पर कुछ लोगों का कहना है, कि मोक्ष की दृष्टि से कर्म की आवश्यकता न होने के कारण अन्त में--अर्थात् ज्ञानोत्तर अवस्था में--सब कर्मों को छोड़ देना ही चाहिये। परन्तु यहाँ तो केवल सुखदुःख का विचार करना है। और अब तक मोक्ष तथा कर्म के स्वरूप की परीक्षा भी नहीं की गई है; इसलिये उक्त आक्षेप का उत्तर यहाँ नहीं दिया जा सकता। आगे नवें तथा दसवें प्रकरण में अध्यात्म और कर्मविपाक का स्पष्ट विवेचन करके ग्यारहवें प्रकरण में बतला दिया जायगा, कि यह आक्षेप भी बेसिर-पैर का है।

सुख और दुःख दो भिन्न तथा स्वतंत्र वेदनाएँ हैं। सुखेच्छा केवल सुखोपभोग से ही तृप्त नहीं हो सकती। इसलिये संसार में बहुधा दुःख का ही अधिक अनुभव होता है। परन्तु इस दुःख को टालने के लिये तृष्णा या असंतोष और सब कर्मों का भी समूल नाश करना उचित नहीं। उचित यही है, कि फलाशा छोड़ कर सब कर्मों को करते रहना चाहिये। केवल विषयोपभोग-सुख कभी पूर्ण होनेवाला नहीं। वह अनित्य और पशुधर्म है। अतएव इस संसार में बुद्धिमान् मनुष्य का सच्चा ध्येय इस अनित्य पशुधर्म से ऊँचे दर्जे का होना चाहिये। आत्मबुद्धि-प्रसाद से प्राप्त-होनेवाला शांति-सुख ही वह सच्चा ध्येय है; परन्तु आध्यात्मिक सुख ही यद्यपि इस प्रकार ऊँचे दर्जे का हो, तथापि उसके साथ इस सांसारिक जीवन में ऐहिक वस्तुओं की भी उचित आवश्यकता है; और इसी लिये सदा निष्काम बुद्धि से प्रयत्न अर्थात् कर्म करते ही रहना चाहिये।--इतनी सब बातें जब कर्मयोगशास्त्र के अनुसार सिद्ध हो चुकीं, तो अब सुख की दृष्टि से भी विचार करने पर यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, कि आधिभौतिक सुखों को ही परम साध्य मान कर कर्मों के केवल सुखदुःखात्मक बाह्यपरिणामों के तारतम्य से ही नीतिमत्ता का निर्णय करना अनुचित है। कारण यह है, कि जो वस्तु कभी पूर्णावस्था को पहुँच ही नहीं सकती, उसे परम साध्य कहना मानों 'परम' शब्द का दुरुपयोग करके मृगजल के स्थान में जल की खोज करना है। जब हमारा परम साध्य ही अनित्य तथा अपूर्ण है, तब उसकी आशा में बैठे रहने से हमें अनित्य-वस्तु को छोड़ कर और मिलेगा ही क्या? "धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये" इस वचन का मर्म भी यही है। "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" इस शब्दसमूह के सुख शब्द के अर्थ के विषय में आधिभौतिकवादियों में भी बहुत मतभेद हैं। उनमें से बहुतेरों का कहना है, कि बहुधा मनुष्य सब विषय-सुखों को लात मार कर केवल

सत्य अथवा धर्म के लिये जान देने को तयार हो जाता है। इससे यह मानना अनुचित है, कि मनुष्य की इच्छा सदैव आधिभौतिक सुख-प्राप्ति की ही रहती है। इसलिये उन पंडितों ने यह सूचना की है, कि सुख शब्द के बदले में हित अथवा कल्याण शब्द की योजना करके "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" इस सूत्र का रूपान्तर "अधिकांश लोगों का अधिक हित या कल्याण" कर देना चाहिये। परन्तु, इतना करने पर भी इस मत में यह दोष बना ही रहता है, कि कर्ता की बुद्धि का कुछ भी विचार नहीं किया जाता। अच्छा; यदि यह कहें, कि विषय-सुखों के साथ मानसिक सुखों का भी विचार करना चाहिये; तो उसके आधिभौतिक पक्ष की इस पहली ही प्रतिज्ञा का विरोध हो जाता है, कि किसी भी कर्म की नीतिमत्ता का निर्णय केवल उसके बाह्य-परिणामों से ही करना चाहिये; और तब तो किसी-न-किसी अंश में अध्यात्म-पक्ष को ही स्वीकार करना पड़ता है। जब इस रीति से अध्यात्म-पक्ष को स्वीकार करना ही पड़त है, तो उसे अधूरा या अंशतः स्वीकार करने से क्या लाभ होगा ? इसी लिये हमारे कर्मयोग-शास्त्र में यह अन्तिम सिद्धान्त निश्चित किया गया है, कि सर्वभूतहित—अधिकांश लोगों का अधिक सुख और—मनुष्यत्व का परम उत्कर्ष इत्यादि नीति-निर्णय के सब बाह्यसाधनों को अथवा आधिभौतिक मार्ग को गौण या अप्रधान समझना चाहिये; और आत्मप्रसाद-रूपी आत्यन्तिक सुख तथा उसी के साथ रहनेवाली कर्ता की शुद्ध-बुद्धि को ही आध्यात्मिक कसौटी जान कर इसी से कर्म-अकर्म की परीक्षा करनी चाहिये। उन लोगों की बात छोड़ दो, जिन्होंने यह कसम खा ली हो, कि हम दृश्य सृष्टि के परे तत्त्वज्ञान में प्रवेश ही न करेंगे। जिन लोगों ने ऐसी कसम खाई नहीं है, उन्हें युक्ति से यह मालूम हो जायगा, कि मन और बुद्धि के भी परे जा कर नित्य आत्मा के नित्य कल्याण को ही कर्मयोग-शास्त्र में प्रधान मानना चाहिये। कोई कोई भूल से समझ बैठते हैं, कि जहाँ एक बार वेदान्त में घुसे, कि बस; फिर सभी कुछ ब्रह्ममय हो जाता है; और वहाँ व्यवहार की उपपत्ति का कुछ पता ही नहीं चलता। आजकल जितने वेदान्त-विषयक ग्रन्थ पढ़े जाते हैं वे प्रायः संन्यास-मार्ग के अनुयायियों के ही लिखे हुए हैं; और संन्यास-मार्गवाले इस तृष्णारूपी संसार के सब व्यवहारों को निःसार समझते हैं, इसलिये उनके ग्रन्थों में कर्मयोग की ठीक ठीक उपपत्ति सचमुच नहीं मिलती। अधिक क्या कहें; इन परसंप्रदाय-असहिष्णु ग्रन्थकारों ने संन्यासमार्गीय कोटिक्रम या युक्तिवाद को कर्मयोग में सम्मिलित कर के ऐसा भी प्रयत्न किया है, कि जिससे लोग समझने लगे हैं, कि कर्मयोग और संन्यास दो स्वतंत्र मार्ग नहीं हैं; किन्तु संन्यास ही अकेला शास्त्रोक्त मोक्षमार्ग है। परन्तु यह समझ ठीक नहीं है। संन्यास-मार्ग के समान कर्मयोग-मार्ग भी वैदिक धर्म में अनादि काल से स्वतन्त्रतापूर्वक चला आ रहा है, और इस मार्ग के संचालकों ने वेदान्ततत्त्वों को न छोड़ते हुए कर्म-शास्त्र की ठीक ठीक उपपत्ति भी दिखलाई है। भगवद्गीता ग्रन्थ इसी पन्थ का है। यदि गीता को छोड़ दें, तो भी जान पड़ेगा, कि अध्यात्म-दृष्टि से कार्य-अकार्य-शास्त्र के विवेचन

करने की पद्धति ग्रीन सरीखे ग्रन्थकार द्वारा खुद्द इंग्लैंड में ही शुरू कर दी गई है;* और जर्मनी में तो उससे भी पहले यह पद्धति प्रचलित थी। दृश्यसृष्टि का कितना ही विचार करो; परन्तु जब तक यह बात ठीक मालूम नहीं हो जाती, कि इस सृष्टि को देखनेवाला और कर्म करनेवाला कौन है; तब तक तात्त्विक दृष्टि से इस विषय का भी विचार पूरा हो नहीं सकता, कि इस संसार में मनुष्य का परम साध्य, श्रेष्ठ कर्तव्य या अन्तिम ध्येय क्या है। इसी लिये याज्ञवल्क्य का यह उपदेश है, कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" प्रस्तुत विषय में भी अक्षरशः उपयुक्त होता है। दृश्यजगत् की परीक्षा करने से यदि परोपकार सरीखे तत्त्व ही अन्त में निष्पन्न होते हैं, तो इससे आत्मविद्या का महत्त्व कम तो होता ही नहीं; किन्तु उलटा उससे सब प्राणियों में एक ही आत्मा के होने का एक और सबूत मिल जाता है। इस बात के लिये तो कुछ उपाय ही नहीं है, कि आधिभौतिकवादी अपनी बनाई हुई मर्यादा से स्वयं बाहर नहीं जा सकते। परन्तु हमारे शास्त्रकारों की दृष्टि इस संकुचित मर्यादा के परे पहुँच गई है; और इसलिये उन्हों ने आध्यात्मिक दृष्टि से ही कर्मयोगशास्त्र की पूरी उपपत्ति दी है। इस उपपत्ति की चर्चा करने के पहले कर्म-अकर्म-परीक्षा के एक और पूर्वपक्ष का भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। इसलिये अब इसी पन्थ का विवेचन किया जायगा।

---

* *Prolegomena to Ethics*, Book I; and kant's *Metaphysics of Morals* (trans. by Abbot in Kant's *Theory of Ethics*)

छठवाँ प्रकरण।

आधिदैवतपक्ष और क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार।

सत्यपूता वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ।*

मनु. ६. ४६।

कर्म-अकर्म की परीक्षा करने का--आधिभौतिक मार्ग के अतिरिक्त--दूसरा पंथ आधिदैवतवादियों का है। इस पंथ के लोगों का यह कथन है, कि जब कोई मनुष्य कर्म-अकर्म का या कार्य-अकार्य का निर्णय करता है, तब वह इस झगड़े में नहीं पड़ता, कि किस कर्म से कितना सुख अथवा दुःख होगा; अथवा उनमें से सुख का जोड़ अधिक होगा या दुःख का। वह आत्म-अनात्म-विचार की झंझट में भी नहीं पड़ता; और ये झगड़े बहुतेरों की तो समझ में भी नहीं आते। यह भी नहीं कहा जा सकता, कि प्रत्येक प्राणी प्रत्येक कर्म को केवल अपने सुख के लिये ही करता है। आधिभौतिकवादी कुछ भी कहें; परन्तु यदि इस बात का थोड़ा-सा विचार किया जाय, कि धर्म-अधर्म का निर्णय करते समय मनुष्य के मन की स्थिति कैसी होती है; तो यह ध्यान में आ जायगा, कि मन की स्वाभाविक और उदात्त मनोवृत्तियाँ--करुणा, दया, परोपकार आदि--ही किसी काम को करने के लिये मनुष्य को एकाएक प्रवृत्त किया करती हैं। उदाहरणार्थ, जब कोई भिकारी दीख पड़ता है; तब मन में यह विचार आने के पहले ही--कि 'दान करने से जगत् का अथवा अपनी आत्मा का कितना हित होगा'--मनुष्य के हृदय में करुणावृत्ति जागृत हो जाती है; और वह अपनी शक्ति के अनुसार उस याचक को कुछ दान कर देता है। इसी प्रकार जब बालक रोता है, तब माता उसे दूध पिलाते समय इस बात का कुछ भी विचार नहीं करती, कि बालक को दूध पिलाने से लोगों का कितना हित होगा। अर्थात् ये उदात्त मनोवृत्तियाँ ही कर्मयोगशास्त्र की यथार्थ नींव हैं। हमें किसी ने ये मनोवृत्तियाँ दी नहीं हैं; किन्तु ये निसर्गसिद्ध अर्थात् स्वाभाविक अथवा स्वयंभू देवता ही हैं। जब न्यायाधीश न्यायासन पर बैठता है, तब उसकी बुद्धि में न्यायदेवता की प्रेरणा हुआ करती है; और वह उसी प्रेरणा के अनुसार न्याय किया करता है। परन्तु जब कोई न्यायाधीश इस प्रेरणा का अनादर करता है तभी उससे अन्याय हुआ करते हैं। न्यायदेवता के सदृश ही करुणा, दया, परोपकार, कृतज्ञता, कर्तव्य-प्रेम, धैर्य आदि सद्गुणों की जो स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ

---

*"वही बोलना चाहिये जो सत्य से पूत अर्थात् शुद्ध किया गया है; और वही आचरण करना चाहिये जो मन को शुद्ध मालूम हो।"

हैं, वे भी देवता हैं। प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः इन देवताओं के शुद्ध स्वरूप से परिचित रहता है। परन्तु यदि लोभ, द्वेष, मत्सर आदि कारणों से वह इन देवताओं की प्रेरणा की परवाह न करे, तो अब देवता क्या करें ? यह बात सच है, कि कई बार देवताओं में भी विरोध उत्पन्न हो जाता है। और तब कोई कार्य करते समय हमें इस का संदेह हो जाता है, कि किस देवता की प्रेरणा को अधिक बलवती मानें। इस संदेह को निर्णय करने के लिये न्याय, करुणा आदि देवताओं के अतिरिक्त किसी दूसरे की सलाह लेना आवश्यक जान पड़ता है। परन्तु ऐसे अवसर पर अध्यात्मविचार अथवा सुखदुःख की न्यूनाधिकता के झगड़े में न पड़ कर, यदि हम अपने मनोदेव की गवाही लें, तो वह एकदम इस बात का निर्णय कर देता है, कि इन दोनों में से कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर है। यही कारण है, कि उक्त सब देवताओं में मनोदेव श्रेष्ठ है। 'मनोदेवता' शब्द में इच्छा, क्रोध, लोभ आदि सभी मनोविकारों को शामिल नहीं करना चाहिये। किन्तु इस शब्द से मन की वह ईश्वरदत्त और स्वाभाविक शक्ति ही अभीष्ट है, कि जिसकी सहायता से भले बुरे का निर्णय किया जाता है। इसी शक्ति का एक बड़ा भारी नाम 'सदसद्विवेक-बुद्धि' * है। यदि किसी संदेह-ग्रस्त अवसर पर मनुष्य स्वस्थ अंतःकरण से और शांति के साथ विचार करे, तो यह सदसद्विवेक-बुद्धि कभी उसको धोखा नहीं देगी। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसे मौक़ों पर हम दूसरों से यही कहा करते हैं, 'कि तू अपने मन से पूछ।' इस बड़े देवता के पास एक सूची हमेशा मौजूद रहती है। उसमें यह लिखा होता है, कि किस सद्गुण को किस समय कितना महत्त्व दिया जाना चाहिये। यह मनोदेवता समय समय पर इसी सूची के अनुसार अपना निर्णय प्रगट किया करता है। मान लीजिये, कि किसी समय आत्म-रक्षा और अहिंसा में विरोध उत्पन्न हुआ; और यह शंका उपस्थित हुई, कि दुर्भिक्ष के समय अभक्ष्य भक्षण करना चाहिये या नहीं ? तब इस संशय को दूर करने के लिये यदि हम शांत चित्त से इस मनोदेवता की मिन्नत करें, तो उसका यही निर्णय प्रगट होगा, कि 'अभक्ष्य भक्षण करो।' इसी प्रकार यदि कभी स्वार्थ और परार्थ अथवा परोपकार के बीच विरोध हो जाय, तो उसका निर्णय भी इस मनोदेवता को मना कर करना चाहिये। मनोदेवता के घर की——धर्म-अधर्म के न्यूनाधिक भाव की——यह सूची एक ग्रंथकार को शांतिपूर्वक विचार करने से उपलब्ध हुई है, जिसे उसने अपने ग्रंथ में प्रकाशित किया है †। इस सूची में नम्रतायुक्त पूज्य भाव को पहला

---

* इस सदसद्विवेक-बुद्धि को ही अंग्रेज़ी में Conscience कहते हैं और आधिदैवत पक्ष Intuitionist School कहलाता है।

† इस ग्रन्थकार का नाम James Martineau (जेम्स मार्टिनो) है। इसने यह सूची अपने *Types of Ethical Theory* (Vol. II, p. 266. 3rd Ed.) नामक ग्रन्थ में दी है। मार्टिनो अपने पंथ को Idio-psychological कहता है। परन्तु हम उसे आधिदैवतपक्ष ही में शामिल करते हैं।

अर्थात् अत्युच्च स्थान दिया गया है; और उसके बाद करुणा, कृतज्ञता, उदारता, वात्सल्य आदि भावों को क्रमशः नीचे की श्रेणियों में शामिल किया है। इस ग्रंथकार का मत है, कि जब ऊपर और नीचे की श्रेणियों के सद्गुणों में विरोध उत्पन्न हो, तब ऊपर की श्रेणियों के सद्गुणों को ही अधिक मान देना चाहिये। उसके मत के अनुसार कार्य-अकार्य का अथवा धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये इसकी अपेक्षा और कोई उचित मार्ग नहीं है। इसका कारण यह है, कि यद्यपि हम अत्यंत दूरदृष्टि से यह निश्चित कर लें, कि 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' किसमें है। तथापि इस न्यूनाधिक भाव में यह कहने की सत्ता या अधिकार नहीं है, कि 'जिस बात में अधिकांश लोगों का सुख हो वही तू कर।' इस लिये अंत में इस प्रश्न का निर्णय ही नहीं होता, कि 'जिसमें अधिकांश लोगों का हित है, वह बात मैं क्यों करूँ?' और सारा झगड़ा ज्यों-का-त्यों बना रहता है। राजा से बिना अधिकार प्राप्त किये ही जब कोई न्यायाधीश न्याय करता है, तब उसके निर्णय की जो दशा होती है, ठीक वही दशा उस कार्य-अकार्य के निर्णय की भी होती है; जो दूरदृष्टिपूर्वक सुखदुःखों का विचार करके किया जाता है। केवल दूरदृष्टि यह बात किसी से नहीं कह सकती कि 'तू यह कर, तुझे यह करना ही चाहिये।' इसका कारण यही है, कि कितनी भी दूरदृष्टि हो, तो भी वह मनुष्यकृत ही है; और इसी कारण वह अपना प्रभाव मनुष्यों पर नहीं जमा सकती। ऐसे समय पर आज्ञा करनेवाला हम से श्रेष्ठ कोई अधिकारी अवश्य होना चाहिये। और यह काम ईश्वरदत्त सदसद्विवेकबुद्धि ही कर सकती है। क्योंकि वह मनुष्य की अपेक्षा श्रेष्ठ अतएव मनुष्य पर अपना अधिकार जमाने में समर्थ है। यह सदसद्विवेक-बुद्धि या 'देवता' स्वयंभू है। इसी कारण व्यवहार में यह कहने की रीति पड़ गई है, कि मेरा 'मनोदेव' अमुक प्रकार की गवाही नहीं देता। जब कोई मनुष्य एक-आध बुरा काम कर बैठता है, तब पश्चात्ताप से वही स्वयं लज्जित हो जाता है; और उसका मन उसे हमेशा टोंकता रहता है। यह भी उपर्युक्त देवता के शासन का ही फल है। इस बात से भी स्वतंत्र मनोदेवता का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। कारण कि आधिदैवत पंथ के मतानुसार यदि उपर्युक्त सिद्धान्त न माना जाय, तो इस प्रश्न की उपपत्ति नहीं हो सकती, कि हमारा मन हमें क्यों टोंका करता है।

ऊपर दिया हुआ वृत्तान्त पश्चिमी आधिदैवत पंथ के मत का है। पश्चिमी देशों में इस पंथ का प्रचार विशेषतः ईसाई-धर्मोपदेशकों ने किया है। उनके मतके अनुसार धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये केवल आधिभौतिक साधनों की अपेक्षा यह ईश्वरदत्त साधन सुलभ, श्रेष्ठ एवं ग्राह्य है। यद्यपि हमारे देश में प्राचीन काल में कर्मयोगशास्त्र का ऐसा कोई स्वतंत्र पंथ नहीं था, तथापि उपर्युक्त मत हमारे प्राचीन ग्रंथों में कई जगह पाया जाता है। महाभारत में अनेक स्थानों-पर, मन की भिन्न भिन्न वृत्तियों को देवताओं का स्वरूप दिया गया है। पिछले

प्रकरण में यह बतलाया भी गया है, कि धर्म, सत्य, वृत्त, शील, श्री आदि देवताओंने प्रल्हाद के शरीर को छोड़ कर इन्द्र के शरीर में कैसे प्रवेश किया। कार्य-अकार्य का अथवा धर्म-अधर्म का निर्णय करनेवाले देवता का नाम भी 'धर्म' ही है। ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, कि शिबि राजा के सत्त्व की परीक्षा करने के लिये श्येन का रूप धर कर, और युधिष्ठिर की परीक्षा लेने के लिये प्रथम यक्षरूप से तथा दूसरी बार कुत्ता बन कर, धर्मराज प्रगट हुए थे। स्वयं भगवद्गीता (१०, ३४) में भी कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा ये सब देवता माने गये हैं। इनमें से स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मन के धर्म हैं। मन भी एक देवता है; और परब्रह्म का प्रतीक मान कर, उपनिषदों में उसकी उपासना भी बतलाई गई है (तै. ३. ४; छां. ३. १८)। जब मनुजी कहते हैं, कि "मनःपूतं समाचरेत्," (६. ४६) --मन को जो पवित्र मालूम हो,वही करना चाहिये--तब यही बोध होता है, कि उन्हें 'मन' शब्द से मनोदेवता ही अभिप्रेत है। साधारण व्यवहार में हम यही कहा करते हैं, कि 'जो मन को अच्छा मालूम हो, वही करना चाहिये।' मनुजी ने मनुसंहिता के चौथे अध्याय (४. १६१) में यह बात विशेष स्पष्ट कर दी है कि :--

> यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
> तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥

"वह कर्म प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये,जिसके करने से हमारा अन्तरात्मा संतुष्ट हो; और जो कर्म इसके विपरीत हो, उसे छोड़ देना चाहिये।" इसी प्रकार चातुर्वर्ण्य-धर्म आदि व्यावहारिक नीति के मूल तत्त्वों का उल्लेख करते समय मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृति-ग्रंथकार भी कहते हैं :--

> वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
> एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

"वेद, स्मृति, शिष्टाचार और अपने आत्मा को प्रिय मालूम होना--ये धर्म के चार मूलतत्त्व हैं" (मनु. २. १२)। "अपने आत्मा को जो प्रिय मालूम हो"--इस का अर्थ यही है, कि मन को जो शुद्ध मालूम हो। इससे स्पष्ट होता है, कि जब श्रुति, स्मृति और सदाचार से किसी कार्य की धर्मता या अधर्मता का निर्णय नहीं हो सकता था, तब निर्णय करने का चौथा साधन 'मनःपूतता' समझी जाती थी। पिछले प्रकरण में कही गई प्रल्हाद और इन्द्र की कथा बतला चुकने पर 'शील' के लक्षण के विषय में, धृतराष्ट्र ने महाभारत में, यह कहा है :--

> यदन्येषां हितं न स्यात् आत्मनः कर्म पौरुषम्।
> अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात् कथंचन ॥

अर्थात् "हमारे जिस कर्म से लोगों का हित नहीं हो सकता, अथवा जिसके करने में स्वयं अपने ही को लज्जा मालूम होती है, वह कभी नहीं करना चाहिये" (म.भा.

शां. १२४. ६६) । इससे पाठकों के ध्यान में यह बात आ जायगी, कि 'लोगों का हित हो नहीं सकता;' 'और लज्जा मालूम होती है ;' इन दो पदों से 'अधिकांश लोगों का अधिक हित' और 'मनोदेवता' इन दोनों पक्षों का इस श्लोक में एक साथ कैसा उल्लेख किया गया है । मनुस्मृति (१२. ३५. ३७) में भी कहा गया है, कि जिस कर्म करने में लज्जा मालूम होता है, वह तामस है; और जिसके करने में लज्जा मालूम नहीं होती–एवं अन्तरात्मा संतुष्ट होता है–वह सात्त्विक है । धम्मपद नामक बौद्धग्रन्थ (६७ और ६८) में भी इसी प्रकार के विचार पाये जाते हैं । कालिदास भी यही कहते हैं, कि जब कर्म-अकर्म का निर्णय करनेमें कुछ सन्देह हो, तब––

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

"सत्पुरुष लोग अपने अन्तःकरण ही की गवाही को प्रमाण मानते हैं" (शाकुं. १. २०) । पातंजल योग इसी बात की शिक्षा देता है, कि चित्तवृत्तियों का निरोध करके मन को किसी एक ही विषय पर कैसे स्थिर करना चाहिये; और यह योगशास्त्र हमारे यहाँ बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है। अतएव जब कभी धर्म--अधर्म के विषय में कुछ सन्देह उत्पन्न हो, तब हम लोगों को किसी से यह न सिखाये जाने की आवश्यकता है, कि 'अन्तःकरण को स्वस्थ और शान्त करने से जो उचित मालूम हो, वही करना चाहिये ।' सब स्मृति-ग्रन्थों के आरम्भ में, इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं, कि स्मृतिकार ऋषि अपने मन को एकाग्र करके ही धर्म-अधर्म बतलाया करते थे (मनु. १. १) । यों ही देखने से तो, 'किसी काम में मन की गवाही लेना' यह मार्ग अत्यन्त सुलभ प्रतीत होता है । परन्तु जब हम तत्त्वज्ञान की दृष्टि से इस बात का सूक्ष्म विचार करने लगते हैं, कि 'शुद्ध मन' किसे कहना चाहिये; तब यह सरल पन्थ अन्त तक काम नहीं दे सकता । और यही कारण है, कि हमारे शास्त्रकारों ने कर्मयोगशास्त्र की इमारत इस कच्ची नींव पर खड़ी नहीं की है । अब इस बात का विचार करना चाहिये, कि यह तत्त्वज्ञान कौन–सा है । परन्तु इसका विवेचन करने के पहले यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है, कि पश्चिमी आधिभौतिकवादियों ने इस आधिदैवतपक्ष का किस प्रकार खंडन किया है । कारण यह है, कि यद्यपि इस विषय में आध्यात्मिक और आधिभौतिक पन्थों के कारण भिन्न भिन्न हैं; तथापि उन दोनों का अन्तिम निर्णय एक ही सा है । अतएव, पहले आधिभौतिक कारणों का उल्लेख कर देने से आध्यात्मिक कारणों की महत्ता और सयुक्तता पाठकों के ध्यान में शीघ्र आ जायगी ।

ऊपर कह आये हैं, कि आधिदैविक पन्थ में शुद्ध मन को ही अग्रस्थान दिया गया है । इससे यह प्रकट होता है, कि 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख'––वाले आधिभौतिक नीतिपन्थ में कर्ता की बुद्धि या हेतु के कुछ भी विचार न किये जाने का जो दोष पहले बतलाया गया है, वह इस आधिदैवतपक्ष में नहीं है । परन्तु जब हम इस बात का सूक्ष्म विचार करने लगते हैं, कि सदसद्विवेकरूपी

शुद्ध मनोदेवता किसे कहना चाहिये; तब इस पन्थ में भी दूसरी अनेक अपरिहार्य बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। कोई भी बात लीजिये; कहने की आवश्यकता नहीं है, कि उसके बारे में भली भाँति विचार करना—वह ग्राह्य है अथवा अग्राह्य है, करने के योग्य है या नहीं, उससे लाभ अथवा सुख होगा या नहीं; इत्यादि बातों को निश्चित करना—नाक अथवा आँख का काम नहीं है। किन्तु वह काम उस स्वतंत्र इन्द्रिय का है, जिसे मन कहते हैं। अर्थात्, कार्य-अकार्य अथवा धर्म-अधर्म का निर्णय मन ही करता है। चाहे आप उसे इन्द्रिय कहें या देवता। यदि आधिदैविक पन्थ का सिर्फ़ यही कहना हो, तो कोई आपत्ति नहीं। परन्तु पश्चिमी आधिदैवत पक्ष इससे एक पग और भी आगे बढ़ा हुआ है। उसका यह कथन है, कि भला अथवा बुरा (सत् अथवा असत), न्याय्य अथवा अन्याय्य, धर्म अथवा अधर्म का निर्णय करना एक बात है; और इस बात का निर्णय करना दूसरी बात है, कि अमुक पदार्थ भारी है या हलका है, गोरा है या काला, अथवा गणित का कोई उदाहरण सही है या गलत। ये दोनों बातें अत्यन्त भिन्न हैं। इनमें से दूसरे प्रकार की बातों का निर्णय न्यायशास्त्र का आधार ले कर मन कर सकता है; परन्तु पहले प्रकार की बातों का निर्णय करने के लिये केवल मन असमर्थ है। अतएव यह काम सदसद्विवेचन-शक्तिरूप देवता ही किया करता है, जो कि हमारे मन में रहता है। इसका कारण वे यह बतलाते हैं, कि जब हम किसी गणित के उदाहरण की जाँच करके निश्चय करते हैं, कि वह सही है या गलत। तब हम पहले उसके गुणा, जोड़ आदि की जाँच कर लेते हैं, और फिर अपना निश्चय स्थिर करते हैं। अर्थात् इस निश्चय के स्थिर होने के पहले मन को अन्य क्रिया या व्यापार करना पड़ता है; परन्तु भले-बुरे का निर्णय इस प्रकार नहीं किया जाता। जब हम यह सुनते हैं, कि किसी एक आदमी ने किसी दूसरे को जान से मार डाला, तब हमारे मुँह से एकाएक यह उद्‌गार निकल पड़ते हैं " राम राम ! उसने बहुत बुरा काम किया ! " और इस विषय में हमें कुछ भी विचार नहीं करना पड़ता। अतएव, यह नहीं कहा जा सकता, कि कुछ भी विचार न करके आप-ही-आप जो निर्णय हो जाता है, और जो निर्णय विचार-पूर्वक किया जाता है, वे दोनों एक ही मनोवृत्ति के व्यापार हैं। इसलिये यह मानना चाहिये, कि सदसद्विवेचन-शक्ति भी एक स्वतंत्र मानसिक देवता है। सब मनुष्यों के अन्तःकरण में यह देवता या शक्ति एक ही सी जागृत रहती है। इसलिये हत्या करना सभी लोगों को दोष प्रतीत होता है; और उसके विषय में किसी को कुछ सिखलाना भी नहीं पड़ता। इस आधिदैविक युक्तिवाद पर आधिभौतिक पन्थ के लोगों का यह उत्तर है, कि सिर्फ़ " हम एक-आध बात का निर्णय एकदम कर सकते हैं;" इतने ही से यह नहीं माना जा सकता, कि जिस बात का निर्णय विचार-पूर्वक किया जाता है वह उससे भिन्न है। किसी काम को जल्द अथवा धीरे करना अभ्यास पर अवलम्बित है। उदाहरणार्थ, गणित का विषय लीजिये। व्यापारी लोग मन के

भाव से सेर-छटाक के दाम एकदम मुखाग्र गणित की रीति से बतलाया करते हैं। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता, कि गुणाकार करने की उनकी शक्ति या देवता किसी अच्छे गणितज्ञ से भिन्न है। कोई काम अभ्यास के कारण इतना अच्छी तरह सध जाता है, कि बिना विचार किये ही कोई मनुष्य उसको शीघ्र और सरलतापूर्वक कर लेता है। उत्तम लक्ष्यभेदी मनुष्य उडते हुए पक्षियों को बन्दूक से सहज मार गिराता है; इससे कोई भी यह नहीं कहता, कि लक्ष्यभेद एक स्वतन्त्र देवता है। इतना ही नहीं; किन्तु निशाना मारना, उडते हुए पक्षियों की गति को जानना, इत्यादि शास्त्रीय बातों को भी कोई निरर्थक और त्याज्य नहीं कह सकता। नेपोलियन के विषय में यह बात प्रसिद्ध है, कि जब वह समरांगण में खड़ा हो कर चारों ओर सूक्ष्म दृष्टि से देखता था, तब उसके ध्यान में यह बात एकदम आ जाया करती थी, कि शत्रु किस स्थान पर कमजोर है। इतने ही से किसी ने यह सिद्धान्त नहीं निकाला है, कि युद्धकला एक स्वतंत्र देवता है; और उसका अन्य मानसिक शक्तियों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसमें सन्देह नहीं, कि किसी एक काम में किसी की बुद्धि स्वभावतः अधिक काम देती है; और किसी की कम। परन्तु सिर्फ़ इस असमानता के आधार पर ही हम यह नहीं कहते, कि दोनों की बुद्धि वस्तुतः भिन्न है। इसके अतिरिक्त यह बात भी सत्य नहीं, कि कार्य-अकार्य का अथवा धर्म-अधर्म का निर्णय एकाएक हो जाता है। यदि ऐसा ही होता, तो यह प्रश्न ही कभी उपस्थित न होता कि "अमुक काम करना चाहिये अथवा नहीं करना चाहिये।" यह बात प्रगट है, कि इस प्रकार का प्रश्न प्रसंगानुसार अर्जुन की तरह सभी लोगों के सामने उपस्थित हुआ करता है; और कार्य-अकार्य निर्णय के कुछ विषयों में, भिन्न भिन्न लोगों के अभिप्राय भी भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। यदि सदसद्विवेचनरूप स्वयम्भू देवता एक ही है, तो फिर यह भिन्नता क्यों है? इससे यही कहना पड़ता है, कि मनुष्य की बुद्धि जितनी सुशिक्षित अथवा सुसंस्कृत होगी, उतनी ही योग्यतापूर्वक वह किसी बात का निर्णय करेगा। बहुतेरे जंगली लोग ऐसे भी हैं, कि जो मनुष्य का वध करना अपराध तो मानते ही नहीं; किन्तु वे मारे हुए मनुष्य का मांस भी सहर्ष खा जाते हैं! जंगली लोगों की बात जाने दीजिये। सभ्य देशों में भी यह देखा जाता है, कि देश के चलन के अनुसार किसी एक देश में जो बात गर्ह्य समझी जाती है, वही किसी दूसरे देश में सर्वमान्य समझी जाती है। उदाहरणार्थ, एक स्त्री के रहते हुए दूसरी स्त्री के साथ विवाह करना विलायत में दोष समझा जाता है; परन्तु हिंदुस्थान में यह बात विशेष दूषणीय नहीं मानी जाती। भरी सभा में सिर की पगड़ी उतारना हिन्दू लोगों के लिये लज्जा या अमर्यादा की बात है; परन्तु अंग्रेज़ लोग सिर की टोपी उतारना ही सभ्यता का लक्षण मानते हैं। यदि यह बात सच है, कि ईश्वर-दत्त या स्वाभाविक सदसद्विवेचन-शक्ति के कारण ही बुरे कर्म करन में लज्जा मालूम होती है, तो क्या सब लोगों को एक ही कृत्य करने में एक ही समान लज्जा नहीं मालूम होनी चाहिये? बड़े बड़े लुटेरे और डाकू लोग भी, एक बार जिसका नमक खा

लेते हैं, उस पर हथियार उठाना निंद्य मानते हैं; किन्तु बड़े बड़े सभ्य पश्चिमी राष्ट्र भी अपने पड़ोसी राष्ट्र का वध करना स्वदेशभक्ति का लक्षण समझते हैं । यदि सदसद्विवेचन-शक्तिरूप देवता एक ही है, तो यह भेद क्यों माना जाता है ? और यदि यह कहा जाय, कि शिक्षा के अनुसार अथवा देश के चलन के अनुसार सदसद्विवेचन-शक्ति में भी भेद हो जाया करते हैं, तो उसकी स्वयंभू नित्यता में बाधा आती है । मनुष्य ज्यों ज्यों अपनी असभ्य दशा को छोड़ कर सभ्य बनता जाता है, त्यों त्यों उसके मन और बुद्धि का विकास होता जाता है । और इस तरह बुद्धि का विकास होने पर जिन बातों का विचार वह अपनी पहली असभ्य अवस्था में नहीं कर सकता था, उन्हीं बातों का विचार अब वह अपनी सभ्य दशा में शीघ्रता से करने लग जाता है । अथवा यह कहना चाहिये, कि इस बुद्धि का विकसित होना ही सभ्यता का लक्षण है । यह सभ्य अथवा सुशिक्षित मनुष्य के इन्द्रियनिग्रह का परिणाम है, कि वह औरों की वस्तु को ले लेने या माँगने की इच्छा नहीं करता । इसी प्रकार मन की वह शक्ति भी---जिससे बुरे-भले का निर्णय किया जाता है---धीरे धीरे बढ़ती जाती है । और अब तो कुछ बातों में वह इतनी परिपक्व होती ही है, कि किसी विषय में कुछ विचार किये बिना ही हम लोग अपना नैतिक निर्णय प्रगट कर दिया करते हैं । जब हमें आँखों से कोई दूर या पास की वस्तु देखनी होती है, तब आँखों की नसों को उचित परिमाण से खींचना पड़ता है; और यह क्रिया इतनी शीघ्रता से होती है, कि हमें उसका कुछ बोध भी नहीं होता । परन्तु क्या इतने ही से किसी ने इस बात की उपपत्ति को निरुपयोगी मान रखा है ? सारांश यह है, कि मनुष्य की बुद्धि या मन सब समय और सब कामों में एक ही है । यह बात यथार्थ नहीं, कि कालेगोरे का निर्णय एक प्रकार की बुद्धि करती है और बुरे-भले का निर्णय किसी अन्य प्रकार की बुद्धि से किया जाता है । केवल अन्तर इतना ही है, कि किसी में बुद्धि कम रहती है और किसी की अशिक्षित अथवा अपरिपक्व रहती है । उक्त भेद की ओर, तथा इस अनुभव की ओर भी उचित ध्यान दे कर, कि किसी काम को शीघ्रतापूर्वक कर सकना केवल आदत या अभ्यास का फल है । पश्चिमी आधिभौतिकवादियों ने यह निश्चय किया है, कि मन की स्वाभाविक शक्तियों से परे सदसद्विचारशक्ति नामक कोई भिन्न, स्वतन्त्र और विलक्षण शक्ति के मानने की आवश्यकता नहीं है ।

इस विषय में हमारे प्राचीन शास्त्रकारों का अन्तिम निर्णय भी पश्चिमी आधिभौतिकवादियों के सदृश ही है । वे इस बात को मानते हैं, कि स्वस्थ और शान्त अन्तःकरण से किसी भी बात का विचार करना चाहिये । परन्तु उन्हें यह बात मान्य नहीं, कि धर्म-अधर्म का निर्णय करनेवाली बुद्धि अलग है और काला-गोरा पहचानने की बुद्धि अलग है । उन्होंने यह भी प्रतिपादन किया है, कि मन जितना सुशिक्षित होगा; उतना ही वह भला या बुरा निर्णय कर सकेगा । अतएव मन को सुशिक्षित करने का प्रयत्न प्रत्येक को दृढ़ता से करना चाहिये । परन्तु वे इस

बात को नहीं मानते, कि सदसद्विवेचन-शक्ति सामान्य बुद्धि से कोई भिन्न वस्तु या ईश्वरीय प्रसाद है। प्राचीन समय में इस बात का निरीक्षण सूक्ष्म रीति से किया गया है, कि मनुष्य को ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है; और उसके मन का या बुद्धि का व्यापार किस तरह हुआ करता है। इसी निरीक्षण को 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार' कहते हैं। क्षेत्र का अर्थ 'शरीर' और क्षेत्रज्ञ का अर्थ 'आत्मा' है। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार अध्यात्मविद्या की जड़ है। इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विद्या का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर, सदसद्विवेक-शक्ति ही का कौन कहे, किसी भी मनोदेवता का अस्तित्व आत्मा के परे या स्वतंत्र नहीं माना जा सकता। ऐसी अवस्था में आधिदैवत पक्ष आप-ही-आप कमजोर हो जाता है। अतएव, अब यहाँ इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विद्या ही का विचार संक्षेप में किया जायगा। इस विवेचन से भगवद्गीता के बहुतेरे सिद्धांतों का सत्यार्थ भी पाठकों के ध्यान में अच्छी तरह आ जायगा।

यह कहा जा सकता है, कि मनुष्य का शरीर (पिंड, क्षेत्र या देह) एक बहुत बड़ा कारखाना ही है। जैसे किसी कारखाने में पहले बाहर का माल भीतर लिया जाता है; फिर उस माल का चुनाव या व्यवस्था करके इस बात का निश्चय किया जाता है, कि कारखाने के लिये उपयोगी और निरुपयोगी पदार्थ कौन-से हैं; और तब बाहर से लाये गये कच्चे माल से नई चीजें बनाते; और उन्हें बाहर भेजते हैं। वैसे ही मनुष्य की देह में भी प्रतिक्षण अनेक व्यापार हुआ करते हैं। इस सृष्टि के पाँचभौतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये मनुष्य की इंद्रियाँ ही प्रथम साधन हैं। इन इंद्रियों के द्वारा सृष्टि के पदार्थों का यथार्थ अथवा मूल-स्वरूप नहीं जाना जा सकता। आधिभौतिकवादियों का यह मत है, कि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप वैसा ही है, जैसा कि वह हमारी इंद्रियों को प्रतीत होता है। परन्तु यदि कल किसी को कोई नूतन इंद्रिय प्राप्त हो जाय, तो उसकी दृष्टि से सृष्टि के पदार्थों का गुण-धर्म जैसा आज है, वैसा ही नहीं रहेगा। मनुष्य की इंद्रियों में भी दो भेद हैं—एक कर्मेन्द्रियाँ और दूसरी ज्ञानेन्द्रियाँ। हाथ, पैर, वाणी, गुद और उपस्थ ये पाँच कर्मेंद्रियाँ हैं। हम जो कुछ व्यवहार अपने शरीर से करते हैं, वह सब इन्हीं कर्मेन्द्रियों के द्वारा होता है। नाक, आँखें, कान, जीभ और त्वचा ये पाँच ज्ञानेंद्रियाँ हैं। आँखों से रूप, जिव्हा से रस, कानों से शब्द, नाक से गन्ध, और त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होता है। किसी किसी भी बाह्य-पदार्थ का जो हमें ज्ञान होता है, वह उस पदार्थ के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श के सिवा और कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ, एक सोने का टुकड़ा लीजिये। वह पीला देख पड़ता है, त्वचा को कठोर मालूम होता है, पीटने से लम्बा हो जाता है, इत्यादि जो गुण हमारी इंद्रियों को गोचर होते हैं उन्हीं को हम सोना कहते हैं; और जब ये गुण बार बार एक ही पदार्थ में एक ही से दृग्गोचर होने लगते हैं, तब हमारी दृष्टि से सोना एक स्वतन्त्र पदार्थ बन जाता है। जिस प्रकार बाहर का माल भीतर लाने के लिये और भीतर का माल बाहर भेजने के लिये किसी कारखाने में दरवाजे होते हैं, उसी प्रकार

मनुष्य के देह में बाहर के माल को भीतर लेने के लिये ज्ञानेन्द्रिय-रूपी द्वार हैं, और भीतर का माल बाहर भेजने के लिये कर्मेन्द्रिय-रूपी द्वार हैं। सूर्य की किरणें किसी पदार्थ पर गिर कर जब लौटती हैं, और हमारे नेत्रों में प्रवेश करती हैं; तब हमारे आत्मा को उस पदार्थ के रूप का ज्ञान होता है। किसी पदार्थ से आनेवाली गन्ध के सूक्ष्म परमाणु जब हमारी नाक के मज्जातन्तुओं से टकराते हैं, तब हमें उस पदार्थ की बास आती है। अन्य ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार भी इसी प्रकार हुआ करते हैं। जब ज्ञानेन्द्रियाँ इस प्रकार अपना व्यापार करने लगती हैं, तब हमें उनके द्वारा बाह्य-सृष्टि के पदार्थों का ज्ञान होने लगता है। परंतु ज्ञानेन्द्रियाँ जो कुछ व्यापार करती हैं, उसका ज्ञान स्वयं उनको नहीं होता; उसी लिये ज्ञानेन्द्रियों को 'ज्ञाता' नहीं कहते; किंतु उन्हें सिर्फ़ बाहर के माल को भीतर ले जानेवाले 'द्वार' ही कहते हैं। इन दरवाजों से माल भीतर आ जाने पर उसकी व्यवस्था करना मन का काम है। उदाहरणार्थ, बारह बजे जब घड़ी में घण्टे बजने लगते हैं, तब एकदम हमारे कानों को यह नहीं समझ पड़ता, कि कितने बजे हैं; किंतु ज्यों ज्यों घडी में 'टन् टन्' की एकएक आवाज़ होती जाती है, त्यों त्यों हवा की लहरें हमारे कानों पर आकर टक्कर मारती हैं; और मज्जातंतु के द्वारा प्रत्येक आवाज़ का हमारे मन पर पहले अलग अलग संस्कार होता है। और अंत में इन सबों को जोड़ कर हम निश्चिय किया करते हैं, कि इतने बजे हैं। पशुओं में भी ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। जब घड़ी की 'टन् टन्' आवाज़ होती है, तब प्रत्येक ध्वनि का संस्कार उनके कानों के द्वारा मन तक पहुँच जाता है। परन्तु उनका मन इतना विकसित नहीं रहता, कि वे उन सब संस्कारों को एकत्र करके यह निश्चित कर लें कि बारह बजे हैं। यही अर्थ शास्त्रीय परिभाषा में इस प्रकार कहा जाता है, कि यद्यपि अनेक संस्कारों का पृथक् पृथक् ज्ञान पशुओं को हो जाता है, तथापि उस अनेकता की एकता का बोध उन्हें नहीं होता। भगवद्गीता (३. ४२) में कहा है:—"इंद्रियाणि पराण्याहुः इंद्रियेभ्यः परं मनः" अर्थात् इंद्रियाँ (बाह्य) पदार्थों से श्रेष्ठ हैं; और मन इंद्रियों से भी श्रेष्ठ है। इसका भावार्थ भी वही है, जो ऊपर लिखा गया है। पहले कह आये हैं, कि यदि मन स्थिर न हो, तो आँखें खुली होने पर भी कुछ दीख नहीं पड़ता; और कान खुले होने पर भी कुछ सुन नहीं पड़ता। तात्पर्य यह है, कि इस देहरूपी कारखाने में 'मन' एक मुंशी (क्लर्क) है; जिसके पास बाहर का सब माल ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भेजा जाता है। और यही मुंशी (मन) उस माल की जाँच किया करता है। अब इन बातों का विचार करना चाहिये, कि यह जाँच किस प्रकार की जाती है; और जिसे हम अबतक सामान्यतः 'मन' कहते आये हैं, उसके भी और कौन-कौन-से भेद किये जा सकते हैं; अथवा एक ही मन को भिन्न भिन्न अधिकार के अनुसार कौन-कौन-से भिन्न भिन्न नाम प्राप्त हो जाते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा मन पर जो संस्कार होते हैं, उन्हें प्रथम एकत्र करके और उनकी परस्पर तुलना करके इस बात का निर्णय करना पड़ता है, कि उनमें से अच्छे

कौन-से और बुरे कौन-से हैं, ग्राहच अथवा त्याज्य कौन-से हैं, और लाभदायक तथा हानिकारक कौन-से हैं। यह निर्णय हो जाने पर उनमें से जो बात अच्छी, ग्राहच, लाभदायक, उचित अथवा करने योग्य होती है; उसे करने में हम प्रवृत्त हुआ करते हैं। यही सामान्य मानसिक व्यवहार है। उदाहरणार्थ, जब हम किसी बगीचे में जाते हैं, तब आँख और नाक के द्वारा बाग के वृक्षों और फूलों के संस्कार हमारे मन पर होते हैं। परन्तु जब तक हमारे आत्मा को यह ज्ञान नहीं होता, कि इन फूलों में से किसकी सुगन्ध अच्छी और किसकी बुरी है; तब तक किसी फूल को प्राप्त कर लेने की इच्छा मनमें उत्पन्न नहीं होती; और न हम उसे तोड़ने का प्रयत्न ही करते हैं। अतएव सब मनोव्यापारों के तीन स्थूल-भाग हो सकते हैं:—(१) ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाहच-पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके उन संस्कारों को तुलना के लिये व्यवस्थापूर्वक रखना; (२) ऐसी व्यवस्था हो जाने पर उनके अच्छेपन या बुरेपन का सार-असार विचार करके यह निश्चय करना, कि कौन-सी बात ग्राहच है और कौन-सी त्याज्य; और (३) निश्चय हो चुकने पर, ग्राहच-वस्तु को प्राप्त कर लेने की, और अग्राहच को त्यागने की इच्छा उत्पन्न हो कर फिर उसके अनुसार प्रवृत्ति का होना। परन्तु यह आवश्यक नहीं, कि ये तीनों व्यापार बिना रुकावट के लगातार एक के बाद एक होते ही रहें। सम्भव है, कि पहले किसी समय भी देखी हुई वस्तु की इच्छा आज हो जाय। किन्तु इतने ही से यह नहीं कह सकते, कि उक्त तीनों क्रियाओं में से किसी भी क्रिया की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि न्याय करने की कचहरी एक ही होती है, तथापि उसमें काम का विभाग इस प्रकार किया जाता है:—पहले वादी और प्रतिवादी अथवा उनके वकील अपनी अपनी गवाहियाँ और सबूत न्यायाधीश के सामने पेश करते हैं। इसके बाद न्यायाधीश दोनों पक्षों के सबूत देख कर निर्णय स्थिर करता है, और अंत में न्यायाधीश के निर्णय के अनुसार नाज़िर कार्रवाई करता है। ठीक इसी प्रकार जिस मुंशी को अभी तक हम सामान्यतः 'मन' कहते आये हैं, उसके व्यापारों के भी विभाग हुआ करते हैं। इनमें से, सामने उपस्थित बातों का सार-असार-विचार करके यह निश्चय करने का काम (अर्थात् केवल न्यायाधीश का काम) 'बुद्धि' नामक इंद्रिय का है, कि कोई एक बात अमुक प्रकार ही की (एकमेव) है, दूसरे प्रकार की नहीं (नाऽन्यथा)। ऊपर कहे गये सब मनोव्यापारों में से इस सार-असार-विवेक-शक्ति को अलग कर देने पर सिर्फ़ बचे हुए व्यापार ही जिस इंद्रिय के द्वारा हुआ करते हैं, उसी को सांख्य और वेदान्तशास्त्र में 'मन' कहते हैं (सां. का. २३ और २७ देखो)। यही मन वकील के सदृश, कोई बात ऐसी है (संकल्प) अथवा उस के विरुद्ध वैसी है (विकल्प); इत्यादि कल्पनाओं को बुद्धि के सामने निर्णय करने के लिये पेश किया करता है। इसी लिये इसे 'संकल्प-विकल्पात्मक' अर्थात् बिना निश्चय किये केवल कल्पना करनेवाली इंद्रिय कहा गया है। कभी कभी 'संकल्प' शब्द में 'निश्चय' का भी अर्थ शामिल कर दिया जाता है (छांदोग्य

७. ४. १ देखो) । परन्तु यहाँ पर 'संकल्प' शब्द का उपयोग—निश्चय की अपेक्षा न रखते हुए—अमुक बात अमुक प्रकार की मालूम होना, मानना, कल्पना करना, समझना, अथवा कुछ योजना करना, इच्छा करना, चिंतन करना, मन में लाना आदि व्यापारों के लिये ही किया गया है । परन्तु, इस प्रकार वकील के सदृश, अपनी कल्पनाओं को बुद्धि के सामने निर्णयार्थ सिर्फ़ उपस्थित कर देने ही से मन का काम पूरा नहीं हो जाता । बुद्धि के द्वारा भले-बुरे का निर्णय हो जाने पर, जिस बात को बुद्धि ने ग्राह्य माना है उसका कर्मेन्द्रियों से आचरण कराना, अर्थात् बुद्धि की आज्ञा को कार्य में परिणत करना—यह नाज़िर का काम भी मन ही को करना पड़ता है । इसी कारण मन की व्याख्या दूसरी तरह भी की जा सकती है । यह कहने में कोई आपत्ति नहीं, कि बुद्धि के निर्णय की कारंवाई पर जो विचार किया जाता है, वह भी एक प्रकार से संकल्प-विकल्पात्मक ही है । परन्तु इसके लिये संस्कृत में 'व्याकरण-विचार करना' यह स्वतन्त्र नाम दिया गया है । इसके अतिरिक्त शेष सब कार्य बुद्धि के हैं । यहाँ तक, कि मन स्वयं अपनी ही कल्पनाओं के सार-असार का विचार नहीं करता । सार-असार-विचार करके किसी भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान आत्मा को करा देना, अथवा चुनाव करके यह निश्चय करना कि अमुक वस्तु अमुक प्रकार की है, या तर्क से कार्य-कारण-सम्बन्ध को देख कर निश्चित अनुमान करना, अथवा कार्य-अकार्य का निर्णय करना, इत्यादि सब व्यापार बुद्धि के हैं । संस्कृत में इन व्यापारों को 'व्यवसाय' या 'अध्यवसाय' कहते हैं । अतएव दो शब्दों का उपयोग करके, 'बुद्धि' और 'मन' का भेद बतलाने के लिये, महाभारत (शां. २५१. ११) में यह व्याख्या दी गई है :—

व्यवसायात्मिका बुद्धिः मनो व्याकरणात्मकम् ।

"बुद्धि (इंद्रिय) व्यवसाय करती है; अर्थात् सार-असार-विचार करके कुछ निश्चय करती है; और मन व्याकरण अथवा विस्तार है । वह अगली अवस्था करनेवाली प्रवर्तक इंद्रिय है—अर्थात् बुद्धि व्यवसायात्मिका है और मन व्याकरणात्मक है ।" भगवद्गीता में भी "व्यवसायात्मिका बुद्धिः" शब्द पाये जाते हैं (गी. २. ४४); और वहाँ भी बुद्धि का अर्थ 'सार-असार-विचार करके निश्चय करनेवाली इन्द्रिय' ही है । यथार्थ में बुद्धि केवल एक तलवार है । जो कुछ उसके सामने आता है या लाया जाता है, उसकी काट-छाँट करना ही उसका काम है; उसमें दूसरा कोई भी गुण अथवा धर्म नहीं है (म.भा. वन. १८१. २६) । संकल्प, वासना, इच्छा, स्मृति, धृति, श्रद्धा, उत्साह, करुणा, प्रेम, दया, सहानुभूति, कृतज्ञता, काम, लज्जा, आनन्द, भय, राग, संग, द्वेष, लोभ, मद, मत्सर, क्रोध इत्यादि सब मन ही के गुण अथवा धर्म हैं (बृ. १. ५. ३; मैत्र्यु. ६. ३०) । जैसी जैसी ये मनोवृत्तियाँ जागृत होती जाती हैं वैसे ही कर्म करने की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति हुआ करती है । उदाहरणार्थ, मनुष्य चाहे जितना बुद्धिमान् हो; और चाहे वह गरीब लोगों की दुर्दशा का हाल भलीभाँति जानता हो; तथापि

यदि उसके हृदय में करुणावृत्ति जागृत न हो, तो उसे गरीबों की सहायता करने की इच्छा कभी होगी ही नहीं। अथवा, यदि धैर्य का अभाव हो, तो युद्ध करने की इच्छा होने पर भी वह नहीं लड़ेगा। तात्पर्य यह है, कि बुद्धि सिर्फ़ यही बतलाया करती है, कि जिस बात को करने की हम इच्छा करते हैं उसका परिणाम क्या होगा। इच्छा अथवा धैर्य आदि गुण बुद्धि के धर्म नहीं हैं। इसलिये बुद्धि स्वयं (अर्थात् बिना मन की सहायता लिये ही) कभी इंद्रियों को प्रेरित नहीं कर सकती। इसके विरुद्ध क्रोध आदि वृत्तियों के वश में होकर स्वयं मन चाहे इंद्रियों को प्रेरित भी कर सके; तथापि यह नहीं कहा जा सकता, कि बुद्धि के सार-असार-विचार के बिना केवल मनोवृत्तियों की प्रेरणा से किया गया काम नीति की दृष्टि से शुद्ध ही होगा। उदाहरणार्थ, यदि बुद्धि का उपयोग न कर, केवल करुणावृत्ति से कुछ दान किया जाता है; तो संभव है, कि वह किसी अपात्र को दिया जावे; और उसका परिणाम भी बुरा हो। सारांश यह है, कि बुद्धि की सहायता के बिना केवल मनो-वृत्तियाँ अन्धी हैं। अतएव मनुष्य का कोई काम शुद्ध तभी हो सकता है, जब कि बुद्धि शुद्ध हो। अर्थात् वह भले-बुरे का अचूक निर्णय कर सके; मन बुद्धि के अनु-रोध से आचरण करें; और इन्द्रियाँ मन के आधीन रहें। मन और बुद्धि के सिवा 'अंतःकरण' और 'चित्त' ये दो शब्द भी प्रचलित हैं। इनमें से 'अंतःकरण' शब्द का धात्वर्थ 'भीतरी करण अर्थात् इन्द्रिय' है। इसलिये उसमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि सभी का सामान्यतः समावेश किया जाता है; और जब 'मन' पहले पहल बाह्य-विषयों का ग्रहण अर्थात् चिंतन करने लगता है, तब वही 'चित्त' हो जाता है (म. भा. शां. २७४. १७)। परंतु सामान्य व्यवहार में इन सब शब्दों का अर्थ एक ही सा माना जाता है। इस कारण समझ में नहीं आता, कि किस स्थान पर कौन-सा अर्थ विवक्षित है। इस गड़बड़ी को दूर करने के लिये ही, उक्त अनेक शब्दों में से मन और बुद्धि इन्हीं दो शब्दों का उपयोग शास्त्रीय परिभाषा में ऊपर कहे गये निश्चित अर्थ में किया जाता है। जब इस तरह मन और बुद्धि का भेद एक बार निश्चित कर दिया गया, तब (न्यायाधीश के समान) बुद्धि को मन से श्रेष्ठ मानना पड़ता है; और मन उस न्यायाधीश (बुद्धि) का मुंशी बन जाता है। "मनसस्तु परा बुद्धिः"—इस गीता-वाक्य का भावार्थ भी यही है, कि मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ एवं उसके परे है (गी. ३. ४२)। तथापि, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, उस मुंशी को भी दो प्रकार के काम करने पड़ते हैं—(१) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अथवा बाहर से आये हुए संस्कारों की व्यवस्था करके उनको बुद्धि के सामने निर्णय के लिये उपस्थित करना; और (२) बुद्धि का निर्णय हो जाने पर उसकी आज्ञा अथवा डाक कर्मेन्द्रियों के पास भेज कर बुद्धि का हेतु सफल करने के लिये आवश्यक बाह्य-क्रिया करवाना। जिस तरह दूकान के लिये मात्र खरीदने का काम और दूकान में बैठ कर बेचने का काम भी कहीं कहीं उस दूकान के एक ही नौकर को करना पड़ता है, उसी तरह मन को

भी दूसरा काम करना पड़ता है । मान लो, कि हमें एक मित्र दीख पड़ा; और उसे पुकारने की इच्छा से हमने उसे 'अरे' कहा । अब देखना चाहिये, कि इतने समय में अन्तःकरण में कितने व्यापार होते हैं । पहले आँखों ने अथवा ज्ञानेन्द्रियों ने यह संस्कार मन के द्वारा बुद्धि को भेजा, कि हमारा मित्र पास ही है; और बुद्धि के द्वारा उस संस्कार का ज्ञान आत्मा को हुआ । यह हुई ज्ञान होने की क्रिया । जब आत्मा बुद्धि के द्वारा यह निश्चय करता है, कि मित्र को पुकारना चाहिये; और बुद्धि के इस हेतु के अनुसार कार्रवाई करने के लिये मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न होती है; और मन हमारी जिह्वा (कर्मेन्द्रिय) से 'अरे!' शब्द का उच्चारण करवाता है । पाणिनि के शिक्षा-ग्रन्थ में शब्दोच्चारण-क्रिया का वर्णन इसी बात को ध्यान में रख कर किया गया है :—

आत्मा बुद्धया समेत्याऽर्थान् मनो युंक्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
मारुतस्तूरासि चरन् मंद्रं जनयति स्वरम् ॥

अर्थात् "पहले आत्मा बुद्धि के द्वारा सब बातों का आकलन करके मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न करता है; और जब मन कायाग्नि को उसकता है, तब कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है । तदनन्तर यह वायु छाती में प्रवेश करके मंद्र स्वर उत्पन्न करती है । यही स्वर आगे कण्ठ-तालू आदि के वर्ण-भेद रूप से मुख के बाहर आता है । उक्त श्लोक के अन्तिम दो चरण मैत्र्युपनिषद् में भी मिलते हैं (मैत्र्यु. ७. ११); और, इससे प्रतीत होता है, कि ये श्लोक पाणिनी से भी प्राचीन हैं † । आधुनिक शारीरशास्त्रों में कायाग्नि को मज्जातन्तु कहते हैं । परन्तु पश्चिमी शारीरशास्त्रज्ञों का कथन है, कि मन भी दो हैं । क्योंकि बाहर के पदार्थों का ज्ञान भीतर लानेवाले और मन के द्वारा बुद्धि की आज्ञा कर्मेन्द्रियों को बतलानेवाले मज्जातन्तु शरीर में भिन्न भिन्न हैं । हमारे शास्त्रकार दो मन नहीं मानते; उन्हों ने मन और बुद्धि को भिन्न बतला कर सिर्फ़ यह कहा है, कि मन उभयात्मक है । अर्थात् वह कर्मेन्द्रियों के साथ कर्मेन्द्रियों के समान और ज्ञानेन्द्रियों के साथ ज्ञानेन्द्रियों के समान काम करता है । दोनों का तात्पर्य एक ही है । दोनों की दृष्टि से यही प्रगट है, कि बुद्धि निश्चयकर्ता न्यायाधीश है; और मन पहले ज्ञानेन्द्रियों के साथ संकल्प-विकल्पात्मक हो जाया करता है; तथा फिर कर्मेन्द्रियों के साथ व्याकरणात्मक या कार्रवाई करनेवाला अर्थात् कर्मेन्द्रियों का साक्षात् प्रवर्तक हो जाता है । किसी बात का 'व्याकरण' करते समय कभी कभी मन यह संकल्प-विकल्प भी किया करता है, कि बुद्धि की आज्ञा का पालन किस प्रकार किया जाय । इसी कारण मन

† मैक्समूलर साहब ने लिखा है कि मैत्र्युपनिषद् पाणिनि की अपेक्षा, प्राचीन होना चाहिये । Sacred Books of the East Ser es, Vol. XV. pp. xlvii–li. इस पर परिशिष्ट प्रकरणमें अधिक विचार किया गया है ।

की व्याख्या करते समय सामान्यतः सिर्फ़ यही कहा जाता है, कि 'संकल्प-विकल्पात्मकं'। परन्तु, ध्यान रहे, कि उस समय भी इस व्याख्या में मन के दोनों व्यापारों का समावेश किया जाता है।

'बुद्धि' का जो अर्थ ऊपर किया गया है, कि यह निर्णय करनेवाली इंद्रिय है; वह अर्थ केवल शास्त्रीय और सूक्ष्म-विवेचन के लिये उपयोगी है। परन्तु इन शास्त्रीय अर्थों का निर्णय हमेशा पीछे से किया जाता है। अतएव यहाँ 'बुद्धि' शब्द के उन व्यावहारिक अर्थों का भी विचार करना आवश्यक है, जो इस शब्द के सम्बन्ध में, शास्त्रीय अर्थ निश्चित होने के पहले ही, प्रचलित हो गये हैं। जब तक व्यवसायात्मक बुद्धि किसी बात का पहले निर्णय नहीं करती, तब तक हमें उसका ज्ञान नहीं होता; और जब तक ज्ञान नहीं हुआ है, तब तक उसके प्राप्त करने की इच्छा या वासना भी नहीं हो सकती। अतएव, जिस प्रकार व्यवहार में आम के पेड़ और फल के लिये एक ही शब्द 'आम' का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार व्यवसायात्मक बुद्धि के लिये और उस बुद्धि के वासना आदि फलों के लिये भी एक ही शब्द 'बुद्धि' का उपयोग व्यवहार में कई बार किया जाता है। उदाहरणार्थः जब हम कहते हैं, कि अमुक मनुष्य की बुद्धि खोटी है; तब हमारे बोलने का यह अर्थ होता है, कि उसकी 'वासना' खोटी है। शास्त्र के अनुसार इच्छा या वासना मन के धर्म होने के कारण उन्हें बुद्धि शब्द से सम्बोधित करना युक्त नहीं है। परन्तु बुद्धि शब्द की शास्त्रीय जाँच होने के पहले ही से सर्वसाधारण लोगों के व्यवहार में 'बुद्धि' शब्द का उपयोग इन दोनों अर्थों में होता चला आया है :—(१) निर्णय करनेवाली इंद्रिय; और (२) उस इंद्रिय के व्यापार से मनुष्य के मन में उत्पन्न होनेवाली वासना या इच्छा। अतएव, आम के भेद बतलाने के समय जिस प्रकार 'पेड़' और 'फल' इन शब्दों का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार जब बुद्धि के उक्त दोनों अर्थों की भिन्नता व्यक्त करनी होती है, तब निर्णय करनेवाली अर्थात् शास्त्रीय बुद्धि को 'व्यवसायात्मिक' विशेषण जोड़ दिया जाता है; और वासना को केवल 'बुद्धि' अथवा 'वासनात्मक' बुद्धि कहते हैं। गीता (२. ४१, ४४, ४९; और ३. ४२) में 'बुद्धि' शब्द का उपयोग उपर्युक्त दोनों अर्थों में किया गया है। कर्मयोग के विवेचन को ठीक ठीक समझ लेने के लिये 'बुद्धि' शब्द के उपर्युक्त दोनों अर्थों पर हमेशा ध्यान रखना चाहिये। जब मनुष्य कुछ काम करने लगता है, तब उसके मनोव्यापार का क्रम इस प्रकार है—पहले वह 'व्यवसायात्मिक' बुद्धीन्द्रिय से विचार करता है, कि यह कार्य अच्छा है या बुरा; करने के योग्य है या नहीं; और फिर उस कर्म के करने की इच्छा या वासना (अर्थात् वासनात्मक बुद्धि) उत्पन्न होती है; और तब वह उक्त काम करने के लिये प्रवृत्त हो जाता है। कार्य-अकार्य का निर्णय करना जिस (व्यवसायात्मिक) बुद्धीन्द्रिय का व्यापार है, वह स्वस्थ और शान्त हो, तो मन में निरर्थक अन्य वासनाएँ (बुद्धि) उत्पन्न नहीं होने पातीं

और मन भी बिगड़ने नहीं पाता। अतएव गीता (२. ४१) में कर्मयोगशास्त्र का प्रथम सिद्धान्त यह है, कि पहले व्यवसायात्मिक बुद्धि को शुद्ध और स्थिर रखना चाहिये। केवल गीता ही में नहीं, किन्तु कान्ट † ने भी बुद्धि के इसी प्रकार दो भेद किये हैं; और शुद्ध अर्थात् व्यवसायात्मिक बुद्धि के एवं व्यावहारिक अर्थात् वासनात्मक बुद्धि के व्यापारों का विवेचन दो स्वतंत्र ग्रंथों में किया है। वस्तुतः देखने से तो यही प्रतीत होता है, कि व्यवसायात्मिका बुद्धि को स्थिर करना पातंजल योगशास्त्र ही का विषय है; कर्मयोगशास्त्र का नहीं। किन्तु गीता का सिद्धान्त है, कि कर्म का विचार करते समय उसके परिणाम की ओर ध्यान न दे कर पहले सिर्फ़ यही देखना चाहिये, कि कर्म करनेवाले की वासना अर्थात् वासनात्मक बुद्धि कैसी है (गी. २. ४९)। और इस प्रकार जब वासना के विषय में विचार किया जाता है, तब प्रतीत होता है, कि जिसकी व्यवसायात्मिक बुद्धि स्थिर और शुद्ध नहीं रहती, उसके मन में वासनाओं की भिन्न भिन्न तरंगें उत्पन्न हुआ करती हैं। और इसी कारण कहा नहीं जा सकता, कि वे वासनाएँ सदैव शुद्ध और पवित्र ही होंगी (गी. २. ४१)। जबकि वासनाएँ ही शुद्ध नहीं हैं, तब आगे कर्म भी शुद्ध कैसे हो सकता है? इसी लिये कर्मयोग में भी—व्यवसायात्मिक बुद्धि को शुद्ध करने के लिये—साधनों अथवा उपायों का विस्तार-पूर्वक विचार करने की आवश्यकता होती है; और इसी कारण भगवद्गीता के छठे अध्याय में बुद्धि को शुद्ध करने के लिये एक साधन के तौर पर पातंजलयोग का विवेचन किया गया है। परंतु इस संबंध पर ध्यान न दे कर कुछ सांप्रदायिक टीकाकारों ने गीता का यह तात्पर्य निकाला है, कि गीता में केवल पातंजलयोग का ही प्रतिपादन किया गया है। अब पाठकों के ध्यान में यह बात आ जायगी, कि गीता-शास्त्र में 'बुद्धि' शब्द के उपर्युक्त दोनों अर्थों पर और उन अर्थों के परस्पर सम्बन्ध पर, ध्यान रखना कितने महत्त्व का है।

इस बात का वर्णन हो चुका, कि मनुष्य के अन्तःकरण के व्यापार किस प्रकार हुआ करते हैं; तथा उन व्यापारों को देखते हुए मन और बुद्धि के कार्य कौन कौन-से हैं; तथा बुद्धि शब्द के कितने अर्थ होते हैं। अब मन और व्यवसायात्मिक बुद्धि को इस प्रकार पृथक् कर देने पर देखना चाहिये, कि सदसद्विवेक-देवता का यथार्थ रूप क्या है। इस देवता का काम सिर्फ़ भले-बुरे का चुनाव करना है। अतएव इसका समावेश 'मन' में नहीं किया जा सकता; और किसी भी बात का विचार करके निर्णय करनेवाली व्यवसायात्मिक बुद्धि केवल एक ही है; इसलिये सदसद्विवेक-रूप 'देवता' के लिये कोई स्वतंत्र स्थान ही नहीं रह जाता। हाँ, इसमें संदेह नहीं, कि जिन बातों का या विषयों का सार-असार-

† कान्ट ने व्यवसायात्मिक बुद्धि को Pure Reason और वासनात्मक बुद्धि को Practical Reason कहा है।

विचार करके निर्णय करना पड़ता है, वे अनेक और भिन्न भिन्न देवता हो सकते हैं। जैसे व्यापार, लड़ाई, फौज़दारी या दीवानी मुक़दमे, साहुकारी, कृषि आदि अनेक व्यवसायों में हर मौके पर सार-असार-विवेक करना पड़ता है। परन्तु इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता, कि व्यवसायात्मिक बुद्धियाँ भी भिन्न भिन्न अथवा कई प्रकार की होती हैं। सार-असार-विवेक नाम की क्रिया सर्वत्र एक ही सी है; और इसी कारण विवेक अथवा निर्णय करनेवाली बुद्धि भी एक ही होनी चाहिये। परन्तु मन के सदृश बुद्धि भी शरीर का धर्म है। अतएव पूर्वकर्म के अनुसार—पूर्वपरंपरागत या आनुषंगिक संस्कारों के कारण, अथवा शिक्षा आदि अन्य कारणों से—यह बुद्धि कम या अधिक सात्त्विकी, राजसी या तामसी हो सकती है। यही कारण है, कि जो बात किसी एक की बुद्धि में ग्राह्य प्रतीत होती है, वही दूसरे की बुद्धि में अग्राह्य जँचती है। इतने ही से यह नहीं समझ लेना चाहिये, कि बुद्धि नाम की इंद्रिय ही प्रत्येक समय भिन्न भिन्न रहती है। आँख ही का उदाहरण लीजिये। किसी की आँखें तिरछी रहती हैं, तो किसी की भद्दी और किसी की कानी; किसी की दृष्टि मंद और किसी की साफ़ रहती है। इससे हम यह कभी नहीं कहते, कि नेत्रेन्द्रिय एक नहीं, अनेक हैं। यही न्याय बुद्धि के विषय में भी उपयुक्त होना चाहिये। जिस बुद्धि से चावल अथवा गेहूँ जाने जाते हैं; जिस बुद्धि से पत्थर और हीरे का भेद जाना जाता है; जिस बुद्धि से काले-गोरे या मीठे-कड़वे का ज्ञान होता है; वही बुद्धि इन सब बातों के तारतम्य का विचार करके अंतिम निर्णय भी किया करती है, कि भय किसमें है, और किसमें नहीं; सत् और असत् क्या है; लाभ और हानि किसे कहते हैं; धर्म अथवा अधर्म और कार्य अथवा अकार्य में क्या भेद है, इत्यादि। साधारण व्यवहार में 'मनोदेवता' कह कर उसका चाहे जितने गौरव किया जाय, तथापि तत्त्वज्ञान की दृष्टि से वह एक ही वह व्यवसायात्मिक बुद्धि है। इसी अभिप्राय की ओर ध्यान दे कर गीता के अठारहवें अध्याय में एक ही बुद्धि के तीन भेद (सात्त्विक, राजस और तामस) करके भगवान् ने अर्जुन को पहले यह बतलाया है कि :—

> प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
> बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

अर्थात् "सात्त्विक बुद्धि वह है, कि जिसे इन बातों का यथार्थ ज्ञान है :—कौन-सा काम करना चाहिये और कौन-सा नहीं, कौन-सा काम करने योग्य है और कौन-सा अयोग्य, किस बात से डरना चाहिये और किस बात से नहीं, किसमें बंधन है और किसमें मोक्ष" (गी. १८. ३०)। इसके बाद यह बतलाया है कि :—

> यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
> अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥

अर्थात् "धर्म और अधर्म, अथवा कार्य और अकार्य का यथार्थ निर्णय जो बुद्धि

नहीं कर सकती, यानी जो बुद्धि हमेशा भूल किया करती है, वह राजसी है" (१८.३१)। और, अंत में कहा है कि :—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

अर्थात् "अधर्म को ही धर्म माननेवाली, अथवा सब बातों का विपरीत या उलटा निर्णय करनेवाली बुद्धि तामसी कहलाती है" (गी. १८. ३२)। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है, कि केवल भले-बुरे का निर्णय करनेवाली, अर्थात् सदसद्विवेक बुद्धिरूप स्वतंत्र और भिन्न देवता गीता को सम्मत नहीं है। उसका अर्थ यह नहीं है, कि सदैव ठीक ठीक निर्णय करनेवाली बुद्धि हो ही नहीं सकती। उपर्युक्त श्लोकों का भावार्थ यही है, कि बुद्धि एक ही है; और ठीक ठीक निर्णय करने का सात्त्विक गुण उसी एक बुद्धि में पूर्वसंस्कारों के कारण शिक्षा से तथा इंद्रिय-निग्रह अथवा आहार आदि के कारण उत्पन्न हो जाता है; और इन पूर्वसंस्कार-प्रभृति कारणों के अभाव से ही—वह बुद्धि जैसे कार्य-अकार्य-निर्णय के विषय में वैसे ही अन्य दूसरी बातों में भी—राजसी अथवा तामसी हो सकती है। इस सिद्धान्त की सहायता से भली भाँति मालूम हो जाता है, कि चोर और साह की बुद्धि में, तथा भिन्न भिन्न देशों के मनुष्यों की बुद्धि में भिन्नता क्यों हुआ करती है। परन्तु जब हम सदसद्विवेचन-शक्ति को स्वतंत्र देवता मानते हैं, तब उक्त विषय की उपपत्ति ठीक ठीक सिद्ध नहीं होती। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है, कि वह अपनी बुद्धि को सात्त्विक बनावे। यह काम इंद्रियनिग्रह के बिना हो नहीं सकता। जब तक व्यवसायात्मिक बुद्धि यह जानने में समर्थ नहीं है, कि मनुष्य का हित किस बात में है; और जब तक वह उस बात का निर्णय या परीक्षा किये बिना ही इंद्रियों की इच्छानुसार आचरण करती रहती है, तब तक वह बुद्धि 'शुद्ध' नहीं कही जा सकती। अतएव बुद्धि को मन और इंद्रियों के आधीन नहीं होने देना चाहिये। किन्तु ऐसा उपाय करना चाहिये, कि जिससे मन और इंद्रियाँ बुद्धि के आधीन रहें। भगवद्गीता (२. ६७, ६८; ३. ७, ४१; ६. २४–२६) में यही सिद्धान्त अनेक स्थानों में बतलाया गया है; और यही कारण है, कि कठोपनिषद् में शरीर को रथ की उपमा दी गई है; तथा यह रूपक बाँधा गया है, कि उस शरीररूपी रथ में जुते हुए इंद्रियाँरूपी घोड़ों को विषयोपभोग के मार्ग में अच्छी तरह चलाने के लिये (व्यवसायात्मिक) बुद्धिरूपी सारथी को मनोमय लगाम धीरता से खींचे रहना चाहिये (कठ. ३. ३–९))। महाभारत (वन. २१०, २५; स्त्री. ७.१३, अश्व. ५१. ५) में भी वही रूपक दो तीन स्थानों में कुछ हेरफेर के साथ लिया गया है। इंद्रियनिग्रह के इस कार्य का वर्णन करने के लिये उक्त दृष्टांत इतना अच्छा है, कि ग्रीस के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने भी इंद्रियनिग्रह का वर्णन करते समय इसी रूपक का उपयोग अपने ग्रंथ में किया है (फिड्रस. २४६)। भगवद्गीता में, यह

दृष्टान्त प्रत्यक्ष रूप से नहीं पाया जाता। तथापि इस विषय के संदर्भ की ओर जो ध्यान देगा, उसे यह बात अवश्य मालूम हो जायगी, कि गीता के उपर्युक्त श्लोकों में इन्द्रियनिग्रह का वर्णन इस दृष्टान्त को लक्ष्य करके ही किया गया है । सामान्यतः, अर्थात् जब शास्त्रीय सूक्ष्म भेद करने की आवश्यकता नहीं होती, तब उसी को मनोनिग्रह भी कहते हैं। परन्तु जब 'मन' और 'बुद्धि' में—जैसा कि ऊपर कह आये हैं—भेद किया जाता है, तब निग्रह करने का कार्य मन को नहीं; किन्तु व्यवसायात्मिक बुद्धि को ही करना पड़ता है। इस व्यवसायात्मिक बुद्धि को शुद्ध करने के लिये—पातंजल-योग की समाधिसे, भक्ति से,ज्ञान से अथवा ध्यान से परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप को पहचान कर—यह तत्त्व पूर्णतया बुद्धि में भिद जाना चाहिये कि, 'सब प्राणियों में एक ही आत्मा है'। इसी को आत्मनिष्ठ बुद्धि कहते हैं। इस प्रकार जब व्यवसायात्मिक बुद्धि आत्मनिष्ठ हो जाती है; और मनोनिग्रह की सहायता से मन और इन्द्रियाँ उसकी आधीनता में रह कर आज्ञानुसार आचरण करना सीख जाती हैं, तब इच्छा, वासना आदि मनोधर्म (अर्थात् वासनात्मक बुद्धि) आप-ही-आप शुद्ध और पवित्र हो जाते हैं; और शुद्ध सात्त्विक कर्मों की ओर देहेन्द्रियों की सहज ही प्रवृत्ति होने लगती है। अध्यात्म की दृष्टि से यही सब सदाचरणों की जड़ अर्थात् कर्मयोगशास्त्र का रहस्य है।

ऊपर किये गये विवेचन से पाठक समझ जावेंगे, कि हमारे शास्त्रकारों ने मन और बुद्धि की स्वाभाविक वृत्तियों के अतिरिक्त सदसद्विवेक-शक्तिरूप स्वतंत्र देवता का अस्तित्व क्यों नहीं माना है। उनके मतानुसार भी मन या बुद्धि का गौरव करने के लिये उन्हें 'देवता' कहने में कोई हर्ज नहीं है; परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करके उन्होंने निश्चित सिद्धान्त किया है, कि जिसे हम मन या बुद्धि कहते हैं, उससे भिन्न और स्वयंभू 'सदसद्विवेक' नामक किसी तीसरे देवता का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। 'सतां हि संदेहपदेषु०' वचन के 'सतां' पद की उपयुक्तता और महत्ता भी अब भली भाँति प्रगट हो जाती है। जिनके मन शुद्ध और आत्मनिष्ठ हैं, वे यदि अपने अंतःकरण की गवाही लें, तो कोई अनुचित बात न होगी; अथवा यह भी कहा जा सकता है, कि किसी काम को करने के पहले उनके लिये यही उचित है, कि वे अपने मन को अच्छी तरह शुद्ध करके उसी की गवाही लिया करें। परन्तु यदि कोई चोर कहने लगे, कि 'मैं भी इसी प्रकार आचरण करता हूँ;' तो यह कदापि उचित न होगा। क्योंकि, दोनों की सदसद्विवेचन-शक्ति एक ही सी नहीं होती। सत्पुरुषों की बुद्धि सात्त्विक और चोरों की तामसी होती है। सारांश, आधिदैवत पक्षवालों का 'सदसद्विवेक-देवता' तत्त्वज्ञान की दृष्टि से स्वतंत्र देवता सिद्ध नहीं होता; किन्तु हमारे शास्त्रकारों का सिद्धान्त है, कि वह तो व्यवसायात्मक बुद्धि के स्वरूपों ही में से एक आत्मनिष्ठ अर्थात् सात्त्विक स्वरूप है। और जब यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है, तब आधिदैवत पक्ष अपने आप ही कमजोर हो जाता है।

जब सिद्ध हो गया, कि आधिभौतिक-पक्ष एकदेशीय तथा अपूर्ण है; और आधि-

दैवत पक्ष की सहल युक्ति भी किसी काम की नहीं। तब यह जानना आवश्यक है, कि कर्मयोगशास्त्र की उपपत्ति ढूँढने के लिये कोई अन्य मार्ग है या नहीं ? और उत्तर भी यह मिलता है, कि हाँ, मार्ग है; और उसी को आध्यात्मिक कहते हैं। इसका कारण यह है, कि यद्यपि बाह्य-कर्मों की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है; तथापि जब सदसद्विवेक-बुद्धि नामक स्वतंत्र और स्वयंभू देवता का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता; तब कर्मयोगशास्त्र में भी इन प्रश्नों का विचार करना आवश्यक हो जाता है, कि शुद्ध कर्म करने के लिये बुद्धि को किस प्रकार शुद्ध रखना चाहिये; शुद्ध बुद्धि किसे कहते हैं; अथवा बुद्धि किस प्रकार शुद्ध की जा सकती है ? और यह विचार केवल बाह्य-सृष्टि का विचार करनेवाले आधिभौतिकशास्त्रों को छोड़े बिना--तथा अध्यात्मज्ञान में प्रवेश किये बिना--पूर्ण नहीं हो सकता। इस विषय में हमारे शास्त्रकारों का अन्तिम सिद्धान्त यही है, कि जिस बुद्धि को आत्मा का अथवा परमेश्वर के सर्वव्यापी यथार्थ स्वरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है; वह बुद्धि शुद्ध नहीं है। गीता में अध्यात्मशास्त्र का निरूपण यही बतलाने के लिये किया गया है, कि आत्मनिष्ठ बुद्धि किसे कहना चाहिये। परंतु इस पूर्वापर-संबंध की ओर ध्यान न दे कर, गीता के कुछ साम्प्रदायिक टीकाकारों ने यह निश्चय किया है, कि गीता में मुख्य प्रतिपाद्य विषय वेदान्त ही है। आगे चल कर यह बात विस्तारपूर्वक बतलाई जायगी, कि गीता में प्रतिपादन किये गये विषय के सम्बन्ध में उक्त टीकाकारों का किया हुआ निर्णय ठीक नहीं है। यहाँ पर सिर्फ़ यही बतलाना है, कि बुद्धि को शुद्ध रखने के लिये आत्मा का भी अवश्य विचार करना पड़ता है। आत्मा के विषयमें यह विचार दो प्रकार से किया जाता है:--(१) स्वयं अपने पिण्ड, क्षेत्र अथवा शरीर के और मन के व्यापारों का निरीक्षण करके यह विचार करना, कि उस निरीक्षण से क्षेत्रज्ञरूपी आत्मा कैसे निष्पन्न होता है (गी. अ. १३)। इसी को शारीरक अथवा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार कहते हैं; और इसी कारण वेदान्तसूत्रों को शारीरक (शरीर का विचार करनेवाले) सूत्र कहते हैं। स्वयं अपने अपने शरीर और मन का इस प्रकार विचार होने पर, (२) जानना चाहिये, कि उस विचार से निष्पन्न होनेवाले तत्त्व--और हमारे चारों ओर को दृश्य-सृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड के निरीक्षण से निष्पन्न होनेवाला तत्त्व--दोनों एक ही हैं अथवा भिन्न भिन्न हैं। इस प्रकार किये गये दृष्टि के निरीक्षण को क्षर-अक्षर-विचार अथवा व्यक्त-अव्यक्त-विचार कहते हैं। सृष्टि के सब नाशवान् पदार्थों को 'क्षर' या 'व्यक्त' कहते हैं; और सृष्टि के उन नाशवान् पदार्थों में जो सारभूत नित्यतत्त्व है, उसे 'अक्षर' या 'अव्यक्त' कहते हैं (गी. ८.२१; १५. १६)। क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचार और क्षर-अक्षर-विचार से प्राप्त होनेवाले इन दोनों तत्त्वों का फिर से विचार करने पर प्रकट होता है, कि ये दोनों तत्त्व जिससे निष्पन्न हुए हैं; और इन दोनों के परे जो सब का मूलभूत एकतत्त्व है, उसी को 'परमात्मा' अथवा 'पुरुषोत्तम' कहते हैं (गी. ८. २०)। इन बातों का विचार भगवद्गीता में किया गया है; और अन्त में कर्मयोगशास्त्र की उपपत्ति बतलाने के लिये यह दिखलाया

गया है, कि मूलभूत परमात्मरूपी तत्त्व के ज्ञान से बुद्धि किस प्रकार शुद्ध हो जाती है। अतएव उस उपपत्ति को अच्छी तरह समझ लेने के लिये हमें भी उन्हीं मार्गों का अनुकरण करना चाहिये। इन मार्गों में से, ब्रह्माण्ड-ज्ञान अथवा क्षर-अक्षर विचारका विवेचन अगले प्रकरण में किया जायगा। इस प्रकरण में, सदसद्विवेक देवता के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करने के लिये, पिण्ड-ज्ञान अथवा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का जो विवेचन आरम्भ किया गया था वह अधूरा ही रह गया है। इसलिये अब उसे पूरा कर लेना चाहिये।

पाँचभौतिक स्थूल देह, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, इन ज्ञानेंद्रियों के शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधात्मक पाँच विषय, संकल्प-विकल्पात्मक मन और व्यवसायात्मिक बुद्धि--इन सब विषयों का विवेचन हो चुका। परन्तु, इतने ही से शरीरसंबंधी विचार की पूर्णता हो नहीं जाती। मन और बुद्धि केवल विचार के साधन अथवा इंद्रियाँ हैं। यदि उस जड़ शरीर में इनके अतिरिक्त प्राणरूपी चेतना अर्थात् हलचल न हो, तो मन और बुद्धि का होना न होना बराबर ही--अर्थात् किसी काम का नहीं--समझा जायगा। अर्थात्, शरीर में, उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त चेतना नामक एक और तत्त्व का भी समावेश होना चाहिये। कभी कभी चेतना शब्द का अर्थ 'चैतन्य' भी हुआ करता है। परन्तु स्मरण रहे कि यहाँ पर चेतना शब्द का अर्थ 'चैतन्य' नहीं माना गया है; वरन् 'जड़ देह में दृग्गोचर होनेवाली प्राणों की हलचल, चेष्टा या जीवितावस्था का व्यवहार' सिर्फ़ यही अर्थ विवक्षित है। जिसका हित-शक्ति के द्वारा जड़ पदार्थों में भी हलचल अथवा व्यापार उत्पन्न हुआ करता है, उसको चैतन्य कहते हैं; और अब इसी शक्ति के विषय में विचार करना है। शरीर में दृग्गोचर होनेवाले सजीवता के व्यापार अथवा चेतना के अतिरिक्त जिसके कारण 'मेरा--तेरा' यह भेद उत्पन्न होता है, वह भी एक भिन्न गुण है। उसका कारण यह है, कि उपर्युक्त विवेचन के अनुसार बुद्धि सार-असार का विचार करके केवल निर्णय करनेवाली एक इन्द्रिय है; अतएव 'मेरा--तेरा' इस भेद-भाव के मूल को अर्थात् अहंकार को उस बुद्धि से पृथक् ही मानना पड़ता है। इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व मन ही के गुण हैं। परन्तु नैयायिक इन्हें आत्मा के गुण समझते हैं। इसी लिये इस भ्रम को हटाने के अर्थ वेदान्तशास्त्र ने इसका समावेश मन ही में किया है। इसी प्रकार जिन मूल तत्त्वों से पंचमहाभूत उत्पन्न हुए हैं, उन प्रकृतिरूप तत्त्वों का भी समावेश शरीर ही में किया जाता है (गी. १३. ५, ६)। जिस शक्ति के द्वारा ये तत्त्व स्थिर रहते हैं वह भी इन सब से न्यारी है। उसे धृति कहते हैं (गी. १८. ३३)। इन सब बातों को एकत्र करने से जो समुच्चय-रूपी पदार्थ बनता है, उसे शास्त्रों में सविकार शरीर अथवा क्षेत्र कहा है; और व्यवहार में इसी को चलता-फिरता (सविकार) मनुष्यशरीर अथवा पिण्ड कहते हैं। क्षेत्र शब्द की यह व्याख्या गीता के आधार पर की गई है; परन्तु इच्छा-द्वेष आदि गुणों की गणना करते समय कभी

इस व्याख्या में कुछ हेरफेर भी कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, शांति-पर्व के जनक-सुलभा-संवाद (शां. ३२०) में, शरीर की व्याख्या करते समय पंचकर्मेन्द्रियों के बदले काल, सदसद्भाव, विधि, शुक्र और बल का समावेश किया गया है। इस गणना के अनुसार पंचकर्मेन्द्रियों को पंचमहाभूतों ही में शामिल करना पड़ता है; और यह मानना पड़ता है, कि गीता की गणना के अनुसार कालका अन्तर्भाव आकाश में और विधि-बल आदिकों का अन्तर्भाव अन्य महाभूतों में किया गया है। कुछ भी हो; इसमें संदेह नहीं, कि क्षेत्र शब्द से सब लोगों को एक ही अर्थ अभिप्रेत है। अर्थात्, मानसिक और शारीरिक सब द्रव्यों और गुणों का प्राणरूपी विशिष्ट चेतनायुक्त जो समुदाय है, उसी को क्षेत्र कहते हैं। शरीर शब्द का उपयोग मृत देह के लिये भी किया जाता ह। अतएव उस विषय का विचार करते समय 'क्षेत्र' शब्द ही का अधिक उपयोग किया जाता है। क्योंकि वह शरीर शब्द से भिन्न है। 'क्षेत्र' का मूल अर्थ खेत है; परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में 'सविकार और सजीव मनुष्य देह' के अर्थ में उसका लाक्षणिक उपयोग किया गया है। पहले जिसे हमने 'बड़ा कारखाना' कहा है, वह यही 'सविकार और सजीव मनुष्य देह' है। बाहर का माल भीतर लेने के लिये और कारखाने के भीतर का माल बाहर भेजने के लिये, ज्ञानेंद्रियाँ उस कारखाने के यथाक्रम द्वार हैं; और मन, बुद्धि, अहंकार एवं चेतना उस कारखाने में काम करनेवाले नौकर हैं। ये नौकर जो कुछ व्यवहार कराते हैं या करते हैं, उन्हें इस क्षेत्र के व्यापार, विकार अथवा कर्म कहते हैं।

इस प्रकार 'क्षेत्र' शब्द का अर्थ निश्चित हो जाने पर यह प्रश्न सहज ही उठता है, कि यह क्षेत्र अथवा खेत है किसका? कारखाने का कोई स्वामी भी है या नहीं? आत्मा शब्द का उपयोग बहुधा मन, अतःकरण तथा स्वयं अपने लिये भी किया जाता है। परन्तु उसका प्रधान अर्थ 'क्षेत्रज्ञ' अथवा 'शरीर का स्वामी' ही है। मनुष्य के जितने व्यापार हुआ करते हैं—चाहे वे मानसिक हों या शारीरिक—वे सब उसकी बुद्धि आदि अंतरिन्द्रियाँ, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ, तथा हस्त-पाद आदि कर्मेंद्रियाँ ही किया करती हैं। इन्द्रियों के इस समूह में बुद्धि और मन सब से श्रेष्ठ हैं। परंतु, यद्यपि वे श्रेष्ठ हैं, तथापि अन्य इन्द्रियों के समान वे भी अंत में जड़ देह वा प्रकृति के ही विकार हैं (अगला प्रकरण देखो)। अतएव, यद्यपि मन और बुद्धि समश्रेष्ठ हैं, तथापि उन्हें अपने अपने विशिष्ट व्यापार के अतिरिक्त और कुछ करते धरते नहीं बनता; और न कर सकना संभव ही है। यही सच है, कि मन चिंतन करता है और बुद्धि निश्चय करती है। परंतु इससे यह निश्चित नहीं होता, कि इन कामों को बुद्धि और मन किस के लिये करते हैं; अथवा भिन्न भिन्न समय पर मन और बुद्धि के जो पृथक् पृथक् व्यापार हुआ करते हैं, इनका एकत्र ज्ञान होने के लिये जो एकता करनी पड़ती है, वह एकता या एकीकरण कौन करता है; तथा उसी के अनुसार आगे सब इन्द्रियों को अपना

अपना व्यापार तदनुकूल करने की दिशा कौन दिखाता है। यह नहीं कहा जा सकता, कि यह सब काम मनुष्य का जड़ शरीर ही किया करता है। इसका कारण यह है, कि जब शरीर की चेतना अथवा सब हलचल करने के व्यापार नष्ट हो जाते हैं, तब जड़ शरीर के बने रहने पर भी वह इन कामों को नहीं कर सकता; और जड़ शरीर के घटकावयव जैसे मांस, स्नायु इत्यादि तो अन्न के परिणाम हैं; तथा वे हमेशा जीर्ण हो कर नये हो जाया करते हैं। इसलिये, 'कल जो मैंने अमुक एक बात देखी थी, वही मैं आज दूसरी देख रहा हूँ' इस प्रकार की एकत्व-बुद्धि के विषय में यह नहीं कहा जा सकता, कि वह नित्य बदलनेवाले जड़ शरीर का ही धर्म है। अच्छा; अब जड़ देह छोड़ कर चेतना को ही स्वामी मानें; तो यह आपत्ति देख पड़ती है, कि गाढ़ निद्रा में प्राणादि वायु के श्वासोच्छ्वास प्रभृति व्यापार अथवा रुधिराभिसरण आदि व्यापार--अर्थात् चेतना--के रहते हुए भी, 'मैं' का ज्ञान नहीं रहता (बृ. २. १. १५-१८)। अतएव यह सिद्ध होता है, कि चेतना--अथवा प्राण प्रभृति का व्यापार--भी जड़ पदार्थ में उत्पन्न होनेवाला एक प्रकार का विशिष्ट गुण है। वह इन्द्रियों के सब व्यापारों की एकता करनेवाली मूल-शक्ति या स्वामी नहीं है (कठ. ५, ५)। 'मेरा' और 'तेरा' इन सम्बन्ध-कारक शब्दों से केवल अहंकाररूपी गुण का बोध होता है; परन्तु इस बात का निर्णय नहीं होता, कि 'अहं' अर्थात् 'मैं' कौन हूँ। यदि इस 'मैं' या 'अहं' को केवल भ्रम मान लें, तो प्रत्येक की प्रतीति अथवा अनुभव वैसा नहीं है; और इस अनुभव को छोड़ कर किसी अन्य बात की कल्पना करना मानों श्रीसमर्थ रामदास स्वामी के निम्न वचनों की सार्थकता ही कर दिखाना है--"प्रतीति के बिना कोई भी कथन अच्छा नहीं लगता। वह कथन ऐसा होता है, जैसे कुत्ता मुँह फैला कर रो गया हो!" (दा. ९. ५. १५)। अनुभव के विपरीत इस बात को मान लेने पर भी इन्द्रियों के व्यापारों की एकता की उपपत्ति का कुछ भी पता नहीं लगता। कुछ लोगों की राय है, कि 'मैं' कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। किन्तु 'क्षेत्र' शब्द में जिन--मन, बुद्धि, चेतना, जड़ देह आदि-तत्त्वों का समावेश किया जाता है, उन सब के संघात या समुच्चय को ही 'मैं' कहना चाहिये। अब यह बात हम प्रत्यक्ष देखा करते हैं, कि लकड़ीपर लकड़ी रख देने से ही सन्दूक नहीं बन जाती; अथवा किसी घड़ी के सब कील-पुर्जों को एक स्थान में रख देने से ही उसमें गति उत्पन्न नहीं हो जाती। अतएव यह नहीं कहा जा सकता, कि केवल संघात या समुच्चय से ही कर्तृत्व उत्पन्न होता है। कहने की आवश्यकता नहीं, कि क्षेत्र के सब व्यापार सीढ़ी सरीखे नहीं होते। किन्तु उनमें कोई विशिष्ट दिशा, उद्देश या हेतु रहता है। तो फिर क्षेत्ररूपी कारखाने में काम करनेवाले मन, बुद्धि आदि सब नौकरों को इस विशिष्ट दिशा या उद्देश की ओर कौन प्रवृत्त करता है? संघात का अर्थ केवल समूह है। कुछ पदार्थों को एकत्र करके उनका एक समूह बन जाने पर भी विलग न होने के लिये उनमें धागा डालना पड़ता है। नहीं तो वे फिर कभी-

न-कभी अलग अलग हो जायँगे । अब हमें सोचना चाहिये, कि यह धागा कौन-सा है ? यह बात नहीं है, कि गीता को संघात मान्य न हो; परन्तु उसकी गणना क्षेत्र ही में की जाती है (गी. १३. ६) । संघात से इस बात का निर्णय नहीं होता, कि क्षेत्र का स्वामी अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है । कुछ लोग समझते हैं, कि समुच्चय में कोई नया गुण उत्पन्न हो जाता है । परन्तु पहले तो यह मत ही सत्य नहीं; क्योंकि तत्त्वज्ञों ने पूर्ण विचार करके सिद्धान्त कर दिया है, कि जो पहले किसी भी रूप से अस्तित्व में नहीं था, वह इस जगत् में नया उत्पन्न नहीं होता (गी. २. १६) । यदि हम इस सिद्धान्त को क्षण भर के लिये एक ओर धर दें; तो भी यह प्रश्न सहज ही उपस्थित हो जाता है, कि संघात में उत्पन्न होनेवाला यह नया गुण ही क्षेत्र का स्वामी क्यों न माना जाय । इस पर कई अर्वाचीन आधिभौतिकशास्त्रज्ञों का कथन है, कि द्रव्य और उसके गुण भिन्न भिन्न नहीं रह सकते; गुण के लिये किसी-न-किसी अधिष्ठान की आवश्यकता होती है । इसी कारण समुच्चयोत्पन्न गुण के बदले लोग समुच्चय ही को इस क्षेत्र का स्वामी मानते हैं । ठीक है; परन्तु फिर व्यवहार में भी 'अग्नि' शब्द के बदले लकड़ी, 'विद्युत्' के बदले मेघ, अथवा पृथ्वी की 'आकर्षण-शक्ति' के बदले पृथ्वी ही क्यों नहीं कहा जाता ? यदि यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि क्षेत्र के सब व्यापार व्यवस्थापूर्वक उचित रीति से मिल जुल कर चलते रहने के लिये—मन और बुद्धि के सिवा—किसी भिन्न शक्ति का अस्तित्व अत्यन्त आवश्यक है । और यदि यह बात सच हो, कि उस शक्ति का अधिष्ठान अब तक हमारे लिये अगम्य है; अथवा उस शक्ति या अधिष्ठान का पूर्ण-स्वरूप ठीक ठीक नहीं बतलाया जा सकता है; तो यह कहना न्यायोचित कैसे हो सकता है, कि वह शक्ति है ही नहीं ? जैसे कोई भी मनुष्य अपने ही कंधे पर बैठ नहीं सकता, वैसे ही यह भी नहीं कहा जा सकता, कि संघातसंबंधी ज्ञान स्वयं संघात ही प्राप्त कर लेता है । अतएव तर्क की दृष्टि से भी यही दृढ अनुमान किया जाता है, कि देहेंद्रिय आदि संघात के व्यापार जिसके उपभोग के लिये अथवा लोभ के लिये हुआ करते हैं, वह संघात से भिन्न ही है । यह तत्त्व—जो कि संघात से भिन्न है—स्वयं सब बातों को जानता है । इसलिये यह बात सच है, कि सृष्टि के अन्य पदार्थों के सदृश यह स्वयं अपने ही लिये 'ज्ञेय' अर्थात् गोचर हो नहीं सकता । परन्तु इसके अस्तित्व में कुछ बाधा नहीं पड़ सकती । क्योंकि यह नियम नहीं है, कि सब पदार्थों को एक ही श्रेणी या वर्ग, (जैसे ज्ञेय) में शामिल कर देना चाहिये । सब पदार्थों के वर्ग या विभाग होते हैं; जैसे ज्ञाता और ज्ञेय—अर्थात् जाननेवाला और जानने की वस्तु । और जब कोई वस्तु दूसरे वर्ग (ज्ञेय) में शामिल नहीं होती, तब उसका समावेश पहले वर्ग (ज्ञाता) में हो जाता है । एवं उसका अस्तित्व भी ज्ञेय वस्तु के समान ही पूर्णतया सिद्ध होता है । इतना ही नहीं; किन्तु यह भी कहा जा सकता है, कि संघात के परे जो आत्मतत्त्व है वह स्वयं ज्ञाता है । इसलिये उसको होनेवाले ज्ञान

का यदि वह स्वयं विषय न हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसी अभिप्राय से बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने कहा है "अरे! जो सब बातों को जानता है, उसको जाननेवाला दूसरा कहाँ से आ सकता है?"—विज्ञातारमरे केन विजानीयात् (बृ. २. ४. १४)। अतएव, अन्तमें यही सिद्धान्त कहना पड़ता है, कि इस चेतनाविशिष्ट सजीव शरीर (क्षेत्र) में एक ऐसी शक्ति रहती है, जो हाथ-पैर आदि इन्द्रियों से लेकर प्राण, चेतना, मन और बुद्धि जैसे परतन्त्र एवं एकदेशीय नौकरों के भी परे है; जो उन सब के व्यापारों की एकता करती है; और उनके कार्यों की दिशा बतलाती है; अथवा जो उनके कर्मों की नित्य साक्षी रह कर उनसे भिन्न, अधिक व्यापक और समर्थ है। सांख्य और वेदान्तशास्त्रों को यह सिद्धान्त मान्य है; और अर्वाचीन समय में जर्मन तत्त्वज्ञ कान्ट ने भी कहा है, कि बुद्धि के व्यापारों का सूक्ष्म निरीक्षण करने से यही तत्त्व निष्पन्न होता है। मन, बुद्धि, अहंकार और चेतना, ये सब शरीर के अर्थात् क्षेत्र के गुण अथवा अवयव हैं। इनका प्रवर्तक इससे भिन्न, स्वतन्त्र और उनके परे है—"यो बुद्धेः परतस्तु सः" (गी. ३. ४२)। सांख्यशास्त्र में इसी का नाम पुरुष है। वेदान्ती इसी को क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र का जाननेवाला आत्मा कहते हैं। 'मैं हूँ' यह प्रत्येक मनुष्य को होनेवाली प्रतीति ही आत्मा के अस्तित्व का सर्वोत्तम प्रमाण है (वे.सू. शां.भा. ३. ३. ५३. ५४)। किसी को यह नहीं मालूम होता, कि 'मैं नहीं हूँ'! इतना ही नहीं; किन्तु मुखसे 'मैं नहीं हूँ' शब्दों का उच्चारण करते समय भी 'नहीं हूँ' इस क्रियापद के कर्ता का—अर्थात् 'मैं' का—अथवा आत्मा का वा 'अपना' अस्तित्व वह प्रत्यक्ष रीति से माना ही करता है। इस प्रकार 'मैं' इस अहंकारयुक्त सगुण रूप से शरीर में, स्वयं अपने ही को व्यक्त होनेवाले आत्मतत्त्व के अर्थात् क्षेत्रज्ञ के असली, शुद्ध और गुणविरहित स्वरूप का यथाशक्ति निर्णय करने के लिये वेदान्तशास्त्र की उत्पत्ति हुई है (गी. १३. ४)। तथापि यह निर्णय केवल शरीर अर्थात् क्षेत्र का ही विचार करके नहीं किया जाता। पहले कहा जा चुका है, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विचार के अतिरिक्त यह भी सोचना पड़ता है, कि बाह्य-सृष्टि (ब्रह्माण्ड) का विचार करने से कौन-सा तत्त्व निष्पन्न होता है। ब्रह्माण्ड के इस विचार का ही नाम 'क्षर-अक्षर-विचार' है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार से इस बात का निर्णय होता है, कि क्षत्र में (अर्थात् शरीर या पिंड में) कौन-सा मूल-तत्त्व (क्षेत्रज्ञ या आत्मा) है; और क्षर-अक्षर से बाह्य-सृष्टि के अर्थात् ब्रह्माण्ड के मूलतत्त्व का ज्ञान होता है। जब इस प्रकार पिंड और ब्रह्माण्ड के मूलतत्त्वों का पहले पृथक् पृथक् निर्णय हो जाता है, तब वेदान्त में अन्तिम सिद्धान्त किया जाता है† कि ये दोनों तत्त्व एकरूप अर्थात् एक ही हैं—यानी

† हमारे शास्त्रों के क्षर-अक्षर-विचार और क्षत्र-क्षत्रज्ञ विचार के वर्गीकरण से ग्रीन साहब परिचित न थे। तथापि, उन्हों ने अपने *Prolegomena to Ethics* ग्रन्थके आरम्भ में अध्यात्म का जो विवेचन किया है उसमें पहले

'जो पिण्ड में है; वही ब्रह्माण्ड में है। यही सब चराचर सृष्टि में अन्तिम सत्य है। पश्चिमी देशों में भी इन बातों की चर्चा की गई है; और कांट जैसे कुछ पश्चिमी तत्त्वज्ञों के सिद्धान्त हमारे वेदान्तशास्त्र के सिद्धान्तों से बहुत कुछ मिलते जुलते भी हैं। जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं, और जब हम यह भी देखते हैं, कि वर्तमान समय की नाई प्राचीन काल में आधिभौतिक शास्त्रों की उन्नति नहीं हुई थी; तब ऐसी अवस्था में जिन लोगों ने वेदान्त के अपूर्व सिद्धान्तों को ढूँढ निकाला, उनके अलौकिक बुद्धि-वैभव के बारे में आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। और न केवल आश्चर्य ही होना चाहिये, किन्तु उसके बारे में उचित अभिमान भी होना चाहिये।

Spiritual Principle in Nature और Spiritual Principle in Man इन दोनों तत्त्वों का विचार किया गया है और फिर उनकी एकता दिखाई गई है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार में Psychology आदि मानसशास्त्रों का, और क्षर-अक्षर-विचार में Physics, Metaphysics आदि शास्त्रों का समावेश होता है। इस बात को पश्चिमी पण्डित भी मानते हैं कि उक्त सब शास्त्रों का विचार कर लेने पर ही आत्मस्वरूप का निर्णय करना पड़ता है।

सातवाँ प्रकरण।

कापिलसांख्यशास्त्र अथवा क्षराक्षरविचार।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। *

गी. १३. १९।

पिछले प्रकरण में यह बात बतला दी गई है, कि शरीर और शरीर के स्वामी या अधिष्ठाता--क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ--के विचार के साथ ही साथ दृश्यसृष्टि और उसके मूलतत्त्व--क्षर और अक्षर --का भी विचार करने के पश्चात् फिर आत्मा के स्वरूप का निर्णय करना पड़ता है। इस क्षर-अक्षर-सृष्टि का योग्य रीति से वर्णन करनेवाले तीन शास्त्र हैं। पहला न्यायशास्त्र और दूसरा कापिलसांख्यशास्त्र। परन्तु इन दोनों शास्त्रों के सिद्धान्तों को अपूर्ण ठहरा कर वेदान्तशास्त्र ने ब्रह्म-स्वरूप का निर्णय एक तीसरी ही रीति से किया है। इस कारण वेदान्तप्रतिपादित उपपत्ति का विचार करने के पहले हमें न्याय और सांख्य शास्त्रों के सिद्धान्तों पर विचार करना चाहिये। बादरायणाचार्य के वेदान्तसूत्रों में इसी पद्धति से काम लिया गया है; और न्याय तथा सांख्य के मतों का दूसरे अध्याय में खंडन किया गया है। यद्यपि इस विषय का यहाँ पर विस्तृत वर्णन नहीं कर सकते, तथापि हमने उन बातों का उल्लेख इस प्रकरण में और अगले प्रकरण में स्पष्ट कर दिया है, कि जिनकी भगवद्गीता का रहस्य समझने में आवश्यकता है। नैयायिकों के सिद्धान्तों की अपेक्षा सांख्यवादियों के सिद्धान्त अधिक महत्त्व के हैं। इसका कारण यह है, कि कणाद के न्यायमतों को किसी भी प्रमुख वेदान्ती ने स्वीकार नहीं किया है; परन्तु कापिलसांख्यशास्त्र के बहुत-से सिद्धान्तों का उल्लेख मनु आदि के स्मृतिग्रन्थों में तथा गीता में भी पाया जाता है। वही बात बादरायणाचार्यने भी (वे. सू. २. १. १२ और २. २. १७) कही है। इस कारण पाठकों को सांख्य के सिद्धान्तों का परिचय प्रथम ही होना चाहिये। इस में सन्देह नहीं, कि वेदान्त में सांख्यशास्त्र के बहुत से सिद्धान्त पाये जाते हैं; परंतु स्मरण रहे, कि सांख्य और वेदान्त के अन्तिम सिद्धान्त एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है, कि वेदान्त और सांख्य के जो सिद्धान्त आपस में मिलते जुलते हैं उन्हें पहले किसने निकाला था--वेदान्तियों ने या सांख्यवादियों ने? परन्तु इस ग्रन्थ में इतने गहन विचार में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं। इस प्रश्न का उत्तर

---

* 'प्रकृति और पुरुष, दोनों को अनादि जानो।'

तीन प्रकार से दिया जा सकता है । पहला यह, कि शायद उपनिषद् (वेदान्त) और सांख्य दोनों की वृद्धि, दो सगे भाइयों के समान, साथ ही साथ हुई हो; और उपनिषदों में जो सिद्धान्त सांख्यों के मतों के समान देख पड़ते हैं, उन्हें उपनिषत्कारों ने स्वतंत्र रीतिसे खोज निकाला हो । दूसरा यह, कि कदाचित् कुछ सिद्धान्त सांख्यशास्त्र से लेकर वेदान्तियोंने उन्हें वेदान्त के अनुकूल स्वरूप दे दिया हो । तीसरा यह कि प्राचीन वेदान्त के सिद्धान्तों में ही कपिलाचार्य ने अपने मत के अनुसार कुछ परिवर्तन और सुधार करके सांख्यशास्त्र की उपपत्ति कर दी हो । इन तीनों में से तीसरी बात ही अधिक विश्वसनीय ज्ञात होती है; क्योंकि, यद्यपि वेदान्त और सांख्य दोनों बहुत प्राचीन हैं, तथापि उनमें वेदान्त या उपनिषद् सांख्य से भी अधिक प्राचीन (श्रौत) हैं। अस्तु; यदि पहले हम न्याय और सांख्य के सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझ लें तो फिर वेदान्त के—विशेषतः गीता-प्रतिपादित वेदान्त के—तत्त्व जल्दी समझ में आ जायँगे । इसलिये पहले हमें इस बात का विचार करना चाहिये, कि इन दो स्मार्त शास्त्रों का, क्षर-अक्षर-सृष्टि की रचना के विषय में क्या मत है।

बहुतेरे लोग न्यायशास्त्र का यही उपयोग समझते हैं, कि किसी विवक्षित अथवा गृहीत बात से तर्क के द्वारा कुछ अनुमान कैसे निकाले जावें; और इन अनुमानों में से यह निर्णय कैसे किया जावें, कि कौन-से सही हैं; और कौन-से गलत हैं। परन्तु यह भूल है। अनुमानादि प्रमाणखंड न्यायशास्त्र का एक भाग है सही; परंतु यही कुछ उसका प्रधान विषय नहीं है । प्रमाणों के अतिरिक्त, सृष्टि की अनेक वस्तुओं का यानी प्रमेय पदार्थों का वर्गीकरण करके नीचे के वर्ग से ऊपर के वर्ग की ओर चढ़ते जाने से सृष्टि के सब पदार्थों के मूलवर्ग कितने हैं, उनके गुण-धर्म क्या हैं, उनसे अन्य पदार्थों की उत्पत्ति कैसे होती है, और ये बातें किस प्रकार सिद्ध हो सकती हैं, इत्यादि अनेक प्रश्नों का भी विचार न्यायशास्त्र में किया गया है । यही कहना उचित होगा, कि यह शास्त्र केवल अनुमानखंड का विचार करने के लिये नहीं; वरन् उक्त प्रश्नों का विचार करने ही के लिये निर्माण किया गया है। कणाद के न्यायसूत्रों का आरंभ और आगे की रचना भी इसी प्रकार की है। कणाद के अनुयायियों को काणाद कहते हैं। इन दोनों का कहना है, कि जगत् का मूलकारण परमाणु ही है। परमाणु के विषय में कणाद की और पश्चिमी आधिभौतिक-शास्त्रज्ञों की व्याख्या एक ही समान है । किसी भी पदार्थ का विभाग करते करते अंत में जब विभाग नहीं हो सकता, तब उसे परमाणु (परम + अणु) कहना चाहिये । जैसे जैसे ये परमाणु एकत्र होते जाते हैं वैसे वैसे संयोग के कारण उनमें नये नये गुण उत्पन्न होते हैं; और भिन्न भिन्न पदार्थ बनते जाते हैं। मन और आत्मा के भी परमाणु होते हैं; और जब वे एकत्र होते हैं तब चैतन्य की उत्पत्ति होती है । पृथ्वी, जल, तेज, और वायु के परमाणु स्वभाव ही से पृथक् पृथक् हैं । पृथ्वी के मूलपरमाणु में चार गुण (रूप, रस, गंध, स्पर्श) हैं;

पानी के परमाणु में तीन गुण हैं, तेज के परमाणु में दो गुण हैं, और वायु के परमाणु में एक ही गुण है। इस प्रकार सब जगत् पहले से ही सूक्ष्म और नित्य परमाणुओं से भरा हुआ है। परमाणुओं के सिवा संसार का मूलकारण और कुछ भी नहीं है। जब सूक्ष्म और नित्य परमाणुओं के परस्पर संयोग का 'आरंभ' होता है, तब सृष्टि के व्यक्त पदार्थ बनने लगते हैं। नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध की कल्पना को 'आरंभ-वाद' कहते हैं। कुछ नैयायिक इसके आगे कभी नहीं बढ़ते। एक नैयायिक के बारे में कहा जाता है, कि मृत्यु के समय जब उससे ईश्वर का नाम लेने को कहा गया, तब वह 'पीलवः! पीलवः! पीलवः!'—परमाणु! परमाणु! परमाणु!—चिल्ला उठा। कुछ दूसरे नैयायिक यह मानते हैं, कि परमाणुओं के संयोग का निमित्तकारण ईश्वर है। इस प्रकार वे सृष्टि की कारण-परंपरा की शृंखला को पूर्ण कर लेते हैं। ऐसे नैयायिकों को सेश्वर कहते हैं। वेदान्तसूत्र के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद में इस परमाणुवाद का (२. २. ११-१७) और इसके साथ ही साथ "ईश्वर केवल निमित्तकारण है" इस मत का भी (२. २. ३७-३९) खंडन किया गया है।

उल्लिखित परमाणुवाद का वर्णन पढ़ कर अंग्रेजी पढ़े-लिखे पाठकों को अर्वाचीन रसायनशास्त्रज्ञ डाल्टन के परमाणुवाद का अवश्य ही स्मरण होगा। परंतु पश्चिमी देशों में प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ डार्विन के उत्क्रांतिवाद ने जिस प्रकार डाल्टन के परमाणुवाद की जड़ ही उखाड़ दी है, उसी प्रकार हमारे देश में भी प्राचीन समय में सांख्य-मत ने कणाद के मत की बुनियाद हिला डाली थी। कणाद के अनुयायी यह नहीं बतला सकते, कि मूल परमाणु को गति कैसे मिली। इसके अतिरिक्त वे लोग इस बात का भी यथोचित निर्णय नहीं कर सकते कि वृक्ष, पशु, मनुष्य इत्यादि सचेतन प्राणियों की क्रमशः बढ़ती हुई श्रेणियाँ कैसे बनीं; और अचेतन को सचेतनता कैसे प्राप्त हुई। यह निर्णय पश्चिमी देशों में उन्नीसवी सदी में लामार्क और डार्विन ने, तथा हमारे यहाँ प्राचीन समय में कपिल मुनि ने किया है। दोनों मतों का यही तात्पर्य है, कि एक ही मूलपदार्थ के गुणों का विकास हुआ; और फिर धीरे धीरे सब सृष्टि की रचना होती गई। इस कारण पहले हिन्दुस्थान में, और सब पश्चिमी देशों में भी, परमाणुवाद पर विश्वास नहीं रहा है। अब तो आधुनिक पदार्थशास्त्रज्ञों ने यह भी सिद्ध कर दिखाया है, कि परमाणु अविभाज्य नहीं हैं। आजकल जैसे सृष्टि के अनेक पदार्थों का पृथक्करण और परीक्षण करके अनेक सृष्टिशास्त्रों के आधार पर परमाणुवाद या उत्क्रांतिवाद को सिद्ध कर दे सकते हैं, वैसे प्राचीन समय में नहीं कर सकते थे। सृष्टि के पदार्थों पर नये नये और भिन्न भिन्न प्रयोग करना, अथवा अनेक प्रकार से उनका पृथक्करण करके उनके गुण-धर्म निश्चित करना, या सजीव सृष्टि के नये पुराने अनेक प्राणियों के शारीरिक अवयवों की एकत्र तुलना करना इत्यादि आधिभौतिक शास्त्रों की अर्वाचीन युक्तियाँ कणाद या कपिल को मालूम नहीं थीं। उस समय उनकी दृष्टि

के सामने जितनी सामग्री थी, उसी के आधार पर उन्हों ने अपने सिद्धान्त ढूँढ निकाले हैं। तथापि, यह आश्चर्य की बात है, कि सृष्टि की वृद्धि और उसकी घटना के विषय में सांख्यशास्त्रकारों के तात्त्विक सिद्धान्त में, और अर्वाचीन आधिभौतिक शास्त्रकारों के तात्त्विक सिद्धान्त में, बहुत-सा भेद नहीं है। इसमें संदेह नहीं, कि सृष्टिशास्त्र के ज्ञान की वृद्धि के कारण वर्तमान समय में इस मत की आधिभौतिक उपपत्ति का वर्णन अधिक नियमबद्ध प्रणाली से किया जा सकता है; और आधिभौतिक ज्ञान की वृद्धि के कारण हमें व्यवहार की दृष्टि से भी बहुत लाभ हुआ है। परन्तु आधिभौतिक शास्त्रकार भी 'एक ही अव्यक्त प्रकृति से अनेक प्रकार की व्यक्त सृष्टि कैसे हुई; इस विषय में कपिल की अपेक्षा कुछ अधिक नहीं बतला सकते। इस बात को भली भाँति समझा देने के लिये ही हमने आगे चल कर, बीच में कपिल के सिद्धान्तों के साथ ही साथ, हेकेल के सिद्धान्तों का भी तुलना के लिये संक्षिप्त वर्णन किया है। हेकेल ने अपने ग्रन्थ में साफ़ साफ़ लिख दिया है, कि मैंने ये सिद्धान्त कुछ नये सिरे से नहीं खोजे हैं; वरन्, डार्विन, स्पेन्सर, इत्यादि पिछले आधिभौतिक पंडितों के ग्रंथों के आधार से ही मैं अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता हूँ। तथापि, पहले पहल उसी ने इन सब सिद्धान्तों को ठीक ठीक नियमानुसार लिख कर सरलतापूर्वक इनका एकत्र वर्णन अपने 'विश्व की पहेली'* नामक ग्रंथ में किया है। इस कारण, सुभीते के लिये, हमने उसे ही सब आधिभौतिक तत्त्वज्ञों का मुखिया माना है; और उसी के मतों का इस प्रकरण में तथा अगले प्रकरण में विशेष उल्लेख किया है। कहने की आवश्यकता नहीं, कि यह उल्लेख बहुत ही संक्षिप्त है; परन्तु इससे अधिक इन सिद्धान्तों का विवेचन इस ग्रन्थ में नहीं किया जा सकता। जिन्हें इस विषय का विस्तृत वर्णन पढ़ना हो उन्हें स्पेन्सर, डार्विन, हेकेल आदि पंडितों के मूलग्रन्थों को अवलोकन करना चाहिये।

कपिल के सांख्यशास्त्र का विचार करने के पहले यह कह देना उचित होगा कि 'सांख्य' शब्द के दो भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं। पहला अर्थ कपिलाचार्य द्वारा प्रतिपादित 'सांख्यशास्त्र' है। उसी का उल्लेख इस प्रकरण में, तथा एक बार भगवद्गीता (१८. १३) में भी किया गया है। परन्तु, इस विशिष्ट अर्थ के सिवा सब प्रकार के तत्त्वज्ञान को भी सामान्यतः 'सांख्य' ही कहने की परिपाटी है; और इसी 'सांख्य' शब्द में वेदान्तशास्त्र का भी समावेश किया जाता है। 'सांख्यनिष्ठा' अथवा 'सांख्ययोग' शब्दों में 'सांख्य' का यही सामान्य अर्थ अभीष्ट है। इस निष्ठा के ज्ञानी पुरुषों को भी भगवद्गीता में जहाँ (गी. २. ३९; ३. ३; ५. ४, ५; और १३. २४) 'सांख्य' कहा है, वहाँ सांख्य शब्द का अर्थ केवल कापिल

---

* *The Riddle of the Universe*, by Ernst Haeckel इस ग्रन्थ की R. P. A. Cheap reprint आवृत्ति का ही हमने सर्वत्र उपयोग किया है।

सांख्यमार्गी ही नहीं है; वरन् उसमें, आत्म-अनात्म-विचार से सब कर्मों का संन्यास करके ब्रह्मज्ञान में निमग्न रहनेवाले वेदान्तियों का भी समावेश किया गया है। शब्द-शास्त्रज्ञों का कथन है, कि 'सांख्य' शब्द 'संख्या' धातु से बना है। इसलिये इसका पहला अर्थ 'गिननेवाला' है; और कपिलशास्त्र के मूलतत्त्व 'नेगिने सिर्फ़ पचीस ही हैं। इसलिये उसे 'गिननेवाले' के अर्थ में यह विशिष्ट 'सांख्य' नाम दिया गया। अनन्तर फिर 'सांख्य' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक हो गया; और उसमें सब प्रकार के तत्त्वज्ञान का समावेश होने लगा। यही कारण है, कि जब पहले पहल कापिल-भिक्षुओं को 'सांख्य' कहने की परिपाटी प्रचलित हो गई, तब वेदान्ती संन्यासियों को भी यही नाम दिया जाने लगा होगा। कुछ भी हो; इस प्रकरण का हमने जान बूझकर यह लम्बा-चौडा 'कापिलसांख्यशास्त्र' नाम इसलिये रखा है, कि सांख्य शब्द के उक्त अर्थ-भेद के कारण कुछ गड़बड़ी न हो। कापिलसांख्यशास्त्र में भी कणाद के न्यायशास्त्र के समान सूत्र हैं। परन्तु गौडपादाचार्य या शारीर-भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य ने इन सूत्रों का आधार अपने ग्रन्थों में नहीं लिया है। इसलिये बहुतेरे विद्वान् समझते हैं, कि ये सूत्र कदाचित् प्राचीन न हों। ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' उक्त सूत्रों से प्राचीन मानी जाती है; और उस पर शंकराचार्य के दादागुरु गौडपाद ने भाष्य लिखा है। शांकर-भाष्य में भी इसी कारिका के कुछ अवतरण लिये हैं। सन ५७० ईसवी से पहले इस ग्रन्थ का जो अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था वह इस समय उपलब्ध है*। ईश्वरकृष्ण ने अपनी 'कारिका' के अन्त में कहा है, कि 'षष्टितन्त्र' नामक साठ प्रकरणों के एक प्राचीन और विस्तृत ग्रन्थ का भावार्थ (कुछ प्रकरणों को छोड़) सत्तर आर्या-पद्यों में इस ग्रन्थ में दिया गया है। यह षष्टितंत्र ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। इसी लिये इन कारिकाओं के आधार पर ही कापिलसांख्यशास्त्र के मूलसिद्धान्तों का विवेचन हमने यहाँ किया है। महाभारत में सांख्य-मत का निर्णय कई अध्यायों में किया गया है। परन्तु उसमें वेदान्त-मतों का भी मिश्रण

* अब बौद्ध ग्रन्थों से ईश्वरकृष्ण का बहुत कुछ हाल जाना जा सकता है। बौद्ध पण्डित वसुबंधु का गुरु ईश्वरकृष्ण का समकालीन प्रतिपक्षी था। वसुबन्धु का जो जीवनचरित, परमार्थ ने (सन ई. ४९९–५६९ में) चीनी भाषा में लिखा था, वह अब प्रकाशित हुआ है। इससे डॉक्टर टककसू ने यह अनुमान किया है, कि ईश्वरकृष्ण का समय सन ४५० ई० के लगभग है। *Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland* 1905 PP.33-53. परन्तु डॉक्टर विन्सेण्ट स्मिथ की राय है कि स्वयं वसुबन्धु का समय ही चौथी सदीमें (लगभग २८०-३६०) होना चाहिये। क्योंकि उसके ग्रन्थोंका अनुवाद सन ४०४ ईसवी में चीनी भाषा में हुआ है। वसुबन्धु का समय इस प्रकार जब पीछे हट जाता है, तब उसी प्रकार ईश्वरकृष्ण का समय भी करीब २०० वर्ष पीछे हटाना पडता है; अर्थात सन २४० ईसवी के लगभग ईश्वरकृष्ण का समय आ पहुँचता है। Vincent Smith's *Early History of India*. 3rd. Ed. p. 328.

हो गया है; इसलिये कपिल के शुद्ध सांख्य-मत को जानने के लिये दूसरे ग्रन्थों के भी देखने की आवश्यकता होती है। इस काम के लिये उक्त सांख्यकारिका की अपेक्षा कोई भी अधिक प्राचीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। भगवान् ने भगवद्गीता में कहा है, 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (गी. १०. २६) –सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूँ;—इस से कपिल की योग्यता भली भाँति सिद्ध होती है। तथापि यह बात मालूम नहीं, कि कपिल ऋषि कहाँ और कब हुए। शांतिपर्व (३४०, ६७) में एक जगह लिखा है, कि सनत्कुमार सनक, सनंदन, सनत्सुजात, सन, सनातन और कपिल ये सातों ब्रह्मदेव के मानसपुत्र हैं। इन्हें जन्म से ही ज्ञान हो गया था। दूसरे स्थान (शां. २१८) में कपिल के शिष्य आसुरि के चेले पंचशिख ने जनक को सांख्यशास्त्र का जो उपदेश दिया था उसका उल्लेख है। इसी प्रकार शांतिपर्व (३०१. १०८. १०९) में भीष्म ने कहा है, कि सांख्यों ने सृष्टि-रचना इत्यादि के बारे में एक बार जो ज्ञान प्रचलित कर दिया है वही "पुराण, इतिहास, अर्थशास्त्र" आदि सब में पाया जाता है। वही क्यों; यहाँ तक कहा गया है, कि "ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्"— अर्थात् इस जगत् का सब ज्ञान सांख्यों से ही प्राप्त हुआ है (म.भा. शां. ३०१. १०९)। यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय, कि वर्तमान समय में पश्चिमी ग्रन्थकार उत्क्रांतिवाद का उपयोग सब जगह कैसे किया करते हैं; तो यह बात आश्चर्यजनक नहीं मालूम होगी, कि इस देश के निवासियों ने भी उत्क्रांतिवाद की बराबरी के सांख्यशास्त्र का सर्वत्र कुछ अंश में स्वीकार किया है। 'गुरुत्वाकर्षण' सृष्टिरचना के 'उत्क्रांति-तत्त्व'* या 'ब्रह्मात्मैक्य' के समान उदात्त विचार सैकड़ों बरसों में ही किसी महात्मा के ध्यान में आया करते हैं। इसलिये यह बात सामान्यतः सभी देशों के ग्रन्थों में पाई जाती है, कि जिस समय जो सामान्य सिद्धान्त या व्यापक तत्त्व समाज में प्रचलित रहता है, उस के आधार पर ही किसी ग्रन्थ के विषय का प्रतिपादन किया जाता है।

आजकल कापिलसांख्यशास्त्र का अभ्यास प्रायः लुप्त हो गया है। इसी लिये यह प्रस्तावना करनी पड़ी। अब हम यह देखेंगे, कि इस शास्त्र के मुख्य सिद्धान्त कौन-से हैं। सांख्यशास्त्र का पहला सिद्धान्त यह है, इस कि संसारमें नई वस्तु कोई भी उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि, शून्य से,—अर्थात् जो पहले था ही नहीं उससे—शून्य को छोड़ और कुछ भी प्राप्त हो नहीं सकता। इसलिये यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये, कि उत्पन्न हुई वस्तु में–अर्थात् कार्य में–जो गुण देख

* Evolution Theory के अर्थ में 'उत्क्रान्ति-तत्त्व' का उपयोग आजकल किया जाता है। इसलिये हमने भी यहाँ उसी शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु संस्कृत में 'उत्क्रांति' शब्द का अर्थ मृत्यु है। इस कारण 'उत्क्रांति' के बदले गुणविकास गुणोत्कर्ष, या गुणपरिणाम आदि सांख्यवादियों के शब्दोंका उपयोग करना हमारी समझ में अधिक योग्य होगा।

पड़ते हैं, वे गुण जिससे यह वस्तु उत्पन्न हुई है, उसमें (अर्थात् कारण में) सूक्ष्म रीति से तो अवश्य होने ही चाहिये (सां. का. ९)। बौद्ध और काणाद यह मानते हैं, कि पदार्थ का नाश हो कर उससे दूसरा नया पदार्थ बनता है। उदाहरणार्थ, बीज का नाश होने के बाद उससे अंकुर और अंकुर का नाश होने के बाद उससे पेड़ होता है। परन्तु सांख्यशास्त्रियों और वेदान्तियों को यह मत पसंद नहीं है। वे कहते हैं, कि वृक्ष के बीज में जो 'द्रव्य' हैं उनका नाश नहीं होता; किन्तु वेही द्रव्य ज़मीन से और वायु से दूसरे द्रव्यों को खींच लिया करते हैं; और इसी कारण से बीज को अंकुर का नया स्वरूप या अवस्था प्राप्त हो जाती है (वे.सू. शां.भा. २. १. १८)। इसी प्रकार जब लकड़ी जलती है, तब उसके ही राख या धुआँ आदि रूपान्तर हो जाते हैं। लकड़ी के मूल 'द्रव्यों' का नाश हो कर धुआँ नामक कोई नया पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। छांदोग्योपनिषद् (६. २. २) में कहा है "कथमसतः सज्जायेत"—जो है ही नहीं—उससे जो है—वह कैसे प्राप्त हो सकता है। जगत् के मूलकारण के लिये 'असत्' शब्द का उपयोग कभी कभी उपनिषदों में किया गया है (छां. ३. १९.१; तै. २. ७. १); परन्तु यहाँ 'असत्' का अर्थ 'अभाव–नहीं' नहीं है; किंतु वेदान्तसूत्रों (२. १. १६, १७) में यह निश्चय किया गया है, कि 'असत्' शब्द से केवल नामरूपात्मक व्यक्त स्वरूप या अवस्था का अभाव ही विवक्षित है। दूध से ही दही बनता है, पानी से नहीं; तिल से ही तेल निकलता है, बालू से नहीं; इत्यादि प्रत्यक्ष देखे हुए अनुभवों से भी यही सिद्धान्त प्रगट होता है। यदि हम यह मान लें, कि 'कारण' में जो गुण नहीं हैं वे 'कार्य' में स्वतन्त्र रीति से उत्पन्न होते हैं; तो फिर हम इसका कारण नहीं बतला सकते, कि पानी से दही क्यों नहीं बनता? सारांश यह है, कि जो मूल में है ही नहीं, उससे अभी जो अस्तित्व में है, वह उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये सांख्यवादियों ने यह सिद्धान्त निकाला है, कि किसी कार्य के वर्तमान द्रव्यांश और गुण मूलकारण में भी किसी-न-किसी रूपसे रहते हैं। इसी सिद्धान्त को 'सत्कार्यवाद' कहते हैं। अर्वाचीन पदार्थ-विज्ञान के ज्ञाताओं ने भी यही सिद्धान्त ढूँढ निकाला है, कि पदार्थों के जड़ द्रव्य और कर्मशक्ति दोनों सर्वदा मौजूद रहते हैं। किसी पदार्थ के चाहिये जितने रूपान्तर हो जायँ; तो भी अंत में सृष्टि के कुल द्रव्यांश का और कर्म-शक्ति का जोड़ हमेशा एक-सा बना रहता है। उदाहरणार्थ, जब हम दीपक को जलता देखते हैं, तब तेल भी धीरे धीरे कम होता जाता है; और अंत में वह नष्ट हुआ-सा देख पड़ता है। यद्यपि यह सब तेल जल जाता है, तथापि उसके परमाणुओं का बिलकुल ही नाश नहीं हो जाता। उन परमाणुओं का अस्तित्व धुएँ या काजल या अन्य सूक्ष्म द्रव्यों के रूप में बना रहता है। यदि हम इन सूक्ष्म द्रव्यों को एकत्र करके तौलें तो मालूम होगा, कि उनका तौल या वजन, तेल और तेल के जलते समय उसमें मिले हुए वायु के पदार्थों के बराबर होता है। अब तो यह भी सिद्ध हो

चुका है, कि उक्त नियम कर्म-शक्ति के विषय में भी लगाया जा सकता है। यह बात याद रखनी चाहिये, कि यद्यपि आधुनिक पदार्थविज्ञानशास्त्र का और सांख्य-शास्त्र का सिद्धान्त देखने में एक ही सा जान पड़ता है, तथापि सांख्यवादियों का सिद्धान्त केवल एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति के ही विषय में—अर्थात् सिर्फ़ कार्य-कारण-भाव ही के संबंध में—उपयुक्त होता है। परन्तु, अर्वाचीन पदार्थविज्ञान-शास्त्र का सिद्धान्त इससे अधिक व्यापक है। 'कार्य' का कोई भी गुण 'कारण' के बाहर के गुणों से उत्पन्न नहीं हो सकता। इतना ही नहीं; किन्तु जब कारण को कार्य का स्वरूप प्राप्त होता है, तब उस कार्य में रहनेवाले द्रव्यांश और कर्म-शक्ति का कुछ भी नाश नहीं होता। पदार्थ की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के द्रव्यांश और कर्म-शक्ति के जोड़ का वज़न भी सदैव एक ही सा रहता है—न तो वह घटता है और न बढ़ता है। यह बात प्रत्यक्ष प्रयोग से गणित के द्वारा सिद्ध कर दी गई है। यही उक्त दोनों सिद्धान्तों में महत्त्व की विशेषता है। इस प्रकार जब हम विचार करते हैं, तो हमें जान पड़ता है, कि भगवद्गीता के "नासतो विद्यते भावः"—जो है ही नहीं, उसका कभी भी अस्तित्व हो नहीं सकता—इत्यादि सिद्धान्त जो दूसरे अभ्यास के आरम्भ में दिये गये हैं (गी. २. १६), वे यद्यपि देखने में सत्कार्यवाद के समान देख पड़ें, तो भी उनकी समता केवल कार्य-कारणात्मक सत्कार्यवाद की अपेक्षा अर्वाचीन पदार्थ-विज्ञानशास्त्र के सिद्धान्तों के साथ अधिक है। छांदोग्यपनिषद् के उपर्युक्त वचन का भी यही भावार्थ है। सारांश, सत्कार्यवाद का सिद्धान्त वेदान्तियों को मान्य है; परन्तु अद्वैत वेदान्तशास्त्र का मत है, कि इस सिद्धान्त का उपयोग सगुण सृष्टि के परे कुछ भी नहीं किया जा सकता। और निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति कैसे देख पड़ती है, इस बात की उपपत्ति और ही प्रकार से लगानी चाहिये। इस वेदान्त-मत का विचार आगे चल कर अध्यात्म-प्रकरण में विस्तृत रीति से किया जायगा। इस समय तो हमें सिर्फ़ यही विचार करना है, कि सांख्यवादियों की पहुँच कहाँ तक है। इसलिये अब हम इस बात का विचार करेंगे, कि सत्कार्यवाद का सिद्धान्त मान कर सांख्यों ने क्षर-अक्षर-शास्त्र में उसका उपयोग कैसे किया है।

सांख्यमतानुसार जब सत्कार्यवाद सिद्ध हो जाता है, तब यह मत आप-ही-आप गिर जाता है, कि दृश्यसृष्टि की उत्पत्ति शून्य से हुई है। क्योंकि, शून्य से अर्थात् जो कुछ भी नहीं है, उससे 'अस्तित्व में है' वह उत्पन्न नहीं हो सकता। इस बात से यह साफ़ साफ़ सिद्ध होता है, कि सृष्टि किसी-न-किसी पदार्थ से उत्पन्न हुई है; इस समय सृष्टि में जो गुण हमें देख पड़ते हैं, वे ही इस मूलपदार्थ में भी होने चाहिये। अब यदि हम सृष्टि की ओर देखें, तो हमें वृक्ष, पशु, मनुष्य, पत्थर, सोना, चाँदी, हीरा, जल, वायु इत्यादि अनेक पदार्थ देख पड़ते हैं; और इन सब के रूप तथा गुण भी भिन्न भिन्न हैं। सांख्य-वादियों का सिद्धान्त ह, कि यह भिन्नता या नानात्व आदि में—अर्थात् मूलपदार्थ में—

नहीं है; किंतु मूल में सब वस्तुओं का द्रव्य एक ही है। अर्वाचीन रसायन-शास्त्रज्ञों ने भिन्न भिन्न द्रव्यों का पृथक्करण करके पहले ६२ मूलतत्त्व ढूँढ निकाले थे; परन्तु अब पश्चिमी विज्ञानवेत्ताओं ने भी यह निश्चय कर लिया है, कि ये ६२ मूलतत्त्व स्वतंत्र या स्वयंसिद्ध नहीं हैं। किंतु इन सब की जड़ में कोई-न-कोई एक ही पदार्थ है; और उस पदार्थ से ही सूर्य, चंद्र, तारागण, पृथ्वी इत्यादि सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। इसलिये अब उक्त सिद्धान्त का अधिक विवेचन आवश्यक नहीं है। जगत् के सब पदार्थों का जो यह मूलद्रव्य है, उसे ही सांख्यशास्त्र में "प्रकृति" कहते हैं। प्रकृति का अर्थ "मूल का" है। इस प्रकृति से आगे जो पदार्थ बनते हैं उन्हें "विकृति" अर्थात् मूलद्रव्य के विकार कहते हैं।

परन्तु यद्यपि सब पदार्थों में मूलद्रव्य एक ही है, तथापि यदि इस मूलद्रव्य में गुण भी एक ही हो, तो सत्कार्यवादानुसार इन एक ही गुण से अनेक गुणों का उत्पन्न होना संभव नहीं है। और, इधर तो जब हम इस जगत् के पत्थर, मिट्टी, पानी, सोना इत्यादि भिन्न भिन्न पदार्थों की ओर देखते हैं, तब उनमें भिन्नभिन्न अनेक गुण पाये जाते हैं। इसलिये पहले सब पदार्थों के गुणों का निरीक्षण करके सांख्य-वादियों ने इन गुणों के सत्त्व, रज और तम ये तीन भेद या वर्ग कर दिये हैं। इसका कारण यही है, कि जब हम किसी भी पदार्थ को देखते हैं, तब स्वभावतः उसकी दो भिन्न भिन्न अवस्थाएँ देख पडती हैं;--पहली शुद्ध, निर्मल या पूर्णा-वस्था, और दूसरी उसके विरुद्ध निकृष्टावस्था, परन्तु साथ ही साथ निकृष्टावस्था से पूर्णावस्था की ओर बढ़ने की उस पदार्थ की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर हुआ करती है; यही तीसरी अवस्था है। इन तीनों अवस्थाओं में से शुद्धावस्था या पूर्णा-वस्था को सात्त्विक, निकृष्टावस्था को तामसिक और प्रवर्तकावस्था को राजसिक कहते हैं। इस प्रकार सांख्यवादी कहते हैं, कि सत्त्व, रज और तम तीनों गुण सब पदार्थों के मूलद्रव्य में अर्थात् प्रकृति में आरम्भ से ही रहा करते हैं। यदि यह कहा जाय, कि इन तीन गुणों ही को प्रकृति कहते हैं, तो अनुचित नहीं होगा। इन तीनों गुणों में से प्रत्येक गुण का ज़ोर आरम्भ में समान या बराबर रहता है, इसी लिये पहले पहल यह प्रकृति साम्यावस्था में रहती है। यह साम्यावस्था जगत्के आरम्भ में थी; और जगत् का लय हो जाने पर वैसी ही फिर हो जायगी। साम्यावस्था में कुछ भी हलचल नहीं होती, सब कुछ स्तब्ध रहता है। परन्तु जब उक्त तीनों गुण न्यूनाधिक होने लगते हैं, तब प्रवृत्त्यात्मक रजोगुण के कारण मूल-प्रकृति से भिन्न भिन्न पदार्थ होने लगते हैं; और सृष्टि का आरम्भ होने लगता है। अब यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है, कि यदि पहले सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण साम्यावस्था में थे, तो इनमें न्यूनाधिकता कैसे हुई है? इस प्रश्न का सांख्यवादी यही उत्तर देते हैं, कि यह प्रकृति का मूलधर्म ही है (सां. का. ६१)। यद्यपि प्रकृति जड़ है, तथापि वह आप-ही-आप व्यवहार करती रहती है। इन तीनों गुणों में से सत्त्वगुण का लक्षण ज्ञान अर्थात् जानना और

तमोगुण का लक्षण अज्ञानता है। रजोगुण बुरे या भले कार्य का प्रवर्तक है। ये तीनों गुण कभी अलग अलग नहीं रह सकते। सब पदार्थों में सत्त्व, रज और तम तीनों का मिश्रण रहता ही है; और यह मिश्रण हमेशा इन तीनों की परस्पर न्यूनाधिकता से हुआ करता है। इसलिये यद्यपि मूलद्रव्य एक ही है, तो भी गुण-भेद के कारण एक मूलद्रव्य के ही सोना, लोहा, मिट्टी, जल, आकाश, मनुष्य का शरीर इत्यादि भिन्न भिन्न अनेक विकार हो जाते हैं। जिसे हम सात्त्विक गुण का पदार्थ कहते हैं। उसमें, रज और तम की अपेक्षा, सत्त्वगुण का जोर या परिमाण अधिक रहता है। इस कारण उस पदार्थ में हमेशा रहनेवाले रज और तम दोनों गुण दब जाते हैं और वे हमें देख नहीं पड़ते। वस्तुतः सत्त्व, रज और तम तीनों गुण, अन्य पदार्थों के समान, सात्त्विक पदार्थ में भी विद्यमान रहते हैं। केवल सत्त्वगुण का, केवल रजोगुण का, या केवल तमोगुण का, कोई पदार्थ ही नहीं है। प्रत्येक पदार्थ में तीनों गुणों का रगड़ा-झगड़ा चला ही करता है; और, इस झगड़े में जो गुण प्रबल हो जाता है, उसी के अनुसार हम प्रत्येक पदार्थ को सात्त्विक, राजस या तामस कहा करते हैं (सां. का. १२; म.भा. अश्व––अनुगीता––३६, और शां. ३०५)। उदाहरणार्थ, अपने शरीर में जब रज और तम गुणों पर सत्त्व का प्रभाव जम जाता है, तब अपने अंतःकरण में ज्ञान उत्पन्न होता है, सत्य का परिचय होने लगता है, और चित्तवृत्ति शांत हो जाती है। उस समय यह नहीं समझना चाहिये, कि अपने शरीर में रजोगुण और तमोगुण बिलकुल हैं ही नहीं; बल्कि वे सत्त्वगुण के प्रभाव से दब जाते हैं। इसलिये उनका कुछ अधिकार चलने नहीं पाता (गी. १४. १०)। यदि सत्त्व के बदले रजोगुण प्रबल हो जाय, तो अंतःकरण में लोभ जागृत हो जाता है, इच्छा बढ़ने लगती है, और वह हमें अनेक कामों में प्रवृत्त करती है। इसी प्रकार जब सत्त्व और रज की अपेक्षा तमोगुण प्रबल हो जाता है, तब निद्रा, आलस्य, स्मृतिभ्रंश इत्यादि दोष शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं। तात्पर्य यह है, कि इस जगत् के पदार्थों में सोना, लोहा, पारा इत्यादि जो अनेकता या भिन्नता देख पड़ती है, वह प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की ही परस्पर न्यूनाधिकता का फल है। मूलप्रकृति यद्यपि एक ही है, तो भी जानना चाहिये, कि यह अनेकता या भिन्नता कैसे उत्पन्न हो जाती है। बस, इसी विचार को 'विज्ञान' कहते हैं। इसी में सब आधिभौतिक शास्त्रों का भी समावेश हो जाता है। उदारहणार्थ, रसायनशास्त्र, विद्युत्शास्त्र, पदार्थविज्ञान-शास्त्र, सब विविध-ज्ञान या विज्ञान ही हैं।

साम्यावस्था में रहनेवाली प्रकृति को सांख्यशास्त्र में 'अव्यक्त' अर्थात् इंद्रियों को गोचर न होनेवाली कहा है। इस प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की परस्पर न्यूनाधिकता के कारण जो अनेक पदार्थ हमारी इंद्रियों को गोचर होते हैं, अर्थात् जिन्हें हम देखते हैं, सुनते हैं, चखते हैं, सूँघते हैं, या स्पर्श करते हैं, उन्हें सांख्यशास्त्र में 'व्यक्त' कहा है। स्मरण रहे, कि जो पदार्थ हमारी इंद्रियों

को स्पष्ट रीति से गोचर हो सकते हैं, वे सब 'व्यक्त' कहलाते हैं। चाहे फिर वे पदार्थ अपनी आकृति के कारण, रूप के कारण, गंध के कारण, या किसी अन्य गुण के कारण व्यक्त होते हों। व्यक्त पदार्थ अनेक हैं। उनमें से कुछ, जैसे पत्थर, पेड़, पशु इत्यादि स्थूल कहलाते हैं; और कुछ, जैसे मन, बुद्धि, आकाश इत्यादि (यद्यपि ये इन्द्रिय-गोचर अर्थात् व्यक्त हैं तथापि) सूक्ष्म कहलाते हैं। यहाँ 'सूक्ष्म' से छोटे का मतलब नहीं है। क्योंकि आकाश यद्यपि सूक्ष्म है, तथापि वह सारे जगत् में सर्वत्र व्याप्त है। इसलिये, सूक्ष्म शब्द से 'स्थूल के विरुद्ध' या वायु से भी अधिक महीन, यही अर्थ लेना चाहिये। 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' शब्दों से किसी वस्तु की शरीर-रचना का ज्ञान होता है; और 'व्यक्त' एवं 'अव्यक्त' शब्दोंसे हमें यह बोध होता है, कि उस वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें हो सकता है या नहीं। अतएव भिन्न भिन्न पदार्थों में से (चाहे वे दोनों सूक्ष्म हों तो भी) एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त हो सकता है। उदाहरणार्थ, यद्यपि हवा सूक्ष्म है, तथापि हमारी स्पर्शेन्द्रिय को उसका ज्ञान होता है। इसलिये उसे व्यक्त कहते हैं। और सब पदार्थों की मूलप्रकृति (या मूलद्रव्य) वायु से भी अत्यंत सूक्ष्म है और उसका ज्ञान हमारी किसी इंद्रिय को नहीं होता; इसलिये उसे अव्यक्त कहते हैं। अब यहाँ प्रश्न हो सकता है, कि यदि इस प्रकृति का ज्ञान किसी भी इन्द्रिय को नहीं होता, तो उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिये क्या प्रमाण है? इस प्रश्न का उत्तर सांख्यवादी इस प्रकार देते हैं, कि अनेक व्यक्त पदार्थों के अवलोकन से सत्कार्यवाद के अनुसार यही अनुमान सिद्ध होता है, कि इन सब पदार्थों का मूल-रूप (प्रकृति) यद्यपि इंद्रियों को प्रत्यक्ष गोचर न हो, तथापि उसका अस्तित्व सूक्ष्म रूप से अवश्य होना ही चाहिये (सां. का. ८)। वेदान्तियों ने भी ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये इसी युक्ति को स्वीकार किया है (कठ. ६. १२, १३ पर शांकरभाष्य देखो)। यदि हम प्रकृति को इस प्रकार अत्यंत सूक्ष्म और अव्यक्त मान लें, तो नैयायिकों के परमाणुवाद की जड़ ही उखड़ जाती है। क्योंकि परमाणु यद्यपि अव्यक्त और असंख्य हो सकते हैं; तथापि प्रत्येक परमाणु के स्वतंत्र व्यक्ति या अवयव हो जाने के कारण यह प्रश्न फिर भी शेष रह जाता है, कि दो परमाणुओं के बीच में कौन-सा पदार्थ है? इसी कारण सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त है, कि प्रकृति में परमाणुरूप अवयव-भेद नहीं है। किंतु वह सदैव एक से एक लगी हुई--बीच में थोड़ा भी अंतर न छोड़ती हुई--एक ही समान है; अथवा यों कहिये कि वह अव्यक्त (अर्थात् इंद्रियों को गोचर न होनेवाले) और निरवयवरूप से निरंतर और सर्वत्र है। परब्रह्म का वर्णन करते हुए दासबोध (२०. २. ३) में श्री समर्थ रामदासस्वामी कहते हैं "जिधर देखिये उधर ही वह अपार है, उसका किसी ओर पार नहीं है। वह एक ही प्रकार का और स्वतंत्र है, उसमें द्वैत (या और कुछ) नहीं है*।" सांख्यवादियों की 'प्रकृति' के विषय में भी यही

* हिन्दी-दासबोध, पृष्ठ ४८१ (चित्रशाला, पूना)।

वर्णन उपयुक्त हो सकता है । त्रिगुणात्मक प्रकृति अव्यक्त, स्वयंभू और एक ही प्रकार की है; और चारों ओर निरंतर व्याप्त है । आकाश, वायु आदि भेद पीछे से हुए; और यद्यपि वे सूक्ष्म हैं तथापि व्यक्त हैं, और इन सब की मूल-प्रकृति एक ही सी तथा सर्वव्यापी और अव्यक्त है । स्मरण रहे, कि वेदान्तियों के 'परब्रह्म' में और सांख्य-वादियों की 'प्रकृति' में आकाश-पाताल का अन्तर है । इसका कारण यह है, कि परब्रह्म चैतन्यरूप और निर्गुण है; परन्तु प्रकृति जड़रूप और सत्त्व-रज-तमोमयी अर्थात् सगुण है । इस विषय पर अधिक विचार आगे किया जायगा । यहाँ सिर्फ़ यही विचार करना है, कि सांख्यवादियों का मत क्या है । जब हम इस प्रकार 'सूक्ष्म' और 'स्थूल', 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' शब्दों का अर्थ समझने लगे, तब कहना पड़ेगा, कि सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक पदार्थ सूक्ष्म और अव्यक्त प्रकृतिके रूप से रहता है । फिर वह (चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल हो) व्यक्त अर्थात् इन्द्रिय-गोचर होता है, और जब प्रलयकाल में इस व्यक्तस्वरूप का नाश होता है, तब फिर वह पदार्थ अव्यक्त प्रकृति में मिलकर अव्यक्त हो जाता है । गीता में भी यही मत देख पड़ता है (गी. २. २८ और ८. १८) । सांख्यशास्त्र में इस अव्यक्त प्रकृति ही को 'अक्षर' भी कहते हैं; और प्रकृति से होनेवाले सब पदार्थों को 'क्षर' कहते हैं । यहाँ 'क्षर' शब्द का अर्थ, सम्पूर्ण नाश नहीं है; किन्तु सिर्फ़ व्यक्त स्वरूप का नाश ही अपेक्षित है । प्रकृति के और भी अनेक नाम हैं । जैसे प्रधान, गुण-क्षोभिणी, बहुधानक, प्रसव-धर्मिणी इत्यादि । सृष्टि के सब पदार्थों का मुख्य मूल होने के कारण उसे (प्रकृति को) प्रधान कहते हैं । तीनों गुणों की साम्यावस्था का भंग स्वयं आप ही करती है; इसलिये उसे गुण-क्षोभिणी कहते हैं । गुणत्रयरूपी पदार्थ-भेद के बीज प्रकृति में हैं; इसलिये उसे बहुधानक कहते हैं । और प्रकृति से ही सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं; इसलिये उसे प्रसव-धर्मिणी कहते हैं । इस प्रकृति ही को वेदान्तशास्त्र में 'माया' अर्थात् मायिक दिखावा कहते हैं ।

सृष्टि के सब पदार्थों को 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' या 'क्षर' और 'अक्षर' इन दो विभागों में बाँटने के बाद, अब यह सोचना चाहिये, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार में बतलाये गये आत्मा, मन, बुद्धि, अहंकार और इंद्रियों को सांख्य-मत के अनुसार, किस विभाग या वर्ग में रखना चाहिये । क्षेत्र और इंद्रियाँ तो जड़ ही हैं; इस कारण उन का समावेश व्यक्त पदार्थों में हो सकता है । परन्तु मन, अहंकार, बुद्धि और विशेष करके आत्मा के विषय में क्या कहा जा सकता है ? यूरोप के वर्तमान समय के प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ हेकेल ने अपने ग्रन्थ में लिखा है, कि मन, बुद्धि, अहंकार और आत्मा ये सब शरीर के धर्म ही हैं । उदाहरणार्थ, हम देखते हैं, कि जब मनुष्य का मस्तिष्क बिगड़ जाता है, तब उसकी स्मरण-शक्ति नष्ट हो जाती है; और वह पागल भी हो जाता है । इसी प्रकार सिर पर चोट लगने से जब मस्तिष्क का कोई भाग बिगड़ जाता है, तब भी इस भाग की मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है । सारांश यह है, कि मनोधर्म भी जड़ मस्तिष्क के ही गुण हैं; अतएव ये जड़ वस्तु से

कभी अलग नहीं किये जा सकते; और इसी लिये मस्तिष्क के साथ साथ मनोधर्म और आत्मा को भी 'व्यक्त' पदार्थों के वर्ग में शामिल करना चाहिये। यदि यह जड़वाद मान लिया जाय, तो अंत में केवल अव्यक्त और जड़प्रकृति ही शेष रह जाती है। क्योंकि सब व्यक्त पदार्थ इस मूलअव्यक्तप्रकृति से ही बने हैं। ऐसी अवस्था में प्रकृति के सिवा जगत् का कर्ता या उत्पादक दूसरा कोई भी नहीं हो सकता। तब तो यही कहना होगा, कि मूलप्रकृति की शक्ति धीरे धीरे बढ़ती गई, और अन्त में उसी को चैतन्य या आत्मा का स्वरूप प्राप्त हो गया। सत्कार्यवाद के समान, इस मूल प्रकृति के कुछ कायदे या नियम बने हुए हैं; और उन्हीं नियमों के अनुसार सब जगत्, और साथ ही साथ मनुष्य भी कैदी के समान बर्ताव किया करता है। जड़-प्रकृति के सिवा आत्मा कोई भिन्न वस्तु है ही नहीं; तब कहना नहीं होगा, कि आत्मा न तो अविनाशी है; और न स्वतंत्र। तब मोक्ष या मुक्ति की आवश्यकता ही क्या है? प्रत्येक मनुष्य को मालूम होता है, कि मैं अपनी इच्छा के अनुसार अमुक काम कर लूँगा; परंतु वह सब केवल भ्रम है। प्रकृति जिस ओर खींचेगी, उसी ओर मनुष्य को झुकना पड़ेगा! अथवा किसी कवि के अर्थानुसार कहना चाहिये, कि "यह सारा विश्व एक बहुत बड़ा कारागार है; प्राणिमात्र कैदी हैं; और पदार्थों के गुण-धर्म बेड़ियाँ हैं। इन बेड़ियों को कोई तोड़ नहीं सकता।" बस; यही हेकेल के मत का सारांश है। उसके मतानुसार सारी सृष्टि का मूलकारण एक जड़ और अव्यक्त प्रकृति ही है। इसलिये उसने अपने सिद्धान्त को सिर्फ़* "अद्वैत" कहा है। परंतु यह अद्वैत जड़मूलक है, अर्थात् अकेली जड़प्रकृति में ही सब बातों का समावेश करता है; इस कारण हम इसे जड़ाद्वैत या आधिभौतिक-शास्त्राद्वैत कहेंगे।

हमारे सांख्यशास्त्रकार इस जड़ाद्वैत को नहीं मानते। वे कहते हैं, कि मन, बुद्धि और अहंकार पंचभूतात्मक जड़प्रकृति ही के धर्म हैं; और सांख्यशास्त्र में भी यही लिखा है, कि अव्यक्तप्रकृति से ही बुद्धि, अहंकार इत्यादि गुण क्रम क्रम से उत्पन्न होते जाते हैं। परन्तु उनका कथन है, कि जड़प्रकृति से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इतना ही नहीं; वरन् जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने ही कंधों पर बैठ नहीं सकता, उसी प्रकार प्रकृति को जाननेवाला या देखनेवाला जब तक प्रकृति से भिन्न न हो, तब तक वह "मैं यह जानता हूँ—वह जानता हूँ" इत्यादि भाषा-व्यवहार का उपयोग कर ही नहीं सकता। और इस जगत् के व्यवहारों की ओर देखने से तो सब लोगों का यही अनुभव जान पड़ता है, कि 'मैं जो कुछ देखता हूँ, या जानता हूँ, वह मुझ से भिन्न है।' इसलिये सांख्यशास्त्रवालों ने कहा है, कि ज्ञाता और ज्ञेय, देखनेवाला और देखने की वस्तु या प्रकृति को देखने-

* हेकेल का मूलशब्द monism है। और इस विषय पर उसने स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखा है।

वाला और जड़-प्रकृति, इन दोनों बातों को मूल से ही पृथक् पृथक् मानना चाहिये (सां. का. १७)। पिछले प्रकरण में जिसे क्षेत्रज्ञ या आत्मा कहा है, वही यह देखनेवाला, ज्ञाता या उपभोग करनेवाला है; और इसे ही सांख्यशास्त्र में 'पुरुष' या 'ज्ञ' (ज्ञाता) कहते हैं। यह ज्ञाता प्रकृति से भिन्न है। इस कारण निसर्ग से ही प्रकृति के तीनों (सत्त्व, रज और तम) गुणों के परे रहता है। अर्थात् यह निर्विकार और निर्गुण है; और जानने या देखने के सिवा कुछ भी नहीं करता। इससे यह भी मालूम हो जाता है, कि जगत् में जो घटनाएँ होती रहती हैं, वे सब प्रकृति ही के खेल हैं। सारांश यह है, कि प्रकृति अचेतन या जड़ है; और पुरुष सचेतन है। प्रकृति सब काम किया करती है; और पुरुष उदासीन या अकर्ता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है; और पुरुष निर्गुण है। प्रकृति अंधी है; और पुरुष साक्षी है। इस प्रकार इस सृष्टि में यही दो भिन्न भिन्न तत्त्व अनादिसिद्ध, स्वतंत्र और स्वयंभू हैं। यही सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त है। इस बात को ध्यान में रख करके ही भगवद्गीता में पहले कहा गया है, कि "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" —प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं (गी. १३. १९)। इसके बाद उनका वर्णन इस प्रकार किया गया है "कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते" अर्थात् देह और इंद्रियों का व्यापार प्रकृति करती है; और "पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते"—अर्थात् पुरुष सुखदुःखों का उपभोग करने के लिये, कारण है। यद्यपि गीता में भी प्रकृति और पुरुष अनादि माने गये हैं, तथापि यह बात ध्यान में रखनी चाहिये, कि सांख्यवादियों के समान, गीता में ये दोनों तत्त्व स्वतंत्र या स्वयंभू नहीं माने गये हैं। कारण यह है, कि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रकृति को अपनी 'माया' कहा है (गी. ७. १४, १४. ३), और पुरुष के विषय में भी यही कहा है, कि "ममैवांशो जीवलोके" (गी. १५. ७) अर्थात् वह भी मेरा अंश है। इससे मालूम हो जाता है, कि गीता सांख्यशास्त्र से भी आगे बढ़ गई है। परंतु अभी इस बात की ओर ध्यान न दे कर हम देखेंगे, कि सांख्य-शास्त्र क्या कहता है।

सांख्यशास्त्र के अनुसार सृष्टि के सब पदार्थों के तीन वर्ग होते हैं। पहला अव्यक्त (प्रकृति मूल), दूसरा व्यक्त (प्रकृति के विकार), और तीसरा पुरुष अर्थात् ज्ञ। परंतु इनमें से प्रलयकाल के समय व्यक्त पदार्थों का स्वरूप नष्ट हो जाता है। इसलिये अब मूल में केवल प्रकृति और पुरुष दो ही तत्त्व शेष रह जाते हैं। ये दोनों मूलतत्त्व, सांख्यवादियों के मतानुसार अनादि और स्वयंभू हैं। इसलिये सांख्यों को द्वैतवादी (दो मूलतत्त्व माननेवाले) कहते हैं। वे लोग प्रकृति और पुरुष के परे ईश्वर, काल, स्वभाव या अन्य किसी भी मूलतत्त्व को नहीं मानते*।

* ईश्वरकृष्ण कट्टर निरीश्वरवादी था। उसने अपनी सांख्यकारिका की अंतिम उपसंहारात्मक तीन आर्याओं में कहा है, कि मूल विषयपर ७० आर्याएँ थीं। परंतु कोलब्रुक

इसका कारण यह है, कि सगुण ईश्वर, काल और स्वभाव, ये सब व्यक्त होने के कारण प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले व्यक्त पदार्थों में ही शामिल हैं। और, यदि ईश्वर को निर्गुण मानें, तो सत्कार्यवादानुसार निर्गुण मूलतत्त्व से त्रिगुणात्मक प्रकृति कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिये, उन्होंने यह निश्चित सिद्धान्त किया है, कि प्रकृति और पुरुष को छोड़ कर इस सृष्टि का और कोई तीसरा मूलकारण नहीं है। इस प्रकार जब उन लोगों ने दो ही मूलतत्त्व निश्चित कर लिये, तब उन्हों ने अपने मत के अनुसार इस बात को भी सिद्ध कर दिया है, कि इन दोनों मूलतत्त्वों से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई है। वे कहते हैं, कि यद्यपि निर्गुण पुरुष कुछ भी कर नहीं सकता, तथापि जब प्रकृति के साथ उसका संयोग होता है; तब जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के लिये दूध देती है, या लोहचुंबक पास होने से लोहे में आकर्षणशक्ति आ जाती है, उसी प्रकार मूल अव्यक्त प्रकृति अपने गुणों (सूक्ष्म और स्थूल) का व्यक्त फैलाव पुरुष के सामने फैलाने लगती है (सां. का. ५७)। यद्यपि पुरुष सचेतन और ज्ञाता है, तथापि

और विल्सन के अनुवाद के साथ बंबई में श्रीयुत तुकाराम तात्या ने जो पुस्तक मुद्रित की है, उसमें मूल विषय पर केवल ६९ आर्याएँ हैं। इसलिये विल्सन साहब ने अपने अनुवाद में यह संदेह प्रकट किया है, कि ७०वीं आर्या कौन-सी है। परन्तु वह आर्या उनको नहीं मिली; और उनकी शंका का समाधान नहीं हुआ। हमारी मत है, कि यह आर्या वर्तमान ६१ वीं आर्या के आगे होगी। कारण यह है, कि ६१ वीं आर्या पर गौडपादाचार्य का जो भाष्य है, वह कुछ एक ही आर्या पर नहीं है; किन्तु दो आर्याओं पर है। और यदि इस भाष्य के प्रतीक पदों को लेकर आर्या बनाई जाय, तो वह इस प्रकार होगी :—

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥

यह आर्या पिछले और अगले संदर्भ (अर्थ या भाव) से ठीक ठीक मिलती भी है। इस आर्या में निरीश्वर मत का प्रतिपादन है। इसलिये जान पडता है, कि किसी ने इसे पीछे से निकाल डाला होगा। परन्तु इस आर्या का शोधन करनेवाला मनुष्य इसका भाष्य भी निकाल डालना भूल गया। इसलिये अब हम इस आर्या का ठीक ठीक पता लगा सकते हैं; और इसी से उस मनुष्य को धन्यवाद ही देना चाहिये। श्वेताश्वतरोपनिषद् के छठवें अध्याय के पहले मंत्र से प्रगट होता है, कि प्राचीन समय में कुछ लोग स्वभाव और काल को—और वेदान्ती तो उसके भी आगे बढ़ कर ईश्वर को—जगत् का मूलकारण मानते थे। वह मंत्र यह है :—

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैषा महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥

परन्तु ईश्वरकृष्ण ने उपर्युक्त आर्या को वर्तमान ६१ वीं आर्या के बाद सिर्फ़ यह बतलाने के लिये ही रखा है, कि ये तीनों मूलकारण (अर्थात् स्वभाव, काल और ईश्वर) सांख्यवादियों को मान्य नहीं हैं।

केवल अर्थात् निर्गुण होने के कारण स्वयं कर्म करने के कोई साधन उसके पास नहीं हैं; और प्रकृति यद्यपि काम करनेवाली है, तथापि जड़ या अचेतन होने के कारण वह नहीं जानती, कि क्या करना चाहिये। इस प्रकार लँगड़े और अंधे की वह जोड़ी है। जैसे अंधे के कंधे पर लँगडा बैठे; और वे दोनों एक दूसरे की सहायता से मार्ग चलने लगें; वैसी ही अचेतन प्रकृति और सचेतन पुरुष का संयोग हो जाने पर सृष्टि के सब कार्य आरम्भ हो जाते हैं (सां. का. २१)। और जिस प्रकार नाटक की रंगभूमि पर प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थ एक ही नटी कभी एक तो कभी दूसरा ही स्वाँग बना कर नाचती रहती है, उसी प्रकार पुरुष के लाभ के लिये (पुरुषार्थ के लिये) यद्यपि पुरुष कुछ भी पारितोषिक नहीं देता; तो भी यह प्रकृति सत्त्व-रज-तम गुणों की न्यूनाधिकता से अनेक रूप धारण करके उसके सामने लगातार नाचती रहती है (सां. का. ४६)। प्रकृति के इस नाच को देख कर—मोह से भूल जाने के कारण, या वृथाभिमान के कारण—जब तक पुरुष इस प्रकृति के कर्तृत्व को स्वयं अपना ही कर्तृत्व मानता रहता है; और जब तक वह सुखदुःख के काल में स्वयं अपने को फँसा रखता है, तब तक उसे मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती (गी. ३. २७)। परन्तु जिस समय पुरुष को यह ज्ञान हो जाय, कि त्रिगुणात्मक प्रकृति भिन्न है और मैं भिन्न हूँ; उस समय वह मुक्त ही है (गी. १३. २६, ३०; १४. २०)। क्योंकि, यथार्थ में पुरुष न तो कर्ता है और न बँधा ही है—वह तो स्वतंत्र और निसर्गतः केवल या अकर्ता है। जो कुछ होता जाता है, वह सब प्रकृति ही का खेल है। यहाँ तक कि मन और बुद्धि भी प्रकृति के ही विकार हैं। इसलिये बुद्धि को जो ज्ञान होता है, वह भी प्रकृति के कार्य का ही फल है। यह ज्ञान तीन प्रकार का होता है; जैसे : सात्त्विक, राजस और तामस (गी. १८. २०–२२)। जब बुद्धि को सात्त्विक ज्ञान प्राप्त होता है तब पुरुष को यह मालूम होने लगता है, कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। सत्त्व-रज-तमोगुण प्रकृति के ही धर्म हैं; पुरुष के नहीं। पुरुष निर्गुण है; और त्रिगुणात्मक प्रकृति उसका दर्पण है (म.भा. शां. २०४. ८)। जब यह दर्पण स्वच्छ या निर्मल हो जाता है, अर्थात् जब अपनी यह बुद्धि—जो प्रकृति का विकार है—सात्त्विक हो जाती है, तब इस निर्मल दर्पण में पुरुष को अपना सात्त्विक स्वरूप दीखने लगता है; और उसे यह बोध हो जाता है, कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। उस समय यह प्रकृति लज्जित हो कर उस पुरुष के सामने नाचना, खेलना या जाल फैलाना बंद कर देती है। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब पुरुष सब पाशों या जालों से मुक्त हो कर अपने स्वाभाविक कैवल्यपद को पहुँच जाता है। 'कैवल्य' शब्द का अर्थ है केवलता, अकेलापन, या प्रकृति के साथ संयोग न होना। पुरुष के इस नैसर्गिक या स्वाभाविक स्थिति को ही सांख्यशास्त्र में मोक्ष (मुक्ति या छुटकारा) कहते हैं। इस व्यवस्था के विषय में सांख्यवादियों ने एक बहुत ही नाजुक प्रश्न का विचार उपस्थित किया है। उनका प्रश्न है, कि पुरुष प्रकृति को छोड़ देता है, या प्रकृति

पुरुष को छोड़ देती है ? कुछ लोगों की समझ में यह प्रश्न वैसा ही निरर्थक प्रतीत होगा, जैसा यह प्रश्न कि दुलह के लिये दुलहिन ऊँची है या दुलहिन के लिये दुलहा ठिंगना है। क्योंकि जब दो वस्तुओं का एक दूसरे से वियोग होता है, तब हम देखते हैं, कि दोनों एक दूसरे को छोड़ देती हैं। इसलिये ऐसे प्रश्न का विचार करने से कुछ लाभ नहीं है, कि किसने किसको छोड़ दिया। परन्तु कुछ अधिक सोचने पर मालूम हो जायगा, कि सांख्यवादियों का उक्त प्रश्न उनकी दृष्टि से अयोग्य नहीं है। सांख्यशास्त्र के अनुसार 'पुरुष' निर्गुण, अकर्ता और उदासीन है। इसलिये तत्त्वदृष्टि से "छोड़ना" या "पकड़ना" क्रियाओं का कर्ता पुरुष नहीं हो सकता (गी. १३. ३१, ३२)। इसलिये सांख्यवादी कहते हैं, कि प्रकृति ही 'पुरुष' को छोड़ दिया करती है। अर्थात् वही 'पुरुष' से अपना छुटकारा या मुक्ति कर लेती है। क्योंकि कर्तृत्वधर्म 'प्रकृति' ही का है (सां. का. ६२ और गी. १३. ३४)। सारांश यह है, कि मुक्ति नाम की ऐसी कोई निराली अवस्था नहीं है; जो 'पुरुष' को कहीं बाहर से प्राप्त हो जाती हो। अथवा यह कहिये, कि वह 'पुरुष' की मूल और स्वाभाविक स्थिति से कोई भिन्न स्थिति भी नहीं है। प्रकृति और पुरुष में वैसा ही संबंध है; जैसा कि घास के बाहरी छिलके और अंदर के गूदे में रहता है; या जैसा पानी और उसमें रहनेवाली मछली में। सामान्य पुरुष प्रकृति के गुणों से मोहित हो जाते हैं; और अपनी यह स्वाभाविक भिन्नता पहचान नहीं सकते। इसी कारण वे संचार-चक्र में फँसे रहते हैं। परन्तु जो इस भिन्नता को पहचान लेता है, वह मुक्त ही है। महाभारत (शां. १९४. ५८, २४८. ११; और ३०६-३०८) में लिखा है, कि ऐसे ही पुरुष को "ज्ञाता" या "बुद्ध" और "कृतकृत्य" कहते हैं। गीता के इस वचन "एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्" (गी. १५. २०) में बुद्धिमान् शब्द का भी यही अर्थ है। अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से मोक्ष का सच्चा स्वरूप भी यही है (वे. सू. शां. भा. १. १.४)। परन्तु सांख्यवादियों की अपेक्षा अद्वैत वेदान्तियों का विशेष कथन यह है, कि आत्मा मूल ही में परब्रह्मस्वरूप है; और जब वह अपने मूलस्वरूप को अर्थात् परब्रह्म को पहचान लेता है, तब वही उसकी मुक्ति है। वे लोग वह कारण नहीं बतलाते, कि पुरुष निसर्गतः 'केवल' है। सांख्य और वेदान्त का यह भेद अगले प्रकरण में स्पष्ट रीति से बतलाया जायगा।

यद्यपि अद्वैत वेदान्तियों को सांख्यवादियों की यह बात मान्य है, कि पुरुष (आत्मा) निर्गुण, उदासीन और अकर्ता है; तथापि वे लोग सांख्यशास्त्र की 'पुरुष'—सम्बन्धी इस दूसरी कल्पना को नहीं मानते, कि एक ही प्रकृति को देखनेवाले (साथी) स्वतंत्र पुरुष मूल में ही असंख्य हैं (गी. ८. ४; १३. २०–२२; म.भा. शां. ३५१; और वे.सू. शां.भा. २. १.१ देखो)। वेदान्तियों का कहना है, कि उपाधिभेद के कारण सब जीव भिन्न भिन्न मालूम होते ह; परन्तु वस्तुतः सब ब्रह्म ही है। सांख्यवादियों का मत है, कि जब हम देखते ह, कि प्रत्येक मनुष्य का जन्म,

मृत्यु और जीवन अलग अलग हैं; और जब इस जगत् में हम यह भेद पाते हैं, कि कोई सुखी है तो कोई दुःखी है; तब मानना पड़ता है, कि प्रत्येक आत्मा या पुरुष मूल से ही भिन्न है; और उनकी संख्या भी अनंत है (सां. का. १८)। केवल प्रकृति और पुरुष ही सब सृष्टि के मूलतत्त्व हैं सही; परन्तु उनमें से पुरुष शब्द में सांख्यवादियों के मतानुसार 'असंख्य पुरुषों के समुदाय' का समावेश होता है। इन असंख्य पुरुषों के और त्रिगुणात्मक प्रकृति के संयोग से सृष्टि का सब व्यवहार हो रहा है। प्रत्येक पुरुष और प्रकृति का जब संयोग होता है, तब प्रकृति अपने गुणों का जाला उस पुरुष के सामने फैलाती है; और पुरुष उसका उपभोग करता रहता है। ऐसा होते होते जिस पुरुष के चारों ओर की प्रकृति के खेल सात्त्विक हो जाते हैं, उस पुरुष को ही (सब पुरुषों को नहीं) सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है; और उस पुरुष के लिये ही, प्रकृति के सब खेल बंद हो जाते हैं; एवं वह अपने मूल तथा कैवल्यपद को पहुँच जाता है। परन्तु यद्यपि उस पुरुष को मोक्ष मिल गया, तो भी शेष सब पुरुषों को संसार में फँसे ही रहना पड़ता है। कदाचित् कोई यह समझे, कि ज्योंही पुरुष इस प्रकार कैवल्यपद को पहुँच जाता है, त्योंही वह एकदम प्रकृति के जाले से छूट जाता होगा। परन्तु सांख्यमत के अनुसार यह समझ ग़लत है। देह और इन्द्रियरूपी प्रकृति के विकार उस मनुष्य की मृत्यु तक उसे नहीं छोड़ते। सांख्यवादी इसका यह कारण बतलाते हैं, कि "जिस प्रकार कुम्हार का पहिया--घड़ा बन कर निकाल लिया जाने पर भी--पूर्व संस्कार के कारण कुछ देर तक घूमता ही रहता है, उसी प्रकार कैवल्यपद की प्राप्ति हो जाने पर भी इस मनुष्य का शरीर कुछ समय तक शेष रहता है" (सां. का. ६७)। तथापि उस शरीर से, कैवल्यपद पर आरूढ होनेवाले पुरुष को कुछ भी अड़चन या सुख-दुःख की बाधा नहीं होती। क्योंकि, यह शरीर जड़प्रकृति का विकार होने के कारण स्वयं जड़ ही है। इसलिये इसे सुखदुःख दोनों समान ही हैं; और यदि यह कहा जाय, कि पुरुष को सुखदुःख की बाधा होती है; तो यह भी ठीक नहीं। क्यों कि उसे मालूम है, कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ, सब कर्तृत्व प्रकृति का है, मेरा नहीं। ऐसी अवस्था में प्रकृति के मनमाने खेल हुआ करते हैं। परन्तु उसे सुखदुःख नहीं होता; और वह सदा उदासीन ही रहता है। जो पुरुष प्रकृति के तीनों गुणों से छूट कर यह ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता, वह जन्म-मरण से छुट्टी नहीं पा सकता। चाहे वह सत्त्वगुण के उत्कर्ष के कारण देवयोनि में जन्म ले, या रजोगुण के उत्कर्ष के कारण मानवयोनि में जन्म ले; या तमोगुण की प्रबलता के कारण पशु-कोटि में जन्म ले (सां. का. ४४, ५४)। जन्ममरणरूपी चक्र के ये फल प्रत्येक मनुष्य को उसके चारों ओर की प्रकृति अर्थात् उसकी बुद्धि के सत्त्व-रज-तम गुणों के उत्कर्ष-अपकर्ष के कारण प्राप्त हुआ करते हैं। गीता में भी कहा है, कि "ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः" सात्त्विक वृत्ति के पुरुष स्वर्ग को जाते हैं; और तामस पुरुषों को अधोगति प्राप्त होती है (गी. १४. १८)। परन्तु स्वर्गादि फल अनित्य हैं।

जिसे जन्म-मरण से छुट्टी पाना है, या सांख्यों की परिभाषा के अनुसार जिसे प्रकृति से अपनी भिन्नता अर्थात् कैवल्य चिरस्थायी रखना है, उसे त्रिगुणातीत हो कर विरक्त (संन्यस्त) होने के सिवा दूसरा मार्ग नहीं है। कपिलाचार्य को यह वैराग्य और ज्ञान जन्मसे ही प्राप्त हुआ था; परन्तु यह स्थिति सब लोगों को जन्म ही से प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये तत्त्व-विवेक-रूप साधन से प्रकृति और पुरुष की भिन्नता को पहचान कर प्रत्येक पुरुष को अपनी बुद्धि शुद्ध कर लेने का यत्न करना चाहिये। ऐसे प्रयत्नों से जब बुद्धि सात्त्विक हो जाती है, तो फिर उसमें ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि गुण उत्पन्न होते हैं; और मनुष्य को अन्त में कैवल्यपद प्राप्त हो जाता है। जिस वस्तु को पाने की मनुष्य इच्छा करता है, उसे प्राप्त कर लेने के योग्य सामर्थ्य को ही यहाँ ऐश्वर्य कहा है। सांख्यमत के अनुसार धर्म की गणना सात्त्विक गुण में ही की जाती है। परन्तु कपिलाचार्य ने अन्त में यह भेद किया है, कि केवल धर्म से स्वर्गप्राप्ति ही होती है; और ज्ञान तथा वैराग्य (संन्यास) से मोक्ष या कैवल्यपद प्राप्त होता है; तथा पुरुष के दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है।

जब देहेन्द्रियों और बुद्धि में पहले सत्त्वगुण का उत्कर्ष होता है; और जब धीरे धीरे उन्नति होते होते अंत में पुरुष को यह ज्ञान हो जाता है, कि मैं त्रिगुणात्मक प्रकृति से भिन्न हूँ; तब उसे सांख्यवादी "त्रिगुणातीत" अर्थात् सत्त्व-रज-तम गुणों के परे पहुँचा हुआ कहते हैं। इस त्रिगुणातीत अवस्था में सत्त्व-रज-तम में से कोई भी गुण शेष नहीं रहता। कुछ सूक्ष्म विचार करने से मानना पड़ता है, कि वह त्रिगुणातीत अवस्था सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न है। इसी अभिप्राय से भागवत में भक्ति के तामस, राजस और सात्त्विक भेद करने के पश्चात् एक और चौथा भेद किया गया है। तीनों गुणों के पार हो जानेवाला पुरुष निर्हेतुक कहलाता है; और अभेद भाव से जो भक्ति की जाती है, उसे "निर्गुण भक्ति" कहते हैं (भाग. ३. २९. ७–१४)। परन्तु सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों वर्गों की अपेक्षा वर्गीकरण के तत्त्वों को व्यर्थ अधिक बढ़ाना उचित नहीं है। इसलिये सांख्यवादी कहते हैं, कि सत्त्वगुण के अत्यन्त उत्कर्ष से ही अन्त में त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त हुआ करती है; और इसलिये वे इस अवस्था की गणना सात्त्विक वर्ग में ही करते हैं। गीता में भी यह मत स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ, वहाँ कहा है; कि "जिस अभेदात्मक ज्ञान से यह मालूम हो कि सब कुछ एक ही है; उसी को सात्त्विक ज्ञान कहते हैं" (गी. १८. २०)। इसके सिवा सत्त्वगुण के वर्णन के बाद ही, गीता में १४ वें अध्याय के अन्त में, त्रिगुणातीत अवस्था का वर्णन है। परन्तु भगवद्गीता को यह प्रकृति और पुरुष-वाला द्वैत मान्य नहीं है। इसलिये ध्यान रखना चाहिये, कि गीता में 'प्रकृति', 'पुरुष', 'त्रिगुणातीत' इत्यादि सांख्यवादियों के पारिभाषिक शब्दों का उपयोग कुछ भिन्न अर्थ में किया गया है; अथवा यह कहिये, कि गीता में सांख्यवादियों के द्वैत पर अद्वैत परब्रह्म की 'छाप' सर्वत्र लगी हुई है। उदाहर-

णार्थ, सांख्यवादियों के प्रकृति-पुरुष-भेद का ही गीता के १३ वें अध्याय वर्णन है (गी. १३. १९–३४)। परन्तु वहाँ 'प्रकृति' और 'पुरुष' शब्दों का उपयोग क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अर्थ में हुआ है। इसी प्रकार १४ वें अध्याय में त्रिगुणातीत अवस्था का वर्णन (गी. १४. २२–२७) भी उस सिद्ध पुरुष के विषय में किया गया है; जो त्रिगुणात्मक माया के फंदे से छूटकर उस परमात्मा को पहचानता है, कि जो प्रकृति और पुरुष के भी परे हैं। यह वर्णन सांख्यवादियों के उस सिद्धान्त के अनुसार नहीं है; जिसके द्वारा वे यह प्रतिपादन करते हैं, कि 'प्रकृति' और 'पुरुष' दोनों पृथक् पृथक् तत्त्व हैं; और पुरुष का 'कैवल्य' ही त्रिगुणातीत अवस्था है। यह भेद आगे अध्यात्म-प्रकरण में अच्छी तरह समझा दिया गया है। परन्तु, गीता में यद्यपि अध्यात्म पक्ष ही प्रतिपादित किया गया है, तथापि आध्यात्मिक तत्त्वों का वर्णन करते समय भगवान् श्रीकृष्ण ने सांख्यपरिभाषा का और युक्तिवाद का हर जगह उपयोग किया है। इसलिये सम्भव है, कि गीता पढ़ते समय कोई यह समझ बैठें कि गीता को सांख्यवादियों के ही सिद्धान्त ग्राह्य हैं। इस भ्रम को हटाने के लिये ही सांख्यशास्त्र और गीता के तत्सदृश सिद्धान्तों का भेद फिर से यहाँ बतलाया गया है। वेदान्तसूत्रों के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने कहा है, कि उपनिषदों के इस अद्वैत सिद्धान्त को न छोड़ कर––कि "प्रकृति और पुरुष के परे इस जगत् का परब्रह्मरूपी एक ही मूलभूत तत्त्व है; और उसी से प्रकृति-पुरुष आदि सब सृष्टि की उत्पत्ति हुई है––" सांख्यशास्त्र के शेष सिद्धान्त हमें अग्राह्य नहीं हैं (वे. सू. शां. भा. २. १. ३.)। यही बात गीता के उपपादन के विषय में भी चरितार्थ होती है।

आठवाँ प्रकरण।

विश्व की रचना और संहार।

गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव निविशन्ति च। *

महाभारत, शांति. ३०५. २३।

इस बात का विवेचन हो चुका, कि कापिलसांख्य के अनुसार संसार में जो दो स्वतंत्र मूलतत्त्व—प्रकृति और पुरुष—हैं उनका स्वरूप क्या है, और जब इन दोनों का संयोग ही निमित्त-कारण हो जाता है, तब पुरुष के सामने प्रकृति अपने गुणों का जाला कैसे फैलाया करती है; और उस जाले से हम को अपना छुटकारा किस प्रकार कर लेना चाहिये। परन्तु अब तक इस का स्पष्टीकरण नहीं किया गया, कि प्रकृति अपने जाले को (अथवा खेल, संहार या ज्ञानेश्वर महाराज के शब्दों में 'प्रकृति की टकसाल' को) किस क्रम से पुरुष के सामने फैलाया करती है; और उसका लय किस प्रकार हुआ करता है। प्रकृति के इस व्यापार ही को 'विश्व की रचना और संहार' कहते हैं; और इसी विषय का विवेचन प्रस्तुत प्रकरण में किया जायगा। सांख्यमत के अनुसार प्रकृति ने इस जगत् या सृष्टि को असंख्य पुरुषों के लाभ के लिये ही निर्माण किया है। 'दासबोध' में श्री समर्थ रामदास स्वामी ने भी प्रकृति से सारे ब्रह्माण्ड के निर्माण होने का बहुत अच्छा वर्णन किया है। उसी वर्णन से 'विश्व की रचना और संहार' शब्द इस प्रकरण में लिये गये हैं। इसी प्रकार, भगवद्गीता के सातवें और आठवें अध्यायों में मुख्यतः इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है। और, ग्यारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जो यह प्रार्थना की है, कि "भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तारशो मया" (गी. ११. २)—भूतों की उत्पत्ति और प्रलय (जो आपने) विस्तारपूर्वक (बतलाया, उसको) मैंने सुना। अब मुझे अपना विश्वरूप प्रत्यक्ष दिखला कर कृतार्थ कीजिये—उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि विश्व की रचना और संहार क्षर-अक्षर-विचार ही का एक मुख्य भाग है। 'ज्ञान' वह है; जिससे यह बात मालूम हो जाती है, कि सृष्टि के अनेक (नाना) व्यक्त पदार्थों में एक ही अव्यक्त मूलद्रव्य है (गीता. १८. २०); और 'विज्ञान' उसे कहते हैं, जिससे यह मालूम हो, कि एक ही मूलभूत अव्यक्त द्रव्य से भिन्न भिन्न अनेक पदार्थ किस प्रकार अलग अलग निर्मित हुए (गी. १३. ३०); और इस

* "गुणों से ही गुणों की उत्पत्ति होती है और उन्हीं में उनका लय हो जाता है।"

में न केवल क्षर-अक्षर-विचार ही का समावेश होता है, किन्तु क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान और अध्यात्म विषयों का भी समावेश हो जाता है।

भगवद्गीता के मतानुसार प्रकृति अपना खेल करने या सृष्टि का कार्य चलाने के लिये स्वतंत्र नहीं है; किन्तु उसे यह काम ईश्वर की इच्छा के अनुसार करना पड़ता है (गी. ९. १०)। परन्तु, पहले बतलाया जा चुका है, कि कपिलाचार्य ने प्रकृति को स्वतंत्र माना है। सांख्यशास्त्र के अनुसार, प्रकृति का संसार आरम्भ होने के लिये 'पुरुष का संयोग' ही निमित्त-कारण बस हो जाता है। इस विषय में प्रकृति और किसी की भी अपेक्षा नहीं करती। सांख्यों का यह कथन है, कि ज्योंही पुरुष और प्रकृति का संयोग होता है, त्योंही उसकी टकसाल जारी हो जाती है। जिस प्रकार वसन्तऋतु में वृक्षों में नये पत्ते देख पड़ते हैं; और क्रमशः फूल-और फल आने लगते हैं (म. भा. शां. २३१. ७३; मनु. १. ३०), उसी प्रकार प्रकृति की मूल साम्यावस्था नष्ट हो जाती है; और उसके गुणों का विस्तार होने लगता है। इसके विरुद्ध वेदसंहिता, उपनिषद् और स्मृति-ग्रन्थों में प्रकृति को मूल न मान कर परब्रह्म को मल माना है; और परब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति होने के विषय में भिन्न भिन्न वर्णन किये गये हैं;—जैसे "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्"—पहले हिरण्यगर्भ (ऋ. १०. १२१. १) और इस हिरण्यगर्भ से अथवा सत्य से सब सृष्टि उत्पन्न हुई (ऋ. १०. ७२; १०. १९०); अथवा पहले पानी उत्पन्न हुआ (ऋ. १०. ८२. ६; तै. ब्रा. १.१. ३.७; ऐ. उ. १. १. २), और फिर उससे सृष्टि हुई। इस पानी में एक अण्डा उत्पन्न हुआ और उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ; तथा ब्रह्मा से अथवा उस मूल अण्डे से ही सारा जगत् उत्पन्न हुआ (मनु. १. ८–१३; छां. ३. १९); अथवा वही ब्रह्मा (पुरुष) आधे हिस्से से स्त्री हो गया (बृ. १. ४. ३; मनु. १. ३२); अथवा पानी उत्पन्न होने के पहले ही पुरुष था (कठ. ४. ६); अथवा पहले परब्रह्म से तेज, पानी, और पृथ्वी (अन्न) यही तीन तत्त्व उत्पन्न हुए, और पश्चात् उनके मिश्रण से सब पदार्थ बने (छां. ६. २–६)। यद्यपि उक्त वर्णनों में बहुत भिन्नता है; तथापि वेदान्तसूत्रों (२. ३. १–१५) में अन्तिम निर्णय यह किया गया है, कि आत्मरूपी मूलब्रह्म से ही आकाश आदि पंचमहाभूत क्रमशः उत्पन्न हुऐ हैं (तै. उ. २. १)। प्रकृति, महत् आदि तत्त्वों का भी उल्लेख कठ. (३. ११), मैत्रायणी (६. १०), श्वेताश्वतर (४. १०; ६. १६), आदि उपनिषदों में स्पष्ट रीति से किया गया है। इससे देख पड़ेगा, कि यद्यपि वेदान्तमतवाले प्रकृति को स्वतन्त्र न मानते हों, तथापि जब एक बार शुद्ध ब्रह्म ही में मायात्मक प्रकृति–रूप विकार दृग्गोचर होने लगता है तब, आगे सृष्टि के उत्पत्ति-क्रम के सम्बन्ध में उनका और सांख्यमतवालों का अन्त में मेल हो गया; और इसी कारण महा-भारत में कहा है, कि "इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र आदि में जो कुछ ज्ञान भरा है, वह सब सांख्यों से प्राप्त हुआ है" (शां. ३०१. १०८, १०९)। उसका यह

मतलब नहीं है, कि वेदान्तियों ने अथवा पौराणिकों ने यह ज्ञान कपिल से प्राप्त किया है; किन्तु यहाँ पर केवल इतना ही अर्थ अभिप्रेत है, कि सृष्टि के उत्पत्तिक्रम का ज्ञान सर्वत्र एक-सा देख पड़ता है। इतना ही नहीं; किन्तु यह भी कहा जा सकता है, कि यहाँ पर सांख्य शब्द का प्रयोग 'ज्ञान' के व्यापक अर्थ ही में किया गया है। कपिलाचार्य ने सृष्टि के उत्पत्तिक्रम का वर्णन शास्त्रीय दृष्टि से विशेष पद्धतिपूर्वक किया है; और भगवद्गीता में भी विशेष करके इसी सांख्यक्रम का स्वीकार किया गया है। इस कारण उसी का विवेचन इस प्रकरण में किया जायगा।

सांख्यों का सिद्धान्त है, कि इन्द्रियों को अगोचर अर्थात् अव्यक्त, सूक्ष्म और चारों ओर अखंडित भरे हुए एक ही निरवयव मूलद्रव्य से सारी व्यक्तसृष्टि उत्पन्न हुई है। यह सिद्धान्त पश्चिमी देशों के अर्वाचीन आधिभौतिक शास्त्रज्ञों को ग्राह्य है। ग्राह्य ही क्यों; अब तो उन्हों ने यह भी निश्चित किया है, कि इसी मूलद्रव्य की शक्ति का क्रमशः विकास होता आया है; और इस पूर्वापर क्रम को छोड़ अचानक या निरर्थक कुछ भी निर्माण नहीं हुआ है। इसी मत को उत्क्रान्तिवाद या विकास-सिद्धान्त कहते हैं। जब यह सिद्धान्त पश्चिमी राष्ट्रों में, गत शताब्दी में, पहले पहल ढूँढ निकाला गया, तब वहाँ बड़ी खलबली मच गई थी। ईसाई धर्म-पुस्तकों में यह वर्णन है, कि ईश्वर ने पंचमहाभूतों को और जंगमवर्ग के प्रत्येक प्राणी की जाति को भिन्न भिन्न समय पर पृथक् पृथक् और स्वतंत्र निर्माण किया है; और इसी मत को उत्क्रांतिवाद के पहले सब ईसाई लोग सत्य मानते थे। अतएव, जब ईसाई धर्म का उक्त सिद्धान्त उत्क्रान्तिवाद से असत्य ठहराया जाने लगा, तब उत्क्रान्तिवादियों पर खूब ज़ोर से आक्रमण और कटाक्ष होने लगे। ये कटाक्ष आजकल भी न्यूनाधिक होते ही रहते हैं। तथापि, शास्त्रीय सत्य में अधिक शक्ति होने के कारण सृष्ट्युत्पत्ति के संबंध में सब विद्वानों को उत्क्रान्ति-मत ही आजकल अधिक ग्राह्य होने लगा है। इस मत का सारांश यह है:—सूर्यमाला में पहले कुछ एक ही सूक्ष्मद्रव्य था। उसकी गति अथवा उष्णता का परिमाण घटता गया। तब उक्त द्रव्य का अधिकाधिक संकोच होने लगा; और पृथ्वी-समेत सब ग्रह क्रमशः उत्पन्न हुए। अंत में जो शेष अंश बचा, वही सूर्य है। पृथ्वी का भी सूर्य के सदृश पहले एक उष्ण गोला था। परंतु ज्यों ज्यों उसकी उष्णता कम होती गई, त्यों त्यों मूलद्रव्यों में से कुछ द्रव्य पतले और कुछ घने हो गये। इस प्रकार पृथ्वी के ऊपर के ऊपर की हवा और पानी तथा उसके नीचे का पृथ्वी का जड़ गोला—ये तीन पदार्थ बने; और इसके बाद, इन तीनों के मिश्रण अथवा संयोग से सब सजीव तथा निर्जीव सृष्टि उत्पन्न हुई है। डार्विन प्रभृति पंडितों ने तो यह प्रतिपादन किया है, कि इसी तरह मनुष्य भी छोटे कीड़े से बढ़ते बढ़ते अपनी वर्तमान अवस्था में आ पहुँचा है। परन्तु अब तक आधिभौतिकवादियों में और अध्यात्मवादियों में इस बात पर बहुत मतभेद है, कि इस सारी सृष्टि के मूल में आत्मा जैसे किसी भिन्न और स्वतंत्र तत्त्व को मानना चाहिये या नहीं। हेकेल के सदृश

कुछ पंडित यह मान कर, कि जड़ पदार्थों से ही बढ़ते बढ़ते आत्मा और चैतन्य की उत्पत्ति हुई, जड़ाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं; और इसके विरुद्ध कान्ट सरीखे अध्यात्मज्ञानियों का यह कथन है, कि हमें सृष्टि का जो ज्ञान होता है, वह हमारी आत्मा के एकीकरण व्यापार का फल है; इसलिये आत्मा को एक स्वतंत्र तत्त्व मानना ही पड़ता है। क्योंकि यह कहना—कि जो आत्मा बाह्यसृष्टि का ज्ञाता है वह उसी सृष्टि का एक भाग है अथवा उस सृष्टि ही से वह उत्पन्न हुआ है—तर्क-दृष्टि से ठीक वैसा ही असमंजस या भ्रामक प्रतीत होगा, जैसे यह उक्ति कि हम स्वयं अपने ही कंधे पर बैठ सकते हैं। यही कारण है, कि सांख्यशास्त्र में प्रकृति और पुरुष ये दो स्वतंत्र तत्त्व माने गये हैं। सारांश यह है, कि आधिभौतिक सृष्टि-ज्ञान चाहे जितना बढ़ गया हो; तथापि अब तक पश्चिमी देशों में बहुतेरे बड़े बड़े पंडित यही प्रतिपादन किया करते हैं, कि सृष्टि के मूलतत्त्व के स्वरूप का विवेचन भिन्न पद्धति ही से किया जाना चाहिये। परन्तु, यदि केवल इतना ही विचार किया जाय, कि एक जड़प्रकृति से आगे सब व्यक्त पदार्थ किस क्रम से बने हैं; तो पाठकों को मालूम हो जायगा, कि पश्चिमी उत्क्रांति-मत में और सांख्यशास्त्र में वर्णित प्रकृति के कार्य-संबंधी तत्त्वों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि इस मुख्य सिद्धान्त से दोनों सहमत हैं कि अव्यक्त, सूक्ष्म और एक ही मूलप्रकृति से क्रमशः (सूक्ष्म-और स्थूल) विविध तथा व्यक्तसृष्टि निर्मित हुई है। परन्तु अब आधिभौतिक शास्त्रों के ज्ञान की खूब वृद्धि हो जाने के कारण, सांख्यवादियों के 'सत्त्व, रज, तम' इन तीनों गुणों के बदले, आधुनिक सृष्टिशास्त्रज्ञों ने गति, उष्ण और आकर्षणशक्ति को प्रधान गुण मान रक्खा है। यह बात सच है, कि 'सत्त्व, रज, तम' गुणों की न्यूनाधिकता के परिमाणों की अपेक्षा, उष्णता अथवा आकर्षण-शक्ति की न्यूनाधिकता की बात आधिभौतिकशास्त्र की दृष्टि से सरलतापूर्वक समझ में आ जाती है। तथापि, गुणों के विकास अथवा गुणोत्कर्ष का जो यह तत्त्व है, कि "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" (गी. ३. २८), यह दोनों ओर समान ही है। सांख्य-शास्त्रज्ञों का कथन है, कि जिस तरह मोड़दार पंखे को धीरे धीरे खोलते हैं उसी तरह सत्त्व-रज-तम की साम्यावस्था में रहनेवाली प्रकृति की तह जब धीरे धीरे खुलने लगती है, तब सब व्यक्तसृष्टि निर्मित होती है—इस कथन में और उत्क्रांति-वाद में वस्तुतः कुछ भेद नहीं है। तथापि, यह भेद तात्त्विक धर्मदृष्टि से ध्यान में रखने योग्य है, कि ईसाई धर्म के समान गुणोत्कर्षतत्त्व का अनादर न करते हुए, गीता में और अंशतः उपनिषद् आदि वैदिक ग्रन्थों में भी, अद्वैत वेदान्त के साथ ही साथ, बिना किसी विरोध के, गुणोत्कर्षवाद स्वीकार किया गया है।

अब देखना चाहिये, कि प्रकृति के विकास के विषय में सांख्यशास्त्रकारों का क्या कथन है। इस क्रम ही को गुणोत्कर्ष अथवा गुणपरिणामवाद कहते हैं। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, कि कोई काम आरंभ करने के पहले मनुष्य उसे अपनी बुद्धि से निश्चित कर लेता है, अथवा पहले काम करने की बुद्धि या

इच्छा उसमें उत्पन्न हुआ करती है। उपनिषदों में भी इस प्रकार का वर्णन है, कि आरम्भ में मूल परमात्मा को यह बुद्धि या इच्छा हुई, कि हमें अनेक होना चाहिये--'बहु स्यां प्रजायेय'--और इसके बाद सृष्टि उत्पन्न हुई (छां. ६. २. ३; तै. २. ६)। इसी न्याय के अनुसार अव्यक्त प्रकृति भी अपनी साम्यावस्था को भंग करके व्यक्तसृष्टि के निर्माण करने का निश्चय पहले कर लिया करती है। अतएव, सांख्यों ने यह निश्चित किया है, कि प्रकृति में 'व्यवसायात्मिक बुद्धि' का गुण पहले उत्पन्न हुआ करता है। सारांश यह है, कि जिस प्रकार मनुष्य को पहले कुछ काम करने की इच्छा या बुद्धि हुआ करती है, उसी प्रकार प्रकृति को भी अपना विस्तार करने या पसारा पसारने की बुद्धि पहले हुआ करती है। परंतु इन दोनों में बड़ा भारी अंतर यह है, कि मनुष्य-प्राणी सचेतन होने के कारण--अर्थात् उसमें प्रकृति की बुद्धि के साथ अचेतन पुरुष का (आत्मा का) संयोग होने के कारण--वह स्वयं अपनी व्यवसायात्मिक बुद्धि को जान सकता है; और, प्रकृति स्वयं अचेतन अर्थात् जड़ है; इसलिये उसको अपनी बुद्धि का कुछ ज्ञान नहीं रहता। यह अंतर पुरुष के संयोग से प्रकृति में उत्पन्न होनेवाले चैतन्य के कारण हुआ करता है; यह केवल जड़ या अचेतन प्रकृतिका गुण नहीं है। अर्वाचीन आधिभौतिक सृष्टिशास्त्रज्ञ भी अब कहने लगे हैं, कि यदि यह न माना जाय, कि मानवी इच्छा की बराबरी करनेवाली किन्तु अस्वयंवेद्य शक्ति जड़ पदार्थोंमें भी रहती है, तो गुरुत्वाकर्षण अथवा रसायन-क्रिया का और लोहचुंबक का आकर्षण तथा अपसारण प्रभृति केवल जड़ सृष्टि में ही दृग्गोचर होनेवाले गुणों का मूल कारण ठीक ठीक बतलाया नहीं जा सकता*। आधुनिक सृष्टिशास्त्रज्ञों के उक्त मत पर ध्यान देने से सांख्यों का यह सिद्धांत आश्चर्यकारक नहीं प्रतीत होता, कि

---

*"Without the assumption of an atomic soul the commonest and the most general phenomena of Chemistry are inexplicable. Pleasure and pain, desire and aversion, attraction and repulsion must be common to all atoms of an aggregate: for the movements of atoms which must take place in the formation and dissolution of a chemical compound can be explained only by attributing to them *Sensation and Will.*"—Haeckel in the *Perigenesis of the Plastidule*–cited in Martineau's *Types of Ethical Theory*, Vol. II, p. 399, 3rd Ed. Haeckel himself explains this statement as follows:—"I explicitly stated that I conceived the elementary psychic qualities of *sensation* and *will* which may be attributed to atoms, to be *unconscious*—just as unconscious as the elementary memory, which I, in common with the distinguished psychologist Ewald Herind, consider to be a common function of all organised matter, or more correctly the living substances"—*The Riddle of the Universe* Chap. IX. p. 63 (R. P. A. Cheap Ed.)

प्रकृति में पहले बुद्धि-गुण का प्रादुर्भाव होता है । प्रकृति में प्रथम उत्पन्न होनेवाले इस गुण को यदि आप चाहें, तो अचेतन अथवा अस्वयंवेद्य अर्थात् अपने आप को ज्ञात न होनेवाली बुद्धि कह सकते हैं । परन्तु, उसे चाहे जो कहें; इसमें संदेह नहीं, कि मनुष्य को होनेवाली बुद्धि और प्रकृति को होनेवाली बुद्धि दोनों मूल में एक ही श्रेणी की हैं; और इसी कारण दोनों स्थानों पर उनकी व्याख्याएँ भी एक ही सी की गई हैं । उस बुद्धि के ही 'महत्, ज्ञान, मति, आसुरी, प्रज्ञा, ख्याति' आदि अन्य नाम भी हैं । मालूम होता है कि इनमें से 'महत्' (पुल्लिंग कर्ता का एकवचन महान्--बडा) नाम इस गुण की श्रेष्ठता के कारण दिया गया होगा; अथवा इसलिये दिया गया होगा, कि अब प्रकृति बढ़ने लगती है । प्रकृति में पहले उत्पन्न होनेवाला महान् अथवा बुद्धि-गुण 'सत्त्व-रज-तम' के मिश्रण ही का परिणाम है । इसलिये प्रकृति की यह बुद्धि यद्यपि देखने में एक ही प्रतीत होती हो, तथापि यह आगे कई प्रकार की हो सकती है । क्योंकि ये गुण--सत्त्व, रज और तम--प्रथम दृष्टि से यद्यपि तीन ही हैं, तथापि विचार-दृष्टि से प्रगट हो जाता है, कि इनके मिश्रण में प्रत्येक गुण का परिणाम अनंत रीति से भिन्न भिन्न हुआ करता है; और, इसी लिये इन तीनों में से प्रत्येक गुण के अनंत भिन्न परिमाण से उत्पन्न होनेवाली बुद्धि के प्रकार भी त्रिघात अनंत हो सकते हैं । अव्यक्त प्रकृति से निर्मित होनेवाली यह बुद्धि भी प्रकृति के ही सदृश सूक्ष्म होती है । परंतु पिछले प्रकरण में 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' तथा 'सूक्ष्म' और 'स्थूल' का जो अर्थ बतलाया गया है, उसके अनुसार यह बुद्धि प्रकृति के समान सूक्ष्म होने पर भी उसके समान अव्यक्त नहीं है--मनुष्य को इसका ज्ञान हो सकता है । अतएव, अब यह सिद्ध हो चुका, कि इस बुद्धि का समावेश व्यक्त में (अर्थात् मनुष्य को गोचर होनेवाले पदार्थों में) होता है; और सांख्यशास्त्र में, न केवल बुद्धि किंतु बुद्धि के आगे प्रकृति के सब विकार भी व्यक्त ही माने जाते हैं । एक मूल प्रकृति के सिवा कोई भी अन्य तत्त्व अव्यक्त नहीं है ।

इस प्रकार, यद्यपि अव्यक्त प्रकृति में व्यक्त व्यवसायात्मिक बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, तथापि प्रकृति अब तक एक ही बनी रहती है । इस एकता का भंग होना और बहुसा-पन या विविधत्व का उत्पन्न होना ही पृथक्त्व कहलाता है । उदाहरणार्थ, पारे का ज़मीन पर गिरना और उसकी अलग अलग छोटी छोटी गोलियाँ बन जाना । बुद्धि के बाद जब तक यह पृथक्ता या विविधता उत्पन्न न हो, तब तक एक प्रकृति के अनेक पदार्थ हो जाना संभव नहीं । बुद्धि से आगे उत्पन्न होनेवाली इस पृथक्ता के गुण को ही 'अहंकार' कहते हैं । क्योंकि पृथक्ता 'मैं-तू' शब्दों से ही प्रथम व्यक्त की जाती है; और 'मैं-तू' का अर्थ ही अहं-कार, अथवा अहं-अहं (मैं-मैं) करना है । प्रकृति में उत्पन्न होनेवाले अहंकार के इस गुण को यदि आप चाहें, तो अस्वयंवेद्य अर्थात् अपने आप को ज्ञात न होनेवाला अहंकार कह सकते हैं । परन्तु स्मरण रहे, कि मनुष्य में प्रगट होनेवाला अहंकार , और वह

अहंकार कि जिसके कारण पेड़, पत्थर, पानी अथवा भिन्न भिन्न मूल परमाणु एक ही प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, —ये दोनों एक ही जाति के हैं। भेद केवल इतना ही है, कि पत्थर में चैतन्य न होने के कारण उसे 'अहं' का ज्ञान नहीं होता; और मुँह न होने के कारण 'मैं-तू' कह कर स्वाभिमानपूर्वक वह अपनी पृथक्ता किसी पर प्रगट नहीं कर सकता। सारांश यह, कि दूसरों से पृथक् रहने का--अर्थात अभिमान या अहंकार का--तत्त्व सब जगह समान ही है। इस अहंकार ही को तैजस, अभिमान, भूतादि और धातु भी कहते हैं। अहंकार बुद्धि ही का एक भाग है। इसलिये पहले जब तक बुद्धि न होगी, तब तक अहंकार उत्पन्न हो ही नहीं सकता। अतएव सांख्यों ने यह निश्चित किया है, कि 'अहंकार यह दूसरा--अर्थात् बुद्धि के बाद का--गुण है। अब यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि सात्त्विक, राजस और तामस भेदों से बुद्धि के समान अहंकार के भी अनन्त प्रकार हो जाते हैं। इसी तरह उनके बाद के गुणों के भी प्रत्येक के त्रिधात अनन्त भेद हैं। अथवा यह कहिये, कि व्यक्त सृष्टि में प्रत्येक वस्तु के इसी प्रकार अनन्त सात्त्विक, राजस और तामस भेद हुआ करते हैं; और इसी सिद्धान्त को लक्ष्य करके गीता में गुणत्रय-विभाग और श्रद्धात्रय-विभाग बतलाये गये हैं (गी. अ. १४ और १७)।

व्यवसायात्मिकबुद्धि और अहंकार, दोनों व्यक्त गुण जब मूल साम्यावस्था की प्रकृति में उत्पन्न हो जाते हैं, तब प्रकृति की एकता भंग हो जाती है; और उससे अनेक पदार्थ बनने लगते हैं। तथापि उसकी सूक्ष्मता अब तक कायम रहती है। अर्थात्, यह कहना अयुक्त न होगा, कि अब नैयायिकों के सूक्ष्म परमाणुओं का आरम्भ होता है। क्योंकि, अहंकार उत्पन्न होने के पहले प्रकृति अखंडित और निरवयव थी। वस्तुतः देखने से तो यही प्रतीत होता है, कि निरी बुद्धि और निरा अहंकार केवल गुण हैं। अतएव, उपर्युक्त सिद्धान्तों से यह मतलब नहीं लेना चाहिये, कि वे (बुद्धि और अहंकार) प्रकृति के द्रव्य से पृथक् रहते हैं। वास्तव में बात यह है, कि जब मूल और अवयवरहित एक ही प्रकृति में इन गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है, तब उसी को विविध और अवयवसहित द्रव्यात्मक व्यक्तरूप प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार जब अहंकार से मूलप्रकृति में भिन्न भिन्न पदार्थ बनने की शक्ति आ जाती है, तब आगे उसकी वृद्धि की दो शाखाएँ हो जाती हैं। एक,---पेड़ मनुष्य आदि सेन्द्रिय प्राणियों की सृष्टि; और दूसरी,---निरिन्द्रिय पदार्थों की सृष्टि। यहाँ इन्द्रिय शब्द से केवल 'इन्द्रियवान् प्राणियों की इन्द्रियों की शक्ति' इतना ही अर्थ लेना चाहिये। इसका कारण यह है, कि सेन्द्रिय प्राणियों के जड़ देह का समावेश जड़ यानी निरिन्द्रिय सृष्टि में होता है; और इन प्राणियों का आत्मा 'पुरुष' नामक अन्य वर्ग में शामिल किया जाता है। इसी लिये सांख्यशास्त्र में सेन्द्रिय सृष्टि का विचार करते समय, देह और आत्मा को छोड़ केवल इन्द्रियों का ही विचार किया गया है। इस जगत् में सेन्द्रिय और

निरिन्द्रिय पदार्थों के अतिरिक्त किसी तीसरे पदार्थ का होना सम्भव नहीं। इसलिये कहने की आवश्यकता नहीं, कि अहंकार से दो से अधिक शाखाएँ निकल ही नहीं सकती। इनमें निरिन्द्रिय पदार्थों की अपेक्षा इन्द्रिय-शक्ति श्रेष्ठ है। इसलिये इन्द्रिय-सृष्टि को सात्त्विक (अर्थात् सत्त्वगुण के उत्कर्ष से होनेवाली) कहते हैं; और निरिन्द्रिय-सृष्टि को तामस (अर्थात् तमोगुण के उत्कर्ष से होनेवाली) कहते हैं। सारांश यह है, कि जब अहंकार अपनी शक्ति के भिन्न भिन्न पदार्थ उत्पन्न करने लगता है, तब उसी में एक बार तमोगुण का उत्कर्ष हो कर एक ओर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ और मन मिल कर इंद्रिय-सृष्टि की मूलभूत ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं; और दूसरी ओर, तमोगुण का उत्कर्ष हो कर उससे निरिन्द्रिय-सृष्टि के मूलभूत पाँच तन्मात्रद्रव्य उत्पन्न होते हैं। परन्तु प्रकृति की सूक्ष्मता अब तक कायम रही है; इसलिये अहंकार से उत्पन्न होनेवाले ये सोलह तत्त्व भी सूक्ष्म ही रहते हैं।*

शब्द, स्पर्श, रूप और रस की तन्मात्राएँ--अर्थात् बिना मिश्रण हुए प्रत्येक गुण के भिन्न भिन्न अति सूक्ष्म मूलस्वरूप --निरिन्द्रिय-सृष्टि के मूलतत्त्व हैं; और मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ सेन्द्रिय-सृष्टि की बीज हैं। इस विषय की सांख्यशास्त्र की उपपत्ति विचार करने योग्य है, कि निरिन्द्रिय-सृष्टि के मूलतत्त्व (तन्मात्र) पाँच ही क्यों और सेन्द्रिय-सृष्टि के मूलतत्त्व ग्यारह ही क्यों माने जाते हैं। अर्वाचीन सृष्टि-शास्त्रज्ञों ने सृष्टि के पदार्थों के तीन भेद--घन, द्रव और वायुरूपी--किये हैं; परन्तु सांख्यशास्त्रकारों का वर्गीकरण इससे भिन्न है। उनका कथन है, कि मनुष्य को सृष्टि के सब पदार्थों का ज्ञान केवल पाँच ज्ञानेन्द्रियों से हुआ करता है; और इन ज्ञानेन्द्रियों की रचना कुछ ऐसी विलक्षण है, कि एक इंद्रिय को सिर्फ़ एक ही गुण का ज्ञान हुआ करता है। आँखों से सुगन्ध नहीं मालूम होती और न कान से दीखता ही है; त्वचासे मीठा-कड़ुवा नहीं समझ पड़ता और न जिव्हा से शब्दज्ञान ही होता है; नाक से सफ़ेद और काले रंग का भेद भी नहीं मालूम होता। जब इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके पाँच विषय--शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध--निश्चित हैं, तब यह प्रकट है, कि सृष्टि के सब गुण भी पाँच से अधिक नहीं माने जा सकते। क्योंकि यदि हम कल्पना से यह मान भी लें, कि गुण पाँच से अधिक हैं; तो कहना नहीं होगा, कि उनको जानने के लिये हमारे पास कोई साधन

---

*संक्षेप में यही अर्थ अंग्रेज़ी भाषा में प्रकार कहा जा सकता है :--

The Primeval matter (*Prakriti*) was at first *homogeneous*. It *resolved* (*Buddhi*) to unfold itself, and by the *principle of differentiation* (*Ahamkaru*) became *heterogeneous*. It then branched off into *two* sections–one organic (*Sendriya*) and the other *inorganic* (*Nirindriya*). There are *eleven* elements of the organic and *five* of the inorganic creation. *Purusha* or the observer is different from all these and fales under none of the above categories.

या उपाय नहीं है। इन पाँच गुणों में से प्रत्येक के अनेक भेद हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यद्यपि 'शब्द'—गुण एक ही है, तथापि उसके छोटा, मोटा, कर्कश, भद्दा, फटा हुआ, कोमल, अथवा गायनशास्त्र के अनुसार निषाद, गांधार, षड्ज आदि; और व्याकरणशास्त्र के अनुसार कंठ्य, तालव्य, ओष्ठ्य आदि अनेक प्रकार हुआ करते हैं। इसी तरह यद्यपि 'रूप' एक ही गुण है, तथापि उसके भी अनेक भेद हुआ करते हैं; जैसे सफ़ेद, काला, नीला, पीला, हरा आदि। इसी तरह यद्यपि 'रस' या 'रुचि' एक ही गुण है, तथापि उसके खट्टा, मीठा, तीखा, कड़ुवा, खारा आदि अनेक भेद हो जाते हैं। और, 'मिठास' यद्यपि एक विशिष्ट रुचि है; तथापि हम देखते हैं, कि गन्ने का मिठास, दूध का मिठास, गुड़ का मिठास और शक्कर का मिठास भिन्न भिन्न होता है; तथा इस प्रकार उस एक ही 'मिठास' के अनेक भेद हो जाते हैं। यदि भिन्न भिन्न गुणों के भिन्न भिन्न मिश्रणों पर विचार किया जाय, तो यह गुणवैचित्र्य अनन्त प्रकार से अनन्त हो सकता है। परन्तु, चाहे जो हो; पदार्थों के मूलगुण पाँच से कभी अधिक हो नहीं सकते। क्योंकि इंद्रियाँ केवल पाँच हैं, और प्रत्येक को एक ही एक गुण का बोध हुआ करता है। इसलिये सांख्यों ने यह निश्चित किया है, कि यद्यपि केवल शब्दगुण के अथवा केवल स्पर्शगुण के पृथक् पृथक्, यानी दूसरे गुणों के मिश्रणरहित पदार्थ हमें देख न पड़ते हों, तथापि इसमें संदेह नहीं, कि मूलप्रकृति में निरा शब्द, निरा स्पर्श, निरा रूप, निरा रस, और निरा गंध है। अर्थात् शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गंधतन्मात्र ही हैं। अर्थात् मूलप्रकृति के येही पाँच भिन्न भिन्न सूक्ष्म तन्मात्रविकार अथवा द्रव्य निःसंदेह हैं। आगे इस बात का विचार किया गया है, कि पंचतन्मात्राओं अथवा उनसे उत्पन्न होनेवाले पंचमहाभूतों के सम्बन्ध में उपनिषत्कारों का कथन क्या है।

इस प्रकार निरिंद्रिय-सृष्टि का विचार करके यह निश्चित किया गया, कि उसमें पाँच ही सूक्ष्म मूलतत्त्व हैं। और जब हम सेन्द्रिय-सृष्टि पर दृष्टि डालते हैं, तब भी यही प्रतीत होता है, कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ, और मन, इन ग्यारह इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक इन्द्रियाँ किसी के भी नहीं हैं। स्थूल देह में हाथ-पैर आदि इन्द्रियाँ यद्यपि स्थूल प्रतीत होती हैं, तथापि इनमें से प्रत्येक की जड़ में किसी मूल-सूक्ष्म-तत्त्व का अस्तित्व माने बिना इन्द्रियों की भिन्नता का यथोचित कारण मालूम नहीं होता। पश्चिमी आधिभौतिक उत्क्रांतिवादियों ने इस बात की खूब चर्चा की है। वे कहते हैं, कि मूल के अत्यंत छोटे और गोलाकार जन्तुओं में सिर्फ़ 'त्वचा' ही एक इन्द्रिय होती है; और इस त्वचा से ही अन्य इन्द्रियाँ क्रमशः उत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, मूलजंतु की त्वचा से प्रकाश का संयोग होने पर आँख उत्पन्न हुई इत्यादि। आधिभौतिकवादियों का यह तत्त्व—कि प्रकाश आदि के संयोग से स्थूल-इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है—सांख्यों को भी ग्राह्य है। महाभारत (शां. २१३. १६) में, सांख्यप्रक्रिया के अनुसार इन्द्रियों के प्रादुर्भाव का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है :—

शब्दरागात् श्रोत्रमस्य जायते भावितात्मनः ।
रूपरागात् तथा चक्षुः घ्राणं गन्धजिघ्रक्षया ॥

अर्थात् "प्राणियों के आत्मा को जब शब्द सुनने की भावना हुई, तब कान उत्पन्न हुआ; रूप पहचानने की इच्छा से आँख; और सूँघने की इच्छा से नाक उत्पन्न हुई।" परन्तु सांख्यों का यह कथन है, कि यद्यपि त्वचा का प्रादुर्भाव पहले होता हो, तथापि मूलप्रकृति में ही यदि भिन्न भिन्न इन्द्रियों के उत्पन्न होने की शक्ति न हो, तो सजीव-सृष्टि के अत्यन्त छोटे कीड़ों की त्वचा पर सूर्य प्रकाश का चाहे जितना आघात या संयोग होता रहे, तो भी उन्हें आँखें---और वे भी शरीर के एक विशिष्ट भाग ही में---कैसे प्राप्त हो सकती हैं? डार्विन का सिद्धान्त सिर्फ़ यह आशय प्रगट करता है, कि दो प्राणियों---एक चक्षुवाला और दूसरा चक्षुरहित---के निर्मित होने पर, इस जड़सृष्टि के कलह में चक्षुवाला अधिक समय तक टिक सकता है; और दूसरा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। परन्तु पश्चिमी आधिभौतिक सृष्टिशास्त्रज्ञ इस बात का मूलकारण नहीं बतला सकते, कि नेत्र आदि भिन्न भिन्न इन्द्रियों की उत्पत्ति पहले हुई ही क्यों। सांख्यों का मत यह है, कि ये सब इन्द्रियाँ किसी एक ही मूलइन्द्रिय से क्रमशः उत्पन्न नहीं होतीं; किन्तु जब अहंकार के कारण प्रकृति में विविधता आरम्भ होने लगती है, तब पहले उस अहंकार से (पाँच सूक्ष्म कर्मेंद्रियाँ, पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ और मन, इन सब को मिला कर) ग्यारह भिन्न भिन्न गुण (शक्ति) सब के सब एक साथ (युगपत्) स्वतंत्र हो कर मूल-प्रकृति में ही उत्पन्न होते हैं; और फिर इसके आगे स्थूल-सेन्द्रिय-सृष्टि उत्पन्न हुआ करती है। इन ग्यारह इन्द्रियों में से---मन के बारे में पहले ही---छठवें प्रकरण में बतला दिया गया है, कि वह ज्ञानेन्द्रियों के साथ संकल्प-विकल्पात्मक होता है; अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण किये गये संस्कारों की व्यवस्था करके वह उन्हें बुद्धि के सामने निर्णयार्थ उपस्थित करता है; और कर्मेन्द्रियों के साथ वह व्याकरणात्मक होता है। अर्थात् उसे बुद्धि के निर्णय को कर्मेंद्रियों के द्वारा अमल में लाना पड़ता है। इस प्रकार वह उभयविध, अर्थात् इन्द्रियभेद के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के काम करनेवाला होता है। उपनिषदों में इन्द्रियों को ही 'प्राण' कहा है; और सांख्यों के मतानुसार उपनिषत्कारों का भी यही मत है, कि ये प्राण पंच-महाभूतात्मक नहीं हैं; किन्तु परमात्मा से पृथक् उत्पन्न हुए हैं (मुंड. २. १. ३)। इन प्राणों की---अर्थात् इन्द्रियों की---संख्या उपनिषदों में कहीं सात, कहीं दस, ग्यारह, बारह और कहीं कहीं तेरह बतलाई गई है। परन्तु वेदान्तसूत्रों के आधार से श्रीशंकराचार्य ने निश्चित किया है, कि उपनिषदों के सब वाक्यों की एकरूपता करने पर इन्द्रियों की संख्या ग्यारह ही सिद्ध होती है (वे.सू. शां.भा. २. ४. ५. ६)। और, गीता में तो इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, "इन्द्रियाणि दशैकं च" (गी. १३. ५) अर्थात् इन्द्रियाँ 'दस और एक' अर्थात् ग्यारह हैं। अब इस विषय पर सांख्य और वेदान्त दोनों में कोई मतभेद नहीं रहा।

सांख्यों के निश्चित किये हुए मत का सारांश यह है--सात्त्विक अहंकार से सेन्द्रिय-सृष्टि की मूलभूत ग्यारह इंद्रियशक्तियाँ (गुण) उत्पन्न होती हैं; और तामस अहंकार से निरिन्द्रिय-सृष्टि के मूलभूत पाँच तन्मात्रद्रव्य निर्मित होते हैं। इसके बाद पञ्चतन्मात्रद्रव्यों से क्रमशः स्थूल पंचमहाभूत (जिन्हें 'विशेष' भी कहते हैं) और स्थूल निरिन्द्रिय पदार्थ बनने लगते हैं; तथा, यथासम्भव इन पदार्थों का संयोग ग्यारह इन्द्रियों के साथ हो जाने पर सेन्द्रिय-सृष्टि बन जाती है।

सांख्यमतानुसार प्रकृति से प्रादुर्भूत होनेवाले तत्त्वों का क्रम, जिसका वर्णन अब तक किया गया है, निम्न लिखित वंशवृक्ष से अधिक स्पष्ट हो जायगा :--

ब्रह्मांड का वंशवृक्ष

पुरुष→(दोनों स्वयंभू और अनादि)←प्रकृति (अव्यक्त और सूक्ष्म)
(निर्गुण; पर्यायशब्द :--ज्ञ, द्रष्टा इ.)। (सत्त्व-रज-तमोगुणी; पर्यायशब्द :--प्रधान, अव्यक्त, माया, प्रसव-धर्मिणी आदि)

|

महान् अथवा बुद्धि (अव्यक्त और सूक्ष्म)
(पर्यायशब्द :--आसुरी, मति, ज्ञान, ख्याति इ.)

|

अहंकार (व्यक्त और सूक्ष्म)
(पर्यायशब्द :--अभिमान, तैजस आदि)

|

(सात्त्विक सृष्टि अर्थात् व्यक्त और सूक्ष्म इन्द्रियाँ) (तामस अर्थात् निरिंद्रिय-सृष्टि)

|

पाँच बुद्धीन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, पञ्चतन्मात्राएँ (सूक्ष्म)

|

विशेष या पञ्चमहाभूत (स्थूल)

अठारह तत्त्वों का लिंगशरीर (सूक्ष्म)

स्थूल पञ्चमहाभूत और पुरुष को मिला कर कुल तत्त्वों की संख्या पचीस है। इनमें से महान् अथवा बुद्धि के बाद के तेईस गुण मूलप्रकृति के विकार हैं। किन्तु उनमें भी यह भेद है, कि सूक्ष्मतन्मात्राएँ और पाँच स्थूल महाभूत द्रव्यात्मक विकार हैं और बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रियाँ केवल शक्ति या गुण हैं। ये तेईस तत्त्व व्यक्त हैं और मूलप्रकृति अव्यक्त है। सांख्यों ने इन तेईस तत्त्वों में से आकाश तत्त्व ही में दिक् और काल को भी सम्मिलित कर दिया है। वे 'प्राण' को भिन्न तत्त्व नहीं मानते। किन्तु जब सब इन्द्रियों के व्यापार आरम्भ होने लगते हैं, तब उसी को वे प्राण कहते हैं (सां. का. २९)। परन्तु वेदान्तियों को यह मत मान्य नहीं है। उन्हों ने प्राण को स्वतन्त्र तत्त्व माना है (वे. सू. २.४.९)। यह पहले

ही बतलाया जा चुका है, कि वेदान्ती लोग प्रकृति और पुरुष को स्वयम्भू और स्वतन्त्र नहीं मानते, जैसा कि सांख्यमतानुयायी मानते हैं; किन्तु उसका कथन है, कि दोनों (प्रकृति और पुरुष) एक ही परमेश्वर की विभूतियाँ हैं। सांख्य और वेदान्त के उक्त भेदों को छोड़ कर शेष सृष्टयुत्पत्तिक्रम दोनों पक्षों को ग्राह्य है। उदाहरणार्थ, महाभारत में अनुगीता में 'ब्रह्मवृक्ष' अथवा 'ब्रह्मवन' का जो दो बार वर्णन किया गया है (म.भा. अश्व. ३५. २०-२३, और ४७. १२-१५) यह सांख्यतत्त्वों के अनुसार ही है—

> अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कंधमयो महान् ।
> महाहंकारविटपः इंद्रियान्तरकोटरः ॥
> महाभूतविशाखश्च विशेषप्रतिशाखवान् ।
> सदापर्णः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः ॥
> आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ।
> एवं छित्त्वा च भित्त्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः ॥
> हित्वा सङ्गमयान् पाशान् मृत्युजन्मजरोदयान् ।
> निर्ममो निरहंकारो मुच्यते नात्र संशयः ॥

अर्थात् "अव्यक्त (प्रकृति) जिसका बीज है, बुद्धि (महान्) जिसका तना या पिंड़ है, अहंकार जिसका प्रधान पल्लव है, मन और दस इन्द्रियाँ जिसकी अन्तर्गत खोखली या खोड़र हैं, (सूक्ष्म) महाभूत (पंचतन्मात्राएँ) जिसकी बड़ी बड़ी शाखाएँ हैं, और विशेष अर्थात् स्थूल महाभूत जिसकी छोटी छोटी टहनियाँ हैं, इसी प्रकार सदा पत्र, पुष्प, और शुभाशुभ फल धारण करनेवाला, समस्त प्राणिमात्र के लिये आधारभूत यह सनातन बृहद् ब्रह्मवृक्ष है। ज्ञानी पुरुष को चाहिये, कि वह उसे तत्त्वज्ञानरूपी तलवार से काट कर टूक टूक कर डाले; जन्म, जरा और मृत्यु उत्पन्न करनेवाले संगमय पाशों को नष्ट करे और ममत्वबुद्धि तथा अहंकार को त्याग कर दे; तब वह निःसंशय मुक्त होता है।" संक्षेप में, यही ब्रह्मवृक्ष प्रकृति अथवा माया का 'खेल', 'जाला' या 'पसारा' है। अत्यन्त प्राचीन काल ही से—ऋग्वेदकाल ही से—इसे 'वृक्ष' कहने की रीति पड़ गई है; और उपनिषदों में भी उसको 'सनातन अश्वत्थवृक्ष' कहा है (कठ. ६. १)। परन्तु वेदों में इसका सिर्फ़ यही वर्णन किया गया है, कि उस वृक्ष का मूल (परब्रह्म) ऊपर है; और शाखाएँ (दृश्य-सृष्टि का फैलाव) नीचे हैं। इस वैदिक वर्णन को और सांख्यों के तत्त्वों को मिला कर गीता में अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन किया गया है। इसका स्पष्टीकरण हमने गीता के १५. १-२ श्लोकों की अपनी टीका में कर दिया है।

ऊपर बतलाये गये पचीस तत्त्वों का वर्गीकरण सांख्य और वेदान्ती भिन्न भिन्न रीति से किया करते हैं। अतएव यहाँ पर उस वर्गीकरण के विषय में कुछ

लिखना चाहिये। सांख्यों का यह कथन है, कि इन पचीस तत्त्वों के चार वर्ग होते हैं--अर्थात् मूलप्रकृति, प्रकृति-विकृति, विकृति और न-प्रकृति। (१) प्रकृति-तत्त्व किसी दूसरे से उत्पन्न नहीं हुआ है; अतएव उसे 'मूलप्रकृति' कहते हैं। (२) मूलप्रकृति से आगे बढ़ने पर जब हम दूसरी सीढ़ी पर आते हैं, तब 'महान्' तत्त्व का पता लगता है। यह महान् तत्त्व प्रकृति से उत्पन्न हुआ है; इसलिये वह 'प्रकृति की विकृति या विकार' है। और इसके बाद महान् तत्त्व से अहंकार निकला है; अतएव 'महान्' अहंकार की प्रकृति अथवा मूल है। इस प्रकार महान् अथवा बुद्धि एक ओरसे अहंकार की प्रकृति या मूल है; और दूसरी ओर से वह मूलप्रकृति की विकृति अथवा विकार है। इसीलिये सांख्यों ने उसे 'प्रकृति-विकृति' नामक वर्ग में रखा; और इसी न्याय के अनुसार अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राओं का समावेश भी 'प्रकृति-विकृति' वर्ग ही में किया जाता है। जो तत्त्व अथवा गुण स्वयं दूसरे से उत्पन्न (विकृति) हो, और आगे वही स्वयं अन्य तत्त्वों का मूलभूत (प्रकृति) हो जावें, उसे 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं। इस वर्ग के सात तत्त्व ये हैं:--महान्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ। (३) परन्तु पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और स्थूल-पंच-महाभूत, इन सोलह तत्त्वों से फिर और अन्य तत्त्वों की उत्पत्ति नहीं हुई। किन्तु ये स्वयं दूसरे तत्त्वों से प्रादुर्भूत हुए हैं। अतएव, इन सोलह तत्त्वों को 'प्रकृति-विकृति' न कह कर केवल 'विकृति' अथवा विकार कहते हैं। (४) 'पुरुष' न प्रकृति है; और न विकृति। वह स्वतंत्र और उदासीन द्रष्टा है। ईश्वरकृष्ण ने इस प्रकार वर्गीकरण करके फिर उसका स्पष्टीकरण यों किया है--

> मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
> षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

अर्थात् "यह मूलप्रकृति अविकृति है--अर्थात् किसी का भी विकार नहीं है; महदादि सात (अर्थात् महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ) तत्त्व प्रकृति-विकृति हैं; और मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ तथा स्थूल पञ्चमहाभूत मिलकर सोलह तत्त्वों को केवल विकृति अथवा विकार कहते हैं। पुरुष न प्रकृति है न विकृति" (सां. का. ३)। आगे इन्हीं पचीस तत्त्वों के और तीन भेद किये गये हैं--अव्यक्त, व्यक्त और ज्ञ। इनमें से केवल एक मूलप्रकृति ही अव्यक्त है; प्रकृति से उत्पन्न हुए तेईस तत्त्व व्यक्त हैं, और पुरुष 'ज्ञ' है। ये हुए सांख्यों के वर्गीकरण के भेद। पुराण, स्मृति, महाभारत आदि वैदिकमार्गीय ग्रन्थों में प्रायः इन्हीं पचीस तत्त्वों का उल्लेख पाया जाता है (मैत्र्यु. ६. १०; मनु. १. १४; १५ देखो)। परन्तु, उपनिषदों में वर्णन किया गया है, कि ये सब तत्त्व परब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं; और वहीं इनका विशेष विवेचन या वर्गीकरण भी नहीं किया गया है। उपनिषदों के बाद जो ग्रन्थ हुए हैं, उनमें इनका वर्गीकरण किया हुआ देख पड़ता है; परन्तु वह उपर्युक्त सांख्यों के वर्गीकरण से भिन्न है। कुल तत्त्व पचीस हैं। इनमें से सोलह तत्त्व

तो सांख्यमत के अनुसार ही विकार, अर्थात् दूसरे तत्त्वों से उत्पन्न हुए हैं। इस कारण उन्हें प्रकृति में अथवा मूलभूत पदार्थों के वर्ग में सम्मिलित नहीं कर सकते। अब ये नौ तत्त्व शेष रहे--१ पुरुष, २ प्रकृति, ३-९ महत्, अहंकार, और पाँच तन्मात्राएँ। इनमें से पुरुष और प्रकृति को छोड़ शेष सात तत्त्वों को सांख्यों ने प्रकृति-विकृति कहा है। परन्तु वेदान्तशास्त्र में प्रकृति को स्वतंत्र न मान कर यह सिद्धान्त निश्चित किया है, कि पुरुष और प्रकृति दोनों एक ही परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं। इस सिद्धान्त को मान लेने से, सांख्यों के 'मूलप्रकृति' और 'प्रकृति-विकृति' भेदों के लिये, स्थान ही नहीं रह जाता। क्योंकि प्रकृति भी परमेश्वर से उत्पन्न होने के कारण मूल नहीं कही जा सकती; किन्तु वह प्रकृति-विकृति के ही वर्ग में शामिल हो जाती है। अतएव, सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते समय वेदान्ती कहा करते हैं, कि परमेश्वर ही से एक ओर जीव निर्माण हुआ; और दूसरी ओर (महदादि सात प्रकृति-विकृतिसहित) अष्टधा अर्थात् आठ प्रकार की प्रकृति निर्मित हुई (म.भा. शां. ३०६. २९ और ३१०. १० देखो)। अर्थात्, वेदान्तियों के मत से पचीस तत्त्वों में से सोलह तत्त्वों को छोड़ शेष नौ तत्त्वों के केवल दो ही वर्ग किये जाते हैं---एक 'जीव' और दूसरी 'अष्टधा प्रकृति'। भगवद्गीता में वेदान्तियों का यही वर्गीकरण स्वीकृत किया गया है। परन्तु इसमें भी अन्त में थोड़ा-सा फ़र्क़ हो गया है। सांख्यवादी जिसे पुरुष कहते हैं, उसे ही गीता में जीव कहा है; और यह बतलाया है, कि वह (जीव) ईश्वर की 'परा प्रकृति' अर्थात् श्रेष्ठ स्वरूप है; और सांख्यवादी जिसे मूलप्रकृति कहते हैं, उसे ही गीता में परमेश्वर का 'अपर' अर्थात् कनिष्ठ स्वरूप कहा गया है (गी. ७. ४,५)। इस प्रकार पहले दो बड़े बड़े वर्ग कर लेने पर उनमें से दूसरे वर्ग के अर्थात् कनिष्ठ स्वरूप के जब और भी भेद या प्रकार बतलाने पड़ते हैं, तब इस कनिष्ठ स्वरूप के अतिरिक्त उससे उपजे हुए शेष तत्त्वों को भी बतलाना आवश्यक होता है। क्योंकि यह कनिष्ठ स्वरूप (अर्थात् सांख्यों की मूलप्रकृति) स्वयं अपना ही एक प्रकार या भेद हो नहीं सकता। उदाहरणार्थ, जब यह बतलाना पड़ता है, कि बाप के लड़के कितने हैं; तब उन लड़कों में ही बाप की गणना नहीं की जा सकती। अतएव परमेश्वर के कनिष्ठ स्वरूप के अन्य भेदों को बतलाते समय कहना पड़ता है, कि वेदान्तियों की अष्टधा प्रकृति में से मूलप्रकृति को छोड़ शेष सात तत्त्व ही (अर्थात् महान्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ) उस मूलप्रकृति के भेद या प्रकार हैं। परन्तु ऐसा करने से कहना पड़ेगा, कि परमेश्वर का कनिष्ठ स्वरूप (अर्थात् मूलप्रकृति) सात प्रकार का है; और ऊपर कह आये हैं, कि वेदान्ती तो प्रकृति को अष्टधा अर्थात् आठ प्रकार की मानते हैं। अब इस स्थान पर यह विरोध देख पड़ता है, कि जिस प्रकृति को वेदान्ती अष्टधा या आठ प्रकार की कहें, उसी को गीता सप्तधा या सात प्रकार की कहें। परन्तु गीताकार को अभीष्ट था, कि उक्त विरोध दूर हो जावें; और 'अष्टधा प्रकृति' का वर्णन बना रहे। इसीलिये महान्, अहंकार

और पंचतन्मात्राएँ, इन सातों में ही आठवें मनतत्त्व को सम्मिलित कर के गीता में वर्णन किया गया है, कि परमेश्वर का कनिष्ठ स्वरूप अर्थात् मूलप्रकृति अष्टधा है (गी. ७. ५)। इनमें से, केवल मन ही में दस इन्द्रियों का और पंचतन्मात्राओं में पंचमहाभूतों का समावेश किया गया है। अब यह प्रतीत हो जायगा, कि गीता में किया गया वर्गीकरण सांख्यों और वेदान्तियों के वर्गीकरण से यद्यपि कुछ भिन्न है, तथापि इससे कुल तत्त्वों की संख्या में कुछ न्यूनाधिकता नहीं हो जाती। सब जगह तत्त्व पचीस ही माने गये हैं। परन्तु वर्गीकरण की उक्त भिन्नता के कारण किसी के मन में कुछ भ्रम न हो जाय, इसलिये ये तीनों वर्गीकरण कोष्टक के रूप में एकत्र करके आगे दिये गये हैं। गीता के तेरहवें अध्याय (१३. ५) में वर्गीकरण के झगड़े में न पड़ कर, सांख्यों के पचीस तत्त्वों का वर्णन ज्यों-का-त्यों पृथक् पृथक् किया गया है; और इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि चाहे वर्गीकरण में कुछ भिन्नता हो; तथापि तत्त्वों की संख्या दोनों स्थानों पर बराबर ही है।

पचीस मूलतत्त्वों का वर्गीकरण।

सांख्यों का वर्गीकरण।	तत्त्व।	वेदान्तियों का वर्गीकरण।	गीता का वर्गीकरण।
न-प्रकृति न-विकृति	१ पुरुष	परब्रह्म का श्रेष्ठ स्वरूप	परा प्रकृति
मूलप्रकृति	१ प्रकृति	परब्रह्म का कनिष्ठ स्वरूप (आठ प्रकार का)	अपरा प्रकृति
७ प्रकृति-विकृति	१ महान् १ अहंकार ५ तन्मात्राएँ		अपरा प्रकृति के आठ प्रकार
१६ विकार	१ मन ५ बुद्धीन्द्रियाँ ५ कर्मेंद्रियाँ ५ महाभूत	विकार होनेके कारण इन सोलह तत्त्वों को वेदान्ती मूलतत्त्व नहीं मानते।	विकार होने के कारण, गीता में इन पंद्रह तत्त्वों की गणना मूलतत्त्वों में नहीं की गई है।
	२५		

यहाँ तक इस बात का विवेचन हो चुका, कि पहले मूलसाम्यावस्था में रहनेवाली एक ही अवयवरहित जड़प्रकृतिमें व्यक्तसृष्टि उत्पन्न करने की अस्वयंवेद्य 'बुद्धि' कैसे प्रगट हुई; फिर उसमें 'अहंकार' से अवयवसहित विविधता कैसे उपजी; और इसके बाद 'गुणों से गुण' इस गुणपरिणामवाद के अनुसार एक ओर सात्त्विक (अर्थात् सेन्द्रिय) सृष्टि की मूलभूत ग्यारह इन्द्रियाँ, तथा दूसरी ओर तामस (अर्थात् निरिन्द्रिय) सृष्टि की मूलभूत पाँच सूक्ष्मतन्मात्राएँ कैसे निर्मित हुईं। अब इसके बाद की सृष्टि (अर्थात् स्थूल पंचमहाभूतों या उनसे उत्पन्न होनेवाले अन्य जड़ पदार्थों) की उत्पत्ति के क्रम का वर्णन किया जावेगा। सांख्यशास्त्र में सिर्फ़ यही कहा है, कि सूक्ष्मतन्मात्राओं में 'स्थूल पंचमहाभूत' अथवा 'विशेष', गुणपरिणाम के कारण, उत्पन्न हुए हैं। परन्तु वेदान्तशास्त्र के ग्रन्थों में इस विषय का अधिक विवेचन किया गया है; इसलिये प्रसंगानुसार उसका

भी संक्षिप्त वर्णन--इस सूचना के साथ कि यह वेदान्तशास्त्र का मत है, सांख्यों का नहीं--कर देना आवश्यक जान पड़ता है । 'स्थूल पृथ्वी, पानी, तेज, वायु और आकाश' को पंचमहाभूत अथवा विशेष कहते हैं। इनका उत्पत्तिक्रम तैत्तिरीयोपनिषद् में इस प्रकार है :--"आत्मनः आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथ्वी । पृथिव्या ओषधयः । इ० " (तै. उ. २. १)--अर्थात् पहले परमात्मा से (जड़-मूलप्रकृति से नहीं; जैसा कि सांख्यवादियों का कथन है) आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी, और फिर पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई है । तैत्तिरीयोपनिषद् में यह नहीं बतलाया गया, कि इस क्रम का कारण क्या है । परन्तु प्रतीत होता है, कि उत्तर-वेदान्तग्रन्थों में पंचमहाभूतों के उत्पत्तिक्रम के कारणों का विचार सांख्यशास्त्रोक्त गुणपरिणाम के तत्त्व पर ही किया गया है । इन उत्तर-वेदान्तियों का यह कथन है, कि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' इस न्याय से पहले एक ही गुण का पदार्थ उत्पन्न हुआ । उससे दो गुणों के और फिर तीन गुणों के पदार्थ उत्पन्न हुए । इसी प्रकार वृद्धि होती गई । पंचमहाभूतों में से आकाश का मुख्य एक गुण केवल शब्द ही है । इसलिये पहले आकाश उत्पन्न हुआ । इसके बाद वायु की उत्पत्ति हुई । क्योंकि उसमें शब्द और स्पर्श दो गुण हैं । जब वायु ज़ोर से चलती है, तब उसकी आवाज़ सुन पड़ती है; और हमारी स्पर्शेंद्रिय को भी उसका ज्ञान होता है । वायु के बाद अग्नि की उत्पत्ति होती है । क्योंकि शब्द और स्पर्श के अतिरिक्त उसमें तीसरा गुण (रूप) भी है । इन तीनों गुणों के साथ-ही-साथ पानी में चौथा गुण (रुचि या रस) होता है । इसलिये उसका प्रादुर्भाव अग्नि के बाद ही होना चाहिये । और अन्त में, इन चारों गुणों की अपेक्षा पृथ्वी में 'गन्ध' गुण विशेष होने से यह सिद्ध किया गया है, कि पानी के बाद ही पृथ्वी उत्पन्न हुई है । यास्काचार्य का यही सिद्धान्त है (निरुक्त १४. ४) । तैत्तिरीयोपनिषद् में आगे चल कर वर्णन किया गया है, कि उक्त क्रम से स्थूल पंचमहाभूतों की उत्पत्ति हो चुकने पर फिर-"पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः ।"-पृथ्वी से वनस्पति, वनस्पति से अन्न, और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ (तै. २. १) यह सृष्टि पंचमहाभूतों के मिश्रण से बनती है । इसलिये इस मिश्रणक्रिया को वेदान्तग्रन्थों में 'पंचीकरण' कहते हैं । पंचीकरण का अर्थ "पंचमहाभूतों में से प्रत्येक का न्यूनाधिक भाग ले कर सब के मिश्रण से किसी नये पदार्थ का बनना" है । यह पंचीकरण, स्वभावतः अनेक प्रकार का हो सकता है । श्री समर्थ रामदासस्वामी ने अपने 'दासबोध' में जो वर्णन किया है, वह भी इसी बात को सिद्ध करता है । देखिये :--"काला, और सफ़ेद मिलाने से नीला बनता है, और काला और पीला मिलाने से हरा बनता है (दा. ९. ६. ४०) । पृथ्वी में अनन्त कोटि बीजों की जातियाँ होती हैं । पृथ्वी और पानी का मेल होने पर उन बीजों से अंकुर निकलते हैं । अनेक प्रकार की बेलें होती हैं, पत्र-पुष्प होते हैं, और अनेक प्रकार के स्वादिष्ट फल होते हैं ।

............अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, सब का बीज पृथ्वी और पानी है। यही सृष्टिरचना का अद्भुत चमत्कार है। इस प्रकार चार खानी, चार वाणी, चौरासी लाख* जीवयोनि, तीन लोक, पिण्ड, ब्रह्माण्ड सब निर्मित होते हैं" (दा. १३. ३. १०-१५)। परन्तु पञ्चीकरण से केवल जड़ पदार्थ अथवा जड़ शरीर ही उत्पन्न होते हैं। ध्यान रहे, कि जब इस जड़ देह का संयोग प्रथम सूक्ष्म इंद्रियोंसे और फिर आत्मा से अर्थात् पुरुष से होता है, तभी इस जड़ देह से सचेतन प्राणी हो सकता है।

यहाँ यह भी बतला देना चाहिये, कि उत्तर-वेदान्त-ग्रन्थों में वर्णित यह पञ्चीकरण प्राचीन उपनिषदों में नहीं है। छांदोग्योपनिषद् में पाँच तन्मात्राएँ या पाँच महाभूत नहीं माने गये हैं; किन्तु कहा है, कि 'तेज, आप, (पानी) और अन्न (पृथ्वी)' इन्हीं तीन सूक्ष्म मूलतत्त्वों के मिश्रण से अर्थात् 'त्रिवृत्करण' से सब विविध सृष्टि बनी है। और, श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है, कि "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां

---

* यह बात स्पष्ट है, कि चौरासी लाख योनियों की कल्पना पौराणिक है; और वह अंदाज़ से की गई है। तथापि, वह निरी निराधार भी नहीं है। उत्क्रांतितत्त्व के अनुसार पश्चिमी आधिभौतिकशास्त्री यह मानते हैं, कि सृष्टिके आरंभ के उपस्थित एक छोटे-से गोल सजीव सूक्ष्म गोल जन्तुसे, मनुष्य-प्राणी उत्पन्न हुआ। इस कल्पना से यह बात स्पष्ट है, कि सूक्ष्म गोल जन्तु का स्थूल गोल जन्तु बनने में, स्थूल जन्तु का पुनश्च छोटा कीडा होने में, छोटे कीड़े के बाद उसका अन्य प्राणी होने में, पृथक् योनि अर्थात् जात की अनेक पीढ़ियाँ बीत गई होंगी। इससे एक आंग्ल जीवशास्त्रज्ञने गणित के द्वारा सिद्ध किया है, कि पानी में रहनेवाली छोटी छोटी मछलियों के गुणधर्मों का विकास होते होते उन्हीं को मनुष्यस्वरूप प्राप्त होने में, भिन्न भिन्न जातियों की लगभग ५३ लाख ७५ हज़ार पीढ़ियाँ बीत चुकी हैं; और संभव है, कि इन पीढ़ियों की संख्या कदाचित् इससे दस गुणी भी हो। ये हुई पानी में रहनेवाले जलचरों से ले कर मनुष्य तक की योनियाँ। अब यदि इनमें ही छोटे जलचरों से पहले के सूक्ष्म जन्तुओं का समावेश कर दिया जाय, तो न मालूम कितने लाख पीढ़ियों की कल्पना करनी होगी! इससे मालूम हो जायगा, कि हमारे पुराणों में वर्णित चौरासी लाख योनियों की कल्पना की अपेक्षा, आधिभौतिक शास्त्रज्ञों के पुराणों में वर्णित पीढ़ियों की कल्पना कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी है। कल्पना-संबंधी यह न्याय काल (समय) को भी उपयुक्त हो सकता है। भूगर्भगत-जीव-शास्त्रज्ञों का कथन है, कि इस बात का स्थूलदृष्टि से निश्चय नहीं किया जा सकता, कि सजीवसृष्टि के सूक्ष्म जन्तु इस पृथ्वी पर कब उत्पन्न हुए। और सूक्ष्म जलचरों की उत्पत्ति तो कई करोड़ वर्षों के पहले हुई है। इस विषय का विवेचन The Last Link by Ernst Haeckel, with notes, etc. by Dr. H. Gadow (1898) नामक पुस्तक में किया गया है। डाक्टर गेडो ने इस पुस्तक में जो दो तीन उपयोगी परिशिष्ट जोड़े हैं, उनसे ही उपर्युक्त बातें ली गई

बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" (श्वेता. ४, ५) अर्थात् लाल (तेजोरूप), सफ़ेद (जलरूप) और काले (पृथ्वी रूप) रंगों की (अर्थात् तीन तत्त्वों की) एक अजा (बकरी) से नामरूपात्मक प्रजा (सृष्टि) उत्पन्न हुई। छांदोग्योपनिषद् के छठवें अध्याय में श्वेतकेतु और उसके पिता का संवाद है। संवाद के आरम्भ ही में श्वेतकेतु के पिता ने स्पष्ट कह दिया है, कि "अरे! इस जगत् के आरम्भ में 'एकमेवाद्वितीयं सत्' के अतिरिक्त—अर्थात् जहाँ तहाँ सब एक ही और नित्य परब्रह्म के अतिरिक्त—और कुछ भी नहीं था। जो असत् (अर्थात् नहीं है) उससे सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? अतएव, आदि में सर्वत्र सत् ही व्याप्त था। इसके बाद उसे अनेक अर्थात् विविध होने की इच्छा हुई और उससे क्रमशः सूक्ष्म तेज (अग्नि), आप (पानी) और अन्न (पृथ्वी) की उत्पत्ति हुई। पश्चात् इन तीन तत्त्वों में ही जीवरूप से परब्रह्म का प्रवेश होने पर उनके त्रिवृत्करण से जगत् की अनेक नामरूपात्मक वस्तुएँ निर्मित हुईं। स्थूल अग्नि, सूर्य, या विद्युल्लता की ज्योति में, जो लाल (लोहित) रंग है वह सूक्ष्म तेजोरूपी मूलतत्त्व का परिणाम है, जो सफ़ेद (शुक्ल) रंग है वह सूक्ष्म आप-तत्त्व का परिणाम है; और जो कृष्णकाला रंग है वह सूक्ष्म पृथ्वी—तत्त्व का परिणाम है। इसी प्रकार, मनुष्य जिस अन्न का सेवन करता है, उसमें भी सूक्ष्म तेज, सूक्ष्म आप और सूक्ष्म अन्न (पृथ्वी),—येही तीन तत्त्व होते हैं। जैसे दही को मथने से मक्खन ऊपर आ जाता है, वैसे ही उक्त तीन सूक्ष्म तत्त्वों से बना हुआ अन्न जब पेट में जाता है, तब उसमें से तेजतत्त्व के कारण मनुष्य के शरीर में स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म परिणाम—जिन्हें क्रमशः अस्थि, मज्जा, और वाणी कहते हैं—उत्पन्न हुआ करते हैं। इसी प्रकार आप अर्थात् जलतत्त्व से मूत्र, रक्त और प्राण; तथा अन्न अर्थात् पृथ्वीतत्त्व से पुरीष, मांस और मन ये तीन द्रव्य निर्मित होते हैं" (छां. ६. २–६)। छान्दोग्योपनिषद् की यही पद्धति वेदान्तसूत्रों (२. ४. २०) में भी कही गई है, कि मूल महाभूतों की संख्या पाँच नहीं, केवल तीन ही है; और उनके त्रिवृत्करण से सब दृश्यपदार्थों की उत्पत्ति भी मालूम की जा सकती है। बादरायणाचार्य तो पञ्चीकरण का नाम तक नहीं लेते। तथापि तैत्तिरीय (२.१), प्रश्न (४. ८), बृहदारण्यक (४. ४. ५) आदि अन्य उपनिषदों में, और विशेषतः श्वेताश्वतर (२. १२), वेदान्तसूत्र (२. ३. १–१४) तथा गीता (७. ४; १३. ५) में भी तीन के बदले पाँच महाभूतों का वर्णन है। गर्भोपनिषद् के आरम्भ ही में कहा है, कि मनुष्यदेह 'पञ्चात्मक' है; और महाभारत तथा पुराणों में तो पञ्चीकरण का स्पष्ट वर्णन ही किया गया है (म.भा. शां. १८४–१८६)। इससे यही सिद्ध होता है, कि यद्यपि त्रिवृत्करण प्राचीन है, तथापि जब महाभूतों की संख्या तीन के बदले पाँच मानी जाने लगी, तब त्रिवृत्करण के उदाहरण ही से पञ्चीकरण की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ; और त्रिवृत्करण पीछे रह गया। एवं अन्त में पञ्चीकरण की कल्पना सब वेदान्तियों को ग्राह्य हो गई। आगे चल कर इसी पञ्चीकरण शब्द के अर्थ में यह बात भी शामिल

हैं। हमारे पुराणों में चौरासी लाख योनियों की गिनती इस प्रकार की गई है:—९ लाख जलचर, १० लाख पक्षी, ११ लाख कृमि, २० लाख पशु, ३० लाख स्थावर और ४ लाख मनुष्य (दासबोध २०. ६ देखो)।

हो गई, कि मनुष्य का शरीर केवल पंचमहाभूतों से ही बना नहीं है; किन्तु उन पंचमहाभूतों में से हर एक पाँच प्रकार से शरीर में विभाजित भी हो गया है। उदाहरणार्थ, त्वक्, माँस, अस्थि, मज्जा और स्नायु ये पाँच विभाग अन्नमय पृथ्वीतत्त्व के हैं, इत्यादि (म. भा. शां. १८४. २०-२५; और दासबोध १७. ८ देखो)। प्रतीत होता है, कि यह कल्पना भी उपर्युक्त छान्दोग्योपनिषद् के त्रिवृत्करण के वर्णन से सूझ पड़ी है। क्योंकि वहाँ भी अन्तिम वर्णन यही है, कि 'तेज, आप और पृथ्वी' इन तीनों में से प्रत्येक, तीन तीन प्रकार से मनुष्य के देह में पाया जाता है।

इस बात का विवेचन हो चुका, कि मूलअव्यक्तप्रकृति से अथवा वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्म से अनेक नाम और रूप धारण करनेवाले सृष्टि के अचेतन अर्थात् निर्जीव या जड़ पदार्थ कैसे बने हैं। अब इसका विचार करना चाहिये, कि सृष्टि के सचेतन अर्थात् सजीव प्राणियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सांख्य-शास्त्र का विशेष कथन क्या है; और फिर यह देखना चाहिये, कि वेदान्तशास्त्र के सिद्धान्तों से उसका कहाँ तक मेल है। जब मूलप्रकृति से प्रादुर्भूत पृथ्वी आदि स्थूल पंचमहाभूतों का संयोग सूक्ष्म इन्द्रियों के साथ होता है, तब उससे सजीव प्राणियों का शरीर बनता है। परन्तु यद्यपि यह शरीर सेन्द्रिय हो, तथापि वह जड़ ही रहता है। इन इन्द्रियों को प्रेरित करनेवाला तत्त्व जड़प्रकृति से भिन्न होता है, जिसे 'पुरुष' कहते हैं। सांख्यों के इन सिद्धान्तों का वर्णन पिछले प्रकरण में किया जा चुका है, कि यद्यपि मूल में 'पुरुष' अकर्ता है, तथापि प्रकृति के साथ उसका संयोग होने पर सजीव सृष्टि का आरम्भ होता है; और "मैं प्रकृति से भिन्न हूँ;" यह ज्ञान हो जाने पर पुरुष का प्रकृति से संयोग छूट जाता है; तथा वह मुक्त हो जाता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो जन्म-मरण के चक्कर में उसे घूमना पड़ता है। परन्तु इस बात का विवेचन नहीं किया गया, कि जिस 'पुरुष' की मृत्यु प्रकृति और 'पुरुष' की भिन्नता का ज्ञान हुए बिना ही हो जाती है, उसको नये नये जन्म कैसे प्राप्त होते हैं। अतएव यहीं इसी विषय का कुछ अधिक विवेचन करना आवश्यक जान पड़ता है। यह स्पष्ट है, कि जो मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है, उसका आत्मा प्रकृति के चक्र से सदा के लिये छूट नहीं सकता। क्योंकि यदि ऐसा हो, तो ज्ञान अथवा पाप-पुण्य का कुछ भी महत्त्व नहीं रह जायगा। और फिर चार्वाक के मतानुसार यह कहना पड़ेगा, कि मृत्यु के बाद हर एक मनुष्य प्रकृति के फंदे से छूट जाता है--अर्थात् वह मोक्ष पा जाता है। अच्छा; यदि यह कहें, कि मृत्यु के बाद केवल आत्मा अर्थात् पुरुष बच जाता है; और वही स्वयं नये नये जन्म लिया करता है; तो यह मूलभूत सिद्धान्त--कि पुरुष अकर्ता और उदासीन है, और सब कर्तृत्व प्रकृति ही का है--मिथ्या प्रतीत होने लगता है। इसके सिवा जब हम यह मानते हैं, कि आत्मा स्वयं ही नये नये जन्म लिया करता है, तब वह उसका गुण या धर्म हो जाता है। और तब तो ऐसी अनवस्था

प्राप्त हो जाती है, कि वह जन्म-मरण के आवागमन से कभी छूट ही नहीं सकता। इसलिये यह सिद्ध होता है, कि यदि बिना ज्ञान प्राप्त किये कोई मनुष्य मर जाय, तो भी आगे नया जन्म प्राप्त करा देने के लिये उसके आत्मा से प्रकृति का संबंध अवश्य रहना ही चाहिये। मृत्यु के बाद स्थूल देह का नाश हो जाया करता है। इसलिये यह प्रगट है, कि अब उक्त सम्बन्ध स्थूल महाभूतात्मक प्रकृति के साथ नहीं रह सकता। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता, कि प्रकृति केवल स्थूल पंच-महाभूतों ही से बनी है। प्रकृति से कुल तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं; और स्थूल पञ्चमहाभूत उन तेईस तत्त्वों में से अन्तिम पाँच हैं। इन अन्तिम पाँच तत्त्वों (स्थूल पंचमहाभूतों) को तेईस तत्त्वों में से अलग करने पर १८ तत्त्व शेष रहते हैं। अतएव अब यह कहना चाहिये, कि जो पुरुष बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है; वह यद्यपि पंचमहाभूतात्मक स्थूल-शरीर से--अर्थात् अन्तिम पाँच तत्त्वों से--छूट जाता है, तथापि इस प्रकार की मृत्यु से प्रकृति के अन्य १८ तत्त्वों के साथ उसका सम्बन्ध कभी छूट नहीं सकता। वे अठारह तत्त्व ये हैं:—महान् (बुद्धि), अहं-कार, मन, दस इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ (इस प्रकरण में दिया गया ब्रह्माण्ड का वंशवृक्ष, पृष्ठ १७९ देखिये)। ये सब तत्त्व सूक्ष्म हैं। अतएव इन तत्त्वों के साथ पुरुष का संयोग स्थिर हो कर जो शरीर बनता है, उसे स्थूलशरीर के विरुद्ध सूक्ष्म अथवा लिंगशरीर कहते हैं (सां. का. ४०)। जब कोई मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है, तब मृत्यु के समय उसके आत्मा के साथ ही प्रकृति के उक्त १८ तत्त्वों से बना हुआ यह लिंगशरीर भी स्थूल देह से बाहर हो जाता है। और जबतक उस पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति हो नहीं जाती, तबतक उस लिंगशरीर ही के कारण उसको नये नये जन्म लेने पड़ते हैं। इस पर कुछ लोगों का यह प्रश्न है, कि मनुष्य की मृत्यु के बाद जीव के साथ साथ इस जड़ देह में बुद्धि, अहंकार, मन और दस इन्द्रियों के व्यापार भी, नष्ट होते हुए हमें प्रत्यक्ष में देख पड़ते हैं। इस कारण लिंग-शरीर में इन तेरह तत्त्वों का समावेश किया जाना तो उचित है; परन्तु इन तेरह तत्त्वों के साथ पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओं का भी समावेश लिंगशरीर में क्यों किया जाना चाहिये? इस पर सांख्यों का उत्तर यह है, कि ये तेरह तत्त्व--निरी बुद्धि, निरा अहंकार, मन और दस इन्द्रियाँ--प्रकृति के केवल गुण हैं। और, जिस तरह छाया को किसी-न-किसी पदार्थ का--तथा चित्र को दीवार, काग़ज़ आदि का--आश्रय आवश्यक है; उसी तरह इन गुणात्मक तेरह तत्त्वों को भी एकत्र रहने के लिये किसी द्रव्य के आश्रय की आवश्यकता होती है। अब आत्मा (पुरुष) स्वयं निर्गुण और अकर्ता है; इसलिये वह स्वयं किसी भी गुण का आश्रय हो नहीं सकता। मनुष्य की जीवितावस्था में उसके शरीर के स्थूलपंचमहाभूत ही इन तेरह तत्त्वों के आश्रयस्थान हुआ करते हैं। परन्तु, मृत्यु के बाद अर्थात् स्थूल-शरीर के नष्ट हो जाने पर स्थूलपंचमहाभूतों का यह आधार छूट जाता है। तब

उस अवस्था में, इन तेरह गुणात्मक तत्त्वों के लिये किसी अन्य द्रव्यात्मक आश्रय की आवश्यकता होती है। यदि मूलप्रकृति ही को आश्रय मान लें, तो वह अव्यक्त और अविकृत अवस्था की--अर्थात् अनंत और सर्वव्यापी होने के कारण--एक छोटे-से लिंगशरीर के अहंकार, बुद्धि आदि गुणों का आधार नहीं हो सकती। अतएव मूलप्रकृति के ही द्रव्यात्मक विकारों में से, स्थूल-पञ्चमहाभूतों के बदले उनके मूलभूत पाँच सूक्ष्म तन्मात्रद्रव्यों का समावेश उपर्युक्त तेरह गुणों के साथ-ही-साथ उनके आश्रयस्थान की दृष्टि से लिंगशरीर में करना पड़ता है (सां. का. ४१)। बहुतेरे सांख्य ग्रन्थकार, लिंगशरीर और स्थूलशरीर के बीच एक और तीसरे शरीर (पञ्चतन्मात्राओं से बने हुए) की कल्पना करके प्रतिपादन करते हैं, कि यह तीसरा शरीर लिंगशरीर का आधार है। परन्तु हमारा मत यह है, कि यह सांख्यकारिका की इकतालीसवीं आर्या का यथार्थ भाव वैसा नहीं है। टीकाकारों ने भ्रम से तीसरे शरीर की कल्पना की है। हमारे मतानुसार उस आर्या का उद्देश सिर्फ़ इस बात का कारण बतलाना ही है, कि बुद्धि आदि तेरह तत्त्वों के साथ पञ्चतन्मात्राओं का भी समावेश लिंगशरीर में क्यों किया गया। इसके अतिरिक्त अन्य कोई हेतु नहीं है *।

कुछ विचार करने से प्रतीत हो जायगा, कि सूक्ष्म अठारह तत्त्वों के सांख्योक्त लिंगशरीर में और उपनिषदों में वर्णित लिंगशरीर में विशेष भेद नहीं है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है, कि--"जिस प्रकार जोंक (जलायुका) घास के तिनके के एक छोर तक पहुँचने पर दूसरे तिनके पर (सामने के पैरों से) अपने शरीर का अग्रभाग रखती है; और फिर पहले तिनके पर से अपने शरीर के अंतिम भाग को खींच लेती है; उसी प्रकार आत्मा एक शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर में जाता है" (बृ. ४. ४. ३)। परन्तु केवल इस दृष्टांत से ये दोनों अनुमान सिद्ध नहीं होते, कि निरा आत्मा ही दूसरे शरीर में जाता है; और वह भी एक शरीर से छूटते ही चला जाता है। क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषद् (४. ४. ५) में आगे चल कर यह वर्णन किया गया है, कि आत्मा के साथ साथ पाँच (सूक्ष्म) भूत, मन, इन्द्रियाँ, प्राण और धर्माधर्म भी शरीर से बाहर निकल जाते हैं। और यह भी

---

* भट्ट कुमारिलकृत मीमांसाश्लोकवार्तिक ग्रंथ के एक श्लोक से (आत्मवाद, श्लोक ६२) देख पड़ेगा, कि उन्होंने इस आर्या का अर्थ हमारे अनुसार ही किया है। वह श्लोक यह है:--

अंतराभवदेहो हि नेष्यते विंध्यवासिना।
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किंचिदवगम्यते॥

"अंतराभव अर्थात् लिंगशरीर और स्थूलशरीर के बीचवाले शरीर से विंध्यवासी सहमत नहीं है। यह मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है कि उक्त प्रकार का कोई शरीर है।" ईश्वरकृष्ण विंध्याचल पर्वत पर रहता था; इसलिये उसको विंध्यवासी कहा है। अंतराभवशरीर को 'गंधर्व' भी कहते हैं--अमरकोश ३. ३. १३२ और उसपर श्री. कृष्णाजी गोविंद ओकद्वारा प्रकाशित क्षीरस्वामी की टीका तथा उस ग्रंथ की प्रस्तावना पृष्ठ ८ देखो।

कहा है, कि आत्मा को अपने कर्म के अनुसार भिन्न भिन्न लोक प्राप्त होते हैं। एवं वहाँ उसे कुछ काल पर्यंत निवास करना पड़ता है (बृ. ६. २. १४ और १५)। इसी प्रकार, छान्दोग्योपनिषद् में भी आप (पानी) मूलतत्त्व के साथ जीव की जिस गति का वर्णन किया गया है (छां. ५. ३. ३; ५. ६. १) उससे, और वेदान्तसूत्रों में उनके अर्थ का जो निर्णय किया गया है (वे. सू. ३. १. १–७) इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि लिंगशरीर में—पानी, तेज और अन्न—इन तीनों मूलतत्त्वों का समावेश किया जाना छान्दोग्योपनिषद् को भी अभिप्रेत है। सारांश यही देख पड़ता है, कि महदादि अठारह सूक्ष्मतत्त्वों से बने हुए सांख्यों के 'लिंगशरीर' में ही प्राण और धर्माधर्म अर्थात् कर्म को भी शामिल कर देने से वेदान्तमतानुसार लिंगशरीर हो जाता है। परन्तु सांख्यशास्त्र के अनुसार प्राण का समावेश ग्यारह इन्द्रियों की वृत्तियों में ही, और धर्म-अधर्म का समावेश बुद्धीन्द्रियों के व्यापार में ही हुआ करता है। अतएव उक्त भेद के विषय में यह कहा जा सकता है, कि वह केवल शाब्दिक है—वस्तुतः लिंगशरीर के घटकावयव के सम्बन्ध में वेदान्त और सांख्य-मतों में कुछ भी भेद नहीं है। इसी लिये मैत्र्युपनिषद् (६. १०) में "महदादि सूक्ष्मपर्यन्त" यह सांख्योक्त लिंगशरीर का लक्षण, "महदाद्यंविशेषांतं" इस पर्याय से ज्यों-का-त्यों रख दिया है *। भगवद्गीता (१५. ७) में पहले यह बतला कर, कि "मनःषष्ठानीन्द्रियाणि"—मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों ही का सूक्ष्म शरीर होता है—, आगे ऐसा वर्णन किया है "वायुर्गन्धानिवाशयात्" (१५. ८) —जिस प्रकार हवा फूलों की सुगन्ध को हर लेती है, उसी प्रकार जीव स्थूल-शरीर का त्याग करते समय इस लिंगशरीर को अपने साथ ले जाता है। तथापि, गीता में जो अध्यात्म-ज्ञान है, वह उपनिषदों ही में से लिया गया है। इसलिये कहा जा सकता है, कि 'मनसहित छः इन्द्रियाँ' इन शब्दों में ही पाँच कर्मेंद्रियाँ, पञ्चतन्मात्राएँ, प्राण और पाप-पुण्य का संग्रह भगवान् को अभिप्रेत है। मनुस्मृति (१२. १६, १७) में भी यह वर्णन किया गया है, कि मरने पर मनुष्य

* आनन्दाश्रम पूना से प्रकाशित द्वात्रिंशदुपनिषदों की पोथी मैत्र्युपनिषद् में उपर्युक्त मंत्र का "महदाद्यं विशेषान्तं" पाठ है; और उसी को टीकाकार ने भी माना है। यदि यह पाठ लिया जाय, तो लिंगशरीर में आरंभ महत्तत्त्व का समावेश करके विशेषान्त पद से सूचित विशेष अर्थात् पञ्चमहाभूतों को छोड़ देना पड़ता है। यानी, यह अर्थ करना पड़ता है, कि महदाद्यं में से महत् को ले लेना और विशेषान्तं में से विशेष को छोड़ देना चाहिये। परन्तु जहाँ आद्यन्त का उपयोग किया जाता है, वहाँ उन दोनों को लेना या दोनों को छोड़ना युक्त होता है। अतएव प्रो. डॉयसेन का कथन है, कि महादाद्यं पद के अन्तिम अक्षर का अनुस्वार निकालकर "महदाद्यविशेषान्तम्" (महदादि + अविशेषान्तम्) पाठ कर देना चाहिये। ऐसा करने पर अविशेष पद बन जाने से, महत् और अविशेष अर्थात् आदि और अंत दोनों को भी एक ही न्याय पर्याप्त होगा; और लिंगशरीर में दोनों का ही समावेश किया जा सकेगा। यही इस पाठ का विशेष गुण है। परन्तु स्मरण रहे, कि पाठ कोई भी लिया जाय, अर्थ में भेद नहीं पड़ता।

को, इस जन्म में किये हुए पाप-पुण्य का फल भोगने के लिये, पञ्चतन्मात्रात्मक सूक्ष्मशरीर प्राप्त होता है। गीता के "वायुर्गंधानिवाशयात्" इस दृष्टांत से केवल इतना ही सिद्ध होता है, कि यह शरीर सूक्ष्म है। परन्तु उससे यह नहीं मालूम होता, कि उसका आकार कितना बड़ा है। महाभारत के सावित्री-उपाख्यान में यह वर्णन पाया जाता है, कि सत्यवान् के (स्थूल) शरीर में से अँगूठे के बराबर एक पुरुष को यमराज ने बाहर निकाला–"अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्" (म.भा. वन. २९७. १६)। इससे प्रतीत होता है, कि दृष्टान्त के लिये ही क्यों न हो, लिंगशरीर अँगूठे के आकार का माना जाता था।

इस बात का विवेचन हो चुका, कि यद्यपि लिंगशरीर हमारे नेत्रों को गोचर नहीं है, तथापि उसका अस्तित्व किन अनुमानों से सिद्ध हो सकता है, और उस शरीर के घटकावयव कौन कौन-से हैं। परंतु केवल यह कह देना ही यथेष्ट प्रतीत नहीं होता, कि प्रकृति और पाँच स्थूल-महाभूतों के अतिरिक्त अठारह तत्त्वों के समुच्चय से लिंगशरीर निर्माण होता है। इसमें कोई संदेह नहीं, कि जहाँ जहाँ लिंगशरीर रहेगा, वहाँ वहाँ इन अठारह तत्त्वों का समुच्चय अपने अपने गुण-धर्म के अनुसार माता-पिता के स्थूलशरीर में से तथा आगे स्थूल-सृष्टि के अन्न से, हस्तपाद आदि स्थूल अवयव या स्थूल-इन्द्रियाँ उत्पन्न करेगा; अथवा उनका पोषण करेगा। परन्तु अब यह बतलाना चाहिये, कि अठारह तत्त्वों के समुच्चय से बना हुआ लिंगशरीर पशु, पक्षी, मनुष्य आदि भिन्न भिन्न देह क्यों उत्पन्न करता है। सजीव सृष्टि के सचेतन तत्त्व को सांख्यवादी 'पुरुष' कहते हैं; और सांख्यमतानुसार ये पुरुष चाहे असंख्य भी हों; तथापि प्रत्येक पुरुष स्वभावतः उदासीन तथा अकर्ता है। इसलिये पशु-पक्षी आदि प्राणिओं के भिन्न भिन्न शरीर उत्पन्न करने का कर्तृत्व पुरुष के हिस्से में नहीं आ सकता। वेदान्तशास्त्र में कहा है, कि पाप-पुण्य आदि कर्मों के परिणाम से ये भेद उत्पन्न हुआ करते हैं। इस कर्म-विपाक का विवेचन आगे चल कर किया जायगा। सांख्यशास्त्र के अनुसार कर्म को (पुरुष और प्रकृति से भिन्न) तीसरा तत्त्व नहीं मान सकते; और जब कि पुरुष उदासीन ही है, तब कहना पड़ता है, कि कर्म प्रकृति के सत्त्व-रज-तमोगुणों का ही विकार है। लिंगशरीर में जिन अठारह तत्त्वों का समुच्चय है, उनमें से बुद्धितत्त्व प्रधान है। इसका कारण यह है, कि बुद्धि ही से आगे अहंकार आदि सत्रह तत्त्व उत्पन्न होते हैं। अर्थात्, जिसे वेदान्त में कर्म कहते हैं, उसी को सांख्यशास्त्र में सत्त्व-रज-तम गुणों के न्यूनाधिक परिमाण से उत्पन्न होनेवाला बुद्धि का व्यापार धर्म या विकार कहते हैं। बुद्धि के इस धर्म का नाम 'भाव' है। सत्त्व-रज-तम गुणों के तारतम्य से ये 'भाव' कई प्रकार के हो जाते हैं। जिस प्रकार फूल में सुगंध तथा कपड़े में रंग लिपटा रहता है, उसी प्रकार लिंगशरीर में ये भाव भी लिपटे रहते हैं। (सां. का. ४०)। इन भावों के अनुसार, अथवा वेदान्त-परिभाषा से कर्म के अनुसार, लिंगशरीर नये नये

जन्म लिया करता है; और जन्म लेते समय, माता-पिताओं के शरीरों में से जिन द्रव्यों को वह आकर्षित किया करता है, उन द्रव्यों में भी दूसरे भाव आ जाया करते हैं । 'देवयोनि, मनुष्ययोनि, पशुयोनि तथा वृक्षयोनि' ये सब भेद इन भावों की समुच्चयता के ही परिणाम हैं (सां. का. ४३–५५) । इन सब भावों में सात्त्विक गुण का उत्कर्ष होने से जब मनुष्य को ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति होती है, और उसके कारण प्रकृति और पुरुष की भिन्नता समझ में आने लगती है, तब मनुष्य अपने मूलस्वरूप अर्थात् कैवल्यपद को पहुँच जाता है; और तब तक लिंगशरीर छूट जाता है । एवं मनुष्य के दुःखों का पूर्णतया निवारण हो जाता है । परन्तु प्रकृति और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान न होते हुए, यदि केवल सात्त्विक गुण ही का उत्कर्ष हो, तो लिंगशरीर देवयोनि में अर्थात् स्वर्ग में जन्म लेता है; रजोगुण की प्रबलता हो, तो मनुष्ययोनि में अर्थात् पृथ्वी पर पैदा होता है; और तमोगुण की अधिकता हो जाने से उसे तिर्यक्योनि में प्रवेश करना पड़ता है (गी. १४. १८) । "गुणा गुणेषु जायन्ते" इस तत्त्व के ही आधार पर सांख्यशास्त्र में वर्णन किया गया है, कि मानवयोनि में जन्म होने के बाद रेत-बिन्दु से क्रमानुसार कलल, बुद्बुद, मांस, पेशी और भिन्न भिन्न स्थूल इन्द्रियाँ कैसे बनती जाती हैं (सां. का. ४३; म. भा. शां. ३२०) । गर्भोपनिषद् का वर्णन प्रायः सांख्यशास्त्र के उक्त वर्णन के समान ही है । उपर्युक्त विवेचन से यह बात मालूम हो जायगी, कि सांख्यशास्त्र में 'भाव' शब्द का जो पारिभाषिक अर्थ बतलाया गया है, वह यद्यपि वेदान्तग्रन्थों में विवक्षित नहीं है, तथापि भगवद्गीता में (१०.४,५; ७.१२) "बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः" इत्यादि गुणों को (इसके आगे के श्लोक में) जो 'भाव' नाम दिया गया है वह प्रायः सांख्यशास्त्र की परिभाषा को सोच कर ही दिया गया होगा ।

इस प्रकार सांख्यशास्त्र के अनुसार मूलअव्यक्तप्रकृति से अथवा वेदान्त के अनुसार मूल सद्रूपी परब्रह्म से सृष्टि के सब सजीव और निर्जीव व्यक्त पदार्थ क्रमशः उत्पन्न हुए । और जब सृष्टि के संहार का समय आ पहुँचता है, तब सृष्टि-रचनाका जो गुणपरिणामक्रम ऊपर बतलाया गया है, ठीक इसके विरुद्ध क्रम से सब व्यक्त पदार्थ अव्यक्त प्रकृति में अथवा मूल ब्रह्म में लीन हो जाते हैं । यह सिद्धान्त सांख्य और वेदान्त दोनों शास्त्रों को मान्य है (वे. सू. २. ३. १४; म.भा. शां. २६२) । उदाहरणार्थ, पंचमहाभूतों में से पृथ्वी का लय पानी में, पानी का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का तन्मात्राओं में, तन्मात्राओं का अहंकार में, अहंकार का बुद्धि में, और बुद्धि या महान् का लय प्रकृति में हो जाता है; तथा वेदान्त के अनुसार प्रकृति का लय मूल ब्रह्म में हो जाता है । सांख्यकारिका में किसी स्थान पर यह नहीं बतलाया गया है, कि सृष्टि की उत्पत्ति या रचना हो जाने पर उसका लय तथा संहार होने तक बीच में कितना समय लग जाता है । तथापि, ऐसा प्रतीत होता है, कि मनुसंहिता (१. ६६–७३), भगवद्गीता (८. १७) तथा महाभारत

(शां. २३१) में वर्णित कालगणना सांख्यों को भी मान्य है। हमारा उत्तरायण देवताओं का दिन है और हमारा दक्षिणायन उनकी रात है। क्योंकि, स्मृतिग्रन्थों में और ज्योतिषशास्त्र की संहिता (सूर्यसिद्धान्त १. १३; १२. ३५, ६७) में भी यही वर्णन है, कि देवता मेरुपर्वत पर अर्थात् उत्तरध्रुव में रहते हैं। अर्थात् दो अयनों का हमारा एक वर्ष देवताओं के एक दिनरात के बराबर है; और हमारे ३६० वर्ष देवताओं के ३६० दिनरात अथवा एक वर्ष के बराबर हैं। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि हमारे चार युग हैं। युगों की कालगणना इस प्रकार है—कृतयुग में चार हज़ार वर्ष, त्रेतायुग में तीन हज़ार, द्वापर में दो हज़ार और कलि में एक हज़ार वर्ष। परन्तु एक युग समाप्त होते ही दूसरा युग एकदम आरम्भ नहीं हो जाता। बीच में दो युगों के संधिकाल में कुछ वर्ष बीत जाते हैं। इस प्रकार कृत-युग के आदि और अन्त में से प्रत्येक ओर चार सौ वर्ष का, त्रेतायुग के आगे और पीछे प्रत्येक ओर तीन सौ वर्ष का, द्वापर के पहले और बाद प्रत्येक ओर दो सौ वर्ष का, कलियुग के पूर्व तथा अनन्तर प्रत्येक ओर सौ वर्ष का सन्धिकाल होता है। सब मिला कर चारों युगों का आदिअन्तसहित संधिकाल दो हज़ार वर्ष का होता है। ये दो हज़ार वर्ष और पहले बतलाये हुए सांख्यमतानुसार चारों युगों के दस हज़ार वर्ष मिला कर कुल बारह हज़ार वर्ष होते हैं। ये बारह हज़ार वर्ष मनुष्यों के हैं या देवताओं के? यदि मनुष्यों के माने जायँ, तो कलियुग का आरम्भ हुए पाँच हज़ार वर्ष बीत चुकने के कारण यह कहना पड़ेगा, कि हज़ार मानवी वर्षों का कलियुग पूरा हो चुका। उसके बाद फिर से आनेवाला कृतयुग भी समाप्त हो गया; और हमने अब त्रेतायुग में प्रवेश किया है! यह विरोध मिटाने के लिये पुराणों में निश्चित किया है, कि ये बारह हज़ार वर्ष देवताओं के हैं। देव-ताओं के बारह हज़ार वर्ष, मनुष्यों के ३६० × १२००० = ४३२०,००० (तेतालीस लाख बीस हज़ार) वर्ष होते हैं। वर्तमान पंचाङ्गों का युग-परिमाण इसी पद्धति से निश्चित किया जाता है। (देवताओं के) बारह हज़ार वर्ष मिल कर मनुष्यों का एक महायुग या देवताओं का युग होता है। देवताओं के इकहत्तर युगों को एक मन्वंतर कहते हैं; और ऐसे मन्वंतर चौदह हैं। परन्तु पहले मन्वंतर के आरम्भ तथा अन्त में, और आगे चल कर प्रत्येक मन्वंतर के अखीर में दोनों ओर कृतयुग की बराबरी के एक एक ऐसे १५ सन्धिकाल होते हैं। ये पंद्रह संधिकाल और चौदह मन्वंतर मिल कर देवताओं के एक हज़ार युग अथवा ब्रह्मदेव का एक दिन होता है (सूर्यसिद्धान्त १. १५–२०) ; और मनुस्मृति तथा महाभारत में लिखा है, कि ऐसे ही हज़ार युग मिल कर ब्रह्मदेव की एक रात होती है (मनु. १. ६९–७३ और ७९; म.भा. शां.२३१. १८–३१; और यास्क का निरुक्त १४. ९ देखो)। इस गणना के अनुसार ब्रह्मदेव का एक दिन मनुष्यों के चार अरब बतीस करोड़ वर्ष के बराबर होता है; और इसी का नाम है कल्प*। भगव-

* ज्योतिःशास्त्र के आधार पर युगादिगणना का विचार स्वर्गीय शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' नामक [मराठी] ग्रंथ में किया है, पृ. १०३–१०५; १९३ इ. देखो।

द्गीता (८. १८ और ९. ७) में कहा है, कि जब ब्रह्मदेव के इस दिन अर्थात् कल्प का आरम्भ होता है तब :—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवंत्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयंते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

"अव्यक्त से सृष्टि के सब पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं; और जब ब्रह्मदेव की रात्रि आरम्भ होती है तब सब व्यक्त पदार्थ पुनश्च अव्यक्त में लीन हो जाते हैं।" स्मृतिग्रन्थ और महाभारत में भी यही बतलाया है । इसके अतिरिक्त पुराणों में अन्य प्रलयों का भी वर्णन है; परन्तु इन प्रलयों में सूर्य-चन्द्र आदि सारी सृष्टि का नाश नहीं हो जाता; इसलिये ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और संहार का विवेचन करते समय इनका विचार नहीं किया जाता । कल्प ब्रह्मदेव का एक दिन अथवा रात्रि है; और ऐसे ३६० दिन तथा ३६० रात्रियाँ मिल कर ब्रह्मदेव का एक वर्ष होता है। इसी से पुराणादिकों (विष्णुपुराण १. ३) में यह वर्णन पाया जाता है, कि ब्रह्मदेव की आयु उनके सौ वर्ष की है । उसमें से आधी बीत गई । शेष आयु के अर्थात् इक्यावनवें वर्ष के पहले दिन का अथवा श्वेतवाराह नामक कल्प का अब आरम्भ हुआ है; और इस कल्प के चौदह मन्वन्तरों में से छः मन्वन्तर बीत चुके, तथा सातवें (अर्थात् वैवस्वत) मन्वतर के ७१ महायुगों में से २७ महायुग पूरे हो गये । एवं अब २८ वें महायुग के कलियुग का प्रथम चरण अर्थात् चतुर्थ भाग जारी है । संवत् १९५६ (शक १८२१) में इस कलियुग के ठीक ५००० वर्ष बीत चुके । इस प्रकार गणित करने से मालूम होगा, कि इस कलियुग का प्रलय होने के लिये संवत् १९५६ में मनुष्य के ३ लाख ९१ हज़ार वर्ष शेष थे; फिर वर्तमान मन्वन्तर के अन्त में अथवा वर्तमान कल्प के अन्त में होनेवाले महाप्रलय की बात ही क्या ! मानवी चार अब्ज बत्तीस करोड़ वर्ष का जो ब्रह्मदेव का दिन इस समय जारी है, उसका पूरा मध्यान्ह भी नहीं हुआ । अर्थात् सात मन्वन्तर भी अब तक नहीं बीते हैं ।

सृष्टि की रचना और संहार का जो अब तक विवेचन किया गया वह वेदान्त के—और परब्रह्म को छोड़ देने से सांख्यशास्त्र के तत्त्वज्ञान के—आधार पर किया गया है । इसलिये सृष्टि के उत्पत्तिक्रम की इसी परम्परा को हमारे शास्त्रकार सदैव प्रमाण मानते हैं; और यही क्रम भगवद्गीता में भी दिया हुआ है । इस प्रकरण के आरम्भ ही में बतला दिया गया है, कि सृष्ट्युत्पत्तिक्रम के बारे में कुछ भिन्न भिन्न विचार पाये जाते हैं । जैसेः श्रुतिस्मृतिपुराणों में कहीं कहीं कहा है, कि प्रथम ब्रह्मदेव या हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ; अथवा पहले पानी उत्पन्न हुआ और उसमें परमेश्वर के बीज से एक सुवर्णमय अण्डा निर्मित हुआ । परन्तु इन सब विचारों को गौण तथा उपलक्षणात्मक समझ कर जब उनकी उपपत्ति बतलाने का समय आता है तब यही कहा जाता है, कि हिरण्यगर्भ अथवा ब्रह्मदेव ही प्रकृति है । भगवद्गीता (१४. ३) में त्रिगुणात्मक प्रकृति ही को ब्रह्म कहा है "मम योनिर्महत्

ब्रह्म" और भगवान् ने यह भी कहा है, कि हमारे बीज से इस प्रकृति में त्रिगुणों के द्वारा अनेक मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं। अन्य स्थानों में ऐसा वर्णन है, कि ब्रह्मदेव से आरम्भ में दक्षप्रभृति सात मानसपुत्र अथवा मनु उत्पन्न हुए; और उन्होंने आगे सब चराचर सृष्टि को निर्माण किया (म. भा. आ. ६५–६७; म.भा. शां. २०. ७; मनु. १. ३४-६३); और इसी का गीता में भी एक बार उल्लेख किया गया है (गी. १०. ६)। परन्तु, वेदान्तग्रन्थ यह प्रतिपादन करते हैं, कि इन सब भिन्न भिन्न वर्णनों में ब्रह्मदेव को ही प्रकृति मान लेने से उपर्युक्त तात्त्विक सृष्ट्युत्पत्तिक्रम से मेल हो जाता है; और यही न्याय अन्य स्थानों में भी उपयोगी हो सकता है। उदाहरणार्थ, शैव तथा पाशुपत दर्शनों में शिव को निमित्तकारण मान कर यह कहते हैं, कि उसी से कार्यकारणादि पाँच पदार्थ उत्पन्न हुए; और नारायणीय या भागवत-धर्म में वासुदेव को प्रधान मान कर यह वर्णन किया है, कि पहले वासुदेव से संकर्षण (जीव) हुआ, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन), और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) उत्पन्न हुआ। परन्तु वेदान्तशास्त्र के अनुसार जीव प्रत्येक समय नये सिरे से उत्पन्न नहीं होता। वह नित्य और सनातन परमेश्वर का नित्य––अतएव अनादि ––अंश है। इसलिये वेदान्तसूत्र के दूसरे अध्यायके दूसरे पाद (वे. सू. २. २. ४२–४५) में, भागवतधर्म में वर्णित जीव के उत्पत्तिविषयक उपर्युक्त मत का खंडन करके कहा है, कि वह मत वेदविरुद्ध अतएव त्याज्य है। गीता (१३. ४; १५. ७) में वेदान्त-सूत्रों के इसी सिद्धान्त का अनुवाद किया गया है। इसी प्रकार, सांख्यवादी प्रकृति और पुरुष दोनों को स्वतंत्र तत्त्व मानते हैं; परन्तु इस द्वैत को स्वीकार न कर वेदान्तियों ने यह सिद्धान्त किया है, कि प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्व एक ही नित्य और निर्गुण परमात्मा की विभूतियाँ हैं। यही सिद्धान्त भगवद्गीता को भी ग्राह्य है (गी. ९. १०); परन्तु इस का विस्तारपूर्वक विवेचन अगले प्रकरण में किया जायगा। यहाँ पर केवल इतना ही बतलाया है, कि भागवत या नारायणीयधर्म में वर्णित वासुदेवभक्ति का और प्रकृतिप्रधानधर्म का तत्त्व यद्यपि भगवद्गीता को मान्य है, तथापि गीता भागवतधर्म की इस कल्पना से सहमत नहीं है, कि पहले वासुदेव से संकर्षण या जीव उत्पन्न हुआ; और उससे आगे प्रद्युम्न (मन) तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) का प्रादुर्भाव हुआ। संकर्षण, प्रद्युम्न या अनिरुद्ध का नाम तक गीता में नहीं पाया जाता। पाञ्चरात्र में बतलाये हुए भागवतधर्म में तथा गीता-प्रतिपादित भागवतधर्म में यही तो महत्त्व का भेद है। इस बात का उल्लेख यहाँ जान बूझ कर किया गया है। क्योंकि केवल इतने ही से––कि "भगवद्गीता में भागवतधर्म बतलाया गया है," कोई यह न समझ लें, कि सृष्ट्युत्पत्तिक्रमविषयक अथवा जीवपरमेश्वरस्वरूपविषयक भागवत आदि भक्तिसम्प्रदाय के मत भी गीता को मान्य हैं। अब इस बात का विचार किया जायगा, कि सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृति और पुरुष के भी परे सब व्यक्ताव्यक्त तथा क्षराक्षर जगत् के मूल में कोई दूसरा तत्त्व है या नहीं। इसी को अध्यात्म या वेदान्त कहते हैं।

नौवाँ प्रकरण ।

अध्यात्म ।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ *

गीता ८. २० ।

पिछले दो प्रकरणों का सारांश यही है, कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार में जिसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं उसी को सांख्यशास्त्र में पुरुष कहते हैं । सब क्षर-अक्षर या चर-अचर सृष्टि के संहार और उत्पत्ति का विचार करने पर सांख्यमत के अनुसार अन्त में केवल प्रकृति और पुरुष ये ही दो स्वतन्त्र तथा अनादि मूलतत्त्व रह जाते हैं; और पुरुष को अपने सारे क्लेशों की निवृत्ति कर लेने तथा मोक्षानन्द प्राप्त कर लेने के लिये प्रकृति से अपना भिन्नत्व अर्थात् कैवल्य जान कर त्रिगुणातीत होना चाहिये । प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर प्रकृति अपना खेल पुरुष के सामने किस प्रकार खेला करती है, इस विषय का क्रम अर्वाचीन सृष्टिशास्त्रवेत्ताओं ने सांख्यशास्त्र से कुछ निराला बतलाया है; और सम्भव है, कि आगे आधिभौतिक शास्त्रों की ज्यों ज्यों उन्नति होगी, त्यों त्यों इस क्रम में और भी सुधार होते जावेंगे । जो हो; इस मूलसिद्धान्त में कभी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ सकता, कि केवल एक अव्यक्त प्रकृति से ही सारे व्यक्त पदार्थ गुणोत्कर्ष के अनुसार क्रम क्रम से निर्मित होते गये हैं । परन्तु वेदान्तकेसरी इस विषय को अपना नहीं समझता—यह अन्य शास्त्रों का विषय है; इसलिये वह इस विषय पर वादविवाद भी नहीं करता । वह इन सब शास्त्रों से आगे बढ़ कर यह बतलाने के लिये प्रवृत्त हुआ है, कि पिण्डब्रह्माण्ड की भी जड़ में कौन-सा श्रेष्ठ तत्त्व है; और मनुष्य उस श्रेष्ठ तत्त्व में कैसे मिला जा सकता है—अर्थात् तद्रूप कैसे हो सकता है । वेदान्त-केसरी अपने इस विषयप्रवेश में और किसी शास्त्र की गर्जना नहीं होने देता । सिंह के आगे गीदड़ की भाँति वेदान्त के सामने सारे शास्त्र चुप हो जाते हैं । अतएव किसी पुराने सुभाषितकार ने वेदान्त का यथार्थ वर्णन यों किया है :—

तावत् गर्जन्ति शास्त्राणि जंबुका विपिने यथा ।
न गर्जति महाशक्तिः यावद्वेदान्तकेसरी ॥

सांख्यशास्त्र का कथन है, कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार करने पर निष्पन्न होनेवाला

---

* " जो दूसरा अव्यक्त पदार्थ (सांख्य) अव्यक्त से भी श्रेष्ठ तथा सनातन है; और प्राणियों का नाश हो जाने पर भी जिसका नाश नहीं होता, " वही अंतिम गति है ।

'द्रष्टा' अर्थात् पुरुष या आत्मा, और क्षर-अक्षर-सृष्टि का विचार करने पर निष्पन्न होनेवाली सत्त्व-रज-तम-गुणमयी अव्यक्त प्रकृति, ये दोनों स्वतंत्र हैं; और इस प्रकार जगत् के मूलतत्त्व को द्विधा मानना आवश्यक है। परन्तु वेदान्त इसके आगे जा कर यों कहता है, कि सांख्य के 'पुरुष' निर्गुण भले ही हों; तो भी वे असंख्य हैं। इसलिये यह मान लेना उचित नहीं, कि इन असंख्य पुरुषों का लाभ जिस बात में हो, उसे जान कर प्रत्येक पुरुष के साथ तदनुसार बर्ताव करने का सामर्थ्य प्रकृति में है। ऐसा मानने की अपेक्षा सात्त्विक तत्त्वज्ञान की दृष्टि से तो यही अधिक युक्तिसंगत होगा, कि उस एकीकरण की ज्ञान-क्रिया का अन्त तक निरपवाद उपयोग किया जावे; और प्रकृति तथा असंख्य पुरुषों का एक ही परमतत्त्व में अविभक्तरूप से समावेश किया जावे; जो "अविभक्तं विभक्तेषु" के अनुसार नीचे से ऊपर तक की श्रेणियों में देख पड़ती है; और जिसकी सहायता से ही सृष्टि के अनेक व्यक्त पदार्थों का एक अव्यक्त प्रकृति में समावेश किया जाता है (गी. १८. २०-२२)। भिन्नता का भास होना अहंकार का परिणाम है; और पुरुष यदि निर्गुण है, तो असंख्य पुरुषों के अलग अलग रहने का गुण उसमें रह नहीं सकता। अथवा यह कहना पड़ता है, कि वस्तुतः पुरुष असंख्य नहीं हैं। केवल प्रकृति की अहंकार-गुणरूपी उपाधि से उनमें अनेकता देख पड़ती है। दूसरा एक प्रश्न यह उठता है, कि स्वतंत्र प्रकृति का स्वतंत्र पुरुष के साथ जो संयोग हुआ है, वह सत्य है या मिथ्या? यदि सत्य मानें, तो वह संयोग कभी भी छूट नहीं सकता। अतएव सांख्य-मतानुसार आत्मा को मुक्ति कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती। यदि मिथ्या मानें, तो यह सिद्धान्त ही निर्मूल या निराधार हो जाता है, कि पुरुष के संयोग से प्रकृति अपना खेल उसके आगे खेला करती है। और यह दृष्टांत भी ठीक नहीं, कि जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के लिये दूध देती है, उसी प्रकार पुरुष के लाभ के लिये प्रकृति सदा कार्यतत्पर रहती है। क्योंकि, बछड़ा गाय के पेट से ही पैदा होता है। इसलिये उस पर पुत्रवात्सल्य के प्रेम का उदाहरण जैसा संगठित होता है, वैसा प्रकृति और पुरुष के विषय में नहीं कहा जा सकता (वे.सू. शां. भा. २. २. ३)। सांख्यमत के अनुसार प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्व अत्यंत भिन्न हैं--एक जड़ है, दूसरा सचेतन। अच्छा; जब ये दोनों पदार्थ सृष्टि के उत्पत्तिकाल से ही एक दूसरे से अत्यंत भिन्न और स्वतंत्र हैं, तो फिर एक की प्रवृत्ति दूसरे के फायदे ही के लिये क्यों होनी चाहिये? यह तो कोई समाधानकारक उत्तर नहीं, कि उनका स्वभाव ही वैसा है। स्वभाव ही मानना हो, तो फिर हेकेल का जड़ाद्वैतवाद क्यों बुरा है? हेकेल का भी सिद्धान्त यही है न, कि मूलप्रकृति के गुणों की वृद्धि होते होते उसी प्रकृति में अपने आप को देखने की और स्वयं अपने विषय में विचार करने की चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है--अर्थात् यह प्रकृति का स्वभाव ही है। परन्तु इस मत को स्वीकार न कर सांख्यशास्त्र ने यह भेद किया है, कि 'द्रष्टा' अलग है; और 'दृश्यसृष्टि' अलग है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि

सांख्यवादी जिस न्याय का अवलम्बन कर 'द्रष्टा पुरुष' और 'दृश्यसृष्टि' में भेद बतलाते हैं, उसी न्याय का उपयोग करते हुए और आगे क्यों न चलें? दृश्यसृष्टि की कोई कितनी ही सूक्ष्मता से परीक्षा करें; और यह जान लें, कि जिन नेत्रों से हम पदार्थों को देखते-परखते हैं, उनके मज्जातंतुओं में अमुक अमुक गुण-धर्म हैं। तथापि इन सब बातों को जाननेवाला या 'द्रष्टा' भिन्न रह ही जाता है। क्या इस 'द्रष्टा' के विषय में—जो 'दृश्यसृष्टि' से भिन्न है—विचार करने के लिये कोई साधन या उपाय नहीं है? और यह जानने के लिये भी कोई मार्ग है या नहीं, कि इस दृश्यसृष्टि का सच्चा स्वरूप जैसा हम अपनी इंद्रियों से देखते हैं वैसा ही है; या उससे भिन्न है? सांख्यवादी कहते हैं, कि इन प्रश्नों का निर्णय होना असम्भव है। अतएव यह मान लेना पड़ता है, कि प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्व मूल ही में स्वतंत्र और भिन्न हैं। यदि केवल आधिभौतिक शास्त्रों की प्रणाली से विचार कर देखें, तो सांख्यवादियों का मत अनुचित नहीं कहा जा सकता। कारण यह है, कि सृष्टि के अन्य पदार्थों को जैसे हम अपनी इन्द्रियों से देखभाल कर उनके गुण-धर्मों का विचार करते हैं, वैसे यह 'द्रष्टा पुरुष' या देखनेवाला—अर्थात् जिसे वेदान्त में 'आत्मा' कहा है, वह—द्रष्टाकी (अर्थात् अपनी ही) इंद्रियों को भिन्न रूप से कभी गोचर नहीं हो सकता। और जिस पदार्थ का इस प्रकार इन्द्रियगोचर होना असम्भव है, यानी जो वस्तु इन्द्रियातीत है, उसकी परीक्षा मानवी इन्द्रियों से कैसे हो सकती है? उस आत्मा का वर्णन भगवान् ने गीता (२. २३) में इस प्रकार किया है:—

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

अर्थात्, आत्मा ऐसा कोई पदार्थ नहीं, कि यदि हम सृष्टि के अन्य पदार्थों के समान उस पर तेजाब आदि द्रव पदार्थ डालें, तो उसका द्रवरूप हो जाय; अथवा प्रयोगशाला के पैने शस्त्रों से काट-छाँट कर उसका आन्तरिक स्वरूप देख लें, या आग पर धर देने से उसका धुआँ हो जाय, अथवा हवा में रखने से वह सूख जाय! सारांश, सृष्टि के पदार्थों की परीक्षा करने के आधिभौतिक शास्त्रवेत्ताओं ने जितने कुछ उपाय ढूँढे हैं, वे सब यहाँ निष्फल हो जाते हैं। तब सहज ही प्रश्न उठता है, कि फिर 'आत्मा' की परीक्षा हो कैसे? प्रश्न है तो बिकट; पर विचार करने से कुछ कठिनाई देख नहीं पड़ती। भला, सांख्यवादियोंने भी 'पुरुष' को निर्गुण और स्वतंत्र कैसे जाना? केवल अपने अंतःकरण के अनुभव से ही तो जाना है न? फिर उसी रीति का उपयोग प्रकृति और पुरुष के सच्चे स्वरूप का निर्णय करने के लिये क्यों न किया जावें? आधिभौतिकशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र में जो बड़ा भारी भेद है, वह यही है। आधिभौतिकशास्त्रों के विषय इंद्रियगोचर होते हैं; और अध्यात्मशास्त्र का विषय इन्द्रियातीत अर्थात् केवल स्वसंवेद्य है; यानी अपने आप ही जानने योग्य है। कोई यह कहें, कि यदि 'आत्मा' स्वसंवेद्य है, तो प्रत्येक

मनुष्य को उसके विषय में जैसा ज्ञान होवे, वैसा होने दो; फिर अध्यात्मशास्त्र की आवश्यकता ही क्या है ? हाँ; यदि प्रत्येक मनुष्य का मत या अन्तःकरण समान रूप से शुद्ध हो, तो फिर यह प्रश्न ठीक होगा। परन्तु जब कि अपना यह प्रत्यक्ष अनुभव है, कि सब लोगों के मन या अन्तःकरण की शुद्धि और शक्ति एक-सी नहीं होती, तब जिन लोगों के मन अत्यंत शुद्ध, पवित्र और विशाल हो गये हैं, उन्हीं की प्रतीति इस विषय में हमारे लिये प्रमाणभूत होनी चाहिये। यों ही 'मुझे ऐसा मालूम होता है' और 'तुझे ऐसा मालूम होता है' कह कर निरर्थक वाद करने से कोई लाभ न होगा। वेदान्तशास्त्र तुमको युक्तियों का उपयोग करने से बिलकुल नहीं रोकता। वह सिर्फ़ यही कहता है, कि इस विषय में निरी युक्तियाँ वहीं तक मानी जावेंगी, जहाँ तक कि इन युक्तियों से अत्यंत विशाल, पवित्र और निर्मल अन्तःकरणवाले महात्माओं के इस विषयसम्बन्धी साक्षात् अनुभव का विरोध न होता हो। क्योंकि अध्यात्मशास्त्र का विषय स्वसंवेद्य है--अर्थात् केवल आधिभौतिक युक्तियों से उसका निर्णय नहीं हो सकता। जिस प्रकार आधिभौतिकशास्त्रों में वे अनुभव त्याज्य माने जाते हैं, कि जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध हों; उसी प्रकार वेदान्तशास्त्र में युक्तियों की अपेक्षा उपर्युक्त स्वानुभव की (अर्थात् आत्म-प्रतीति की) योग्यता ही अधिक मानी जाती है। जो युक्ति इस अनुभव के अनुकूल हो, उसे वेदान्ती अवश्य मानते हैं। श्रीमान् शंकराचार्य ने अपने वेदान्तसूत्रों के भाष्य में यही सिद्धान्त दिया है। अध्यात्मशास्त्र का अभ्यास करनेवालों को इस पर हमेशा ध्यान रखना चाहिये --

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

"जो पदार्थ इन्द्रियातीत हैं; और इसी लिये जिनका चिन्तन नहीं किया जा सकता, उनका निर्णय केवल तर्क या अनुमान से ही नहीं कर लेना चाहिये। सारी सृष्टि की मूलप्रकृति से भी परे जो पदार्थ है, वह इस प्रकार अचिंत्य है"--यह एक पुराना श्लोक है, जो महाभारत में (भीष्म. ५. १२) में पाया जाता है; और जो श्रीशंकराचार्य के वेदान्तभाष्य में भी 'साधयेत्' के स्थान पर 'योजयेत्' के पाठ-भेद से पाया जाता है (वे.सू. शां. भा. २. १. २७)। मुंडक और कठोपनिषद् में भी लिखा है, कि आत्मज्ञान केवल तर्क ही से नहीं प्राप्त हो सकता (मुं. ३. २, ३; कठ. २. ८, ९ और २२)। अध्यात्मशास्त्र में उपनिषद्-ग्रन्थों का विशेष महत्त्व भी इसी लिये है। मन को एकाग्र करने के उपायों के विषय में प्राचीन काल में हमारे हिंदुस्थान में बहुत चर्चा हो चुकी है; और अन्त में इस विषय पर (पातञ्जल) योगशास्त्र नामक एक स्वतंत्र शास्त्र ही निर्मित हो गया है। जो बड़े बड़े ऋषि इस योगशास्त्र में अत्यन्त प्रवीण थे, तथा जिनके मन स्वभाव ही से अत्यंत पवित्र और विशाल थे, उन महात्माओं ने मन को अन्तर्मुख करके आत्मा के स्वरूप और विषय में जो अनुभव प्राप्त किया--अथवा आत्मा के स्वरूप के विषय में उनकी

शुद्ध और शान्त, बुद्धि में जो स्फूर्ति हुई--उसी का वर्णन उन्होंने उपनिषद्-ग्रन्थों में किया है। इसलिये किसी भी अध्यात्म-तत्त्व का निर्णय करने में, इन श्रुतिग्रन्थों में कहे गये अनुभविक ज्ञान का सहारा लेने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है (कठ. ४. १)। मनुष्य केवल अपनी बुद्धि की तीव्रता से उक्त आत्मप्रतीति की पोषक भिन्न भिन्न युक्तियाँ बतला सकेगा; परन्तु इससे उस मूल प्रतीति की प्रामाणिकता में रत्ती भर भी न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। भगवद्गीता की गणना स्मृतिग्रन्थों में की जाती है सही; परन्तु पहले प्रकरण के आरम्भ ही में हम कह चुके हैं, कि इस विषय में गीता की योग्यता उपनिषदों की बराबरी की मानी जाती है। अतएव इस प्रकरण में अब आगे चल कर पहले सिर्फ़ यह बतलाया जायगा, कि प्रकृति के परे जो अचिंत्य पदार्थ है, उसके विषय में गीता और उपनिषदों में कौन कौन-से सिद्धान्त किये गये हैं; और उनके कारणों का (अर्थात् शास्त्ररीति से उनकी उपपत्ति का) विचार पीछे किया जायगा।

सांख्यवादियों का द्वैत --प्रकृति और पुरुष--भगवद्गीता को मान्य नहीं है। भगवद्गीता के अध्यात्मज्ञान का और वेदान्तशास्त्र का भी पहला सिद्धान्त यह है, कि प्रकृति और पुरुष से भी परे एक सर्वव्यापक, अव्यक्त और अमृत तत्त्व है, जो चर-अचर सृष्टि का मूल है। सांख्यों की प्रकृति यद्यपि अव्यक्त है, तथापि वह त्रिगुणात्मक अर्थात् सगुण है। परन्तु प्रकृति और पुरुष का विचार करते समय भगवद्गीताके आठवें अध्याय के बीसवें श्लोक में (इस प्रकरण के आरम्भ में ही यह श्लोक दिया गया है) कहा है, कि जो सगुण है वह नाशवान् है; इसलिये इस अव्यक्त और सगुण प्रकृति का भी नाश हो जाने पर अंत में जो कुछ अव्यक्त शेष रह जाता है, वही सारी सृष्टिका सच्चा और नित्य तत्त्व है। और आगे पन्द्रहवें अध्याय में (१५. १७) क्षर और अक्षर--व्यक्त और अव्यक्त--इस भाँति सांख्यशास्त्र के अनुसार दो तत्त्व बतला कर यह वर्णन किया है :--

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

अर्थात्, जो इन दोनों से भी भिन्न है, वही उत्तम पुरुष है; उसी को परमात्मा कहते हैं; वही अव्यय और सर्वशक्तिमान् है; और वही तीनों लोकों में व्याप्त हो कर उनकी रक्षा करता है। यह पुरुष क्षर और अक्षर (अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त) इन दोनों से भी परे है। इसलिये इसे 'पुरुषोत्तम' कहा है (गी. १५. १८)। महाभारत में भी भृगु ऋषि ने भरद्वाज से 'परमात्मा' शब्दकी व्याख्या बतलाते हुए कहा है :--

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥

अर्थात् "जब आत्मा प्रकृति में या शरीर में बद्ध रहता है, तब उसे क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा कहते हैं; और वही प्राकृत गुणों से यानी प्रकृति या शरीर के गुणों से

मुक्त होने पर 'परमात्मा' कहलाता है" (म. भा. शां. १८७. २४)। सम्भव है, कि 'परमात्मा' की उपर्युक्त दो व्याख्याएँ भिन्न भिन्न जान पड़ें; परन्तु वस्तुतः वे भिन्न भिन्न हैं नहीं। क्षर-अक्षर-सृष्टि और जीव (अथवा सांख्यशास्त्र के अनुसार अव्यक्त प्रकृति और पुरुष) इन दोनों से भी परे एक ही परमात्मा है। इसलिये भी कहा जाता है, कि वह क्षर-अक्षर के परे है; और कभी कहा जाता है, कि वह जीव के या जीवात्मा के (पुरुष के) परे है--एवं एक ही परमात्मा की ऐसी द्विविध व्याख्याएँ कहने में वस्तुतः कोई भिन्नता नहीं हो जाती। इसी अभिप्राय को मन में रख कर कालिदास ने भी कुमारसम्भव में परमेश्वर का वर्णन इस प्रकार किया है--("पुरुष के लाभ के लिये उद्युक्त होनेवाली प्रकृति भी तू ही है; और स्वयं उदासीन रह कर उस प्रकृति का द्रष्टा भी तू ही है" (कुमा. २. १३)। इसी भाँति गीता में भगवान् कहते हैं, कि "मम योनिर्महद्ब्रह्म" यह प्रकृति मेरी योनि या मेरा एक स्वरूप है (१४. ३) और जीव या आत्मा भी मेरा ही अंश है (१५. ७)। सातवें अध्याय में भी कहा गया है --

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अर्थात् "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार--इस तरह आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है; और इसके सिवा (अपरेयमितस्त्वन्यां) सारे संसार का धारण जिसने किया है, वह जीव भी मेरी ही दूसरी प्रकृति है" (गी.७. ४, ५)। महाभारत के शान्तिपर्व में सांख्यों के पच्चीस तत्त्वों का कई स्थलों पर विवेचन है; परन्तु वहीं यह भी कह दिया गया है, कि इन पच्चीस तत्त्वों के परे एक छब्बीसवाँ (षड्विंश) परमतत्त्व है; जिसे पहचाने बिना मनुष्य 'बुद्ध' नहीं हो सकता (शां. ३०८)। सृष्टि के पदार्थों का जो ज्ञान हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियों से होता है, वही हमारी सारी सृष्टि है। अतएव प्रकृति या सृष्टि ही को कई स्थानों पर 'ज्ञान' कहा है; और इसी दृष्टि से पुरुष 'ज्ञाता' कहा जाता है (शां. ३०६. ३५-४१)। परन्तु जो सच्चा ज्ञेय है (गी. १३. १२), वह प्रकृति और पुरुष--ज्ञान और ज्ञाता--से भी परे है। इसीलिये भगवद्गीता में उसे परमपुरुष कहा है। तीनों लोकों को व्याप्त कर उन्हें सदैव धारण करनेवाला जो यह परमपुरुष या परपुरुष है, उसे पहचानो। वह एक है, अव्यक्त है, नित्य है, अक्षर है। यह बात केवल भगवद्गीता ही नहीं; किन्तु वेदान्तशास्त्र के सारे ग्रन्थ एक स्वर से कह रहे हैं। सांख्यशास्त्र में 'अक्षर' और 'अव्यक्त' शब्दों या विशेषणों का प्रयोग प्रकृति के लिये किया जाता है। क्योंकि सांख्यों का सिद्धान्त है, कि प्रकृति की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और कोई भी मूलकारण इस जगत् का नहीं है (सां. का. ६१)। परन्तु यदि वेदांत की दृष्टि से देखें, तो परब्रह्म ही एक अक्षर है। यानी उसका कभी नाश नहीं होता; और वही अव्यक्त है--अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं है। अतएव, इस भेद पर पाठक सदा ध्यान रखें, कि भगवद्गीता में 'अक्षर' और 'अव्यक्त' शब्दों का प्रयोग

प्रकृति से परे के परब्रह्मस्वरूप को दिखलाने के लिये भी किया गया है (गी. ८. २०; ११. ३७; १५. १६, १७)। जब इस प्रकार वेदान्त की दृष्टि का स्वीकार किया गया तब इसमें सन्देह नहीं, कि प्रकृति को 'अक्षर' कहना उचित नहीं है—चाहे वह प्रकृति अव्यक्त भले ही हो। सृष्टि के उत्पत्तिक्रम के विषय में सांख्यों के सिद्धान्त गीता को भी मान्य हैं। इसलिये उनकी निश्चित परिभाषा में कुछ अदल बदल न कर, उन्हीं के शब्दों में क्षर-अक्षर या व्यक्त-अव्यक्त-सृष्टि का वर्णन गीता में किया गया है। परन्तु स्मरण रहे, कि इस वर्णन से प्रकृति और पुरुष के परे जो तीसरा उत्तम पुरुष है, उसके सर्वशक्तित्त्व में कुछ भी बाधा नहीं होने पाती। इसका परिणाम यह हुआ है, कि जहाँ भगवद्गीता में परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है, वहाँ सांख्य और वेदान्त के मतान्तर का सन्देह मिटाने के लिये (सांख्य) अव्यक्त के भी परेका अव्यक्त और (सांख्य) अक्षर से भी परे का अक्षर, इस प्रकार के शब्दों का उपयोग करना पड़ा है। उदाहरणार्थ, इस प्रकरण के आरम्भ में जो श्लोक दिया गया है, उसे देखो। सारांश, गीता पढ़ते समय इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये, कि 'अव्यक्त' और 'अक्षर' ये दोनों शब्द कभी सांख्यों की प्रकृति के लिये और कभी वेदान्तियों के परब्रह्म के लिये—अर्थात् दो भिन्न प्रकार से—गीता में प्रयुक्त हुए हैं। जगत् का मूल वेदान्त की दृष्टि से सांख्यों की अव्यक्तप्रकृति के भी परे का दूसरा अव्यक्ततत्त्व है। जगत् के आदि-तत्त्व के विषय में सांख्य और वेदान्त में यह उपर्युक्त भेद है। आगे इस विषय का विवरण किया जायगा, कि इसी भेद से अध्यात्मशास्त्रप्रतिपादित मोक्षस्वरूप और सांख्यों के मोक्षस्वरूप में भी भेद कैसा हो गया।

सांख्यों के द्वैत—प्रकृति और पुरुष—को न मान कर जब यह मान लिया गया, कि इस जगत् की जड़ में परमेश्वररूपी अथवा पुरुषोत्तमरूपी एक तीसरा ही नित्य तत्त्व है; और प्रकृति तथा पुरुष दोनों उसकी विभूतियाँ हैं; तब सहज ही यह प्रश्न होता है, कि उस तीसरे मूलभूत तत्त्व का स्वरूप क्या है; प्रकृति तथा पुरुष से इसका कौन-सा सम्बन्ध है? प्रकृति, पुरुष और परमेश्वर इसी त्रयी को अध्यात्मशास्त्र में क्रम से जगत्, जीव और परब्रह्म कहते हैं; और इन तीनों वस्तुओं के स्वरूप तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध का निर्णय करना ही वेदान्तशास्त्र का प्रधान कार्य है। एवं उपनिषदों में भी यही चर्चा की गई है। परन्तु सब वेदान्तियों का मत उस त्रयी के विषय में एक नहीं है। कोई कहते हैं, कि ये तीनों पदार्थ आदि में एक ही हैं; और कोई यह मानते हैं, कि जीव और जगत् परमेश्वर से आदि ही में थोड़े या अत्यन्त भिन्न हैं। इसी से वेदान्तियों में अद्वैती, विशिष्टाद्वैती और द्वैती भेद उत्पन्न हो गये हैं। यह सिद्धान्त सब लोगों को एक-सा ग्राह्य है, कि जीव और जगत् के सारे व्यवहार परमेश्वर की इच्छा से होते हैं। परन्तु कुछ लोग तो मानते हैं, कि जीव, जगत् और परब्रह्म, इन तीनों का मूलस्वरूप आकाश के समान एक ही और अखण्डित है; तथा दूसरे वेदान्ती कहते हैं, कि जड़ और चैतन्य का एक होना सम्भव नहीं। अतएव

अनार या दाड़िम के फल में यद्यपि अनेक दाने होते हैं, तो भी इससे जैसे फल की एकता नष्ट नहीं होती; वैसे ही जीव और जगत् यद्यपि परमेश्वर में भरे हुए हैं तथापि ये मूल में उससे भिन्न हैं; और उपनिषदों में जब ऐसा वर्णन आता है, कि तीनों 'एक' हैं; तब उसका अर्थ 'दाड़िम के फल के समान एक' जानना चाहिये। जब जीव के स्वरूप के विषय में यह मतान्तर उपस्थित हो गया, तब भिन्न भिन्न साम्प्रदायिक टीकाकार अपने अपने मतके अनुसार उपनिषदों और गीता के भी शब्दों की खींचातानी करने लगे। परिणाम इसका यह हुआ, कि गीता का यथार्थस्वरूप —उसमें प्रतिपादित सच्चा कर्मयोग विषय—तो एक ओर रह गया; और अनेक साम्प्रदायिक टीकाकारों के मत में गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही हो गया, कि गीताप्रतिपादित वेदान्त द्वैतमत का है या अद्वैतमत का! अस्तु; इसके बारे में अधिक विचार करने के पहले यह देखना चाहिये, कि जगत् (प्रकृति), जीव (आत्मा अथवा पुरुष), और परब्रह्म (परमात्मा अथवा पुरुषोत्तम) के परस्पर सम्बन्ध के विषय में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही गीता में क्या कहते हैं। अब आगे चल कर पाठकों को यह भी विदित हो जायगा, कि इस विषय में गीता और उपनिषदों का एक ही मत है; और गीता में कहे गये सब विचार उपनिषदों में पहले ही आ चुके हैं।

प्रकृति और पुरुष के भी परे जो पुरुषोत्तम, परपुरुष, परमात्मा या परब्रह्म है, उसका वर्णन करते समय भगवद्गीता में पहले उसके दो स्वरूप बतलाये गये हैं; यथा, व्यक्त और अव्यक्त (आँखो से दिखनेवाला और आँखों से न दिखनेवाला)। अब इसमें सन्देह नहीं, कि व्यक्तस्वरूप अर्थात् इंद्रियगोचर रूप सगुण ही होना चाहिये। और अव्यक्तरूप यद्यपि इंद्रियों को अगोचर है, तो भी इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता, कि वह निर्गुण ही हो। क्योंकि, यद्यपि वह हमारी आँखों से न देख पड़े, तो भी उसमें सब प्रकार के गुण सूक्ष्म रूप से रह सकते हैं। इसलिये अव्यक्त के भी तीन भेद किये गये हैं; जैसे सगुण, सगुण-निर्गुण और निर्गुण। यहाँ 'गुण' शब्द में उन सब गुणों का समावेश किया गया है, कि जिनका ज्ञान मनुष्य को केवल उसकी बाह्येन्द्रियों से ही नहीं होता; किन्तु मन से भी होता है। परमेश्वर के मूर्तिमान् अवतार भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं साक्षात् अर्जुन के सामने खड़े हो कर उपदेश कर रहे थे। इसलिये गीता में जगह-जगह पर उन्हों ने अपने विषय में प्रथम पुरुष का निर्देश इस प्रकार किया है—जैसे, 'प्रकृति मेरा स्वरूप है' (९.८), 'जीव मेरा अंश है' (१५.७), 'सब भूतों का अंतर्यामी आत्मा मैं हूँ' (१०. २०), 'संसार में जितनी श्रीमान् या विभूतिमान् मूर्तियाँ हैं, वे सब मेरे अंश से उत्पन्न हुई हैं' (१०. ४१), 'मुझमें मन लगा कर मेरा भक्त हो' (९. ३४), 'तो तू मुझ में मिल जायगा', 'तू मेरा प्रिय भक्त है; इसलिये मैं तुझे यह प्रीतिपूर्वक बतलाता हूँ' (१८. ६५)। और जब अपने विश्वरूपदर्शन से अर्जुन को यह प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया, कि सारी चराचर सृष्टि मेरे व्यक्तरूप में ही साक्षात् भरी हुई है; तब भगवान् ने उसको यही उपदेश किया है, कि अव्यक्तरूप से व्यक्तरूपकी उपा-

सना करना अधिक सहज है । 'इसलिये तू मुझ में ही अपना भक्तिभाव रख' (१२.८); 'मैं ही ब्रह्म का, अव्यय मोक्ष का, शाश्वत धर्म का, और अनंत सुख का मूलस्थान हूँ' (गी. १४. २७) । इससे विदित होगा, कि गीता में आदि से अन्त तक अधिकांश में परमात्मा के व्यक्तस्वरूप का ही वर्णन किया गया है ।

इतने ही से केवल भक्ति के अभिमानी कुछ पंडितों और टीकाकारों ने यह मत प्रगट किया है, कि गीता में परमात्मा का व्यक्त रूप ही अंतिम साध्य माना गया है। परन्तु यह मत सच नहीं कहा जा सकता । क्योंकि उक्त वर्णन के साथ ही भगवान् ने स्पष्ट रूप से कह दिया है, कि मेरा व्यक्तस्वरूप मायिक है; और उसके परे का जो अव्यक्तरूप--अर्थात् जो इन्द्रियों को अगोचर--है, वही मेरा सच्चा स्वरूप है । उदाहरणार्थ, सातवें अध्याय (गी. ७. २४) में कहा है कि--

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

"यद्यपि मैं अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर हूँ, तो भी मूर्ख लोग मुझे व्यक्त समझते हैं; और व्यक्त से भी परे के मेरे श्रेष्ठ तथा अव्यक्तरूप को नहीं पहचानते ।" और इसके अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं, कि "मैं अपनी योगमाया से आच्छादित हूँ; इसलिये मूर्ख लोक मुझे नहीं पहचानते" (७. २५) । फिर चौथे अध्याय में उन्होंने अपने व्यक्तरूप की उपपत्ति इस प्रकार बतलाई है--"मैं यद्यपि जन्मरहित और अव्यय हूँ, तथापि अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित हो कर मैं अपनी माया से (स्वात्ममाया से) जन्म लिया करता हूँ--अर्थात् व्यक्त हुआ करता हूँ" (४.६) । वे आगे सातवें अध्याय में कहते हैं--"यह त्रिगुणात्मक प्रकृति मेरी दैवी माया है । इस माया को जो पार कर जाते हैं, वे मुझे पाते हैं; और इस माया से जिन का ज्ञान नष्ट हो जाता है, वे मूढ नराधम मुझे नहीं पा सकते" (७. १५) । अंत में अठारहवें (१८. ६१) अध्याय में भगवान् ने उपदेश किया है--"हे अर्जुन ! सब प्राणियों के हृदय में जीवरूप परमात्मा ही का निवास है; और वह अपनी माया से यंत्र की भाँति प्राणियों को घुमाता है ।" भगवान् ने अर्जुन को जो विश्वरूप दिखाया है, वही नारद को भी दिखलाया था । इसका वर्णन महाभारत के शांति-पर्वान्तर्गत नारायणीय प्रकरण (शां. ३३९) में है; और हम पहले ही प्रकरण में बतला चुके हैं, कि नारायणीय यानी भागवतधर्म ही गीता में प्रतिपादित किया गया है । नारद को हज़ारों नेत्रों, रङ्गों, तथा अन्य दृश्य गुणों का विश्वरूप दिखला कर भगवान् ने कहाः-

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि ॥

"तुम मेरा जो रूप देख रहे हो, वह मेरी उत्पन्न की हुई माया है । इससे तुम यह न समझो, कि मैं सर्वभूतों के गुणों से युक्त हूँ ।" और फिर यह भी कहा है, कि "मेरा सच्चा स्वरूप सर्वव्यापी, अव्यक्त और नित्य है । उसे सिद्ध पुरुष पहचानते

हैं" (शां. ३३९. ४४, ४८)। इससे कहना पड़ता है, कि गीता में वर्णित भगवान् का अर्जुन को दिखलाया हुआ विश्वरूप भी मायिक था। सारांश, उपर्युक्त विवेचन से इस विषय में कुछ भी संदेह नहीं रह जाता, कि गीता का यही सिद्धान्त होना चाहिये, कि यद्यपि केवल उपासना के लिये व्यक्तस्वरूप की प्रशंसा गीता में भगवान् ने की है; तथापि परमेश्वर का श्रेष्ठस्वरूप अव्यक्त अर्थात् इन्द्रिय को अगोचर ही है; और उस अव्यक्त से व्यक्त होना ही उसकी माया है। और इस माया से पार हो कर जब तक मनुष्य को परमात्मा के शुद्ध तथा अव्यक्त रूप का ज्ञान न हो, तब तक उसे मोक्ष नहीं मिल सकता। अब इसका अधिक विचार आगे करेंगे, कि माया क्या वस्तु है। ऊपर दिये गये वचनों से इतनी बात स्पष्ट है, कि यह मायावाद श्रीशंकराचार्य ने नये सिरे से नहीं उपस्थित किया है; किन्तु उनके पहले ही भगवद्गीता, महाभारत और भागवतधर्म में भी वह ग्राह्य माना गया था। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी सृष्टि की उत्पत्ति इस प्रकार कही गई है--"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वेता. ४. १०)--अर्थात् माया ही (सांख्यों की) प्रकृति है और परमेश्वर उस माया का अधिपति है; और वही अपनी माया से विश्व निर्माण करता है।

अब इतनी बात यद्यपि स्पष्ट हो चुकी, कि परमेश्वर का श्रेष्ठ स्वरूप व्यक्त नहीं; अव्यक्त है। तथापि थोड़ा-सा यह विचार होना भी आवश्यक है, कि परमात्मा का यह श्रेष्ठ अव्यक्तस्वरूप सगुण है या निर्गुण। जब कि सगुण-अव्यक्त का हमारे सामने यह एक उदाहरण है, कि सांख्यशास्त्र की प्रकृति अव्यक्त (अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर) होने पर भी सगुण अर्थात् सत्व-रज-तम-गुणमय है; तब कुछ लोग यह कहते हैं, कि परमेश्वर का अव्यक्त और श्रेष्ठ रूप भी उसी प्रकार सगुण माना जावें। अपनी माया ही से क्यों न हो; परन्तु जब कि वही अव्यक्त परमेश्वर व्यक्तसृष्टि निर्माण करता है (गी. ९-८); और सब लोगों के हृदय में रहकर उनसे सारे व्यापार कराता है (१८. ६१); जब कि वही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु है (९. २४); जब कि प्राणियों के सुखदुःख आदि सब 'भाव' उसी से उत्पन्न होते हैं (१०. ५); और जब कि प्राणियों के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करनेवाला भी वही है; एवं "लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्" (७. २२)--प्राणियों की वासना का फल देनेवाला भी वही है; तब तो यही बात सिद्ध होती है, कि वह अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर भले ही हो; तथापि वह दया, कर्तृत्व आदि गुणों से युक्त अर्थात् 'सगुण' अवश्य ही होना चाहिये। परन्तु इसके विरुद्ध भगवान् ऐसा भी कहते हैं, कि "न मां कर्माणि लिम्पन्ति"--मुझे कर्मों का अर्थात् गुणों का भी कभी स्पर्श नहीं होता (४.१४); प्रकृति के गुणों से मोहित हो कर मूर्ख आत्मा ही को कर्ता मानते हैं (३. २७; १४. १९); अथवा, यह अव्यय और अकर्ता परमेश्वर ही प्राणियों के हृदयमें जीवरूप से निवास करता है (१३. ३१); और इसी लिये, यद्यपि वह प्राणियों के कर्तृत्व और कर्म से वस्तुतः अलिप्त है, तथापि अज्ञान में फँसे

हुए लोग मोहित हो जाया करते हैं (५. १४, १५) । इस प्रकार अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर परमेश्वर के रूप—सगुण और निर्गुण—दो तरह के ही नहीं हैं; किन्तु इसके अतिरिक्त कहीं कहीं इन दोनों रूपों को एकत्र मिला कर भी अव्यक्त परमेश्वर का वर्णन किया गया है । उदाहरणार्थ, " भूतभृत् न च भूतस्थो " (९.५) " मैं भूतों का आधार हो कर भी उनमें नहीं हूँ; " ' परब्रह्म न तो सत् है और न असत् ' (१३. १२); " सर्वेंद्रियवान् होने का जिसमें भास हो परन्तु जो सर्वेंद्रियरहित है; और निर्गुण हो कर गुणों का उपभोग करनेवाला है " (१३. १४); " दूर है और समीप भी है " (१३.१५); " अविभक्त है और विभक्त भी देख पड़ता है " (१३.१६) —इस प्रकार परमेश्वर के स्वरूप का सगुण-निर्गुण-मिश्रित अर्थात् परस्पर-विरोधी वर्णन भी किया गया है । तथापि आरम्भ में, दूसरे ही अध्याय में कहा गया है, कि ' यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य है ' (२. २५); और फिर तेरहवें अध्याय में—" यह परमात्मा अनादि, निर्गुण और अव्यक्त है। इसलिये शरीर में रह कर भी न तो यह कुछ करता है; और न किसी में लिप्त होता है " (१३. ३१)—इस प्रकार परमात्मा के शुद्ध, निर्गुण, निरवयव, निर्विकार, अचिन्त्य, अनादि और अव्यक्त रूप की ही श्रेष्ठता का वर्णन गीता में किया गया है ।

भगवद्गीता की भाँति उपनिषदों में भी अव्यक्त परमात्मा का स्वरूप तीन प्रकार का पाया जाता है—अर्थात् कभी सगुण, कभी उभयविध यानी सगुण-निर्गुण-मिश्रित और कभी केवल निर्गुण । इस बात की कोई आवश्यकता नहीं, कि उपासना के लिये सदा प्रत्यक्ष मूर्ति ही नेत्रों के सामने रहें । ऐसे स्वरूप की भी उपासना हो सकती है, कि जो निराकार अर्थात् चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अगोचर हो । परन्तु जिसकी उपासना की जाय, वह चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को गोचर भले ही न हो; तो भी मन को गोचर हुए बिना उसकी उपासना होना सम्भव नहीं है । उपासना कहते हैं चिन्तन, मनन, या ध्यान को । यदि चिन्तित वस्तु का कोई रूप न हो, तो न सही; परन्तु जब तक उसका अन्य कोई भी गुण मन को मालूम न हो जाय, तब तक वह चिन्तन करेगा ही किसका ? अतएव उपनिषदों में जहाँ जहाँ अव्यक्त अर्थात् नेत्रों से न दिखाई देनेवाले परमात्मा की (चिन्तन, मनन, ध्यान) उपासना बताई गई है, वहाँ वहाँ अव्यक्त परमेश्वर सगुण ही कल्पित किया गया है । परमात्मा में कल्पित किये गुण उपासक के अधिकारानुसार न्यूनाधिक व्यापक या सात्त्विक होते हैं; और जिसकी जैसी निष्ठा हो, उसको वैसा ही फल भी मिलता है । छांदोग्योपनिषद् (३. १४. १) में कहा है, कि ' पुरुष क्रतुमय है । जिसका जैसा क्रतु (निश्चय) हो, उसे मृत्यु के पश्चात् वैसा ही फल भी मिलता है । ' और भगवद्गीता भी कहती है—' देवताओं की भक्ति करनेवाले देवताओं में और पितरों की भक्ति करनेवाले पितरों में जा मिलते हैं ' (गी. ९. २५), अथवा ' यो यच्छ्रद्धः स एव सः '—जिसकी जैसी श्रद्धा हो, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है (१७.३) । तात्पर्य यह है, कि उपासक के अधिकारभेद के

अनुसार उपास्य अव्यक्त परमात्मा के गुण भी उपनिषदों में भिन्न भिन्न कहे गये हैं। उपनिषदों के इस प्रकरण को 'विद्या' कहते हैं। विद्या ईश्वरप्राप्ति का (उपासनारूप) मार्ग है; और यह मार्ग जिस प्रकरण में बतलाया गया है, उसे भी 'विद्या ही नाम अन्त में दिया जाता है। शाण्डिल्यविद्या (छां. ३. १४), पुरुषविद्या (छां. ३ १६, १७), पर्यंकविद्या (कौषी. १), प्राणोपासना (कौषी. २) इत्यादि अनेक प्रकार की उपासनाओं का वर्णन उपनिषदों में किया गया है; और इन सब का विवेचन वेदान्तसूत्रों के तृतीयाध्याय के तीसरे पाद में किया गया है। इस प्रकरण में अव्यक्त परमात्मा का सगुण वर्णन इस प्रकार है, कि वह मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध और सर्वरस है (छां. ३. १४. २)। तैत्तिरीय उपनिषद् में तो अन्न, प्राण, मन, ज्ञान या आनन्द—इन रूपों में भी परमात्मा की बढ़ती हुई उपासना बतलाई गई है (तै. २. १–५; ३. २–६)। बृहदारण्यक (२. १) में गार्ग्य बालाकी ने अजातशत्रु को पहले पहल आदित्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जल या दिशाओं में रहनेवाले पुरुषों की ब्रह्मरूप से उपासना बतलाई है; परन्तु आगे अजातशत्रु ने उससे यह कहा, कि सच्चा ब्रह्म इनके भी परे है; और अन्त में प्राणोपासना ही को मुख्य ठहराया है। इतने ही से यह परम्परा कुछ पूरी नहीं हो जाती। उपर्युक्त सब ब्रह्मरूपों को प्रतीक, अर्थात् इन सब को उपासना के लिये कल्पित गौण ब्रह्मस्वरूप अथवा ब्रह्मनिदर्शक चिन्ह कहते हैं; और जब यही गौणरूप किसी मूर्ति के रूप में नेत्रों के सामने रखा जाता है, तब उसी को 'प्रतिमा' कहते हैं। परन्तु स्मरण रहे, कि सब उपनिषदों का सिद्धान्त यही है, कि सच्चा ब्रह्मरूप इससे भिन्न है (केन. १. २–८)। इस ब्रह्म के लक्षण का वर्णन करते समय कहीं तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति २. १) या 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ. ३. ९. २८) कहा है। अर्थात् ब्रह्म सत्य (सत्), ज्ञान (चित्) और आनन्दरूप है—अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप है—इस प्रकार सब गुणों का तीन ही गुणों में समावेश करके वर्णन किया गया है। और अन्य स्थानों में भगवद्गीता के समान ही, परस्परविरुद्ध गुणों को एकत्र कर के ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है, कि 'ब्रह्म सत् भी नहीं और असत् भी नहीं' (ऋ. १०. १२९. १) अथवा 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' अर्थात् अणु से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है (कठ. २. २०), 'तदेजति तन्नैजति तत् दूरे तद्वंतिके' अर्थात् वह हिलता है और हिलता भी नहीं; वह दूर है और समीप भी है (ईश. ५; मुं. ३. १. ७); अथवा 'सर्वेन्द्रियगुणाभास' हो कर भी 'सर्वेन्द्रियविवर्जित' है (श्वेता. ३. १७)। मृत्यु ने नचिकेता को यह उपदेश किया है, कि अन्त में उपर्युक्त सब लक्षणों को छोड़ दो और जो धर्म और अधर्म के, कृत और अकृत के, अथवा भूत और भव्य के भी परे है, उसे ही ब्रह्म जानो (कठ. २. १४)। इसी प्रकार महाभारत के नारायणीय धर्म में ब्रह्मा रुद्र से (म.भा. शां. ३५१. ११), और मोक्षधर्म में नारद शुक से कहते हैं (३३१. ४४)। बृहदारण्यकोपनिषद् (२. ३. २) में भी पृथ्वी, जल और अग्नि—इन तीनों

को ब्रह्म का मूर्तरूप कहा है । फिर वायु तथा आकाश को अमूर्तरूप कह कर दिखाया है, कि इन अमूर्तों के सारभूत पुरुषों के रूप या रङ्ग बदल जाते हैं; और अन्त में यह उपदेश किया है, कि 'नेति' 'नेति' अर्थात् अब तक जो कहा गया है, वह नहीं है; वह ब्रह्म नहीं है--इन सब नामरूपात्मक मूर्त या अमूर्त पदार्थों के परे जो 'अगृह्य' या 'अवर्णनीय' है, उसे ही परब्रह्म समझो (बृह. २. ३. ६. और वे.सू. ३. २. २२) । अधिक क्या कहें; जिन जिन पदार्थों को कुछ नाम दिया जा सकता है, उन सब से भी परे जो है, वही ब्रह्म है; और उस ब्रह्म का अव्यक्त तथा निर्गुण स्वरूप दिखलाने के लिये 'नेति' 'नेति' एक छोटा-सा निर्देश, आदेश या सूत्र ही हो गया है; और बृहदारण्यक उपनिषद् में ही उसका चार बार प्रयोग हुआ है (बृह. ३. ९. २६; ४. २. ४; ४. ४. २२; ४. ५. १५) । इसी प्रकार दूसरे उपनिषदों में भी परब्रह्म के निर्गुण और अचिन्त्य रूप का वर्णन पाया जाता है । जैसे "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति. २. ९); "अद्रेश्यं (अदृश्य), अग्राह्यं" (मुं. १. १. ६), "न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा (मुं. ३. १.८); अथवा

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

अर्थात् वह परब्रह्म पञ्चमहाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध---इन पाँच गुणों से रहित, अनादि, अनन्त और अव्यय है (कठ. ३. १५; वे. सू. ३. २.२–३० देखो) । महाभारतान्तर्गत शान्तिपर्व में नारायणीय या भागवतधर्म के वर्णन में भी भगवान् ने नारद को अपना सच्चा स्वरूप अदृश्य, अघ्रेय, अस्पृश्य, निर्गुण, निष्कल (निरवयव), अज, नित्य, शाश्वत और निष्क्रिय' बतला कर कहा है, कि वही सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय करनेवाला त्रिगुणातीत परमेश्वर है; और इसी को 'वासुदेव परमात्मा' कहते हैं (म.भा. शां. ३३९. २१–२८) ।

उपर्युक्त वचनों से यह प्रगट होगा, कि न केवल भगवद्गीता में ही, वरन् महाभारतान्तर्गत नारायणीय या भागवतधर्म में और उपनिषदों में भी परमात्मा का अव्यक्तस्वरूप ही व्यक्तस्वरूप से श्रेष्ठ माना गया है; और यही अव्यक्त श्रेष्ठ स्वरूप वहाँ तीन प्रकार से वर्णित है; अर्थात् सगुण, सगुण-निर्गुण और अन्त में केवल निर्गुण । प्रश्न यह है, कि अव्यक्त और श्रेष्ठ स्वरूप के उक्त तीन परस्परविरोधी रूपों का मेल किस तरह मिलाया जावें ? यह कहा जा सकता है, कि इन तीनों में से जो सगुण-निर्गुण अर्थात् उभयात्मक रूप है, वह सगुण से निर्गुण में (अथवा अज्ञेय में) जाने की सीढ़ी या साधन है । क्योंकि (पहले सगुण रूप का ज्ञान होने पर ही) धीरे धीरे एक एक गुण का त्याग करने से निर्गुणस्वरूप का अनुभव हो सकता है; और इसी रीति से ब्रह्मप्रतीक की चढ़ती हुई उपासना उपनिषदों में बतलाई गई है । उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में वरुण ने भृगु को पहले यही उपदेश किया है, कि अन्न ही ब्रह्म है; फिर क्रम क्रम से प्राण, मन, विज्ञान और

आनन्द—इन ब्रह्मरूपों का ज्ञान उसे करा दिया है (तैत्ति. ३.२–६)। अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है, कि गुणबोधक विशेषणों से निर्गुणरूप का वर्णन करना असम्भव है। अतएव परस्परविरोधी विशेषणों से ही उसका वर्णन करना पड़ता है। इसका कारण यह है, कि जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में 'दूर' वा 'सत्' शब्दों का उपयोग करते हैं, तब हमें किसी अन्य वस्तु के 'समीप' या 'असत्' होने का भी अप्रत्यक्ष रूप से बोध हो जाया करता है। परन्तु यदि एक ही ब्रह्म सर्वव्यापी है, तो परमेश्वर को 'दूर' या 'सत्' कह कर 'समीप' या 'असत्' किसे कहें? ऐसी अवस्था में 'दूर नहीं, समीप नहीं; सत् नहीं, असत् नहीं'—इस प्रकार की भाषा का उपयोग करने से दूर और समीप, सत् और असत् इत्यादि परस्परसापेक्ष गुणों की जोड़ियाँ भी लगा दी जाती हैं। और यह बोध होने के लिये परस्परविरुद्ध विशेषणों की भाषा का ही व्यवहार में उपयोग करना पड़ता है, कि जो कुछ निर्गुण, सर्वव्यापी, सर्वदा निरपेक्ष और स्वतन्त्र बचा है, वही सच्चा ब्रह्म है (गी. १३. १२)। जो कुछ है वह सब ब्रह्म ही है। इसलिये दूर वही, समीप भी वही, सत् भी वही और असत् भी वही है। अतएव दूसरी दृष्टि से उसी ब्रह्म का एक ही समय परस्परविरोधी विशेषणों के द्वारा वर्णन किया जा सकता है (गी. ११. ३७; १३. १५)। अब यद्यपि उभयविध सगुण-निर्गुण वर्णन की उपपत्ति इस प्रकार बतला चुके; तथापि इस बात का स्पष्टीकरण रह ही जाता है, कि एक ही परमेश्वर के परस्परविरोधी दो स्वरूप—सगुण और निर्गुण—कैसे हो सकते हैं? माना कि जब अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त रूप अर्थात् इन्द्रियगोचर रूप धारण करता है, तब वह उसकी माया कहलाती है; परन्तु जब वह व्यक्त–यानी इन्द्रियगोचर–न होते हुए अव्यक्त रूप में ही निर्गुण का सगुण हो जाता है, तब उसे क्या कहें? उदाहरणार्थ, एक ही निराकार परमेश्वर को कोई 'नेति नेति' कह कर निर्गुण मानते हैं; और कोई उसे सत्त्वगुणसम्पन्न, सर्वकर्मा तथा दयालु मानते हैं। इसका रहस्य क्या है? उक्त दोनों में श्रेष्ठ पक्ष कौन-सा है? इस निर्गुण और अव्यक्त ब्रह्म से सारी व्यक्त सृष्टि और जीव की उत्पत्ति कैसे हुई?—इत्यादि बातों का खुलासा हो जाना आवश्यक है। यह कहना मानों अध्यात्मशास्त्र ही को काटना है, कि सब संकल्पों का दाता अव्यक्त परमेश्वर तो यथार्थ में सगुण है; और उपनिषदों में या गीता में निर्गुणस्वरूप का जो वर्णन किया गया है, वह केवल अतिशयोक्ति या प्रशंसा है। जिन बड़े बड़े महात्माओं और ऋषियों ने एकाग्र मन करके सूक्ष्म तथा शान्त विचारों से यह सिद्धान्त ढूँढ निकाला, कि "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तै. २. ९)—मन को भी जो दुर्गम है और वाणी भी जिसका वर्णन कर नहीं सकती, वही अन्तिम ब्रह्मस्वरूप है—उनके आत्मानुभव को अतिशयोक्ति कैसे कहें! केवल एक साधारण मनुष्य अपने क्षुद्र मन में यदि अनन्त निर्गुण ब्रह्म को ग्रहण नहीं कर सकता; इसलिये यह कहना, कि सच्चा ब्रह्म सगुण ही है। मानों सूर्य की अपेक्षा अपने छोटे-से दीपक को श्रेष्ठ बतलाना है! हाँ; यदि

निर्गुण रूप की उपपत्ति उपनिषदों में और गीता में न दी गई होती, तो बात ही दूसरी थी; परन्तु यथार्थ में वैसा नहीं है। देखिये न! भगवद्गीता में तो स्पष्ट ही कहा है, कि परमेश्वर का सच्चा श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्त है; और व्यक्तसृष्टि का धारण करना तो उसकी माया है (गी. ४. ६)। परन्तु भगवान् ने यह भी कहा है, कि प्रकृति के गुणों से 'मोह में फँस कर मूर्ख लोग (अव्यक्त और निर्गुण) आत्मा को ही कर्ता मानते हैं' (गी. ३. २७–२९); किन्तु ईश्वर तो कुछ नहीं करता। लोग केवल अज्ञान से धोखा खाते हैं (गी. ५. १५)। अर्थात् भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में यह उपदेश किया है, कि यद्यपि अव्यक्त आत्मा या परमेश्वर वस्तुतः निर्गुण है (गी. १३. ३१), तो भी लोग उस पर 'मोह' या 'अज्ञान' से कर्तृत्व आदि गुणों का अध्यारोप करते हैं; और उसे अव्यक्त सगुण बना देते हैं (गी. ७. २४) उक्त विवेचन से परमेश्वर के स्वरूप के 'विषय' में गीता के येही सिद्धान्त मालूम होते हैं :–(१) गीता में परमेश्वर के व्यक्तस्वरूप का यद्यपि बहुत-सा वर्णन है, तथापि परमेश्वर का मूल और श्रेष्ठ स्वरूप निर्गुण तथा अव्यक्त ही है; और मनुष्य मोह या अज्ञान से उसे सगुण मानते हैं; (२) सांख्यों की प्रकृति या उसका व्यक्त फैलाव —यानी अखिल संसार–उस परमेश्वर की माया है; और (३) सांख्यों का पुरुष यानी जीवात्मा यथार्थ में परमेश्वररूपी, परमेश्वर के समान ही निर्गुण और अकर्ता है; परन्तु अज्ञान के कारण लोग उसे कर्ता मानते हैं। वेदान्तशास्त्र के सिद्धान्त भी ऐसे ही हैं; परन्तु उत्तर-वेदान्त-ग्रन्थों में इन सिद्धान्तों को बतलाते समय माया और अविद्या में कुछ भेद किया जाता है। उदाहरणार्थ, पंचदशी में पहले यह बतलाया गया है, कि आत्मा और परब्रह्म दोनों में एक ही यानी ब्रह्मस्वरूप है। और यह चित्स्वरूपी ब्रह्म जब माया में प्रतिबिम्बित होता है, तब सत्त्वरजतमगुणमयी (सांख्यों की मूल) प्रकृति का निर्माण होता है। परन्तु आगे चल कर इस माया के ही दो भेद—'माया' और 'अविद्या'—किये गये हैं। और यह बतलाया गया है, कि जब माया के तीन गुणों में से 'शुद्ध' सत्त्वगुण का उत्कर्ष होता है, तब उसे केवल माया कहते हैं; और इस माया में प्रतिबिम्बित होनेवाले ब्रह्म को सगुण यानी व्यक्त ईश्वर (हिरण्यगर्भ) कहते हैं। और यदि यही सत्त्व गुण 'अशुद्ध' हो, तो उसे 'अविद्या' कहते हैं; तथा उस अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म को 'जीव' कहते हैं (पंच. १. १५–१७)। इस दृष्टि से, यानी उत्तरकालीन वेदान्त की दृष्टि से देखें, तो एक ही माया के स्वरूपतः दो भेद करने पड़ते हैं—अर्थात् परब्रह्म से 'व्यक्त ईश्वर' के निर्माण होने का कारण माया और 'जीव' के निर्माण होने का कारण अविद्या मानना पड़ता है। परन्तु गीता में इस प्रकार का भेद नहीं किया गया है। गीता कहती है, कि जिस माया से स्वयं भगवान् व्यक्तरूप यानी सगुणरूप धारण करते हैं (७. २५), अथवा जिस माया के द्वारा अष्टधा प्रकृति अर्थात् सृष्टि की सारी विभूतियाँ उनसे उत्पन्न होती हैं (४. ६), उसी माया के अज्ञान से जीव मोहित होता है (७. ४–१५)। 'अविद्या' शब्द गीता में कहीं भी नहीं आया है; और

श्वेताश्वतरोपनिषद् में जहाँ वह शब्द आया है, वहाँ उसका स्पष्टीकरण भी इस प्रकार किया है, कि माया के प्रपञ्च को ही 'अविद्या' कहते हैं (श्वेता. ५. १)। अतएव उत्तरकालीन वेदान्तग्रन्थों में केवल निरूपण की सरलता के लिये—जीव और ईश्वर की दृष्टि से—किये गये सूक्ष्म भेद—अर्थात् माया और अविद्या—को स्वीकार न कर हम 'माया', 'अविद्या' और 'अज्ञान' शब्दों को समानार्थक ही मानते हैं। और अब शास्त्रीय रीति से संक्षेप में इस विषय का विवेचन करते हैं, कि त्रिगुणात्मक माया, अविद्या या अज्ञान और मोह का सामान्यतः तात्त्विक स्वरूप क्या है; और उसकी सहायता से गीता तथा उपनिषदों के सिद्धान्तों की उपपत्ति कैसे लग सकती है।

निर्गुण और सगुण शब्द देखने में छोटे हैं; परन्तु जब इसका विचार करने लगें, कि इन शब्दों में किन किन बातों का समावेश होता है; तब सचमुच सारा ब्रह्माण्ड दृष्टि के सामने खड़ा हो जाता है। जैसे, इस संसार का मूल जब वही अनादि परब्रह्म है, जो एक, निष्क्रिय और उदासीन है; तब उसी में मनुष्य की इन्द्रियों को गोचर होनेवाले अनेक प्रकार के व्यापार और गुण कैसे उत्पन्न हुए? तथा इस प्रकार उसकी अखंडता भंग कैसे हो गई? अथवा जो मूल में एक ही है, उसी के बहुविध भिन्न भिन्न पदार्थ कैसे दिखाई देते हैं? जो परब्रह्म निर्विकार है, और जिसमें खट्टा, मीठा, कड़ुवा या गाढ़ा-पतला अथवा शीत, उष्ण आदि भेद नहीं हैं, उसी में नाना प्रकार की रुचि, न्यूनाधिक गाढ़ा-पतलापन या शीत और उष्ण, सुख और दुःख, प्रकाश और अँधेरा, मृत्यु और अमरता इत्यादि अनेक प्रकार के द्वन्द्व कैसे उत्पन्न हुए? जो परब्रह्म शान्त और निर्वात है, उसी में नाना प्रकार की ध्वनि और शब्द कैसे निर्माण होते हैं? जिस परब्रह्म में भीतर-बाहर या दूर और समीप का कोई भेद नहीं है, उसी में आगे या पीछे, दूर या समीप, अथवा पूर्व-पश्चिम इत्यादि दिक्कृत या स्थलकृत भेद कैसे हो गये? जो परब्रह्म अविकारी, त्रिकालाबाधित, नित्य और अमृत है, उसी के न्यूनाधिक कालमान से नाशवान् पदार्थ कैसे बने? अथवा जिसे कार्यकारणभाव का स्पर्श भी नहीं होता, उसी परब्रह्म के कार्यकारणरूप—जैसे मिट्टी और घड़ा—क्यों दिखाई देते हैं? ऐसे ही और भी अनेक विषयों का उक्त छोटे से दो शब्दों में समावेश हुआ है। अथवा संक्षेप में कहा जाय, तो अब इस बात का विचार करना है, कि एक ही में अनेकता, निर्द्वन्द्व में नाना प्रकार की द्वन्द्वता, अद्वैत में द्वैत और निःसंग में संग कैसे हो गया। सांख्यों ने तो उस झगड़े से बचने के लिये यह द्वैत कल्पित कर लिया है, कि निर्गुण और नित्यपुरुष के साथ त्रिगुणात्मक यानी सगुणप्रकृति भी नित्य और स्वतंत्र है। परन्तु जगत् के मूलतत्त्व को ढूंढ निकालने की मनुष्य की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसका समाधान इस द्वैत से नहीं होता। इतना ही नहीं; किन्तु यह द्वैत युक्तिवाद के भी सामने ठहर नहीं पाता। इसलिये प्रकृति और पुरुष के भी परे जा कर उपनिषत्कारों ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है, कि सच्चिदानन्द ब्रह्म से भी श्रेष्ठ श्रेणी का 'निर्गुण' ब्रह्म

ही जगत् का मूल है । परन्तु अब इसकी उपपत्ति देना चाहिये, कि निर्गुण से सगुण कैसे हुआ । क्योंकि सांख्य के समान वेदान्त का भी यह सिद्धान्त है, कि जो वस्तु नहीं है, वह हो ही नहीं सकती; और उससे, 'जो वस्तु है' उसकी कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त के अनुसार निर्गुण (अर्थात् जिस में गुण नहीं उस) ब्रह्म से सगुण सृष्टि के पदार्थ (कि जिन में गुण हैं) उत्पन्न हो नहीं सकते । तो फिर सगुण आया कहाँ से ? यदि कहें कि सगुण कुछ नहीं है, तो वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है । और यदि निर्गुण के समान सगुण को भी सत्य मानें; तो हम देखते हैं, कि इंद्रियगोचर होनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि सब गुणों के स्वरूप आज एक हैं, तो कल दूसरे ही—अर्थात् वे नित्य परिवर्तनशील होने के कारण नाशवान्, विकारी और अशाश्वत हैं। तब तो (ऐसी कल्पना करके कि परमेश्वर विभाज्य है) यही कहना होगा, कि ऐसा सगुण परमेश्वर भी परिवर्तनशील एवं नाशवान् है । परन्तु जो विभाज्य और नाशवान् होकर सृष्टि के नियमों की पकड़ में नित्य परतंत्र रहता है, उसे परमेश्वर ही कैसे कहें ? सारांश, चाहे यह मानो, कि इंद्रियगोचर सारे सगुण पदार्थ पञ्चमहाभूतों से निर्मित हुए हैं; अथवा सांख्यानुसार या आधिभौतिक दृष्टि से यह अनुमान कर लो, कि सारे पदार्थों का निर्माण एक ही अव्यक्त सगुण मूलप्रकृति से हुआ है । किसी भी पक्ष का स्वीकार करो; यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि जब तक नाशवान् गुण इस मूलप्रकृति से भी छूट नहीं गये हैं, तब तक पञ्चमहाभूतों को या प्रकृतिरूप इस सगुण मूल पदार्थ को जगत् का अविनाशी, स्वतन्त्र और अमृत तत्त्व नहीं कह सकते । अतएव जिसे प्रकृतिवाद का स्वीकार करना है, उसे उचित है, कि वह या तो यह कहना छोड़ दे, कि परमेश्वर नित्य, स्वतंत्र और अमृतरूप है; या इस बात की खोज करे, कि पञ्चमहाभूतों के परे अथवा सगुण मूलप्रकृति के भी परे और कौन-सा तत्त्व है। इसके सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है । जिस प्रकार मृगजल से प्यास नहीं बुझती, या बालू से तेल नहीं निकलता, उसी प्रकार प्रत्यक्ष नाशवान् वस्तु से अमृतत्व की प्राप्ति की आशा करना भी व्यर्थ है। और इसीलिये याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी को स्पष्ट उपदेश किया है, कि चाहे जितनी संपत्ति क्यों न प्राप्त हो जावे; पर उससे अमृतत्व की आशा करना व्यर्थ है—"अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" (बृह. २. ४. २) । अच्छा; अब यदि अमृतत्व को मिथ्या कहें; तो मनुष्यों की यह स्वाभाविक इच्छा देख पड़ती है, कि वे किसी राजा से मिलनेवाले पुरस्कार या पारितोषिक का उपभोग न केवल अपने लिये वरन् अपने पुत्रपौत्रादि के लिये भी—अर्थात् चिरकाल के लिये —करना चाहते हैं । अथवा यह भी देखा जाता है, कि चिरकाल रहनेवाली या शाश्वत कीर्ति पाने का जब अवसर आता है, तब मनुष्य अपने जीवन की भी परवाह नहीं करता । ऋग्वेद के समान अत्यंत प्राचीन ग्रन्थों में भी पूर्व ऋषियों की यही प्रार्थना है, कि "हे इन्द्र ! तू हमें 'अक्षित श्रव' अर्थात् अक्षय कीर्ति या धन दे" (ऋ. १. ९. ७); अथवा "हे सोम ! तू मुझे वैवस्वत (यम) लोक में अमर कर दे" (ऋ. ९. ११३. ८) । और, अर्वाचीन

समय में इसी दृष्टि को स्वीकार कर के स्पेन्सर, कोन्ट प्रभृति केवल आधिभौतिक पण्डित भी यही कहते हैं, कि "इस संसार में मनुष्यमात्र का नैतिक परम कर्तव्य यही है, कि वह किसी प्रकार के क्षणिक सुख में न फँस कर वर्तमान और भावी मनुष्यजाति के चिरकालिक सुख के लिये उद्योग करे।" अपने जीवन के पश्चात् के चिरकालिक कल्याण की अर्थात् अमृतत्व की यह कल्पना आई कहाँ से? यदि कहें, कि यह स्वभावसिद्ध है; तो मानना पड़ेगा, कि इस नाशवान् देह के सिवा और कोई अमृत वस्तु अवश्य है। और यदि कहें, कि ऐसी अमृत वस्तु कोई नहीं है; तो हमें जिस मनोवृत्ति की साक्षात् प्रतीति होती है, उसका अन्य कोई कारण भी नहीं बतलाते बन पड़ता! ऐसी कठिनाई आ पड़ने पर कुछ आधिभौतिक पण्डित यह उपदेश करते हैं, कि इन प्रश्नों का कभी समाधानकारक उत्तर नहीं मिल सकता। अतएव इनका विचार न करके दृश्यसृष्टि के पदार्थों के गुणधर्म के परे अपने मन की दौड़ कभी न जाने दो। यह उपदेश है तो सरल; परन्तु मनुष्य के मन में तत्त्वज्ञान की जो स्वाभाविक लालसा होती है उसका प्रतिरोध कौन और किस प्रकार से कर सकता है? और इस दुर्धर जिज्ञासा का यदि नाश कर डालें, तो फिर ज्ञान की वृद्धि हो कैसे? जब से मनुष्य इस पृथ्वीतल पर उत्पन्न हुआ है, तभी से वह इस प्रश्न का विचार करता चला आया है, कि 'सारी दृश्य और नाशवान् सृष्टि का मूलभूत अमृत तत्त्व क्या है? और वह मुझे कैसे प्राप्त होगा?" आधिभौतिक शास्त्रों की चाहे जैसी उन्नति हो; तथापि मनुष्य की अमृत तत्त्वसम्बन्धी ज्ञान की स्वाभाविक प्रवृत्ति कभी कम होने की नहीं। आधिभौतिक शास्त्रों की चाहे जैसी वृद्धि हो; तो भी सारे आधिभौतिक सृष्टिविज्ञान को बग़ल में दबा कर आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान सदा उसके आगे ही दौड़ता रहेगा! दो चार हज़ार वर्ष के पहले यही दशा थी; और अब पश्चिमी देशों में भी वही बात देख पड़ती है। और तो क्या; मनुष्य की बुद्धि की ज्ञानलालसा जिस दिन छूटेगी, उस दिन उसके विषय में यही कहना होगा, कि "स वै मुक्तोऽथवा पशुः"!

दिक्काल से अमर्यादित, अमृत, अनादि, स्वतन्त्र, सम, एक, निरन्तर, सर्वव्यापी और निर्गुण तत्त्व के अस्तित्व के विषय में, अथवा उस निर्गुण तत्त्व से सगुणसृष्टि की उत्पत्ति के विषय में जैसा व्याख्यान हमारे प्राचीन उपनिषदों में किया गया है उससे अधिक सयुक्तिक व्याख्यान अन्य देशों के तत्त्वज्ञों ने अब तक नहीं किया है। अर्वाचीन जर्मन तत्त्ववेत्ता कान्ट ने इस बात का सूक्ष्म विचार किया है, कि मनुष्य को बाह्यसृष्टि की विविधता या भिन्नता का ज्ञान एकता से क्यों और कैसे होता है? और फिर उक्त उपपत्ति को ही उसने अर्वाचीन शास्त्र की रीति से अधिक स्पष्ट कर दिया है; और हेकेल यद्यपि अपने विचार में कान्ट से कुछ आगे बढ़ा है, तथापि उसके भी सिद्धान्त वेदान्त के आगे नहीं बढ़े हैं। शोपेनहर का भी यही हाल है। लैटिन भाषा में उपनिषदों के अनुवाद का अध्ययन उसने किया था— और उसने यह बात भी लिख रखी है, कि "संसार के साहित्य इन अत्युत्तम"

ग्रन्थों से कुछ विचार मैंने अपने ग्रन्थों में लिये हैं। इस छोटे-से ग्रन्थ में इन सब बातों का विस्तारपूर्वक निरूपण करना सम्भव नहीं, कि उक्त गम्भीर विचारों और उनके साधकबाधक प्रमाणों में, अथवा वेदान्त के सिद्धान्तों और कान्ट प्रभृति पश्चिमी तत्त्वज्ञों के सिद्धान्तों में समानता कितनी है और अन्तर कितना है। इसी प्रकार इस बात की भी विस्तार से चर्चा नहीं कर सकते, कि उपनिषद् और वेदान्त-सूत्र जैसे प्राचीन ग्रन्थों के वेदान्त में और तदुत्तरकालीन ग्रन्थों के वेदान्त में छोटे-मोटे भेद कौन कौन-से हैं। अतएव भगवद्गीता के अध्यात्मसिद्धान्तों की सत्यता, महत्त्व और उपपत्ति समझा देने के लिये जिन जिन बातों की आवश्यकता है, सिर्फ़ उन्हीं बातोंका यहाँ दिग्दर्शन किया गया है; और इस चर्चा के लिये उपनिषद्, वेदान्त-सूत्र और उसके शांकरभाष्य का आधार प्रधानरूपसे लिया गया है। प्रकृति-पुरुषरूपी सांख्योक्त द्वैत के परे क्या है—इसका निर्णय करने के लिये केवल द्रष्टा और दृश्यसृष्टि के द्वैतभेद पर ही ठहर जाना उचित नहीं। किन्तु इस बात का भी सूक्ष्म विचार करना चाहिये, कि द्रष्टा पुरुष को बाह्यसृष्टि का जो ज्ञान होता है, उसका स्वरूप क्या है? वह ज्ञान किससे होता है और किसका होता है? बाह्यसृष्टि के पदार्थ मनुष्य को नेत्रों से जैसे दिखाई देते हैं, वैसे तो वे पशुओं को भी दिखाई देते हैं। परन्तु मनुष्य में यह विशेषता है, कि आँख, कान इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों से उसके मन पर जो संस्कार हुआ करते हैं, उनका एकीकरण करने की शक्ति उसमें है; और इसी लिये बाह्यसृष्टि के पदार्थमात्र का ज्ञान उसको हुआ करता है। पहले क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविचार में बतला चुके हैं, कि जिस एकीकरणशक्ति का फल उपर्युक्त विशेषता है, वह शक्ति मन और बुद्धि के भी परे है—अर्थात् वह आत्मा की शक्ति है। यह बात नहीं, कि किसी एक ही पदार्थ का ज्ञान उक्त रीति से होता हो; किन्तु सृष्टि के भिन्न भिन्न पदार्थों में कार्यकारणभाव आदि जो अनेक सम्बन्ध हैं—जिन्हें हम सृष्टि के नियम कहते हैं—उनका ज्ञान भी इसी प्रकार हुआ करता है। इसका कारण यह है, कि यद्यपि हम भिन्न भिन्न पदार्थों को दृष्टि से देखते हैं, तथापि उनका कार्यकारणसम्बन्ध प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता; किन्तु हम अपने मानसिक व्यापारों से उसे निश्चित किया करते हैं। उदाहरणार्थ, जब कोई एक पदार्थ हमारे नेत्रों के सामने आता है, तब उसका रूप और उसकी गति देख कर हम निश्चय करते हैं, कि यह एक 'फ़ौजी सिपाही' है; और यही संस्कार मन में बना रहता है। इस के बाद ही जब कोई दूसरा पदार्थ उसी रूप और गति में दृष्टि के सामने आता है, तब वही मानसिक क्रिया फिर शुरू हो जाती है; और हमारी बुद्धि का निश्चय हो जाता है, कि वह भी एक फौजी सिपाही है। इस प्रकार भिन्न भिन्न समय में (एक के बाद दूसरे) जो अनेक संस्कार हमारे मन पर होते रहते हैं, उन्हें हम अपनी स्मरणशक्ति से याद कर एकत्र रखते हैं; और जब वह पदार्थसमूह हमारी दृष्टि के सामने आ जाता है, तब उन सब भिन्न भिन्न संस्कारों का ज्ञान एकता के रूप में होकर हम कहने लगते हैं, कि हमारे सामने से 'फौज' जा रही है। इस सेना के

पीछे जानेवाले पदार्थ का रूप देख कर हम निश्चय करते हैं, कि वह 'राज' है। और 'फौज'–सम्बन्धी पहले संस्कार को तथा 'राजा'–सम्बन्धी इस नूतन संस्कार को एकत्र कर हम कह सकते हैं, कि यह 'राजा की सवारी जा रही है'। इसलिये कहना पड़ता है, कि सृष्टिज्ञान केवल इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला जड़ पदार्थ नहीं है; किन्तु इन्द्रियों के द्वारा मन पर होनेवाले अनेक संस्कारों या परिणामों का जो 'एकीकरण' 'द्रष्टा आत्मा' किया करता है, उसी एकीकरण का फल ज्ञान है। इसीलिये भगवद्गीता में भी ज्ञान का लक्षण इस प्रकार कहा है–"अविभक्तं विभक्तेषु" अर्थात् ज्ञान वही है, कि जिससे विभक्त या निरालेपन में अविभक्तता या एकता का बोध हो* (गी. १८. २०)। परन्तु इस विषय का यदि सूक्ष्म विचार किया जावे, कि इंद्रियों के द्वारा मन पर जो संस्कार प्रथम होते हैं, वे किस वस्तु के हैं; तो जान पड़ेगा, कि यद्यपि आँख, कान, नाक इत्यादि इन्द्रियों से पदार्थ के रूप, शब्द, गन्ध आदि गुणों का ज्ञान हमें होता है। तथापि जिस पदार्थ में ये–बाह्यगुण हैं, उसके आन्तरिक स्वरूप के विषय में हमारी इन्द्रियाँ हमें कुछ भी नहीं बतला सकतीं। हम यह देखते हैं सही, कि 'गीली मिट्टी' का घड़ा बनता है; परन्तु यह नहीं जान सकते कि जिसे हम 'गीली मिट्टी' कहते हैं, उस पदार्थ का यथार्थ तात्त्विक स्वरूप क्या है। चिकनाई, गीलापन, मैला रंग या गोलाकार (रूप) इत्यादि गुण जब इन्द्रियों के द्वारा मन को पृथक् पृथक् मालूम हो जाते हैं, तब उन संस्कारों का एकीकरण करके 'द्रष्टा' आत्मा कहता है, कि 'यह गीली मिट्टी है;' और आगे इसी द्रष्टा की (क्योंकि यह मानने के लिये कोई कारण नहीं, कि द्रव्य का तात्त्विक रूप बदल गया) गोल तथा पोली आकृति या रूप, ठन ठन आवाज़ और सूखापन इत्यादि गुण जब इन्द्रियों के द्वारा मन को मालूम हो जाते हैं, तब आत्मा उनका एकीकरण करके उसे 'घड़ा' कहता है। सारांश, सारा भेद 'रूप या आकार' में ही होता रहता है। और जब इन्हीं गुणों के संस्कारों को, (जो मन पर हुआ करते हैं) 'द्रष्टा' आत्मा एकत्र कर लेता है, तब एक ही तात्त्विक पदार्थ को अनेक नाम प्राप्त हो जाते हैं। इसका सब से सरल उदाहरण समुद्र और तरङ्ग का या सोना और अलंकार का है। क्योंकि इन दोनों उदाहरणों में रङ्ग, गाढ़ापनपतलापन, वजन आदि गुण एक ही से रहते हैं; और केवल रूप (आकार) तथा नाम येही दो गुण बदलते रहते हैं। इसीलिये वेदान्त में ये सरल उदाहरण हमेशा पाये जाते हैं। सोना तो एक पदार्थ है; परन्तु भिन्न भिन्न समय पर बदलनेवाले उसके आकारों के जो संस्कार इंद्रियों के द्वारा मन पर होते हैं, उन्हें एकत्र करके 'द्रष्टा' उस सोने को ही–कि जो तात्त्विक दृष्टि से एक ही मूल पदार्थ है, कभी 'कड़ा', कभी 'अँगूठी' या कभी 'पँचलड़ी', 'पहुँची'

* Cf "Knowledge is first produced by the synthesis of what is manifold." Kant's Critique of Pure Reason, p. 64, Max-Muller's translation, 2nd Ed.

और 'कङ्गन' इत्यादि भिन्न भिन्न नाम दिया करता है। भिन्न भिन्न समय पर पदार्थों को जो इस प्रकार नाम दिये जाते हैं, उन नामों को (तथा पदार्थों की जिन भिन्न भिन्न आकृतियों के कारण वे नाम बदलते रहते हैं, उन आकृतियों को) उपनिषदों में 'नामरूप' कहते हैं; और इन्हीं में अन्य सब गुणों का भी समावेश कर दिया जाता है (छां. ६. ३ और ४; बृ. १. ४. ७.)। और इस प्रकार समावेश होना ठीक भी है। क्योंकि कोई भी गुण लीजिये; उसका कुछ-न-कुछ नाम या रूप अवश्य होगा। यद्यपि इन नामरूपों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहें, तथापि कहना पड़ता है, कि–इन नामरूपों के मूल में आधारभूत कोई तत्त्व या द्रव्य है, जो इन नामरूपों से भिन्न है; पर कभी बदलता नहीं––जिस प्रकार पानी पर पतङ्गें होती हैं, उसी प्रकार ये सब नामरूप किसी एक ही मूलद्रव्य पर तरङ्गों के समान हैं। यह सच है, कि हमारी इन्द्रियाँ नामरूप के अतिरिक्त और कुछ भी पहचान नहीं सकतीं। अतएव इन इन्द्रियों को उस मूलद्रव्य का ज्ञान होना सम्भव नहीं, कि जो नामरूप से भिन्न हो, परन्तु उसका आधारभूत है। परन्तु सारे संसार का आधारभूत यह तत्त्व भले ही अव्यक्त हो; अर्थात् इन्द्रियों से न जाना जा सके; तथापि हमको अपनी बुद्धि से यही निश्चित अनुमान करना पड़ता है, कि वह सत् है––अर्थात् वह सचमुच सर्व काल सब नामरूपों के मूल में तथा नामरूपों में भी निवास करता है; और उसका कभी नाश नहीं होता। क्योंकि यदि इन्द्रियगोचर नामरूपों के अतिरिक्त मूलतत्त्व को कुछ मानें ही नहीं, तो फिर 'कड़ा', 'कङ्गन' आदि भिन्न भिन्न पदार्थ हो जावेंगे। एवं इस समय हमें जो यह ज्ञान हुआ करता है, कि 'वे सब एक ही धातु के (सोने के) बने हैं। उस ज्ञान के लिये कुछ भी आधार नहीं रह जावेगा। ऐसी अवस्था में केवल इतना ही कहते बनेगा, कि यह 'कड़ा' है; यह 'कङ्गन है। यह कदापि न कह सकेंगे, कि कड़ा सोने का है; और कङ्गन भी सोने का है। अतएव न्यायतः यह सिद्ध होता है, कि 'कड़ा सोने का है', कङ्गन सोने का है,' इत्यादि वाक्यों में 'है' शब्द से जिस सोने के साथ नामरूपात्मक 'कड़े' और 'कङ्गन' का सम्बन्ध जोड़ा गया है, वह सोना केवल शशश्रृंगवत् अभावरूप नहीं है। किन्तु वह उस द्रव्यांश का ही बोधक है, कि जो सारे आभूषणों का आधार है। इसी न्याय का उपयोग सृष्टि के सारे पदार्थों में करें; तो सिद्धान्त यह निकलता है, कि पत्थर, मिट्टी, चाँदी, लोहा, लकड़ी इत्यादि अनेक नामरूपात्मक पदार्थ, जो नज़र आते हैं, सब किसी एक ही द्रव्य पर भिन्न भिन्न नामरूपों का मुलम्मा या गिलट कर उत्पन्न हुए हैं; अर्थात् सारा भेद केवल नामरूपों का है, मूलद्रव्य का नहीं। भिन्न भिन्न नामरूपों की जड़ में एक ही द्रव्य नित्य निवास करता है। 'सब पदार्थों में इस प्रकार से नित्य रूप से सदैव रहना'––संस्कृत में 'सत्तासामान्यत्व' कहलाता है।

वेदान्तशास्त्र के उक्त सिद्धान्त का ही कान्ट आदि अर्वाचीन पश्चिमी तत्त्वज्ञानियों ने भी स्वीकार किया है। नामरूपात्मक जगत् की जड़ में नामरूपों से

भिन्न, जो कुछ अदृश्य नित्यद्रव्य है, उसे कान्ट ने अपने ग्रन्थ में 'वस्तुतत्त्व' कहा है; और नेत्र आदि इन्द्रियों को गोचर होनेवाले नामरूप को 'बाहरी दृश्य' कहा है* । परन्तु वेदान्तशास्त्र में नित्य बदलनेवाले नामरूपात्मक दृश्य जगत् को 'मिथ्या' या 'नाशवान्' और मूलद्रव्य को 'सत्य' या 'अमृत' कहते हैं। सामान्य लोग सत्य की व्याख्या यों करते हैं, कि 'चक्षुर्वै सत्यं' अर्थात् जो आँखों से देख पड़े वही सत्य है; और व्यवहार में भी देखते हैं, कि किसी ने स्वप्न में लाख रुपया पा लिया अथवा लाख रुपया मिलने की बात कान से सुन ली; तो इस स्वप्न की बात में और सचमुच लाख रुपये की रक़म के मिल जाने में बड़ा भारी अन्तर रहता है । इस कारण एक दूसरे से सुनी हुई और आँखों से प्रत्यक्ष देखी हुई—इन दोनों बातों में किस पर अधिक विश्वास करें ? आँखों पर या कानों पर ? इसी दुविधा को मेटने के लिये बृहदारण्यक उपनिषद् (५. १४. ४) में यह 'चक्षुर्वै सत्यं' वाक्य आया है । किन्तु जिस शास्त्र में रुपये खोटे होने का निश्चय 'रुपये' की गोल-गोल सूरत और उसके प्रचलित नाम से करना है, वहाँ सत्य की इस सापेक्ष व्याख्या का क्या उपयोग होगा ? हम व्यवहार में देखते हैं, कि यदि किसी की बातचीत का ठिकाना नहीं है; और यदि वह घण्टे घण्टे में अपनी बात बदलने लगा, तो लोग उसे झूठा कहते हैं । फिर इसी न्याय से 'रुपये' के नामरूप को (भीतरी द्रव्य को नहीं) खोटा अथवा झूठा कहने में क्या हानि है ? क्योंकि रुपये का जो नामरूप आज इस घड़ी है, उसे दूर करके, उसके बदले 'करधनी' या 'कटोरे' का नामरूप उसे दूसरे ही दिन दिया जा सकता है; अर्थात् हम अपनी आँखों से देखते हैं, कि यह नामरूप हमेशा बदलता रहता है—इसमें नित्यता कहाँ है ? अब यदि कहें कि जो आँखों से देख पड़ता है, उसके सिवा अन्य कुछ सत्य नहीं है; तो एकीकरण की जिस मानसिक क्रिया में सृष्टिज्ञान होता है, वह भी तो आँखों से नहीं देख पड़ती। अतएव उसे भी झूठ कहना पड़ेगा। इस कारण हमें जो कुछ ज्ञान होता है, उसे भी असत्य झूठ कहना पड़ेगा। इन पर (और ऐसी ही दूसरी कठिनाइयों पर) ध्यान दे कर "चक्षुर्वै सत्यं" जैसे सत्य के लौकिक और सापेक्ष लक्षण को ठीक नहीं माना है। किन्तु सर्वोपनिषद् में सत्य की यही व्याख्या की है, कि सत्य वही है, जिसका अन्य बातों के नाश हो जाने पर भी कभी नाश नहीं होता । और इसी प्रकार महाभारत में भी सत्य का यही लक्षण बतलाया गया है—

*कान्ट ने अपने Critique of Pure Reason नामक ग्रन्थ में यह विचार किया है। नामरूपात्मक संसार की जड़ में जो द्रव्य है, उसे उसने 'डिंग आन् झिश्' (Ding an sich–Thing in itself) कहा है; और हमने उसी का भाषान्तर 'वस्तुतत्त्व' किया है। नामरूपों के बाहरी दृश्य को कान्ट ने एरशायनुंग (Erscheinung–appearance) कहा है। कान्ट कहता है, कि वस्तुतत्त्व अज्ञेय है ।

सत्यं नामाऽव्ययं नित्यमविकारि तथैव च।*

अर्थात् "सत्य वही है कि जो अव्यय है अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता; जो नित्य है अर्थात् सदासर्वदा बना रहता है; और अविकारी है अर्थात् जिसका स्वरूप कभी बदलता नहीं" (म.भा. शां. १६२. १०)। अभी कुछ और थोड़ी देर में कुछ करनेवाले मनुष्य को झूठा कहने का कारण यही है, कि वह अपनी बात पर स्थिर नहीं रहता—इधर उधर डगमगता रहता है। सत्य के इस निरपेक्ष लक्षण को स्वीकार कर लेने पर कहना पड़ता है, कि आँखों से देख पड़नेवाला, पर हर घडी में बदलने वाला नामरूप मिथ्या है। उस नामरूप से ढँका हुआ और उसी के मूल में सदैव एक ही सा स्थित रहनेवाला अमृत वस्तुतत्त्व ही—वह आँखों से भले ही न देख पड़े—ठीक ठीक सत्य है। भगवद्गीता में ब्रह्म का वर्णन इसी नीति से किया गया है 'यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति' (गी. ८. २०; १३. २७)—अक्षर ब्रह्म वही है, कि जो सब पदार्थ अर्थात् सभी पदार्थों के नामरूपात्मक शरीर न रहने पर भी नष्ट नहीं होता। महाभारत में नारायणीय अथवा भागवतधर्म के निरूपण में यही श्लोक पाठभेद से फिर 'यः स सर्वेषु भूतेषु' के स्थान में 'भूतग्रामशरीरेषु' होकर आया है (म.भा. शां. ३३९. २३)। ऐसे ही गीता के दूसरे अध्याय के सोलहवें और सत्रहवें श्लोकों का तात्पर्य भी वही है। वेदान्त में जब आभूषण को 'मिथ्या' और सुवर्ण को 'सत्य' कहते हैं; तब उसका यह मतलब नहीं है, कि वह जेवर निरुपयोगी या बिलकुल खोटा है—अर्थात् आँखों से दिखाई नहीं पड़ता, या मिट्टी पर पन्नी चिपका कर बनाया गया है—अर्थात् वह अस्तित्व में है ही नहीं। यहाँ 'मिथ्या' शब्द का प्रयोग पदार्थ के रङ्ग, रूप आदि गुणों के लिये और आकृति के लिये अर्थात् ऊपरी दृश्य के लिये किया गया है। भीतरी द्रव्य से उसका प्रयोजन नहीं है। स्मरण रहे कि तात्त्विक द्रव्य तो सदैव 'सत्य' है। वेदान्ती यही देखता है, कि पदार्थमात्र के नामरूपात्मक आच्छादन के नीचे मूल कौन-सा तत्त्व है; और तत्त्वज्ञान का सच्चा विषय है भी यही। व्यवहार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि गहना गढ़वाने में चाहे जितना मेहनताना देना पड़ा हो; पर आपत्ति के समय जब उसे बेचने के लिये सराफ की दूकान पर ले जाते हैं, तब वह साफ़ साफ़ कह देता है, कि "मैं नहीं जानना चाहता, कि गहना गढ़वाने में तोले पीछे क्या उज़रत देनी पड़ी है। यदि सोने के चलत् भाव में बेचना चाहो, तो हम ले लेंगे"! वेदान्त की परिभाषा में इसी विचार को इस ढंग से व्यक्त करेंगे:—सराफ़ को गहना मिथ्या और उनका सोना भर सत्य देख पड़ता है। इसी प्रकार यदि किसी नये मकान को बेचें, तो उसकी सुन्दर बनावट (रूप) और गुञ्जाइश की जगह (आकृति)

---

* ग्रीन ने real (सत् या सत्य) की व्याख्या बतलाते समय "Whatever anything is really it is unalterably कहा है Prolegomena to Ethics § 25). ग्रीन की यह व्याख्या और महाभारत की उक्त व्याख्या दोनों तत्त्वतः एक ही हैं।

बनाने में जो खर्च लगा होगा, उसकी ओर खरीददार ज़रा भी ध्यान नहीं देता। वह कहता है, कि ईंट-चुना, लकड़ी-पत्थर और मजदूरी की लागत में यदि बेचना चाहो, तो बेच डालो। इन दृष्टान्तों से वेदान्तियों के इस कथन को पाठक भली भाँति समझ जावेंगे, कि नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है; और ब्रह्म सत्य है। 'दृश्य जगत् मिथ्या है;' इसका अर्थ यह नहीं, कि वह आँखों से देख ही नहीं पड़ता। किन्तु इसका ठीक ठीक अर्थ यही है, कि वह आँखों से तो देख पड़ता है; पर एक ही द्रव्य के नामरूप भेद के कारण जगत् के बहुतेरे जो स्थलकृत अथवा कालकृत दृश्य हैं, वे नाशवान् हैं; और इसी से मिथ्या हैं। इन सब नामरूपात्मक दृश्यों के आच्छादन में छिपा हुआ सदैव वर्तमान, जो अविनाशी और अविकारी द्रव्य है, वही नित्य और सत्य है। सराफ़ को कड़े, कङ्गन, गुञ्ज और अँगूठियाँ खोटी जँचती हैं। उसे सिर्फ उनका सोना खरा जँचता है। परन्तु सृष्टि के सुनार के कारखाने में मूल में ऐसा एक द्रव्य है, कि जिसके भिन्न भिन्न नामरूप दे कर सोना, चाँदी, लोहा, पत्थर, लकड़ी, हवा-पानी आदि सारे गहने गढ़वाये जाते हैं। इसलिये सराफ़ की अपेक्षा वेदान्ती कुछ और आगे बढ़कर सोना, चाँदी या पत्थर प्रभृति नामरूपों को जेवर के ही समान मिथ्या समझ कर सिद्धान्त करता है, कि इन सब पदार्थों के मूल में जो द्रव्य अर्थात् 'वस्तुतत्त्व' मौजूद है, वही सच्चा अर्थात् अविकारी सत्य है। इस वस्तुतत्व में नामरूप आदि कोई भी गुण नहीं हैं। इस कारण इसे नेत्र आदि इंद्रियाँ कभी भी नहीं जान सकतीं। परन्तु आँखों से न देख पड़ने, नाक से न सूँघे जाने अथवा हाथ से टटोले न जाने पर भी बुद्धि से निश्चयपूर्वक अनुमान किया जाता है, कि अव्यक्तरूप से वह होगा अवश्य ही। न केवल इतना ही; बल्कि यह भी निश्चय करना पड़ता है, कि इस जगत् में कभी भी न बदलनेवाला 'जो कुछ' है, वह यही सत्य वस्तुतत्त्व है। जगत् का मूल सत्य इसी को कहते हैं। परन्तु जो नासमझ–विदेशी और कुछ स्वदेशी पण्डितंमन्य भी (सत्य और मिथ्या शब्दों के वेदांत-शास्त्रवाले पारिभाषिक अर्थ को न तो सोचते-समझते हैं; और न यह देखने का ही कष्ट उठाते हैं, कि सत्य शब्द का जो अर्थ हमें सूझता है, उसकी अपेक्षा इसका अर्थ कुछ और भी हो सकेगा या नहीं वे) यह कह कर अद्वैत वेदान्त का उपहास किया करते हैं, कि "हमें जो जगत् आँखों से प्रत्यक्ष देख पड़ता है, उसे भी वेदान्ती लोग मिथ्या कहते हैं। भला, यह कोई बात है ?" परन्तु यास्क के शब्दों में कह सकते हैं, कि यदि अन्धे को खम्भा नहीं समझता, तो इसका दोषी कुछ खम्भा नहीं है ! छांदोग्य (६. १; और ७. १), बृहदारण्यक. (१. ६. ३), मुण्डक. (३. २. ८) और प्रश्न (६. ५) आदि उपनिषदों में बारम्बार बतलाया गया है, कि नित्य बदलते रहनेवाले अर्थात् नाशवान् नामरूप सत्य नहीं हैं। जिसे सत्य अर्थात् नित्य स्थिर तत्त्व देखना हो, उसे अपनी दृष्टि को इन नामरूपों से बहुत आगे पहुँचाना चाहिये। इसी नामरूप को कठ (२. ५) और मुण्डक (१. २. ९) आदि उपनिषदों में 'अविद्या' तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् (४. १०) में माया कहा है।

भगवद्गीता में 'माया,' 'मोह' और 'अज्ञान' शब्दों से वही अर्थ विवक्षित है। जगत् के आरम्भ में कुछ था। वह बिना नामरूप का था--अर्थात् निर्गुण और अव्यक्त था। फिर आगे चल कर नामरूप मिल जाने से वही व्यक्त और सगुण बन जाता है (बृ. १. ४. ७; छां. ६. १. २. ३)। अतएव विकारवान् अथवा नाशवान् नामरूप को ही 'माया' नाम दे कर कहते हैं, कि यह सगुण अथवा दृश्यसृष्टि एक मूलद्रव्य अर्थात् ईश्वर की माया का खेल या लीला है। अब इस दृष्टि से देखें, तो सांख्यों की प्रकृति अव्यक्त भली बनी रहे; पर वह सत्त्वरजतमगुणमयी है, अतः नामरूप से युक्त माया ही है। इस प्रकृति से विश्व की जो उत्पत्ति या फैलाव होता है (जिसका वर्णन आठवें प्रकरण में किया है), वह भी तो उस माया का सगुण नामरूपात्मक विकार है। क्योंकि कोई भी गुण हो; वह इंद्रियों को गोचर होनेवाला और इसी से नामरूपात्मक ही रहेगा। सारे आधिभौतिक शास्त्र भी इसी प्रकार माया के वर्ग में आ जाते हैं। इतिहास, भूगर्भशास्त्र, विद्युत्शास्त्र, रसायनशास्त्र पदार्थविज्ञान आदि कोई भी शास्त्र लीजिये; उसमें सब नामरूप का ही तो विवेचन रहता है--अर्थात् यही वर्णन होता है, कि किसी पदार्थ का एक नामरूप चला जा कर उसे दूसरा नामरूप कैसे मिलता है। उदाहरणार्थ, नामरूप के भेद का ही विचार इस शास्त्र में इस प्रकार रहता है :--जैसे पानी जिसका नाम है, उसको भाफ नाम कब और कैसे मिलता है, अथवा काले-कलूटे तारकोल से लाल-हरे, नीले-पीले रँगने के रङ्ग (रूप) क्योंकर बनते हैं इत्यादि। अतएव नामरूप में ही उलझे हुए इन शास्त्रों के अभ्यास से उस सत्य वस्तु का बोध नहीं हो सकता, कि जो नामरूप से परे है। प्रगट है, कि जिसे सच्चे ब्रह्मस्वरूप का पता लगाना हो, उसको अपनी दृष्टि इन सब आधिभौतिक अर्थात् नामरूपात्मक शास्त्रों से पहुँचानी चाहिये। और यही अर्थ छान्दोग्य उपनिषद् में सातवें अध्याय के आरंभ की कथामें व्यक्त किया गया है। कथा का आरम्भ इस प्रकार है :--नारद ऋषि सनत्कुमार अर्थात् स्कन्द के यहाँ जा कर कहने लगे, कि 'मुझे आत्मज्ञान बतलाओ; तब सनत्कुमार बोले कि 'पहले बतलाओ, तुमने क्या सीखा है, फिर मैं बतलाता हूँ।' इस पर नारद ने कहा, कि "मैंनें इतिहास-पुराणरूपी पाँचवें वेदसहित ऋग्वेद प्रभृति समग्र वेद, व्याकरण, गणित, तर्कशास्त्र, कालशास्त्र, नीतिशास्त्र, सभी वेदांग, धर्मशास्त्र, भूतविद्या, क्षेत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, और सर्पदेवजनविद्याप्रभृति सब कुछ पढ़ा है। परन्तु जब इससे आत्मज्ञान नहीं हुआ, तब अब तुम्हारे यहाँ आया हूँ।" इसको सनत्कुमार ने यह उत्तर दिया, कि 'तूने जो कुछ सीखा है, वह तो सारा नामरूपात्मक है। सच्चा ब्रह्म इस नामब्रह्म से बहुत आगे है;' और फिर नारद को क्रमशः इस प्रकार पहचान करा दी, कि इस नामरूप के अर्थात् सांख्यों की अव्यक्त प्रकृति से अथवा वाणी, आशा, संकल्प, मन, बुद्धि (ज्ञान) और प्राण से भी परे एवं उनसे बढ़-चढ़ कर जो है, वही परमात्मरूपी अमृततत्त्व है।

यहाँ तक जो विवेचन किया गया, उसका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि मनुष्य की

इन्द्रियों को नामरूप के अतिरिक्त और किसी का भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, तो भी इस अनित्य नामरूप के आच्छादन से ढँका हुआ लेकिन आँखों से न देख पड़नेवाला अर्थात् कुछ-न-कुछ अव्यक्त नित्यद्रव्य रहना ही चाहिये; और इसी कारण सारी सृष्टि का ज्ञान हमें एकता से होता रहता है। जो कुछ ज्ञान होता है, सो आत्मा को ही होता है। इसलिये आत्मा ही ज्ञाता यानी जाननेवाला हुआ। और इस ज्ञाता को नामरूपात्मक सृष्टि का ही ज्ञान होता है। अतः नामरूपात्मक बाह्यसृष्टि ज्ञात हुई (म.भा. शां. ३०६. ४०) और इस नामरूपात्मक सृष्टि के मूल में जो कुछ वस्तुतत्त्व है, वही ज्ञेय है। इसी वर्गीकरण को मान कर भगवद्गीता ने ज्ञाता को क्षेत्रज्ञ आत्मा और ज्ञेय को इन्द्रियातीत नित्य परब्रह्म कहा है (गी. १३. १२-१७)। और फिर आगे ज्ञान के तीन भेद करके कहा है, कि भिन्नता या नानात्व से जो सृष्टिज्ञान होता है, वह राजस है; तथा इस नानात्व का जो ज्ञान एकत्वरूप से होता है, वह सात्त्विक ज्ञान है (गी. १८. २०. २१)। इस पर कुछ लोग कहते हैं, कि इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय का तीसरा भेद करना ठीक नहीं है। एवं यह मानने के लिये हमारे पास कुछ भी प्रमाण नहीं है, कि हमें जो कुछ ज्ञान होता है, उसकी अपेक्षा जगत् में और भी कुछ है। गाय, घोड़े प्रभृति जो बाह्य वस्तुएँ हमें देख पड़ती हैं, वह तो ज्ञान ही है; जो कि हमें होता है। और यद्यपि यह ज्ञान सत्य है, तो भी यह बतलाने के लिये (कि वह ज्ञान है काहे का) हमारे पास ज्ञान को छोड़ और कोई मार्ग ही नहीं रह जाता। अतएव यह नहीं कहा जा सकता, कि इस ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ के नाते कुछ स्वतन्त्र वस्तुएँ हैं; अथवा इन बाह्य वस्तुओं के मूल में और कोई स्वतन्त्र तत्त्व है। क्योंकि जब ज्ञाता ही न रहा, तब जगत् कहाँ से रहे? इस दृष्टि से विचार करने पर उक्त तीसरे वर्गीकरण में अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में—ज्ञेय नहीं रह पाता। ज्ञाता और उसको होनेवाला ज्ञान, यही दो बच जाते हैं; और इसी युक्ति को और ज़रा-सा आगे ले चलें, तो 'ज्ञाता' या 'द्रष्टा' भी तो एक प्रकार का ज्ञान ही है। इसलिये अन्त में ज्ञान के सिवा दूसरी वस्तु ही नहीं रहती। इसी को 'विज्ञानवाद' कहते हैं; और योगाचार पन्थ के बौद्धों ने इसे ही प्रमाण माना है। इस पन्थ के विद्वानों ने प्रतिपादन किया है, कि ज्ञाता के ज्ञान के अतिरिक्त इस जगत् में और कुछ भी स्वतंत्र नहीं है। और तो क्या? दुनिया ही नहीं है। जो कुछ है, मनुष्य का ज्ञान ही ज्ञान है। अंग्रेज़ ग्रन्थकारों में भी ह्यूम जैसे पण्डित इस ढँग के मत के पुरस्कर्ता हैं। परन्तु वेदान्तियों को यह मत मान्य नहीं है। वेदान्तसूत्रों (२. २. २८-३२) में आचार्य बादरायण ने और इन्हीं सूत्रों के भाष्य में श्रीमच्छङ्कराचार्य ने इस मत का खण्डन किया है। यह कुछ झूठ नहीं, कि मनुष्य के मन पर जो संस्कार होते हैं, अन्त में वे ही उसे विदित रहते हैं; और इसी को हम ज्ञान कहते हैं। परन्तु अब प्रश्न होता है, कि यदि इस ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं; तो 'गाय'-सम्बन्धी ज्ञान जुदा है, 'घोड़ा' सम्बन्धी ज्ञान जुदा है;

और 'मैं' विषयक ज्ञान जुदा है--इस प्रकार ज्ञान ज्ञान में ही जो भिन्नता हमारी बुद्धि को जँचती है, उसका कारण क्या है ? माना कि, ज्ञान होने की मानसिक क्रिया सर्वत्र एक ही है। परन्तु यदि कहा जाय, कि इसके सिवा और कुछ है ही नहीं; तो गाय, घोड़ा इत्यादि भिन्न भिन्न भेद आ कहाँ से गये ? यदि कोई कहे, कि स्वप्न की सृष्टि के समान मन आप ही अपनी मर्जी से ज्ञान के ये भेद बनाया करता है; तो स्वप्न की सृष्टि से पृथक् जागृत अवस्था के ज्ञान में जो एक प्रकार का ठीक ठीक सिलसिला मिलता है, उसका कारण बतलाते नहीं बनता (वे.सू. शां.भा. २. २. २९; ३. २. ४), । अच्छा; यदि कहें कि ज्ञान को छोड़ दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है; और 'द्रष्टा' का मन ही सारे भिन्न भिन्न पदार्थों को निर्मित करता है; तो प्रत्येक द्रष्टा को 'अहंपूर्वक' यह सारा ज्ञान होना चाहिये, कि 'मेरा मन यानी मैं ही खम्भा हूँ;' अथवा 'मैं ही गाय हूँ'। परन्तु ऐसा होता कहाँ है ? इसी से शङ्कराचार्य ने सिद्धान्त किया है, कि जब सभी को यह प्रतीति होती है, कि मैं अलग हूँ; और मुझ से खम्भा और गाय प्रभृति पदार्थ भी अलग अलग हैं; तब द्रष्टा के मन में समूचा ज्ञान होने के लिये इस आधारभूत बाह्यसृष्टि में कुछ-न-कुछ स्वतन्त्र वस्तुएँ अवश्य होनी चाहिये (वे. सू. शां. भा. २. २. २८) । कान्ट का मत भी इसी प्रकार का है । उसने स्पष्ट कह दिया है, कि सृष्टि का ज्ञान होने के लिय यद्यपि मनुष्य की बुद्धि का एकीकरण आवश्यक है, तथापि बुद्धि इस ज्ञान को सर्वथा अपनी ही गाँठ से--अर्थात् निराधार या बिलकुल नया नहीं उत्पन्न कर देती । उसे सृष्टि की बाह्य वस्तुओं की सदैव अपेक्षा रहती है । यहाँ कोई प्रश्न करे, कि "क्योंजी! शंकराचार्य एक बार बाह्यसृष्टि को मिथ्या कहते हैं; और फिर दूसरी बार बौद्धों का खण्डन करने में उसी बाह्यसृष्टि के अस्तित्व को 'द्रष्टा' के अस्तित्व के समान ही सत्य प्रतिपादन करते हैं । इन बे मेल बातों का मिलान होगा कैसे ?" पर इस प्रश्न का उत्तर पहले ही बतला चुके हैं। आचार्य जब बाह्यसृष्टि को मिथ्या या असत्य कहते हैं, तब उसका इतना ही अर्थ समझना चाहिये, कि बाह्यसृष्टि का दृश्य नामरूप असत्य अर्थात् विनाशवान् है । नामरूपात्मक बाह्यदृश्य मिथ्या बना रहे; पर उससे इस सिद्धान्त में रत्ती भर भी आँच नहीं लगती, कि उस बाह्यसृष्टि के मूल में कुछ-न-कुछ इन्द्रियातीत सत्यवस्तु है। क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार में जिस प्रकार यह सिद्धान्त किया है, कि देहेंद्रिय आदि विनाशवान् नामरूपों के मूल में कोई नित्य आत्मतत्त्व है; उसी प्रकार कहना पड़ता है, कि नामरूपात्मक बाह्यसृष्टि के मूल में भी कुछ-न-कुछ नित्य आत्मतत्त्व है । अतएव वेदान्तशास्त्र ने निश्चिय किया है, कि देहेन्द्रियों और बाह्यसृष्टि के निशिदिन बदलनेवाले अर्थात् मिथ्या दृश्यों के मूल में-दोनों ही ओर-कोई नित्य अर्थात् सत्यद्रव्य छिपा हुआ है । इसके आगे अब प्रश्न होता है, कि दोनों ओर जो ये नित्यतत्त्व हैं, वे अलग अलग हैं या एकरूपी हैं ? परन्तु इसका विचार फिर करेंगे । इस मत पर मौक़े-बेमौक़े इसकी अर्वाचीनता के सम्बन्ध में जो आक्षेप हुआ करता है, उसीका थोड़ा-सा विचार करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं, कि बौद्धोंका विज्ञानवाद यदि वेदान्तशास्त्र को सम्मत नहीं है, तो श्रीशंकराचार्य के मायावाद का भी तो प्राचीन उपनिषदों में वर्णन नहीं है; इसलिये उसे भी वेदान्तशास्त्र का मूलभाग नहीं मान सकते। श्रीशंकराचार्य का मत--कि जिसे मायावाद कहते हैं--यह है, कि बाह्यसृष्टिका आँखों से देख पड़नेवाला नामरूपात्मक स्वरूप मिथ्या है। उसके मूल में जो अव्यय और नित्यद्रव्य है, वही सत्य है। परन्तु उपनिषदों का मन लगा कर अध्ययन करने से कोई भी सहज ही जान जावेगा, कि यह आक्षेप निराधार है। यह पहले ही बतला चुके हैं, कि 'सत्य' शब्द का उपयोग साधारण व्यवहार में आँखों से प्रत्यक्ष देख पड़नेवाली वस्तु के लिये किया जाता है। अतः 'सत्य' शब्द के इसी प्रचलित अर्थ को ले कर उपनिषदों में कुछ स्थानों पर आँखों से देख पड़नेवाले नामरूपात्मक बाह्य पदार्थों को 'सत्य' और इन नामरूपों से आच्छादित द्रव्य को 'अमृत' नाम दिया गया है। उदाहरण लीजिये। बृहदारण्यक उपनिषद् (१. ६. ३) में "तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नं"– वह अमृत सत्य से आच्छादित है--कह कर फिर अमृत और सत्य शब्दों की यह व्याख्या की है, कि "प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्रच्छन्नः" अर्थात् प्राण अमृत है; और नामरूप सत्य है। एवं इस नामरूप सत्य से प्राण ढँका हुआ है। यहाँ प्राण का अर्थ प्राणस्वरूपी परब्रह्म है। इससे प्रगट है, कि आगे के उपनिषदों में जिसे 'मिथ्या' और 'सत्य' कहा है, पहले उसी के नाम क्रम से 'सत्य' और अमृत' थे। अनेक स्थानों पर इसी अमृत को 'सत्यस्य सत्यं'--आँखों से देख पड़नेवाले सत्य के भीतर का अन्तिम सत्य (बृ. २. ३. ६)--कहा है। किन्तु उक्त आक्षेप इतने ही से सिद्ध नहीं हो जाता, कि उपनिषदों में कुछ स्थानों पर आँखों से देख पड़नेवाली सृष्टि को ही सत्य कहा है। क्योंकि बृहदारण्यक में ही अन्त में यह सिद्धान्त किया है, कि आत्मरूप परब्रह्म को छोड़; और सब 'आर्तम्' अर्थात् विनाशवान् है (बृ. ३. ७. २३)। जब पहले पहल जगत् के मूलतत्त्व की खोज होने लगी, तब शोधक लोग आँखों से देख पड़नेवाले जगत् को पहले से ही सत्य मान कर ढूँढने लगे, कि उसके पेट में और कौन-सा सूक्ष्म सत्य छिपा हुआ है। किन्तु फिर ज्ञात हुआ, कि जिस दृश्यसृष्टि के रूप को हम सत्य मानते हैं, वह तो असल में विनाशवान् है; और उसके भीतर कोई अविनाशी या अमृत तत्त्व मौजूद है। दोनों के बीच के इस भेद को जैसे जैसे अधिक व्यक्त करने की आवश्यकता होने लगी, वैसे वैसे 'सत्य' और 'अमृत' शब्दों के स्थान में 'अविद्या' और 'विद्या', एवं अन्त में 'माया और सत्य' अथवा 'मिथ्या और सत्य' इन पारिभाषिक शब्दों का प्रचार होता गया। क्योंकि 'सत्य' शब्द का धात्वर्थ 'सदैव रहनेवाला' है। इस कारण नित्य बदलनेवाले और नाशवान् नामरूप को सत्य कहना उत्तरोत्तर और भी अनुचित जँचने लगा। परन्तु इस रीति से 'माया अथवा मिथ्या' शब्दों का प्रचार पीछे भले ही हुआ हो; तो भी ये विचार बहुत पुराने ज़माने से चले आ रहे हैं, कि जगत् की वस्तुओं का वह दृश्य,

जो नज़र से देख पड़ता है, विनाशी और असत्य है । एवं उसका आधारभूत 'तात्त्विक द्रव्य' ही सत् या सत्य है । प्रत्यक्ष ऋग्वेद में भी कहा है, कि "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (१.१६४.४६.५६ और १०. ११४. ५)--मूल में जो एक और नित्य (सत्) है, उसी को विप्र (ज्ञाता) भिन्न भिन्न नाम देते हैं--अर्थात् एक ही सत्य वस्तु नामरूप से भिन्न भिन्न देख पड़ती है । 'एक रूप के अनेक रूप कर दिखलाने' के अर्थ में, यह 'माया' शब्द ऋग्वेद में भी प्रयुक्त है; और वहाँ यह वर्णन है, कि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः ईयते'--इन्द्र अपनी माया से अनेक रूप धारण करता है (ऋ. ६. ४७. १८) । तैत्तिरीय संहिता (३. १. ११) में एक स्थान पर 'माया' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है; और श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस 'माया' शब्द का नामरूप के लिये उपयोग हुआ है । जो हो; नामरूप के लिये 'माया' शब्द के प्रयोग किये जाने की रीति श्वेताश्वतर उपनिषद् के समय में भले ही चल निकली हो; पर इतना तो निर्विवाद है, कि नामरूप के अनित्य अथवा असत्य होने की कल्पना इससे पहले की है । 'माया' शब्द का विपरीत अर्थ करके श्रीशंकराचार्य ने यह कल्पना नई नहीं चला दी है । नामरूपात्मक सृष्टि के स्वरूप को जो श्रीशंकराचार्य के समान बेधड़क 'मिथ्या' कह देने की हिम्मत न कर सकें; अथवा जैसा गीता में भगवान् ने उसी अर्थ में 'माया' शब्द का उपयोग किया है; वैसा करने से जो हिचकते हों, वे चाहें तो खुशी से बृहदारण्यक उपनिषद् के 'सत्य' और 'अमृत' शब्दों का उपयोग करें । कुछ भी क्यों न कहा जावें; पर इस सिद्धान्त में ज़रा-सी चोट भी नहीं लगती, कि नामरूप 'विनाशवान्' है; और जो तत्त्व उससे आच्छादित है, वह 'अमृत' या 'अविनाशी' है । एवं यह भेद प्राचीन वैदिक काल से चला आ रहा है ।

अपने आत्मा को नामरूपात्मक बाह्यसृष्टि के सारे पदार्थों का ज्ञान होने के लिये 'कुछ-न-कुछ' एक ऐसा मूल नित्य द्रव्य होना चाहिये, कि जो आत्मा का आधार-भूत हो; और उसीके मेल का हो । एवं बाह्यसृष्टि के नाना पदार्थों की जड़ में वर्तमान रहता हो; नहीं तो यह ज्ञान ही न होगा । किन्तु इतना ही निश्चय कर देने से अध्यात्मशास्त्र का काम समाप्त नहीं हो जाता । बाह्यसृष्टि के मूल में वर्तमान इस नित्यद्रव्य को ही वेदान्ती लोक 'ब्रह्म' कहते हैं; और अब हो सके तो इस ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय करना भी आवश्यक है । सारे नामरूपात्मक पदार्थों के मूल में वर्त-मान यह नित्यतत्त्व है अव्यक्त । इसलिये प्रगट ही है, कि इसका स्वरूप नामरूपात्मक पदार्थों के समान व्यक्त और स्थूल (जड़) नहीं रह सकता । परन्तु यदि व्यक्त और स्थूल पदार्थों को छोड़ दें; तो मन, स्मृति, वासना, प्राण, और ज्ञान प्रभृति बहुत-से ऐसे अव्यक्त पदार्थ हैं, कि जो स्थूल नहीं हैं । एवं यह असम्भव नहीं; कि पर-ब्रह्म इनमें से किसी भी एक आध के स्वरूप का हो । कुछ लोग कहते हैं, कि प्राण का और परब्रह्म का स्वरूप एक ही है । जर्मन पण्डित शोपेनहर ने परब्रह्म को वासना-त्मक निश्चित किया है; और वासना मन का धर्म है । अतः इस मत के अनुसार

ब्रह्म मनोमय ही कहा जावेगा (तै. ३. ४)। परन्तु, अब तक जो विवेचन हुआ है, उससे तो यही कहा जावेगा कि--'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ. ३. ३) अथवा 'विज्ञानं ब्रह्म' (तै. ३.५)--जड़सृष्टि के नानात्व का जो ज्ञान एकस्वरूप से हमें ज्ञात होता है, वही ब्रह्म का स्वरूप होगा। हेकेल का सिद्धान्त इसी ढंग का है। परन्तु उपनिषदों में चिद्रूपी ज्ञान के साथ ही साथ सत् (अर्थात् जगत् की सारी वस्तुओं के अस्तित्व के सामान्य धर्म या सत्तासमानता) का और आनन्द का भी ब्रह्मस्वरूप में ही अन्तर्भाव करके ब्रह्म को सच्चिदानन्दरूपी माना है। इसके अतिरिक्त दूसरा ब्रह्मस्वरूप कहना हो, तो वह ॐकार है। इसकी उपपत्ति इस प्रकार है:--पहले समस्त अनादि ॐकार से उपजे हैं; और वेदों के निकल चुकने पर उनके नित्य शब्दों से ही आगे चल कर ब्रह्मा ने जब सारी सृष्टि का निर्माण किया है (गी. १७. २३; म.भा. शां. २३१. ५६-५८), तब मूल आरम्भ में ॐकार को छोड़ और कुछ न था। इससे सिद्ध होता है, कि ॐकार ही सच्चा ब्रह्मस्वरूप है (माण्डूक्य. १; तैत्ति. १. ८)। परन्तु केवल अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय, तो परब्रह्म के ये सभी स्वरूप थोड़ेबहुत नामरूपात्मक ही हैं। क्योंकि इन सभी स्वरूपों को मनुष्य अपनी इन्द्रियों से जान सकता है; और मनुष्य को इस रीति से जो कुछ ज्ञात हुआ करता है, वह नामरूप की ही श्रेणी में है। फिर इस नामरूप के मूल में जो अनादि, भीतरबाहर सर्वत्र एक-सा भरा हुआ, एक ही नित्य और अमृत तत्त्व है (गी. १३. १२-१७), उसके वास्तविक स्वरूप का निर्णय ही तो क्योंकर हो? कितने ही अध्यात्म शास्त्री पण्डित कहते हैं, कि कुछ भी हो; यह तत्त्व हमारी इन्द्रियों को अज्ञेय ही रहेगा; और कांट ने तो इस प्रश्न पर विचार करना ही छोड़ दिया है। इसी प्रकार उपनिषदों में भी परब्रह्म के अज्ञेय स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है:--"नेति नेति" अर्थात् वह नहीं है, कि जिसके विषय में कुछ कहा जा सकता है; ब्रह्म इससे परे है; वह आँखों से देख नहीं पड़ता; वह वाणी को और मन को भी अगोचर है--"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" फिर भी अध्यात्मशास्त्र ने निश्चय किया है, कि इस अगम्य स्थिति में भी मनुष्य अपनी बुद्धि से ब्रह्म के स्वरूप का एक प्रकार से निर्णय कर सकता है। ऊपर जो वासना, स्मृति, धृति, आशा, प्राण और ज्ञानप्रभृति अव्यक्त पदार्थ बतलाये गये हैं। उनमें से जो सबसे अतिशय व्यापक अथवा सब से श्रेष्ठ निर्णित हो, उसी को परब्रह्म का स्वरूप मानना चाहिये। क्योंकि यह तो निर्विवाद ही है, कि सब अव्यक्त पदार्थों में परब्रह्म श्रेष्ठ है। अब इस दृष्टि से आशा, स्मृति, वासना और धृति आदि का विचार करें, तो ये सब मन के धर्म हैं। अतएव इनकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ हुआ। मन से ज्ञान श्रेष्ठ है; और ज्ञान है बुद्धि का धर्म। अतः ज्ञान से बुद्धि श्रेष्ठ हुई। और अन्त में यह बुद्धि भी जिसकी नौकर है, वह आत्मा ही सबसे श्रेष्ठ है (गी. ३. ४२)। क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-प्रकरण में इसका विचार किया गया है। अब वासना और मन आदि अव्यक्त पदार्थों से यदि आत्मा श्रेष्ठ है; तो आप ही सिद्ध हो गया, कि परब्रह्म का स्वरूप भी

वही आत्मा होगा। छान्दोग्य उपनिषद् के सातवें अध्याय में इसी युक्ति से काम लिया गया है। और सनत्कुमार ने नारद से कहा है, कि वाणी की अपेक्षा मन अधिक योग्यता का (भूयस्) है। मन से ज्ञान, ज्ञान से बल और इसी प्रकार चढ़ते चढ़ते जब कि आत्मा सब से श्रेष्ठ (भूमन्) है, तब आत्मा ही को परब्रह्म का सच्चा स्वरूप कहना चाहिये। अंग्रेज़ ग्रन्थकारों में ग्रीन ने इसी सिद्धान्त को माना है; किन्तु उसकी युक्तियाँ कुछ कुछ भिन्न हैं। इसलिये यहाँ उन्हें संक्षेप से वेदान्त की परिभाषा में बतलाते हैं। ग्रीन का कथन है, कि हमारे मन पर इन्द्रियों के द्वारा बाह्य नामरूप के जो संस्कार हुआ करते हैं, उनके एकीकरण से आत्मा को ज्ञान होता है। उस ज्ञान के मेल के लिये बाह्यसृष्टि के भिन्न भिन्न नामरूपों के मूल में भी एकता से रहनेवाली कोई न कोई वस्तु होनी चाहिये। नहीं तो आत्मा के एकीकरण से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वकपोलकल्पित और निराधार हो कर विज्ञानवाद के समान असत्य प्रामाणिक हो जायगा। इस 'कोई न कोई' वस्तु को हम ब्रह्म कहते हैं। भेद इतना ही है, कि कांट की परिभाषा को मान कर ग्रीन उसको वस्तु-तत्त्व कहता है। कुछ भी कहो; अन्त में वस्तुतत्त्व (ब्रह्म) और आत्मा ये ही दो पदार्थ रह जाते हैं, कि जो परस्पर के मेल के हैं। इन में से 'आत्मा' मन और बुद्धि से परे अर्थात् इन्द्रियातीत है। तथापि अपने विश्वास के प्रमाण पर हम माना करते हैं, कि आत्मा जड़ नहीं है। वह या तो चिद्रूपी है या चैतन्यरूपी है। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का निश्चय करके देखना है, कि बाह्यसृष्टि के ब्रह्म का स्वरूप क्या है। इस विषय में यहाँ दो ही पक्ष हो सकते हैं; यह ब्रह्म या वस्तुतत्त्व (१) आत्मा के स्वरूप का होगा या (२) आत्मा से भिन्न स्वरूप का? क्योंकि, ब्रह्म और आत्मा के सिवा अब तीसरी वस्तु ही नहीं रह जाती। परन्तु सभी का अनुभव यह है, कि यदि कोई भी दो पदार्थ स्वरूप से भिन्न हों, तो उनके परिणाम अथवा कार्य भी भिन्न भिन्न होने चाहिये। अतएव हम लोग पदार्थों के भिन्न अथवा एकरूप होने का निर्णय उन पदार्थों के परिणामों से ही किसी भी शास्त्र में किया करते हैं। एक उदाहरण लीजिये; दो वृक्षों के फल, फूल, पत्ते, छिलके और जड़ को देख कर हम निश्चय करते हैं, कि वे दोनों अलग अलग हैं या एक ही है। यदि इसी रीति का अवलम्बन करके यहाँ विचार करें, तो देख पड़ता है, कि आत्मा और ब्रह्म एक ही स्वरूप के होंगे। क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है, कि सृष्टि के भिन्न भिन्न पदार्थों के जो संस्कार मन पर होते हैं, उनका आत्मा की क्रिया से एकीकरण होता है। इस एकीकरण के साथ उस एकीकरण का मेल होना चाहिये, कि जिसे भिन्न भिन्न बाह्य पदार्थों के मूल में रहनेवाला वस्तुतत्त्व अर्थात् ब्रह्म इन पदार्थों की अनेकता को मेट कर निष्पन्न करता है। यदि इस प्रकार इन दोनों में मेल न होगा, तो समूचा ज्ञान निराधार और असत्य हो जावेगा। एक ही नमूने के और बिलकुल एक दूसरे की जोड़ के एकीकरण करनेवाले ये तत्त्व दो स्थानों पर भले ही हों; परन्तु वे परस्पर भिन्न भिन्न नहीं रह सकते। अतएव यह आप ही सिद्ध होता है, कि इनमें से आत्मा का जो रूप होगा,

वही रूप ब्रह्म का भी होना चाहिये * । सारांश, किसी भी रीति से विचार क्यों न किया जाय; सिद्ध यही होगा, कि बाह्यसृष्टि के नाम और रूप से आच्छादित ब्रह्मतत्त्व, नामरूपात्मक प्रकृति के समान जड़ तो है ही नहीं; किन्तु वासनात्मक ब्रह्म, मनोमय ब्रह्म, ज्ञानमय ब्रह्म, प्राणब्रह्म अथवा ॐकाररूपी शब्दब्रह्म––ये ब्रह्म के रूप भी निम्न श्रेणी के हैं; और ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप इनसे परे है। एवं इनसे अधिक योग्यता का अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपी है। और इस विषय का गीता में अनेक स्थानों पर जो उल्लेख है, उससे स्पष्ट होता है, कि गीता का सिद्धान्त भी यही है (देखो गी. २. २०; ७. ५; ८. ४; १३.३१; १५. ७, ८)। फिर भी यह न समझ लेना चाहिये, कि ब्रह्म और आत्मा के एकस्वरूप रहने के सिद्धान्त को हमारे ऋषियों ने ऐसी युक्ति-प्रयुक्तियों से ही पहले खोजा था। इसका कारण इसी प्रकरण के आरम्भ में बतला चुके हैं, कि अध्यात्मशास्त्र में अकेली बुद्धि की ही सहायता से कोई भी एक ही अनुमान निश्चित नहीं किया जाता है। उसे सदैव आत्मप्रतीति का सहारा रहना चाहिये। उसके अतिरिक्त सर्वदा देखा जाता है, कि आधिभौतिक शास्त्र में भी अनुभव पहले होता है; और उसकी उपपत्ति या तो पीछे से मालूम हो जाती है, या ढूँढ ली जाती है। इसी न्याय से उक्त ब्रह्मात्मैक्य की बुद्धिगम्य उपपत्ति निकलने के सैकड़ों वर्ष पहले हमारे प्राचीन ऋषियों ने निर्णय कर दिया था कि " नेह नानाऽस्ति किंचन " (बृ. ४. ४. १९; कठ. ४. ११)––सृष्टि में देख पड़नेवाली अनेकता सच नहीं है। उसके मूल में चारों ओर एक ही अमृत, अव्यय और नित्यतत्त्व है (गी. १८. २०)। और फिर उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से यह सिद्धान्त ढूँढ निकाला, कि बाह्यसृष्टि के नामरूप से आच्छादित अविनाशी तत्त्व और अपने शरीर का वह आत्मतत्त्व––कि जो बुद्धि से परे है––ये दोनों एक ही, अमर और अव्यय हैं; अथवा जो तत्त्व ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में यानी मनुष्य की देह में वास करता है। एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को, गार्गी-वारुणि प्रभृति को और जनक को (बृ. ३. ५–८; ४. २–४) पूरे वेदान्त का यही रहस्य बतलाया है। इसी उपनिषद् में पहले कहा गया है, कि जिसने जान लिया, कि " अहं ब्रह्मास्मि "––मैं ही परब्रह्म हूँ––उसने सब कुछ जान लिया (बृ. १. ४. १०); और छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में श्वेतकेतु को उसके पिता ने अद्वैत वेदान्त का यही तत्त्व अनेक रीतियों से समझा दिया है। जब अध्याय के आरम्भ में श्वेतकेतु ने अपने पिता से पूछा, कि " जिस प्रकार मिट्टी के एक लौंदे का भेद जान लेने से मिट्टी के नामरूपात्मक सभी विकार जाने जाते हैं, उसी प्रकार जिस एक ही वस्तु का ज्ञान हो जाने से सब कुछ समझ में आ जावे। वही एक वस्तु मुझे बतलाओ, मुझे उसका ज्ञान नहीं। " तब पिता ने नदी, समुद्र, पानी और नमकप्रभृति अनेक दृष्टान्त दे कर समझाया, कि बाह्यसृष्टि के मूल में जो द्रव्य है, वह (तत्) और तू (त्वम्) अर्थात् तेरी देह की आत्मा दोनों एक ही हैं––" तत्त्वमसि "; एवं

* Green's *Prolegomena to Ethics*, 26–36

ज्योंही तूने अपने आत्मा को पहचाना, त्योंही तुझे आप ही मालूम हो जावेगा, कि समस्त जगत् के मूल में क्या है । इस प्रकार पिता ने श्वेतकेतु को भिन्न भिन्न नौ दृष्टान्तों से उपदेश किया है; और प्रति बार "तत्त्वमसि"—वही तू है—इस सूत्र की पुनरावृत्ति की है (छां. ६. ८–१६) । यह 'तत्त्वमसि' अद्वैत वेदान्त के महावाक्यों में मुख्य वाक्य है ।

इस प्रकार निर्णय हो गया, कि ब्रह्म आत्मस्वरूपी है । परन्तु आत्मा चिद्रूपी है । इसलिये सम्भव है, कि कुछ लोग ब्रह्म को भी चिद्रूपी समझें । अतएव यहाँ ब्रह्म के और उसके साथ ही साथ आत्मा के सच्चे स्वरूप का थोड़ा-सा खुलासा कर देना आवश्यक है । आत्मा के सान्निध्य से जड़ात्मक बुद्धि में उत्पन्न होनेवाले धर्म को चित् अर्थात् ज्ञान कहते हैं । परन्तु जब कि बुद्धि के इस धर्म को आत्मा पर लादना उचित नहीं है, तब तात्त्विक दृष्टि से आत्मा के मूलस्वरूप को भी निर्गुण और अज्ञेय ही मानना चाहिये । अतएव कई-एकों का मत है, कि यदि ब्रह्म आत्मा-स्वरूपी है, तो इन दोनों को या इनमें से किसी भी एक को, चिद्रूपी कहना कुछ अंशों में गौण ही है । यह आक्षेप अकेले चिद्रूप पर ही नहीं है । किन्तु यह आप ही आप सिद्ध होता है, कि परब्रह्म के लिये सत् विशेषण का प्रयोग करना भी उचित नहीं है । क्योंकि सत् और असत्, ये दोनों धर्म परस्परविरुद्ध और सदैव परस्पर-सापेक्ष हैं । अर्थात् भिन्न भिन्न दो वस्तुओंका निर्देश करने के लिये कहे जाते हैं । जिसने कभी उजेला न देखा हो, वह अँधेरे की कल्पना नहीं कर सकता । यही नहीं; किन्तु 'उजेला' और 'अँधेरा' इन शब्दों की यह जोड़ी ही उसको सूझ न पड़ेगी । सत् और असत् शब्दों की जोड़ी (द्वंद्व) के लिये यही न्याय उपयोगी है । जब हम देखते हैं, कि कुछ वस्तुओं का नाश होता है; तब हम सब वस्तुओं के असत् (नाश होनेवाली) और सत् (नाश न होनेवाली), ये दो भेद करने लगते हैं; अथवा सत् और असत् शब्द सूझ पड़ने के लिये मनुष्य की दृष्टि के आगे दो प्रकार के विरुद्ध धर्मों की आवश्यकता होती है । अच्छा; यदि आरम्भ में एक ही वस्तु थी, तो द्वैत के उत्पन्न होने पर दो वस्तुओं के उद्देशसे जिन सापेक्ष सत् और असत् शब्दों का प्रचार हुआ है, उनका प्रयोग इस मूलवस्तु के लिये कैसे किया जावेगा? क्योंकि, यदि इसे सत् कहते हैं, तो शंका होती है, कि क्या उस समय उसकी जोड़ का कुछ असत् भी था? यही कारण है, जो ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१०. १२९) में परब्रह्म को कोई भी विशेषण न दे कर सृष्टि के मूलभूत का वर्णन इस प्रकार किया है, कि "जगत् के आरम्भ में न तो सत् था; और न असत् ही था । जो कुछ था वह एक ही था।" इन सत् और असत् शब्दों की जोड़ियाँ (अथवा द्वन्द्व) तो पीछे से निकली हैं; और गीता (७. २८; २. ४५) में कहा है, कि सत् और असत्, शीत और उष्ण द्वन्द्वों से जिसकी बुद्धि मुक्त हो जाय, वह इन सब द्वन्द्वों से परे अर्थात् निर्द्वन्द्व ब्रह्मपद को पहुँच जाता है । इससे देख पड़ेगा, कि अध्यात्मशास्त्र के विचार कितने गहन और सूक्ष्म हैं । केवल तर्कदृष्टि से विचार

करें, तो परब्रह्म का अथवा आत्मा का भी अज्ञेयत्व स्वीकार किये बिना गति ही नहीं रहती। परन्तु ब्रह्म इस प्रकार अज्ञेय और निर्गुण अतएव इंद्रियातीत हो; तो भी यह प्रतीति हो सकती है, कि परब्रह्म का भी वही स्वरूप है; जो कि हमारे निर्गुण तथा अनिर्वाच्य आत्मा का है; और जिसे हम साक्षात्कार से पहचानते हैं। इसका कारण यह है, कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आत्मा की साक्षात् प्रतीति होती ही है। अतएव अब यह सिद्धान्त निरर्थक नहीं हो सकता, कि ब्रह्म और आत्मा एक-स्वरूपी हैं। इस दृष्टि से देखें, तो ब्रह्मस्वरूप के विषय में इसकी अपेक्षा कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता, कि ब्रह्म आत्मस्वरूपी है। शेष बातों के सम्बन्ध में अपने अनुभव को ही पूरा प्रमाण मानना पड़ता है। किन्तु बुद्धिगम्य शास्त्रीय प्रतिपादन में जितना शब्दों से हो सकता है, उतना खुलासा कर देना आवश्यक है। इसीलिये यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र एक—सा व्याप्त, अज्ञेय और अनिर्वाच्य है, तो भी जड़सृष्टि का और आत्मस्वरूपी ब्रह्मतत्त्व का भेद व्यक्त करने के लिये, आत्मा के सान्निध्य से जड़प्रकृति में चैतन्यरूपी जो गुण हमें दृग्गोचर होता है, उसी को आत्मा का प्रधान लक्षण मान कर अध्यात्मशास्त्र में आत्मा और ब्रह्म दोनों को चिद्रूपी या चैतन्यरूपी कहते हैं। क्योंकि यदि ऐसा न करें, तो आत्मा और ब्रह्म दोनों ही निर्गुण, निरंजन एवं अनिर्वाच्य होने के कारण उनके रूप का वर्णन करने में या तो चुप्पी साध जाना पड़ता है या शब्दों में किसी ने कुछ वर्णन किया, तो "नहीं नहीं" का यह मन्त्र रटना पड़ता है, कि "नेति नेति। एतस्मादन्यत्परमस्ति।" ——यह नहीं है, यह (ब्रह्म) नहीं है (यह तो नामरूप हो गया)। सच्चा ब्रह्म इससे परे और ही है। इस नकारात्मक पाठ का आवर्तन करने के अतिरिक्त और दूसरा मार्ग ही नहीं रह जाता (बृ. २. ३. ६)। यही कारण है, जो सामान्य रीति से ब्रह्म के स्वरूप के लक्षण चित् (ज्ञान), सत् (सत्तामात्रत्व अथवा अस्तित्व) और आनन्द बतलाये जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि ये लक्षण अन्य सभी लक्षणों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। फिर भी स्मरण रहे, कि शब्दों से ब्रह्मस्वरूप की जितनी पहचान हो सकती है, उतनी करा देने के लिये ये लक्षण भी कहे गये हैं। वास्तविक ब्रह्मस्वरूप निर्गुण ही है। उसका ज्ञान होने के लिये उसका अपरोक्षानुभव ही होना चाहिये। यह अनुभव कैसे हो सकता है?——इंद्रियातीत होने के कारण अनिर्वाच्य ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को कब और कैसे होता है?——इस विषय में हमारे शास्त्रकारों ने जो विवेचन किया है, उसे यहाँ संक्षेप में बतलाते हैं।

ब्रह्म और आत्मा की एकता के उक्त समीकरण को सरल भाषा में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं, कि 'जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है'। जब इस प्रकार ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव हो जावे, तब यह भेदभाव नहीं रह सकता, कि ज्ञाता अर्थात् द्रष्टा भिन्न वस्तु है; और ज्ञेय अर्थात् देखने की वस्तु अलग है। किन्तु इस विषय में शंका हो सकती है, कि मनुष्य जब तक जीवित है, तब तक उसकी नेत्र

आदि इन्द्रियाँ यदि छूट नहीं जाती हैं; तो इंन्द्रियाँ पृथक् हुईं और उनको गोचर होनेवाल विषय पृथक् हुए—यह भेद छूटेगा तो कैसे? और यदि यह भेद नहीं छूटता, तो ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव कैसे होगा? अब यदि इन्द्रियदृष्टि से ही विचार करें, तो यह शंका एकाएक अनुचित भी नहीं जान पड़ती। परन्तु हाँ, गंभीर विचार करने लगे, तो जान पड़ेगा, कि इन्द्रियाँ बाह्य विषयों को देखने का काम खुद मुख्तारी से—अपनी ही मर्ज़ी से—नहीं किया करती हैं। पहले बतला दिया है, कि "चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा" (म. भा. शां. ३११. १७)—किसी भी वस्तु को देखने के लिये (और सुनने आदि के लिये भी) नेत्रों को (ऐसे ही कान प्रभृति को भी) मन की सहायता आवश्यक है। यदि मन शून्य हो, किसी और विचार में डूबा हो, तो आँखों के आगे धरी हुई वस्तु भी नहीं सूझती। व्यवहार में होनवाले इस अनुभव पर ध्यान देने से सहज ही अनुमान होता है, कि नेत्र आदि इन्द्रियों के अक्षुण्ण रहते हुए भी मन को यदि उनमें से निकाल लें, तो इन्द्रियों के विषयों के द्वन्द्व बाह्यसृष्टि में वर्तमान होने पर भी अपने लिये न होने के समान रहेंगे। फिर परिणाम यह होगा, कि मन केवल आत्मा में अर्थात् आत्म-स्वरूपी ब्रह्म में ही रत रहेगा। इससे हमें ब्रह्मात्मैक्य का साक्षात्कार होने लगेगा। ध्यान से, समाधि से, एकांत उपासना से अथवा अत्यन्त ब्रह्मविचार करने से, अन्त में यह मानसिक स्थिति जिसको प्राप्त हो जाती है, फिर उसकी नज़र के आगे दृश्य सृष्टि के द्वन्द्व या भेद नाचते भले रहा करें; पर वह उनसे लापरवाह है—उसे वे देख ही नहीं पड़ते; और उसको अद्वैत ब्रह्मस्वरूप का आप ही आप पूर्ण साक्षात्कार होता जाता है। पूर्ण ब्रह्मज्ञान से अन्त में परमावधि की जो यह स्थिति प्राप्त होती है, उसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का तीसरा भेद अर्थात् त्रिपुटी नहीं रहती; अथवा उपास्य और उपासक का द्वैतभाव भी नहीं बचने पाता। अतएव यह अवस्था और किसी दूसरे को बतलाई नहीं जा सकती। क्योंकि ज्योंही 'दूसरे' शब्द का उच्चारण किया, त्योंही अवस्था बिगड़ी; और फिर प्रगट ही है, कि मनुष्य अद्वैत से द्वैत में आ जाता है। और तो क्या? यह कहना भी मुश्किल है, कि मुझे इस अवस्था का ज्ञान हो गया। क्योंकि 'मैं' कहते ही औरों से भिन्न होने की भावना मन में आ जाती है; और ब्रह्मात्मैक्य होने में यह भावना पूरी बाधक है। इसी कारण से याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यक (४. ५. १५. ४. ३ .२७) में इस परमावधि की स्थिति का वर्णन यों किया है :—"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति... जिघ्रति... शृणोति... विजानाति।...यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्यत् ... जिघ्रेत्... शृणुयात्... विजानीयात्।...विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। एता-वदरे खलु अमृतत्वमिति"। इसका भावार्थ यह है, कि "देखनेवाले (द्रष्टा) और देखने का पदार्थ जब तक बना हुआ था, तब तक एक दूसरे को देखता था, सूँघता था, सुनता था और जानता था। परंतु जब सभी आत्ममेव हो गया (अर्थात् अपना और पराया भेद ही न रहा) तब कौन किसको देखेगा, सूँघेगा, सुनेगा और

जानेगा ? अरे ! जो स्वयं ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है, उसी को जाननेवाला और दूसरा कहाँ से लाओगे ? " इस प्रकार सभी आत्मभूत या ब्रह्मभूत हो जाने पर वहाँ भीति, शोक अथवा सुखदुःख आदि द्वन्द्व भी रह कहाँ सकते हैं (ईश. ७) ? क्योंकि, जिससे डरना है या जिसका शोक करना है, वह तो अपने से--हम से--जुदा होना चाहिये; और ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव हो जाने पर इस प्रकार की किसी भी भिन्नता को अवकाश ही नहीं मिलता। इसी दुःखशोकविरहित अवस्था को 'आनन्दमय' नाम दे कर तैत्तिरीय उपनिषद् (२. ८; ३. ६) में कहा है, कि यह आनन्द ही ब्रह्म है। किन्तु यह वर्णन भी गौण ही है। क्योंकि आनन्द का अनुभव करनेवाला अब रहही कहाँ जाता है ? अतएव बृहदारण्यक उपनिषद (४. ३. ३२), में कहा है, कि लौकिक आनन्द की अपेक्षा आत्मानन्द कुछ विलक्षण होता है। ब्रह्म के वर्णन में 'आनन्द' शब्द आया करता है। उसकी गौणता पर ध्यान दे कर अन्य स्थानों में ब्रह्मवेत्ता पुरुष का अंतिम वर्णन ('आनंद' शब्द को बाहर निकालकर) इतनाही किया जाता है, कि " ब्रह्म भवति य एवं वेद " (बृ. ४. ४. २५). अथवा " ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति " (मुं. ३. २. ९)--जिसने ब्रह्म को जान लिया, वह ब्रह्म ही हो गया। उपनिषदों (बृ. २. ४. १२; छां. ६. १३) में इस स्थिति के लिये यह दृष्टान्त दिया गया है--कि नमककी डली जब पानीमें घुल जाती है, तब जिस प्रकार यह भेद नहीं रहता, कि इतना भाग खारे पानी का है; और इतना भाग मामूली पानी का है--उसी प्रकार ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान हो जानेपर सब ब्रह्ममय हो जाता है। किन्तु उन श्री तुकाराम महाराज ने (कि 'जिनकी कहै नित्य वेदान्त वाणी') इस खारे पानी के दृष्टान्त के बदले गुड़ का यह मीठा दृष्टान्त दे कर अपने अनुभव का वर्णन किया है--

'गूंगे का गुड' है भगवान्, बाहर भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक ? जल-तरंग से हैं हम एक ॥

इसीलिये कहा जाता है, कि परब्रह्म इन्द्रियों को अगोचर और मन को भी अगम्य होने पर भी स्वानुभवगम्य है-अर्थात् अपने अपने अनुभव से जाना जाता है। परब्रह्म की जिस अज्ञेयता का वर्णन किया जाता है, वह ज्ञाता और ज्ञेयवाली द्वैती स्थिति की है; अद्वैत साक्षात्कारवाली स्थिति की नहीं। जब तक यह बुद्धि बनी है--कि मैं अलग हूँ; और दुनिया अलग है--तब तक कुछ भी क्यों न किया जाय ? ब्रह्मात्मैक्य का पूरा ज्ञान होना सम्भव नहीं। किन्तु नदी यदि समुद्र को निगल नहीं सकती --उसको अपने में लीन नहीं कर सकती--तो जिस प्रकार समुद्र में गिर कर नदी तद्रूप हो जाती है, उसी प्रकार परब्रह्म में निमग्न होने से मनुष्य को उसका अनुभव हो जाया करता है; और उसकी ब्रह्ममय स्थिति हो जाती है, कि " सर्व भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि " (गी. ६. २९)--सारे प्राणी मुझ में हैं; और मैं सब में हूँ। केन उपनिषद् में बड़ी खूबी के साथ परब्रह्म के स्वरूप का विरोधा-

भासात्मक वर्णन इस अर्थ को व्यक्त करने के लिये किया गया है, कि पूर्ण परब्रह्म का ज्ञान केवल अपने अनुभव पर ही निर्भर है। वह वर्णन इस प्रकार है :—" अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् " (केन. २. ३)—जो कहते हैं, कि हमें परब्रह्म का ज्ञान हो गया, उन्हें उसका ज्ञान नहीं हुआ है; और जिन्हें जान ही नहीं पड़ता, कि हमने उसको जान लिया; उन्हें ही वह ज्ञान हुआ है । क्योंकि, जब कोई कहता है, कि मैंने परमेश्वर को जान लिया; तब उसके मन में वह द्वैतबुद्धि उत्पन्न हो जाती है, कि मैं (ज्ञाता) जुदा हूँ; और जिसे मैंने जान लिया, वह (ज्ञेय) ब्रह्म अलग है । अतएव उसका ब्रह्मात्मैक्यरूपी अद्वैती अनुभव उस समय उतना ही कच्चा और अपूर्ण होता है । फलतः उसी के मुंह से सिद्ध होता है, कि कहनेवाले को सच्चे ब्रह्म का ज्ञान नहीं हुआ है । इसके विपरीत ' मैं ' और ' ब्रह्म ' का द्वैती भेद मिट जाने पर ब्रह्मात्मैक्य का जब पूर्ण अनुभव होता है, तब, उसके मुँह से ऐसी भाषाका निकलना ही सम्भव नहीं रहता, कि ' मैंने उसे (अर्थात् अपने से भिन्न और कुछ) जान लिया । ' अतएव इस स्थिति में, अर्थात् जब कोई ज्ञानी पुरुष यह बतलाने में असमर्थ होता है, कि मैं ब्रह्म को जान गया; तब कहना पड़ता है, कि उसे ब्रह्म का ज्ञान हो गया । इस प्रकार द्वैत का बिलकुल लोप हो कर परब्रह्म में ज्ञाता का सर्वथा रँग जाना, लय पा लेना, बिलकुल घुल जाना, अथवा एक जी हो जाना सामान्य रूप में दिख तो दुष्कर पड़ता है; परन्तु हमारे शास्त्रकारों ने अनुभव से निश्चय किया है, कि एकाएक दुर्घट प्रतीत होनेवाली ' निर्वाण ' स्थिति, अभ्यास और वैराग्य से अन्त में मनुष्य को साध्य हो सकती है । ' मैं ' –पनरूपी द्वैतभाव इस स्थिति में डूब जाता है, नष्ट हो जाता है—अतएव कुछ लोग शंका किया करते हैं, कि यह तो फिर आत्मनाश का ही एक तरीका है । किन्तु ज्योंही समझ में आया, कि यद्यपि इस स्थिति का अनुभव करते समय इसका वर्णन करते नहीं बनता है, परन्तु पीछे से उसका स्मरण हो सकता है, त्योंही उक्त शंका निर्मूल हो जाती है * । इसकी अपेक्षा और भी अधिक प्रबल प्रमाण साधुसन्तों का अनुभव है । बहुत प्राचीन सिद्ध पुरुषों के अनुभव की बातें पुरानी हैं। उन्हें जाने दीजिये । बिलकुल अभी के प्रसिद्ध भगवद्भक्त तुकाराम महाराज ने भी इस परमावधि की स्थिति का वर्णन अलंकारिक भाषा में बड़ी खूबी से धन्यतापूर्वक इस प्रकार

* ध्यान से और समाधि प्राप्त होनेवाली की अद्वैत की अथवा अभेदभाव की यह अवस्था nitrous-oxide gas नामक एक प्रकार की रासायनिक वायु को सूँघने से प्राप्त हो जाया करती है । इसी वायू को 'लाफिंग गैस' भी कहते हैं । *Will to Believe and Other Essays on Popular Philosophy* by William James pp. 294–298. परन्तु यह नक़ली अवस्था है । समाधि से जो अवस्था प्राप्त होती है, सच्ची–असली–है। यही इन दोनों में महत्त्व का भेद है । फिर भी यहाँ उसका उल्लेख हमने इसलिये किया है, कि इस कृत्रिम अवस्था के अस्तित्व के विषय में कुछ भी वाद नहीं रह जाता ।

किया है, कि "हमने अपनी मृत्यु अपनी आँखों से देख ली; यह भी एक उत्सव हो गया।" व्यक्त अथवा अव्यक्त सगुण ब्रह्म की उपासना से ध्यान के द्वारा धीरे धीरे बढ़ता हुआ उपासक अन्त में "अहं ब्रह्मास्मि" (बृ. १. ४. १०)--मैं ही ब्रह्म हूँ--की स्थिति में जा पहुँचता है; और ब्रह्मात्मैक्यस्थिति का उसे साक्षात्कार होने लगता है। फिर उसमें वह इतना मग्न हो जाता है, कि इस बात की ओर उसका ध्यान भी नहीं जाता, कि मैं किस स्थिति में हूँ; अथवा किसका अनुभव कर रहा हूँ। इसमें जागृति बनी रहती है। अतः इस अवस्था को न तो स्वप्न कह सकते हैं; और न सुषुप्ति। यदि जागृत कहें, तो इसमें वे सब व्यवहार रुक जाते हैं, कि जो जागृत अवस्था में सामान्य रीति से हुआ करते हैं। इसलिये स्वप्न, सुषुप्ति (नीन्द) अथवा जागृति--इन तीनों व्यावहारिक अवस्थाओं से बिलकुल भिन्न इसे चौथी अथवा तुरीय अवस्था शास्त्रों ने कही है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये पातञ्जलयोग की दृष्टि से मुख्य साधन निर्विकल्प समाधियोग लगाना है, कि जिसमें द्वैत का ज़रा-सा भी लवलेश नहीं रहता। और यही कारण है, जो गीता (६. २०-२३) में कहा है, कि इस निर्विकल्प समाधियोग को अभ्यास से प्राप्त कर लेने में मनुष्य को उकताना नहीं चाहिये। यही ब्रह्मात्मैक्यस्थिति ज्ञान की पूर्णावस्था है। क्योंकि जब सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मरूप अर्थात् एक ही हो चुका, तब गीता के ज्ञानक्रियावाले इस लक्षण की पूर्णता हो जाती है, कि "अविभक्तं विभक्तेषु"--अनेकत्व की एकता करनी चाहिये--और फिर इसके आगे किसी को भी अधिक ज्ञान हो नहीं सकता। इसी प्रकार नामरूप से परे इस अमृतत्व का जहाँ मनुष्य को अनुभव हुआ, कि जन्ममरण का चक्कर भी आप ही से छूट जाता है। क्योंकि जन्ममरण तो नामरूप में ही हैं; और यह मनुष्य पहुँच जाता है उन नामरूपों से परे (गी. ८. २१)। इसी से महात्माओं ने इस स्थिति का नाम 'मरण का मरण' रख छोड़ा है। और इसी कारण से याज्ञवल्क्य इस स्थिति को अमृतत्व की सीमा या पराकाष्ठा कहते हैं? यही जीवनमुक्तावस्था है। पातञ्जलयोगसूत्र और अन्य स्थानों में भी वर्णन है, कि इस अवस्था में आकाशगमन आदि की कुछ अपूर्व अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं (पातञ्जलसूत्र ३. १६-५५); और इन्हीं को पाने के लिये कितने ही मनुष्य योगाभ्यास की धुन में लग जाते हैं। परंतु योगवासिष्ठप्रणेता कहते हैं, कि आकाशगमन प्रभृति सिद्धियाँ न तो ब्रह्मनिष्ठस्थिति का साध्य हैं; और न उसका कोई भाग ही। अतः जीवन्मुक्त पुरुष इन सिद्धियों को पा लेने का उद्योग नहीं करता; और बहुधा उसमें ये देखी भी नहीं जातीं (देखो यो. ५. ८९)। इसी कारण इन सिद्धियों का उल्लेख न तो योगवासिष्ठ में ही और न गीता में ही कहीं है। वसिष्ठ ने राम से स्पष्ट कह दिया है, कि ये चमत्कार तो माया के खेल हैं; कुछ ब्रह्मविद्या नहीं हैं। कदाचित् ये सच्चे हों। हम यह नहीं कहते, कि ये होंगे ही नहीं। जो हो; इतना तो निर्विवाद है, कि यह ब्रह्मविद्या का विषय नहीं है। अतएव (ये सिद्धियाँ मिलें तो और न मिलें तो) इनकी परवाह न करनी चाहिये।

ब्रह्मविद्याशास्त्र का कथन है, कि इनकी इच्छा अथवा आशा भी न करके मनुष्य को वही प्रयत्न करते रहना चाहिये, कि जिससे प्राणिमात्र में एक आत्मा-वाली परमावधि की ब्रह्मनिष्ठस्थिति प्राप्त हो जावे। ब्रह्मज्ञान आत्मा की शुद्ध अवस्था है। वह कुछ जादू, करामात या तिलस्माती लटका नहीं है। इस कारण इन सिद्धियों से—इन चमत्कारों से—ब्रह्मज्ञान के गौरव का बढ़ना तो दूर, किन्तु उसके गौरव के—उसकी महत्ता के—ये चमत्कार प्रमाण भी नहीं हो सकते। पक्षी तो पहले भी उडते थे; पर अब विमानोंवाले लोग भी आकाश में उडने लगे हैं। किन्तु सिर्फ इसी गुण के होने से कोई इनकी गिनती ब्रह्मवेत्ताओं में नहीं करता। और तो क्या ? जिन पुरुषों को ये आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, वे मालती-माधव नाटकवाले अघोरघण्ट के समान क्रूर और घातकी भी हो सकते हैं।

ब्रह्मात्मैक्यरूप आनन्दमय स्थिति का अनिर्वाच्य अनुभव और किसी दूसरे को पूर्णतया बतलाया नहीं जा सकता। क्योंकि जब उसे दूसरे को बतलाने लगेंगे, तब 'मैं—तू' वाली द्वैत की ही भाषा से काम लेना पड़ेगा; और इस द्वैती भाषा में अद्वैत का समस्त अनुभव व्यक्त करते नहीं बनता। अतएव उपनिषदों में इस परमावधि की स्थिति के जो वर्णन हैं, उन्हें भी अधूरे और गौण समझना चाहिये। और जब ये वर्णन गौण हैं, तब सृष्टि की उत्पत्ति एवं रचना समझने के लिये अनेक स्थानों पर उपनिषदों में जो निरे द्वैती वर्णन पाये जाते हैं, उन्हें भी गौण ही मानना चाहिये। उदाहरण लीजिये; उपनिषदों में दृश्यसृष्टि की उत्पत्ति के विषय में ऐसे वर्णन हैं, कि आत्मस्वरूपी, शुद्ध, नित्य, सर्वव्यापी और अविकारी ब्रह्म ही से आगे चल कर हिरण्यगर्भ नामक सगुण पुरुष या आप (पानी) प्रभृति सृष्टि के व्यक्त पदार्थ क्रमशः निर्मित हुए; अथवा परमेश्वर ने इन नामरूपों की रचना करके फिर जीव-रूप से उनमें प्रवेश किया (तै. २. ६; छां. ६. २, ३. बृ. १. ४. ७), ऐसे सब द्वैतपूर्ण वर्णन अद्वैतसृष्टि से यथार्थ नहीं हो सकते। क्योंकि ज्ञानगम्य, निर्गुण परमेश्वर ही जब चारों ओर भरा हुआ है, तब तात्त्विक दृष्टि से यह कहना ही निर्मूल हो जाता है, कि एक ने दूसरे को पैदा किया। परंतु साधारण मनुष्यों को सृष्टि की रचना समझा देने के लिये व्यावहारिक अर्थात् द्वैत की भाषा ही तो एक साधन है। इस कारण व्यक्तसृष्टि की अर्थात् नामरूप की उत्पत्ति के वर्णन उपनिषदों में उसी ढँग के मिलते हैं, जैसा कि ऊपर एक उदाहरण दिया गया है। तो भी उसमें अद्वैत का तत्त्व बना ही है; और अनेक स्थानों में कह दिया है, कि इस प्रकार द्वैती व्यावहारिक भाषा वर्तने पर भी मूल में अद्वैत ही है। देखिये; अब निश्चय हो चुका है, कि सूर्य घूमता नहीं है, स्थिर है; फिर भी बोलचाल में जिस प्रकार यही कहा जाता है, कि सूर्य निकल आया अथवा डूब गया। उसी प्रकार यद्यपि एक ही आत्म-स्वरूपी परब्रह्म चारों ओर अखण्ड भरा हुआ है; और वह अविकार्य है; तथापि उपनिषदों में भी ऐसी ही भाषा के प्रयोग मिलते हैं, कि 'परब्रह्म से व्यक्त जगत् की उत्पत्ति होती है।' इसी प्रकार गीता में भी यद्यपि यह कहा गया है, कि

'मेरा सच्चा स्वरूप अव्यक्त और अज है' (गी. ७. २५); तथापि भगवान् ने कहा है, कि 'मैं सारे जगत् को उत्पन्न करता हूँ' (४. ६)। परन्तु इन वर्णनों के मर्म को बिना समझे-बूझे कुछ पण्डित लोग इनको शब्दशः सच्चा मान लेते हैं; और फिर इन्हें ही मुख्य समझ कर यह सिद्धान्त किया करते हैं, कि द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत मत का उपनिषदों में प्रतिपादन है। वे कहते हैं, कि यदि यह मान लिया जाय, कि एक ही निर्गुण ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है; तो फिर इसकी उपपत्ति नहीं लगती, कि इस अधिकारी ब्रह्म से विकाररहित नाशवान् सगुण पदार्थ कैसे निर्मित हो गये। क्योंकि नामरूपात्मक सृष्टि को यदि 'माया' कहें, तो निर्गुण ब्रह्म से सगुणमाया का उत्पन्न होना ही तर्कदृष्टया शक्य नहीं है। इससे अद्वैतवाद लँगड़ा हो जाता ह। इससे तो कहीं अच्छा यह होगा, कि सांख्यशास्त्र के मतानुसार प्रकृति के सदृश नामरूपात्मक व्यक्तसृष्टि के किसी सगुण परन्तु व्यक्त रूप को नित्य मान लिया जावे; और उस व्यक्त रूप के अभ्यन्तर में परब्रह्म कोई दूसरा नित्यतत्त्व ऐसा ओतप्रोत भरा हुआ रखा जावे, जैसा कि किसी पेंच की नली में भाफ रहती है (बृ. ३. ७)। एवं इन दोनों में वैसी ही एकता मानी जावे, जैसी कि दाड़िम या अनार के फल भीतरी दोनों के साथ रहती है। परन्तु हमारे मत में उपनिषदों के तात्पर्य का ऐसा विचार करना योग्य नहीं है। उपनिषदों में कहीं कहीं द्वैती और कहीं कहीं अद्वैती वर्णन पाये जाते हैं। सो इन दोनों की कुछ–न–कुछ एकवाक्यता करना तो ठीक है; परन्तु अद्वैतवाद को मुख्य समझने और यह मान लेने से, कि जब निर्गुण ब्रह्म सगुण होने लगता है, तब उतने ही समय के लिये मायिक द्वैत की स्थिति प्राप्त ही हो जाती है। सब वचनोंकी जैसी व्यवस्था लगती है, वैसी व्यवस्था द्वैत पक्ष को प्रधान मानने से लगती नहीं है। उदाहरण लीजिये; इस 'तत् त्वमसि' वाक्य के पद का अन्वय द्वैती मतानुसार कभी भी ठीक नहीं लगता। तो क्या इस अड़चन को द्वैत मतवालों ने समझ ही नहीं पाया? नहीं, समझा ज़रूर है। तभी तो वे इस महावाक्य का जैसा-तैसा अर्थ लगा कर अपने मन को समझा लेते हैं। 'तत्त्वमसि' को द्वैतवाले इस प्रकार उलझाते हैं––तत्त्वम् = तस्य त्वम्––अर्थात् उसका तू है, कि जो कोई तुझसे भिन्न है; तू वही नहीं है। परन्तु जिसको संस्कृत का थोड़ा–सा भी ज्ञान है; और जिसकी बुद्धि आग्रह में बँध नहीं गई है, वह तुरन्त ताड़ लेगा, कि यह खींचातानी का अर्थ ठीक नहीं है। कैवल्य उपनिषद् (१. १६) में तो "स त्वमेव त्वमेव तत्" इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' को उलट-पलट कर उक्त महावाक्य के अद्वैतप्रधान होने का ही सिद्धान्त दर्शाया है। अब और क्या बतलावें? समस्त उपनिषदों का बहुत–सा भाग निकाल डाले बिना अथवा जान-बूझ कर उस पर दुर्लक्ष किये बिना, उपनिषद्शास्त्र में अद्वैत को छोड़ और कोई दूसरा रहस्य बतला देना सम्भव ही नहीं है। परन्तु ये वाद तो ऐसे हैं, कि जिनका कोई ओर-छोर ही नहीं; तो फिर यहाँ हम इनकी विशेष चर्चा क्यों करें? जिन्हें अद्वैत के अतिरिक्त अन्य मत रुचते हों, वे खुशी से उन्हें स्वीकार

कर लें । उन्हें रोकता कौन है ? जिन उदार महात्माओं ने उपनिषदों में अपना यह स्पष्ट विश्वास बतलाया है, कि "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ. ४. ४. १९; कठ. ४.११) —इस सृष्टि में किसी भी प्रकार की अनेकता नहीं है, जो कुछ है, वह मूल में सब "एकमेवाद्वितीयम्" (छां. ६. २. २) है; और जिन्होंने आगे यह वर्णन किया है, कि "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"—जिसे इस जगत् में नानात्व देख पड़ता है, वह जन्ममरण के चक्कर में फँसता है—हम नहीं समझते, कि उन महात्माओं का आशय अद्वैत को छोड़ और भी किसी प्रकार हो सकेगा । परन्तु अनेक वैदिक शाखाओं के अनेक उपनिषद् होने के कारण जैसे इस शंका को थोड़ी–सी गुंजाइश मिल जाती है, कि कुल उपनिषदों का तात्पर्य क्या एक ही है ? वैसा हाल गीता का नहीं है । जब गीता एक ही ग्रन्थ है, तब प्रगट ही है, कि उसमें एक ही प्रकार के वेदान्त का प्रतिपादन होना चाहिये । और जो विचारने लगें, कि वह कौन–सा वेदान्त है ? तो यह अद्वैतप्रधान सिद्धान्त करना पड़ता है, कि "सब भूतों का नाश हो जाने पर भी जो एक ही स्थिर रहता है" (गी. ८. २०), वही यथार्थ में सत्य है । एवं देह और विश्व में मिल कर सर्वत्र वही व्याप्त हो रहा है (गी. १३. ३१) । और तो क्या ? आत्मौपम्यबुद्धि का जो नीतितत्त्व गीता में बतलाया गया है, उसकी पूरी पूरी उपपत्ति भी अद्वैत को छोड़ और दूसरे प्रकार की वेदान्तदृष्टि से नहीं लगती है । इससे कोई हमारा यह आशय न समझ लें, कि श्रीशंकराचार्य के समय में अथवा उनके पश्चात् अद्वैत मत को पोषण करनेवाली जितनी युक्तियाँ निकली हैं; अथवा जितने प्रमाण निकले हैं, वे सभी यच्चयावत् गीता में प्रतिपादित हैं । यह तो हम भी मानते हैं, कि द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत प्रभृति सम्प्रदायों की उत्पत्ति होने से पहले ही गीता बन चुकी है; और इसी कारण से गीता में किसी भी विशेष सम्प्रदाय की युक्तियों का समावेश होना सम्भव नहीं है । किन्तु इस सम्मति से यह कहने में कोई भी बाधा नहीं आती, कि गीता का वेदान्त मामूली तौर पर शाङ्करसम्प्रदाय के ज्ञानानुसार अद्वैती है—द्वैती नहीं । इस प्रकार गीता और शाङ्करसम्प्रदाय में तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सामान्य मेल है सही; पर हमारा मत है, कि आचारदृष्टि से गीता कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को अधिक महत्त्व देती है । इस कारण गीताधर्म शाङ्करसम्प्रदाय से भिन्न हो गया है । इसका विचार आगे किया जावेगा । प्रस्तुत विषय तत्त्वज्ञानसम्बन्धी है। इसलिये यहाँ इतना ही कहना है, कि गीता और शाङ्करसम्प्रदाय में—दोनों में—यह तत्त्वज्ञान एक ही प्रकार का है अर्थात् अद्वैती है । अन्य साम्प्रदायिक भाष्यों की अपेक्षा गीता के शाङ्करभाष्य को जो अधिक महत्त्व हो गया है, उसका कारण भी यही है ।

ज्ञानदृष्टि से सारे नामरूपों को एक ओर निकाल देने पर एक ही अधिकारी और निर्गुण तत्त्व स्थिर रह जाता है। अतएव पूर्ण और सूक्ष्म विचार करने पर अद्वैत सिद्धान्त को ही स्वीकार करना पड़ता है । जब इतना सिद्ध हो चुका, तब अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से यह विवेचन करना आवश्यक है, कि इस एक निर्गुण और

अव्यक्त द्रव्य से नाना प्रकार की व्यक्तसगुणसृष्टि क्योंकर उपजी ? पहले बतला आये हैं, कि सांख्यों ने तो निर्गुण पुरुष के साथ ही त्रिगुणात्मक अर्थात् सगुण प्रकृति को अनादि और स्वतंत्र मान कर, इस प्रश्न को हल कर लिया है । किन्तु यदि इस प्रकार सगुण प्रकृति को स्वतन्त्र मान लें, तो जगत् के मूलतत्त्व दो हुए जाते हैं । और ऐसा करने से उस अद्वैत मत में बाधा आती है, कि जिसका ऊपर अनेक कारणों के द्वारा पूर्णतया निश्चय कर लिया गया है । यदि सगुण प्रकृति को स्वतन्त्र नहीं मानते हैं; तो यह बतलाते नहीं बनता, कि एक ही मूल निर्गुणद्रव्य से नानाविध सगुणसृष्टि कैसे उत्पन्न हो गई । क्योंकि सत्कार्यवाद का सिद्धान्त यह है, कि निर्गुणसे सगुण--जो कुछ भी नहीं है, उससे और कुछ--का उपजना शक्य नहीं है; और यह सिद्धान्त अद्वैतवादियों को भी मान्य हो चुका है । इसलिये दोनों ही ओर अड़चन है । फिर यह उलझन सुलझे कैसे ? बिना अद्वैत को छोड़े ही निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति होने का मार्ग बतलाना है; और सत्कार्यवाद की दृष्टिसे वह तो रुका हुआ-सा ही है । सच्चा पेंच है--ऐसीवैसी उलझन नहीं है । और तो क्या ? कुछ लोगों की समझ में अद्वैत सिद्धान्त के मानने में यही ऐसी अड़चन है, जो सब मुख्य, पेचीदा और कठिन है । इसी अड़चन से छड़क कर वे द्वैत को अंगिकार कर लिया करते हैं । किंतु अद्वैती पण्डितों ने अपनी बुद्धि के द्वारा इस बिकट अड़चन के फन्दे से छूटने के लिये भी एक युक्तिसङ्गत बेजोड़ मार्ग ढूँढ लिया है । वे कहते हैं, कि सत्कार्यवाद अथवा गुणपरिणामवाद के सिद्धान्त का उपयोग तब होता है, जब कार्य और कारण, दोनों एक ही श्रेणी के अथवा एक ही वर्ग के होते हैं; और इस कारण अद्वैती वेदान्ती भी इसे स्वीकार कर लेंगे, कि सत्य और निर्गुण ब्रह्म से सत्य और सगुण माया का उत्पन्न होना शक्य नहीं है । परन्तु यह स्वीकृति उस समय की है । जब कि दोनों पदार्थ सत्य हों, जहाँ एक पदार्थ सत्य है; पर दूसरा उसका सिर्फ दृश्य है, वहाँ सत्कार्यवाद का उपयोग नहीं होता । सांख्यमतवाले 'पुरुष के समान ही प्रकृति' को स्वतन्त्र और सत्य पदार्थ मानते हैं । यही कारण है, जो वे निर्गुण पुरुष से सगुणप्रकृति की उत्पत्ति का विवेचन सत्कार्यवाद के अनुसार कर नहीं सकते । किंतु अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त यह है, कि माया अनादि बनी रहे; फिर भी वह सत्य और स्वतंत्र नहीं है । वह तो गीता के कथनानुसार 'मोह' 'अज्ञान' अथवा 'इन्द्रियों को दिखाई देनेवाला दृश्य' है । इसलिये सत्कार्यवाद से जो आक्षेप निष्पन्न हुआ था, उसका उपयोग अद्वैत सिद्धान्त के लिये किया ही नहीं जा सकता । बाप से लड़का पैदा हो, तो कहेंगे, कि वह इसके गुणपरिणाम से हुआ है। परन्तु पिता एक व्यक्ति है; और जब कभी वह बच्चे का, कभी जवान का और कभी बुड्ढे का स्वाँग बनाये हुए देख पड़ता है; तब हम सदैव देखा करते हैं, कि इस व्यक्ति में और इसके अनेक स्वाँगों में गुणपरिणामरूपी कार्यकारणभाव नहीं रहता । ऐसे ही जब निश्चित हो जाता है, कि सूर्य एक ही है; तब पानी में आँखों को दिखाई देनेवाले उसके प्रतिबिम्ब को हम भ्रम कह देते हैं; और उसे

गुणपरिणाम से उपजा हुआ दूसरा सूर्य नहीं मानते । इसी प्रकार दूरबीन से किसी ग्रह के यथार्थ स्वरूप का निश्चय हो जाने पर ज्योतिःशास्त्र स्पष्ट कह देता है, कि उस ग्रह का जो स्वरूप निरी आँखों से देख पड़ता है, वह दृष्टि की कमज़ोरी और उसके अत्यन्त दूरी पर रहने के कारण निरा दृश्य उत्पन्न हो गया है । इससे प्रगट हो गया, कि कोई भी बात नेत्र आदि इंद्रियों के प्रत्यक्ष गोचर हो जाने से ही स्वतन्त्र और सत्य वस्तु मानी नहीं जा सकती । फिर इसी न्याय का अध्यात्मशास्त्र में उपयोग करके यदि यह कहें तो क्या हानि है, कि ज्ञानचक्षुरूप दूरबीन से जिसका निश्चय कर लिया गया है, वह निर्गुण परब्रह्म सत्य है । और ज्ञानहीन चर्मचक्षुओं को जो नामरूप गोचर होता है, वह इस परब्रह्म का कार्य नहीं है—वह तो इन्द्रियों की दुर्बलता से उपजा हुआ निरा भ्रम अर्थात् मोहात्मक दृश्य है । यहाँ पर यह आक्षेप ही नहीं फबता, कि निर्गुण से सगुण उत्पन्न नहीं हो सकता । क्योंकि दोनों वस्तुएँ एक ही श्रेणी की नहीं हैं । इनमें एक तो सत्य है; और दूसरी है सिर्फ़ दृश्य । एवं अनुभव यह है, कि मूल में एक ही वस्तु रहने पर भी देखनेवाले पुरुष के दृष्टिभेद से, अज्ञान से अथवा नज़रबन्दी से उस एक ही वस्तु के दृश्य बदलते रहते हैं । उदाहरणार्थ, कानों को सुनाई देनेवाले शब्द और आँखों से दिखाई देनेवाले रङ्ग—इन्हीं दो गुणों को लीजिये । इनमें से कानों को जो शब्द या आवाज़ सुनाई देती है, उसकी सूक्ष्मता से जाँच करके आधिभौतिकशास्त्रियों ने पूर्णतया सिद्ध कर दिया है, कि 'शब्द' या तो वायु की लहर है या गति । और अब सूक्ष्म शोध करने से निश्चय हो गया है, कि आँखों से देख पड़नेवाले लाल, हरे, पीले, आदि रङ्ग भी मूल में एक ही सूर्यप्रकाश के विकार हैं; और सूर्यप्रकाश स्वयं एक प्रकार की गति ही है । जब कि 'गति' मूल में एक ही है, पर कान उसे शब्द और आँखें उसी का रङ्ग बतलाती हैं; तब यदि इसी न्याय का उपयोग कुछ अधिक व्यापक रीति से सारी इन्द्रियों के लिये किया जावें, तो सभी नामरूपों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सत्कार्यवाद की सहायता के बिना ही ठीक ठीक उपपत्ति इस प्रकार लगाई जा सकती है, कि किसी भी एक अविकार्य वस्तु पर मनुष्य की भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ अपनी अपनी ओर से शब्दरूप आदि अनेक नामरूपात्मक गुणों का 'अध्यारोप' करके नाना प्रकार के दृश्य उपजाया करती हैं । परन्तु कोई आवश्यकता नहीं है, कि मूल की एक ही वस्तु में ये दृश्य, ये गुण अथवा ये नामरूप होवें ही । और इसी अर्थ को सिद्ध करने के लिये रस्सी में सर्प का, अथवा सीप में चाँदी का भ्रम होना, या आँख में उँगली डालने से एक के दो पदार्थ देख पड़ना अथवा अनेक रंगों के चश्मे लगाने पर एक पदार्थ का रंग-बिरंगा देख पड़ना आदि अनेक दृष्टान्त वेदान्तशास्त्र में दिये जाते हैं । मनुष्य की इन्द्रियाँ उससे कभी छूट नहीं जाती हैं । इस कारण जगत् के नामरूप अथवा गुण उससे नयनपथ में गोचर तो अवश्य होंगे; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता, कि इन्द्रियवान् मनुष्य की दृष्टि से जगत् का जो सापेक्ष स्वरूप देख पड़ता है, वही इस जगत् के मूल का अर्थात्

निरपेक्ष और नित्य स्वरूप है । मनुष्य की वर्तमान इंद्रियों की अपेक्षा यदि उसे न्यूनाधिक इन्द्रियाँ प्राप्त हो जावें, तो यह सृष्टि उसे जैसी आजकल दीख पड़ती है, वैसी ही न दीखती रहेगी । और यदि यह ठीक है, तो जब कोई पूछे, कि द्रष्टा की--देखनेवाले मनुष्य की--इंद्रियों की अपेक्षा न करके बतलाओ, कि सृष्टि के मूल में जो तत्त्व है, उसका नित्य और सत्य स्वरूप क्या है ? तब यही उत्तर देना पड़ता है, कि वह मूलतत्त्व है तो निर्गुण; परन्तु मनुष्य को सगुण दिखलाई देता है--यह मनुष्य की इन्द्रियों का धर्म है; न कि मूलवस्तु का गुण । आधिभौतिकशास्त्र में उन्हीं बातों की जाँच होती है, कि जो इंद्रियों को गोचर हुआ करती हैं; और यही कारण है, कि वहाँ इस ढँग के प्रश्न होते ही नहीं । परन्तु मनुष्य और उसकी इन्द्रियों के नष्टप्राय हो जाने से यह नहीं कह सकते, कि ईश्वर भी सफाया हो जाता है; अथवा मनुष्य को वह अमुक प्रकार का देख पड़ता है । इसलिये उसका त्रिकालाबाधित, नित्य और निरपेक्ष स्वरूप भी वही होना चाहिये । अतएव जिस अध्यात्मशास्त्र में यह विचार करना होता है, कि जगत् के मूल में वर्तमान सत्य का मूलस्वरूप क्या है ? उसमें मानवी इन्द्रियों की सापेक्षदृष्टि छोड़ देनी पड़ती है; और जितना हो सके, उतना बुद्धि से ही अन्तिम विचार करना पड़ता है । ऐसा करने से इन्द्रियों को गोचर होनेवाले सभी गुण आप ही आप छूट जाते हैं । और यह सिद्ध हो जाता है, कि ब्रह्म का नित्य स्वरूप इन्द्रियातीत अर्थात् निर्गुण एवं सब में श्रेष्ठ है । परन्तु अब प्रश्न होता है, कि जो निर्गुण है, उसका वर्णन करेगा ही कौन ? और किस प्रकार करेगा ? इसीलिये अद्वैत वेदान्त में यह सिद्धान्त किया गया है, कि परब्रह्म का अन्तिम अर्थात् निरपेक्ष और नित्यस्वरूप निर्गुण तो है ही; पर अनिर्वाच्य भी है; और इसी निर्गुण स्वरूप में मनुष्य को अपनी इन्द्रियों के योग सगुण दृश्य की झलक देख पड़ती है । अब यहाँ फिर प्रश्न होता है, कि निर्गुण को सगुण करने की यह शक्ति इंद्रियों ने पा कहाँ से ली ? इस पर अद्वैत वेदान्तशास्त्र का यह उत्तर है, कि मानवी ज्ञान की गति यहीं तक है । इसके आगे उसकी गुज़र नहीं । इसलिये यह इन्द्रियों का अज्ञान है; और निर्गुण परब्रह्म में सगुण जगत् का दृश्य देखना यह उसी अज्ञानका परिणाम है । अथवा यहाँ इतना ही निश्चित अनुमान करके निश्चिन्त हो जाना पड़ता है, कि इन्द्रियाँ भी परमेश्वर की सृष्टि की ही हैं । इस कारण यह सगुणसृष्टि (प्रकृति) निर्गुण परमेश्वर की ही एक 'दैवी माया' है (गी. ७. १४) । पाठकों की समझ में अब गीता के इस वर्णन का तत्त्व आ जावेगा, कि केवल इन्द्रियों से देखनेवाले अप्रबुद्ध लोगों को परमेश्वर व्यक्त और सगुण देख पड़े सही; पर उसका सच्चा और श्रेष्ठ स्वरूप निर्गुण है । उसको ज्ञानदृष्टि से देखने में ही ज्ञान की परमावधि है (गी. ७. १४. २४. २५) । इस प्रकार निर्णय तो कर दिया, कि परमेश्वर मूल में निर्गुण है, और मनुष्य की इन्द्रियों को उसी में सगुणसृष्टि का विविध दृश्य देख पड़ता है । फिर भी इस बात का थोड़ा-सा खुलासा कर देना आवश्यक है, कि उक्त सिद्धान्त में निर्गुण शब्द का अर्थ क्या समझा जावे । यह सच है, कि हवा की लहरों पर शब्द-

रूप आदि गुणों का अथवा सीप पर चाँदी का जब हमारी इन्द्रियाँ अध्यारोप करती हैं, तब हवा की लहरों में शब्द-रूप आदि के अथवा सीप में चाँदी के गुण नहीं होते। परन्तु यद्यपि उनमें अध्यारोपित गुण न हों; तथापि यह नहीं कहा जा सकता, कि उनसे भिन्न गुण मूल पदार्थों में होंगे ही नहीं। क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि यद्यपि सीप में चाँदी के गुण नहीं हैं; तो भी चाँदी के गुणों के अतिरिक्त और दूसरे गुण उसमें रहते ही हैं। इसी से अब यहाँ एक और शंका होती है--यदि कहें, कि इन्द्रियों ने अपने अज्ञान से मूलब्रह्म पर जिन गुणों का अध्यारोप किया था, वे गुण ब्रह्म में नहीं हैं; तो क्या और दूसरे गुण परब्रह्म में न होंगे? और यदि मान लो कि हैं, तो फिर वह निर्गुण कहाँ रहा? किन्तु, कुछ और अधिक सूक्ष्म विचार करने से ज्ञात होगा, कि यदि मूलब्रह्म में इंद्रियों के द्वारा अध्यारोपित किये गये गुणों के अतिरिक्त और दूसरे गुण हों भी; तो हम उन्हें मालूम ही कैसे कर सकेंगे? क्योंकि गुणों को मनुष्य अपनी इन्द्रियों से ही तो जानता है; और जो गुण इन्द्रियों को अगोचर हैं, वे जाने नहीं जाते। सारांश, इन्द्रियों के द्वारा अध्यारोपित गुणों के अतिरिक्त परब्रह्म में यदि और कुछ दूसरे गुण हों, तो उनको जान लेना हमारे सामर्थ्य से बाहर है; और जिन गुणों को जान लेना हमारे काबू में नहीं, उनको परब्रह्म में मानना भी न्यायशास्त्र की दृष्टि से योग्य नहीं है। अतएव गुण शब्द का 'मनुष्य को ज्ञात होनेवाले गुण' अर्थ करके वेदान्ती लोग सिद्धान्त किया करते हैं, कि ब्रह्म 'निर्गुण' है। न तो अद्वैत वेदान्त ही यह कहता है; और न कोई दूसरा भी कह सकेगा, कि मूलपरब्रह्मस्वरूप में ऐसा गुण या ऐसी शक्ति भरी होगी, कि जो मनुष्य के लिये अतर्क्य है। किंबहुना, यह तो पहले ही बतला दिया है, कि वेदान्ती लोग भी इन्द्रियों के उक्त अज्ञान अथवा माया को उसी मूल परब्रह्म की एक अतर्क्य शक्ति कहा करते हैं।

त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृति कोई दूसरी स्वतन्त्र वस्तु नहीं हैं; किन्तु एक ही निर्गुण ब्रह्म पर मनुष्य की इन्द्रियाँ अज्ञान से सगुण दृश्यों का अध्यारोप किया करती हैं। इसी मत को 'विवर्तवाद' कहते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह उपपत्ति इस बात की हुई, कि जब निर्गुण ब्रह्म एक ही मूलतत्त्व है, तब नाना प्रकार का सगुण जगत् पहले दिखाई कैसे देने लगा? कणादप्रणीत न्यायशास्त्र में असंख्य परमाणु जगत् के मूलकारण माने गये हैं; और नैयायिक इन परमाणुओं को सत्य मानते हैं। इसलिये उन्होंने निश्चय किया है, कि जहाँ इन असंख्य परमाणुओं का संयोग होने लगा, वहाँ सृष्टि के अनेक पदार्थ बनने लगते हैं। परमाणुओं के संयोग का आरम्भ होने पर इस मत से सृष्टि का निर्माण होता है। इसलिये इसको 'आरम्भवाद' कहते हैं। परन्तु नैय्यायिकों के असंख्य परमाणुओं के मत को सांख्यमार्गवाले नहीं मानते। वे कहते हैं, कि जड़सृष्टि का मूलकारण 'एक, सत्य त्रिगुणात्मक प्रकृति' ही है। एवं इस त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुणों के विकास से अथवा परिणाम से व्यक्त सृष्टि बनती है। इस मत को 'गुणपरिणामवाद

कहते हैं। क्योंकि इसमें यह प्रतिपादन किया जाता है; कि एक मूलसगुणप्रकृति के गुणविकास से ही सारी व्यक्तसृष्टि पैदा हुई है। किन्तु इन दोनों वादों को अद्वैती वेदान्ती स्वीकार नहीं करते। परमाणु असंख्य हैं; इसलिये अद्वैत मत के अनुसार वे जगत् का मूल हो नहीं सकते; और रह गई प्रकृति। सो यद्यपि वह एक हो, तो भी उसके पुरुष से भिन्न और स्वतंत्र होने के कारण अद्वैत सिद्धान्त से यह द्वैत भी विरुद्ध है। परन्तु इस प्रकार इन दोनों वादों को त्याग देने से और कोई न कोई उपपत्ति इस बात की देनी होगी, कि एक निर्गुण ब्रह्म से सगुणसृष्टि कैसे उपजी है। क्योंकि, सत्कार्यवाद के अनुसार निर्गुण से सगुण हो नहीं सकता। इस पर वेदान्ती कहते हैं, कि सत्कार्यवाद के इस सिद्धान्त का उपयोग वहीं होता है, जहाँ कार्य और कारण दोनों वस्तुएँ सत्य हों। परन्तु जहाँ मूलवस्तु एक ही है, और जहाँ उसके भिन्न भिन्न दृश्य ही पलटते हैं, वहाँ इस न्याय का उपयोग नहीं होता। क्योंकि हम सदैव देखते हैं, कि एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न दृश्यों का देख पड़ना उस वस्तु का धर्म नहीं; किन्तु द्रष्टा—देखनेवाले पुरुष— के दृष्टिभेद के कारण ये भिन्न भिन्न दृश्य उत्पन्न हो सकते हैं *। इस न्याय का उपयोग निर्गुण ब्रह्म और सगुण जगत् के लिये करने पर कहेंगे, कि ब्रह्म तो निर्गुण है; पर मनुष्य के इन्द्रियधर्म के कारण उसी में सगुणत्व की झलक उत्पन्न हो जाती है। यह विवर्तवाद है। विवर्तवाद में यह मानते हैं, कि एक ही मूल सत्य द्रव्य पर अनेक असत्य अर्थात् सदा बदलते रहनेवाले दृश्यों का अध्यारोप होता है; और गुण-परिणामवाद में पहले से ही दो सत्य द्रव्य मान लिये जाते हैं, जिनमें से एक एक में गुणों का विकास हो कर जगत् की नाना गुणयुक्त अन्यान्य वस्तुएँ उपजती रहती हैं। रस्सी में सर्प का भास होना विवर्त है; और दूध से दही बन जाना गुणपरिणाम है। इसी कारण वेदान्तसार नामक ग्रन्थ की एक प्रति में इन दोनों वादों के लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं:—

> यस्तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणाम उदीरितः।
> अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः स उदीरितः॥

"किसी मूलवस्तु से जब तात्त्विक अर्थात् सचमुच ही दूसरे प्रकार की वस्तु बनती है, तब उसको (गुण) परिणाम कहते हैं। और जब ऐसा न हो कर मूलवस्तु ही कुछ-की-कुछ (अतात्त्विक) भासने लगती है, तब उसे विवर्त कहते हैं" (वे. सा. २१)। आरम्भवाद नैयायिकों का है, गुणपरिणामवाद सांख्यों का है; और विवर्तवाद अद्वैती वेदान्तियों का है। अद्वैती वेदान्ती परमाणु या प्रकृति, इन दोनों सगुण वस्तुओं को निर्गुण ब्रह्म से भिन्न और स्वतन्त्र नहीं मानते; परन्तु फिर यह आक्षेप

---

* अंग्रेजी में इसी अर्थ को व्यक्त करना हो, तो यों कहेंगे:—appearances, the results of subjective conditions, viz. the senses of the observer and not of the thing itself.

होता है, कि सत्कार्यवाद के अनुसार निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति होना असम्भव है । इसे दूर करने के लिये ही विवर्तवाद निकला है । परन्तु इसी से कुछ लोग जो यह समझ बैठे हैं, कि वेदान्ती लोग गुणपरिणामवाद को कभी स्वीकार नहीं करते हैं; अथवा आगे कभी न करेंगे, वह उनकी भूल है । अद्वैत मत पर सांख्यमत-वालों का अथवा अन्यान्य द्वैतमतवालों का भी जो यह मुख्य आक्षेप रहता है, कि निर्गुण ब्रह्म से सगुणप्रकृति का अर्थात् माया का उद्गम हो नहीं सकता; सो वह आक्षेप कुछ अपरिहार्य नहीं है । विवर्तवाद का मुख्य उद्देश इतना ही दिखला देना है, कि एक ही निर्गुण ब्रह्म में माया के दृश्यों का हमारी इन्द्रियों को दिख पड़ना सम्भव है । वह उद्देश सफल हो जाने पर––अर्थात् जहाँ विवर्तवाद से यह सिद्ध हुआ, कि एक निर्गुण परब्रह्म में ही त्रिगुणात्मक सगुणप्रकृति के दृश्य का दिख पड़ना शक्य है । वहाँ––वेदान्तशास्त्र को यह स्वीकार करने में कोई भी हानि नहीं, कि इस प्रकृति का अगला विस्तार गुणपरिणाम से हुआ है । अद्वैत वेदान्त का मुख्य कथन यही है, कि स्वयं मूलप्रकृति एक दृश्य है––सत्य नहीं है । जहाँ प्रकृति का दृश्य एक बार दिखाई देने लगा, वहाँ फिर इन दृश्यों से आगे चलकर निकलनेवाले दूसरे दृश्यों को स्वतन्त्र न मान कर अद्वैत वेदान्त को यह मान लेने में कुछ भी आपत्ति नहीं है, कि एक दृश्य के गुणों से दूसरे दृश्य के एक और दूसरे से तीसरे आदि के इस प्रकार नानागुणात्मक दृश्य उत्पन्न होते हैं । अतएव यद्यपि गीता में भगवान् ने बतलाया है, कि " यह प्रकृति मेरी ही माया है " (गी. ७. १४; ४, ६), फिर भी गीता में ही यह कह दिया है, कि ईश्वर के द्वारा अधिष्ठित (गी. ९. १०) इस प्रकृति का अगला विस्तार इस " गुणा गुणेषु वर्तन्ते " (गी. ३. २८; १४. २३) के न्याय से ही होता रहता है । इससे ज्ञात होता है, कि विवर्त-वाद के अनुसार मूलनिर्गुणपरब्रह्म में एक बार माया का दृश्य उत्पन्न हो चुकने पर इस मायिक दृश्य की––अर्थात् प्रकृति के अगले विस्तार की––उपपत्ति के लिये गुणोत्कर्ष का तत्त्व गीता को भी मान्य हो चुका है । जब समूचे दृश्य जगत् को ही एक बार मायात्मक दृश्य कह दिया, तब यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है, कि इन दृश्यों के अन्यान्य रूपों के लिये गुणोत्कर्ष के ऐसे कुछ नियम होने ही चाहिये । वेदान्तियों को यह अस्वीकार नहीं है, कि मायात्मक दृश्य का विस्तार भी नियमबद्ध ही रहता है । उनका तो इतना ही कहना है, कि मूलप्रकृति के समान ये नियम भी मायिक ही हैं; और परमेश्वर इन सब मायिक नियमों का अधिपति है । वह इनसे परे है; और उसकी सत्ता से ही इन नियमों को नियमत्व अर्थात् नित्यता प्राप्त हो गई है । दृश्यरूपी सगुण अतएव विनाशी प्रकृति में ऐसे नियम बना देने का सामर्थ्य नहीं रह सकता, कि जो त्रिकाल में भी अबाधित रहे ।

यहाँ तक जो विवेचन किया गया है, उससे ज्ञात होगा, कि जगत्, जीव और परमेश्वर––अथवा अध्यात्मशास्त्र की परिभाषा के अनुसार माया (अर्थात् माया से उत्पन्न किया हुआ जगत्), आत्मा और परब्रह्म––का स्वरूप क्या है? एवं इनका

परस्पर क्या सम्बन्ध है ? अध्यात्मदृष्टि से जगत् की सभी वस्तुओं के दो वर्ग होते हैं । 'नामरूप' और नामरूप से आच्छादित 'नित्य तत्त्व'। इनमें से नामरूपों को ही सगुणमाया अथवा प्रकृति कहते हैं । परन्तु नामरूपों को निकाल डालने पर जो 'नित्यद्रव्य' बच रहता है, वह निर्गुण ही रहना चाहिये । क्योंकि कोई भी गुण बिना नामरूप के रह नहीं सकता । यह नित्य और अव्यक्त तत्त्व ही परब्रह्म है; और मनुष्य की दुर्बल इन्द्रियों को इस निर्गुण परब्रह्म में ही सगुण माया उपजी हुई देख पड़ती है । यह माया सत्य पदार्थ नहीं है । परब्रह्म ही सत्य अर्थात् त्रिकाल में भी अबाधित और कभी भी न पलटनेवाली वस्तु है । दृश्यसृष्टि के नामरूप और उनसे आच्छादित परब्रह्म के स्वरूपसम्बन्धी ये सिद्धान्त हुए । अब इसी न्याय से मनुष्य का विचार करें, तो सिद्ध होता है, कि मनुष्य की देह और इन्द्रियाँ दृश्यसृष्टि के अन्यान्य पदार्थों के समान नामरूपात्मक अर्थात् अनित्य माया के वर्ग में हैं; और इन देहेन्द्रियों से ढँका हुआ आत्मा नित्यस्वरूपी परब्रह्म की श्रेणी का है; अथवा ब्रह्म और आत्मा एक ही हैं । ऐसे अर्थ से बाह्य को स्वतन्त्र, सत्य पदार्थ न माननेवाले अद्वैतसिद्धान्त का और बौद्धसिद्धान्त का भेद अब पाठकों के ध्यान में आ ही गया होगा । विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं, कि बाह्यसृष्टि ही नहीं है । वे अकेले ज्ञान को ही सत्य मानते हैं । और वेदान्तशास्त्री बाह्यसृष्टि के नित्य बदलते रहनेवाले नामरूप को ही असत्य मान कर यह सिद्धान्त करते हैं, कि इस नामरूप के मूल में और मनुष्य की देह में––दोनों में—एक ही आत्मरूपी, नित्य द्रव्य भरा हुआ है । एवं यह एक आत्मतत्त्व ही अन्तिम सत्य है । सांख्यमतवालों ने 'अविभक्तं विभक्तेषु' के न्याय से सृष्ट पदार्थों की अनेकता के एकीकरण को जड़ प्रकृति भर के लिये ही स्वीकार कर लिया है । परन्तु वेदान्तियों ने सत्कार्यवाद की बाधा को दूर करके निश्चय किया है, कि जो 'पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है ।' इस कारण अब सांख्यों के असंख्य पुरुषों का और प्रकृति का एकही परमात्मा में अद्वैत से या अविभाग से समावेश हो गया है । शुद्ध आधिभौतिक पण्डित हकेल अद्वैती है सही; पर वह अकेली जड़प्रकृति में ही चैतन्य का भी संग्रह करता है । और वेदान्त, जड़ को प्रधानता न दे कर यह सिद्धान्त स्थिर करता है, कि दिक्कालों से अमर्यादित, अमृत और स्वतन्त्र चिद्रूपी परब्रह्म ही सारी सृष्टि का मूल है । हकेल के जड़ अद्वैत में और अध्यात्मशास्त्र के अद्वैत में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भेद है । अद्वैत वेदान्त का यही सिद्धान्त गीता में है; और एक पुराने कवि ने समग्र अद्वैत वेदान्त के सार का वर्णन यों किया है :—

> श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।
>
> ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥

"करोड़ों ग्रन्थों का सार आधे श्लोक में बतलाता हूँ––(१) ब्रह्म सत्य है, (२) जगत् अर्थात् जगत् के सभी नामरूप मिथ्या अथवा नाशवान् हैं; और (३) मनुष्य

का आत्मा एवं ब्रह्म मूल में एक ही है—दो नहीं । " इस श्लोक का 'मिथ्या' शब्द यदि किसी के कानों में चुभता हो, तो वह बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार इसके तीसरे चरण का 'ब्रह्मामृतं जगत्सत्यम्' पाठान्तर खुशी से कर लें; परन्तु पहले ही बतला चुके हैं, कि इससे भावार्थ नहीं बदलता है। फिर कुछ वेदान्ती इस बात को लेकर फ़िज़ूल झगड़ते रहते हैं, कि समूचे दृश्य जगत् के अदृश्य किन्तु नित्य परब्रह्मरूपी मूलतत्त्व को सत् (सत्य) कहें या असत् (असत्य–अनृत)। अतएव इसका यहाँ थोड़ा-सा खुलासा किये देते हैं, कि इस बात का ठीक ठीक बीज क्या है। इस एक ही सत् या सत्य शब्द के दो भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं। इसी कारण यह झगड़ा मचा हुआ है। और यदि ध्यान से देखा जावे, कि प्रत्येक पुरुष इस 'सत्' शब्द का किस अर्थ में उपयोग करता है, तो कुछ भी गड़बड़ नहीं रह जाती। क्योंकि यह भेद तो सभी को एक–सा मंज़ूर है, कि ब्रह्म अदृश्य होने पर भी नित्य है; और नामरूपात्मक जगत् दृश्य होने पर भी पल पल में बदलनेवाला है। इस सत् या सत्य शब्द का व्यावहारिक अर्थ है (१) आँखों के आगे अभी प्रत्यक्ष देख पड़नेवाला––अर्थात् व्यक्त (फिर कल उसका दृश्य स्वरूप चाहे बदले, चाहे न बदले); और दूसरा अर्थ है (२) वह अव्यक्त स्वरूप कि जो सदैव एक-सा रहता है। आँखों से भले ही न देख पड़े; पर जो कभी न बदले। इनमें से पहला अर्थ जिनको सम्मत है, वे आँखों से दिखाई देनेवाले नामरूपात्मक जगत् को सत्य कहते हैं; और परब्रह्म को इसके विरुद्ध अर्थात् आँखों से न देख पड़नेवाला अतएव असत् अथवा असत्य कहते हैं। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय उपनिषद् में दृश्य सृष्टि के लिये 'सत्' और जो दृश्यसृष्टि से परे है, उसके लिये 'त्यत्' (अर्थात् जो कि परे है) अथवा 'अनृत' (आँखों को न देख पड़नेवाला) शब्दों का उपयोग करके ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया है, कि जो कुछ मूल में या आरम्भ में था, वही द्रव्य "सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च।" (तै. २. ६)––सत् (आखों से देख पड़नेवाला) और वह (जो परे है), वाच्य और अनिर्वाच्य, साधार और निराधार, ज्ञात और अविज्ञात (अज्ञेय), सत्य और अनृत––इस प्रकार द्विधा बना हुआ है। परन्तु इस प्रकार ब्रह्म को 'अनृत' कहने से अनृत का अर्थ झूठ या असत्य नहीं है। क्योंकि आगे चल कर तैत्तिरीय उपनिषद् में ही कहा है, कि "यह अनृत ब्रह्म जगत् की 'प्रतिष्ठा' अथवा आधार है। इसे और दूसरे आधार की अपेक्षा नहीं है। एवं जिसने इसको जान लिया, वह अभय हो गया।" इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है, कि शब्दभेद के कारण भावार्थ में कुछ अन्तर नहीं होता है। ऐसे ही अन्त में कहा है, कि "असद्वा इदमग्र आसीत्" यह सारा जगत् पहले असत् (ब्रह्म) था; और ऋग्वेद के (१०. १२९. ४) वर्णन के अनुसार आगे चल कर उसी से सत् यानी नामरूपात्मक व्यक्त जगत् निकला है (तै. २. ७)। इससे भी स्पष्ट ही हो जाता है, कि यहाँ पर 'असत्' शब्द का प्रयोग 'अव्यक्त अर्थात् आँखों से न देख पड़नेवाले' के

अर्थ में ही हुआ है; और वेदान्तसूत्रों (२. १. १७) में बादरायणाचार्य ने उक्त वचनों का ऐसा ही अर्थ किया है। किन्तु जिन लोगों को 'सत्' अथवा 'सत्य' शब्द का यह अर्थ (ऊपर बतलाये हुए अर्थों में से दूसरा अर्थ) सम्मत है---आँखों से न देख पड़ने पर भी सदैव रहनेवाला अथवा टिकाऊ---वे उस अदृश्य परब्रह्म को ही सत् या सत्य कहते हैं, कि जो कभी नहीं बदलता; और नामरूपात्मक माया को असत् यानी असत्य अर्थात् विनाशी कहते हैं। उदाहरणार्थ, छान्दोग्य में वर्णन किया गया है, कि "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् कथमसतः सज्जायेत"---पहले यह सारा जगत् सत् (ब्रह्म) था, जो असत् है यानी नहीं, उससे सत् यानी जो विद्यमान है---मौजूद है---कैसे उत्पन्न होगा (छां. ६. २. १, २)? फिर भी छांदोग्य उपनिषद् में ही इस परब्रह्म के लिये एक स्थान पर अव्यक्त अर्थ में 'असत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है (छां. ३. १६. १)*। एक ही परब्रह्म को भिन्न भिन्न समयों और अर्थों में एक बार 'सत्,' तो एक बार 'असत्'; यों परस्परविरुद्ध नाम देने की यह गड़बड़---अर्थात् वाच्य अर्थ के एक ही होने पर भी निरा शब्दवाद मचवाने में सहायक---प्रणाली आगे चल कर रुक गई। और अन्त में इतनी ही एक परिभाषा स्थिर हो गई है, कि ब्रह्म सत् या सत्य यानी सदैव स्थिर रहनेवाला है; और दृश्यसृष्टि असत् अर्थात् नाशवान् है। भगवद्गीता में यही अन्तिम परिभाषा मानी गई है; और इसी के अनुसार दूसरे अध्याय (२. १६. १८) में कह दिया है, कि परब्रह्म सत् और अविनाशी है। एवं नामरूप असत् अर्थात् नाशवान् है; और वेदान्तसूत्रों का भी ऐसा ही मत है। फिर भी दृश्यसृष्टि को 'सत्' कह कर परब्रह्म को 'असत्' या 'त्यत्' (वह = परे का) कहने की तैत्तिरीयोपनिषद्वाली उस पुरानी परिभाषा का नामोनिशाँ अब भी बिलकुल जाता नहीं रहा है। पुरानी परिभाषा से इसका भली भाँति खुलासा हो जाता है, कि गीता के इस ॐ तत् सत् ब्रह्मनिर्देश (गी. १७. २३) का मूल अर्थ क्या रहा होगा। यह 'ॐ' गूढाक्षररूपी वैदिक मन्त्र है। उपनिषदों में इसका अनेक रीतियों से व्याख्यान किया गया है (प्र. ५; मां. ८-१२; छां. १. १)। 'तत्' यानी वह अथवा दृश्यसृष्टि से परे दूर रहनेवाला अनिर्वाच्य तत्त्व है; और 'सत्' का अर्थ है आँखों के सामनेवाली दृश्यसृष्टि। इस सङ्कल्प का अर्थ यह है, कि ये तीनों मिल कर सब ब्रह्म ही है। और इसी अर्थ में भगवान् ने गीता में कहा है, कि "सदसच्चाहमर्जुन" (गी. ९. १९)---सत् यानी परब्रह्म और असत् अर्थात् दृश्यसृष्टि, दोनों मैं ही हूँ। तथापि जब कि गीता में कर्मयोग ही प्रतिपाद्य है, तब सत्रहवें अध्याय के अन्त में प्रतिपादन किया है, कि इस ब्रह्मनिर्देश से भी कर्मयोग का पूर्ण समर्थन होता है। 'ॐ तत्सत्' के 'सत्'

---

* अध्यात्मशास्त्रवाले अंग्रेज़ ग्रन्थकारों में भी इस विषय में मतभेद है, कि real अर्थात् तत् शब्द जगत् के दृश्य (माया) के लिये उपयुक्त हो; अथवा वस्तु तत्त्व (ब्रह्म) के लिये। कान्ट दृश्य को सत् समझ कर (real) वस्तुतत्त्व को अविनाशी मानता है; पर हेकेल और ग्रीनप्रभृति दृश्य को असत् (unreal) समझ कर वस्तुतत्त्व को (real) कहते हैं।

शब्द का अर्थ लौकिक दृष्टि से भला अर्थात् सद्‌बुद्धि से किया हुआ अथवा वह कर्म है, कि जिसका अच्छा फल मिलता है; और तत् का अर्थ परे का या फलाशा छोड़ कर किया हुआ कर्म है । संकल्प में जिसे 'सत्' कहा है, वह सृष्टि यानी कर्म ही है (देखो अगला प्रकरण) । अतः इस ब्रह्मनिर्देश का यह कर्मप्रधान अर्थ मूल अर्थ से सहज ही निष्पन्न होता है । ॐतत्सत्, नेति नेति, सच्चिदानन्द और सत्यस्य सत्यं के अतिरिक्त और भी कुछ ब्रह्मनिर्देश उपनिषदों में हैं; परन्तु उनको यहाँ इसलिये नहीं बतलाया, कि गीता का अर्थ समझने में उनका उपयोग नहीं है ।

जगत्, जीव और परमेश्वर (परमात्मा) के परस्परसम्बन्ध का इस प्रकार निर्णय हो जाने पर गीता में भगवान् ने जो कहा है, कि "जीव मेरा ही 'अंश' है" (गीता. १५. ७) और "मैं ही एक 'अंश' से सारे जगत् में व्याप्त हूँ" (गी. १०. ४२) —एवं बादरायणाचार्य ने भी वेदान्त (२. ३. ४३; ४. ४. १६) में यही बात कही है—अथवा पुरुषसूक्त में जो "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" यह वर्णन है, उसके 'पाद' या 'अंश' शब्द के अर्थ का निर्णय भी सहज ही हो जाता है। परमेश्वर या परमात्मा यद्यपि सर्वव्यापी है, तथापि वह निरवयव और नामरूपरहित है । अतएव उसे काट नहीं सकते (अच्छेद्य); और उसमें विकार भी नहीं होता (अविकार्य); और इसलिये उसके अलग अलग विभाग या टुकडे नहीं हो सकते (गी. २. २५) । अतएव जो परब्रह्म सघनता से अकेला ही चारों ओर व्याप्त है । उसका और मनुष्य के शरीर में निवास करनेवाले आत्मा का भेद बतलाने के लिये यद्यपि व्यवहार में ऐसा कहना पड़ता है, कि 'शारीर आत्मा' परब्रह्म का ही 'अंश' है; तथापि 'अंश' या 'भाग' शब्द का अर्थ "काट कर अलग किया हुआ टुकडा" या "अनार के अनेक दानों में से एक दाना" नहीं है । किन्तु तात्त्विक दृष्टि से उसका अर्थ यह समझना चाहिये, कि जैसे घर के भीतर का आकाश और घड़े का आकाश (मठाकाश और घटाकाश) एक ही सर्वव्यापी आकाश का 'अंश' या भाग है, उसी प्रकार 'शारीर आत्मा' भी परब्रह्म का अंश है (अमृतबिन्दूपनिषद् १३ देखो) । सांख्यवादियों की प्रकृति और हेकेल के जड़ाद्वैत में माना गया एक वस्तुतत्त्व, ये भी इसी प्रकार सत्य निर्गुण परमात्मा के सगुण अर्थात् मर्यादित अंश हैं । अधिक क्या कहें ? आधिभौतिक शास्त्र की प्रणाली से तो यही मालूम होता है, कि जो कुछ व्यक्त या अव्यक्त मूलतत्त्व है (फिर चाहे वह आकाशवत् कितना भी व्यापक हो), वह सब स्थल और काल से बद्ध केवल नामरूप अतएव मर्यादित और नाशवान् है । यह बात सच है, कि उन तत्त्वों की व्यापकता भर के लिये उतना ही परब्रह्म उनसे आच्छादित है । परन्तु परब्रह्म उन तत्त्वों से मर्यादित न हो कर उन सब में ओतप्रोत भरा हुआ है; और इसके अतिरिक्त न जाने वह कितना बाहर है, कि जिसका कुछ पता नहीं । परमेश्वर की व्यापकता दृश्यसृष्टि के बाहर कितनी है, यह बतलाने के लिये

यद्यपि 'त्रिपाद' शब्द का उपयोग पुरुषसूक्त में किया गया है, तथापि उसका अर्थ 'अनन्त' ही इष्ट है। वस्तुतः देखा जाय, तो देश और काल, माप और तौल या संख्या इत्यादि सब नामरूप के ही प्रकार हैं; और यह बतला चुके हैं, कि परब्रह्म इन सब नामरूपों के परे है। इसीलिये उपनिषदों में ब्रह्मस्वरूप के ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, कि जिस नामरूपात्मक 'काल' से सब कुछ ग्रसित है, उस 'काल' को भी ग्रसनेवाला या पचा जानेवाला जो तत्त्व है, वही परब्रह्म है (मै. ६. १५)। और 'न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः'—परमेश्वर को प्रकाशित करनेवाला सूर्य, चन्द्र, अग्नि इत्यादिकों के समान कोई प्रकाशक साधन नहीं है; किन्तु वह स्वयं प्रकाशित है—इत्यादि प्रकार के जो वर्णन उपनिषदों में और गीता में हैं, उनका भी अर्थ यही है (गी. १५. ६; कठ ५. १५; श्वे. ६. १४)। सूर्य-चन्द्र-तारागण सभी नामरूपात्मक विनाशी पदार्थ हैं। जिसे 'ज्योतिषां ज्योतिः' (गी. १३. १७; बृह. ४. ४. १६) कहते हैं, वह स्वयंप्रकाश और ज्ञानमय ब्रह्म इन सब के परे अनन्त भरा हुआ है। उसे दूसरे प्रकाशक पदार्थों की अपेक्षा नहीं है; और उपनिषदों में तो स्पष्ट कहा है, कि सूर्यचन्द्र आदि को जो प्रकाश प्राप्त है, वह भी उसी स्वयंप्रकाश ब्रह्म से ही मिला है (मुं. २. २. १०)। आधिभौतिक शास्त्रों की युक्तियों से इन्द्रियगोचर होनेवाले अतिसूक्ष्म या अत्यन्त दूर का कोई पदार्थ लीजिये—ये सब पदार्थ दिक्काल आदि नियमों की क़ैद में बँधे हैं। अतएव उनका समावेश 'जगत्' ही में होता है। सच्चा परमेश्वर उन सब पदार्थों में रह कर भी उनसे निराला और उनसे कहीं अधिक व्यापक तथा नामरूपों के जाल से स्वतन्त्र है। अतएव केवल नामरूपों का ही विचार करनेवाले आधिभौतिक शास्त्रों की युक्तियाँ या साधन वर्तमान दशा से चाहे सौगुने अधिक सूक्ष्म और प्रगल्भ हो जावें; तथापि सृष्टि के मूल 'अमृत तत्त्व' का उनसे पता लगना सम्भव नहीं। उस अविनाशी, अविकार्य और अमृत तत्त्व को केवल अध्यात्मशास्त्र के ज्ञानमार्ग से ही ढूँढना चाहिये।

यहाँ तक अध्यात्मशास्त्र के जो मुख्य मुख्य सिद्धान्त बतलाये गये और शास्त्रीय रीति से उनकी जो संक्षिप्त उपपत्ति बतलाई गई, उनसे इन बातों का स्पष्टीकरण हो जायगा, कि परमेश्वर के सारे नामरूपात्मक व्यक्त स्वरूप केवल मायिक और अनित्य हैं; तथा उनकी अपेक्षा उनका अव्यक्त स्वरूप श्रेष्ठ है। उसमें भी जो निर्गुण अर्थात् नामरूपरहित है, वही सब से श्रेष्ठ है; और गीतामें बतलाया गया है, कि अज्ञानसे निर्गुण ही सगुण-सा मालूम होता है। परन्तु इन सिद्धान्तोंको केवल शब्दों में ग्रथित करने का कार्य कोई भी मनुष्य कर सकेगा, जिसे सुदैव से हमारे समान चार अक्षरों का कुछ ज्ञान हो गया है—इसमें कुछ विशेषता नहीं है। विशेषता तो इस बात में है, कि ये सारे सिद्धान्त बुद्धि में आ जावें। मन में प्रतिबिम्बित हो जावें। हृदय में जम जावें; और नस नस में समा जावें। इतना होने पर परमेश्वर के स्वरूप की इस प्रकार पूरी पहचान हो जावे, कि एक ही परब्रह्म सब प्राणियों में व्याप्त है; और उसी भाव से संकट के समय भी पूरी समता से बर्ताव करने का अचल स्वभाव

हो जावे। परन्तु इसके लिये अनेक पीढ़ियों के संस्कारों की, इन्द्रियनिग्रह की, दीर्घोद्योग की, तथा ध्यान और उपासना की सहायता अत्यन्त आवश्यक है। इन सब बातों की सहायता से "सर्वत्र एक ही आत्मा" का भाव जब किसी मनुष्य के संकट समय पर भी उसके प्रत्येक कार्य में स्वाभाविक रीति से स्पष्ट गोचर होने लगता है, तभी समझना चाहिये, कि उसका ब्रह्मज्ञान यथार्थ में परिपक्व हो गया है; और ऐसे ही मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है (गी. ५. १८–२०; ६. २१, २२)—यही अध्यात्मशास्त्र के उपर्युक्त सारे सिद्धान्तों का सारभूत और शिरोमणिभूत अन्तिम सिद्धान्त है। ऐसा आचरण जिस पुरुष में दिखाई न दे, उसे 'कच्चा' समझना चाहिये—अभी वह ब्रह्मज्ञानाग्नि में पूरा पक नहीं पाया है। सच्चे साधु और निरे वेदान्तशास्त्रियों में जो भेद है, वह यही है। और इसी अभिप्राय से भगवद्गीता में ज्ञान का लक्षण बतलाते समय यह नहीं कहा, कि "बाह्यसृष्टि के मूलतत्त्व को केवल बुद्धि से जान लेना" ज्ञान है। किन्तु यह कहा है, कि सच्चा ज्ञान वही है, जिससे "अमानित्व, क्षान्ति, आत्मनिग्रह, समबुद्धि" इत्यादि उदात्त मनोवृत्तियाँ जागृत हो जावें; और जिससे चित्त की पूरी शुद्धता आचरण में सदैव व्यक्त हो जावे (गी. १३. ७–११)। जिसकी व्यवसायात्मक बुद्धि ज्ञान से आत्मनिष्ठ (अर्थात् आत्म-अनात्म-विचार में स्थिर) हो जाती है; और जिसके मन को सर्वभूतात्मैक्य का पूरा परिचय हो जाता है; उस पुरुष की वासनात्मक बुद्धि भी निस्संदेह शुद्ध ही होती है। परन्तु यह समझने के लिये, कि किसकी बुद्धि कैसी है? उसके आचरण के सिवा दूसरा बाहरी साधन नहीं है। अतएव केवल पुस्तकों से प्राप्त कोरे ज्ञानप्रसार के आधुनिक काल में इस बात पर विशेष ध्यान रहे, कि 'ज्ञान' या 'समबुद्धि' शब्द में ही शुद्ध (व्यवसायात्मक) बुद्धि, शुद्ध वासना (वासनात्मक बुद्धि), और शुद्ध आचरण, इन तीनों शुद्ध बातों का समावेश किया जाता है। ब्रह्म के विषय में कोरा वाक्पाण्डित्य दिखलानेवाले और उसे सुन कर 'वाह' 'वाह!!' कहते हुए सिर हिलानेवाले या किसी नाटक के दर्शकों के समान "एक बार फिर से—वन्समोर" कहनेवाले बहुतेरे होंगे (गी. २. २९. क. २. ७)। परन्तु जैसा कि ऊपर कह आये हैं—जो मनुष्य अन्तर्बाह्य शुद्ध अर्थात् साम्यशील हो गया हो—वही सच्चा आत्मनिष्ठ है; और उसी को मुक्ति मिलती है; न कि कोरे पंडित को—चाहे वह कैसा ही बहुश्रुत और बुद्धिमान क्यों न हो? उपनिषदों में स्पष्ट कहा है, कि "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुना श्रुतेन" (क. २. २२; मुं. ३. २. ३)। और इसी प्रकार तुकाराम महाराज भी कहते हैं—"यदि तू पंडित होगा, तो तू पुराण-कथा कहेगा; परन्तु तू यह नहीं जान सकता, कि 'मैं' कौन हूँ"। देखिये, हमारा ज्ञान कितना संकुचित है। 'मुक्ति मिलती है'—ये शब्द सहज ही हमारे मुख से निकल पड़ते हैं! मानो यह मुक्ति आत्मा से कोई भिन्न वस्तु है! ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान होने के पहले द्रष्टा और दृश्य जगत् में भेद था सही; परन्तु हमारे अध्यात्मशास्त्र ने निश्चित कर के रखा है, कि

जब ब्रह्मात्मैक्य का पूरा ज्ञान हो जाता है, तब आत्मा ब्रह्म में मिल जाता है; और ब्रह्मज्ञानी पुरुष आप ही ब्रह्मरूप हो जाता है। इस आध्यात्मिक अवस्था को ही 'ब्रह्मनिर्वाण' मोक्ष कहते हैं। यह ब्रह्मनिर्वाण किसी से किसी को दिया नहीं जाता। यह कहीं दूसरे स्थान से आता नहीं या इसकी प्राप्ति के लिये किसी अन्य लोक में जाने की भी आवश्यकता नहीं। पूर्ण आत्मज्ञान जब और जहाँ होगा, उसी क्षण में और उसी स्थान पर मोक्ष धरा हुआ है। क्योंकि मोक्ष तो आत्मा ही की मूल शुद्धावस्था है। वह कुछ निराली स्वतन्त्र वस्तु या स्थल नहीं। शिवगीता (१३. ३२) में यह श्लोक है :--

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥

अर्थात् "मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं, कि जो किसी एक स्थान में रखी हो; अथवा यह भी नहीं, कि उसकी प्राप्ति के लिये किसी दूसरे गाँव या प्रदेश को जाना पड़े! वास्तव में हृदय की अज्ञानग्रन्थि के नाश हो जाने को ही मोक्ष कहते हैं"। इसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र से निष्पन्न होनेवाला यही अर्थ भगवद्गीता के "अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्" (गी. ५. २६)--जिन्हें पूर्ण आत्मज्ञान हुआ है, उन्हें ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष आप-ही-आप प्राप्त हो जाता है; तथा "यः सदा मुक्त एव सः" (गी. ५. २८) इस श्लोक में वर्णित है; और "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"--जिसने ब्रह्म को जाना, वह ब्रह्म ही हो जाता है (मुं. ३. २. ९) इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में भी वही अर्थ वर्णित है। मनुष्य के आत्मा की ज्ञानदृष्टि से जो यह पूर्णावस्था होती है, उसी को 'ब्रह्मभूत' (गी. १८. ५४) या 'ब्राह्मी स्थिति' कहते हैं (गी. २. ७२); और स्थितप्रज्ञ (गी. २. ५५-७२), भक्तिमान् (गी. १२. १३-२०), या त्रिगुणातीत (गी. १४. २२-२७) पुरुषों के विषय में भगवद्गीता में जो वर्णन हैं, वे भी इसी अवस्था के हैं। यह नहीं समझना चाहिये, कि जैसे सांख्यवादी 'त्रिगुणातीत' पद से प्रकृति और पुरुष दोनों को स्वतंत्र मान कर पुरुष के केवलपन या 'कैवल्य' को मोक्ष मानते हैं, वैसा ही मोक्ष गीता को भी सम्मत है। किन्तु गीता का अभिप्राय है, कि अध्यात्मशास्त्र में कही गई ब्राह्मी अवस्था "अहं ब्रह्मास्मि"--मैं ही ब्रह्म हूँ (बृ. १. ४. १०) --कभी तो भक्तिमार्ग से, कभी चित्तनिरोधरूप पातञ्जल योगमार्ग से, और कभी गुणागुणविवेचनरूप सांख्यमार्ग से भी प्राप्त होती है। इन मार्गों में अध्यात्मविचार केवल बुद्धिगम्य मार्ग है। इसलिये गीता में कहा है, कि सामान्य मनुष्यों को परमेश्वरस्वरूप का ज्ञान होने के लिये भक्ति ही सुगम साधन है। इस साधन का विस्तारपूर्वक विचार हमने आगे चल कर तेरहवें प्रकरण में किया है। साधन कुछ भी हो; इतनी बात तो निर्विवाद है, कि ब्रह्मात्मैक्य का अर्थात् सच्चे परमेश्वरस्वरूप का ज्ञान होना, सब प्राणियों में एक ही आत्मा पहचानना और उसी भाव के अनुसार बर्ताव करना ही अध्यात्मज्ञान की परमावधि है; तथा यह अवस्था जिसे प्राप्त हो जाय, वही पुरुष धन्य तथा कृतकृत्य होता है। यह पहले ही बतला चुके हैं

कि केवल इन्द्रियसुख पशुओं और मनुष्यों को एक ही समान होता है। इसलिये मनुष्यजन्म की सार्थकता अथवा मनुष्य की मनुष्यता ज्ञानप्राप्ति ही में है। सब प्राणियों के विषय में काया-वाचा-मन से सदैव ऐसी ही साम्यबुद्धि रख कर अपने सब कर्मों को करते रहना ही नित्यमुक्तावस्था, पूर्ण योग या सिद्धावस्था है। इस अवस्था के जो वर्णन गीता में हैं, उनमें से बारह अध्यायवाले भक्तिमान् पुरुष के वर्णन पर टीका करते हुए ज्ञानेश्वर महाराज* ने अनेक दृष्टान्त दे कर ब्रह्मभूत पुरुष की साम्यावस्था का अत्यन्त मनोहर और चटकीला निरूपण किया है। और यह कहने में कोई हर्ज नहीं, कि इस निरूपण में गीता के चारों स्थानों में वर्णित ब्राह्मी अवस्था का सार आ गया है; यथा :—“ हे पार्थ ! जिसके हृदय में विषमता का नाम तक नहीं है, जो शत्रु और मित्र दोनों को समान ही मानता है; अथवा हे पाण्डव ! दीपक के समान जो इस बात का भेदभाव नहीं जानता, कि यह मेरा घर है, इसलिये यहाँ प्रकाश करूँ; और वह पराया घर है, इसलिये वहाँ अँधेरा करूँ। बीज बोनेवाले पर और पेड़ को काटनेवाले पर भी वृक्ष जैसे समभाव से छाया करता है; ” इत्यादि (ज्ञा. १२. १८)। इसी प्रकार “ पृथ्वी के समान वह इस बात का भेद बिलकुल नहीं जानता, कि उत्तम का ग्रहण करना चाहिये; और अधम का त्याग करना चाहिये। जैसे कृपालु प्राण इस बात को नहीं सोचता, कि राजा के शरीर को चलाऊँ और रङ्क के शरीर को गिराऊँ (जैसे जल यह भेद नहीं करता, कि गो की तृषा बुझाऊँ और व्याघ्र के लिये विष बन कर उसका नाश करूँ) वैसे ही सब प्राणियों के विषय में जिसकी एक-सी मित्रता है, जो स्वयं कृपा की मूर्ति है; और जो ‘ मैं ’ और ‘ मेरा ’ का व्यवहार नहीं जानता और जिसे सुखदुःख का भान भी नहीं होता ” इत्यादि (ज्ञा. १२. १३)। अध्यात्मविद्या से जो कुछ अन्त में प्राप्त करना है, वह यही है।

उपर्युक्त विवेचन से विदित होगा, कि सारे मोक्षधर्म के मूलभूत अध्यात्म-ज्ञान की परम्परा हमारे यहाँ उपनिषदों से लगा कर ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास इत्यादि आधुनिक साधु पुरुषों तक किस प्रकार अव्याहत चली आ रही है? परन्तु उपनिषदों के भी पहले यानी अत्यन्त प्राचीन काल में ही हमारे देश में इस ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ था; और तब से क्रम क्रम से आगे उपनिषदों के विचारों की उन्नति होती चली गई है। यह बात पाठकों को भली भाँति समझा देने के लिये ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध सूक्त भाषान्तरसहित यहाँ अन्त में दिया गया है, जो कि उपनिषदान्तर्गत ब्रह्मविद्या का आधारस्तम्भ है। सृष्टि के अगम्य मूलतत्त्व और उससे विविध दृश्यसृष्टि की उत्पत्ति के विषय में जैसे विचार इस सूक्त में प्रदर्शित किये गये हैं, वैसे प्रगल्भ, स्वतन्त्र और मूल तक की खोज करनेवाले तत्त्वज्ञान के मार्मिक विचार अन्य किसी भी धर्म के मूलग्रन्थ में दिखाई

---

* ज्ञानेश्वर महाराज के ‘ज्ञानेश्वरी’ ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद श्रीयुत रघुनाथ माधव भगाडे, बी.ए. सबजज्ज, नागपूर, ने किया है; और वह ग्रन्थ उन्हीं से मिल सकता है।

नहीं देते। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसे अध्यात्मविचारों से परिपूर्ण और इतना प्राचीन लेख भी अब तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिये अनेक पश्चिमी पंडितों ने धार्मिक इतिहास की दृष्टि से भी इस सूक्त को अत्यंत महत्त्वपूर्ण जान कर आश्चर्यचकित हो अपनी अपनी भाषाओं में इसका अनुवाद यह दिखलाने के लिये किया है, कि मनुष्य के मन की प्रवृत्ति इस नाशवान् और नामरूपात्मक सृष्टि के परे नित्य और अचिन्त्य ब्रह्मशक्ति की ओर सहज ही कैसे झुक जाया करती है? यह ऋग्वेद के दसवें मंडल का १२९ वाँ सूक्त है; और इसके प्रारम्भिक शब्दों से इसे "नासदीय सूक्त" कहते हैं। यही सूक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण (२. ८. ९) में लिया गया है; और महाभारतान्तर्गत नारायणीय या भागवतधर्म में इसी सूक्त के आधार पर यह बात बतलाई गई है, कि भगवान् की इच्छा से पहले पहल सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई (म. भा. शां. ३४२. ८)? सर्वानुक्रमणिका के अनुसार इस सूक्त का ऋषि परमेष्ठि प्रजापति है; और देवता परमात्मा है; तथा इसमें त्रिष्टुप् वृत्त के यानी ग्यारह अक्षरों के चार चरणों की सात ऋचाएँ हैं। 'सत्' और 'असत्' शब्दों के दो दो अर्थ होते हैं। अतएव सृष्टि के मूलद्रव्य को 'सत्' कहने के विषय में उपनिषत्कारों के जिस मतभेद का उल्लेख पहले हम इस प्रकरण में कर चुके हैं, वही मतभेद ऋग्वेद में भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, इस मूलकारण के विषय में कहीं तो यह कहा है, कि "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋ. १. १६४. ४६) अथवा "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" (ऋ. १०. ११४. ५)—वह एक और सत् यानी सदैव स्थिर रहनेवाला है; परन्तु उसी को लोग अनेक नामों से पुकारते हैं। और कहीं कहीं इसके विरुद्ध यह भी कहा है, कि "देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत" (ऋ. १०. ७२. ७)—देवताओं के भी पहले असत् से अर्थात् अव्यक्त से 'सत्' अर्थात् व्यक्तसृष्टि उत्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त, किसी न किसी एक दृश्यतत्त्व से सृष्टि की उत्पत्ति होने के विषय में ऋग्वेद ही में भिन्न भिन्न अनेक वर्णन पाये जाते हैं। जैसे सृष्टि के आरम्भ में मूल हिरण्यगर्भ था। अमृत और मृत्यु दोनों उसकी ही छाया हैं; और आगे उसी से सारी सृष्टि निर्मित हुई है (ऋ. १० १२१. १, २)। पहले विराट्रूपी पुरुष था; और उससे यज्ञ के द्वारा सारी सृष्टि उत्पन्न हुई (ऋ. १०. ९०)। पहले पानी (आप) था। उसमें प्रजापति उत्पन्न हुआ (ऋ. १०. ७२. ६; १०. ८२. ६)। ऋत और सत्य पहले उत्पन्न हुए, फिर रात्रि (अन्धकार), और उसके बाद समुद्र (पानी), संवत्सर इत्यादि उत्पन्न हुए (ऋ. १०. १९०. १)। ऋग्वेद में वर्णित इन्हीं मूलद्रव्यों का आगे अन्यान्य स्थानों में इस प्रकार उल्लेख किया गया है। जैसे :—(१) जल का, तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्'—यह सब पहले पतला पानी था (तै. ब्रा. १. १. ३. ५)। (२) असत् का, तैत्तिरीय उपनिषद् में 'असद्वा इदमग्र आसीत्'—यह पहले असत् था (तै. २. ७)। (३) सत् का, छांदोग्य में 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'—यह सब पहले सत् ही था (छां. ६. २)। अथवा (४) आकाश का, 'आकाशः'

परायणम्'--आकाश ही सब का मूल है (छां. १. ६); मृत्यु का, बृहदारण्यक में 'नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्'--पहले यह कुछ भी न था, मृत्यु से सब आच्छादित था (बृह १. २. १); और (६) तम का, मैत्र्युपनिषद् में 'तमो वा इदमग्र आसीदेकम्' (मै. ५. २)--पहले यह सब अकेला तम (तमोगुणी, अन्धकार) था--आगे उससे रज और सत्त्व हुआ। अन्त में इन्हीं वेदवचनों का अनुसरण करके मनुस्मृति में सृष्टि के आरम्भ का वर्णन इस प्रकार किया गया है :--

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥

अर्थात् "यह सब पहले तम से यानी अन्धकार से व्याप्त था। भेदाभेद नहीं जाना जाता था। अगम्य और निद्रित-सा था। फिर आगे इसमें अव्यक्त परमेश्वर ने प्रवेश करके पहले पानी उत्पन्न किया" (मनु. १. ५-८)। सृष्टि के आरम्भ के मूलद्रव्य के सम्बन्ध में उक्त वर्णन या ऐसे ही भिन्न भिन्न वर्णन नासदीय सूक्त के समय भी अवश्य प्रचलित रहे होंगे; और उस समय भी यही प्रश्न उपस्थित हुआ होगा, कि इनमें कौन-सा मूलद्रव्य सत्य माना जावे? अतएव उसके सत्यांश के विषय में इस सूक्त के ऋषि यह कहते हैं, कि :--

सूक्त ।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म-
न्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १ ॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं ।
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस ॥ २ ॥

अनुवाद ।

१. तब अर्थात् मूलारंभ में असत् नहीं था और सत् भी नहीं था। अंतरिक्ष नहीं था और उसके परे का आकाश भी न था। (ऐसी अवस्था में) किस ने (किस पर) आवरण डाला? कहाँ? किस के सुख के लिये? अगाध और गहन जल (भी) कहाँ था?*

२. तब मृत्यु अर्थात् मृत्युग्रस्त नाशवान् दृश्यसृष्टि न थी, अतएव (दूसरा) अमृत अर्थात् अविनाशी नित्य पदार्थ (यह भेद) भी न था। (इसी प्रकार) रात्रि और दिन का भेद समझने के लिये कोई साधन (=प्रकेत) न था। (जो कुछ था) वह अकेला एक ही अपनी शक्ति (स्वधा) से वायु के बिना श्वासोच्छ्वास लेता अर्थात् स्फूर्तिमान् होता रहा। इसके अतिरिक्त या इसके परे और कुछ भी न था।

---

* ऋचा पहली--चौथे चरण में 'आसीत् किम्' यह अन्वय करके हमने उक्त अर्थ दिया है; और उसका भावार्थ है 'पानी तब नहीं था' (तै. ब्रा. २. २, ६)।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽ
प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥३॥

३. जो (यत्) ऐसा कहा जाता है, कि अन्धकार था, आरम्भ में यह सब अन्धकार से व्याप्त (और) भेदाभेदरहित जल था (या) आभु अर्थात् सर्वव्यापी ब्रह्म (पहले ही) तुच्छ से अर्थात् झूठी माया से आच्छादित था, वह (तत्) मूल में एक (ब्रह्मही) तप की महिमा से (आगे रूपान्तर से) प्रगट हुआ था * ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

४. इसके मन का जो रेत अर्थात् बीज प्रथमतः निकला, वही आरम्भ में काम (अर्थात् सृष्टि निर्माण करने की प्रवृत्ति या शक्ति) हुआ। ज्ञाताओं ने अन्तःकरण में विचार करके बुद्धि से निश्चित किया, कि (यही) असत् में अर्थात् मूल परब्रह्म में सत् का यानी विनाशी दृश्यसृष्टि का (पहला) सम्बन्ध है ।

---

* ऋचा तीसरी—कुछ लोग इसके प्रथम तीन चरणों को स्वतंत्र मानकर उनका ऐसा विधानात्मक अर्थ करते हैं, कि " अन्धकार, अन्धकार से व्याप्त पानी, या तुच्छ से आच्छादित आभु (पोलापन) था। " परन्तु हमारे मत से यह भूल है। क्योंकि पहली दो ऋचाओं में जब कि ऐसी स्पष्ट उक्ति है, कि मूलारंभ में कुछ भी न था; तब उसके विपरीत इसी सूक्त में यह कहा जाना संभव नहीं, कि मूलारंभ में अन्धकार या पानी था। अच्छा; यदि वैसा अर्थ करें भी; तो तीसरे चरण के यत् शब्द को निरर्थक मानना होगा । अतएव तीसरे चरण के 'यत्' का चौथे चरण के 'तत्' से संबन्ध लगाकर, जैसा (कि हमने ऊपर किया है) अर्थ करना आवश्यक है । मूलारंभ में पानी वगैरह पदार्थ थे' ऐसा कहनेवालों को उत्तर देने के लिये इस सूक्त में यह ऋचा आई है। और इसमें ऋषि का उद्देश यह बतलाने का है, कि तुम्हारे कथनानुसार मूल में तम, पानी इत्यादि पदार्थ न थे; किन्तु एक ब्रह्म का ही आगे यह सब विस्तार हुआ है । 'तुच्छ' और 'आभु' ये शब्द एक दूसरे के प्रतियोगी हैं। अतएव तुच्छ के विपरीत 'आभु' शब्द का अर्थ बड़ा या समर्थ होता है; और ऋग्वेद में जहाँ अन्य दो स्थानों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ सायणाचार्य ने भी उसका यही अर्थ किया है (ऋ. १०, २७. १, ४) पंचदशी (चित्र. १२९ १३०) में तुच्छ शब्द का उपयोग माया के लिये किया गया है (नृसिं. उत्त. ९ देखो) अर्थात् 'आभु' का अर्थ पोलापन न हो कर 'परब्रह्म' ही होता है । ' सर्व आः इदम् '—यहाँ आः (अ + अस्) अस धातुका भूतकाल है; और इसका अर्थ 'आसीत्' होता है ।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्
अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥५॥

५. (यह) रश्मि या किरण या धागा इनमें आड़ा फैल गया; और यदि कहें, कि यह नीचे था; तो यह ऊपर भी था। (इनमें से कुछ) रेतोधा अर्थात् बीजप्रद हुए; और (बढ़कर) बड़े भी हुए। उन्हीं की स्वशक्ति इस ओर रही; और प्रयति अर्थात् प्रभाव उस ओर (व्याप्त) हो रहा।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेना-
थ को वेद यत आबभूव ॥६॥

६. (सत् का) यह विसर्ग यानी पसारा किससे या कहाँ से आया? यह (इससे अधिक) प्र यानी विस्तारपूर्वक यहाँ कौन कहेगा? इसे कौन निश्चयात्मक जानता है? देव भी इस (सत् सृष्टि के) विसर्ग के पश्चात् हुए हैं। फिर वह जहाँ से हुई, उसे कौन जानेगा?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न दधे ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

७. (सत् का) यह विसर्ग अर्थात् फैलाव जहाँ से हुआ अथवा निर्मित किया गया या नहीं किया गया—उसे परम आकाश में रहनेवाला इस सृष्टि का जो अध्यक्ष (हिरण्यगर्भ) है, वही जानता होगा; या न भी जानता हो! (कौन कह सके?)

सारे वेदान्तशास्त्र का रहस्य यही है, कि नेत्रों को या सामान्यतः सब इंद्रियों को गोचर होनेवाले विकारी और विनाशी नामरूपात्मक अनेक दृश्यों के फंदे में फँसे न रह कर ज्ञानदृष्टि से यह जानना चाहिये, कि इस दृश्य के परे कोई न कोई एक और अमृत तत्त्व है। इस मक्खन के गोले को ही पाने के लिये उक्त सूक्त के ऋषि की बुद्धि एकदम दौड़ पड़ी है। इससे यह स्पष्ट देख पड़ता है, कि उसका अन्तर्ज्ञान कितना तीव्र था! मूलारम्भ में अर्थात् सृष्टि के सारे पदार्थों के उत्पन्न होने के पहले जो कुछ था, वह सत् था या असत्; मृत्यु था या अमर; आकाश था या जल; प्रकाश था या अंधकार?—ऐसे अनेक प्रश्न करनेवालों के साथ वादविवाद न करते हुए उक्त ऋषि सबके आगे दौड़ कर यह कहता है, कि सत् और असत्, मर्त्य और अमर, अन्धकार और प्रकाश, आच्छादन करनेवाला और आच्छादित, सुख देनेवाला और उसका अनुभव करनेवाला, ऐसे अद्वैत की परस्परसापेक्ष भाषा दृश्यसृष्टि की उत्पत्ति के अनन्तर की है। अतएव सृष्टि में इन द्वन्द्वों के उत्पन्न होने के पूर्व अर्थात् जब 'एक और दूसरा' यह भेद ही न था, तब कौन किसे आच्छादित करता? इसलिये आरम्भ ही में इस सूक्त का ऋषि निर्भय हो कर यह कहता है, कि मूलारम्भ के एक द्रव्य को सत् या असत्, आकाश या जल, प्रकाश या अंधकार, अमृत

या मृत्यु, इत्यादि कोई भी परस्परसापेक्ष नाम देना उचित नहीं। जो कुछ था, वह इन सब पदार्थों से विलक्षण था; और वह अकेला एक चारों ओर अपनी अपरंपार शक्ति से स्फूर्तिमान् था। उसकी जोड़ी में या उसे आच्छादित करनेवाला अन्य कुछ भी न था। दूसरी ऋचा में 'आनीत्' क्रियापद के 'अन्' धातु का अर्थ है श्वासोच्छ्वास लेना या स्फुरण होना; और 'प्राण' शब्द भी उसी धातु से बना है। परन्तु जो न सत् है और न असत्, उसके विषय में कौन कह सकता है, कि वह सजीव प्राणियों के समान श्वासोच्छ्वास लेता था? और श्वासोच्छ्वास के लिये वहाँ वायु ही कहाँ है? अतएव 'आनीत्' पद के साथ ही--'अवातं' = विना वायु के और 'स्वधया' = स्वयं अपनी ही महिमा से इन दोनों पदों को जोड़ कर "सृष्टि का मूलतत्त्व जड़ नहीं था" यह अद्वैतावस्था का अर्थ द्वैत की भाषा में बड़ी युक्ति से इस प्रकार कहा है, कि "वह एक बिना वायु के केवल अपनी ही शक्ति से श्वासोच्छ्वास लेता या स्फूर्तिमान् होता था!" इसमें बाह्यदृष्टि से जो विरोध दिखाई देता है, वह द्वैती भाषा की अपूर्णता से उत्पन्न हुआ है। "नेति नेति", "एकमेवाद्वितीयम्" या "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः" (छां. ७. २४. १)--अपनी ही महिमा से अर्थात् अन्य किसी की अपेक्षा न करते हुए अकेला ही रहनेवाला--इत्यादि जो परब्रह्म के वर्णन उपनिषदों में पाये जाते हैं, वे भी उपरोक्त अर्थ के ही द्योतक हैं। सारी सृष्टि के मूलारम्भ में चारों ओर जिस एक अनिर्वाच्य तत्त्व के स्फुरण होने की बात इस सूक्त में कही गई है, वही तत्त्व सृष्टि का प्रलय होने पर भी निःसन्देह शेष रहेगा। अतएव गीता में इसी परब्रह्म का कुछ पर्याय से इस प्रकार वर्णन है, कि "सब पदार्थों का नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता" (गी. ८. २०)। और आगे इसी सूक्ती के अनुसार स्पष्ट कहा है, कि "वह सत् भी नहीं है; और असत् भी नहीं है" (गी. १३. १२)। परन्तु प्रश्न यह है, कि जब सृष्टि के मूलारम्भ में निर्गुण ब्रह्म के सिवा और कुछ भी न था; तो फिर वेदों में जो ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, कि "आरंभ में पानी, अन्धकार, या आभु और तुच्छ की जोड़ी थी" उनकी क्या व्यवस्था होगी? अतएव तीसरी ऋचा में कवि ने कहा है, कि इस प्रकार के जितने वर्णन हैं [जैसे कि-सृष्टि के आरम्भ में अंधकार था या अंधकार से आच्छादित पानी था, या आभु (ब्रह्म) और उसको आच्छादित करनेवाली माया (तुच्छ)। ये दोनों पहले से थे इत्यादि] वे सब उस समय के हैं, कि जब अकेले एक मूलपरब्रह्म के तप-महात्म्य से उसका विविध रूप से फैलाव हो गया था। ये वर्णन मूलारंभ की स्थिति के नहीं हैं। इस ऋचा में 'तप' शब्द से मूलब्रह्म की ज्ञानमय विलक्षण शक्ति विवक्षित है; और उसी का वर्णन चौथी ऋचा में किया गया है (मुं. १. १. ९ देखो) "एतावान् अस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः" (ऋ. १०. ९०. ३)। इस न्याय से सारी सृष्टि ही जिसकी महिमा कहलाई, उस मूलद्रव्य के विषय में कहना पड़ेगा, कि वह इन सब के परे, सब से श्रेष्ठ और भिन्न है। परन्तु दृश्य वस्तु और द्रष्टा, भोक्ता और भोग्य, आच्छादन करनेवाला और आच्छाद्य, अंधकार

और प्रकाश, मर्त्य और अमर इत्यादि सारे द्वैतों को इस प्रकार अलग कर यद्यपि यह निश्चय किया गया, कि केवल एक निर्मल चिद्रूपी विलक्षण परब्रह्म ही मूलारम्भ में था; तथापि जब यह बतलाने का समय आया, कि इस अनिर्वाच्य, निर्गुण, अकेले एकतत्त्व से आकाश, जल इत्यादि द्वंद्वात्मक विनाशी सगुण नामरूपात्मक विविध सृष्टि या इस सृष्टि की मूलभूत त्रिगुणात्मक प्रकृति कैसे उत्पन्न हुई ? तब तो हमारे प्रस्तुत ऋषि ने भी मन, काम, असत् और सत् जैसी द्वैती भाषा का ही उपयोग किया है। और अन्त में स्पष्ट कह दिया है, कि यह प्रश्न मानवी बुद्धि की पहुँच के बाहर है। चौथी ऋचा में मूलब्रह्म को ही 'असत्' कहा है; परन्तु उसका अर्थ "कुछ नहीं" यह नहीं मान सकते। क्योंकि दूसरी ऋचा में ही स्पष्ट कहा है, कि "वह है"। न केवल इसी सूक्त में, किंतु अन्यत्र भी व्यावहारिक भाषा को स्वीकार कर के ही ऋग्वेद और वाजसनेयी संहिता में गहन विषयों का विचार ऐसे प्रश्नों के द्वारा किया गया है (ऋ. १०. ३१. ७; १०. ८१. ४; वाज. सं. १७. २० देखो) --जैसे दृश्यसृष्टि को यज्ञ की उपमा दे कर प्रश्न किया है, कि इस यज्ञ के लिये आवश्यक घृत, समिधा इत्यादि सामग्री प्रथम कहाँ से आई (ऋ. १०. १३०. ३)? अथवा घर का दृष्टान्त ले कर प्रश्न किया है, कि मूल एक निर्गुण से नेत्रों को प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली आकाश-पृथ्वी की इस भव्य इमारत को बनाने के लिये लकड़ी (मूलप्रकृति) कैसे मिली ?--किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। इन प्रश्नों का उत्तर, उपर्युक्त सूक्त की चौथी और पाँचवी ऋचा में जो कुछ कहा गया है, उससे अधिक दिया जाना सम्भव नहीं है (वाज. सं. ३३. ७४ देखो); और वह उत्तर यही है, कि उस अनिर्वाच्य, अकेले एक ब्रह्म ही के मन में सृष्टि निर्माण करने का 'काम'--रूपी तत्त्व किसी तरह उत्पन्न हुआ; और वस्त्र के धागों समान या सूर्यप्रकाश के समान उसी की शाखाएँ तुरन्त नीचे, ऊपर और चहुँ ओर फैल गईं; तथा सत् का सारा फैलाव हो गया--अर्थात् आकाश-पृथ्वी की यह भव्य इमारत बन गई। उपनिषदों में इस सूक्त के अर्थ को फिर भी इस प्रकार प्रगट किया है, कि "सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति"। (तै. २, ६; छां. ६. २. ३)--उस परब्रह्म को ही अनेक होने की इच्छा हुई (बृ. १. ४. देखो); और अथर्ववेद में भी ऐसा वर्णन है, कि इस सारी दृश्यसृष्टि के मूलभूत द्रव्य से ही पहले पहल 'काम' हुआ (अथर्व ९. २. १९)। परन्तु इस सूक्त में विशेषता यह है, कि निर्गुण से सगुण की, असत् से सत् की, निर्द्वन्द्व से द्वन्द्व की, अथवा असङ्ग से सङ्ग की उत्पत्ति का प्रश्न मानवी बुद्धि के लिये अगम्य समझ कर सांख्यों के समान केवल तर्कवश हो मूलप्रकृति ही को या उसके सदृश किसी दूसरे तत्त्व को स्वयंभू और स्वतन्त्र नहीं माना है। किन्तु इस सूक्त का ऋषि कहता है, कि "जो बात समझ में नहीं आती, उसके लिये साफ़ साफ़ कह दो, कि यह समझ में नहीं आती। परन्तु उसके लिये शुद्धबुद्धि से और आत्मप्रतीति से निश्चित किये गये अनिर्वाच्य ब्रह्म की योग्यता को दृश्यसृष्टिरूप माया की योग्यता के बराबर

मत समझो; और न परब्रह्म के विषय में अपने अद्वैतभाव ही को छोड़ो। इसके सिवा यह सोचना चाहिये, कि यद्यपि प्रकृति को एक भिन्न, त्रिगुणात्मक, स्वतन्त्र पदार्थ मान भी लिया जावे; तथापि इस प्रश्न का उत्तर तो दिया ही नहीं जा सकता, कि उसमें सृष्टि को निर्माण करने के लिये प्रथमतः बुद्धि (महान्) या अहंकार कैसे उत्पन्न हुआ? और, जब कि यह दोष कभी टल ही नहीं सकता है, तो फिर प्रकृति को स्वतन्त्र मान लेने में क्या लाभ है? सिर्फ़ इतना कहो, कि यह बात समझ में नहीं आती, कि मूलब्रह्म से सत् अर्थात् प्रकृति कैसे निर्मित हुई? इसके लिये प्रकृति को स्वतंत्र मान लेने की ही कुछ आवश्यकता नहीं है। मनुष्य की बुद्धि की कौन कहे? परन्तु देवताओं की दिव्यबुद्धि से भी सत् की उत्पत्ति का रहस्य समझ में आ जाना संभव नहीं। क्योंकि देवता भी दृश्यसृष्टि के आरम्भ होने पर उत्पन्न हुए हैं। उन्हें पिछला हाल क्या मालूम? (गी. १०. २ देखो)। परन्तु हिरण्यगर्भ देवताओं से भी बहुत प्राचीन और श्रेष्ठ है। और ऋग्वेद में ही कहा है, कि आरम्भ में वह अकेलाही "भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" (ऋ. १०. १२१. १.) सारी सृष्टि का 'पति' अर्थात् राजा या अध्यक्ष था। फिर उसे यह बात क्योंकर मालूम न होगी? और यदि उसे मालूम होगी; तो फिर कोई पूछ सकता है, कि इस बात को दुर्बोध या अगम्य क्यों कहते हो? अतएव उस सूक्त के ऋषि ने पहले तो उक्त प्रश्न का यह औपचारिक उत्तर दिया है, कि "हाँ; वह इस बात को जानता होगा।" परन्तु अपनी बुद्धि से ब्रह्म-देव के भी ज्ञानसागर की थाह लेनेवाले इस ऋषि ने आश्चर्य से साशंक हो अन्त में तुरन्त ही कह दिया है, कि "अथवा न भी जानता हो! कौन कह सकता है? क्योंकि वह भी सत् ही की श्रेणी में है। इसलिये 'परम' कहलाने पर भी 'आकाश' ही में रहनेवाले जगत् के इस अध्यक्ष को सत्, असत्, आकाश और जल के भी पूर्व की बातों का ज्ञान निश्चित रूप से कैसे हो सकता है?" परन्तु यद्यपि यह बात समझ में नहीं आती, कि एक 'असत्' अर्थात् अव्यक्त और निर्गुण द्रव्य ही के साथ विविध नामरूपात्मक सत् का अर्थात् मूलप्रकृति का संबंध कैसे हो गया? तथापि मूलब्रह्म के एकत्व के विषय में ऋषि ने अपने अद्वैत भाव को डिगने नहीं दिया है। यह इस बात का एक उत्तम उदाहरण है, कि सात्त्विक श्रद्धा और निर्मल प्रतिभा के बल पर मनुष्य की बुद्धि अचिन्त्य वस्तुओं के सघन बन में सिंह के समान निर्भय होकर कैसे सञ्चार किया करती है? और वहाँ की अतर्क्य बातों का यथाशक्ति कैसे निश्चय किया करती है? यह सचमुच ही आश्चर्य तथा गौरव की बात है, कि ऐसा सूक्त ऋग्वेद में पाया जाता है। हमारे देश में इस सूक्त के ही विषय का आगे ब्राह्मणों (तैत्ति. ब्रा. २. ८. ९) में, उपनिषदों में और अनंतर वेदान्तशास्त्र के ग्रन्थोंमें सूक्ष्म रीति से विवेचन किया गया है; और पश्चिमी देशों में भी अर्वाचीन काल के कान्ट इत्यादि तत्त्वज्ञानियों ने उसीका अत्यंत सूक्ष्म परीक्षण किया है। परन्तु स्मरण रहे, कि इस सूक्त के ऋषि की पवित्र बुद्धि में जिन परम सिद्धान्तों की

स्फूर्ति हुई है, वही सिद्धान्त आगे प्रतिपक्षियों को विवर्तवाद के समान उचित उत्तर दे कर और भी दृढ़, स्पष्ट या तर्कदृष्टि से निःसंदेह किये गये हैं। इसके आगे अभी तक न कोई बढ़ा है; और न बढ़ने की विशेष आशा ही की जा सकती है।

अध्यात्म-प्रकरण समाप्त हुआ। अब आगे चलने के पहले 'केसरी' की चाल के अनुसार उस मार्ग का कुछ निरीक्षण हो जाना चाहिये, कि जो यहाँ तक चल आये हैं। कारण यह है, कि यदि इस प्रकार सिंहावलोकन न किया जावे, तो विषयानुसंधान के चूक जाने से सम्भव है, कि और किसी अन्य मार्ग में सञ्चार होने लगे। ग्रन्थारम्भ में पाठकों को विषय में प्रवेश कराके कर्मजिज्ञासा का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया है; और तीसरे प्रकरण में यह दिखलाया है, कि कर्मयोगशास्त्र ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। अनंतर चौथे, पाँचवें और छठे प्रकरण में सुखदुःख-विवेकपूर्वक यह बतलाया है, कि कर्मयोगशास्त्र की आधिभौतिक उपपत्ति एक-देशीय तथा अपूर्ण है; और आधिदैविक उपपत्ति लँगड़ी है। फिर कर्मयोग की आध्यात्मिक उपपत्ति बतलाने के पहले--यह जानने के लिये, कि आत्मा किसे कहते हैं? छठे प्रकरण में ही पहले--क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार और आगे सातवें तथा आठवें प्रकरण में सांख्यशास्त्रान्तर्गत द्वैत के अनुसार क्षरअक्षरविचार किया गया है। और फिर इस प्रकरण में आकर इस विषय का निरूपण किया गया है, कि आत्मा का स्वरूप क्या है? तथा पिण्ड और ब्रह्माण्ड में दोनों ओर एक ही अमृत और निर्गुण आत्मतत्त्व किस प्रकार ओतप्रोत और निरन्तर व्याप्त है? इसी प्रकार यहाँ यह भी निश्चित किया गया है, कि ऐसा समबुद्धियोग प्राप्त करके (कि सब प्राणिओं में एक ही आत्मा है) उसे सदैव जागृत रखना ही आत्मज्ञान की और आत्मसुखकी पराकाष्ठा है। और फिर यह बतलाया गया है, कि अपनी बुद्धि को इस प्रकार शुद्ध आत्मनिष्ठ अवस्था में पहुँचा देने में ही मनुष्य का मनुष्यत्व अर्थात् नरदेह की सार्थकता या मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। इस प्रकार मनुष्यजाति के आध्यात्मिक परमसाध्य का निर्णय हो जाने पर कर्मयोगशास्त्र के इस मुख्य प्रश्न का भी निर्णय आप-ही-आप हो जाता है, कि संसारमें हमें प्रतिदिन जो व्यवहार करने पड़ते हैं, वे किस नीति से किये जावें? अथवा जिस शुद्धबुद्धि से उन सांसारिक व्यवहारों को करना चाहिये, उसका यथार्थ स्वरूप क्या है? क्योंकि अब यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, कि ये सारे व्यवहार उसी रीति से किये जाने चाहिये, कि जिससे वे परिणाम में ब्रह्मात्मैक्यरूप समबुद्धि के पोषक या अविरोधी हों। भगवद्गीता में कर्मयोग के इसी आध्यात्मिक तत्त्व का उपदेश अर्जुन को किया गया है। परन्तु कर्मयोग का प्रतिपादन केवल इतने ही से पूरा नहीं होता। क्योंकि कुछ लोगों का कहना है, कि नामरूपात्मक सृष्टि के व्यवहार आत्मज्ञान के विरुद्ध हैं। अतएव ज्ञानी पुरुष उनको छोड़ दें। और यदि यही बात सत्य हो, तो संसार के सारे व्यवहार त्याज्य समझे जायँगे; और फिर कर्म-अकर्मशास्त्र भी निरर्थक हो जावेगा। अतएव इस विषय का निर्णय करने के लिये कर्मयोगशास्त्र में ऐसे प्रश्नों का भी विचार अवश्य करना

पड़ता है, कि कर्म के नियम कौन–से हैं? और उनका परिणाम क्या होता है? अथवा बुद्धि की शुद्धता होने पर भी व्यवहार अर्थात् कर्म क्यों करना चाहिये ? भगवद्गीता में ऐसा विचार किया भी गया है। संन्यासमार्गवाले लोगों को इन प्रश्नों का कुछ भी महत्त्व नहीं जान पड़ता। अतएव ज्योंही भगवद्गीता का वेदान्त या भक्ति का निरूपण समाप्त हुआ, त्योंही प्रायः वे लोग अपनी पोथी समेटने लग जाते हैं। परन्तु ऐसा करना हमारे मत से गीता के मुख्य उद्देश की ओर ही दुर्लक्ष्य करना है। अतएव अब आगे क्रम क्रम से इस बात का विचार किया जायगा, कि भगवद्गीता में उपर्युक्त प्रश्नों के क्या उत्तर दिये गये हैं।

दसवाँ प्रकरण।

कर्मविपाक और आत्मस्वातंत्र्य।

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।*

महाभारत, शांति. २४०. ७।

यद्यपि यह सिद्धान्त अन्त में सच है, कि इस संसार में जो कुछ है, वह परब्रह्म ही है। परब्रह्म को छोड़ कर अन्य कुछ नहीं है। तथापि मनुष्य की इन्द्रियों को गोचर होनेवाली दृश्यसृष्टि के पदार्थों का अध्यात्मशास्त्र की चलनी में जब हम संशोधन करने लगते हैं, तब उनके नित्य-अनित्यरूपी दो विभाग या समूह हो जाते हैं। एक तो उन पदार्थों का नामरूपात्मक दृश्य है, जो इन्द्रियों को प्रत्यक्ष दीख पड़ता है; परन्तु हमेशा बदलनेवाला होने के कारण अनित्य है। और दूसरा परमात्म-तत्त्व है जो नामरूपों से आच्छादित होने के कारण अदृश्य, परन्तु नित्य है। यह सच है, कि रसायनशास्त्र में जिस प्रकार सब पदार्थों का पृथक्करण करके उनके घटकद्रव्य अलग अलग निकाल लिये जाते हैं, उसी प्रकार ये दो विभाग आँखों के सामने पृथक् पृथक् नहीं रखे जा सकते। परन्तु ज्ञानदृष्टि से उन दोनों को अलग अलग करके शास्त्रीय उपपादन के सुभीते के लिये उनको क्रमशः 'ब्रह्म' और 'माया' तथा कभी कभी 'ब्रह्मसृष्टि' और 'मायासृष्टि' नाम दिया जाता है। तथापि स्मरण रहे, कि ब्रह्म मूल से ही नित्य और सत्य है। इस कारण उसके साथ सृष्टि शब्द ऐसे अवसर पर अनुप्रासार्थ लगा रहता है; और 'ब्रह्मसृष्टि' शब्द से यह मतलब नहीं है, कि ब्रह्म को किसी ने उत्पन्न किया है। इन दो सृष्टियों में से दिक्काल आदि नामरूपों से अमर्यादित, अनादि, नित्य, अविनाशी, अमृत, स्वतन्त्र और सारी दृश्यसष्टि के लिये आधारभूत हो कर उसके भीतर रहनेवाली ब्रह्मसृष्टि में ज्ञानचक्षु से सञ्चार करके आत्मा के शुद्धस्वरूप अथवा अपने परमसाध्य का विचार पिछले प्रकरण में किया गया। और सच पूछिये तो शुद्ध अध्यात्मशास्त्र वहीं समाप्त हो गया। परन्तु, मनुष्य का आत्मा यद्यपि आदि में ब्रह्मसृष्टि का है, तथापि दृश्यसृष्टि की अन्य वस्तुओं की तरह वह भी नामरूपात्मक देहेन्द्रियों से आच्छादित है; और ये देहेन्द्रिय आदिक नामरूप विनाशी हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा होती है, कि इनसे छूट कर अमृतत्व कैसे प्राप्त करूँ? और, इस इच्छा की पूर्ति के लिये मनुष्य को व्यवहार में कैसे चलना चाहिये? ——कर्मयोगशास्त्र के इस विषय का विचार करने के लिये कर्म के क़ायदों से बँधी हुई अनित्य मायासृष्टि के द्वैती प्रदेश में ही अब हमें आना चाहिये। पिण्ड और

* "कर्म से प्राणी बाँधा जाता है; और विद्या से उसका छुटकारा हो जाता है।"

ब्रह्माएड दोनों के मूल में यदि एक ही नित्य और स्वतन्त्र आत्मा है, तो अब सहज ही प्रश्न होता है, कि पिएड के आत्मा को ब्रह्माएड के आत्मा की पहचान हो जाने में कौन-सी अड़चन रहती है ? और वह दूर कैसे हो ? इस प्रश्न को हल करने के लिये नामरूपों का विवेचन करना आवश्यक होता है। क्योंकि वेदान्त की दृष्टि से सब पदार्थों के दो ही वर्ग होते हैं। एक आत्मा अथवा परमात्मा; और दूसरा उसके ऊपर का नामरूपों का आवरण। इसलिये नामरूपात्मक आवरण के सिवा अब अन्य कुछ भी शेष नहीं रहता। वेदान्तशास्त्र का मत है, कि नामरूप का यह आवरण किसी जगह घना, तो किसी जगह विरल होने के कारण दृश्यसृष्टि के पदार्थों में सचेतन और अचेतन; तथा सचेतन में भी पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, गन्धर्व और राक्षस इत्यादि भेद हो जाते हैं। यह नहीं, कि आत्मारूपी ब्रह्म किसी स्थान में न हो। वह सभी जगह है--वह पत्थर में है और मनुष्य में भी है। परन्तु जिस प्रकार दीपक एक होने पर भी किसी लोहे के बक्स में अथवा न्यूनाधिक स्वच्छ काँच की लालटेन में उसके रखने से अन्तर पड़ता है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व सर्वत्र एक ही होने पर भी उसके ऊपर के कोश--अर्थात् नामरूपात्मक आवरण के तारतम्य भेद से अचेतन और सचेतन जैसे भेद हो जाया करते हैं। और तो क्या ? इसका भी कारण वही है, कि सचेतन में मनुष्यों और पशुओं को ज्ञान सम्पादन करने का एक समान ही सामर्थ्य क्यों नहीं होता ? आत्मा सर्वत्र एक ही है सही; परन्तु वह आदि से ही निर्गुण और उदासीन होने के कारण मन, बुद्धि इत्यादि नामरूपात्मक साधनों के बिना स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता; और वे साधन मनुष्ययोनि को छोड़ अन्य किसी भी योनि में उसे पूर्णतया प्राप्त नहीं होते। इसलिये मनुष्यजन्म सब में श्रेष्ठ कहा गया। इस श्रेष्ठ जन्म में आने पर आत्मा के नामरूपात्मक आवरण के स्थूल और सूक्ष्म, दो भेद होते हैं। इनमें से स्थल आवरण मनुष्य की स्थूलदेह ही है, कि जो शुक्र, शोणित आदि से बनी है। शुक्र से आगे चल कर स्नायु, अस्थि और मज्जा; तथा शोणित अर्थात् रक्त से त्वचा, मांस और केश उत्पन्न होते हैं--ऐसा समझ कर इन सब को वेदान्ती 'अन्नमय कोश' कहते हैं। इस स्थूलकोश को छोड़ कर हम यह देखने लगते हैं, कि इसके अन्दर क्या है ? तब क्रमशः वायुरूपी प्राण अर्थात् 'प्राणमय कोश', मन अर्थात् 'मनोमय कोश', बुद्धि अर्थात् 'ज्ञानमय कोश;' और अन्त में 'आनन्दमय कोश' मिलता है। आत्मा इससे भी परे है। इसलिये तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्नमय कोश से आगे बढ़ते बढ़ते अन्त में आनन्दमय कोश बतला कर वरुण ने भृगु को आत्मस्वरूप की पहचान करा दी है (तै. २.१-५; ३. २-६)। इन सब कोशों में से स्थूलदेह का कोश छोड़ कर बाकी रहे हुए प्राणादि कोशों, सूक्ष्म इन्द्रियों और पञ्चतन्मात्राओं को वेदान्ती 'लिंग' अथवा सूक्ष्मशरीर कहते हैं। वे लोग, 'एक ही आत्मा को भिन्न भिन्न योनियों में जन्म कैसे प्राप्त होता है'?-- इसकी उपपत्ति, सांख्यशास्त्र की तरह बुद्धि के अनेक 'भाव' मान कर नहीं लगाते;

किन्तु इस बिषय में उनका यह सिद्धान्त है, कि यह सब कर्मविपाक का अथवा कर्म के फलों का परिणाम है । गीता में, वेदान्तसूत्रों में और उपनिषदों में स्पष्ट कहा है, कि यह कर्म लिंगशरीर के आश्रय से अर्थात् आधार से रहा करता है; और जब आत्मा स्थूलदेह छोड़ कर जाने लगता है, तब यह कर्म भी लिंगशरीरद्वारा उसके साथ जा कर बार बार उसको भिन्न भिन्न जन्म लेने के लिये बाध्य करता है। इसलिये नामरूपात्मक जन्ममरण के चक्कर से छूट कर नित्य परब्रह्मस्वरूपी होने में अथवा मोक्ष की प्राप्ति में पिण्ड के आत्मा को जो अड़चन हुआ करती है, उसका विचार करते समय लिंगशरीर और कर्म दोनों का भी विचार करना पड़ता है । इनमें से लिंगशरीर का सांख्य और वेदान्त दोनों दृष्टियों से पहले ही विचार किया जा चुका है । इसलिये यहाँ फिर उसकी चर्चा नहीं की जाती । इस प्रकरण में सिर्फ़ इसी बात का विवेचन किया गया है, कि जिस कर्म के कारण आत्मा को ब्रह्मज्ञान न होते हुए अनेक जन्मों के चक्कर में पड़ना होता है, उस कर्म का स्वरूप क्या है ? और उससे छूट कर आत्मा को अमृतत्व प्राप्त होने के लिये मनुष्य को इस संसार में कैसे चलना चाहिये ?

सृष्टि के आरम्भकाल में अव्यक्त और निर्गुण परब्रह्म जिस देशकाल आदि नामरूपात्मक सगुणशक्ति से व्यक्त, अर्थात् दृश्यसृष्टिरूप हुआ-सा दीख पड़ता है, उसी को वेदान्तशास्त्र में 'माया' कहते हैं (गी. ७. २४. २५); और उसी में कर्म का भी समावेश होता है (बृ. १. ६. १) । किंबहुना यह भी कहा जा सकता है, कि 'माया' और 'कर्म' दोनों समानार्थक हैं । क्योंकि पहले कुछ-न-कुछ कर्म अर्थात् व्यापार हुए बिना अव्यक्त का व्यक्त होना अथवा निर्गुण का सगुण होना सम्भव नहीं । इसीलिये पहले यह कह कर, कि मैं अपनी माया से प्रकृति में उत्पन्न होता हूँ (गी. ४. ६); फिर आगे आठवें अध्याय में गीता में ही कर्म का यह लक्षण दिया है, कि 'अक्षर परब्रह्म से पञ्चमहाभूतादि विविध सृष्टि निर्माण होने की जो क्रिया है, वही कर्म है' (गी. ८. ३) । कर्म कहते हैं व्यापार अथवा क्रिया को । फिर वह मनुष्यकृत हो, सृष्टि के अन्य पदार्थों की क्रिया हो अथवा मूल सृष्टि के उत्पन्न होने की ही हो । इतना व्यापक अर्थ इस जगह विवक्षित है । परन्तु कर्म कोई हो; उसका परिणाम सदैव केवल इतना ही होता है, कि एक प्रकार का नामरूप बदल कर उसकी जगह दूसरा नामरूप उत्पन्न किया जाय । क्योंकि इन नामरूपों से आच्छादित मूलद्रव्य कभी नहीं बदलता—वह सदा एक-सा ही रहता है। उदाहरणार्थ, बुनने की क्रिया से 'सूत' यह नाम बदल कर उसी द्रव्य को 'वस्त्र' नाम मिल जाता है; और कुम्हार के व्यापार से 'मिट्टी' नाम के स्थान में 'घट' नाम प्राप्त हो जाता है । इसलिये माया की व्याख्या देते समय कर्म को न ले कर नाम और रूप को ही कभी कभी माया कहते हैं। तथापि कर्म का जब स्वतन्त्र विचार करना पड़ता है, तब यह कहने का समय आता है, कि कर्म-स्वरूप और मायास्वरूप एक ही हैं। इसलिये आरम्भ ही में यह कह देना

अधिक सुभीते की बात होगी, कि माया, नामरूप और कर्म ये तीनों मूल में एक-स्वरूप ही हैं । हाँ; उसमें भी यह विशिष्टार्थक सूक्ष्म भेद किया जा सकता है, कि माया एक सामान्य शब्द है; और उसी के दिखावे को **नामरूप** तथा व्यापार को कर्म कहते हैं । पर साधारणतया यह भेद दिखलाने की आवश्यकता नहीं होती । इसीलिये तीनों शब्दों का बहुधा समान अर्थ में ही प्रयोग किया जाता है । परब्रह्म के एक माया पर विनाशी माया का यह जो आच्छादन (अथवा उपाधि = ऊपर का उढौना) हमारी आँखों को दीखता है, उसी को सांख्यशास्त्र में "त्रिगुणात्मक प्रकृति" कहा गया है । सांख्यवादी पुरुष और प्रकृति दोनों तत्त्वों को स्वयंभू, स्वतन्त्र और अनादि मानते हैं ; परन्तु माया, नामरूप अथवा कर्म, क्षण क्षण में बदलते रहते हैं । इसलिये उनको नित्य और अविकारी परब्रह्म की योग्यता का—अर्थात् स्वयंभू और स्वतंत्र मानना न्यायदृष्टि से अनुचित है । क्योंकि नित्य और अनित्य ये दोनों कल्पनाएँ परस्परविरुद्ध हैं; और इसलिये दोनों का अस्तित्व एक ही काल में माना नहीं जा सकता । इसलिये वेदान्तियों ने यह निश्चित किया है, कि विनाशी प्रकृति अथवा कर्मात्मक माया स्वतन्त्र नहीं है; किन्तु एक, नित्य, सर्वव्यापी और निर्गुण परब्रह्म में ही मनुष्य की दुर्बल इन्द्रियों को सगुण माया का दिखावा देख पड़ता है । परन्तु केवल इतना ही कह देने से काम नहीं चल जाता, कि माया परतन्त्र है; और निर्गुण परब्रह्म में ही यह दृश्य दिखाई देता है । गुण-परिणाम से न सही; तो विवर्तवाद से निर्गुण और नित्य ब्रह्म में विनाशी सगुण नामरूपों का——अर्थात् माया का दृश्य दिखाना चाहे सम्भव हो । तथापि यहाँ एक और प्रश्न उपस्थित होता है, कि मनुष्य की इन्द्रियों को दीखनेवाला यह सगुण दृश्य निर्गुण परब्रह्म में पहले पहल किस क्रम से, कब और क्यों दीखने लगा? अथवा यही अर्थ व्यावहारिक भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है, कि नित्य और चिद्रूपी परमेश्वर ने नामरूपात्मक, विनाशी और जड़सृष्टि कब और क्यों उत्पन्न की? परन्तु ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में जैसा कि वर्णन किया गया है, यह विषय मनुष्य के ही लिये नहीं; किन्तु देवताओं के लिये और वेदों के लिये भी अगम्य है (ऋ. १०.१२९; तै. ब्रा. २. ८. ९) । इसलिये उक्त प्रश्न का इससे अधिक और कुछ उत्तर नहीं दिया जा सकता, कि "ज्ञानदृष्टि से निश्चित किये हुए निर्गुण परब्रह्म की ही यह एक अतर्क्य लीला है" (वे. सू. २. १. ३३) । अतएव इतना मान कर ही आगे चलना पड़ता है, कि जब से हम देखते आये, तब से निर्गुण ब्रह्म के साथ ही नामरूपात्मक विनाशी कर्म अथवा सगुण माया हमें दृग्गोचर होती आई है । इसीलिये वेदान्तसूत्र में कहा है, कि मायात्मक कर्म अनादि है (वे. सू. २.१. ३५–३७); और भगवद्गीता में भी भगवान् ने पहले यह वर्णन करके, कि प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है—'मेरी ही माया है' (गी. ७. १४);——फिर आगे कहा है, कि प्रकृति अर्थात् माया, और पुरुष, दोनों 'अनादि' हैं (गी. १३. १९) । इसी तरह श्रीशंकराचार्य ने अपने भाष्य में माया का लक्षण देते हुए कहा है, कि "सर्वज्ञे—

ईश्वरस्याऽऽत्मभूते इवाऽविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसार-प्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य 'माया' 'शक्तिः' 'प्रकृति' रिति च श्रुतिस्मृत्योरभि-लप्येते" (वे. सू. शां. भा. २. १. १४)। इसका भावार्थ यह है--" (इन्द्रियों के) अज्ञान से मूलब्रह्म में कल्पित किये हुए नामरूप को ही श्रुति और स्मृतिग्रन्थों में सर्वज्ञ ईश्वर की 'माया', 'शक्ति' अथवा 'प्रकृति' कहते हैं। ये नामरूप सर्वज्ञ परमेश्वर के आत्मभूत-से जान पड़ते हैं। परन्तु इनके जड़ होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता, कि ये परब्रह्म से भिन्न हैं या अभिन्न (तत्त्वान्यत्व)? और यही जड़सृष्टि (दृश्य) के विस्तार के मूल हैं;" और "इस माया के योग से ही येही सृष्टि परमेश्वरनिर्मित देख पड़ती है। इस कारण यह माया चाहे विनाशी हो; तथापि दृश्यसृष्टि की उत्पत्ति के लिये आवश्यक और अत्यन्त उपयुक्त है; तथा इसी को उपनिषदों में अव्यक्त, आकाश, अक्षर इत्यादि नाम दिये गये हैं" (वे. सू. शां. भा. १. ४. ३)। इससे देख पड़ेगा, कि चिन्मय (पुरुष) और अचेतन माया (प्रकृति) इन दोनों तत्त्वों को सांख्यवादी स्वयंभू, स्वतन्त्र और अनादि मानते हैं। पर माया का अनादित्व यद्यपि वेदान्ती एक तरह से स्वीकार करते हैं, तथापि यह उन्हें मान्य नहीं, कि माया स्वयंभू और स्वतंत्र है। और इसी कारण संसारात्मक माया का वृक्षरूप से वर्णन करते समय गीता (१५. ३) में कहा गया है, कि 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा'--इस संसार-वृक्ष का रूप अन्त' आदि, मूल अथवा ठौर नहीं मिलता। इसी प्रकार तीसरे अध्याय में जो ऐसे वर्णन हैं, कि 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' (३. १५)--ब्रह्म से कर्म उत्पन्न हुआ। 'यज्ञः कर्म-समुद्भवः' (३. १४)--यज्ञ भी कर्म से ही उत्पन्न होता है। अथवा 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' (३. १०)--ब्रह्मदेव ने प्रजा (सृष्टि), यज्ञ (कर्म) दोनों को साथ ही निर्माण किया। इन सब का तात्पर्य भी यही है, कि "कर्म अथवा कर्मरूपी यज्ञ और सृष्टि अर्थात् प्रजा, ये सब साथ ही उत्पन्न हुई हैं।" फिर चाहे इस सृष्टि को प्रत्यक्ष ब्रह्मदेव से निर्मित हुई कहो अथवा मीमांसकों की नाईं यह कहो, कि उस ब्रह्मदेव ने नित्य वेद-शब्दों से उसको बनाया--अर्थ दोनों का एक ही है (म. भा. शां. २३१; मनु. १. २१)। सारांश, दृश्यसृष्टि का निर्माण होने के समय मूल निर्गुण ब्रह्म में जो व्यापार देख पड़ता है; वही कर्म है। इस व्यापार को ही नामरूपात्मक माया कहा गया है; और इस मूलकर्म से ही सूर्यचन्द्र आदि सृष्टि के सब पदार्थों के व्यापार आगे परम्परा से उत्पन्न हुए हैं (बृ. ३. ८. ९)। ज्ञानी पुरुषों ने अपनी बुद्धि से निश्चित किया है, कि संसार के सारे व्यापार का मूलभूत जो यह सृष्ट्युत्पत्तिकाल का कर्म अथवा माया है, सो ब्रह्म की ही कोई न कोई अतर्क्य लीला है, स्वतंत्र वस्तु नहीं है *। परन्तु ज्ञानी पुरुषों की गति यहाँ पर कुंठित हो

* "What belongs to mere appearance is necessarily subordinated by reason to the nature of the thing in itself." Kant's *Metaphysic of Morals* (Abbot's trans. in Kant's *Theory of Ethics*, p. 81),

जाती है । इसलिये इस बात का पता नहीं लगता, कि यह लीला, नामरूप अथवा मायात्मक कर्म 'कब' उत्पन्न हुआ ? अतः केवल कर्मसृष्टि का ही विचार जब करना होता है, तब इस परतन्त्र और विनाशी माया की तथा माया के साथ ही तदंगभूत कर्म को भी वेदान्तशास्त्र में अनादि कहा करते हैं (वे. सू. २. १. ३५)। स्मरण रहे, कि जैसा सांख्यवादी कहते हैं, उस प्रकार अनादि का यह मतलब नहीं है, कि माया मूल में ही परमेश्वर की बराबरी की, निरारम्भ और स्वतन्त्र है । परन्तु यहाँ अनादि शब्द का यह अर्थ विवक्षित है, कि वह दुर्ज्ञेयारम्भ है—अर्थात् उसका आदि (आरम्भ) मालूम नहीं होता ।

परन्तु यद्यपि हमें इस बात का पता नहीं लगता, कि चिद्रूप ब्रह्म कर्मात्मक अर्थात् दृश्यसृष्टिरूप कब और क्यों होने लगा ? तथापि इस मायात्मक कर्म के अगले सब व्यापारों के नियम निश्चित हैं; और उनमें से बहुतेरे नियमों को हम निश्चित रूप से जान भी सकते हैं । आठवें प्रकरण में सांख्यशास्त्र के अनुसार इस बात का विवेचन किया गया है, कि मूलप्रकृति से अर्थात् अनादि मायात्मक कर्म से ही आगे चल कर सृष्टि के नामरूपात्मक विविध पदार्थ किस क्रम से निर्मित हुए ? और वहीं आधुनिक आधिभौतिकशास्त्र के सिद्धान्त भी तुलना के लिये बतलाये गये हैं । यह सच है, कि वेदान्तशास्त्र प्रकृति को परब्रह्म की तरह स्वयम्भू नहीं मानता; परन्तु प्रकृति के अगले विस्तार का क्रम जो सांख्यशास्त्र में कहा गया है, वही वेदान्त को भी मान्य है । इसलिये यहाँ उसकी पुनरुक्ति नहीं की जाती । कर्मात्मक मूलप्रकृति से विश्व की उत्पत्ति का जो क्रम पहले बतलाया गया है, उसमें उन सामान्य नियमों का कुछ भी विचार नहीं हुआ, कि जिनके अनुसार मनुष्य को कर्मफल भोगने पड़ते हैं । इसलिये अब उन नियमों का विवेचन करना आवश्यक है । इसी को 'कर्मविपाक' कहते हैं । इस कर्मविपाक का पहला नियम यह है, कि जहाँ एक बार कर्म का आरम्भ हुआ, कि फिर उसका व्यापार आगे बराबर अखण्ड जारी रहता है; और जब ब्रह्मा का दिन समाप्त होने पर सृष्टि का संहार होता है, तब भी यह कर्म बीजरूप से बना रहता है । एवं फिर जब सृष्टि का आरम्भ होने लगता है, तब उसी कर्मबीज से फिर पूर्ववत् अंकुर फूटने लगते हैं । महाभारत का कथन है कि :—

> येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे ।
> तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥

अर्थात् "पूर्व की सृष्टि में प्रत्येक प्राणी ने जो जो कर्म किये होंगे, ठीक वे ही कर्म उसे (चाहे उसकी इच्छा हो या न हो) फिर फिर यथापूर्व प्राप्त होते रहते हैं" (देखो म. भा. शां. २३१. ४८. ४९ और गी. ८. १८ तथा १९) । गीता (४. १७) में कहा है, कि "गहना कर्मणो गतिः"—कर्म की गति कठिन है । इतना ही नहीं; किन्तु कर्म का बन्धन भी बड़ा कठिन है । कर्म किसी से भी नहीं छूट सकता । वायु कर्म से ही चलती है; सूर्यचन्द्रादिक कर्म से ही घूमा करते हैं; और ब्रह्मा, विष्णु

महेश आदि सगुण देवता भी कर्मों में ही बँधे हुए हैं। इन्द्र आदिकों का क्या पूछना है ? सगुण का अर्थ है नामरूपात्मक; और नामरूपात्मक का अर्थ है कर्म या कर्म का परिणाम । जब कि यही बतलाया नहीं जा सकता, कि मायात्मक कर्म आरम्भ में कैसे उत्पन्न हुआ; तब यह कैसे बतलाया जावे, कि तदङ्गभूत मनुष्य इस कर्मचक्र में पहले पहल कैसे फँस गया ? परन्तु किसी भी रीति से क्यों न हो; जब वह एक बार कर्मबन्धन में पड़ चुका, तब फिर आगे चल कर उसकी एक नामरूपात्मक देह का नाश होने पर कर्म के परिणाम के कारण उसे इस सृष्टि में भिन्न भिन्न रूपों का मिलना कभी नहीं छूटता । क्योंकि आधुनिक आधिभौतिक शास्त्रकारों ने भी अब यह निश्चित किया है * कि कर्मशक्ति का कभी भी नाश नहीं होता । किन्तु जो शक्ति आज किसी एक नामरूप से दीख पड़ती है, वही शक्ति उस नामरूप के नाश होने पर दूसरे नामरूपसे प्रगट हो जाती है । और जब कि किसी एक नामरूप के नाश होने पर उसको भिन्न भिन्न नामरूप प्राप्त हुआ ही करते हैं, तब यह भी नहीं माना जा सकता, कि ये भिन्न भिन्न नामरूप निर्जीव ही होंगे; अथवा ये भिन्न प्रकार के हो ही नहीं सकते । अध्यात्मदृष्टि से इस नामरूपात्मक परम्परा को ही जन्ममरण का चक्र या संसार कहते हैं। और इन नामरूपों की आधारभूत शक्ति को समष्टिरूप से ब्रह्म और व्यष्टिरूप से जीवात्मा कहा करते हैं । वस्तुतः देखने से यह विदित होगा, कि यह आत्मा न तो जन्म धारण करता है; और न मरता ही है । अर्थात् यह नित्य और स्थायी है । परन्तु कर्मबन्धन में पड़ जाने के कारण एक नामरूप के नाश हो जाने पर उसी को दूसरे नामरूपों का प्राप्त होना टल नहीं सकता । आज का कर्म कल भोगना पड़ता है; और कल का परसों । इतना ही नहीं; किन्तु इस जन्म में जो कुछ किया जाय, उसे अगले जन्म में भोगना पड़ता है । इस तरह यह भवचक्र सदैव चलता रहता है । मनुस्मृति तथा महाभारत (मनु. ४. १७३; म. भा. आ. ८०. ३) में तो कहा गया है, कि इन कर्मफलों को न केवल हमें, किन्तु कभी कभी हमारी नामरूपात्मक देह से उत्पन्न हुए हमारे लड़कों

---

* यह बात नहीं, कि पुनर्जन्म की इस कल्पना को केवल हिन्दुधर्म ने या केवल आस्तिकवादियोंने ही माना हो । यद्यपि बौद्ध लोग आत्मा को नहीं मानते, तथापि वैदिकधर्म में वर्णित पुनर्जन्म की कल्पना को उन्होंने अपने धर्म में पूर्ण रीति से स्थान दिया है; और बीसवी शताब्दी में " परमेश्वर मर गया " कहनेवाले पक्के निरीश्वरवादी जर्मन पण्डित **निट्शे** ने भी पुनर्जन्मवाद को स्वीकार किया है । उसने लिखा है, कि कर्म-शक्ति के जो हमेशा रूपान्तर हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं तथा काल अनन्त है। इसलिये कहना पड़ता है, कि एक बार जो नामरूप हो चुके हैं, वही फिर आगे यथापूर्व कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होते ही हैं; और इसी से कर्म का चक्र अर्थात् बन्धन केवल आधिभौतिक दृष्टि से ही सिद्ध हो जाता है। उसने यह भी लिखा है, कि यह कल्पना या उपपत्ति मुझे अपनी स्फूर्ति से मालूम हुई है ! Nietzsche's *Eternal Recurrence* (Complete Works Engl. Trans., Vol. XVI.pp. 235–256)

और नातियों तक को भी भोगना पड़ता है। शांतिपर्व में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं :–

पापं कर्म कृतं किंचिद्यदि तास्मिन्न दृश्यते ।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥

अर्थात् "हे राजा ! चाहे किसी आदमी को उसके पापकर्मों का फल उस समय मिलता हुआ न दीख पड़े; तथापि वह उसे ही नहीं; किन्तु उसके पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों तक को भोगना पड़ता है" (१२९. २१) । हम लोग प्रत्यक्ष देखा करते हैं, कि कोई कोई रोग वंशपरम्परा से प्रचलित रहते हैं । इसी तरह कोई जन्म से ही दरिद्री होता है; और कोई वैभवपूर्ण राजकुल में उत्पन्न होता है । इन सब बातों की उपपत्ति केवल कर्मवाद से ही लगाई जा सकती है । और बहुतों का मत है, कि यही कर्मवाद की सच्चाई का प्रमाण है । कर्म का यह चक्र जब एक बार आरम्भ हो जाता है, तब उसे फिर परमेश्वर भी नहीं रोक सकता। यदि इस दृष्टि से देखें, कि सारी सृष्टि परमेश्वर की इच्छा से ही चल रही है; तो कहना होगा, कि कर्मफल का देनेवाला परमेश्वर से भिन्न कोई दूसरा नहीं हो सकता (वे. सू. ३. २. ३८; कौ. ३. ८) । और इसीलिये भगवान् ने कहा है, कि "लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्" (गी. ७. २२)—मैं जिसका निश्चय कर दिया करता हूँ, वही इच्छित फल मनुष्य को मिलता है । परन्तु कर्मफल को निश्चित कर देने का काम यद्यपि ईश्वर का है, तथापि वेदान्तशास्त्र का यह सिद्धान्त है, कि वे फल हर एक के खरे-खोटे कर्मों की अर्थात् कर्म-अकर्म की योग्यता के अनुरूप ही निश्चित किये जाते हैं । इसीलिये परमेश्वर इस सम्बन्ध में वस्तुतः उदासीन ही है । अर्थात् यदि मनुष्यों में भले-बुरे का भेद हो जाता है, तो उसके लिये परमेश्वर वैषम्य (विषमबुद्धि) और नैर्घृण्य (निर्दयता) दोषों को पात्र नहीं होता (वे. सू. २. १. ३४) । इसी आशय को लेकर गीता में भी कहा है, कि "समोऽहं सर्वभूतेषु" (९. २९) अर्थात् ईश्वर सब के लिये सम है; अथवा—

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ॥

परमेश्वर न तो किसी के पाप को लेता है, न पुण्य को । कर्म या माया के स्वभाव का चक्र चल रहा है; जिससे प्राणिमात्र को अपने अपने कर्मानुसार सुखदुःख भोगने पड़ते हैं (गी. ५. १४. १५) । सारांश, यद्यपि मानवी बुद्धि से इस बात का पता नहीं लगता, कि परमेश्वर की इच्छा से संसार में कर्म का आरम्भ कब हुआ ? और तदंगभूत मनुष्य कर्म के बन्धन में पहले पहल कैसे फँस गया ? तथापि जब हम यह देखते हैं, कि कर्म के भविष्य परिणाम या फल केवल कर्म के नियमों से ही उत्पन्न हुआ करते हैं; तब हम अपनी बुद्धि से इतना तो अवश्य निश्चय कर सकते हैं, कि संसार के आरम्भ से प्रत्येक प्राणी नामरूपात्मक अनादि कर्म की क़ैद में बँध-सा गया है । "कर्मणा बध्यते जन्तुः"—ऐसा जो इस प्रकरण के आरम्भ में ही वचन दिया हुआ है, उसका अर्थ भी यही है ।

इस अनादि कर्मप्रवाह के और भी दूसरे अनेक नाम हैं। जैसे संसार, प्रकृति, माया, दृश्यसृष्टि, सृष्टि के क़ायदे या नियम इत्यादि। क्योंकि सृष्टिशास्त्र के नियम नामरूपों में होनेवाले परिवर्तनों के ही नियम हैं। और यदि इस दृष्टि से देखें, तो सब आधिभौतिकशास्त्र नामरूपात्मक माया के प्रपंच में ही आ जाते हैं। इस माया के नियम तथा बन्धन सुदृढ़ एवं सर्वव्यापी हैं। इसीलिये हेकेल जैसे आधिभौतिकशास्त्रज्ञ--जो इस नामरूपात्मक माया किंवा दृश्यसृष्टि के मूल में अथवा उससे परे--किसी नित्यतत्त्व का होना नहीं मानते; उन लोगोंने सिद्धान्त किया है, कि यह सृष्टिचक्र मनुष्य को जिधर ढकेलता है, उधर ही उसे जाना पड़ता है। इन पण्डितों का कथन है, कि प्रत्येक मनुष्य को जो ऐसा मालूम होता रहता है, कि नामरूपात्मक विनाशी स्वरूप से हमारी मुक्ति होनी चाहिये; अथवा अमुक काम करने से हमें अमृतत्व मिलेगा--यह सब केवल भ्रम है। आत्मा या परमात्मा कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है; और अमृतत्व भी झूठ है। इतना ही नहीं; किन्तु इस संसार में कोई भी मनुष्य अपनी इच्छा से कुछ काम करने को स्वतंत्र नहीं है। मनुष्य आज जो कुछ कार्य करता है, वह पूर्वकाल में किये गये स्वयं उसके या उसके पूर्वजों के कर्मों का परिणाम है। इससे उक्त कार्य का करना या न करना भी उसकी इच्छा पर कभी अवलम्बित नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, किसी की एक-आध उत्तम वस्तु को देख कर पूर्वकर्मों से अथवा वंशपरम्परागत संस्कारों से उसे चुरा लेने की बुद्धि कई लोगों के मन में इच्छा न रहने पर भी उत्पन्न हो जाती है; और वे उस वस्तु को चुरा लेने के लिये प्रवृत्त हो जाते हैं। अर्थात् इन आधिभौतिक पण्डितों के मत का सारांश यही है, कि गीता में जो यह तत्व बतलाया गया है, कि "अनिच्छन् अपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः" (गी. ३. ३६) इच्छा न होने पर भी मनुष्य पाप करता है--यही तत्त्व सभी जगह एक समान उपयोगी है। उसके लिये एक भी अपवाद नहीं है; और इससे बचने का भी कोई उपाय नहीं है। इस मत के अनुसार यदि देखा जाय, तो मानना पड़ेगा, कि मनुष्य की जो बुद्धि और इच्छा आज होती है, वह कल के कर्मों का फल है; तथा कल जो बुद्धि उत्पन्न हुई थी, वह परसों के कर्मों का फल था; और ऐसा होते होते इस कारणपरम्परा का कभी अन्त ही नहीं मिलेगा; तथा यह मानना पड़ेगा, कि मनुष्य अपनी स्वतंत्रबुद्धि से कुछ भी नहीं कर सकता। जो कुछ होता है, वह सब पूर्वकर्म अर्थात् दैव का ही फल है। क्योंकि प्राक्तनकर्म को ही लोग दैव कहा करते हैं। इस प्रकार यदि किसी कर्म को करने अथवा न करने के लिये मनुष्य को कोई स्वतंत्रता ही नहीं है; तो फिर यह कहना भी व्यर्थ है, कि मनुष्य को अपना आचरण अमुक रीति से सुधार लेना चाहिये; और अमुक रीति से ब्रह्मात्मैक्यज्ञान प्राप्त करके अपनी बुद्धि को शुद्ध करना चाहिये। तब तो मनुष्य की वही दशा होती है, कि जो नदी के प्रवाह में बहती हुई लकड़ी की हो जाती है। अर्थात् जिस ओर माया, प्रकृति, सृष्टिक्रम या कर्म का प्रवाह उसे खींचेगा, उसी ओर उसे चुपचाप चले जाना

चाहिये । फिर चाहे उसमें अधोगति हो अथवा प्रगति । इस पर कुछ अन्य आधिभौतिक उत्क्रांतिवादियों का कहना है, कि प्रकृति का स्वरूप स्थिर नहीं है; और नामरूप क्षणक्षण में बदला करते हैं । इसलिये जिन सृष्टिनियमों के अनुसार ये परिवर्तन होते हैं, उन्हें जान कर मनुष्य को बाह्यसृष्टि में ऐसा परिवर्तन कर लेना चाहिये, कि जो उसे हितकारक हो । और हम देखते हैं, कि मनुष्य इसी न्याय से प्रत्यक्ष व्यवहारों में अग्नि या विद्युच्छक्ति का उपयोग अपने फ़ायदे के लिये किया करता है । इसी तरह यह भी अनुभव की बात है, कि प्रयत्न से मनुष्यस्वभाव में थोड़ाबहुत परिवर्तन अवश्य हो जाता है । परन्तु प्रस्तुत प्रश्न यह नहीं है, कि सृष्टिरचना में या मनुष्यस्वभाव में परिवर्तन होता है या नहीं ? और करना चाहिये या नहीं ? हमें तो पहले यही निश्चय करना है, कि ऐसा परिवर्तन करने की जो बुद्धि या इच्छा मनुष्य में उत्पन्न होती है, उसे रोकने या न रोकने की स्वाधीनता उसमें है या नहीं । और, आधिभौतिकशास्त्र की दृष्टि से इस बुद्धि का होना या न होना ही यदि "बुद्धिः कर्मानुसारिणी" के न्याय के अनुसार प्रकृति, कर्म या सृष्टि के नियमों से पहले ही निश्चित हुआ रहता है, तो यही निष्पन्न होता है, कि इस आधिभौतिकशास्त्र के अनुसार किसी भी कर्म को करने या न करने के लिये मनुष्य स्वतंत्र नहीं है । इस वाद को "वासनास्वातन्त्र्य," "इच्छास्वातन्त्र्य" या "प्रवृत्तिस्वातन्त्र्य" कहते हैं । केवल कर्मविपाक अथवा केवल आधिभौतिकशास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय, तो अन्त में यही सिद्धान्त करना पड़ता है, कि मनुष्य को किसी भी प्रकार का प्रवृत्तिस्वातन्त्र्य या इच्छास्वातन्त्र्य नहीं है । यह कर्म के अभेद्य बन्धनों से वैसा ही जकड़ा हुआ है, जैसे किसी गाड़ीका पहिया चारों तरफ़ से लोहे की पट्टी से जकड़ दिया जाता है । परन्तु इस सिद्धान्त की सत्यता के लिये मनुष्यों के अन्तःकरण का अनुभव गवाही देने को तैयार नहीं है । प्रत्येक मनुष्य अपने अन्तःकरण में यही कहता है, कि यद्यपि मुझमें सूर्य का उदय पश्चिम दिशा में करा देने की शक्ति नहीं है, तो भी मुझ में इतनी शक्ति अवश्य है, कि मैं अपने हाथ से होनेवाले कार्यों की भलाई-बुराई का विचार कर के उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार करूँ या न करूँ ? अथवा जब मेरे सामने पाप और पुण्य तथा धर्म और अधर्म के दो मार्ग उपस्थित हों, तब उनमें से किसी एक को स्वीकार कर लेने के लिये मैं स्वतन्त्र हूँ । अब यही देखना है, कि यह समझ सच है या झूठ ? यदि इस समझ को झूठ कहें, तो हम देखते हैं, कि इसी के आधार चोरी, हत्या आदि अपराध करनेवालों को अपराधी ठहरा कर सजा दी जाती है; और यदि सच मानें, तो कर्मवाद, कर्मविपाक या दृश्यसृष्टि के नियम मिथ्या प्रतीत होते हैं । आधिभौतिकशास्त्रों में केवल जड़ पदार्थों की क्रियाओं का ही विचार किया जाता है । इसलिये वहाँ यह प्रश्न उत्पन्न नहीं होता । परन्तु जिस कर्मयोगशास्त्र में ज्ञानवान् मनुष्य के कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेचन करना होता है, उसमें यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है; और इसका उत्तर देना भी आवश्यक है । क्योंकि एक बार यदि यही अन्तिम

निश्चय हो जाय, कि मनुष्य को कुछ भी प्रवृत्तिस्वातन्त्र्य प्राप्त नहीं है; तो फिर अमुक प्रकार से बुद्धि को शुद्ध करना चाहिये, अमुक कार्य करना चाहिये, अमुक नहीं करना चाहिये, अमुक धर्म्य है, अमुक अधर्म्य, इत्यादि विधिनिषेधशास्त्र के सब झगड़े ही आप-ही-आप मिट जायँगे (वे. सू. २, ३. ३३); *और तब परम्परा से या प्रत्यक्ष रीति से महामाया प्रकृति के दासत्व में सदैव रहना ही मनुष्य का पुरुषार्थ हो जायगा। अथवा पुरुषार्थ ही काहेका? अपने वश की बात हो, तो पुरुषार्थ ठीक है; परन्तु जहाँ एक रत्तीभर भी अपनी सत्ता और इच्छा नहीं रह जाती, वहाँ दास्य और परतंत्रता के सिवा ओर हो ही क्या सकता है? हल में जुते हुए बैलों के समान सब लोगों को प्रकृति की आज्ञा में चल कर एक आधुनिक कवि के कथनानुसार 'पदार्थधर्म की श्रृंखलाओं' से बाँध जाना चाहिये। हमारे भारतवर्ष में कर्मवाद या दैववाद से और पश्चिमी देशों में पहले पहल ईसाईधर्म के भवितव्यतावाद से तथा अर्वाचीन काल में शुद्ध आधिभौतिकशास्त्रों के सृष्टिक्रमवाद से इच्छास्वातन्त्र्य के इस विषय की ओर पण्डितों का ध्यान आकर्षित हो गया है; और इसकी बहुतकुछ चर्चा हो रही है। परन्तु यहाँ पर उसका वर्णन करना असम्भव है। इसलिये इस प्रकरण में यही बतलाया जायगा, कि वेदान्तशास्त्र और भगवद्गीता ने इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया है?

यह सच है, कि कर्मप्रवाह अनादि है; और जब एक बार कर्म का चक्कर शुरू हो जाता है, तब परमेश्वर भी उसमें हस्तक्षेप नहीं करता। तथापि अध्यात्मशास्त्र का यह सिद्धान्त है, कि दृश्यसृष्टि केवल नामरूप या कर्म ही नहीं है; किन्तु इस नामरूपात्मक आवरण के लिये आधारभूत एक आत्मरूपी, स्वतन्त्र और अविनाशी ब्रह्मसृष्टि है; तथा मनुष्य के शरीर का आत्मा उस नित्य एवं स्वतन्त्र परब्रह्म ही का अंश है। इस सिद्धान्त की सहायता से प्रत्यक्ष में अनिवार्य दीखनेवाली उक्त अड़चन से भी छुटकारा हो जाने के लिये हमारे शास्त्रकारों का निश्चित किया हुआ एक मार्ग है। परन्तु इसका विचार करने के पहले कर्मविपाकप्रक्रिया के शेष अंश का वर्णन पूरा कर लेना चाहिये। 'जो जस करै सो तस फल चाखा।' यानी "जैसी करनी वैसी भरनी"। यह नियम न केवल एक ही व्यक्ति के लिये; किन्तु कुटुम्ब, जाति, राष्ट्र और समस्त संसार के लिये भी उपयुक्त होता है। और चूँ कि प्रत्येक मनुष्य का किसी-न-किसी कुटुम्ब, जाति, अथवा देश में समावेश हुआ ही करता है। इसलिये उसे स्वयं अपने कर्मों के साथ कुटुम्ब आदि के सामाजिक कर्मों के फलों को भी अंशतः भोगना पड़ता है। परन्तु व्यवहार में प्रायः एक मनुष्य के कर्मों का ही

* वेदान्तसूत्र के इस अधिकरण को 'जीवकर्तृत्वाधिकरण' कहते हैं। उसका पहला ही सूत्र "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" अर्थात् विधिनिषेधशास्त्र में अर्थवत्त्व होने के लिये जीव को कर्ता मानना चाहिये। पाणिनी के 'स्वतंत्रः कर्ता" (पा. १. ४. ५४) सूत्र के 'कर्ता' शब्द से ही आत्मस्वातंत्र्य का बोध होता है; और इससे मालूम होता है, कि यह अधिकरण इसी विषय का है।

विवेचन करने का प्रसंग आया करता है। इसलिये कर्मविपाकप्रक्रिया में कर्म के विभाग प्रायः एक मनुष्य को ही लक्ष्य करके किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य से किये जानेवाले अशुभ कर्मों के मनुजी ने--कायिक, वाचिक और मानसिक--तीन भेद किये हैं। व्यभिचार, हिंसा और चोरी--इन तीनों को कायिक; कटु मिथ्या, ताना मारना और असंगत बोलना--इन चारों को वाचिक; और परद्रव्याभिलाषा, दूसरों का अहितचिन्तन और व्यर्थ आग्रह करना--इन तीनों को मानसिक पाप कहते हैं। सब मिला कर दस प्रकार के अशुभ या पापकर्म बतलाये गये हैं (मनु. १२. ५-७; म. भा. अनु. १३); और इनके फल भी कहे गये हैं। परन्तु ये भेद कुछ स्थायी नहीं हैं। क्योंकि इसी अध्याय में सब कर्मों के फिर भी--सात्त्विक, राजस और तामस--तीन भेद किये गये हैं; और प्रायः भगवद्गीता में दिये गये वर्णन के अनुसार इन तीनों प्रकार के गुणों या कर्मों के लक्षण भी बतलाये गये हैं (गी. १४. ११. १५; १८. २३-२५; मनु. १२. ३१-३४)। परन्तु कर्मविपाक-प्रकरण में कर्म का जो सामान्यतः विभाग पाया जाता है, वह इन दोनों से भी भिन्न है। उसमें कर्म के संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन भेद किये जाते हैं। किसी मनुष्य के द्वारा इस क्षण तक किया गया जो कर्म है, --चाहे वह इस जन्म में किया गया हो, या पूर्वजन्म में--वह सब 'संचित' अर्थात् 'एकत्रित' कर्म कहा जाता है। इसी 'संचित' का दूसरा नाम 'अदृष्ट' और मीमांसकों की परिभाषा में 'अपूर्व' भी है। इन नामों के पड़ने का कारण यह है, कि जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है, उसी समय के लिये वह दृश्य रहती है। उस समय के बीत जाने पर वह क्रिया स्वरूपतः शेष नहीं रहती। किन्तु उसके सूक्ष्म अतएव अदृश्य अर्थात् अपूर्व और विलक्षण परिणाम ही बाकी रह जाते हैं (वे. सू. शां. भा. ३. २. ३९, ४०)। कुछ भी हो; परन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि इस क्षण तक जो जो कर्म किये गये होंगे, उन सब के परिणामों के संग्रह को ही 'संचित,' 'अदृष्ट' या 'अपूर्व' कहते हैं। उन सब संचित कर्मों को एकदम भोगना असम्भव है। क्योंकि इनके परिणामों से कुछ परस्परविरोधी अर्थात् भले और बुरे दोनों प्रकार के फल देनेवाले हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, कोई संचित कर्म स्वर्गप्रद और कोई नरकप्रद भी होते हैं। इसलिये इन दोनों के फलों को एक ही समय भोगना सम्भव नहीं है--इन्हें एक के बाद एक भोगना पड़ता है। अतएव 'संचित' में से जितने कर्मों के फलों को भोगना पहले शुरू होता है, उतने ही को 'प्रारब्ध' अर्थात् आरम्भित 'संचित' कहते हैं। व्यवहार में संचित के अर्थ में ही 'प्रारब्ध' शब्द का बहुधा उपयोग किया जाता है; परन्तु यह भूल है। शास्त्रदृष्टि से यही प्रगट होता है, कि संचित् के अर्थात् समस्त भूतपूर्व कर्मों के संग्रह के एक छोटे भेद को ही 'प्रारब्ध' कहते हैं। 'प्रारब्ध' कुछ समस्त संचित नहीं है। संचित के जितने भाग के फलों का (कार्यों का) भोगना आरम्भ हो गया हो, उतना ही प्रारब्ध है; और इसी कारण से इस प्रारब्ध का दूसरा नाम

आरब्धकर्म है। प्रारब्ध और संचित के अतिरिक्त कर्म का क्रियमाण नामक एक और तीसरा भेद है। 'क्रियमाण' वर्तमानकालवाचक धातुसाधित शब्द है; और उसका अर्थ है—'जो कर्म अभी हो रहा है; अथवा जो कर्म अभी किया जा रहा है।' परन्तु वर्तमान समय में हम जो कुछ करते हैं, वह प्रारब्धकर्म का ही (अर्थात् संचित कर्मों में से जिन कर्मों का भोगना शुरू हो गया है, उनका ही) परिणाम है। अतएव 'क्रियामाण' को कर्म का तीसरा भेद मानने के लिये हमें कोई कारण दीख नहीं पड़ता। हाँ; यह भेद दोनों में अवश्य किया जा सकता है, कि प्रारब्ध कारण है; और क्रियमाण उसका फल अर्थात् कार्य है। परन्तु कर्मविपाकप्रक्रिया में इस भेद का कुछ उपयोग नहीं हो सकता। संचित में से जिन कर्मों के फलों का भोगना अभी तक आरम्भ नहीं हुआ है, उनका—अर्थात् संचित में से प्रारब्ध को घटा देने पर जो कर्म बाकी रह जायँ, उनका—बोध कराने के लिये किसी दूसरे शब्द की आवश्यकता है। इसलिये वेदान्तसूत्र (४. १. १५) में प्रारम्भ ही को प्रारब्धकर्म और जो प्रारब्ध नहीं हैं, उन्हें अनारब्धकार्य कहा है। हमारे मतानुसार संचित कर्मों के इस रीति से—प्रारब्धकार्य और अनारब्धकार्य—दो भेद करना ही शास्त्र-दृष्टि से अधिक युक्तिपूर्ण मालूम होता है। इसलिये 'क्रियमाण' को धातुसाधित वर्तमानकालवाचक न समझ कर 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इस पाणिनीसूत्र के अनुसार (पा. ३. ३. १३१) भविष्यकालवाचक समझें, तो उनका अर्थ 'जो आगे शीघ्र ही भोगने का है'—किया जा सकेगा; और तब क्रियमाण का ही अर्थ अनारब्ध कार्य हो जायगा। एवं 'प्रारब्ध' तथा 'क्रियमाण' ये दो शब्द क्रम से वेदान्तसूत्र के 'आरब्धकार्य' और 'अनारब्धकार्य' शब्दों के समानार्थक हो जायँगे। परन्तु क्रियमाण का ऐसा अर्थ आजकल कोई नहीं करता; उसका अर्थ प्रचलित कर्म ही लिया जाता है। इस पर यह आक्षेप है, कि ऐसा अर्थ लेने से प्रारब्ध के फल को ही क्रियमाण कहना पड़ता है; और जो कम अनारब्धकार्य हैं, उनका बोध कराने के लिये संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण इन तीनों शब्दों में कोई भी शब्द पर्याप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त क्रियमाण शब्द के रूढार्थ को छोड़ देना भी अच्छा नहीं है। इसलिये कर्मविपाकक्रिया में संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म के इन लौकिक भेदों को न मान कर हमने उनके अनारब्ध कार्य और प्रारब्धकार्य येही दो वर्ग किये हैं; और येही शास्त्रदृष्टि से भी सुभीते के हैं। 'भोगना' क्रिया के कालकृत तीन भेद होते हैं—जो भोगा जा चुका है (भूत), जो भोगा जा रहा है (वर्तमान), और जिसे आगे भोगना है (भविष्य)। परन्तु कर्मविपाकक्रिया में इस प्रकार कर्म के तीन भेद नहीं हो सकते। क्योंकि संचित में से जो कर्मप्रारब्ध हो कर भोगे जाते हैं, उनके फल फिर भी संचित ही में जा मिलते हैं। इसलिये कर्मभोग का विचार करते समय संचित के येही दो भेद हो सकते हैं—(१) वे कर्म जिनका भोगना शुरू हो गया है अर्थात् प्रारब्ध; और (२) जिनका भोगना शुरू नहीं हुआ है अर्थात् अनारब्ध। इन दो भेदों से अधिक भेद करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार सब कर्मों के फलों का विविध वर्गीकरण करके उनके उपभोग के सम्बन्ध में कर्मविपाकप्रक्रिया यह बतलाती है, कि सञ्चित ही कुल भोग्य है। इसमें से जिन कर्मफलों का उपभोग आरम्भ होने से यह शरीर या जन्म मिला है (अर्थात् सञ्चित में से जो कर्म प्रारब्ध हो गये हैं) उन्हें भोगे बिना छुटकारा नहीं है—"प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।" जब एक बार हाथ से बाण छूट जाता है, तब वह लौट कर आ नहीं सकता; अन्त तक चला ही जाता है। अथवा जब एक बार कुम्हार का चक्र घुमा दिया जाता है, तब उसकी गति का अन्त होने तक वह घूमता ही रहता है। ठीक इसी तरह 'प्रारब्ध' कर्मों की (अर्थात् जिनके फल का भोग होना शुरू हो गया है, उनकी) भी अवस्था होती है। जो शुरू हो गया है, उसका अन्त ही होना चाहिये। इसके सिवा दूसरी गति नहीं है। परन्तु अनारब्ध-कार्यकर्म का ऐसा हाल नहीं है—इन सब कर्मों का ज्ञान से पूर्णतया नाश किया जा सकता है। प्रारब्धकार्य और अनारब्धकार्य में जो यह महत्त्वपूर्ण भेद है, उसके कारण ज्ञानी पुरुष को ज्ञान होने के बाद भी नैसर्गिक रीति से मृत्यु होने तक (अर्थात् जन्म के साथ ही प्रारब्ध हुए कर्मों का अन्त होने तक) शान्ति के साथ राह देखनी पड़ती है। ऐसा न करके यदि वह हठ से देहत्याग करे, तो—ज्ञान से उसके अनारब्धकर्मों का क्षय हो जाने पर भी—देहारम्भक प्रारब्धकर्मों का भोग अपूर्ण रह जायगा और उन्हें भोगने के लिये उसे फिर भी जन्म लेना पड़ेगा। एवं उसके मोक्ष में भी बाधा आ जायगी। यह वेदान्त और सांख्य, दोनों शास्त्रों का निर्णय है। (वे. सू. ४. १. १३. १५; तथा सां. का. ६७)। उक्त बाधा के सिवा हठ से आत्महत्या करना एक नया कर्म हो जायगा; और उसका फल भोगने के लिये नया जन्म लेने की फिर भी आवश्यकता होगी। इससे साफ़ ज़ाहिर होता है, कि कर्मशास्त्र की दृष्टि से भी आत्महत्या करना मूर्खता ही है।

कर्मफलभोग की दृष्टि से कर्म के भेदों का वर्णन हो चुका। अब इसका विचार किया जायगा, कि कर्मबंधन से छुटकारा कैसे अर्थात् किस युक्ति से हो सकता है? पहली युक्ति कर्मवादियों की है। ऊपर बतलाया जा चुका है, कि अनारब्धकार्य भविष्य में भुगते जानेवाले संचितकर्म को कहते हैं—फिर इस कर्म को चाहे इसी जन्म में भोगना पड़े या उसके लिये और भी दूसरा जन्म लेना पड़े। परन्तु इस अर्थ की ओर ध्यान न दे कर कुछ मीमांसकों ने कर्मबन्धन से छूट कर मोक्ष पाने का अपने मतानुसार एक सहज मार्ग ढूँढ निकाला है। तीसरे प्रकरण में कहे अनुसार मीमांसकों की दृष्टि से समस्त कर्मों के नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध ऐसे चार भेद होते हैं। इनमें से सन्ध्या आदि नित्यकर्मों को न करने से पाप लगता है; और नैमित्तिक कर्म तभी करने पडते हैं, कि जब उनके लिये कोई निमित्त उपस्थित हो। इसलिये मीमांसकों का कहना है, कि इन दोनों कर्मों को करना ही चाहिये। बाक़ी रहे काम्य और निषिद्ध कर्म। इनमें से निषिद्ध कर्म करने से पाप लगता है, इसलिये नहीं करना चाहिये; और काम्य कर्मों को करने से उनके फलों को भोगने के

लिये फिर भी जन्म लेना पड़ता है, इसलिये उन्हें भी नहीं करना चाहिये। इस प्रकार भिन्न भिन्न कर्मों के परिणामों के तारतम्य का विचार करके यदि मनुष्य कुछ कर्मों को छोड़ दे और कुछ कर्मों को शास्त्रोक्त रीति से करता रहे; तो वह आप-ही-आप मुक्त हो जायगा। क्योंकि, प्रारब्ध कर्मों का इस जन्म में उपभोग कर लेने से उनका अन्त हो जाता है; और इस जन्म में सब नित्यनैमित्तिक कर्मों को करते रहने से तथा निषिद्ध कर्मों से बचते रहने से नरक में नहीं जाना पड़ता। एवं काम्य कर्मों को छोड़ देने से स्वर्ग आदि सुखों के भोगने की भी आवश्यकता नहीं रहती। और जब इहलोक, नरक और स्वर्ग, ये तीनों गति इस प्रकार छूट जाती हैं, तब आत्मा के लिये मोक्ष के सिवा कोई दूसरी गति ही नहीं रह जाती। इस वाद को 'कर्ममुक्ति' या 'नैष्कर्म्यसिद्धि' कहते हैं। कर्म करने पर भी जो न करने के समान हो; अर्थात् जब किसी कर्म के पापपुण्य का बंधन कर्ता को नहीं हो सकता; तब उस स्थिति को 'नैष्कर्म्य' कहते हैं। परन्तु वेदान्तशास्त्र में निश्चय किया गया है, कि मीमांसकों की उक्त युक्ति से यह 'नैष्कर्म्य' पूर्ण रीति से नहीं सध सकता (वे. सू. शां. भा. ४. ३. १४); और इसी अभिप्राय से गीता भी कहती है, कि "कर्म न करने से नैष्कर्म्य नहीं होता; और छोड़ देने से सिद्धि भी नहीं मिलती" (गी. ३. ४)। धर्मशास्त्रों में कहा गया है, कि पहले तो सब निषिद्ध कर्मों का त्याग करना ही असम्भव है। और यदि कोई निषिद्ध कर्म हो जाता है, तो केवल नैमित्तिक प्रायश्चित्त से उसके सब दोषों का नाश भी नहीं होता। अच्छा; यदि मान लें, कि उक्त बात सम्भव है; तो भी मीमांसकों के इस कथन में ही कुछ सत्यांश नहीं दीख पड़ता, कि 'प्रारब्ध कर्मों को भोगने से तथा इस जन्म में किये जानेवाले कर्मों को उक्त युक्ति के अनुसार करने या न करने से सब 'संचित' कर्मों का संग्रह समाप्त हो जाता है। क्योंकि दो 'संचित' कर्मों के फल परस्परविरोधी—उदाहरणार्थ, एक का फल स्वर्गसुख तथा दूसरे का फल नरकयातना—हों, तो उन्हें एक ही समय में और एक ही स्थल में भोगना असम्भव है। इसलिये इसी जन्म में 'प्रारब्ध' हुए कर्मों से तथा इसी जन्म में किये जानेवाले कर्मों से सब 'संचित' कर्मों के फलों का भोगना पूरा नहीं हो सकता। महाभारत में पराशरगीता में कहा है :—

> कदाचित्सुकृतं तात कूटस्थमिव तिष्ठति ।
>
> मज्जमानस्य संसारे यावद्दुःखाद्विमुच्यते ॥

"कभी कभी मनुष्य के सांसारिक दुःखों से छूटने तक उसका पूर्वकाल में किया गया पुण्य (उसे अपना फल देने की राह देखता हुआ) चुप बैठा रहता है" (म. भा. शां. २९०. १७); और यही न्याय संचित पापकर्मों को भी लागू है। इस प्रकार संचितकर्मोपभोग एक ही जन्म में नहीं चुक जाता; किन्तु संचितकर्मों का एक भाग अर्थात् अनारब्धकार्य हमेशा बचा ही रहता है। और इस जन्म में सब कर्मों को यदि उपर्युक्त युक्ति से करते रहें, तो भी बचे हुए अनारब्धकार्य संचितों को

भोगने के लिये पुनः जन्म लेना ही पड़ता है । इसीलिये वेदान्त का सिद्धान्त है, कि मीमांसकों की उपर्युक्त सरल मोक्षयुक्ति खोटी तथा भ्रान्तिमूलक है । कर्मबंधन से छूटने का यह मार्ग किसी भी उपनिषद् में नहीं बतलाया गया है । यह केवल तर्क के आधार से स्थापित किया गया है; परन्तु यह तर्क भी अन्त तक नहीं टिकता । सारांश, कर्म के द्वारा कर्म से छुटकारा पाने की आशा रखना वैसा ही व्यर्थ है, जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धे को रास्ता दिखला कर पार कर दे । अच्छा; अब यदि मीमांसकों की इस युक्ति को मंज़ूर न करें; और कर्म के बंधनों से छुटकारा पाने के लिये सब कर्मों को आग्रहपूर्वक छोड़ कर निरुद्योगी बन बैठें; तो भी काम नहीं चल सकता । क्योंकि अनारब्धकर्मों के फलों का भोगना तो बाक़ी रहता ही है; और इसके साथ कर्म छोड़ने का आग्रह तथा चुपचाप बैठे रहना तामस कर्म हो जाता है । एवं इस तामस कर्मों के फलों को भोगने के लिये फिर भी जन्म लेना ही पड़ता है (गी. १८. ७, ८) । इसके सिवा गीता में अनेक स्थलों पर यह भी बतलाया गया है, कि जब तक शरीर है, तब तक श्वासोच्छ्वास, सोना, बैठना इत्यादि कर्म होते ही रहते हैं । इसलिये सब कर्मों को छोड़ देने का आग्रह भी व्यर्थ ही है—यथार्थ में इस संसार में कोई क्षणभर के लिये भी कर्म करना छोड़ नहीं सकता (गी. ३. ५; १८. ११) ।

कर्म चाहे भला हो या बुरा; परन्तु उसका फल भोगने के लिये मनुष्य को एक-न-एक जन्म ले कर हमेशा तैयार रहना ही चाहिये । कर्म अनादि है; और उसके अखंड व्यापार में परमेश्वर भी हस्तक्षेप नहीं करता । सब कर्मों को छोड़ देना सम्भव नहीं है; और मीमांसकों के कथनानुसार कुछ कर्मों को करने से और कुछ कर्मों को छोड़ देने से भी कर्मबन्धन से छुटकारा नहीं मिल सकता—इत्यादि बातों के सिद्ध हो जाने पर यह पहला प्रश्न फिर भी होता है, कि कर्मात्मक नामरूप के विनाशी चक्र से छूट जाने (एवं उसके मूल में रहनेवाले अमृत तथा अविनाशी तत्त्व में मिल जाने) की मनुष्य को जो स्वाभाविक इच्छा होती है, उसकी तृप्ति करने का कौन-सा मार्ग है ? वेद और स्मृतिग्रन्थों में यज्ञयाग आदि पारलौकिक कल्याण के अनेक साधनों का वर्णन है; परन्तु मोक्षशास्त्र की दृष्टि से ये सब कनिष्ठ श्रेणी के हैं । क्योंकि यज्ञयाग आदि पुण्यकर्मों के द्वारा स्वर्गप्राप्ति तो हो जाती है; परन्तु जब उन पुण्यकर्मों के फलों का अन्त हो जाता है तब—चाहे दीर्घकाल में ही क्यों न हो—कभी-न-कभी इस कर्मभूमि में फिर लौट कर आना ही पड़ता है (म. भा. वन. २५९, २६०; गी. ८. २५ और ९. २०) । इससे स्पष्ट हो जाता है, कि कर्म के पंजे से बिलकुल छूट कर अमृतत्व में मिल जाने का और जन्ममरण की झंझट को सदा के लिये दूर कर देने का यह सच्चा मार्ग नहीं है । इस झंझट को दूर करने का अर्थात् मोक्षप्राप्ति का अध्यात्मशास्त्र के कथनानुसार 'ज्ञान' ही एक सच्चा मार्ग है । 'ज्ञान' शब्द का अर्थ व्यवहारज्ञान या नामरूपात्मक सृष्टिशास्त्र का ज्ञान नहीं है; किन्तु यहाँ उसका अर्थ ब्रह्मात्मैक्यज्ञान है । इसी को 'विद्या' भी

कहते हैं; और इस प्रकरण के आरम्भ में ' कर्मणा बध्यते जन्तुः विद्यया तु प्रमुच्यते '—कर्म से ही प्राणी बाँधा जाता है; और विद्यासे उसका छुटकारा होता है। यह जो वचन दिया गया है, उसमें ' विद्या ' का अर्थ ' ज्ञान ' ही विवक्षित है। भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि :—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

" ज्ञानरूप अग्नि से सब कर्म भस्म हो जाते हैं " (गी. ४. ३७)। और दो स्थलों पर महाभारत में भी कहा गया है, कि :—

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः ॥

" भूना हुआ बीज जैसे उग नहीं सकता, वैसे ही जब ज्ञान से (कर्मों के) क्लेश दग्ध हो जाते हैं, तब वे आत्मा को पुनः प्राप्त नहीं होते " (म. भा. वन. १९९. १०६, १०७; शां. २११. १७)। उपनिषदों में भी इसी प्रकार ज्ञान की महत्ता बतलानेवाले अनेक वचन हैं। जैसे—" य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति। " (बृ. १. ४. १०)—जो यह जानता है, कि मैं ही ब्रह्म हूँ, वही अमृत ब्रह्म होता है। जिस प्रकार कमलपत्र में पानी लग नहीं सकता, उसी प्रकार जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया, उसे कर्म दूषित नहीं कर सकते (छां. ४. १४. ३)। ब्रह्म जाननेवाले को मोक्ष मिलता है (तै. २. १)। जिसे यह मालूम हो चुका है, कि सब कुछ आत्ममय है, उसे पाप नहीं लग सकता (बृ. ४. ४. २३)। " ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः " (श्वे. ५. १३; ६. १३)—परमेश्वर का ज्ञान होने पर सब पाशों से मुक्त हो जाता है। " क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे " (मुं. २. २. ८)—परब्रह्म का ज्ञान होने पर उसके सब कर्मों का क्षय हो जाता है। " विद्ययामृतमश्नुते। " (ईशा. ११. मैत्र्यु. ७. ९)—विद्या से अमृतत्व मिलता है। " तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय " (श्वे. ३. ८)—परमेश्वर को जान लेने से अमरत्व मिलता है। इसको छोड़ मोक्षप्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है; और शास्त्रदृष्टि से विचार करने पर भी यही सिद्धान्त दृढ़ होता है। क्योंकि दृश्यसृष्टि में जो कुछ है, वह सब यद्यपि कर्ममय है; तथापि इस सृष्टि के आधारभूत परब्रह्म की ही वह सब लीला है। इस लिये यह स्पष्ट है, कि कोई भी कर्म परब्रह्म को बाधा नहीं दे सकते—अर्थात् सब कर्मों को करके भी परब्रह्म अलिप्त ही रहता है। इस प्रकरण के आरम्भ में बतलाया जा चुका है, कि अध्यात्मशास्त्र के अनुसार इस संसार के सब पदार्थ के कर्म (माया) और ब्रह्म दो ही वर्ग होते हैं। इससे यही प्रगट होता है, कि इनमें से किसी एक वर्ग से अर्थात् कर्म से छुटकारा पाने की इच्छा हो, तो मनुष्य को दूसरे वर्ग में अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में प्रवेश करना चाहिये। उसके लिये और दूसरा मार्ग नहीं है। क्योंकि जब सब पदार्थों के केवल दोही वर्ग होते हैं, तब कर्म से मुक्त अवस्था सिवा ब्रह्मस्वरूप के और कोई शेष नहीं रह जाती। परन्तु ब्रह्मस्वरूप की इस

अवस्था को प्राप्त करने के लिये स्पष्टरूप से जान लेना चाहिये, कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? नहीं तो करने चलेंगे एक; और होगा कुछ दूसरा ही । "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्"—मूर्ति तो गणेश की बनानी थी; परन्तु (वह न बन कर) बन गई बन्दर की । ठीक यही दशा होगी ! इसलिये अध्यात्मशास्त्र के युक्तिवाद से भी यही सिद्ध होता है, कि ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान (अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य का तथा ब्रह्म की अलिप्तता का ज्ञान) प्राप्त करके उसे मृत्युपर्यन्त स्थिर रखना ही कर्मपाश से मुक्त होने का सच्चा मार्ग है । गीता में भगवान् ने भी यही कहा है, कि "कर्मों में मेरी कुछ भी आसक्ति नहीं है; इसलिये मुझे कर्म का बन्धन नहीं होता—और जो इस तत्त्व को समझ जाता है, वह कर्मपाश से मुक्त हो जाता है । (गी. ४. १४ तथा १३. २३) । स्मरण रहे, कि यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ केवल शाब्दिक ज्ञान या केवल मानसिक क्रिया नहीं है; किन्तु हर समय और प्रत्येक स्थान में उसका अर्थ "पहले मानसिक ज्ञान होने पर (और फिर इन्द्रियोंपर जय प्राप्त कर लेनेपर) ब्रह्मीभूत होने की अवस्था या ब्राह्मी स्थिति" ही है । यह बात वेदान्तसूत्र के शांकरभाष्य के आरम्भ ही में कही गई है । पिछले प्रकरण के अन्त में ज्ञान के सम्बन्ध में अध्यात्मशास्त्र का यही सिद्धान्त बतलाया गया है । और महाभारत में भी जनक ने सुलभा से कहा है, कि—"ज्ञानेन कुरुते यत्नं यत्नेन प्राप्यते महत्"—ज्ञान (अर्थात मानसिक क्रियारूपी ज्ञान) हो जाने पर मनुष्य यत्न करता है; और यत्न के इस मार्ग से ही अन्त में उसे महत्त्व (परमेश्वर) प्राप्त हो जाता है (शां- ३२०. ३०) । अध्यात्मशास्त्र इतना ही बतला सकता है, कि मोक्षप्राप्ति के लिये किस मार्ग से और कहाँ जाना चाहिये ? इससे अधिक वह और कुछ नहीं बतला सकता । शास्त्र से ये बातें जान कर प्रत्येक मनुष्य को शास्त्रोक्त मार्ग से स्वयं आप ही चलना चाहिये । और उस मार्ग में जो काँटे या बाधाएँ हों, उन्हें निकाल कर अपना रास्ता खुद साफ़ कर लेना चाहिये । एवं उसी मार्ग में चलते हुए स्वयं अपने प्रयत्न से ही अन्त में ध्येयवस्तु की प्राप्ति कर लेनी चाहिये । परन्तु यह प्रयत्न भी पातंजलयोग, अध्यात्मविचार, भक्ति, कर्मफलत्याग इत्यादि अनेक प्रकार से किया जा सकता है (गी. १२. ८–१२;); और इस कारण मनुष्य बहुधा उलझन में फँस जाता है । इसीलिये गीता में पहले निष्कामकर्मयोग का मुख्य मार्ग बतलाया गया है; और उसकी सिद्धि के लिये छठे अध्याय में यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिरूप अंगभूत साधनों का भी वर्णन किया गया है; तथा आगे सातवें अध्याय से यह बतलाया है, कि कर्मयोग का आचरण करते रहने से ही परमेश्वर का ज्ञान अध्यात्मविचार-द्वारा अथवा (इससे भी सुलभ रीति (से) भक्तिमार्ग-द्वारा हो जाता है (गी. १८. ५६) ।

कर्मबन्धन से छुटकारा होने के लिये कर्म को छोड़ देना कोई उचित मार्ग नहीं है; किन्तु ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से बुद्धि को शुद्ध करके परमेश्वर के समान आचरण करते रहने से ही अन्त में मोक्ष मिलता है । कर्म को छोड़ देना भ्रष्ट है । क्योंकि कर्म किसी

से छूट नहीं सकता--इत्यादि बातें यद्यपि अब निर्विवाद सिद्ध हो गईं, तथापि यह पहले का प्रश्न फिर भी उठता है, कि क्या इस मार्ग में सफलता पाने के लिये आवश्यक ज्ञानप्राप्ति का जो प्रयत्न करना पड़ता है, वह मनुष्य के वश में है ? अथवा नामरूप कर्मात्मक प्रकृति जिधर खींचे, उधर ही उसे चले जाना चाहिये ? भगवान् गीता में कहते हैं, कि " प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति । " (गी. ३.३३) --निग्रह से क्या होगा ? प्राणिमात्र अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं। " मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति " -- तेरा निश्चय व्यर्थ है । जिधर तू न चाहेगा, उधर तेरी प्रकृति तुझे खींच लेगी (गी. १८. ५९; २. ६०); और मनुजी कहते हैं, कि " बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति " (मनु. २. २१५) --विद्वानों को भी इन्द्रियाँ अपने वश में कर लेती हैं । कर्मविपाकप्रक्रिया का भी निष्कर्ष यही है । क्योंकि जब ऐसा मान लिया जाय, कि मनुष्य के मन की सब प्रेरणाएँ पूर्वकर्मों से ही उत्पन्न होती हैं; तब तो यही अनुमान करना पड़ता है, कि उसे एक कर्म से दूसरे कर्म में अर्थात् सदैव भवचक्र में ही रहना चाहिये । अधिक क्या कहें ? कर्म से छुटकारा पाने की प्रेरणा और कर्म दोनों बातें परस्परविरुद्ध हैं । और यदि यह सत्य है, तो यह आपत्ति आ पड़ती है, कि ज्ञान प्राप्त करने के लिये कोई भी मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है । इस विषय का विचार अध्यात्मशास्त्र में इस प्रकार किया गया है, कि नामरूपात्मक सारी दृश्यसृष्टि का आधारभूत जो तत्त्व है, वही मनुष्य की जड़देह में भी निवास करता है । इससे उसके कृत्यों का विचार देह और आत्मा दोनों की दृष्टि से करना चाहिये । इनमें से आत्मस्वरूपी ब्रह्म मूलमें केवल एक ही होने के कारण कभी भी परतन्त्र नहीं हो सकता । क्योंकि किसी एक वस्तु को दूसरे की अधीनता में होने के लिये एक से अधिक--कम-से-कम दो--वस्तुओं का होना नितान्त आवश्यक है । यहाँ नामरूपात्मक कर्म ही वह दूसरी वस्तु है । परन्तु यह कर्म अनित्य है; और मूल में वह परब्रह्म की ही लीला है। जिससे निर्विवाद सिद्ध होता है, कि यद्यपि उसने परब्रह्म के एक अंश को आच्छादित कर लिया है, तथापि वह परब्रह्म को अपना दास कभी भी बना नहीं सकता । इसके अतिरिक्त यह पहले ही बतलाया जा चुका है, कि जो आत्मा कर्मसृष्टि के व्यापारों का एकीकरण करके सृष्टिज्ञान उत्पन्न करता है, उसे कर्मसृष्टि से भिन्न अर्थात् ब्रह्मसृष्टि का ही होना चाहिये । इससे सिद्ध होता है, कि परब्रह्म और उसीका अंश शारीर आत्मा, दोनों मूल में स्वतन्त्र अर्थात् कर्मात्मक प्रकृति की सत्ता से मुक्त हैं । इनमें से परमात्मा के विषय में मनुष्य को इससे अधिक ज्ञान नहीं हो सकता, कि वह अनन्त, सर्वव्यापी, नित्य, शुद्ध और मुक्त है । परन्तु इस परमात्मा ही के अंशरूप जीवात्मा की बात भिन्न है । यद्यपि वह मूल में शुद्ध, मुक्तस्वभाव, निर्गुण तथा अकर्ता है, तथापि शरीर और बुद्धि आदि इन्द्रियों के बन्धन में फँसा होने के कारण वह मनुष्य के मन में जो स्फूर्ति उत्पन्न करता है, उसका प्रत्यक्षानुभवरूपी ज्ञान हमें हो सकता है । भाफ़ का उदाहरण लीजिये । जब

वह खुली जगह में रहती है, तब उसका कुछ ज़ोर नहीं चलता; परन्तु वह जब किसी बर्तन में बंद कर दी जाती है, तब उसका दबाव उस बर्तन पर ज़ोर से होता हुआ दीख पड़ने लगता है। ठीक इसी तरह जब परमात्मा का ही अंशभूत जीव (गी. १५. ७) अनादिपूर्वकर्मार्जित जड़देह तथा इन्द्रियों के बन्धनों से बद्ध हो जाता है, तब इस बद्धावस्था से उसको मुक्त करने के लिये (मोक्षानुकूल) कर्म करने की प्रवृत्ति देहेन्द्रियों में होने लगती है; और इसी को व्यावहारिक दृष्टि से "आत्मा की स्वतन्त्र प्रवृत्ति" कहते हैं। "व्यावहारिक दृष्टि से" कहने का कारण यह है, कि शुद्ध मुक्तावस्था में या "तात्त्विक दृष्टि से" आत्मा इच्छारहित तथा अकर्ता है--सब कर्तृत्व केवल प्रकृति का है (१३. २९; वे. सू. शां. भा. २. ३. ४०)। परन्तु वेदान्ती लोग सांख्यमत की भाँति यह नहीं मानते, कि प्रकृति ही स्वयं मोक्षानुकूल कर्म किया करती है। क्योंकि ऐसा मान लेने से यह कहना पड़ेगा, कि जड़प्रकृति अपने अंधेपन से अज्ञानियों को भी मुक्त कर सकती है। और यह भी नहीं कहा जा सकता, कि जो आत्मा मूल ही में अकर्ता है, वह स्वतन्त्र रीति से--अर्थात् बिना किसी निमित्त के--अपने नैसर्गिक गुणों से ही प्रवर्तक हो जाता है। इसलिये आत्मस्वातंत्र्य के उक्त सिद्धान्त को वेदान्तशास्त्र में इस प्रकार बतलाना पड़ता है, कि आत्मा यद्यपि मूल में अकर्ता है, तथापि बन्धनों के निमित्त से वह इतने ही के लिये दिखाऊ प्रेरक बन जाता है; और जब यह आगन्तुक प्रेरकता उसमें एक बार किसी भी निमित्त से आ जाती है, तब वह कर्म के नियमों से भिन्न अर्थात् स्वतन्त्र ही रहती है। "स्वातन्त्र्य" का अर्थ निर्निमित्तक नहीं है; और आत्मा अपनी मूल शुद्धावस्था में कर्ता भी नहीं रहता। परन्तु बार बार इस लम्बीचौड़ी कर्मकथा को न बतलाते रह कर इसी को संक्षेप में आत्मा की स्वतन्त्रप्रवृत्ति या प्रेरणा कहने की परिपाटी हो गई है। बन्धन में पड़ने के कारण आत्मा के द्वारा इन्द्रियों को मिलनेवाली स्वतन्त्र प्रेरणा में और बाह्यसृष्टि के पदार्थों के संयोग से इन्द्रियों में उत्पन्न होनेवाली प्रेरणा में बहुत भिन्नता है। खाना, पीना, चैन करना--ये सब इन्द्रियों की प्रेरणाएँ हैं; और आत्मा की प्रेरणा मोक्षानुकूल कर्म करने के लिये हुआ करती है। पहली प्रेरणा केवल बाह्य अर्थात् कर्मसृष्टि की है। परन्तु दूसरी प्रेरणा आत्मा की अर्थात् ब्रह्मसृष्टि की है। और ये दोनों प्रेरणाएँ प्रायः परस्परविरोधी हैं, जिससे इन के झगड़े में ही मनुष्य की सब आयु बीत जाती है। इनके झगड़े के समय जब मन में सन्देह उत्पन्न होता है, तब कर्मसृष्टि की प्रेरणा को न मान कर (भाग. ११. १०. ४) यदि मनुष्य शुद्धात्मा की स्वतन्त्र प्रेरणा के अनुसार चलने लगे--और इसी को सच्चा आत्मज्ञान या सच्ची आत्मनिष्ठा कहते हैं--तो इसके सब व्यवहार स्वभावतः मोक्षानुकूल ही होंगे। और अन्त में--

> विशुद्धधर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान्।
> विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना।
> स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्नुते॥

" वह जीवात्मा या शारीर आत्मा--जो मूल में स्वतन्त्र है--ऐसे परमात्मा में मिल जाता है, जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्मल और स्वतन्त्र है" (म. भा. शां. ३०८.२७-३०)। ऊपर जो कहा गया है, कि ज्ञान से मोक्ष मिलता है, उस का यही अर्थ है। इसके विपरीत जब जड़ इन्द्रियों के प्राकृत धर्म की--अर्थात् कर्मसृष्टि की प्रेरणा की--प्रबलता हो जाती है, तब मनुष्य की अधोगति होती है। शरीर में बँधे हुए जीवात्मा में देहेन्द्रियों से मोक्षानुकूल कर्म करने की तथा ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से मोक्ष प्राप्त कर लेने की जो यह स्वतन्त्र शक्ति है, उसकी ओर ध्यान दे कर ही भगवान् ने अर्जुन को आत्मस्वातन्त्र्य अर्थात् स्वावलम्बन के तत्त्व का उपदेश किया है कि :--

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

" मनुष्य को चाहिये, कि वह अपना उद्धार आपही करे। वह अपनी अवनति आप ही न करे। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना बन्धु (हितकारी) है; और स्वयं अपना शत्रु (नाशकर्ता) है" (गी. ६. ५); और इसी हेतु से योगवासिष्ठ (२. सर्ग ४-८) में दैव का निराकरण करके पौरुष के महत्त्व का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जो मनुष्य इस तत्त्व को पहचान कर आचरण किया करता है, कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है, उसी के आचरण को सदाचरण या मोक्षानुकूल आचरण कहते हैं। और जीवात्मा का भी यही स्वतन्त्र धर्म है, कि ऐसे आचरण की ओर देहेन्द्रियों को प्रवृत्त किया करे। इसी धर्म के कारण दुराचारी मनुष्य का अन्तःकरण भी सदाचरण ही की तरफ़दारी किया करता है, जिससे उसे अपने किये हुए दुष्कर्मों का पश्चात्ताप होता है। आधिदैवत पक्ष के पण्डित इसे सदसद्विवेकबुद्धिरूपी देवता की स्वतन्त्र स्फूर्ति कहते हैं। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है, कि बुद्धीन्द्रिय जड़प्रकृति ही का विकार होने के कारण स्वयं अपनी ही प्रेरणा से कर्म के नियमबन्धनों से मुक्त नहीं हो सकती। यह प्रेरणा उसे कर्मसृष्टि के बाहर के आत्मा से प्राप्त होती है। इसी प्रकार पश्चिमी पण्डितों का "इच्छा-स्वातन्त्र्य" शब्द भी वेदान्त की दृष्टि से ठीक नहीं है। क्योंकि इच्छा मन का धर्म है। और आठवें प्रकरण में कहा जा चुका है, कि बुद्धि तथा उसके साथ साथ मन भी कर्मात्मक जड़प्रकृति के अस्वयंवेद्य विकार हैं। इसलिये ये दोनों स्वयं आपही कर्म के बंधन से छूट नहीं सकते। अतएव वेदान्तशास्त्र का निश्चय है, कि सच्चा स्वातन्त्र्य न तो बुद्धि का है; और न मन का--वह केवल आत्मा का है। यह स्वातन्त्र्य न तो आत्मा को कोई देता है; और न कोई उससे छीन सकता है। स्वतंत्र परमात्मा का अंशरूप जीवात्मा जब उपाधि के बंधन में पड़ जाता है, तब वह स्वयं स्वतंत्र रीति से ऊपर कहे अनुसार बुद्धि तथा मन में प्रेरणा किया करता है। अन्तःकरण की इस प्रेरणा का अनादर करके कोई बर्ताव करेगा, तो यही कहा जा सकता है, कि वह स्वयं अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी मारने को तैयार है। भगवद्गीता में इसी तत्त्व का

उल्लेख यों किया गया है "न हिनस्त्यात्मनात्मानम्"--जो स्वयं अपना घात आप ही नहीं करता, उसे उत्तम गति मिलती है (गी. १३. २८); और दासबोध में भी इसी का स्पष्ट अनुवाद किया गया है (दा. बो. १७. ७. ७-१०)। यद्यपि दीख पड़ता है, कि मनुष्य कर्मसृष्टि के अभेद्य नियमों से जकड़ कर बँधा हुआ है; तथापि स्वभावतः उसे ऐसा मालूम होता है, कि मैं किसी काम को स्वतन्त्र रीति से कर सकूँगा। अनुभव के इस तत्त्व की उपपत्ति ऊपर कहे अनुसार ब्रह्मसृष्टि को जड़सृष्टि से भिन्न माने बिना किसी भी अन्य रीति से नहीं बतलाई जा सकती। इसलिये जो अध्यात्मशास्त्र को नहीं मानते, उन्हें इस विषय में या तो मनुष्य के नित्य दासत्व को मानना चाहिये या प्रवृत्तिस्वातंत्र्य के प्रश्न को अगम्य समझ कर यों ही छोड़ देना चाहिये; उनके लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है। अद्वैत वेदान्त का यह सिद्धान्त है, कि जीवात्मा और परमात्मा मूल में एकरूप हैं (वे. सू. शां. भा. २. ३. ४०); और इसी सिद्धांतके अनुसार प्रवृत्तिस्वातंत्र्य या इच्छास्वातन्त्र्य की उक्त उपपत्ति बतलाई गई है। परन्तु जिन्हें यह अद्वैत मत मान्य नहीं है अथवा जो भक्ति के लिये द्वैत का स्वीकार किया करते हैं; उनका कथन है, कि जीवात्मा का यह सामर्थ्य स्वयं उसका नहीं है; बल्कि यह उसे परमेश्वर से प्राप्त होता है। तथापि "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।" (ऋ. ४. ३३. ११)--थकने तक प्रयत्न करनेवाले मनुष्य के अतिरिक्त अन्यों को देवता लोग मदद नहीं करते--ऋग्वेद के इस तत्त्वानुसार यह कहा जाता है, कि जीवात्मा को यह सामर्थ्य प्राप्त करा देने के लिये पहले स्वयंही प्रयत्न करना चाहिये--अर्थात् आत्मप्रयत्न का और पर्याय से आत्मस्वातन्त्र्य का तत्त्व फिर भी स्थिर बना ही रहता है (वे. सू. २. ३. ४१, ४२; गी. १० ५ और १०)। अधिक क्या कहें? बौद्धधर्मी लोग आत्मा का या परब्रह्म का अस्तित्व नहीं मानते। और यद्यपि उनको ब्रह्मज्ञान तथा आत्मज्ञान मान्य नहीं है, तथापि उनके धर्मग्रन्थों में यही उपदेश किया गया है, कि "अत्तना (आत्मना) चोदयऽत्तानं"--अपने आप को स्वयं अपने ही प्रयत्न से राह पर लगाना चाहिये। इस उपदेश का समर्थन करने के लिये कहा गया है कि :--

अत्ता [आत्मा] हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा सञ्ञमयऽत्ताणं अस्सं [अश्वं] भद्दं व वाणिजो ॥

"हम ही खुद अपने स्वामी या मालिक हैं; और अपने आत्मा के सिवा हमें तारनेवाला दूसरा कोई नहीं है। इसलिये जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने उत्तम घोड़े का संयमन करता है, उसी प्रकार हमें अपना संयमन आप ही भली भाँति करना चाहिये (धम्मपद. ३८०)। और गीता की भाँति आत्मस्वातन्त्र्य के अस्तित्व तथा उसकी आवश्यकता का भी वर्णन किया गया है (देखो महापरिनिब्बाणसुत्त २. ३३-३५)। आधिभौतिक फरेंच पण्डित कोंट की भी गणना इसी वर्ग में करनी चाहिये। क्योंकि यद्यपि वह किसी भी अध्यात्मवाद को नहीं मानता, तथापि वह बिना किसी उपपत्ति

के केवल प्रत्यक्षसिद्ध कह कर इस बात को अवश्य मानता है, कि प्रयत्न से मनुष्य अपने आचरण और परिस्थिति को सुधार सकता है ।

यद्यपि यह सिद्ध हो चुका, कि कर्मपाश से मुक्त हो कर सर्वभूतान्तर्गत एक आत्मा को पहचान लेने की जो आध्यात्मिक पूर्णावस्था है, उसे प्राप्त करने के लिये ब्रह्मात्मैक्यज्ञान ही एकमात्र उपाय है; और इस ज्ञान को प्राप्त कर लेना हमारे अधिकार की बात है । तथापि स्मरण रहे, कि यह स्वतन्त्र आत्मा भी अपनी छाती पर लदे हुए प्रकृति के बोझ को एकदम अर्थात् एक ही क्षण में अलग नहीं कर सकता । जैसे कोई कारीगर कितना ही कुशल क्यों न हो ? परन्तु वह हथियारों के बिना कुछ काम नहीं कर सकता । और यदि हथियार खराब हों, तो उन्हें ठीक करने में उसका बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है । वैसा ही जीवात्मा का भी हाल है । ज्ञानप्राप्ति की प्रेरणा करने के लिये जीवात्मा स्वतन्त्र तो अवश्य है; परन्तु वह तात्त्विक दृष्टि से मूल में निर्गुण और केवल है । अथवा सातवें प्रकरण में बतलाये अनुसार नेत्रयुक्त परन्तु लँगड़ा है (मैत्र्यु. ३. २, ३; गी. १३. २०) । इसलिये उक्त प्रेरणा के अनुसार कर्म करने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता होती है (जैसे कुम्हार को चाक की आवश्यकता होती है) वे इस आत्मा के पास स्वयं अपने नहीं होते--जो साधन उपलब्ध है (जैसे देह और बुद्धि आदि इन्द्रियाँ), वे सब मायात्मक प्रकृति के विकार हैं । अतएव जीवात्मा को अपनी मुक्ति के लिये भी प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त देहेन्द्रिय आदि सामग्री (साधन या उपाधि) के द्वारा ही सब काम करना पड़ता है । इन साधनों में बुद्धि मुख्य है । इसलिये कुछ काम करने के लिये जीवात्मा पहले बुद्धि को ही प्रेरणा करता है । परन्तु पूर्वकर्मानुसार और प्रकृति के स्वभावानुसार यह कोई नियम नहीं, कि यह बुद्धि हमेशा शुद्ध तथा सात्त्विक ही हो । इसलिये पहले त्रिगुणात्मक प्रकृति के प्रपंच से मुक्त हो कर यह बुद्धि अन्तर्मुख, शुद्ध, सात्त्विक या आत्मनिष्ठ होनी चाहिये । अर्थात् यह बुद्धि ऐसी होनी चाहिये, कि जीवात्मा की प्रेरणा को माने । उसकी आज्ञा का पालन करे; और उन्हीं कर्मों को करने का निश्चय करे, कि जिनसे आत्मा का कल्याण हो । ऐसा होने के लिये दीर्घकाल तक वैराग्य का अभ्यास करना पड़ता है । इतना होने पर भी भूख-प्यास आदि देहधर्म और संचित कर्मों के वे फल--जिनका भोगना आरम्भ हो गया है--मृत्युसमय तक छूटते ही नहीं । तात्पर्य यह है, कि यद्यपि उपाधि-बद्ध जीवात्मा देहेन्द्रियों को मोक्षानुकूल कर्म करने की प्रेरणा करने के लिये स्वतन्त्र है; तथापि प्रकृति ही के द्वारा चूँकि उसे सब काम कराने पड़ते हैं, इसलिये उतने भर के लिये (बढ़ई, कुम्हार आदि कारीगरों के समान) वह परावलम्बी हो जाता है; और उसे देहेन्द्रिय आदि हथियारों को पहले शुद्ध करके अपने अधिकार में कर लेना पड़ता है (वे. सू. २. ३. ४०) । यह काम एकदम नहीं हो सकता । इसे धीरे धीरे करना चाहिये । नहीं तो चमकने और भड़कनेवाले घोड़े के समान इन्द्रियाँ बलवा करने लगेंगी; और मनुष्य को धर दबावेंगी । इसीलिये भगवान् ने कहा है, कि इन्द्रिय-

निग्रह करने के लिये बुद्धि को धृति या धैर्य की सहायता मिलनी चाहिये (गी. ६. २५); और आगे अठारहवें अध्याय (१८. ३३–३५) में बुद्धि की भाँति धृति के भी––सात्त्विक, राजस और तामस––तीन नैसर्गिक भेद बतलाये गये हैं। इनमें से तामस और राजस को छोड़ कर बुद्धि को सात्त्विक बनाने के लिये इन्द्रियनिग्रह करना पड़ता है। और इसी से छठवें अध्याय में इसका भी संक्षिप्त वर्णन किया है, कि ऐसे इन्द्रियनिग्रहाभ्यासरूप योग के लिये उचित स्थल, आसन और आहार कौन कौन-से हैं? इस प्रकार गीता (६. २५) में बतलाया गया है, कि शनैः शनैः" अभ्यास करने पर चित्त स्थिर हो जाता है, इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं और आगे कुछ समय के बाद (एकदम नहीं) ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होता है। एवं फिर "आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय"––उस ज्ञान से कर्मबन्धन छूट जाता है (गी. ४. ३८–४१)। परन्तु भगवान् एकान्त में योगाभ्यास करने का उपदेश देते हैं (गी. ६. १०), इससे गीता का तात्पर्य यह नहीं समझ लेना चाहिये, कि संसार के सब व्यवहारों को छोड़ कर योगाभ्यास में ही सारी आयु बिता दी जावे। जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने पास की पूँजी से ही––चाहे वह बहुत थोड़ी ही क्यों न हो––पहले धीरे धीरे व्यापार करने लगता है; और उसके द्वारा अन्त में अपार संपत्ति कमा लेता है, उसी प्रकार गीता के कर्मयोग का भी हाल है। अपने से जितना हो सकता है, उतना ही इन्द्रियनिग्रह करके पहले कर्मयोग को शुरू करना चाहिये; और इसी से अन्त में अधिकाधिक इन्द्रियनिग्रहसामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। तथापि चौराहे में बैठ कर भी योगाभ्यास करने से काम नहीं चल सकता। क्योंकि इससे बुद्धि को एकाग्रता की जो आदत हुई होगी, उसके घट जाने का भय होता है। इसलिये कर्मयोग का आचरण करते हुए कुछ समय तक नित्य या कभी कभी एकान्त का सेवन करना भी आवश्यक है (गी. १३. १०)। इसके लिये संसार के समस्त व्यवहारों को छोड़ देने का उपदेश भगवान् ने कहीं भी नहीं दिया है; प्रत्युत सांसारिक व्यवहारों को निष्कामबुद्धि से करने के लिये ही इन्द्रियनिग्रह का अभ्यास बतलाया गया है। और गीता का यही कथन है, कि इस इन्द्रियनिग्रह के साथ साथ यथाशक्ति निष्कामकर्मयोग का भी आचरण प्रत्येक मनुष्य को हमेशा करते रहना चाहिये। पूर्ण इन्द्रियनिग्रह के सिद्ध होने तक राह देखते बैठे नहीं रहना चाहिये। मैत्र्युपनिषद् में और महाभारत में कहा गया है, कि यदि कोई मनुष्य बुद्धिमान् और निग्रही हो, तो वह इस प्रकार के योगाभ्यास से छः महीने में साम्यबुद्धि प्राप्त कर सकता है (मै. ६. २८; म. भा. शां. २३९. ३२ अश्व. अनुगीता १९. ६६)। परन्तु भगवान् ने जिस सात्त्विक, सम या आत्मनिष्ठ बुद्धि का वर्णन किया है, वह बहुतेरे लोगों को छः महीने में क्या, छः वर्ष में भी प्राप्त नहीं हो सकती। और इस अभ्यास के अपूर्ण रह जाने के कारण इस जन्म में तो पूरी सिद्धि होगी ही नहीं; परन्तु दूसरा जन्म ले कर फिर भी शुरू से वही अभ्यास करना पड़ेगा; और उस जन्म का अभ्यास भी पूर्वजन्म के अभ्यास की भाँति ही अधूरा रह

जायगा । इसलिये यह शङ्का उत्पन्न होती है, कि ऐसे मनुष्य को पूर्ण सिद्धि कभी मिल ही नहीं सकती ? फलतः ऐसा भी मालूम होने लगता है, कि कर्मयोग का आचरण करने के पूर्व पातञ्जलयोग की सहायता से पूर्ण निर्विकल्प समाधि लगाना पहले सीख लेना चाहिये । अर्जुन के मन में यही शङ्का उत्पन्न हुई थी; और उसने गीता के छठवें अध्याय (६. ३७-३९) में श्रीकृष्ण से पूछा है, कि ऐसी दशा में मनुष्य को क्या करना चाहिये ? उत्तर में भगवान् ने कहा है, कि आत्मा अमर होने के कारण इस पर लिंगशरीर द्वारा इस जन्म में जो थोड़ेबहुत संस्कार होते हैं, वे आगे भी ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं; तथा यह 'योगभ्रष्ट' पुरुष अर्थात् कर्मयोग को पूरा न साध सकने के कारण उससे भ्रष्ट होनेवाला पुरुष अगले जन्म में अपना प्रयत्न वहीं से शुरू करता है, कि जहाँ से उसका अभ्यास छूट गया था । और ऐसा होते होते क्रम "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" (गी. ६. ४५)-- अनेक जन्मों में पूर्ण सिद्धि हो जाती है; एवं अन्त में उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसी सिद्धान्त को लक्ष्य करके दूसरे अध्याय में कहा गया है, कि "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।" (गी. २. ४०)--इस धर्म का अर्थात् कर्मयोग का स्वल्प आचरण भी बड़े बड़े संकटों से बचा देता है । सारांश, मनुष्य का आत्मा मूल में यद्यपि स्वतन्त्र है, तथापि मनुष्य एक ही जन्म में पूर्ण सिद्धि नहीं पा सकता । क्योंकि पूर्वकर्मों के अनुसार उसे मिली हुई देह का प्राकृतिक स्वभाव अशुद्ध होता है । परन्तु इससे "नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।" (मनु. ४. १३७)-- किसी को निराश नहीं होना चाहिये; और एक ही जन्म में परम सिद्धि पा जाने के दुराग्रह में पड़ कर पातञ्जल योगाभ्यास में अर्थात् इन्द्रियों का ज़बर्दस्ती दमन करने में ही सब आयु वृथा खो नहीं देनी चाहिये । आत्मा को कोई जल्दी नहीं पड़ी है। जितना आज हो सके, उतने ही योगबल को प्राप्त करके कर्मयोग का आचरण शुरू कर देना चाहिये । इससे धीरे धीरे बुद्धि अधिकाधिक सात्त्विक तथा शुद्ध होती जायगी; और कर्मयोग का यह स्वल्पाचरण ही --नहीं, जिज्ञासा तक रहँट में बैठे हुए मनुष्य की तरह आगे ढकेलते ढकेलते अंत में आज नहीं तो कल ; इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में--उसके आत्मा को पूर्णब्रह्मप्राप्ति करा देगा । इसीलिये भगवान् ने गीता में साफ़ कहा है, कि कर्मयोग में एक विशेष गुण यह है, कि उसका स्वल्प से भी स्वल्प आचरण कभी व्यर्थ नहीं जाने पाता (गी. ६. १५ पर हमारी टीका देखो) । मनुष्य को उचित है, कि वह केवल इसी जन्म पर ध्यान दे; और धीरज को न छोड़े । किन्तु निष्काम कर्म करने के अपने उद्योग को स्वतंत्रता से और धीरे धीरे यथाशक्ति जारी रखे । प्राक्तन-संस्कार के कारण ऐसा मालूम होता है, कि प्रकृति की गाँठ हम से इस जन्म में आज नहीं छूट सकती । परन्तु वही बन्धन क्रम क्रम से बढ़नेवाले कर्मयोग के अभ्यास से कल या दूसरे जन्मों में आप-ही-आप ढीला हो जाता है। और ऐसा होते होते "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते" (गी. ७. १९)-- कभी-न-कभी पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होने से प्रकृति का बन्धन या पराधीनता छूट जाती

है । एवं आत्मा अपने मूल की पूर्ण निर्गुण मुक्तावस्था को अर्थात् मोक्षदशा को पहुँच जाता है । मनुष्य क्या नहीं कर सकता है ? जो यह कहावत प्रचलित है, कि " नर करनी करे, तो नर का नारायण होय " वह वेदान्त के उक्त सिद्धान्त का ही अनुवाद है । और इसीलिये योगवासिष्ठकार ने मुमुक्षु प्रकरण में उद्योग की खूब प्रशंसा की है; तथा असन्दिग्ध रीति से कहा है, कि अन्त में सब कुछ उद्योग से ही मिलता है (यो. २. ४. १०-१८) ।

यह सिद्ध हो चुका, कि ज्ञानप्राप्ति का प्रयत्न करने के लिये जीवात्मा मूल में स्वतंत्र है; और स्वावलम्बनपूर्वक दीर्घोद्योग से उसे कभी-न-कभी प्राक्तनकर्म के पंजे से छुटकारा मिल जाता है । अब थोड़ा-सा इस बात का स्पष्टीकरण और हो जाना चाहिये, कि कर्मक्षय किसे कहते हैं ? और वह कब होता है ? कर्मक्षय का अर्थ है--सब कर्मों को बन्धनों से पूर्ण अर्थात् निःशेष मुक्ति होना । परन्तु पहले कह आये हैं, कि कोई पुरुष ज्ञानी भी हो जाय; तथापि जब तक शरीर है, तब तक सोना, बैठना, भूख, प्यास, इत्यादि कर्म छूट नहीं सकते; और प्रारब्धकर्म का भी विना भोगे क्षय नहीं होता । इसलिये वह आग्रह से देह का त्याग नहीं कर सकता । इसमें सन्देह नहीं, कि ज्ञान होने के पूर्व किये गये सब कर्मों का नाश ज्ञान होने पर हो जाता है; परन्तु जब कि ज्ञानी पुरुष को यावज्जीवन ज्ञानोत्तर-काल में भी कुछ-न-कुछ कर्म करना ही पड़ता है, तब ऐसे कर्मों से उसका छुटकारा कैसे होगा ? और, यदि छुटकारा न हो, तो यह शङ्का उत्पन्न होती है, कि फिर पूर्वकर्मक्षय या आगे मोक्ष भी न होगा । इस पर वेदान्तशास्त्र का उत्तर यह है, कि ज्ञानी मनुष्य की नामरूपात्मक देह को नामरूपात्मक कर्मों से यद्यपि कभी छुटकारा नहीं मिल सकता, तथापि इन कर्मों के फलों को अपने ऊपर लाद लेने या न लेने में आत्मा पूर्णरीति से स्वतन्त्र है । इसलिये यदि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके--कर्म के विषय में प्राणिमात्र की जो आसक्ति होती है--केवल उसका ही क्षय किया जाय, तो ज्ञानी मनुष्य कर्म करके भी उसके फल का भागी नहीं होता । कर्म स्वभावतः अन्धा, अचेतन या मृत होता है । वह न तो किसी को स्वयं पकड़ता है, और न किसी को छोड़ता ही है । वह स्वयं न अच्छा है, न बुरा । मनुष्य अपने जीव को इन कर्मों में फँसा कर इन्हें अपनी आसक्ति से अच्छा या बुरा, और शुभ या अशुभ बना लेता है । इसलिये कहा जा सकता है, कि इस ममत्वयुक्त आसक्ति के छूटनेपर कर्म के बन्धन आप ही टूट जाते हैं । फिर चाहे वे कर्म बने रहें या चले जायँ । गीता में भी स्थान स्थान पर यही उपदेश दिया गया है कि :--सच्चा नैष्कर्म्य इसी में है । कर्म का त्याग करने में नहीं (गी. ३. ४) । तेरा अधिकार केवल कर्म करने का है, फल का मिलना न मिलना तेरे अधिकार की बात नहीं है (गी. २. ४७) । कर्मेंद्रियैः कर्मयोगमसक्तः " (गी. ३. ७)--फल की आशा न रख कर्मेन्द्रियों को कर्म करने दे । " त्यक्त्वा कर्मफलासंगम् " (गी. ४. २०) कर्मफल का त्याग कर । " सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते " (गी. ५. ७)--जिन पुरुषों की समस्त प्राणियों

में समबुद्धि हो जाती है, उनके किये हुए कर्म उनके बन्धन का कारण नहीं हो सकते । "सर्वकर्मफलत्यागं कुरु" (गी. १२. ११)--सब कर्मफलों का त्याग कर। कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियते" (गी. १८. ९)--केवल कर्तव्य समझ कर जो प्राप्त कर्म किया जाता है, वही सात्त्विक है । "चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य" (गी. १८. ५७) सब कर्मों को मुझे अर्पण करके बर्ताव कर । इन सब उपदेशों का रहस्य वही है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है । अब यह एक स्वतंत्र प्रश्न है, कि ज्ञानी मनुष्यों को सब व्यावहारिक कर्म करने चाहिये या नहीं ? इसके सम्बन्ध में गीताशास्त्र का जो सिद्धान्त है, उसका विचार अगले प्रकरण में किया जायगा । अभी तो केवल यही देखना है, कि ज्ञान से सब कर्मों के भस्म हो जाने का अर्थ क्या है ? और ऊपर दिये गये वचनों से इस विषय में गीता का जो अभिप्राय है, वह भली भाँति प्रगट हो जाता है । व्यवहार में भी इसी न्याय का उपयोग किया जाता है । उदाहरणार्थ, यदि एक मनुष्य ने किसी दूसरे मनुष्य को धोखे से धक्का दे दिया, तो हम उसे उज्जड नहीं कहते । इसी तरह यदि केवल दुर्घटना से किसी की हत्या हो जाती है, तो उसे फ़ौजदारी क़ानून के अनुसार खून नहीं समझते । अग्नि से घर जल जाता है अथवा पानी से सैंकड़ों खेत बह जाते हैं; तो क्या अग्नि और पानी को कोई दोषी समझता है ? केवल कर्मों की ओर देखें, तो मनुष्य की दृष्टि से प्रत्येक कर्म में कुछ-न-कुछ दोष या अवगुण अवश्य ही मिलेगा--"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः" (गी. १८. ४८) । परन्तु यह वह दोष नहीं है, कि जिसे छोड़ने के लिये गीता कहती है । मनुष्य के किसी कर्म को जब हम अच्छा या बुरा कहते हैं, तब यह अच्छापन या बुरापन यथार्थ में उस कर्म में नहीं रहता; किन्तु कर्म करनेवाले मनुष्य की बुद्धि में रहता है । इसी बात पर ध्यान दे कर गीता (२. ४९-५१) में कहा है, कि इन कर्मों के बुरेपन को दूर करने के लिये कर्ता को चाहिये, कि वह अपने मन और बुद्धि को शुद्ध रखे; और उपनिषदों में भी कर्ता की बुद्धि को ही प्रधानता दी गई है । जैसे :--

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम् ॥

"मनुष्य के (कर्म से) बंधन या मोक्ष का मन ही (एव) कारण है । मन के विषयासक्त होने से बंधन और निष्काम या निर्विषय अर्थात् निःसंग होने से मोक्ष होता है" (मैत्र्यु. ६. ३४; अमृतबिन्दु. २) । गीता में यही बात प्रधानता से बतलाई गई है, कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से बुद्धि की उक्त साम्यावस्था कैसे प्राप्त कर लेनी चाहिये ? इस अवस्था के प्राप्त हो जाने पर कर्म करने पर भी पूरा कर्मयज्ञ हो जाया करता है । निरग्नि होने से--अर्थात् संन्यास ले कर अग्निहोत्र आदि कर्मों को छोड़ देने से--अथवा अक्रिय रहने से--अर्थात् किसी भी कर्म को न कर चुपचाप बैठे रहने से--कर्म का क्षय नहीं होता (गी. ६. १) । चाहे मनुष्य की इच्छा रहे, या न रहे;

परन्तु प्रकृति का चक्र हमेशा घूमता ही रहता है; जिसके कारण मनुष्य को भी उसके साथ अवश्य ही चलना पड़ेगा (गी. ३. ३३; १८. ६०)। परन्तु अज्ञानी जन ऐसी स्थिति में प्रकृति की पराधीनता में रह कर जैसे नाचा करते हैं, वैसा न करके जो मनुष्य अपनी बुद्धि को इन्द्रियनिग्रह के द्वारा स्थिर एवं शुद्ध रखता है; और सृष्टिक्रम के अनुसार अपने हिस्से के (प्राप्त) कर्मों को केवल कर्तव्य समझ कर अनासक्तबुद्धि से एवं शांतिपूर्वक किया करता है, वही सच्चा विरक्त है; वही सच्चा स्थितप्रज्ञ है; और उसी को ब्रह्मपद पर पहुँचा हुआ कहना चाहिये (गी. ३ ७; ४. २१; ५. ७–९; १८. ११)। यदि कोई ज्ञानी पुरुष किसी भी व्यावहारिक कर्म को न करके संन्यास ले कर जंगल में जा बैठे; तो इस प्रकार कर्मों को छोड़ देने से यह समझना बड़ी भारी भूल है, कि उसके कर्मों का क्षय हो गया (गी. ३. ४)। इस तत्त्व पर हमेशा ध्यान देना चाहिये, कि कोई कर्म करे या न करे; परन्तु उसके कर्मों का क्षय उसकी बुद्धि की साम्यावस्था के कारण होता है; न कि कर्मों को छोड़ने से या न करने से। कर्मक्षय का सच्चा स्वरूप दिखलाने के लिये यह उदाहरण दिया जाता है, कि जिस तरह अग्नि से लकड़ी जल जाती है, उसी तरह ज्ञान से सब कर्म भस्म हो जाते हैं। परन्तु इसके बदले उपनिषद् में और गीता में दिया गया यह दृष्टान्त अधिक समर्पक है, कि जिस तरह कमलपत्र पानी में रह कर भी पानी से अलिप्त रहता है, उसी तरह ज्ञानी पुरुष को––अर्थात् ब्रह्मार्पण करके अथवा आसक्ति छोड़ कर कर्म करनेवाले को––कर्मोंका लेप नहीं होता (छां. ४. १४ ३; गी. ५. १०)। कर्म स्वरूपतः कभी जलते ही नहीं; और न उन्हें जलाने की कोई आवश्यकता है। जब यह बात सिद्ध है, कि कर्म नामरूप है और नामरूप दृश्यसृष्टि है; तब यह समस्त दृश्यसृष्टि जलेगी कैसे? और कदाचित् जल भी जाय, तो सत्कार्यवाद के अनुसार सिर्फ़ यही होगा, कि उसका नामरूप बदल जायगा। नामरूपात्मक कर्म या माया हमेशा बदलती रहती है। इसलिये मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार नामरूपों में भले ही परिवर्तन कर ले। परन्तु इस बातको नहीं भूलना चाहिये, कि वह चाहे कितना ही ज्ञानी हो; परन्तु इस नामरूपात्मक कर्म या माया का समूल नाश कदापि नहीं कर सकता। यह काम केवल परमेश्वर से ही हो सकता है (वे. सू. ४. ४. १७)। हाँ; मूल में इन जड़ कर्मों में भलाई बुराई का जो बीज है ही नहीं; और जिसे मनुष्य उनमें अपनी ममत्वबुद्धि से उत्पन्न किया करता है, उसका नाश करना मनुष्य के हाथ में है; और उसे जो कुछ जलाना है, वह यही वस्तु है। सब प्राणियों के विषय में समबुद्धि रख कर अपने सब व्यापारों की इस ममत्वबुद्धि को जिसने जला (नष्ट कर) दिया है, वही धन्य है; वही कृत-कृत्य और मुक्त है। सब कुछ करते रहने पर भी उसके सब कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध समझे जाते हैं (गी. ४. १९; १८. ५६)। इस प्रकार कर्मों का दग्ध होना मन की निर्विषयता पर और ब्रह्मात्मैक्य के अनुभव पर ही सर्वथा अवलम्बित है। अतएव प्रगट है, कि जिस तरह आग कभी भी उत्पन्न हो; परन्तु वह दहन करने का अपना

धर्म नहीं छोड़ती; उसी तरह ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के होते ही कर्मक्षयरूप परिणाम के होने में कालावधि की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। ज्योंही ज्ञान हुआ, कि उसी क्षण कर्मक्षय हो जाता है। परन्तु अन्य सब कालों से मरणकाल इस सम्बन्ध में अधिक महत्त्व का माना जाता है। क्योंकि यह आयु के बिलकुल अन्त का काल है। और इसके पूर्व किसी एक काल में ब्रह्मज्ञान से अनारब्धसंचित का यदि क्षय हो गया हो, तो भी प्रारब्ध नष्ट नहीं होता। इसलिये यदि वह ब्रह्मज्ञान अन्त तक एक समान स्थिर न रहे, तो प्रारब्धकर्मानुसार मृत्यु के पहले जो जो अच्छे या बुरे कर्म होंगे, वे सब सकाम हो जावेंगे; और उनका फल भोगने के लिये फिर भी जन्म लेना ही पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं, कि जो पूरा जीवन्मुक्त हो जाता है, उसे यह भय कदापि नहीं रहता। परन्तु जब इस विषय का शास्त्रदृष्टि से विचार करना हो, तब इस बात का भी विचार अवश्य कर लेना पड़ता है, कि मृत्यु के पहले जो ब्रह्मज्ञान हो गया था, वह कदाचित् मरणकाल तक स्थिर न रह सके। इसीलिये शास्त्रकार मृत्यु से पहले के काल की अपेक्षा मरणकाल ही को विशेष महत्त्वपूर्ण मानते हैं। और यह कहते हैं, कि इस समय यानी मृत्यु के समय ब्रह्मात्मैक्यज्ञान का अनुभव अवश्य होना चाहिये; नहीं तो मोक्ष नहीं होगा। इसी अभिप्राय से उपनिषदों के आधार पर गीता में कहा गया है, कि "अन्तकाल में मेरा अनन्यभाव से स्मरण करने पर मनुष्य मुक्त होता है" (गी. ८. ५)। इस सिद्धान्त के अनुसार कहना पड़ता है, कि यदि कोई दुराचारी मनुष्य अपनी सारी आयु दुराचरण में व्यतीत करे; और केवल अन्त समय में ब्रह्मज्ञान हो जावे, तो वह भी मुक्त हो जाता है। इस पर कितनेही लोगों का कहना है, कि यह बात युक्तिसङ्गत नहीं है। परन्तु थोड़ा-सा विचार करने पर मालूम होगा, कि यह बात अनुचित नहीं कही जा सकती। यह बिलकुल सत्य और सयुक्तिक है। वस्तुतः यह सम्भव नहीं, कि जिसका सारा जन्म दुराचार में बीता हो, उसे केवल मृत्युसमय में ही ब्रह्मज्ञान हो जावे। अन्य सब बातों के समान ही ब्रह्मनिष्ठ होने के लिये मन को आदत डालनी पड़ती है। और जिसे इस जन्म में एक बार भी ब्रह्मात्मैक्यज्ञान का अनुभव नहीं हुआ है, उसे केवल मरणकाल में ही उसका एकदम ज्ञान हो जाना परम दुर्घट या असम्भव ही है। इसीलिये गीता का दूसरा महत्त्वपूर्ण कथन यह है, कि मन को विषयवासनारहित बनाने के लिये प्रत्येक मनुष्य को सदैव अभ्यास करते रहना चाहिये। जिसका फल यह होगा, कि अन्तकाल में भी यही स्थिति बनी रहेगी; और मुक्ति भी अवश्य हो जायगी (गी. ८.६,७ तथा २. ७२)। परन्तु शास्त्र की छानबीन करने के लिये मान लीजिये, कि पूर्व संस्कार आदि कारणों से किसी मनुष्य को केवल मृत्युसमय में ही ब्रह्मज्ञान हो गया। निस्संदेह ऐसा उदाहरण लाखों और करोड़ों मनुष्यों में एक-आध ही मिल सकेगा। परन्तु, चाहे ऐसा उदाहरण मिले या न मिले; इस विचार को एक ओर रख कर हमें यही देखना है, कि यदि ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाय, तो क्या होगा? ज्ञान चाहे मरण-काल में ही क्यों न हो; परन्तु इससे मनुष्य के अनारब्ध-संचित का क्षय होता ही है;

और इस जन्म के भोग से आरब्धसंचित का क्षय मृत्यु के समय हो जाता है। इसलिये उसे कुछ भी कर्म भोगना बाक़ी नहीं रह जाता है; और यही सिद्ध होता है, कि वह सब कर्मों से अर्थात् संसारचक्र से मुक्त हो जाता है । यही सिद्धान्त गीता के इस वाक्य में कहा गया है, कि " अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् " (गी. ९. ३०)--यदि कोई बड़ा दुराचारी मनुष्य भी परमेश्वर का अनन्य भाव से स्मरण करेगा, तो वह भी मुक्त हो जायगा; और यह सिद्धान्त संसार के अन्य सब धर्मों में भी ग्राह्य माना गया है । 'अनन्य भाव' का यही अर्थ है, कि परमेश्वर में मनुष्य की चित्तवृत्ति पूर्ण रीति से लीन हो जावे । स्मरण रहे, कि मुँह से तो 'राम राम' बड़बड़ाते रहें; और चित्तवृत्ति दूसरी ही ओर रहे; तो इसे अनन्य भाव नहीं कहेंगे । सारांश, परमेश्वरज्ञान की महिमा ही ऐसी है, कि ज्योंही ज्ञान की प्राप्ति हुई, त्योंही सब अनारब्धसंचित का एकदम क्षय हो जाता है । यह अवस्था कभी भी प्राप्त हो; सदैव इष्ट ही है । परन्तु इसके साथ एक आवश्यक बात यह है, कि मृत्यु के समय यह स्थिर बनी रहे; और यदि पहले प्राप्त न हुई हो, तो कम-से-कम मृत्यु के समय यह प्राप्त होवे । नहीं तो हमारे शास्त्रकारों के कथनानुसार मृत्यु के समय कुछ-न-कुछ वासना अवश्य ही बाक़ी रह जायगी, जिससे पुनः जन्म लेना पड़ेगा; और मोक्ष भी नहीं मिलेगा ।

इसका विचार हो चुका, कि कर्मबन्धन क्या है ? कर्मक्षय किसे कहते हैं ? वह कैसे और कब होता है ? अब प्रसंगानुसार इस बात का भी कुछ विचार किया जायगा कि जिनके कर्मफल नष्ट हो गये हैं, उनको और जिनके कर्मबन्धन नहीं छूटे हैं, उनको मृत्यु के अनन्तर वैदिक धर्म के अनुसार कौन-सी गति मिलती है ? इसके संबंध में उपनिषदों में बहुत चर्चा की गई है (छां. ४, १५; ५. १०; बृ. ६. २, २-१६; कौ. १. २-३); जिसकी एकवाक्यता वेदान्तसूत्र के अध्याय के तीसरे पाद में की गई है । परन्तु इस सब चर्चा को यहाँ बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है । हमें केवल उन्हीं दो मार्गों का विचार करना है, जो भगवद्गीता (८. २३-२७.) में कहे गये हैं । वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड, और कर्मकाण्ड, दो प्रसिद्ध भेद हैं । कर्मकाण्ड का मूल उद्देश यह है, कि सूर्य, अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र इत्यादि वैदिक देवताओं का यज्ञ द्वारा पूजन किया जावे। उनके प्रसाद से इस लोक में पुत्र-पौत्र आदि सन्तति तथा गौ, अश्व, धन, धान्य आदि संपत्ति प्राप्त कर ली जावे; और अन्त में मरने पर सद्-गति प्राप्त होवे । वर्तमान काल में यह यज्ञयाग आदि श्रौतधर्म प्रायः लुप्त हो गया है । इससे उक्त उद्देश को सिद्ध करने के लिये लोग देवभक्ति तथा दानधर्म आदि शास्त्रोक्त पुण्यकर्म किया करते हैं । ऋग्वेद से स्पष्टतया मालूम होता है, कि प्राचीन काल में लोग--न केवल स्वार्थ के लिये; बल्कि सब समाज के कल्याण के लिये भी-यज्ञ द्वारा ही देवताओं की आराधना किया करते थे । इस काम के लिये जिन इन्द्र आदि देवताओं की अनुकूलता का सम्पादन करना आवश्यक है, उनकी स्तुति से ही ऋग्वेद के सूक्त भरे पड़े हैं । और स्थल स्थल पर ऐसी प्रार्थना की गई है, कि " हे देव !

हमें सन्तति और समृद्धि दो"। "हमें शतायु करो"। "हमें, हमारे लड़कों-बच्चों को और हमारे वीर पुरुषों को तथा हमारे जानवरों को न मारो"*। ये याग-यज्ञ तीनों वेदों में विहित हैं। इसलिये इस मार्ग का पुराना नाम 'त्रयी धर्म' है। और ब्राह्मणग्रंथों में इन यज्ञों की विधियों का विस्तृत वर्णन किया गया है; परन्तु भिन्न भिन्न ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ करने की भिन्न भिन्न विधियाँ हैं। इससे आगे शंका होने लगी, कि कौन-सी विधि ग्राह्य है; तब इन परस्पर विरुद्ध वाक्यों की एकवाक्यता करने के लिये जैमिनी ने अर्थनिर्णायक नियमों का संग्रह किया। जैमिनि के इन नियमों को ही मीमांसासूत्र या पूर्वमीमांसा कहते हैं। और इसी कारण से प्राचीन कर्मकाण्ड को मीमांसक मार्ग नाम मिला तथा हमने भी इसी नाम का इस ग्रन्थ में कई बार उपयोग किया है। क्योंकि आजकल यही प्रचलित हो गया है। परन्तु स्मरण रहे, कि यद्यपि "मीमांसा" शब्द ही आगे चलकर प्रचलित हो गया है, तथापि यज्ञयाग का वह मार्ग बहुत प्राचीन काल से चलता आया है। यही कारण है, कि गीता में 'मीमांसा' शब्द कहीं भी नहीं आया है; किन्तु इसके बदले "त्रयी धर्म" (गी. ६. २०. २१) या 'त्रयी विद्या' नाम आये हैं। यज्ञयाग आदि श्रौत-कर्मप्रतिपादक ब्राह्मणग्रंथों के बाद आरण्यक और उपनिषद् बने। इनमें यह प्रति-पादन किया गया, कि यज्ञयाग आदि कर्म गौण हैं; और ब्रह्मज्ञान ही श्रेष्ठ है। इसलिये इनके धर्म को 'ज्ञानकाण्ड' कहते हैं। परन्तु भिन्न भिन्न उपनिषदों में भिन्न भिन्न विचार हैं। इसलिये उनकी भी एकवाक्यता करने की आवश्यकता हुई; और इस कार्य को बादरायणाचार्य ने अपने वेदान्तसूत्र में किया। इस ग्रन्थ को ब्रह्मसूत्र, शारीरसूत्र या उत्तरमीमांसा कहते हैं। इस प्रकार पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा, क्रम से--कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड--सम्बन्धी प्रधान ग्रन्थ हैं। वस्तुतः ये दोनों ग्रन्थ मूल में मीमांसा ही के हैं--अर्थात् वैदिक वचनों के अर्थ की चर्चा करने के लिये ही बनाये गये हैं। तथापि आजकल कर्मकाण्ड-प्रतिपादकों को केवल 'मीमांसक' और ज्ञान काण्ड-प्रतिपादकों को 'वेदान्ती' कहते हैं। कर्मकाण्डवालों का अर्थात् मीमांसकों का कहना है, कि श्रौतधर्म में चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोम प्रभृति यज्ञयाग आदि कर्म ही प्रधान हैं; और जो इन्हें करेगा, उसे ही वेदों के आज्ञानुसार मोक्ष प्राप्त होगा। इन यज्ञयाग आदि कर्मों को कोई भी छोड़ नहीं सकता। यदि छोड़ देगा, तो समझना चाहिये, कि वह श्रौतधर्म से वञ्चित हो गया। क्योंकि वैदिक यज्ञ की उत्पत्ति सृष्टि के साथ ही हुई है। और यह चक्र अनादि काल से चलता आया है, कि मनुष्य यज्ञ करके देवताओं को तृप्त करे; तथा मनुष्य की पर्जन्य आदि सब आवश्य-

---

* ये मंत्र अनेक स्थलों पर पाये जाते हैं; परन्तु उन सब को न दे कर यहाँ केवल एक ही मन्त्र बतलाना बस होगा, कि जो बहुत प्रचलित है। वह यह है--"मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे" (ऋ. १. ११४. ८)।

कताओं को देवगण पूरा करें। आजकल हमें इन विचारों का कुछ महत्त्व मालूम नहीं होता। क्योंकि यज्ञयागरूपी श्रौतधर्म अब प्रचलित नहीं है। परन्तु गीता-काल की स्थिति भिन्न थी। इसलिये भगवद्गीता (३. १६–२५) में भी यज्ञचक्र का महत्त्व ऊपर कहे अनुसार बतलाया गया है। तथापि गीता से यह स्पष्ट मालूम होता है, कि उस समय भी उपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान के कारण मोक्षदृष्टि से इन कर्मों को गौणता आ चुकी थी (गी. २. ४१–४६)। यही गौणता अहिंसाधर्म का प्रचार होने पर आगे अधिकाधिक बढ़ती गई। भागवतधर्म में स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है, कि यज्ञयाग वेदविहित हैं; तो भी उनके लिये पशुवध नहीं करना चाहिये। धान्य से ही यज्ञ करना चाहिये (देखो म. भा. शां. ३३६. १० और ३३७)। इस कारण (तथा कुछ अंशों में आगे जैनियों के भी ऐसे ही प्रयत्न करने के कारण) श्रौतयज्ञमार्ग की आजकल वह दशा हो गई है, कि काशी सरीखे बड़े बड़े धर्मक्षेत्रों में भी श्रौताग्निहोत्र पालन करनेवाले अग्निहोत्री बहुत ही थोड़े दीख पड़ते हैं; और ज्योतिष्टोम आदि पशुयज्ञों का होना तो दस बीस वर्षों में कभी कभी सुन पड़ता है। तथापि श्रौतधर्म ही सब वैदिक धर्मों का मूल है; और इसीलिये उसके विषय में इस समय भी कुछ आदरबुद्धि पाई जाती है। और जैमिनी के सूत्र अर्थनिर्णायकशास्त्र के तौर पर प्रमाण माने जाते हैं। यद्यपि श्रौत-यज्ञयाग आदि धर्म इस प्रकार शिथिल हो गया, तो भी मन्वादि स्मृतियों में वर्णित दूसरे यज्ञ––जिन्हें पञ्चमहायज्ञ कहते हैं––अब तक प्रचलित हैं। और इनके सम्बन्ध में भी श्रौतयज्ञ-यागचक्र आदि के ही उक्त न्याय का उपयोग होता है। उदाहरणार्थ, मनु आदि स्मृतिकारों ने पाँच अहिंसात्मक तथा नित्य गृहयज्ञ बतलाये हैं। जैसे वेदाध्ययन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, बलि भूतयज्ञ है और अतिथिसन्तर्पण मनुष्ययज्ञ है; तथा गार्हस्थ्यधर्म में यह कहा है, कि इन पाँच यज्ञों के द्वारा क्रमानुसार ऋषियों, पितरों, देवताओं, प्राणियों तथा मनुष्यों को पहले तृप्त करके फिर किसी गृहस्थ को स्वयं भोजन करना चाहिये (मनु. ३. ६८–१२३)। इन यज्ञों के कर लेने पर जो अन्न बच जाता है, उसको "अमृत" कहते हैं; और पहले सब मनुष्यों के भोजन कर लेने पर जो अन्न बचे उसे 'विघस' कहते हैं (म. ३. २८५)। यह 'अमृत' और 'विघस' अन्न ही गृहस्थ के लिये विहित एवं श्रेयस्कर है। ऐसा न करके जो कोई सिर्फ़ अपने पेट के लिये ही भोजन पका कर खावे, तो वह अघ अर्थात् पाप का भक्षण करता है। और उसे क्या मनुस्मृति, क्या ऋग्वेद और गीता; सभी ग्रन्थों में 'अघाशी' कहा गया है (ऋ. १०. ११७. ६; मनु. ३. ११८; गी. ३. १३)। इन स्मार्त पञ्चमहायज्ञों के सिवा दान, सत्य, दया, अहिंसा आदि सर्वभूतहितप्रद अन्य धर्म भी उपनिषदों तथा स्मृतिग्रन्थों में गृहस्थ के लिये विहित माने गये हैं (तै. १. ११)। और उन्हीं में स्पष्ट उल्लेख किया गया है, कि कुटुम्ब की वृद्धि करके वंश को स्थिर रखो––"प्रजातंतुं मा व्यवच्छेत्सीः"। ये सब कर्म एक प्रकार के यज्ञ ही माने

जाते हैं; और इन्हें करने का कारण तैत्तिरीय संहिता में यह बतलाया गया है, कि जन्म से ही ब्राह्मण अपने ऊपर तीन प्रकार के ऋण ले आता है--एक ऋषियों का, दूसरा देवताओं का और तीसरा पितरों का । इनमें से ऋषियों का ऋण वेदाभ्यास से, देवताओं का यज्ञ से और पितरों का पुत्रोत्पत्ति से चुकाना चाहिये । नहीं तो उसकी अच्छी गति न होगी (तै. सं. ६. ३. १०. ५) । महाभारत (आ. १३) में एक कथा है, कि जरत्कारु ऐसा न करते हुए विवाह करने के पहले ही उग्र तपश्चर्या करने लगा; तब संतानक्षय के कारण उसके यायावर नामक पितर आकाश में लटकते हुए उसे दीख पड़े; और फिर उनकी आज्ञा से उसने अपना विवाह किया । यह भी कुछ बात नहीं है, कि इन सब कर्मों या यज्ञों को केवल ब्राह्मण ही करें । वैदिक यज्ञों को छोड़ अन्य सब कर्म यथाधिकार स्त्रियों और शूद्रों के लिये भी विहित हैं । इसलिये स्मृतियों में कही गई चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के अनुसार जो कर्म किये जायँ, वे सब यज्ञ ही हैं। उदाहरणार्थ, क्षत्रियों का युद्ध करना भी एक यज्ञ है; और इस प्रकरण में यज्ञ का यही व्यापक अर्थ विवक्षित है । मनु ने कहा है, कि जो जिसके लिये विहित है, वही उसके लिये तप है (११. २३६); और महाभारत में भी कहा है कि :--

आरम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः ।
परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजातयः ॥

"आरम्भ (उद्योग), हवि, सेवा और जप ये चार यज्ञ क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्राह्मण इन चार वर्णों के लिये यथानुक्रम विहित हैं (म. भा. शां. २३७. १२) । सारांश, इस सृष्टि के सब मनुष्यों को यज्ञ ही के लिये ब्रह्मदेव ने उत्पन्न किया है (म. भा. अनु. ४८. ३; और गीता ३. १०; ४. ३२) । फलतः चातुर्वर्ण्य आदि सब शास्त्रोक्त कर्म एक प्रकार के यज्ञ ही हैं । और यदि प्रत्येक मनुष्य अपने अपने अधिकार के अनुसार इन शास्त्रोक्त कर्मों या यज्ञों को--धंधे, व्यवसाय या कर्तव्य-व्यवहार को--न करे, तो समूचे समाज की हानि होगी । और सम्भव है, कि अन्त में उसका नाश भी हो जावे । इसलिये ऐसे व्यापक अर्थ से सिद्ध होता है, कि लोकसंग्रह के लिये यज्ञ की सदैव आवश्यकता होती है ।

अब यह प्रश्न उठता है, कि यदि वेद और चातुर्वर्ण्य आदि स्मार्तव्यवस्था के अनुसार गृहस्थों के लिये वही यज्ञप्रधानवृत्ति विहित मानी गई है, कि जो केवल कर्ममय है । तो क्या इन सांसारिक कर्मों को धर्मशास्त्र के अनुसार यथाविधि (अर्थात् नीति से और धर्म के आज्ञानुसार) करते रहने से ही कोई मनुष्य

---

* तैत्तिरीय संहिता का वचन है :-- "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासीति"।

जन्म मरण के चक्कर से मुक्त हो जायगा ? और यदि कहा जाय, कि वह मुक्त हो जाता है; तो फिर ज्ञान की बढ़ाई और योग्यता ही क्या रही ? ज्ञानकाण्ड अर्थात् उपनिषदों का साफ़ यही कहना है, कि जब तक ब्रह्मात्मैक्यज्ञान हो कर कर्म के विषय में विरक्ति न हो जाय, तब तक नामरूपात्मक माया से या जन्ममरण के चक्कर से छुटकारा नहीं मिल सकता। और श्रौतस्मार्तधर्म को देखो; तो यही मालूम पडता है, कि प्रत्येक मनुष्य का गार्हस्थ्यधर्म कर्मप्रधान या व्यापक अर्थ में यज्ञमय है। इसके अतिरिक्त वेदों का भी कथन है, कि यज्ञार्थ किये गये कर्म बन्धक नहीं होते; और यज्ञ से ही स्वर्गप्राप्ति होती है। स्वर्ग की चर्चा छोड़ दी जाय; तो भी हम देखते हैं, कि ब्रह्मदेव ही ने यह नियम बना दिया है, कि इन्द्र आदि देवताओं के सन्तुष्ट हुए बिना वर्षा नहीं होती; और यज्ञ के बिना देवतागण भी सन्तुष्ट नहीं होते। ऐसी अवस्था में यज्ञ अर्थात् कर्म किये बिना मनुष्य की भलाई कैसे होगी ? इस लोक के क्रम के विषय में मनुस्मृति, महाभारत, उपनिषद् तथा गीता में भी कहा है कि :—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

"यज्ञ में हवन किये गये सब द्रव्य अग्नि द्वारा सूर्य को पहुँचते हैं; और सूर्य से पर्जन्य और पर्जन्य से अन्न तथा अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है" (मनु. ३. ७६; म. भा. शां. २६२. ११; मैत्र्यु. ६. ३७; गी. ३. १४)। और जब कि ये यज्ञ कर्म के द्वारा ही होते हैं, तब कर्म को छोड़ देने से काम कैसे चलेगा ? यज्ञमय कर्मों को छोड़ देने से संसार का चक्र बन्द हो जायगा; और किसी को खाने को भी नहीं मिलेगा। इस पर भागवतधर्म तथा गीताशास्त्र का उत्तर यह है, कि यज्ञयाग आदि वैदिक कर्मों को या अन्य किसी भी स्मार्त तथा व्यावहारिक यज्ञमय कर्म को छोड़ देने का उपदेश हम नहीं करते। हम तो तुम्हारे ही समान यह भी कहने को तैयार हैं, कि जो यज्ञचक्र पूर्वकाल से बराबर चलता आया है, उसके बंद हो जाने से संसार का नाश हो जायगा। इसलिये हमारा यही सिद्धान्त है, कि इस कर्ममय यज्ञ को कभी नहीं छोड़ना चाहिये (म. भा. शां. ३४०; गी. ३. १६)। परन्तु ज्ञानकाण्ड में अर्थात् उपनिषदों ही में स्पष्टरूप से कहा गया है, कि ज्ञान और वैराग्य से कर्मक्षय हुए बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। इसलिये इन दोनों सिद्धान्तों का मेल करके हमारा अन्तिम कथन यह है, कि सब कर्मों को ज्ञान से अर्थात् फलाशा छोड़ कर निष्काम या विरक्तबुद्धि से करते रहना चाहिये (गी. ३. १७. १९)। यदि तुम स्वर्गफल की काम्यबुद्धि मन में रख कर ज्योतिष्टोम आदि यज्ञयाग करोगे, तो वेद में कहे अनुसार स्वर्गफल तुम्हें निस्सन्देह मिलेगा। क्योंकि वेदाज्ञा कभी भी झूठ नहीं हो सकती। परन्तु स्वर्गफल नित्य अर्थात् हमेशा टिकनेवाला नहीं है। इसीलिये कहा गया है (बृ. ४. ४. ६; वे. सू. ३. १. ८; म. भा. वन. २६०. ३९)—

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् ।
तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे ॥ *

इस लोक में जो यज्ञयाग आदि पुण्यकर्म किये जाते हैं, उनका फल स्वर्गीय उपभोग से समाप्त हो जाता है; और तब यज्ञ करनेवाले कर्मकाण्डी मनुष्य को स्वर्गलोक से इस कर्मलोक अर्थात् भूलोक में फिर भी आना पड़ता है। छांदोग्योपनिषद् (५. १०. ३--६) में तो स्वर्ग से नीचे आने का मार्ग भी बतलाया गया है। भगवद्गीता में "कामात्मानः स्वर्गपराः" तथा "त्रैगुण्यविषया वेदाः" (गी. २. ४३, ४५) इस प्रकार कुछ गौणत्वसूचक जो वर्णन किया गया है, वह इन्हीं कर्मकाण्डी लोगों को लक्ष्य करके कहा गया है। और नौवें अध्याय में फिर भी स्पष्टतया कहा गया है, कि "गतागतं कामकामा लभन्ते।" (गी. ९. २१)--उन्हें स्वर्गलोक और इस लोक में बार बार आना जाना पड़ता है। यह आवागमन ज्ञानप्राप्ति के बिना रुक नहीं सकता। जब तक यह रुक नहीं सकता, तब तक आत्मा को सच्चा समाधान, पूर्णावस्था तथा मोक्ष भी नहीं मिल सकता। इसलिये गीता के समस्त उपदेश का सार यही है, कि यज्ञयाग आदि की कौन कहे? चातुर्वर्ण्य के सब कर्मों को भी तुम ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से तथा साम्यबुद्धि से आसक्ति छोड़ कर करते रहो--बस; इस प्रकार कर्मचक्र को जारी रख कर भी तुम मुक्त ही बने रहोगे (गी. १८. ५, ६)। किसी देवता के नाम से तिल, चावल या किसी पशु को "इदं अमुक देवतायै न मम" कह कर अग्नि में हवन कर देने से ही कुछ यज्ञ नहीं हो जाता। प्रत्यक्ष पशु को मारने की अपेक्षा प्रत्येक मनुष्य के शरीर में काम-क्रोध आदि जो अनेक पशुवृत्तियाँ हैं, उनका साम्यबुद्धिरूप संयमाग्नि में होम करना ही अधिक श्रेयस्कर यज्ञ है (गी. ४. ३३)। इसी अभिप्राय से गीता में तथा नारायणीय धर्म में भगवान् ने कहा है, कि "मैं यज्ञों में जपयज्ञ" अर्थात् श्रेष्ठ हूँ (गी. १०. २५, म. भा. शां. ३. ३७)। मनुस्मृति (२. ८७) में भी कहा गया है, कि ब्राह्मण और कुछ करे या न करे; परन्तु वह केवल जप से ही सिद्धि पा सकता है। अग्नि में आहुति डालते समय 'न मम' (यह वस्तु मेरी नहीं है) कह कर उस वस्तु से अपनी ममत्वबुद्धि का त्याग दिखलाया जाता है--यही यज्ञ का मुख्य तत्त्व है; और दान आदिक कर्मों का भी यही बीज है। इसलिये इन कर्मों की योग्यता भी यज्ञ के बराबर है। अधिक क्या कहा जाय? जिनमें अपना तनिक भी स्वार्थ नहीं है, ऐसे कर्मों को शुद्धबुद्धि से करने पर वे यज्ञ ही कहे जा सकते हैं। यज्ञ की इस व्याख्या को स्वीकार करने पर जो कुछ कर्म निष्काम बुद्धि से किये जायँ, वे सब एक महायज्ञ ही होंगे। और द्रव्यमय यज्ञ को लागू होने-

* इस मंत्र के दूसरे चरण को पढ़ते समय 'पुनरेति' और 'अस्मै' ऐसा पदच्छेद करके पढ़ना चाहिये। तब इस चरण में अक्षरों की कमी नहीं मालूम होगी। वैदिक ग्रन्थों को पढ़ते समय ऐसा बहुधा करना पड़ता है।

वाला मीमांसकों का यह न्याय, कि ' यथार्थ किये गये कोई भी कर्म बंधक नहीं होते,' उन सब निष्काम कर्मों के लिये भी उपयोगी हो जाता है । इन कर्मों को करते समय फलाशा भी छोड़ दी जाती है । जिसके कारण स्वर्ग का आना-जाना भी छूट जाता है; और इन कर्मों को करने पर भी अन्त में मोक्षरूपी सद्गति मिल जाती है (गी. ३. ९) । सारांश यह है, कि संसार यज्ञमय या कर्ममय है सही; परन्तु कर्म करनेवालों के दो वर्ग होते हैं । पहले वे जो शास्त्रोक्त रीति से, पर फलाशा रख कर कर्म किया करते हैं (कर्मकांडी लोग); और दूसरे वे जो निष्काम बुद्धि से--केवल कर्तव्य समझ कर--कर्म किया करते हैं (ज्ञानी लोग) । इस सम्बन्ध में गीता का यह सिद्धान्त है, कि कर्मकाण्डियों को स्वर्गप्राप्तिरूप अनित्य फल मिलता है; और ज्ञान से अर्थात् निष्कामबुद्धि से कर्म करनेवाले ज्ञानी पुरुषों को मोक्षरूपी नित्य फल मिलता है । मोक्ष के लिये कर्मों का छोड़ना गीता में कहीं भी नहीं बतलाया गया है । इसके विपरीत अठारहवें अध्याय के आरम्भ में स्पष्टतया बतला दिया है, कि " त्याग = छोड़ना " शब्द से गीता में कर्मत्याग कभी भी नहीं समझना चाहिये; किन्तु उसका अर्थ ' फलत्याग ' ही सर्वत्र विवक्षित है ।

इस प्रकार कर्मकाण्डियों और कर्मयोगियों को भिन्न भिन्न फल मिलते हैं । इस कारण प्रत्येक को मृत्यु के बाद भिन्न भिन्न लोकों में भिन्न भिन्न मार्गों से जाना पड़ता है । इन्हीं मार्गों को क्रम से ' पितृयाण ' और ' देवयान ' कहते हैं (शां. १७. १५. १६); और उपनिषदों के आधार से गीता के आठवें अध्याय में इन्हीं दोनों मार्गों का वर्णन किया गया है । वह मनुष्य, जिसको ज्ञान हो गया है--और यह ज्ञान कम-से-कम अन्तकाल में तो अवश्य ही हो गया हो (गी. २. ७२)--देहपात होने के अनन्तर और चिता में शरीर जल जाने पर उस अग्नि से ज्योति (ज्वाला), दिवस, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीने में प्रयाण करता हुआ ब्रह्मपद को जा पहुँचता है; तथा वहाँ उसे मोक्ष प्राप्त होता है । इसके कारण वह पुनः जन्म ले कर मृत्युलोक में फिर नहीं लौटता । परन्तु जो केवल कर्मकाण्डी है; अर्थात् जिसे ज्ञान नहीं है, वह उसी अग्नि से धुआँ, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः महीने, इस क्रम से प्रयाण करता हुआ चन्द्रलोक को पहुँचता है; और अपने किये हुए सब पुण्यकर्मों को भोग करके फिर इस लोक में जन्म लेता है । इन दोनों मार्गों में यही भेद है (गी. ८. २३-२७) । ' ज्योति ' (ज्वाला) शब्द के बदले उपनिषदों में ' अर्चि ' (ज्वाला ') शब्द का प्रयोग किया गया है । इससे पहले मार्ग को ' अर्चिरादि ' और दूसरे को ' धूम्रादि ' मार्ग भी कहते हैं । हमारा उत्तरायण उत्तर ध्रुवस्थल में रहनेवाले देवताओं का दिन है । और हमारा दक्षिणायन उनकी रात्रि है । इस परिभाषा पर ध्यान देने से मालूम हो जाता है, कि इन दोनों मार्गों में से पहला अर्चिरादि (ज्योतिरादि) मार्ग आरम्भ से अन्त तक प्रकाशमय है; और दूसरा धूम्रादि मार्ग अन्धकारमय है । ज्ञान प्रकाशमय है; और परब्रह्म " ज्योतिषां ज्योतिः " (गी. १३. १७)--तेजों का तेज है । इस कारण देहपात

होने के अनन्तर, ज्ञानी पुरुषों के मार्ग का प्रकाशमय होना उचित ही है । और गीता में उन दोनों मार्गों को 'शुक्ल' और 'कृष्ण' इसीलिये कहा है, कि उनका भी अर्थ प्रकाशमय और अन्धकारमय है । गीता में उत्तरायण के बाद के सोपानों का वर्णन नहीं है । परन्तु यास्क के निरुक्त में उदगयन के बाद देवलोक, सूर्य, वैद्युत और मानस पुरुष का वर्णन है (निरुक्त. १४. ९) । और उपनिषदों में देवयान के विषय में जो वर्णन हैं, उनकी एकवाक्यता करके वेदान्तसूत्र में यह क्रम दिया है, कि उत्तरायण के बाद संवत्सर, वायुलोक, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक और अन्त में ब्रह्मलोक है (बृ. ५, १०; ६. २. १५; छां. ५ १०; कौषी. १. ३; वे. सू. ४. ३. १–६) ।

देवयान और पितृयाण मार्गों के सोपानों या मुक़ामों का वर्णन हो चुका। परन्तु इनमें जो दिवस , शुक्लपक्ष, उत्तरायण इत्यादि के वर्णन हैं, उनका सामान्य अर्थ कालवाचक होता है । इसलिये स्वाभाविक ही यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि क्या देवयान और पितृयाण मार्गों का काल से कुछ सम्बन्ध है ? अथवा पहले कभी था या नहीं ? यद्यपि दिवस, रात्रि, शुक्लपक्ष इत्यादि शब्दों का अर्थ कालवाचक है; तथापि अग्नि, ज्वाला, वायुलोक, विद्युत् आदि जो अन्य सोपान हैं, उनका अर्थ कालवाचक नहीं हो सकता । और यदि यह कहा जाय, कि ज्ञानी पुरुष को दिन अथवा रात के समय मरने पर भिन्न भिन्न गति मिलती है; तब तो ज्ञान का कुछ महत्त्व ही नहीं रह जाता । इसलिये अग्नि, दिवस, उत्तरायण इत्यादि सभी शब्दों को कालवाचक न मान कर वेदान्तसूत्र में यह सिद्धान्त किया गया है, कि ये शब्द इनके अभिमानी देवताओं के लिये कल्पित किये गये हैं, जो ज्ञानी और कर्मकाण्डी पुरुषों के आत्मा को भिन्न भिन्न मार्गों से ब्रह्मलोक और चन्द्रलोक में ले जाते हैं (वे. सू. ४. २. १९–२१; ४. ३. ४) । परन्तु इस में सन्देह है, कि भगवद्गीता को यह मत मान्य है या नहीं । क्योंकि उत्तरायण के बाद सोपानों का––कि जो कालवाचक नहीं हैं––गीता में वर्णन नहीं है । इतना ही नहीं; बल्कि इन मार्गों को बतलाने के पहले भगवान् ने काल का स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया है, कि " मैं तुझे वह काल बतलाता हूँ, कि जिस काल में मरने पर कर्मयोगी लौट कर आता है, या नहीं आता है " (गी. ८. २३) । और महाभारत में भी यह वर्णन पाया जाता है, कि जब भीष्म पितामह शरशय्या में पड़े थे; तब वे शरीरत्याग करने के लिये उत्तरायण की––अर्थात् सूर्य के उत्तर की ओर मुड़ने की––प्रतीक्षा कर रहे थे (भी. १२०; अनु. १६७) । इससे विदित होता है, कि दिवस , शुक्लपक्ष और उत्तरायणकाल ही मृत्यु होने के लिये कभी-न-कभी प्रशस्त माने जाते थे । ऋग्वेद (१०. ८८. १५ और बृ. ६. २. १५) में भी देवयान और पितृयाण मार्गों का जहाँ पर वर्णन है, वहाँ कालवाचक अर्थ ही विवक्षित है । इससे तथा अन्य अनेक प्रमाणों से हमने यह निश्चय किया है, कि उत्तर गोलार्ध के जिस स्थान में सूर्य क्षितिज पर छः महीने तक हमेशा दीख पड़ता है, उस स्थान में अर्थात् उत्तर ध्रुव के पास या मेरुस्थान में

जब पहले वैदिक ऋषियों की बस्ती थी, तब ही से छः महीने का उत्तरायण-रूपी प्रकाशकाल मृत्यु होने के लिये प्रशस्त माना गया होगा । इस विषय का विस्तृत विवेचन हमने अपने दूसरे ग्रन्थ में किया है । कारण चाहे कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि यह समझ बहुत प्राचीन काल से चली आती है; और यही समझ देवयान तथा पितृयाण मार्गों में प्रगट न हो तो पर्यायसे ही--अन्तर्भूत हो गई है। अधिक क्या कहें, हमें तो ऐसा मालूम होता है कि इन दोनों मार्गों का मूल इस प्राचीन समझ में ही है । यदि ऐसा न मानें तो गीता में देवयान और पितृयाण को लक्ष्य करके जो एक बार 'काल' (गी. ८. २३) और दूसरी बार 'गति' या 'सृति' अर्थात् मार्ग (गी. ८. २६, २७) कहा है, यानी इन दो भिन्न भिन्न अर्थों के शब्दों का जो उपयोग किया गया है, उसकी कुछ उपपत्ति नहीं लगाई जा सकती । वेदान्त-सूत्र के शाङ्करभाष्य में देवयान और पितृयाण का कालवाचक अर्थ स्मार्त है जो कर्मयोग ही के लिये उपयुक्त होता है, और यह भेद करके, कि सच्चा ब्रह्मज्ञानी उपनिषदों में वर्णित श्रौत मार्ग से, अर्थात् देवताप्रयुक्त प्रकाशमय मार्ग से, ब्रह्म-लोक को जाता है; 'कालवाचक' तथा 'देवतावाचक' अर्थों की व्यवस्था की गई है (वे. सू. शां. भा. ४. २. १८-२१) । परन्तु मूल सूत्रों को देखने से ज्ञात होता है, कि काल की आवश्यकता न रख उत्तरायणादि शब्दों से देवताओं को कल्पित कर देवयान का जो देवतावाचक अर्थ बादरायणाचार्य ने निश्चित किया है, वही उनके मतानुसार सर्वत्र अभिप्रेत होगा; और यह मानना भी उचित नहीं है, कि गीता में वर्णित मार्ग उपनिषदों की इस देवयान गति को छोड़ कर स्वतन्त्र हो सकता है । परन्तु यहाँ इतने गहरे पानी में पैठने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यद्यपि इस विषय में मतभेद हो कि देवयान और पितृयाण के दिवस, रात्रि, उत्तरायण आदि शब्द ऐतिहासिक दृष्टि से मूलारम्भ में कालवाचक थे या नहीं; तथापि यह बात निर्विवाद है, कि आगे यह कालवाचक अर्थ छोड़ दिया गया । अन्त में इन दोनों पदों का यही अर्थ निश्चित तथा रूढ़ हो गया है, कि--काल की अपेक्षा न रख चाहे कोई किसी समय मरे–यदि वह ज्ञानी हो तो अपने कर्मानुसार प्रकाशमय मार्ग से, और केवल कर्मकांडी हो तो अन्धकारमय मार्ग से परलोक को जाता है । चाहे फिर दिवस और उत्तरायण आदि शब्दों से बादरायणाचार्य के कथनानुसार देवता समझिये, या उनके लक्षण से प्रकाशमय मार्ग के क्रमशः बढ़ते हुए सोपान समझिये; परन्तु इससे इस सिद्धान्त में कुछ भेद नहीं होता कि यहाँ देवयान और पितृयाण शब्दों का रूढ़ार्थ मार्गवाचक है ।

परन्तु क्या देवयान और क्या पितृयाण, दोनों मार्ग शास्त्रोक्त अर्थात् पुण्यकर्म करनवाले को ही प्राप्त हुआ करते हैं; क्योंकि पितृयाण यद्यपि देवयान से नीचे की श्रेणी का मार्ग है, तथापि वह भी चन्द्रलोक को अर्थात् एक प्रकार के स्वर्गलोक ही को पहुँचानेवाला मार्ग है । इसलिये प्रगट है, कि वहाँ सुख भोगने की पात्रता होने के लिये इस लोक में कुछ न कुछ शास्त्रोक्त पुण्यकर्म अवश्य ही करना पड़ता

हैं (गी. ६. २०, २१)। जो लोग थोड़ा भी शास्त्रोक्त पुण्यकर्म न करके संसार में अपना समस्त जीवन पापाचरण में बिता देते हैं, वे इन दोनों में से किसी भी मार्ग से नहीं जा सकते। इनके विषय में उपनिषदों में कहा गया है कि ये लोग मरने पर एकदम पशु-पक्षी आदि तिर्यक्-योनि में जन्म लेते हैं और बारंबार यमलोक अर्थात नरक में जाते हैं। इसी को 'तीसरा' मार्ग कहते हैं (छां. ५. १०. ८; कठ. २. ६, ७); और भगवद्गीता में भी कहा गया है कि निपट पापी अर्थात् आसुरी पुरुषों को यही नित्य-गति प्राप्त होती है (गी. १६. १९–२१; ९. १२; वे.सू. ३. १. १२, १३; निरुक्त १४. ९.)।

ऊपर इस बात का विवेचन किया गया है कि मरने पर मनुष्य को उसके कर्मानुरूप वैदिक धर्म के प्राचीन परम्परानुसार तीन प्रकार की गति किस क्रम से प्राप्त होती है। उनमें से केवल देवयान मार्ग ही मोक्ष-दायक है; परन्तु यह मोक्ष क्रम-क्रम से अर्थात् अर्चिरादि (एक के बाद एक, ऐसे कई सोपानों) से जाते जाते अन्त में मिलता है। इसलिये इस मार्ग को 'क्रममुक्ति' कहते हैं, और देहपात होने के अनन्तर अर्थात् मृत्यु के अनन्तर ब्रह्मलोक में जाने से वहाँ अन्त में मुक्ति मिलती है, इसी लिये इसे 'विदेह-मुक्ति' भी कहते हैं। परन्तु इन सब बातों के अतिरिक्त शुद्ध अध्यात्मशास्त्र का यह भी कथन है, कि जिसके मन में ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का पूर्ण साक्षात्कार नित्य जागृत है, उसे ब्रह्मप्राप्ति के लिये कहीं दूसरी जगह क्यों जाना पड़ेगा? अथवा उसे मत्यु-काल की भी बाँट क्यों जोहनी पड़ेगी? यह बात सच है, कि उपासना के लिये स्वीकृत किये गये सूर्यादि प्रतीकों की अर्थात् सगुण ब्रह्म की उपासना से जो ब्रह्मज्ञान होता है वह पहले पहल कुछ अपूर्ण रहता है; क्योंकि इससे मन में सूर्यलोक या ब्रह्मलोक इत्यादि की कल्पनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और वे ही मरण-समय में भी मन में न्यूनाधिक परिमाण से बनी रहती हैं। अतएव इस अपूर्णता को दूर करके मोक्ष की प्राप्ति के लिये ऐसे लोगों को देवयान मार्ग से ही जाना पड़ता है (वे. सू. ४. ३१५)। क्योंकि अध्यात्मशास्त्र का यह अटल सिद्धान्त है कि मरण-समय में जिसकी जैसी भावना या क्रतु हो उसे वैसी ही 'गति' मिलती है (छां. ३. १४. १); परन्तु सगुण उपासना या अन्य किसी कारण से जिसके मन में अपने आत्मा और ब्रह्म के बीच कुछ भी परदा या द्वैतभाव (तै. २. ७) शेष नहीं रह जाता, वह सदैव ब्रह्म-रूप ही है। अतएव प्रगट है, कि ऐसे पुरुष को ब्रह्म-प्राप्ति के लिये किसी दूसरे स्थान में जाने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी लिये बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा है, कि जो पुरुष शुद्ध ब्रह्मज्ञान से पूर्ण निष्काम हो गया हो—"न तस्य प्राण उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"—उसके प्राण दूसरे किसी स्थान में नहीं जाते; किन्तु वह नित्य ब्रह्मभूत है और ब्रह्म में ही लय पाता है (बृ. ४. ४. ६); और बृहदारण्यक तथा कठ, दोनों उपनिषदों में कहा गया है, कि ऐसा पुरुष "अत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठ. ६. १४.)—यहीं का यहीं ब्रह्म का अनुभव करता है। इन्हीं

श्रुतियों के आधार पर शिवगीता में भी कहा, गया है, कि मोक्ष के लिये स्थानान्तर करने की आवश्यकता नहीं होती। ब्रह्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है, कि जो अमुक स्थान में हो और अमुक स्थान में न हो (छां. ७. २५; मुं. २. २. ११)। तो फिर पूर्ण ज्ञानी पुरुष को पूर्ण ब्रह्म-प्राप्ति के लिये उत्तरायण, सूर्यलोक आदि मार्ग से जाने की आवश्यकता ही क्यों होनी चाहिये? "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुं. ३. २. ९)--जिसने ब्रह्मस्वरूप को पहचान लिया, वह तो स्वयं यहीं का यहीं--इस लोक में ही--ब्रह्म हो गया। किसी एक का दूसरे के पास जाना तभी हो सकता है जब 'एक' और 'दूसरा' ऐसा स्थलकृत या कालकृत भेद शेष हो; और यह भेद तो अन्तिम स्थिति में अर्थात् अद्वैत तथा श्रेष्ठ ब्रह्मानुभव में रह ही नहीं सकता। इसलिये जिसके मन की ऐसी नित्य स्थिति हो चुकी है, कि "यस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्" (बृ. २. ४. १४), या "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छां. ३. १४. १), अथवा मैं ही ब्रह्म हूँ--"अहं ब्रह्मास्मि" (बृ. १. ४, १०), उसे ब्रह्मप्राप्ति के लिये और किस जगह जाना पड़ेगा? वह तो नित्य ब्रह्मभूत ही रहता है। पिछले प्रकरण के अन्त में जैसा हमने कहा है वैसा ही गीता में परम ज्ञानी पुरुषों का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि "अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनां" (गी. ५. २६)--जिसने द्वैत भाव को छोड़ कर आत्मस्वरूप को जान लिया है उसे चाहे प्रारब्ध-कर्म-क्षय के लिये देहपात होने की राह देखनी पड़े, तो भी उसे मोक्ष-प्राप्ति के लिये कहीं भी नहीं जाना पड़ता; क्योंकि ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष तो उसके सामने हाथ जोड़े खड़ा रहता है। अथवा "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः" (गी. ५. १९)।--जिसके मन में सर्व भूतान्तर्गत ब्रह्मात्म्यैक्यरूपी साम्य प्रतिबिम्बित हो गया है; वह (देवयान मार्ग की अपेक्षा न रख) यहीं का यहीं जन्म-मरण को जीत लेता है। अथवा "भूतपृथग्भावमेकस्थ मनुपश्यति"--जिसकी ज्ञानदृष्टि में समस्त प्राणियों की भिन्नता का नाश हो चुका और जिसे वे सब एकस्थ अर्थात् परमेश्वर-स्वरूप दीखने लगते हैं, वह "ब्रह्म सम्पद्यते"--ब्रह्म में मिल जाता है (गी. १३. ३०)। गीता का जो वचन ऊपर दिया गया है, कि "देवयान और पितृयाण मार्गों को तत्त्वतः जाननेवाला कर्मयोगी मोह को प्राप्त नहीं होता" (गी. ८. २१); उसमें भी तत्त्वतः जाननेवाला" पद का अर्थ "परमावधि के ब्रह्मस्वरूप को पहचाननेवाला" ही विवक्षित है (देखो भागवत. ७. १५.५६)। यही पूर्ण ब्रह्मभूत या परमावधि की ब्राह्मी स्थिति है; और श्रीमच्छंकराचार्य ने अपने शारीरक भाष्य (वे. सू. ४.३.१४) में प्रतिपादन किया है, कि यही अध्यात्म-ज्ञान की अत्यन्त पूर्णावस्था या पराकाष्ठा है। यदि कहा जाय, कि ऐसी स्थिति प्राप्त होने के लिये मनुष्य को एक प्रकार से परमेश्वर ही हो जाना पड़ता है; तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। फिर कहने की आवश्यकता नहीं, कि इस रीति से जो पुरुष ब्रह्मभूत हो जाते हैं; वे कर्मसृष्टि के सब विधि-निषेधों की अवस्था से भी

परे रहते हैं; क्योंकि उनका ब्रह्मज्ञान सदैव जागृत रहता है। इसलिये जो कुछ वे किया करते हैं, वह हमेशा शुद्ध और निष्काम बुद्धि से ही प्रेरित हो कर पाप-पुण्य से अलिप्त रहता है । इस स्थिति की प्राप्ति हो जाने पर ब्रह्म प्राप्ति के लिये किसी अन्य स्थान में जाने की, अथवा देहपात होने की, अर्थात् मरने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती; इसलिये ऐसे स्थितप्रज्ञ ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को "जीवन्मुक्त" कहते हैं (यो. ३. ९) । यद्यपि बौद्ध-धर्म के लोग ब्रह्म या आत्मा को नहीं मानते; तथापि उन्हें यह बात पूर्णतया मान्य है, कि मनुष्य का परम साध्य जीवन्मुक्त की यह निष्काम अवस्था ही है; और इसी तत्त्व का संग्रह उन्होंने कुछ शब्दभेद से अपने धर्म में किया है (परिशिष्ट प्रकरण देखो) । कुछ लोगों का कथन है कि पराकाष्ठा के निष्कामत्व की इस अवस्था में और सांसारिक कर्मों में स्वाभाविक परस्पर-विरोध है; इसलिये जिसे यह अवस्था प्राप्त होती है, उसके सब कर्म आप ही आप छूट जाते हैं; और वह संन्यासी हो जाता है । परन्तु गीता को यह मत मान्य नहीं है; उसका यही सिद्धान्त है, कि स्वयं परमेश्वर जिस प्रकार कर्म करता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त के लिये भी-निष्काम बुद्धि से-लोकसंग्रह के निमित्त-मृत्युपर्यन्त सब व्यवहारों को करते रहना ही अधिक श्रेयस्कर है; क्यों कि निष्कामत्व और कर्म में कोई विरोध नहीं है । यह बात अगले प्रकरण के निरूपण से स्पष्ट हो जायगी । गीता का यह तत्त्व योगवासिष्ठ (६. उ. १९९) में भी स्वीकृत किया गया है ।

ग्यारहवाँ प्रकरण।

संन्यास और कर्मयोग।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।*
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥

गीता. ५. २ ।

पिछले प्रकरण में इस बात का विस्तृत विचार किया गया है कि अनादि कर्म के चक्कर से छूटने के लिये प्राणिमात्र में एकत्व से रहनेवाले परब्रह्म का अनुभवात्मक ज्ञान होना ही एकमात्र उपाय है; और यह विचार भी किया गया है, कि इस अमृत ब्रह्म का ज्ञान सम्पादन करने के लिये मनुष्य स्वतंत्र है या नहीं। एवं इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये मायासृष्टि के अनित्य व्यवहार अथवा कर्म वह किस प्रकार करे। अन्त में यह सिद्ध किया है, कि बन्धन कुछ कर्म का धर्म या गुण नहीं है; किन्तु मन का है। इसलिये व्यावहारिक कर्मों के फल के बारे में जो अपनी आसक्ति होती है, उसे इंद्रिय-निग्रह से धीरे धीरे घटा कर, शुद्ध अर्थात् निष्काम बुद्धि से कर्म करते रहने पर, कुछ समय के बाद साम्यबुद्धिरूप आत्मज्ञान देहेन्द्रियों में समा जाता है; और अन्त में पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार इस बात का निर्णय हो गया, कि मोक्षरूपी परम साध्य अथवा आध्यात्मिक पूर्णावस्था की प्राप्ति के लिये किस साधन या उपाय का अवलम्बन करना चाहिये। जब इस प्रकार के वर्ताव से, अर्थात् यथाशक्ति और यथाधिकार निष्काम कर्म करते रहने से, कर्म का बंधन छूट जाय तथा चित्तशुद्धि द्वारा अन्त में पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाय; तब यह महत्त्व का प्रश्न उपस्थित होता है, कि अब आगे अर्थात् सिद्धावस्था में ज्ञानी या स्थितप्रज्ञ पुरुष कर्म ही करता रहे, अथवा प्राप्य वस्तु को पा कर कृतकृत्य हो। माया-सृष्टि के सब व्यवहारों को निरर्थक और ज्ञानविरुद्ध समझ कर, एकदम उनका त्याग कर दे? क्योंकि सब कर्मों को बिलकुल छोड़ देना (कर्मसंन्यास), या उन्हें निष्काम बुद्धि से मृत्युपर्यंत करते जाना (कर्मयोग), ये दोनों पक्ष तर्कदृष्टि से इस स्थान पर संभव होते हैं। और इन में से जो पक्ष श्रेष्ठ ठहरे उसी की ओर ध्यान दे कर पहले से (अर्थात्

---

* "संन्यास और कर्मयोग दोनों निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्षदायक हैं; परन्तु इन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही अधिक श्रेष्ठ है।" दूसरे चरण के 'कर्मसंन्यास' पद से प्रगट होता है, कि पहले चरण में 'संन्यास' शब्द का क्या अर्थ करना चाहिये। गणेशगीता के चौथे अध्याय के आरंभ में गीता के यही प्रश्नोत्तर लिये गये हैं। वहाँ यह श्लोक थोडे शब्दभेद से इस प्रकार आया है–"क्रियायोगो वियोगश्चाप्युभौ मोक्षस्य साधने। तयोर्मध्ये क्रियायोगस्त्यागात्तस्य विशिष्यते॥"

साधनावस्था से ही) बर्ताव करना सुविधाजनक होगा। इसलिये उक्त दोनों पक्षों के तारतम्य का विचार किये बिना कर्म और अकर्म का कोई भी आध्यात्मिक विवेचन पूरा नहीं हो सकता । अर्जुन से सिर्फ़ यह कह देने से काम नहीं चल सकता था, कि पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जानेपर कर्मों का करना और न करना एक-सा है (गी. ३. १८); क्योंकि समस्त व्यवहारों में कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही की श्रेष्ठता होने के कारण ज्ञान से जिसकी बुद्धि समस्त भूतों में सम हो गई है, उसे किसी भी कर्म के शुभाशुभत्व का लेप नहीं लगता (गी. ४. २०, २१) । भगवान् का तो उसे यही निश्चित उपदेश था कि—युद्ध ही कर—युद्धचस्व ! (गी. २.१८); और इस खरे तथा स्पष्ट उपदेश के समर्थन में 'लड़ाई करो तो अच्छा, न करो तो अच्छा'; ऐसे सन्दिग्ध उत्तर की अपेक्षा और दूसरे कुछ सबल कारणों का बतलाना आवश्यक था । और तो क्या, गीताशास्त्र की प्रवृत्ति यह बतलाने के लियेही हुई है, कि किसी कर्म का भयंकर परिणाम दृष्टि के सामने देखते रहने पर भी बुद्धिमान् पुरुष उसे ही क्यों करें । गीता की यही तो विशेषता है । यदि यह सत्य है, कि कर्म से जन्तु बँधता और ज्ञान से मुक्त होता है, तो ज्ञानी पुरुष को कर्म करना ही क्यों चाहिये ? कर्म-यज्ञ का अर्थ कर्मों का छोड़ना नहीं है; केवल फलाशा छोड़ देने से ही कर्म का क्षय हो जाता है, सब कर्मों को छोड़ देना शक्य नहीं है; इत्यादि सिद्धान्त यद्यपि सत्य हों, तथापि इससे भली भाँति यह सिद्ध नहीं होता, कि जितने कर्म छूट सकें उतने भी न छोड़े जायँ। और न्याय से देखने पर भी, यही अर्थ निष्पन्न होता है; क्योंकि गीता ही में कहा है, कि चारों ओर पानी ही पानी हो जाने पर जिस प्रकार फिर उसके लिये कोई कुएँ की खोज नहीं करता, उसी प्रकार कर्मों से सिद्ध होनेवाली ज्ञानप्राप्ति हो चुकने पर ज्ञानी पुरुष को कर्म की कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती (गी. २. ४६) । इसी लिये तीसरे अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रथम यही पूछा है, कि आपकी सम्मति में यदि कर्म की अपेक्षा निष्काम अथवा साम्यबुद्धि श्रेष्ठ हो, तो स्थितप्रज्ञ के समान मैं भी अपनी बुद्धि को शुद्ध किये लेता हूँ—बस, मेरा मतलब पूरा हो गया; अब फिर भी लड़ाई के इस घोर कर्म में मुझे क्यों फँसाते हो ? (गी. ३, १) इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने 'कर्म किसी से भी छूट नहीं सकते' इत्यादि कारण बतला कर, चौथे अध्याय में कर्म का समर्थन किया है । परन्तु सांख्य (संन्यास) और कर्मयोग दोनों ही मार्ग यदि शास्त्रों से बतलाये गये हैं, तो यही कहना पडेगा, कि ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर, इनमेंसे जिसे जो मार्ग अच्छा लगे, उसे वह स्वीकार कर ले । ऐसी दशा में, पाँचवे अध्याय के आरंम्भ में अर्जुन ने फिर प्रार्थना की, कि दोनों मार्ग गोलमाल कर के मुझे न बतलाइये; निश्चयपूर्वक मुझे एक ही बात बतलाइये कि उन दोनों में से अधिक श्रेष्ठ कौन है (गी. ५. १) । यदि ज्ञानोत्तर कर्म करना और न करना एक ही सा है, तो फिर मैं अपनी मर्जी के अनुसार जी चाहेगा तो कर्म करूँगा, नहीं तो न करूँगा । यदि कर्म करना ही उत्तम पक्ष हो, तो मुझे

उसका कारण समझाइये; तभी मैं आपके कथनानुसार आचरण करूँगा। अर्जुन का यह प्रश्न कुछ अपूर्व नहीं है। योगवासिष्ठ (५. ५६. ६) में श्रीरामचंद्र ने वसिष्ठ से और गणेशगीता (४.१) में वरेण्य राजा ने गणेशजीसे यही प्रश्न किया है। केवल हमारे ही यहाँ नहीं, वरन् यूरोप में जहाँ तत्त्वज्ञान के विचार पहले पहल शुरू हुए थे, उस ग्रीस देश में भी प्राचीन काल में यह प्रश्न उपस्थित हुआ था। यह बात अरिस्टाटल के ग्रन्थ से प्रगट होती है। इस प्रसिद्ध यूनानी ज्ञानी पुरुष ने अपने नीतिशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ के अन्त (१०.७ और ८) में यही प्रश्न उपस्थित किया है और प्रथम अपनी यह सम्मति दी है, कि संसार के या राज-नैतिक मामलों में जिन्दगी बिताने की अपेक्षा ज्ञानी पुरुष को शांति से तत्त्व-विचार में जीवन बिताना ही सच्चा और पूर्ण आनन्ददायक है। तो भी उसके अनन्तर लिखे गये अपने राजधर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ (७. २ और ३) में अरिस्टाटल ही लिखता है, कि "कुछ ज्ञानी पुरुष तत्त्व-विचार में, तो कुछ राजनैतिक कार्यों में निमग्न दीख पड़ते हैं; और यदि पूछा जाय कि इन दोनों मार्गों में कौन–सा बहुत अच्छा है, तो यही कहना पड़ेगा, कि प्रत्येक मार्ग अंशतः सच्चा है। तथापि, कर्म की अपेक्षा अकर्म को अच्छा कहना भूल है*। क्योंकि, यह कहने में कोई हानि नहीं कि आनन्द भी तो एक कर्म ही है; और सच्ची श्रेयःप्राप्ति भी अनेक अंशों में ज्ञानयुक्त तथा नीतियुक्त कर्मों में ही है।" दो स्थानों पर अरिस्टाटल के भिन्न भिन्न मतों को देखकर गीता के इस स्पष्ट कथन का महत्त्व पाठकों के ध्यान में आ जावेगा, कि "कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः" (गी. ३.८)––अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है। गत शताब्दी का प्रसिद्ध फरेंच पण्डित आगस्टस कोंट अपने आधिभौतिक तत्त्वज्ञान में कहता है "यह कहना भ्रान्तिमूलक है, कि तत्त्वविचार ही में निमग्न रह कर जिन्दगी बिताना श्रेयस्कर है। जो तत्त्वज्ञ पुरुष इस ढङ्ग के आयुष्यक्रम को अङ्गीकार करता है, और अपने हाथ से होने योग्य लोगों का कल्याण करना छोड़ देता है; उसके विषय में यही कहना चाहिये, कि वह अपने प्राप्त साधनोंका दुरुपयोग करता है।" विपक्ष में जर्मन तत्त्ववेत्ता शोपेनहर ने कहा है, कि संसार के समस्त व्यवहार––यहाँ तक कि जीवित रहना भी––दुःखमय हैं; इसलिये तत्त्वज्ञान प्राप्त कर इन सब कर्मों का, जितनी जल्दी हो सके, नाश करना ही इस संसार में मनुष्य का सच्चा कर्तव्य है। कोंट सन १८५७ ई० में, और शोपेनहर सन १८६० ई० में संसार से बिदा हुऐ। शोपेनहर का पन्थ जर्मनी में हार्टमेन ने जारी रखा है। कहना नहीं होगा, कि स्पेन्सर और मिल प्रभृति अंग्रेज़ तत्त्वशास्त्रज्ञों के मत कोंट के जैसे हैं। परन्तु इन सब के आगे बढ़ कर हाल ही के ज़माने के आधिभौतिक जर्मन पण्डित निक्शे ने

---

*"And it is equally a *mistake to place inactivity above action*, for happiness is activity, and the actions of the just and wise are the realization of much that is noble." (Aristotl's *Politics*, trans. by Jowett Vol. I. P. 212. The Italics are ours).

अपने ग्रन्थों में, कर्म छोड़नेवालों पर ऐसे तीव्र कटाक्ष किये हैं, कि यह कर्म-संन्यास-पक्षवालों के लिये 'मूर्ख-शिरोमणि' शब्द से अधिक सौम्य शब्द का उपयोग कर ही नहीं सकता है।*

यूरोप में अरिस्टाटल से लेकर अब तक जिस प्रकार इस सम्बध में दो पक्ष हैं, उसी प्रकार भारतीय वैदिक धर्म में भी प्राचीन काल से लेकर अब तक इस सम्बध के दो सम्प्रदाय एक से चले आ रहे हैं (म.भा. शां. ३४६.७)। इनमें से एक को संन्यास-मार्ग, सांख्य-निष्ठा या केवल सांख्य (अथवा ज्ञान में ही नित्य निमग्न रहने के कारण ज्ञान-निष्ठा भी) कहते हैं; और दूसरे को कर्मयोग, अथवा संक्षेप में केवल योग या कर्म-निष्ठा कहते हैं। हम तीसरे प्रकरण में ही कह आये हैं, कि यहाँ 'सांख्य' और 'योग' शब्दों से तात्पर्य क्रमशः कापिल-सांख्य और पातञ्जल योग से नहीं है; परन्तु 'संन्यास' शब्द भी कुछ सन्दिग्ध है। इसलिये उसके अर्थ का कुछ अधिक विवरण करना यहाँ आवश्यक है। 'संन्यास' शब्द से सिर्फ़ 'विवाह न करना,' और यदि किया हो, तो 'बाल-बच्चों को छोड़ भगवे कपड़े रँग लेना' अथवा 'केवल चौथे आश्रमका ग्रहण करना' इतना ही अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है। क्योंकि विवाह न करने पर भी भीष्म पितामह मरते दम तक राज्यकार्यों के उद्योग में लगे रहे; और श्रीमच्छंकराचार्य ने ब्रह्मचर्य से एकदम चौथा आश्रम ग्रहण कर, या महाराष्ट्र देश में श्रीसमर्थ रामदास ने मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचारी-गोस्वामी–रह कर, ज्ञान पैदा करके संसार के उद्धारार्थ कर्म किये हैं। यहाँ पर मुख्य प्रश्न यही है, कि ज्ञानोत्तर संसार के व्यवहार केवल कर्तव्य समझ कर लोक-कल्याण के लिये, किये जावें अथवा मिथ्या समझ कर एकदम छोड़ दिये जावें? इन व्यवहारों या कर्मों का करनेवाला कर्मयोगी कहलाता है; फिर चाहे वह ब्याहा हो या क्वाँरा, भगवे कपड़े पहने या सफ़ेद। हाँ, यह भी कहा जा सकता है, कि ऐसे काम करने के लिये विवाह न करना, भगवे कपड़े पहनना अथवा बस्ती से बाहर विरक्त हो कर रहना ही कभी कभी विशेष सुभीते का होता है। क्योंकि फिर कुटुम्ब के भरण-पोषण की झंझट अपने पीछे न रहने के कारण, अपना सारा समय और परिश्रम लोक-कार्यों

---

*कर्मयोग और कर्मत्याग (सांख्य या संन्यास) इन्हीं दो मार्गों को सली ने अपने *Pessimism* नामक ग्रन्थ में क्रम से *Optimism* और *Pessimism* नाम दिये हैं; पर हमारी राय में यह नाम ठीक नहीं। *Pessimism* शब्द का अर्थ "उदास, निराशावादी या रोती सूरत" होता है। परन्तु संसार को अनित्य समझ कर उसे छोड़ देनेवाले संन्यासी आनन्दी रहते हैं और वे लोग संसार को आनन्द से ही छोड़ते हैं; इसलिये हमारी राय में, उनको *Pessimist* कहना ठीक नहीं। इसके बदले कर्मयोग को *Energism* और सांख्य या संन्यास मार्ग को Quietism कहना अधिक प्रशस्त होगा। वैदिक धर्म के अनुसार दोनों मार्गों में ब्रह्मज्ञान एकही सा है, इसलिये दोनों का आनन्द और शान्ति भी एक ही–सी है। हम ऐसा भेद नहीं करते, कि एक मार्ग आनन्दमय है और दूसरा दुःखमय है, अथवा एक आशावादी है और दूसरा निराशावादी।

में लगा देने के लिये कुछ भी अड़चन नहीं रहती । यदि ऐसे पुरुष भेष से संन्यासी हों, तो भी वे तत्त्वदृष्टि से कर्मयोगी ही हैं । परन्तु विपरीत पक्ष में--अर्थात् जो लोग इस संसार के समस्त व्यवहारों को निस्सार समझ उनका त्याग करके चुपचाप बैठे रहते हैं--उन्हीं को संन्यासी कहना चाहिये । फिर चाहे उन्होंने प्रत्यक्ष चौथा आश्रम ग्रहण किया हो या न किया हो । सारांश, गीता का कटाक्ष भगवे अथवा सफ़ेद कपड़ों पर और विवाह या ब्रह्मचर्य पर नहीं है; प्रत्युत इसी एक बात पर नज़र रख कर गीता में संन्यास और कर्मयोग दोनों मार्गों का विभेद किया गया है, कि ज्ञानी पुरुष जगत् के व्यवहार करता है या नहीं ? शेष बातें गीताधर्म में महत्त्व की नहीं हैं । संन्यास या चतुर्थाश्रम शब्दों की अपेक्षा कर्मसंन्यास अथवा कर्मत्याग शब्द यहाँ अधिक अन्वर्थक और निःसन्दिग्ध है । परन्तु इन दोनों की अपेक्षा सिर्फ़ संन्यास शब्द के व्यवहार की ही अधिक रीति के कारण उसके पारिभाषिक अर्थ का यहाँ विवरण किया गया है । जिन्हें इस संसार के व्यवहार निःसार प्रतीत होते हैं, वे उससे निवृत्त हो अरण्य में जा कर स्मृतिधर्मानुसार चतुर्थाश्रम में प्रवेश करते हैं । इससे कर्मत्याग के इस मार्ग को संन्यास कहते हैं । परन्तु इसमें प्रधान भाग कर्मत्याग ही है, गेरुवे कपड़े नहीं ।

यद्यपि इस प्रकार इन दोनों पक्षों का प्रचार हो, कि पूर्ण ज्ञान होने पर आगे कर्म करो (कर्मयोग) या कर्म छोड़ दो (कर्मसंन्यास) । तथापि गीता के साम्प्रदायिक टीकाकारों ने अब यहाँ यह प्रश्न छेड़ा है, कि क्या अन्त में मोक्षप्राप्ति कर देने के लिये दोनों मार्ग स्वतन्त्र अर्थात् एक-से समर्थ हैं ? अथवा, कर्मयोग केवल पूर्वाङ्ग यानी पहली सीढ़ी है; और अन्तिम मोक्ष की प्राप्ति के लिये कर्म छोड़ कर संन्यास लेना ही चाहिये ? गीता के दूसरे और तीसरे अध्यायों में जो वर्णन है, उससे जान पड़ता है, कि ये दोनों मार्ग स्वतन्त्र हैं । परन्तु जिन टीकाकारों का मत है, कि कभी-न-कभी संन्यास आश्रम को अङ्गीकार कर समस्त सांसारिक कर्मों को छोड़े बिना मोक्ष नहीं मिल सकता--और जो लोग इसी बुद्धि से गीता की टीका करने में प्रवृत्त हुए हैं, कि यही बात गीता में प्रतिपादित की गई है--वे गीता का यह तात्पर्य निकालते हैं, कि "कर्मयोग स्वतन्त्र रीति से मोक्षप्राप्ति का मार्ग नहीं है । पहले चित्त की शुद्धता के लिये कर्म कर अन्त में संन्यास ही लेना चाहिये । संन्यास ही अन्तिम मुख्य निष्ठा है ।" परन्तु इस अर्थ को स्वीकार कर लेने से भगवान् ने जो यह कहा है, कि 'सांख्य (संन्यास) और योग (कर्मयोग) द्विविध अर्थात् दो प्रकार की निष्ठाएँ इस संसार में हैं' (गी. ३. ३), उस द्विविध पद का स्वारस्य बिलकुल नष्ट हो जाता है । कर्मयोग शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं :--(१) पहला अर्थ यह है, कि ज्ञान हो या न हो; चातुर्वर्ण्य के यज्ञयाग आदि कर्म अथवा श्रुतिस्मृतिवर्णित कर्म करने से ही मोक्ष मिलता है । परन्तु मीमांसकों का यह पक्ष गीता को मान्य नहीं (गी. २. ४५) । (१) दूसरा अर्थ यह है, कि चित्तशुद्धि के लिये कर्म करने (कर्मयोग) की आवश्यकता है । इसलिये

केवल चित्तशुद्धि के निमित्त ही कर्म करना चाहिये । इस अर्थ के अनुसार कर्मयोग संन्यासमार्ग का पूर्वांग हो जाता है; परन्तु यह गीता में वर्णित कर्मयोग नहीं है । (३) जो जानता है, कि मेरे आत्मा का कल्याण किस में है ? वह ज्ञानी पुरुष स्वधर्मोक्त युद्धादि सांसारिक कर्म मृत्युपर्यन्त करे या न करे ? यही गीता में मुख्य प्रश्न है । और इसका उत्तर यही है, कि ज्ञानी पुरुष को भी चातुर्वर्ण्य के सब कर्म निष्कामबुद्धि से करना ही चाहिये (गी. ३. २५) । यही 'कर्मयोग' शब्द का तीसरा अर्थ है; और गीता में यही कर्मयोग प्रतिपादित किया गया है । यह कर्मयोग संन्यासमार्ग का पूर्वांग कदापि नहीं हो सकता । क्योंकि इस मार्ग में कर्म कभी छूटते ही नहीं । अब प्रश्न है केवल मोक्षप्राप्ति के विषय में । इस पर गीता में स्पष्ट कहा है, कि ज्ञानप्राप्ति हो जाने से निष्कामकर्म बन्धक नहीं हो सकते; प्रत्युत संन्यास से जो मोक्ष मिलता है, वही इस कर्मयोग से भी प्राप्त होता है (गी. ५. ५) । इसलिये गीता का कर्मयोग संन्यासमार्ग का पूर्वांग नहीं है; किन्तु ज्ञानोत्तर ये दोनों मार्ग मोक्षदृष्टि से स्वतन्त्र अर्थात् तुल्यबल के हैं (गी. ५. २) । गीता के "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" (गी. ३. ३) का यही अर्थ करना चाहिये । और इसी हेतु से भगवान् ने अगले चरण में—"ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्"—इन दोनों मार्गों का पृथक् पृथक् स्पष्टीकरण किया है । आगे चल कर तेरहवें अध्याय में कहा है "अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे" (गी. १३. २४) इस श्लोक के—'अन्ये' (एक) और 'अपरे' (दूसरे)—ये पद उक्त दोनों मार्गों को स्वतन्त्र माने बिना अन्वर्थक नहीं हो सकते । इसके सिवा जिस नारायणीय धर्म का प्रवृत्तिमार्ग (योग) गीता में प्रतिपादित है, उसका इतिहास महाभारत में देखने से यही सिद्धान्त दृढ होता है । सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मा को सृष्टि रचने की आज्ञा दी । उनसे मरीचि आदि प्रमुख सात मानसपुत्र हुए । सृष्टिक्रम का अच्छे प्रकार आरम्भ करने के लिये उन्होंने योग अर्थात् कर्ममय प्रवृत्तिमार्ग का अवलम्बन किया । ब्रह्मा के सनत्कुमार और कपि प्रभृति दूसरे सात पुत्रों ने उत्पन्न होते ही निवृत्तिमार्ग अर्थात् सांख्य का अवलम्बन किया । इस प्रकार दोनों मार्गों की उत्पत्ति बतला कर आगे स्पष्ट कहा है, कि ये दोनों मार्ग मोक्षदृष्टि से तुल्यबल अर्थात् वासुदेवस्वरूपी एक ही परमेश्वर की प्राप्ति करा देनेवाले, भिन्न भिन्न और स्वतन्त्र हैं (म. भा. शां. ३४८. ७४-४६. ६३-७३) । इसी प्रकार यह भी भेद किया गया है, कि योग अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ हैं; और सांख्यमार्ग के मूलप्रवर्तक कपिल हैं । परन्तु यह कहीं नहीं कहा है, कि आगे हिरण्यगर्भ ने कर्मों का त्याग कर दिया । इसके विपरीत ऐसा वर्णन है, कि भगवान् ने सृष्टि का व्यवहार अच्छी तरह से चलता रखने के लिये यज्ञचक्र को उत्पन्न किया; और हिरण्यगर्भ से तथा अन्य देवताओं से कहा, कि इसे निरन्तर जारी रखो (म. भा. शां. ३४०. ४४—७५ और ३३९. ६६, ६७ देखो) । इससे निर्विवाद सिद्ध होता है, कि सांख्य और योग दोनों

मार्ग आरम्भ से ही स्वतन्त्र हैं। इससे यह भी दीख पड़ता है, कि गीता के साम्प्रदायिक टीकाकारों ने कर्ममार्ग को जो गौणत्व देने का प्रयत्न किया है, वह केवल साम्प्रदायिक आग्रह का परिणाम है। और इन टीकाओं में जो स्थान स्थान पर यह तुर्रा लगा रहता है, कि कर्मयोग ज्ञानप्राप्ति अथवा संन्यास का केवल साधनमात्र हैं, वह इनकी मनगढन्त है। वास्तव में गीता का सच्चा भावार्थ वैसा नहीं है। गीता पर जो संन्यासमार्गीय टीकाएँ हैं, उनमें हमारी समझ से यही मुख्य दोष है। और टीकाकारों के इस साम्प्रदायिक आग्रह से छूटे बिना कभी सम्भव नहीं, कि गीता के वास्तविक रहस्य का बोध हो जावे।

यदि यह निश्चय करें, कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों स्वतंत्र रीति से मोक्षदायक हैं---एक दूसरे का पूर्वांग नहीं---तो भी पूरा निर्वाह नहीं होता। क्योंकि, यदि दोनों मार्ग एक ही से मोक्षदायक हैं, तो कहना पड़ेगा, कि जो मार्ग हमें पसन्द होगा, उसे हम स्वीकार करेंगे। और फिर यह सिद्ध न हो कर---कि अर्जुन को युद्ध ही करना चाहिये---ये दोनों पक्ष संभव होते हैं, कि भगवान् के उपदेश से परमेश्वर का ज्ञान होने पर भी चाहे वह अपनी रुचि के अनुसार युद्ध करे अथवा लड़ना-मरना छोड़ कर संन्यास ग्रहण कर ले। इसीलिये अर्जुन ने स्वाभाविक रीति से यह सरल प्रश्न किया है, कि "इन दोनों मार्गों में जो अधिक प्रशस्त हो, वह एक ही निश्चय से मुझे बतलाओ", (गी. ५. १) जिसके आचरण करने में कोई गड़बड़ न हो। गीता के पाँचवें अध्याय के आरम्भ में इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न कर चुकने पर अगले श्लोकों में भगवान् ने स्पष्ट उत्तर दिया है, कि "संन्यास और कर्मयोग दोनों मार्ग निःश्रेयस अर्थात् मोक्षदायक हैं; अथवा मोक्षदृष्टि से एक ही योग्यता के हैं। तो भी दोनों में कर्मयोग की श्रेष्ठता या योग्यता विशेष है (विशिष्यते)" (गी. ५. २); और यही श्लोक हमने इस प्रकरण के आरम्भ में लिखा है। कर्मयोग की श्रेष्ठता के सम्बध में यही एक वचन गीता में नहीं है; किन्तु अनेक वचन हैं। जैसे—"तस्माद्योगाय युज्यस्व" (गी. २. ५०)---इसलिये तू कर्मयोग को ही स्वीकार कर। "मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि" (गी. २. ४७)---कर्म न करने का आग्रह मत कर;

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥

कर्मों को छोड़ने के झगड़े में न पड़ कर "इन्द्रियों को मन से रोक कर अनासक्त बुद्धि के द्वारा कर्मेंद्रियों से कर्म करनेवाले की योग्यता 'विशिष्यते' अर्थात् "विशेष है" (गी. ३. ७)। क्योंकि, कभी क्यों न हो, "कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः" अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है (गी. ३. ८)। "इसलिये तू कर्म ही कर" (गी. ४. १५) अथवा "योगमातिष्ठोत्तिष्ठ" (गी. ४. ४२)---कर्मयोग को अङ्गीकार कर युद्ध के लिये खड़ा हो। "(योगी) ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः"---ज्ञानमार्गवाले (संन्यासी) की

अपेक्षा कर्मयोगी की योग्यता अधिक है। "तस्माद्योगी भवार्जुन" (गी. ६. ४६)— इसलिये, हे अर्जुन! तू (कर्म—) योगी हो। अथवा "मामनुस्मर युद्धच च" (गी. ८. ७)—मन में मेरा स्मरण रख कर युद्ध कर; इत्यादि अनेक वचनों से गीता में अर्जुन को जो उपदेश स्थान स्थान पर दिया गया है, उसमें भी संन्यास या अकर्म की अपेक्षा कर्मयोग की अधिक योग्यता दिखलाने के लिये 'ज्यायः,' 'अधिकः' और 'विशिष्यते' इत्यादि पद स्पष्ट हैं। अठारहवें अध्याय के उपसंहार में भी भगवान् ने फिर कहा है, कि "नियत कर्मों का संन्यास करना उचित नहीं है। आसक्तिविरहित सब काम सदा करना चाहिये। यही मेरा निश्चित और उत्तम मत है" (गी. १८. ६. ७)। इससे निर्विवाद सिद्ध होता है, कि गीता में संन्यासमार्ग की अपेक्षा कर्मयोग को ही श्रेष्ठता दी गई है।

परन्तु, जिनका साम्प्रदायिक मत है, कि संन्यास या भक्ति ही अन्तिम और श्रेष्ठ कर्तव्य है। कर्म तो निरा चित्तशुद्धि का साधन है। वह मुख्य साध्य या कर्तव्य नहीं हो सकता। उन्हें गीता का यह सिद्धान्त कैसे पसन्द होगा? यह नहीं कहा जा सकता, कि उनके ध्यान में यह बात आई ही न होगी, कि गीता में संन्यासमार्ग की अपेक्षा कर्मयोग को स्पष्टरीति से अधिक महत्त्व दिया गया है। परन्तु यदि यह बात मान ली जाती, तो यह प्रगट ही है, कि उनके सम्प्रदाय की योग्यता कम हो जाती। इसी से पाँचवें अध्याय के आरम्भ में—अर्जुन के प्रश्न और भगवान् के उत्तर सरल, सयुक्तिक और स्पष्टार्थक रहने पर भी—साम्प्रदायिक टीकाकार इस चक्कर में पड़ गये हैं, कि इनका कैसा क्या अर्थ किया जाय? पहली अड़चन यह थी, कि 'संन्यास और कर्मयोग इन दोनों मार्गों में श्रेष्ठ कौन है?' यह प्रश्न ही दोनों मार्गों को स्वतन्त्र माने बिना उपस्थित हो नहीं सकता। क्योंकि, टीकाकारों के कथनानुसार कर्मयोग यदि ज्ञान का सिर्फ़ पूर्वांग हो, तो यह बात स्वयंसिद्ध है, कि पूर्वांग गौण है; और ज्ञान अथवा संन्यास ही श्रेष्ठ है। फिर प्रश्न करने के लिये गुंजाइश ही कहाँ रही? अच्छा; यदि प्रश्न को उचित मान ही लें; तो यह स्वीकार करना पड़ता है, कि ये दोनों मार्ग स्वतन्त्र हैं। और तब तो यह स्वीकृति इस कथन का विरोध करेगी, कि केवल हमारा सम्प्रदाय ही मोक्ष का मार्ग है। इस अड़चन को दूर करने के लिये इन टीकाकारों ने पहले तो यह तुर्रा लगा दिया है, कि अर्जुन का प्रश्न ठीक नहीं है; और फिर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है, कि भगवान् के उत्तर का तात्पर्य भी वैसा ही है। परन्तु इतना गोलमाल करने पर भी भगवान् के इस स्पष्ट उत्तर—'कर्मयोग की योग्यता अथवा श्रेष्ठता विशेष है' (गी. ५. २)— का अर्थ ठीक ठीक फिर भी लगा ही नहीं! तब अन्त में अपने मन का—पूर्वापार संदर्भ के विरुद्ध—दूसरा यह तुर्रा लगा कर इन टीकाकारों को किसी प्रकार अपना समाधान कर लेना पड़ा, कि "कर्मयोगो विशिष्यते"—कर्मयोग की योग्यता विशेष है— यह वचन कर्मयोग की पोली प्रशंसा करने के लिये यानी अर्थवादात्मक है। वास्तव में भगवान् के मत में भी संन्यासमार्ग ही श्रेष्ठ है (गी. शां. भा. ५. २; ६. १, २;

१८. ११ देखो)। शांकरभाष्य में ही क्यों ? रामानुजभाष्य में भी यह श्लोक कर्म-योग की केवल प्रशंसा करनेवाला--अर्थवादात्मक--ही माना गया है (गी. रा. भा. ५. १)। रामानुजाचार्य यद्यपि अद्वैती न थे, तो भी उनके मत में भक्ति ही मुख्य साध्यवस्तु है; इसलिये कर्मयोग ज्ञानयुक्त भक्ति का साधन ही हो जाता है (गी. रा. भा. ३. १ देखो)। मूलग्रन्थ से टीकाकारों का सम्प्रदाय भिन्न है। परन्तु टीकाकार इस दृढ समझ से उस ग्रन्थ की टीका करने लगे, कि हमारा मार्ग या सम्प्रदाय ही मूलग्रन्थ में वर्णित है। पाठक देखें, कि इससे मूलग्रन्थ की कैसी खींचातानी हुई है। भगवान् श्रीकृष्ण या व्यास को संस्कृत भाषा में स्पष्ट शब्दों के द्वारा क्या यह कहना न आता था ? कि 'अर्जुन ! तेरा प्रश्न ठीक नहीं है।' परन्तु ऐसा न करके जब अनेक स्थलों पर स्पष्ट रीति से यही कहा है, कि "कर्मयोग ही विशेष योग्यता का है" तब कहना पडता है, कि साम्प्रदायिक टीकाकारों का उल्लिखित अर्थ सरल नहीं है; और पूर्वापर संदर्भ देखने से भी यही अनुमान दृढ होता है। क्योंकि गीता में ही अनेक स्थानों में ऐसा वर्णन है, कि ज्ञानी पुरुष कर्म का संन्यास न कर ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर भी अनासक्तबुद्धि से अपने सब व्यवहार किया करता है (गी. २. ६४; ३. १६; ३. २५; १८. ६ देखो)। इस स्थान पर श्री शंकराचार्य ने अपने भाष्य में पहले यह प्रश्न किया है, कि मोक्ष ज्ञान से मिलता है, या ज्ञान और कर्म के समुच्चय से ? और फिर यह गीतार्थ निश्चित किया है, कि केवल ज्ञान से ही सब कर्म दग्ध हो कर मोक्षप्राप्ति होती है। मोक्षप्राप्ति के लिये कर्म की आवश्यकता नहीं। इससे आगे यह अनुमान निकाला है, कि 'जब गीता की दृष्टि से भी मोक्ष के लिये कर्म की आवश्यकता नहीं है, तब चित्तशुद्धि हो जाने पर सब कर्म निरर्थक हैं ही; और वे स्वभाव से ही बन्धक अर्थात् ज्ञानविरुद्ध हैं। इस-लिये ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ देना चाहिये'--यही मत भगवान् को भी गीता में ग्राह्य है। 'ज्ञान के अनन्तर ज्ञानी पुरुष को भी कर्म करना चाहिये।' इस मत को 'ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्ष' कहते हैं; और श्रीशंकराचार्य की उपर्युक्त दलील ही उस पक्ष के विरुद्ध मुख्य आक्षेप है। ऐसा ही युक्तिवाद मध्वाचार्य ने भी स्वीकृत किया है (गी. मा. भा. ३. ३१ देखो)। हमारी राय में यह युक्तिवाद समाधानकारक अथवा निरुत्तर नहीं है। क्योंकि, (१) यद्यपि काम्यकर्म बन्धक हो कर ज्ञान के विरुद्ध हैं, तथापि यह न्याय निष्काम कर्म को लागू नहीं। और (२) ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर मोक्ष के लिये कर्म अनावश्यक भले हुआ करें; परन्तु उससे यह सिद्ध करने के लिये कोई बाधा नहीं पहुँचती, कि 'अन्य सबल कारणों से ज्ञानी पुरुष को ज्ञान के साथ ही कर्म करना आव-श्यक है'। मुमुक्षु का सिर्फ़ चित्त शुद्ध करने के लिये ही संसार में कर्म का उपयोग नहीं है; और न इसीलिये कर्म उत्पन्न ही हुए हैं। इसलिये कहा जा सकता है, कि मोक्ष के अतिरिक्त अन्य कारणों के लिये स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्मसृष्टि के समस्त व्यवहार निष्कामबुद्धि से करते ही रहने की ज्ञानी पुरुष को

भी जरूरत है । इस प्रकरण में आगे विस्तारसहित विचार किया गया है, कि ये अन्य कारण कौन–से हैं ? यहाँ इतना ही कह देते हैं, कि जो अर्जुन संन्यास लेने के लिये तैयार हो गया था, उसको ये कारण बतलाने के निमित्त ही गीताशास्त्र की प्रवृत्ति हुई है । और ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता, कि चित्त की शुद्धि के पश्चात् मोक्ष के लिये कर्मों की अनावश्यकता बतला कर गीता में संन्यासमार्ग ही का प्रतिपादन किया गया है । शाङ्करसम्प्रदाय का यह मत है सही, कि ज्ञानप्राप्ति के अनंतर संन्यासाश्रम ले कर कर्मों को छोड़ ही देना चाहिये । परन्तु उससे यह नहीं सिद्ध होता, कि गीता का तात्पर्य भी वही होना चाहिये । और न यही बात सिद्ध होती है, कि अकेले शांकरसम्प्रदाय को या अन्य किसी सम्प्रदाय को 'धर्म' मान कर उसी के अनुकूल गीता का किसी प्रकार अर्थ लगा लेना चाहिये । गीता का तो यही स्थिर सिद्धान्त है, कि ज्ञानके पश्चात् भी संन्यासमार्ग ग्रहण करने की अपेक्षा कर्मयोग को स्वीकार करना ही उत्तम पक्ष है । फिर उसे चाहे निराला सम्प्रदाय कहो या और कुछ उसका नाम रखो । परन्तु इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये, कि यद्यपि गीता को कर्मयोग ही श्रेष्ठ जान पड़ता है, तथापि अन्य परमत असहिष्णु सम्प्रदायों की भाँति उसका यह आग्रह नहीं, कि संन्यासमार्ग को सर्वथा त्याज्य मानना चाहिये । गीता में संन्यासमार्ग के सम्बन्ध में कहीं भी अनादरभाव नहीं दिखलाया गया है । इसके विरुद्ध भगवान् ने स्पष्ट कहा है, कि संन्यास और कर्मयोग दोनों मार्ग एक ही से निःश्रेयस्कर––मोक्षदायक––अथवा मोक्षदृष्टि से समान मूल्यवान् हैं । और आगे इस प्रकार की युक्तियों से इन दो भिन्न भिन्न मार्गों की एकरूपता भी कर दिखलाई है, कि "एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" (गी. ५. ५)––जिसे यह मालूम हो गया, कि ये दोनों मार्ग एक ही हैं––अर्थात् समान बलवाले हैं––उसे ही सच्चा तत्त्वज्ञान हुआ । या 'कर्मयोग' हो, तो उसमें भी फलाशा का संन्यास करना ही पडता है––"न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन" (गी. ६. २) । यद्यपि ज्ञानप्राप्ति के अनंतर (पहले ही नहीं) कर्म का संन्यास करना या कर्मयोग स्वीकार करना, दोनों मार्ग मोक्षदृष्टि से एक-सी ही योग्यता के हैं; तथापि लोकव्यवहार की दृष्टि से विचारने पर यही मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, कि बुद्धि में संन्यास रख कर––अर्थात् निष्कामबुद्धि से देहेन्द्रियों के द्वारा जीवनपर्यंत लोकसंग्रहकारक सब कार्य किये जायँ । क्योंकि भगवान् का निश्चित उपदेश है, कि इस उपाय से संन्यास और कर्म दोनों स्थिर रहते हैं । एवं तदनुसार ही फिर अर्जुन युद्ध के लिये प्रवृत्त हुआ है । ज्ञानी और अज्ञानी में यही तो इतना भेद है । केवल शारीर अर्थात् देहेन्द्रियों के कर्म देखें, तो दोनों के एक-से होंगे ही । परन्तु अज्ञानी मनुष्य उन्हें आसक्तबुद्धि से और ज्ञानी मनुष्य अनासक्त बुद्धि से किया करता है (गी. ३. २५) । भास कवि ने गीता के इस सिद्धान्त का वर्णन अपने नाटक में इस प्रकार किया है ––

प्राज्ञस्य मूर्खस्य च कार्ययोगे । समत्वमभ्येति तनुर्न बुद्धिः ॥

"ज्ञानी और मूर्ख मनुष्यों के कर्म करने में शरीर तो एक-सा रहता है। परन्तु बुद्धि में भिन्नता रहती है" (अविमार. ५. ५)।

कुछ फुटकल संन्यासमार्गवालों का इस पर यह और कथन है, कि "गीता में अर्जुन को कर्म करने का उपदेश तो दिया गया है; परन्तु भगवान् ने यह उपदेश इस बात पर ध्यान दे कर किया है, कि अज्ञानी अर्जुन को चित्तशुद्धि के लिये कर्म करने का ही अधिकार था। सिद्धावस्था में भगवान् के मत से भी कर्मयोग ही श्रेष्ठ है।" इस युक्तिवाद का सरल भावार्थ यही देख पड़ता है, कि यदि भगवान् यह कह देते, कि "अर्जुन! तू अज्ञानी है," तो वह उसी प्रकार पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिये आग्रह करता, जिस प्रकार कि कठोपनिषद् में नचिकेता ने किया था; और फिर तो उसे पूर्ण ज्ञान बतलाना ही पड़ता। एवं यदि वैसा पूर्ण ज्ञान उसे बतलाया जाता, तो वह युद्ध छोड़ कर संन्यास ले लेता; और तब तो भगवान् का भारतीय युद्धसंबंधी सारा उद्देश ही विफल हो जाता--इसी भय से अपने अत्यन्त प्रियभक्त को धोखा देने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश किया है! इस प्रकार जो लोग सिर्फ़ अपने सम्प्रदाय का समर्थन करने के लिये भगवान् के मत्थे भी अत्यन्त प्रियभक्त को धोखा देने का निन्द्यकर्म मढ़ने के लिये प्रवृत्त हो गये, उनके साथ किसी भी प्रकार का वाद न करना ही अच्छा है। परन्तु सामान्य लोग इन भ्रामक युक्तियों में कहीं फँस न जावें। इसलिये इतना ही कह देते हैं, कि श्रीकृष्ण को अर्जुन से स्पष्ट शब्दों में यह कह देने के लिये डरने का कोई कारण न था, कि "तू अज्ञानी है, इसलिये कर्म कर"। और इतने पर भी यदि अर्जुन कुछ गड़बड़ करता, तो उसे अज्ञानी रख कर ही उससे प्रकृतिधर्म के अनुसार युद्ध कराने का सामर्थ्य श्रीकृष्ण में था ही (गी. १८. ५९ और ६१ देखो)। परन्तु ऐसा न कर बारबार 'ज्ञान' और 'विज्ञान' बतला कर ही (गी. ७. २; ९. १; १०. १; १३. २; १४.१), पन्द्रहवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने अर्जुन से कहा है, कि "इस शास्त्र को समझ लेनेसे मनुष्य ज्ञाता और कृतार्थ हो जाता है" (गी. १५. २०)। इस प्रकार भगवान् ने उसे पूर्ण ज्ञानी बना कर उसकी इच्छा से ही उस से युद्ध करवाया है (गी. १८. ६३)। इससे भगवान् का यह अभिप्राय स्पष्ट रीति से सिद्ध होता है, कि ज्ञाता पुरुष को ज्ञान के पश्चात् भी निष्काम कर्म करते ही रहना चाहिये। और यही सर्वोत्तम पक्ष है। इसके अतिरिक्त यदि एक बार मान भी लिया जाय, कि अर्जुन अज्ञानी था; तथापि उसको किये हुए उपदेश के समर्थन में जिन जनक प्रभृति प्राचीन कर्मयोगियों का और आगे भगवान् ने स्वयं अपना भी उदाहरण दिया है, उन सभी को अज्ञानी नहीं कह सकते। इसीसे कहना पड़ता है, कि साम्प्रदायिक आग्रह की यह कोरी दलील सर्वथा त्याज्य और अनुचित है; तथा गीता में ज्ञानयुक्त कर्मयोग का ही उपदेश किया गया है।

अब तक यह बतलाया गया, कि सिद्धावस्था के व्यवहार के विषय में भी कर्मत्याग (सांख्य) और कर्मयोग (योग) ये दोनों मार्ग न केवल हमारे ही देश

में, वरन् अन्य देशों में भी प्राचीन समय से प्रचलित पाये जाते हैं। अनंतर, इस विषय में गीताशास्त्र के दो मुख्य सिद्धान्त बतलाये गये :—(१) ये दोनों मार्ग स्वतन्त्र अर्थात् मोक्ष की दृष्टि से परस्परनिरपेक्ष और तुल्य बलवाले हैं, एक दूसरे का अङ्ग नहीं; और (२) उनमें कर्मयोग ही अधिक प्रशस्त हैं। और, इन दोनों सिद्धान्तों के अत्यन्त स्पष्ट होते हुए भी टीकाकारों ने इनका विपर्यास किस प्रकार और क्यों किया? इसी बात को दिखलाने के लिये यह सारी प्रस्तावना लिखनी पड़ी। अब गीता में दिये हुए उन कारणों का निरूपण किया जायगा, जो प्रस्तुत प्रकरण की इस मुख्य बात को सिद्ध करते हैं, कि सिद्धावस्था में भी कर्मत्याग की अपेक्षा आमरणान्त कर्म करते रहने का मार्ग अर्थात् कर्मयोग ही अधिक श्रेयस्कर है। इनमें से कुछ बातों का खुलासा तो 'सुखदुःखविवेक' नामक प्रकरण में पहले ही हो चुका है। परन्तु वह विवेचन था सिर्फ़ सुखदुःख का। इसलिये वहाँ इस विषय की पूरी चर्चा नहीं की जा सकी। अतएव इस विषय की चर्चा के लिये ही यह स्वतन्त्र प्रकरण लिखा गया है। वैदिक धर्म के दो भाग हैं। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। पिछले प्रकरण में उनके भेद बतला दिये गये हैं। कर्मकाण्ड में अर्थात् ब्राह्मण आदि श्रौत ग्रंथों में और अंशतः उपनिषदों में भी ऐसे स्पष्ट वचन हैं, कि प्रत्येक गृहस्थ—फिर चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय—अग्निहोत्र करके यथाधिकार ज्योतिष्टोम आदिक यज्ञयाग करे; और विवाह करके वंश बढ़ावे। उदाहरणार्थ, "एतद्वै जरांमर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्"—इस अग्निहोत्ररूप सत्र को मरणपर्यंत जारी रखना चाहिये (श. ब्रा. १२. ४. १. १)। प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः"—वंश के धागे को टूटने न दो (तै. उ. १. ११. १)। अथवा "ईशावास्यमिदं सर्वम्" —संसार में जो कुछ है, उसे परमेश्वर से अधिष्ठित करे—अर्थात् ऐसा समझे, कि मेरा कुछ नहीं; उसी का है। और इस निष्कामबुद्धि से :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

"कर्म करते रह कर ही सौ वर्ष अर्थात् आयुष्य की मर्यादा के अन्त तक जीने की इच्छा रखे। एवं ऐसी ईशावास्य बुद्धि से कर्म करेगा, तो उन कर्मों का तुझे (पुरुष को) लेप (बन्धन) नहीं लगेगा। इसके अतिरिक्त (लेप अथवा बन्धन से बचने के लिये) दूसरा मार्ग नहीं है (ईश. १ और २); इत्यादि वचनों को देखो। परन्तु जब हम कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड में जाते हैं, तब हमारे वैदिक ग्रन्थों में ही अनेक विरुद्धपक्षीय वचन भी मिलते हैं। जैसे "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै. २. १. १)—ब्रह्मज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे. ३.–८)—बिना ज्ञानके मोक्षप्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है। "पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते। किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" (बृ. ४.४. २२ और ३. ५. १)—प्राचीन ज्ञानी पुरुषों को पुत्र आदि की इच्छा न थी; और यह समझ

कर (कि जब समस्त लोक ही हमारा आत्मा हो गया है, तब हमें (दूसरी) संतान किस लिये चाहिये ?) वे लोग सन्तति, संपत्ति, और स्वर्ग आदि में से किसी की भी 'एषणा' अर्थात् चाह नहीं करते थे। किन्तु उससे निवृत्त हो कर वे ज्ञानी पुरुष भिक्षाटन करते हुए घूमा करते थे। अथवा "इस रीति से जो लोक विरक्त हो जाते हैं, उन्हीं को मोक्ष मिलता है" (मुं.१. २. ११)। या अन्त में "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" (जाबा. ४)– जिस दिन बुद्धि विरक्त हो, उसी दिन संन्यास ले लें। इस प्रकार वेद की आज्ञा द्विविध अर्थात् दो प्रकार की होने से (म. भा. शां. २४०. ६) प्रवृत्ति और निवृत्ति या कर्मयोग और सांख्य, इनमें से जो श्रेष्ठ मार्ग हो, उसका निर्णय करने के लिये यह देखना आवश्यक है, कि कोई दूसरा उपाय है या नहीं ? आचार अर्थात् शिष्ट लोगों के व्यवहार या रीति-भाँति को देख कर इस प्रश्न का निर्णय हो सकता। परन्तु इस सम्बन्ध में शिष्टाचार भी उभयविध अर्थात् दो प्रकार का है। इतिहास से प्रगट होता है, कि शुक और याज्ञवल्क्य प्रभृति ने तो संन्यासमार्ग का--एवं जनक, श्रीकृष्ण और जैगीषव्य प्रमुख ज्ञानी पुरुषों ने कर्मयोग का--ही अवलम्बन किया था। इसी अभिप्राय से सिद्धान्त पक्ष की दलील में बादरायणाचार्य ने कहा है "तुल्यं तु दर्शनम्" (वे. सू. ३. ४. ९)--अर्थात् आचार की दृष्टि से ये दोनों पंथ समान बलवान् हैं। स्मृति वचन * भी ऐसा है :--

> विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता।
> अलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा ॥

अर्थात् "पूर्ण ब्रह्मज्ञानी पुरुष सब कर्म करके भी श्रीकृष्ण और जनक के समान अकर्ता, अलिप्त एवं सर्वदा मुक्त ही रहता है"। ऐसा ही भगवद्गीता में भी कर्मयोग की परम्परा बतलाते हुए मनु, इक्ष्वाकु आदि के नाम बतला कर कहा है, कि "एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।" (गी. ४. १५)--ऐसा जान कर प्राचीन जनक आदि ज्ञानी पुरुषों ने कर्म किया। योगवासिष्ठ और भागवत में जनक के सिवा इसी प्रकार के दूसरे बहुत-से उदाहरण दिये गये हैं (यो. ५. ७५; भाग. २ ८. ४३–४५.)। यदि किसी को शंका हो, कि जनक आदि पूर्ण ब्रह्मज्ञानी न थे; तो योगवासिष्ठ में स्पष्ट लिखा है, कि ये सब 'जीवन्मुक्त' थे। योगवासिष्ठ में ही क्यों ? महाभारत में भी कथा है, कि व्यासजी ने अपने पुत्र शुक को मोक्षधर्म का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने के लिये अन्त में जनक के यहाँ भेजा था (म. भा. शां. ३२५ और यो. २. १ देखो)। इसी प्रकार उपनिषदों में भी कथा है, कि अश्वपति कैकेय राजा ने उद्दालक ऋषि को (छां. ५. ११–२४) और काशिराज अजातशत्रु ने गार्ग्य बालाकी को (बृ. २. १) ब्रह्मज्ञान सिखाया था। परन्तु यह वर्णन कहीं नहीं मिलता, कि अश्वपति या जनक ने राजपाट छोड़ कर कर्मत्यागरूप संन्यास ले

---

* इस स्मृतिवचन मान कर आनन्दगिरि ने कठोपनिषद् (२. १९.) के शांकरभाष्य की टीका में उद्धृत किया है। नहीं मालूम यह कहाँ का वचन है।

लिया । इसके विपरीत जनकसुलभासंवाद में जनक ने स्वयं अपने विषय में कहा है, कि "हम मुक्तसङ्ग हो कर--आसक्ति छोड़ कर--राज्य करते हैं। यदि हमारे एक हाथ को चन्दन लगाओ; और दूसरे को छील डालो; तो भी उसका सुख और दुःख हमें एक-सा ही है।" अपनी स्थिति का उस प्रकार वर्णन कर (म. भा. शां. ३२०. ३६) जनक ने आगे सुलभा से कहा है :--

मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टाऽन्यैर्मोक्षवित्तमैः ।
ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम् ॥
ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः ।
कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः ॥
प्रहायोभयमप्येवं ज्ञानं कर्म च केवलम् ।
तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना ॥

अर्थात् मोक्षशास्त्र के ज्ञाता मोक्षप्राप्ति के लिये तीन प्रकार की निष्ठाएँ बतलाते हैं :--(१) ज्ञान प्राप्त कर सब कर्मों का त्याग कर देना--इसी को कुछ मोक्षशास्त्रज्ञ ज्ञाननिष्ठा कहते हैं। (२) इसी प्रकार दूसरे सूक्ष्मदर्शी लोग कर्मनिष्ठा बतलाते हैं। परन्तु केवल ज्ञान और केवल कर्म--इन दोनों निष्ठाओं को छोड़ कर (३) यह तीसरी (अर्थात् ज्ञान से आसक्ति का क्षय कर धर्म करने की) निष्ठा (मुझे) उस महात्मा (पञ्चशिख) ने बतलाई है" (म. भा. शां. ३२०. ३८-४०)। निष्ठा शब्द का सामान्य अर्थ अंतिम स्थिति, आधार या अवस्था है। परन्तु इस स्थान पर और गीता में भी निष्ठा शब्द का अर्थ "मनुष्य के जीवन का वह मार्ग, ढँग, रीति या उपाय है; जिससे आयु बिताने पर अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है"। गीता पर जो शाङ्करभाष्य है, उसमें भी निष्ठा = अनुष्ठेयतात्पर्य--अर्थात् आयुष्य या जीवन में जो कुछ अनुष्ठेय (आचरण करने योग्य) हो, उसमें तत्परता (निमग्न रहना)--यही अर्थ किया है। आयुष्यक्रम या जीवनक्रम के इन मार्गोंसे जैमिनि प्रमुख मीमांसकों ने ज्ञान को महत्त्व नहीं दिया है; किन्तु यह कहा है, कि यज्ञयाग आदि कर्म करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है :--

ईजाना बहुभिः यज्ञैः ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
शास्त्राणि चेत्प्रमाणं स्युः प्राप्तास्ते परमां गतिम् ॥

क्योंकि, ऐसा न मानने से शास्त्र की अर्थात् वेद की आज्ञा व्यर्थ हो जावेगी (जै. सू. ५. २. २३ पर शाबरभाष्य देखो)। और उपनिषत्कार तथा बादरायणाचार्य ने यह निश्चय कर--कि यज्ञयाग आदि सभी कर्म गौण हैं--सिद्धान्त किया है, कि मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। ज्ञान के सिवा और किसी से भी मोक्ष का मिलना शक्य नहीं (वे. सू. ३. ४. १, २)। परन्तु जनक कहते हैं, कि इन दोनों निष्ठाओं को छोड़ कर आसक्तिविरहित कर्म करने की एक तीसरी ही निष्ठा पञ्चशिख ने (स्वयं सांख्यमार्गी हो कर भी) हमें बतलाई है। "दोनों निष्ठाओं को छोड़

कर" इन शब्दों से प्रगट होता है, कि यह तीसरी निष्ठा, पहली दो निष्ठाओं में से किसी भी निष्ठा का अंग नहीं--प्रत्युत स्वतन्त्र रीति से वर्णित है । वेदान्तसूत्र (३.४.३२-३५) में भी जनक की इस तीसरी निष्ठा का उल्लेख किया गया है; और भगवद्गीता में जनक की इसी तीसरी निष्ठा का--इसीमें भक्ति का नया योग करके--वर्णन किया गया है । परन्तु गीता का तो यह सिद्धान्त है, कि मीमांसकों का केवल कर्मयोग अर्थात् ज्ञानविरहित कर्ममार्ग मोक्षदायक नहीं है। वह केवल स्वर्गप्रद है। (गी. २. ४२--४४; ९. २१) । इसलिये जो मार्ग मोक्षप्रद नहीं, उसे 'निष्ठा' नाम ही नहीं दिया जा सकता । क्योंकि यह व्याख्या सभी को स्वीकृत है, कि जिससे अन्त में मोक्ष मिले, उसी मार्ग को 'निष्ठा' कहना चाहिये । अतएव सब मतों का सामान्य विवेचन करते समय यद्यपि जनक ने तीन निष्ठाएँ बतलाई हैं, तथापि मीमांसकों का केवल (अर्थात् ज्ञानविरहित) कर्ममार्ग 'निष्ठा' में से पृथक् कर सिद्धान्तपक्ष में स्थिर होनेवाली दो निष्ठाएँ ही गीता के तीसरे अध्याय के आरम्भ में कही गई हैं (गी. ३. ३) । केवल ज्ञान (सांख्य) और ज्ञानयुक्त निष्कामकर्म (योग) यही दो निष्ठाएँ हैं । और सिद्धान्तपक्षीय इन दोनों निष्ठाओं में से दूसरी (अर्थात् जनक के कथनानुसार तीसरी) निष्ठा के समर्थनार्थ यह प्राचीन उदाहरण दिया गया है, कि "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय:" --जनक प्रभृति ने इस प्रकार कर्म करके ही सिद्धि पाई है । जनक आदिक क्षत्रियों की बात छोड़ दें; तो यह सर्वश्रुत है ही, कि व्यास ने विचित्रवीर्य के वंश की रक्षा के लिये धृतराष्ट्र और पाण्डु, दो क्षेत्रज पुत्र निर्माण किये थे। और तीन वर्ष तक निरन्तर परिश्रम करके संसार के उद्धार के निमित्त उन्होंने महाभारत भी लिखा है । एवं कलियुग में स्मार्त अर्थात् संन्यासमार्ग के प्रवर्तक श्रीशंकराचार्य ने भी अपने अलौकिक ज्ञान तथा उद्योग से धर्मसंस्थापना का कार्य किया था। कहाँ तक कहें ? जब स्वयं ब्रह्मदेव कर्म करने के लिये प्रवृत्त हुए, तभी सृष्टि का आरम्भ हुआ है । ब्रह्मदेव से ही मरीचि प्रभृति सात मानसपुत्रों ने उत्पन्न हो कर संन्यास न ले, सृष्टिक्रम को जारी रखने के लिये मरणपर्यंत प्रवृत्तिमार्ग को ही अङ्गीकार किया; और सनत्कुमार प्रभृति दूसरे सात मानसपुत्र जन्म से ही विरक्त अर्थात् निवृत्तिपंथी हुए--इस कथा का उल्लेख महाभारत में वर्णित नारायणीयधर्मनिरूपण में है (म. भा. शां. ३३९ और ३४०) । ब्रह्मज्ञानी पुरुषों ने और ब्रह्मदेव ने भी कर्म करते रहने के ही इस प्रवृत्तिमार्ग को क्यों अंगीकार किया ? इसकी उपपत्ति वेदान्तसूत्र में इस प्रकार दी है "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिणाम्" (वे. सू. ३.३. ३२)--जिसका जो ईश्वरनिर्मित अधिकार है, उसके पूरे न होने तक कार्यों से छुट्टी नहीं मिलती । इस उपपत्ति की जाँच आगे की जावेगी । उपपत्ति कुछ ही क्यों न हो ? पर यह बात निर्विवाद है, कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों पन्थ ब्रह्मज्ञानी पुरुषों में संसार के आरम्भ से प्रचलित हैं । इससे यह भी प्रगट है, कि इनमें से किसी की श्रेष्ठता का निर्णय सिर्फ़ आचार की ओर ध्यान दे कर किया नहीं जा सकता ।

इस प्रकार पूर्वाचार द्विविध होने के कारण केवल आचार से ही यद्यपि यह निर्णय नहीं हो सकता, कि निवृत्ति श्रेष्ठ है या प्रवृत्ति ? तथापि संन्यासमार्ग के लोगों की यह दूसरी दलील है, कि—यदि यह निर्विवाद है, कि बिना कर्मबन्ध से छूटे मोक्ष नहीं होता, तो ज्ञानप्राप्ति हो जाने पर तृष्णामूलक कर्मों का झगड़ा जितनी जल्दी हो सके, तोडने में ही श्रेय है । महाभारत के शुकानुशासन में—इसी को 'शुकानुप्रश्न' भी कहते हैं—संन्यासमार्ग का ही प्रतिपादन है । वहाँ शुक ने व्यासजी से पूछा है :—

यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ।
कां दिशं विद्यया यान्ति कां च गच्छन्ति कर्मणा ॥

"वेद, कर्म करने के लिये भी कहता है; और छोड़ने के लिये भी । तो अब मुझे बतलाइये, कि विद्या से अर्थात् कर्मरहित ज्ञान से और केवल कर्म से कौन-सी गति मिलती है ?" (शां. २४०. १) इसके उत्तर में व्यासजी ने कहा है :—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वंति यतयः पारदर्शिनः ॥

"कर्म से प्राणी बँध जाता है; और विद्या से मुक्त हो जाता है । इसी से पारदर्शी यति अथवा संन्यासी कर्म नहीं करते" (शां. २४०. ७) । इस श्लोक के पहले चरण का विवेचन हम पिछले प्रकरण में कर आये हैं । "कर्मणा बध्यते जंतुर्विद्यया तु प्रमुच्यते" इस सिद्धान्त पर कुछ वाद नहीं है । परन्तु स्मरण रहे, कि वहाँ यह दिखलाया है, कि "कर्मणा बध्यते" का विचार करने से सिद्ध होता है, कि जड़ अथवा अचेतन कर्म किसी को न तो बाँध सकता है; और न छोड सकता है । मनुष्य फलाशा से अथवा अपनी आसक्ति से कर्मों में बँध जाता है । इस आसक्ति से अलग हो कर वह यदि केवल बाह्य इन्द्रियों से कर्म करे, तब भी वह मुक्त ही है । रामचन्द्रजी इसी अर्थ को मन में ला कर अध्यात्म रामायण (२. ४. ४२.) में लक्ष्मण से कहते हैं, कि :—

प्रवाहपतितः कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते ।
बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव ॥

"कर्ममय संसार के प्रवाह में पड़ा हुआ मनुष्य बाहरी सब प्रकार के कर्तव्यकर्म करके भी अलिप्त रहता है" । अध्यात्मशास्त्र के इस सिद्धान्त पर ध्यान देने से दीख पड़ता है, कि कर्मों को दुःखमय मान कर उनके त्यागने की आवश्यकता ही नहीं रहती । मन को शुद्ध और सम करके फलाशा छोड़ देने से ही सब काम हो जाता है । तात्पर्य यह, कि यद्यपि ज्ञान और काम्यकर्म का विरोध हो, तथापि निष्कामकर्म और ज्ञान के बीच कोई भी विरोध हो नहीं सकता । इसी से अनुगीता में "तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति"—अतएव कर्म नहीं करते—इस वाक्य के बदले,

तस्मात्कर्मसु निःस्नेहा ये केचित्पारदर्शिनः ।

"इससे पारदर्शी पुरुष कर्म में आसक्ति नहीं रखते" (अश्व. ५१. ३३) यह वाक्य आया है। इससे पहले कर्मयोग का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। जैसे :—

कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चितः।
अनाशीर्योगसंयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः ॥

अर्थात् "जो ज्ञानी पुरुष श्रद्धा से फलाशा न रख कर (कर्म–) योगमार्ग का अवलम्ब करके कर्म करते हैं, वे ही साधुदर्शी हैं" (अश्व. ५०. ६. ७)। इसी प्रकार

यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।

इस पूर्वार्ध में जुड़ा हुआ ही, वनपर्व में युधिष्ठिर को शौनक का यह उपदेश है :—

तस्माद्धर्मानिमान् सर्वान्नाभिमानात् समाचरेत्।

अर्थात् "वेद में कर्म करने और छोड़ने की भी आज्ञा है; इसलिये (कर्तृत्व का) अभिमान छोड़ कर हमें अपने सब कर्म करना चाहिये" (वन. २. ७३)। शुकानुप्रश्न में भी व्यासजी ने शुक से दो बार स्पष्ट कहा है, कि :—

एषा पूर्वतरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते।
ज्ञानवानेव कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति ॥

"ब्राह्मण की पूर्व की पुरानी (पूर्वतर) वृत्ति यही है, कि ज्ञानवान् हो कर सब काम करके ही सिद्धि प्राप्त करे" (म. भा. शां. २३७. १; २३४. २९)। यह भी प्रगट है, कि यहाँ "ज्ञानवानेव" पदसे ज्ञानोत्तर और ज्ञानयुक्त कर्म ही विवक्षित है। अब यदि दोनों पक्षों के उक्त सब वचनों का निराग्रहबुद्धि से विचार किया जाय, तो मालूम होगा, कि "कर्मणा बध्यते जंतुः" इस दलील से सिर्फ़ कर्मत्यागविषयक यह एक ही अनुमान निष्पन्न नहीं होता, कि "तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति" (इससे काम नहीं करते)। किन्तु उसी दलील से यह निष्काम कर्मयोगविषयक दूसरा अनुमान भी उतनी ही योग्यता का सिद्ध होता है, कि "तस्मात्कर्मसु निःस्नेहाः"—इससे कर्म में आसक्ति नहीं रखते। सिर्फ़ हम ही इस प्रकार के दो अनुमान नहीं करते; बल्कि व्यासजी ने भी यही अर्थ शुकानुप्रश्न के निम्न श्लोक में स्पष्टतया बतलाया है :—

द्वाविमावथ पन्थानौ यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः निवृत्तिश्च विभाषिताः ॥ *

"इन दोनों मार्गों को वेदों का (एक-सा) आधार है—एक मार्ग प्रवृत्तिविषयक धर्म का और दूसरा निवृत्ति अर्थात् संन्यास लेने का है" (म. भा. शां. २४०. ६)।

---

* इस अन्तिम चरण के 'निवृत्तिश्च सुभाषितः' और 'निवृत्तिश्च विभाषितः' ऐसे पाठभेद भी हैं। पाठभेद कुछ भी हो; पर प्रथम 'द्वाविमौ' यह पद अवश्य है; जिससे इतना तो निर्विवाद सिद्ध होता है, कि दोनों पन्थ स्वतन्त्र हैं।

पहले लिख ही चुके हैं, कि इसी प्रकार नारायणीय धर्म में भी इन दोनों पन्थों का पृथक् पृथक् स्वतंत्ररीति से, एवं सृष्टि के आरम्भ से प्रचलित होने का वर्णन किया गया है । परन्तु स्मरण रहे, कि महाभारत में प्रसंगानुसार इन दोनों पन्थों का वर्णन पाया जाता है । इसलिये प्रवृत्तिमार्ग के साथ ही निवृत्तिमार्ग के समर्थक वचन भी उसी महाभारत में ही पाये जाते हैं । गीता की संन्यासमार्गीय टीकाओं में निवृत्तिमार्ग के इन वचनों को ही मुख्य समझकर ऐसा प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया गया है । मानों इसके सिवा और दूसरा पन्थ ही नहीं है । और यदि हो भी, तो वह गौण है—अर्थात् संन्यासमार्ग का केवल अंग है । परन्तु यह प्रतिपादन साम्प्रदायिक आग्रह का है; और इसी से गीता का अर्थ सरल एवं स्पष्ट रहने पर भी आजकल वह बहुतों को दुर्बोध हो गया है । "लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा" (गी. ३.३) इस श्लोक की बराबरी का ही "द्वाविमावथ पन्थानौ" यह श्लोक है । इससे प्रगट होता है, कि इस स्थान पर दो समान बलवाले मार्ग बतलाने का हेतु है । परन्तु इस स्पष्ट अर्थ की ओर अथवा पूर्वापर सन्दर्भ की ओर ध्यान न देकर कुछ लोग इसी श्लोक में यह दिखलाने का यत्न किया करते हैं, कि दोनों मार्गों के बदले एक ही मार्ग प्रतिपाद्य है ।

इस प्रकार यह प्रगट हो गया, कि कर्मसंन्यास (सांख्य) और निष्काम कर्म (योग), दोनों वैदिक धर्म के स्वतन्त्र मार्ग हैं; और उनके विषय में गीता का यह निश्चित सिद्धान्त है, कि वे वैकल्पिक नहीं हैं । किन्तु "संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की योग्यता विशेष है ।" अब कर्मयोग के सम्बन्ध में गीता में आगे कहा है, कि जिस संसार में हम रहते हैं, वह संसार और उसमें हमारा क्षणभर जीवित रहना भी जब कर्म ही है; तब कर्म छोड़ कर जावें कहाँ ? और यदि इस संसार में अर्थात् कर्मभूमि में ही रहना हो, तो कर्म छूटेंगे ही कैसे ? हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं, कि जब तक देह है, तब तक भूख और प्यास जैसे विकार नहीं छूटते हैं (गी. ५. ८, ९) । और उनके निवारणार्थ भिक्षा माँगना जैसा लज्जित कर्म करने के लिये भी संन्यासमार्ग के अनुसार यदि स्वतंत्रता है, तो अनासक्तबुद्धि से अन्य व्यावहारिक शास्त्रोक्त कर्म करने के लिये ही प्रत्यवाय कौन-सा है ? यदि कोई इस डर से अन्य कर्मों का त्याग करता हो, कि कर्म करने से कर्मपाश में फँस कर ब्रह्मानन्द से वञ्चित रहेंगे; अथवा ब्रह्मात्मैक्यरूप अद्वैतबुद्धि विचलित हो जायगी; तो कहना चाहिये, कि अब तक उसका मनोनिग्रह कच्चा है । और मनोनिग्रह के कच्चे रहते हुए किया हुआ कर्मत्याग गीता के अनुसार मोह का अर्थात् तामस अथवा मिथ्याचरण है (गी. १८. ७; ३. ६) । ऐसी अवस्था में यह अर्थ आप-ही-आप प्रगट होता है, कि ऐसे कच्चे मनोनिग्रह को चित्तशुद्धि के द्वारा पूर्ण करने के लिये निष्कामबुद्धि बढ़ानेवाले यज्ञ, दान प्रभृति गृहस्थाश्रम के श्रौत या स्मार्त कर्म ही उस मनुष्य को करना चाहिये । सारांश, ऐसा कर्मत्याग कभी श्रेयस्कर नहीं होता । यदि कहें, कि मन निर्विषय है; और वह उसके अधीन है; तो फिर

उसे कर्म का डर ही किसलिये है ? अथवा कर्मों के न करने का व्यर्थ आग्रह ही वह क्यों करे ? बरसाती छत्ते की परीक्षा जिस प्रकार पानी में ही होती है, उसी प्रकार या–

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः।

"जिन कारणों से विकार उत्पन्न होता है, वे कारण अथवा विषय दृष्टि के आगे रहने पर भी जिनका अन्तःकरण मोह के पंजे में नहीं फँसता, वे ही पुरुष धैर्य-शाली कहे जाते हैं" (कुमार. १. ५९)––कालिदास के इस व्यापक न्याय से कर्मों के द्वारा ही मनोनिग्रह की जाँच हुआ करती है; और स्वयं कार्यकर्ता को तथा और लोगों को भी ज्ञात हो जाता है, कि मनोनिग्रह पूर्ण हुआ या नहीं। इस दृष्टि से भी यही सिद्ध होता है, कि शास्त्र से प्राप्त (अर्थात् प्रवाहपतित) कर्म करना ही चाहिये (गी. १८. ९)। अच्छा; यदि कहो, कि "मन वश में है; और यह डर भी नहीं, कि जो चित्तशुद्धि प्राप्त हो चुकी है, वह कर्म करने से बिगड़ जावेगी। परन्तु ऐसे व्यर्थ कर्म करके शरीर को कष्ट देना नहीं चाहते, कि जो मोक्ष-प्राप्ति के लिये आवश्यक हैं;" तो यह कर्मत्याग 'राजस' कहलावेगा। क्योंकि यह कायक्लेश का भय कर केवल इस क्षुद्रबुद्धि से किया गया है, कि देह को कष्ट होगा। और त्याग से जो फल मिलना चाहियें, वह ऐसे 'राजस' कर्मत्यागी को नहीं मिलता (गी. १८. ८)। फिर यही प्रश्न है, कि कर्म छोड़े ही क्यों ? यदि कोई कहे, कि "सब कर्म मायासृष्टि के हैं; अतएव अनित्य हैं। इससे इन कर्मों की झंझट में पड़ जाना ब्रह्मसृष्टि के नित्य आत्मा को उचित नहीं"। तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि जब स्वयं परब्रह्म ही माया से आच्छादित है, तब यदि मनुष्य भी उसी के अनुसार माया में व्यवहार करे, तो क्या हानि है ? मायासृष्टि और ब्रह्मसृष्टि के भेद से जिस प्रकार इस जगत् के दो भाग किये गये हैं, उसी प्रकार आत्मा और देहेन्द्रियों के भेद से मनुष्य के भी दो भाग हैं। इनमें से आत्मा और ब्रह्म का संयोग करके ब्रह्म में आत्मा का लय कर दो। और इस ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से बुद्धि को निःसंग रख कर केवल मायिक देहेन्द्रियों-द्वारा मायासृष्टि के व्यवहार किया करो। बस; इस प्रकार बर्ताव करने से मोक्ष में कोई प्रतिबन्ध न आवेगा। और उक्त दोनों भागों का जोड़ा आपस में मिल जाने से सृष्टि के किसी भाग की उपेक्षा या विच्छेद करने का दोष भी न लगेगा; तथा ब्रह्मसृष्टि एवं मायासृष्टि––परलोक और इहलोक––दोनों के कर्तव्यपालन का श्रेय भी मिल जायगा। ईशोपनिषद् में इसी तत्त्व का प्रतिपादन है (ईश. ११)। इन श्रुतिवचनों का आगे विस्तार-सहित विचार किया जावेगा। यहाँ इतना ही कह देते हैं, कि गीता में जो कहा है, कि "ब्रह्मात्मैक्य के अनुभवी ज्ञानी पुरुष मायासृष्टि के व्यवहार केवल शरीर अथवा केवल इन्द्रियों से ही किया करते हैं" (गी. ४. २१; ५. १२), उसका तात्पर्य भी वही है; और इसी उद्देश से अठारहवें अध्याय में यह सिद्धान्त किया है, कि "निस्संगबुद्धि से, फलाशा छोड़ कर (केवल कर्तव्य समझ कर) कर्म करना ही सच्चा 'सात्त्विक' कर्मत्याग है"––कर्म छोड़ना सच्चा कर्मत्याग नहीं है

(गी. १८. ६)। कर्म मायासृष्टि के ही क्यों न हों ? परन्तु किसी अगम्य उद्देश से परमेश्वर ने ही तो उन्हें बनाया है। उनको बन्द करना मनुष्य के अधिकार की बात नहीं। वह परमेश्वर के अधीन हैं। अतएव यह बात निर्विवाद है, कि बुद्धि निःसङ्ग रख कर केवल शारीर कर्म करने से वे मोक्ष के बाधक नहीं होते। तब चित्त को विरक्त कर केवल इन्द्रियों से शास्त्रसिद्ध कर्म करने में हानि ही क्या है ? गीता में कहा ही है, कि--"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत" (गी. ३. ५; १८. ११)--इस जगत् में कोई एक क्षणभर भी बिना कर्म के रह नहीं सकता। और अनुगीता में कहा है "नैष्कर्म्यं न च लोकेस्मिन् मुहूर्तमपि लभ्यते" (अश्व. २०. ७)--इस लोक में (किसी से भी) घड़ीभर के लिये भी कर्म नहीं छूटते। मनुष्यों की तो बिसात ही क्या! सूर्यचन्द्र प्रभृति भी निरन्तर कर्म ही करते रहते हैं। अधिक क्या कहें ? यह निश्चित सिद्धान्त है, कि कर्म ही सृष्टि और सृष्टि ही कर्म है। इसीलिये हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि सृष्टि की घटनाओं को (अथवा कर्म को) क्षणभर के लिये भी विश्राम नहीं मिलता। देखिये; एक ओर भगवान् गीता में कहते हैं--"कर्म छोड़ने से खाने को भी न मिलेगा" (गी. ३. ८); दूसरी ओर वनपर्व में द्रौपदी युधिष्ठिर से कहती है--"अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न हि काचन" (वन. ३२. ८)। अर्थात् कर्म के बिना प्राणिमात्र का निर्वाह नहीं; और इसी प्रकार दासबोध में पहले ब्रह्मज्ञान बतला कर श्रीसमर्थ रामदासस्वामी भी कहते हैं "यदि प्रपञ्च छोड़ कर परमार्थ करोगे, तो खाने के लिये अन्न भी न मिलेगा" (दा. १२. १. ३)। अच्छा; भगवान् का ही चरित्र देखो। मालूम होगा, कि आप प्रत्येक युग में भिन्न भिन्न अवतार ले कर इस मायिक जगत् में साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाशरूप कर्म करते आ रहे हैं (गी. ४. ८ और म. भा. शां. ३३६, १०३ देखो)। उन्हों ने गीता में कहा है, कि यदि मैं ये कर्म न करूँ, तो संसार उजड़ कर नष्ट हो जावेगा (गी. ३. २४)। इससे सिद्ध होता है, कि जब स्वयं भगवान् जगत् के धारणार्थ कर्म करते हैं, तब इस कथन से क्या प्रयोजन है, कि ज्ञानोत्तर कर्म निरर्थक है ? अतएव "यः क्रियावान् स पण्डितः" (म. भा. वन. ३१२. १०८) --जो क्रियावान् है, वही पण्डित है--इस न्याय के अनुसार अर्जुन को निमित्त कर भगवान् सब को उपदेश करते हैं, कि इस जगत् में कर्म किसी से छूट नहीं सकते। कर्मों की बाधासे बचने के लिये मनुष्य अपने धर्मानुसार प्राप्त कर्तव्य को फलाशा त्याग कर अर्थात् निष्कामबुद्धि से सदा करता रहे--यही एक मार्ग (योग) मनुष्य के अधिकार में है; और यही उत्तम भी है। प्रकृति तो अपने व्यवहार सदैव ही करती रहेगी। परन्तु उसमें कर्तृत्व के अभिमान की बुद्धि छोड़ देने से मनुष्य मुक्त ही है (गी. ३. २७; १३. २६; १४. १६; १८. १६)। मुक्ति के लिये कर्म छोड़ने की या सांख्यों के कथनानुसार कर्मसंन्यासरूप वैराग्य की ज़रूरत नहीं। क्योंकि इस कर्मभूमि में कर्म का पूर्णतया त्याग कर डालना शक्य ही नहीं है।

इस पर भी कुछ लोग कहते हैं--हाँ; माना कि कर्मबन्ध तोड़ने के लिये कर्म

छोड़ने की जरूरत नहीं है, सिर्फ़ कर्मफलाशा छोड़ने से ही सब निर्वाह हो जाता है। परन्तु जब ज्ञानप्राप्ति से हमारी बुद्धि निष्काम हो जाती है, तब सब वासनाओं का क्षय हो जाता है; और कर्म करने की प्रवृत्ति होने के लिये कोई भी कारण नहीं रह जाता। तब ऐसी अवस्था में अर्थात् वासना के क्षय से--कायक्लेशभय से नहीं--सब कर्म आप-ही-आप छूट जाते हैं। इस संसार में मनुष्य का परम पुरुषार्थ मोक्ष ही है। जिसे ज्ञान से वह मोक्ष प्राप्त हो जाता है, उसे प्रजा, सम्पत्ति अथवा स्वर्गादि लोकों के सुख में से किसी की भी "एषणा" (इच्छा) नहीं रहती (बृ. ३. ५. १ और ४. ४. २२)। इसलिये कर्मों को न छोड़ने पर भी अन्त में उस ज्ञान का स्वाभाविक परिणाम यही हुआ करता है, कि कर्म आप-ही-आप छूट जाते हैं। इसी अभिप्राय से उत्तरगीता में कहा है :--

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

"ज्ञानामृत पी कर कृतकृत्य हो जानेवाले पुरुष का फिर आगे कोई कर्तव्य नहीं रहता; और यदि रह जाय, तो वह तत्त्ववित् अर्थात् ज्ञानी नहीं है" (१. २३)*। यदि किसी को शंका हो, कि यह ज्ञानी पुरुष का दोष है; तो ठीक नहीं। क्योंकि श्रीशंकराचार्य ने कहा है "अलंकारो ह्ययमस्माकं यद्ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः" (वे. सू. शां. भा. १. १. ४)--अर्थात् यह तो ब्रह्मज्ञानी पुरुष का एक अलङ्कार ही है। उसी प्रकार गीता में भी ऐसे वचन हैं। जैसे--"तस्य कार्यं न विद्यते" (गी. ३. १७)--ज्ञानी को आगे करने के लिये कुछ नहीं रहता। उसे समस्त वैदिक कर्मों का कोई प्रयोजन नहीं (गी. २. ४६)। अथवा "योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते" (गी. ६. ३)--जो योगारूढ हो गया, उसे शम ही कारण है। इन वचनों के अतिरिक्त "सर्वारम्भपरित्यागी" (गी. १२. १६) अर्थात् समस्त उद्योग छोड़नेवाला और "अनिकेतः" (गी. १२. १९) अर्थात् बिना घर-द्वार का, इत्यादि विशेषण भी ज्ञानी पुरुष के लिये गीता में प्रयुक्त हुए हैं। इन सब बातों से कुछ लोगों की यह राय है--भगवद्गीता को यह मान्य है, कि ज्ञान के पश्चात् कर्म तो आप-ही-आप छूट जाते हैं। परन्तु हमारी समझ में गीता के वाक्यों के ये अर्थ और उपर्युक्त युक्तिवाद भी ठीक नहीं। इसी से इसके विरुद्ध हमें जो कुछ कहना है, उसे अब संक्षेप में कहते हैं।

सुखदुःखविवेक प्रकरण में हमने दिखलाया है, कि गीता इस बात को नहीं मानती, कि 'ज्ञानी होने से मनुष्य की सब प्रकार की इच्छाएँ या वासनाएँ छूट ही जानी चाहिये।' सिर्फ़ इच्छा या वासना रहने में कोई दुःख नहीं। दुःख की सच्ची जड़

* यह समझ ठीक नहीं, कि यह श्लोक श्रुति का है। वेदान्तसूत्र के शांकरभाष्य में यह श्लोक नहीं है। परन्तु सनत्सुजातीय के भाष्य में आचार्य ने इसे लिया है; और वहाँ कहा है, कि यह लिंगपुराण का श्लोक है। इसमें सन्देह नहीं, कि यह श्लोक संन्यासमार्गवालों का है; कर्मयोगियों का नहीं। बौद्ध धर्मग्रन्थों में भी ऐसे ही वचन हैं (देखो परिशिष्ट प्रकरण)।

है उसकी आसक्ति । इससे गीता का सिद्धान्त है, कि सब प्रकार की वासनाओं को नष्ट करने के बदले ज्ञाता को उचित है, कि केवल आसक्ति को छोड़ कर कर्म करे। यह नहीं, कि इस आसक्ति के छूटने से उसके साथ ही कर्म भी छूट जावें। और तो क्या? वासना के छूट जाने पर भी सब कर्मों का छूटना शक्य नहीं। वासना हो या न हो; हम देखते हैं, कि श्वासोच्छ्वास प्रभृति कर्म नित्य एक-से हुआ करते हैं। और आखिर क्षणभर जीवित रहना भी तो कर्म ही है; एवं वह पूर्ण ज्ञान होने पर भी अपनी वासना से अथवा वासना के क्षय से छूट नहीं सकता। यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है, कि वासना के छूट जाने से कोई ज्ञानी पुरुष अपना प्राण नहीं खो बैठता; और इसी से गीता में यह वचन कहा है--" न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् " (गी. ३. ५)--कोई क्यों न हो? बिना कर्म किये रह नहीं सकता। गीताशास्त्र के कर्मयोग का पहला सिद्धान्त यह है, कि इस कर्मभूमि में कर्म तो निसर्ग से ही प्राप्त, प्रवाहपतित और अपरिहार्य हैं। वे मनुष्य की वासना पर अवलम्बित नहीं हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाने पर--कि कर्म और वासना का परस्पर नित्य सम्बन्ध नहीं है। वासना के क्षय के साथ ही कर्म का भी क्षय मानना निराधार हो जाता है--फिर यह प्रश्न सहज ही होता है, कि वासना का क्षय हो जाने पर भी ज्ञानी पुरुष को प्राप्त कर्म किस रीति से करना चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर गीता के तीसरे अध्याय में दिया गया है (गी. ३. १७-१९ और उस पर हमारी टीका देखो)। गीता को यह मत मान्य है, कि ज्ञानी पुरुष को ज्ञान के पश्चात् स्वयं अपना कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। परन्तु इसके आगे बढ़ कर गीता का यह भी कथन है, कि कोई भी क्यों न हो? वह कर्म से छुट्टी नहीं पा सकता। कई लोगों को ये दोनों सिद्धान्त परस्परविरोधी जान पड़ते हैं, कि ज्ञानी पुरुष को कर्तव्य नहीं रहता; और कर्म नहीं छूट सकते। परन्तु गीता की बात ऐसी नहीं है। गीता ने उनका यों मेल मिलाया है :--जब कि कर्म अपरिहार्य है, तब ज्ञानप्राप्ति के बाद भी ज्ञानी पुरुष को कर्म करना ही चाहिये। चूँकि उसको स्वयं अपने लिये कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। इसलिये अब उसे अपने सब कर्म निष्कामबुद्धि से करना ही उचित है। सारांश, तीसरे अध्याय के १७ वें श्लोक के " तस्य कार्यं न विद्यते " वाक्य में, 'कार्यं न विद्यते' इन शब्दों की अपेक्षा, 'तस्य' (अर्थात् उस ज्ञानी पुरुष के लिये) शब्द अधिक महत्त्व का है। और उसका भावार्थ यह है, कि 'स्वयं उसको' अपने लिये कुछ प्राप्त नहीं करना होता। इसीलिये अब (ज्ञान हो जाने पर) उसको अपना कर्तव्य निरपेक्षबुद्धि से करना चाहिये। आगे १९ वें श्लोक में कारणबोधक 'तस्मात्' पद का प्रयोग कर अर्जुन को इसी अर्थ का उपदेश दिया है " तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार " (गी. ३. १९)--इसी से तू शास्त्र से प्राप्त अपने कर्तव्य को आसक्ति न रख कर करता जा। कर्म का त्याग मत कर। तीसरे अध्याय के १७ से १९ तक तीन श्लोकों से जो कार्यकारणभाव व्यक्त होता है, उसपर और अध्याय के समूचे प्रकरण के सन्दर्भ पर ठीक ठीक ध्यान देने से दीख पड़ेगा, कि संन्यास-

मार्गियों के कथनानुसार 'तस्य कार्यं न विद्यते' इसे स्वतंत्र सिद्धांत मान लेना उचित नहीं। इसके लिये उत्तम प्रमाण आगे दिये हुए उदाहरण हैं। 'ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् कोई कर्तव्य न रहने पर भी शास्त्र से प्राप्त समस्त व्यवहार करने पड़ते हैं' —इस सिद्धान्त की पुष्टि में भगवान् कहते हैं :—

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

"हे पार्थ! 'मेरा' इस त्रिभुवन में कुछ भी कर्तव्य (बाक़ी) नहीं है अथवा कोई अप्राप्त वस्तु पाने की (वासना) रही नहीं है। तथापि मैं कर्म करता ही हूँ" (गी. ३. २२)। "न मे कर्तव्यमस्ति" (मुझे कर्तव्य नहीं रहा है)। ये शब्द पूर्वोक्त श्लोक के "तस्य कार्यं न विद्यते" (उसको कुछ कर्तव्य नहीं रहता) इन्हीं शब्दों को लक्ष्य करके कहे गये हैं। इससे सिद्ध होता है, कि इन चार पाँच श्लोकों का भावार्थ यही है :—"ज्ञान से कर्तव्य के शेष न रहने पर भी (किंबहुना इसी कारण से) शास्त्रतः प्राप्त समस्त व्यवहार अनासक्तबुद्धि से करना ही चाहिये।" यदि ऐसा न हो, तो 'तस्य कार्यं न विद्यते' इत्यादि श्लोकों में बतलाये हुए सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिये भगवान् ने जो अपना उदाहरण दिया है, वह (अलग) असंबद्ध-सा हो जायगा; और यह अनवस्था प्राप्त हो जायगी, कि सिद्धान्त तो कुछ और है; और उदाहरण ठीक उसके विरुद्ध कुछ और ही है। उस अनवस्था को टालने के लिये संन्यासमार्गीय टीकाकार "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर" के 'तस्मात्' शब्द का अर्थ भी निराली रीति से किया करते हैं। उनका कथन है, कि गीता का मुख्य सिद्धान्त तो यही है, कि ज्ञानी पुरुष कर्म छोड़ दे। परन्तु अर्जुन ऐसा ज्ञानी था नहीं इसलिये—'तस्मात्'—भगवान् ने उसे कर्म करने के लिये कहा है। हम ऊपर कह आये हैं, कि 'गीता के उपदेश के पश्चात् भी अर्जुन अज्ञानी ही था' यह युक्ति ठीक नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि 'तस्मात्' शब्द का अर्थ इस प्रकार खींच तान कर लगा भी लिया, तो "न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यम्" प्रभृति श्लोकों में भगवान् ने—"अपने किसी कर्तव्य के न रहने पर भी मैं कर्म करता हूँ" यह जो अपना उदाहरण मुख्य सिद्धान्त के समर्थन में दिया है, उसका मेल भी इस पक्ष में अच्छा नहीं जमता। इसलिये "तस्य कार्यं न विद्यते" वाक्य में 'कार्यं न विद्यते' शब्दों को मुख्य न मान कर 'तस्य' शब्द को ही प्रधान मानना चाहिये। और ऐसा करने से "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर" का अर्थ यही करना पड़ता है, कि "तू ज्ञानी है; इसलिये यह सच है, कि तुझे अपने स्वार्थ के लिये कर्म अनावश्यक हैं। परन्तु स्वयं तेरे लिये कर्म अनावश्यक हैं; इसीलिये अब तू उन कर्मों को (जो शास्त्र से प्राप्त हुए हैं) 'मुझे आवश्यक नहीं' इस बुद्धि से अर्थात् निष्कामबुद्धि से कर।" थोड़े में यह अनुमान निकलता है, कि कर्म छोड़ने का यह कारण नहीं हो सकता, कि 'वह हमें अनावश्यक है।' किन्तु कर्म अपरिहार्य हैं। इस कारण शास्त्र से प्राप्त अपरिहार्य कर्मों को स्वार्थत्यागबुद्धि से

करते ही रहना चाहिये । यही गीता का कथन है । और यदि प्रकरण की समता की दृष्टि से देखें, तो भी यही अर्थ लेना पड़ता है । कर्मसंन्यास और कर्मयोग, इन दोनों में जो बड़ा अन्तर है, वह यही है । संन्यासपक्षवाले कहते हैं, कि "तुझे कुछ कर्तव्य शेष नहीं बचा है। इससे तू कुछ भी न कर।" और गीता (अर्थात् कर्मयोग) का कथन है, कि "तुझे कुछ कर्तव्य शेष नहीं बचा है । इसलिये अब तुझे जो कुछ करना है, वह स्वार्थसम्बन्धी वासना छोड़ कर अनासक्तबुद्धि से कर।" अब प्रश्न यह है, कि एक ही हेतुवाक्य से इस प्रकार भिन्न भिन्न दो अनुमान क्यों निकले ? इसका उत्तर इतना ही है, कि गीता कर्मों को अपरिहार्य मानती है। इस-लिये गीता के तत्त्वविचार के अनुसार यह अनुमान निकल ही नहीं सकता, कि 'कर्म छोड़ दो'। अतएव 'तुझे अनावश्यक है' इस हेतुवाक्य से ही गीता में यह अनुमान किया गया है, कि स्वार्थबुद्धि छोड़ कर कर्म कर। वसिष्ठजी ने योगवासिष्ठ में श्रीरामचन्द्र को सब ब्रह्मज्ञान बतला कर निष्कामकर्म की ओर प्रवृत्त करने के लिये जो युक्तियाँ बतलाई हैं, वे भी इसी प्रकार की हैं । योगवासिष्ठ के अन्त में भगवद्-गीता का उपर्युक्त सिद्धान्त ही अक्षरशः हूबहू आ गया है (यो. ६. उ. १९९ और २१६. १४; तथा गी. ३. १९ के अनुवाद पर हमारी टिप्पणी देखो) । योग-वासिष्ठ के समान ही बौद्धधर्म के महायान पन्थ के ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में गीता का अनुवाद किया गया है । परन्तु विषयान्तर होने के कारण उसकी चर्चा यहाँ नहीं की जा सकती। हमने इसका विचार आगे परिशिष्ट प्रकरण में कर दिया है ।

आत्मज्ञान होने से 'मैं' और 'मेरा' यह अहंकार की भाषा ही नहीं रहती (गी. १८. १६ और २६) । एवं इसी से ज्ञानी पुरुष को 'निर्-मम' कहते हैं । निर्मम का अर्थ 'मेरा—मेरा (मम) न कहनेवाला है।' परन्तु भूल न जाना चाहिये, कि यद्यपि ब्रह्मज्ञान से 'मैं' और 'मेरा' यह अहंकारदर्शक भाव छूट जाता है; तथापि उन दो शब्दों के बदले 'जगत्' और 'जगत् का'—अथवा भक्ति-पक्ष में 'परमेश्वर' और 'परमेश्वर का'—ये शब्द आ जाते हैं। संसार का प्रत्येक सामान्य मनुष्य अपने समस्त व्यवहार 'मेरा' या 'मेरे लिये' ही समझ कर किया करता है । परन्तु ज्ञानी होने पर, ममत्व की वासना छूट जाने के कारण वह इस बुद्धि से (निर्मम बुद्धि से) उन व्यवहारों को करने लगता है, कि ईश्वरनिर्मित संसार के समस्त व्यवहार परमेश्वर के हैं; और उनको करने के लिये ही ईश्वर ने हमें उत्पन्न किया है । अज्ञानी और ज्ञानी में यही तो भेद है (गी. ३. २७. २८) । गीता के इस सिद्धान्त पर ध्यान देने से ज्ञात हो जाता है, कि "योगारूढ पुरुष के लिये शम ही कारण होता है" (गी. ६. ३ और उस पर हमारी टिप्पणी देखो) । इस श्लोक का सरल अर्थ क्या होगा ? गीता के टीकाकार कहते हैं—इस श्लोक में कहा गया है, कि योगारूढ पुरुष आगे (ज्ञान हो जाने पर) शम अर्थात् शान्ति को स्वीकार करें। और कुछ न करें। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। शम मन की

शान्ति है। उसे अन्तिम 'काय' न कह कर इस श्लोक में यह कहा है, कि शम अथवा शान्ति दूसरे किसी का कारण है--शमः कारणमुच्यते। अब शम को 'कारण' मान कर देखना चाहिये, कि आगे उसका 'कार्य' क्या है ? पूर्वापर सन्दर्भ पर विचार करने से यही निष्पन्न होता है, कि वह कार्य 'कर्म' ही है। और तब इस श्लोक का अर्थ ऐसा होता है, कि योगारूढ पुरुष अपने चित्त को शांत करें तथा उस शान्ति या शम से ही अपने सब अगले व्यवहार करें--टीकाकारों के कथनानुसार यह अर्थ नहीं किया जा सकता, कि 'योगारूढ पुरुष कर्म छोड़ दे'। इसी प्रकार 'सर्वारम्भ परित्यागी' और 'अनिकेतः' प्रभृति पदों का अर्थ भी कर्मत्यागविषयक नहीं, फलाशात्यागविषयक ही करना चाहिये। गीता के अनुवाद में (उन स्थलों पर जहाँ ये पद आये हैं) हमने टिप्पणी में यह बात खोल दी है। भगवान् ने यह सिद्ध करने के लिये--कि ज्ञानी पुरुष को भी फलाशा त्याग कर चातुर्वर्ण्य आदि सब कर्म यथाशास्त्र करते रहना चाहिये--अपने अतिरिक्त दूसरा उदाहरण जनक का दिया है। जनक एक बड़े कर्मयोगी थे। उनकी स्वार्थबुद्धि के छूटने का परिचय उन्हीं के मुख से यों है--'मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन' (शां. २७५. ४ और २१९. ५०)--मेरी राजधानी मिथिला के जल जाने पर भी मेरी कुछ हानि नहीं! इस प्रकार अपना स्वार्थ अथवा लाभालाभ न रहने पर भी राज्य के समस्त व्यवहार करने का कारण बतलाते हुए जनक स्वयं कहते हैं :--

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भूतेभ्योऽतिथिभिः सह।
इत्यर्थं सर्व एवैते समारम्भा भवन्ति वै ॥

"देव, पितर, सर्वभूत (प्राणी) और अतिथियों के लिये समस्त व्यवहार जारी हैं, मेरे लिये नहीं" (म. भा. अश्व. ३२. २४)। अपना कोई कर्तव्य न रहने पर (अथवा स्वयं वस्तु को पाने की वासना न रहने पर भी) यदि जनक-श्रीकृष्ण जैसे महात्मा इस जगत् का कल्याण करने के लिये प्रवृत्त न होंगे, तो यह संसार उत्सन्न (ऊजड़) हो जायगा--उत्सीदेयुरिमे लोकाः (गी. ३. २४)।

कुछ लोगों का कहना है, कि गीता के इस सिद्धान्त में--कि 'फलाशा छोड़नी चाहिये; सब प्रकार की इच्छाओं को छोड़ने की आवश्यकता नहीं--' और वासना-क्षय के सिद्धान्त में कुछ बहुत भेद नहीं कर सकते। क्योंकि चाहे वासना छूटे, चाहे फलाशा छूटे; दोनों ओर कर्म करने की प्रवृत्ति होने के लिये कुछ भी कारण नहीं दीख पड़ता। इससे चाहे जिस पक्ष को स्वीकार करें; अन्तिम परिणाम--कर्म का छूटना--दोनों ओर बराबर है। परन्तु यह आक्षेप अज्ञानमूलक है। क्योंकि 'फलाशा' शब्द का ठीक ठीक अर्थ न जानने के कारण ही यह उत्पन्न हुआ है। फलाशा छोड़ने का अर्थ यह नहीं, कि सब प्रकार की इच्छाओं को छोड़ देना चाहिये। अथवा यह बुद्धि या भाव होना चाहिये, कि मेरे कर्मों का फल किसी को कभी न मिले। और यदि मिले, तो उसे कोई भी न ले; प्रत्युत पाँचवें प्रकरण में पहले ही हम कह आये हैं, कि 'अमुक फल पाने के लिये ही मैं यह कर्म करता हूँ-इस

प्रकार की फलविषयक ममतायुक्त आसक्ति को या बुद्धि के आग्रह को 'फलाशा', 'सङ्ग' या 'काम' नाम गीता में दिये गये हैं। यदि कोई मनुष्य फल पाने की इच्छा, आग्रह या वृथा आसक्ति न रखे; तो उससे यह मतलब नहीं पाया जाता, कि वह अपने प्राप्तकर्म को—केवल कर्तव्य समझ कर—करने की बुद्धि और उत्साह को भी इस आग्रह के साथ-ही-साथ नष्ट कर डाले। अपने फ़ायदे के सिवा इस संसार में जिन्हें दूसरा कुछ नहीं दीख पड़ता। और जो पुरुष केवल फल की इच्छा से ही कर्म करने में मस्त रहते हैं, उन्हें सचमुच फलाशा छोड़ कर कर्म करना शक्य न जँचेगा। परन्तु जिनकी बुद्धि ज्ञान से सम और विरक्त हो गई है, उनके लिये कुछ कठिन नहीं है। पहले तो यह समझ ही ग़लत है, कि हमें किसी काम का जो फल मिला करता है, वह केवल हमारे ही कर्म का फल है। यदि पानी की द्रवता और अग्नि की उष्णता की सहायता न मिले, तो मनुष्य कितना ही सिर क्यों न खपावे ? उसके प्रयत्न से पाकसिद्धि कभी हो नहीं सकेगी—भोजन पकेगा ही नहीं; और अग्नि आदि में इन गुणधर्मों को मौजूद रखना या न रखना कुछ मनुष्य के बस या उपाय की बात नहीं है। इसी से कर्मसृष्टि के इन स्वयंसिद्ध विविध व्यापारों अथवा धर्मों का पहले यथाशक्ति ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य को उसी ढँग से अपने व्यवहार करने पड़ते हैं; जिससे कि वे व्यापार अपने प्रयत्न के अनुकूल हों। इससे कहना चाहिये, कि प्रयत्नों से मनुष्य को जो फल मिलता है, वह केवल उसके ही प्रयत्नों का फल नहीं है; वरन् उसके कार्य और कर्मसृष्टि के तदनुकूल अनेक स्वयंसिद्ध धर्म—इन दोनों—के संयोग का फल है। परन्तु प्रयत्नों की सफलता के लिये इस प्रकार जिन नानाविध सृष्टिव्यापारों की अनुकूलता आवश्यक है, कई बार उन सब का मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं रहता; और कुछ स्थानों पर तो होना शक्य भी नहीं है। इसे ही 'दैव' कहते हैं। यदि फलसिद्धि के लिये ऐसे सृष्टिव्यापारों की सहायता अत्यन्त आवश्यक है—जो हमारे अधिकार में नहीं; और जिन्हें हम जानते हैं—तो आगे कहना नहीं होगा, कि ऐसा अभिमान करना मूर्खता है, कि "केवल अपने प्रयत्न से ही मैं अमुक बात कर लूँगा" (गी. १८. १४–१६)। क्योंकि, कर्मसृष्टि के ज्ञात और अज्ञात व्यापारों का मानवी प्रयत्नों से संयोग होने पर जो फल होता है, वह केवल कर्म के नियमों से ही हुआ करता है। इसलिये हम फल की अभिलाषा करें या न करें—फलसिद्धि में इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। हमारी फलाशा अलबत्ता हमें दुःखकारक हो जाती है। परन्तु स्मरण रहे, कि मनुष्य के लिये आवश्यक बात अकेले सृष्टिव्यापार स्वयं अपनी ओर से संघटित हो कर नहीं कर देते। चनेकी रोटी को स्वादिष्ठ बनाने के लिये जिस प्रकार आटे में थोड़ा-सा नमक भी मिलाना पड़ता है, उसी प्रकार कर्मसृष्टि के इन स्वयंसिद्ध व्यापारों को मनुष्यों के उपयोगी होने के लिये उनमें मानवी प्रयत्न की थोड़ी-सी मात्रा मिलानी पड़ती है। इसी से ज्ञानी और विवेकी पुरुष सामान्य लोगों के समान फल की आसक्ति अथवा अभिलाषा तो नहीं रखते; किन्तु वे लोग जगत् के व्यवहार की

सिद्धि के लिये प्रवाहपतितकर्म का (अर्थात् कर्म के अनादि प्रवाह में शास्त्र से प्राप्त यथाधिकार कर्म का) जो छोटा-बड़ा भाग मिले, उसे ही शान्तिपूर्वक कर्तव्य समझ कर किया करते हैं। और फल पाने के लिये कर्मसंयोग पर (अथवा भक्तिदृष्टि से परमेश्वर की इच्छा पर) निर्भर हो कर निश्चिन्त रहते हैं। "तेरा अधिकार केवल कर्म करने का है, फल होना तेरे अधिकार की बात नहीं" (गी. २. ४७) इत्यादि उपदेश जो अर्जुन को किया है, उसका रहस्य भी यही है। इस प्रकार फलाशा को त्याग कर कर्म करते रहने पर आगे कुछ कारणों से कदाचित् कर्म निष्फल हो जायँ; तो निष्फलता का दुःख मानने के लिये हमें कोई कारण ही नहीं रहता। क्योंकि हम तो अपने अधिकार का काम कर चुके। उदाहरण लीजिये; वैद्यकशास्त्र का मत है, कि आयु की डोर (शरीर की पोषण करनेवाली नैसर्गिक धातुओं की शक्ति) सबल रहे बिना निरी औषधियों से कभी फ़ायदा नहीं होता; और इस डोर की सबलता अनेक प्राक्तन अथवा पुश्तैनी संस्कारों का फल है। यह बात वैद्य के हाथ से होने योग्य नहीं; और उसे इसका निश्चयात्मक ज्ञान हो भी नहीं सकता। ऐसा होते हुए भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि रोगी लोगों को औषधि देना अपना कर्तव्य समझ कर केवल परोपकार की बुद्धिसे वैद्य अपनी बुद्धि के अनुसार हजारों रोगियों को दवाई दिया करते हैं। इस प्रकार निष्कामबुद्धि से काम करने पर यदि कोई रोगी चंगा न हो, तो उससे वह वैद्य उद्विग्न नहीं होता; बल्कि बड़े शान्त चित्त से यह शास्त्रीय नियम ढूँढ निकालता है, कि अमुक रोग में अमुक औषधि से फ़ी सैंकड़े इतने रोगियों को आराम होता है। परन्तु इसी वैद्य का लड़का जब बीमार पड़ता है, तब उसे औषधि देते समय वह आयुष्य की डोरवाली बात भूल जाता है। और इस ममतायुक्त फलाशा से उसका चित्त घबड़ा जाता है, कि "मेरा लड़का अच्छा हो जाय।" इसी से उसे या तो दूसरा वैद्य बुलाना पड़ता है या दूसरे वैद्य की सलाह की आवश्यकता होती है। इस छोटे-से उदाहरण से ज्ञात होगा, कि कर्मफल में ममतारूप आसक्ति किसे कहना चाहिये? और फलाशा न रहने पर भी निरी कर्तव्यबुद्धि से कोई भी काम किस प्रकार किया जा सकता है? इस प्रकार फलाशा को नष्ट करने के लिये यद्यपि ज्ञान की सहायतासे मन में वैराग्य का भाव अटल होना चाहिये। परन्तु किसी कपड़े का रङ्ग (राग) दूर करने के लिये जिस प्रकार कोई कपड़े को फाड़ना उचित नहीं समझता, उसी प्रकार यह कहने से (कि 'किसी कर्म में आसक्ति, काम, सङ्ग, राग अथवा प्रीति न रखो') उस कर्म को ही छोड़ देना ठीक नहीं। वैराग्य से कर्म करना ही यदि अशक्य हो, तो बात निराली है। परन्तु हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि वैराग्य से भली भाँति कर्म किये जा सकते हैं। इतना ही क्यों? यह भी प्रगट है, कि कर्म किसी से छूटते ही नहीं। इसीलिये अज्ञानी लोग जिन कर्मों को फलाशा से किया करते हैं, उन्हें ही ज्ञानी पुरुष ज्ञानप्राप्ति के बाद भी लाभ-अलाभ तथा सुखदुःख को एक-सा मान कर (गी. २. ३८) धैर्य एवं उत्साह से—किन्तु शुद्धबुद्धि से—फल के विषय में विरक्त या उदासीन रह कर

(गी. १८. २६) केवल कर्तव्य मान कर अपने अपने अधिकारानुसार शान्त चित्त से करते रहें (गी. ६. ३) । नीति और मोक्ष की दृष्टि से उत्तम जीवनक्रम का यही सच्चा तत्त्व है । अनेक स्थितप्रज्ञ, महाभगवद्भक्त और परमज्ञानी पुरुषों ने--एवं स्वयं भगवान् ने भी--इसी मार्ग का स्वीकार किया है । भगवद्गीता पुकार कर कहती है, कि इस कर्मयोगमार्ग में ही पराकाष्ठा का पुरुषार्थ या परमार्थ है । इसी 'योग' से परमेश्वर का भजनपूजन होता है; और अन्त में सिद्धि भी मिलती है (गी. १८. ४६) । इतने पर भी यदि कोई स्वयं जानबूझ कर ग़ैरसमझ कर ले, तो उसे दुर्दैवी कहना चाहिये । स्पेन्सरसाहब को यद्यपि अध्यात्मदृष्टि सम्मत न थी, तथापि उन्होंने भी अपने 'समाजशास्त्र का अभ्यास' नामक ग्रन्थ के अन्त में गीता के समान ही यह सिद्धान्त किया है : --यह बात आधिभौतिक रीति से भी सिद्ध है, कि इस जगत् में किसी भी काम को एकदम कर गुज़रना शक्य नहीं । उस के लिये कारणीभूत और आवश्यक दूसरी हज़ारों बातें पहले जिस प्रकार हुई होंगी, उसी प्रकार मनुष्य के प्रयत्न सफल, निष्फल या न्यूनाधिक सफल हुआ करते हैं । इस कारण यद्यपि साधारण मनुष्य किसी भी काम के करने में फलाशा से ही प्रवृत्त होते हैं, तथापि बुद्धिमान् पुरुष को शान्ति और उत्साह से फलसंबंधी आग्रह छोड़ कर अपना कर्तव्य करते रहना चाहिये * ।

यद्यपि यह सिद्ध हो गया, कि ज्ञानी पुरुष इस संसार में अपने प्राप्त कर्मों को फलाशा छोड़ कर निष्कामबुद्धि से आमरणान्त अवश्य करता रहे; तथापि यह बतलाये बिना कर्मयोग का विवेचन पूरा नहीं होता, कि ये कर्म किससे और किस लिये प्राप्त होते हैं ? अतएव भगवान् ने कर्मयोग के समर्थनार्थ अर्जुन को अन्तिम और महत्त्व का उपदेश दिया है, कि "लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि"

* "Thus admitting that for the *fanatic*, some *wild anticipation* is needful as a stimulus, and recognizing the usefulness of his delusion as adapted to his particular nature and his particular function, the *man of higher type* must be content with *greatly moderated expectations*, while he perseveres with undiminished efforts. He has to see how comparatively little can be done, and yet to find it worth while to do that little: so uniting philanthropic energy with philosophic calm."—Spencer's *Study of Sociology*, 8th Ed. p. 403. The italics are ours. इस वाक्य में fanatics के स्थान में 'प्रकृति के गुणों से विमूढ' (गी. ३. २९) या 'अहंकार विमूढ' (गी. ३. २७) अथवा भास कवि का 'मूर्ख' शब्द और man of higher type के स्थान में 'विद्वान्' (गी. ३. २५) एवं greatly moderated expectations के स्थान में 'फलौदासिन्य' अथवा 'फलाशात्याग' इन समानार्थी शब्दों की योजना करने से ऐसा देख पड़ेगा, कि स्पेन्सरसाहब ने मानों गीता के ही सिद्धान्त का अनुवाद कर दिया है ।

(गी. ३. २०)--लोकसंग्रह की ओर दृष्टि दे कर भी तुझे कर्म करना ही उचित है। लोकसंग्रह का यह अर्थ नहीं, कि कोई ज्ञानी पुरुष 'मनुष्यों का केवल जमघट करे' अथवा यह अर्थ नहीं, कि 'स्वयं कर्मत्याग का अधिकारी होने पर भी इस लिये कर्म करने का ढोंग करे, कि अज्ञानी मनुष्य कहीं कर्म न छोड़ बैठें; और उन्हें अपनी (ज्ञानी पुरुष की) कर्मतत्परता अच्छी लगे।' क्योंकि, गीता का यह सिखलाने का हेतु नहीं, कि लोग अज्ञानी या मूर्ख बने रहें; अथवा उन्हें ऐसे ही बनाये रखने के लिये ज्ञानी पुरुष कर्म करने का ढोंग किया करे। ढोंग तो दूर ही रहा; परन्तु 'लोग तेरी अपकीर्ति गावेंगे' (गी. २. ३४) इत्यादि सामान्य लोगों को जँचनेवाली युक्तियों से जब अर्जुन का समाधान न हुआ, तब भगवान् उन युक्तियों से भी अधिक ज़ोरदार और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अधिक बलवान् कारण अब कह रहे हैं। इसलिये कोश में जो 'संग्रह' शब्द के जमा करना, इकट्ठा करना, रखना, पालना, नियमन करना प्रभृति अर्थ हैं, उन सब को यथासम्भव ग्रहण करना पड़ता है। और ऐसा करने से 'लोगों का संग्रह करना' यानी यह अर्थ होता है, कि "उन्हें एकत्र सम्बन्ध कर इस रीति से उनका पालनपोषण और नियमन करे, कि उनकी परस्पर अनुकूलता से उत्पन्न होनेवाला सामर्थ्य उनमें आ जावे; एवं उसके द्वारा उनकी सुस्थिति को स्थिर रख कर उन्हें श्रेयःप्राप्ति के मार्ग में लगा दे।" 'राष्ट्र का संग्रह' शब्द इसी अर्थ में मनुस्मृति (७. ११४) में आया है; और शांकरभाष्य में इस शब्द की व्याख्या यों है--"लोकसंग्रह = लोकस्योन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणम्।" इससे देख पड़ेगा, कि संग्रह शब्द का जो हम ऐसा अर्थ करते हैं--अज्ञान से मनमाना बर्ताव करनेवाले लोगों को ज्ञानवान् बना कर सुस्थिति में एकत्र रखना और आत्मोन्नति के मार्ग में लगाना--वह अपूर्व या निराधार नहीं है। यह संग्रह शब्द का अर्थ हुआ; परन्तु यहाँ यह भी बतलाना चाहिये, कि 'लोकसंग्रह' में 'लोक' शब्द केवल मनुष्यवाची नहीं है। यद्यपि यह सच है, कि जगत् के अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य श्रेष्ठ हैं; और इसी से मानवजाति के ही कल्याण का प्रधानता से 'लोकसंग्रह' शब्द में समावेश होता है। तथापि भगवान् की ही ऐसी इच्छा है; कि भूलोक, सत्यलोक, पितृलोक और देवलोक प्रभृति जो अनेक लोक अर्थात् जगत् भगवान् ने बनाये हैं, उनका भी भली भाँति धारण-पोषण हो; और वे सभी अच्छी रीति से चलते रहें। इसलिये कहना पड़ता है, कि इतना सब व्यापक अर्थ 'लोकसंग्रह' पद से यहाँ विवक्षित है, कि मनुष्यलोक के साथ ही इन सब लोकों का व्यवहार भी सुस्थिति से चले (लोकानां संग्रहः)। जनक के किये हुए अपने कर्तव्य के वर्णन में--जो ऊपर लिखा जा चुका है--देव और पितरों का भी उल्लेख है। एवं भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में तथा महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में जिस यज्ञचक्र का वर्णन है, उसमें भी कहा है, कि देवलोक और मनुष्यलोक दोनों ही के धारण-पोषण के लिये ब्रह्मदेव ने यज्ञ उत्पन्न किया (गी. ३. १०-१२)। इससे स्पष्ट होता है, कि भगवद्गीता

में ' लोकसंग्रह ' पद से इतना अर्थ विवक्षित है कि--अकेले मनुष्यलोक का ही नहीं; किन्तु देवलोक आदि सब लोकों का भी उचित धारण-पोषण होवे; और वे परस्पर एक दूसरे का श्रेय सम्पादन करें । सारी सृष्टि का पालन-पोषण करके लोकसंग्रह करने का जो यह अधिकार भगवान् का है, वही ज्ञानी पुरुष को अपने ज्ञान के कारण प्राप्त हुआ करता है । ज्ञानी पुरुष को जो बात प्रामाणिक जँचती है, अन्य लोक भी उसे प्रमाण मान कर तदनुकूल व्यवहार किया करते हैं (गी. ३. २१) । क्योंकि साधारण लोगों की समझ है, कि शान्तचित्त और समबुद्धि से यह विचारने का काम ज्ञानी ही का है, कि संसार का धारण और पोषण कैसे होगा ? एवं तदनुसार धर्मप्रबन्ध की मर्यादा बना देना भी उसी का काम है । इस समझ में कुछ भूल भी नहीं है । और यह भी कह सकते हैं, कि सामान्य लोगों की समझ में ये बातें भली भाँति नहीं आ सकतीं । इसीलिये तो वे ज्ञानी पुरुषों के भरोसे रहते हैं । इसी अभिप्राय को मन में लाकर शान्तिपर्व में युधिष्ठिर से भीष्म ने कहा है :--

> लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा ।
> सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम् ॥

अर्थात् " लोकसंग्रहकारक और सूक्ष्म प्रसंगों पर धर्मार्थ का निर्णय कर देनेवाला साधु पुरुषों का उत्तम चरित्र स्वयं ब्रह्मदेव ने ही बनाया है " (म. भा. शां. २५८. २५) । ' लोकसंग्रह ' कुछ ठाले बैठे की बेगार, ढकोसला या लोगों को अज्ञान में डाले रखने की तरक़ीब नहीं है । किन्तु ज्ञानयुक्त कर्म के संसार में न रहने से जगत् के नष्ट हो जाने की सम्भावना है । इसलिये यही सिद्ध होता है, कि ब्रह्मदेव-निर्मित साधु पुरुषों के कर्तव्यों में से ' लोकसंग्रह ' एक प्रधान कर्तव्य है । और इस भगवद्वचन का भावार्थ भी यही है, कि " मैं यह काम न करूँ, तो ये समस्त लोक अर्थात् जगत् नष्ट हो जावेंगे " (गी. ३. २४) । ज्ञानी पुरुष सब लोगों के नेत्र हैं । यदि वे अपना काम छोड़ देंगे, तो सारी दुनिया अन्धी हो जायगी; और इस संसार का सर्वतोपरि नाश हुए बिना न रहेगा । ज्ञानी पुरुषों को ही उचित है, कि लोगों को ज्ञानवान् कर उन्नत बनावें । परन्तु यह काम सिर्फ़ जीभ हिला देने से अर्थात् कोरे उपदेश से ही कभी सिद्ध नहीं होता । क्योंकि, जिन्हें सदाचरण की आदत नहीं; और जिनकी बुद्धि भी पूर्ण शुद्ध नहीं रहती; उन्हें यदि कोरा ब्रह्मज्ञान सुनाया जाय, तो वे लोग उस ज्ञान का दुरुपयोग इस प्रकार करते देखे गये हैं -- " तेरा सो मेरा, और मेरा तो मेरा है ही । " इसके सिवा किसी के उपदेश की सत्यता की जाँच भी तो लोग उसके आचरण से ही किया करते हैं । इसलिये यदि ज्ञानी पुरुष स्वयं कर्म न करेगा, तो वह सामान्य लोगों को आलसी बनाने का एक बहुत बड़ा कारण हो जायगा । इसे ही ' बुद्धिभेद ' कहते हैं; और यह बुद्धिभेद न होने पावें; तथा सब लोग सचमुच निष्काम हो कर अपना कर्तव्य करने के लिये जागृत हो जावें; इसलिये संसार में ही रह कर अपने कर्मों से सब लोगों को सदाचरण की--

निष्कामबुद्धिसे कर्मयोग करने की—प्रत्यक्ष शिक्षा देना ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य (ढोंग नहीं) हो जाता है। अतएव गीता का कथन है, कि उसे (ज्ञानी पुरुष को) कर्म छोड़ने का अधिकार कभी प्राप्त नहीं होता। अपने लिये न सही; परन्तु लोकसंग्रहार्थ चातुवर्ण्य के सब कर्म अधिकारानुसार उसे करना ही चाहिये। किन्तु संन्यासमार्गवालों का मत है, कि ज्ञानी पुरुष को चातुर्वर्ण्य के कर्म निष्कामबुद्धि से करने की भी कुछ ज़रूरत नहीं--यही क्यों? करना भी नहीं चाहिये। इसलिये इस सम्प्रदाय के टीकाकार गीता के "ज्ञानी पुरुष को लोकसंग्रहार्थ कर्म करना चाहिये" इस सिद्धान्त का कुछ गड़बड़ अर्थ कर (प्रत्यक्ष नहीं, तो पर्याय से) यह कहने के लिये तैयार-से हो गये हैं, कि स्वयं भगवान् ढोंग का उपदेश करते हैं। पूर्वापर सन्दर्भ से प्रगट है, कि गीता के लोकसंग्रह शब्द का यह ढिलमिल या पोचा अर्थ सच्चा नहीं। गीता को यह मतही मंजूर नहीं, कि ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ने का अधिकार प्राप्त है। और इसके सबूत में गीता में जो कारण दिये गये हैं, उनमें लोकसंग्रह एक मुख्य कारण है। इसलिये यह मान कर (कि ज्ञानी पुरुष के कर्म छूट जाते हैं) लोकसंग्रह पद का ढोंगी अर्थ करना सर्वथा अन्याय्य है। इस जगत् में मनुष्य केवल अपने ही लिये नहीं उत्पन्न हुआ है। यह सच है, कि सामान्य लोग नासमझी से स्वार्थ में ही फँसे रहते हैं। परन्तु "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" (गी. ६. २९) मैं सब भूतों में हूँ; और सब भूत मुझ में हैं--इस रीति से जिसको समस्त संसार ही आत्मभूत हो गया है, उसका अपने मुख से यह कहना ज्ञान में बट्टा लगाना है कि "मुझे तो मोक्ष मिल गया, अब यदि लोग दुःखी हों, तो मुझे इसकी क्या परवाह?" ज्ञानी पुरुष का आत्मा क्या कोई स्वतंत्र व्यक्ति है? उसके आत्मा पर जब तक अज्ञान का पर्दा पड़ा था, तब तक 'अपना' और 'पराया' यह भेद क़ायम था। परन्तु ज्ञानप्राप्ति के बाद सब लोगों का आत्मा ही उसका आत्मा है। इसी से योगवासिष्ठ में राम से वसिष्ठ ने कहा है:--

यावल्लोकपरामर्शो निरूढो नास्ति योगिनः।
तावद्रूढसमाधित्वं न भवत्येव निर्मलम् ॥

"जब तक लोगों के परामर्श लेने का (अर्थात् लोकसंग्रह का) काम थोड़ा भी बाक़ी है--समाप्त नहीं हुआ है--तब तक यह कभी नहीं कह सकते, कि योगारूढ पुरुष की स्थिति निर्दोष है" (यो. ६. पू. १२८. ९७)। केवल अपने ही समाधि-सुख में डूब जाना मानों एक प्रकार से अपना ही स्वार्थ साधना है। संन्यासमार्गवाले इस बात की ओर दुर्लक्ष करते हैं। यही उनकी युक्तिप्रयुक्तियों का मुख्य दोष है। भगवान् की अपेक्षा किसी का भी अधिक ज्ञानी, अधिक निष्काम या अधिक योगारूढ होना शक्य नहीं। परन्तु जब स्वयं भगवान् भी "साधुओं का संरक्षण दुष्टों का नाश और धर्मसंस्थापना" ऐसे लोकसंग्रह के काम करने के लिये ही समय समय पर अवतार लेते हैं (गी. ४. ८), तब लोकसंग्रह के कर्तव्य को छोड़ देनेवाले ज्ञानी पुरुष का यह कहना सर्वथा अनुचित है, कि "जिस परमेश्वर ने इन

सब लोगों को उत्पन्न किया है, वह उनका जैसा चाहेगा वैसा धारण-पोषण करेगा । उधर देखना मेरा काम नहीं है । " क्योंकि ज्ञानप्राप्ति के बाद 'परमेश्वर', 'मैं' और 'लोग'—यह भेद ही नहीं रहता । और यदि रहे, तो उसे ढोंगी कहना चाहिये; ज्ञानी नहीं । यदि ज्ञान से ज्ञानी पुरुष परमेश्वररूपी हो जाता है, तो परमेश्वर जो काम करता है, वह परमेश्वर के समान अर्थात् निस्सङ्गबुद्धि से करने की आवश्यकता ज्ञानी पुरुष को कैसे छोड़ेगी (गी. ३. २२ और ४. १४ एवं १५) ? इसके अतिरिक्त परमेश्वर को जो कुछ करना है, वह भी ज्ञानी पुरुष के रूप या द्वारा से ही करेगा । अतएव जिसे परमेश्वर के स्वरूप का ऐसा अपरोक्ष ज्ञान हो गया है, कि "सब प्राणियों में एक आत्मा है;" उसके मन में सर्वभूतानुकम्पा आदि उदात्त वृत्तियाँ पूर्णता से जागृत रह कर स्वभाव से ही उसके मन की प्रवृत्ति लोककल्याण की ओर हो जानी चाहिये । इसी अभिप्राय से तुकाराम महाराज साधु पुरुष के लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं—"जो दीन-दुखियों को अपनाता हैं, वही साधु है—ईश्वर भी उसी के पास है ।" अथवा "जिसने परोपकार में अपनी शक्ति का व्यय किया है, उसी ने आत्मस्थिति को जाना है । " * और, अन्त में संतजनों के (अर्थात् भक्ति से परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान पानेवाले महात्माओं के) कार्य का वर्णन इस प्रकार किया है "संतों की विभूतियाँ जगत् के कल्याण ही के लिये हुआ करती हैं । वे लोग परोपकार के लिये अपने शरीर को कष्ट दिया करते हैं " । भर्तृहरि ने वर्णन किया है, कि परार्थ ही जिसका स्वार्थ हो गया है, वही पुरुष साधुओं में श्रेष्ठ है—" स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः । " क्या मनु आदि शास्त्रप्रणेता ज्ञानी न थे ? परन्तु उन्हों ने तृष्णा-दुःख को बड़ा भारी हौवा मानकर तृष्णा के साथ-ही-साथ परोपकारबुद्धि आदि सभी उदात्तवृत्तियों को नष्ट नहीं कर दिया—उन्होंने लोकसंग्रहकारक चातुर्वर्ण्य प्रभृति शास्त्रीय मर्यादा बना देने का उपयोगी काम किया है । ब्राह्मण को ज्ञान, क्षत्रिय को युद्ध, वैश्यको खेती, गोरक्षा और व्यापार अथवा शूद्र को सेवा—ये जो गुण कर्म और स्वभाव के अनुरूप भिन्न भिन्न कर्म शास्त्रों में वर्णित हैं, वे केवल प्रत्येक व्यक्ति के हित के ही लिये नहीं हैं; प्रत्युत मनुस्मृति (१. ८७) में कहा है, कि चातुर्वर्ण्य के व्यापारों का विभाग लोकसंग्रह के लिये ही इस प्रकार प्रवृत्त हुआ है । सारे समाज के बचाव के लिये कुछ पुरुषों को प्रतिदिन युद्धकला का अभ्यास करके सदा तैयार रहना चाहिये; और कुछ लोगों को खेती, व्यापार एवं ज्ञानार्जन प्रभृति उद्योगों से समाज की अन्यान्य आवश्यकताएँ पूर्ण करनी चाहिये । गीता (४. १३; १८. ४१) का

---

* इसी भाव को कविवर बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने यों व्यक्त किया है :—
वास उसी में है विभुवर का है बस सच्चा साधु वही—
जिसने दुखियों को अपनाया, बढ़ कर उनकी बाह गही ।
आत्मस्थिति जानी उसने ही परहित जिसने व्यथा सही,
परहितार्थ जिनका वैभव है, है उनसे ही धन्य मही ॥

अभिप्राय भी ऐसा ही है। यह पहले कहा ही जा चुका है, कि इस चातुर्वर्ण्यधर्म में से यदि कोई एक भी धर्म डूब जाय, तो समाज उतना ही पंगु हो जायगा; और अन्त में उसके नाश हो जाने की भी सम्भावना रहती है। स्मरण रहे, कि उद्योगों के विभाग की यह व्यवस्था एक ही प्रकार की नहीं रहती। प्राचीन यूनानी तत्त्वज्ञ प्लेटो ने एतद्विषयक अपने ग्रन्थ में और अर्वाचीन फरेञ्च शास्त्रज्ञ कोंट ने अपने "आधिभौतिक तत्त्वज्ञान" में समाज की स्थिति के लिये जो व्यवस्था सूचित की है, वह यद्यपि चातुर्वर्ण्य के सदृश है; तथापि उन ग्रन्थों को पढ़ने से कोई भी जान सकेगा, कि उस व्यवस्था में वैदिक धर्म की चातुर्वर्ण्यव्यवस्था से कुछ-न-कुछ भिन्नता है। इनमें से कौन-सी समाजव्यवस्था अच्छी है? अथवा यह अच्छापन सापेक्ष है,और युगमान से इसमें कुछ फेरफार हो सकता है या नहीं? इत्यादि अनेक प्रश्न यहाँ उठते हैं; और आजकल तो पश्चिमी देशों में 'लोकसंग्रह' एक महत्त्व का शास्त्र बन गया है। परन्तु गीता का तात्पर्यनिर्णय ही हमारा प्रस्तुत विषय है। इसलिये कोई आवश्यकता नहीं, कि यहाँ उन प्रश्नों पर भी विचार करें। यह बात निर्विवाद है, कि गीता के समय में चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था जारी थी; और 'लोकसंग्रह' करने के हेतु से ही वह प्रवृत्ति की गई थी। इसलिये गीता के 'लोकसंग्रह' पद का अर्थ यही होता है, कि लोगों को प्रत्यक्ष दिखला दिया जावे, कि चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था के अनुसार अपने अपने प्राप्तकर्म निष्कामबुद्धि से किस प्रकार करना चाहिये? यही बात मुख्यता से यहाँ बतलानी है। ज्ञानी पुरुष समाज के न सिर्फ़ नेत्र हैं; वरन् गुरु भी हैं। इससे आप-ही-आप सिद्ध हो जाता है, कि उपर्युक्त प्रकार का लोकसंग्रह करने के लिये उन्हें अपने समय की समाजव्यवस्था में यदि कोई न्यूनता जँचे, तो वे उसे श्वेतकेतु के समान देशकालानुरूप परिमार्जित करें; और समाज की स्थिति तथा पोषणशक्ति की रक्षा करते हुए उसको उन्नतावस्था में ले जाने का प्रयत्न करते रहें। इसी प्रकार का लोकसंग्रह करने के लिये राजा जनक संन्यास न ले कर जीवनपर्यन्त राज्य करते रहे; और मनु ने पहला राजा बनना स्वीकार किया। एवं इसी कारण से "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि" (गी. २. ३१)--स्वधर्म के अनुसार जो कर्म प्राप्त हैं, उनके लिये रोना तुझे उचित नहीं--, अथवा "स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्" (गी. १८. ४७)--स्वभाव और गुणों के अनुरूप निश्चित चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के अनुसार नियमित कर्म करने से तुझे कोई पाप नहीं लगेगा--, इत्यादि प्रकार से चातुर्वर्ण्यकर्म के अनुसार प्राप्त हुए युद्ध को करने के लिये गीता में बारबार अर्जुन को उपदेश किया गया है। यह कोई भी न कहता, कि परमेश्वर का यथाशक्ति ज्ञान प्राप्त न करो। गीता का भी सिद्धान्त है, कि इस ज्ञान को सम्पादन करना ही मनुष्य का इस जगत् में इतिकर्तव्य है। परन्तु इसके आगे बढ़ कर गीता का विशेष कथन यह है, कि अपने आत्मा के कल्याण में ही समष्टिरूप आत्मा के कल्याणार्थ यथाशक्ति प्रयत्न करने का भी समावेश होता है। इसलिये लोकसंग्रह करना ही ब्रह्मात्मैक्य-

ज्ञान का सच्चा पर्यवसान है । इस पर भी यह नहीं, कि कोई पुरुष ब्रह्मज्ञानी होने से ही सब प्रकार के व्यावहारिक व्यापार अपने ही हाथ से कर डालने योग्य हो जाता हो । भीष्म और व्यास दोनों महाज्ञानी और परम भगवद्भक्त थे । परन्तु यह कोई नहीं कहता, कि भीष्म के समान व्यास ने भी लड़ाई का काम किया होता । देवताओं की ओर देखें, तो वहाँ भी संसार के संहार करने का काम शंकर के बदले विष्णु को सौंपा हुआ नहीं देख पड़ता । मन की निर्विषयता की, सम और शुद्धबुद्धि की तथा आध्यात्मिक उन्नति की अन्तिम सीढ़ी जीवन्मुक्तावस्था है । वह कुछ आधिभौतिक उद्योगों की दक्षता की परीक्षा नहीं है । गीता के इसी प्रकरण में यह विशेष उपदेश दुबारा किया गया है, कि स्वभाव और गुणों के अनुरूप प्रचलित चातुर्वर्ण्य आदि व्यवस्थाओं के अनुसार जिस कर्म को हम सदा से करते चले आ रहे हैं, स्वभाव के अनुसार उसी कर्म अथवा व्यवस्था को ज्ञानोत्तर भी ज्ञानी पुरुष लोकसंग्रह के निमित्त करता रहे । क्योंकि उसी में उसके निपुण होने की सम्भावना है । वह यदि कोई और ही व्यापार करने लगेगा, तो इससे समाज की हानि होगी (गी. ३. ३५; १८ ४७) । प्रत्येक मनुष्य में ईश्वरनिर्मित प्रकृति, स्वभाव और गुणों के अनुरूप जो भिन्न भिन्न प्रकार की योग्यता होती है, उसे ही अधिकार कहते हैं । और वेदान्तसूत्र में कहा है, कि "इस अधिकार के अनुसार प्राप्त कर्मों को पुरुष ब्रह्मज्ञानी हो करके भी लोक-संग्रहार्थ मरणपर्यन्त करता जावे, छोड़ न दे–यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिणाम्" (वे. सू. ३. ३. ३२) । कुछ लोगों का कथन है, कि वेदान्तसूत्रकर्ता का यह नियम केवल बड़े अधिकारी पुरुषों को ही उपयोगी है । और इस सूत्र के भाष्य में जो समर्थनार्थ उदाहरण दिये गये हैं, उनसे जान पड़ेगा, कि वे सभी उदाहरण व्यासप्रभृति बड़े बड़े अधिकारी पुरुषों के ही हैं । परन्तु मूलसूत्र में अधिकार की छुटाई बड़ाई के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नहीं है । इससे "अधिकार" शब्द का मतलब छोटे-बड़े सभी अधिकारों से है । और यदि इस बात का सूक्ष्म तथा स्वतन्त्र विचार करें, कि ये अधिकार किस को किस प्रकार प्राप्त होते हैं ? तो ज्ञात होगा, कि मनुष्य के साथ ही समाज और समाज के साथ ही मनुष्य को परमेश्वर ने उत्पन्न किया है । इसलिये जिसे जितना बुद्धि-बल, सत्ताबल, द्रव्यबल या शरीरबल स्वभाव ही से हो अथवा स्वधर्म से प्राप्त कर लिया जा सके, उसी हिसाब से यथाशक्ति संसार के धारण और पोषण करने का थोड़ाबहुत अधिकार (चातुर्वर्ण्य आदि अथवा अन्य गुण और कर्मविभागरूप सामाजिक व्यवस्था से) प्रत्येक को जन्म से ही प्राप्त रहता है । किसी कल को अच्छी रीति से चलाने के लिये बड़े चक्के के समान जिस प्रकार छोटे-से पहिये की भी आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार समस्त संसार की अपार घटनाओं अथवा कार्यों के सिलसिले को व्यवस्थित रखने के लिये व्यास आदिकों के बड़े अधिकार के समान ही इस बात की भी आवश्यकता है, कि अन्य मनुष्यों के छोटे अधिकार भी पूर्ण और योग्य रीति से अमल में लाये जावें । यदि कुम्हार घड़े और जुलाहा कपड़े तैयार न करेगा,

तो राजा के द्वारा योग्य रक्षण होने पर भी लोकसंग्रह का काम पूरा न हो सकेगा। अथवा यदि रेल का कोई अदवा झण्डीवाला या पाइंट्समेन अपना कर्तव्य न करे; तो जो रेलगाड़ी आजकल वायु की चाल से रातदिन बेखटके दौड़ा करती है, वह फिर ऐसा कर न सकेगी। अतः वेदान्तसूत्रकर्ता की ही उल्लिखित युक्तिप्रयुक्तियों से अब यह निष्पन्न हुआ, कि व्यास प्रभृति बड़े बड़े अधिकारियों को ही नहीं; प्रत्युत अन्य पुरुषों को भी--फिर चाहे वह राजा हो या रङ्क--लोकसंग्रह करने के लिये जो छोटे-बड़े अधिकार यथान्याय प्राप्त हुए हैं, उनको ज्ञान के पश्चात् भी छोड़ नहीं देना चाहिये। किन्तु उन्हीं अधिकारों को निष्कामबुद्धि से अपना कर्तव्य समझ यथाशक्ति, यथामति और यथासम्भव जीवनपर्यन्त करते जाना चाहिये। यह कहना ठीक नहीं कि मैं न सही, तो कोई दूसरा उस काम को करेगा। क्योंकि ऐसा करने से समूचे, काम में जितने पुरुषों की आवश्यकता है, उनमें से एक घट जाता है। और संघशक्ति कम ही नहीं हो जाती; बल्कि ज्ञानी पुरुष उसे जितनी अच्छी रीति से करेगा, उतनी अच्छी रीति से और के द्वारा उसका होना शक्य नहीं। फलतः इस हिसाब से लोकसंग्रह भी अधूरा ही रह जाता है। इसके अतिरिक्त कह आये हैं, कि ज्ञानी पुरुष के कर्मत्यागरूपी उदाहरण से लोगों की बुद्धि भी बिगड़ती है। कभी कभी संन्यासमार्गवाले कहा करते हैं, कि कर्म से चित्त की शुद्धि हो जाने के पश्चात् अपने आत्मा की मोक्षप्राप्ति से ही संतुष्ट रहना चाहिये। संसार का नाश भले ही हो जावे; पर उसकी कुछ परवाह नहीं करना चाहिये--"लोकसंग्रहधर्मंच नैव कुर्यान्न कारयेत्" अर्थात् न तो लोकसंग्रह करे; और न करावे (म. भा. अश्व. अनुगीता. ४६. ३९)। परन्तु ये लोग व्यास प्रमुख महात्माओं के व्यवहार की जो उपपत्ति बतलाते हैं, उससे--और वसिष्ठ एवं पञ्चशिख प्रभृति ने राम तथा जनक आदि को अपने अपने अधिकार के अनुसार समाज के धारण-पोषण इत्यादि के काम ही मरणपर्यन्त करने के लिये जो कहा है, उससे--यही प्रगट होता है, कि कर्म छोड़ देने का संन्यासमार्गवालों का उपदेश एकदेशीय है-(सर्वथा सिद्ध होनेवाला शास्त्रीय सत्य नहीं)। अतएव कहना चाहिये, कि ऐसे एकपक्षीय उपदेश की ओर ध्यान न दे कर स्वयं भगवान् के ही उदाहरण के अनुसार ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् भी अपने अधिकार को परख कर तदनुसार लोकसंग्रहकारक कर्म जीवनभर करते जाना ही शास्त्रोक्त और उत्तम मार्ग है। तथापि इस लोकसंग्रह को फलाशा रख कर न करे। क्योंकि, लोकसंग्रह की ही क्यों न हो? पर फलाशा रखने से कर्म यदि निष्फल हो जाय, तो दुःख हुए बिना न रहेगा। इसी से मैं 'लोकसंग्रह करूँगा' इस अभिमान या फलाशा की बुद्धि को मन में न रख-कर लोकसंग्रह भी केवल कर्तव्यबुद्धि से ही करना पड़ता है। इसलिये गीता में यह नहीं कहा, कि 'लोकसंग्रहार्थ' अर्थात् लोकसंग्रहस्वरूप फल पाने के लिये कर्म करना चाहिये। किन्तु यह कहा है, कि लोकसंग्रह की ओर दृष्टि दे कर (संपश्यन्) तुझे कर्म करना चाहिये--'लोकसंग्रहमेवापि

संपश्यन्' (गी. ३. २०) । इस प्रकार गीता में जो ज़रा लंबी-चौड़ी शब्दयोजना की गई है, उसका रहस्य भी वही है; जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । लोकसंग्रह सचमुच महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है; पर यह न भूलना चाहिये, कि इसके पहले श्लोक (गी. ३. १९) में अनासक्तबुद्धि से कर्म करने का भगवान् ने अर्जुन को जो उपदेश दिया है, वह लोकसंग्रह के लिये भी उपयुक्त है ।

ज्ञान और कर्म का जो विरोध है, वह ज्ञान और काम्यकर्मों का है । ज्ञान और निष्काम कर्म में आध्यात्मिक दृष्टि से भी कुछ विरोध नहीं है । कर्म अपरिहार्य हैं; और लोकसंग्रह की दृष्टि से उनकी आवश्यकता भी बहुत है । इसलिये ज्ञानी पुरुष को जीवनपर्यंत निस्संगबुद्धि से यथाधिकार चातुर्वर्ण्य के कर्म करते ही रहना चाहिये । यदि यही बात शास्त्रीय युक्तिप्रयुक्तियों से सिद्ध है; और गीता का भी यही इत्यर्थ है; तो मन में यह शंका सहज ही होती है, कि वैदिक धर्म के स्मृतिग्रन्थों में वर्णित चार आश्रमों में से संन्यास आश्रम की क्या दशा होगी ? मनु आदि सब स्मृतियों में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये चार आश्रम बतला कर कहा है, कि अध्ययन, यज्ञयाग, दान या चातुर्वर्ण्यधर्म के अनुसार प्राप्त अन्य कर्मों के शास्त्रोक्त आचरण द्वारा पहले तीन आश्रमों में धीरे धीरे चित्त की शुद्धि हो जानी चाहिये; और अन्त में समस्त कर्मों को स्वरूपतः छोड़ देना चाहिये; तथा संन्यास ले कर मोक्षप्राप्त करना चाहिये (मनु. ६. १ और ३३–३७ देखो) । इससे सब स्मृतिकारों का यह अभिप्राय प्रगट होता है, कि यज्ञयाग और दान प्रभृति कर्म गृहस्थाश्रम में यद्यपि विहित हैं; तथापि वे सब चित्त की शुद्धि के लिये हैं—अर्थात् उनका यही उद्देश है, कि विषयासक्ति या स्वार्थपरायणबुद्धि छूट कर परोपकारबुद्धि इतनी बढ़ जावे, कि प्राणियों में एक ही आत्मा को पहचानने की शक्ति प्राप्त हो जाय । और यह स्थिति प्राप्त होने पर मोक्ष की प्राप्ति के लिये अन्त में सब कर्मों का स्वरूपतः त्याग कर संन्यासाश्रम ही लेना चाहिये । श्रीशंकराचार्य ने कलियुग में जिस संन्यासधर्म की स्थापना की, वह मार्ग यही है; और स्मार्तमार्गवाले कालिदास ने भी रघुवंश के आरम्भ में :—

> शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
> वार्धके मुनिवृत्तीनाम् योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

"बालपन में अभ्यास (ब्रह्मचर्य) करनेवाले, तरुणावस्था में विषयोपभोगरूपी संसार (गृहस्थाश्रम) करनेवाले, उतरती अवस्था में मुनिवृत्ति से या वानप्रस्थ धर्म से रहनेवाले और अन्त में (पातञ्जल) योग से संन्यासधर्म के अनुसार ब्रह्माण्ड में आत्मा को ला कर प्राण छोड़नेवाले"—ऐसा सूर्यवंश के पराक्रमी राजाओं का वर्णन किया है (रघु. १. ८) । ऐसे ही महाभारत के शुकानुप्रश्न में यह कह कर, कि :—

> चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता ।
> एतामारुह्य निःश्रेणीं ब्रह्मलोके महीयते ॥

"चार आश्रमरूपी चार सीढ़ियों का यह ज़ीना अन्त में ब्रह्मपद को जा पहुँचा है। इस ज़ीने से--अर्थात् एक आश्रम से ऊपर के दूसरे आश्रम में--इस प्रकार चढ़ते जाने पर अन्त में मनुष्य ब्रह्मलोक में बड़प्पन पाता है" (शां. २४१. १५)। आगे इस क्रम का वर्णन किया है :--

कषायं पाचयित्वाशु श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥

"इस ज़ीने की तीन सीढ़ियों में मनुष्य अपने किल्बिष (पाप) का अर्थात् स्वार्थ-परायण आत्मबुद्धि का अथवा विषयासक्तिरूप दोष का शीघ्र ही क्षय करके फिर संन्यास ले। पारिव्राज्य अर्थात् संन्यास ही सब में श्रेष्ठ स्थान है" (शां. २४४. ३)। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाने का यह सिलसिला मनुस्मृति में भी है (मनु. ६. ३४)। परन्तु यह बात मनु के ध्यान में अच्छी तरह आ गई थी, कि इनमें से अन्तिम (अर्थात् संन्यास आश्रम) की ओर लोगों की फ़िज़ूल प्रवृत्ति होने से संसार का कर्तृत्व नष्ट हो जायगा; और समाज भी पंगु हो जावेगा। इसी से मनु ने स्पष्ट मर्यादा बना दी है, कि मनुष्य पूर्वाश्रम में गृहधर्म के अनुसार पराक्रम और लोक-संग्रह के सब कर्म अवश्य करें; इसके पश्चात् :--

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ॥
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥

"जब शरीर में झुर्रियाँ पड़ने लगें; और नाती का मुँह देख पड़े; तब गृहस्थ वानप्रस्थ हो कर संन्यास ले लें (मनु. ६. २)। इस मर्यादा का पालन करना चाहिये। क्योंकि मनुस्मृति में ही लिखा है, कि प्रत्येक मनुष्य जन्म के साथ ही अपनी पीठ पर ऋषियों, पितरों और देवताओं के (तीन) ऋण (कर्तव्य) ले कर उत्पन्न हुआ है। इसलिये वेदाध्ययन से ऋषियों का, पुत्रोत्पादन से पितरों का और यज्ञकर्मों से देवता आदिओं का--इस प्रकार--पहले इन तीनों ऋणों को चुकाये बिना मनुष्य संसार छोड़ कर संन्यास नहीं ले सकता। यदि वह ऐसा करेगा (अर्थात् संन्यास लेगा), तो जन्म से ही पाये हुए कर्जे को बेबाक़ न करने के कारण वह अधोगति को पहुँचेगा (मनु. ६. ३५-३७ और पिछले प्रकरण का तै. सं. मंत्र देखो)। प्राचीन हिन्दू-धर्मशास्त्र के अनुसार बाप का कर्ज मियाद गुज़र जाने का सबब न बतला कर बेटे या नाती को भी चुकाना पड़ता था; और किसी का कर्ज चुकाने से पहले ही मर जाने में बड़ी दुर्गति मानी जाती थी। इस बात पर ध्यान देने से पाठक सहज ही जान जायँगे, कि जन्म से ही प्राप्त और उल्लिखित महत्त्व के सामाजिक कर्तव्य को 'ऋण' कहने में हमारे शास्त्रकारों का क्या हेतु था। कालिदास ने रघुवंश में कहा है, कि स्मृतिकारों की बतलाई हुई इस मर्यादा के अनुसार सूर्यवंशी राजा लोग चलते थे; और जब बेटा राज करने योग्य हो जाता, तब उसे गद्दी पर बिठला कर (पहले से ही नहीं) स्वयं गृहस्थाश्रम से निवृत्त होते थे (रघु. ७. ६८)।

भागवत में लिखा है, कि पहले दक्ष प्रजापति के हर्यश्वसंज्ञक पुत्रों को और फिर शबलाश्वसंज्ञक दूसरे पुत्रों को भी उनके विवाह से पहले ही नारद ने निवृत्तिमार्ग का उपदेश दे कर भिक्षु बना डाला। इससे इस अशास्त्र और गर्ह्य व्यवहार के कारण नारद की निर्भर्त्सना करके दक्ष प्रजापति ने उन्हें शाप दिया (भाग. ६. ५. ३५–४२)। इससे ज्ञात होता है, कि इस आश्रमव्यवस्था का मूलहेतु यह था, कि अपना गार्हस्थ्यजीवन यथाशास्त्र पूरा कर गृहस्थी चलाने योग्य लड़कों के सयाने हो जानेपर बुढापे की निरर्थक आशाओं से उनकी उमङ्ग के आड़े न आ, निरा मोक्ष-परायण हो मनुष्य स्वयं आनंदपूर्वक संसार से निवृत्त हो जावे। इसी हेतु से विदुरनीति में धृतराष्ट्र से विदुर ने कहा है :—

> उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय कांचित्।
> स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा अरण्यसंस्थोऽथमुनिर्बुभूषेत्॥

"गृहस्थाश्रम में पुत्र उत्पन्न कर [उन्हें कोई ऋण न छोड़ और उनकी जीविका के लिये कुछ थोड़ा-सा प्रबन्ध कर तथा सब लड़कियों को योग्य स्थानों में दे चुकने पर] वानप्रस्थ हो संन्यास लेने की इच्छा करें" (म. भा. उ. ३६. ३९)। आजकल हमारे यहाँ साधारण लोगों की संसारसम्बन्धी समझ भी प्रायः विदुर के कथनानुसार ही है। तो कभी-न-कभी संसार को छोड़ देना ही मनुष्यमात्र का परम-साध्य मानने के कारण संसार के व्यवहारों की सिद्धि के लिये स्मृतिप्रणेताओं ने जो पहले तीन आश्रमों की श्रेयस्कर मर्यादा नियत कर दी थी, वह धीरे धीरे छूटने लगी। और यहाँ तक स्थिति आ पहुँची, कि यदि किसी को पैदा होते ही अथवा अल्प अवस्था में ही ज्ञान की प्राप्ति हो जावे, तो उसे इन तीन सीढ़ियों पर चढ़ने की आवश्यकता नहीं है। वह एकदम संन्यास ले ले, तो कोई हानि नहीं—'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा' (जाबा. ४)! इसी अभिप्राय से महाभारत के गोकापिलीय संवाद में कपिल ने स्यूमरश्मि से कहा है :—

> शरीरपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
> कषाये कर्मभिः पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति॥*

"सारे कर्म शरीर के (विषयासक्तिरूप) रोग निकाल फेंकने के लिये हैं। ज्ञान ही सब में उत्तम और अन्त की गति है। जब कर्म से शरीर का कषाय अथवा अज्ञान-रूपी रोग नष्ट हो जाता है, तब रसज्ञान की चाह उपजती है" (शां. २६९. ३८)। इसी प्रकार मोक्षधर्म में पिङ्गलगीता में भी कहा है, कि "नैराश्यं परमं सुखम्" अथवा "योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्"—तृष्णारूप प्राणान्तक

---

* वेदान्तसूत्रों पर जो शांकरभाष्य है, (३. ४. २६) उसमें यह श्लोक लिया गया है। वहाँ इसका पाठ इस प्रकार है :—"कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते॥" महाभारत में हमें यह श्लोक जैसा मिला है, हमने यहाँ वैसा ही ले लिया है।

रोग छूटे बिना सुख नहीं है (शां. १७४. ६५ और ५८)। जाबाल और बृहदारण्यक उपनिषदों के वचनों के अतिरिक्त कैवल्य और नारायणोपनिषद् में वर्णन है, कि "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः"—कर्म से, प्रजा से अथवा धन से नहीं; किन्तु त्याग से (या न्यास से) कुछ पुरुष मोक्ष प्राप्त करते हैं (कै. १. २; नारा. उ. १२. ३. और ७८ देखो)। यदि गीता का यह सिद्धान्त है, कि ज्ञानी पुरुष को भी अन्ततक कर्म ही करते रहना चाहिये; तो अब बतलाना चाहिये, कि इन वचनों की व्यवस्था कैसी क्या लगाई जावे? इस शंका के होने से ही अर्जुन ने अठारहवें अध्याय के आरम्भ में भगवान से पूछा है, कि "तो अब मुझे अलग अलग बतलाओ, कि संन्यास के मानी क्या है? और त्याग से क्या समझूँ" (१८. १)? यह देखने के पहले—कि भगवान् ने इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया—स्मृतिग्रन्थों में प्रतिपादित इस आश्रममार्ग के अतिरिक्त एक दूसरे तुल्यबल के वैदिक मार्ग का भी यहाँ पर थोड़ा-सा विचार करना आवश्यक है।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और अन्त में संन्यासी, इस प्रकार आश्रमों की इन चार चढ़ती हुई सीढ़ियों के जीने को ही 'स्मार्त' अर्थात् 'स्मृतिकारों का प्रतिपादन किया हुआ मार्ग' कहते हैं। 'कर्म कर' और 'कर्म छोड़'—वेद की ऐसी जो दो प्रकार की आज्ञाएँ हैं, उनकी एकवाक्यता दिखलाने के लिये आयु के भेद के अनुसार आश्रमों की व्यवस्था स्मृतिकर्ताओं ने की है; और कर्मों के स्वरूपतः संन्यास ही को यदि अन्तिम ध्येय मान लें, तो उस ध्येय की सिद्धि के लिये स्मृतिकारों के निर्दिष्ट किये हुए आयु बिताने के चार सीढ़ियोंवाले इस आश्रममार्ग को साधनरूप समझ कर अनुचित नहीं कह सकते। आयुष्य बिताने के लिये इस प्रकार चढ़ती हुई सीढ़ियों की व्यवस्था से संसार के व्यवहार का लोप न हो कर यद्यपि वैदिक कर्म और औपनिषदिक ज्ञान का मेल हो जाता है; तथापि अन्य तीनों आश्रमों का अन्नदाता गृहस्थाश्रम ही होने के कारण मनुस्मृति और महाभारत में भी अन्त में उसका ही महत्त्व स्पष्टतया स्वीकृत हुआ है:—

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः॥

"माता के (पृथ्वी के) आश्रय से जिस प्रकार सब जन्तु जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम के आसरे अन्य आश्रम हैं (शां. २६८. ६; और मनु. ३. ७७ देखो)। मनु ने तो अन्यान्य आश्रमों को नदी और गृहस्थाश्रम को सागर कहा है (मनु. ६. ९०; म. भा. शां. २९५. ३९)। जब गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता इस प्रकार निर्विवाद है, तब उसे छोड़ कर 'कर्मसंन्यास' करने का उपदेश देने से लाभ ही क्या है? क्या ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी गृहस्थाश्रम के कर्म करना अशक्य है? नहीं तो फिर इसका क्या अर्थ है, कि ज्ञानी पुरुष संसार से निवृत्त हो? थोड़ी-बहुत स्वार्थबुद्धि से बर्ताव करनेवाले साधारण लोगों की अपेक्षा पूर्ण निष्काम-बुद्धि से व्यवहार करनेवाले ज्ञानी पुरुष लोकसंग्रह करने में अधिक समर्थ और पात्र

रहते हैं । अतः ज्ञान से जब उनका यह सामर्थ्य पूर्णावस्था को पहुँचता है, तभी समाज को छोड़ जाने की स्वतंत्रता ज्ञानी पुरुष को रहने देने से सब समाज की ही अत्यन्त हानि हुआ करती है; जिसकी भलाई के लिये चातुर्वर्ण्यव्यवस्था की गई है । शरीरसामर्थ्य न रहने पर यदि कोई अशक्त मनुष्य समाज को छोड़ कर बन में चला जावे, तो बात निराली है--उससे समाज की कोई विशेष हानि नहीं होगी । जान पड़ता है, कि संन्यास-आश्रम को बुढापे की मर्यादा से लपेटने में मनु का हेतु भी यही रहा होगा । परन्तु ऊपर कह चुके हैं, कि यह श्रेयस्कर मर्यादा व्यवहार से जाती रही । इसलिये 'कर्म कर' और 'कर्म छोड़' ऐसे द्विविध वेद-वचनों का मेल करने के लिये ही यदि स्मृतिकर्ताओं ने आश्रमों की चढ़ती हुई श्रेणी बाँधी हो, तो भी इन भिन्न भिन्न वेदवाक्यों की एकवाक्यता करने का स्मृतिकारों की बराबरी का ही--और तो क्या उनसे भी अधिक--निर्विवाद अधिकार जिन भगवान् श्रीकृष्ण को है, उन्हीं ने जनक प्रभृति के प्राचीन ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मकमार्ग का भागवतधर्म के नाम से पुनरुज्जीवन और पूर्ण समर्थन किया है । भागवतधर्म में केवल अध्यात्मविचारों पर ही निर्भर न रह कर वासुदेवभक्तिरूपी सुलभ साधन को भी उसमें मिला दिया है । इस विषय पर आगे तेरहवें प्रकरण में विस्तारपूर्वक विवेचन किया जावेगा । भागवतधर्म भक्तिप्रधान भले ही हो; पर उसमें भी जनक के मार्ग का यह महत्त्वपूर्ण तत्त्व विद्यमान है, कि परमेश्वर का ज्ञान पा चुकने पर कर्मत्यागरूप संन्यास न ले । केवल फलाशा छोड़ कर ज्ञानी पुरुष को भी लोकसंग्रह के निमित्त समस्त व्यवहार यावज्जीवन निष्कामबुद्धि से करते रहना चाहिये । अतः कर्मदृष्टि से ये दोनों मार्ग एक-से अर्थात् ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक या प्रवृत्तिप्रधान होते हैं । साक्षात् परब्रह्म के ही अवतार --नर और नारायण ऋषि--इस प्रवृत्तिप्रधान धर्म के प्रथम प्रवर्तक हैं; और इसी से इस धर्म का प्राचीन नाम 'नारायणीय धर्म' है । ये दोनों ऋषि परम ज्ञानी थे; और लोगों को निष्कामकर्म करने का उपदेश देनेवाले तथा स्वयं करनेवाले थे (म. भा. उ. ४८.२१) । और इसी से महाभारत में इस धर्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है :--"प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः" (म. भा. शां. ३४७. ८१); अथवा "प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत्"--नारायण ऋषि का आरम्भ किया हुआ धर्म आमरणान्त प्रवृत्तिप्रधान है (म. भा. शां. २१७. २) । भागवत में स्पष्ट कहा ह, कि यही सात्वत या भागवतधर्म है; और इस सात्वत या मूल भागवतधर्म का स्वरूप 'नैष्कर्म्यलक्षण' अर्थात् निष्कामप्रवृत्तिप्रधान था (भाग. १. ३. ८ और ११. ४. ६) । अनुगीता के इस श्लोक से--"प्रवृत्ति लक्षणो योगः ज्ञानं संन्यासलक्षणम्"--प्रगट होता है, कि इस प्रवृत्तिमार्ग का ही एक और नाम 'योग' था (म. भा. अश्व. ४३. २५) । और इसी से नारायण के अवतार श्रीकृष्ण ने नर के अवतार अर्जुन को गीता में जिस धर्म का उपदेश दिया है, उसको गीता में ही 'योग' कहा है । आजकल कुछ लोगों की समझ है, कि

भागवत और स्मार्त, दोनों पन्थ उपास्यभेद के कारण पहले उत्पन्न हुए थे। पर हमारे मत में यह समझ ठीक नहीं। क्योंकि इन दोनों मार्गों के उपास्य भिन्न भले ही हों; किन्तु उनका अध्यात्मज्ञान एक ही है। और अध्यात्मज्ञान की नींव एक ही होने से यह सम्भव नहीं, कि उदात्त ज्ञान में पारङ्गत प्राचीन ज्ञानी पुरुष केवल उपास्य के भेद को ले कर झगड़ते रहें। इसी कारण से भगवद्गीता (९. १४) एवं शिवगीता (१२. ४) दोनों ग्रन्थों में कहा है, कि भक्ति किसी की करो; पहुँचेगी वह एक ही परमेश्वर को। महाभारत के नारायणीय धर्म में तो इन दोनों देवताओं का अभेद यों बतलाया गया है, कि नारायण और रुद्र एक ही हैं। जो रुद्र के भक्त हैं, वे नारायण के भक्त हैं; और जो रुद्र के द्वेषी हैं, वे नारायण के भी द्वेषी हैं (म. भा. शां. ३४१. २०–२६ और ३४२. १२९ देखो)। हमारा यह कहना नहीं है, कि प्राचीन काल में शैव और वैष्णवों का भेद ही न था। पर हमारे कथन का तात्पर्य यह है, कि ये दोनों—स्मार्त और भागवत—पन्थ शिव और विष्णु के उपास्य भेदभाव के कारण भिन्न भिन्न नहीं हुए हैं; ज्ञानोत्तर निवृत्ति या प्रवृत्ति-कर्म छोड़े या नहीं—केवल इसी महत्त्व के विषय में मतभेद होने से ये दोनों पन्थ प्रथम उत्पन्न हुए हैं। आगे कुछ समय के बाद जब मूलभागवतधर्म का प्रवृत्ति-मार्ग या कर्मयोग लुप्त हो गया; और उसे भी केवल विष्णु-भक्तिप्रधान अर्थात् अनेक अंशों में निवृत्तिप्रधान आधुनिक स्वरूप प्राप्त हो गया। एवं इसी के कारण जब वृथाभिमान से ऐसे झगड़े होने लगे, कि तेरा देवता 'शिव' है; और मेरा देवता 'विष्णु'; तब 'स्मार्त' और 'भागवत' शब्द क्रमशः 'शैव' और 'वैष्णव' शब्दों के समानार्थक हो गये। और अन्त में आधुनिक भागवतधर्मियों का वेदान्त (द्वैत या विशिष्टाद्वैत) भिन्न हो गया; तथा वेदान्त के समान ही ज्योतिष अर्थात् एकादशी और चन्दन लगाने की रीति तक स्मार्तमार्ग से निराली हो गई। किन्तु 'स्मार्त' शब्द से ही व्यक्त होता है, कि यह भेद सच्चा और मूल का (पुराना) नहीं है। भागवतधर्म भगवान् का ही प्रवृत्त किया हुआ है। इसलिये इसमें कोई आश्चर्य नहीं, कि इसका उपास्य देव भी श्रीकृष्ण या विष्णु है। परन्तु 'स्मार्त' शब्द का धात्वर्थ 'स्मृत्युक्त'—केवल इतना ही—होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता, कि स्मार्तधर्म का उपास्य शिव ही होना चाहिये। क्योंकि, मनु आदि प्राचीन धर्मग्रन्थों में यह नियम कहीं नहीं है, कि एक शिव की ही उपासना करनी चाहिये। इसके विपरीत, विष्णु का ही वर्णन अधिक पाया जाता है। और कुछ स्थलों पर तो गणपति प्रभृति को भी उपास्य बतलाया है। इस के सिवा शिव और विष्णु दोनों देवता वैदिक हैं। अर्थात् वेद में ही इनका वर्णन किया गया है। इसलिये इनमें से एक को ही स्मार्त कहना ठीक नहीं है। श्रीशंकराचार्य स्मार्त मत के पुरस्कर्ता कहे जाते हैं। पर शांकर मठ में उपास्य देवता शारदा है। और शांकरभाष्य में जहाँ जहाँ प्रतिमापूजन का प्रसंग छिड़ा है, वहाँ वहाँ आचार्य ने शिवलिंग का निर्देश न कर शालग्राम अर्थात् विष्णुप्रतिमा

का ही उल्लेख किया है (वे. सू. शां. भा. १. २. ७; १. ३. १४ और ४. १. ३; छां. शां. भा. ८. १. १)। इसी प्रकार कहा जाता है, कि पञ्चदेवपूजा का प्रकार भी पहले शंकराचार्य ने ही किया था। इन सब बातों का विचार करने से यही सिद्ध होता है, कि पहले पहल स्मार्त और भागवत पन्थों में (शिवभक्ति' या 'विष्णु-भक्ति' जैसे उपास्य में दोनों के कोई झगड़े नहीं थे। किन्तु जिनकी दृष्टि से स्मृति-ग्रन्थों में स्पष्ट रीति से वर्णित आश्रमव्यवस्था के अनुसार तरुण अवस्था में यथाशास्त्र संसार के सब कार्य करके बुढापे में एकाएक कर्म छोड़ चतुर्थाश्रम या संन्यास लेना अन्तिम साध्य था, वे ही स्मार्त कहलाते थे। और जो लोग भगवान् के उपदेशानुसार यह समझते थे, कि ज्ञान एवं उज्ज्वल भगवद्भक्ति के साथ-ही-साथ मरणपर्यन्त गृहस्थाश्रम के ही कार्य निष्कामबुद्धि से करते रहना चाहिये, उन्हें भागवत कहते थे। इन दोनों शब्दों के मूल अर्थ येही हैं। और इसी से ये दोनों शब्द सांख्य और योग अथवा संन्यास और कर्मयोग के क्रमशः समानार्थक होते हैं। भगवान् के अवतारकृत्य से कहो या ज्ञानयुक्त गार्हस्थ्यधर्म के महत्त्व पर ध्यान दे कर कहो; संन्यास-आश्रम लुप्त हो गया था; और कलिवर्ज्य प्रकरण में शामिल कर दिया गया था। अर्थात् कलियुग में जिन बातों को शास्त्र ने निषिद्ध माना है, उनमें संन्यास की गिनती की गई थी *। फिर जैन और बौद्धधर्म के प्रवर्तकों ने कापिल सांख्य के मत को स्वीकार कर इस मत का विशेष प्रचार किया, कि संसार का त्याग कर संन्यास लिये बिना मोक्ष नहीं मिलता। इतिहास में प्रसिद्ध है, कि बुद्ध ने स्वयं तरुण अवस्था में ही राजपाट, स्त्री और बाल-बच्चों को छोड़ कर संन्यास दीक्षा ले ली थी। यद्यपि श्रीशंकराचार्य ने जैन और बौद्धों का खण्डन किया है, तथापि जैन और बौद्धों ने जिस संन्यासधर्म का विशेष प्रचार किया था, उसे ही श्रौतस्मार्तसंन्यास कह कर आचार्य ने क़ायम रखा। और उन्हों ने गीता का इत्यर्थ भी ऐसा निकाला, कि वही संन्यासधर्म गीता का प्रतिपाद्य विषय है। परन्तु वास्तव में गीता स्मार्तमार्ग का ग्रन्थ नहीं। यद्यपि सांख्य या संन्यासमार्ग से ही गीता का आरंभ हुआ है, तो भी आगे सिद्धान्तपक्ष में प्रवृत्तिप्रधान भागवतधर्म ही उसमें प्रतिपादित है। यह स्वयं महाभारतकार का वचन है, जो हम पहले ही प्रकरण में दे आये हैं। इन दोनों पन्थों के वैदिक ही होने के कारण सब अंशों में न सही; तो अनेक अंशों में दोनों की एकवाक्यता करना शक्य है। परन्तु ऐसी एकवाक्यता करना एक बात है; और यह कहना दूसरी बात है, कि गीता में संन्यासमार्ग ही

* निर्णयसिन्धु के तृतीय परिच्छेद में कलिवर्ज्य-प्रकरण देखो। इसमें "अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्। देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्" और "संन्यासश्च न कर्तव्यो ब्राह्मणेन विजानता" इत्यादि स्मृतिवचन हैं। अर्थ :—अग्निहोत्र, गोवध, संन्यास, श्राद्ध में मांसभक्षण और नियोग, कलियुग में ये पाँचों निषिद्ध हैं। इनमें से संन्यास का निषिद्धत्व भी शंकराचार्य ने पीछे से निकाल डाला।

प्रतिपाद्य है । यदि कहीं कर्ममार्ग को मोक्षप्रद कहा हो, तो वह सिर्फ़ अर्थवाद या पोली स्तुति है । रुचिवैचित्र्य के कारण किसी को भागवतधर्म की अपेक्षा स्मार्तधर्म ही बहुत प्यारा जँचेगा । अथवा कर्मसंन्यास के लिये जो कारण सामान्यतः बतलाये जाते हैं, वे ही उसे अधिक बलवान् प्रतीत होंगे । नहीं कौन कहे ? उदाहरणार्थ, इसमें किसी को शंका नहीं, कि श्रीशंकराचार्य को स्मार्त या संन्यासधर्म ही मान्य था । अन्य सब मार्गों को वे अज्ञानमूलक मानते थे । परन्तु यह नहीं कहा जा सकता, कि सिर्फ़ उसी कारण से गीता का भावार्थ भी वही होना चाहिये । यदि तुम्हें गीता का सिद्धान्त मान्य नहीं है, तो कोई चिन्ता नहीं । उसे न मानो । परन्तु यह उचित नहीं, कि अपनी टेक रखने के लिये गीता के आरम्भ में जो यह कहा है, कि "इस संसार में आयु बिताने के दो प्रकार के स्वतंत्र मोक्षप्रद मार्ग अथवा निष्ठाएँ हैं" इसका ऐसा अर्थ किया जाय, कि "संन्यासनिष्ठा ही एक सच्चा और श्रेष्ठ मार्ग है ।" गीता में वर्णित ये दोनों मार्ग वैदिक धर्म में जनक और याज्ञवल्क्य के पहले से ही स्वतन्त्र रीति से चले आ रहे हैं । पता लगता है, कि जनक के समान समाज के धारण और पोषण करने के अधिकार क्षात्रधर्म के अनुसार वंशपरम्परा से या अपने सामर्थ्य से जिनको प्राप्त हो जाते थे, वे ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् भी निष्कामबुद्धि से अपने काम जारी रख कर जगत् का कल्याण करने में ही अपनी सारी आयु लगा देते थे । समाज के इस अधिकार पर ध्यान दे कर ही महाभारत में अधिकारभेद से दुहरा वर्णन आया है, कि "सुखं जीवन्ति मुनयो भैक्ष्यवृत्तिं समाश्रिताः" (शां. १७८. ११)—जंगलों में रहनेवाले मुनि आनन्द से भिक्षावृत्ति को स्वीकार करते हैं—और "दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम्" (शां. २३. ४६)—दण्ड से लोगों का धारण-पोषण करना ही क्षत्रिय का धर्म है; मुण्डन करा लेना नहीं । परन्तु इससे यह भी न समझ लेना चाहिये, कि सिर्फ़ प्रजापालन के अधिकारी क्षत्रियों को ही उनके अधिकार के कारण कर्मयोग विहित था । कर्मयोग के उल्लिखित वचन का ठीक भावार्थ यह है, कि जो जिस कर्म के करने का अधिकारी हो, वह ज्ञान के पश्चात् भी उस कर्म को करता रहे । और इसी कारण से महाभारत में कहा है, कि "एषा पूर्वतरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते" (शां. २३७)—ज्ञान के पश्चात् ब्राह्मण भी अपने अधिकारानुसार यज्ञयाग आदि कर्म प्राचीन काल में जारी रखते थे । मनुस्मृति में भी संन्यास आश्रम के बदले सब वर्णों के लिये वैदिक कर्मयोग ही विकल्प से विहित माना गया है (मनु. ६. ८६–९६) । यह कहीं नहीं लिखा है, कि भागवतधर्म केवल क्षत्रियों के ही लिये है । प्रत्युत उसकी महत्ता यह कह कर गाई है, कि स्त्री और शूद्र आदि सब लोगों को वह सुलभ है (गी. ९. ३२) । महाभारत में ऐसी कथाएँ हैं, कि तुलाधार (वैश्य) । और व्याध (बहेलिया) इसी धर्म का आचरण करते थे; और उन्हों ने ब्राह्मणों को भी उसका उपदेश किया था (शां. २६१; वन. २१५) । निष्कामकर्मयोग का आचरण करने वाले प्रमुख पुरुषों के जो उदाहरण भागवतधर्मग्रन्थों में दिये जाते हैं, वे केवल

जनक-श्रीकृष्ण आदि क्षत्रियों के ही नहीं हैं; प्रत्युत उनमें वसिष्ठ, जैगीषव्य और व्यास प्रभृति ज्ञानी ब्राह्मणों का भी समावेश रहता है ।

यह न भूलना चाहिये, कि यद्यपि गीता में कर्ममार्ग ही प्रतिपाद्य है, तो भी निरे कर्म (अर्थात् ज्ञानरहित कर्म) करने के मार्ग को गीता मोक्षप्रद नहीं मानती । ज्ञान-रहित कर्म करने के भी दो भेद हैं । एक तो दम्भ से या आसुरी बुद्धि से कर्म करना और दूसरा श्रद्धा से । इनमें दम्भ के मार्ग या आसुरी मार्ग को गीता ने (१६. १६ और १७. २८) और मीमांसकों ने भी गर्ह्य तथा नरकप्रद माना है; एवं ऋग्वेद में भी अनेक स्थलों पर श्रद्धा की महत्ता वर्णित है (ऋ. १०. १५१; ६. ११३. २ और २. १२. ५) । परन्तु दूसरे मार्ग के विषय में—अर्थात् ज्ञान-व्यतिरिक्त किन्तु शास्त्रों पर श्रद्धा रख कर कर्म करने के मार्ग के विषय में—मीमांसकों का कहना है, कि परमेश्वर के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न हो; तो भी शास्त्रों पर विश्वास रख कर केवल श्रद्धापूर्वक यज्ञयाग आदि कर्म मरणपर्यन्त करते जाने से अन्त म मोक्ष ही मिलता है । पिछले प्रकरण में कह चुके हैं, कि कर्मकाण्डरूप से मीमांसकों का यह मार्ग बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है । वेदसंहिता और ब्राह्मणों में संन्यास आश्रम आवश्यक कहीं नहीं कहा गया है । उलटा जैमिनी ने वेदों का यही स्पष्ट मत बतलाया ह, कि गृहस्थाश्रम में रहने से ही मोक्ष मिलता है (वे. सू. ३. ४. १७–२० देखो) । और उनका यह कथन कुछ निराधार भी नहीं है । क्योंकि कर्मकाण्ड के इस प्राचीन मार्ग को गौण मानने का आरम्भ उपनिषदों में ही पहले पहल देखा जाता है । यद्यपि उपनिषद् वैदिक हैं, तथापि उनके विषय-प्रतिपादन से प्रगट होता है, कि वे संहिता और ब्राह्मणों के पीछे के हैं । इसके मानी यह नहीं, कि इसके पहले परमेश्वर का ज्ञान हुआ ही न था । हाँ; उपनिषत्काल में ही यह मत पहले पहल अमल में अवश्य आने लगा, कि मोक्ष पाने के लिये ज्ञान के पश्चात् वैराग्य से कर्मसंन्यास करना चाहिये । और इसके पश्चात् संहिता एवं ब्राह्मणों में वर्णित कर्मकाण्ड को गौणत्व आ गया । इसके पहले कर्म ही प्रधान माना जाता था । उपनिषत्काल में वैराग्ययुक्त ज्ञान अर्थात् संन्यास की इस प्रकार बढ़ती होने लगने पर यज्ञयाग प्रभृति कर्मों की ओर या चातुर्वर्ण्य-धर्म की ओर भी ज्ञानी पुरुष यों ही दुर्लक्ष करने लगे; और तभी से यह समझ मन्द होने लगी, कि लोकसंग्रह करना हमारा कर्तव्य है । स्मृतिप्रणेताओं ने अपने अपने ग्रन्थों में यह कह कर—कि गृहस्थाश्रम में यज्ञयाग आदि श्रौत या चातुर्वर्ण्य के स्मार्त कर्म करना ही चाहिये—गृहस्थाश्रम की बढ़ाई गाई है सही; परन्तु स्मृति-कारों के मत में भी अन्त में वैराग्य या संन्यास आश्रम ही श्रेष्ठ माना गया है । इसलिये उपनिषदों के ज्ञानप्रवाह से कर्मकाण्ड को जो गौणता प्राप्त हो गई थी, उसको हटाने का सामर्थ्य स्मृतिकारों की आश्रमव्यवस्था में नहीं रह सकता था । ऐसी अवस्था में ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड में से किसी को गौण न कह कर भक्ति के साथ इन दोनों का मेल कर देने के लिये गीता की प्रवृत्ति हुई है । उपनिषत्

प्रणेताओं के ये सिद्धान्त गीता को मान्य हैं, कि ज्ञान के बिना मोक्षप्राप्ति नहीं होती; और यज्ञयाग आदि कर्मों से यदि बहुत हुआ तो स्वर्गप्राप्ति हो जाती है (मुंड. १. २. १०; गी. २. ४१–४५)। परन्तु गीता का यह भी सिद्धान्त है, कि सृष्टिक्रम को जारी रखने के लिये यज्ञ अथवा कर्म के चक्र को भी क़ायम रखना चाहिये––कर्मों को छोड़ देना निरा पागलपन या मूर्खता है। इसलिये गीता का उपदेश है, कि यज्ञयाग आदि श्रौतकर्म अथवा चातुर्वर्ण्य आदि व्यावहारिक कर्म अज्ञानपूर्वक श्रद्धा से न करके ज्ञानवैराग्ययुक्तबुद्धि से निरा कर्तव्य समझ कर करो। इससे यह चक्र भी नहीं बिगड़ने पायेगा; और तुम्हारे किये हुए कर्म मोक्ष के आड़े भी नहीं आवेंगे। कहना नहीं होगा, कि ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड (संन्यास और कर्म) का मेल मिलाने की गीता की यह शैली स्मृतिकर्ताओं की अपेक्षा अधिक सरस है। क्योंकि व्यष्टिरूप आत्मा का कल्याण यत्किञ्चित् भी न घटा कर उसके साथ सृष्टि के समष्टिरूप आत्मा का कल्याण भी गीतामार्ग से साधा जाता है। मीमांसक कहते हैं, कि कर्म अनादि और वेदप्रतिपादित हैं। इसलिये तुम्हें ज्ञान न हो, तो भी उन्हें करना ही चाहिये। कितने ही (सब नहीं) उपनिषत्प्रणेता कर्मों को गौण मानते हैं। और यह कहते हैं––या यह मानने में कोई क्षति नहीं, कि निदान उनका झुकाव ऐसा ही है––कि कर्मों को वैराग्य से छोड़ देना चाहिये। और स्मृतिकार आयु के भेद––अर्थात् आश्रमव्यवस्था से उक्त दोनों मतों की इस प्रकार एकवाक्यता––करते हैं, कि पूर्व आश्रमों में इन कर्मों को करते रहना चाहिये। और चित्तशुद्धि हो जाने पर बुढापे में वैराग्य से सब कर्मों को छोड़ कर संन्यास ले लेना चाहिये। परन्तु गीता का मार्ग इन तीनों पन्थों से भिन्न है। ज्ञान और काम्यकर्म के बीज, इन में यदि विरोध हो, तो भी ज्ञान और निष्कामकर्म में कोई विरोध नहीं। इसीलिये गीता का कथन है, कि निष्कामबुद्धि से सब कर्म सर्वदा करते रहो। उन्हें कभी मत छोड़ो। अब इन चारों मतों की तुलना करने से देख पड़ेगा, कि ज्ञान होने के पहले कर्म की आवश्यकता सभी को मान्य है; परन्तु उपनिषदों और गीता का कथन है, कि ऐसी स्थिति में श्रद्धा से किये हुए कर्म का फल स्वर्ग के सिवा दूसरा कुछ नहीं होता। इसके आगे, अर्थात् ज्ञानप्राप्ति हो चुकने पर––कर्म किये जावें या नहीं, इस विषय में––उपनिषत्कर्ताओं में भी मतभेद है। कई एक उपनिषत्कर्ताओं का मत है, कि ज्ञान से समस्त काम्यबुद्धि का ऱ्हास हो चुकने पर जो मनुष्य मोक्ष का अधिकारी हो गया है, उसे केवल स्वर्ग की प्राप्ति करा देनेवाले काम्यकर्म करने का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। परन्तु ईशावास्य आदि दूसरे कई एक उपनिषदों में प्रतिपादन किया गया है, कि मृत्युलोक के व्यवहारों को जारी रखने के लिये कर्म करना ही चाहिये। यह प्रगट है, कि उपनिषदों में वर्णित इन दो मार्गों में से दूसरा मार्ग ही गीता में प्रतिपादित है (गी. ५. २)। परन्तु यद्यपि यह कहें, कि मोक्ष के अधिकारी ज्ञानीपुरुष को निष्कामबुद्धि से लोकसंग्रहार्थ सब व्यवहार करना चाहिये। तथापि इस स्थान पर यह प्रश्न आप ही होता है, कि जिन

यज्ञयाग आदि कर्मों का फल स्वर्गप्राप्ति के सिवा दूसरा कुछ नहीं, उन्हें वह करे ही क्यों ? इसी से अठारहवें अध्याय के आरम्भ में इसी प्रश्न को उठा कर भगवान् ने स्पष्ट निर्णय कर दिया है, कि "यज्ञ, दान, तप" आदि कर्म सदैव चित्तशुद्धि-कारक हैं--अर्थात् निष्कामबुद्धि उपजाने और बढ़ानेवाले हैं। इसलिये 'इन्हें भी' (एतान्यपि) अन्य निष्कामकर्मों के समान लोकसंग्रहार्थ ज्ञानी पुरुष को फलाशा और सङ्ग छोड़ कर सदा करते रहना चाहिये (गी. १८. ६)। परमेश्वर को अर्पण कर इस प्रकार सब कर्म निष्कामबुद्धि से करते रहने से व्यापक अर्थ में यही एक बड़ा भारी यज्ञ हो जाता है। और फिर इस यज्ञ के लिये जो कर्म किया जाता है, वह बन्धक नहीं होता (गी. ४. २३)। किन्तु सभी काम निष्कामबुद्धि से करने के कारण यज्ञ से जो स्वर्गप्राप्तिरूप बन्धक फल मिलनेवाला था, वह भी नहीं मिलता; और ये सब काम मोक्ष के आड़े आ नहीं सकते। सारांश, मीमांसकों का कर्मकाण्ड यदि गीता में क़ायम रखा गया हो, तो वह इसी रीति से रखा गया है, कि उससे स्वर्ग का आना-जाना छूट जाता है। और सभी कर्म निष्कामबुद्धि से करने के कारण अन्त में मोक्षप्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। ध्यान रखना चाहिये, कि मीमांसकों के कर्ममार्ग और गीता के कर्मयोग में यही महत्त्व का भेद है--दोनों एक नहीं हैं।

यहाँ बतला दिया, कि भगवद्गीता में प्रवृत्तिप्रधान भागवतधर्म या कर्मयोग ही प्रतिपाद्य ह; और इस कर्मयोग में तथा मीमांसकों के कर्मकाण्ड में कौन-सा भेद है ? अब तात्त्विक दृष्टि से इस बात का थोड़ा-सा विचार करते हैं, कि गीता के कर्म-योग में और ज्ञानकाण्ड को ले कर स्मृतिकारों की वर्णन की हुई आश्रमव्यवस्था में क्या भेद है ? यह भेद बहुत ही सूक्ष्म है। और सच पूछो, तो इसके विषय में वाद करने का कारण भी नहीं है। दोनों पक्ष मानते हैं, कि ज्ञानप्राप्ति होने तक चित्त की शुद्धि के लिये प्रथम दो आश्रमों (ब्रह्मचारी और गृहस्थ) के कृत्य सभी को करना चाहिये। मतभेद सिर्फ़ इतना ही है, कि पूर्ण ज्ञान हो चुकने पर कर्म करें या संन्यास ले लें ? सम्भव है, कुछ लोग यह समझें, कि सदा ऐसे ज्ञानी पुरुष किसी समाज में थोड़े ही रहेंगे। इसलिये इन थोड़े-से ज्ञानी पुरुषों का कर्म करना या न करना एक ही सा है। इस विषय में विशेष चर्चा करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यह समझ ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञानी पुरुष के बर्ताव को और लोग प्रमाण मानते हैं। और अपने अन्तिम साध्य के अनुसार ही मनुष्य पहले से आदत डालता है। इसलिये लौकिक दृष्टि से यह प्रश्न अत्यंत महत्त्व का हो जाता है, कि "ज्ञानी पुरुष को क्या करना चाहिये ?" स्मृतिग्रन्थों में कहा तो है, कि ज्ञानी पुरुष अन्त में संन्यास ले ले। परन्तु ऊपर कह आये हैं, कि स्मार्त के अनुसार ही इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं। उदाहरण लीजिये; बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने जनक को ब्रह्मज्ञान का बहुत उपदेश किया है। पर उन्हों ने जनक से यह कहीं नहीं कहा, कि "अब तुम राजपाट छोड़ कर संन्यास ले लो"। उलटा यह कहा है, कि जो ज्ञानी पुरुष ज्ञान के पश्चात् संसार को छोड़ देते हैं, वे इसलिये

उसे छोड़ देते हैं, कि संसार हमें रुचता नहीं है--न कामयन्ते (बृ.४.४. २२)। इससे बृहदारण्यकोपनिषद् का यह अभिप्राय व्यक्त होता है, कि ज्ञान के पश्चात् संन्यास का लेना और न लेना अपनी अपनी खुशी अर्थात् वैकल्पिक बात है। ब्रह्मज्ञान और संन्यास का कुछ नित्य सम्बन्ध नहीं। और वेदान्तसूत्र में बृहदारण्यकोपनिषद् के इस वचन का अर्थ वैसा ही लगाया गया है (वे. सू. ३. ४. १५)। शंकराचार्य का निश्चित सिद्धान्त है, कि ज्ञानोत्तर कर्मसंन्यास किये बिना मोक्ष मिल नहीं सकता। इसलिये अपने भाष्य में उन्हों ने इस मत की पुष्टि में सब उपनिषदों की अनुकूलता दिखलाने का प्रयत्न किया है। तथापि शंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है, कि जनक आदि के समान ज्ञानोत्तर भी अधिकारानुसार जीवनभर कर्म करते रहने से कोई क्षति नहीं है (वे. सू. शां. भा. ३. ३. ३२; और गी. शां. भा. २. ११ एवं ३. २० देखो)। इससे स्पष्ट विदित होता है, कि संन्यास या स्मार्तमार्गवाले को भी ज्ञान के पश्चात् कर्म बिलकुल ही त्याज्य नहीं जँचते। कुछ ज्ञानी पुरुषों को अपवाद मान अधिकार के अनुसार कर्म करने की स्वतंत्रता इस मार्ग में भी दी गई है। इसी अपवाद को और व्यापक बना कर गीता कहती है, कि चातुर्वर्ण्य के लिये विहित कर्म ज्ञानप्राप्ति हो चुकने पर भी लोकसंग्रह के निमित्त कर्तव्य समझ कर प्रत्येक ज्ञानी पुरुष को निष्कामबुद्धि से करना चाहिये। इससे सिद्ध होता है, कि गीताधर्म व्यापक हो, तो भी उसका तत्त्व संन्यासमार्गवालों की दृष्टि से भी निर्दोष है। और वेदान्तसूत्रों को स्वतंत्र रीति से पढ़ने पर जान पड़ेगा, कि उनमें भी ज्ञानयुक्त कर्मयोग संन्यास का विकल्प समझ कर ग्राह्य माना गया है (वे.सू. ३. ४. २६; ३. ४. ३२-३५)*। अब यह बतलाना आवश्यक है, कि निष्काम-बुद्धि से ही क्यों न हो? पर जब मरणपर्यन्त कर्म ही करना है, तब स्मृतिग्रन्थों में वर्णित कर्मत्यागरूपी चतुर्थ आश्रम या संन्यास आश्रम की क्या दशा होगी? अर्जुन अपने मन में यही सोच रहा था, कि भगवान् कभी-न-कभी कहेंगे ही, कि कर्मत्यागरूपी संन्यास लिये बिना मोक्ष नहीं मिलता; और तब भगवान् के मुख से ही युद्ध छोड़ने के लिये मुझे स्वतंत्रता मिल जावेगी। परन्तु जब अर्जुन ने देखा, कि सत्रहवें अध्याय के अन्त तक भगवान् ने कर्मत्यागरूप संन्यास-आश्रम की बात भी नहीं की। बारंबार केवल यही उपदेश किया, कि फलाशा को छोड़ दे। तब अठा-रहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने भगवान् से प्रश्न किया है, कि "तो फिर मुझे बतलाओ, संन्यास और त्याग में क्या भेद है?"। अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! यदि तुमने समझा हो, कि मैंने इतने समय तक जो कर्मयोगमार्ग बतलाया है, उसमें संन्यास नहीं है; तो वह समझ गलत

---

* वेदान्तसूत्र के इस अधिकरण का अर्थ शांकरभाष्य में कुछ निराला है। परन्तु 'विहितत्वाच्चाश्रमकर्माणि' (३. ४. ३२) का अर्थ हमारे मत में ऐसा है, कि "ज्ञानी पुरुष आश्रमकर्म भी करे, तो अच्छा है। क्योंकि वह विहित है।" सारांश हमारी समझ से वेदान्तसूत्र में दोनों पक्ष स्वीकृत हैं, कि ज्ञानी पुरुष कर्म करें, चाहे न करें।

है। कर्मयोगी पुरुष सब कर्मों के दो भेद करते हैं—एक को कहते हैं 'काम्य' अर्थात् आसक्तबुद्धि से किये गये कर्म; और दूसरे को कहते हैं 'निष्काम' अर्थात् आसक्ति छोड़ कर किये गये कर्म। (मनुस्मृति २३. ८९ में इन्हीं कर्मों को क्रम से 'प्रवृत्ति' और निवृत्ति 'नाम' दिये हैं)। इनमें से 'काम्य' वर्ग में जितने कर्म हैं, उन सब को कर्मयोगी एकाएक छोड़ देता है—अर्थात् वह उनका 'संन्यास' करता है। बाक़ी रह गये 'निष्काम' या निवृत्त' कर्म। सो कर्मयोगी निष्काम कर्म करता तो है; पर उन सब में फलाशा का 'त्याग' सर्वथैव रहता है। सारांश, कर्मयोगमार्ग में भी 'संन्यास' और 'त्याग' छूटा कहाँ है? स्मार्तमार्गवाले कर्म का स्वरूपतः संन्यास करते हैं, तो उसके स्थान में कर्ममार्ग के योगी कर्मफलाशा का संन्यास करते हैं। संन्यास दोनों ओर क़ायम ही है" (गी. १८. १–६ पर हमारी टीका देखो)। भागवतधर्म का यह मुख्य तत्त्व है, कि जो पुरुष अपने सभी कर्म परमेश्वर को अर्पण कर निष्कामबुद्धि से करने लगे, वह गृहस्थाश्रमी हो, तो भी उसे 'नित्य संन्यासी' ही कहना चाहिये (गी. ५. ३)। और भागवतपुराण में भी पहले सब आश्रमधर्म बतला कर अन्त में नारद ने युधिष्ठिर को इसी तत्त्व का उपदेश किया है। वामन पण्डित ने जो गीता पर यथार्थदीपिका टीका लिखी है, उसके (१८. २) कथनानुसार "शिखा बोडुनि तोडिला दोरा," मूँडमूँडाय भये संन्यासी—या हाथ में दण्ड ले कर भिक्षा माँगी, अथवा सब कर्म छोड़ कर जंगल में जा रहे, तो इसी से संन्यास नहीं हो जाता। संन्यास और वैराग्य, बुद्धि के धर्म हैं; दण्ड, चोटी या जनेऊ के नहीं। यदि कहो, कि ये दण्ड आदि के ही धर्म हैं। बुद्धि के अर्थात् ज्ञान के नहीं। तो राजछत्र अथवा छतरी की डाँडी पकड़नेवाले को भी वह मोक्ष मिलना चाहिये, जो संन्यासी को प्राप्त होता है। जनकसुलभासंवाद में ऐसा ही कहा है :—

> त्रिदण्डादिषु यद्यस्ति मोक्षो ज्ञाने न कस्यचित् ।
> छत्रादिषु कथं न स्यात्तुल्यहेतौ परिग्रहे ॥

(शां. ३२०. ४२)। क्योंकि हाथ में दण्ड धारण करने में यह मोक्ष का हेतु दोनों स्थानों में एक ही है। तात्पर्य—कायिक, वाचिक और मानसिक संयम ही सच्चा त्रिदण्ड है (मनु.१२.१०); और सच्चा संन्यास काम्यबुद्धि का संन्यास है (गी.१८.२)। एवं वह जिस प्रकार भागवतधर्म में नहीं छुटता (गी. ६. २), उसी प्रकार बुद्धि को स्थिर रखने का कर्म या भोजन आदि कर्म भी सांख्यमार्ग में अन्त तक छूटता ही नहीं है। फिर ऐसी क्षुद्र शंकाएँ करके भगवे या सफ़ेद कपड़ों के लिये झगड़ने से क्या लाभ होगा, कि त्रिदण्डी या कर्मत्यागरूप संन्यास कर्मयोगमार्ग में नहीं है? इसलिये वह मार्ग स्मृतिविरुद्ध या त्याज्य है। भगवान् ने तो निरभिमानपूर्वक बुद्धि से यही कहा है :—

> एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।

अर्थात् जिसने यह जान लिया, कि सांख्य और कर्मयोग मोक्षदृष्टि से दो नहीं-- एक ही हैं--वही पण्डित है (गी. ५. ५)। और महाभारत में भी कहा है, कि एकान्तिक अर्थात् भागवतधर्म सांख्यधर्म की बराबरी का है--" सांख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तसेवितः " (शां. ३४८. ७४)। सारांश, सब स्वार्थ का परार्थ में लय कर अपनी अपनी योग्यता के अनुसार व्यवहार में प्राप्त सभी कर्म सब प्राणियों के हितार्थ मरणपर्यन्त निष्कामबुद्धि से केवल कर्तव्य समझ कर करते जाना ही सच्चा वैराग्य या ' नित्यसंन्यास ' है (५. ३)। इसी कारण कर्मयोगमार्ग में स्वरूप से कर्म का संन्यास कर भिक्षा कभी भी नहीं माँगते। परन्तु बाहरी आचरण से देखने में यदि इस प्रकार भेद दिखे, तो भी संन्यास और त्याग के सच्चे तत्त्व कर्मयोगमार्ग में भी क़ायम ही रहते हैं। इसलिये गीता का अन्तिम सिद्धान्त है, कि स्मृतिग्रन्थों की आश्रमव्यवस्था का और निष्कामकर्मयोग का विरोध नहीं।

सम्भव है, इस विवेचन से कुछ लोगों की कदाचित् ऐसी समझ हो जाय, कि संन्यासधर्म के साथ कर्मयोग का मेल करने का जो इतना बड़ा उद्योग गीता में किया गया है, उसका कारण यह है, कि स्मार्त या संन्यासधर्म प्राचीन होगा; और कर्मयोग उसके बाद का होगा। परन्तु इतिहास की दृष्टि से विचार करने पर कोई भी जान सकेगा, कि सच्ची स्थिति ऐसी नहीं है। यह पहले ही कह आये हैं, कि वैदिक धर्म का अत्यन्त प्राचीन स्वरूप कर्मकाण्डात्मक ही था। आगे चल कर उपनिषदों के ज्ञान से कर्मकाण्ड को गौणता प्राप्त होने लगी; और कर्मत्यागरूपी संन्यास धीरे धीरे प्रचार में आने लगा। यह वैदिक धर्मवृक्ष की वृद्धि की दूसरी सीढ़ी है। परन्तु ऐसे समय में भी (उपनिषदों के ज्ञान का कर्मकाण्ड से मेल मिला कर) जनक प्रभृति ज्ञाता पुरुष अपने कर्म निष्कामबुद्धि से जीवनभर किया करते थे-- अर्थात कहना चाहिये, कि वैदिक धर्मवृक्ष की यह दूसरी सीढ़ी दो प्रकार की थी-- एक जनक आदि की; और दूसरी याज्ञवल्क्य प्रभृति की। स्मार्त आश्रमव्यवस्था इससे अगली अर्थात् तीसरी सीढ़ी है। दूसरी सीढ़ी के समान तीसरी के भी दो भेद हैं। स्मृतिग्रन्थों में कर्मत्यागरूप चौथे आश्रम की महत्ता गाई तो अवश्य गई है; पर उसके साथ ही जनक आदि के ज्ञानयुक्त कर्मयोग का भी--उसको संन्यास आश्रम का विकल्प समझ कर--स्मृतिप्रणेताओं ने वर्णन किया है। उदाहरणार्थ, सब स्मृतिग्रन्थों में मूलभूत मनुस्मृति को ही लीजिये। इस स्मृति के छठे अध्याय में कहा है, कि मनुष्य ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ आश्रमों से चढ़ता चढ़ता कर्मत्यागरूप चौथा आश्रम ले। परन्तु संन्यास आश्रम अर्थात् यतिधर्म का निरूपण समाप्त होने पर मनु ने पहले यह प्रस्तावना की, कि " यह यतियों का अर्थात् संन्यासियों का धर्म बतलाया। अब वेद-संन्यासिकों का कर्मयोग क़हते है; और फिर यह बतला कर--कि अन्य आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थाश्रम ही श्रेष्ठ कैसे है--उन्हों ने संन्यास आश्रम या यतिधर्म को वैकल्पिक मान निष्काम गार्हस्थ्यवृत्ति के कर्मयोग का वर्णन किया है (मनु. ६. ८६--९६;)। और आगे बारहवें अध्याय

में उसे ही "वैदिक कर्मयोग" नाम दे कर कहा है, कि यह मार्ग भी चतुर्थ आश्रम के समान ही निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्षप्रद है (मनु. १२. ८६--९०)। मनु का यह सिद्धान्त याज्ञवल्क्यस्मृति में भी आया है। इस स्मृतिके तीसरे अध्याय में यतिधर्म का निरूपण हो चुकनेपर 'अथवा' पद का प्रयोग करके लिखा है, कि आगे ज्ञाननिष्ठ और सत्यवादी गृहस्थ भी (संन्यास न ले कर) मुक्ति पाता है (याज्ञ. ३. २०४ और २०५)। इसी प्रकार यास्क ने भी अपने निरुक्त में लिखा है, कि कर्म छोड़नेवाले तपस्वियों और ज्ञानयुक्त कर्म करनेवाले कर्मयोगियों को एक ही देवयान गति प्राप्त होती है (नि. १४. ९)। इसके अतिरिक्त, इस विषय में दूसरा प्रमाण धर्मसूत्रकारों का है। ये धर्मसूत्र गद्य में हैं; और विद्वानों का मत है, कि श्लोकों में रची गई स्मृतियों से ये पुराने होंगे। इस समय हमें यह नहीं देखना है, कि यह मत सही है या ग़लत ? चाहे वह सही हो या ग़लत। इस प्रसंग पर मुख्य बात यह है, कि ऊपर मनु और याज्ञवल्क्य-स्मृतियों के वचनों में गृहस्थाश्रम या कर्मयोग का जो महत्त्व दिखाया गया है, उससे भी अधिक महत्त्व धर्मसूत्रों में वर्णित है। मनु और याज्ञवल्क्य ने कर्मयोग को चतुर्थ आश्रम का विकल्प कहा है। पर बौधायन और आपस्तम्ब ने ऐसा न कर स्पष्ट कह दिया है, कि गृहस्थाश्रम ही मुख्य है; और उसी से आगे अमृतत्व मिलता है। बौधायन धर्मसूत्र में "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते"--जन्म से ही प्रत्येक ब्राह्मण अपनी पीठ पर तीन ऋण ले आता है--इत्यादि तैत्तिरीय संहिता के वचन पहले दे कर कहा है, कि इन ऋणों को चुकाने के लिये यज्ञयागआदिपूर्वक गृहस्थाश्रम का आश्रय करनेवाला मनुष्य ब्रह्मलोक को पहुँचता है। और ब्रह्मचर्य या संन्यास की प्रशंसा करनेवाले अन्य लोग धूल में मिल जाते हैं (बौ. २. ६. ११. ३३ और ३४)। एवं आपस्तम्बसूत्र में भी ऐसा ही कहा है (आप. २. ९. २४. ८)। यह नहीं, कि इन दोनों धर्मसूत्रों में संन्यास आश्रम का वर्णन ही नहीं है; किन्तु उसका भी वर्णन करके गृहस्थाश्रम का ही महत्त्व अधिक माना है। इससे और विशेषतः मनुस्मृति में कर्मयोग को 'वैदिक' विशेषण देने से स्पष्ट सिद्ध होता है, कि मनुस्मृति के समय में भी कर्मत्यागरूप संन्यास आश्रम की अपेक्षा निष्काम कर्मयोगरूपी गृहस्थाश्रम प्राचीन समझा जाता था; और मोक्ष की दृष्टि से उसकी योग्यता चतुर्थ आश्रम के बराबर ही गिनी जाती थी। गीता के टीकाकारों का जोर संन्यास या कर्मत्यागयुक्त भक्ति पर ही होने के कारण उपर्युक्त स्मृतिवचनों का उल्लेख उनकी टीका में नहीं पाया जाता। परन्तु उन्हों ने इस ओर दुर्लक्ष भले ही किया हो; किन्तु इससे कर्मयोग की प्राचीनता घटती नहीं है। यह कहने में कोई हानि नहीं, कि इस प्रकार प्राचीन होने के कारण--स्मृतिकारों को यतिधर्म का विकल्प--कर्मयोग मानना पड़ा। यह हुई वैदिक कर्मयोग की बात। श्रीकृष्ण के पहले जनक आदि इसी का आचरण करते थे। परन्तु आगे इसमें भगवान् ने भक्ति को भी मिला दिया; और उसका बहुत प्रसार किया। इस कारण उसे ही 'भागवतधर्म' नाम प्राप्त

हो गया है । यद्यपि भगवद्गीता ने इस प्रकार संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को ही अधिक श्रेष्ठता दी है, तथापि कर्मयोगमार्ग को आगे गौणता क्यों प्राप्त हुई ? और संन्यासमार्ग का ही बोलबाला क्यों हो गया ? इसका विचार ऐतिहासिक दृष्टि से आगे किया जावेगा । यहाँ इतना ही कहना है, कि कर्मयोग स्मार्तमार्ग के पश्चात् का नहीं है । वह प्राचीन वैदिक काल से चला आ रहा है ।

भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में "इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" यह जो संकल्प है, उसका मर्म पाठकों के ध्यान में अब पूर्णतया आ जावेगा । यह संकल्प बतलाता है, कि भगवान् के गाये हुए उपनिषद् में अन्य उपनिषदों के समान ब्रह्मविद्या तो है ही; पर अकेली ब्रह्मविद्या ही नहीं । प्रत्युत ब्रह्मविद्या में 'सांख्य' और 'योग' (वेदान्ती संन्यासी और वेदान्ती कर्मयोगी) ये जो दो पन्थ उपजते हैं, उनमें से योग का अर्थात् कर्मयोग का प्रतिपादन ही भगवद्गीता का मुख्य विषय है । यह कहने में भी कोई हानि नहीं, कि भगवद्गीतोपनिषद् कर्मयोग का प्रधान ग्रन्थ है । क्योंकि यद्यपि वैदिक काल से ही कर्मयोग चला आ रहा है, तथापि "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" (ईश. २) या "आरम्भ कर्माणि गुणान्वितानि" (श्वे. ६. ४) अथवा "विद्या के साथ-ही-साथ स्वाध्याय आदि कर्म करना चाहिये" (तै. १. ९) । इस प्रकार के कुछ थोड़े-से उल्लेखों के अतिरिक्त उपनिषदों में इस कर्मयोग का विस्तृत विवेचन कहीं भी नहीं किया गया है । इस विषय पर भगवद्गीता ही मुख्य और प्रमाणभूत ग्रन्थ है । और काव्य की दृष्टि से भी यही ठीक जँचता है, कि भारतभूमि के कर्ता पुरुषों के चरित्र जिस महाभारत में वर्णित हैं, उसी में अध्यात्मशास्त्र को ले कर कर्मयोग की भी उपपत्ति बतलाई जावे । इस बात का भी अब अच्छी तरह से पता लग जाता है, कि प्रस्थानत्रयी में भगवद्गीता का समावेश क्यों किया गया है ? यद्यपि उपनिषद् मूलभूत हैं, तो भी उनके कहनेवाले ऋषि अनेक हैं । इस कारण उनके विचार संकीर्ण और कुछ स्थानों में परस्परविरुद्ध भी देख पड़ते हैं । इसलिये उपनिषदों के साथ-ही-साथ उनकी एकवाक्यता करनेवाले वेदान्तसूत्रों की भी प्रस्थानत्रयी में गणना करना आवश्यक था । परन्तु उपनिषद् और वेदान्तसूत्र, दोनों की अपेक्षा यदि गीता में कुछ अधिकता न होती, तो प्रस्थानत्रयी में गीता के संग्रह करने का कोई भी कारण न था । किन्तु उपनिषदों का झुकाव प्रायः संन्यासमार्ग की ओर है । एवं विशेषतः उनमें ज्ञानमार्ग का ही प्रतिपादन है; और भगवद्गीता में इस ज्ञान को ले कर भक्तियुक्त कर्मयोग का समर्थन है—बस; इतना कह देने से गीता ग्रंथ की अपूर्वता सिद्ध हो जाती है; और साथ ही साथ प्रस्थानत्रयी के तीनों भागों की सार्थकता भी व्यक्त हो जाती है । क्योंकि वैदिक धर्म के प्रमाणभूत ग्रंथ में यदि ज्ञान और कर्म (सांख्य और योग) दोनों वैदिक मार्गों का विचार न हुआ होता, तो प्रस्थानत्रयी उतनी अपूर्ण ही रह जाती । कुछ लोगों की समझ है, कि जब उपनिषद् सामान्यतः निवृत्तिविषयक हैं, तब गीता का प्रवृत्तिविषयक अर्थ

लगाने से प्रस्थानत्रयी के तीनों भागों में विरोध हो जायगा; और उनकी प्रामाणिकता में भी न्यूनता आ जावेगी। यदि सांख्य अर्थात् एक संन्यास ही सच्चा वैदिक मोक्षमार्ग हो, तो यह शंका ठीक होगी। परन्तु ऊपर दिखाया जा चुका है, कि कम-से-कम ईशावास्य आदि कुछ उपनिषदों में कर्मयोग का स्पष्ट उल्लेख है। इस लिये वैदिकधर्मपुरुष को केवल एकहत्थी अर्थात् संन्यासप्रधान न समझ कर यदि गीता के अनुसार ऐसा सिद्धान्त करें, कि उस वैदिकधर्मपुरुष के ब्रह्मविद्यारूप एक ही मस्तक है; और मोक्षदृष्टि से तुल्य बलवाले सांख्य और कर्मयोग उसके दाहिनेबाएँ दो हाथ हैं; तो गीता और उपनिषदों में कोई विरोध नहीं रह जाता। उपनिषदों में एक मार्ग का समर्थन है; और गीता में दूसरे मार्ग का। इसलिये प्रस्थानत्रयी के ये दोनों भाग भी दो हाथों के समान परस्परविरुद्ध न हो, सहाय्यकारी देख पड़ेंगे। ऐसे ही—गीता में केवल उपनिषदों का ही प्रतिपादन मानने से —पिष्टपेषण का जो वैय्यर्थ्य गीता को प्राप्त हो जाता, वह भी नहीं होता। गीता के साम्प्रदायिक टीकाकारों ने इस विषय की उपेक्षा की है। इस कारण सांख्य और योग, दोनों मार्गों के पुरस्कर्ता अपने अपने पन्थ के समर्थन से जिन मुख्य कारणों को बतलाया करते हैं, उनकी समता और विषमता चटपट ध्यान में आ जाने के लिये नीचे लिखे गये नक्शे के दो ख़ानों में वे ही कारण परस्पर एक दूसरे के सामने संक्षेप से दिये गये हैं। स्मृतिग्रन्थों में प्रतिपादित स्मार्त आश्रमव्यवस्था और मूल भागवतधर्म के मुख्य मुख्य भेद भी इससे ज्ञात हो जावेंगे :—

ब्रह्मविद्या या आत्मज्ञान

प्राप्त होने पर।

कर्मसंन्यास (सांख्य)।	कर्मयोग (योग)।
(१) मोक्ष आत्मज्ञान से ही मिलता है, कर्म से नहीं। ज्ञानविरहित, किन्तु श्रद्धापूर्वक किये गये यज्ञयाग आदि कर्मों से मिलनेवाला स्वर्गसुख अनित्य है।	(१) मोक्ष आत्मज्ञान से ही मिलता है। कर्म से नहीं। ज्ञानविरहित, किन्तु श्रद्धापूर्वक किये गये यज्ञयाग आदि कर्मों से मिलनेवाला स्वर्गसुख अनित्य है।
(२) आत्मज्ञान होने के लिये इन्द्रियनिग्रह से बुद्धि को स्थिर, निष्काम, विरक्त और सम करना पड़ता है।	(२) आत्मज्ञान होने के लिये इन्द्रियनिग्रह से बुद्धि को स्थिर, निष्काम, विरक्त और सम करना पड़ता है।
(३) इसलिये इन्द्रियों के विषयों का पाश तोड़ कर मुक्त (स्वतन्त्र) हो जाओ।	(३) इसलिये इन्द्रियों के विषयों को न छोड़ कर उन्हीं में वैराग्य से अर्थात् निष्कामबुद्धि से व्यवहार कर इन्द्रियनिग्रह की जाँच करो। निष्काम के मानी निष्क्रिय नहीं।

(४) तृष्णामूलक कर्म दुःखमय और बंधक हैं ।	(४) यदि इसका खूब विचार करें, कि दुःख और बन्धन किसमें हैं ? तो देख पड़ेगा, कि अचेतन कर्म किसीको भी बाँधते या छोड़ते नहीं हैं । उनके सम्बन्ध में कर्ता के मन में जो काम या फलाशा होती है, वही बन्धन और दुःख की जड़ है ।
(५) इसलिये चित्तशुद्धि होने तक यदि कोई कर्म करे, तो भी अन्त में छोड़ देना चाहिये ।	(५) इसलिये चित्तशुद्धि हो चुकने पर भी फलाशा छोड़ कर, धैर्य और उत्साह के साथ सब कर्म करते रहो । यदि कहो, कि कर्मों को छोड़ दें; तो वे छूट नहीं सकते । सृष्टि ही तो एक कर्म है; उसे विश्राम है ही नहीं ।
(६) यज्ञ के अर्थ किये गये कर्म बंधक न होने के कारण गृहस्थाश्रम में उनके करने से हानि नहीं है ।	(६) निष्कामबुद्धि से या ब्रह्मार्पण विधि से किया गया समस्त कर्म एक भारी 'यज्ञ' ही है । इसलिये स्वधर्म-विहित समस्त कर्म को निष्कामबुद्धि से केवल कर्तव्य समझ कर सदैव करते रहना चाहिये ।
(७) देह के धर्म कभी छूटते नहीं, इस कारण संन्यास लेने पर पेट के लिये भिक्षा माँगना बुरा नहीं ।	(७) पेट के लिये भीख माँगना भी तो कर्म ही है; और जब ऐसा 'निर्लज्जता' का कर्म करना ही है, तब अन्यान्य कर्म भी निष्कामबुद्धि से क्यों न किये जावें ? गृहस्थाश्रमी के अतिरिक्त भिक्षा देगा ही कौन ?
(८) ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर अपना निजी कर्तव्य कुछ शेष नहीं रहता; और लोकसंग्रह करने की कुछ आवश्यकता नहीं ।	(८) ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर अपने लिये भले कुछ प्राप्त करने को न रहे; परन्तु कर्म नहीं छूटते । इसलिये जो कुछ शास्त्र से प्राप्त हो, उसे 'मुझे नहीं चाहिये' ऐसी निर्ममबुद्धि से लोकसंग्रह की ओर दृष्टि रख कर करते जाओ । लोकसंग्रह किसी से भी नहीं छूटता । उदाहरणार्थ, भगवान् का चरित्र देखो ।

(९) परन्तु यदि अपवादस्वरूप कोई अधिकारी पुरुष ज्ञान के पश्चात् भी अपने व्यावहारिक अधिकार जनक आदि के समान जीवनपर्यन्त जारी रखे, तो कोई हानि नहीं ।

(९) गुणविभागरूप चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अनुसार छोटेबड़े अधिकार सभी को जन्म से ही प्राप्त होते हैं । स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले इन अधिकारों को लोकसंग्रहार्थ निःसंगबुद्धि से सभी को निरपवादरूप से जारी रखना चाहिये । क्योंकि यह चक्र जगत् को धारण करने के लिये परमेश्वर ने ही बनाया है ।

(१०) इतना होने पर भी कर्मत्याग-रूपी संन्यास ही श्रेष्ठ है । अन्य आश्रमों के कर्म चित्तशुद्धि के साधनमात्र हैं । ज्ञान और कर्म का तो स्वभाव से ही विरोध है । इसलिये पूर्व आश्रम में जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी चित्तशुद्धि करके अन्त में कर्मत्यागरूपी संन्यास लेना चाहिये । चित्तशुद्धि जन्मते ही या पूर्व आयु में हो जावे, तो गृह-स्थाश्रम के कर्म करते रहने की भी आव-श्यकता नहीं है । कर्म का स्वरूपतः त्याग करना ही सच्चा संन्यास-आश्रम है ।

(१०) यह सच है, कि शास्त्रोक्त रीति से सांसारिक कर्म करने पर चित्तशुद्धि होती है । परन्तु केवल चित्त की शुद्धि ही कर्म का उपयोग नहीं है । जगत् का व्यवहार चलता रखने के लिये भी कर्म की आवश्यकता है । इसी प्रकार काम्य-कर्म और ज्ञान का विरोध भले ही हो; पर निष्काम कर्म और ज्ञान के बीच बिलकुल विरोध नहीं । इसलिये चित्त की शुद्धि के पश्चात् भी फलाशा का त्याग कर निष्कामबुद्धि से जगत् के संग्रहार्थ चातुर्वर्ण्य के सब कर्म आमरणान्त जारी रखो । यही सच्चा संन्यास है । कर्म का स्वरूपतः त्याग करना कभी भी उचित नहीं; और शक्य भी नहीं है ।

(११) कर्मसंन्यास ले चुकने पर भी शम-दम आदिक धर्म पालते जाना चाहिये ।

(११) ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् फलाशा-त्यागरूप संन्यास ले कर शम-दम आदिक धर्मों के सिवा आत्मौपम्य-दृष्टि से प्राप्त होनेवाले सभी धर्मों का पालन किया करें । और इस शम अर्थात् शान्तवृत्ति से ही शास्त्र से प्राप्त समस्त कर्म लोकसंग्रह के निमित्त मरणपर्यन्त करता जावे । निष्कामकर्म न छोड़े ।

(१२) यह मार्ग अनादि और श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित है।	(१२) यह मार्ग अनादि और श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित है।
(१३) शुक-याज्ञवल्क्य आदि इस मार्ग से गये हैं।	(१३) व्यास-वसिष्ठ-जैगीषव्य आदि और जनक-श्रीकृष्ण प्रभृति इस मार्ग से गये हैं।

अन्त में मोक्ष।

ये दोनों मार्ग अथवा निष्ठाएँ ब्रह्मविद्यामूलक हैं। दोनों ओर मन की निष्काम-अवस्था और शान्ति एक ही प्रकार की है। इस कारण दोनों मार्गों से अन्त में एक ही मोक्ष प्राप्त हुआ करता है (गी. ५. ५)। ज्ञान के पश्चात् कर्म को छोड़ बैठना और काम्य-कर्म छोड़ कर नित्य निष्कामकर्म करते रहना, यही इन दोनों में मुख्य भेद है।

ऊपर बतलाये हुए कर्म छोड़ने और कर्म करने के दोनों मार्ग ज्ञानमूलक हैं। अर्थात् ज्ञान के पश्चात् ज्ञानी पुरुषों के द्वारा स्वीकृत और आचरित हैं। परन्तु कर्म छोड़ना और कर्म करना, दोनों बातें ज्ञान न होने पर भी हो सकती हैं। इसलिये अज्ञानमूलक कर्म का और कर्म के त्याग का भी यहाँ थोड़ा-सा विवेचन करना आवश्यक है। गीता के अठारहवें अध्याय में त्याग के जो तीन भेद बतलाये गये हैं, उनका रहस्य यही है। ज्ञान न रहने पर भी कुछ लोग निरे काय-क्लेश-भय से कर्म छोड़ दिया करते हैं। इसे गीता में 'राजस त्याग' कहा है (गी. १८. ८)। इसी प्रकार ज्ञान न रहने पर भी कुछ लोग कोरी श्रद्धा से ही यज्ञयाग प्रभृति कर्म किया करते हैं। परन्तु गीता का कथन है, कि कर्म करने का यह मार्ग मोक्षप्रद नहीं—केवल स्वर्गप्रद है (गी. ९. २०)। कुछ लोगों की समझ है, कि आजकल यज्ञयाग प्रभृति श्रौतधर्म का प्रचार न रहने के कारण मीमांसकों के इस निरे कर्ममार्ग के सम्बन्ध में गीता का सिद्धान्त इन दोनों में विशेष उपयोगी नहीं। परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि श्रौत यज्ञयाग भले ही डूब गये हों; पर स्मार्तयज्ञ अर्थात् चातुर्वर्ण्य के कर्म अब भी जारी हैं। इसलिये अज्ञान से (परन्तु श्रद्धापूर्वक) यज्ञयाग आदि काम्य कर्म करनेवाले लोगों के विषय में गीता का जो सिद्धान्त है, वह ज्ञानविरहित किन्तु श्रद्धासहित चातुर्वर्ण्य आदि कर्म करनेवालों को भी वर्तमानस्थिति में पूर्ण-तया उपयुक्त है। जगत् के व्यवहार की ओर दृष्टि देने पर ज्ञात होगा, कि समाज में इसी प्रकार के लोगों की अर्थात् शास्त्रों पर श्रद्धा रख कर नीति से अपने अपने कर्म करनेवालों की ही विशेष अधिकता रहती है। परन्तु उन्हें परमेश्वर का स्वरूप पूर्णतया ज्ञात नहीं रहता। इसलिये गणितशास्त्र की पूरी उपपत्ति समझे बिना ही केवल मुखाग्र गणित की रीति से हिसाब लगानेवाले लोगों के समान इन श्रद्धालु

और कर्मठ मनुष्यों की अवस्था हुआ करती है । इसमें कोई सन्देह नहीं, कि सभी कर्म शास्त्रोक्त विधि से और श्रद्धापूर्वक करने के कारण निर्भ्रान्त (शुद्ध) होते हैं; एवं इसी से वे पुण्यप्रद अर्थात् स्वर्ग के देनेवाले हैं । परन्तु शास्त्र का ही सिद्धान्त है, कि बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं मिलता । इसलिये स्वर्गप्राप्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्व का कोई भी फल इन कर्मठ लोगों को मिल नहीं सकता । अतएव जो अमृतत्व, स्वर्गसुख से भी परे है, उसकी प्राप्ति जिसे कर लेनी हो—और यही एक परम पुरुषार्थ है—उसे उचित है, कि वह पहले साधन समझ कर और आगे सिद्धावस्था में लोकसंग्रह के लिये अर्थात् जीवनपर्यन्त " समस्त प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है " इस ज्ञानयुक्त बुद्धि से, निष्कामकर्म करने के मार्ग को ही स्वीकार करे । आयु बिताने के सब मार्गों में यही मार्ग उत्तम है । गीता का अनुसरण कर ऊपर दिये गये नक्शे में इस मार्ग को कर्मयोग कहा है; और इसे ही कुछ लोग कर्ममार्ग या प्रवृत्तिमार्ग भी कहते हैं । परन्तु कर्ममार्ग या प्रवृत्तिमार्ग, दोनों शब्दों में एक दोष है । वह यह कि उनसे ज्ञानविरहित, किन्तु श्रद्धासहित कर्म करने के स्वर्गप्रद मार्ग का भी सामान्य बोध हुआ करता है । इसलिये ज्ञानविरहित, किन्तु श्रद्धायुक्त कर्म और ज्ञानयुक्त निष्कामकर्म, इन दोनों का भेद दिखलाने के लिये दो भिन्न भिन्न शब्दों की योजना करने की आवश्यकता होती है । और इसी कारण से मनुस्मृति तथा भागवत में भी पहले प्रकार के कर्म अर्थात् ज्ञानविरहित कर्म को 'प्रवृत्त कर्म'; और दूसरे प्रकार के अर्थात् ज्ञानयुक्त निष्कामकर्म को 'निवृत्त-कर्म' कहा है (मनु. १२. ८९; भाग ७. १५. ४७) । परन्तु हमारी राय में ये शब्द भी जितने होने चाहियें, उतने निस्सन्दिग्ध नहीं हैं । क्योंकि 'निवृत्ति' शब्द का सामान्य अर्थ 'कर्म से परावृत्त होना' है । इस शंका को दूर करने के लिये 'निवृत्त' शब्द के आगे 'कर्म' विशेषण जोड़ते हैं । और ऐसा करने से 'निवृत्त' विशेषण का अर्थ 'कर्म से परावृत्त' नहीं होता; और निवृत्त कर्म = निष्कामकर्म, यह अर्थ निष्पन्न हो जाता है । कुछ भी हो; जब तक 'निवृत्त' शब्द उसमें है, तब तक कर्मत्याग की कल्पना मन में आये बिना नहीं रहती । इसीलिये ज्ञानयुक्त निष्काम-कर्म करने के मार्ग को 'निवृत्ति या निवृत्त कर्म' न कह कर 'कर्मयोग' नाम देना हमारे मत में उत्तम है । क्योंकि कर्म के आगे योग शब्द जुड़ा रहने से स्वभावतः उसका अर्थ 'मोक्ष में बाधा न दे कर कर्म करने की युक्ति' होता है; और अज्ञानयुक्त कर्म का तो आप ही से निरसन हो जाता है । फिर भी यह न भूल जाना चाहिये, कि गीता का कर्मयोग ज्ञानमूलक है । और यदि इसे ही कर्ममार्ग या प्रवृत्तिमार्ग कहना किसी को अभीष्ट जँचता हो, तो ऐसा करने में कोई हानि नहीं । स्थलविशेष में भाषावैचित्र्य के लिये गीता के कर्मयोग को लक्ष्य कर हमने भी इन शब्दों की योजना की है । अस्तु; इस प्रकार कर्म करने या कर्म छोड़ने के ज्ञान-मूलक और अज्ञानमूलक जो भेद हैं, उनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध में गीताशास्त्र का अभिप्राय इस प्रकार है :—

आयु बितानेका मार्ग।	श्रेणी।	गति।
१. कामोपभोगको ही पुरुषार्थ मान कर अहंकार से, आसुरी बुद्धि से, दम्भ से या लोभ से केवल आत्मसुख के लिये कर्म करना (गी. १६. १६)—आसुर अथवा राक्षसी मार्ग है।	अधम	नरक
१. इस प्रकार परमेश्वर के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान न होने पर भी [कि प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है] वेदों की आज्ञा या शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार श्रद्धा और नीति से अपने अपने काम्यकर्म करना (गी. २. ४१–४४, और ९–२०)—केवल कर्म, त्रयी धर्म अथवा मीमांसक मार्ग है।	मध्यम मीमांसकों (के मत में उत्तम)	स्वर्ग (मीमांसकों के मत में मोक्ष)
१. शास्त्रोक्त निष्काम कर्मों से परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर अन्त में वैराग्य से समस्त कर्म छोड़, केवल ज्ञान में ही तृप्त हो रहना (गी. ५. २)——केवल ज्ञान, सांख्य अथवा स्मार्त मार्ग है।	उत्तम	मोक्ष
१. पहले चित्त की शुद्धि के निमित्त; और उससे परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर; फिर केवल लोकसंग्रहार्थ, मरण पर्यन्त भगवान् के समान निष्कामकर्म करते रहना (गी. ५. २)—ज्ञानकर्मसमुच्चय, कर्मयोग या भागवत मार्ग है।	सर्वोत्तम	मोक्ष

(श्रेणी स्तम्भ में अन्तिम तीन पंक्तियों पर कोष्ठक: जनक वर्णित तीन निष्ठाएँ। गति स्तम्भ में अन्तिम दो पंक्तियों पर कोष्ठक: गीता की दो निष्ठाएँ।)

सारांश, यही पक्ष गीता में सर्वोत्तम ठहराया गया है, कि मोक्षप्राप्ति के लिये यद्यपि कर्म की आवश्यकता नहीं है, तथापि उसके साथ ही साथ दूसरे कारणों के लिये——अर्थात् एक तो अपरिहार्य समझ कर और दूसरे जगत् के धारणपोषण के लिये आवश्यक मान कर——निष्कामबुद्धि से सदैव समस्त कर्मों को करते रहना चाहिये। अथवा गीता का अन्तिम मत ऐसा है, कि "कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः" (मनु. १. ९७), मनु के इस वचन के अनुसार कर्तृत्व और ब्रह्मज्ञान का योग या मेल ही सब में उत्तम है; और निरा कर्तृत्व या कोरा ब्रह्मज्ञान प्रत्येक एकदेशीय है।

वास्तव में यह प्रकरण यहीं समाप्त हो गया। परन्तु यह दिखलाने के लिये--कि गीता का सिद्धान्त श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित है--ऊपर भिन्न भिन्न स्थानों पर जो वचन उद्धृत किये हैं, उनके सबन्ध में कुछ कहना आवश्यक है । क्योंकि उपनिषदों पर जो साम्प्रदायिक भाष्य हैं, उनसे बहुतेरों की यह समझ हो गई है, कि समस्त उपनिषद् संन्यासप्रधान या निवृत्तिप्रधान हैं। हमारा यह कथन नहीं, कि उपनिषदों में संन्यासमार्ग है ही नहीं। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है :--यह अनुभव हो जाने पर--कि परब्रह्म के सिवा और कोई वस्तु सत्य नहीं है--"कुछ ज्ञानी पुरुष पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की परवाह न कर 'हमें सन्तति से क्या काम ? संसार ही हमारा आत्मा है' यह कह कर आनन्द से भिक्षा माँगते हुए घूमते हैं" (४. ४. २२)। परन्तु बृहदारण्यक में यह नियम कहीं नहीं लिखा, कि समस्त ब्रह्मज्ञानियों को यही पक्ष स्वीकार करना चाहिये। और क्या कहें ? जिसे यह उपदेश किया गया, उसका इसी उपनिषद् में वर्णन है, कि वह जनक राजा ब्रह्मज्ञान के शिखर पर पहुँच कर अमृत हो गया था। परन्तु यह कहीं नहीं बतलाया है, कि उसने याज्ञवल्क्य के समान जगत् को छोड़ कर संन्यास ले लिया । इससे स्पष्ट होता है, कि जनक का निष्कामकर्मयोग और याज्ञवल्क्य का कर्मसंन्यास--दोनों--बृहदारण्यकोपनिषद् को विकल्परूप से सम्मत हैं; और वेदान्तसूत्रकर्ता ने भी यही अनुमान किया है (वे. सू. ३. ४. १५)। कठोपनिषद् इससे भी आगे बढ़ गया है। पाँचवें प्रकरण में हम यह दिखला आये हैं, कि हमारे मत में कठोपनिषद् में निष्कामकर्मयोग ही प्रतिपाद्य है। छान्दोग्योपनिषद् (८. १५. १) में यही अर्थ प्रतिपाद्य है। और अन्त में स्पष्ट कह दिया है, कि "गुरु से अध्ययन कर, फिर कुटुम्ब में रह कर धर्म से बर्तनेवाला ज्ञानी पुरुष ब्रह्मलोक को जाता है। वहाँ से फिर नहीं लौटता।" तैत्तिरीय तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों के इसी अर्थ के वाक्य ऊपर दिये गये हैं (तै. १. ६ और श्वे. ६. ४)। इसके सिवा यह भी ध्यान देने योग्य बात है, कि उपनिषदों में जिन जिन ने दूसरों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया है, उनमें या उनके ब्रह्मज्ञानी शिष्यों में याज्ञवल्क्य के समान एक-आध दूसरे पुरुष के अतिरिक्त कोई ऐसा नहीं मिलता; जिसने कर्मत्यागरूप संन्यास लिया हो। इसके विपरीत उनके वर्णनों से देख पड़ता है, कि वे गृहस्थाश्रमी ही थे । अतएव कहना पड़ता है, कि समस्त उपनिषद् संन्यासप्रधान नहीं हैं। इनमें से कुछ में तो संन्यास और कर्मयोग का विकल्प है; और कुछ में सिर्फ़ ज्ञानकर्मसमुच्चय ही प्रतिपादित है। परन्तु उपनिषदों के साम्प्रदायिक भाष्यों में ये भेद नहीं दिखलाये गये हैं। किन्तु यही कहा गया है, कि समस्त उपनिषद् केवल एक ही अर्थ--विशेषतः संन्यास--प्रतिपादन करते हैं। सारांश, साम्प्रदायिक टीकाकारों के हाथ से गीता की और उपनिषदों की भी एक ही दशा हो गई है। अर्थात् गीता के कुछ श्लोकों के समान उपनिषदों के कुछ मन्त्रों की भी इन भाष्यकारों को खींचातानी करनी पड़ी है। उदाहरणार्थ, ईशावास्य उपनिषद् को लीजिये। यद्यपि यह उप-

निषद् छोटा अर्थात् सिर्फ़ अठारह श्लोकों का है, तथापि इसकी योग्यता अन्य उपनिषदों की अपेक्षा अधिक समझी जाती है। क्योंकि यह उपनिषद् स्वयं वाजसनेयी संहिता में ही कहा गया है; और अन्यान्य उपनिषद् आरण्यक ग्रन्थ में कहे गये हैं। यह बात सर्वमान्य है, कि संहिता की अपेक्षा ब्राह्मण और ब्राह्मणों की अपेक्षा आरण्यक ग्रन्थ उत्तरोत्तर कर्मप्रमाण के हैं। यह समूचा ईशावास्योपनिषद्--अथ से ले कर इति पर्यन्त--ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक है। इसके पहले मन्त्र (श्लोक) में यह कह कर, कि "जगत् में जो कुछ है, उसे ईशावास्य अर्थात् परमेश्वराधिष्ठित समझना चाहिये।" दूसरे ही मन्त्र में स्पष्ट कह दिया है, कि "जीवनभर सौ वर्ष निष्काम कर्म करते रह कर ही जीते रहने की इच्छा रखो।" वेदान्तसूत्र में कर्मयोग के विवेचन करने का जब समय आया, तब और अन्यान्य ग्रन्थों में भी ईशावास्य का यही वचन ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्ष का समर्थक समझ कर दिया हुआ मिलता है। परन्तु ईशावास्योपनिषद् इतने से ही पूरा नहीं हो जाता। दूसरे मन्त्र में कही गई बात का समर्थन करने के लिये आगे 'अविद्या' (कर्म) और 'विद्या' (ज्ञान) के विवेचन का आरम्भ कर नौवें मन्त्र में कहा है, कि 'निरी अविद्या (कर्म) का सेवन करनेवाले पुरुष अन्धकार में घुसते हैं; और कोरी विद्या (ब्रह्मज्ञान) में मग्न रहनेवाले पुरुष अधिक अँधेरे में जा पड़ते हैं।" केवल अविद्या (कर्म) और केवल विद्या (ज्ञान) की--अलग अलग प्रत्येक की--इस प्रकार लघुता दिखला कर ग्यारहवें मन्त्र में नीचे लिखे अनुसार 'विद्या' और 'अविद्या' दोनों के समुच्चय की आवश्यकता इस उपनिषद में वर्णन की गई है :--

> विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

अर्थात् "जिसने विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म) दोनों को एक दूसरी के साथ जान लिया, वह अविद्या (कर्मों) से मृत्यु को अर्थात् नाशवन्त मायासृष्टि के प्रपञ्च को (भली भाँति) पार कर, विद्या से (ब्रह्मज्ञान से) अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।" इस मन्त्र का यही स्पष्ट और सरल अर्थ है। और यही अर्थ, विद्या को 'सम्भूति' (जगत् का आदि कारण) एवं उससे भिन्न अविद्या को 'असम्भूति' या 'विनाश' ये दूसरे नाम दे कर इसके आगे के तीन मंत्रों में फिर से दुहराया गया है (ईश. १२-१४)। इससे व्यक्त होता है, कि सम्पूर्ण ईशावास्योपनिषद् विद्या और अविद्या का एककालीन (उभयं सह) समुच्चय प्रतिपादन करता है। उल्लिखित मन्त्र में 'विद्या' और 'अविद्या' शब्दों के समान ही मृत्यु और अमृत शब्द परस्परप्रतियोगी हैं। इनमें अमृत शब्द से 'अविनाशी ब्रह्म' अर्थ प्रगट है; और इसके विपरीत मृत्यु शब्द से 'नाशवन्त मृत्युलोक या ऐहिक संसार' यह अर्थ निष्पन्न होता है। ये दोनों शब्द इसी अर्थ में ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी आये हैं (ऋ. १०. १२९. २)। विद्या आदि

शब्दों के ये सरल अर्थ ले कर (अर्थात् विद्या = ज्ञान, अविद्या = कर्म, अमृत = ब्रह्म और मृत्यु = मृत्युलोक, ऐसा समझ कर) यदि ईशावास्य के उल्लिखित ग्यारहवें मंत्र का अर्थ करें, तो देख पड़ेगा, कि इस मंत्र के पहले चरण में विद्या और अविद्या का एककालीन समुच्चय वर्णित है; और इसी बात को दृढ करने के लिये दूसरे चरण में इन दोनों में से प्रत्येक का जुदा जुदा फल बतलाया है। ईशावास्योपनिषद् को ये दोनों फल इष्ट हैं; और इसीलिये इस उपनिषद् में ज्ञान और कर्म दोनों का एककालीन समुच्चय प्रतिपादित हुआ है। मृत्युलोक के प्रपंच को अच्छी रीति से चलाने या उससे भली भाँति पार पड़ने को ही गीता में 'लोकसंग्रह' नाम दिया गया है। यह सच है, कि मोक्ष प्राप्त करना मनुष्य का कर्तव्य है; परन्तु उसके साथ ही साथ उसे लोकसंग्रह करना भी आवश्यक है। इसी से गीता का सिद्धान्त है, कि ज्ञानी पुरुष लोकसंग्रहकारक कर्म न छोड़े; और यही सिद्धान्त शब्दभेद से "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इस उल्लिखित मंत्र में आ गया है। इससे प्रगट होगा, कि गीता उपनिषदों को पकड़े ही नहीं है; प्रत्युत ईशावास्योपनिषद् में स्पष्टतया वर्णित अर्थ ही गीता में विस्तारसहित प्रतिपादित हुआ है। ईशावास्योपनिषद् जिस वाजसनेयी संहिता में है, उसी वाजसनेयी संहिता का भाग शतपथ ब्राह्मण है। इस शतपथ ब्राह्मण के आरण्यक में बृहदारण्यकोपनिषद् आया है; जिसमें ईशावास्य का यह नौवाँ मंत्र अक्षरशः ले लिया है, कि "कोरी विद्या (ब्रह्मज्ञान) में मग्न रहनेवाले पुरुष अधिक अँधेरे में जा पड़ते हैं" (बृ. ४. ४. १०)। उस बृहदारण्यकोपनिषद् में ही जनक राजा की कथा है; और उसी जनक का दृष्टान्त कर्मयोग के समर्थन के लिये भगवान् ने गीता में लिया है (गी. ३. २०)। इससे ईशावास्य का और भगवद्गीता के कर्मयोग का जो सबन्ध हमने ऊपर दिखलाया है, वही अधिक दृढ और निःसंशय सिद्ध होता है।

परन्तु जिनका साम्प्रदायिक सिद्धान्त ऐसा है, कि सभी उपनिषदों में मोक्षप्राप्ति का एक ही मार्ग प्रतिपाद्य है—और वह भी वैराग्य का या संन्यास का ही है। उपनिषदों में दो-दो मार्गों का प्रतिपादित होना शक्य नहीं—उन्हें ईशावास्योपनिषद् के स्पष्टार्थक मन्त्रों की भी खींचातानी कर किसी प्रकार निराला अर्थ लगाना पड़ता है। ऐसा न करें, तो ये मन्त्र उनके सम्प्रदाय के प्रतिकूल होते हैं; और ऐसा होने देना उन्हें इष्ट नहीं। इसीलिये ग्यारहवें मन्त्र पर व्याख्यान करते समय शांकरभाष्य में 'विद्या' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' न कर 'उपासना' किया है। कुछ यह नहीं, कि विद्या शब्द का अर्थ उपासना न होता हो। शाण्डिल्यविद्या प्रभृति स्थानों में उसका अर्थ उपासना ही होता है; पर वह मुख्य अर्थ नहीं है। यह भी नहीं, कि शंकराचार्य के ध्यान में वह बात आई न होगी या आई न थी। और तो क्या? उसका ध्यान में न आना शक्य ही न था। दूसरे उपनिषदों में भी ऐसे वचन हैं—"विद्यया विन्दतेऽमृतम्" (केन. २. १२), अथवा "प्राणस्याध्यात्मं विज्ञायामृतमश्नुते" (प्रश्न. ३. १२)। मैत्र्युपनिषद् के सातवें प्रपाठक में "विद्यां

चाविद्यां च" इ० ईशावास्य का उल्लिखित ग्यारहवाँ मन्त्र ही अक्षरशः ले लिया है; और उससे सट कर ही उसके पूर्व में कठ. २. ४ और आगे कठ. २. ५ ये मंत्र दिये हैं। अर्थात् ये तीनों मन्त्र एक ही स्थान पर एक के पश्चात् एक दिये गये हैं; और बिचला मंत्र ईशावास्य का है। तीनों में 'विद्या' शब्द वर्तमान है। इसलिये कठोपनिषद् में विद्या शब्द का जो अर्थ है, वही (ज्ञान) अर्थ ईशावास्य में भी लेना चाहिये--मैत्र्युपनिषद् का ऐसाही अभिप्राय प्रगट होता है। परन्तु ईशावास्यके शांकरभाष्य में कहा है, कि "यदि विद्या = आत्मज्ञान और अमृत = मोक्ष, ऐसे अर्थ ही ईशावास्य के ग्यारहवें मन्त्र में ले लें, तो कहना होगा, कि ज्ञान (विद्या) और कर्म (अविद्या) का समुच्चय इस उपनिषद् में वर्णित है। परन्तु जब कि यह समुच्चय न्याय से युक्त नहीं है, तब विद्या = देवतोपासना और अमृत = देवलोक, यह गौण अर्थ ही इस स्थान पर लेना चाहिये।" सारांश, प्रगट है कि "ज्ञान होने पर संन्यास ले लेना चाहिये। कर्म नहीं करना चाहिये। क्योंकि ज्ञान और कर्म का समुच्चय कभी भी न्याय्य नहीं" –शांकरसम्प्रदाय के इस मुख्य सिद्धान्त के विरुद्ध ईशावास्य का मंत्र न होने पावे; इसलिये विद्या शब्द का गौण अर्थ स्वीकार कर समस्त श्रुतिवचनों की अपने सम्प्रदाय के अनुरूप एकवाक्यता करने के लिये शांकरभाष्य में ईशावास्य के ग्यारहवें मंत्र का ऊपर लिखे अनुसार अर्थ किया गया है। साम्प्रदायिक दृष्टि से देखें, तो ये अर्थ महत्त्व के ही नहीं; प्रत्युत आवश्यक भी हैं। परन्तु जिन्हें यह मूल सिद्धान्त ही मान्य नहीं, कि समस्त उपनिषदों में एक ही अर्थ प्रतिपादित रहना चाहिये--दो मार्गों का श्रुतिप्रतिपादित होना शक्य नहीं--उन्हें उल्लिखित मंत्र में विद्या और अमृत शब्द के अर्थ बदलने के लिये कोई भी आवश्यकता नहीं रहती। यह तत्त्व मान लेने से भी--कि परब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयं' है--यह सिद्ध नहीं होता, कि उसके ज्ञान होने का उपाय एक से अधिक न रहे। एक ही अटारी पर चढ़ने के लिये दो ज़ीने, वा एक ही गाँव को जाने के लिये जिस प्रकार दो मार्ग हो सकते हैं, उसी प्रकार मोक्षप्राप्ति के उपायों की या निष्ठा की बात है। और इसी अभिप्राय से भगवद्गीता में स्पष्ट कह दिया है–"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा।" दो निष्ठाओं का होना सम्भवनीय कहने पर कुछ उपनिषदों में केवल ज्ञाननिष्ठा का, तो कुछ में ज्ञानकर्मसमुच्चयनिष्ठा का वर्णन आना कुछ अशक्य नहीं है। अर्थात् ज्ञाननिष्ठा का विरोध होता है। इसी से ईशावास्योपनिषद् के शब्द का सरल, स्वाभाविक और स्पष्ट अर्थ छोड़ने के लिये कोई कारण नहीं रह जाता। यह कहने के लिये--कि श्रीमच्छंकराचार्य का ध्यान सरल अर्थ की अपेक्षा संन्यासनिष्ठा-प्रधान एकवाक्यता की ओर विशेष था--एक और दूसरा कारण भी है। तैत्तिरीय उपनिषद् के शांकरभाष्य (तै. २. ११) में ईशावास्य-मंत्र का इतना ही भाग दिया है, कि "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते"; और उसके साथ ही यह मनुवचन भी दे दिया है--"तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते" (मनु. १२. १०४)। और इन दोनों वचनों में "विद्या" शब्द का एक ही मुख्यार्थ (अर्थात् ब्रह्मज्ञान)

आचार्य ने स्वीकार किया है। परन्तु यहाँ आचार्य का कथन है, कि "तीर्त्वा = तैर कर या पार कर" इस पद से पहले मृत्युलोक को तैर जाने की क्रिया पूरी हो लेने पर फिर (एक साथ ही नहीं) विद्या से अमृतत्व प्राप्त होने की क्रिया संघटित होती है। किन्तु कहना नहीं होगा, कि यह अर्थ पूर्वार्ध के "उभयं सह" शब्दों के विरुद्ध होता है। और प्रायः इसी कारण से ईशावास्य के शांकरभाष्य में यह अर्थ छोड़ भी दिया गया हो। कुछ भी हो; ईशावास्य के ग्यारहवें मंत्र का शांकरभाष्य में निराला व्याख्यान करने का जो कारण है, वह इससे व्यक्त हो जाता है। यह कारण साम्प्रदायिक है; और भाष्यकर्ता की साम्प्रदायिक दृष्टि स्वीकार न करने-वालों को प्रस्तुत भाष्य का यह व्याख्यान मान्य न होगा। यह बात हमें भी मंजूर है, कि श्रीमच्छंकराचार्य जैसे अलौकिक ज्ञानी पुरुष के प्रतिपादन किये हुए अर्थ को छोड़ देने का प्रसंग जहाँ तक टले, वहाँ तक अच्छा है। परन्तु साम्प्रदायिक दृष्टि त्यागने से ये प्रसंग तो आवेंगे ही; और इसी कारण हमसे पहले भी ईशावास्यमन्त्र का अर्थ शांकरभाष्य से विभिन्न (अर्थात जैसा हम कहते हैं, वैसा ही) अन्य भाष्य-कारों ने लगाया है। उदाहरणार्थ, वाजसनेयी संहिता पर अर्थात् ईशावास्योप-निषद् पर भी उवटाचार्य का जो भाष्य है, उसमें "विद्यां चाविद्यां च" इस मन्त्र का व्याख्यान करते हुए ऐसा अर्थ दिया है, कि "विद्या = आत्मज्ञान और अविद्या = कर्म; इन दोनों के एकीकरण से ही अमृत अर्थात् मोक्ष मिलता है।" अनन्ताचार्य ने इस उपनिषद् पर अपने भाष्य में इसी ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक अर्थ को स्वीकार कर अन्त में साफ़ लिख दिया है, कि "इस मन्त्र का सिद्धान्त और 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' (गी. ५. ५) गीता के इस वचन का अर्थ एक ही है। एवं गीता के इस श्लोक में जो 'सांख्य' और 'योग' शब्द हैं, वे क्रम से 'ज्ञान' और 'कर्म' के द्योतक हैं" *। इसी प्रकार अपरार्कदेव ने भी याज्ञवल्क्यस्मृति (३. ५७ और २०५) की अपनी टीका में ईशावास्य का ग्यारहवाँ मन्त्र दे कर अनन्ताचार्य के समान ही उसका ज्ञान-कर्मसमुच्चयात्मक अर्थ किया है। इससे पाठकों के ध्यान में आ जावेगा, कि आज हम ही नये सिरे से ईशावास्योपनिषद् के मन्त्र का शांकरभाष्य से भिन्न अर्थ नहीं करते हैं।

यह तो हुआ स्वयं ईशावास्योपनिषद् के मन्त्र के सम्बन्ध का विचार। अब

* पुणें के आनन्दाश्रम में ईशावास्योपनिषद् की जो पोथी छपी है, उसमें ये सभी भाष्य हैं; और याज्ञवल्क्यस्मृति पर अपरार्क की टीका भी आनन्दाश्रम में ही पृथक् छपी है। प्रो. मेक्समूलर ने उपनिषदों का जो अनुवाद किया है, उसमें ईशावास्य का भाषान्तर शांकरभाष्य के अनुसार नहीं है। उन्हों ने भाषान्तर के अन्त में इसके कारण बतलाये हैं (Sacred Books of the East Series, Vol. I. p.p. 314–320). अनन्ताचार्य का भाष्य मेक्समूलर साहब को उपलब्ध न हुआ था; और उनके ध्यान में यह बात आई हुई देख नहीं पड़ती क शांकरभाष्य में निराला अर्थ क्यों किया गया है? . .. .

शांकरभाष्य में जो " तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते " यह मनु का वचन दिया है, उसका भी थोड़ा-सा विचार करते है। मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में यह १०४ नम्बर का श्लोक है; और मनु. १२. ८६ से विदित होगा, कि वह प्रकरण वैदिक कर्मयोग का है। कर्मयोग के इस विवेचन से :--

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

पहले चरण में यह बतला कर--कि " तप और (च) विद्या (अर्थात् दोनों) ब्राह्मण को उत्तम मोक्षदायक हैं--" फिर प्रत्येक का उपयोग दिखलाने के लिये दूसरे चरण में कहा है, कि " तप से दोष नष्ट हो जाते हैं; और विद्या से अमृत अर्थात् मोक्ष मिलता है। " इससे प्रगट होता है, कि इस स्थान पर ज्ञानकर्मसमुच्चय ही मनु को अभिप्रत है; और ईशावास्य के ग्यारहवें मन्त्र का अर्थ ही मनु ने इस श्लोक में वर्णन कर दिया है। हारीतस्मृति के वचन से भी यही अर्थ अधिक दृढ होता है। यह हारीतस्मृति स्वतन्त्र तो उपलब्ध है ही; इसके सिवा यह नृसिंहपुराण (अ. ५७-६१) में भी आई है। इस नृसिंहपुराण (६१. ६-११ में और हारीतस्मृति ७. ६-११) में ज्ञानकर्मसमुच्चय के सवन्ध में ये श्लोक हैं :--

यथाश्वा रथहीनाश्च रथाश्चाश्वैर्विना यथा।
एवं तपश्च विद्या च उभावपि तपस्विनः ॥
यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम्।
एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत् ॥
द्वाभ्यामेव हि पक्षाभ्यां यथा वै पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ॥

अर्थात् " जिस प्रकार रथ विना घोड़े और घोड़े के बिना रथ (नहीं चलते) उसी प्रकार तपस्वी के तप और विद्या की भी स्थिति है। जिस प्रकार अन्न शहद से संयुक्त हो; और शहद अन्न से संयुक्त हो, उसी प्रकार तप और विद्या के संयुक्त होने से एक महौषधि होती है। जैसे पक्षियों की गति दोनों पंखों के योग से ही होती है, वैसे ही ज्ञान और कर्म (दोनों) से शाश्वत ब्रह्म प्राप्त होता है। " हारीतस्मृति के ये वचन वृद्धात्रेयस्मृति के दूसरे अध्याय में भी पाये जाते हैं। इन वचनों से-- और विशेष कर उनमें दिये गये दृष्टान्तों से--प्रगट हो जाता है, कि मनुस्मृति के वचन का क्या अर्थ लगाना चाहिये ? यह तो पहले ही कह चुके हैं, कि मनु तप शब्द म ही चातुर्वर्ण्य के कर्मों का समावेश करते हैं (मनु. ११. २३६)। और अब देख पड़ेगा, कि तैत्तिरीयोपनिषद् में " तप और स्वाध्याय-प्रवचन " इत्यादि का जो आचरण करने के लिये कहा गहा है (तै. १. ६), वह भी ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्ष को स्वीकार कर ही कहा गया है। समूचे योगवासिष्ठ ग्रन्थ का तात्पर्य भी यही है। क्योंकि इस ग्रन्थ के आरम्भ में सुतीक्ष्ण ने पूछा है, कि मुझे बतलाइये, कि मोक्ष कैसे

मिलता है ? केवल ज्ञान से, केवल कर्म से या दोनों के समुच्चय से ? और उसे उत्तर देते हुए हारीतस्मृति का (पक्षी के पंखोंवाला) दृष्टान्त ले कर पहले यह बतलाया है, कि "जिस प्रकार आकाश में पक्षी की गति दोनों पंखों से ही होती है, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म इन्हीं दोनों से मोक्ष मिलता है। केवल एक से ही यह सिद्धि मिल नहीं जाती।" और आगे इसी अर्थ को विस्तारसहित दिखलाने के लिये समूचा योगवासिष्ठ ग्रन्थ कहा गया है (यो. १. १. ६–९)। इसी प्रकार वसिष्ठ ने राम को मुख्य कथा में स्थान स्थान पर बार बार यही उपदेश किया है, कि "जीवन्मुक्त के समान बुद्धि को शुद्ध रख कर तुम समस्त व्यवहार करो" (यो. ५. १८. १७–२६) या "कर्मों का छोड़ना मरणपर्यन्त उचित न होने के कारण (यो. ६. उ. २. ४२), स्वधर्म के अनुसार प्राप्त हुए राज्य को पालने का काम करते रहो" (यो. ५. ५. ५४ और ६. उ. २१३. ५०)। इस ग्रन्थ का उपसंहार और श्रीरामचन्द्र के किये हुए काम भी इसी उपदेश के अनुसार हैं। परन्तु योगवासिष्ठ के टीकाकार थे संन्यासमार्गीय। इसलिये पक्षी के दो पंखोंवाली उपमा के स्पष्ट होने पर भी उन्हों ने अन्त में अपने पास से यह तुर्रा लगा ही दिया, कि ज्ञान और कर्म दोनों युगपत् अर्थात् एक ही समय में विहित नहीं हैं। बिना टीका मूलग्रन्थ पढ़ने से किसी के भी ध्यान में सहज ही आ जावेगा, कि टीकाकारों का यह अर्थ खींचातानी का है; एवं क्लिष्ट और साम्प्रदायिक है। मद्रास प्रान्त में योगवासिष्ठसरीखा ही गुरु-ज्ञानवासिष्ठतत्त्वसारायण नामक एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसके ज्ञानकाण्ड, उपासना-काण्ड और कर्मकाण्ड—ये तीन भाग हैं। हम पहले कह चुके हैं, कि यह ग्रन्थ जितना पुराना बतलाया जाता है, उतना वह दिखता नहीं है। यह प्राचीन भले ही न हो; पर जब कि ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्ष ही इसमें प्रतिपाद्य है, तब इस स्थान पर उसका उल्लेख करना आवश्यक है। इसमें अद्वैत वेदान्त है; और निष्काम-कर्म पर ही बहुत ज़ोर दिया गया है। इसलिये यह कहने में कोई हानि नहीं, कि इसका सम्प्रदाय शंकराचार्य के सम्प्रदाय से भिन्न और स्वतन्त्र है। मद्रास की ओर इस सम्प्रदाय का नाम 'अनुभवाद्वैत' है। और वास्तविक देखने से ज्ञात होगा, कि गीता के कर्म-योग की यह एक नक़ल ही है। परन्तु केवल भगवद्गीता के ही आधार से इस सम्प्रदाय को सिद्ध न कर इस ग्रन्थ में कहा है, कि कुल १०८ उपनिषदों से भी वही अर्थ सिद्ध होता है। इसमें रामगीता और सूर्यगीता, ये दोनों नई गीताएँ भी दी हुई हैं। कुछ लोगों की जो यह समझ है, कि अद्वैत मत को अंगीकार करना मानों कर्म-संन्यासपक्ष को स्वीकार करना ही है, वह इस ग्रन्थ से दूर हो जायगी। ऊपर दिये गये प्रमाणों से अब स्पष्ट हो जायगा, कि संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, धर्मसूत्र, मनु—याज्ञवल्क्यस्मृति, महाभारत, भगवद्गीता, योगवासिष्ठ और अन्त में तत्त्वसारायण प्रभृति ग्रन्थों में भी जो निष्कामकर्मयोग प्रतिपादित है, उसको श्रुतिस्मृति-प्रतिपादित न मान केवल संन्यासमार्ग को ही श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित कहना सर्वथा निर्मूल है।

इस मृत्युलोक का व्यवहार चलने के लिये या लोकसंग्रहार्थ यथाधिकार निष्काम कर्म और मोक्ष की प्राप्ति के लिये ज्ञान, इन दोनों का एककालीन समुच्चय ही, अथवा महाराष्ट्र कवि शिवदिन-केसरी के वर्णनानुसार :--

प्रपंच साधुनि परमार्थाचा लाहो ज्यानें केला।
तो नर भला भला रे भला भला ॥*

यही अर्थ गीता में प्रतिपाद्य है। कर्मयोग का यह मार्ग प्राचीन काल से चला आ रहा है। जनक प्रभृति ने इसी का आचरण किया है; और स्वयं भगवान् के द्वारा इसका प्रसार और पुनरुज्जीवन होने के कारण इसे ही भागवतधर्म कहते हैं। ये सब बातें अच्छी तरह सिद्ध हो चुकीं। अब लोकसंग्रह की दृष्टि से यह देखना भी आवश्यक है, कि इस मार्ग के ज्ञानी पुरुष परमार्थयुक्त अपना प्रपञ्च--जगत् का व्यवहार--किस रीति से चलाते हैं? परन्तु यह प्रकरण बहुत बढ़ गया है। इसलिये इस विषय का स्पष्टीकरण अगले प्रकरण में करेंगे।

* "वही नर भला है, जिसने प्रपंच साध कर (संसार के सब कर्तव्यों का यथोचित पालन कर) परमार्थ यानी मोक्ष की प्राप्ति भी कर ली हो।"

बारहवाँ प्रकरण

सिध्दावस्था और व्यवहार

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥*

महाभारत, शांति. २६१. ९ ।

जिस मार्ग का यह मत है, कि ब्रह्मज्ञान हो जाने से जब बुद्धि अत्यन्त सम और निष्काम हो जावे, तब फिर मनुष्य को कुछ भी कर्तव्य आगे के लिये रह नहीं जाता। और इसीलिये विरक्तबुद्धि से ज्ञानी पुरुष को इस क्षण-भंगुर संसार के दुःखमय और शुष्क व्यवहार एकदम छोड़ देना चाहिये। उस मार्ग के पंडित इस बात को कदापि नहीं जान सकते, कि कर्मयोग अथवा गृहस्थाश्रम के बर्ताव का भी कोई एक विचार करने योग्य शास्त्र है। संन्यास लेने से पहले चित्त की शुद्धि हो कर ज्ञानप्राप्ति हो जानी चाहिये। इसी लिये उन्हें मंज़ूर है, कि संसार--दुनिया-दारी--के काम उस धर्म से ही करना चाहिये, कि जिससे चित्तवृत्ति शुद्ध होवे; अर्थात् वह सात्त्विक बने। इसीलिये ये समझते हैं, कि संसार में ही सदैव बना रहना पागलपन है। जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी प्रत्येक मनुष्य संन्यास ले ले। इस जगत् में उसका यही परम कर्तव्य है। ऐसा मान लेने से कर्मयोग का स्वतन्त्र महत्त्व कुछ भी नहीं रह जाता। और इसीलिये संन्यासमार्ग के पण्डित सांसारिक कर्तव्यों के विषय में कुछ थोड़ा-सा प्रासंगिक विचार करके गार्हस्थ्यधर्म के कर्म-अकर्म के विवेचन का इसकी अपेक्षा और अधिक विचार कभी नहीं करते, कि मनु आदि शास्त्रकारों के बतलाये हुए चार आश्रम रूपी ज़ीने से चढ़ कर संन्यास आश्रम की अन्तिम सीढ़ी पर जल्दी पहुँच जाओ। इसीलिये कलियुग में संन्यास-मार्ग के पुरस्कर्ता श्रीशंकराचार्य ने अपने गीताभाष्य में गीता के कर्मप्रधान वचनों की उपेक्षा की है। अथवा उन्हें केवल प्रशंसात्मक (अर्थवादप्रधान) कल्पित किया है; और अन्त में गीता का यह फलितार्थ निकाला है, कि कर्मसंन्यासधर्म ही गीताभर में प्रतिपाद्य है। और यही कारण है, कि दूसरे कितने ही टीकाकारों ने अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार गीता का यह रहस्य वर्णन किया है, कि भगवान् ने रणभूमि पर अर्जुन को निवृत्तिप्रधान अर्थात् निरी भक्ति, या पातञ्जलयोग अथवा मोक्षमार्ग का ही उपदेश किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि संन्यासमार्ग का अध्यात्मज्ञान निर्दोष है। और उसके द्वारा प्राप्त होनेवाली साम्यबुद्धि अथवा

---

* "हे जाजले! (कहना चाहिये कि) उसी ने धर्म को जाना कि जो कर्म से, मन से और वाणी से सब का हित करने में लगा हुआ है; और जो सभी का नित्य स्नेही है।"

निष्काम अवस्था भी गीता को मान्य है । तथापि गीता को संन्यासमार्ग का यह कर्मसम्बन्धी मत ग्राह्य नहीं है, कि मोक्षप्राप्ति के लिये अन्त में कर्मों को एकदम छोड़ ही बैठना चाहिये । पिछले प्रकरण में हमने विस्तारसहित गीता का यह विशेष सिद्धान्त दिखलाया है, कि ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होनेवाले वैराग्य अथवा समता से ही ज्ञानी पुरुष को ज्ञानप्राप्ति हो चुकने पर भी सारे व्यवहार करते रहना चाहिये । जगत् से ज्ञानयुक्त कर्म को निकाल डालें, तो दुनिया अन्धी हुई जाती है; और इससे उसका नाश हो जाता है । जब कि भगवान् की ही इच्छा है, कि इस रीति से उसका नाश न हो, वह भली भाँति चलती रहे; तब ज्ञानी पुरुष को भी जगत् के सभी कर्म निष्कामबुद्धि से करते हुए सामान्य लोगों को अच्छे बर्ताव का प्रत्यक्ष नमूना दिखला देना चाहिये । इसी मार्ग को अधिक श्रेयस्कर और ग्राह्य कहें, तो यह देखने की ज़रूरत पड़ती है, कि इस प्रकार का ज्ञानी पुरुष जगत् के व्यवहार किस प्रकार करता है ? क्योंकि ऐसे ज्ञानी पुरुष का व्यवहार ही लोगों के लिये आदर्श है । उसके कर्म करने की रीति को परख लेने से धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य अथवा कर्तव्यअकर्तव्य का निर्णय कर देनेवाला साधन या युक्ति––जिसे हम खोज रहे थे –– आप-ही-आप हमारे हाथ लग जाती है । संन्यासमार्ग की अपेक्षा कर्मयोगमार्ग में यही तो विशेषता है । इन्द्रियों का निग्रह करने से जिस पुरुष की व्यवसायात्मकबुद्धि स्थिर हो कर "सब भूतों में एक आत्मा" इस साम्य को परख लेने में समर्थ हो जाय, उसकी वासना भी शुद्ध ही होती है । और इस प्रकार वासनात्मक बुद्धि के शुद्ध, सम, निर्मम और पवित्र हो जाने से फिर वह कोई भी पाप या मोक्ष के लिये प्रतिबन्धक कर्म कर ही नहीं सकता । क्योंकि पहले वासना है; फिर तदनुकूल कर्म । जब कि क्रम ऐसा है, तब शुद्ध वासना से होनेवाला कर्म शुद्ध ही होगा; और जो शुद्ध है, वही मोक्ष के लिये अनुकूल है । अर्थात् हमारे आगे जो 'कर्म-अकर्म-विचिकित्सा' या 'कार्य-अकार्य-व्यवस्थिति' का बिकट प्रश्न था, कि पार-लौकिक कल्याण के मार्ग में आड़े न आ कर इस संसार में मनुष्यमात्र को कैसा बर्ताव करना चाहिये ? उसका अपनी करनी से प्रत्यक्ष उत्तर देनेवाला गुरु अब हमें मिल गया (तै. १. ११. ४; गी. ३. २१) । अर्जुन के आगे ऐसा गुरु श्रीकृष्ण के रूप में प्रत्यक्ष खड़ा था । जब अर्जुन को यह शंका हुई, कि 'क्या, ज्ञानी पुरुष युद्ध आदि कर्मों को बन्धनकारक समझ कर छोड़ दे'? तब उसको इस गुरु ने दूर बहा दिया । और अध्यात्मशास्त्र के सहारे अर्जुन को भली भाँति समझा दिया, कि जगत् के व्यवहार किस युक्ति से करते रहने पर पाप नहीं लगता ? अतः वह युद्ध के लिये प्रवृत्त हो गया । किन्तु ऐसा चोखा ज्ञान सिखा देनेवाले गुरु प्रत्येक मनुष्य को जब चाहे तब नहीं मिल सकते । और तीसरे प्रकरण के अन्त में "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इस वचन का विचार करते हुए हम बतला आये हैं, कि ऐसे महापुरुषों के निरे ऊपरी बर्ताव पर बिलकुल अवलम्बित रह भी नहीं सकते । अतएव जगत् को अपने आचरण से शिक्षा देनेवाले इन ज्ञानी पुरुषों के बर्ताव की बड़ी बारीकी

से जाँच कर विचार करना चाहिये, कि इनके बर्ताव का यथार्थ रहस्य या मूलतत्त्व क्या है? इसे ही कर्मयोगशास्त्र कहते हैं; और ऊपर जो ज्ञानी पुरुष बतलाये गये हैं, उनकी स्थिति और कृति ही इस शास्त्र का आधार है। इस जगत् के सभी पुरुष यदि इस प्रकार के आत्मज्ञानी और कर्मयोगी हों, तो कर्मयोगशास्त्र की जरूरत ही न पड़ेगी। नारायणीय धर्म में एक स्थान पर कहा है :--

> एकान्तिनो हि पुरुषा दुर्लभा बहवो नृप ।
> यद्येकान्तिभिराकीर्णं जगत् स्यात्कुरुनन्दन ॥
> अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतहिते रतैः ।
> भवेत् कृतयुगप्राप्तिः आशीः कर्मविवर्जिता ॥

"एकान्तिक अर्थात् प्रवृत्तिप्रधान भागवतधर्म का पूर्णतया आचरण करनेवाले पुरुषों का अधिक मिलना कठिन है। आत्मज्ञानी, अहिंसक, एकान्तधर्म के ज्ञानी और प्राणिमात्र की भलाई करनेवाले पुरुषों से यदि यह जगत् भर जावे, तो आशीः कर्म --अर्थात् काम्य अथवा स्वार्थबुद्धि से किये हुए सारे कर्म--इस जगत् से दूर हो कर फिर कृतयुग प्राप्त हो जावेगा" (शां. ३४८. ६२, ६३)। क्योंकि ऐसी स्थिति में सभी पुरुषों के ज्ञानवान् रहने से कोई किसी का नुक़सान तो करेगा ही नहीं; प्रत्युत प्रत्येक मनुष्य सब के कल्याण पर ध्यान दे कर तदनुसार ही शुद्ध अन्तःकरण और निष्कामबुद्धि से अपना बर्ताव करेगा। हमारे शास्त्रकारों का मत है, कि बहुत पुराने समय में समाज की ऐसी ही स्थिति थी; और वह फिर कभी-न-कभी प्राप्त होगी ही (म. भा. शां. ५९, १४)। परन्तु पश्चिमी पण्डित पहली बात को नहीं मानते--वे अर्वाचीन इतिहास के आधार से कहते हैं, कि पहले कभी ऐसी स्थिति नहीं थी। किन्तु भविष्य में मानवजाति के सुधारों की बदौलत ऐसी स्थिति का मिल जाना कभी-न-कभी सम्भव हो जावेगा। जो हो; यहाँ इतिहास का विचार इस समय कर्तव्य नहीं है। हाँ; यह कहने में कोई हानि नहीं, कि समाज की इस अत्युत्कृष्ट स्थिति अथवा पूर्णावस्था में प्रत्येक मनुष्य परमज्ञानी रहेगा; और वह जो व्यवहार करेगा, उसी को शुद्ध, पुण्यकारक, धर्म्य अथवा कर्तव्य की पराकाष्ठा मानना चाहिये। इस मत को दोनों ही मानते हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज सृष्टिशास्त्रज्ञाता स्पेन्सर ने इसी मत का अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रन्थ के अन्त में प्रतिपादन किया है। और कहा है, कि प्राचीन काल में ग्रीस देश के तत्त्वज्ञानी पुरुषों ने यही सिद्धान्त किया था।* उदाहरणार्थ, यूनानी तत्त्ववेत्ता प्लेटो अपने ग्रन्थ में लिखाता है--तत्त्वज्ञानी पुरुष को जो कर्म प्रशस्त जँचे, वही शुभकारक और न्याय्य है। सर्व साधारण मनुष्यों को ये धर्म विदित नहीं होते। इसलिये उन्हें तत्त्वज्ञ पुरुष के ही निर्णय को प्रमाण मान लेना चाहिये। अरिस्टॉटल नामक दूसरा ग्रीक तत्त्वज्ञ अपने नीतिशास्त्र-

---

* Spencer's *Data of Ethics*, Chap. XV pp. 275-278 स्पेन्सर ने इस को Absolute Ethics नाम दिया है।

विषयक ग्रन्थ (३. ४.) में कहता है, कि ज्ञानी पुरुषों का किया हुआ फ़ैसला सदैव इसलिये अचूक रहता है, कि वे सच्चे तत्त्व को जान रहते हैं; और ज्ञानी पुरुष का यह निर्णय या व्यवहार ही औरों को प्रमाणभूत है। एपिक्यूरस नाम के एक और ग्रीक तत्त्वशास्त्रवेत्ता ने इस प्रकार के प्रामाणिक परमज्ञानी पुरुष के वर्णन में कहा है, कि वह " शान्त, समबुद्धिवाला और परमेश्वर के ही समान सदा आनन्दमय रहता है; तथा उसको लोगो से अथवा उससे लोगों को ज़रा-सा भी कष्ट नहीं होता "*। पाठकों के ध्यान में आ ही जावेगा, कि भगवद्गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत अथवा परमभक्त या ब्रह्मभूत पुरुष के वर्णन से इस वर्णन की कितनी समता है ? " यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः " (गी. १२. १५)-- जिससे लोग उद्विग्न नहीं होते; और जो लोगों से उद्विग्न नहीं होता, ऐसे ही जो हर्ष-खेद, भय-विषाद, सुख-दुःख आदि बन्धनों से मुक्त है, सदा अपने आप में ही सन्तुष्ट है (आत्मन्येवात्मना तुष्टः--गी. २. ५५) त्रिगुणों से जिसका अन्तः-करण चञ्चल नहीं होता (गुणैर्यो न विचाल्यते १४. २३), स्तुति या निन्दा और मान या अपमान जिसे एक-से हैं; तथा प्राणिमात्र के अन्तर्गत आत्मा की एकता को परख कर (१८. ५४) साम्यबुद्धि से आसक्ति छोड़ कर, धैर्य और उत्साह से अपना कर्तव्यकर्म करनेवाला अथवा सम-लोष्ट-अश्म-कांचन (१४. २४)--इत्यादि प्रकार से भगवद्गीता में भी स्थितप्रज्ञ के लक्षण तीन-चार बार विस्तारपूर्वक बतलाये गये हैं। इसी अवस्था को सिद्धावस्था या ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। और योगवासिष्ठ आदि के प्रणेता इसी स्थिति को जीवनमुक्तावस्था कहते हैं। इस स्थिति का प्राप्त हो जाना अत्यन्त दुर्घट है। अतएव जर्मन तत्त्ववेत्ता कान्ट का कथन है, कि ग्रीक पण्डितों ने इस स्थिति का जो वर्णन किया है, वह किसी एक वास्तविक पुरुष का वर्णन नहीं है; बल्कि शुद्ध नीति के तत्त्वों को लोगों के मन में भर देने के लिये समस्त नीति की जड़ ' शुद्ध वासना ' को ही मनुष्य का चोला दे कर उन्हों ने परले सिरे के ज्ञानी और नीतिमान् पुरुष का चित्र अपनी कल्पना से तैयार किया है। लेकिन हमारे शास्त्रकारों का मत है, कि यह स्थिति खयाली नहीं, बिलकुल सच्ची है; और मन का निग्रह तथा प्रयत्न करने से इसी लोक में प्राप्त हो जाती है। इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव भी हमारे देशवालों को प्राप्त है। तथापि यह बात साधारण नहीं है। गीता (७. ३) में ही स्पष्ट कहा है, कि हज़ारों मनुष्यों में कोई एक-आध मनुष्य इसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है; और इन हज़ारों प्रयत्न करनेवालों में किसी विरले को ही अनेक जन्मों के अनन्तर परमावधि की यह स्थिति अन्त में प्राप्त होती है।

* Epicurus held the virtuous state to be " a tranquil, undisturbed, innocuous, non-competitive fruition, which approached most nearly to the perfect happiness of the Gods, " who neither suffered vexation in themselves, nor caused vexation to others." Spencer's *Data of Ethics* p. 278, Bain's *Mental and Moral Science* Ed. 1875, p. 530. इसी को Ideal Wise Man कहा है।

स्थितप्रज्ञ-अवस्था या जीवन्मुक्त-अवस्था कितनी ही दुष्प्राप्य क्यों न हो ? पर जिस पुरुष को यह परमावधि की सिद्धि एक बार प्राप्त हो जाय, उसे कार्य-अकार्य के अथवा नीतिशास्त्र के नियम बतलाने की कभी आवश्यकता नहीं रहती । ऊपर इसके जो लक्षण बतला आये हैं, उन्हीं से यह बात आप ही निष्पन्न हो जाती है । क्योंकि परमावधि की शुद्ध, सम और पवित्र बुद्धि ही नीति का सर्वस्व है । इस कारण ऐसे स्थितप्रज्ञ पुरुषों के लिये नीति-नियमों का उपयोग करना मानों स्वयंप्रकाश सूर्य के समीप अन्धकार होने की कल्पना करके उसे मशाल दिखलाने के समान असमंजस में पड़ना है । किसी एक-आध पुरुष के इस पूर्ण अवस्था में पहुँचने या न पहुँचने के सम्बन्ध में शङ्का हो सकेगी । परन्तु किसी भी रीति से जब एक बार निश्चय हो जाय, कि कोई पुरुष इस पूर्ण अवस्था में पहुँच गया है; तब उसके पापपुण्य के सम्बन्ध में अध्यात्मशास्त्र के उल्लिखित सिद्धान्त को छोड़ और कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती । कुछ पश्चिमी राजधर्मशास्त्रियों के मतानुसार जिस प्रकार एक स्वतन्त्र पुरुष में या पुरुषसमूह में राजसत्ता अधिष्ठित रहती है; और राजनियमों से प्रजा के बँधे रहने पर भी राजा उन नियमों से अछूता रहता है; ठीक उसी प्रकार नीति के राज्य में स्थितप्रज्ञ पुरुषों का अधिकार रहता है। उनके मन में कोई भी काम्यबुद्धि नहीं रहती। अतः केवल शास्त्र से प्राप्त हुए कर्तव्यों को छोड़ और किसी भी हेतु से कर्म करने के लिये वे प्रवृत्त नहीं हुआ करते । अतएव अत्यन्त निर्मल और शुद्ध वासनावाले इन पुरुषों के व्यवहार को पाप या पुण्य, नीति या अनीति शब्द कदापि लागू नहीं होते । वे तो पाप और पुण्य से बहुत दूर, आगे पहुँच जाते हैं । श्रीशङ्कराचार्य ने कहा है :—

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।

"जो पुरुष त्रिगुणातीत हो गये, उनको विधिनिषेधरूपी नियम बाँध नहीं सकते" और बौद्ध ग्रन्थकारों ने भी लिखा है, कि "जिस प्रकार उत्तम हीरे को घिसना नहीं पड़ता, उसी प्रकार जो निर्वाण पद का अधिकारी हो गया, उसके कर्म को विधि-नियमों का अडंगा लगाना नहीं पड़ता" (मिलिन्दप्रश्न ४. ५. ७) । कौषीतकी उपनिषद् (३. १) में इन्द्र ने प्रतर्दन से जो यह कहा है, कि आत्मज्ञानी पुरुष को "मातृहत्या, पितृहत्या अथवा भ्रूणहत्या आदि पाप भी नहीं लगते ।" अथवा गीता (१८. १७) में जो यह वर्णन है—कि अहंकारबुद्धि से सर्वथा विमुक्त पुरुष यदि लोगों को मार भी डाले, तो भी वह पापपुण्य से सर्वदा बेलाग ही रहता है—उसका तात्पर्य भी यही है (देखो पञ्चदशी १४. १६ और १७) । 'धम्मपद' नामक बौद्ध ग्रन्थ में इसी तत्त्व का अनुवाद किया गया है (देखो धम्मपद, श्लोक २९४ और २९५) * । नई बाइबल में ईसा के शिष्य पाल ने जो यह कहा है, कि "मुझे

* कौषीतकी उपनिषद् का वाक्य यह है—"यो मां विजानीयान्नास्य केनचित् कर्मणा लोको मीयते न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया" धम्मपद का श्लोक इस प्रकार है :—

सभी बातें (एक ही सी) धर्म्य हैं" (१ कारिं. ६. १२; रोम. ८.२) उसका आशय जान के या इस वाक्य का आशय भी—कि "जो भगवान् के पुत्र (पूर्णभक्त) हो गये, उनके हाथ से पाप कभी नहीं हो सकता" (जा. १. ३. ९)—हमारे मत में ऐसा ही है। जो शुद्धबुद्धि को प्रधानता न दे कर केवल ऊपरी कर्मों से ही नीतिमत्ता का निर्णय करना सीखे हुए हैं, उन्हें यह सिद्धान्त अद्भुत-सा मालूम होता है; और "विधिनियम से परे का मनमाना भलाबुरा करनेवाला"—ऐसा अपने ही मन का कुतर्कपूर्ण अर्थ करके कुछ लोग उल्लिखित सिद्धान्त का इस प्रकार विपर्यास करते हैं, कि "स्थितप्रज्ञ को सभी बुरे कर्म करने की स्वतन्त्रता है"। पर अन्धे को खम्भा न देख पड़े, तो जिस प्रकार खम्भा दोषी नहीं है, उसी प्रकार पक्षाभिमान के अन्धे इन आक्षेपकर्ताओं को उल्लिखित सिद्धान्त का ठीकठीक अर्थ अवगत न हो, तो उसका दोष भी इस सिद्धान्त के मत्थे नहीं थोपा जा सकता। इसे गीता भी मानती है, कि किसी की शुद्धबुद्धि की परीक्षा पहले पहल उसके ऊपरी आचरण से ही करनी पड़ती है। और जो इस कसौटी पर चौकस सिद्ध होने में अभी कुछ कम हैं, उन अपूर्ण अवस्था के लोगों को उक्त सिद्धान्त लागू करने की इच्छा अध्यात्मवादी भी नहीं करते। पर जब किसी की बुद्धि के पूर्ण ब्रह्मनिष्ठ और निःसीम निष्काम होने में तिलभर भी सन्देह न रहे, तब उस पूर्ण अवस्था में पहुँचे हुए सत्पुरुष की बात निराली हो जाती है। उसका कोई एक-आध काम यदि लौकिक दृष्टि से विपरीत देख पड़े, तो तत्त्वतः यही कहना पड़ता है, कि उसका बीज निर्दोष ही होगा। अथवा वह शास्त्र की दृष्टि से कुछ योग्य कारणों के होने से ही हुआ होगा। या साधारण मनुष्यों के कामों के समान उसका लोभमूलक या अनीति का होना सम्भव नहीं है। क्योंकि उसकी बुद्धि की पूर्णता, शुद्धता और समता पहले से ही निश्चित रहती है। बाइबल में लिखा है, कि अब्राहाम अपने पुत्र का बलिदान देना चाहता था; तो भी उसे पुत्रहत्या कर डालने के प्रयत्न का पाप

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रठ्ठं सानुचरं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो॥
मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो॥

प्रगट है, कि धम्मपद में यह कल्पना कौषीतकी उपनिषद् से ली गई है। किन्तु बौद्ध ग्रन्थकार प्रत्यक्ष मातृवध या पितृवध अर्थ न करके 'माता' का तृष्णा और 'पिता' का अभिमान अर्थ करते हैं। लेकिन हमारे मत में इस श्लोक का नीतितत्त्व बौद्ध ग्रन्थकारों को भली भाँति ज्ञात नहीं हो पाया। इसी से उन्हों ने यह औपचारिक अर्थ लगाया है। कौषीतकी उपनिषद् में "मातृवधेन पितृवधेन" मन्त्र के पहले इन्द्र ने कहा है, कि "यद्यपि मैंने वृत्र अर्थात् ब्राह्मण का वध किया है, तो भी मुझे उसका पाप नहीं लगता।" इस से स्पष्ट होता है, कि यहाँ पर प्रत्यक्ष वध ही विवक्षित है। धम्मपद के अङ्ग्रेजी अनुवाद में (S. B. E Vol X pp. 70, 71) मेक्समूलर साहब ने इन श्लोकों की जो टीका की है, हमारे मत में वह भी ठीक नहीं है।

नहीं लगा । या बुद्ध के शाप से उसका ससुर मर गया; तो भी उसे मनुष्यहत्या का पातक छू तक नहीं गया । अथवा माता को मार डालने पर भी परशुराम के हाथ से मातृहत्या नहीं हुई; उसका कारण भी वही तत्त्व है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है । गीता में अर्जुन को जो यह उपदेश किया गया है, कि "तेरी बुद्धि यदि पवित्र और निर्मल हो, तो फलाशा छोड़ कर केवल क्षात्रधर्म के अनुसार युद्ध में भीष्म और द्रोण को मार डालने से भी, न तो तुझे पितामह का वध का पातक लगेगा; और न गुरुहत्या का दोष । क्योंकि ऐसे समय ईश्वरी संकेत की सिद्धि के लिये तू तो केवल निमित्त हो गया है" (गी. ११. ३३) । इसमें भी यही तत्त्व भरा है । व्यवहार में भी हम यही देखते हैं, कि यदि किसी लखपति ने किसी भिखमङ्गे के दो पैसे छीन लिये हों; तो उस लखपति को तो कोई चोर कहता नहीं । उलटा यही समझ लिया जाता है, कि भिखारी ने ही कुछ अपराध किया होगा, कि जिसका लखपति ने उसको दण्ड दिया है । यही न्याय इससे भी अधिक समर्पक रीति से या पूर्णता से स्थितप्रज्ञ, अर्हत और भगवद्भक्त के वर्ताव को उपयोगी होता है । क्योंकि लक्षाधीश की बुद्धि एक बार भले ही डिग जाय; परन्तु यह जानीबूझी बात है, कि स्थितप्रज्ञ की बुद्धि को ये विकार कभी स्पर्श तक नहीं कर सकते । सृष्टि-कर्ता परमेश्वर सब कर्म करने पर भी जिस प्रकार पापपुण्य से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार इन ब्रह्मभूत साधु पुरुषों की स्थिति सदैव पवित्र और निष्पाप रहती है । और तो क्या ? समय समय पर ऐसे पुरुष स्वेच्छा अर्थात् अपनी मर्जी से जो व्यवहार करते हैं, उन्हीं से आगे चल कर विधिनियमों के निर्बन्ध बन जाते हैं । और इसी से कहते हैं, कि ये सत्पुरुष इन विधिनियमों के जनक (उपजानेवाले) हैं—वे इनके गुलाम कभी नहीं हो सकते । न केवल वैदिक धर्म में, प्रत्युत बौद्ध और क्रिश्चियन धर्म में भी यही सिद्धान्त पाया जाता है; तथा प्राचीन ग्रीक तत्त्व-ज्ञानियों को भी यह तत्त्व मान्य हो गया था; और अर्वाचीन काल में कान्ट ने *

---

* A perfectly good will would therefore be equally subject to objective laws (viz. laws of good) but could not be conceived as *obliged* thereby to act lawfully, because of itself from its subjective constitution it can only be determined by the conception of good. Therefore no *imperatives* hold for the Divine will, or in general for a *holy* will; *ought* is here out of place, because the volition is already of itself necessarily in unison with the law." Kant's *Metaphysic of Morals*. p. 31 (Abbott's trans. in Kant's *Theory of Ethics*, 6th Ed.) निट्शे किसी भी आध्यात्मिक उपपत्ति को स्वीकार नहीं करता । तथापि उसने अपने ग्रन्थ में उत्तम पुरुष का (Superman) जो वर्णन किया है, उसमें उसने कहा है, कि उल्लिखित पुरुष भले और बुरे से परे रहता है । उसके एक ग्रन्थ का नाम भी *Beyond Good and Evil* है ।

अपने नीतिशास्त्र के ग्रन्थ में उपपत्तिसहित यही सिद्ध कर दिखलाया है। इस प्रकार नीतिनियमों के कभी भी गँदले न होनेवाले मूल झिरने या निर्दोष पाठ (सबक़) का इस प्रकार निश्चय हो चुकने पर आप ही सिद्ध हो जाता है, कि नीतिशास्त्र या कर्मयोगशास्त्र के तत्त्व देखन की जिसे अभिलाषा हो, उसे इन उदार और निष्कलङ्क सिद्ध पुरुषों के चरित्रों का ही सूक्ष्म अवलोकन करना चाहिये। इसी अभिप्राय से भगवद्‌गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा है, कि "स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् (गी. २. ५४)--स्थितप्रज्ञ पुरुष का बोलना, बैठना और चलना कैसा होता है? अथवा "कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणान् एतान् अतीतो भवति प्रभो, किमाचारः" (गी. १४. २१)--पुरुष त्रिगुणातीत कैसे होता है? उसका आचार क्या है? और उसको किस प्रकार पहचानना चाहिये? किसी सराफ़ के पास सोने का जेवर जँचवाने के लिये जाने पर अपनी दूकान में रखे हुए १०० टञ्च के सोने के टुकड़े से उसको परख कर जिस प्रकार उसका खराखोटापन बतलाता है, उसी प्रकार कार्य-अकार्य--या धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये स्थितप्रज्ञ--का बर्ताव ही कसौटी है। अतः गीता के उक्त प्रश्नों में यही अर्थ गर्भित है, कि मुझे उस कसौटी का ज्ञान करा दीजिये। अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देने में भगवान् ने स्थितप्रज्ञ अथवा त्रिगुणातीत की स्थिति के जो वर्णन किये हैं, उन्हें कुछ लोग संन्यासमार्गवाले ज्ञानी पुरुषों के बतलाते हैं। उन्हें वे कर्मयोगियों के नहीं मानते। कारण यह बतलाया जाता है, कि संन्यासियों को उद्देश कर ही 'निराश्रयः' (४. २०) विशेषण का गीता में प्रयोग हुआ है। और बारहवें अध्याय में स्थितप्रज्ञ भगवद्भक्तों का वर्णन करते समय "सर्वारम्भपरित्यागी" (१२. १६) एवं 'अनिकेतः' (१२. १९) इन स्पष्ट पदों का प्रयोग किया गया है। परन्तु निराश्रय अथवा अनिकेत पदों का अर्थ 'घरदार छोड़ कर जङ्गलों में भटकनेवाला' विवक्षित नहीं है। किन्तु इसका अर्थ "अनाश्रितः कर्मफलं (६. १) के समानार्थक ही करना चाहिये--तब इसका अर्थ 'कर्मफल का आश्रय न करनेवाला' अथवा जिसके मन में उस फल के लिये ठौर नहीं' इस ढंग का हो जायगा। गीता के अनुवाद में इन श्लोकों के नीचे जो टिप्पणियाँ दी हुई हैं, उनसे यह बात स्पष्ट देख पड़ेगी। इसके अतिरिक्त स्थितप्रज्ञ के वर्णन में ही कहा है, कि "इन्द्रियों को अपने क़ाबू में रख कर व्यवहार करनेवाला अर्थात् वह निष्कामकर्म करनेवाला होता है (गी. २. ६४)। और जिस श्लोक में यह 'निराश्रय' पद आया है, वहाँ यह वर्णन है, कि "कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः" अर्थात् समस्त कर्म करके भी वह अलिप्त रहता है। बारहवें अध्याय के अनिकेत आदि पदों के लिये इसी न्याय का उपयोग करना चाहिये। क्योंकि इस अध्याय में पहले कर्मफल के त्यागकी (कर्मत्याग की नहीं) प्रशंसा कर चुकने पर (गी. १२. १२) फलाशा त्याग कर कर्म करने से मिलनेवाली शान्ति का दिग्दर्शन करने के लिये आगे भगवद्भक्त के लक्षण बतलाये हैं। और ऐसे ही अठारहवें अध्याय में भी यह दिखलाने के लिये--कि

आसक्तिविरहित कर्म करने से शान्ति कैसे मिलती है--ब्रह्मभूत पुरुष का पुनः वर्णन आया है (गी. १८.५०)। अतएव यह मानना पड़ता है, कि ये सब वर्णन संन्यास-मार्गवालों के नहीं हैं; किन्तु कर्मयोगी पुरुषों के ही हैं। कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ और संन्यासी स्थितप्रज्ञ दोनों का ब्रह्मज्ञान, शान्ति, आत्मौपम्य और निष्कामबुद्धि अथवा नीतितत्त्व पृथक् पृथक् नहीं हैं। दोनों ही पूर्ण ब्रह्मज्ञानी रहते हैं। इस कारण दोनों की ही मानसिक स्थिति, और शान्ति एक-सी होती है। इन दोनों में कर्मदृष्टि से महत्त्व का भेद यह है, कि पहला निरी शान्ति में ही डूबा रहता है; और किसी की भी चिन्ता नहीं करता; तथा दूसरा अपनी शान्ति एवं आत्मौपम्यबुद्धि का व्यवहार में यथासम्भव नित्य उपयोग किया करता है। अतः यह न्याय से सिद्ध है, कि व्यावहारिक धर्म-अधर्म-विवेचन के काम में जिसके प्रत्यक्ष व्यवहार का प्रमाण मानना है, वह स्थितप्रज्ञ कर्म करनेवाला ही होना चाहिये। यहाँ कर्मत्यागी साधु अथवा भिक्षु का टिकना सम्भव नहीं है। गीता में अर्जुन को किये गये समग्र उपदेश का सार यह है, कि कर्मों के छोड़ देने की न तो ज़रूरत है; और न वे छूट ही सकते हैं। ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान प्राप्त कर कर्मयोगी के समान व्यवसायात्मकबुद्धि को साम्या-वस्था में रखना चाहिये। ऐसा करने से उसके साथ-ही-साथ वासनात्मकबुद्धि भी सदैव शुद्ध, निर्मम और पवित्र रहेगी। एवं कर्म का बन्धन न होगा। यही कारण है, कि इस प्रकरण के आरम्भ के श्लोक में यह धर्मतत्त्व बतलाया गया है, कि " केवल वाणी और मन से ही नहीं; किन्तु जो प्रत्यक्ष कर्म से सब का स्नेही और हितकर्ता हो गया हो, उसे ही धर्मज्ञ कहना चाहिये। " जाजलि को उक्त धर्मतत्त्व बतलाते समय तुलाधार ने वाणी और मन के साथ ही--बल्कि इससे भी पहले--उसमें कर्म का भी प्रधानता से निर्देश किया है।

कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ की अथवा जीवन्मुक्त की बुद्धि के अनुसार सब प्राणियों में जिसकी साम्यबुद्धि हो गई; और परार्थ में जिसके स्वार्थ का सर्वथा लय हो गया, उसको विस्तृत नीतिशास्त्र सुनाने की कोई ज़रूरत नहीं। वह तो आप ही स्वयंप्रकाश अथवा 'बुद्ध' हो गया। अर्जुन का अधिकार इसी प्रकार का था। उसे इससे अधिक उपदेश करने की ज़रूरत ही न थी, कि " तू अपनी बुद्धि को सम और स्थिर कर; " तथा " कर्म को त्याग देने के व्यर्थ भ्रम में न पड़ कर स्थितप्रज्ञ की-सी बुद्धि रख; और स्वधर्म के अनुसार प्राप्त हुए सभी सांसारिक कर्म किया कर। " तथापि यह साम्यबुद्धिरूप योग सभी को एक ही जन्म में प्राप्त नहीं हो सकता। इसी से साधा-रण लोगों के लिये स्थितप्रज्ञ के बर्ताव का और थोड़ा-सा विवेचन करना चाहिये। परन्तु विवेचन करते समय खूब स्मरण रहे, कि हम जिस स्थितप्रज्ञ का विचार करेंगे, वह कृतयुग के पूर्ण अवस्था में पहुँचे हुए समाज में रहनेवाला नहीं है। बल्कि जिस समाज में बहुतेरे लोग स्वार्थ में ही डूबे रहते हैं, उसी कलियुगी समाज में यह बर्ताव करना है। क्योंकि मनुष्य का ज्ञान कितना ही पूर्ण क्यों न हो गया हो? और उसकी बुद्धि साम्यावस्था में कितनी ही क्यों न पहुँच गई

हो ? तो भी उसे ऐसे ही लोगों के साथ बर्ताव करना है, जो काम-क्रोध आदि के चक्कर में पड़े हुए हैं; और जिनकी बुद्धि अशुद्ध है। अतएव इन लोगों के साथ व्यवहार करते समय यदि वह अहिंसा, दया, शान्ति और क्षमा आदि नित्य एवं परमावधि के सद्गुणों को ही सब प्रकार से सर्वथा स्वीकार करें, तो उसका निर्वाह न होगा *। अर्थात् जहाँ सभी स्थितप्रज्ञ हैं, उस समाज को बढ़ी-चढ़ी हुई नीति और धर्म अधर्म से उस समाज के धर्म-अधर्म कुछ कुछ भिन्न रहेंगे ही—कि जिसमें लोभी पुरुषों का ही भारी जत्था होगा—वरना साधु पुरुष को यह जगत् छोड़ देना पड़ेगा; और सर्वत्र दुष्टों का ही बोलबाला हो जावेगा। इसका अर्थ यह नहीं है, कि साधु पुरुष को अपनी समताबुद्धि छोड़ देनी चाहिये। फिर भी समता-समता में भी भेद है। गीता में कहा है, कि "ब्राह्मणे गवि हस्तिनि" (गी. ५. १८)—ब्राह्मण, गाय और हाथी में पण्डितों की समबुद्धि होती है। इसलिये यदि कोई गाय के लिये लाया हुआ चारा ब्राह्मण को; और ब्राह्मण के लिये बनाई गई रसोई गाय को खिलाने लगे, तो क्या उसे पण्डित कहेंगे? संन्यासमार्गवाले इस प्रश्न का महत्त्व भले न मानें; पर कर्मयोगशास्त्र की बात ऐसी नहीं है। दूसरे प्रकरण के विवेचन से पाठक जान गये होंगे, कि कृतयुगी समाज के पूर्णावस्थावाले धर्म-अधर्म के स्वरूप पर ध्यान रख कर स्वार्थपरायण लोगों के समाज में स्थितप्रज्ञ यह निश्चय करके बर्तता है, कि देशकाल के अनुसार उसमें कौन कौन फ़र्क़ कर देना चाहिये? और कर्मयोगशास्त्र का यही तो बिकट प्रश्न है। साधु पुरुष स्वार्थपरायण लोगों पर नाराज़ नहीं होते। अथवा उनकी लोभबुद्धि देख करके वे अपने मन की समता को डिगने नहीं देते। किन्तु इन्हीं लोगों के कल्याण के लिये वे अपने उद्योग केवल कर्तव्य समझ कर वैराग्य से जारी रखते हैं। इसी तत्त्व को मन में ला कर श्रीसमर्थ

---

* "In the second place, ideal conduct such as ethical theory is concerned with, is not possible for the ideal man in the midst of men otherwise constituted. An absolutely just or perfectly sympathetic person, could not live and act according to his nature in a tribe of cannibals. Among people who are treacherous and utterly without scruple, entire truthfulness and openness must bring ruin." Spencer's *Data of Ethics* Chap. XV. p. 280. स्पेन्सर ने इसे Relative Ethics कहा है; और वह कहता है कि "On the evolution-hypothesis, the two (Absolute and Relative Ethics) presuppose one another, and only when they co-exist, can there exist that ideal conduct which Absolute Ethics has to formulate, and which Relative Ethics has to take as the standard by which to estimate divergencies from right, or degrees of wrong."

रामदासस्वामी ने दासबोध के पूर्वार्ध में पहले ब्रह्मज्ञान बतलाया है। और फिर (दास. ११. १०; १२. ८–१०; १५. २) इसका वर्णन आरम्भ किया है, कि स्थितप्रज्ञ या उत्तम पुरुष सर्वसाधारण लोगों को चतुर बनाने के लिये वैराग्य से अर्थात् निःस्पृहता से लोकसंग्रह के निमित्त व्याप या उद्योग किस प्रकार किया करते हैं ? और आगे अठारहवें दशक (दास. १८. २) में कहा है, कि सभी को ज्ञानी पुरुष अर्थात् जानकार के ये गुण––कथा, बातचीत, युक्ति, दाव-पेंच, प्रसंग, प्रयत्न, तर्क, चतुराई, राजनीति, सहनशीलता, तीक्ष्णता, उदारता, अध्यात्मज्ञान, भक्ति, अलिप्तता, वैराग्य, धैर्य, उत्साह, निग्रह, समता और विवेक आदि––सीखना चाहिये। परंतु इस निःस्पृह साधु को लोभी मनुष्यों में ही बर्तना है। उस कारण अन्त में (दास. १९. ९. ३०) श्रीसमर्थ का यह उपदेश है, कि "लठ्ठ का सामना लठ्ठ ही से करा देना चाहिये। उजड्ड के लिये उजड्ड चाहिये; और नटखट के सामने नटखट की ही आवश्यकता है।" तात्पर्य, यह निर्विवाद है, कि पूर्णावस्था से व्यवहार में उतरने पर अत्युच्च श्रेणी के धर्म-अधर्म में थोड़ाबहुत अन्तर कर देना पड़ता है।

इस पर आधिभौतिकवादियों की शंका है, कि पूर्णावस्था के समाज से नीचे उतरने पर अनेक बातों के सार-असार का विचार करके परमावधि के नीतिधर्म में यदि थोड़ाबहुत फ़र्क़ करना ही पड़ता है, तो नीतिधर्म की नित्यता कहाँ रह गई ? और भारतसावित्री में व्यास ने जो यह "धर्मो नित्यः" तत्त्व बतलाया है, उसकी क्या दशा होगी ? वे कहते हैं, कि अध्यात्मदृष्टि से सिद्ध होनेवाला धर्म का नित्यत्व कल्पनाप्रसूत है। और प्रत्येक समाज की स्थिति के अनुसार उस उस समय में "अधिकांश लोगों के अधिक सुख"–वाले तत्त्व से जो नीतिधर्म प्राप्त होंगे, वेही चोखे नीतिनियम हैं। परन्तु यह दलील ठीक नहीं है। भूमितिशास्त्र के नियमानुसार यदि कोई बिना चौड़ाई की सरल रेखा अथवा सर्वांश में निर्दोष गोलाकार न खींच सके, तो जिस प्रकार इतने ही से सरल रेखा की अथवा शुद्ध गोलाकार की शास्त्रीय व्याख्या ग़लत या निरर्थक नहीं हो जाती, उसी प्रकार सरल और शुद्ध नियमों की बात है। जब तक क्रिसी बात के परमावधि के शुद्ध स्वरूप का निश्चय पहले न कर लिया जावे, तब तक व्यवहार में देख पड़नेवाली उस बात की अनेक सूरतों में सुधार करना अथवा सार-असार का विचार करके अन्त में उसके तारतम्य को पहचान लेना भी सम्भव नहीं है। और यही कारण है, जो सराफ़ पहले ही निर्णय करता है, कि १०० टञ्च का सोना कौन-सा है ? दिशाप्रदर्शक ध्रुवमत्स्य यन्त्र अथवा ध्रुव नक्षत्र की ओर दुर्लक्ष्य कर अपार महोदधि की लहरों और वायु के ही तारतम्य को देख कर जहाज़ के खलासी बराबर अपने जहाज़ की पतवार घुमाने लगें, तो उनकी जो स्थिति होगी, वही स्थिति नीतिनियमों के परमावधि के स्वरूप पर ध्यान न दे कर केवल देशकाल के अनुसार बर्तनेवाले मनुष्यों की होनी चाहिये। अतएव यदि निरी आधिभौतिकदृष्टि से ही विचार करें, तो

भी यह पहले अवश्य निश्चित कर लेना पड़ता है, कि ध्रुव जैसा अटल और नित्य नीतितत्त्व कौन-सा है? और इस आवश्यकता को एक बार मान लेने से ही समूचा आधिभौतिक पक्ष लँगड़ा हो जाता है। क्योंकि सुखदुःख आदि सभी विषयोपभोग नामरूपात्मक हैं। अतएव ये अनित्य और विनाशवान् माया की ही सीमा में रह जाते हैं। इसलिये केवल इन्हीं बाह्य प्रमाणों के आधार से सिद्ध होनेवाला कोई भी नीतिनियम नित्य नहीं हो सकता। आधिभौतिक बाह्य सुखदुःख की कल्पना जैसी जैसी बदलती जावेगी, वैसे ही वैसे उसकी बुनियाद पर रचे हुए नीतिधर्मों को भी बदलते रहना चाहिये। अतः नित्य बदलती रहनेवाली नीतिधर्म की इस स्थिति को टालने के लिये मायासृष्टि के विषयोपभोग छोड़ कर नीतिधर्म की इमारत इस "सब भूतों में एक आत्मा" वाले अध्यात्मज्ञान के मज़बूत पाये पर ही खड़ी करनी पड़ती है। क्योंकि पीछे नौवें प्रकरण में कह आये हैं, कि आत्मा को छोड़े जगत् में दूसरी कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। यही तात्पर्य व्यासजी के इस वचन का है, कि "धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये"—नीति अथवा सदाचरण का धर्म नित्य है; और सुखदुःख अनित्य हैं। यह सच है, कि दुष्ट और लोभियों के समाज में अहिंसा एवं सत्य प्रभृति नित्य नीतिधर्म पूर्णता से पाले नहीं जा सकते; पर इसका दोष इन नित्य नीतिधर्मों को देना उचित नहीं है। सूर्य की किरणों से किसी पदार्थ की परछाईं चौरस मैदान पर सपाट और ऊँचे नीचे स्थान पर ऊँची-नीची पड़ती देख जैसे यह अनुमान नहीं किया जा सकता, कि वह परछाईं मूल में ही ऊँची-नीची होगी; उसी प्रकार जब कि दुष्टों के समाज में नीति-धर्म का पराकाष्ठा का शुद्ध स्वरूप नहीं पाया जाता, तब यह नहीं कह सकते, कि अपूर्ण अवस्था के समाज में पाया जानेवाला नीतिधर्म का अपूर्ण स्वरूप ही मुख्य अथवा मूल का है। यह दोष समाज का है, नीति का नहीं। इसी से चतुर पुरुष शुद्ध और नित्य नीतिधर्मों से झगड़ा न मचा कर ऐसे प्रयत्न किया करते हैं, कि जिनसे समाज ऊँचा उठता हुआ पूर्ण अवस्था में जा पहुँचे। लोभी मनुष्यों के समाज में इस प्रकार बर्तते समय ही नित्य नीतिधर्मों के कुछ अपवाद यद्यपि अपरिहार्य मान कर हमारे शास्त्रों में बतलाये गये हैं, तथापि इसके लिये शास्त्रों में प्रायश्चित्त भी बतलाये गये हैं। परन्तु पश्चिमी आधिभौतिक नीतिशास्त्रज्ञ इन्हीं अपवादों को मूछों पर ताव दे कर प्रतिपादन करते हैं। एवं इन अपवादों का निश्चय करते समय वे उपयोग में आनेवाले बाह्य फलों के तारतम्य के तत्त्व को ही भ्रम से नीति का मूलतत्त्व मानते हैं। अब पाठक समझ जायँगे, कि पिछले प्रकरणों में हमने ऐसा भेद क्यों दिखलाया है?

यह बतला दिया, कि स्थितप्रज्ञ ज्ञानी पुरुष की बुद्धि और उसका बर्ताव ही नीतिशास्त्र का आधार है। एवं यह भी बतला दिया, कि उससे निकलनेवाले नीति के नियमों को—उनके नित्य होने पर भी—समाज की अपूर्ण अवस्था में थोड़ा-बहुत बदलना पड़ता ह; तथा इस रीति से बदले जाने पर भी नीतिनियमों की नित्यता में उस परिवर्तन से कोई बाधा नहीं आती। अब इस पहले प्रश्न का

विचार करते हैं, कि स्थितप्रज्ञ ज्ञानी पुरुष अपूर्ण अवस्था के समाज में जो बर्ताव करता है, उसका मूल अथवा बीजतत्त्व क्या है ? चौथे प्रकरण में कह आये हैं, कि यह विचार दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो कर्ता की बुद्धि को प्रधान मान कर और दूसरा उसके ऊपरी बर्ताव से । इनमें से यदि केवल दूसरी ही दृष्टि से विचार करें, तो विदित होगा, कि स्थितप्रज्ञ जो जो व्यवहार करते हैं, वे प्रायः सब लोगों के हित के ही होते हैं । गीता में दो बार कहा गया है, कि परम ज्ञानी सत्पुरुष 'सर्वभूतहिते रताः'--प्राणिमात्र के कल्याण में निमग्न रहते हैं (गी.५.२५; १२.४); और महाभारत में भी यही अर्थ अन्य कई स्थानों में आया है । हम ऊपर कह चुके हैं, कि स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुष अहिंसा आदि जिन नियमों का पालन करता है, वही धर्म अथवा सदाचार का नमूना है । इन अहिंसा आदि नियमों का प्रयोजन अथवा इस धर्म का लक्षण बतलाते हुए महाभारत में धर्म का बाहरी उपयोग दिखलानेवाले ऐसे अनेक वचन हैं --"अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम्" (वन. २०६. ७३)--अहिंसा और सत्यभाषण की नीति प्राणिमात्र के हित के लिये हैं। "धारणाद्धर्ममित्याहुः" (शां. १०९. १२)--जगत् का धारण करने से धर्म है। "धर्मो हि श्रेय इत्याहुः" (अनु. १०५. १४)--कल्याण ही धर्म है। "प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्" (शां. १०९. १०)--लोगों के अभ्युदय के लिये ही धर्म-अधर्मशास्त्र बना है; अथवा "लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः। उभयत्र सुखोदर्कः" (शां. २५८. ४)--धर्म-अधर्म के नियम इसलिये रचे गये हैं, कि लोकव्यवहार चले; और दोनों लोकों में कल्याण हो इत्यादि। इसी प्रकार कहा है, कि धर्म-अधर्म-संशय के समय ज्ञानी पुरुष को भी :--

लोकयात्रा च द्रष्टव्या धर्मश्चात्महितानि च ।

"लोकव्यवहार, नीतिधर्म और अपना कल्याण--इन बाहरी बातों का तारतम्य से विचार करके" (अनु. ३७. १६; वन. २०६. ९०) फिर जो कुछ करना हो, उसका निश्चय करना चाहिये; और वनपर्व में राजा शिबि ने धर्म-अधर्म के निर्णयार्थ इसी युक्ति का उपयोग किया है (देखो वन. १३१. ११ और १२) । इन वचनों से प्रगट होता है, कि समाज का उत्कर्ष ही स्थितप्रज्ञ के व्यवहार की 'बाह्य नीति' होती है। और यदि यह ठीक है, तो आगे सहज ही प्रश्न होता है, कि आधिभौतिकवादियों के इस अधिकांश लोगों के अधिक सुख अथवा '(सुख शब्द को व्यापक करके) हित या कल्याणवाले नीतितत्त्व को अध्यात्मवादी भी क्यों नहीं स्वीकार कर लेते ? चौथे प्रकरण में हमने दिखला दिया है, कि इस अधिकांश लोगों के अधिक सुख सूत्र में बुद्धि के आत्मप्रसाद से होनेवाले सुख का अथवा उन्नति का और पारलौकिक कल्याण का अन्तर्भाव नहीं होता--इसमें यह बड़ा भारी दोष है। किन्तु 'सुख' शब्द का अर्थ और भी अधिक व्यापक करके यह दोष अनेक अंशों में निकाल डाला जा सकेगा; और नीतिधर्म की नित्यता के सम्बन्ध में ऊपर दी हुई आध्यात्मिक उपपत्ति भी कुछ लोगों को विशेष महत्त्व की न जँचेगी । इसलिये नीतिशास्त्र के

आध्यात्मिक और आधिभौतिक मार्ग में जो महत्त्व का भेद है, उसका यहाँ और थोड़ा-सा खुलासा फिर कर देना आवश्यक है।

नीति की दृष्टि से किसी कर्म की योग्यता अथवा अयोग्यता का विचार दो प्रकार से किया जाता है :—(१) उस कर्म का केवल बाह्य फल देख कर अर्थात् यह देख करके कि उसका दृश्य परिणाम जगत् पर क्या हुआ है या होगा? (२) यह देख कर, कि उस कर्म के करनेवाले की बुद्धि अर्थात् वासना कैसी थी? पहले को आधिभौतिक मार्ग कहते हैं। दूसरे में फिर दो पक्ष होते हैं; और इन दोनों के पृथक् पृथक् नाम हैं। ये सिद्धान्त पिछले प्रकरणों में बतलाये जा चुके हैं, कि शुद्ध कर्म होने के लिये वासनात्मकबुद्धि शुद्ध रखनी पड़ती है। और वासनात्मकबुद्धि को शुद्ध रखने के लिये व्यवसायात्मक अर्थात् कार्य-अकार्य का निर्णय करनेवाली बुद्धि भी स्थिर, सम और शुद्ध रहनी चाहिये। इन सिद्धान्तों के अनुसार किसी के भी कर्मों की शुद्धता जाँचने के लिये देखना पड़ता है, कि उसकी वासनात्मकबुद्धि शुद्ध है या नहीं? और वासनात्मकबुद्धि की शुद्धता जाँचने लगें, तो अन्त में देखना ही पड़ता है, कि व्यवसायात्मकबुद्धि शुद्ध है या अशुद्ध? सारांश, कर्ता की बुद्धि अर्थात् वासना की शुद्धता का निर्णय अन्त में व्यवसायात्मकबुद्धि की शुद्धता से ही करना पड़ता है (गी. २. ४१)। इसी व्यवसायात्मकबुद्धि को सदसद्विवेचनशक्ति के रूप में स्वतंत्र देवता मान लेन से यह आधिदैविक मार्ग हो जाता है। परन्तु यह बुद्धि स्वतंत्र दैवत नहीं है; किन्तु आत्मा का एक अन्तरिन्द्रिय है। अतः बुद्धि को प्रधानता न दे कर आत्मा को प्रधान मान करके वासना की शुद्धता का विचार करने से यह नीति के निर्णय का आध्यात्मिक मार्ग हो जाता है। हमारे शास्त्रकारों का मत है, कि इन सब मार्गों में आध्यात्मिक मार्ग श्रेष्ठ है। और प्रसिद्ध जर्मन तत्त्ववेत्ता कान्ट ने यद्यपि ब्रह्मात्मैक्य का सिद्धान्त स्पष्टरूप से नहीं दिया है, तथापि उसने अपने नीतिशास्त्रके विवेचन का आरम्भ शुद्धबुद्धि से अर्थात् एक प्रकार से अध्यात्मदृष्टि से ही किया है। एवं उसने इसकी उपपत्ति भी दी है, कि ऐसा क्यों करना चाहिये *? ग्रीन का अभिप्राय भी ऐसा ही है। परन्तु इस विषय की पूरी पूरी छानबीन इस छोटे-से ग्रन्थ में नहीं की जा सकती। हम चौथे प्रकरण में दो एक उदाहरण दे कर स्पष्ट दिखला चुके हैं, कि नीतिमत्ता का पूरा निर्णय करने के लिये कर्म के बाहरी फल की अपेक्षा कर्ता की शुद्धबुद्धि पर विशेष लक्ष देना पड़ता है। और इस सम्बन्ध का अधिक विचार आगे—पन्द्रहवें प्रकरण में पाश्चात्य और पौरस्त्य नीतिमार्गों की तुलना करते समय—किया जावेगा। अभी इतना ही कहते हैं, कि कोई भी कर्म तभी होता है, जब कि पहले उस कर्म के करने की बुद्धि उत्पन्न हो। इसलिये कर्म की योग्यता-अयोग्यता का विचार भी सभी अंशों में

---

* See Kant's *Theory of Ethics*, trans. by Abbott. 6th *Ed*. especially *Metaphysics of Morals* therein.

बुद्धि की शुद्धता-अशुद्धता के विचारपर ही अवलम्बित रहता है । बुद्धि बुरी होगी, तो कर्म भी बुरा होगा। परन्तु केवल बाह्य कर्म के बुरे होने से ही यह अनुमान नहीं किया जा सकता, कि बुद्धि भी बुरी होनी ही चाहिये । क्योंकि भूल से कुछ-का-कुछ समझ लेने से अथवा अज्ञान से भी वैसा कर्म हो सकता है; और फिर उसे नीतिशास्त्र की दृष्टि से बुरा नहीं कह सकते । 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख'-वाला नीतितत्त्व केवल बाहरी परिणामों के लिये ही उपयोगी होता है । और जब कि इन सुखदुःखात्मक बाहरी परिणामों को निश्चित रीति से मापने का बाहरी साधन अब तक नहीं मिला है, तब नीतिमत्ता की इस कसौटी से सदैव यथार्थ निर्णय होने का भरोसा भी नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार मनुष्य कितना ही सयाना क्यों न हो जाय ? यदि उसकी बुद्धि शुद्ध न हो गई हो, तो यह नहीं कह सकते , कि वह प्रत्येक अवसर पर धर्म से ही बर्तेगा । विशेषतः जहाँ उसका स्वार्थ आ डटा, वहाँ तो फिर कहना ही क्या है ? 'स्वार्थे सर्वे विमुह्यन्ति येऽपि धर्मविदो जनाः' (म. भा. वि. ५१. ४) । सारांश, मनुष्य कितना ही बडा ज्ञानी धर्मवेत्ता और सयाना क्यों न हो ? किन्तु यदि उसकी बुद्धि प्राणिमात्र में सम न हो, तो यह नहीं कह सकते , कि उसका कर्म सदैव शुद्ध अथवा नीति की दृष्टि से निर्दोष ही रहेगा । अतएव हमारे शास्त्रकारों ने निश्चित कर दिया है, कि नीति का विचार करने में कर्म के बाह्य फल की अपेक्षा कर्ता की बुद्धि का ही प्रधानता से विचार करना चाहिये । साम्यबुद्धि ही अच्छे बर्ताव का चोखा बीज है । यही भावार्थ भगवद्गीता के इस उपदेश में भी है :—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धि योगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥

कुछ लोग इस (गी. २. ४९) श्लोक में बुद्धि का अर्थ ज्ञान समझ कर कहते हैं, कि कर्म और ज्ञान दोनों में से यहाँ ज्ञान को ही श्रेष्ठता दी है । पर हमारे मत में यह अर्थ भूल से खाली नहीं है । इस स्थल पर शाङ्करभाष्य में बुद्धियोग का अर्थ 'समत्व बुद्धियोग' दिया हुआ है । और यह श्लोक कर्मयोग के प्रकरण में आया है । अतएव वास्तव में इसका अर्थ कर्मप्रधान ही करना चाहिये; और वही सरल रीति से लगता भी है । कर्म करनेवाले लोग दो प्रकार के होते हैं । एक फल पर—उदाहरणार्थ, उससे कितने लोगों को कितना सुख होगा ? इस पर—दृष्टि जमा कर कर्म करते हैं; और दूसरे बुद्धि को सम और निष्काम रख कर कर्म करते हैं । फिर कर्मधर्मसंयोग से उससे जो परिणाम होना हो, सो हुआ करे । इनमें से 'फलहेतवः' अर्थात् "फल पर दृष्टि रख कर कर्म करनेवाले" लोगों को नैतिक

*इस श्लोक का सरल अर्थ यह है—"हे धनंजय ! (सम-) बुद्धि के योग की अपेक्षा (कोरा) कर्म बिलकुल ही निकृष्ट है । अतएव (सम-) बुद्धि का ही आश्रय कर । फल पर दृष्टि रख कर कर्म करनेवाले (पुरुष) कृपण अर्थात् ओछे दर्जे के हैं ।"

दृष्टि से कृपण अर्थात् कनिष्ठ श्रेणी के बतला कर समबुद्धि से कर्म करनेवालों को इस श्लोक में श्रेष्ठता दी है। इस श्लोक के पहले दो चरणों में जो यह कहा है, कि 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय'—हे धनञ्जय! समत्व बुद्धियोग की अपेक्षा कोरा कर्म अत्यन्त निकृष्ट है—इसका तात्पर्य यही है। और जब अर्जुन ने यह प्रश्न किया, कि "भीष्म-द्रोण को कैसे मारूँ?" तब उसको उत्तर भी यही दिया गया। इसका भावार्थ यह है, कि मरने या मारने की निरी क्रिया की ही ओर ध्यान न देकर देखना चाहिये, कि 'मनुष्य किस बुद्धि से उस कर्म को करता है?' अतएव इस श्लोक के तीसरे चरण में उपदेश है, कि "तू बुद्धि अर्थात् समबुद्धि की शरण जा।" और आगे उपसंहारात्मक अठारहवें अध्याय में भी भगवान् ने फिर कहा है, कि "बुद्धियोग का आश्रय करके तू अपने कर्म कर।" गीता के दूसरे अध्याय के एक और श्लोक से व्यक्त होता है, कि गीता निरे कर्म के विचार को कनिष्ठ समझ कर उस कर्म की प्रेरक बुद्धि के ही विचार को श्रेष्ठ मानती है। अठारहवें अध्याय में कर्म के भले-बुरे अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस, भेद बतलाये गये हैं। यदि निरे कर्मफल की ओर ही गीता का लक्ष्य होता, तो भगवान् ने यह कहा होता, कि जो कर्म बहुतेरों को सुखदायक हो, वही सात्त्विक है। परन्तु ऐसा न बतला कर अठारहवें अध्याय में कहा है, कि "फलाशा छोड़ कर निस्संगबुद्धि से किया हुआ कर्म सात्त्विक अथवा उत्तम है" (गी. १८. २३)। अर्थात् इससे प्रगट होता है, कि कर्म के बाह्य फल की अपेक्षा कर्ता की निष्काम, सम और निस्संगबुद्धि को ही कर्म-अकर्म का विवेचन करने में गीता अधिक महत्त्व देती है। यही न्याय स्थितप्रज्ञ के व्यवहार के लिये उपयुक्त करने से सिद्ध होता है, कि स्थितप्रज्ञ जिस साम्य-बुद्धि से अपनी बराबरीवालों, छोटों और सर्व साधारण के साथ वर्तता है, वही साम्यबुद्धि उसके आचरण का मुख्य तत्त्व है। और इस आचरण से जो प्राणिमात्र का मंगल होता है, वह इस साम्यबुद्धि का निरा ऊपरी और आनुषंगिक परिणाम है। ऐसे ही जिसकी बुद्धि पूर्ण अवस्था में पहुँच गई हो, वह लोगों को केवल आधिभौतिक सुख प्राप्त करा देने के लिये ही अपने सब व्यवहार न करेगा। यह ठीक है, कि वह दूसरों का नुक़सान न करेगा। पर यह उसका मुख्य ध्येय नहीं है। स्थितप्रज्ञ ऐसे प्रयत्न किया करता है, जिनसे समाज के लोगों की बुद्धि अधिक अधिक शुद्ध होती जावे; और वे लोग अपने समान ही अन्त में आध्यात्मिक पूर्ण अवस्था में जा पहुँचें। मनुष्य के कर्तव्यों में यही श्रेष्ठ और सात्त्विक कर्तव्य है। केवल आधिभौतिक सुखवृद्धि के प्रयत्नों को हम गौण अथवा राजस समझते हैं।

गीता का सिद्धान्त है, कि कर्म-अकर्म के निर्णयार्थ कर्म के बाह्य फल पर ध्यान न दे कर कर्ता की शुद्धबुद्धि को ही प्रधानता देनी चाहिये। इस पर कुछ लोगों का यह तर्कपूर्ण मिथ्या आक्षेप है, कि यदि कर्मफल को न देख कर केवल शुद्धबुद्धि का ही इस प्रकार विचार करें, तो मानना होगा, कि शुद्धबुद्धिवाला मनुष्य कोई भी बुरा काम कर सकता है! और तब तो वह सभी बुरे कर्म करने के लिये स्वतंत्र

हो जायगा । इस आक्षेप को हमने अपनी ही कल्पना के बल से नहीं धर घसीटा है; किन्तु गीताधर्म पर कुछ पादड़ी बहादुरों के किये हुए इस ढँग के आक्षेप हमारे देखने में भी आये हैं * । किन्तु हमें यह कहने में कोई भी दिक्कत नहीं जान पड़ती, कि ये आरोप या आक्षेप बिलकुल मूर्खता के अथवा दुराग्रह के हैं । और यह कहने में भी कोई हानि नहीं है, कि आफरीका का कोई काला-कलूटा जंगली मनुष्य सुधरे हुए राष्ट्र के नीतितत्त्वों का आकलन करने में जिस प्रकार अपात्र और असमर्थ होता है, उसी प्रकार इन पादड़ी भलेमानसों की बुद्धि वैदिक धर्म के स्थितप्रज्ञ की आध्यात्मिक पूर्णावस्था का निरा आकलन करने में भी स्वधर्म के व्यर्थ दुराग्रह अथवा और कुछ ओछे एवं दुष्ट मनोविकारों से असमर्थ हो गई है । उन्नी-सवीं सदी के प्रसिद्ध जर्मन तत्त्वज्ञानी कान्ट ने अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर लिखा है, कि कर्म के बाहरी फल को न देख कर नीति के निर्णयार्थ कर्ता की बुद्धि का ही विचार करना उचित है § । किन्तु हमने नहीं देखा, कि कान्ट पर किसी ने ऐसा आक्षेप किया हो । फिर वह गीतावाले नीतितत्त्व को ही उपयुक्त कैसे होगा ? प्राणिमात्र में समबुद्धि होते ही परोपकार करना तो देह का स्वभाव ही बन जाता है । और ऐसा हो जाने पर परमज्ञानी एवं परम शुद्ध-बुद्धिवाले मनुष्य के हाथ से कुकर्म होना उतना ही सम्भव है, जितना कि अमृत से मृत्यु हो जाना । कर्म के बाह्यफल का विचार न करने के लिये जब गीता कहती है, तब उसका यह अर्थ नहीं है, कि जो दिल में आ जाय, सो किया करो । प्रत्युत गीता कहती है, कि जब बाहरी परोपकार करने का ढोंग पाखण्ड से या लोभ से कोई भी कर सकता है--किन्तु प्राणिमात्र में एक आत्मा को पहचानने से बुद्धि में जो स्थिरता और समता आ जाती है, उसका स्वाँग कोई नहीं बना सकता--तब किसी भी

---

* कलकत्ते के एक पादड़ी की ऐसी करतूत का उत्तर मिस्टर ब्रुक्स ने दिया है, जो कि उनके *Kurukshetra* (कुरुक्षेत्र) नामक छपे हुए निबंध के अन्त में है; उसे देखिये, (*Kurukshetra*, Vyasashrama , Adyar, Madras, pp. 48–52).

§ " The second proposition is : That an action done from duty derives its moral worth *not from the purpose* which is to be attained by it, but from the maxim by which it is determined." ...The moral worth of an action " cannot lie anywhere but in the *principle of the will*, without regard to the ends which can be attained by action. " Kant's *Metaphysic of Morals* (trans. by Abbott in Kant's *Theory of Ethics* p. 16. The Italics are author's and not our own). And again " When the question is of moral worth, it is not with the action which we see that we are concerned, but with those inward principles of them which we do not see p. 24 *Ibid*.

काम की योग्यता-अयोग्यता का विचार करने में कर्म के बाह्य परिणाम की अपेक्षा कर्ता की बुद्धि पर ही योग्य दृष्टि रखनी चाहिये । गीता का संक्षेप में यह सिद्धान्त कहा जा सकता है, कि कोरे जड़ कर्म में ही नीतिमत्ता नहीं; किन्तु कर्ता की बुद्धि पर वह सर्वथा अवलम्बित रहती है । आगे गीता (१८. २५) में ही कहा है, कि इस आध्यात्मिक तत्त्व के ठीक सिद्धान्त को न समझ कर यदि कोई मनमानी करने लगे, तो उस पुरुष को राक्षस या तामसी बुद्धिवाला कहना चाहिये । एक बार समबुद्धि हो जाने से फिर उस पुरुष को कर्तव्य-अकर्तव्य का और अधिक उपदेश नहीं करना पड़ता । इसी तत्त्व पर ध्यान दे कर साधु तुकाराम ने शिवाजी महाराज को जो यह उपदेश किया, कि "इसका एक ही कल्याणकारक अर्थ यह है, कि प्राणिमात्र में एक आत्मा को देखो । " इसमें भी भगवद्गीता के अनुसार कर्मयोग का एक ही तत्त्व बतलाया गया है । यहाँ फिर भी कह देना उचित है, कि यद्यपि साम्यबुद्धि ही सदाचार का बीज हो, तथापि इससे यह भी अनुमान न करना चाहिये, कि जब तक इस प्रकार की पूर्ण शुद्धबुद्धि न हो जावे, तब तक कर्म करनेवाला चुपचाप हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे । स्थितप्रज्ञ के समान बुद्धि कर लेना तो परम ध्येय है । परन्तु गीता के आरम्भ (२.४०) में ही यह उपदेश किया गया है, कि इस परम ध्येय के पूर्णतया सिद्ध होने तक प्रतीक्षा न करके--जितना हो सके उतना ही--निष्कामबुद्धि से प्रत्येक मनुष्य अपना कर्म करता रहे । इसी से बुद्धि अधिक शुद्ध होती चली जायगी ; और अन्त में पूर्ण सिद्धि हो जायगी । ऐसा आग्रह करके समय को मुफ़्त न गँवा दे, कि जब तक पूर्ण सिद्धि पा न जाऊँगा, तब तक कर्म करूँगा ही नहीं ।

'सर्वभूतहित' अथवा 'अधिकांश लोगों के अधिक कल्याण'--वाला नीतितत्त्व केवल बाह्यकर्म को उपयुक्त होने के कारण शाखाग्राही और कृपण है । परन्तु यह 'प्राणिमात्र में एक आत्मा'--वाली स्थितप्रज्ञ की 'साम्यबुद्धि' मूलग्राही है; और इसी को नीतिनिर्णय के काम में श्रेष्ठ मानना चाहिये । यद्यपि इस प्रकार यह बात सिद्ध हो चुकी; तथापि इस पर कई एकों के आक्षेप हैं, कि इस सिद्धान्त से व्यावहारिक बर्ताव की उपपत्ति ठीक ठीक नहीं लगती । ये आक्षेप प्रायः संन्यासमार्गी स्थितप्रज्ञ के संसारी व्यवहार को देख कर ही इन लोगों को सूझे हैं । किन्तु थोड़ा-सा विचार करने से किसी को भी सहज ही देख पड़ेगा, कि ये आक्षेप स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी के बर्ताव को उपयुक्त नहीं होते । और तो क्या ? यह भी कह सकते हैं, कि प्राणिमात्र में एक आत्मा अथवा आत्मौपम्यबुद्धि के तत्त्व से व्यावहारिक नीतिधर्म की जैसी अच्छी उपपत्ति लगती है, वैसी और किसी भी तत्त्व से नहीं लगती । उदाहरण के लिये उस परोपकारधर्म को ही लीजिये, कि जो सब देशों में और सब नीतिशास्त्रों में प्रधान माना गया है । 'दूसरे का आत्मा ही मेरा आत्मा है' इस अध्यात्मतत्त्व से परोपकारधर्म की जैसी उपपत्ति लगती है, वैसी किसी भी आधिभौतिकवाद से नहीं लगती । बहुत हुआ, तो आधिभौतिकशास्त्र इतना

ही कह सकते हैं, कि परोपकारबुद्धि एक नैसर्गिक गुण है; और वह उत्क्रान्तिवाद के अनुसार बढ़ रहा है। किन्तु इतने से ही परोपकार की नित्यता सिद्ध नहीं हो जाती। यही नहीं; बल्कि स्वार्थ और परार्थ के झगड़े में इन दोनों घोड़ों पर सवार होने के लालची चतुर स्वार्थियों को भी अपना मतलब गाँठने में इसके कारण अवसर मिल जाता है। यह बात हम चौथे प्रकरण में बतला चुके हैं। इस पर भी कुछ लोग कहते हैं, कि परोपकारबुद्धि की नित्यता सिद्ध करने में लाभ ही क्या है? प्राणिमात्र में एक ही आत्मा मान कर यदि प्रत्येक पुरुष सदा-सर्वदा प्राणिमात्र का ही हित करने लग जाय, तो उसकी गुजर कैसे होगी? और जब वह इस प्रकार अपना ही योगक्षेम नहीं चला सका, तब वह और लोगों का कल्याण कर ही कैसे सकेगा? लेकिन ये शंकाएँ न तो नई ही हैं; और न ऐसी हैं, कि जो टाली न जा सकें। भगवान् ने गीता में ही इस प्रश्न का यों उत्तर दिया है—"तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" (गी. ९.२२); और अध्यात्मशास्त्र की युक्तियों से भी यही अर्थ निष्पन्न होता है। जिसे लोककल्याण करने की बुद्धि हो गई, उसे कुछ खाना-पीना नहीं छोड़ना पड़ता। परन्तु उसकी बुद्धि ऐसी होनी चाहिये, कि मैं लोकोपकार केलिये ही देह धारण भी करता हूँ। जनक ने कहा है (म.भा.अश्व.३२), कि जब ऐसी बुद्धि रहेगी, तभी इन्द्रियाँ क़ाबू में रहेंगी; और लोककल्याण होगा। और मीमांसकों के इस सिद्धान्त का तत्त्व भी यही है, कि यज्ञ करने से शेष बचा हुआ अन्न ग्रहण करनेवाले को 'अमृताशी' कहना चाहिये (गी. ४. ३१)। क्योंकि उनकी दृष्टि से जगत् को धारण-पोषण करनेवाला कर्म ही यज्ञ है। अतएव लोककल्याणकारक कर्म करते समय उसी से अपना निर्वाह होता है; और करना भी चाहिये। उनका निश्चय है, कि अपने स्वार्थ के लिये यज्ञचक्र को डुबा देना अच्छा नहीं है। दासबोध (१९.४.१०) में श्रीसमर्थ ने भी वर्णन किया है, कि "वह परोपकार ही करता रहता है। उसकी सब को ज़रूरत बनी रहती है। ऐसी दशा में उसे भूमण्डल में किस बात की कमी रह सकती है?" व्यवहार की दृष्टि से देखें, तो भी काम करनेवाले को जान पड़ेगा, कि यह उपदेश बिलकुल यथार्थ है। सारांश; जगत् में देखा जाता है, कि लोककल्याण में जुटे रहनेवाले पुरुष का योगक्षेम कभी अटकता नहीं है। केवल परोपकार करने के लिये उसे निष्कामबुद्धि से तैयार रहना चाहिये। एक बार इस भावना के दृढ हो जाने पर—कि 'सभी लोग मुझ में हैं; और मैं सब लोगों में हूँ—' फिर यह प्रश्न ही नहीं हो सकता, कि परार्थ से स्वार्थ भिन्न है। 'मैं' पृथक्; और 'लोग' पृथक्। इस आधिभौतिक द्वैतबुद्धि से 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' करने के लिये जो प्रवृत्त होता है, उसके मन में ऊपर लिखी हुई भ्रामक शङ्का उत्पन्न हुआ करती है परन्तु जो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस अद्वैतबुद्धि से परोपकार करने में प्रवृत्त हो जाय, उसके लिये यह शङ्का ही नहीं रहती। सर्वभूतात्मैक्यबुद्धि से निष्पन्न होनेवाले सर्वभूतहित के इस आध्यात्मिक तत्त्व में, और स्वार्थ एवं परार्थरूपी द्वैत के

(अर्थात् अधिकांश लोगों के सुख के) तारतम्य से निकलनेवाले लोककल्याण के आधिभौतिक तत्त्व में इतना ही भेद है, जो ध्यान देने योग्य है। साधु पुरुष मन में लोककल्याण करने का हेतु रख कर लोककल्याण नहीं किया करते। जिस प्रकार प्रकाश फैलाना सूर्य का स्वभाव है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान से मन में सर्वभूतात्मैक्य का पूर्ण परिचय हो जाने पर लोककल्याण करना तो इन साधु पुरुषों का सहज स्वभाव हो जाता है। और ऐसा स्वभाव बन जाने पर--सूर्य जैसे दूसरों को प्रकाश देता हुआ अपने आप को भी प्रकाशित कर लेता है--वैसे ही साधु पुरुष के परार्थ उद्योग से ही उसका योगक्षेम भी आप-ही-आप सिद्ध होता जाता है। परोपकार करने के इस देहस्वभाव और अनासक्तबुद्धि के एकत्र हो जाने पर ब्रह्मात्मैक्यबुद्धिवाले साधु पुरुष अपना कार्य सदा जारी रखते हैं। कितने ही सङ्कट क्यों न चले आवें? वे उनकी बिलकुल परवाह नहीं करते। और न यही सोचते हैं, कि सङ्कटों का सहना भला है या जिस लोककल्याण की बदौलत ये सङ्कट आते हैं, उसको छोड़ देना भला है? तथा यदि प्रसङ्ग आ जाय तो आत्मबलि दे देने के लिये भी तैयार रहते हैं। उन्हें उसकी कुछ भी चिन्ता नहीं होती। किन्तु जो लोग स्वार्थ और परार्थ को दो भिन्न वस्तुएँ समझ--(उन्हें तराजू के दो पलड़ों में डाल) काँटे का झुकाव देख कर धर्म-अधर्म का निर्णय करना सीखे हुए हैं, उनकी लोककल्याण करने की इच्छा का इतना तीव्र हो जाना कदापि सम्भव नहीं है। अतएव प्राणिमात्र के हित का तत्त्व यद्यपि भगवद्गीता को सम्मत है, तथापि उसकी उपपत्ति अधिकांश लोगों के अधिक बाहरी सुखों के तारतम्य से नहीं लगाई है। किन्तु लोगों की संख्या अथवा उनके सुखों की न्यूनाधिकता के विचारों को आगन्तुक अतएव कृपण कहा है; तथा शुद्ध व्यवहार की मूलभूत साम्यबुद्धि की उपपत्ति अध्यात्मशास्त्र के नित्य ब्रह्मज्ञान के आधार पर बतलाई है।

इससे देख पड़ेगा, कि प्राणिमात्र के हितार्थ उद्योग करने या लोककल्याण अथवा परोपकार करने की युक्तिसंगत उपपत्ति अध्यात्मदृष्टि से क्योंकर लगती है? अब समाज में एक दूसरे के साथ बर्तने के सम्बन्ध में साम्यबुद्धि की दृष्टि से हमारे शास्त्रों में जो मूल नियम बतलाये गये हैं, उनका विचार करते हैं। "यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृह. २.४.१४)--जिसे सर्व आत्ममय हो गया, वह साम्यबुद्धि से ही सब के साथ बर्तता है--यह तत्त्व बृहदारण्यक के सिवा ईशावास्य (६) और कैवल्य (१.१०) उपनिषदों में तथा मनुस्मृति (१२.९१ और १२५) में भी है। एवं इसी तत्त्व का गीता के छठे अध्याय (६.२९) में "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" के रूप में अक्षरशः उल्लेख है। सर्वभूतात्मैक्य अथवा साम्यबुद्धि के इसी तत्त्व का रूपान्तर आत्मौपम्यदृष्टि है। क्योंकि इससे सहज ही यह अनुमान निकलता है, कि जब मैं प्राणिमात्र में हूँ; और मुझमें सभी प्राणी हैं, तब मैं अपने साथ जैसा बर्तता हूँ, वैसा ही अन्य प्राणियों के साथ भी मुझे बर्ताव करना चाहिये। अतएव भगवान् ने कहा है, कि इस "आत्मौपम्य-

दृष्टि अर्थात् समता से जो सब के साथ बर्तता है ", वही उत्तम कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ है; और फिर अर्जुन को इसी प्रकार के बर्ताव करने का उपदेश दिया है (गी. ६. ३०–३२)। अर्जुन अधिकारी था। इस कारण इस तत्त्व को खोल कर समझाने की गीता में कोई जरूरत न थी। किन्तु साधारण जन को नीति का और धर्म का बोध कराने के लिये रचे हुए महाभारत में अनेक स्थानों पर यह तत्त्व बतला कर (म. भा. शां. २३८. २१; २६१. ३३) व्यासदेव ने इसका गम्भीर और व्यापक अर्थ स्पष्ट कर दिखलाया है। उदाहरण लीजिये; गीता और उपनिषदों में संक्षेप से बतलाये हुए आत्मौपम्य के इसी तत्त्व को पहले इस प्रकार समझाया है :--

आत्मौपमस्तु भूतेषु यो वै भवति पूरुषः ।
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः स प्रेत्य सुखमेधते ॥

" जो पुरुष अपने ही समान दूसरे को मानता है; और जिसने क्रोध को जीत लिया है, वह परलोक में सुख पाता है " (म. भा. अनु. ११३. ६)। परस्पर एक दूसरे के साथ बर्ताव करने के वर्णन को यहीं समाप्त न करके आगे कहा है :--

न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥

" ऐसे बर्ताव औरों के साथ न करे, कि जो स्वयं अपने को प्रतिकूल अर्थात् दुःख-कारक जँचे। यही सब धर्म और नीतियों का सार है; और बाक़ी सभी व्यवहार लोभ-मूलक हैं " (म. भा. अनु. ११३. ६)। और अन्त में बृहस्पति ने युधिष्ठिर से कहा है:--

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥
यथापरः प्रक्रमते परेषु तथा परे प्रक्रमन्तेऽपरस्मिन् ।
तथैव तेषूपमा जीवलोके यथा धर्मो निपुणेनोपदिष्टः ॥

"सुख या दुःख, प्रिय या अप्रिय, दान अथवा निषेध--इन सब बातों का अनुमान दूसरों के विषय में वैसा ही करे, जैसा कि अपने विषय में जान पड़े। दूसरों के साथ मनुष्य जैसा बर्ताव करता है, दूसरे भी उसके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं। अतएव यही उपमा ले कर इस जगत् में आत्मौपम्य की दृष्टि से बर्ताव करने को सयाने लोगों ने धर्म कहा है " (अनु. ११३. ९. १०)। यह " न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः " श्लोक विदुरनीति (उद्यो. ३८. ७२) में भी है; और आगे शान्तिपर्व (१६७. ९) में विदुर ने फिर यही तत्त्व युधिष्ठिर को बतलाया है। परन्तु आत्मौपम्यनियम का यह एक भाग हुआ, कि दूसरों को दुःख न दो। क्योंकि जो तुम्हें दुःखदायी है, वही और लोगों को भी दुःखदायी होता है। अब इस पर कदा-चित् किसी को यह दीर्घशङ्का हो, कि इससे यह निश्चयात्मक अनुमान कहाँ निकलता है, कि तुम्हें जो सुखदायक जँचें, वही औरों को भी सुखदायक है?

और इसलिये ऐसे ढंग का बर्ताव करो, जो औरों को भी सुखदायक हो ? इस शंका के निरसनार्थ भीष्म ने युधिष्ठिर को धर्म के लक्षण बतलाते समय इससे भी अधिक खुलासा करके इस नियम के दोनों भागों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है :—

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥
जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥

अर्थात् "हम दूसरों से अपने साथ जैसे बर्ताव का किया जाना पसन्द नहीं करते—यानी अपनी पसन्दगी को समझकर—वैसा वर्ताव हमें भी दूसरों के साथ न करना चाहिये। जो स्वयं जीवित रहने की इच्छा करता है, वह दूसरों को कैसे मारेगा ? ऐसी इच्छा रखें, कि जो हम चाहते हैं, वही और लोग भी चाहते हैं।" (शां. २५८. १९, २१)। और दूसरे स्थान पर इसी नियम को बतलाने में इन 'अनुकूल' अथवा 'प्रतिकूल' विशेषणों का प्रयोग न करके किसी भी प्रकार के आचरण के विषय में सामान्यतः विदुर ने कहा है :—

तस्माद्धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथाऽऽत्मनि ॥

"इन्द्रियनिग्रह करके धर्म से बर्तना चाहिये; और अपने समान ही सब प्राणियों से बर्ताव करे" (शां. १६७. ९)। क्योंकि शुकानुप्रश्न में व्यास कहते हैं :—

यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि।
य एवं सततं वेद सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

"जो सदैव यह जानता है, कि हमारे शरीर में जितना आत्मा है, उतना ही दूसरे के शरीर में भी है। वही अमृतत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेने में समर्थ होता है" (म. भा. शां. २३८. २२)। बुद्ध को आत्मा का अस्तित्व मान्य न था। कम-से-कम उसने यह तो स्पष्ट ही कह दिया है, कि आत्मविचार की व्यर्थ उलझन में न पड़ना चाहिये। तथापि उसने—यह बतलाने में, कि बौद्ध भिक्षु लोग औरों के साथ कैसा वर्ताव करें ?—आत्मौपम्यदृष्टि का यह उपदेश किया है :—

यथा अहं तथा एते यथा एते तथा अहम्।
अत्तानं (आत्मानं) उपमं कत्वा (कृत्वा) न हनेय्यं न घातये ॥

"जैसा मैं, वैसे ये; जैसे ये, वैसा मैं; (इस प्रकार) अपनी उपमा समझ कर न तो (किसी को भी) मारे; और न मरवावे" (देखो सुत्तनिपात, नालकसुत्त २७)। धम्मपद नाम के दूसरे पाली बौद्धग्रन्थ (धम्मपद १२९ और १३०) में भी इसी श्लोक का दूसरा चरण दो बार ज्यों-का-त्यों आया है; और तुरन्त ही मनुस्मृति (५. ४५) एवं महाभारत (अनु. ११३. ५) इन दोनों ग्रन्थों में पाये जानेवाले श्लोकों का पाली भाषा में इस प्रकार अनुवाद किया गया है :—

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो (इच्छन्) पेच्य सो न लभते सुखम् ॥

" (अपने समान) सुख की इच्छा करनेवाले दूसरे प्राणियों की जो अपने (अत्तनो) सुख के लिये दण्ड से हिंसा करता है, उसे मरने पर (पेच्य = प्रेत्य) सुख नहीं मिलता " (धम्मपद १३१)। आत्मा के अस्तित्व को न मानने पर भी आत्मौपम्य की यह भाषा जब कि बौद्ध ग्रन्थों में पाई जाती है, तब यह प्रगट ही है, कि बौद्ध ग्रन्थकारों ने ये विचार वैदिक धर्मग्रन्थों से लिये हैं। अस्तु, इसका अधिक विचार आगे चल कर करेंगे। ऊपर के विवेचन से देख पड़ेगा, कि जिसकी " सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि " ऐसी स्थिति हो गई। वह औरों से बर्तने में आत्मौपम्यबुद्धि से ही सदैव काम लिया करता है। और हम प्राचीन काल से समझते चले आ रहे हैं, कि ऐसे बर्ताव का यही एक मुख्य नीतितत्त्व है। इसे कोई भी स्वीकार कर लेगा, कि समाज में मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार का निर्णय करने के लिये आत्मौपम्यबुद्धि का यह सूत्र " अधिकांश लोगों के अधिक हित "—वाले आधिभौतिक तत्त्व की अपेक्षा अधिक निर्दोष, निस्संदिग्ध, व्यापक, स्वल्प, और बिलकुल अपढ़ों की भी समझ में जल्दी आ जाने योग्य है *। धर्म-अधर्मशास्त्र के इस रहस्य (एष संक्षेपतो धर्मः) अथवा मूलतत्त्व की अध्यात्मदृष्टया जैसी उपपत्ति लगती है, वैसी कर्म के बाहरी परिणाम पर नजर देनेवाले आधिभौतिक-वाद से नहीं लगती। और इसी से अधर्मशास्त्र के इस प्रधान नियम को उन पश्चिमी पण्डितों के ग्रन्थों में प्रायः प्रमुख स्थान नहीं दिया जाता, कि जो आधि-भौतिक दृष्टि से कर्मयोग का विचार करते हैं। और तो क्या ? आत्मौपम्यदृष्टि के सूत्र को ताक में रख कर वे समाजबन्धन की उपपत्ति "अधिकांश लोगों के अधिक सुख" प्रभृति केवल दृश्यतत्त्व से ही लगाने का प्रयत्न किया करते हैं। परन्तु उपनिषदों-में, मनुस्मृति में, गीता में, महाभारत के अन्यान्य प्रकरणों में और केवल बौद्ध धर्म में ही नहीं; प्रत्युत अन्यान्य देशों एवं धर्मों में भी आत्मौपम्य के इस सरल नीतितत्त्व को ही सर्वत्र अग्रस्थान दिया हुआ पाया जाता है। यहूदी और क्रिश्चियन धर्मपुस्तकों में जो यह आज्ञा है, कि " तू अपने पड़ोसियों पर अपने ही समान प्रीति कर " (लेवि. १९. १५; मेथ्यू २२. ३९), वह इसी नियम का रूपान्तर है। ईसाई लोग इसे सोने का अर्थात् सोनेसरीखा मूल्यवान् नियम कहते हैं। परन्तु आत्मैक्य की उपपत्ति उनके धर्म में नहीं है। ईसा का यह उपदेश भी आत्मौ-पम्यसूत्र का एक भाग है, कि " लोगों से तुम अपने साथ जैसा बर्ताव करना पसन्द

*सूत्र शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जाती है—" अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ " गाने के सुभीते के लिये किसी भी मन्त्र में जिन अनर्थक अक्षरों का प्रयोग कर दिया जाता है, उन्हें स्तोभाक्षर कहते हैं। सूत्र में ऐसे अनर्थक अक्षर नहीं होते। इसी से इस लक्षण में यह 'अस्तोभ' पद आया है।

करते हो, उनके साथ तुम्हें स्वयं भी वैसा ही बर्ताव करना चाहिये" (मा. ७. १२; ल्यू. ६. ३१), और यूनानी तत्त्ववेत्ता अरिस्टॉटल के ग्रन्थ में मनुष्यों के परस्पर बर्ताव करने का यही तत्त्व अक्षरशः बतलाया गया है। अरिस्टॉटल ईसा से कोई दो-तीन सौ वर्ष पहले हो गया है। परन्तु इससे भी लगभग दो सौ वर्ष पहले चीनी तत्त्ववेत्ता खूँ-फू-त्से (अंग्रेजी अपभ्रंश कानफ्यूशियस) उत्पन्न हुआ था। इसने आत्मौपम्य का उल्लिखित नियम चीनी भाषा की प्रणाली के अनुसार एक ही शब्द में बतला दिया है। परन्तु यह तत्त्व हमारे यहाँ कानफ्यूशियस से भी बहुत पहले से उपनिषदों (ईश. ६. केन. १३) में और फिर महाभारत में, गीता में, एवं "पराये को भी आत्मवत् मानना चाहिये" (दास. १२. १०. २२.) इस रीति से साधुसन्तों के ग्रन्थों में विद्यमान् हैं; तथा इस लोकोक्ति का भी प्रचार है कि "आप बीती सो जग बीती"। यही नहीं; बल्कि इसकी आध्यात्मिक उपपत्ति भी हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने दे दी है। जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं, कि यद्यपि नीतिधर्म का यह सर्वमान्य सूत्र वैदिक धर्म से भिन्न इतर धर्मों में दिया गया हो, तो भी इसकी उपपत्ति नहीं बतलाई गई है। और जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं, कि इस सूत्र की उपपत्ति ब्रह्मात्मैक्यरूप अध्यात्मज्ञान को छोड़ और दूसरे किसी से भी ठीक ठीक नहीं लगती; तब गीता के आध्यात्मिक नीतिशास्त्र का अथवा कर्मयोग का महत्त्व पूरा पूरा व्यक्त हो जाता है

समाज में मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार के विषय में 'आत्मौपम्य' बुद्धि का नियम इतना सुलभ, व्यापक, सुबोध और विश्वतोमुख है, कि जब एक बार यह बतला दिया, कि प्राणिमात्र में रहनेवाले आत्मा की एकता की पहचान कर "आत्मवत् समबुद्धि से दूसरों के साथ बर्तते जाओ;" तब फिर ऐसे पृथक् पृथक् उपदेश करने की ज़रूरत ही नहीं रह जाती, कि लोगों पर दया करो; उनकी यथाशक्ति मदत करो; उनका कल्याण करो; उन्हें अभ्युदय के मार्ग में लगाओ; उन पर प्रीति रखो; उनसे ममता न छोड़ो; उनके साथ न्याय और समता का बर्ताव करो; किसी को धोखा मत दो; किसी का द्रव्यहरण अथवा हिंसा न करो; किसी से झूठ न बोलो; अधिकांश लोगों के अधिक कल्याण करने की बुद्धि मन में रखो; अथवा यह समझ कर भाई-चारे से बर्ताव करो, कि हम सब एक ही पिता की सन्तान हैं। प्रत्येक मनुष्य को स्वभाव से यह सहज ही मालूम रहता हैं, कि मेरा सुखदुःख और कल्याण किस में है? और सांसारिक व्यवहार करने में गृहस्थी की व्यवस्था से इस बात का अनुभव भी उसको होता रहता है, कि "आत्मा वै पुत्रनामासि।" अथवा "अर्धं भार्या शरीरस्य" का भाव समझ कर अपने ही समान अपने स्त्री-पुत्रों पर भी हमें प्रेम करना चाहिये। किन्तु घरवालों पर प्रेम करना आत्मौपम्यबुद्धि सीखने का पहला ही पाठ है। सदैव इसी में न लिपटे रह कर घरवालों के बाद इष्टमित्रों, फिर आप्तों, गोत्रजों, ग्रामवासियों, जातिभाइयों, धर्मबन्धुओं और अन्त में सब मनुष्यों अथवा प्राणिमात्र के विषय में आत्मौपम्यबुद्धि का उपयोग करना चाहिये। इस प्रकार

प्रत्येक मनुष्य को अपनी आत्मौपम्यबुद्धि अधिक अधिक व्यापक बना कर पहचानना चाहिये, कि जो आत्मा हममें है, वही सब प्राणियों में है। और अन्त में इसी के अनुसार बर्ताव भी करना चाहिये--यही ज्ञान की तथा आश्रमव्यवस्था की परमावधि अथवा मनुष्यमात्र के साध्य की सीमा है। आत्मौपम्यबुद्धिरूप सूत्र का अन्तिम और व्यापक अर्थ यही है। फिर आप ही सिद्ध हो जाता है, कि इस परमावधि की स्थिति को प्राप्त कर लेने की योग्यता जिन जिन यज्ञदान आदि कर्मों से बढ़ती जाती है, वे सभी कर्म चित्तशुद्धिकारक, धर्म्य और अतएव गृहस्थाश्रम में कर्तव्य है। यह पहले ही कह आये हैं, कि चित्तशुद्धि का ठीक अर्थ स्वार्थबुद्धि का छूट जाना; और ब्रह्मात्मैक्य को पहचानना है। एवं इसीलिये स्मृतिकारों ने गृहस्थाश्रम के कर्म विहित माने हैं। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो " आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः " आदि उपदेश किया है, उसका मर्म भी यही है। अध्यात्मज्ञान की नींव पर रचा हुआ कर्मयोगशास्त्र सब से कहता है, कि "आत्मा वै पुत्रनामासि " में ही आत्मा की व्यापकता को संकुचित न करके उसकी इस स्वाभाविक व्याप्ति को पहचानो, कि ' लोको वै अयमात्मा ' ; और इस समझ से बर्ताव किया करो; कि " उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् "--यह सारी पृथ्वी ही बड़े लोगों की घरगृहस्थी है; प्राणिमात्र ही उनका परिवार है। हमारा विश्वास है, कि इस विषय में हमारा कर्मयोगशास्त्र अन्यान्य देशों के पुराने अथवा नये किसी कर्मशास्त्र से हारनेवाला नहीं है। यही नहीं, उन सब को अपने पेट में रख कर परमेश्वर के समान ' दश अंगुल ' बचा रहेगा।

इस पर भी कुछ लोग कहते हैं, कि आत्मौपम्यभाव से " वसुधैव कुटुम्बकम् "-रूपी वेदान्ती और व्यापक दृष्टि हो जाने पर हम सिर्फ़ उन सद्गुणों को ही न खो बैठेंगे, कि जिन देशभिमान, कुलाभिमान और धर्माभिमान आदि सद्गुणों से कुछ वंश अथवा राष्ट्र आजकल उन्नत अवस्था में हैं। प्रत्युत यदि कोई हमें मारने या कष्ट देने आवेगा, तो " निर्वैरः सर्व भूतेषु " (गी. ११. ५५)। गीता के इस वाक्यानुसार उसको दुष्टबुद्धि से लौट कर न मारना हमारा धर्म हो जायगा (देखो धम्मपद ३३८)। अतः दुष्टों का प्रतिकार न होगा; और इस कारण उनके बुरे कर्मों में साधु पुरुषों की जान जोखिम में पड़ जावेगी। इस प्रकार दुष्टों का दबदबा हो जाने से पूरे समाज अथवा समूचे राष्ट्र का इस से नाश भी हो जावेगा। महाभारत में स्पष्ट ही कहा है, कि " न पापे प्रतिपापः स्यात्साधुरेव सदा भवेत् " (वन. २०६. ४४)--दुष्टों के साथ दुष्ट न हो जावें; साधुता से बर्तें। क्योंकि दुष्टता से अथवा वैर भँजाने से वैर कभी नष्ट नहीं होता--" न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति "। इसके विपरीत जिसका हम पराजय करते हैं, वह स्वभाव से ही दुष्ट होने के कारण पराजित होने पर और भी अधिक उपद्रव मचाता रहता है; तथा वह फिर बदला लेने का मौक़ा खोजता रहता है--"जयो वैरं प्रसृजति। " अतएव शान्ति से दुष्टों का निवारण कर देना चाहिये (म. भा. उद्यो. ७१. ५९. और

६३)। भारत का यही श्लोक बौद्ध ग्रन्थों में है (देखो धम्मपद ५ और २०१; महावग्ग १०. २ एवं ३); और ऐसे ही ईसा ने भी इसी तत्त्व का अनुकरण इस प्रकार किया है "तू अपने शत्रुओं पर प्रीति कर" (मेथ्यू. ५. ४४); और "कोई एक कनपटी में मारे, तो तू दूसरी भी आगे कर दे" (मेथ्यू. ५. ३९; ल्यू. ६. २९)। ईसामसीह से पहले के चीनी तत्त्वज्ञ ला-ओ-त्से का भी ऐसा ही कथन है; और भारत की सन्तमण्डली में तो ऐसे साधुओं के इस प्रकार आचरण करने की बहुतेरी कथाएँ भी हैं। क्षमा अथवा शान्ति की पराकाष्ठा का उत्कर्ष दिखलानेवाले इन उदाहरणों की पुनीत योग्यता को घटाने का हमारा बिलकुल इरादा नहीं है। इस में कोई सन्देह नहीं, कि सत्यसमान ही यह क्षमाधर्म भी अन्त में--अर्थात् समाज की पूर्ण अवस्था में--अपवादरहित और नित्यरूप से बना रहेगा। और बहुत क्या कहें ? समाज की वर्तमान अपूर्ण अवस्था में भी अनेक अवसरों पर देखा जाता ह, कि जो काम शान्ति से हो जाता है, वह क्रोध से नहीं होता। जब अर्जुन देखने लगा, कि दुष्ट दुर्योधन की सहायता करने के लिये कौन कौन योद्धा आये हैं? तब उनमें पितामह और गुरु जैसे पूज्य मनुष्योंपर दृष्टि पड़ते ही उसके ध्यान में यह बात आ गई, कि दुर्योधन की दुष्टता का प्रतिकार करने के लिये उन गुरुजनों को शस्त्रों से मारने का दुष्कर कर्म भी मुझे करना पड़ेगा, कि जो केवल कर्म में ही नहीं; प्रत्युत अर्थ में भी आसक्त हो गये हैं (गी. २. ५)। और इसी से वह कहने लगा, कि यद्यपि दुर्योधन दुष्ट हो गया है, तथापि "न पापे प्रतिपापः स्यात्"-वाले न्याय से मुझे भी उसके साथ दुष्ट न हो जाना चाहिये। "यदि वे मेरी जान भी ले लें, तो भी (गी. १. ४६) मेरा 'निर्वैर' अन्तःकरण से चुपचाप बैठे रहना ही उचित है।" अर्जुन की इसी शंका को दूर बहा देने के लिये गीताशास्त्र की प्रवृत्ति हुई। और यही कारण है, कि गीता में इस विषय का जैसा खुलासा किया गया है, वैसा और किसी भी धर्मग्रन्थ में नहीं पाया जाता। उदाहरणार्थ, बौद्ध और क्रिश्चियन धर्म निर्वैरत्व के तत्त्व को वैदिकधर्म के समान ही स्वीकार तो करते हैं; परन्तु उनके धर्मग्रन्थों में स्पष्टतया यह बात कहीं भी नहीं बतलाई है, कि (लोकसंग्रह की अथवा आत्मसंरक्षा की भी परवाह न करनेवाले) सर्व कर्मयोगी संन्यासी पुरुष का व्यवहार--और (बुद्धि के अनासक्त एवं निर्वैर हो जाने पर भी उसी अनासक्त और निर्वैरबुद्धि से सारे बर्ताव करनेवाले) कर्मयोगी का व्यवहार--ये दोनों सर्वांश में एक नहीं हो सकते। इसके विपरीत पश्चिमी नीतिशास्त्रवेत्ताओं के आगे यह बेढब पहेली खड़ी है, कि ईसा ने जो निर्वैरत्व का उपदेश किया है, उसका जगत् की नीति से समुचित मेल कैसे मिलावें ? * और निट्शे नामक आधुनिक जर्मन पण्डित ने अपने ग्रन्थों में यह मत डाँट के साथ लिखा है, कि निर्वैरत्व का यह धर्मतत्त्व गुलामगिरी का और घातक है; एवं इसी को श्रेष्ठ माननेवाले ईसाई धर्म ने

---

* See Paulsen's *System of Ethics*, Book III. chap. X, (Eng. Trans.) and Nietzsche's *Anti–Christ*.

यूरोपखण्ड को नामर्द कर डाला है। परन्तु हमारे धर्मग्रन्थों को देखने से ज्ञात होगा, कि न केवल गीता को; प्रत्युत मनु को भी यह बात पूर्णतया अवगत और सम्मत थी, कि संन्यास और कर्मयोग दोनों धर्ममार्गों में इस विषय में भेद करना चाहिये। क्योंकि मनु ने यह नियम [" क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येत् "--क्रोधित होनेवाले पर फिर क्रोध न करो (मनु. ६, ४८)] न गृहस्थधर्म में बतलाया है; और न राजधर्म में। बतलाया है केवल यतिधर्म में ही। परन्तु आजकल के टीकाकार इस बात पर ध्यान नहीं देते, कि इनमें कौन वचन किस मार्ग का है ? अथवा उसका कहाँ उपयोग करना चाहिये ? उन लोगों ने संन्यास और कर्ममार्ग दोनों के परस्परविरोधी सिद्धान्तों को गड्डमगड्ड कर डालने की जो प्रणाली डाल दी है, उस प्रणाली से प्रायः कर्मयोग के सच्चे सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कैसा भ्रम पड़ जाता है, इसका वर्णन हम पाँचवें प्रकरण में कर आये हैं। गीता के टीकाकारों की इस भ्रामक पद्धति को छोड़ देने से सहज ही ज्ञात हो जाता है, कि भागवतधर्मी कर्मयोगी ' निर्वैर ' शब्द का क्या अर्थ करते हैं ? क्योंकि ऐसे अवसर पर दुष्ट के साथ कर्मयोगी गृहस्थ को जैसा बर्ताव करना चाहिये, उसके विषय में परम भगवद्भक्त प्रल्हाद ने ही कहा है, कि " तस्मान्नित्यं क्षमा तात ! पण्डितैरपवादिता " (म. भा. वन. २८. ८)–हे तात ! इसी हेतु से चतुर पुरुषों ने क्षमा के लिये सदा अपवाद बतलाये हैं। जो कर्म हमें दुःखदायी हो, वही कर्म करके दूसरों को दुःख न देने का, आत्मौपम्यदृष्टि का सामान्य धर्म है तो ठीक; परन्तु महाभारत में निर्णय किया है, कि जिस समाज में आत्मौपम्यदृष्टिवाले सामान्यधर्म की जोड़ के इस दूसरे धर्म के--कि हमें भी दूसरे लोग दुःख न दें--पालनेवाले न हों, उस समाज में केवल एक पुरुष ही यदि इस धर्म को पालेगा, तो कोई लाभ न होगा। यह समता शब्द ही दो व्यक्तियों से संबद्ध अर्थात् सापेक्ष है। अतएव आततायी पुरुष को मार डालने से जैसे अहिंसा धर्म में बट्टा नहीं लगता, वैसे ही दुष्टों को उचित शासन कर देने से साधुओं की आत्मौपम्यबुद्धि या निश्शत्रुता में भी कुछ न्यूनता नहीं होती; बल्कि दुष्टों के अन्याय का प्रतिकार कर दूसरों को बचा लेने का श्रेय अवश्य मिल जाता है। जिस परमेश्वर की अपेक्षा किसी की भी बुद्धि अधिक सम नहीं है; जब वह परमेश्वर भी साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाश करने के लिये समय समय पर अवतार ले कर लोकसंग्रह किया करता है (गी. ४. ७. और ८), तब और पुरुषों की बात ही क्या है ! यह कहना भ्रमपूर्ण है, कि " वसुधैव कुटुम्बकम् "– रूपी बुद्धि हो जाने से अथवा फलाशा छोड़ देने से पात्रता-अपात्रता का अथवा योग्यता-अयोग्यता का भेद भी मिट जाना चाहिये। गीता का सिद्धान्त यह है, कि फल की आशा में ममत्वबुद्धि प्रधान होती है; और उसे छोड़े बिना पापपुण्य से छुटकारा नहीं मिलता। किन्तु यदि किसी सिद्ध पुरुष को अपना स्वार्थ साधने की आवश्यकता न हो, तथापि यदि वह किसी अयोग्य आदमी को कोई ऐसी वस्तु ले लेने दे, कि जो उसके योग्य नहीं; तो उस सिद्ध पुरुष को अयोग्य आदमियों की सहायता करने का तथा योग्य साधुओं

एवं समाज की भी हानि करने का पाप लगे बिना न रहेगा। कुबेर से टक्कर लेनेवाला करोड़पति साहूकार यदि बाज़ार में तरकारीभाजी लेने जावे, तो जिस प्रकार वह हरी धनियाँ की गड्डी की क़ीमत लाख रुपये नहीं दे देता; उसी प्रकार पूर्ण साम्यावस्था में पहुँचा हुआ पुरुष किसी भी कार्य का योग्य तारतम्य भूल नहीं जाता। उसकी बुद्धि सम तो रहती है; पर समता का यह अर्थ नहीं है, कि गाय का चारा मनुष्य को और मनुष्य का भोजन गाय को खिला दे। तथा भगवान् ने गीता (१७. २०) में भी कहा है, कि जो 'दातव्य' समझ कर सात्त्विक दान करना हो, वह भी "देशे काले च पात्रे च" अर्थात् देश, काल और पात्रता का विचार कर देना चाहिये। साधु पुरुषों की साम्यबुद्धि के वर्णन में ज्ञानेश्वर महाराज ने उन्हें पृथ्वी की उपमा दी है। इसी पृथ्वी का दूसरा नाम 'सर्वंसहा' है; किन्तु यह 'सर्वंसहा' भी यदि इसे कोई लात मारे, तो मारनेवाले के पैर के तलवे में उतने ही ज़ोर का धक्का दे कर अपनी समताबुद्धि व्यक्त कर देती है। इससे भली भाँति समझा जा सकता है, कि मन में वैर न रहने पर भी (अर्थात् निर्वैर) प्रतिकार कैसे किया जाता है? कर्मविपाकप्रक्रिया में कह आये हैं, कि इसी कारण से भगवान् भी "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" (गी. ४. ११)--जो मुझे जैसे भजते हैं, उन्हें मैं वैसे ही फल देता हूँ--इस प्रकार व्यवहार तो करते हैं; परन्तु फिर भी "वैषम्य-नैर्घृण्य" दोषों से अलिप्त रहते हैं। इसी प्रकार व्यवहार अथवा क़ानून क़ायदे में भी ख़ूनी आदमी को फाँसी की सज़ा देनेवाले न्यायाधीश को कोई उसका दुश्मन नहीं कहता। अध्यात्मशास्त्र का सिद्धान्त है, कि जब बुद्धि निष्काम हो कर साम्यावस्था में पहुँच जावे, तब वह मनुष्य अपनी इच्छा से किसी का भी नुक़सान नहीं करता। उससे यदि किसी का नुक़सान हो ही जाय, तो समझना चाहिये, कि वह उसी के कर्म का फल है। इसमें स्थितप्रज्ञ का कोई दोष नहीं; अथवा निष्कामबुद्धिवाला स्थितप्रज्ञ ऐसे समय पर जो काम करता है--फिर देखने में वह मातृवध या गुरुवध सरीखा कितना ही भयङ्कर क्यों न हो--उसके शुभ-अशुभ फल का बन्धन अथवा लेप उसको नहीं लगता (देखो गी. ४. १४; ९. २८ और १८. १७)। फ़ौजदारी क़ानून में आत्मसंरक्षा के जो नियम हैं, वे इसी तत्त्व पर रचे गये हैं। कहते हैं, कि जब लोगों ने मनु से राजा होने की प्रार्थना की, तब उन्हों ने पहले यह उत्तर दिया, कि "अनाचार से चलनेवालों का शासन करने के लिये राज्य को स्वीकार करके मैं पाप में नहीं पड़ना चाहता।" परन्तु जब लोगों ने यह वचन दिया, कि "तमब्रुवन् प्रजाः मा भीः कर्तृनेनो गमिष्यति" (म. भा. शां. ६७. २३)--डरिये नहीं, जिसका पाप उसी को लगेगा। आपको तो रक्षा करने का पुण्य ही मिलेगा। और प्रतिज्ञा की, कि "प्रजा की रक्षा करने में जो खर्च लगेगा, उसे हम लोग 'कर' दे कर पूरा करेंगे।" तब मनु ने प्रथम राजा होना स्वीकार किया। सारांश, जैसे अचेतन सृष्टि का कभी भी न बदलनेवाला यह नियम है, कि 'आघात के बराबर ही प्रत्याघात' हुआ करता है; वैसे ही सचेतन

सृष्टि में उस नियम का यह रूपान्तर है, कि "जैसे को तैसा" होना चाहिये। वे साधारण लोग--कि जिनकी बुद्धि साम्यावस्था में पहुँच नहीं गई है--इस कर्मविपाक के नियम के विषय में अपनी ममत्वबुद्धि उत्पन्न कर लेते हैं; और क्रोध से अथवा द्वेष से आघात की अपेक्षा अधिक प्रत्याघात करके आघात का बदला लिया करते हैं। अथवा अपने से दुबले मनुष्य के साधारण या काल्पनिक अपराध के लिये प्रतिकारबुद्धि के निमित्त से उसको लूट कर अपना फ़ायदा कर लेने के लिये सदा प्रवृत्त होते हैं। किन्तु साधारण मनुष्यों के समान बदला भँजाने की, वैर की, अभिमान की, क्रोध से, लोभ से या द्वेष से दुर्बलों को लूटने की अथवा टेक से अपना अभिमान, शेखी, सत्ता, और शक्ति की प्रदर्शिनी दिखलाने की बुद्धि जिसके मन में न रहे, उसकी शान्त, निर्वैर और समबुद्धि वैसे ही नहीं बिगड़ती है, जैसे कि अपने ऊपर गिरी हुई गेंद को सिर्फ़ पीछे लौटा देने से बुद्धि में कोई भी विकार नहीं उपजता। और लोकसंग्रह की दृष्टि से ऐसे प्रत्याघातस्वरूप कर्म करना उनका धर्म अर्थात् कर्तव्य हो जाता है, कि जिसमें दुष्टों का दबदबा बढ़ कर कहीं गरीबों पर अत्याचार न होने पावे (गी. ३. २५.)। गीता के सारे उपदेश का सार यही है, कि ऐसे प्रसंग पर समबुद्धि से किया हुआ घोर युद्ध भी धर्म्य और श्रेयस्कर है। वैरभाव न रख कर सब से बर्तना, दुष्टों के साथ दुष्ट न बन जाना, गुस्सा करनेवाले पर ख़फ़ा न होना आदि धर्मतत्त्व स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी को मान्य तो हैं। परन्तु संन्यासमार्ग का यह मत कर्मयोग नहीं मानता, कि 'निर्वैर' शब्द का अर्थ केवल निष्क्रिय अथवा प्रतिकार-शून्य है। किन्तु वह निर्वैर शब्द का सिर्फ़ इतना ही अर्थ मानता है, कि वैर अर्थात् मन की दुष्टबुद्धि छोड़ देनी चाहिये। और जब कि कर्म किसी के छूटते हैं ही नहीं, तब उसका कथन है, कि सिर्फ़ लोकसंग्रह के लिये अथवा प्रतिकारार्थ जितने कर्म आवश्यक और शक्य हों, उतने कर्म मन में दुष्टबुद्धि को स्थान न दे कर--केवल कर्तव्य समझ--वैराग्य और निःसङ्गबुद्धि से करते रहना चाहिये (गी. ३. १९)। अतः इस श्लोक (गी. ११. ५५) में सिर्फ़ 'निर्वैर' पद का प्रयोग न करते हुए--

> मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
> निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

उसके पूर्व ही इस दूसरे महत्त्व के विशेषण का भी प्रयोग करके--कि, 'मत्कर्म-कृत्' अर्थात् 'मेरे यानी परमेश्वर के प्रीत्यर्थ परमेश्वरार्पणबुद्धि से सारे कर्म करने-वाला'--भगवान् ने गीता में निर्वैरत्व और कर्म का भक्ति की दृष्टि से मेल मिला दिया है। इसी से शाङ्करभाष्य तथा अन्य टीकाओं में भी कहा है, कि इस श्लोक में पूरे गीताशास्त्र का निचोड़ आ गया है। गीता में यह कहीं भी नहीं बत-लाया, कि बुद्धि को निर्वैर करने के लिये या उसके निर्वैर हो चुकने पर भी सभी प्रकार के कर्म छोड़ देना चाहिये। इस प्रकार प्रतिकार का कर्म निर्वैरत्व और परमेश्वरार्पण-बुद्धि से करने पर कर्त्ता को उसका कोई भी पाप या दोष तो लगता ही नहीं;

उलटा, प्रतिकार का काम हो चुकने पर जिन दुष्टों का प्रतिकार किया गया है, उन्हीं का आत्मौपम्यदृष्टि से कल्याण मानने की बुद्धि भी नष्ट नहीं होती। एक उदाहरण लीजिये; दुष्ट कर्म करने के कारण रावण को निर्वैर और निष्पाप रामचन्द्र ने मार तो डाला; पर उसकी उत्तरक्रिया करने में जब विभीषण हिचकने लगा, तब रामचंद्रने उसको समझाया कि :--

> मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
> क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥

"(रावण के मन का) वैर मौत के साथ ही गया। हमारा (दुष्टों का नाश करने का) काम हो चुका। अब यह जैसा तेरा (भाई) है, वैसा ही मेरा भी है। इसलिये इसका अग्निसंस्कार कर" (वाल्मीकिरा. ६. १०९. २५) रामायण का यह तत्त्व भागवत (८. १९. १३) में भी एक स्थान पर बतलाया गया ही है; और अन्यान्य पुराणों में जो ये कथाएँ हैं--कि भगवान् ने जिन दुष्टों का संहार किया, उन्हीं को फिर दयालु हो कर सद्गति दे डाली--उनका रहस्य भी यही है। इन्हीं सब विचारों को मन में ला कर श्रीसमर्थ ने कहा है, कि "उद्धत के लिये उद्धत होना चाहिये;" और महाभारत में भीष्म ने परशुराम से कहा है :--

> यो यथा वर्तते यस्मिन् तस्मिन्नेवं प्रवर्तयन्।
> नाधर्मं समवाप्नोति न चाश्रेयश्च विन्दति ॥

"अपने साथ जो जैसा बर्ताव करता है, उसके साथ वैसे ही वर्तने से न तो अधर्म (अनीति) होता है; और न अकल्याण" (म. भा. उद्यो. १७९. ३०)। फिर आगे चल कर शान्तिपर्व के सत्यानृत-अध्याय में वही उपदेश युधिष्ठिर को किया है :--

> यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
> मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥

"अपने साथ जो जैसा वर्तता है, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना धर्मनीति है। मायावी पुरुष के साथ मायावीपन और साधु पुरुष के साथ साधुता का व्यवहार करना चाहिये" (म. भा. शां. १०९. २९ और उद्यो. ३६. ७)। ऐसे ही ऋग्वेद में इन्द्र को उसके मायावीपन का दोष न दे कर उसकी स्तुति ही की गई है, कि--"त्वं मायाभिरनवद्य मायिनं ...... वृत्रं अर्दयः।" (ऋ. १०. १४७. २; १. ८०. ७) --हे निष्पाप इन्द्र! मायावी वृत्र को तूने माया से ही मारा है। और भारवि ने अपने किरातार्जुनीय काव्य में भी ऋग्वेद के तत्त्व का ही अनुवाद इस प्रकार किया है :--

> व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ॥

"मायावियों के साथ जो मायावी नहीं बनते, वे नष्ट हो जाते हैं" (किरा. १.३०)। परन्तु यहाँ एक बात पर और ध्यान देना चाहिये, कि दुष्ट पुरुष का प्रतिकार यदि साधुता

से हो सकता हो, तो पहले साधुता से ही करे । क्योंकि दूसरा यदि दुष्ट हो, तो उसी के साथ हमें भी दुष्ट न हो जाना चाहिये । यदि कोई एक नकटा हो जाय, तो सारा गाँव का गाँव अपनी नाक नहीं कटा लेता ! और क्या कहें ? यह धर्म है भी नहीं । इस " न पापे प्रतिपापः स्यात् " सूत्र का ठीक भावार्थ यही है; और इसी कारण से विदुरनीति में धृतराष्ट्र को पहले यही नीतितत्त्व बतलाया गया है, " न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः "--जैसा व्यवहार स्वयं अपने लिये प्रतिकूल मालूम हो, वैसा बर्ताव दूसरों के साथ न करे । इसके पश्चात् ही विदुर ने कहा है :--

अक्रोधेन जयेत्क्रोधं असाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ॥

" (दूसरे के) क्रोध को (अपनी) शान्ति से जीते । दुष्ट को साधुता से जीते । कृपण को दान से जीते । और अनृत को सत्य से जीते " (म. भा. उद्यो. ३८. ७३, ७४)। पाली भाषा में बौद्धों का जो धम्मपद नामक नीतिग्रन्थ है, उसमें (२२३) इसी श्लोक का हूबहू अनुवाद है :--

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने ।
जिने कदरियं दानेन सच्चेनालीकवादिनम् ॥

शान्तिपर्व में युधिष्ठिर को उपदेश करते हुए भीष्म ने भी इसी नीतितत्त्व के गौरव का वर्णन इस प्रकार किया है :--

कर्म चैतदसाधूनां असाधुं साधुना जयेत् ।
धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा ॥

" दुष्ट की असाधुता, अर्थात् दुष्ट कर्म का साधुता से निवारण करना चाहिये । क्योंकि पापकर्म से जीत लेने की अपेक्षा धर्म से अर्थात् नीति से मर जाना भी श्रेयस्कर है " (शां. ९५. १६) । किन्तु ऐसी साधुता से यदि दुष्ट के दुष्कर्मों का निवारण न होता हो, अथवा साम-उपचार और मेल-जोल की बात दुष्टों को नापसन्द हो, तो जो काँटा पुल्टिस से बाहर न निकलता हो, उसको "कण्टकेनैव कण्टकम्" के न्याय से साधारण काँटे से अथवा लोहे के काँटे--सुई--से ही बाहर निकाल डालना आवश्यक है (दास. १९. ९. १२-३१) । क्योंकि, प्रत्येक समय लोकसंग्रह के लिये दुष्टों का निग्रह करना, भगवान् के समान धर्म की दृष्टि से साधु पुरुषों का भी पहला कर्तव्य है । " साधुता से दुष्टता को जीते " इस वाक्य में ही पहले यही बात मानी गई है, कि दुष्टता को जीत लेना अथवा उसका निवारण करना साधु पुरुष का पहला कर्तव्य है । फिर उसकी सिद्धि के लिये बतलाया है, कि पहले किस उपाय की योजना करें ? यदि साधुता से उसका निवारण न हो सकता हो--सीधी अँगुली से घी न निकले--तो " जैसे को तैसे " बन कर दुष्टता का निवारण करने से हमें हमारे धर्मग्रन्थकार कभी भी नहीं रोकते । वे यह कहीं भी प्रतिपादन नहीं करते, कि दुष्टता के आगे साधु पुरुष अपना बलिदान खुशी से किया करें । सदा

ध्यान रहे, कि जो पुरुष अपने बुरे कामों से पराई गर्दनें काटने पर उतारू हो गया, उसे यह कहने का कोई भी नैतिक हक़ नहीं रह जाता, कि और लोग मेरे साथ साधुता का बर्ताव करें। धर्मशास्त्र में स्पष्ट आज्ञा है (मनु. ८. १९ और ३५१), कि इस प्रकार जब साधु पुरुषों को कोई असाधु काम लाचारी से करना पड़े, तो उसकी जिम्मेदारी शुद्धबुद्धिवाले साधु पुरुषों पर नहीं रहती। किन्तु इसका जिम्मेदार वही दुष्ट पुरुष हो जाता है, कि जिसके दुष्ट कर्मों का यह नतीजा है। स्वयं बुद्ध ने देवदत्त का जो शासन किया, उसकी उपपत्ति बौद्ध ग्रन्थकारों ने भी इसी तत्त्व पर लगाई है (देखो मिलिन्द प्र. ४. १. ३०–३४)। जड़सृष्टि के व्यवहार में ये आघात-प्रत्याघातरूपी कर्म नित्य और बिलकुल ठीक होते हैं। परन्तु मनुष्य के व्यवहार उसके इच्छाधीन हैं। और ऊपर जिस त्रैलोक्य-चिन्तामणि की मात्रा का उल्लेख किया है, उसके दुष्टों पर प्रयोग करने का निश्चित विचार जिस धर्मज्ञान से होता है, वह धर्मज्ञान भी अत्यन्त सूक्ष्म है। इस कारण विशेष अवसर पर बड़े बड़े लोग भी सचमुच इस दुविधा में पड़ जाते हैं, कि जो हम किया चाहते हैं, वह योग्य है या अयोग्य? अथवा धर्म्य है या अधर्म्य––किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः (गी. ४. १६)। ऐसे अवसर पर कोरे विद्वानों की अथवा सदैव थोड़ेबहुत स्वार्थ के पञ्जे में फँसे हुए पुरुषों की पण्डिताई पर या केवल अपने सारअसार-विचार के भरोसे पर कोई काम न कर बैठे; बल्कि पूर्ण अवस्था में पहुँचे हुए परमावधि के साधु पुरुष की शुद्धबुद्धि के ही शरण में जा कर उसी गुरु के निर्णय को प्रमाण मानें। क्योंकि निरा तार्किक पाण्डित्य जितना अधिक होगा, दलीलें भी उतनी ही अधिक निकलेंगी। इसी कारण बिना शुद्धबुद्धि के कोरे पाण्डित्य से ऐसे बिकट प्रश्नों का कभी सच्चा और समाधानकारक निर्णय नहीं होने पाता। अतएव उसको शुद्ध और निष्कामबुद्धिवाला गुरु ही करना चाहिये। जो शास्त्रकार अत्यन्त सर्वमान्य हो चुके हैं, उनकी बुद्धि इस प्रकार की शुद्ध रहती है। और यही कारण है, जो भगवान् ने अर्जुन से कहा है–"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ" (गी. १६. २४)––कार्य-अकार्य का निर्णय करने में तुझे शास्त्र को प्रमाण मानना चाहिये। तथापि यह न भूल जाना चाहिये, कि कालमान के अनुसार श्वेत-केतु जैसे आगे के साधु पुरुषों को इन शास्त्रों में भी फ़र्क़ करने का अधिकार प्राप्त होता रहता है।

निर्वैर और शान्त साधु पुरुषों के आचरण के सम्बन्ध में लोगों की आजकल जो ग़ैरसमझ देखी जाती है, उसका कारण यह है, कि कर्मयोगमार्ग प्रायः लुप्त हो गया है; और सारे संसार ही को त्याज्य माननेवाले संन्यासमार्ग का आजकल चारों ओर दौरदौरा हो गया है। गीता का यह उपदेश अथवा उद्देश भी नहीं है, कि निर्वैर होने से निष्प्रतिकार भी होना चाहिये। जिसे लोकसंग्रह की परवाह ही नहीं है, उसे जगत् में दुष्टों की प्रबलता फैले तो––और न फैले तो––करना ही क्या है? उसकी जान रहे, चाहे चली जाय; सब एक ही सा है। किन्तु पूर्णावस्था

में पहुँचे हुए कर्मयोगी प्राणिमात्र में आत्मा की एकता को पहचान कर यद्यपि सभी के साथ निर्वैरता का व्यवहार किया करें, तथापि अनासक्तबुद्धि से पात्रता-अपात्रता का सार-असार-विचार करके स्वधर्मानुसार प्राप्त हुए कर्म करने में वे कभी नहीं चूकते। और कर्मयोग कहता है, कि इस रीति से किये हुए कर्म कर्ता की साम्य-बुद्धि में कुछ भी न्यूनता नहीं आने देते। गीताधर्मप्रतिपादित कर्मयोग के इस तत्त्व को मान लेने पर कुलाभिमान और देशाभिमान आदि कर्तव्यधर्मों की भी कर्मयोग-शास्त्र के अनुसार योग्य उपपत्ति लगाई जा सकती है। यद्यपि यह अन्तिम सिद्धान्त है, कि समग्र मानवजाति का--प्राणिमात्र का--जिससे हित होता हो, वही धर्म है। तथापि परमावधि की इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये कुलाभिमान, धर्माभिमान और देशाभिमान आदि चढ़ती हुई सीढ़ियों की आवश्यकता तो कभी भी नष्ट होने की नहीं। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिये जिस प्रकार सगुणोपासना आवश्यक है, उसी प्रकार 'वसुधैव कुटुम्बकम्'-की ऐसी बुद्धि पाने के लिये कुलाभिमान, जात्यभिमान और देशाभिमान आदि की आवश्यकता है। एवं समाज की प्रत्येक पीढ़ी इसी ज़ीने से ऊपर चढ़ती है। इस कारण इसी ज़ीने को सदैव ही स्थिर रखना पड़ता है। ऐसे ही जब अपने आसपास के लोग अथवा अन्य राष्ट्र नीचे की सीढ़ी पर हों, तब यदि कोई एक-आध मनुष्य अथवा कोई राष्ट्र चाहे, कि मैं अकेला ही ऊपर की सीढ़ी पर बना रहूँ; तो यह कदापि हो नहीं सकता। क्योंकि ऊपर कहा ही जा चुका है, कि परस्पर व्यवहार में "जैसे को तैसा" न्याय से ऊपर ऊपर की श्रेणीवालों को नीचे नीचे की श्रेणीवाले लोगों के अन्याय का प्रतिकार करना विशेष प्रसङ्ग पर आवश्यक रहता है। इसमें कोई शङ्का नहीं, कि सुधरते सुधरते जगत् के सभी मनुष्यों की स्थिति एक दिन ऐसी ज़रूर हो जावेगी, कि वे प्राणिमात्र में आत्मा की एकता को पहचानने लगें। अन्ततः मनुष्यमात्र को ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेने की आशा रखना कुछ अनुचित भी नहीं है। परन्तु आत्मोन्नति की परमावधि की यह स्थिति जब तक सब को प्राप्त हो नहीं गई है, तब तक अन्यान्य राष्ट्रों अथवा समाजों की स्थिति पर ध्यान दे कर साधु पुरुष देशाभिमान आदि धर्मों का ही ऐसा उपदेश देते रहें, कि जो अपने अपने समाजों को उन उन समयों में श्रेयस्कर हो। इसके अतिरिक्त इस दूसरी बात पर भी ध्यान देना चाहिये, कि मन्ज़िल दर मन्ज़िल तैयारी करके इमारत बन जाने पर जिस प्रकार नीचे के हिस्से निकाल डाले नहीं जा सकते। अथवा जिस प्रकार तलवार हाथ में आ जाने से कुदाली की या सूर्य होने से अग्नि की आवश्यकता बनी ही रहती है, उसी प्रकार सर्वभूतहित की अन्तिम सीमा पर पहुँच जाने पर भी न केवल देशाभिमान की; वरन् कुलाभिमान की भी आवश्यकता बनी ही रहती है। क्योंकि समाजसुधार की दृष्टि से देखें, तो कुलाभिमान जो विशेष काम करता है, वह निरे देशाभिमान से नहीं होता; और देशाभिमान का कार्य निरी सर्वभूतात्मैक्यदृष्टि से सिद्ध नहीं होता। अर्थात् समाज की पूर्ण अवस्था में भी साम्यबुद्धि के ही समान देशाभिमान और कुलाभिमान आदि

धर्मों की भी सदैव ज़रूरत रहती ही है। किन्तु केवल अपने ही देश के अभिमान को परमसाध्य मान लेने से जैसे एक राष्ट्र अपने लाभ के लिये दूसरे राष्ट्र का मनमाना नुक़सान करने के लिये तैयार रहता है, वैसी बात सर्वभूतहित को परमसाध्य मानने से नहीं होती। कुलाभिमान, देशाभिमान और अन्त में पूरी मनुष्यजाति के हित में यदि विरोध आने लगे, तो साम्यबुद्धि से परिपूर्ण नीतिधर्म का यह महत्त्वपूर्ण और विशेष कथन है, कि उच्चश्रेणी के धर्मों की सिद्धि के लिये निम्नश्रेणी के धर्मों को छोड़ दे। विदुर ने धृतराष्ट्र को उपदेश करते हुए कहा है, कि युद्ध में कुल का क्षय हो जावेगा। अतः दुर्योधन की टेक रखने के लिये पाण्डवों को राज्य का भाग न देने की अपेक्षा यदि दुर्योधन न सुने, तो उसे--(लड़का भले ही हो)--अकेले को छोड़ देना ही उचित है; और इसके समर्थन में यह श्लोक कहा है :--

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

"कुल के (बचाव के) लिये एक व्यक्ति को, गाँव के लिये कुल को; और पूरे लोकसमूह के लिये गाँव को, एवं आत्मा के लिये पृथ्वी को छोड़ दे" (म. भा. आदि. ११५. ३६; सभा. ६१. ११)। इस श्लोक के पहले और तीसरे चरण का तात्पर्य वही है, कि जिसका उल्लेख किया गया है; और चौथे चरण में आत्मरक्षा का तत्त्व बतलाया गया है। 'आत्म' शब्द सामान्य सर्वनाम है। इससे यह आत्मरक्षा का तत्त्व जैसे एक व्यक्ति को उपयुक्त होता है, वैसे ही एकत्रित लोकसमूह को, जाति को, देश को अथवा राष्ट्र को भी उपयुक्त होता है। और कुल के लिये एक पुरुष को, ग्राम के लिये कुल को, एवं देश के लिये ग्राम को छोड़ देने की क्रमशः चढ़ती हुई इस प्राचीन प्रणाली पर जब हम ध्यान देते हैं, तब स्पष्ट देख पड़ता है, कि 'आत्म' शब्द का अर्थ इन सब की अपेक्षा इस स्थल पर अधिक महत्त्व का है। फिर भी कुछ मतलबी या शास्त्र न जाननेवाले लोग इस चरण का कभी कभी विपरीत अर्थात् निरा स्वार्थप्रधान अर्थ किया करते हैं। अतएव यहाँ कह देना चाहिये, कि आत्मरक्षा का यह तत्त्व आपमतलबीपन का नहीं है। क्योंकि, जिन शास्त्रकारों ने निरे स्वार्थसाधु चार्वाकपन्थ को राक्षसी बतलाया है (देखो गी. अ. १६), सम्भव नहीं है, कि वे ही स्वार्थ के लिये किसी से भी जगत् को डुबाने के लिये कहें। ऊपर के श्लोक में 'अर्थ' शब्द का अर्थ सिर्फ़ स्वार्थप्रधान नहीं है। किन्तु "सङ्कट आने पर उसके निवारणार्थ" ऐसा करना चाहिये। और कोशकारों ने भी यही अर्थ किया है। आपमतलबीपन और आत्मरक्षा में बड़ा भारी अन्तर है। कामोपभोग की इच्छा अथवा लोभ से अपना स्वार्थ साधने के लिये दुनिया का नुक़सान करना आपमतलबीपन है। यह अमानुषी और निन्द्य है। उक्त श्लोक के प्रथम तीन चरणों में कहा है, कि एक के हित की अपेक्षा अनेकों के हित पर सदैव ध्यान देना चाहिये। तथापि प्राणिमात्र में एक ही आत्मा रहने के कारण प्रत्येक मनुष्य को इस जगत् में सुख से रहने का एक ही सा नैसर्गिक अधिकार है। और इस

सर्वमान्य महत्त्व के नैसर्गिक स्वत्व की ओर दुर्लक्ष्य कर जगत् के किसी भी एक व्यक्ति की या समाज की हानि करने का अधिकार दूसरे किसी व्यक्ति या समाज को नीति की दृष्टि से कदापि प्राप्त नहीं हो सकता--फिर चाहे वह समाज बल और संख्या में कितना ही चढ़ा-बढ़ा क्यों न हो ? अथवा उसके पास छीना-झपटी करने के साधन दूसरों से अधिक क्यों न हों ? यदि कोई इस युक्ति का अवलम्बन करे, कि एक की अपेक्षा अथवा थोड़ों की अपेक्षा बहुतों का हित अधिक योग्यता का है। और इस युक्ति से संख्या में अधिक बढ़े हुए समाज के स्वार्थी बर्ताव का समर्थन करें, तो यह युक्तिवाद केवल राक्षसी समझा जावेगा। इस प्रकार दूसरे लोग यदि अन्याय से बर्तने लगें, तो बहुतेरों के तो क्या ! सारी पृथ्वी के हित की अपेक्षा भी आत्म-रक्षा अर्थात् अपने बचाव का नैतिक हक़ और भी अधिक सबल हो जाता है । यही उक्त चौथे चरण का भावार्थ है। और पहले तीन चरणों में जिस अर्थ का वर्णन है, उसी के लिये महत्त्वपूर्ण अपवाद के नाते से उसे उनके साथ ही बतला दिया है। इसके सिवा यह भी देखना चाहिये , कि यदि हम स्वयं जीवित रहेंगे, तो लोक-कल्याण भी कर सकेंगे । अतएव लोकहित की दृष्टि से विचार करें, तो भी विश्वामित्र के समान यही कहना पड़ता है, कि " जीवन् धर्ममवाप्नुयात् "--जियेंगे तो धर्म भी करेंगे । अथवा कालिदास के अनुसार यही कहना पड़ता है, कि " शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् " (कुमा. ५. ३३)--शरीर ही सब धर्मों का मूलसाधन है; या मनु के कथनानुसार कहना पड़ता है, कि " आत्मानम् सततं रक्षेत् " स्वयं अपनी रक्षा सदा-सर्वदा करनी चाहिये । यद्यपि आत्मरक्षा का हक़ सारे जगत् के हित की अपेक्षा इस प्रकार श्रेष्ठ है, तथापि दूसरे प्रकरण में कह आये हैं, कि कुछ अवसरों पर कुल के लिये, देश के लिये, धर्म के लिये अथवा परोपकार के लिये स्वयं अपनी ही इच्छा से साधु लोग अपनी जान पर खेल जाते हैं । उक्त श्लोक के पहले तीन चरणों में यही तत्त्व वर्णित है । ऐसे प्रसङ्ग पर मनुष्य आत्मरक्षा के अपने श्रेष्ठ स्वत्व पर भी स्वेच्छा से पानी फेर दिया करता है। अतः ऐसे काम की नैतिक योग्यता भी सब से श्रेष्ठ समझी जाती है । तथापि अचूक यह निश्चय कर देने के लिये--कि ऐसे अवसर कब उत्पन्न होते हैं--निरा पाण्डित्य या तर्कशक्ति पूर्ण समर्थ नहीं है । इसलिये धृतराष्ट्र के उल्लिखित कथानक से यह बात प्रगट होती है, कि विचार करनेवाले मनुष्य का अन्तःकरण पहले से ही शुद्ध और सम रहना चाहिये । महाभारत में ही कहा है, कि धृतराष्ट्र की बुद्धि इतनी मन्द न थी , कि वे विदुर के उपदेश को समझ न सकें । परन्तु पुत्रप्रेम उनकी बुद्धि को सम होने कहाँ देता था ? कुबेर को जिस प्रकार लाख रुपये की कभी भी कमी नहीं पड़ती, उसी प्रकार जिसकी बुद्धि एक बार सम हो चुकी, उसे कुलात्मैक्य, देशात्मैक्य या धर्मात्मैक्य आदि निम्नश्रेणी की एकताओं का कभी टोटा पड़ता ही नहीं है । ब्रह्मात्मैक्य में इन सब का अन्तर्भाव हो जाता है। फिर देशधर्म आदि संकुचित धर्मों का अथवा सर्वभूतहित के व्यापक धर्म का--अर्थात् इनमें से जिस-तिसकी स्थिति के

अनुसार, अथवा आत्मरक्षा के निमित्त जिस समय में जिसे जो धर्म श्रेयस्कर हो, उसको उसी धर्म का--उपदेश करके जगत् के धारण-पोषण का काम साधु लोग करते रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि मानवजाति की वर्तमान स्थिति में देशाभिमान ही मुख्य सद्गुण हो रहा है; और सुधरे हुए राष्ट्र भी इन विचारों और तैयारियों में अपने ज्ञान का, कुशलता का और द्रव्य का उपयोग किया करते हैं, कि पास-पड़ोस के शत्रुदेशीय बहुत-से लोगों को प्रसंग पड़ने पर थोड़े ही समय में हम क्यों कर जानसे मार सकेंगे। किन्तु स्पेन्सर और कोन्ट प्रभृति पंडितों ने अपने ग्रन्थों में स्पष्ट रीति से कह दिया है, कि केवल इसी एक कारण से देशाभिमान को ही नीतिदृष्ट्या मानवजाति का परमसाध्य मान नहीं सकते। और जो आक्षेप इन लोगों के प्रतिपादित तत्त्व पर हो नहीं सकता, वही आक्षेप हम नहीं समझते, कि अध्यात्मदृष्ट्या प्राप्त होनेवाले सर्वभूतात्मैक्यरूप तत्त्व पर ही कैसे हो सकता है। छोटे बच्चे के कपड़े उसके शरीर के ही अनुसार--बहुत हुआ तो ज़रा कुशादह अर्थात् बाढ़ के लिये गुञ्जायश रख कर--जैसे ब्योंताना पड़ते हैं, वैसे ही सर्वभूतात्मैक्यबुद्धि की भी बात है। समाज हो या व्यक्ति; सर्वभूतात्मैक्यबुद्धि से उसके आगे जो साध्य रखना है, वह उसके अधिकार के अनुरूप अथवा उसकी अपेक्षा ज़रा-सा और आगे का होगा; तभी वह उसको श्रेयस्कर हो सकता है। उसके सामर्थ्य की अपेक्षा बहुत अच्छी बात उसको एकदम करने के लिये बतलाई जाय, तो इससे उसका कल्याण कभी नहीं हो सकता। परब्रह्म की कोई सीमा न होने पर भी उपनिषदों में उसकी उपासना की क्रम-क्रम से बढ़ती हुई सीढ़ियाँ बतलाने का यही कारण है; और जिस समाज में सभी स्थितप्रज्ञ हों, वहाँ क्षात्रधर्म की ज़रूरत न हो, तो भी जगत् के अन्यान्य समाजों की तत्कालीन स्थिति पर ध्यान दे करके "आत्मानं सततं रक्षेत्" के ढर्रे पर हमारे धर्मशास्त्र की चातुर्वर्ण्यव्यवस्था में क्षात्रधर्म का संग्रह किया गया है। यूनान के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने अपने ग्रन्थ में जिस समाजव्यवस्था को अत्यंत उत्तम बतलाया है, उसमें भी निरन्तर के अभ्यास से युद्धकला में प्रवीण वर्ग को समाजरक्षक के नाते प्रमुखता दी है। इससे स्पष्ट ही देख पड़ेगा, कि तत्त्वज्ञानी लोग परमावधि के शुद्ध और उच्च स्थिति के विचारों में ही डूबे क्यों न रहा करें; परन्तु वे तत्कालीन अपूर्ण समाजव्यवस्था का विचार करने से भी कभी नहीं चूकते।

ऊपर की सब बातों का इस प्रकार विचार करने से ज्ञानी पुरुष के सम्बन्ध में यह सिद्ध होता है, कि वह ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से अपनी बुद्धि को निर्विषय, शान्त और प्राणिमात्र में निर्वैर तथा सम रखे। इस स्थिति को पा जाने से सामान्य अज्ञानी लोगों के विषय में उकतावे नहीं। स्वयं सारे संसारी कामों का त्याग कर, यानी कर्म-संन्यास-आश्रम को स्वीकार करके इन लोगों की बुद्धि को न बिगाड़े। देश-काल और परिस्थितिके अनुसार जिन्हें जो योग्य हो, उसी का उन्हें उपदेश देवें; अपने निष्काम कर्तव्य-आचरण से सद्व्यवहार का अधिकारानुसार प्रत्यक्ष आदर्श दिखला

कर, सब को धीरे धीरे यथासम्भव शान्ति से किन्तु उत्साहपूर्वक उन्नति के मार्ग में लगावें। बस; यही ज्ञानी पुरुष का सच्चा धर्म है। समय-समय पर अवतार ले कर भगवान् भी यही काम किया करते हैं; और ज्ञानी पुरुष को भी यही आदर्श मान, फल पर ध्यान देते हुए इस जगत् का अपना कर्तव्य शुद्ध अर्थात् निष्कामबुद्धि से सदैव यथाशक्ति करते रहना चाहिये। गीताशास्त्र का सारांश यही है, कि इस प्रकार के कर्तव्यपालन में यदि मृत्यु भी आ जावे, तो बड़े आनन्द से उसे स्वीकार कर लेना चाहिये (गी. ३. ३५)--अपने कर्तव्य अर्थात् धर्म को न छोड़ना चाहिये। इसे ही लोकसंग्रह अथवा कर्मयोग कहते हैं। न केवल वेदान्त ही, वरन् उसके आधार पर साथ-ही-साथ कर्म-अकर्म का ऊपर लिखा हुआ ज्ञान भी जब गीता में बतलाया गया, तभी तो पहले युद्ध छोड़ कर भीख माँगने की तैयारी करनेवाला अर्जुन आगे चल कर स्वधर्म-अनुसार युद्ध करने के लिये—सिर्फ़ इसीलिये नहीं, कि भगवान् कहते हैं; वरन् अपनी राज़ी से—प्रवृत्त हो गया। स्थितप्रज्ञ की साम्यबुद्धि का यही तत्त्व, कि जिसका अर्जुन को उपदेश हुआ है; कर्मयोगशास्त्र का मूल आधार है। अतः इसी को प्रमाण मान, इसके आधार से हमने बतलाया है, कि पराकाष्ठा की नीतिमत्ता की उपपत्ति क्योंकर लगती है। हमने इस प्रकरण में कर्मयोगशास्त्र की इन मोटी-मोटी बातों का संक्षिप्त निरूपण किया है, कि आत्मौपम्यदृष्टि से समाज में परस्पर एक दूसरे के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये। 'जैसे को तैसा'-वाले न्याय से अथवा पात्रता-अपात्रता के कारण सब से बढ़े-चढ़े हुए नीतिधर्म में कौन-से भेद होते हैं; अथवा अपूर्ण अवस्था के समाज में बर्तनेवाले साधु पुरुष को भी अपवादात्मक नीतिधर्म कैसे स्वीकार करने पड़ते हैं। इन्हीं युक्तियों का न्याय, परोपकार, दान, दया, अहिंसा, सत्य और अस्तेय आदि नित्य धर्मों के विषय में उपयोग किया जा सकता है। आजकल की अपूर्ण समाजव्यवस्था में यह दिखलाने के लिये—कि प्रसंग के अनुसार इन नीति-धर्मों में कहाँ और कौन-सा फ़र्क़ करना ठीक होगा--यदि इन धर्मों में से प्रत्येक पर एक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जाय, तो भी यह विषय समाप्त न होगा; और यह भगवद्गीता का मुख्य उपदेश भी नहीं है। इस ग्रन्थ के दूसरे ही प्रकरण में इसका दिग्दर्शन करा आये हैं, कि अहिंसा और सत्य, सत्य और आत्मरक्षा, आत्मरक्षा और शान्ति आदि में परस्पर-विरोध हो कर विशेष प्रसंग पर कर्तव्य-अकर्तव्य का सन्देह उत्पन्न हो जाता है। यह निर्विवाद है, कि ऐसे अवसर पर साधु पुरुष "नीति-धर्म, लोकयात्रा-व्यवहार, स्वार्थ और सर्वभूतहित" आदि बातों का तारतम्य-विचार करके फिर कार्य-अकार्य का निर्णय किया करते हैं; और महाभारत में श्येन ने शिबि राजा को यह बात स्पष्ट ही बतला दी है। सिज्विक नामक अंग्रेज़ ग्रन्थ-कार ने अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रन्थ में इसी अर्थ का विस्तारसहित वर्णन अनेक उदाहरण ले कर किया है। किन्तु कुछ पश्चिमी पण्डित इतने ही से यह अनुमान करते हैं, कि स्वार्थ और परार्थ के सार-असार का विचार करना ही नीति-

निर्णय का तत्त्व है। परन्तु इस तत्त्व को हमारे शास्त्रकारों ने कभी मान्य नहीं किया है। क्योंकि हमारे शास्त्रकारों का कथन है, कि यह सार-असार का विचार अनेक बार इतना सूक्ष्म और अनैकान्तिक, अर्थात् अनेक अनुमान निष्पन्न कर देनेवाला होता है, कि यदि यह साम्यबुद्धि "जैसा मैं, वैसा दूसरा;" पहले से ही मन में सोलहों आने जमी हुई न हो, तो कोरे तार्किक सार-असार के विचार से कर्तव्य-अकर्तव्य का सदैव अचूक निर्णय होना सम्भव नहीं है। और फिर ऐसी घटना हो जाने की भी सम्भावना रहती है; जैसे कि 'मोर नाचता है, इसलिये मोरनी भी नाचने लगती है।' अर्थात् "देखादेखी साधै जोग, छीजै काया, बाढ़ै रोग" इस लोकोक्ति के अनुसार ढोंग फैल सकेगा; और समाज की हानि होगी। मिल प्रभृति उपयुक्ततावादी पश्चिमी नीतिशास्त्रज्ञों के उपपादन में यही तो मुख्य अपूर्णता है। गरुड झपट कर अपने पञ्जे से मेमने को आकाश में उठा ले जाता है; इसलिये देखादेखी यदि कौवा भी ऐसा ही करने लगे, तो धोखा खाये बिना न रहेगा। इसी लिये गीता कहती है, कि साधु पुरुषों की निरी ऊपरी युक्तियों पर ही अवलम्बित मत रहो। अन्तःकरण में सदैव जागृत रहनेवाली साम्यबुद्धि की ही अन्त में शरण लेनी चाहिये। क्योंकि कर्मयोगशास्त्र की सच्ची जड़ साम्यबुद्धि ही है। अर्वाचीन आधिभौतिक पण्डितों में वे कोई स्वार्थ को तो कोई परार्थ अर्थात् 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' को नीति का मूलतत्त्व बतलाते हैं। परन्तु हम चौथे प्रकरण में यह दिखला आये हैं, कि कर्म के केवल बाहरी परिणामों को उपयोगी होनेवाले इन तत्त्वों से सर्वत्र निर्वाह नहीं होता। इसका विचार भी अवश्य ही करना पड़ता है, कि कर्ता की बुद्धि कहाँ तक शुद्ध है। कर्म के बाह्य परिणामों के सार-असार का विचार करना चतुराई का और दूरदर्शिता का लक्षण है सही; परन्तु दूरदर्शिता और नीति दोनों शब्द समानार्थक नहीं हैं। इसी से हमारे शास्त्रकार कहते हैं, कि निरे बाह्यकर्म के सार-असार-विचार की इस कोरी व्यापारी क्रिया में सद्वर्ताव का सच्चा बीज नहीं है; किन्तु साम्यबुद्धिरूप परमार्थ ही नीति का मूल आधार है। मनुष्य की अर्थात् जीवात्मा की पूर्ण अवस्था का योग्य विचार करे, तो भी उक्त सिद्धान्त ही करना पड़ता है। लोभ से किसी को लूटने में बहुतेरे आदमी होशियार होते हैं। परन्तु इस बात के जानने योग्य कोरे ब्रह्मज्ञान को ही— कि यह होशियारी, अथवा अधिकांश लोगों का अधिक सुख, काहे में है--इस जगत् में प्रत्येक मनुष्यका का परम साध्य कोई भी नहीं कहता। जिसका मन या अन्तःकरण शुद्ध है, वही पुरुष उत्तम कहलाने योग्य है। और तो क्या; यह भी कह सकते हैं, कि जिसका अन्तःकरण निर्मल, निर्वैर और शुद्ध नहीं है, वह यदि बाह्यकर्मों के दिखाऊ बर्ताव में पड़ कर तदनुसार बर्ते, तो उस पुरुष के ढोंगी बन जाने की भी सम्भावना है (देखो गी. ३. ६)। परन्तु कर्मयोगशास्त्र में साम्यबुद्धि को प्रमाण मान लेने से यह दोष नहीं रहता। साम्यबुद्धि को प्रमाण मान लेने से कहना पड़ता है, कि कठिण समस्या आने पर धर्म-अधर्म का निर्णय कराने

के लिये ज्ञानी साधु पुरुषों की ही शरण में जाना चाहिये। कोई भयङ्कर रोग होने पर जिस प्रकार बिना वैद्य की सहायता के उसके निदान और उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती, उसी प्रकार धर्म-अधर्म-निर्णय के बिकट प्रसङ्ग पर यदि कोई सत्पुरुषों की मदद न ले; और यह अभिमान रखे, कि मैं 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख—' वाले एक ही साधना से धर्म-अधर्म-निर्णय का अचूक निर्णय आप ही कर लूँगा; तो उसका यह प्रयत्न व्यर्थ होगा। साम्यबुद्धि को बढ़ाते रहने का अभ्यास प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिये। और इस क्रमसे संसार भर के मनुष्य की बुद्धि जब पूर्ण साम्य अवस्था में पहुँच जावेगी, तभी सत्ययुग की प्राप्ती होगी; तथा मनुष्यजाति का परम साध्य प्राप्त होगा; अथवा पूर्ण अवस्था सब को प्राप्त हो जावेगी। कार्य-अकार्य-शास्त्र की प्रवृत्ति भी इसी लिये हुई है; और इसी कारण उसकी इमारत को भी साम्यबुद्धि की ही नींव पर खड़ा करना चाहिये। परन्तु इतनी दूर न जा कर यदि नीतिमत्ता की केवल लौकिक कसौटी की दृष्टि से ही विचार करें, तो भी गीता का साम्य बुद्धिवाला पक्ष ही पाश्चात्य आधिभौतिक या आधिदैवत पन्थ की अपेक्षा अधिक योग्यता का और मार्मिक सिद्ध होता है। यह बात आगे पन्द्रहवें प्रकरण में की गयी तुलनात्मक परीक्षा से स्पष्ट मालूम हो जायगी; परन्तु गीता के तात्पर्य के निरूपण का जो एक महत्त्वपूर्ण भाग अभी शेष है, उसे ही पहले पूरा कर लेना चाहिये।

———

तेरहवाँ प्रकरण ।

भक्तिमार्ग ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥*

गीता. १८. ६६ ।

अब तक अध्यात्मदृष्टि से इन बातों का विचार किया गया है, कि सर्वभूतात्मैक्यरूपी निष्कामबुद्धि ही कर्मयोग की और मो की भी जड़ है । यह शुद्धबुद्धि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से प्राप्त होती है; और इसी शुद्धबुद्धि से प्रत्येक मनुष्यको अपने जन्मभर स्वधर्मानुसार प्राप्त हुए कर्तव्यकर्मों का पालन करना चाहिये । परन्तु इतने ही से भगवद्गीतामें प्रतिपाद्य विषय का विवेचन पूरा नहीं होता । यद्यपि इसमें सन्देह नहीं, कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान ही केवल सत्य और अन्तिम साध्य है, तथा " उसके समान इस संसार में दूसरी कोई भी वस्तु पवित्र नही हैं "(गी. ४. ३८) ; तथापि अब तक उसके विषय में जो विचार किया गया; और उसकी सहायता से साम्यबुद्धि प्राप्त करने का जो मार्ग बतलाया गया है, वह सब बुद्धिगम्य है । इसलिये सामान्य जनों की शङ्का है, कि उस विषय को पूरी तरह से समझने के लिये प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि इतनी तीव्र कैसे हो सकती है; और यदि किसी मनुष्य की बुद्धि तीव्र न हो, तो क्या उसको ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से हाथ धो बैठना चाहिये ? सच कहा जाय, तो यह शङ्का भी कुछ अनुचित नहीं देख पड़ती । यदि कोई कहे— " जब कि बड़े बड़े ज्ञानी पुरुष भी विनाशी नामरूपात्मक माया से आच्छादित तुम्हारे उस अमृतस्वरूपी परब्रह्मका वर्णन करते समय 'नेति नेति' कह कर चुप हो जाते हैं, तब हमारे समान साधारण जनों की समझ में वह कैसे आवे ? इसलिये हमें कोई ऐसा सरल उपाय या मार्ग बतलाओ, जिससे तुम्हारा वह गहन ब्रह्मज्ञान हमारी अल्प ग्रहणशक्ति से समझ में आ जावे "; —तो इसमें उसका क्या दोष है ? गीता और कठोपनिषद् (गी. २. २९; क. २. ७) में कहा है, कि आश्चर्यचकित हो कर आत्मा (ब्रह्म) का वर्णन करनेवाले तथा सुननेवाले बहुत हैं, तो भी किसी को उसका ज्ञान नहीं होता । श्रुतिग्रन्थों में इस विषय पर एक बोधदायक कथा भी है । उसमें यह वर्णन है, कि जब बाष्कलि ने बाह्व से कहा

---

* "सब प्रकार के धर्मों को यानी परमेश्वरप्राप्ति के साधनों को छोड़ मेरी ही शरण में आ । मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूंगा; डर मत ।" इस श्लोक के अर्थ का विवेचन इस प्रकरण के अन्त में किया है, सो देखिये ।

'हे महाराज! मुझे कृपा कर बतलाइये, कि ब्रह्म किसे कहते हैं;' तब बाह्व कुछ भी नहीं बोले। बाष्कलि ने फिर वही प्रश्न किया, तो भी बाह्व चुप ही रहे। जब ऐसा ही चार पाँच बार हुआ, तब बाह्व ने बाष्कलि से फिर कहा "अरे! मैं तेरे प्रश्नों का उत्तर तभी से दे रहा हूँ; परन्तु तेरी समझ में नहीं आया--मैं क्या करूँ? ब्रह्म-स्वरूप किसी प्रकार बतलाया नहीं जा सकता। इसलिये शान्त होना अर्थात् चुप रहना ही सच्चा ब्रह्मलक्षण है। समझा?" (वे. सू. शां. भा. ३. २. १७)। सारांश, जिस दृश्यसृष्टिविलक्षण, अनिर्वाच्य और अचिन्त्य परब्रह्म का यह वर्णन है-- कि वह मुँह बन्द कर बतलाया जा सकता है, आँखों से दिखाई न देने पर उसे देख सकते हैं; और समझ में न आने पर वह मालूम होने लगता है (केन. २.११)- उसको साधारण बुद्धि के मनुष्य कैसे पहचान सकेंगे; और उसके द्वारा साम्यावस्था प्राप्त हो कर उनको सद्‌गति कैसे मिलेगी? सब परमेश्वरस्वरूप का अनुभवात्मक और यथार्थ ज्ञान ऐसा होवे, कि सब चराचरसृष्टि में एक ही आत्मा प्रतीत होने लगे, तभी मनुष्य की पूरी उन्नति होगी; और ऐसी उन्नति कर लेने के लिये तीव्र बुद्धि के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग ही न हो, तो संसार के लाखों-करोड़ों मनुष्यों को ब्रह्मप्राप्ति की आशा छोड़ चुपचाप बैठे रहना होगा। क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्यों की संख्या हमेशा कम रहती है। यदि यह कहें, कि बुद्धिमान् लोगों के कथन पर विश्वास रखने से हमारा काम चल जायगा; तो उनमें भी कई मतभेद दिखाई देते हैं; और यदि यह कहें, कि विश्वास रखने से काम चल जाता है; तो यह बात आप-ही-आप सिद्ध हो जाती है, कि इस गहन ज्ञान की प्राप्ति के लिये "विश्वास अथवा श्रद्धा रखना" भी बुद्धि के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग है। सच पूछो तो यही देख पड़ेगा, कि ज्ञान की पूर्ति अथवा फलद्रूपता श्रद्धा के बिना नहीं होती। यह कहना—कि सब ज्ञान केवल बुद्धि ही से प्राप्त होता है, उसके लिये किसी अन्य मनोवृत्ति की सहायता आवश्यक नहीं—उन पंडितों का वृथाभिमान है, जिनकी बुद्धि केवल तर्कप्रधान शास्त्रों का जन्म भर अध्ययन करने से कर्कश हो गई है। उदाहरण के लिये यह सिद्धान्त लीजिये, कि कल सबेरे फिर सूर्योदय होगा। हम लोग इस सिद्धान्त के ज्ञान को अत्यन्त निश्चित मानते हैं। क्यों? उत्तर यही है, कि हमने और हमारे पूर्वजों ने इस क्रम को हमेशा अखंडित देखा है। परन्तु कुछ अधिक विचार करने से मालूम होगा, कि 'हमने अथवा हमारे पूर्वजों ने अब तक प्रतिदिन सबेरे सूर्य को निकलते देखा है,' यह बात कल सबेरे सूर्योदय होने का कारण नहीं हो सकती; अथवा प्रतिदिन हमारे देखने के लिये या हमारे देखने से ही कुछ सूर्योदय नहीं होता। यथार्थ में सूर्योदय होने के कुछ और ही कारण हैं। अच्छा; अब यदि 'हमारा सूर्य को प्रतिदिन देखना' कल सूर्योदय होने का कारण नहीं है, तो इसके लिये क्या प्रमाण है, कि कल सूर्योदय होगा? दीर्घ काल तक किसी वस्तु का क्रम एक-सा अबाधित देख पड़ने पर यह मान लना भी एक प्रकार विश्वास या

श्रद्धा ही तो है न, कि वह क्रम आगे भी वैसा ही नित्य चलता रहेगा। यद्यपि हम उसको एक बहुत बड़ा प्रतिष्ठित नाम "अनुमान" दे दिया करते हैं; तो भी यह ध्यान में रखना चाहिये, कि वह अनुमान बुद्धिगम्य कार्यकारणात्मक नहीं है; किन्तु उसका मूलस्वरूप श्रद्धात्मक ही है। मन्नू को शक्कर मीठी लगती है; इसलिये छन्नू को भी वह मीठी लगेगी—यह जो निश्चय हम लोग किया करते हैं, वह भी वस्तुतः इसी नमूने का है। क्योंकि जब कोई कहता है, कि मुझे शक्कर मीठी लगती है; तब इस ज्ञान का अनुभव उसकी बुद्धि को प्रत्यक्ष रूप से होता है सही; परन्तु इससे भी आगे बढ़ कर जब हम कह सकते हैं, कि शक्कर सब मनुष्यों को मीठी लगती है; तब बुद्धि को श्रद्धा की सहायता दिये बिना काम नहीं चल सकता। रेखागणित या भूमितिशास्त्र का सिद्धान्त है, कि ऐसी दो रेखाएँ हो सकती हैं, जो चाहे जितनी बढ़ाई जावें; तो भी आपस में नहीं मिलतीं। कहना नहीं होगा, कि इस तत्त्व को अपने ध्यान में लाने के लिये हमको अपने प्रत्यक्ष अनुभव के भी परे केवल श्रद्धा ही की सहायता से चलना पड़ता है। इसके सिवा यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि संसार के सब व्यवहार श्रद्धा, प्रेम आदि नैसर्गिक मनोवृत्तियों से ही चलते हैं। इन वृत्तियों को रोकने के सिवा बुद्धि दूसरा कोई कार्य नहीं करती। और जब बुद्धि किसी बात की भलाई या बुराई का निश्चय कर लेती है, तब आगे उस निश्चय को अमल में लाने का काम मन के द्वारा अर्थात् मनोवृत्ति के द्वारा ही हुआ करता है। इस बात की चर्चा पहले क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार में हो चुकी है। सारांश यह है, कि बुद्धिगम्य ज्ञान की पूर्ति होने के लिये और आगे आचरण तथा कृति में उसकी फलद्रूपता होने के लिये इस ज्ञान को हमेशा श्रद्धा, दया, वात्सल्य, कर्तव्य-प्रेम इत्यादि नैसर्गिक मनोवृत्तियों की आवश्यकता होती है; और जो ज्ञान इन मनोवृत्तियों को शुद्ध तथा जागृत नहीं करता, और जिस ज्ञान को उनकी सहायता अपेक्षित नहीं होती, उसे सूखा, कोरा, कर्कश, अधूरा, बांझ या कच्चा ज्ञान समझना चाहिये। जैसे बिना बारूद के केवल गोली से बंदूक नहीं चलती, वैसे ही प्रेम, श्रद्धा आदि मनोवृत्तियों की सहायता के बिना केवल बुद्धिगम्य ज्ञान किसी को तार नहीं सकता। यह सिद्धान्त हमारे प्राचीन ऋषियों को भली भाँति मालूम था। उदाहरण के लिये छांदोग्योपनिषद् में वर्णित यह कथा लीजिये (छां. ६. १२) :—एक दिन श्वेतकेतु के पिता ने यह सिद्ध कर दिखाने के लिये—कि अव्यक्त और सूक्ष्म परब्रह्म ही सब दृश्य जगत् का मूलकारण है; श्वेतकेतु से कहा, कि बरगद का एक फल ले आओ; और देखो, कि उसके भीतर क्या है—श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। उस फल को तोड़ कर देखा; और कहा "इसके भीतर छोटे छोटे बहुत-से बीज या दाने हैं।" उसके पिता ने फिर कहा, कि उन बीजों में से एक बीज ले लो; उसे तोड़ कर देखो; और बतलाओ, कि उस के भीतर क्या है? श्वेतकेतु ने एक बीज ले लिया; उसे तोड़ कर देखा; और कहा, कि इसके भीतर कुछ नहीं है। तब पिता ने कहा "अरे! यह जो तुम 'कुछ नहीं'

कहते हो, उसी से यह बरगद का बहुत बड़ा वृक्ष हुआ है"; और अन्त में यह उपदेश दिया, कि 'श्रद्धस्व' अर्थात् इस कल्पना को केवल बुद्धि में रख। मुँह से ही 'हाँ' मत कहो; किन्तु उसके आगे भी चलो। यानी इस तत्त्व को अपने हृदय में अच्छी तरह जमने दो; और आचरण या कृति में दिखाई देने दो। सारांश; यदि यह निश्चयात्मक ज्ञान होने के लिये श्रद्धा की आवश्यकता है, कि सूर्य का उदय कल सबेरे होगा; तो यह भी निर्विवाद सिद्ध है, कि इस बात को पूर्णतया जान लेने के लिये—कि सारी सृष्टि का मूलतत्त्व अनादि, अनन्त, सर्वकर्तृ, सर्वज्ञ, स्वतंत्र और चैतन्यरूप है—पहले हम लोगों को जहाँ तक जा सकें, बुद्धिरूपी बटोही का अवलम्बन करना चाहिये; परन्तु आगे उसके अनुरोध से कुछ दूर तो अवश्यही श्रद्धा तथा प्रेम की पगडंडी से ही जाना चाहिये। देखिये; मैं जिसे माँ कह कर ईश्वर के समान वंद्य और पूज्य मानता हूँ, उसे ही अन्य लोग एक सामान्य स्त्री समझते हैं; या नैय्यायिकों के शास्त्रीय शब्दावडंबर के अनुसार "गर्भधारणप्रसवादिस्त्रीत्वसामान्यावच्छेदकावच्छिन्नव्यक्तिविशेषः" समझते हैं। इस एक छोटे से व्यावहारिक उदाहरण से यह बात किसी के भी ध्यान में सहज आ सकती है, कि जब केवल तर्कशास्त्र के सहारे प्राप्त किया गया ज्ञान, श्रद्धा और प्रेम के साँचे में ढाला जाता है, तब उसमें कैसा अन्तर हो जाता है। इसी कारण से गीता (६.४७) में कहा है, कि कर्मयोगियों में भी श्रद्धावान् श्रेष्ठ है; और ऐसा ही सिद्धान्त—जैसे पहले कह आये हैं, कि—अध्यात्मशास्त्र में किया गया है कि इंद्रियातीत होने के कारण जिन पदार्थों का चिंतन करते नहीं बनता, उनके स्वरूप का निर्णय केवल तर्कसे नहीं करना चाहिये—"अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण चिन्तयेत्।

यदि यही एक अड़चन हो, कि साधारण मनुष्यों के लिये निर्गुण परब्रह्म का ज्ञान होना कठिन है; तो बुद्धिमान् पुरुषों में मतभेद होने पर भी श्रद्धा या विश्वास से उसका निवारण किया जा सकता है। कारण यह है, कि इन पुरुषों में जो अधिक विश्वसनीय होंगे उन्हीं के वचनों पर विश्वास रखने से हमारा काम बन जावेगा (गी.१३. २५.)। तर्कशास्त्र में इस उपाय को "आप्तवचनप्रमाण" कहते हैं। 'आप्त' का अर्थ विश्वसनीय पुरुष है। जगत् के व्यवहार पर दृष्टि डालने से यही दिखाई देगा, कि हजारों लोग आप्त-वाक्य पर विश्वास रख कर ही अपना व्यवहार चलाते हैं। दो पंचे दस के बदले सात क्यों नहीं होते? अथवा एक पर एक लिखने से दो नहीं होते; ग्यारह क्यों होते हैं? इस विषय की उपपत्ति या कारण बतलानेवाले पुरुष बहुत ही कम मिलते हैं। तो भी इन सिद्धान्तों को सत्य मान कर ही जगत् का व्यवहार चल रहा है। ऐसे लोग बहुत कम मिलेंगे, जिन्हें इस बात का प्रत्यक्ष ज्ञान है, कि हिमालय की ऊँचाई ५ मील है या दस मील। परन्तु जब कोई यह प्रश्न पूछता है, कि हिमालय की ऊँचाई कितनी है। तब भूगोल की पुस्तक में पढ़ी हुई "तेईस हजार फीट" संख्या हम तुरन्त ही बतला

देते हैं। यदि इसी प्रकार कोई पूछे, कि "ब्रह्म कैसा है?" तो यह उत्तर देने में क्या हानि है, कि वह "निर्गुण" है? वह सचमुच ही निर्गुण है या नहीं; इस बात की पूरी जाँच कर उसके साधकबाधक प्रमाणों की मीमांसा करने के लिये सामान्य लोगों में बुद्धि की तीव्रता भले ही न हो; परन्तु श्रद्धा या विश्वास कुछ ऐसा मनोधर्म नहीं है, जो महाबुद्धिमान् पुरुषों में ही पाया जाय। अज्ञजनों में भी श्रद्धा की कुछ न्यूनता नहीं होती। और जब कि श्रद्धा से ही वे लोग अपने सैकड़ों सांसारिक व्यवहार किया करते हैं, तो उसी श्रद्धा से यदि वे ब्रह्म को निर्गुण मान लेवें, तो कोई प्रत्यवाय नहीं देख पड़ता। मोक्षधर्म का इतिहास पढ़ने से मालूम होगा, कि जब ज्ञाता पुरुषों ने ब्रह्मस्वरूप की मीमांसा कर उसे निर्गुण बतलाया, उसके पहले ही मनुष्य ने केवल अपनी श्रद्धा से यह जान लिया था, कि सृष्टि की जड़ में सृष्टि के नाशवान् और अनित्य पदार्थों से भिन्न या विलक्षण कोई एक तत्त्व है; जो अनाद्यंत, अमृत, स्वतंत्र, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी है; और मनुष्य उसी समय से उस तत्त्व की उपासना किसी-न-किसी रूप में करता चला आया है। यह सच है, कि वह उस समय इस ज्ञान की उपपत्ति बतला नहीं सकता था; परन्तु आधिभौतिकशास्त्र में भी यही क्रम देख पड़ता है, कि पहले अनुभव होता है; और पश्चात् उसकी उपपत्ति बतलाई जाती है। उदाहरणार्थ, भास्कराचार्य को पृथ्वी के (अथवा अन्त में न्यूटन को सारे विश्व के) गुरुत्वाकर्षण की कल्पना सूझने के पहले ही यह बात अनादि काल से सब लोगों को मालूम थी, कि पेड़ से गिरा हुआ फल नीचे पृथ्वी पर गिर पड़ता है। अध्यात्मशास्त्र को भी यही नियम उपयुक्त है। श्रद्धा से प्राप्त हुए ज्ञान की जाँच करना और उसकी उपपत्ति को खोज करना बुद्धि का काम है सही; परन्तु सब प्रकार योग्य उपपत्ति के न मिलनेसे ही यह नहीं कहा जा सकता, कि श्रद्धा से प्राप्त होनेवाला ज्ञान केवल भ्रम है।

यदि सिर्फ़ इतना ही जान लेने से हमारा काम चल जाय, कि ब्रह्म निर्गुण है; तो इसमें सन्देह नहीं, कि यह काम उपर्युक्त कथन के अनुसार श्रद्धा से चला जा सकता है (गी. १३. २५)। परन्तु नौवें प्रकरण के अन्त में कह चुके हैं, कि ब्राह्मी स्थिति या सिद्धावस्था की प्राप्ति कर लेना ही इस संसार में मनुष्य का परमसाध्य या अंतिम ध्येय है; और उसके लिये केवल यह कोरा ज्ञान, (कि ब्रह्म निर्गुण है;) किसी काम का नहीं। दीर्घ समय के अभ्यास और नित्य की आदत से इस ज्ञान का प्रवेश हृदय में तथा देहेन्द्रियों में अच्छी तरह हो जाना चाहिये; और आचरण के द्वारा ब्रह्मात्मैक्य बुद्धि ही हमारा देह स्वभाव हो जाना चाहिये। ऐसा होने के लिये परमेश्वर के स्वरूप का प्रेमपूर्वक चिन्तन करके मन को तदाकार करना ही एक सुलभ उपाय है। यह मार्ग अथवा साधन हमारे देश में बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है; और इसी को उपासना या भक्ति कहते हैं। भक्तिका लक्षण शाण्डिल्यसूत्र (२) में इस प्रकार है, कि "सा (भक्तिः) परानुरक्तिरीश्वरे"—ईश्वर के प्रति 'पर' अर्थात् निरतिशय जो प्रेम है, उसे भक्ति कहते हैं। 'पर' शब्द का

अर्थ केवल निरतिशय ही नहीं है; किन्तु भागवतपुराण में कहा है, कि वह प्रेम निर्हेतुक, निष्काम और निरंतर हो— " अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे " (भाग ३. २९. १२) । कारण यह है, कि जब भक्ति इस हेतु से की जाती, कि "हे ईश्वर ! मुझे कुछ दे;" तब वैदिक यज्ञयागादिक काम्य कर्मों के समान उसे भी कुछ-न-कुछ व्यापार का स्वरूप प्राप्त हो जाता है । ऐसी भक्ति राजस कहलाती है; और उससे चित्त की शुद्धि पूरी पूरी नहीं होती। जब कि चित्त की शुद्धि ही पूरी नहीं हुई, तब कहना नहीं होगा, कि आध्यात्मिक उन्नति में और मोक्ष की प्राप्ति में भी बाधा आ जायगी । अध्यात्मशास्त्रप्रतिपादित पूर्ण निष्कामता का तत्त्व इस प्रकार भक्तिमार्ग में भी बना रहता है । और इसी लिये गीता में भगवद्-भक्तों की चार श्रेणियाँ करके कहा है, कि जो 'अर्थार्थी' है, यानी जो कुछ पाने के हेतु परमेश्वर की भक्ति करता है, वह निष्कृष्ट श्रेणी का भक्त है; और परमेश्वर का ज्ञान होने के कारण जो स्वयं अपने लिये कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता (गी. ३. १८); परन्तु नारद आदिकों के समान जो 'ज्ञानी' पुरुष केवल कर्तव्यबुद्धि से ही परमेश्वर की भक्ति करता है, वही सब भक्तों में श्रेष्ठ है (गी. ७.१६–१८)। यह भक्ति भागवतपुराण (७. ५. २३) के अनुसार नौ प्रकार की है, जैसे —

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम् ॥

नारद के भक्तिसूत्र में इसी भक्ति के ग्यारह भेद किये गये हैं (ना. सू. ८२)। परन्तु भक्ति के इन सब भेदों का निरूपण दासबोध आदि अनेक भाषा-ग्रंथों में विस्तृत रीति से किया गया है; इस लिये हम यहाँ उनकी विशेष चर्चा नहीं करते। भक्ति किसी प्रकार की हो; यह प्रगट है, कि परमेश्वर में निरतिशय और निर्हेतुक प्रेम रख कर अपनी वृत्ति को तदाकार करने का भक्ति का सामान्य काम प्रत्येक मनुष्य को अपने मन ही से करना पड़ता है । छठवें प्रकरण में कह चुके हैं, कि बुद्धि नामक जो अन्तरिन्द्रिय है, वह केवल भले-बुरे, धर्म-अधर्म अथवा कार्य-अकार्य का निर्णय करने के सिवा और कुछ नहीं करती । शेष मानसिक कार्य मन ही को करने पड़ते हैं । अर्थात् अब मन ही के दो भेद हो जाते हैं—एक भक्ति करनेवाला मन और दूसरा उसका उपास्य यानी जिस पर प्रेम किया जाता है वह वस्तु । उपनिषदों में जिस श्रेष्ठ ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन किया गया है, वह इन्द्रियातीत, अव्यक्त, अनन्त, निर्गुण और 'एकमेवाद्वितीयं' है । इसलिये उपासना का आरम्भ उस स्वरूप से नहीं हो सकता । कारण यह है, कि जब श्रेष्ठ ब्रह्मस्वरूप का अनुभव होता है, तब मन अलग नहीं रहता; किन्तु उपास्य और उपासक, अथवा ज्ञाता और ज्ञेय, दोनों एकरूप हो जाते हैं । निर्गुण ब्रह्म अन्तिम साध्य वस्तु है, साधन नहीं; और जब तक किसी-न-किसी साधन से निर्गुण ब्रह्म के साथ एकरूप होने की पात्रता मन में न आवे, तब तक इस श्रेष्ठ ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्कार हो नहीं सकता । अतएव साधन की दृष्टि से की जानेवाली उपासना के लिये जिस ब्रह्मस्वरूप का स्वीकार

करना होता है, वह दूसरी श्रेणी का;–अर्थात् उपास्य और उपासक के भेद से —मन को गोचर होनेवाला, यानी सगुण ही होता है। और इसी लिये उपनिषदों में जहाँ जहाँ ब्रह्म की उपासना कही गई है, वहाँ वहाँ उपास्य ब्रह्मके अव्यक्त होने पर भी सगुणरूप से ही उसका वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ, शाण्डिल्यविद्या में जिस ब्रह्म की उपासना कही गई है, वह यद्यपि अव्यक्त अर्थात् निराकार है, तथापि छांदोग्योपनिषद् (३. १४) में कहा है, कि वह प्राणशरीर सत्यसंकल्प, सर्वगंध, सर्वरस, सर्वकर्म, अर्थात् मन को गोचर होनेवाले सब गुणों से युक्त हो। स्मरण रहे, कि यहाँ उपास्य ब्रह्म यद्यपि सगुण है, तथापि वह अव्यक्त अर्थात् निराकार है। परन्तु मनुष्य के मन की स्वाभाविक रचना ऐसी है, कि सगुण वस्तुओं में से भी जो वस्तु अव्यक्त होती है; अर्थात् जिसका कोई विशेष रूप रंग आदि नहीं; और इसलिये जो नेत्रादि इन्द्रियों को अगोचर है, उस पर प्रेम रखना या हमेशा उसका चिन्तन कर मन को उसी में स्थिर करके वृत्ति को तदाकार करना मनुष्य के लिये बहुत कठिन और दुःसाध्य भी है। क्योंकि, मन स्वभाव ही से चंचल है। इसलिये जब तक मन के सामने आधार के लिये कोई इंद्रियगोचर स्थिर वस्तु न हो, तब तक यह मन बारबार भूल जाया करता है, कि स्थिर कहाँ होना है। चित्त की स्थिरता का यह मानसिक कार्य बड़े बड़े ज्ञानी पुरुषों को भी दुष्कर प्रतीत होता है; तो फिर साधारण मनुष्यों के लिये कहना ही क्या? अतएव रेखागणित के सिद्धान्तों की शिक्षा देते समय जिस प्रकार ऐसी रेखा की कल्पना करने के लिये–कि जो अनादि, अनन्त और बिना चौड़ाई की (अव्यक्त) है; किन्तु जिसमें लम्बाई का गुण होने से सगुण है—उस रेखा का एक छोटा-सा नमूना स्लेट या तख्ते पर व्यक्त करके दिखलाना पड़ता है। उसी प्रकार ऐसे परमेश्वर पर प्रेम करने और उसमें अपनी वृत्ति को लीन करने के लिये–कि जो सर्वकर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ (अतएव सगुण) है; परंतु निराकार अर्थात् अव्यक्त है–मन के सामने 'प्रत्यक्ष' नामरूपात्मक किसी वस्तु के रहे बिना साधारण मनुष्यों का काम चल नहीं सकता। *यही क्यों; पहले किसी व्यक्त पदार्थ के देखे बिना मनुष्य के मन में अव्यक्त की कल्पना ही जागृत हो नहीं सकती। उदाहरणार्थ, जब हम लाल, हरे इत्यादि अनेक व्यक्त रंगों के पदार्थ पहले आँखों से देख लेते हैं, तभी 'रंग' की सामान्य और अव्यक्त कल्पना जागृत होती है। यदि ऐसा न हो, तो

---

*इस विषयपर एक श्लोक है जो योगवासिष्ठ का कहा जाता है:—

अक्षरावगमलब्धये यथा स्थूलवर्तुलदृषत्परिग्रहः।
शुद्धबुद्धपरिलब्धये तथा दारुमृण्मयशिलामयार्चनम्॥

"अक्षरों का परिचय कराने के लिये लड़कों के सामने जिस प्रकार छोटे छोटे कंकड़ रख कर अक्षरों का आकार दिखलाना पड़ता है, उसी प्रकार (नित्य) शुद्धबुद्ध परब्रह्म का ज्ञान होने के लिये लकड़ी, मिट्टी या पत्थर की मूर्ति का किया जाता है।" परंतु यह श्लोक बृहत्योगवासिष्ठ में नहीं मिलता।

'रंग' की यह अव्यक्त कल्पना हो ही नहीं सकती। अब चाहे इसे कोई मनुष्य के मन का स्वभाव कहे या दोष; कुछ भी कहा जाय। जब तक देहधारी मनुष्य अपने मन के इस स्वभाव को अलग नहीं कर सकता, तब तक उपासना के लिये यानी भक्ति के लिये निर्गुण से सगुण में--और उसमें भी अव्यक्त सगुण की अपेक्षा व्यक्त सगुण ही में--आना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं। यही कारण है, कि व्यक्त-उपासना का मार्ग अनादि काल से प्रचलित है; रामतापनीय आदि उपनिषदों में मनुष्यरूपधारी व्यक्त ब्रह्मस्वरूप की उपासना का वर्णन है; और भगवद्गीता में भी यह कहा गया है कि--

क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

अर्थात् "अव्यक्त में चित्त की (मन की) एकाग्रता करनेवाले को बहुत कष्ट होते हैं; क्योंकि इस अव्यक्तगति को पाना देहेंन्द्रियधारी मनुष्य के लिये स्वभावतः कष्टदायक है"--(गी. १२. ५)। इस 'प्रत्यक्ष' मार्ग ही को 'भक्तिमार्ग' कहते हैं। इसमें कुछ सन्देह नहीं, कि कोई बुद्धिमान् पुरुष अपनी बुद्धि से परब्रह्म के स्वरूप का निश्चय कर उसके अव्यक्त स्वरूप में केवल अपने विचारों के बल से अपने मन को स्थिर कर सकता है। परन्तु इस रीति से अव्यक्त में 'मन' को आसक्त करने का काम भी तो अन्त में श्रद्धा और प्रेम से ही सिद्ध करना होता है। इसलिये इस मार्ग में भी श्रद्धा और प्रेम की आवश्यकता छूट नहीं सकती। सच पूछो, तो तात्त्विक दृष्टि से सच्चिदानन्द ब्रह्मोपासना का समावेश भी प्रेममूलक भक्तिमार्ग में ही किया जाना चाहिये। परन्तु इस मार्ग में ध्यान करने के लिये जिस ब्रह्मस्वरूप का स्वीकार किया जाता है, वह केवल अव्यक्त और बुद्धिगम्य अर्थात् ज्ञानगम्य होता है; और उसी को प्रधानता दी जाती है। इस लिये इस क्रिया को भक्तिमार्ग न कहकर अध्यात्मविचार अव्यक्तोपासना या केवल उपासना, अथवा ज्ञानमार्ग कहते हैं। और, उपास्य ब्रह्म के सगुण रहने पर भी जब उसका अव्यक्त के बदले व्यक्त--और विशेषतः मनुष्यदेहधारी--रूप स्वीकृत किया जाता है, तब वही भक्तिमार्ग कहलाता है। इस प्रकार यद्यपि मार्ग दो हैं, तथापि उन दोनों में एकही परमेश्वर की प्राप्ति होती है; और अन्त में एकही सी साम्यबुद्धि मन में उत्पन्न होती है। इसलिये स्पष्ट देख पड़ेगा, कि जिस प्रकार किसी छत पर जाने के लिये दो जीने होते हैं, उसी प्रकार भिन्न भिन्न मनुष्यों की योग्यता के अनुसार ये दो (ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग) अनादिसिद्ध भिन्न भिन्न मार्ग हैं--इन मार्गों की भिन्नता से अन्तिमसाध्य अथवा ध्येय में कुछ भिन्नता नहीं होती। इनमें से एक जीनेकी पहली सीढ़ी बुद्धि है, तो दूसरे जीने की पहली सीढ़ी श्रद्धा और प्रेम है। और किसी भी मार्ग से जाओ; अन्त में एक ही परमेश्वर का एक ही प्रकार का ज्ञान होता है; एवं एकही सी मुक्ति भी प्राप्त होती है। इस लिये दोनों मार्गों में यही सिद्धांत एक ही सा स्थिर रहता है, कि 'अनुभवात्मक ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं मिलता'। फिर यह व्यर्थ बखेड़ा

करने से क्या लाभ है, कि ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है या भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है ? यद्यपि ये दोनों साधन प्रथमावस्था में अधिकार या योग्यता के अनुसार भिन्न हों, तथापि अन्त में अर्थात् परिणामरूप में दोनों की योग्यता समान है; और गीता में इन दोनों को एकही 'अध्यात्म' नाम दिया गया है (११.१)। अब यद्यपि साधन की दृष्टि से ज्ञान और भक्ति की योग्यता एक ही समान है; तथापि इन दोनों में यह महत्त्व का भेद है, कि भक्ति कदापि निष्ठा नहीं हो सकती; किन्तु ज्ञान को निष्ठा (यानी सिद्धावस्था की अंतिम स्थिति) कह सकते हैं। इसमें संदेह नहीं, कि अध्यात्म-विचार से या अव्यक्तोपासना से परमेश्वर का जो ज्ञान होता है, वही भक्ति से भी हो सकता है (गी. १८. ५५.); परन्तु इस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर आगे यदि कोई मनुष्य सांसारिक कार्यों को छोड़ दे, और ज्ञान ही में सदा निमग्न रहने लगे तो गीता के अनुसार वह 'ज्ञाननिष्ठ' कहलावेगा; 'भक्तिनिष्ठ' नहीं। इसका कारण यह है, कि जब तक भक्ति की क्रिया जारी रहती है, तब तक उपास्य और उपासकरूपी द्वैतभाव भी बना रहता है; और अंतिम ब्रह्मात्मैक्य स्थिति में तो भक्ति की कौन कहे; अन्य किसी भी प्रकार की उपासना शेष नहीं रह सकती। भक्ति का पर्यवसान या फल ज्ञान है; भक्ति ज्ञान का साधन है—वह कुछ अंतिम साध्य वस्तु नहीं। सारांश, अव्यक्तोपासना की दृष्टि से ज्ञान एक बार साधन हो सकता है; और दूसरी बार ब्रह्मात्मैक्य के अपरोक्षानुभव की दृष्टि से उसी ज्ञान को निष्ठा यानी सिद्धावस्था की अंतिम स्थिति कह सकते हैं। जब इस भेद को प्रगट रूप से दिखलाने की आवश्यकता होती है, तब 'ज्ञानमार्ग' और 'ज्ञाननिष्ठा' दोनों शब्दों का उपयोग समान अर्थ में नहीं किया जाता; किन्तु अव्यक्तोपासना की साधनावस्थावाली स्थिति दिखलाने के लिये 'ज्ञानमार्ग' शब्द का उपयोग किया जाता है; और ज्ञानप्राप्ति के अनंतर सब कर्मों को छोड़ ज्ञान ही में निमग्न हो जाने की जो सिद्धावस्था की स्थिति है, उसके लिये 'ज्ञाननिष्ठा' शब्द का उपयोग किया जाता है। अर्थात्, अव्यक्तोपासना या अध्यात्मविचार के अर्थ में ज्ञान का एक बार साधन (ज्ञानमार्ग) कह सकते हैं; और दूसरी बार अपरोक्षानुभव के अर्थ में उसी ज्ञान को निष्ठा यानी कर्मत्यागरूपी अंतिम अवस्था कह सकते हैं। यही बात कर्म के विषय में भी कही जा सकती है। शास्त्रोक्त मर्यादा के अनुसार जो कर्म पहले चित्तकी शुद्धि के लिये किया जाता है, वह साधन कहलाता है। इस कर्म से चित्तकी शुद्धि होती है; और अंत में ज्ञान तथा शांति की प्राप्ति होती है। परन्तु यदि कोई मनुष्य इस ज्ञान में ही निमग्न न रह कर शांतिपूर्वक मृत्युपर्यंत निष्कामकर्म करता चला जावे, तो ज्ञानयुक्त निष्कामकर्म की दृष्टि से उसके इस कर्म को निष्ठा कह सकते हैं (गी.३.३)। यह बात भक्ति के विषय में नहीं कह सकते। क्योंकि भक्ति सिर्फ़ एक मार्ग या उपाय अर्थात् ज्ञानप्राप्ति का साधन ही है—वह निष्ठा नहीं है। इसलिये गीता के आरम्भ में ज्ञान (सांख्य) और योग (कर्म) यही दो निष्ठाएँ कही गई हैं। उनमें से कर्म-

योग-निष्ठा की सिद्धिके उपाय, साधन, विधि या मार्ग का विचार करते समय (गी.७. १), अव्यक्तोपासना (ज्ञानमार्ग) और व्यक्तोपासना (भक्तिमार्ग) का--अर्थात् जो दो साधन प्राचीन समयसे एक साथ चले आ रहे हैं उनका—वर्णन करके, गीता में सिर्फ़ इतना ही कहा है, कि इन दोनों में से अव्यक्तोपासना बहुत क्लेशमय है; और व्यक्तोपासना या भक्ति अधिक सुलभ है। यानी इस साधन का स्वीकार सब साधारण लोग कर सकते हैं। प्राचीन उपनिषदों में ज्ञानमार्ग ही का विचार किया गया है; और शाण्डिल्य आदि सूत्रों में तथा भागवत आदि ग्रन्थों में भक्तिमार्ग ही की महिमा गाई गई है। परन्तु साधनदृष्टि से ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग में योग्यतानुसार भेद दिखला कर अन्त में दोनों का मेल निष्कामकर्म के साथ जैसा गीता ने समबुद्धि से किया है, वैसा अन्य किसी भी प्राचीन धर्म-ग्रन्थ ने नहीं किया है।

ईश्वर के स्वरूप का यह यथार्थ और अनुभवात्मक ज्ञान होने के लिये, कि 'सब प्राणियों में एक ही परमेश्वर है;' देहेंद्रियधारी मनुष्य को क्या करना चाहिये? इस प्रश्न का विचार उपर्युक्त रीति से करने पर जान पड़ेगा, कि यद्यपि परमेश्वर का श्रेष्ठ स्वरूप अनादि, अनन्त, अनिर्वाच्य, अचिन्त्य और 'नेति नेति' है, तथापि वह निर्गुण, अज्ञेय और अव्यक्त भी है। और जब उसका अनुभव होता है, तब उपास्य, उपासकरूपी द्वैतभाव शेष नहीं रहता। इसलिये उपासना का आरम्भ वहाँ से नहीं हो सकता। वह तो केवल अन्तिम साध्य है--साधन नहीं; और तद्रूप होने की जो अद्वैत स्थिति है उसकी प्राप्ति के लिये उपासना केवल एक साधन या उपाय है। अतएव उस उपासना में जिस वस्तु को स्वीकार करना पड़ता है उसका सगुण होना अत्यन्त आवश्यक है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी और निराकार ब्रह्मस्वरूप वैसा अर्थात् सगुण है। परन्तु वह केवल बुद्धिगम्य और अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर होने का कारण उपासना के लिये अत्यन्त क्लेशमय है। अतएव प्रत्येक धर्म में यही देख पड़ता है, कि इन दोनों परमेश्वरस्वरूपों की अपेक्षा जो परमेश्वर अचिन्त्य, सर्वसाक्षी, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् जगदात्मा होकर भी हमारे समान हम से बोलेगा, हम पर प्रेम करेगा, हमको सन्मार्ग दिखावेगा और हमें सद्गति देगा, जिसे हम लोग 'अपना' कह सकेंगे, जिसे हमारे सुखदुःखों के साथ सहानुभूति होगी किंवा जो हमारे अपराधों को क्षमा करेगा, जिसके साथ हम लोगों का यह प्रत्यक्ष सम्बन्ध उत्पन्न हो, कि 'हे परमेश्वर! मैं तेरा हूँ, और तू मेरा है,' जो पिताके समान मेरी रक्षा करेगा और माता के समान प्यार करेगा;' अथवा जो "गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्" (गीता. ९. १७ और १८) है---अर्थात् जिसके विषय में मैं यह कह सकूँगा कि 'तू मेरी गति है, तू मेरा पोषणकर्ता है, तू मेरा स्वामी है, तू मेरा साक्षी है, तू मेरा विश्रामस्थान है, तू मेरा अन्तिम आधार है, तू मेरा सखा है.' और ऐसा कह कर बच्चों की नाई प्रेम-पूर्वक तथा लाड़ से जिसके स्वरूप का आकलन मैं कर सकूँगा—ऐसे सत्यसंकल्प,

सकलैश्वर्यसम्पन्न, दयासागर, भक्तवत्सल, परमपवित्र, परमउदार, परमकारुणिक, परमपूज्य, सर्वसुन्दर, सकलगुणनिधान अथवा संक्षेप में कहें तो ऐसे लाड़ले सगुण, प्रेमगम्य और व्यक्त यानी प्रत्यक्ष-रूपधारी सुलभ परमेश्वर ही के स्वरूप का सहारा मनुष्य 'भक्ति के लिये' स्वभावतः लिया करता है। जो परब्रह्म मूल में अचिन्त्य और 'एकमेवाद्वितीयम्' है, उसके उक्त प्रकार के अन्तिम दो स्वरूपों को (अर्थात् प्रेम, श्रद्धा आदि मनोमय नेत्रों से मनुष्य को गोचर होनेवाले स्वरूपों को) ही वेदान्तशास्त्र की परिभाषा में 'ईश्वर' कहते हैं। परमेश्वर सर्वव्यापी हो कर भी मर्यादित क्यों हो गया? इसका उत्तर प्रसिद्ध महाराष्ट्र साधु तुकाराम ने एक पद्य में दिया है, जिसका आशय यह है—

रहता है सर्वत्र ही व्यापक एक समान।
पर निज भक्तों के लिये छोटा है भगवान् ॥

यही सिद्धान्त वेदान्तसूत्र में भी दिया गया है (१. २. ७.)। उपनिषदों में भी जहाँ जहाँ ब्रह्म की उपासना का वर्णन है, वहाँ वहाँ प्राण, मन इत्यादि सगुण और केवल अव्यक्त वस्तुओं ही का निर्देश न कर उनके साथ साथ सूर्य (आदित्य) अन्न इत्यादि सगुण और व्यक्त पदार्थों की उपासना भी कही गई है (तै. ३.२-६; छां. ७)। श्वेताश्वतरोपनिषद् में तो 'ईश्वर' का लक्षण इस प्रकार बतला कर, कि "मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्" (४. १०)—अर्थात् प्रकृति ही को माया और इस माया के अधिपति को महेश्वर जानो, आगे गीता ही के समान (गी. १०. ३) सगुण ईश्वर की महिमा का इस प्रकार वर्णन किया है, कि "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" अर्थात् इस देव को जान लेने से मनुष्य सब पाशों से मुक्त हो जाता है (४. १६)। यह तो नामरूपात्मक वस्तु उपास्य परब्रह्म के चिन्ह, पहचान, अवतार, अंश या प्रतिनिधि के तौर पर उपासना के लिये आवश्यक है, उसी को वेदान्तशास्त्र में 'प्रतीक' कहते हैं। प्रतीक (प्रति + इक) शब्द का धात्वर्थ यह है—प्रति = अपनी ओर, इक = झुका हुआ। जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो; और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो। तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं। इस नियम के अनुसार, सर्वव्यापी परमेश्वर का ज्ञान होने के लिये उसका कोई भी प्रत्यक्ष चिन्ह, अंशरूपी विभूति या भाग 'प्रतीक' हो सकता है। उदाहरणार्थ, महाभारत में ब्राह्मण और व्याधका जो संवाद है, उसमें व्याध ने ब्राह्मण को पहले बहुत-सा अध्यात्मज्ञान बतलाया। फिर "हे द्विजवर! मेरा जो प्रत्यक्षधर्म है उसे अब देखो"—"प्रत्यक्षं मम यो धर्मस्तं च पश्य द्विजोत्तम" (वन. २१३. ३) ऐसा कह कर उस ब्राह्मण को वह व्याध अपने वृद्ध मातापिता के समीप ले गया, और कहने लगा—यही मेरे 'प्रत्यक्ष' देवता हैं; और मनोभाव से ईश्वर के समान इन्हींकी सेवा करना मेरा 'प्रत्यक्ष' धर्म है। इसी अभिप्राय को मन में रखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने व्यक्तस्वरूप की उपासना बतलाने के पहले गीता में कहा है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

अर्थात् यह भक्तिमार्ग "सब विद्याओं में और गुह्यों में श्रेष्ठ (राजविद्या और राजगुह्य) है; यह उत्तम, पवित्र, प्रत्यक्ष देख पड़नेवाला, धर्मानुकूल, सुख से आचरण करने योग्य और अक्षय है; (गी. ९. २)। इस श्लोक में राजविद्या और राजगुह्य, दोनों सामासिक शब्द हैं; इनका विग्रह यह है--'विद्यानां राजा' और 'गुह्यानां राजा' (अर्थात् विद्याओं का राजा और गुह्यों का राजा)। और जब समास हुआ, तब संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार 'राज' शब्द का उपयोग पहले किया गया। परन्तु इनके बदले कुछ लोग 'राज्ञां विद्या' (राजाओं की विद्या ऐसा विग्रह करते हैं; और कहते हैं, कि योगवासिष्ठ (२. ११. १६-१८) में जो वर्णन है, उसके अनुसार जब प्राचीन समय में ऋषियों ने राजाओं को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया, तब से ब्रह्मविद्या या अध्यात्मज्ञान ही को राजविद्या और राजगुह्य कहने लगे हैं। इसलिये गीता में भी इन शब्दों से वही अर्थ यानी अध्यात्मज्ञान—भक्ति नहीं--लिया जाना चाहिये। गीताप्रतिपादित मार्ग भी मनु, इक्ष्वाकु प्रभृति राज-परम्परा ही से प्रवृत्त हुआ है (गी. ४. १) इसलिये नहीं कहा जा सकता, कि गीता में 'राजविद्या' और 'राजगुह्य' शब्द 'राजाओं की विद्या' और 'राजाओं का गुह्य'--यानी राजमान्य विद्या और गुह्य--के अर्थ में उपयुक्त न हुए हों। परन्तु इन अर्थों को मान लेने पर भी यह ध्यान देने योग्य बात है, कि इस स्थान में ये शब्द ज्ञानमार्ग के लिए उपयुक्त नहीं हुए हैं। कारण यह है, कि गीता के जिस अध्याय में यह श्लोक आया है, उसमें भक्तिमार्ग का ही विशेष प्रतिपादन किया गया है (गी. ९. २२-३१ देखो)। और यद्यपि अन्तिम साध्य ब्रह्म एक ही है,--तथापि गीता में ही अध्यात्मविद्या का साधनात्मकज्ञानमार्ग केवल 'बुद्धिगम्य अतएव 'अव्यक्त' और 'दुःखकारक कहा गया है (गी. १२. ५) ऐसी अवस्था में यह असम्भव जान पड़ता है, कि भगवान् अब उसी ज्ञानमार्ग को 'प्रत्याक्षावगमम्' यानी व्यक्त और 'कर्तुं सुसुखम्' यानी आचरण करने में सुखकारक कहेंगे। अतएव प्रकरण की साम्यता के कारण, और केवल भक्तिमार्ग ही के लिये सर्वथा उपयुक्त होनेवाले 'प्रत्यक्षावगमं' तथा 'कर्तुं सुसुखम्' पदों की स्वारस्य-सत्ता के कारण, अर्थात् इन दोनों कारणों से--यही सिद्ध होता है, कि इस श्लोक में 'राजविद्या' शब्द से भक्तिमार्ग ही विवक्षित है। 'विद्या' शब्द केवल ब्रह्मज्ञान-सूचक नहीं है; किन्तु परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने के जो साधन या मार्ग हैं, उन्हें भी उपनिषदों में 'विद्या' ही कहा है। उदाहरणार्थ, शाण्डिल्यविद्या, प्राणविद्या, हार्दविद्या इत्यादि। वेदान्तसूत्र के तीसरे अध्याय के तीसरे पाद में, उपनिषदों में वर्णित ऐसी अनेक प्रकार की विद्याओं का अर्थात् साधनों का विचार किया गया है। उपनिषदों से यह भी विदित होता है, कि प्राचीन समय में ये सब-

विद्याएँ गुप्त रखी जाती थीं; और केवल शिष्यों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी उनका उपदेश नहीं किया जाता था। अतएव कोई भी विद्या हो, वह गुह्य अवश्य ही होगी। परन्तु ब्रह्मप्राप्ति के लिये साधनीभूत होनेवाली जो ये गुह्य विद्याएँ या मार्ग हैं, वे यद्यपि अनेक हों, तथापि उन सब में गीताप्रतिपादित भक्तिमार्गरूपी विद्या अर्थात् साधन श्रेष्ठ (गुह्यानां विद्यानां च राजा) है। क्योंकि हमारे मतानुसार उक्त श्लोक का भावार्थ यह है—कि वह (भक्तिमार्गरूपी साधन) ज्ञानमार्ग की विद्या के समान 'अव्यक्त' नहीं है; किन्तु वह 'प्रत्यक्ष' आँखों से दिखाई देनेवाला है; और इसी लिये उसका आचरण भी सुख से किया जाता है। यदि गीता में केवल बुद्धिगम्य ज्ञानमार्ग ही प्रतिपादित किया गया होता, तो वैदिकधर्म के सब सम्प्रदायों में आज सैकड़ों वर्ष से इस ग्रन्थ की जैसी चाह होती चली आ रही है, वैसी हुई होती या नहीं इसमें सन्देह है। गीता में जो मधुरता, प्रेम या रस भरा है, वह उसमें प्रतिपादित भक्तिमार्ग ही का परिणाम है। पहले तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने—जो परमेश्वर के प्रत्यक्ष अवतार हैं—यह गीता कही है; और उसमें भी दूसरी बात यह है, कि भगवान् ने अज्ञेय परब्रह्म का कोरा ज्ञान ही नहीं कहा है; किन्तु स्थान स्थान में प्रथम पुरुष का प्रयोग करके अपने सगुण और व्यक्त स्वरूप को लक्ष्य कर कहा है, कि "मुझमें यह सब गुंथा हुआ है" (७.७), "यह सब मेरी ही माया है" (७.१४), "मुझसे भिन्न और कुछ भी नहीं है" (७.७), "मुझे शत्रु और मित्र दोनों बराबर हैं" (९.२९), "मैंने इस जगत् को उत्पन्न किया है" (९.४), "मैं ही ब्रह्म का और मोक्ष का मूल हूँ (१४. २७) अथवा "मुझे 'पुरुषोत्तम' कहते" हैं (१५. १८); और अन्त में अर्जुन को यह उपदेश किया, कि "सब धर्मों को छोड़ तू अकेले मेरी शरण आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, डर मत" (१८.६६)। इसमें श्रोता की यह भावना हो जाती है, कि मानो मैं साक्षात् ऐसे पुरुषोत्तम के सामने खड़ा हूँ, कि जो समदृष्टि, परमपूज्य और अत्यन्त दयालु है; और तब आत्मज्ञान के विषय में उसकी निष्ठा भी बहुत दृढ़ हो जाती है। इतना ही नहीं; किन्तु गीता के अध्यायों का इस प्रकार पृथक् पृथक् विभाग न कर—कि एक बार ज्ञान का तो दूसरी बार भक्ति का प्रतिपादन हो—ज्ञान ही में भक्ति और भक्ति ही में ज्ञान को गूँथ दिया है; जिसका परिणाम यह होता है, कि ज्ञान और भक्ति में अथवा बुद्धि और प्रेम में परस्पर विरोध न होकर परमेश्वर के ज्ञान ही के साथ साथ प्रेमरस का भी अनुभव होता है; और सब प्राणियों के विषय में आत्मौपम्य बुद्धि की जागृति होकर अन्त में चित्त को विलक्षण शान्ति, समाधान और सुख प्राप्त होता है। इसी में कर्मयोग भी आ मिला है; मानों दूध में शक्कर मिल गई हो। फिर इसमें कोई आश्चर्य नहीं, जो हमारे पण्डितजनों ने यह सिद्धान्त किया, कि गीताप्रतिपादित ज्ञान ईशावास्योपनिषद् के कथनानुसार मृत्यु और अमृत अर्थात् इहलोक और परलोक दोनों जगह श्रेयस्कर है।

ऊपर किये गये विवेचन से पाठकों के ध्यान में यह बात आ जायगी, कि भक्ति-मार्ग किसे कहते हैं; ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग में समानता तथा विषमता क्या है; भक्तिमार्ग को राजमार्ग (राजविद्या) या सहज उपाय क्यों कहा है; और गीता में भक्ति को स्वतन्त्र निष्ठा क्यों नहीं माना है। परन्तु ज्ञानप्राप्ति के इस सुलभ, अनादि और प्रत्यक्ष मार्ग में भी धोखा खा जाने की एक जगह है। उसका भी कुछ विचार किया जाना चाहिये। नहीं तो सम्भव है, कि इस मार्ग से चलनेवाला पथिक असा-वधानता से गड्ढे में गिर पड़े। भगवद्गीता में इस गड्ढे का स्पष्ट वर्णन किया गया है; और वैदिक भक्तिमार्ग में अन्य भक्तिमार्गों की अपेक्षा जो कुछ विशेषता है, वह यही है। यद्यपि इस बात को सब लोग मानते हैं, कि परब्रह्म में मन को आसक्त करके चित्तशुद्धिद्वारा साम्यबुद्धि की प्राप्ति के लिये साधारणतया मनुष्यों के सामने परब्रह्म के 'प्रतीक' के नाते से कुछ-न-कुछ सगुण और व्यक्त वस्तु अवश्य होनी चाहिये--नहीं तो चित्त की स्थिरता हो नहीं सकती; तथापि इतिहास से देख पड़ता है, कि इस 'प्रतीक' के स्वरूप के विषयमें अनेक बार झगड़े और बखेड़े हो जाया करते हैं। अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से देखा जाय, तो इस संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं, कि जहाँ परमेश्वर न हो। भगवद्गीता में भी जब अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्ण से पूछा "तुम्हारी किन किन विभूतियों के रूप से, चिन्तन (भजन) किया जावे, सो मुझे बतलाइये" (गी. १०. १८); तब दसवें अध्याय में भगवान् ने इस स्थावर और जंगम सृष्टि में व्याप्त अपनी अनेक विभूतियों का वर्णन करके कहा है, कि मैं इन्द्रियों में मन, स्थावरों में हिमालय, यज्ञों में जपयज्ञ, सर्पों में वासुकि, दैत्यों में प्रह्लाद, पितरों में अर्यमा, गन्धर्वोंमें चित्ररथ, वृक्षों में अश्वत्थ, पक्षियों में गरुड, महर्षियों में भृगु, अक्षरों में अकार, और आदित्यों में विष्णु हूँ; और अन्त में यह कहा--

यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

"हे अर्जुन! यह जानो, कि जो कुछ वैभव, लक्ष्मी और प्रभाव से युक्त हो, वह मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ है" (१०.४१); और अधिक क्या कहा जाय? मैं अपने एक अंश मात्र से इस सारे जगत् में व्याप्त हूँ! इतना कह कर अगले अध्याय में विश्वरूपदर्शन से अर्जुन को इसी सिद्धान्त की प्रत्यक्ष प्रतीति भी करा दी है। यदि इस संसार में दिखलाई देनेवाले सब पदार्थ या गुण परमेश्वर ही के रूप यानी प्रतीक हैं, तो यह कौन और कैसे कह सकता है, कि उनमें से किसी एक ही में परमेश्वर है; और दूसरे में नहीं? न्यायतः यही कहना पड़ता है, कि वह दूर है; और समीप भी है। सत् और असत् होने पर भी वह उन दोनों से परे है; अथवा गरुड और सर्प, मृत्यु और मारनेवाला, विघ्नकर्ता और विघ्नहर्ता, भयकृत् और भयानाशक, घोर और अघोर, शिव और अशिव, वृष्टि करनेवाला और उसको

रोकनेवाला भी (गी ९. १९ और १०. ३२) वही है। अतएव भगवद्भक्त तुकाराम महाराज ने भी इसी भाव से कहा है—

छोटा बड़ा कहें जो कुछ हम।
फबता है सब तुझे महत्तम ॥

इस प्रकार विचार करने पर मालूम होता है, कि प्रत्येक वस्तु अंशतः परमेश्वर ही का स्वरूप है। तो फिर जिन लोगों के ध्यानमें परमेश्वर का यह सर्वव्यापी स्वरूप एकाएक नहीं आ सकता, वे यदि इस अव्यक्त और शुद्ध रूप को पहचानने के लिये इन अनेक वस्तुओं में से किसी एक को साधन या प्रतीक समझ कर उसकी उपासना करें, तो क्या हानि है ? कोई मनकी उपासना करेंगे, तो कोई द्रव्ययज्ञ या जपयज्ञ करेंगे। कोई गरुड की भक्ति करेंगे, तो कोई ॐ मंत्राक्षर ही का जप करेगा; कोई विष्णु का, कोई शिव का, कोई गणपति का और कोई भवानी का भजन करेंगे। कोई अपने मातापिता के चरणों में ईश्वरभाव रख कर उनकी सेवा करेंगे; और कोई इससे भी अधिक व्यापक सर्वभूतात्मक विराट् पुरुष की उपासना पसन्द करेंगे। कोई कहेंगे सूर्य को भजो; और कोई कहेंगे, कि राम या कृष्ण सूर्य से भी श्रेष्ठ हैं। परन्तु अज्ञान से या मोह से जब यह दृष्टि छूट जाती है, कि "सब विभूतियों का मूलस्थान एक ही परब्रह्म है;" अथवा जब किसी धर्म के मूलसिद्धान्तों में ही यह व्यापक दृष्टि नहीं होती, तब अनेक प्रकार के उपास्यों के विषय में वृथाभिमान और दुराग्रह उत्पन्न हो जाता है; और कभी कभी तो लड़ाइयाँ हो जाने तक नौबत आ पहुँचती है। वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई या मुहम्मदी धर्मों के परस्परविरोध की बात छोड़ दें और केवल ईसाई धर्म को ही देखें; तो यूरोप के इतिहाससे यही देख पड़ता है, कि एकही सगुण और व्यक्त ईसामसीह के उपासकों में भी विधिभेदों के कारण एक दूसरे की जान लेने तक की नौबत आ चुकी थी। इस देश के सगुण उपासकों में भी अब तक यह झगड़ा देख पड़ता है, कि हमारा देव निराकार होने के कारण अन्य लोगों के साकार देव से श्रेष्ठ है ! भक्तिमार्ग में उत्पन्न होनेवाले इन झगड़ों का निर्णय करने के लिये कोई उपाय है या नहीं ? यदि है तो वह कौनसा उपाय है ? जब तक इसका ठीक ठीक विचार नहीं हो जायगा, तब तक भक्तिमार्ग बेखटके का या बग़ैर धोखे का नहीं कहा जा सकता। इस लिये अब यही विचार किया जायगा, कि गीता में इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया गया है। कहना नहीं होगा, कि हिंदुस्थान की वर्तमान दशा में इस विषय का यथोचित विचार करना विशेष महत्त्व की बात है।

साम्यबुद्धि की प्राप्ति के लिये मन को स्थिर करके परमेश्वर की अनेक सगुण विभूतियों में से किसी एक विभूति के स्वरूप का प्रथमतः चिन्तन करना अथवा उसको प्रतीक समझकर प्रत्यक्ष नेत्रों के सामने रखना, इत्यादि साधनों का वर्णन प्राचीन उपनिषदों में भी पाया जाता है; और रामतापनी सरीखे उत्तरकालीन उपनिषद् में या गीता में भी मानवरूपधारी सगुण परमेश्वर की निस्सीम और एकान्तिक

भक्ति को ही परमेश्वरप्राप्ति का मुख्य साधन माना है। परन्तु साधन की दृष्टि से यद्यपि वासुदेवभक्ति को गीता में प्रधानता दी गई है, तथापि अध्यात्मदृष्टि से विचार करने पर वेदान्तसूत्र की नाईं (वे. सू. ४. १. ४) गीता में भी यही स्पष्ट रीति से कहा है, कि 'प्रतीक' एक प्रकार का साधन है—वह सत्य, सर्वव्यापी और नित्य परमेश्वर हो नहीं सकता। अधिक क्या कहें? नामरूपात्मक और व्यक्त अर्थात् सगुण वस्तुओं में से किसी को भी लीजिये; वह माया ही है। जो सत्य परमेश्वर को देखना चाहता है, उसे इस सगुण रूप के भी परे अपनी दृष्टि को ले जाना चाहिये। भगवान् की जो अनेक विभूतियाँ हैं, उनमें अर्जुन को दिखलाये गये विश्वरूप से अधिक व्यापक और कोई भी विभूति हो नहीं सकती। परन्तु जब यही विश्वरूप भगवान् ने नारद को दिखलाया तब उन्होंने कहा है, "तू मेरे जिस रूप को देख रहा है वह सत्य नहीं है, यह माया है, मेरे सत्य स्वरूप को देखने के लिये इसके भी आगे तुझे जाना चाहिये" (शां. ३३९. ४४); और गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से स्पष्ट रीति से यही कहा है—

> अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
> परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

यद्यपि मैं अव्यक्त हूँ, तथापि मूर्ख लोग मुझे व्यक्त (गी. ७. २४) अर्थात् मनुष्य देहधारी मानते हैं (गी. ९. ११); परन्तु यह बात सच नहीं है। मेरा अव्यक्त स्वरूप ही सत्य है। इसी तरह उपनिषदों में भी यद्यपि उपासना के लिये मन, वाचा, सूर्य, आकाश इत्यादि अनेक व्यक्त और अव्यक्त ब्रह्मप्रतीकों का वर्णन किया गया है; तथापि अन्त में यह कहा है, कि जो वाचा, नेत्र या कान को गोचर हो, वह ब्रह्म नहीं; जैसे—

> यन्मनसा न मनुते येनाऽऽहुर्मनो मतम्।
> तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

"मन से जिसका मनन नहीं किया जा सकता; किन्तु मन ही जिसकी मननशक्ति में आ जाता है, उसे तू ब्रह्म समझ। जिसकी उपासना की (प्रतीक के तौरपर) जाती है वह (सत्य) ब्रह्म नहीं है" (केन १. ५-८,)। "नेति नेति" सूत्र का भी यही अर्थ है। मन और आकाश को लीजिये; अथवा व्यक्त उपासना मार्ग के अनुसार शालग्राम, शिवलिंग इत्यादि को लीजिये, या श्रीराम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषों की अथवा साधुपुरुषों की व्यक्त मूर्ति का चिन्तन कीजिये; मंदिरों में शिलामय अथवा धातुमय देव की मूर्ति को देखिये, अथवा बिना मूर्ति का मंदिर, या मसजिद लीजिये;—ये सब छोटे बच्चे की लँगड़ी-गाड़ी के समान मन को स्थिर करने के लिये अर्थात् चित्त की वृत्ति को परमेश्वर की ओर झुकाने के साधन हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी इच्छा और अधिकार के अनुसार उपासना के लिये किसी प्रतीक को स्वीकार कर लेता है। यह प्रतीक चाहे कितना ही प्यारा हो; परन्तु इस

बात को नहीं भूलना चाहिये, कि सत्य परमेश्वर इस "प्रतीक में नहीं है"—"न प्रतीके न हि सः" (वे. सू. ४. १. ४)—उसके परे है। इसी हेतु से भगवद्गीता में भी सिद्धान्त किया गया है, कि "जिन्हें मेरी माया मालूम नहीं होती वे मूढजन मुझे नहीं जानते" (गीता ७. १३-१५)। भक्तिमार्ग में मनुष्य का उद्धार करने की जो शक्ति है, वह कुछ सजीव अथवा निर्जीव मूर्ति में या पत्थरों की इमारतों में नहीं है; किन्तु उस प्रतीक में उपासक अपने सुभीते के लिये जो ईश्वरभावना रखता है, वही यथार्थ में तारक होती है। चाहे प्रतीक पत्थर का हो, मिट्टी का हो, धातु का हो या अन्य किसी पदार्थ का हो; उसकी योग्यता 'प्रतीक' से अधिक कभी नहीं हो सकती। इस प्रतीक में जैसा हमारा भाव होगा, ठीक उसी के अनुसार हमारी भक्ति का फल परमेश्वर—प्रतीक नहीं—हमें दिया करता है। फिर ऐसा बखेड़ा मचाने से क्या लाभ, कि हमारा प्रतीक श्रेष्ठ है और तुम्हारा निकृष्ट? यदि भाव शुद्ध न हो, तो केवल प्रतीक की उत्तमता से ही क्या लाभ होगा? दिन भर लोगों को धोखा देने और फँसाने का धंधा करके सुबह-शाम या किसी त्योहार के दिन देवालय में देवदर्शन के लिये अथवा किसी निराकार देव के मंदिर में उपासना के लिये जाने से परमेश्वर की प्राप्ति असम्भव है। कथा सुनने के लिये देवालय में जानेवाले कुछ मनुष्यों का वर्णन रामदास स्वामी ने इस प्रकार किया है—"कोई कोई विषयी लोग कथा सुनते समय स्त्रियों ही की ओर घूरा करते हैं; चोर लोग पादत्राण (जूते) चुरा ले जाते हैं" (दास. १८. १०. २६)। यदि केवल देवालय में या देवता की मूर्ति ही में तारकशक्ति हो, तो ऐसे लोगों को भी मुक्ति मिल जानी चाहिये। कुछ लोगों की समझ है, कि परमेश्वर की भक्ति केवल मोक्ष ही के लिये की जाती है; परन्तु जिन्हें किसी व्यावहारिक या स्वार्थ की वस्तु चाहिये, वे भिन्न भिन्न देवताओं की आराधना करें। गीता में भी इस बात का उल्लेख किया गया है, कि ऐसी स्वार्थबुद्धि से कुछ लोग भिन्न भिन्न देवताओं की पूजा किया करते हैं (गी. ७. २०)। परन्तु इसके आगे गीता ही का कथन है, कि यह समझ तात्त्विक दृष्टि से सच नहीं मानी जा सकती, कि इन देवताओं की आराधना करने से वे स्वयं कुछ फल देते हैं (गी. ७. २१)। अध्यात्मशास्त्र का यह चिरस्थायी सिद्धान्त है (वे. सू. ३. २. ३८. ४१); और यही सिद्धान्त गीता को भी मान्य है, (गी. ७. २२) कि मन में किसी भी वासना या कामना को रखकर किसी भी देवता की आराधना की जावे; उसका फल सर्वव्यापी परमेश्वर ही दिया करता है, न कि देवता। यद्यपि फलदाता परमेश्वर इस प्रकार एकही हो, तथापि वह प्रत्येक के भले-बुरे भावों के अनुसार भिन्न भिन्न फल दिया करता है (वे. सू. २. १. ३४. ३७)। इसलिये यह देख पड़ता है, कि भिन्न भिन्न देवताओं की या प्रतीकों की उपासना के फल भी भिन्न भिन्न होते हैं। इसी अभिप्राय को मन में रख कर भगवान् ने कहा है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

" मनुष्य श्रद्धामय है । प्रतीक कुछ भी हो; परन्तु जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह हो जाता है " (गी. १७. ३. मैत्र्यु. ४. ६) । अथवा—

यांति देवव्रता देवान् पितृन् यांति पितृव्रताः ।
भूतानि यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

" देवताओं की भक्ति करनेवाले देवलोक में, पितरों की भक्ति करनेवाले पितृलोक में, भूतों की भक्ति करनेवाले भूतों में जाते हैं; और मेरी भक्ति करनेवाले मेरे पास आते " (गी. ९. २५); या—

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥

" जो जिस प्रकार मुझे भजते हैं, उसी प्रकार मैं उन्हें भजता हूँ " (गी.४.११) । सब लोग जानते हैं, कि शालग्राम सिर्फ़ एक पत्थर है । उसमें यदि विष्णु का भाव रखा जाय, तो विष्णुलोक मिलेगा; और यदि उसी प्रतीक में यक्ष, राक्षस आदि भूतों की भावना की जाय, तो यक्ष, राक्षस आदि भूतों के ही लोक प्राप्त होंगे । यह सिद्धान्त हमारे सब शास्त्रकारों को मान्य है, कि फल हमारे भाव में है; प्रतीक में नहीं । लौकिक व्यवहार में किसी मूर्ति की पूजा करने के पहले उसकी प्राणप्रतिष्ठा करने की जो रीति है, उसका भी रहस्य यही है । जिस देवता की भावना से उस मूर्ति की पूजा करनी हो, उस देवता की प्राणप्रतिष्ठा उस मूर्ति में की जाती है । किसी मूर्ति में परमेश्वर की भावना न रख कोई यह समझ कर उसकी पूजा या आराधना नहीं करते, कि यह मूर्ति किसी विशिष्ट आकार की, सिर्फ़ मिट्टी, पत्थर या धातु है । और यदि कोई ऐसा करे भी, तो गीता के उक्त सिद्धान्त के अनुसार उसको मिट्टी, पत्थर या धातु ही की दशा निस्सन्देह प्राप्त होगी । जब प्रतीक में स्थापित या आरोपित किये गये हमारे आंतरिक भाव में इस प्रकार भेद कर लिया जाता है, तब केवल प्रतीक के विषय में झगड़ा करते रहने का कोई कारण नहीं रह जाता । क्योंकि अब तो यह भाव ही नहीं रहता, कि प्रतीक ही देवता है । सब कर्मों के फलदाता और सर्वसाक्षी परमेश्वर की दृष्टि अपने भक्तजनों के भाव की ओर ही रहा करती है । इसीलिये साधु तुकाराम कहते हैं, कि " देव भाव का ही भूखा है "—प्रतीक का नहीं । भक्तिमार्ग का यह तत्त्व जिसे भली भाँति मालूम हो जाता है, उसके मन में यह दुराग्रह नहीं रहने पाता, कि " मैं जिस ईश्वरस्वरूप या प्रतीक की उपासना करता हूँ, वही सच्चा है; और अन्य सब मिथ्या हैं । " किन्तु उसके अन्तःकरण में ऐसी उदारबुद्धि जागृत हो जाती है, कि "किसी का प्रतीक कुछ भी हो; परन्तु जो लोग उसके द्वारा परमेश्वर का भजन-पूजन किया करते हैं, वे सब एक ही परमेश्वर में जा मिलते हैं । " और तब उसे भगवान् के इस कथन की प्रतीति होने लगती है, कि—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥

अर्थात् " चाहे विधि, अर्थात् ब्रह्मोपचार या साधन। शास्त्र के अनुसार न हो; तथापि अन्य देवताओं का श्रद्धापूर्वक (यानी उन में शुद्ध परमेश्वर का भाव रख कर) यजन करनेवाले लोग (पर्याय से) मेरा ही यजन करते हैं (गी. ९. २३)। भागवत में भी इसी अर्थ का वर्णन कुछ शब्दभेद के साथ किया गया है (भाग. १०. पू. ४०. ८. १०); शिवगीता में तो उपर्युक्त श्लोक ज्यों-का-त्यों पाया जाता है (शिव १२. ४); और "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋ. १, १६४. ४६) इस वेदवचन का तात्पर्य भी वही है। इससे सिद्ध होता है, कि यह तत्त्व वैदिकधर्म में बहुत प्राचीन समय से चला आ रहा है। और यह इसी तत्त्व का फल है, कि आधुनिक काल में श्रीशिवाजी महाराज के समान वैदिकधर्मीय वीरपुरुष के स्वभाव में, उनके परम उत्कर्ष के समय में भी परधर्म–असहिष्णुता–रूपी दोष देख नहीं पड़ता था। यह मनुष्यों की अत्यन्त शोचनीय मूर्खता का लक्षण है, कि वे इस सत्य तत्त्व को तो नहीं पहचानते, कि ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और उसके भी परे—अर्थात् अचिंत्य है; किन्तु वे ऐसे नामरूपात्मक व्यर्थ अभिमान के आधीन हो जाते हैं, कि ईश्वर ने अमुक समय, अमुक देश में, अमुक माता के गर्भ से, अमुक वर्ण का, नाम का या आकृति का जो व्यक्त स्वरूप धारण किया, वही केवल सत्य है; और इस अभिमान में फँसकर एक दूसरे की जान लेने तक को उतारू हो जाते हैं। गीताप्रतिपादित भक्तिमार्ग को 'राजविद्या' कहा है सही; परन्तु यदि इस बात की खोज की जाय, कि जिस प्रकार स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही ने " मेरा दृश्य स्वरूप भी केवल माया ही है; मेरे यथार्थ स्वरूप को जानने के लिये इस माया से भी परे जाओ;" कह कर यथार्थ उपदेश किया है, उस प्रकार का उपदेश और किसने किया है? एवं "अविभक्तं विभक्तेषु" इस सात्त्विक ज्ञानदृष्टि से सब धर्मों की एकता को पहचान कर, भक्तिमार्ग के थोथे झगड़ों की जड़ ही को काट डालनेवाले धर्मगुरु पहले पहल कहाँ अवतीर्ण हुए ? अथवा उनके मतानु-यायी अधिक कहाँ हैं? तो कहना पड़ेगा, कि इस विषय में हमारी पवित्र भारतभूमि को ही अग्रस्थान दिया जाना चाहिये। हमारे देशवासियों को राजविद्या का और राज-गुह्य का यह साक्षात् पारस अनायास ही प्राप्त हो गया है। परन्तु जब हम देखते हैं, कि हममें से ही कुछ लोग अपनी आँखों पर अज्ञानरूपी चश्मा लगाकर उस पारस को चकमक पत्थर कहने के लिये तैयार हैं, तब इसे अपने दुर्भाग्य के सिवा और क्या कहें!

प्रतीक कुछ भी हो; भक्तिमार्ग का फल प्रतीक में नहीं है। किन्तु उस प्रतीक में जो हमारा आन्तरिक भाव होता है, उस भाव में है। इसलिये यह सच है, कि प्रतीक के बारे में झगड़ा मचाने से कुछ लाभ नहीं। परन्तु अब यह शंका है, कि वेदान्त की दृष्टि से जिस शुद्ध परमेश्वरस्वरूप की भावना प्रतीक में आरोपित करनी पड़ती है, उस शुद्ध परमेश्वरस्वरूप की कल्पना बहुतेरे लोग अपनी प्रकृतिस्वभाव या अज्ञान के कारण ठीक ठीक कर नहीं सकते; ऐसी अवस्था में इन लोगों के लिये

प्रतीक में शुद्ध भाव रख कर परमेश्वर की प्राप्ति कर लेने का कौन-सा उपाय है ? यह कह देने से काम नहीं चल सकता, कि 'भक्तिमार्ग में ज्ञान का काम श्रद्धा से हो जाता है । इसलिये विश्वास से या श्रद्धा से परमेश्वर के शुद्धस्वरूप को जान कर प्रतीक में भी वही भाव रखो । बस; तुम्हारा भाव सफल हो जायगा ।' कारण यह है, कि भाव रखना मन का अर्थात् श्रद्धा का धर्म है सही; परन्तु उसे बुद्धि की थोड़ी-बहुत सहायता बिना मिले कभी काम नहीं चल सकता । अन्य सब मनोधर्मों के अनुसार केवल श्रद्धा या प्रेम भी एक प्रकार से अन्धे ही हैं । यह बात केवल श्रद्धा या प्रेम को कभी मालूम हो नहीं सकती, कि किस पर श्रद्धा रखनी चाहिये; और किस पर नहीं । अथवा किस से प्रेम करना चाहिये और किस से नहीं । यह काम प्रत्येक मनुष्य को अपनी बुद्धि से ही करना पड़ता है; क्योंकि निर्णय करने के लिये बुद्धि के सिवा कोई दूसरी इंद्रिय नहीं है । सारांश यह है, कि चाहे किसी मनुष्य की बुद्धि अत्यन्त तीव्र न भी हो; तथापि उसमें यह जानने का सामर्थ्य तो अवश्य ही होना चाहिये, कि श्रद्धा, प्रेम या विश्वास कहाँ रखा जावे । नहीं तो अन्धश्रद्धा और उसी के साथ अन्धप्रेम भी धोखा खा जायगा; और दोनों गड्ढे में जा गिरेंगे । विपरीत पक्ष में यह भी कहा जा सकता है, कि श्रद्धारहित केवल बुद्धि ही यदि कुछ काम करने लगे, तो कोरे युक्तिवाद और तर्कज्ञान में फँस कर न जाने वह कहाँ कहाँ भटकती रहेगी; वह जितनी ही अधिक तीव्र होगी, उतनी ही अधिक भड़केगी । इसके अतिरिक्त इस प्रकरण के आरम्भ ही में कहा जा चुका है, कि श्रद्धा आदि मनोधर्मों की सहायता बिना केवल बुद्धिगम्य ज्ञान में कर्तृत्वशक्ति भी उत्पन्न नहीं होती । अतएव श्रद्धा और ज्ञान अथवा मन और बुद्धि का हमेशा साथ रहना आवश्यक है । परन्तु मन और बुद्धि दोनों त्रिगुणात्मक प्रकृति ही के विचार हैं । इसलिये उनमें से प्रत्येक के जन्मतः तीन भेद—सात्त्विक, राजस और तामस हो सकते हैं । और यद्यपि उनका साथ हमेशा बना रहे, तो भी भिन्न भिन्न मनुष्यों में उनकी जितनी शुद्धता या अशुद्धता होगी, उसी हिसाब से मनुष्य के स्वभाव, समझ और व्यवहार भी भिन्न भिन्न हो जावेंगे । यही बुद्धि केवल जन्मतः अशुद्ध, राजस या तामस हो, तो उसका किया हुआ भले-बुरे का निर्णय ग़लत होगा; जिसका परिणाम यह होगा, कि अन्धश्रद्धा के सात्त्विक अर्थात् शुद्ध होने पर भी वह धोखा खा जायगा । अच्छा; यदि श्रद्धा ही जन्मतः अशुद्ध हो, तो बुद्धि के सात्त्विक होने से भी कुछ लाभ नहीं । क्योंकि ऐसी अवस्था में बुद्धि की आज्ञा को मानने के लिये श्रद्धा तैयार ही नहीं रहती । परन्तु साधारण अनुभव यह है, कि बुद्धि और मन दोनों अलग अलग अशुद्ध नहीं रहते । जिसकी बुद्धि जन्मतः अशुद्ध होती है, उसका मन अर्थात् श्रद्धा भी प्रायः न्यूनाधिक अशुद्ध अवस्था ही में रहती है; और फिर यह अशुद्ध बुद्धि स्वभावतः अशुद्ध अवस्था में रहनेवाली श्रद्धा को अधिकाधिक भ्रम में डाल दिया करती है । ऐसी अवस्था में रहनेवाले किसी मनुष्य को परमेश्वर के शुद्धस्वरूप का चाहे जैसा उपदेश किया जाय; परन्तु वह उसके मन में

जँचता ही नहीं। अथवा यह भी देखा गया है, कि कभी कभी--विशेषतः श्रद्धा और बुद्धि दोनों ही जन्मतः अपक्व और कमज़ोर हों, तब--वह मनुष्य उसी उपदेश का विपरीत अर्थ किया करता है। इसका एक उदाहरण लीजिये। जब ईसाई धर्म के उपदेशक आफ्रिकानिवासी नीग्रो जातिके जंगली लोगों को अपने धर्म का उपदेश करने लगते हैं, तब उन्हें आकाश में रहनेवाले पिता की अथवा ईसामसीह की भी यथार्थ कुछ भी कल्पना हो नहीं सकती। उन्हें जो कुछ बतलाया जाता है, उसे वे अपनी अपक्वबुद्धि के अनुसार अयथार्थभाव से ग्रहण किया करते हैं। इसीलिये एक अंग्रेज़ ग्रन्थकारने लिखा है, कि उन लोगों में सुधरे हुए धर्म को समझने की पात्रता लाने के लिये सब से पहले उन्हें अर्वाचीन मनुष्यों की योग्यता को पहुँचा देना चाहिये*। भवभूति के इस दृष्टांत में भी वही अर्थ है--एक ही गुरु के पास पढ़े हुए शिष्यों में भिन्नता देख पड़ती है। यद्यपि सूर्य एक ही है, तथापि उसके प्रकाश से काँच के मणि से आग निकलती है; और मिट्टी के ढेले पर कुछ भी परिणाम नहीं होता (उ. राम. २. ४)। प्रतीत होता है, कि प्रायः इसी कारण से प्राचीन समय में शूद्र आदि अज्ञजन वेदश्रवण के लिये अनधिकारी माने जाते होंगे †। गीता में भी इस विषय की चर्चा की गई है। जिस प्रकार बुद्धि के स्वभावतः सात्त्विक, राजस और तामस भेद हुआ करते हैं (१८. ३०-३२) उसी प्रकार श्रद्धा के स्वभावतः तीन भेद होते हैं (१७. २)। प्रत्येक व्यक्ति के देहस्वभाव के अनुसार उसकी श्रद्धा भी स्वभावतः भिन्न हुआ करती है (१७. ३)। इसलिये भगवान कहते हैं, कि जिन लोगों की श्रद्धा सात्त्विक है, वे देवताओंमें; जिनकी श्रद्धा राजस ,वे यक्ष-राक्षस आदि में; और जिनकी श्रद्धा तामस है, वे भूत-पिशाच आदि में विश्वास करते हैं (गी. १७. ४-६)। यदि मनुष्य की श्रद्धा का अच्छापन या बुरापन इस प्रकार नैसर्गिक स्वभाव पर अवलंबित है, तो अब यह प्रश्न होता है, कि य ाशक्ति भक्तिभावसे इस श्रद्धा में कुछ सुधार हो सकता है, या नहीं; और वह किसी समय शुद्ध अर्थात् सात्त्विक अवस्था को पहुँच सकती है, या नहीं? भक्तिमार्ग के उक्त प्रश्न का स्वरूप कर्मविपाकप्रक्रिया के ठीक इस प्रश्न के समान है, कि ज्ञान की प्राप्ति कर लेने के लिये मनुष्य स्वतंत्र है, या नहीं? कहने की आवश्यकता नहीं, कि इन दोनों प्रश्नों का उत्तर एक ही है। भग-

*" And the only way, I suppose, in which beings of so low an order of development (*e. g.* an Australian savage or a Bushman) could be raised to a civilized level of feeling and thought would be by cultivation continued through several generations; they would have to undergo a gradual process of humanization before they could attain to the capacity of civilization." Dr. Maudsley's *Body and Mind*. Ed. 1873. p. 57.

† See Maxmuller's *Three Lectures on the Vedanta Philosophy*. pp. 72, 73.

वान् ने अर्जुन को पहले यही उपदेश किया, कि "मय्येव मन आधत्स्व" (गी. १२.८) अर्थात् मेरे शुद्धस्वरूप में तू अपने मन को स्थिर कर; और इसके बाद परमेश्वरस्वरूप को मन में स्थिर करने के लिये भिन्न भिन्न उपायों का इस प्रकार वर्णन किया है—"यदि तू मेरे स्वरूप में अपने चित्त को स्थिर न कर सकता हो, तो तू अभ्यास अर्थात् बारबार प्रयत्न कर। यदि तुझ से अभ्यास भी न हो सके, तो मेरे लिये चित्तशुद्धिकारक कर्म कर। यदि यह भी न हो सके, तो कर्मफल का त्याग कर; और उससे मेरी प्राप्ति कर ले" (गी. १२. ९. ११; भाग. ११. ११. २१–२५)। यदि मूल देहस्वभाव अथवा प्रकृति तामस हो, तो परमेश्वर के शुद्धस्वरूप में चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न एकदम या एकही जन्म में सफल नहीं होगा। परन्तु कर्मयोग के समान भक्तिमार्ग में भी कोई बात निष्फल नहीं होती। स्वयं भगवान् सब लोगों को इस प्रकार भरोसा देते हैं—

बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

जब कोई मनुष्य एक बार भक्तिमार्ग से चलने लगता है, तब इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में, अगले जन्म में नहीं तो उसके आगे के जन्म में, कभी-न-कभी, उसको परमेश्वर के स्वरूप का ऐसा यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है, कि "यह सब वासुदेवात्मक ही है;" और इस ज्ञान से अन्त में उसे मुक्ति भी मिल जाती है (गी. ७. १९)। छठवें अध्याय में भी इसी प्रकार कर्मयोग का अभ्यास करनेवाले के विषय में कहा गया है, कि "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" (६. ४५) और भक्ति-मार्ग के लिये भी यही नियम उपयुक्त होता है। भक्त को चाहिये, कि वह जिस देव का भाव प्रतीक में रखना चाहे, उसके स्वरूप को अपने देहस्वभाव के अनुसार पहले ही से यथाशक्ति शुद्ध मान ले। कुछ समय तक इसी भावना का फल परमेश्वर (प्रतीक नहीं) दिया करता है (७. २२)। परन्तु इसके आगे चित्त-शुद्धि के लिये किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती। यदि परमेश्वर की वही भक्ति यथामति हमेशा जारी रहे, तो भक्त के अन्तःकरण की भावना आप-ही-आप उन्नत हो जाती है। परमेश्वरसंबंधी ज्ञान की वृद्धि भी होने लगती है। मन की ऐसी अवस्था हो जाती है, कि "वासुदेवः सर्वम्" उपास्य और उपासक का भेदभाव शेष नहीं रह जाता; और अन्त में शुद्ध ब्रह्मानंद में आत्मा का लय हो जाता है। मनुष्य को चाहिये, कि वह अपने प्रयत्न की मात्रा को कभी कम न करे। सारांश यह है, कि जिस प्रकार किसी मनुष्य के मन में कर्मयोग की जिज्ञासा उत्पन्न होते ही वह धीरे धीरे पूर्ण सिद्धि की ओर आप-ही-आप आकर्षित हो जाता है (गी. ६. ४४); उसी प्रकार गीताधर्म का यह सिद्धान्त है, कि जब भक्तिमार्ग में भी कोई भक्त एक बार अपने तईं ईश्वर को सौंप देता है, तो स्वयं भगवान् ही उसकी निष्ठा को बढ़ाते चले जाते हैं; और अन्त में अपने यथार्थस्वरूप का पूर्ण-

ज्ञान भी करा देते हैं (गी. ७. २१; १०.१०)। इसी ज्ञान से—न कि केवल कोरी और अन्य श्रद्धा से—भगवद्भक्त को अन्त में पूर्ण सिद्धि मिल जाती है। भक्ति-मार्ग से इस प्रकार ऊपर चढ़ते चढ़ते अन्त में जो स्थिति प्राप्त होती है, वह और ज्ञानमार्ग से प्राप्त होनेवाली अन्तिम स्थिति, दोनों एक ही समान हैं। इसलिये गीता को पढ़नेवालों के ध्यान में यह बात सहज ही आ जायगी, कि बारहवें अध्याय में भक्तिमान् पुरुष की अन्तिम स्थिति का जो वर्णन किया गया है, वह दूसरे अध्याय में किये गये स्थितप्रज्ञ के वर्णन ही के समान है। इससे यह बात प्रगट होती है, कि यद्यपि आरम्भ में ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग भिन्न हों, तथापि जब कोई अपने अधिकारभेद के कारण ज्ञानमार्ग से या भक्तिमार्ग से चलने लगता है, तब अन्त में ये दोनों मार्ग एकत्र मिल जाते हैं। और जो गति ज्ञानी को प्राप्त होती है, वही गति भक्त को भी मिला करती है। इन दोनों मार्गों में भेद सिर्फ़ इतना ही है, कि ज्ञानमार्ग में आरम्भ ही से बुद्धि के द्वारा परमेश्वरस्वरूप का आकलन करना पड़ता है; और भक्तिमार्ग में यही स्वरूप श्रद्धा की सहाय्यता से ग्रहण कर लिया जाता है। परन्तु यह प्राथमिक भेद आगे नष्ट हो जाता है; और भगवान् स्वयं कहते हैं कि—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिं अचिरेणाधिगच्छति ॥

अर्थात् "जब श्रद्धावान् मनुष्य इन्द्रियनिग्रहद्वारा ज्ञानप्राप्ति का प्रयत्न करने लगता है, तब उसे ब्रह्मात्मैक्यरूप-ज्ञान का अनुभव होता है; और फिर उस ज्ञान से उसे शीघ्र ही पूर्ण शांति मिलती है" (गी. ४. ३९); अथवा—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् * ॥

अर्थात् "मेरे स्वरूप का तात्त्विक ज्ञान भक्ति से होता है; और जब यह ज्ञान हो जाता है, तब (पहले नहीं) वह भक्त मुझमें आ मिलता है" (गी. १८. ५५ और ११, ५४ भी देखिये)। परमेश्वर का पूरा ज्ञान होने के लिये इन दो मार्गों के सिवा कोई तीसरा मार्ग नहीं है। इसलिये गीता में यह बात स्पष्ट रीतिसे कह दी गई है, कि जिसे न तो स्वयं अपनी बुद्धि है, और न श्रद्धा; उसका सर्वथा नाश ही समझिये—"अज्ञश्चा-श्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति" (गी. ४. ४०)।

ऊपर कहा गया है, कि श्रद्धा और भक्ति से अन्त में पूर्ण ब्रह्मात्मैक्यज्ञान प्राप्त होता है। इस पर कुछ तार्किकों की यह दलील है, कि यदि भक्तिमार्ग का

---

* इस श्लोक के 'अभि' उपसर्ग पर ज़ोर देकर शाण्डिल्यसूत्र (सू. १५) में यह दिखलान का प्रयत्न किया गया है, कि भक्ति ज्ञान का साधन नहीं है; किन्तु वह स्वतंत्र साध्य या निष्ठा है। परन्तु यह अर्थ अन्य सांप्रदायिक अर्थों के समान आग्रह का है—सरल नहीं है।

आरम्भ इस द्वैतभाव से ही किया जाता है, कि उपास्य भिन्न है; और उपासक भी भिन्न है; तो अन्त में ब्रह्मात्मैक्यरूप ज्ञान कैसे होगा ? परन्तु यह दलील केवल भ्रांति-मूलक है। यदि ऐसे तार्किकों के कथन का सिर्फ़ इतना अर्थ हो, कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के होने पर भक्ति का प्रवाह रुक जाता है; तो उसमें कुछ आपत्ति देख नहीं पड़ती। क्योंकि अध्यात्मशास्त्र का भी यही सिद्धान्त है, कि जब उपास्य, उपासक और उपासनारूपी त्रिपुटी का लय हो जाता है; तब वह व्यापार बन्द हो जाता है, जिसे व्यवहार में भक्ति कहते हैं। परन्तु यदि उक्त दलील का यह अर्थ हो, कि द्वैतमूलक भक्तिमार्ग से अन्त में अद्वैतज्ञान हो ही नहीं सकता; तो यह दलील न केवल तर्कशास्त्र की दृष्टि से, किन्तु बड़े बड़े भगवद्भक्तों के अनुभव के आधार से भी मिथ्या सिद्ध हो सकती है। तर्कशास्त्र की दृष्टि से इस बात में कुछ रुकावट नहीं देख पड़ती, कि परमेश्वरस्वरूप में किसी भक्त का चित्त ज्यों ज्यों अधि-काधिक स्थिर होता जावे, त्यों त्यों उसके मन से भेदभाव भी छूटता चला जावे। ब्रह्म-सृष्टि में भी हम यही देखते हैं, कि यद्यपि आरम्भ में पारे की बूँदें भिन्न भिन्न होती हैं; तथापि वे आपस में मिल कर एकत्र हो जाती हैं। इसी प्रकार अन्य पदार्थों में भी एकीकरण की क्रिया का आरम्भ प्राथमिक भिन्नता ही से हुआ करता है; और भृंगि-कीट का दृष्टान्त तो सब लोगों को विदित ही है। इस विषय में तर्कशास्त्र की अपेक्षा साधुपुरुषों के प्रत्यक्ष अनुभवको ही अधिक प्रामाणिक समझना चाहिये। भगवद्भक्त शिरोमणि तुकाराममहाराज का अनुभव हमारे लिये विशेष महत्त्व का है। सब लोग मानते हैं, कि तुकाराम महाराज को कुछ उपनिषदादि ग्रन्थों के अध्ययन से अध्यात्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था; तथापि उनकी गाथा में लगभग चार सौ 'अभंग' अद्वैतस्थिति के वर्णन में कहे गये हैं। इन सब अभंगों में "वासुदेवः सर्वम्" (गी. ७, १९) का भाव प्रतिपादित किया गया है। अथवा बृहदारण्यकोपनिषद् में जैसा याज्ञवल्क्य ने "सर्वमात्मैवाभूत्" कहा है, वैसे ही अर्थ का प्रतिपादन स्वानुभव से किया गया है। उदाहरण के लिये उनके एक अभंग का कुछ आशय देखिये :—

> गुड-सा मीठा है भगवान् बाहर-भीतर एक समान।
> किसका ध्यान करूँ सविवेक ? जलतरंग-से हैं हम एक॥

इसके आरम्भ का उल्लेख हमने अध्यात्मप्रकरण में किया है; और वहाँ यह दिखलाया है, कि उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से उनके अर्थ की किस तरह पूरी पूरी समता है। जब कि स्वयं तुकाराम महाराज अपने अनुभव से भक्तों की परमावस्था का वर्णन इस प्रकार कर रहे हैं, तब यदि कोई तार्किक यह कहने का साहस करे—कि "भक्तिमार्ग से अद्वैतज्ञान हो नहीं सकता," अथवा देवताओं पर केवल अन्ध-विश्वास करने से ही मोक्ष मिल जाता है, उसके लिये ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं;"—तो इसे आश्चर्य ही समझना चाहिये।

भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग का अन्तिम साध्य एक ही है; और "परमेश्वर

के अनुभवात्मक ज्ञान से ही अन्त में मोक्ष मिलता है"--यह सिद्धान्त दोनों मार्गों में एकही सा बना रहता है। यही क्यों; बल्कि अध्यात्मप्रकरण में और कर्मविपाक प्रकरण में पहले जो और सिद्धान्त बतलाये गये हैं, वे भी सब गीता के भक्तिमार्ग में कायम रहते हैं। उदाहरणार्थ, भागवतधर्म में कुछ लोग इस प्रकार चतुर्व्यूहरूपी सृष्टि की उत्पत्ति बतलाया करते हैं, कि वासुदेवरूपी परमेश्वर से सङ्कर्षणरूपी जीव उत्पन्न हुआ; और फिर संकर्षण से प्रद्युम्न अर्थात् मन तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार हुआ। कुछ लोग तो इन चार व्यूहों में से तीन, दो या एकही को मानते हैं। परन्तु जीव की उत्पत्ति के विषय में ये मत सच नहीं हैं। उपनिषदों के आधार पर वेदान्तसूत्र (२. ३. १७; और २. २. ४२–४५ देखो) में निश्चय किया गया है, कि अध्यात्मदृष्टि से जीव सनातन परमेश्वर ही का सनातन अंश है। इसलिये भगवद्गीता में केवल भक्तिमार्ग की उक्त चतुर्व्यूहसम्बंधी कल्पना छोड़ दी गई है; और जीव के विषय में वेदान्तसूत्रकारों का ही उपर्युक्त सिद्धान्त दिया गया है (गी. २. २४; ८. २०; १३. २२ और १५. ७ देखो)। इससे यही सिद्ध होता है, कि वासुदेवभक्ति और कर्मयोग ये दोनों तत्त्व गीता में यद्यपि भागवत-धर्म से ही लिये गये हैं; तथापि क्षेत्रज्ञरूपी जीव और परमेश्वर के स्वरूप के विषय में अध्यात्मज्ञान से भिन्न किसी अन्य और ऊट-पटाँग कल्पनाओं को गीता में स्थान नहीं दिया गया है। अब यद्यपि गीता में भक्ति और अध्यात्म, अथवा श्रद्धा और ज्ञान का पूरा पूरा मेल रखने का प्रयत्न किया गया है; तथापि यह स्मरण रहे, कि जब अध्यात्मशास्त्र के सिद्धान्त भक्तिमार्ग में लिये जाते हैं, तब उनमें कुछ-न-कुछ शब्दभेद अवश्य करना पड़ता है--और गीता में ऐसा भेद किया भी गया है। ज्ञानमार्ग के और भक्तिमार्ग के इस शब्दभेद के कारण कुछ लोगों ने भूल से समझ लिया है, कि गीता में जो सिद्धान्त कभी भक्ति की दृष्टि से और कभी ज्ञान की दृष्टि से कहे गये हैं, उनमें परस्पर विरोध है; अतएव उतने भर के लिये गीता असम्बद्ध है। परन्तु हमारे मत से यह विरोध वस्तुतः सच नहीं है; और हमारे शास्त्रकारों ने अध्यात्म तथा भक्ति में जो मेल कर दिया है, उसकी ओर ध्यान न देने से ही ऐसे विरोध दिखाई दिया करते हैं। इसलिये यहाँ इस विषय का कुछ अधिक खुलासा कर देना चाहिये। अध्यात्मशास्त्र का सिद्धान्त है, कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एकही आत्मा नामरूप से आच्छादित है। इसलिये अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से हम लोग कहा करते हैं, कि "जो आत्मा मुझमें है, वही सब प्राणियों में भी है"–सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि (गी. ६. २९) अथवा "यह सब आत्मा ही है"–इदं सर्वमात्मैव। परन्तु भक्तिमार्ग में अव्यक्त परमेश्वर ही को व्यक्त परमेश्वर का स्वरूप प्राप्त हो जाता है। अतएव अब उक्त सिद्धान्त के बदले गीता में यह वर्णन पाया जाता है, कि "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति"–मैं (भगवान्) सब प्राणियों में हूँ; और सब प्राणि मुझमें हैं (६. २९); अथवा "वासुदेवः सर्वमिति"–जो कुछ है, वह सब वासु-

देवमय है (७. १९); अथवा "सर्वभूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि" –ज्ञान हो जाने पर तू सब प्राणियों को मुझ में और स्वयं अपने में भी देखेगा (४. ३५)। इसी कारण से भागवतपुराण में भी भगवद्भक्त का लक्षण इस प्रकार कहा गया है :—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

"जो अपने मन में यह भेदभाव नहीं रखता, कि मैं अलग हूँ; भगवान अलग हैं; और सब लोग भिन्न हैं। किन्तु जो सब प्राणियों के विषय में यह भाव रखता है, कि भगवान् और मैं दोनों एक हूँ; और जो यह समझता है, कि सब प्राणी भगवान् में और मुझमें भी हैं, वही सब भागवतों में श्रेष्ठ है" (भाग ११. २. ४५ और ३. २४. ४६)। इससे देख पड़ेगा, कि अध्यात्मशास्त्र के 'अव्यक्त परमात्मा' शब्दों के बदले 'व्यक्त परमेश्वर' शब्दों का प्रयोग किया गया है—सब यही भेद है। अध्यात्मशास्त्र में यह बात युक्तिवाद से सिद्ध हो चुकी है, कि परमात्मा के अव्यक्त होने के कारण सारा जगत् आत्ममय है। परन्तु भक्तिमार्ग प्रत्यक्ष अवगम्य है; इसलिये परमेश्वर की अनेक व्यक्त विभूतियों का वर्णन करके और अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर प्रत्यक्ष विश्वरूपदर्शन से इस बात की साक्षात्प्रतीति करा दी है, कि सारा जगत् परमेश्वर (आत्ममय) है (गी. अ. १० और ११)। अध्यात्मशास्त्र में कहा गया है, कि कर्म का क्षय ज्ञान से होता है। परन्तु भक्तिमार्ग का यह तत्त्व है, कि सगुण परमेश्वर के सिवा इस जगत् में और कुछ नहीं है—वही ज्ञान है, वही कर्म है, वही ज्ञाता है, वही करनेवाला, करवानेवाला और फल देनेवाला भी है। अतएव संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण इत्यादि कर्मभेदों के झंझट में न पड़ भक्तिमार्ग के अनुसार यह प्रतिपादन किया जाता है, कि कर्म करने की बुद्धि देनेवाला, कर्म का फल देनेवाला, और कर्म का क्षय करनेवाला एक परमेश्वर ही है। उदाहरणार्थ, तुकाराम महाराज एकान्त में ईश्वर की प्रार्थना करके स्पष्टता से और प्रेमपूर्वक कहते हैं

एक बात एकान्त में सुन लो, जगदाधार।
तारें मेरे कर्म तो प्रभु का क्या उपकार? ॥

यही भाव अन्य शब्दों में दूसरे स्थान पर इस प्रकार व्यक्त किया गया है, कि "प्रारब्ध, क्रियमाण और संचित का झगड़ा भक्तों के लिये नहीं है। देखो; सब कुछ ईश्वर ही है, जो भीतर-बाहर सर्व व्याप्त है।" भगवद्गीता में भगवान् ने यही कहा है, कि "ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" (१८. ६१)–ईश्वर ही सब लोगों के हृदय में निवास करके उनसे यंत्र के समान सब कर्म करवाता है। कर्मविपाकप्रक्रिया में सिद्ध किया गया है, कि ज्ञान की प्राप्ति कर लेने के लिये आत्मा को पूरी स्वतन्त्रता है। परन्तु उसके बदले भक्तिमार्ग में यह कहा जाता है, कि उस बुद्धि का देनेवाला परमेश्वर ही है– "तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्"

(गी. ७. २१), अथवा "ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते" (गी. १०. १०.) इसी प्रकार संसार में सब कर्म परमेश्वर की ही सत्ता से हुआ करते हैं। इसलिये भक्तिमार्ग में यह वर्णन पाया जाता है, कि वायु भी उसी के भय से चलती है; और सूर्य तथा चन्द्र भी उसी की शक्ति से चलते हैं (कठ. ६. ३; बृ. ३. ८. ९)। अधिक क्या कहा जाय; उसकी इच्छा के बिना पेड़ का एक पत्ता तक नहीं हिलता। यही कारण है, कि भक्तिमार्ग में यह कहते हैं, कि मनुष्य केवल निमित्तमात्र ही के लिये सामने रहता है (गी. ११. ३३); और उसके सब व्यवहार परमेश्वर ही उसके हृदय में निवास कर उससे कराया करता है। साधु तुकाराम कहते हैं, कि "यह प्राणी केवल निमित्त ही के लिये स्वतंत्र है; 'मेरा मेरा' कह कर व्यर्थ ही यह अपना नाश कर लेता है।" इस जगत् के व्यवहार और सुस्थिति को स्थिर रखने के लिये सभी लोगोंको कर्म करना चाहिये। परन्तु ईशावास्योपनिषद् का जो यह तत्त्व है---कि जिस प्रकार अज्ञानी लोग किसी कर्मको 'मेरा' कह कर किया करते हैं वैसा न कर ज्ञानी पुरुष को ब्रह्मार्पण बुद्धि से सब कर्म मृत्युपर्यंत करते रहना चाहिये---उसीका सारांश उक्त उपदेश में है। यही उपदेश भगवान् ने अर्जुन को इस श्लोक में किया है---

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

अर्थात् "जो कुछ तू करेगा, खायेगा, हवन करेगा, देगा, या तप करेगा, वह सब मुझे अर्पण कर" (गी. ९. २७); इससे तुझे कर्म की बाधा नहीं होगी। भगवद्गीता का यही श्लोक शिवगीता (१५. ४५) में पाया जाता है; और भागवत के इस श्लोक में भी उसी अर्थ का वर्णन है---

> कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
> करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

"काया, वाचा, मन, इंद्रिय, बुद्धि या आत्मा की प्रवृत्ति से अथवा स्वभाव के अनुसार जो कुछ हम किया करते हैं, वह सब परात्पर नारायण को समर्पण कर दिया जावें" (भाग. ११. २. ३६)। सारांश यह है, कि अध्यात्मशास्त्र में जिसे ज्ञान-कर्म-समुच्चय पक्ष, फलाशात्याग अथवा ब्रह्मार्पणपूर्वक कर्म कहते हैं (गी. ४.२४; ५.१०; १२.१२) उसी को भक्तिमार्ग में "कृष्णार्पणपूर्वक कर्म" यह नया नाम मिल जाता है। भक्तिमार्गवाले भोजन के समय "गोविंद, गोविंद" कहा करते हैं; उसका रहस्य इस कृष्णार्पणबुद्धि में ही है। ज्ञानी जनक ने कहा है, कि हमारे सब व्यवहार लोगों के उपयोग के लिये निष्कामबुद्धि से हो रहे हैं; और भगवद्भक्त भी खाना, पीना, इत्यादि अपना सब व्यवहार कृष्णार्पणबुद्धि से ही किया करते हैं। उद्यापन, ब्राह्मणभोजन अथवा अन्य इष्टापूर्त कर्म करने पर अन्त में "इदं कृष्णार्पणमस्तु" अथवा "हरिर्दाता हरिर्भोक्ता" कह कर पानी

छोड़ने की जो रीति है, उसका मूलतत्त्व भगवद्गीता के उक्त श्लोक में है। यह सच है, कि जिस प्रकार बालियों के न रहने पर कानोंके छेद मात्र बाकी रह जायँ, उसी प्रकार वर्तमान समय में उक्त संकल्प की दशा हो गई है। क्योंकि पुरोहित उस संकल्प के सच्चे अर्थ को न समझकर सिर्फ़ तोते की नाईं उसे पढ़ा करता है; और यजमान बहिरे की नाईं पानी छोड़ने की कवायत किया करता है। परन्तु विचार करने से मालूम होता है, कि इसकी जड़ में कर्मफलाशा को छोड़ कर कर्म करने का तत्त्व है; और इसकी हँसी करने से शास्त्र में तो कुछ दोष नहीं आता; किन्तु हँसी करनेवाले की अज्ञानता ही प्रगट होती है। यदि सारी आयु के कर्म--यहाँ तक कि ज़िन्दा रहने का भी कर्म--इस प्रकार कृष्णार्पण बुद्धि से अथवा फलाशा का त्याग कर किये जावें, तो पापवासना कैसे रह सकती है? और कुकर्म कैसे हो सकते हैं? फिर लोगों के उपयोग के लिये कर्म करो; संसार की भलाई के लिये आत्मसमर्पण करो; इत्यादि उपदेश करने की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है? तब तो 'मैं' और 'लोग' दोनों का समावेश परमेश्वर में और परमेश्वर का समावेश उन दोनों में हो जाता है। इसलिये स्वार्थ और परार्थ दोनों ही कृष्णार्पणरूपी परमार्थ में डूब जाते हैं; और महात्माओं की यह उक्ति ही चरितार्थ होती है, कि "संतों की विभूतियाँ जगत् के कल्याण ही के लिये हुआ करती हैं; वे लोग परोपकार के लिये अपने शरीर को कष्ट दिया करते हैं।" पिछले प्रकरण में युक्तिवाद से यह सिद्ध कर दिया गया है, कि जो मनुष्य अपने सब काम कृष्णार्पण बुद्धि से किया करता है, उसका 'योगक्षेम' किसी प्रकार रुक नहीं रहता; और भक्तिमार्ग वालों को तो स्वयं भगवान् ने गीता में आश्वासन दिया है, कि "तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" (गी. ९. २२)। यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि जिस प्रकार ऊँचे दर्जे के ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य है, कि वह सामान्य जनों में बुद्धि-भेद न करके उन्हें सन्मार्ग में लगावे (गी. ३. २६); उसी प्रकार परम श्रेष्ठ भक्त का भी यही कर्तव्य है, कि वह निम्न श्रेणी के भक्तों की श्रद्धा को भ्रष्ट न कर उनके अधिकार के अनुसार ही उन्हें उन्नति के मार्ग में लगा देवे। सारांश उक्त विवेचन से यह मालूम हो जायगा, कि अध्यात्मशास्त्र में और कर्मविपाक मे जो सिद्धान्त कहे गये हैं, वे सब कुछ शब्दभेद से भक्तिमार्ग में भी क़ायम रखे गये हैं; और ज्ञान तथा भक्ति में इस प्रकार मेल कर देने की पद्धति हमारे यहाँ बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है।

परन्तु जहाँ शब्दभेद से अर्थ के अनर्थ हो जाने का भय रहता है, वहाँ इस प्रकार से शब्दभेद भी नहीं किया जाता; क्योंकि अर्थ ही प्रधान बात है। उदाहरणार्थ, कर्म-विपाक-प्रक्रिया का यह सिद्धान्त है, कि ज्ञानप्राप्ति के लिये प्रत्येक मनुष्य स्वयं प्रयत्न करे; और अपना उद्धार आप ही कर ले। यदि इसमें शब्दों का कुछ भेद करके यह कहा जाय, कि यह काम भी परमेश्वर ही करता है; तो मूढ़ जन आलसी हो जावेंगे। इसलिये "आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मन" :—

आप ही अपना शत्रु और आप ही अपना मित्र है (गी. ६. ५) –यह तत्त्व भक्तिमार्ग में भी प्रायः ज्यों–का–त्यों अर्थात् शब्दभेद न करके बतलाया जाता है। साधु तुकाराम के इस भाव का उल्लेख पहले हो चुका है, कि "इससे किसीका क्या नुकसान हुआ ? अपनी बुराई अपने हाथों कर ली" इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा है, कि "ईश्वर के पास कुछ मोक्ष की गठड़ी नहीं धरी है, कि वह किसी के हाथ में दे दे। यहाँ तो इंद्रियों को जीतना और मन को निर्विषय करना ही मुख्य उपाय है।" क्या यह उपनिषदों के इस मंत्र "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" के समान नहीं है ? यह सच है, कि परमेश्वर ही इस जगत् की सब घटनाओं का करनेवाला है। परंतु उस पर निर्दयता का और पक्षपात करने का दोष न लगाया जावे; इस लिये कर्म-विपाक-प्रक्रिया में यह सिद्धान्त कहा गया है, कि परमेश्वर प्रत्येक मनुष्य को उसके कर्मों के अनुसार फल दिया करता है। इसी कारण से यह सिद्धान्त भी—बिना किसी प्रकार का शब्दभेद किये ही—भक्तिमार्ग में ले लिया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि उपासना के लिये ईश्वर को व्यक्त मानना पड़ता है, तथापि अध्यात्म-शास्त्र का यह सिद्धान्त भी हमारे यहाँ के भक्तिमार्ग में कभी छूट नहीं जाता, कि जो कुछ व्यक्त है, वह सब माया है; और सत्य परमेश्वर उसके परे है। पहले कह चुके हैं, कि इसी कारण से गीता में वेदान्तसूत्रप्रतिपादित जीव का स्वरूप ही स्थिर रखा गया है। मनुष्य के मन में प्रत्यक्ष की ओर अथवा व्यक्त की ओर झुकने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है, उसमें और तत्त्वज्ञान के गहन सिद्धान्तों में मेल कर देने की वैदिक धर्म की यह रीति किसी भी अन्य देश के भक्तिमार्ग में देख नहीं पड़ती। अन्य देश-निवासियों का यह हाल देख पड़ता है, कि जब वे एक बार परमेश्वर की किसी सगुण विभूति का स्वीकार कर व्यक्त का सहारा लेते हैं, तब वे उसी में आसक्त होकर फँस जाते हैं। उसके सिवा उन्हें और कुछ देख ही नहीं पड़ता; और उनमें अपने अपने सगुण प्रतीक के विषय में वृथाभिमान उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्था में वे लोग यह मिथ्या भेद करने का यत्न करने लगते हैं, कि तत्त्वज्ञान का मार्ग भिन्न है; और श्रद्धा का भक्तिमार्ग जुदा है। परन्तु हमारे देश में तत्त्वज्ञान का उदय बहुत प्राचीन काल में ही हो चुका था। इसलिये गीताधर्म में श्रद्धा और ज्ञान का कुछ भी विरोध नहीं है; बल्कि वैदिक ज्ञानमार्ग श्रद्धा से; और वैदिक भक्तिमार्ग ज्ञान से, पुनीत हो गया है। अतएव मनुष्य किसी भी मार्ग का स्वीकार क्यों न करे; अन्त में उसे एकही सी सद्गति प्राप्त होती है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, कि अव्यक्त ज्ञान और व्यक्त भक्ति के मेल का यह महत्त्व केवल व्यक्त क्राइस्ट में ही लिपटे रहनेवाले धर्म के पंडितों के ध्यान में नहीं आ सका; और इसलिये उनकी एकदेशी तथा तत्त्वज्ञान की दृष्टि से कोती नज़र से गीताधर्म में उन्हें विरोध देख पड़ने लगा। परंतु आश्चर्य की बात तो यही है, कि वैदिक धर्म के इस गुण को प्रशंसा न कर हमारे ही

देश के कुछ अनुकरणप्रेमी जन आजकल इसी गुण की निन्दा करते देखे जाते हैं। माघ काव्य का (१६. ४३) यह वचन इसी बात का एक अच्छा उदाहरण है, कि "अथ वाऽभिनिविष्टबुद्धिषु । व्रजति व्यर्थकतां सुभाषितम् !"–खोटी समझ से जब एक बार मन ग्रस्त हो जाता है, तब मनुष्य को अच्छी बातें भी ठीक नहीं जंचतीं ।

स्मार्तमार्ग में चतुर्थाश्रम का जो महत्त्व है, वह भक्तिमार्ग में अथवा भागवतधर्म में नहीं है । वर्णाश्रमधर्म का वर्णन भागवतधर्म में भी किया जाता है; परन्तु उस धर्म का सारा दारमदार भक्ति पर ही होता है । इसलिये जिसकी भक्ति उत्कट हो, वही सब में श्रेष्ठ माना जाता है—फिर चाहे वह गृहस्थ हो, वानप्रस्थ या बैरागी हो; इसके विषय में भागवतधर्म में कुछ विधिनिषेध नहीं हैं (भा. ११. १८. १३. १४ देखो) । संन्यास-आश्रम स्मार्तधर्म का एक आवश्यक भाग है, भागवतधर्म का नहीं । परन्तु ऐसा कोई नियम नहीं, कि भागवतधर्म के अनुयायी कभी विरक्त न हों; गीता में ही कहा है कि संन्यास और कर्मयोग दोनों मोक्ष की दृष्टि से समान योग्यता के हैं । इसलिये यद्यपि चतुर्थाश्रम का स्वीकार न किया जावे, तथापि सांसारिक कर्मों को छोड़ बैरागी हो जानेवाले पुरुष भक्तिमार्ग में भी पाये जा सकते हैं । यह बात पूर्व समय से ही कुछ कुछ चली आ रही है । परन्तु उस समय इन लोगों को प्रभुता न थी; और ग्यारहवें प्रकरण में यह बात स्पष्ट रीति से बतला दी गई है, कि भगवद्गीता में कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग ही को अधिक महत्त्व दिया गया है । कालान्तर से कर्मयोग का यह महत्त्व लुप्त हो गया; और वर्तमान समय में भागवतधर्मीय लोगों की भी यही समझ हो गई है, कि भगवद्भक्त वही है, कि जो सांसारिक कर्मों को छोड़ विरक्त हो; केवल भक्ति में ही निमग्न हो जावे । इसलिये यहाँ भक्ति की दृष्टि से फिर भी कुछ थोड़ा-सा विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है, कि इस विषय में गीता का मुख्य सिद्धान्त और सच्चा उपदेश क्या है । भक्तिमार्ग का अथवा भागवतधर्म का ब्रह्म स्वयं सगुण भगवान् ही हैं । यदि यही भगवान् स्वयं सारे संसार के कर्ता धर्ता हैं; और साधुजनों की रक्षा करने तथा दुष्टजनों को दंड देने के लिये समय समय पर अवतार लेकर इस जगत् का धारण-पोषण किया करते हैं; तो यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि भगवद्भक्तों को भी लोकसंग्रह के लिये उन्हीं भगवान् का अनुकरण करना चाहिये । हनुमान्जी रामचन्द्र के बड़े भक्त थे; परन्तु उन्हों ने रावण आदि दुष्टजनों के निर्दलन करने का काम कुछ छोड़ नहीं दिया था । भीष्मपितामह की गणना भी परम भगवद्भक्तों में की जाती है; परन्तु यद्यपि वे स्वयं मृत्युपर्यंत ब्रह्मचारी रहे, तथापि उन्होंने स्वधर्मानुसार स्वकीयों की और राज्य की रक्षा करने का काम अपने जीवन भर जारी रखा था । यह बात सच है, कि जब भक्ति के द्वारा परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब भक्त को स्वयं अपने हित के लिये कुछ प्राप्त कर लेना शेष नहीं रह जाता । परन्तु प्रेममूलक

भक्तिमार्ग से दया, करुणा, कर्तव्यप्रीति इत्यादि श्रेष्ठ मनोवृत्तियों का नाश नहीं हो सकता; बल्कि वे और भी अधिक शुद्ध हो जाती हैं। ऐसी दशामें यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता, कि कर्म करें या न करें ? वरन भगवद्‌भक्त तो वही है, कि जिसके मन में ऐसा अभेदभाव उत्पन्न हो जाय--

जिसका कोई न हो हृदय से उसे लगावे,
प्राणिमात्र के लिये प्रेम की ज्योति जगावे।
सब में विभु को व्याप्त जान सब को अपनावे,
है बस ऐसा वही भक्त की पदवी पावे ॥

ऐसी अवस्था में स्वभावत: उन लोगों की वृत्ति लोकसंग्रह ही के अनुकूल हो जाती है, जैसा कि ग्यारहवें प्रकरण में कह आये हैं-- "संतोंकी विभूतियाँ जगत् के कल्याण ही के लिये हुआ करती हैं। वे लोग परोपकार के लिये अपने शरीर को कष्ट दिया करते हैं।" जब यह मान लिया, कि परमेश्वर ही इस सृष्टि को उत्पन्न करता है, और उसके सब व्यवहारों को भी किया करता है; तब यह अवश्य ही मानना पड़ेगा, कि उसी सृष्टि के व्यवहारों को सरलता से चलाने के लिये चातुर्वर्ण्य आदि जो व्यवस्थाएँ हैं, वे उसी की इच्छा से निर्मित हुई हैं। गीता में भी भगवान् ने स्पष्ट रीति से यही कहा है, कि "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म-विभागशः" (गी. ४. १३)। अर्थात् यह परमेश्वर ही की इच्छा है, कि प्रत्येक मनुष्य अपने अपने अधिकार के अनुसार समाज के इन कामों को लोकसंग्रह के लिये करता रहे। इसीसे आगे यह भी सिद्ध होता है, कि सृष्टि के जो व्यवहार परमेश्वर की इच्छा से चल रहे हैं, उनका एक-आध विशेष भाग किसी मनुष्य के द्वारा पूरा कराने के लिये ही परमेश्वर उसको उत्पन्न किया करता है; और यदि परमेश्वर-द्वारा नियत किया गया उसका यह काम मनुष्य न करे, तो परमेश्वर ही की अवज्ञा करने का पाप उसे लगेगा। यदि तुम्हारे मन में यह अहङ्कार-बुद्धि जागृत होगी, कि ये काम मेरे हैं अथवा मैं उन्हें अपने स्वार्थ के लिये करता हूँ; तो उन कर्मों के भले-बुरे फल तुम्हें अवश्य भोगने पड़ेंगे। परन्तु तुम इन्हीं कर्मों को केवल स्वधर्म जान कर परमेश्वरार्पणपूर्वक इस भाव से करोगे, कि 'परमेश्वर के मन में जो कुछ करना है, उसके लिये मुझे निमित्त करके वह मुझसे काम कराता है' (गी. ११. ३३); तो इसमें कुछ अनुचित या अयोग्य नहीं। बल्कि गीता का यह कथन है, कि इस स्वधर्माचरण से ही सर्वभूतान्तर्गत परमेश्वर की सात्त्विक भक्ति हो जाती है। भगवान् ने अपने सब उपदेशों का तात्पर्य गीता के अन्तिम अध्याय में उपसंहाररूप से अर्जुन को इस प्रकार बतलाया है--"सब प्राणियों के हृदय में निवास करके परमेश्वर ही उन्हें यन्त्र के समान नचाता है; इसलिये ये दोनों भावनाएँ मिथ्या हैं, कि मैं अमुक कर्म को छोड़ता हूँ या अमुक कर्म को करता हूँ। फलाशा को छोड़ सब कर्म कृष्णार्पणबुद्धि से करते रहो। यदि तू ऐसा निग्रह करेगा, कि मैं इन कर्मों को नहीं करता; तो भी प्रकृतिधर्म के अनुसार तुझे कर्मों को करना ही होगा। अत-

एव परमेश्वर में अपने सब स्वार्थों का लय करके स्वधर्मानुसार प्राप्त व्यवहार को परमार्थबुद्धि से और वैराग्य से लोकसंग्रह के लिये तुझे अवश्य करना ही चाहिये; मैं भी यही करता हूँ; मेरे उदाहरण को देख और उसके अनुसार बर्ताव कर।" जैसे ज्ञान का और निष्कामकर्म का विरोध नहीं, वैसा ही भक्ति में और कृष्णार्पण-बुद्धि से किये गये कर्मों में भी विरोध उत्पन्न नहीं होता। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध भगवद्भक्त तुकाराम भी भक्ति के द्वारा परमेश्वर के "अणोरणीयान् महतो महीयान्" (कठ. २. २०; गी. ८. ९)—परमाणु से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा ऐसे स्वरूप के साथ अपने तादात्म्य का वर्णन करके कहते हैं, कि "अब मैं केवल परोपकार ही के लिये बचा हूँ।" उन्होंने संन्यासमार्ग के अनुयायियों के समान यह नहीं कहा, कि अब मेरा कुछ भी काम शेष नहीं है। बल्कि वे कहते हैं, कि "भिक्षा-पात्र का अवलम्बन करना लज्जास्पद जीवन है—वह नष्ट हो जावे। नारायण ऐसे मनुष्य की सर्वथा उपेक्षा ही करता है।" अथवा "सत्यवादी मनुष्य संसार के सब काम करता है; और उनसे—जल में कमलपत्र के समान—अलिप्त रहता है। जो उपकार करता है; और प्राणियों पर दया करता है; उसी में आत्मस्थिति का निवास जानो।" इन वचनों से साधु तुकाराम का इस विषय में स्पष्ट अभिप्राय व्यक्त हो जाता है। यद्यपि तुकाराम महाराज संसारी थे, तथापि उनके मन का झुकाव कुछ कुछ कर्मत्याग ही की ओर था। परन्तु प्रवृत्तिप्रधान भागवतधर्म का लक्षण अथवा गीता का सिद्धान्त यह है, कि उत्कटभक्ति के साथ साथ मृत्युपर्यंत ईश्वरार्पण-पूर्वक निष्कामकर्म करते ही रहना चाहिये। और यदि कोई इस सिद्धान्त का पूरा पूरा स्पष्टीकरण देखना चाहे, तो उसे श्रीसमर्थ रामदासस्वामी के दासबोध ग्रंथ को ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये (स्मरण रहे, कि साधु तुकाराम ने ही शिवाजीमहा-राज को जिन "सद्गुरु की शरण" में जाने को कहा था; उन्हींका यह प्रासादिक ग्रंथ है)। रामदासस्वामी ने अनेक बार कहा है, कि भक्ति के द्वारा अथवा ज्ञान के द्वारा परमेश्वर के शुद्धस्वरूप को पहचान कर जो सिद्धपुरुष कृतकृत्य हो चुके हैं, वे "सब लोगों को सिखाने के लिये" (दास. १९. १०. १४) निस्पृहता से अपना काम यथाधिकार जिस प्रकार किया करते हैं, उसे देखकर सर्वसाधारण लोग अपना अपना व्यवहार करना सीखें; क्योंकि "बिना किये कुछ भी नहीं होता" (दास. १९. १०. २५; १२. ९, ६; १८. ७. ३); और अन्तिम दशक (२०.४.२६) में उन्होंने कर्म के सामर्थ्य का भक्ति की तारक शक्ति के साथ पूरा पूरा मेल इस प्रकार कर दिया है—

> हलचल में सामर्थ्य है। जो करेगा वही पावेगा।
> परंतु उसमें भगवान् का अधिष्ठान चाहिये ॥

गीता के आठवें अध्याय में अर्जुन को जो यह उपदेश किया गया है, कि "मामनुस्मर युद्धच च" (गी. ८. ७)—नित्य मेरा स्मरण कर; और युद्ध कर—उसका तात्पर्य, और छठवें अध्याय के अन्त में जो यह कहा है, कि "कर्मयोगियों में भी भक्तिमान् श्रे

श्रेष्ठ है" (गी. ६. ४७) उसका भी तात्पर्य वही है, कि जो रामदासस्वामी के उक्त वचन में है । गीता के अठारहवें अध्याय में भी भगवान् ने यही कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥

"जिसने इस सारे जगत् को उत्पन्न किया है, उसकी अपने स्वधर्मानुरूप निष्काम कर्माचरण से (न कि केवल वाचा से अथवा पुष्पों से) पूजा करके मनुष्य सिद्धि पाता है" (गी. १८. ४६)। अधिक क्या कहें ? इस श्लोक का और समस्त गीता का भी भावार्थ यही है, कि स्वधर्मानुरूप निष्कामकर्म करने से सर्वभूतान्तर्गत विराटरूपी परमेश्वर की एक प्रकारकी भक्ति, पूजा या उपासना ही हो जाती है । ऐसा कहने से, कि "अपने धर्मानुरूप कर्मों से परमेश्वर की पूजा करो," यह नहीं समझना चाहिये, कि "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः" इत्यादि नवविधा भक्ति गीता को मान्य नहीं । परन्तु गीता का कथन है, कि कर्मों को गौण समझकर उन्हें छोड़ देना और इस नवविधा भक्ति में ही बिलकुल निमग्न हो जाना उचित नहीं है । शास्त्रतः प्राप्त अपने सब कर्मों को यथोचित रीति से अवश्य करना ही चाहिये । उन्हें "स्वयं अपने" लिये समझकर नहीं, किन्तु परमेश्वर का स्मरण कर इस निर्मम बुद्धि से करना चाहिये, कि "ईश्वरनिर्मित सृष्टि के संग्रहार्थ उसी के ये सब कर्म हैं ।" ऐसा करने से कर्म का लोप नहीं होगा; उलटा इन कर्मों से ही परमेश्वर की सेवा, भक्ति वा उपासना की जायगी । इन कर्मों के पाप-पुण्य के भागी हम न होंगे; और अंत में सद्गति भी मिल जायगी । गीता के इस सिद्धान्त की ओर दुर्लक्ष्य करके गीता के भक्तिप्रधान टीकाकार अपने ग्रन्थों में यह भावार्थ बतलाया करते हैं, कि गीता में भक्ति ही को प्रधान माना है; और कर्म को गौण । परन्तु संन्यासमार्गीय टीकाकारों के समान भक्तिप्रधान टीकाकारों का यह तात्पर्यार्थ भी एकपक्षीय है । गीताप्रतिपादित भक्तिमार्ग कर्मप्रधान है; और उसका मुख्य तत्त्व यह है, कि परमेश्वर की पूजा न केवल पुष्पों से या वाचा से ही होती है; किन्तु वह स्वधर्मोक्त निष्कामकर्मों से भी होती है; और ऐसी पूजा प्रत्येक मनुष्य को अवश्य करनी चाहिये । जब कि कर्ममय भक्ति का यह तत्त्व गीता के अनुसार अन्य किसी भी स्थान में प्रतिपादित नहीं हुआ है, तब इसी तत्त्व को गीताप्रतिपादित भक्तिमार्ग का विशेष लक्षण कहना चाहिये ।

इस प्रकार कर्मयोग की दृष्टि से ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग का पूरा पूरा मेल यद्यपि हो गया, तथापि ज्ञानमार्ग से भक्तिमार्ग में जो एक महत्त्व की विशेषता है, उसका भी अब अंत में स्पष्ट रीति से वर्णन हो जाना चाहिये । यह तो पहले ही कह चुके हैं, कि ज्ञानमार्ग केवल बुद्धिगम्य होने के कारण अल्पबुद्धिवाले सामान्यजनों के लिये क्लेशमय है; और भक्तिमार्ग के श्रद्धामूलक, प्रेमगम्य तथा प्रत्यक्ष होने के कारण उसका आचरण करना सब लोगों के लिये सुगम है । परन्तु क्लेश के सिवा ज्ञानमार्ग में एक और भी अड़चन है । जैमिनि की मीमांसा, या

उपनिषद्, या वेदान्तसूत्र को देखें; तो मालूम होगा, कि उनमें श्रौत-यज्ञ-याग आदि की अथवा कर्मसंन्यासपूर्वक 'नेति' स्वरूपी परब्रह्म की ही चर्चा भरी पड़ी है। और अन्त में यही निर्णय किया है, कि स्वर्गप्राप्ति के लिये साधनीभूत होनेवाले श्रौत-यज्ञ-यागादिक कर्म करने का अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिये आवश्यक उपनिषदादि वेदाध्ययन करने का अधिकार भी पहले तीन ही वर्णों के पुरुषों को है (वे. सू. १, ३. ३४–३८)। इन में इस बात का विचार नहीं किया गया है, कि उक्त तीन वर्णों को, स्त्रियों को अथवा चातुर्वर्ण्य के अनुसार सारे समाज के हित के लिये खेती या अन्य व्यवसाय करनेवाले साधारण स्त्रीपुरुषों को मोक्ष कैसे मिले। अच्छा; स्त्रीशूद्रादिकों के साथ वेदों की ऐसी अनबन होने से यदि यह कहा जाय, कि उन्हें मुक्ति कभी मिल ही नही सकती; तो उपनिषदों और पुराणों में ही ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, कि गार्गी प्रभृति स्त्रियों को और विदुर प्रभृति शूद्रों को ज्ञान की प्राप्ति होकर सिद्धि मिल गई थी (वे. सू. ३. ४. ३६-३९)। ऐसी दशा में यह सिद्धान्त नहीं किया जा सकता, कि सिर्फ़ पहले तीन वर्णों के पुरुषों ही को मुक्ति मिलती है। और यदि यह मान लिया जावे, कि स्त्रीशूद्र आदि सभी लोगों को मुक्ति मिल सकती है; तो अब बतलाना चाहिये, कि उन्हें किस साधन से ज्ञान की प्राप्ति होगी। बादरायणाचार्य कहते हैं, कि "विशेषानुग्रहश्च" (वे. सू. ३. ४. ३८) अर्थात् परमेश्वर का विशेष अनुग्रह ही उनके लिये एक साधन है; और भागवत (१. ४. २५) में कहा है, कि कर्मप्रधान-भक्तिमार्ग के रूप में इसी विशेषानुग्रहात्मक साधन का "महाभारत में और अतएव गीता में भी निरूपण किया गया है। क्योंकि स्त्रियों, शूद्रों या (कलियुग के) नामधारी ब्राह्मणों के कानों तक श्रुति की आवाज़ नहीं पहुँचती है।" इस मार्ग से प्राप्त होनेवाला ज्ञान और उपनिषदों का ब्रह्मज्ञान––दोनों यद्यपि एकही से हों, तथापि अब स्त्री–पुरुषसंबन्धी या ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रसम्बन्धी कोई भेद शेष नहीं रहता; और इस मार्ग के विशेष गुण के बारे में गीता कहती है कि––

> मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
> स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम् ॥

"हे पार्थ ! स्त्री, वैश्य और शूद्र, या अन्त्यज आदि जो नीच वंश में उत्पन्न हुए हैं, वे भी सब उत्तम गति पा जाते हैं" (गी. ९. ३२)। यही श्लोक महाभारत के अनुगीतापर्व में भी आया है (म. भा. अश्व. १९. ६१); और ऐसी कथाएँ भी हैं, कि वनपर्वान्तर्गत ब्राह्मण–व्याध-सम्वाद में मांस बेचनेवाले व्याध ने किसी ब्राह्मण को, तथा शांतिपर्व में तुलाधार अर्थात् बनिये ने जाजलि नामक तपस्वी ब्राह्मण को, यह निरूपण सुनाया है, कि स्वधर्म के अनुसार निष्कामबुद्धि से आचरण करने से ही मोक्ष कैसे मिल जाता है (म. भा. वन. २०६–२१४; शां. २६०–२६३)। इससे प्रगट होता है, कि जिसकी बुद्धि सम हो जावे, वही श्रेष्ठ है। फिर चाहे वह सुनार हो, बढ़ई हो, बनिया हो, या कसाई; किसी मनुष्य की योग्यता उसके

धंधे पर, व्यवसाय पर, या जाति पर, अवलम्बित नहीं; किन्तु सर्वथा उसके अन्तःकरण की शुद्धता पर अवलम्बित होती है; और यही भगवान् का अभिप्राय भी है। इस प्रकार किसी समाज के सब लोगों के लिये मोक्ष के दरवाजे खोल देने से उस समाज में जो एक प्रकार की विलक्षण जागृति उत्पन्न होती है, उसका स्वरूप महाराष्ट्र में भागवतधर्म के इतिहास से भली भाँति देख पड़ता है। परमेश्वर को क्या स्त्री, क्या चांडाल, क्या ब्राह्मण सभी समान हैं; "देव भावका भूखा है"—न प्रतीक का, न काले-गोरे वर्ण का; और न स्त्री-पुरुष आदि या ब्राह्मण-चांडाल आदि भेदों का ही। साधु तुकाराम का इस विषय का अभिप्राय, इस हिन्दी पद्य से प्रगट हो जायगा—

> क्या द्विजाति क्या शूद्र ईश को वेश्या भी भज सकती है,
> श्वपचों को भी भक्तिभाव में शुचिता कब तज सकती है?
> अनुभव से कहता हूँ, मैंने उसे कर लिया है बस में
> जो चाहे सो पिये प्रेम से अमृत भरा है इस रस में॥

अधिक क्या कहें? गीताशास्त्र का भी यह सिद्धान्त है, कि "मनुष्य कैसा ही दुराचारी क्यों न हो; परन्तु यदि अन्त काल में भी वह अनन्य भाव से भगवान् की शरण में जावे, तो परमेश्वर उसे नहीं भूलता" (गी. ९. ३०; और ८. ५–८ देखो)। उक्त पद्य में 'वेश्या' शब्द (जो साधु तुकाराम के मूलवचन के आधार से रखा गया है) को देखकर पवित्रता का ढोंग करनेवाले बहुतेरे विद्वानों को कदाचित् बुरा लगे। परन्तु सच बात तो यह है, कि ऐसे लोगों को सच्चा धर्मतत्त्व मालूम ही नहीं। न केवल हिन्दूधर्म में किन्तु बुद्धधर्म में भी यही सिद्धान्त स्वीकार किया गया है (मिलिन्दप्रश्न ३. ७. २) उनके धर्मग्रन्थों में ऐसी कथाएँ हैं, कि बुद्ध ने आम्रपाली नामक किसी वेश्या को और अंगुलीमाल नाम के चोर को दीक्षा दी थी। ईसाईयों के धर्मग्रंथ में भी यह वर्णन है, कि क्राइस्ट के साथ जो दो चोर सूली पर चढ़ाये गये थे, उनमें से एक चोर मृत्यु के समय क्राइस्ट की शरण में गया; और क्राइस्ट ने उसे सद्गति दी (ल्यूक. २३. ४२ और ४३)। स्वयं क्राइस्ट ने भी एक स्थान में कहा है, कि हमारे धर्म में श्रद्धा रखनेवाली वेश्याएँ भी मुक्त हो जाती हैं (मेथ्यू. २१. ३१; ल्यूक. ७. ५०)। यह बात दसवें प्रकरण में हम बतला चुके हैं, कि अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से भी यही सिद्धान्त निष्पन्न होता है। परन्तु यह धर्मतत्त्व शास्त्रतः यद्यपि निर्विवाद है; तथापि जिसका सारा जन्म दुराचरण में ही व्यतीत हुआ है, उसके अन्तःकरण में केवल मृत्यु के समय ही अनन्य भाव से भगवान् का स्मरण करने की बुद्धि कैसे जागृत रह सकती है? ऐसी अवस्था में अन्ततः काल की वेदनाओं को सहते हुए केवल यन्त्र के समान एक बार 'रा' कहकर और कुछ देर से 'म' कहकर मुँह खोलने और बंद करने के परिश्रम के सिवा कुछ अधिक लाभ नहीं होता। इसलिये भगवान् ने सब लोगों को निश्चित रीति से यही कहा है, कि 'न केवल मृत्यु के समय ही; किन्तु सारे जीवन भर सदैव मेरा स्मरण मन में रहने दो; और स्वधर्म

के अनुसार अपने सब व्यवहारों को परमेश्वरार्पणबुद्धि से करते रहो। फिर चाहे तुम किसी भी जाति के रहो, तो भी तुम कर्मों को करते हुए ही मुक्त हो जाओगे (गी. ९. २६-२८ और ३०-३४ देखो)।

इस प्रकार उपनिषदों का ब्रह्मात्मैक्यज्ञान आबालवृद्ध सभी लोगों के लिये सुलभ तो कर दिया गया है; परन्तु ऐसा करने में न तो व्यवहार का लोप होने दिया है; और न वर्ण, आश्रम, जाति-पाँति अथवा स्त्री-पुरुष आदि का कोई भेद रखा गया है। जब हम गीताप्रतिपादित भक्तिमार्ग की इस शक्ति अथवा समता की ओर ध्यान देते हैं, तब गीता के अन्तिम अध्याय में भगवान् ने प्रतिज्ञापूर्वक गीताशास्त्र का जो उपसंहार किया है, उसका मर्म प्रगट हो जाता है। वह ऐसा है :--" सब धर्म छोड़ कर मेरे अकेले की शरण में आ जा; मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, तू घबराना नहीं। " यहाँ पर धर्म शब्द का उपयोग इसी व्यापक अर्थ में किया गया है, कि सब व्यवहारों को करते हुए भी पापपुण्य से अलिप्त रहकर परमेश्वरप्राप्तिरूपी आत्मश्रेय जिस मार्ग के द्वारा सम्पादन किया जा सकता है, वही धर्म है। अनुगीता के गुरुशिष्यसम्वाद में ऋषियों ने ब्रह्मा से यह प्रश्न किया (अश्व. ४९), कि अहिंसाधर्म, सत्यधर्म, व्रत, तथा उपवास, ज्ञान, यज्ञयाग, दान, कर्म, संन्यास आदि जो अनेक प्रकार के मुक्ति के साधन अनेक लोग बतलाते हैं, उनमें से सच्चा साधन कौन है ? और शान्तिपर्व के (३५४) उंच्छवृत्ति-उपाख्यान में भी यह प्रश्न है, कि गार्हस्थ्यधर्म, वानप्रस्थधर्म, राजधर्म, मातृपितृ-सेवाधर्म, क्षत्रियों का रणांगण में मरण, ब्राह्मणों का स्वाध्याय, इत्यादि जो अनेक धर्म या स्वर्गप्राप्ति के साधन शास्त्रों ने बतलाये हैं, उनमें से ग्राह्य धर्म कौन है ? ये भिन्न भिन्न धर्ममार्ग या धर्म दिखने में तो परस्पर-विरुद्ध मालूम होते हैं; परन्तु शास्त्रकार इन सब प्रत्यक्ष मार्गों की योग्यता को एकही समझते हैं। क्योंकि समस्त प्राणियों में साम्यबुद्धि रखने का जो अन्तिम साध्य है, वह इनमें से किसी भी धर्म पर प्रीति और श्रद्धा के साथ मन को एकाग्र किये बिना प्राप्त नहीं हो सकता। तथापि, इन अनेक मार्गों की अथवा प्रतीक-उपासना की झंझट में फँसने से मन घबरा जा सकता है। इसलिये अकेले अर्जुन को ही नहीं; किन्तु उसे निमित्त करके सब लोगों को भगवान् इस प्रकार निश्चित आश्वासन देते हैं, कि इन अनेक धर्ममार्गों को छोड़ कर " तू केवल मेरी शरण में आ; मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा; डर मत। " साधु तुकाराम भी सब धर्मों का निरसन करके अन्त में भगवान् से यही माँगते हैं कि--

चतुराई चेतना सभी चूल्हे में जावें, बस मेरा मन एक ईश-चरणाश्रय पावे।
आग लगे आचार-विचारों के उपचय में, उस विभु का विश्वास सदा दृढ रहे हृदय में ॥

निश्चयपूर्वक उपदेश की या प्रार्थना की यह अन्तिम सीमा हो चुकी।

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी सोने की थाली का यह भक्तिरूपी अन्तिम कौल है यही प्रेमग्रास है। इसे पा चुके, अब आगे चलिये।

चौदहवाँ प्रकरण।

गीताध्याय-संगति।

प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत्॥ *

महाभारत, शांति. २१७. २।

अब तक किये गये विवेचन से देख पड़ेगा, कि भगवद्गीता में-भगवान् के द्वारा गाये गये उपनिषद् में--यह प्रतिपादन किया गया है, कि कर्मों को करते हुए ही अध्यात्मविचार से या भक्ति से सर्वात्मैक्यरूप साम्यबुद्धि को पूर्णतया प्राप्त कर लेना; और उसे प्राप्त कर लेने पर भी संन्यास लेने की झंझट में न पड़ संसार में शास्त्रतः प्राप्त सब कर्मों को केवल अपना कर्तव्य समझ कर करते रहना ही, इस संसार में मनुष्य का परमपुरुषार्थ अथवा जीवन व्यतीत करने का उत्तम मार्ग है। परन्तु जिस क्रम से हमने इस ग्रन्थ में उक्त अर्थ का वर्णन किया है, उसकी अपेक्षा गीताग्रन्थ का क्रम भिन्न है। इसलिये अब यह भी देखना चाहिये, कि भगवद्गीता में इस विषय का वर्णन किस प्रकार किया गया है। किसी भी विषय का निरूपण दो रीतियों से किया जाता है; एक शास्त्रीय और दूसरी पौराणिक। शास्त्रीय पद्धति वह है, कि जिसके द्वारा तर्कशास्त्रानुसार साधकबाधक प्रमाणों को क्रमसहित उपस्थित करके यह दिखला दिया जाता है, कि सब लोगों की समझ में सहज ही आ सकनेवाली बातों से किसी प्रतिपाद्य विषय के मूलतत्त्व किस प्रकार निष्पन्न होते हैं। भूमितिशास्त्र इस पद्धति का एक अच्छा उदाहरण है; और न्यायसूत्र या वेदान्तसूत्र का उपपादन भी इसी वर्ग का है। इसी लिये भगवद्गीता में--जहाँ ब्रह्मसूत्र यानी वेदान्तसूत्र का उल्लेख किया गया है, वहाँ--यह भी वर्णन है, कि उसका विषय हेतुयुक्त और निश्चयात्मक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है-"ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" (गी. १३. ४)। परन्तु, भगवद्गीता का निरूपण सशास्त्र भले हो; तथापि वह इस शास्त्रीय पद्धति से नहीं किया गया है। भगवद्गीता में जो विषय है, उसका वर्णन--अर्जुन और श्रीकृष्ण के सम्वादरूप में--अत्यन्त मनोरंजक और सुलभ रीति से किया गया है। इसी लिये प्रत्येक अध्याय के अंत में "भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" कहकर,

---

*"नारायण ऋषि ने धर्म को प्रवृत्तिप्रधान बतलाया है।" नर और नारायण नामक ऋषियों में से ही ये नारायण ऋषि हैं। पहले बतला चुके हैं, कि इन्हीं दोनों के अवतार श्रीकृष्ण और अर्जुन थे। इसी प्रकार महाभारत का वह वचन भी पहले उद्धृत किया गया है; जिससे यह मालूम होता है, कि गीता में नारायणीय धर्म का ही प्रतिपादन किया गया है।

गीतानिरूपण के स्वरूप के द्योतक "श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे" इन शब्दों का उपयोग किया गया है। इस निरूपण में और 'शास्त्रीय' निरूपण में जो भेद है, उसको स्पष्टता से बतलाने के लिये हमने सम्वादात्मक निरूपण को ही 'पौराणिक' नाम दिया है। सात सौ श्लोकों के इस सम्वादात्मक अथवा पौराणिक निरूपण में 'धर्म' जैसे व्यापक शब्द में शामिल होनेवाले सभी विषयों का विस्तारपूर्वक विवेचन कभी हो ही नहीं सकता। परन्तु आश्चर्य की बात है, कि गीता में जो अनेक विषय उपलब्ध होते हैं, उनका ही संग्रह (संक्षेप में ही क्यों न हो) अविरोध से कैसे किया जा सका! इस बात से गीताकार की अलौकिक शक्ति व्यक्त होती है; और अनुगीता के आरम्भ में जो यह कहा गया है, कि गीता का उपदेश 'अत्यन्त योगयुक्त चित्त से बतलाया गया है,' इसकी सत्यता की प्रतीति भी हो जाती है। अर्जुन को जो जो विषय पहले से ही मालूम थे, उन्हें फिरसे विस्तारपूर्वक कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उसका मुख्य प्रश्न तो यही था, कि मैं लड़ाई का घोर कृत्य करूँ या न करूँ; और करूँ भी तो किस प्रकार करूँ? जब श्रीकृष्ण अपने उत्तर में एकाध युक्ति बतलाते थे, तब अर्जुन उसपर कुछ-न-कुछ आक्षेप किया करता था। इस प्रकार के प्रश्नोत्तररूपी सम्वाद में गीता का विवेचन स्वभाव ही से कहीं संक्षिप्त और कहीं द्विरुक्त हो गया है। उदाहरणार्थ, त्रिगुणात्मक प्रकृति के फैलाव का वर्णन कुछ थोड़े भेद से दो जगह है (गी. अ. ७ और १४); और स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त, त्रिगुणातीत, तथा ब्रह्मभूत इत्यादि की स्थिति का वर्णन एक-सा होने पर भी, भिन्न भिन्न दृष्टियों से प्रत्येक प्रसंग पर बार बार किया गया है। इसके विपरीत 'यदि अर्थ और काम धर्म से विभक्त न हों, तो वे ग्राह्य हैं'—इस तत्त्व का दिग्दर्शन गीता में केवल "धर्माविरुद्धःकामोऽस्मि" (७. ११) इसी एक वाक्य में कर दिया गया है। इसका परिणाम यह होता है, कि यद्यपि गीता में सब विषयों का समावेश किया गया है, तथापि गीता पढ़ते समय उन लोगों के मन में कुछ गड़बड़-सी होती जाती है; जो श्रौतधर्म, स्मार्तधर्म, भागवतधर्म, सांख्यशास्त्र, पूर्वमीमांसा, वेदान्त, कर्मविपाक इत्यादि के उन प्राचीन सिद्धान्तों की परम्परा से परिचित नहीं हैं, कि जिनके आधार पर गीता के ज्ञान का निरूपण किया गया है। और जब गीता के प्रतिपादन की पद्धति ठीक ठीक ध्यान में नहीं आती, तब वे लोग कहने लगते हैं, कि गीता मानों बाजीगर की झोली है; अथवा शास्त्रीय पद्धति के प्रचार के पूर्व गीता की रचना हुई होगी; इसलिये उसमें ठौर ठौर पर अधूरापन और विरोध देख पड़ता है; अथवा गीता का ज्ञान ही हमारी बुद्धि के लिये अगम्य है! संशय को हटाने के लिये यदि टीकाओं का अवलोकन किया जाय, तो उनसे भी कुछ लाभ नहीं होता। क्योंकि वे बहुधा भिन्न भिन्न सम्प्रदायानुसार बनी हैं। इसलिये टीकाकारों के मतों के परस्परविरोधों की एकवाक्यता करना असम्भव-सा हो जाता है; और पढ़नेवाले का मन अधिकाधिक घबराने लगता है। इस प्रकार के भ्रम में पड़े हुए कई सुप्रबुद्ध पाठकों को हमने

देखा है। इस अड़चन को हटाने के लिये हमने अपनी बुद्धि के अनुसार गीता के प्रतिपाद्य विषयों का शास्त्रीय क्रम बाँध कर अब तक विवेचन किया है। अब यहाँ इतना और बतला देना चाहिये, कि ये ही विषय श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्भाषण में अर्जुन के प्रश्नों या शंकाओं के अनुरोध से, कुछ न्यूनाधिक होकर कैसे उपस्थित हुए हैं। इससे यह विवेचन पूरा हो जायगा; और अगले प्रकरण में सुगमता से सब विषयों का उपसंहार कर दिया जायगा।

पाठकों को प्रथम इस ओर ध्यान देना चाहिये, कि जब हमारा देश हिंदुस्थान ज्ञान, वैभव, यश और पूर्ण स्वराज्य के सुख का अनुभव ले रहा था, उस समय एक सर्वज्ञ, महापराक्रमी, यशस्वी और परमपूज्य क्षत्रिय ने दूसरे क्षत्रिय को--जो महान् धनुर्धारी था--क्षात्रधर्म के स्वकार्य में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया है। जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवर्तक महावीर और गौतमबुद्ध भी क्षत्रिय ही थे। परंतु इन दोनों ने वैदिक धर्म के केवल संन्यासमार्ग को अंगीकार कर क्षत्रिय आदि सब वर्णों के लिये संन्यासधर्म का दरवाज़ा खोल दिया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने ऐसा नहीं किया। क्योंकि भागवतधर्म का यह उपदेश है, कि न केवल क्षत्रियों को किन्तु ब्राह्मणों को भी निवृत्तिमार्ग की शान्ति के साथ साथ निष्कामबुद्धि से सब कर्म आमरणान्त करते रहने का प्रयत्न करना चाहिये। किसी भी उपदेश को लीजिये; आप देखेंगे, कि उसका कुछ-न-कुछ कारण अवश्य रहता ही है; और उपदेश की सफलता के लिये शिष्य के मन में उस उपदेश का ज्ञान प्राप्त कर लेने की इच्छा भी प्रथम ही से जागृत रहनी चाहिये। अतएव इन दोनों बातों का खुलासा करने के लिये ही व्यासजी ने गीता के पहले अध्याय में इस बात का विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया है, कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह उपदेश क्यों दिया है। कौरव और पांडवों की सेनाएँ युद्ध के लिये तैयार होकर कुरुक्षेत्र पर खड़ी हैं; अब थोड़ी ही देर में लड़ाई का आरम्भ होगा; इतने में अर्जुन के कहने से श्रीकृष्ण ने उसका रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कर दिया; और अर्जुन से कहा, कि "तुझे जिनसे युद्ध करना है, उन भीष्म द्रोण आदि को देख।" तब अर्जुन ने दोनों सेनाओं की ओर दृष्टि पहुँचाई; और देखा, कि अपने ही बाप-दादे, काका, आजा, मामा, बंधु, पुत्र, नाती, स्नेही, आप्त, गुरु, गुरुबंधु आदि दोनों सेनाओं में खड़े हैं; और इस युद्ध में सब लोगों का नाश होनेवाला है। लड़ाई कुछ एकाएक उपस्थित नहीं हुई थी। लड़ाई करने का निश्चय पहले ही हो चुका था; और बहुत दिनों से दोनों ओर की सेनाओं का प्रबन्ध हो रहा था। परन्तु इस आपस की लड़ाई से होनेवाले कुलक्षय का प्रत्यक्ष स्वरूप जब पहले पहल अर्जुन की नजर में आया, तब उसके समान महायोद्धा के भी मन में विषाद उत्पन्न हुआ; और उसके मुख से ये शब्द निकल पड़े, "ओह! आज हम लोग अपने ही कुल का भयंकर क्षय इसी लिये करनेवाले हैं न, कि राज्य हमीं को मिले; इसकी अपेक्षा भिक्षा माँगना क्या बुरा है?" और इसके बाद उसने श्रीकृष्ण से कहा,

"शत्रु ही चाहे मुझे जान से मार डाले, इसकी मुझे परवाह नहीं; परन्तु त्रैलोक्य के राज्य के लिये भी मैं पितृहत्या, गुरुहत्या, बंधुहत्या या कुलक्षय के समान घोर पातक करना नहीं चाहता।" उसकी सारी देह थर-थर काँपने लगी; हाथ-पैर शिथिल हो गये; मुँह सूख गया; और खिन्नवदन हो अपने हाथ का धनुषबाण फेंककर वह बेचारा रथ में चुपचाप बैठ गया। इतनी कथा पहले अध्याय में है। इस अध्याय को "अर्जुनविषादयोग" कहते हैं। क्योंकि यद्यपि पूरी गीता में ब्रह्मविद्यान्तर्गत (कर्म-) योगशास्त्र नामक एकही विषय प्रतिपादित हुआ है; तो भी प्रत्येक अध्याय में जिस विषय का वर्णन प्रधानता से किया जाता है, उस विषय को इस कर्मयोगशास्त्र का ही एक भाग समझना चाहिये। और ऐसा समझकर ही प्रत्येक अध्याय को उसके विषयानुसार अर्जुनविषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग इत्यादि भिन्न भिन्न नाम दिये गये हैं। इन सब 'योगों' को एकत्र करने से "ब्रह्मविद्या का कर्मयोगशास्त्र" हो जाता है। पहले अध्याय की कथा का महत्त्व हम इस ग्रन्थ के आरम्भ में कह चुके हैं। इसका कारण यह है, कि जब तक हम उपस्थित प्रश्न के स्वरूप को ठीक तौर से जान न लें, तब तक उस प्रश्न का उत्तर भी भली भाँति हमारे ध्यान में नहीं आता। यदि कहा जाय, कि गीता का यही तात्पर्य है, कि "सांसारिक कर्मों से निवृत्त होकर भगवद्भजन करो, या संन्यास ले लो;" तो फिर अर्जुन को उपदेश करने की कुछ आवश्यकता ही न थी। क्योंकि वही तो लड़ाई का घोर कर्म छोड़ कर भिक्षा माँगने के लिये आप-ही-आप तैयार हो गया था। पहले ही अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण के मुख से ऐसे अर्थ का एक-आध श्लोक कहलाकर गीता की समाप्ति कर देनी चाहिये थी, कि "वाह ! क्या ही अच्छा कहा ! तेरी इस उपरति को देख मुझे आनन्द मालूम होता है। चलो, हम दोनों इस कर्ममय संसार को छोड़ संन्यासाश्रम के द्वारा या भक्ति के द्वारा अपने आत्मा का कल्याण कर लें !" फिर, इधर लड़ाई हो जाने पर व्यासजी उसका वर्णन करने में तीन वर्ष तक (म. भा. आ. ६२. ५२) अपनी वाणी का भले ही दुरुपयोग करते रहते; परन्तु उसका दोष बेचारे अर्जुन और श्रीकृष्ण पर तो आरोपित न हुआ होता। हाँ; यह सच है, कि कुरुक्षेत्र में जो सैकड़ों महारथी एकत्र हुए थे, वे अवश्य ही अर्जुन और श्रीकृष्ण का उपहास करते। परन्तु जिस मनुष्य को अपने आत्मा का कल्याण कर लेना है, वह ऐसे उपहास की परवाहही क्यों करता ? संसार कुछ भी कहे; उपनिषदों में तो यही कहा है, कि "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" (जा. ४) अर्थात् जिस क्षण उपरति हो, उसी क्षण संन्यास धारण करो; विलम्ब न करो। यदि यह कहा जाय कि अर्जुन की उपरति ज्ञानपूर्वक न थी, वह केवल मोह की थी; तो भी वह थी तो उपरति ही। बस; उपरति होने से ही आधा काम हो चुका। अब मोह को हटा कर उसी उपरति को पूर्णज्ञानमूलक कर देना भगवान् के लिये कुछ असम्भव बात न थी। भक्तिमार्ग में या संन्यासमार्ग में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं, कि जब कोई किसी

कारण से संसार से उकता गये, तो वे दुःखित हो इस संसार को छोड़ जंगल में चल गये; और उन लोगों ने पूरी सिद्धि भी प्राप्त कर ली है। इसी प्रकार अर्जुन की भी दशा हुई होती। ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता था, कि संन्यास लेने के समय वस्त्रों को गेरुआ रंग देने के लिये मुठ्ठी भर लाल मिट्टी, या भगवन्नामसंकीर्तन के लिये झांझ, मृदंग आदि सामग्री सारे कुरुक्षेत्र में भी न मिलती।

परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं किया; उलटा दूसरे अध्याय के आरम्भ में ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है, कि "अरे! तुझे यह दुर्बुद्धि (कश्मल) कहाँ से सूझ पड़ी? यह नामर्दी (क्लैब्य) तुझे शोभा नहीं देती! यह तेरी कीर्ति को धूलि में मिला देगी। इसलिये इस दुर्बलता का त्याग कर युद्ध के लिये खड़ा हो जा।" परन्तु अर्जुन ने किसी अबला की तरह अपना वह रोना जारी ही रखा। वह अत्यन्त दीन-हीन वाणी से बोला—"मैं भीष्म, द्रोण आदि महात्माओं को कैसे मारूँ? मेरा मन इसी संशय में चक्कर खा रहा है, कि मरना भला है, या मारना? इसलिये मुझे यह बतलाइये, कि इन दोनों में कौन-सा धर्म श्रेयस्कर है। मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ।" अर्जुन की इन बातों को सुनकर श्रीकृष्ण जान गये, कि अब यह माया के चंगुल में फँस गया है। इसलिये जरा हँसकर उन्होंने उसे "अशोच्यान-न्वशोचस्त्वम्" इत्यादि ज्ञान बतलाना आरम्भ किया। अर्जुन ज्ञानी पुरुष के सदृश बर्ताव करना चाहता था; और वह कर्मसंन्यास की बातें भी करने लग गया था। इसलिये, संसार में ज्ञानी पुरुष के आचरण के जो दो पंथ देख पड़ते हैं—अर्थात्, 'कर्म करना' और 'कर्म छोड़ना'—वहीं से भगवान् ने उपदेश का आरम्भ किया है। और अर्जुन को पहली बात यही बतलाई है, कि इन दो पन्थों या निष्ठाओं में से तू किसीको भी ले; परन्तु तू भूल कर रहा है। इसके बाद, जिस ज्ञान या सांख्यनिष्ठा के आधार पर अर्जुन कर्मसंन्यास की बात करने लगा था, उसी सांख्यनिष्ठा के आधार पर श्रीकृष्ण ने प्रथम 'एषा तेऽभिहिता बुद्धिः' (गी. २. ११–३९) तक उपदेश किया है। और फिर अध्याय के अन्त तक कर्मयोगमार्ग के अनुसार अर्जुनको यही बतलाया है, कि युद्ध ही तेरा सच्चा कर्तव्य है। यदि 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये' सरीखा श्लोक 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' श्लोक के पहले आता, तो यही अर्थ और भी अधिक व्यक्त हो गया होता। परन्तु सम्भाषण के प्रवाह में सांख्यमार्ग का प्रतिपादन हो जाने पर वह इस रूपमें आया है—"वह तो सांख्यमार्ग के अनुसार प्रतिपादन हुआ। अब योगमार्ग के अनुसार प्रतिपादन करता हूँ।" कुछ भी हो; परन्तु अर्थ एकही है। हमने ग्यारहवें प्रकरण में सांख्य (या संन्यास) और योग (या कर्मयोग) का भेद पहले ही स्पष्ट करके बतला दिया है। इसलिये उसकी पुनरावृत्ति न कर केवल इतना ही कह देते हैं, कि चित्त की शुद्धता के लिये स्वधर्मानुसार वर्णाश्रमविहित कर्म करके ज्ञान-प्राप्ति होने पर मोक्ष के लिये अन्त में सब कर्मों को छोड़ संन्यास लेना सांख्यमार्ग है; और कर्मों का कभी त्याग न कर अन्त तक उन्हें निष्कामबुद्धि से करते

रहना योग अथवा कर्मयोग है । अर्जुन से भगवान् प्रथम यह कहते हैं, कि सांख्य-मार्ग के अध्यात्मज्ञानानुसार आत्मा अविनाशी और अमर है। इसलिये तेरी यह समझ ग़लत है, कि "मैं भीष्म, द्रोण आदि को मारूँगा।" क्योंकि न तो आत्मा मरता है; और न मारता ही है । जिस प्रकार मनुष्य अपने वस्त्र बदलता है, उसी प्रकार आत्मा एक देह को छोड़कर दूसरी देह में चला जाता है। परन्तु इसलिये उसे मृत मानकर शोक करना उचित नहीं । अच्छा; मान लिया, कि "मैं मारूँगा" यह भ्रम है; तब तू कहेगा, कि युद्ध ही क्यों करना चाहिये? तो उसका उत्तर यह है, कि शास्त्रतः प्राप्त हुए युद्ध से परावृत्त न होना ही क्षत्रियोंका का धर्म है। और जब कि इस सांख्यमार्ग में प्रथमतः वर्णाश्रमविहित कर्म करना ही श्रेयस्कर माना जाता है; तब यदि तू वैसा न करेगा, तो लोग तेरी निन्दा करेंगे—अधिक क्या कहें; युद्ध में मरना ही क्षत्रियों का धर्म है। फिर व्यर्थ शोक क्यों करता है? 'मैं मारूँगा और वह मरेगा' यह केवल कर्मदृष्टि है--इसे छोड़ दे। तू अपना प्रवाहपतित कार्य ऐसी बुद्धि से करता चला जा, कि मैं केवल अपना स्वधर्म कर रहा हूँ। इससे तुझे कुछ भी पाप नहीं लगेगा। यह उपदेश सांख्यमार्गानुसार हुआ। परन्तु चित्त की शुद्धता के लिये प्रथमतः कर्म करके चित्तशुद्धि हो जाने पर अन्त में सब कर्मों को छोड़ संन्यास लेना ही यदि इस मार्ग के अनुसार श्रेष्ठ माना जाता है, तो यह शंका रह ही जाती है, कि उपरति होते ही युद्ध को छोड़ (यदि हो सके तो) संन्यास ले लेना क्या अच्छा नहीं है? केवल इतना कह देने से काम नहीं चलता, कि मनु आदि स्मृतिकारों की आज्ञा है, कि गृहस्थाश्रम के बाद फिर कहीं बूढ़ापे में संन्यास लेना चाहिये। युद्धावस्था में तो गृहस्थाश्रमी ही होना चाहिये। क्योंकि किसी भी समय यदि संन्यास लेना ही श्रेष्ठ है, तो ज्यों ही संसार से जी हटा, त्यों ही तनिक भी देर न कर संन्यास लेना उचित है। और इसी हेतु से उपनिषदों में भी ऐसे वचन पाये जाते हैं कि "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा" (जा. ४.)। संन्यास लेने से जो गति प्राप्त होगी, वही युद्धक्षेत्र में मरने से क्षत्रिय को प्राप्त होती है। महाभारत में कहा है—

> द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमंडलभेदिनौ ।
> परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखोहतः ॥

अर्थात्—"हे पुरुषव्याघ्र ! सूर्यमंडल को पार कर ब्रह्मलोक को जानेवाले केवल दो ही पुरुष हैं। एक तो योगयुक्त संन्यासी और दूसरा युद्ध में लड़ कर मर जानेवाला वीर" (उद्यो. ३२. ६५)। इसी अर्थ का एक श्लोक कौटिल्य के, यानी चाणक्य के, अर्थ-शास्त्र में भी है:—

> यान् यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणः पात्रचयैश्च यांति ।
> क्षणेन तानप्यतियांति शूराः प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्तः ॥

"स्वर्ग की इच्छा करनेवाले ब्राह्मण अनेक यज्ञों से, यज्ञपात्रों से और तपों से जिस लोक में जाते हैं, उस लोक के भी आगे के लोक में युद्ध में प्राण अर्पण

करनेवाले शूर पुरुष एक क्षण में जा पहुँचते हैं--अर्थात् न केवल तपस्वियों को या संन्यासियों को वरन् यज्ञयाग आदि करनेवाले दीक्षितों को भी जो गति प्राप्त होती है, वही युद्ध में मरनेवाले क्षत्रिय को भी मिलती है (कौटि. १०. ३. १५०-५२; और म. भा. शां. ९८.-१०० देखो)। "क्षत्रिय को स्वर्ग में जाने के लिये युद्ध के समान दूसरा दरवाजा क्वचित् ही खुला मिलता है। युद्ध में मरने से स्वर्ग; और जय प्राप्त करने से पृथ्वी का राज्य मिलेगा" (२. ३२, ३७)--गीता के इस उपदेश का तात्पर्य भी वही है। इसलिये सांख्यमार्ग के अनुसार यह भी प्रतिपादन किया जा सकता है, कि क्या संन्यास लेना और क्या युद्ध करना, दोनों से एक ही फल की प्राप्ति होती है। इस मार्ग के युक्तिवाद से यह निश्चितार्थ पूर्ण रीति से सिद्ध नहीं होता, कि 'कुछ भी हो; युद्ध करना ही चाहिये।' सांख्यमार्ग में जो यह न्यूनता या दोष है, उसे ध्यान में रख आगे भगवान् ने कर्मयोगमार्ग का प्रतिपादन आरंभ किया है; और गीता के अन्तिम अध्याय के अन्त तक इसी कर्मयोग का--अर्थात् कर्मों को करना ही चाहिये और मोक्ष में उनसे कोई बाधा नहीं होती; किन्तु इन्हें करते रहने से ही मोक्ष प्राप्त होता है, इसका--भिन्न भिन्न प्रमाण देकर शंका-निवृत्तिपूर्वक समर्थन किया है। इस कर्मयोग का मुख्य तत्त्व यह है, कि किसी भी कर्म को भला या बुरा कहने के लिये उस कर्म के बाह्य-परिणामों की अपेक्षा पहले यह देख लेना चाहिये, कि कर्ता की वासनात्मक बुद्धि शुद्ध है अथवा अशुद्ध (गी. २. ४९)। परंतु वासना की शुद्धता या अशुद्धता का निर्णय भी तो आखिर व्यवसायात्मक बुद्धि ही करती है। इसलिये जब तक निर्णय करनेवाली बुद्धीन्द्रिय स्थिर और शान्त न होगी, तब तक वासना भी शुद्ध या सम नहीं हो सकती। इसी लिये उसके साथ यह भी कहा है, कि वासनात्मक बुद्धि को शुद्ध करने के लिये प्रथम समाधि के योग से व्यवसायात्मक बुद्धीन्द्रिय को भी स्थिर कर लेना चाहिये (गीता. २. ४१)। संसार के सामान्य व्यवहारों की ओर देखने से प्रतीत होता है, कि बहुतेरे मनुष्य स्वर्गादि भिन्न भिन्न काम्यसुखों की प्राप्ति के लिये ही यज्ञयागादिक वैदिक काम्यकर्मों की झंझट में पड़े रहते हैं। इससे उनकी बुद्धि कभी एक फल की प्राप्ति में, कभी दूसरे ही फल की प्राप्ति में, अर्थात् स्वार्थ ही में, निमग्न रहती है; और सदा बदलनेवाली यानी चंचल हो जाती है। ऐसे मनुष्यों को स्वर्गसुखादिक अनित्यफल की अपेक्षा अधिक महत्त्व का अर्थात् मोक्षरूपी नित्य सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता। इसी लिये अर्जुन को कर्मयोगमार्ग का रहस्य इस प्रकार बतलाया गया है, कि वैदिक कर्मों के काम्य झगड़ों को छोड़ दे; और निष्कामबुद्धि से कर्म करना सीख। तेरा अधिकार केवल कर्म करने भर का ही है--कर्म के फल की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति तेरे अधिकार की बात नहीं है (२. ४७)। ईश्वर को ही फलदाता मान कर जब इस समबुद्धि से--कि कर्म का फल मिले अथवा न मिले, दोनों समान

हैं--केवल स्वकर्तव्य समझ कर ही कुछ काम किया जाता है; तब उस कर्म के पाप-पुण्य का लेप कर्ता को नहीं होता। इसलिये तू इस समबुद्धि का आश्रय कर। इस समबुद्धि को ही योग--अर्थात् पाप के भागी न होते हुए कर्म करने की युक्ति--कहते हैं। यदि तुझे यह योग सिद्ध हो जाय, तो कर्म करने पर भी तुझे मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी। मोक्ष के लिये कुछ कर्मसंन्यास की आवश्यकता नहीं है (२. ४७–५३)। जब भगवान ने अर्जुन से कहा, कि जिस मनुष्य की बुद्धि इस प्रकार सम हो गई हो, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं (२. ५३); तब अर्जुन ने पूछा, कि "महाराज! कृपा कर बतलाये, कि स्थितप्रज्ञ का बर्ताव कैसा होता है?" इसलिये दूसरे अध्याय के अन्त में स्थितप्रज्ञ का वर्णन किया गया है; और अन्त में कहा गया है, कि स्थितप्रज्ञ की स्थिति को ही ब्राह्मीस्थिति कहते हैं। सारांश यह है, कि अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये गीता में जो उपदेश दिया गया है, उसका प्रारम्भ उन दो निष्ठाओं से ही किया गया है, कि जिन्हें इस संसार के ज्ञानी मनुष्यों ने ग्राह्य माना है; और जिन्हें 'कर्म छोड़ना' (सांख्य) और 'कर्म करना' (योग) कहते हैं; तथा युद्ध करने की आवश्यकता की उपपत्ति पहले सांख्यनिष्ठा के अनुसार बतलाई गई है। परन्तु जब यह देखा गया, कि इस उपपत्ति से काम नहीं चलता–यह अधूरी है–तब फिर तुरन्त ही योग या कर्मयोग मार्ग के अनुसार ज्ञान बतलाना आरम्भ किया है; और यह बतलाने के पश्चात्--कि इस कर्मयोग का अल्प आचरण भी कितना श्रेयस्कर है--दूसरे अध्याय में भगवान् ने अपने उपदेश को इस स्थान तक पहुँचा दिया है, कि जब कर्मयोग-मार्ग में कर्म की अपेक्षा वह बुद्धि ही श्रेष्ठ मानी जाती है, जिससे कर्म करने की प्रेरणा हुआ करती है; तो अब स्थितप्रज्ञ की नाईं तू अपनी बुद्धि को सम करके अपना कर्म कर; जिससे तू कदापि पाप का भागी न होगा। अब देखना है, कि आगे और कौन कौन-से प्रश्न उपस्थित होते हैं। गीता के सारे उपपादन की जड़ दूसरे अध्याय में ही है। इसलिये इसके विषय का विवेचन यहाँ कुछ विस्तार से किया गया है।

तीसरे अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने प्रश्न किया है, कि "यदि कर्मयोगमार्ग में भी कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ मानी जाती है, तो मैं अभी स्थितप्रज्ञ की नाईं अपनी बुद्धि को सम किये लेता हूँ। फिर आप मुझसे इस युद्ध के समान घोर कर्म करने के लिये क्यों कहते हैं?" इसका कारण यह है, कि कर्म की अपेक्षा बुद्धि को श्रेष्ठ कह देने से ही इस प्रश्न का निर्णय नहीं हो जाता, कि "युद्ध क्यों करें? बुद्धि को सम रख कर उदासीन क्यों न बैठे रहें?" बुद्धि को सम रखने पर भी कर्मसंन्यास किया जा सकता है। फिर जिस मनुष्य की बुद्धि सम हो गई है, उसे सांख्यमार्ग के अनुसार कर्मों का त्याग करने में क्या हर्ज है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् इस प्रकार देते हैं, कि पहले तुझे सांख्य और योग नामक दो निष्ठाएँ बतलाई हैं सही; परन्तु यह भी स्मरण रहे, कि किसी मनुष्य के कर्मों का

सर्वथा छूट जाना असम्भव है। जब तक यह देहधारी है, तब तक प्रकृति स्वभावतः उससे कर्म करावेगी ही। और जब कि प्रकृति के ये कर्म छूटते ही नहीं हैं, तब तो इन्द्रियनिग्रह के द्वारा बुद्धि को स्थिर और सम करके केवल कर्मेन्द्रियों से ही अपने सब कर्तव्यकर्मों को करते रहना अधिक श्रेयस्कर है। इसलिये तू कर्म कर। यदि कर्म नहीं करेगा, तो तुझे खाने तक न मिलेगा (३. ३. ८)। ईश्वर ने ही कर्म को उत्पन्न किया है; मनुष्य ने नहीं। जिस समय ब्रह्मदेव ने सृष्टि और प्रजा को उत्पन्न किया, उसी समय उसने 'यज्ञ' को भी उत्पन्न किया था। और उसने प्रजा से यह कह दिया था, कि यज्ञ के द्वारा तुम अपनी समृद्धि कर लो। जब कि यह यज्ञ बिना कर्म किये सिद्ध नहीं होता, तो अब यज्ञ को कर्म ही कहना चाहिये। इसलिये यह सिद्ध होता है, कि मनुष्य और कर्म साथ ही साथ उत्पन्न हुए हैं। परन्तु ये कर्म केवल यज्ञ के लिये ही हैं; और यज्ञ करना मनुष्य का कर्तव्य है। इस लिये इन कर्मों के फल मनुष्य को बन्धन में डालनेवाले नहीं होते। अब यह सच है, कि जो मनुष्य पूर्ण ज्ञानी हो गया, स्वयं उसके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता; और, न लोगों से ही उसका कुछ अटका रहता है। परन्तु इतने ही से यह सिद्ध नहीं हो जाता, कि कर्म मत करो। क्योंकि कर्म करने से किसीको भी छुटकारा न मिलने के कारण यही अनुमान करना पड़ता है, कि यदि स्वार्थ के लिये न हो; तो भी अब उसी कर्म को निष्कामबुद्धि से लोकसंग्रह के लिये अवश्य करना चाहिये (३.१७.१९)। इन्हीं बातों पर ध्यान देकर प्राचीन काल में जनक आदि ज्ञानी पुरुषों ने कर्म किये हैं; और मैं भी कर रहा हूँ। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रहे, कि ज्ञानी पुरुषों के कर्तव्यों में 'लोकसंग्रह करना' एक मुख्य कर्तव्य है; अर्थात् अपने बर्ताव से लोगों को सन्मार्ग की शिक्षा देना और उन्हें उन्नति के मार्ग में लगा देना, ज्ञानी पुरुष ही का कर्तव्य है। मनुष्य कितना ही ज्ञानवान् क्यों न हो जावे; परन्तु प्रकृति के व्यवहारोंसे उसका छुटकारा नहीं है। इसलिये कर्मों को छोड़ना तो दूर ही रहा; परन्तु कर्तव्य समझ कर स्वधर्मानुसार कर्म करते रहना और—आवश्यकता होने पर—उसीमें मर जाना भी श्रेयस्कर है (३. ३०–३५);—इस प्रकार तीसरे अध्याय में भगवान् ने उपदेश दिया है। भगवान् ने इस प्रकार प्रकृति को सब कामों का कर्तृत्व दे दिया। यह देख अर्जुन ने प्रश्न किया, कि मनुष्य—इच्छा न रहने पर भी—पाप क्यों करता है ? तब भगवान् ने यह उत्तर देकर अध्याय समाप्त कर दिया है, कि काम, क्रोध आदि विकार बलात्कार से मन को भ्रष्ट कर देते हैं। अतएव अपनी इन्द्रियों का निग्रह करके प्रत्येक मनुष्य को अपना मन अपने आधीन रखना चाहिये। सारांश, स्थितप्रज्ञ की नाईं बुद्धिकी समता हो जाने पर भी कर्म से किसी का छुटकारा नहीं। अतएव यदि स्वार्थ के लिये न हो, तो भी लोकसंग्रह के लिये निष्कामबुद्धि से कर्म करते ही रहना चाहिये—इस प्रकार कर्मयोग की आवश्यकता सिद्ध की गई है; और भक्तिमार्ग के परमेश्वरार्पणपूर्वक कर्म करने के इस तत्त्व का भी—'कि मुझे सब कर्म अर्पण कर' (३.३०.३१)—इसी अध्याय में प्रथम उल्लेख हो गया ह।

परन्तु यह विवेचन तीसरे अध्याय में पूरा नहीं हुआ; इसलिये चौथा अध्याय भी उसी विवेचन के लिये आरम्भ किया गया है। किसी के मन में यह शंका न आने पाये, कि अब तक किया गया प्रतिपादन केवल अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये ही नूतन रचा गया होगा। इसलिये अध्याय के आरम्भ में इस कर्मयोग की अर्थात् भागवत या नारायणीय धर्म की त्रेतायुगवाली परम्परा बतलाई गई है। जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, कि आदौ यानी युग के आरम्भ में मैंने ही यह कर्मयोगमार्ग विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को और इक्ष्वाकु को बतलाया था; परन्तु इस बीच में यह नष्ट हो गया था; इसलिये मैंने यही योग (कर्मयोगमार्ग) तुझे फिर से बतलाया है। तब अर्जुन ने पूछा, कि आप विवस्वान् के पहले कैसे होंगे? इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने बतलाया है, कि साधुओं की रक्षा, दुष्टों का नाश और धर्म की संस्थापना करना ही मेरे अवतारों का प्रयोजन है। एवं इस प्रकार लोकसंग्रहकारक कर्मों को करते हुए भी उनमें मेरी कुछ आसक्ति नहीं है। इसलिये मैं उनके पापपुण्यादि फलों का भागी नहीं होता। इस प्रकार कर्मयोग का समर्थन करके और यह उदाहरण देकर कि प्राचीन समय जनक आदि ने भी इसी तत्त्व को ध्यान में ला कर कर्मों का आचरण किया है। भगवान्‌ने अर्जुन को फिर यही उपदेश दिया है, कि 'तू भी वैसे ही कर्म कर।' तीसरे अध्याय में मीमांसकों का जो यह सिद्धान्त बतलाया गया था, कि "यज्ञ के लिये किये गये कर्म बन्धक नहीं होते," उसीको अब फिर से बतलाकर 'यज्ञ' की विस्तृत और व्यापक व्याख्या इस प्रकार की है--केवल तिल और चावल को जलाना अथवा पशुओं को मारना एक प्रकार का यज्ञ है सही; परन्तु यह द्रव्यमय यज्ञ हलके दर्जे का है। और संयमाग्नि में कामक्रोधादि इन्द्रियवृत्तियों को जलाना अथवा 'न मम' कहकर सब कर्मों को ब्रह्म में स्वाहा कर देना ऊँचे दर्जे का यज्ञ है। इसलिये अब अर्जुन को ऐसा उपदेश किया है, कि तू इस ऊँचे दर्जे के यज्ञ के लिये फलाशा का त्याग करके कर्म कर। मीमांसकों के न्याय के अनुसार यथार्थ किये गये कर्म यदि स्वतंत्र रीति से बंधक न हों, तो भी यज्ञ का कुछ–न–कुछ फल बिना प्राप्त हुए नहीं रहता। इसलिये यज्ञ भी यदि निष्कामबुद्धि से ही किया जावे, तो उसके लिये किया गया कर्म और स्वयं यज्ञ दोनों बंधक न होंगे। अन्त में कहा है, कि साम्यबुद्धि उसे कहते हैं जिससे यह ज्ञान हो जावे, कि सब प्राणी अपने में या भगवान् में हैं। जब ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तभी सब कर्म भस्म हो जाते हैं; और कर्ता को उनकी कुछ बाधा नहीं होती। "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते"--सब कर्मों का लय ज्ञान में हो जाता है। कर्म स्वयं बन्धक नहीं होते। बन्ध केवल अज्ञान से उत्पन्न होता है। इसलिये अर्जुन को यह उपदेश दिया गया है, कि अज्ञान को छोड़ कर्मयोग का आश्रय कर; और लड़ाई के लिये खड़ा हो जा। सारांश, इस अध्याय में ज्ञान की इस प्रकार प्रस्तावना की गई है, कि कर्मयोगमार्ग की सिद्धि के लिये भी साम्यबुद्धिरूप ज्ञान की आवश्यकता है।

कर्मयोग की आवश्यकता क्या है या कर्म क्यों किये जावें––इसके कारणों का विचार तीसरे और चौथे अध्याय में किया गया है सही; परन्तु दूसरे अध्याय में सांख्यज्ञान का वर्णन करके कर्मयोग के विवेचन में भी बारबार कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ बतलाई गयी है। इसलिये यह बतलाना अब अत्यन्त आवश्यक है, कि इन दो मार्गों में कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है। क्योंकि यदि दोनों मार्ग एक-सी योग्यता के कहे जायँ, तो परिणाम यह होगा, कि जिसे जो मार्ग अच्छा लगेगा, वह उसी को अंगीकार कर लेगा––केवल कर्मयोग को ही स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। अर्जुन के मन में यही शङ्का उत्पन्न हुई। इसलिये उसने पाँचवें अध्याय के आरम्भ में भगवान् से पूछा है, कि "सांख्य और योग दोनों निष्ठाओं को एकत्र करके मुझे उपदेश न कीजिये। मुझे केवल इतना ही निश्चयात्मक बतला दीजिये, कि इन दोनों में श्रेष्ठ मार्ग कौन–सा है, जिससे कि मैं सहज ही उसके अनुसार बर्ताव कर सकूँ।" इस पर भगवान् ने स्पष्ट रीति से यह कह कर अर्जुन का सन्देह दूर कर दिया है, कि यद्यपि दोनों मार्ग निःश्रेयस्कर हैं––अर्थात् एक–से ही मोक्षप्रद हैं––तथापि उनमें कर्मयोग की योग्यता अधिक है––"कर्मयोगो विशिष्यते" (५. २)। इसी सिद्धान्त को दृढ करने के लिये भगवान् और भी कहते हैं, कि संन्यास या सांख्यनिष्ठा से जो मोक्ष मिलता है, वही कर्मयोग से भी मिलता है। इतना ही नहीं; परन्तु कर्मयोग में जो निष्कामबुद्धि बतलाई गई है, उसे बिना प्राप्त किये संन्यास सिद्ध नहीं होता। और जब वह प्राप्त हो जाती है, तब योगमार्ग से कर्म करते रहने पर भी ब्रह्मप्राप्ति अवश्य हो जाती है। फिर यह झगड़ा करने से क्या लाभ है, कि सांख्य और योग भिन्न भिन्न हैं? यदि हम चलना, बोलना, देखना, सुनना, बास लेना इत्यादि सैकड़ों कर्मों को छोड़ना चाहें, तो भी वे नहीं छूटते। इस दशा में कर्मों को छोड़ने का हठ न कर उन्हें ब्रह्मार्पणबुद्धि से करते रहना ही बुद्धिमत्ता का मार्ग है। इसलिये तत्त्वज्ञानी पुरुष निष्कामबुद्धि से कर्म करते रहते हैं; और अन्त में उन्हीं के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर लिया करते हैं। ईश्वर तुमसे न यह कहता है, कि कर्म करो; और न यह कहता है, कि उनका त्याग कर दो। यह तो सब प्रकृति की क्रीडा है; और बन्धन मन का धर्म है। इसलिये जो मनुष्य समबुद्धि से अथवा 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' होकर कर्म किया करता है, उसे उस कर्म की बाधा नहीं होती। अधिक क्या कहें; इस अध्याय के अन्त में यह भी कहा है, कि जिसकी बुद्धि कुत्ता, चांडाल, ब्राह्मण, गौ, हाथी इत्यादि के प्रति सम हो जाती है; और जो सर्वभूतान्तर्गत आत्मा की एकता को पहचान कर अपने व्यवहार करने लगता है, उसे बैठे बिठाये ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष प्राप्त हो जाता है—मोक्षप्राप्ति के लिये उसे कहीं भटकना नहीं पड़ता; वह सदा मुक्त ही है।

छठे अध्याय में वही विषय आगे चल रहा है; और उसमें कर्मयोग की सिद्धि के लिये आवश्यक समबुद्धि की प्राप्ति के उपायों का वर्णन है। पहले ही श्लोक में भगवान् ने अपना मत स्पष्ट बतला दिया है, कि जो मनुष्य कर्मफल की आशा न

रख केवल कर्तव्य समझकर संसार के प्राप्त कर्म करता रहता है, वही सच्चा योगी और सच्चा संन्यासी है। जो मनुष्य अग्निहोत्र आदि कर्मों का त्याग कर चुपचाप बैठ रहे, वह सच्चा संन्यासी नहीं है। इसके बाद भगवान् ने आत्मस्वतंत्रता का इस प्रकार वर्णन किया है, कि कर्मयोगमार्ग में बुद्धि को स्थिर करने के लिये इन्द्रिय-निग्रहरूपी जो कर्म करना पड़ता है, उसे स्वयं आप ही करें। यदि कोई ऐसा न करे, तो किसी दूसरे पर उसका दोषारोपण नहीं किया जा सकता। इसके आगे इस अध्याय में इन्द्रियनिग्रहरूपी योग की साधना का पातंजलयोग की दृष्टि से, मुख्यतः वर्णन किया गया है। परन्तु यम-नियम-आसन-प्राणायाम आदि साधनों के द्वारा यद्यपि इन्द्रियों का निग्रह किया जावे, तो भी उतने से ही काम नहीं चलता। इस लिये आत्मैक्यज्ञान की भी आवश्यकता के विषय में इसी अध्याय में कहा गया है, कि आगे उस पुरुष की वृत्ति 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' अथवा 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति' (६. २९. ३०) इस प्रकार सब प्राणियों में सम हो जानी चाहिये। इतने में अर्जुन ने यह शंका उपस्थित की, कि यदि यह साम्यबुद्धिरूपी योग एक जन्म में सिद्ध न हो, तो फिर दूसरे जन्म में भी आरम्भ ही से उसका अभ्यास करना होगा--और फिर भी वही दशा होगी--और इस प्रकार यदि यह चक्र हमेशा चलता ही रहे, तो मनुष्य को इस मार्ग के द्वारा सद्गति प्राप्त होना असम्भव है। इस शंका का निवारण करने के लिये भगवान् ने पहले यह कहा है, कि योगमार्ग में कुछ भी व्यर्थ नहीं जाता। पहले जन्म के संस्कार शेष रह जाते हैं; और उनकी सहायता से दूसरे जन्म में अधिक अभ्यास होता है तथा क्रम क्रम से अन्त में सिद्धि मिल जाती है। इतना कहकर भगवान् ने इस अध्याय के अन्त में अर्जुन को पुनः यह निश्चित और स्पष्ट उपदेश किया है, कि कर्मयोगमार्ग ही श्रेष्ठ और क्रमशः सुसाध्य है। इस लिये केवल (अर्थात् फलाशा को न छोड़ते हुए) कर्म करना, तपश्चर्या करना, ज्ञान के द्वारा कर्मसंन्यास करना इत्यादि सब मार्गों को छोड़ दे; और तू योगी हो जा--अर्थात् निष्काम-कर्मयोगमार्ग का आचरण करने लग।

कुछ लोगों का मत है, कि यहाँ अर्थात् पहले छः अध्यायों में कर्मयोग का विवेचन पूरा हो गया। इसके आगे ज्ञान और भक्ति को 'स्वतंत्र' निष्ठा मान कर भगवान् ने उनका वर्णन किया है--अर्थात् ये दोनों निष्ठाएँ परस्पर निरपेक्ष या कर्मयोग की ही बराबरी की, परन्तु उससे पृथक् और उसके बदले विकल्प के नाते से आचरणीय हैं। सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक भक्ति का और आगे शेष छः अध्यायों में ज्ञान का वर्णन किया गया है। और इस प्रकार अठारह अध्यायों के विभाग करने से कर्म, भक्ति और ज्ञान में से प्रत्येक के हिस्से में छः छः अध्याय आते हैं; तथा गीता के समान भाग हो जाते हैं। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। पाँचवें अध्याय के श्लोकों से स्पष्ट मालूम हो जाता है, कि जब अर्जुन की मुख्य शंका यही थी, कि "मैं सांख्यनिष्ठा के अनुसार युद्ध करना छोड़ दूँ, या

युद्ध के भयंकर परिणाम को प्रत्यक्ष दृष्टि के सामने देखते हुए भी युद्ध ही करूँ? और, यदि युद्ध ही करना पड़े, तो उसके पाप से कैसे बचूँ?—तब उसका समाधान ऐसे अधूरे और अनिश्चित उत्तर से कभी हो ही नहीं सकता था, कि "ज्ञान से मोक्ष मिलता है; और वह कर्म से भी प्राप्त हो जाता है। और, यदि तेरी इच्छा हो, तो भक्ति नाम की एक और तीसरी निष्ठा भी है।" इसके अतिरिक्त यह मानना भी ठीक न होगा, कि जब अर्जुन किसी एक ही निश्चयात्मक मार्ग को जानना चाहता है, तब सर्वज्ञ और चतुर श्रीकृष्ण उसके प्रश्न के मूल स्वरूप को छोड़कर उसे तीन स्वतंत्र और विकल्पात्मक मार्ग बतला दें। सच बात तो यह है, कि गीता में 'कर्मयोग' और 'संन्यास' इन्हीं दो निष्ठाओं का विचार है (गी. ५, १); और यह भी साफ़ साफ़ बतला दिया है, कि इन में से 'कर्मयोग' ही अधिक श्रेयस्कर है (५. २)। भक्ति की तीसरी निष्ठा तो कहीं बतलाई भी नहीं गई है। अर्थात् यह कल्पना साम्प्रदायिक टीकाकारों की मनगढ़न्त है, कि ज्ञान, कर्म और भक्ति तीन स्वतंत्र निष्ठाएँ हैं; और उनकी यह समझ होने के कारण—कि गीता में केवल मोक्ष के उपायों का ही वर्णन किया गया है—उन्हें ये तीन निष्ठाएँ कदाचित् भागवत से सूझी हों (भाग. ११. २०. ६)। परन्तु टीकाकारों के ध्यान में यह बात नहीं आई, कि भागवतपुराण और भगवद्गीता का तात्पर्य एक नहीं है। यह सिद्धान्त भागवतकार को भी मान्य है, कि केवल कर्मों से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। मोक्ष के लिये ज्ञान की आवश्यकता रहती है। परन्तु इसके अतिरिक्त, भागवतपुराण का यह भी कथन है, कि यद्यपि ज्ञान और नैष्कर्म्य मोक्षदायक हों, तथापि ये दोनों (अर्थात् गीताप्रतिपादित निष्काम कर्मयोग) भक्ति के बिना शोभा नहीं देते— 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्' (भाग१२. १२. ५२ और १. २. १२)। इस प्रकार देखा जाय तो स्पष्ट प्रगट होता है, कि भागवतकार केवल भक्ति को ही सच्ची निष्ठा अर्थात् अन्तिम मोक्षप्रद स्थिति मानते हैं। भागवत का न तो यह कहना है, कि भगवद्भक्तों को ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्म करना ही नहीं चाहिये; और न यह कहना है, कि करना ही चाहिये। भागवतपुराण का यह सिर्फ़ कहना है, कि निष्कामकर्म करो अथवा न करो—ये सब भक्तियोग के ही भिन्न भिन्न प्रकार हैं (भाग ३. २९.७–१९), भक्ति के अभाव से सब कर्मयोग पुनः संसार में अर्थात् जन्ममृत्यु के चक्कर में डालनेवाले हो जाते हैं (भाग. १.५.३४, ३५)। सारांश यह है, कि भागवतकार का सारा दारमदार भक्ति पर ही होने के कारण उन्होंने निष्काम कर्मयोग को भी भक्तियोग में ही ढकेल दिया है। और यह प्रतिपादन किया है, कि अकेली भक्ति ही सच्ची निष्ठा है। परन्तु भक्ति ही कुछ गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। इसलिये भागवत के उपर्युक्त सिद्धान्त या परिभाषा को गीता में घुसेड़ देना वैसा ही अयोग्य है, जैसा कि आम में शरीफ़े की क़लम लगाना। गीता इस बात को पूरी तरह मानती है, कि परमेश्वर के ज्ञान

के सिवा और किसी भी अन्य उपाय से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। और इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये भक्ति एक सुगम मार्ग है; परन्तु इसी मार्ग के विषय में आग्रह न कर गीता यह भी कहती है--कि मोक्षप्राप्ति के लिये जिसे ज्ञान की आवश्यकता है, उसकी प्राप्ति--जिसे जो मार्ग सुगम हो, वह उसी मार्ग से कर ले। गीता का तो मुख्य विषय यही है, कि अन्त में अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर मनुष्य कर्म करे अथवा न करे। इसलिये संसार में, जीवन्मुक्त पुरुषों के जीवन व्यतीत करने के जो दो मार्ग देख पड़ते हैं--अर्थात् कर्म करना और कर्म छोड़ना--वहीं से गीता के उपदेश का आरम्भ किया गया है। इनमें से पहले मार्ग को गीता ने भागवतकार की नाईं 'भक्तियोग' यह नया नाम नहीं दिया है; किन्तु नारायणीय धर्म में प्रचलित प्राचीन नामही--अर्थात् ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्म करने को 'कर्मयोग' या 'कर्म-निष्ठा' और ज्ञानोत्तर कर्मों का त्याग करने को 'सांख्य' या 'ज्ञाननिष्ठा' यही नाम--गीता में स्थिर रखे गये हैं। गीता की इस परिभाषा को स्वीकार कर यदि विचार किया जाय, तो देख पड़ेगा, कि ज्ञान और कर्म की बराबरी की भक्ति नामक कोई तीसरी स्वतंत्र निष्ठा कदापि नहीं हो सकती। इसका कारण यह है, कि 'कर्म करना' और 'न करना अर्थात् छोड़ना' (योग और सांख्य) ऐसे अस्तिनास्तिरूप दो पक्षों के अतिरिक्त कर्म के विषय में तीसरा पक्ष ही अब बाकी नहीं रहता। इस-लिये यदि गीता के अनुसार किसी भक्तिमान् पुरुष की निष्ठा के विषय में निश्चय करना हो, तो यह निर्णय केवल इ ी बात से नहीं किया जा सकता, कि वह भक्ति-भाव में लगा हुआ है। परन्तु इस बात का विचार किया जाना चाहिये, कि वह कर्म करता है या नहीं। भक्ति परमेश्वरप्राप्ति का एक सुगम साधन है। और साधन के नाते से यदि भक्ति ही को 'योग' कहें (गी. १४. २६), तो वह अन्तिम 'निष्ठा' नहीं हो सकती। भक्ति द्वारा परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर जो मनुष्य कर्म करेगा, उसे 'कर्मनिष्ठ' और जो न करेगा, उसे 'सांख्यनिष्ठ' कहना चाहिये। पाँचवें अध्याय में भगवान् ने अपना यह अभिप्राय स्पष्ट बतला दिया है, कि उक्त दोनों निष्ठाओं में कर्म करने की निष्ठा अधिक श्रेयस्कर है। परन्तु कर्म पर संन्यास-मार्गवालों का यह महत्त्वपूर्ण आक्षेप है, कि परमेश्वर का ज्ञान होने में कर्म से प्रतिबंध होता है; और परमेश्वर के ज्ञान बिना तो मोक्ष की प्राप्ति ही नहीं हो सकती। इसलिये कर्मों का त्याग ही करना चाहिये। पाँचवें अध्याय में सामान्यत यह बतलाया गया है, कि उपर्युक्त आक्षेप असत्य है; और संन्यासमार्ग से जो मोक्ष मिलता है, वही कर्मयोगमार्ग से भी मिलता है (गी. ५. ५.)। परन्तु वहाँ इस सामान्य सिद्धान्त का कुछ भी खुलासा नहीं किया गया था। इसलिये अब भग-वान् इस बचे हुए तथा महत्त्वपूर्ण विषय का विस्तृत निरूपण कर रहे हैं, कि कर्म करते रहने ही से परमेश्वर के ज्ञान की प्राप्ति हो कर मोक्ष किस प्रकार मिलता है। इसी हेतु से सातवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन से--यह न कहकर कि मैं तुझे भक्ति नामक एक स्वतंत्र तीसरी निष्ठा बतलाता हूँ--भगवान् यह कहते हैं कि--

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन् मदाश्रयः
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

"हे पार्थ ! मुझमें चित्त को स्थिर करके और मेरा आश्रय लेकर योग यानी कर्मयोग का आचरण करते समय, 'यथा' अर्थात् जिस रीति से मुझे सन्देहरहित पूर्णतया जान सकेगा, वह (रीति तुझे बतलाता हूँ) सुन" (गी. ७. १); और इसी के आगे के श्लोक में 'ज्ञानविज्ञान' कहा है (गी. ७. २)। इनमें से पहले अर्थात् ऊपर दिये गये "मय्यासक्तमनाः" श्लोक में 'योगं युंजन्'—अर्थात् 'कर्मयोगका आचरण करते हुए'—ये पद अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु किसी भी टीकाकार ने इनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। 'योगं' अर्थात् वही कर्मयोग है, कि जिसका वर्णन पहले छः अध्यायों में किया जा चुका है। और इस कर्मयोग का आचरण करते हुए जिस प्रकार विधि या रीति से भगवान् का पूरा ज्ञान हो जायगा, उस रीति या विधि का वर्णन अब यानी सातवें अध्याय से प्रारंभ करता हूँ—यही इस श्लोक का अर्थ है। अर्थात् पहले छः अध्यायों का अगले अध्यायों से सम्बन्ध बतलाने के लिये यह श्लोक जानबूझकर सातवें अध्याय के आरम्भ में रखा गया है। इसलिये इस श्लोक के अर्थ की ओर ध्यान न देकर यह कहना बिलकुल अनुचित है, कि 'पहले छः अध्यायों के बाद भक्तिनिष्ठा का स्वतंत्र रीति से वर्णन किया गया है।' केवल इतना ही नहीं; वरन् यह भी कहा जा सकता है, कि इस श्लोकमें 'योगं युंजन्' पद जानबूझकर इसी लिये रखे गये हैं, कि जिसमें कोई ऐसा विपरीत अर्थ न करने पावे। गीता के पहले पाँच अध्यायों में कर्म की आवश्यकता बतलाकर सांख्यमार्ग की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ कहा गया है; और इसके बाद छठे अध्याय में पातंजलयोग के साधनों का वर्णन किया गया है—जो कर्मयोग इन्द्रियनिग्रह के लिये आवश्यक है। परन्तु इतने ही से कर्मयोग का वर्णन पूरा नहीं हो जाता। इन्द्रियनिग्रह मानों कर्मेन्द्रियों से एक प्रकार की कसरत करना है। यह सच है, कि इस अभ्यास के द्वारा इन्द्रियों को हम अपने आधीन रख सकते हैं। परन्तु यदि मनुष्य की वासना ही बुरी होगी, तो इन्द्रियों को क़ाबू में रखने से कुछ भी लाभ नहीं होगा। क्योंकि देखा जाता है, कि दुष्ट वासनाओं के कारण कुछ लोग इसी इन्द्रियनिग्रहरूप सिद्धि का जारण-मारण आदि दुष्कर्मों में उपयोग किया करते हैं। इसलिये छठे अध्याय ही में कहा है, कि इन्द्रियनिग्रह के साथ ही वासना भी 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' की नाईं शुद्ध हो जानी चाहिये (गी. ६. २९); और ब्रह्मात्मैक्यरूप परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप की पहचान हुए बिना वासना की इस प्रकार शुद्धता होना असम्भव है। तात्पर्य यह है, कि जो इन्द्रियनिग्रह कर्मयोग के लिये आवश्यक है, वह भले ही प्राप्त हो जाय; परन्तु 'रस' अर्थात् विषयों की चाह मन में ज्यों-की-त्यों बनी ही रहती है। इस रस अथवा विषयवासना का नाश करने के लिये परमेश्वरसम्बन्धी पूर्ण ज्ञान की ही आवश्यकता है। यह बात गीता

के दूसरे अध्याय में कही गई है (गी. २. ५९)। इसलिये कर्मयोग का आचरण करते हुए ही जिस रीति अथवा विधि से परमेश्वर का यह ज्ञान प्राप्त होता है, उसी विधि का अब भगवान् सातवें अध्याय से वर्णन करते हैं। 'कर्मयोग का आचरण करते हुए'—इस पद से यह भी सिद्ध होता है, कि कर्मयोग के जारी रहते ही इस ज्ञान की प्राप्ति कर लेनी है। इसके लिये कर्मों को छोड़ नहीं बैठना है; और इसीसे यह कहना भी निर्मूल हो जाता है, कि भक्ति और ज्ञान को कर्मयोग के बदले विकल्प मानकर इन्हीं दो स्वतंत्र मार्गों का वर्णन सातवें अध्याय से आगे किया गया है। गीता का कर्मयोग भागवतधर्म से ही लिया गया है। इसलिये कर्मयोग में ज्ञानप्राप्ति की विधि का जो वर्णन है, वह भागवतधर्म अथवा नारायणीय धर्म में कही गई विधि का ही वर्णन है। और इसी अभिप्राय से शान्तिपर्व के अन्त में वैशंपायन ने जनमेजय से कहा है, कि "भगवद्गीता में प्रवृत्तिप्रधान नारायणीय धर्म और उसकी विधियों का वर्णन किया गया है।" वैशंपायन के कथनानुसार इसीमें संन्यासमार्ग की विधियों का भी अन्तर्भाव होता है। क्योंकि यद्यपि इन दोनों मार्गों में 'कर्म करना अथवा कर्मों को छोड़ना' यही भेद है, तथापि दोनों को एक ही ज्ञानविज्ञान की आवश्यकता है। इसलिये दोनों मार्गों में ज्ञानप्राप्ति की विधियाँ एक ही सी होती हैं। परन्तु जब कि उपर्युक्त श्लोक में 'कर्मयोग का आचरण करते हुए,—ऐसे प्रत्यक्ष पद रखे गये हैं, तब स्पष्ट रीति से यही सिद्ध होता है, कि गीता के सातवें और उसके अगले अध्यायों में ज्ञानविज्ञान का निरूपण मुख्यतः कर्मयोग ही की पूर्ति के लिये किया गया है। उसकी व्यापकता के कारण उसमें संन्यासमार्ग की भी विधियों का समावेश हो जाता है। कर्मयोगी को छोड़कर केवल सांख्यनिष्ठा के समर्थन के लिये यह ज्ञानविज्ञान नहीं बतलाया गया है। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है, कि सांख्यमार्गवाले यद्यपि ज्ञान को महत्त्व दिया करते हैं, तथापि वे कर्म को या भक्ति को कुछ भी महत्त्व नहीं देते; और गीता में तो भक्ति सुगम तथा प्रधान मानी गई है—इतना ही क्यों; वरन् अध्यात्मज्ञान और भक्ति का वर्णन करते समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जगह जगह पर यही उपदेश दिया है, कि 'तू कर्म अर्थात् युद्ध कर' (गी. ८. ७; ११. ३३; १६. २४; १८. ६)। इसलिये यही सिद्धान्त करना पड़ता है, कि गीता के सातवें और अगले अध्यायों में ज्ञानविज्ञान का जो निरूपण है, वह पिछले छः अध्यायों में कहे गये कर्मयोग की पूर्ति और समर्थन के लिये ही बतलाया गया है। यहाँ केवल सांख्यनिष्ठा का या भक्ति का स्वतंत्र समर्थन विवक्षित नहीं है। ऐसा सिद्धान्त करने पर कर्म, भक्ति और ज्ञान गीता के तीन परस्पर-स्वतंत्र विभाग नहीं हो सकते। इतना ही नहीं; परन्तु अब यह विदित हो जायगा, कि यह मत भी (जिसे कुछ लोग प्रगट किया करते हैं) केवल काल्पनिक अतएव मिथ्या है। वे कहते हैं, कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य में तीन ही पद हैं; और गीता के अध्याय भी अठारह हैं।

इसलिये 'छः त्रिक अठारह' के हिसाब से गीता के छः छः अध्यायों के तीन समान विभाग करके पहले छः अध्यायों में 'त्वम्' पद का, दूसरे छः अध्यायों में 'तत्' पद का और तीसरे छः अध्यायों में 'असि' पद का विवेचन किया गया है। इस मत को काल्पनिक या मिथ्या कहने का कारण यही है, कि अब तो एकदेशीय पक्ष ही विशेष नहीं रहने पाता; जो यह कहे, कि सारी गीता में केवल ब्रह्मज्ञान का ही प्रतिपादन किया गया है तथा 'तत्त्वमसि' महावाक्य के विवरण के सिवा गीता में और कुछ अधिक नहीं है।

इस प्रकार जब मालूम हो गया, कि भगवद्गीता में भक्ति और ज्ञान का विवेचन क्यों किया गया है; तब सातवें से सत्रहवें अध्याय के अन्त तक ग्यारहों अध्यायों की संगति सहज ही ध्यान में आ जाती है। पीछे छठे प्रकरण में बतला दिया गया है, कि जिस परमेश्वरस्वरूप के ज्ञान से बुद्धि रसवर्ज और सम होती है, उस परमेश्वरस्वरूप का विचार एक बार क्षराक्षरदृष्टि से और फिर क्षेत्रक्षेत्रज्ञदृष्टि से करना पड़ता है। और उससे अन्त में यह सिद्धान्त किया जाता है, कि जो तत्त्व पिंड में है वही ब्रह्मांड में है। इन्हीं विषयों का अब गीता में वर्णन है। परन्तु जब इस प्रकार परमेश्वर के स्वरूप का विचार करने लगते हैं, तब देख पड़ता है, कि परमेश्वर का स्वरूप कभी तो व्यक्त (इन्द्रियगोचर) होता है और कभी अव्यक्त। फिर ऐसे प्रश्नों का भी विचार इस निरूपण में करना पड़ता है, कि इन दोनों स्वरूपों में श्रेष्ठ कौन-सा है; और इस स्वरूप से कनिष्ठ स्वरूप कैसे उत्पन्न होता है? इसी प्रकार अब इस बात का भी निर्णय करना पड़ता है, कि परमेश्वर के पूर्ण ज्ञान से बुद्धि को स्थिर, सम और आत्मनिष्ठ करने के लिये परमेश्वर की जो उपासना करनी पड़ती है, वह कैसी हो--अव्यक्त की उपासना करना अच्छा है अथवा व्यक्त की? और इसीके साथ साथ इस विषय की उपपत्ति बतलानी पड़ती है, कि परमेश्वर यदि एक है, तो व्यक्तसृष्टि में यह अनेकता क्यों देख पड़ती है? इन सब विषयों को व्यवस्थित रीति से बतलाने के लिये यदि ग्यारह अध्याय लग गये, तो कुछ आश्चर्य नहीं। हम यह नहीं कहते, कि गीता में भक्ति और ज्ञान का बिलकुल विवेचन ही नहीं है। हमारा केवल इतना ही कहना है, कि कर्म, भक्ति और ज्ञान को तीन विषय या निष्ठाएँ स्वतंत्र, अर्थात् तुल्यबल की समझ कर, इन तीनों में गीता के अठारह अध्यायों के जो अलग अलग और बराबर बराबर हिस्से कर दिये जाते हैं, वैसा करना उचित नहीं है। किन्तु गीता में एकही निष्ठा का अर्थात् ज्ञानमूलक और भक्तिप्रधान कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है; और सांख्यनिष्ठा, ज्ञानविज्ञान या भक्ति का जो निरूपण भगवद्गीता में पाया जाता है, वह सिर्फ़ कर्मयोगनिष्ठा की पूर्ति और समर्थन के लिये आनुषंगिक है—किसी स्वतंत्र विषय का प्रतिपादन करने के लिये नहीं। अब यह देखना है, कि हमारे इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मयोग की पूर्ति और समर्थन के लिये बतलाये गये ज्ञानविज्ञान का विभाग गीता के अध्यायों के क्रमानुसार किस प्रकार किया गया है।

सातवें अध्याय में क्षराक्षरसृष्टि के अर्थात् ब्रह्माण्ड के विचार को आरम्भ करके भगवान् ने अव्यक्त और अक्षर परब्रह्म के ज्ञान के विषय में यह कहा है, जो इस सारी सृष्टि को—पुरुष और प्रकृति को—मेरे ही पर और अपर स्वरूप जानते हैं, और जो इस माया के परे के अव्यक्त रूप को पहचान कर मुझे भजते हैं, उनकी बुद्धि सम हो जाती है; तथा उन्हें मैं सद्गति देता हूँ। और फिर उन्होंने अपने स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया है, कि सब देवता, सब प्राणी, सब यज्ञ, सब कर्म और सब अध्यात्म मैं ही हूँ; मेरे सिवा इस संसार में अन्य कुछ भी नहीं है। इसके बाद आठवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने अध्यात्म, अधियज्ञ, अधिदैव और अधिभूत शब्दों का अर्थ पूछा है। इन शब्दों का अर्थ बतला कर भगवान् ने कहा है, कि इस प्रकार जिसने मेरा स्वरूप पहचान लिया, उसे मैं कभी नहीं भूलता। इसके बाद इन विषयों का संक्षेप में विवेचन है, कि सारे जगत् में अविनाशी या अक्षर तत्त्व कौन-सा है; सब संसार का संहार कैसे और कब होता है; जिस मनुष्य को परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, उसको कौन-सी गति प्राप्त होती है; और ज्ञान के बिना केवल काम्यकर्म करनेवाले को कौन-सी गति मिलती है। नौवें अध्याय में भी यही विषय है। इसमें भगवान् ने उपदेश किया है, कि जो अव्यक्त परमेश्वर इस प्रकार चारों ओर व्याप्त है, उसके व्यक्त स्वरूप की भक्ति के द्वारा पहचान करके अनन्य भाव से उसकी शरण में जाना ही ब्रह्मप्राप्ति का प्रत्यक्षावगम्य और सुगम मार्ग अथवा राजमार्ग है; और इसी को राजविद्या या राजगुह्य कहते हैं। तथापि इन तीनों अध्यायों में बीच बीच में भगवान् कर्ममार्ग का यह प्रधान तत्त्व बतलाना नहीं भूले हैं, कि ज्ञानवान् या भक्तिमान् पुरुषों को कर्म करते ही रहना चाहिये। उदाहरणार्थ आठवें अध्याय में कहा है—" तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धच च "—इसलिये सदा अपने मन में मेरा स्मरण रख और युद्ध कर (८. ७); और नौवें अध्याय में कहा है, कि " सब कर्मों को मुझे अर्पण कर देने से उसके शुभाशुभ फलों से तू मुक्त हो जायगा " (९. २७, २८)। ऊपर भगवान् ने जो यह कहा है, कि संसार मुझसे उत्पन्न हुआ है; और वह मेरा ही रूप है, वही बात दसवें अध्याय में ऐसे अनेक उदाहरण देकर अर्जुन को भली भाँति समझा दी है, कि 'संसार की प्रत्येक वस्तु मेरी ही विभूति है'। अर्जुन के प्रार्थना करने पर ग्यारहवें अध्याय में भगवान् ने अपना विश्वरूप प्रत्यक्ष दिखलाया है; और उसकी सृष्टि के सन्मुख इस बात की सत्यता का अनुभव करा दिया है, कि मैं (परमेश्वर) ही सारे संसार में चारों ओर व्याप्त हूँ। परन्तु इस प्रकार विश्वरूप दिखला कर और अर्जुन के मन में यह विश्वास करा के, कि 'सब कर्मों का करानेवाला मैं ही हूँ' भगवान् ने तुरन्त ही कहा है, कि " सच्चा कर्ता तो मैं ही हूँ, तू निमित्त-मात्र है; इसलिये निःशंक होकर युद्ध कर " (गी. ११. ३३)। यद्यपि इस प्रकार यह सिद्ध हो गया, कि संसार में एक ही परमेश्वर है; तो भी अनेक स्थानों

में परमेश्वर के अव्यक्त स्वरूप को ही प्रधान मान कर यह वर्णन किया गया है, कि "मैं अव्यक्त हूँ। परन्तु मुझे मूर्ख लोग व्यक्त समझते हैं" (७.२४); "यदक्षरं वेदविदो वदन्ति" (८.११) —जिसे वेदवेत्तागण अक्षर कहते हैं; "अव्यक्त को ही अक्षर कहते हैं" (८.२१); "मेरे यथार्थ स्वरूप को न पहचान कर मूर्ख लोग मुझे देहधारी मानते हैं" (९.११); "विद्याओं में अध्यात्मविद्या श्रेष्ठ" (१०.३२); और अर्जुन के कथनानुसार "त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्" (११.३७)। इसी लिये बारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने पूछा है, किस परमेश्वर की—व्यक्त की या अव्यक्त की—उपासना करनी चाहिये? तब भगवान् ने अपना यह मत प्रदर्शित किया है, कि जिस व्यक्त स्वरूप की उपासना का वर्णन नौवें अध्याय में हो चुका है वही सुगम है। और दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ का जैसा वर्णन है, वैसा ही परम भगवद्भक्तों की स्थिति का वर्णन करके यह अध्याय पूरा कर दिया है।

कुछ लोगों की राय है, कि यद्यपि गीता के कर्म, भक्ति और ज्ञान ये तीन स्वतंत्र भाग न भी किये जा सकें; तथापि सातवें अध्याय से ज्ञानविज्ञान का जो विषय आरम्भ हुआ है, उसके भक्ति और ज्ञान ये दो पृथक् भाग सहज ही हो जाते हैं। और, वे लोग कहते हैं, कि द्वितीय षड्ध्यायी भक्तिप्रधान है। परन्तु कुछ विचार करने के उपरान्त किसीको भी ज्ञात हो जावेगा, कि यह मत भी ठीक नहीं है। कारण यह है, कि सातवें अध्याय का आरम्भ क्षराक्षरसृष्टि के ज्ञानविज्ञान से किया गया है; न कि भक्ति से। और, यदि कहा जाय, कि बारहवें अध्याय में भक्ति का वर्णन पूरा हो गया है; तो हम देखते हैं, कि अगले अध्यायों में ठौर ठौर पर भक्ति के विषय में बारम्बार यह उपदेश किया गया है, कि जो बुद्धि के द्वारा मेरे स्वरूप को नहीं जान सकता, वह श्रद्धापूर्वक "दूसरों के वचनों पर विश्वास रख कर मेरा ध्यान करें" (गी. १३.२५), "जो मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति करता है वही ब्रह्मभूत होता है" (१४.२६), "जो मुझे ही पुरुषोत्तम जानता है वह मेरी ही भक्ति करता है" (गी. १५.१९); और अन्त में अठारहवें अध्याय में पुनः भक्ति का ही इस प्रकार उपदेश किया है, कि "सब धर्मों को छोड़ कर तू मुझको भज" (१८.६६); इसलिये यह नहीं कह सकते, कि केवल दूसरी षड्ध्यायी ही में भक्ति का उपदेश है। इसी प्रकार, यदि भगवान् का यह अभिप्राय होता, कि ज्ञान से भक्ति भिन्न है; तो चौथे अध्याय में ज्ञान की प्रस्तावना करके (४.३४–३७) सातवें अध्याय के अर्थात् उपर्युक्त आक्षेपकों के मतानुसार भक्तिप्रधान षड्ध्यायी के आरम्भ में, भगवान् ने यह न कहा होता, कि अब मैं तुझे वही 'ज्ञान और विज्ञान' बतलाता हूँ (७.२)। यह सच है, कि इससे आगे के नौवें अध्याय में राजविद्या और राजगुह्य अर्थात् प्रत्यक्षावगम्य भक्तिमार्ग बतलाया है; परंतु अध्याय के आरम्भ में ही कह दिया है, कि 'तुझे विज्ञानसहित ज्ञान बतलाता हूँ' (९.१)। इससे स्पष्ट प्रगट

होता है, कि गीता में भक्ति का समावेश ज्ञान ही में किया गया है । दसवें अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है; परन्तु ग्यारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने उसे ही ' अध्यात्म ' कहा है (११. १)। और ऊपर यह बतला ही दिया गया है, कि परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप का वर्णन करते समय बीच बीच में व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अव्यक्त स्वरूप की श्रेष्ठता की भी बातें आ गई हैं । इन्हीं सब बातों से बारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने यह प्रश्न किया है, कि उपासना व्यक्त परमेश्वर की की जावे या अव्यक्त की ? तब यह उत्तर देकर---कि अव्यक्त की अपेक्षा व्यक्त की उपासना अर्थात् भक्ति सुगम है---भगवान् ने तेरहवें अध्याय में क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का ' ज्ञान ' बतलाना आरम्भ कर दिया; और सातवें अध्याय के आरम्भ के समान चौदहवें अध्याय के आरम्भ में भी कहा है, कि " परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् "--फिर से मैं तुझे वही ' ज्ञानविज्ञान ' पूरी तरह से बतलाता हूँ (१४. १) । इस ज्ञान का वर्णन करते समय भक्ति का सूत्र या सम्बन्ध भी टूटने नहीं पाया है । इससे यह बात स्पष्ट मालूम हो जाती है, कि भगवान् का उद्देश भक्ति और ज्ञान दोनों को पृथक् पृथक् रीति से बतलाने का नहीं था; किन्तु सातवें अध्याय के आरम्भ में जिस ज्ञानविज्ञान का आरम्भ किया गया है, उसीमें दोनों एकत्र गूँथ दिये गये हैं । भक्ति भिन्न है और ज्ञान भिन्न है--यह कहना उस उस सम्प्रदाय के अभिमानियों की नासमझी है । वास्तव में गीता का अभिप्राय ऐसा नहीं है । अव्यक्तोपासना में (ज्ञानमार्ग में) अध्यात्मविचार से परमेश्वर के स्वरूप का जो ज्ञान प्राप्त कर लेना पड़ता है, वही भक्तिमार्ग में भी आवश्यक है । परन्तु व्यक्तोपासना में (भक्तिमार्ग में) आरम्भ में वह ज्ञान दूसरों से श्रद्धापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है (१३. २५); इसलिये भक्तिमार्ग प्रत्यक्षावगम्य और सामान्यतः सभी लोगों के लिये सुखकारक है (९. २), और ज्ञानमार्ग (या अव्यक्तोपासना) क्लेशमय (१२. ५) है---बस, इसके अतिरिक्त इन दो साधनों में गीता की दृष्टि से और कुछ भी भेद नहीं है । परमेश्वरस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर के बुद्धि को सम करने का जो कर्मयोग का उद्देश या साध्य है, वह इन दोनों साधनों के द्वारा एक-सा ही प्राप्त होता है । इसलिये चाहे व्यक्तोपासना कीजिये या अव्यक्तोपासना; भगवान् को दोनों एकही समान ग्राह्य हैं । तथापि ज्ञानी पुरुष को भी उपासना की थोड़ी-बहुत आवश्यकता होती ही है; इसलिये चतुर्विध भक्तों में भक्तिमान् ज्ञानी को श्रेष्ठ कहकर (७. १७) भगवान् ने ज्ञान और भक्ति के विरोध को हटा दिया है । कुछ भी हो; परन्तु जब कि ज्ञानविज्ञान का वर्णन किया जा रहा है, तब प्रसङ्गानुसार एक-आध अध्याय में व्यक्तोपासना का और किसी दूसरे अध्याय में अव्यक्तोपासना का निर्णय हो जाना अपरिहार्य है । परन्तु इतने ही से यह सन्देह न हो जावे, कि ये दोनों पृथक् पृथक् हैं; इसलिये परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप का वर्णन करते समय व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अव्यक्त की श्रेष्ठता और अव्यक्त स्वरूप का वर्णन करते समय भक्ति की आवश्यकता

बतला देना भी भगवान् नहीं भूले हैं। अब विश्वरूप के, और विभूतियों के वर्णन में ही तीन चार अध्याय लग गये हैं। इसलिये यदि इन तीन चार अध्यायों को (षड़ध्यायी को नहीं) स्थूलमान से 'भक्तिमार्ग' नाम देना ही किसी को पसन्द हो, तो ऐसा करने में कोई हर्ज नहीं। परन्तु कुछ भी कहिये; यह तो निश्चित रूप से मानना पड़ेगा, कि गीता में भक्ति और ज्ञान को न तो पृथक् किया है; और न इन दोनों मार्गों को स्वतंत्र कहा है। संक्षेप में उक्त निरूपणका यही भावार्थ ध्यान में रहे, कि कर्मयोग में जिस साम्यबुद्धि को प्रधानता दी जाती है उसकी प्राप्ति के लिये परमेश्वर के सर्वव्यापी स्वरूप का ज्ञान होना चाहिये। फिर, यह ज्ञान चाहे व्यक्त की उपासना से हो; और चाहे अव्यक्त की--सुगमता के अतिरिक्त इनमें अन्य कोई भेद नहीं है। और गीता में सातवें से लगाकर सत्रहवें अध्याय तक सब विषयों को 'ज्ञानविज्ञान' या 'अध्यात्म' यही नाम दिया गया है।

जब भगवान् ने अर्जुन के 'कर्मचक्षुओं' को विश्वरूपदर्शन के द्वारा यह प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया, कि परमेश्वर ही सारे ब्रह्मांड में या क्षराक्षरसृष्टि में समाया हुआ है; तब तेरहवें अध्याय में ऐसा क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार बतलाया है, कि यही परमेश्वर पिंड में अर्थात् मनुष्य के शरीर में या क्षेत्र में आत्मा के रूप से निवास करता है; और इस आत्मा का अर्थात् क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही परमेश्वर का (परमात्माका) भी ज्ञान है। प्रथम परमात्मा का अर्थात् परब्रह्म का "अनादि मत्परं ब्रह्म" इत्यादि प्रकार से--उपनिषदों के आधार से--वर्णन करके आगे बतलाया गया है, कि यही क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार 'प्रकृति' और 'पुरुष' नामक सांख्य विवेचन में अंतर्भूत हो गया है। और अन्त में यह वर्णन किया गया है, कि जो 'प्रकृति' और 'पुरुष' के भेद को पहचान कर अपने 'ज्ञानचक्षुओं' के द्वारा सर्वगत निर्गुण परमात्मा को जान लेता है, वह मुक्त हो जाता है। परन्तु उसमें भी कर्मयोग का यह सूत्र स्थिर रखा गया है, कि 'सब काम प्रकृति करती है, आत्मा करता नहीं है--यह जानने से कर्म बन्धक नहीं होते' (१३. २९); और भक्तिका "ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति" (१३. २४) यह सूत्र भी क़ायम है। चौदहवें अध्याय में इसी ज्ञान का वर्णन करते हुए सांख्यशास्त्र के अनुसार बतलाया गया है, कि सर्वत्र एक ही आत्मा या परमेश्वर के होने पर भी प्रकृति के सत्त्व, रज और तम गुणों के भेदों के कारण संसार में वैचित्र्य उत्पन्न होता है। आगे कहा गया है, कि जो मनुष्य प्रकृति के इस खेल को जानकर और अपने को कर्ता न समझ भक्तियोग से परमेश्वर की सेवा करता है, वही सच्चा त्रिगुणातीत या मुक्त है। अन्त में अर्जुन के प्रश्न करने पर स्थितप्रज्ञ और भक्तिमान् पुरुष की स्थिति के समान ही त्रिगुणातीत की स्थिति का वर्णन किया गया है। श्रुतिग्रन्थों में परमेश्वर का कहीं कहीं वृक्षरूप से जो वर्णन पाया जाता है, उसीका पन्द्रहवें अध्याय के आरम्भ में वर्णन करके भगवान् ने बतलाया है, कि जिसे सांख्यवादी 'प्रकृति का पसारा' कहते हैं, वही

यह अश्वत्थ वृक्ष है। और अन्त में भगवान् ने अर्जुन को यह उपदेश दिया है, कि क्षर और अक्षर दोनों के परे जो पुरुषोत्तम है, उसे पहचान कर उसकी 'भक्ति' करने से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है--तू भी ऐसा ही कर। सोलहवें अध्याय में कहा गया है, कि प्रकृतिभेद के कारण संसार में जैसा वैचित्र्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मनुष्यों में भी दो भेद अर्थात् दैवी सम्पत्तिवाले और आसुरी सम्पत्तिवाले होते हैं। इसके बाद उनके कर्मों का वर्णन किया गया है; और यह बतलाया गया है, कि उन्हें कौन-सी गति प्राप्त होती है। अर्जुन के पूछने पर सत्रहवें अध्याय में इस बात का विवेचन किया गया है, कि त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुणों की विषमता के कारण उत्पन्न होनेवाला वैचित्र्य, श्रद्धा, दान, यज्ञ, तप इत्यादि में भी देख पड़ता है। इसके बाद यह बतलाया गया है, कि 'ॐ तत्सत्' इस ब्रह्मनिर्देश के 'तत्' पद का अर्थ 'निष्कामबुद्धि से किया गया कर्म' और 'सत्' पद का अर्थ 'अच्छा' परन्तु काम्यबुद्धि से किया गया कर्म' होता है; और इस अर्थ के अनुसार वह सामान्य ब्रह्मनिर्देश भी कर्मयोगमार्ग के ही अनुकूल है। सारांशरूप से सातवें अध्याय से लेकर सत्रहवें अध्याय तक ग्यारह अध्यायों का तात्पर्य यही है, कि संसार में चारों ओर एकही परमेश्वर व्याप्त है--फिर तुम चाहे उसे विश्वरूप-दर्शन के द्वारा पहचानो; चाहे ज्ञानचक्षु के द्वारा। शरीर में क्षेत्रज्ञ भी वही है; और क्षरसृष्टि में अक्षर भी वही है। वही दृश्यसृष्टि में व्याप्त है; और उसके बाहर अथवा परे भी है। यद्यपि वह एक है, तो भी प्रकृति के गुणभेद के कारण व्यक्तसृष्टि में नानात्व या वैचित्र्य देख पड़ता है; और इस माया से अथवा प्रकृति के गुणभेद के कारण ही दान, श्रद्धा, तप, यज्ञ, धृति, ज्ञान इत्यादि तथा मनुष्यों में भी अनेक भेद हो जाते हैं। परन्तु इन सब भेदों में जो एकता है, उसे पहचान कर उस एक और नित्यतत्त्व की उपासना के द्वारा--फिर वह उपासना चाहे व्यक्त की हो; अथवा अव्यक्त की--प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि को स्थिर और सम करे; तथा उस निष्काम, सात्त्विक अथवा साम्यबुद्धि से ही संसार में स्वधर्मानुसार प्राप्त सब व्यवहार केवल कर्तव्य समझ किया करें। इस ज्ञानविज्ञान का प्रतिपादन इस ग्रन्थ के अर्थात् गीतारहस्य के पिछले प्रकरणों में विस्तृत रीति से किया गया है। इसलिये हमने सातवें अध्याय से लगाकर सत्रहवें अध्याय तक का सारांश ही इस प्रकरण में दे दिया है--अधिक विस्तार नहीं किया। हमारा प्रस्तुत उद्देश केवल गीता के अध्यायों की संगति देखना ही है। अतएव उस काम के लिये जितना भाग आवश्यक है, उतने का ही हमने यहाँ उल्लेख किया है।

कर्मयोगमार्ग में कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ है। इसलिये इस बुद्धि को शुद्ध और सम करने के लिये परमेश्वर की सर्वव्यापकता अर्थात् सर्वभूतान्तर्गत आत्मैक्य का जो 'ज्ञानविज्ञान' आवश्यक होता है, उसका वर्णन आरम्भ करके अब तक इस बात का निरूपण किया गया, कि भिन्न भिन्न अधिकार के अनुसार व्यक्त या अव्यक्त की उपासना के द्वारा जब यह ज्ञान हृदय में भिद जाता है, तब बुद्धि

को स्थिरता और समता प्राप्त हो जाती है; और कर्मों का त्याग न करने पर भी अन्त में मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसीके साथ क्षराक्षर का और क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का भी विचार किया गया है। परन्तु भगवान् ने निश्चित रूपसे कह दिया है, कि इस प्रकार बुद्धि के सम हो जाने पर भी कर्मों का त्याग करने की अपेक्षा फलाशा को छोड़ देना और लोकसंग्रह के लिये आमरणान्त कर्म ही करते रहना अधिक श्रेयस्कर है (गी. ५. २)। अतएव स्मृतिग्रन्थों में वर्णित 'संन्यासाश्रम' इस कर्मयोग में नहीं होता; और इससे मन्वादि स्मृतिग्रन्थों का तथा इस कर्मयोग का विरोध हो जाना सम्भव है। इसी शंका को मन में लाकर अठारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने 'संन्यास' और 'त्याग' का रहस्य पूछा है। भगवान् इस विषय में यह उत्तर देते हैं, कि संन्यास का मूल अर्थ 'छोड़ना' है; इसलिये--और कर्मयोगमार्ग में यद्यपि कर्मों को नहीं छोड़ते, तथापि फलाशा को छोड़ते हैं इस लिये--कर्मयोग तत्त्वतः संन्यास ही होता है। क्योंकि यद्यपि संन्यासी का भेष धारण करके भिक्षा न माँगी जावे, तथापि वैराग्य का और संन्यास का जो तत्त्व स्मृतियों में कहा गया है—अर्थात् बुद्धि का निष्काम होना--वह कर्मयोग में भी रहता है। परन्तु फलाशा के छूटने से स्वर्गप्राप्ति की भी आशा नहीं रहती। इसलिये यहाँ एक और शंका उपस्थित होती है, कि ऐसी दशा में यज्ञयागादिक श्रौतकर्म करने की क्या आवश्यकता है? इस पर भगवान् ने अपना यह निश्चित मत बतलाया है, कि उपर्युक्त कर्म चित्तशुद्धिकारक हुआ करते हैं; इसलिये उन्हें भी अन्य कर्मों के साथ ही निष्कामबुद्धि से करते रहना चाहिये। और इस प्रकार लोकसंग्रह के लिये यज्ञचक्र को हमेशा जारी रखना चाहिये। अर्जुन के प्रश्नों का इस प्रकार उत्तर देने पर प्रकृतिस्वभावानुरूप ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि और सुख के जो सात्त्विक, तामस और राजस भेद हुआ करते हैं, उनका निरूपण करके गुणवैचित्र्य का विषय पूरा किया गया है। इसके बाद निश्चय किया गया है, कि निष्कामकर्म, निष्कामकर्ता, आसक्तिरहित बुद्धि, अनासक्ति से होनेवाला सुख, और 'अविभक्तं विभक्तेषु' इस नियम के अनुसार होनेवाला आत्मैक्यज्ञान ही सात्त्विक या श्रेष्ठ है। इसी तत्त्व के अनुसार चातुर्वर्ण्य की भी उपपत्ति बतलाई गई है; और कहा गया है, कि चातुर्वर्ण्यधर्म से प्राप्त हुए कर्मों को सात्त्विक अर्थात् निष्कामबुद्धि से केवल कर्तव्य मानकर करते रहने से ही मनुष्य इस संसार में कृतकृत्य हो जाता है; और अन्त में उसे शान्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अन्त में भगवान् ने अर्जुन को भक्तिमार्ग का यह निश्चित उपदेश किया है, कि कर्म तो प्रकृति का धर्म है। इसलिये यदि तू उसे छोड़ना चाहे, तो भी वह न छूटेगा। अतएव यह समझ कर कि सब करानेवाला और करनेवाला परमेश्वर ही है, तू उसकी शरण में जा; और सब काम निष्कामबुद्धि से करता जा। मैं ही वह परमेश्वर हूँ, मुझपर विश्वास रख, मुझे भज, मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा। ऐसा उपदेश करके भगवान् ने गीता के प्रवृत्तिप्रधान कर्म का निरूपण पूरा किया है। सारांश यह है, कि इस

लोक और परलोक दोनों का विचार करके ज्ञानवान् एवं शिष्ट जनों ने 'सांख्य' और 'कर्मयोग' नामक जिन दो निष्ठाओं को प्रचलित किया है, उन्हींसे गीता के उपदेश का आरम्भ हुआ है। इन दोनों में से पाँचवें अध्याय के निर्णयानुसार जिस कर्मयोग की योग्यता अधिक है, जिस कर्मयोग की सिद्धि के लिये छठे अध्याय में पातञ्जलयोग का वर्णन किया है, जिस कर्मयोग के आचरण की विधि का वर्णन अगले ग्यारह अध्यायों में (७ से १७ तक) पिण्डब्रह्माण्डज्ञानपूर्वक विस्तार से किया गया है; और यह कहा गया है, कि उस विधि से आचरण करने पर परमेश्वर का पूरा ज्ञान हो जाता है। एवं अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसी कर्मयोग का समर्थन अठारहवें अध्याय में अर्थात् अन्त में भी है। और मोक्षरूपी आत्मकल्याण के आड़े न आकर परमेश्वरार्पणपूर्वक केवल कर्तव्यबुद्धि से स्वधर्मानुसार लोकसंग्रह के लिये सब कर्मों को करते रहने का जो यह योग या युक्ति है, उसकी श्रेष्ठता का यह भगवत्प्रणीत उपपादन जब अर्जुन ने सुना, तभी उसने संन्यास लेकर भिक्षा माँगने का अपना पहला विचार छोड़ दिया। और अब--केवल भगवान् के कहने ही से नहीं; किन्तु कर्माकर्मशास्त्र का पूर्ण ज्ञान हो जाने के कारण--वह स्वयं अपनी इच्छा से युद्ध करने के लिये प्रवृत्त हो गया। अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये ही गीता का आरम्भ हुआ है; और उसका अन्त भी वैसा ही हुआ है (गी. १८. ७३)।

गीता के अठारह अध्यायों की जो संगति ऊपर बतलाई गई है, उससे यह प्रगट हो जायगा, कि गीता कुछ कर्म, भक्ति और ज्ञान इन तीन स्वतंत्र निष्ठाओं की खिचड़ी नहीं है। अथवा वह सूत, रेशम और जरीके चिथड़ों की सिली हुई गुदड़ी नहीं है; वरन् देख पड़ेगा, कि सूत, रेशम और जरी के तानेबाने को यथास्थान में योग्य रीति से एकत्र करके कर्मयोग नामक मूल्यवान् और मनोहर गीतारूपी वस्त्र आदि से अन्त तक 'अत्यन्त योग युक्त चित्त से' एक-सा बुना गया है। यह सच है, कि निरूपण की पद्धति सम्वादात्मक होने के कारण शास्त्रीय पद्धति की अपेक्षा वह जरा ढीली है। परन्तु यदि इस बातपर ध्यान दिया जाय, कि सम्वादात्मक निरूपण से शास्त्रीय पद्धति की रुक्षता हट गई है; और उसके बदले गीता में सुलभता और प्रेमरस भर गया है, तो शास्त्रीय पद्धति के हेतु-अनुमानों की केवल बुद्धिग्राहय तथा नीरस कटकट छूट जाने का किसी को भी तिलमात्र बुरा न लगेगा। इसी प्रकार यद्यपि गीतानिरूपण की पद्धति पौराणिक या सम्वादात्मक है, तो भी ग्रन्थपरीक्षण की मीमांसकों की सब कसौटियों के अनुसार गीता का तात्पर्य निश्चित करने में कुछ भी बाधा नहीं होती। यह बात इस ग्रन्थ के कुल विवेचन से मालूम हो जायगी। गीता का आरम्भ देखा जाय तो मालूम होगा, कि अर्जुन क्षात्रधर्म के अनुसार लड़ाई करने के लिये चला था। जब धर्मा-धर्म की विचिकित्सा के चक्कर में पड़ गया, तब उसे वेदान्तशास्त्र के आधार पर प्रवृत्तिप्रधान कर्मयोगधर्म का उपदेश करने के लिये गीता प्रवृत्त हुई है; और

हमने पहले ही प्रकरण में यह बतला दिया है, कि गीता के उपसंहार और फल दोनों इसी प्रकार के अर्थात् प्रवृत्तिप्रधान ही हैं। इसके बाद हमने बतलाया है, कि गीता में अर्जुन को जो उपदेश किया है, उसमें 'तू युद्ध अर्थात् कर्म ही कर' ऐसा दस-बारह बार स्पष्ट रीति से और पर्याय से तो अनेक बार (अभ्यास) बतलाया है; और हमने यह भी बतलाया है, कि संस्कृत-साहित्य में कर्मयोग की उपपत्ति बतलानेवाला गीता के सिवा दूसरा ग्रन्थ नहीं है। इसलिये अभ्यास और अपूर्वता इन दो प्रमाणों से गीता में कर्मयोग की प्रधानता ही अधिक व्यक्त होती है। मीमांसकों ने ग्रन्थतात्पर्य का निर्णय करने के लिये जो कसौटियाँ बतलाई हैं, उन में से अर्थवाद और उपपत्ति ये दोनों शेष रह गई थीं। इनके विषय में पहले पृथक् पृथक् प्रकरणों में और अब गीता के अध्यायों के क्रमानुसार इस प्रकरण में जो विवेचन किया गया है, उससे यही निष्पन्न हुआ है, कि गीता में अकेला 'कर्मयोग' ही प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकार ग्रन्थतात्पर्य-निर्णय के मीमांसकों के सब नियमोंका उपयोग करनेपर यही बात निर्विवाद सिद्ध होती है, कि गीताग्रंथ में ज्ञानमूलक और भक्तिप्रधान कर्मयोग ही का प्रतिपादन किया गया है। अब इसमें सन्देह नहीं कि इसके अतिरिक्त शेष सब गीता-तात्पर्य केवल साम्प्रदायिक हैं, यद्यपि ये सब तात्पर्य साम्प्रदायिक हों, तथापि यह प्रश्न किया जा सकता है, कि कुछ लोगों को गीता में साम्प्रदायिक अर्थ--विशेषत: संन्यासप्रधान अर्थ--ढूँढने का मौक़ा कैसे मिल गया? जब तक इस प्रश्न का भी विचार न हो जायगा, तब तक यह नहीं कहा जा सकता, कि साम्प्रदायिक अर्थों की चर्चा पूरी हो चुकी। इसलिये अब संक्षेप में इसी बात का विचार किया जायगा, कि ये साम्प्रदायिक टीकाकार गीता का संन्यासप्रधान अर्थ कैसे कर सकें, और फिर यह प्रकरण पूरा किया जायगा।

हमारे शास्त्रकारों का यह सिद्धान्त है, कि चूँकि मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है, इस लिये पिण्डब्रह्माण्ड के तत्त्व को पहचानना ही उसका मुख्य काम या पुरुषार्थ है; और इसीको धर्मशास्त्र में, मोक्ष' कहते हैं। परंतु दृश्यसृष्टि के व्यवहारों की ओर ध्यान देकर शास्त्रों में ही यह प्रतिपादन किया गया है, कि पुरुषार्थ चार प्रकार के हैं--जैसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यह पहले ही बतला दिया गया है, कि इस स्थान पर 'धर्म' शब्द का अर्थ व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक धर्म समझना चाहिये। अब पुरुषार्थ को इस प्रकार चतुर्विध माननेपर यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न हो जाता है, कि पुरुषार्थ के चारों अङ्ग या भाग परस्पर पोषक हैं या नहीं? इसलिये स्मरण रहे, कि पिण्ड में और ब्रह्माण्ड में जो तत्त्व है, उसका ज्ञान हुए बिना मोक्ष नहीं मिलता। फिर वह ज्ञान किसी भी मार्ग से प्राप्त हो। इस सिद्धान्तके विषयमें शाब्दिक मतभेद भले ही हो; परन्तु तत्त्वत: कुछ मतभेद नहीं है। निदान गीताशास्त्र का तो यह सिद्धान्त सर्वथैव ग्राह्य है। इसी प्रकार गीता को यह तत्त्व भी पूर्णतया मान्य है, कि यदि अर्थ और काम, इन दो पुरुषार्थों को प्राप्त करना हो, तो वे भी नीतिधर्म से ही प्राप्त किये जावें। अब केवल धर्म (अर्थात् व्यावहारिक चातुर्वर्ण्यधर्म और मोक्षके पारस्परिक सम्बन्धका

निर्णय करना शेष रह गया। इनमें से धर्म के विषय में तो यह सिद्धान्त सभी पक्षों को मान्य है, कि धर्म के द्वारा चित्त को शुद्ध किये बिना मोक्ष की बात ही करना व्यर्थ है। परंतु इस प्रकार चित्त को शुद्ध करने के लिये बहुत समय लगता है; इसलिये मोक्ष की दृष्टिसे विचार करने पर भी यही सिद्ध होता है, कि तत्पूर्व काल में पहले पहल संसार के सब कर्तव्यों को 'धर्म से' पूरा कर लेना चाहिये (मनु. ६. ३५-३७)। संन्यास का अर्थ है 'छोड़ना'; और जिसने धर्म के द्वारा इस संसार में कुछ प्राप्त या सिद्ध नहीं किया है, वह त्याग ही क्या करेगा? अथवा जो 'प्रपंच' (सांसारिक कर्म) ही ठीक ठीक साध नहीं सकता, उस 'अभागी' से परमार्थ भी कैसे ठीक सधेगा (दास. १२. १. १–१० और १२–८. २१–३१)? किसी का अन्तिम उद्देश या साध्य चाहे सांसारिक हो अथवा पारमार्थिक; परन्तु यह बात प्रगट है, कि उनकी सिद्धि के लिये दीर्घ प्रयत्न, मनोनिग्रह और सामर्थ्य इत्यादि गुणोंकी एक ही सी आवश्यकता होती है; और जिसमें ये गुण विद्यमान् नहीं होते, उसे किसी भी उद्देश या साध्य की प्राप्ति नहीं होती। इस बातको मान लेने पर भी कुछ लोग इससे आगे बढ़ कर कहते हैं, कि जब दीर्घ प्रयत्न और मनोनिग्रह के द्वारा आत्मज्ञान हो जाता है, तब अन्त में संसार के विषयोपभोगरूपी सब व्यवहार निस्सार प्रतीत होने लगते हैं। और जिस प्रकार साँप अपनी निरुपयोगी केंचुली को छोड़ देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी सब सांसारिक विषयों को छोड़ केवल परमेश्वरस्वरूप में ही लीन हो जाया करते हैं (बृ. ४. ४. ७)। जीवनक्रमण करने के इस मार्ग में चूंकि सब व्यवहारों का त्याग कर अन्त में केवल ज्ञान को ही प्रधानता दी जाती है; अतएव इसे ज्ञाननिष्ठा, सांख्यनिष्ठा अथवा सब व्यवहारों का त्याग करने से संन्यास भी कहते हैं। परन्तु इसके विपरीत गीताशास्त्र में कहा है, कि आरम्भ में चित्त की शुद्धता के लिये 'धर्म' की आवश्यकता तो है ही; परन्तु आगे चित्त की शुद्धि होने पर भी—स्वयं अपने लिये विषयोपभोगरूपी व्यवहार चाहे तुच्छ हो जावे; तो भी—उन्हीं व्यवहारों को केवल स्वधर्म और कर्तव्य समझ कर, लोकसंग्रह के लिये निष्कामबुद्धि से करते रहना आवश्यक है। यदि ज्ञानी मनुष्य ऐसा न करेंगे, तो लोगों को आदर्श बतलानेवाला कोई भी न रहेगा; और फिर इस संसारका नाश हो जायगा। इस कर्मभूमि में किसी से भी कर्म छूट नहीं सकते। और यदि बुद्धि निष्काम हो जावे, तो कोई भी कर्म मोक्ष के आड़े आ नहीं सकते। इसलिये संसार के कर्मों का त्याग न कर सब व्यवहारों को विरक्तबुद्धि से अन्य जनों की नाईं मृत्युपर्यंत करते रहना ही ज्ञानी पुरुषका भी कर्तव्य हो जाता है। गीताप्रतिपादित जीवन व्यतीत करने के उस मार्ग को ही कर्मनिष्ठा या कर्मयोग कहते हैं। परन्तु यद्यपि कर्मयोग इस प्रकार श्रेष्ठ निश्चित किया गया है, तथापि उसके लिये गीता में संन्यासमार्ग की कहीं भी निन्दा नहीं की गई। उलटा, यह कहा गया है, कि वह भी मोक्ष का देनेवाला है। स्पष्ट ही है, कि सृष्टि के आरम्भ में सनत्कुमार प्रभृति ने और आगे चल कर शुक–याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों ने जिस मार्ग का स्वीकार

किया है, उसे भगवान् भी किस प्रकार सर्वथैव त्याज्य कहेंगे ? संसार के व्यवहार किसी मनुष्य को अंशतः उसके प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त हुए जन्मस्वभाव से नीरस या मधुर मालम होते हैं। और, पहले कह चुके हैं, कि ज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध-कर्म को भोगे बिना छुटकारा नहीं। इसलिये इस प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त हुए जन्म-स्वभाव के कारण यदि किसी ज्ञानी पुरुष का जी सांसारिक व्यवहारों से ऊब जावे; और यदि वह संन्यासी हो जावे, तो उसकी निन्दा करने से कोई लाभ नहीं। आत्मज्ञान के द्वारा जिस सिद्ध पुरुष की बुद्धि निःसंग और पवित्र हो गई है, वह इस संसार में चाहे और कुछ करे; परन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिये, कि वह मानवी बुद्धि की शुद्धता की परम सीमा, और विषयों में स्वभावतः लुब्ध होनेवाली हठीली मनोवृत्तियों को ताबे में रखने के सामर्थ्य की पराकाष्ठा सब लोगों को प्रत्यक्ष रीति से दिखला देता है। उसका यह कार्य लोकसंग्रह की दृष्टि से भी कुछ छोटा नहीं है। लोगों के मन में संन्यासधर्म के विषय में जो आदरबुद्धि विद्यमान है, उसका सच्चा कारण यही है; और मोक्ष की दृष्टि से यही गीता को भी सम्मत है। परन्तु केवल जन्मस्वभाव की ओर, अर्थात् प्रारब्धकर्म की ही ओर ध्यान न दे कर यदि शास्त्र की रीति के अनुसार इस बात का विचार किया जावे, कि जिसने पूरी आत्मस्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है, उस ज्ञानी पुरुष को इस कर्मभूमि में किस प्रकार बर्ताव करना चाहिये। तो गीता के अनुसार यह सिद्धान्त करना पड़ता है, कि कर्मत्याग-पक्ष गौण है; और सृष्टि के आरम्भ में मरीचि प्रभृति ने तथा आगे चल कर जनक आदिकों ने जिस कर्मयोग का आचरण किया है, उसीको ज्ञानी पुरुष लोकसंग्रह के लिये स्वीकार करें। क्योंकि, अब न्यायतः यही कहना पड़ता है, कि परमेश्वर की निर्माण की हुई सृष्टि को चलाने का काम भी ज्ञानी मनुष्यों को ही करना चाहिये। और, इस मार्ग में ज्ञान-सामर्थ्य के साथ ही कर्म-सामर्थ्य का भी विरोधरहित मेल होने के कारण, यह कर्मयोग केवल सांख्यमार्ग की अपेक्षा कहीं अधिक योग्यता का निश्चित होता है।

सांख्य और कर्मयोग दोनों निष्ठाओं में जो मुख्य भेद है, उसका उक्त रीति से विचार करने पर सांख्य + निष्कामकर्म = कर्मयोग यह समीकरण निष्पन्न होता है; और वैशंपायन के कथनानुसार गीताप्रतिपादन प्रवृत्तिप्रधान कर्मयोग के प्रतिपादन में ही सांख्यनिष्ठा के निरूपण का भी सरलता से समावेश हो जाता है (म. भा. शां. ३४८, ५३)। और, इसी कारण से गीता के संन्यासमार्गीय टीकाकारों को यह बतलाने के लिये अच्छा अवसर मिल गया है, कि गीता में उनका सांख्य या संन्यास-मार्ग ही प्रतिपादित है। गीता के जिन श्लोकों में कर्म को श्रेयस्कर निश्चित कर कर्म करने को कहा है उन श्लोकों की ओर दुर्लक्ष्य करने से, अथवा कर्म को यह मनगढ़न्त कह देने से, कि वे सब श्लोक अर्थवादात्मक अर्थात् आनुषंगिक एवं प्रशंसात्मक हैं; या किसी अन्य युक्ति से उपर्युक्त समीकरण के 'निष्काम-कर्म' को उड़ा देने से उसी समीकरण का सांख्य = कर्मयोग यह रूपान्तर हो जाता है। और फिर यह कहने के लिये स्थान मिल जाता है, कि गीता में सांख्यमार्ग का ही प्रति-

पादन किया है। परन्तु इस रीति से गीता का जो अर्थ किया गया है, वह गीता के उपक्रमोपसंहार के अत्यन्त विरुद्ध है। और, इस ग्रन्थ में हमने स्थान स्थान पर स्पष्ट रीति से दिखला दिया है, कि गीतामें कर्मयोग को गौण तथा संन्यास को प्रधान मानना वैसा ही अनुचित है, जैसे घर के मालिक को कोई तो उसीके घर में पाहुना कह दे; और पाहुने को घर का मालिक ठहरा दे। जिन लोगों का मत है, कि गीतामें केवल वेदान्त, केवल भक्ति या सिर्फ़ पातंजलयोग ही का प्रतिपादन किया गया है, उनके इन मतों का खण्डन हम कर ही चुके हैं। गीता में कौन-सी बात नहीं? वैदिक धर्म में मोक्षप्राप्ति के जितने साधन या मार्ग हैं, उनमें से प्रत्येक मार्ग का कुछ-न-कुछ भाग गीता में है; और इतना होनेपर भी, 'भूतभृन्न च भूतस्थो' (गी.९.५) के न्याय से गीता का सच्चा रहस्य इन मार्गों की अपेक्षा भिन्न ही है। संन्यास-मार्ग अर्थात् उपनिषदों का यह तत्त्व गीता को ग्राह्य है, कि ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं; परन्तु उसे निष्काम-कर्म के साथ जोड़ देने के कारण गीताप्रतिपादित भागवतधर्म में ही यतिधर्म का भी सहज ही समावेश हो गया है। तथापि गीता में संन्यास और वैराग्य का अर्थ यह नहीं किया है, कि कर्मों को छोड़ देना चाहिये; किन्तु यह कहा है, कि केवल फलाशा का ही त्याग करने में सच्चा वैराग्य या संन्यास है; और अन्त में सिद्धान्त किया है, कि उपनिषत्कारों के कर्मसंन्यास की अपेक्षा निष्कामकर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है। कर्मकाण्डी मीमांसकों का यह मत भी गीता को मान्य है, कि यदि यज्ञ के लिये ही वेदविहित यज्ञयागादि कर्मों का आचरण किया जावे, तो वे बन्धक नहीं होते। परन्तु 'यज्ञ' शब्द का अर्थ विस्तृत करके गीता ने उक्त मत में यह सिद्धान्त और जोड़ दिया है, कि यदि फलाशा का त्याग कर सब कर्म किये जावें, तो यही एक बड़ा भारी यज्ञ हो जाता है। इसलिये मनुष्य का यही कर्तव्य है, कि वह वर्णाश्रमविहित सब कर्मों को केवल निष्कामबुद्धि से सदैव करता रहे। सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम के विषय में उपनिषत्कारों के मत की अपेक्षा सांख्यों का मत गीता में प्रधान माना गया है; तो भी प्रकृति और पुरुष तक ही न ठहर कर, सृष्टि के उत्पत्तिक्रम की परम्परा उपनिषदों में वर्णित नित्य परमात्मा पर्यंत ले जाकर भिड़ा दी गई है। केवल बुद्धि के द्वारा अध्यात्मज्ञान को प्राप्त कर लेना क्लेशदायक है। इसलिये भागवत या नारायणीय धर्म में यह कहा है, कि उसे भक्ति और श्रद्धा के द्वारा प्राप्त कर लेना चाहिये। इस वासुदेवभक्ति की विधि का वर्णन गीता में भी किया गया है। परन्तु इस विषय में भी भागवतधर्म की सब अंशों में कुछ नकल नहीं की गई है; वरन् भागवतधर्म में भी वर्णित जीव के उत्पत्ति-विषयक इस मत को वेदान्तसूत्र की नाईं गीता ने भी त्याज्य माना है, कि वासुदेव से संकर्षण या जीव उत्पन्न हुआ है; और, भागवतधर्म में वर्णित भक्ति का तथा उपनिषदों के क्षेत्रक्षेत्रज्ञसम्बन्धी सिद्धान्त का पूरा पूरा मेल कर दिया है। इसके सिवा मोक्षप्राप्ति का दूसरा साधन पातंजलयोग है। यद्यपि गीता का कहना यह नहीं, कि पातञ्जलयोग ही जीवन का मुख्य कर्तव्य है; तथापि गीता यह कहती है, कि बुद्धि को सम करने के लिये इन्द्रियनिग्रह करने की आवश्यकता है। इसलिये

उतने भर के लिये पातंजलयोग के यमनियम-आसन आदि साधनों का उपयोग कर लेना चाहिये। सारांश, वैदिकधर्म में मोक्षप्राप्ति के जो जो साधन बतलाये गये हैं, उन सभी का कुछ-न-कुछ वर्णन, कर्मयोग का सांगोपांग विवेचन करने के समय गीता में प्रसंगानुसार करना पड़ा है। यदि इन सब वर्णनों को स्वतंत्र कहा जाय, तो विसंगति उत्पन्न होकर ऐसा भास होता है, कि गीता के सिद्धान्त परस्पर विरोधी हैं; और यह भास भिन्न भिन्न साम्प्रदायिक टीकाओं से तो और भी अधिक दृढ़ हो जाता है। परंतु जैसा हमने ऊपर कहा है, उसके अनुसार यदि यह सिद्धान्त किया जाय, कि ब्रह्मज्ञान और भक्ति का मेल करके अन्त में उसके द्वारा कर्मयोग का समर्थन करना ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है; तो ये सब विरोध लुप्त हो जाते हैं। और गीता में जिस अलौकिक चातुर्य से पूर्ण व्यापक दृष्टि को स्वीकार कर तत्त्वज्ञान के साथ भक्ति तथा कर्मयोग का यथोचित मेल कर दिया गया है, उसको देख दाँतों तले अंगुली दबाकर रह जाना पड़ता है। गंगा में कितनी ही नदियाँ क्यों न आ मिलें; परन्तु इससे उसका मूल स्वरूप नहीं बदलता; बस, ठीक यही हाल गीता का भी है। उसमें सब कुछ भले ही हो; परन्तु उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय तो कर्मयोग ही है। यद्यपि इस प्रकार कर्मयोग ही मुख्य विषय है; तथापि कर्म के साथ ही साथ मोक्षधर्म के मर्म का भी इसमें भली भाँति निरूपण किया गया है। इसलिये कार्य-अकार्य का निर्णय करने के हेतु बतलाया गया यह गीता धर्म ही--'स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने' (म. भा. अश्व. १६. १२)--ब्रह्म की प्राप्ति करा देने के लिये भी पूर्ण समर्थ है। और भगवान् ने अर्जुन से अनुगीता के आरम्भ में स्पष्ट रीतिसे कह दिया है, कि इस मार्ग से चलनेवाले को मोक्षप्राप्ति के लिये किसी भी अन्य अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। हम जानते हैं, कि संन्यासमार्ग के उन लोगों को हमारा कथन रोचक प्रतीत न होगा, जो यह प्रतिपादन किया करते हैं, कि बिना सब व्यावहारिक कर्मों का त्याग किये मोक्ष की प्राप्ति हो नहीं सकती। परन्तु इसके लिये कोई इलाज़ नहीं है। गीताग्रंथ न तो संन्यासमार्ग का है; और न निवृत्तिप्रधान किसी दूसरे ही पंथ का। गीताशास्त्र की प्रवृत्ति तो इसीलिये है, कि वह ब्रह्मज्ञान की दृष्टिसे ठीक ठीक युक्तिसहित इस प्रश्न का उत्तर दे, कि ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी कर्मों का संन्यास करना अनुचित क्यों ह? इसलिये संन्यासमार्ग के अनुयायियों को चाहिये, कि वे गीता को भी 'संन्यास देने' की झंझट में न पड़ 'संन्यासमार्गप्रतिपादक' जो अन्य वैदिक ग्रन्थ हैं उन्हीं से संतुष्ट रहें। अथवा गीता में संन्यासमार्ग को भी भगवान् ने जिस निरभिमानबुद्धि से निःश्रेयस्कर कहा है, उसी समबुद्धि से सांख्यमार्गवालों को भी यह कहना चाहिये कि 'परमेश्वर का हेतु यह है, कि संसार चलता रहे। और जब कि इसीलिये वह बार बार अवतार धारण करता है, तब ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर निष्कामबुद्धि से व्यावहारिक कर्मों को करते रहने के जिस मार्ग का उपदेश भगवान् ने गीता में दिया है, वही मार्ग कलिकाल में उपयुक्त है"--और ऐसा कहना ही उनके लिए सर्वोत्तम पक्ष है।

पन्द्रहवाँ प्रकरण।

उपसंहार।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च।*

गीता. ८. ७.।

चाहे आप गीता के अध्यायों की संगति या मेल देखिये, या उन अध्यायों के विषयों का मीमांसकों की पद्धति से पृथक् पृथक् विवेचन कीजिये; किसी भी दृष्टि से विचार कीजिये; अन्त में गीता का सच्चा तात्पर्य यही मालूम होगा, कि "ज्ञानभक्तियुक्त कर्मयोग" ही गीता का सार है। अर्थात् सांप्रदायिक टीकाकारों ने कर्मयोग को गौण ठहरा कर गीता के जो अनेक प्रकार के तात्पर्य बतलाये हैं, वे यथार्थ नहीं हैं। किन्तु उपनिषदों में वर्णित अद्वैत वेदान्त का भक्ति के साथ मेल कर उसके द्वारा बड़े बड़े कर्मवीरों के चरित्रों का रहस्य--या उनके जीवन क्रम की उपपत्ति--बतलाना ही गीता का सच्चा तात्पर्य है। मीमांसकों के कथनानुसार केवल श्रौतस्मार्त कर्मों को सदैव करते रहना भले ही शास्त्रोक्त हो; तो भी ज्ञानरहित केवल तांत्रिक क्रिया से बुद्धिमान् मनुष्य का समाधान नहीं होता। और, यदि उपनिषदों में वर्णित धर्म को देखें, तो वह केवल ज्ञानमय होने के कारण अल्पबुद्धिवाले मनुष्यों के लिये अत्यंत कष्टसाध्य है। इसके सिवा एक और बात है, कि उपनिषदों का संन्यासमार्ग लोकसंग्रह का बाधक भी है। इसलिये भगवान् ने ऐसे ज्ञानमूलक, भक्तिप्रधान और निष्कामकर्मविषयक धर्म का उपदेश गीता में किया है, कि जिसका पालन आमरणान्त किया जावे; जिससे बुद्धि (ज्ञान), प्रेम (भक्ति) और कर्तव्य का ठीक ठीक मेल हो जावे; मोक्ष की प्राप्ति में कुछ अन्तर न पड़ने पावे; और लोकव्यवहार भी सरलता से होता रहे। इसीमें कर्म-अकर्म के शास्त्र का सब सार भरा हुआ है। अधिक क्या कहें; गीता के उपक्रम उपसंहार से यह बात स्पष्टतया विदित हो जाती है, कि अर्जुन को इस धर्म का उपदेश करने में कर्म-अकर्मका विवेचन ही मूलकारण है। इस बात का विचार दो तरह से किया जाता है, कि किस कर्म को धर्म्य, पुण्यप्रद, न्याय्य या श्रेयस्कर कहना चाहिये; और किस कर्म को इसके विरुद्ध अर्थात् अधर्म्य, पापप्रद, अन्याय्य या गर्ह्य कहना चाहिये। पहली रीति यह है, कि उपपत्ति, कारण या मर्म न बतला-

---

* "इसलिये सदैव मेरा स्मरण कर और लड़ाई कर।" लड़ाई कर–शब्द की योजना यहाँ पर प्रसंगानुसार की गई है; परंतु उसका अर्थ केवल 'लड़ाई कर' ही नहीं है—यह अर्थ भी समझा जाना चाहिये कि 'यथाधिकार कर्म कर'।

कर केवल यह कह दे--किसी काम को अमुक रीति से करो--तो वह शुद्ध होगा; और अन्य रीति से करो, तो अशुद्ध हो जायगा। उदाहरणार्थ-हिंसा मत करो, चोरी मत करो, सच बोलो, धर्माचरण करो इत्यादि बातें इसी प्रकार की हैं। मनुस्मृति आदि स्मृतिग्रन्थों में तथा उपनिषदों में विधियाँ, आज्ञाएँ, अथवा आचार स्पष्ट रीति से बतलाये गये हैं। परन्तु मनुष्य ज्ञानवान् प्राणी है; इसलिये उसका समाधान केवल ऐसी विधियों या आज्ञाओं से नहीं हो सकता। क्योंकि मनुष्य की यही स्वाभाविक इच्छा होती है, कि वह उन नियमों के बनाये जाने का कारण भी जान ले। और इसीलिये वह विचार करके इन नियमों के नित्य तथा मूलतत्त्व की खोज किया करता है—बस; यही दूसरी रीति है, कि जिससे कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि का विचार किया जाता है। व्यावहारिक धर्म के अन्त को इस रीति से देख कर उसके मूलतत्त्वों को ढूँढ निकालना शास्त्र का काम है; तथा उस विषय के केवल नियमों को एकत्र करके बतलाना आचारसंग्रह कहलाता है। कर्ममार्ग का आचारसंग्रह स्मृतिग्रन्थों में है; और उसके आचार के मूलतत्त्वों का शास्त्रीय अर्थात् तात्त्विक विवेचन भगवद्गीता में संवादपद्धति से या पौराणिक रीति से किया गया है। अतएव भगवद्गीता के प्रतिपाद्य विषय को केवल कर्मयोग न कहकर कर्मयोगशास्त्र कहना ही अधिक उचित तथा प्रशस्त होगा। और, यही योग-शास्त्र शब्द भगवद्गीता के अध्याय-समाप्ति-सूचक संकल्प में आया है। जिन पश्चिमी पंडितों ने पारलौकिक दृष्टि को त्याग दिया है, या जो लोग उसे गौण मानते हैं, वे गीता में प्रतिपादित कर्मयोगशास्त्र को ही भिन्न भिन्न लौकिक नाम दिया करते हैं—जैसे सद्व्यवहारशास्त्र, सदाचारशास्त्र, नीतिशास्त्र, नीतिमीमांसा, नीतिशास्त्र के मूलतत्त्व, कर्तव्यशास्त्र, कार्य-अकार्य-व्यवस्थिति, समाजधारणाशास्त्र, इत्यादि। इन लोगों की नीतिमीमांसा की पद्धति भी लौकिक ही रहती है। इसी कारण से ऐसे पाश्चात्य पंडितों के ग्रन्थों का जिन्होंने अवलोकन किया है, उनमें से बहुतों की यह समझ हो जाती है, कि संस्कृतसाहित्य में सदाचरण या नीति के मूलतत्त्वों की चर्चा किसीने नहीं की है। वे कहने लगते हैं, कि "हमारे यहाँ जो कुछ गहन तत्त्वज्ञान है, वह सिर्फ़ हमारा वेदान्त ही है। अच्छा; वर्तमान वेदान्त-ग्रन्थों को देखो; तो मालूम होगा, कि वे सांसारिक कर्मों के विषय में प्रायः उदासीन हैं। ऐसी अवस्था में कर्मयोगशास्त्र का अथवा नीति का विचार कहाँ मिलेगा? यह विचार व्याकरण अथवा न्याय के ग्रन्थों में तो मिलनेवाला है ही नहीं; और स्मृतिग्रन्थों में धर्मशास्त्र के संग्रह के सिवा और कुछ भी नहीं है। इसलिये हमारे प्राचीन शास्त्रकार, मोक्ष ही के गूढ विचारों में निमग्न हो जाने के कारण सदाचरण के या नीतिधर्म के मूलतत्त्वों का विवेचन करना भूल गये!" परन्तु महाभारत और गीता को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह भ्रमपूर्ण समझ दूर हो जा सकती है। इतने पर कुछ लोग कहते हैं, कि महाभारत एक अत्यन्त विस्तीर्ण ग्रन्थ है, इसलिये उसको पढ़ कर पूर्णतया मनन करना बहुत ही कठिन है। और गीता

यद्यपि एक छोटा-सा ग्रन्थ है, तो भी उससे सांप्रदायिक टीकाकारों के मतानुसार केवल मोक्षप्राप्ति ही का ज्ञान बतलाया गया है। परन्तु किसीने इस बात को नहीं जाँचा, कि संन्यास और कर्मयोग, दोनों मार्ग हमारे यहाँ वैदिक काल से ही प्रचलित हैं। किसी भी समय समाज में संन्यासमार्गियों की अपेक्षा कर्मयोग ही के अनुयायियों की संख्या हज़ारों गुना अधिक हुआ करती है--और, पुराण-इतिहास आदि में जिस कर्मशील महापुरुषों का अर्थात् कर्मवीरों का वर्णन है, वे सब कर्मयोगमार्ग का ही अवलम्ब करनेवाले थे। यदि ये सब बातें सच हैं, तो क्या इन कर्मवीरों से किसी को भी यह नहीं सूझा होगा, कि अपने कर्मयोगमार्ग का समर्थन किया जाना चाहिये ? अच्छा; यदि कहा जाय, कि उस समय जितना ज्ञान था, वह सब ब्राह्मणजाति में ही था; और वेदान्ती ब्राह्मण कर्म करने के विषय में उदासीन रहा करते थे; इसलिये कर्मयोगविषयक ग्रन्थ नहीं लिखे गये होंगे। तो यह आक्षेप भी उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, उपनिषत्काल में और उसके बाद क्षत्रियों में भी जनक और श्रीकृष्ण सरीखे ज्ञानी पुरुष हो गये हैं; और व्याससदृश बुद्धिमान् ब्राह्मणों ने बड़े बड़े क्षत्रियों का इतिहास भी लिखा है। इस इतिहास को लिखते समय क्या उनके मन में यह विचार न आया होगा, कि जिन प्रसिद्ध पुरुषों का इतिहास हम लिख रहे हैं, उनके चरित्र के मर्म या रहस्य को भी प्रगट कर देना चाहिये? इस मर्म या रहस्य को ही कर्मयोग अथवा व्यवहारशास्त्र कहते हैं; और, इसे बतलाने के लिये ही महाभारत में स्थान स्थान पर सूक्ष्म धर्म-अधर्म का विवेचन करके, अन्त में संसार के धारण एवं पोषण के लिये कारणीभूत होनेवाले सदाचरण अर्थात् धर्म के मूलतत्त्वों का विवेचन मोक्ष-दृष्टि को न छोड़ते हुए गीता में किया गया है। अन्यान्य पुराणों में भी ऐसे बहुत-से प्रसङ्ग पाये जाते हैं। परन्तु गीता के तेज के सामने अन्य सब विवेचन फीके पड़ जाते हैं। इसी कारण से भगवद्गीता कर्मयोगशास्त्र का प्रधान ग्रन्थ हो गया है। हमने इस बात का पिछले प्रकरणों में विस्तृत विवेचन किया है, कि कर्मयोग का सच्चा स्वरूप क्या है। तथापि जब तक इस बात की तुलना न की जावे, कि गीता में वर्णन किये गये कर्म-अकर्म के आध्यात्मिक मूलतत्त्वों से पश्चिमी पण्डितों द्वारा प्रतिपादित नीति के मूलतत्त्व कहाँ तक मिलते हैं; तब तक यह नहीं कहा जा सकता, कि गीताधर्म का निरूपण पूरा हो गया। इस प्रकार तुलना करते समय दोनों ओर के अध्यात्मज्ञान की भी तुलना करनी चाहिये। परन्तु यह बात सर्वमान्य है, कि अब तक पश्चिमी आध्यात्मिक ज्ञान की पहुँच हमारे वेदान्त से अधिक दूर तक नहीं होने पाई है। इसी कारण से पूर्वी और पश्चिमी अध्यात्मशास्त्रों की तुलना करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती *। ऐसी अवस्था में अब केवल उस नीतिशास्त्र की अथवा कर्म-

* वेदान्त और पश्चिमी तत्त्वज्ञान का तुलना प्रोफेसर डायसन के *The Elements of Metaphysics* नामक ग्रन्थ में कई स्थानों में की गई है। इस ग्रन्थ के दूसरे संस्करण के अन्तमें "On the Philosophy of Vedanta" इस वषय पर एक व्याख्यान भी छापा गया है। जब प्रो. डायसन सन १८९३ में

योग की तुलना का ही विषय बाकी रह जाता है, जिसके बारे में कुछ लोगों की समझ है, कि इसकी उपपत्ति हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने नहीं बतलाई है। परंतु एक इसी विषय का विचार भी इतना विस्तृत है, कि उसका पूर्णतया प्रतिपादन करने के लिये एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही लिखना पड़ेगा। तथापि, इस विषय पर इस ग्रन्थ में थोड़ा भी विचार न करना उचित न होगा; इसलिये केवल दिग्दर्शन करने के लिये इसकी कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का विवेचन इस उपसंहार में अब किया जावेगा।

थोड़ा भी विचार करने पर यह सहज ही ध्यान में आ सकता है, कि सदाचार और दुराचार, तथा धर्म और अधर्म, शब्दों का उपयोग यथार्थ में ज्ञानवान् मनुष्य के कर्म के ही लिये होता है। और यही कारण है, कि नीतिमत्ता केवल जड़ कर्मों में नहीं, किन्तु बुद्धि में रहती है। "धर्मो हि तेषामधिको विशेषः"— धर्मअधर्म का ज्ञान मनुष्य का अर्थात् बुद्धिमान् प्राणियों का ही विशिष्ट गुण है— इस वचन का तात्पर्य और भावार्थ भी वही है। किसी गधे या बैल के कर्मों को देख कर हम उसे उपद्रवी तो बेशक कहा करते हैं; परन्तु जब वह धक्का देता है, तब उस पर कोई नालिश करने नहीं जाता। इसी तरह किसी नदी को—उसके परिणाम की ओर ध्यान देकर—हम भयंकर अवश्य कहते हैं; परन्तु जब उसमें बाढ़ आ जाने से फसल बह जाती है, तो "अधिकांश लोगों की अधिक हानि" होने के कारण कोई उसे दुराचारिणी, लुटेरी या अनीतिमान् नहीं कहता। इस पर कोई प्रश्न कर सकते हैं, कि यदि धर्मअधर्म के नियम मनुष्य के व्यवहारों ही के लिये उपयुक्त हुआ करते हैं, तो मनुष्य के कर्मों के भलेबुरेपन का विचार भी केवल उसके कर्म से ही करने में क्या हानि है ? इस प्रश्न का उत्तर देना कुछ कठिन नहीं। अचेतन वस्तुओं और पशुपक्षी आदि मूढ योनि के प्राणियों का दृष्टान्त छोड़ दें; और यदि मनुष्य के ही कृत्यों का विचार करें, तो भी देख पड़ेगा, कि जब कोई आदमी अपने पागलपन से अथवा अनजाने में कोई अपराध कर डालता है, तब वह संसार में और क़ानून-द्वारा क्षम्य माना जाता है। इससे यही बात सिद्ध होती है, कि मनुष्य के भी कर्मअकर्म की भलाईबुराई ठहराने के लिये, सब से पहले उसकी बुद्धि का ही विचार करना पड़ता है—अर्थात् यह विचार करना पड़ता है, कि उसने उस कार्य को किस उद्देश, भाव या हेतु से किया; और उसको उस कर्म के परिणाम का ज्ञान था या नहीं। किसी धनवान् मनुष्य के लिये यह कोई कठिन काम नहीं, कि वह अपनी इच्छा के अनुसार मनमाना दान दे दें। यह दान-विषयक काम 'अच्छा' भले ही हो; परन्तु उसकी सच्ची नैतिक योग्यता उस दान की स्वाभाविक क्रिया से ही नहीं ठहराई जा सकती। इसके लिये यह भी

हिन्दुस्थान में आये थे, तब उन्होंने बंबई की रायल एशियाटिक सोसायटी में यह व्याख्यान दिया था। इसके अतिरिक्त *The Religion and Philosophy of the Upanishads* नामक डायसन साहब का ग्रन्थ भी इस विषय पर पढ़ने योग्य है।

देखना पड़ेगा, कि उस धनवान् मनुष्य की बुद्धि सचमुच श्रद्धायुक्त है या नहीं। और इसका निर्णय करने के लिये यदि स्वाभाविक रीति से किये गये इस दान के सिवा और कुछ सुबूत न हो; तो इस दान की योग्यता किसी श्रद्धापूर्वक किये गये दान की योग्यता के बराबर नहीं समझी जाती--और कुछ नहीं, तो सन्देह करने के लिये उचित कारण अवश्य रह जाता है। सब धर्मअधर्म का विवेचन हो जाने पर महाभारत में यही एक बात व्याख्यान के स्वरूप में उत्तम रीति से समझाई गई है। जब युधिष्ठिर राजगद्दी पा चुके, तब उन्होंने एक बृहत् अश्वमेध-यज्ञ किया। उसमें अन्न और द्रव्य आदि के अपूर्व दान करने से और लाखों मनुष्यों के सन्तुष्ट होने से उनकी बहुत प्रशंसा होने लगी। उस समय वहाँ एक दिव्य नकुल (नेवला) आया; और युधिष्ठिर से कहने लगा --"तुम्हारी व्यर्थ ही प्रशंसा की जाती है। पूर्वकाल में इसी कुरुक्षेत्र में एक दरिद्री ब्राह्मण रहता था जो उञ्छवृत्ति से, अर्थात् खेतों में गिरे हुए अनाज के दानों को चुन-कर, अपना जीवननिर्वाह किया करता था। एक दिन भोजन करने के समय उसके यहाँ एक अपरिचित आदमी क्षुधा से पीड़ित अतिथि बन कर आ गया। यह दरिद्री ब्राह्मण और उसके कुटुम्बी-जन भी कई दिनों के भूखे थे; तो भी उसने अपने, अपनी स्त्री के और अपने लड़कों के सामने परोसा हुआ सब सत्तू उस अतिथि को समर्पण कर दिया। इस प्रकार उसने जो अतिथियज्ञ किया था, उसके महत्त्व की बराबरी तुम्हारा यज्ञ--चाहे यह कितना ही बड़ा क्यों न हो--कभी नहीं कर सकता" (म. भा. अश्व. ९०)। उस नेवले का मुँह और आधा शरीर सोने का था। उसने जो यह कहा, कि युधिष्ठिर के अश्वमेध-यज्ञ की योग्यता उस गरीब ब्राह्मणद्वारा अतिथि को दिये गये सेर भर सत्तू के बराबर भी नहीं है; उसका कारण उसने यह बतलाया है, कि—"उस ब्राह्मण के घर में अतिथि की जूठन पर लोटने से मेरा मुँह और आधा शरीर सोने का हो गया; परन्तु युधिष्ठिर के यज्ञमण्डल की जूठन पर लोटनेसे मेरा बचा हुआ आधा शरीर सोने का नहीं हो सका!" यहाँ पर कर्म के बाह्य परिणाम को ही देख कर यदि इसी बात का विचार करें--कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख किसमें है--तो यही निर्णय करना पड़ेगा, कि एक अतिथि को तृप्त करने की अपेक्षा लाखों आद-मियों को तृप्त करने की योग्यता लाखगुना अधिक है। परन्तु प्रश्न यह है, कि केवल धर्मदृष्टि से ही नहीं, किन्तु नीतिदृष्टि से भी क्या यह निर्णय ठीक होगा? किसी को अधिक धनसम्पत्ति मिल जाना या लोकोपयोगी अनेक अच्छे काम करने का मौक़ा मिल जाना केवल उसके सदाचार पर ही अवलम्बित नहीं रहता है। यदि वह गरीब ब्राह्मण द्रव्य के अभाव से बड़ा भारी यज्ञ नहीं कर सकता था; और इसलिये यदि उसने अपनी शक्ति के अनुसार कुछ अल्प और तुच्छ काम ही किया, तो क्या उसकी नैतिक या धार्मिक योग्यता कम समझी जायगी? कभी नहीं। यदि कम समझी जावे तो यही कहना पड़ेगा, कि गरीबों को नवानों के

सदृश नीतिमान् और धार्मिक होने की कभी इच्छा और आशा नहीं रखनी चाहिये। आत्मस्वातंत्र्य के अनुसार अपनी बुद्धि को शुद्ध रखना उस ब्राह्मण के अधिकार में था; और यदि उसके स्वल्पाचरण से इस बात में कुछ सन्देह नहीं रह जाता, कि उसकी परोपकारबुद्धि युधिष्ठिर के ही समान शुद्ध थी; तो इस ब्राह्मण की और उसके स्वल्प कृत्य की नैतिक योग्यता युधिष्ठिर के और उसके बहुव्ययसाध्य यज्ञ के बराबर की ही मानी जानी चाहिये। बल्कि यह भी कहा जा सकता है, कि कई दिनों तक क्षुधा से पीडित होनेपर भी उस गरीब ब्राह्मण ने अन्नदान करके अतिथि के प्राण बचाने में जो स्वार्थत्याग किया, उससे उसकी शुद्ध बुद्धि और भी अधिक व्यक्त होती है। यह तो सभी जानते हैं, कि धैर्य आदि गुणों के समान शुद्ध बुद्धि की सच्ची परीक्षा संकटकाल में ही हुआ करती है; और कान्ट ने भी अपने नीतिग्रंथ के आरम्भ में यही प्रतिपादन किया है, कि संकट के समय भी जिसकी शुद्ध बुद्धि (नैतिक तत्त्व) भ्रष्ट नहीं होती, वही सच्चा नीतिमान् है। उक्त नेवले का अभिप्राय भी यही था। परन्तु युधिष्ठिर की शुद्ध बुद्धि की परीक्षा कुछ राज्यारूढ होने पर संपत्तिकाल में किये गये एक अश्वमेधयज्ञ से ही होने की न थी; उसके पहले ही अर्थात् आपत्तिकाल की अनेक अड़चनों के मौक़ों पर उसकी पूरी परीक्षा हो चुकी थी। इसीलिये महाभारतकार का यह सिद्धान्त है, कि धर्म-अधर्म के निर्णय के सूक्ष्म न्याय से भी युधिष्ठिर को धार्मिक ही कहना चाहिये। कहना नहीं होगा, कि वह नेवला निन्दक ठहराया गया है। यहाँ एक और बात ध्यान में लेने योग्य है, कि महाभारत में यह वर्णन है, कि अश्वमेध करनेवाले को जो गति मिलती है, वही उस ब्राह्मण को भी मिली। इससे यही सि होता है, कि उस ब्राह्मण के कर्म की योग्यता युधिष्ठिर के यज्ञ की अपेक्षा अधिक भले ही न हो; तथापि इसमें सन्देह नहीं, कि महाभारतकार उन दोनों की नैतिक और धार्मिक योग्यता एक बराबर मानते हैं। व्यावहारिक कार्यों में भी देखने से मालूम हो सकता है, कि जब किसी धर्मकृत्य के लिये या लोकोपयोगी कार्य के लिये कोई लखपति मनुष्य हज़ार रुपये चंदा देता है; और कोई गरीब मनुष्य एक रुपया चंदा देता है; तब हम लोग उन दोनों की नैतिक योग्यता एक समान ही समझते हैं। 'चन्दा' शब्द को देख कर यह दृष्टान्त कुछ लोगों को कदाचित् नया मालूम हो, परन्तु यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। क्योंकि उक्त नेवले की कथा का निरूपण करते समय ही धर्म-अधर्म के विवेचन में कहा गया है कि—

> सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च ।
> दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः ॥

अर्थात् "हजारवाले ने सौ, सौवाले ने दस, और किसी ने यथाशक्ति थोड़ा-सा पानी ही दिया, तो भी ये सब तुल्यफल हैं; अर्थात् इन सब की योग्यता एक बराबर है" (म. भा. अश्व. ९०. ९७); और "पत्रं पुष्पं फलं" (गी. ९. २६)—

इस गीतावाक्य का तात्पर्य भी यही है। हमारे धर्म में ही क्या, ईसाई धर्म में भी इस तत्त्व का संग्रह है। ईसामसीह ने एक जगह कहा है--" जिसके पास अधिक है, उससे अधिक पाने की आशा की जाती है " (ल्यूक. १२. ४८)। एक दिन जब ईसा मन्दिर (गिरजाघर) गया था, तब वहाँ धर्मार्थ द्रव्य इकठ्ठा करने का काम शुरु होने पर अत्यन्त गरीब विधवा स्त्री ने अपन पास की कुछ पूँजी –दो पैसे निकाल कर–उस धर्मकार्य के लिये दे दी। यह देख कर ईसा के मुँह से यह उद्गार निकल पड़ा, कि " इस स्त्री ने अन्य सब लोगों की अपेक्षा अधिक दान दिया है "। इसका वर्णन बाइबल (मार्क. १२. ४३ और ४४) में है। इससे यह स्पष्ट है, कि यह बात ईसा को भी मान्य थी, कि कर्म की ोग्यता कर्ता की बुद्धि से ही निश्चित की जानी चाहिये। और यदि कर्ता की बुद्धि शुद्ध हो, तो बहुधा छोटे छोटे कर्मों की नैतिक योग्यता भी बड़े बड़े कर्मों की योग्यता के बराबर ही हो जाती है। इसके विपरीत--अर्थात् जब बुद्धि शुद्ध न हो--तब किसी कर्म की नैतिक योग्यता का विचार करने पर यह मालूम होगा, कि यद्यपि हत्या करना केवल एक ही कर्म है; तथापि अपनी जान बचाने के लिये दूसरे की हत्या करने में और किसी राह चलते धनवान् मुसाफ़िर को द्रव्य के लिये मार डालने में, नैतिक दृष्टि से बहुत अन्तर है। जर्मन कवि शिलर ने इसी आशय के एक प्रसंग का वर्णन अपने " विलियम टेल " नामक नाटक के अन्त में किया है; और वहाँ बाह्यतः एक ही से देख पड़नेवाले दो कृत्यों में बुद्धि की शुद्धता-अशुद्धता के कारण जो भेद दिखलाया गया है, वही भेद स्वार्थत्याग और स्वार्थ के लिये की गई हत्या में भी है। इससे मालूम होता है, कि कर्म छोटे-बड़े हों या बराबर हों; उनमें नैतिक दृष्टि से जो भेद हो जाता है, वह कर्ता के हेतु के कारण ही हुआ करता है। इस हेतु को ही उद्देश, वासना या बुद्धि कहते हैं। इसका कारण यह है, कि 'बुद्धि' शब्द का शास्त्रीय अर्थ यद्यपि 'व्यवसायात्मक इन्द्रिय' है; तो भी ज्ञान, वासना, उद्देश और हेतु सब बुद्धीन्द्रिय के व्यापारके ही फल हैं। अतएव इनके लिये भी बुद्धि शब्द ही का सामान्यतः प्रयोग किया जाता है। और पहले यह भी बतलाया जा चुका है, कि स्थितप्रज्ञ की साम्यबुद्धि में व्यवसायात्मक बुद्धि की स्थिरता और वासनात्मक बुद्धि की शुद्धता, दोनों का समावेश होता है। भगवान् ने अर्जुन से कुछ यह सोचने को नहीं कहा, कि युद्ध करने से कितने मनुष्यों का कितना कल्याण होगा और कितने लोगों की कितनी हानि होगी; बल्कि अर्जुन से भगवान् यही कहते हैं:– इस समय यह विचार गौण है, कि तुम्हारे युद्ध करने से भीष्म मरेंगे कि द्रोण। मुख्य प्रश्न यही है, कि तुम किस बुद्धि (हेतु या उद्देश) से युद्ध करने को तैयार हुए हो। यदि तुम्हारी बुद्धि स्थितप्रज्ञों के समान शुद्ध होगी, और यदि तुम उस पवित्र बुद्धि से अपना कर्तव्य करने लगोगे, तो फिर चाहे भीष्म मरें या द्रोण; तुम्हें उसका पाप नहीं लगेगा। तुम कुछ इस फल की आशा से तो युद्ध कर ही नहीं रहे हो कि भीष्म मारे जायँ। जिस राज्य में तुम्हारा जन्मसिद्ध हक्क़ है उसका

हिस्सा तुमने माँगा; और युद्ध टालने के लिये यथाशक्ति ग़म खाकर बीच-बचाव करने का भी तुमने बहुत-कुछ प्रयत्न किया। परन्तु जब इस मेल के प्रयत्न से और साधु-पन के मार्ग से निर्वाह नहीं हो सका, तब लाचारी से तुमने युद्ध करने का निश्चय किया है। इसमें तुम्हारा कुछ दोष नहीं है। क्योंकि दुष्ट मनुष्य से, किसी ब्राह्मण की नाईं, अपने धर्मानुसार प्राप्त हक़ की भिक्षा न माँगते हुए, मौक़ा आ पड़ने पर क्षत्रियधर्म के अनुसार लोकसंग्रहार्थ उसकी प्राप्ति के लिये युद्ध करना ही तुम्हारा कर्तव्य है (म. भा. उ. २८ और ७२; वनपर्व ३३. ४८ और ५० देखो)। भगवान् के उक्त युक्तिवाद को व्यासजी ने भी स्वीकार किया है और; उन्हों ने इसी के द्वारा आगे चलकर शान्तिपर्व में युधिष्ठिर का समाधान किया है (शां. अ. ३२ और ३३)। परन्तु कर्म-अकर्म का निर्णय करने के लिये बुद्धि को इस तरह से श्रेष्ठ मान लें, तो अब यह भी अवश्य जान लेना चाहिये, कि शुद्ध बुद्धि किसे कहते हैं। क्योंकि, मन और बुद्धि दोनों प्रकृति के विकार हैं; इसलिये वे स्वभावतः तीन प्रकार के अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस हो सकते हैं। इसलिये गीता में कहा है, कि शुद्ध या सात्त्विक बुद्धि वह है, कि जो बुद्धि से भी परे रहनेवाले नित्य आत्मा के स्वरूप को पहचानें; और यह पहचान कर––कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है––उसी के अनुसार कार्य-अकार्य का निर्णय करें। इस सात्त्विक बुद्धि का दूसरा नाम साम्य-बुद्धि है, और इसमें 'साम्य' शब्द का अर्थ "सर्वभूतान्तर्गत आत्मा की एकता या समानता को पहचाननेवाली" है। जो बुद्धि इस समानता को नहीं जानती, वह न तो शुद्ध है और न सात्त्विक। इस प्रकार जब यह मान लिया गया, कि नीति का निर्णय करने में साम्यबुद्धि ही श्रेष्ठ है, तब यह प्रश्न उठता है, कि बुद्धि की इस समता अथवा साम्य को कैसे पहचानना चाहिये? क्योंकि बुद्धि तो अन्त-रिन्द्रिय है; इसलिये उसका भला-बुरापन हमारी आँखों से देख नहीं पड़ता। अत-एव बुद्धि की समता तथा शुद्धता की परीक्षा करने के लिये पहले मनुष्य के बाह्य आचरण को देखना चाहिये। नहीं तो कोई भी मनुष्य ऐसा कह कर––कि मेरी बुद्धि शुद्ध है––मनमाना बर्ताव करने लगेगा। इसी से शास्त्रों का सिद्धान्त है, कि सच्चे ब्रह्मज्ञानी पुरुष की पहचान उसके स्वभाव से ही हुआ करती है। जो केवल मुँह से कोरी बातें करता है वह सच्चा साधु नहीं। भगवद्गीता में भी स्थितप्रज्ञ तथा भगवद्भक्तों का लक्षण बतलाते समय खास करके इसी बात का वर्णन किया गया है, कि वे संसार के अन्य लोगों के साथ कैसा बर्ताव करते हैं। और, तेरहवें अध्याय में ज्ञान की व्याख्या भी इसी प्रकार—अर्थात् यह बतला कर, कि स्वभाव पर ज्ञान का क्या परिणाम होता है—की गई है। इससे यह साफ़ मालूम होता है, कि गीता यह कभी नहीं कहती, कि बाह्यकर्मों की ओर कुछ भी ध्यान न दो। परन्तु इस बात पर ध्यान देना चाहिये, कि किसी मनुष्य की—विशेष करके अनजाने मनुष्य की—बुद्धि की समता की परीक्षा करने के लिये यद्यपि केवल उसका बाह्यकर्म या आचरण––और, उसमें

भी, संकटसमय का आचरण—ही प्रधान साधन है; तथापि केवल इस बाह्य आचरणद्वारा ही नीतिमत्ता की अचूक परीक्षा हमेशा नहीं हो सकती। क्योंकि उक्त नकुलोपख्यान से यह सिद्ध हो चुका है, कि यदि बाह्यकर्म छोटा भी हो; तथापि विशेष अवसर पर उसकी नैतिक योग्यता बड़े कर्मों के ही बराबर हो जाती है। इसी लिये हमारे शास्त्रकारों ने यह सिद्धान्त किया है, कि बाह्यकर्म चाहे छोटा हो या बड़ा; और वह एक ही को सुख देनेवाला हो या अधिकांश लोगों को; उसको केवल बुद्धि की शुद्धता का एक प्रमाण मानना चाहिये। इससे अधिक महत्त्व उसे नहीं देना चाहिये। किन्तु उस बाह्यकर्म के आधार पर पहले यह देख लेना चाहिये, कि कर्म करनेवाले की बुद्धि कितनी शुद्ध है; और अन्त में इस रीति से व्यक्त होनेवाली शुद्ध बुद्धि के आधार पर ही उक्त कर्म की नीतिमत्ता का निर्णय करना चाहिये। यह निर्णय केवल बाह्यकर्मों को देखने से ठीक ठीक नहीं हो सकता। यही कारण है, कि 'कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है' (गी. २. ४९) ऐसा कहकर गीता के कर्मयोग में सम और शुद्धबुद्धि को अर्थात् वासना को ही प्रधानता दी गई है। नारदपंचरात्र नामक भागवतधर्म का गीता से अर्वाचीन एक ग्रन्थ है। उसमें मार्कण्डेय नारद से कहते हैं :—

> मानसं प्राणिनामेव सर्वकर्मैककारणम् ।
> मनोनुरूपं वाक्यं च वाक्येन प्रस्फुटं मनः ॥

अर्थात् "मन ही लोगों के सब कर्मों का एक (मूल) कारण है। जैसा मन रहता है, वैसी ही बात निकलती है; और बातचीत से मन प्रकट होता है" (ना. पं. १. ७. १८)। सारांश यह है, कि मन (अर्थात् मन का निश्चय) सब से प्रथम है, उसके अनन्तर सब कर्म हुआ करते हैं। इसीलिये कर्म-अकर्म का निर्णय करने के लिये गीता के शुद्धबुद्धि के सिद्धान्त को ही बौद्ध ग्रन्थकारों ने स्वीकृत किया है। उदाहरणार्थ, धम्मपद नामक बौद्धधर्मीय प्रसिद्ध नीतिग्रन्थ के आरम्भ में ही कहा है, कि—

> मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा (श्रेष्ठा) मनोमया ।
> मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ।
> ततो न दुक्खमन्वेति चक्कं नु वहतो पदं ॥

अर्थात् "मन यानी मन का व्यापार प्रथम है। उसके अनन्तर धर्म-अधर्म का आचरण होता है। ऐसा क्रम होने के कारण इस काम में मन ही मुख्य और श्रेष्ठ है। इसलिये इन सब कर्मों को मनोमय ही समझना चाहिये। अर्थात् कर्ता का मन जिस प्रकार शुद्ध या दुष्ट रहता है, उसी प्रकार उसके भाषण और कर्म भी भले-बुरे हुआ करते हैं तथा उसी प्रकार आगे उसे सुखदुःख मिलता है।"* इसी

* पाली भाषा के इस श्लोक का भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न अर्थ करते हैं। परन्तु जहाँ तक हम समझते हैं, इस श्लोक की रचना इसी तत्त्व पर की गई है,

तरह उपनिषदों और गीता का यह अनुमान भी (कौषी. ३. १ और गीता. १८. १७) बौद्ध धर्म में मान्य हो गया है, कि जिसका मन एक बार शुद्ध और निष्काम हो जाता है, उस स्थितप्रज्ञ पुरुष से फिर कभी पाप होना सम्भव नहीं; अर्थात् सब कुछ करके भी वह पापपुण्य से अलिप्त रहता है। इसलिये बौद्ध धर्मग्रन्थों में अनेक स्थलों पर वर्णन किया गया है, कि 'अर्हत् अर्थात्' पूर्णावस्था में पहुँचा हुआ मनुष्य हमेशा ही शुद्ध और निष्पाप रहता है (धम्मपद २९४ और २९५; मिलिंद प्र. ४. ५. ७)।

पश्चिमी देशों में नीति का निर्णय करने के लिये दो पन्थ हैं:--पहला आधिदैवत पन्थ, जिसमें सदसद्विवेकदेवता की शरण में जाना पड़ता है; और दूसरा आधिभौतिक पन्थ है, कि जो इस बाह्य कसौटी के द्वारा नीति का निर्णय करने के लिये कहता है, कि "अधिकांश लोगों का अधिक हित किस में है"। परन्तु ऊपर किये गये विवेचन से यह स्पष्ट मालूम हो सकता है, कि ये दोनों पन्थ शास्त्रदृष्टि से अपूर्ण तथा एकपक्षीय हैं। कारण यह है, कि सदसद्विवेकशक्ति कोई स्वतन्त्र वस्तु या देवता नहीं है; किन्तु वह व्यवसायात्मक बुद्धि में ही शामिल है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति और स्वभाव के अनुसार उसकी सदसद्विवेकबुद्धि भी सात्त्विक, राजस या तामस हुआ करती है। ऐसी अवस्था में उसका कार्यअकार्य-निर्णय दोषरहित नहीं हो सकता। और यदि केवल "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" किस में है, इस बाह्य आधिभौतिक कसौटी पर ही ध्यान देकर नीतिमत्ता का निर्णय करें; तो कर्म करनेवाले पुरुष की बुद्धि का कुछ भी विचार नहीं हो सकेगा। तब, यदि कोई मनुष्य चोरी या व्यभिचार करे; और उसके बाह्य अनिष्टकारक परिणामों को कम करने के लिये या छिपाने के लिये पहले ही से सावधान होकर कुछ कुटिल प्रबन्ध कर ले; तो यही कहना पड़ेगा, कि उसका दुष्कृत्य, आधिभौतिक नीतिदृष्टि से उतना निन्दनीय नहीं है। अतएव यह बात नहीं, कि केवल वैदिक धर्म में ही कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धता की आवश्यकता का वर्णन किया गया हो (मनु. १२. ३-८; ९. २९); किन्तु बाइबल में भी व्यभिचार को केवल कायिक पाप न मानकर, परस्त्री की ओर दूसरे पुरुषों का देखना या परपुरुष की ओर दूसरी स्त्रियों का देखना भी व्यभिचार माना गया है (मेथ्यू. ५. २८); और बौद्धधर्म में कायिक अर्थात् बाह्यशुद्धता के साथ साथ वाचिक और मानसिक शुद्धता की भी आवश्यकता बतलाई गई है (धम्म. ९६ और ३९१)। इसके सिवा ग्रीन साहब का यह भी कहना है, कि बाह्यसुख को ही परम साध्य मानने से मनुष्य-मनुष्य में और राष्ट्र-राष्ट्र में उसे पाने के लिये प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न हो जाती है; और कल

कि कर्मअकर्मका निर्णय करने के लिये मानसिक स्थिति का विचार अवश्य करना पड़ता है। धम्मपद का मैक्सम्यूलर साहब ने अंग्रेजी में भाषान्तर किया है। उसमें इस श्लोक की टीका देखिये। S. B. E. Vol. X. pp 3. 4.

का होना भी सम्भव है। क्योंकि बाह्यसुख की प्राप्ति के लिये जो बाह्यसाधन आवश्यक हैं, वे प्रायः दूसरों के सुख को कम किये बिना अपने को नहीं मिल सकते। परन्तु साम्यबुद्धि के विषय में ऐसा नहीं कह सकते। यह आन्तरिक सुख आत्मवश है। अर्थात् यह किसी दूसरे मनुष्य के सुख में बाधा न डालकर प्रत्येक को मिल सकता है। इतना ही नहीं; किन्तु जो आत्मैक्य को पहचान कर सब प्राणियों से समता का व्यवहार करता है, वह गुप्त या प्रगट किसी रीति से भी कोई दुष्कृत्य कर ही नहीं सकता। और फिर उसे यह बतलाने की आवश्यकता भी नहीं रहती, कि "हमेशा यह देखते रहो, कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख किस में है।" कारण यह है, कि कोई भी मनुष्य हो; वह सार-असार-विचार के बाद ही किसी कृत्य को किया करता है। यह बात नहीं, कि केवल नैतिक कर्मों का निर्णय करने के लिये ही सार-असार-विचार की आवश्यकता होती है। सार-असार-विचार करते समय यही महत्त्व का प्रश्न होता है, कि अन्तःकरण कैसा होना चाहिये? क्योंकि सब लोगों का अन्तःकरण एकसमान नहीं होता। अतएव, जब कि यह कह दिया, कि "अन्तः-करण में सदा साम्यबुद्धि जागृत रहनी चाहिये"; तब फिर यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं, कि अधिकांश लोगों के या सब प्राणियों के हित का सार-असार-विचार करो। पश्चिमी पंडित भी अब यह कहने लगे हैं, कि मानवजाति के प्राणियों के सम्बन्ध में जो कुछ कर्तव्य हैं, वे तो हैं ही; परन्तु मूक जानवरों के सम्बन्ध में भी मनुष्य के कुछ कर्तव्य हैं, जिनका समावेश कार्यअकार्यशास्त्र में किया जाना चाहिये। यदि इसी व्यापकदृष्टि से देखें, तो मालूम होगा, कि "अधिकांश लोगों का अधिक हित" की अपेक्षा "सर्वभूतहित" शब्द ही अधिक व्यापक और उपयुक्त है; तथा "साम्यबुद्धि" में इन सभी का समावेश हो जाता है। इसके विपरीत यदि ऐसा मान लें, कि किसी एक मनुष्य की बुद्धि शुद्ध और सम नहीं है; तो वह इस बात का ठीक ठीक हिसाब भले ही कर ले, कि "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" किसमें है; परन्तु नीतिधर्म में उसकी प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है। क्योंकि, किसी सत्कार्य की ओर प्रवृत्ति होना तो शुद्ध मन का गुण या धर्म है—यह काम कुछ हिसाबी मन का नहीं है। यदि कोई कहे, कि "हिसाब करनेवाले मनुष्य के स्वभाव या मन को देखने की तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हें केवल यही देखना चाहिये, कि उसका किया हुआ हिसाब सही है या नहीं। अर्थात् उस हिसाब से सिर्फ़ यह देख लेना चाहिये, कि कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय हो कर तुम्हारा काम चल जाता है या नहीं"—तो यह भी सच नहीं हो सकता। कारण यह है, कि सामान्यतः यह तो सभी जानते हैं, कि सुखदुःख किसे कहते हैं। तो भी सब प्रकार के सुखदुःखों के तारतम्य का हिसाब करते समय पहल यह निश्चय कर लेना पड़ता है, कि किस प्रकार के सुखदुःखों को कितना महत्त्व देना चाहिये। परन्तु सुखदुःख की इस प्रकार माप करने के लिये—उष्णतामापक यंत्र के समान—कोई निश्चित बाह्यसाधन न तो वर्तमान समय में है; और न

भविष्य में ही उसके मिल सकने की कुछ संभावना है। इसलिये सुखदुःखों की ठीक ठीक कीमत ठहराने का काम--यानी उनके महत्त्व या योग्यता का निर्णय करने का काम--प्रत्येक मनुष्य को अपने मन से ही करना पड़ेगा। परन्तु जिसके मन में ऐसी आत्मौपम्यबुद्धि पूर्णरीति से जागृत नहीं हुई है, कि 'जैसा मैं हूँ, वैसा ही दूसरा भी है;' उसे दूसरों के सुखदुःख की तीव्रता का स्पष्ट ज्ञान कभी नहीं हो सकता। इसलिये वह इन सुखदुःखों की सच्ची योग्यता कभी जान ही नहीं सकेगा। और, फिर तारतम्य निर्णय करने के लिये उसने सुखदुःखों की कुछ कीमत पहले ठहरा ली होगी, उसमें भूल हो जायगी; और अंत में उसका किया सब हिसाब भी ग़लत हो जायगा। इसीलिये कहना पड़ता है, कि "अधिकांश लोगों के अधिक सुख को देखना" इस वाक्य में "देखना" सिर्फ़ हिसाब करने की बाह्यक्रिया है, जिसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये। किन्तु जिस आत्मौपम्य और निर्लोभ बुद्धि से (अनेक) दूसरों के सुखदुःखों की यथार्थ कीमत पहले ठहराई जाती है, वही सब प्राणियों के विषय में साम्यावस्था को पहुँची हुई शुद्धबुद्धि ही नीतिमत्ता की सच्ची जड़ है। स्मरण रहे, कि नीतिमत्ता निर्मम, शुद्ध, प्रेमी, सम या (संक्षेप में कहें तो) सत्त्वशील अंतःकरण का धर्म है; वह कुछ केवल सार-असार-विचार का फल नहीं है। यह सिद्धान्त इस कथा से और भी स्पष्ट हो जायगा;--भारतीय युद्ध के बाद युधिष्ठिर के राज्यासीन होने पर जब कुन्ती अपने पुत्रों के पराक्रम से कृतार्थ हो चुकी, तब वह धृतराष्ट्र के साथ वानप्रस्थाश्रम का आचरण करने के लिये बन को जाने लगी। उस समय उसने युधिष्ठिर को कुछ उपदेश किया है; और, 'तू अधिकांश लोगों का कल्याण किया कर' इत्यादि बात का बतंगड़ न कर, उसने युधिष्ठिर से सिर्फ़ यही कहा है, कि "मनस्ते महदस्तु च" (म. भा. अश्व १७. २१) अर्थात् 'तू अपने मन को हमेशा विशाल बनाये रख'। जिन पश्चिमी पंडितों ने यह प्रतिपादन किया है, कि केवल "अधिकांश लोगों का अधिक सुख किसमें है" यही देखना नीतिमत्ता की सच्ची, शास्त्रीय और सीधी कसौटी है; वे कदाचित् पहले ही से यह मान लेते हैं, कि उनके समान ही अन्य सब लोग शुद्ध मन के हैं; और ऐसा समझ कर वे अन्य सब लोगों को यह बतलाते हैं, कि नीति का निर्णय किस रीति से किया जावें। परन्तु ये पंडित जिस बात को पहले ही से मान लेते हैं, वह सच नहीं हो सकती। इसलिये नीतिनिर्णय का उनका नियम अपूर्ण और एकपक्षीय सिद्ध होता है। इतना ही नहीं; बल्कि उनके लेखों से यह भ्रमकारक विचार भी उत्पन्न हो जाता है, कि मन, स्वभाव या शील को यथार्थ में अधिक-अधिक शुद्ध और पापभीरु बनाने का प्रयत्न करने के बदले, यदि कोई नीतिमान् बनने के लिये अपने कर्मों के बाह्यपरिणामों का हिसाब करना सीख ले, तो बस होगा। और फिर जिनकी स्वार्थबुद्धि नहीं छूटी रहती है, वे लोग धूर्त, मिथ्याचारी या ढोंगी (गी. ३.६) बनकर सारे समाज की हानि का कारण हो जाती ह। इसलिये केवल नीतिमत्ता की कसौटी की दृष्टि

से देखें, तो भी कर्मों के केवल बाह्यपरिणामों पर विचार करनेवाला मार्ग कृपण तथा अपूर्ण प्रतीत होता है। अतः हमारे निश्चय के अनुसार गीता का यही सिद्धान्त पश्चिमी आधिदैविक और आधिभौतिक पक्षों के मतों की अपेक्षा अधिक मार्मिक, व्यापक, युक्तिसंगत और निर्दोष है, कि बाह्यकर्मों से व्यक्त होनेवाली और संकट के समय में भी दृढ होनवाली साम्यबुद्धि का ही सहारा इस काम में, अर्थात् कमयोग में लेना चाहिये; तथा, ज्ञानयुक्त निस्सीम शुद्धबुद्धि या शील ही सदाचरण की सच्ची कसौटी है।

नीतिशास्त्रसंबंधी आधिभौतिक और आधिदैविक ग्रन्थों को छोड़कर नीति का विचार आध्यात्मिक दृष्टि से करनेवाले पश्चिमी पंडितों के ग्रन्थों को यदि देखें, तो मालूम होगा, कि उनमें भी नीतिमत्ता का निर्णय करने के विषय में गीता के ही सदृश कर्म की अपेक्षा शुद्धबुद्धि को ही विशेष प्रधानता दी गई है। उदाहरणार्थ प्रसिद्ध जर्मन तत्त्ववेत्ता कान्ट के "नीति के आध्यात्मिक मूलतत्त्व" तथा नीतिशास्त्रसंबंधी दूसरे ग्रन्थों को लीजिये। यद्यपि कान्ट * ने सर्वभूतात्मैक्य का सिद्धान्त अपने ग्रन्थों में नहीं दिया है, तथापि व्यवसायात्मक और वासनात्मक बुद्धि का ही सूक्ष्म विचार करके उसने यह निश्चित किया है—कि (१) किसी कर्म की नैतिक योग्यता इस बाह्यफल पर से नहीं ठहराई जानी चाहिये, कि उसकर्मद्वारा कितने मनुष्यों को सुख होगा; बल्कि उसकी योग्यता का निर्णय यही देख कर करना चाहिये, कि कर्म करनेवाले मनुष्य की 'वासना' कहाँ तक शुद्ध है। (२) मनुष्य की इस वासना (अर्थात् वासनात्मकबुद्धि) को तभी शुद्ध, पवित्र और स्वतंत्र समझना चाहिये, जब कि वह इंद्रियसुखों में लिप्त न रह कर सदैव शुद्ध (व्यवसायात्मक) बुद्धि की आज्ञा के (अर्थात् इस बुद्धिद्वारा निश्चित कर्तव्य-अकर्तव्य के नियमों के) अनुसार चलने लगे। (३) इस प्रकार इंद्रियनिग्रह हो जाने पर जिसकी वासना शुद्ध हो गई हो, उस पुरुष के लिये किसी नीतिनियमादि के बंधन की आवश्यकता नहीं रह जाती—ये नियम तो सामान्य मनुष्यों के ही लिये हैं। (४) इस प्रकार से वासना के शुद्ध हो जाने पर जो कुछ कर्म करने को वह शुद्धवासना या बुद्धि कहा करती है, वह इसी विचार से कहा जाता है कि "हमारे समान यदि दूसरे भी करने लगें तो परिणाम क्या होगा;" और (५) वासना की इस स्वतंत्रता और शुद्धता की उपपत्ति का पता कर्मसृष्टि को छोड़ कर ब्रह्मसृष्टि में प्रवेश किये बिना नहीं चल सकता! परन्तु आत्मा और ब्रह्मसृष्टिसंबंधी कान्ट के विचार कुछ अपूर्ण हैं; और, ग्रीन यद्यपि कान्ट का ही अनुयायी है, तथापि उसने अपने "नीतिशास्त्र के उपोद्घात" में पहले यह सिद्ध

---

*Kant's Theory of Ethics, trans. by Abbott. 6th Ed. इस पुस्तक में ये सब सिद्धान्त दिये गये हैं। पहला सिद्धान्त १०, १२, १६ और १४ वें पृष्ठ में; दूसरा ११२ और ११७ वें पृष्ठ में; तीसरा १३, ५८, १२१ और २९० वें पृष्ठ में; चौथा १८, ३८, ५५ और ११९ वें पृष्ठ में और पाँचवाँ ७०-७३ तथा ८० वें पृष्ठ में पाठकों को मिलेगा।

किया है, कि बाह्यसृष्टि का अर्थात् ब्रह्माण्ड का जो अगम्य तत्त्व है वह आत्मस्वरूप से पिण्ड में अर्थात् मनुष्यदेह में अंशतः प्रादुर्भूत हुआ है। इसके अनन्तर उसने यह प्रतिपादन किया है, * कि मनुष्य-शरीर में एक नित्य और स्वतंत्र तत्त्व है (अर्थात् जिसे आत्मा कहते हैं); जिसमें यह उत्कृष्ट इच्छा होती है, कि सर्वभूतान्तर्गत अपने सामाजिक पूर्णस्वरूप को अवश्य पहुँच जाना चाहिये; और यही इच्छा मनुष्य को सदाचार की ओर प्रवृत्त किया करती है। इसी में मनुष्य का नित्य और चिरकालिक कल्याण है; तथा विषयसुख अनित्य है। सारांश यही देख पड़ता है, कि यद्यपि कान्ट और ग्रीन दोनों ही की दृष्टि आध्यात्मिक है, तथापि ग्रीन व्यवसायात्मक बुद्धि के व्यापारों में ही लिपट नहीं रहा; किन्तु उसने कर्म-अकर्म-विवेचन की तथा वासना-स्वातंत्र्य की उपपत्ति को पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों में एकता से व्यक्त होनेवाले शुद्ध आत्मस्वरूप तक पहुँचा दिया है। कान्ट और ग्रीन जैसे आध्यात्मिक पाश्चात्य नीतिशास्त्रज्ञों के उक्त सिद्धान्तों की ओर नीचे लिखे गये गीताप्रतिपादित कुछ सिद्धान्तों की तुलना करने से देख पड़ेगा, कि यद्यपि वे दोनों अक्षरशः एक बराबर नहीं हैं; तथापि उनमें कुछ अद्भुत समता अवश्य है। देखिये, गीताके सिद्धान्त ये हैं:-(१) बाह्यकर्म की अपेक्षा कर्ता की (वासनात्मक) बुद्धि ही श्रेष्ठ है। (२) व्यवसायात्मक बुद्धि आत्मनिष्ठ हो कर जब सन्देहरहित तथा सम हो जाती है, तब फिर वासनात्मक बुद्धि आप-ही-आप शुद्ध और पवित्र हो जाती है। (३) इस रीति से जिसकी बुद्धि सम और स्थिर हो जाती है, वह स्थितप्रज्ञ पुरुष हमेशा विधि और नियमों से परे रहा करता है। (४) और उसके आचरण तथा उसकी आत्मैक्यबुद्धि से सिद्ध होनेवाले नीति-नियम सामान्य पुरुषों के लिये आदर्श के समान पूजनीय तथा प्रमाणभूत हो जाते हैं; और (५) पिण्ड अर्थात् देह में तथा ब्रह्माण्ड अर्थात् सृष्टि में एक ही आत्मस्वरूपी तत्त्व है, देहान्तर्गत आत्मा अपने शुद्ध और पूर्णस्वरूप (मोक्ष) को प्राप्त कर लेने के लिये सदा उत्सुक रहता है, तथा इस शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर सब प्राणियों के विषय में आत्मौपम्यदृष्टि हो जाती है। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि ब्रह्म, आत्मा, माया, आत्मस्वातंत्र्य, ब्रह्मात्मैक्य, कर्मविपाक इत्यादि विषयों पर हमारे वेदान्तशास्त्र के जो सिद्धान्त हैं, वे कान्ट और ग्रीन के सिद्धान्तों से भी बहुत आगे बढ़े हुए तथा अधिक निश्चित हैं। इसलिये उपनिषदान्तर्गत वेदान्त के आधार पर किया हुआ गीता का कर्मयोग-विवेचन आध्यात्मिक दृष्टि से असंदिग्ध, पूर्ण तथा दोषरहित हुआ है; और आजकल के वेदान्ती जर्मन पंडित प्रोफेसर डायसन ने नीतिविवेचन की इसी पद्धति को अपने "अध्यात्म-शास्त्र के मूलतत्त्व" नामक ग्रंथ में स्वीकार किया है। डायसन शोपेनहर का अनुयायी है; उसे शोपेनहर का यह सिद्धान्त पूर्णतया मान्य है, कि 'संसार का

* Greens *Prolegomena to Ethics*, § § 199. 74-179 and 223-232.

मूलकारण वासना ही है। इसलिये उसका क्षय किये बिना दुःख की निवृत्ति होना असम्भव है; अतएव वासना का क्षय करना ही प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।" और इसी आध्यात्मिक सिद्धान्तद्वारा नीति की उपपत्ति का विवेचन उसने अपने उक्त ग्रंथ के तीसरे भाग में स्पष्ट रीति से किया है। उसने पहले यह सिद्ध कर दिखलाया है, कि वासना का क्षय होने के लिये--या हो जाने पर भी--कर्मों को छोड़ देने की आवश्यकता नहीं है; बल्कि 'वासना का पूरा क्षय हुआ है, कि नहीं' यह बात परोपकारार्थ किये गये निष्कामकर्म से जैसे प्रगट होती है, वैसे अन्य किसी भी प्रकार से व्यक्त नहीं होती। अतएव निष्कामकर्म वासनाक्षय का ही लक्षण और फल है। इसके बाद उसने यह प्रतिपादन किया है, कि वासना की निष्कामता ही सदाचरण और नीतिमत्ता का भी मूल है; और इसके अन्त में गीता का "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर" (गी. ३· १९) यह श्लोक दिया है। * इससे मालूम होता है, कि डायसन को इस उपपत्ति का ज्ञान गीता से ही हुआ होगा। जो हो; यह बात कुछ कम गौरव की नहीं, कि डायसन, ग्रीन, शोपेनहर और कान्टके पूर्व--अधिक क्या कहें; अरिस्टाटलके भी सैकड़ों वर्ष पूर्व--ही ये विचार हमारे देश में प्रचलित हो चुके थे। आजकल बहुतेरे लोगों की यह समझ हो रही है, कि वेदान्त केवल एक ऐसा कोरा बखेड़ा है; जो हमें इस संसार को छोड़ देने और मोक्ष की प्राप्ति करनेका उपदेश देता है। परन्तु यह समझ ठीक नहीं। संसार में जो कुछ आँखोंसे दिख रहा है, उसके आगे विचार करने पर ये प्रश्न उठा करते हैं, कि "मैं कौन हूँ? इस सृष्टि की जड़ में कौन-सा तत्त्व है? इस तत्त्व से मेरा क्या सम्बन्ध ह? इस सम्बन्ध पर ध्यान दे कर इस संसार में मेरा परम साध्य या अन्तिम ध्येय क्या है? इस साध्य या ध्येय को प्राप्त करने के लिये मुझे जीवनयात्रा के किस मार्ग को स्वीकार करना चाहिये, अथवा किस मार्ग से कौन-सा ध्येय सिद्ध होगा?" और इन गहन प्रश्नों का यथाशक्ति शास्त्रीय रीति से विचार करने के लिये वेदान्तशास्त्र प्रवृत्त हुआ है; बल्कि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो यह मालूम होगा, कि समस्त नीतिशास्त्र अर्थात् मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार का विचार, उस गहन शास्त्र का ही एक अंग है। सारांश यह है, कि कर्मयोग की उपपत्ति वेदान्तशास्त्र ही के आधार पर की जा सकती है, और अब संन्यासमार्गीय लोग चाहे कुछ भी कहें, परन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि गणितशास्त्र के जैसे--शुद्ध गणित और व्यावहारिक गणित--दो भेद हैं, उसी प्रकार वेदान्तशास्त्र के भी दो भाग--अर्थात् शुद्ध वेदान्त और नैतिक अथवा व्यावहारिक वेदान्त--होते हैं। कान्ट तो यहाँ तक कहता है, कि मनुष्य के मन में 'परमेश्वर' (परमात्मा). 'अमृतत्व' और '(इच्छा)'स्वातंत्र्य' के सम्बन्ध के गूढ विचार इस नीतिप्रश्न का विचार करते करते ही उत्पन्न हुए हैं, कि "मैं संसार में किस

* See Deussen's Elements of Metaphysics Eng. trans. 1909. p. 304.

तरह से बर्ताव करूँ या संसार में मेरा सच्चा कर्तव्य क्या है ? "और ऐसे प्रश्नों का उत्तर न देकर नीति की उपपत्ति केवल किसी बाह्यसुख की दृष्टिसे ही बतलाना मानों मनुष्य के मन की उस पशुवृत्ति को--जो स्वभावतः विषयसुख में लिप्त रहा करती है--उत्तेजित करना एवं सच्ची नीतिमत्ता की जड़ पर ही कुल्हाड़ी मारना है *। अब इस बात को अलग करके समझाने की कोई आवश्यकता नहीं, कि यद्यपि गीता का प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग ही है, तो भी उसमें शुद्ध वेदान्त क्यों और कैसे आ गया। कान्ट ने इस विषय पर " शुद्ध (व्यवसायात्मक) बुद्धि की मीमांसा " और " व्यावहारिक (वासनात्मक) बुद्धि की मीमांसा " नामक दो अलग अलग ग्रन्थ लिखे हैं। परन्तु हमारे औपनिषदिक तत्त्वज्ञान के अनुसार भगवद्गीता ही में इन दोनों विषयों का समावेश किया गया है; बल्कि श्रद्धामूलक भक्तिमार्ग का भी विवेचन उसी में होने के कारण गीता सब से अधिक ग्राह्य और प्रमाणभूत हो गई है।

मोक्षधर्म को क्षणभर के लिये एक ओर रख कर केवल कर्मअकर्म की परीक्षा के नैतिक तत्त्व की दृष्टि से भी जब ' साम्यबुद्धि ' ही श्रेष्ठ सिद्ध होती है; तब यहाँ पर इस बात का भी थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहिये, कि गीता के आध्यात्मिक पक्ष को छोड़ कर नीतिशास्त्रों में अन्य दूसरे पन्थ कैसे और क्यों निर्माण हुए ? डाक्टर पाल कारस ** नामक एक प्रसिद्ध अमेरिकन ग्रन्थकार अपने नीतिशास्त्र-

---

*Empiricism, on the contrary cuts up at the roots the morality of intentions (in which, and not in actions only consists the high worth that men can and ought to give themselves) ...Empiricism, moreover, being on this account allied with all the inclinations which (no matter what fashion they put on) degrade humanity when they are raised to the dignity of a supreme practical principle,...is for that reason much more dangerous." Kant's *Theory of Ethics*, pp. 163, and 236–238. See also Kant's *Critique of Pure Reason*, (trans. by MaxMuller) 2nd Ed. pp 640-657.

** See the Ethical Problem, by Dr. Carus, 2nd Ed. p. 111. " Our proposition is that the leading principle in ethics must be derived from the Philosophical view back of it. The world-conception a man has, can alone give character to the principle in his ethics. Without any world-conception we can have no ethics (i. e. ethics in the highest sense of the word). We may act morally like dreamers or somnambulists; but our ethics would in that case be a mere moral instinct without any rational insight into its raison d'etre."

विषयक ग्रन्थ में इस प्रश्न का यह उत्तर देता है, कि " पिण्डब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध में मनुष्य की जैसी समझ (राय) होती है, उसी तरह नीतिशास्त्र के मूलतत्त्वों के सम्बन्ध में उसके विचारों का रङ्ग बदलता रहता है। सच पूछो तो, पिण्डब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ निश्चित मत हुए बिना नैतिक प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता। पिण्डब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध में कुछ पक्का मत न रहने पर भी हम लोगों से कुछ नैतिक आचरण कदाचित् हो सकता है। परन्तु यह आचरण स्वप्नावस्था के व्यापार के समान होगा; इसलिये इसे नैतिक कहने के बदले देहधर्मानुसार होनेवाली केवल एक कायिक क्रिया ही कहना चाहिये। " उदाहरणार्थ, बाघिन अपने बच्चों की रक्षा के लिये प्राण देने को तैयार हो जाती है; परन्तु इसे हम उसका नैतिक आचरण न कह कर उसका जन्मसिद्ध स्वभाव ही कहते हैं। इस उत्तर से इस बात का अच्छी तरह स्पष्टीकरण हो जाता है, कि नीतिशास्त्र के उपपादन में अनेक पन्थ क्यों हो गये हैं। इसमें कुछ सन्देह नहीं, कि " मैं कौन हूँ, यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ, मेरा इस संसार में क्या उपयोग हो सकता है ? " इत्यादि गूढ प्रश्नों का निर्णय जिस तत्त्व से हो सकेगा, उसी तत्त्व के अनुसार प्रत्येक विचारवान् पुरुष इस बात का भी निर्णय अवश्य करेगा, कि मुझे अपने जीवनकाल में अन्य लोगों के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये। परन्तु इन गूढ प्रश्नों का उत्तर भिन्न भिन्न काल में तथा भिन्न भिन्न देशों में एक ही प्रकार का नहीं हो सकता। युरोपखण्ड में जो ईसाईधर्म प्रचलित है, उसमें यह वर्णन पाया जाता है, कि मनुष्य और सृष्टि का कर्ता बाइबल में वर्णित सगुण परमेश्वर है; और उसी ने पहले पहल संसार को उत्पन्न करके सदाचरण के नियमादि बनाकर मनुष्यों को शिक्षा दी है; तथा आरम्भ में ईसाई पण्डितों का भी यही अभिप्राय था, कि बाइबल में वर्णित पिण्डब्रह्माण्ड की इस कल्पना के अनुसार बाइबल में कहे गये नीतिनियम ही नीतिशास्त्र के मूलतत्त्व हैं। फिर जब यह मालूम होने लगा, कि ये नियम व्यावहारिक दृष्टि से अपूर्ण हैं; तब इनकी पूर्ति करने के लिये अथवा स्पष्टीकरणार्थ यह प्रतिपादन किया जाने लगा, कि परमेश्वर ही ने मनुष्य को सदसद्विवेकशक्ति दी है। परन्तु अनुभव से फिर यह अड़चन दिख पड़ने लगी, कि चोर और साह दोनों की सदसद्विवेकशक्ति एक समान नहीं रहती; तब इस मत का प्रचार होने लगा, कि परमेश्वर की इच्छा नीतिशास्त्र की नींव भले ही हो। परन्तु इस ईश्वरी इच्छा के स्वरूप को जानने के लिये केवल इसी एक बात का विचार करना चाहिये, कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख किसमें है--इसके सिवा परमेश्वर की इच्छा को जानने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। पिण्डब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध में ईसाई लोगों की जो यह समझ है--कि बाइबल में वर्णित सगुण परमेश्वर ही संसार का कर्ता है; और यह उसकी ही इच्छा या आज्ञा है, कि मनुष्य नीति के नियमानुसार बर्ताव करें--उसी के आधार पर उक्त सब मत प्रचलित हुए हैं। परंतु आधिभौतिक शास्त्रों की उन्नति तथा वृद्धि होने पर जब यह मालूम होने लगा, कि

ईसाई धर्मपुस्तकों में पिंडब्रह्मांड की रचना के विषय में कहे गये सिद्धान्त ठीक नहीं हैं; तब यह विचार छोड़ दिया गया, कि परमेश्वर के समान कोई सृष्टि का कर्ता है या नहीं; और यही विचार किया जाने लगा, कि नीतिशास्त्र की इमारत प्रत्यक्ष दिखनेवाली बातों की नींव पर क्योंकर खड़ी की जा सकती है। तब से फिर यह माना जाने लगा, कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख या कल्याण, अथवा मनुष्यत्व की वृद्धि, येही दृश्यतत्त्व नीतिशास्त्र के मूलकारण हैं। इस प्रतिपादन में इस बात की किसी उपपत्ति या कारण का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, कि कोई मनुष्य अधिकांश लोगों का अधिक हित क्यों करे? सिर्फ़ इतना ही कह दिया जाता है, कि यह मनुष्य की नित्य बढ़नेवाली एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। परन्तु मनुष्य-स्वभाव में स्वार्थ सरीखी और भी दूसरी वृत्तियाँ देख पड़ती हैं। इसलिये इस पंथ में भी फिर भेद होने लगे। नीतिमत्ता की ये सब उपपत्तियाँ कुछ सर्वथा निर्दोष नहीं हैं। क्योंकि, उक्त पंथों के सभी पंडितों में "सृष्टि के दृश्यपदार्थों से परे सृष्टि की जड़ में कुछ-न-कुछ अव्यक्त तत्त्व अवश्य है," इस सिद्धान्त पर एक ही सा अविश्वास और अश्रद्धा है। इस कारण उनके विषयप्रतिपादन में चाहे कुछ भी अड़चन क्यों न हो; वे लोग केवल बाह्य और दृश्यतत्त्वों से ही किसी तरह निर्वाह कर लेने का हमेशा प्रयत्न किया करते हैं। नीति तो सभी को चाहिये; क्योंकि वह सब के लिये आवश्यक है। परन्तु उक्त कथन से यह मालूम हो जायगा, कि पिंड-ब्रह्मांड की रचना के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मत होने के कारण उन लोगों की नीतिशास्त्रविषयक उपपत्तियों में हमेशा कैसे भेद हो जाया करते हैं। इसी कारण से पिंडब्रह्मांड की रचना के विषय में आधिभौतिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक मतों के अनुसार हमने नीतिशास्त्र के प्रतिपादन के (तीसरे प्रकरण में) तीन भेद किये हैं; और आगे फिर प्रत्येक पंथ के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का भिन्न भिन्न विचार किया है। जिनका यह मत है, कि सगुण परमेश्वर ने सर्व दृश्यसृष्टि को बनाया है, वे नीतिशास्त्र का केवल यहीं तक विचार करते हैं, कि अपने धर्मग्रन्थों में परमेश्वर की जो आज्ञा है वह, तथा परमेश्वर की सत्ता से निर्मित सदसद्विवेचनशक्तिरूप देवता ही सब कुछ है—इसके बाद और कुछ नहीं है। इसको हमने 'आधिदैविक' पन्थ कहा है। क्योंकि सगुण परमेश्वर भी तो एक देवता ही है न। अब जिनका यह मत है, कि दृश्यसृष्टि का आदिकारण कोई भी अदृश्य मूलतत्त्व नहीं है; और यदि हो भी, तो वह मनुष्य की बुद्धि के लिये अगम्य है। वे लोग 'अधिकांश लोगों का अधिक कल्याण' या 'मनुष्यत्व का परम उत्कर्ष' जैसे केवल दृश्यतत्त्व द्वारा ही नीतिशास्त्र का प्रतिपादन किया करते हैं; और यह मानते हैं, कि इस बाह्य और दृश्यतत्त्व के परे विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पन्थ को हमने 'अधिभौतिक' नाम दिया है। जिनका यह सिद्धान्त है, कि नामरूपात्मक दृश्यसृष्टि की जड़ में आत्मा सरीखा कुछ-न-कुछ नित्य और अव्यक्त तत्त्व अवश्य है, वे लोग अपने नीतिशास्त्र की

उपपत्ति को आधिभौतिक उपपत्ति से भी परे ले जाते हैं; और आत्मज्ञान तथा नीति या धर्म का मेल करके इस बात का निर्णय करते हैं, कि संसार में मनुष्य का सच्चा कर्तव्य क्या है। इस पन्थ को हमने 'आध्यात्मिक' कहा है। इन तीनों पन्थों में आचार-नीति एक ही है; परन्तु पिण्डकी रचना के सम्बन्ध में प्रत्येक पन्थ का मत भिन्न भिन्न है। इससे नीतिशास्त्र के मूलतत्त्वों का स्वरूप हर एक पन्थ में थोड़ा थोड़ा बदलता गया है। यह बात प्रगट है, कि व्याकरणशास्त्र कोई नई भाषा नहीं बनाता; किन्तु जो भाषा व्यवहार में प्रचलित रहती है, उसी के नियमों की वह खोज करता है; और भाषा की उन्नति में सहायक होता है। ठीक यही हाल नीतिशास्त्र का भी है। मनुष्य इस संसार में जब से पैदा हुआ है, उसी दिन से वह स्वयं अपनी ही बुद्धि से अपने आचरण को देशकालानुसार शुद्ध रखने का प्रयत्न भी करता चला आया है; और, समय समय पर जो प्रसिद्ध पुरुष या महात्मा हो गये हैं, उन्हों ने अपनी अपनी समझ के अनुसार आचारशुद्धि के लिये, 'चोदना' या प्रेरणारूपी अनेक नियम भी बना दिये हैं। नीतिशास्त्र की उत्पत्ति कुछ इस लिये नहीं हुई है, कि वह इन नियमों को तोड़ कर नये नियम बनाने लगे। हिंसा मत कर, सच बोल, परोपकार कर, इत्यादि नीति के नियम प्राचीन काल से ही चलते आये हैं। अब नीतिशास्त्र का सिर्फ़ यही देखने का काम है, कि नीति की यथोचित वृद्धि होने के लिये सब नीति-नियमों में मूलतत्त्व क्या है। यही कारण है, कि जब हम नीतिशास्त्र के किसी भी पन्थ को देखते हैं, तब हम वर्तमान प्रचलित नीति के प्रायः सब नियमों को सभी पन्थों में एक-से पाते हैं; उनमें जो कुछ भेद दिखलाई पडता है, वह उपपत्ति के स्वरूपभेद के कारण है; और इसलिये डॉ० पाल कारस का यह कथन सच मालूम होता है, कि इस भेद के होने का मुख्य कारण यही है, कि हरएक पन्थ में पिण्डब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मत हैं।

अब यह बात सिद्ध हो गई कि मिल, स्पेन्सर, कान्ट आदि आधिभौतिक पन्थ के आधुनिक पाश्चात्य नीतिशास्त्रविषयक ग्रन्थकारों ने आत्मौपम्यदृष्टि के सुलभ तथा व्यापक तत्त्व को छोड़कर, "सर्वभूतहित" या "अधिकांश लोगों का अधिक हित" जैसे आधिभौतिक और बाह्यतत्त्व पर ही नीतिमत्ता को स्थापित करने का जो प्रयत्न किया है वह इसी लिये किया है, कि पिण्डब्रह्माण्ड-सम्बन्धी उनके मत प्राचीन मतों से भिन्न हैं। परन्तु जो लोग उक्त नूतन मतों को नहीं मानते; और जो इन प्रश्नों का स्पष्ट तथा गंभीर विचार कर लेना चाहते हैं, कि "मैं कौन हूँ? सृष्टि क्या है? मुझे इस सृष्टि का ज्ञान कैसे होता है? जो सृष्टि मुझ से बाहर है, वह स्वतंत्र है या नहीं? यदि है, तो उसका मूलतत्त्व क्या है? इस तत्त्व से मेरा क्या सम्बन्ध है? एक मनुष्य दूसरे के सुख के लिये अपनी जान क्यों देवें?" 'जो जन्म लेता है, वे मरते भी हैं' इस नियम के अनुसार यदि यह बात निश्चित है, कि जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, उसका और उसके साथ समस्त प्राणियों का

तथा हमारा भी किसी दिन अवश्य नाश हो जायगा; तो नाशवान् भविष्य पीढ़ियों के लिये हम अपने सुख का नाश क्यों करें ?"––अथवा, जिन लोगों का केवल इस उत्तर से पूरा समाधान नहीं होता, कि " परोपकार आदि मनोवृत्तियाँ इस कर्ममय, अनित्य और दृश्यसृष्टि की नैसर्गिक प्रवृत्ति ही हैं ", और जो यह जानना चाहते हैं, कि इस नैसर्गिक प्रवृत्ति का मूलकारण क्या है––उनके लिये अध्यात्मशास्त्र के नित्यतत्त्वज्ञान का सहारा लेने के सिवा और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। और, इसी कारण से ग्रीन ने अपने नीतिशास्त्र के ग्रन्थ का आरम्भ इसी तत्त्व के प्रतिपादन से किया है, कि जिस आत्मा को जड़सृष्टि का ज्ञान होता है, वह आत्मा जडसृष्टि से अवश्य ही भिन्न होगा; और कान्ट ने पहले व्यवसायात्मक बुद्धि का विवेचन करके फिर वासनात्मक बुद्धि की तथा नीतिशास्त्र की मीमांसा की है। ' मनुष्य अपने सुख के लिये या अधिकांश लोगों को सुख देने के लिये पैदा हुआ है '––यह कथन ऊपर ऊपर से चाहे कितना ही मोहक तथा उत्तम दिखे, परन्तु वस्तुतः यह सच नहीं है। यदि हम क्षणभर इस बात का विचार करें, कि जो महात्मा केवल सत्य के लिये प्राणदान करने को तैयार रहते हैं, उनके मन में क्या यही हेतु रहता है, कि भविष्य पीढ़ी के लोगों को अधिकाधिक विषयसुख होवें; तो यही कहना पड़ता है, कि अपने तथा अन्य लोगों के अनित्य आधिभौतिक सुखों की अपेक्षा इस संसार में मनुष्य का और भी कुछ दूसरा अधिक महत्त्व का परम साध्य या उद्देश अवश्य है। यह उद्देश क्या है ? जिन्हों ने पिण्डब्रह्माण्ड के नामरूपात्मक, (अतएव) नाशवान्, (परन्तु) दृश्यस्वरूप से आच्छादित आत्मस्वरूपी नित्यतत्त्व को अपनी आत्मप्रतीति के द्वारा जान लिया है, वे लोग उक्त प्रश्न का यह उत्तर देते हैं, कि अपने आत्मा के अमर, श्रेष्ठ, शुद्ध, नित्य तथा सर्वव्यापी स्वरूप की पहचान करके उसी में रम रहना ज्ञानवान् मनुष्य का इस ज्ञानवान् संसार में पहला कर्तव्य है। जिसे सर्वभूतान्तर्गत आत्मैक्य की इस तरह से पहचान हो जाती है, तथा यह ज्ञान जिसकी देह तथा इन्द्रियों में समा जाता है, वह पुरुष इस बात के सोच में पड़ा नहीं रहता, कि यह संसार झूठ है या सच। किन्तु वह सर्वभूतहित के लिये उद्योग करने में आप-ही-आप प्रवृत्त हो जाता है; और सत्य मार्ग का अग्रेसर बन जाता है। क्योंकि उसे यह पूरी तौर से मालूम रहता है, कि अविनाशी तथा त्रिकाल अबाधित सत्य कौन-सा है। मनुष्य की यही आध्यात्मिक पूर्णावस्था सब नीति–नियमों का मूल उद्गमस्थान है; और इसे ही वेदान्त में ' मोक्ष ' कहते हैं। किसी भी नीति को लीजिये; वह इस अन्तिम साध्य से अलग नहीं हो सकती। इसलिये नीतिशास्त्र का या कर्मयोगशास्त्र का विवेचन करते समय आखिर इसी तत्त्व की शरण में जाना पड़ता है। सर्वात्मैक्यरूप अव्यक्त मूलतत्त्व का ही एक व्यक्तस्वरूप सर्वभूतहितेच्छा है; और, सगुण परमेश्वर तथा दृश्यसृष्टि दोनों उस आत्मा के ही व्यक्तस्वरूप हैं; जो सर्वभूतान्तर्गत, सर्वव्यापी और अव्यक्त है। इस व्यक्त स्वरूप के आगे गये बिना अर्थात् अव्यक्त आत्मा

का ज्ञान प्राप्त किये बिना, ज्ञान की पूर्ति तो होती ही नहीं; किन्तु इस संसार में हर एक मनुष्य का जो यह परम कर्तव्य है, कि शरीरस्थ आत्मा को पूर्णावस्था में पहुँचा दे; वह भी इस ज्ञान के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। चाहे नीति को लीजिये, व्यवहार को लीजिये, धर्म को लीजिये अथवा किसी भी दूसरे शास्त्र को लीजिये; अध्यात्मज्ञान ही सब की अ न्तम गति ह--जैसे कहा है "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।" हमारा भक्तिमार्ग भी इसी तत्त्वज्ञान का अनुसरण करता है। इसलिये उसमें भी यही सिद्धांत स्थिर रहता है, कि ज्ञानदृष्टि से निष्पन्न होनेवाला साम्यबुद्धिरूपी तत्त्व ही मोक्षका तथा सदाचरण का मूलस्थान है। वेदान्तशास्त्र से सिद्ध होनेवाले इस तत्त्व पर एक ही महत्त्वपूर्ण आक्षेप किया जा सकता है। वह यह है, कि कुछ वेदान्ती ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर सब कर्मों का संन्यास कर देना उचित मानते हैं; इसीलिये यह दिखला कर--कि ज्ञान और कर्म में विरोध नहीं है--गीता में कर्मयोग के इस सिद्धान्त का विस्तारसहित वर्णन किया गया है, कि वासना का क्षय होने पर भी ज्ञानी पुरुष अपने सब कर्मों को परमेश्वरार्पणपूर्वक बुद्धि से लोकसंग्रह के लिये केवल कर्तव्य समझ कर ही करता चला जावे। अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये उपदेश अवश्य दिया गया है, कि तू परमेश्वर को सब कर्म समर्पण करके युद्ध कर; परन्तु यह उपदेश केवल तत्कालीन प्रसंग को देख कर ही किया गया है (गी. ८. ७.)। उक्त उपदेश का भावार्थ यही मालूम होता है, कि अर्जुन के समान ही किसान, सुनार, लोहार, बढ़ई, बनिया, ब्राह्मण, व्यापारी, लेखक, उद्यमी इत्यादि सभी लोग अपने अपने अधिकारानुरूप व्यवहारों को परमेश्वरार्पणबुद्धि से करते हुए संसार का धारणपोषण करते रहें। जिसे जो रोज़गार निसर्गतः प्राप्त हुआ है, उसे यदि वह निष्कामबुद्धि से करता रहे, तो उस कर्ता को कुछ भी पाप नहीं लगेगा। सब कर्म एक ही से हैं। दोष केवल कर्ता की बुद्धि में है, न कि उसके कर्मों में। अतएव बुद्धि को सम कर के यदि सब कर्म किये जायँ, तो परमेश्वर की उपासना हो जाती है, पाप नहीं लगता; और अंत में सिद्धि भी मिल जाती है। परन्तु जिन (विशेषतः अर्वाचीन काल के) लोगों का यह दृढ संकल्प-सा हो गया है, कि चाहे कुछ भी हो जाय; इस नाशवान् दृश्यसृष्टि के आगे बढ़ कर आत्म-अनात्म-विचार के गहरे पानी में पैठना ठीक नहीं है। वे अपने नीतिशास्त्र का विवेचन, ब्रह्मात्मैक्यरूप परमसाध्य की उच्च श्रेणी को छोड़ कर, मानवजाति का कल्याण या सर्वभूतहित जैसे निम्न कोटि के आधिभौतिक दृश्य (परन्तु अनित्य) तत्त्व से ही शुरू किया करते हैं। स्मरण रहे, कि किसी पेड़ की चोटी को तोड़ देने से वह नया पेड़ नहीं कहलाता; उसी तरह आधिभौतिक पंडितों का निर्माण किया हुआ नीतिशास्त्र भोंडा या अपूर्ण भले ही हो; परन्तु वह नया नहीं हो सकता। ब्रह्मात्मैक्य को न मानकर प्रत्येक पुरुष को स्वतंत्र माननेवाले हमारे यहाँ के सांख्यशास्त्रज्ञ पंडितों ने भी, यही देख कर--कि दृश्यजगत् का धारणपोषण और विनाश किन गुणों के द्वारा होता है--सत्त्व-रज-तम तीनों

गुणों के लक्षण निश्चित किये हैं; और फिर प्रतिपादन किया है, कि इनमें से सात्त्विक सद्‌गुणों का परम उत्कर्ष करना ही मनुष्य का कर्तव्य है। तथा मनुष्य को इसी से अन्त में त्रिगुणातीत अवस्था मिल कर मोक्ष की प्राप्ति होती है। भगवद्‌गीता के सत्रहवें तथा अठारहवें अध्याय में थोड़े भेद के साथ इसी अर्थ का वर्णन है*। सच देखा जाय, तो क्या सात्त्विक सद्‌गुणों का परम उत्कर्ष, और (आधिभौतिक-वाद के अनुसार) क्या परोपकारबुद्धि की तथा मनुष्यत्व की वृद्धि, दोनों का अर्थ एक ही है। महाभारत और गीता में इन सब आधिभौतिक तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख तो है ही; बल्कि महाभारत में यह भी साफ़ साफ़ कहा गया है, कि धर्मअधर्म के नियमों के लौकिक या बाह्य उपयोग का विचार करने पर यही जान पड़ता है, कि ये नीतिधर्म सर्वभूतहितार्थ अर्थात् लोककल्याणार्थ ही हैं। परन्तु पश्चिमी आधिभौतिक पण्डितों का किसी अव्यक्त तत्त्व पर विश्वास नहीं है। इसलिये यद्यपि वे जानते हैं, कि तात्त्विक दृष्टि से कार्य-अकार्य का निर्णय करने के लिये आधि-भौतिक तत्त्व पूरा काम नहीं देते; तो भी वे निरर्थक शब्दों का आडम्बर बढ़ाकर व्यक्त तत्त्व से ही अपना निर्वाह किसी तरह कर लिया करते हैं। गीता में ऐसा नहीं किया गया है। किन्तु इन तत्त्वों की परम्परा को पिण्डब्रह्माण्ड के मूल अव्यक्त तथा नित्यतत्त्व को ले जाकर मोक्ष, नीतिधर्म, और व्यवहार (इन तीनों) की भी पूरी एकवाक्यता तत्त्वज्ञान के आधार से गीता में भगवान् ने सिद्ध कर दिखाई है। और इसीलिये अनुगीता के आरंभ में स्पष्ट कहा गया है, कि कार्य-अकार्य-निर्णयार्थ जो धर्म बतलाया गया है, वही मोक्षप्राप्ति करा देने के लिये भी समर्थ है (म. भा. अश्व. १६. १२)। जिनका यह मत होगा, कि मोक्षधर्म और नीतिशास्त्र को अथवा अध्यात्मज्ञान और नीति को एक में मिला देने की आवश्यकता नहीं है, उन्हें उक्त उपपादन का महत्त्व ही मालूम नहीं हो सकता। परन्तु जो लोग इसके सम्बन्ध में उदासीन नहीं हैं, उन्हें निस्सन्देह यह मालूम हो जायगा, कि गीता में किया गया कर्मयोग का प्रतिपादन आधिभौतिक विवेचन की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ तथा ग्राह्य है। अध्यात्मज्ञान की वृद्धि प्राचीन काल में हिंदुस्थान में जैसी हो चुकी है वैसी और कहीं भी नहीं हुई। इसलिये पहले पहल किसी अन्य देश में, कर्मयोग के ऐसे आध्यात्मिक उपपादन का पाया जाना बिलकुल सम्भव नहीं--और, यह विदित ही है, कि ऐसा उपपादन कहीं पाया भी नहीं जाता।

यह स्वीकार होने पर भी--कि इस संसार के अशाश्वत होने के कारण इस में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है (गी. ९. ३३)--गीता में जो यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है, कि "कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः"-अर्थात्, सांसारिक कर्मों का कभी-न-

* बाबू किशोरीलाल सरकार एम्. ए., बी. एल्. ने The Hindu System of Moral Science नामक जो एक छोटा-सा ग्रन्थ लिखा है, वही इसी ढँग का है; अर्थात् उसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों के आधार पर विवेचन किया गया है।

कभी संन्यास करने की अपेक्षा उन्हीं कर्मों को निष्कामबुद्धि से लोककल्याण के लिये करते रहना अधिक श्रेयस्कर है (गी. ३. ८; ५. २)—उसके साधक तथा बाधक कारणों का विचार ग्यारहवें प्रकरण में किया जा चुका है। परन्तु गीता में कहे गये इस कर्मयोग की पश्चिमीय कर्ममार्ग से अथवा पूर्वी संन्यासमार्ग की पश्चिमी कर्मत्याग-पक्ष से, तुलना करते समय उक्त सिद्धान्त का कुछ अधिक स्पष्टीकरण करना आवश्यक मालूम होता है। यह मत वैदिक धर्म में पहले पहल उपनिषत्कारों तथा सांख्यवादियों द्वारा प्रचलित किया गया है, कि दुःखमय तथा निस्सार संसार से बिना निवृत्त हुए मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके पूर्व का वैदिकधर्म प्रवृत्तिप्रधान अर्थात् कर्मकाण्डात्मक ही था। परन्तु, यदि वैदिकधर्म को छोड़ अन्य धर्मों का विचार किया जाय, तो यह मालूम होगा, कि उनमें से बहुतों ने आरंभ से ही संन्यासमार्ग को स्वीकार कर लिया था। उदाहरणार्थ, जैन और बौद्ध धर्म पहले ही से निवृत्तिप्रधान हैं; और ईसामसीह का भी वैसा ही उपदेश है। बुद्ध ने अपने शिष्यों को यही अन्तिम उपदेश दिया है, कि "संसार का त्याग करके यतिधर्म से रहना चाहिये। स्त्रियों की ओर देखना नहीं चाहिये; और उनसे बातचीत भी नहीं करना चाहिये" (महापरिनिब्बाण सुत्त ५. २३); ठीक इसी तरह मूल ईसाईधर्म का भी कथन है। ईसा ने यह कहा है सही, कि "तू अपने पड़ोसी पर अपने ही समान प्यार कर" (मेथ्यू. १९. १९); और, पाल का भी कथन है, कि "तू जो कुछ खाता, पीता या करता है, वह सब ईश्वर के लिये कर" (१ कारि. १०. ३१); और ये दोनों उपदेश ठीक उसी तरह के हैं, जैसा कि गीता में आत्मौपम्यबुद्धि से ईश्वरार्पणपूर्वक कर्म करने को कहा गया है (गीता ६. २९ और ९. २७)। परन्तु केवल इतने ही से यह सिद्ध नहीं होता, कि ईसाईधर्म गीताधर्म के समान प्रवृत्तिप्रधान है। क्योंकि ईसाईधर्म में भी अन्तिम साध्य यही है, कि मनुष्य को अमृतत्व मिले तथा वह मुक्त हो जावे। और उसमें यह भी प्रतिपादन किया गया है, कि यह स्थिति घरदार त्यागे बिना प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव ईसामसीह के मूलधर्म को संन्यासप्रधान ही कहना चाहिये। स्वयं ईसामसीह अंत तक अविवाहित रहे। एक समय एक आदमी ने उनसे प्रश्न किया, कि "माँ-बाप तथा पड़ोसियों पर प्यार करने से धर्म का मैं अब तक पालन करता चला आया हूँ। अब मुझे यह बतलाओ, कि अमृतत्व मिलने में क्या कसर है ?" तब तो ईसाने साफ़ उत्तर दिया है, कि "तू अपने घरदार को बेच दे या किसी ग़रीब को दे डाल; और मेरा भक्त बन" (मेथ्यू. १९. १६–३० और मार्क १९. २१–३१); और वे तुरन्त अपने शिष्यों की ओर देख उससे कहने लगे कि "सुई के छेद से ऊँट भले ही निकल जाय; परन्तु ईश्वर के राज्य में किसी धनवान् का प्रवेश होना कठिन है।" यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं देख पड़ती, कि यह उपदेश याज्ञवल्क्य के इस उपदेश की नक़ल है, कि जो उन्होंने मैत्रेयी को किया था। वह उपदेश यह है—"अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" (बृ. २

४. २) अर्थात् द्रव्य से अमृतत्व मिलने की आशा नहीं है। गीता में कहा गया है, कि अमृतत्व प्राप्त करने के लिये सांसारिक कर्मों को छोड़ने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि उन्हें निष्कामबुद्धि से करते ही रहना चाहिये; परन्तु ऐसा उपदेश ईसा ने कहीं भी नहीं किया है। इसके विपरीत उन्होंने यही कहा है, कि सांसारिक संपत्ति और परमेश्वर के बीच चिरस्थायी विरोध है (मेथ्यू. ६. २४), इस लिये " माँ-बाप, घर-द्वार, स्त्री-बच्चे और भाई-बहिन एवं स्वयं अपने जीवन का भी द्वेष कर के जो मनुष्य मेरे साथ नहीं रहता, वह मेरा भक्त कभी हो नहीं सकता " (ल्यूक. १४. २६–३३)। ईसा के शिष्य पाल का भी स्पष्ट उपदेश है, कि " स्त्रियों का स्पर्श तक भी न करना सर्वोत्तम पक्ष है " (१. कारिं. ७. १) इसी प्रकार हम पहले ही कह आये हैं, कि ईसा के मुँह के निकले हुए- " हमारी जन्मदात्री* माता, हमारी कौन होती है ? हमारे आसपास के ईश्वरभक्त ही हमारे माँ-बाप और बन्धु हैं " (मेथ्यू. १२. ४६–५०)––इस वाक्य में, और " किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः " इस बृहदारण्यकोपनिषद् के संन्यासविषयक वचन में (बृ. ४. ४. २२) बहुत कुछ समानता है। स्वयं बाइबल के ही इन वाक्यों से यह सिद्ध होता है, कि जैन और बौद्ध धर्मों के सदृश ईसाई धर्म भी आरम्भ में संन्यासप्रधान अर्थात् संसार को त्याग देने का उपदेश देने-वाला है; और, ईसाईधर्म के इतिहास को देखने से भी यही मालूम होता है,** कि ईसा के इस उपदेशानुसार ही पहले ईसाई धर्मोपदेशक वैराग्य से रहा करते थे—

*यह तो संन्यासमार्गियों का हमेशा ही का उपदेश है। शंकराचार्य का " का ते कान्ता कस्ते पुत्रः " यह श्लोक प्रसिद्ध ही है; और, अश्वघोष के बुद्धचरित (६. ४५) में यह वर्णन पाया है, कि बुद्ध के मुख से " क्वाहं मातुः क्व सा मम " ऐसा उद्गार निकला था।

** See Paulsen's System of Ethics, (Eng: trans.) Book I. Chap. 2 aud 3; esp. pp. 89–97. " The new (Christian) converts seemed to renounce their family and country......their gloomy and austere aspect, their abhorrence of the common business and pleasures of life, and their frequent predictions of impending calamities inspired the pagans with the apprehension of some danger which would arise from the new sect. " Historians' History of the World, Vol. VI. p. 318. जर्मन कवि गटे ने अपने Faust (फौस्ट) नामक काव्य में यह लिखा है—" Thou shalt renounce! That is the " eternal song which rings in everyone's ears; which, our whole life-long every hour is hoarsely singing to us. " (Faust, Part I. 11. 1195–1198). मूल ईसाईधर्म के संन्यासप्रधान होने के विषय में कितने ही अन्य आधार और प्रमाण दिये जा सकते हैं।

"ईसा के भक्तों को द्रव्यसञ्चय न करके रहना चाहिये" (मेथ्यू १०. ६-१५)। ईसाई धर्मोपदेशकों में तथा ईसा के भक्तों में गृहस्थधर्म से संसार में रहने की जो रीति पाई जाती है, वह बहुत दिनों के बाद होनेवाले सुधारों का फल है—वह मूल ईसाईधर्म का स्वरूप नहीं है। वर्तमान समय में भी शोपेनहर सरीखे विद्वान् यही प्रतिपादन करते हैं, कि संसार दुःखमय होने के कारण त्याज्य है; और, पहले यह बतलाया जा चुका है, कि ग्रीस देश में प्राचीन काल में यह प्रश्न उपस्थित हुआ था, कि तत्त्वविचार में ही अपने जीवन को व्यतीत कर देना श्रेष्ठ है, या लोकहित के लिये राजकीय मामलों में प्रयत्न करते रहना श्रेष्ठ है। सारांश यह है, कि पश्चिमी लोगों का यह कर्मत्याग-पक्ष और हम लोगों का संन्यासमार्ग कई अंशों में एक ही है; और इन मार्गों का समर्थन करने की पूर्वी और पश्चिमी पद्धति भी एक ही सी है। परन्तु आधुनिक पश्चिमी पण्डित कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता के जो कारण बतलाते हैं, वे गीता में दिये गये प्रवृत्तिमार्ग के प्रतिपादन से भिन्न हैं। इसलिये अब इन दोनों के भेद को भी यहाँ पर अवश्य बतलाना चाहिये। पश्चिमी आधिभौतिक कर्मयोगियों का कहना है, कि संसार के मनुष्यों का अथवा अधिकांश लोगों का अधिक सुख—अर्थात् ऐहिक सुख—ही इस जगत् में परम-साध्य है। अतएव सब लोगों के सुख के लिये प्रयत्न करते हुए उसी सुख में स्वयं मग्न हो जाना ही प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। और, इसकी पुष्टि के लिये उनमें से अधिकांश पण्डित यह प्रतिपादन भी करते हैं, कि संसार में दुःख की अपेक्षा सुख ही अधिक है। इस दृष्टि से देखने पर यही कहना पड़ता है, कि पश्चिमी कर्ममार्गीय लोग "सुखप्राप्ति की आशा से सांसारिक कर्म करनेवाले" होते हैं; और पश्चिमी कर्मत्यागमार्गीय लोग "संसार से ऊबे हुए" होते हैं; तथा कदाचित् इसी कारण से उनको क्रमानुसार 'आशावादी' और 'निराशावादी' कहते हैं*। परन्तु भगवद्गीता में जिन दो निष्ठाओं का वर्णन है वे इनसे भिन्न हैं। चाहे स्वयं अपने लिये हो या परोपकार के लिये हो, कुछ भी हो; परन्तु जो मनुष्य ऐहिक विषयसुख पाने की लालसा से संसार के कर्मों में प्रवृत्त होता है, उसकी साम्यबुद्धिरूप सात्त्विक वृत्ति में कुछ-न-कुछ बट्टा अवश्य लग जाता है। इसलिये गीता का यह उपदेश है, कि संसार दुःखमय हो या सुखमय, सांसारिक कर्म जब छूटते ही नहीं; तब उनके सुखदुःख का विचार करते रहने से कुछ लाभ नहीं होगा। चाहे सुख हो

---

* जेम्स सली (James Sulli) ने अपने Pessimism नामक ग्रन्थ में Optimist और Pessimist नामक दो पंथों का वर्णन किया है। इनमें से Optimist का अर्थ 'उत्साही आनन्दित' और Pessimist का अर्थ 'संसार से त्रस्त' होता है; और पहले एक टिप्पणी में बतला दिया गया है, कि ये शब्द गीता के 'योग' और 'सांख्य' के समानार्थक नहीं हैं (देखो पृष्ठ ३०४)। "दुःख-निवारणेच्छुक" नामक जो एक तीसरा पंथ है और जिसका वर्णन आगे किया गया है, उसका सली ने Meliorism नाम रखा है।

या दुःख। परन्तु मनुष्य का यही कर्तव्य है, कि वह इस बात में अपना महद्भाग्य समझे, कि उसे नरदेह प्राप्त हुई है; और कर्मसृष्टि के इस अपरिहार्य व्यवहार में जो कुछ प्रसंगानुसार प्राप्त हो, उसे अपने अन्तःकरण को निराश न करके इस न्याय अर्थात् साम्यबुद्धि से सहता रहे कि " दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः " (गी. २. ५६)। एवं अपने अधिकारानुसार जो कुछ कर्म शास्त्रतः अपने हिस्से में आ पड़े उसे जीवनपर्यन्त (किसी के लिये नहीं; किन्तु संसार के धारणपोषण के लिये) निष्कामबुद्धि से करता रहे। गीताकाल में चातुवर्ण्यव्यवस्था जारी थी। इसीलिये बतलाया गया है, कि ये सामाजिक कर्म चातुवर्ण्य के विभाग के अनुसार हरएक के हिस्से में आ पड़ते हैं; और अठारहवें अध्याय में यह भी बतलाया गया है, कि ये भेद गुणकर्मविभाग से निष्पन्न होते हैं (गी. १८. ४१–४४)। परन्तु इससे किसी को यह न समझ लेना चाहिये, कि गीता के नीति-तत्त्व चातुर्वर्ण्यरूपी समाजव्यवस्था पर ही अवलम्बित हैं। यह बात महाभारत-कार के भी ध्यान में पूर्णतया आ चुकी थी, कि अहिंसादि नीतिधर्मों की व्याप्ति केवल चातुर्वर्ण्य के लिये ही नहीं है; बल्कि ये धर्म मनुष्यमात्र के लिये एक समान हैं। इसीलिये महाभारत में स्पष्ट रीति से कहा गया है, कि चातुर्वर्ण्य के बाहर जिन अनार्य लोगों में ये धर्म प्रचलित हैं, उन लोगों की भी रक्षा राजा को इन सामान्य कर्मों के अनुसार ही करनी चाहिये (शां. ६५. १२–२२)। अर्थात् गीता में कही गई नीति की उपपत्ति चातुर्वर्ण्यसरीखी किसी एक विशिष्ट समाज-व्यवस्था पर अवलम्बित नहीं है; किन्तु सर्वसामान्य आध्यात्मिक ज्ञान के आधार पर ही उसका प्रतिपादन किया गया है। गीता के नीतिधर्म का मुख्य तात्पर्य यही है, कि जो कुछ कर्तव्यकर्म शास्त्रतः प्राप्त हो, उसे निष्काम और आत्मौपम्यबुद्धि से करना चाहिये; और, सब देशों के लोगों के लिये यह एक ही समान उपयोगी है। परन्तु, यद्यपि आत्मौपम्यदृष्टि का और निष्कामकर्माचरण का यह सामान्य नीतितत्त्व सिद्ध हो गया; तथापि इस बात का भी स्पष्ट विचार कर लेना आवश्यक था, कि यह नीतितत्त्व जिन कर्मों को उपयोगी होता है, वे कर्म इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति को कैसे प्राप्त होते हैं। इसे बतलाने के लिये ही, उस समय में उपयुक्त होनेवाले सहज उदाहरण के नाते से गीता में चातुर्वर्ण्य का उल्लेख किया गया है; और, साथ साथ गुणकर्मविभाग के अनुसार समाजव्यवस्था की संक्षेप में उपपत्ति भी बतलाई है। परन्तु इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये, कि वह चातुर्वर्ण्यव्यवस्था ही कुछ गीता का मुख्य भाग नहीं है। गीताशास्त्र का व्यापक सिद्धान्त यही है, कि यदि कहीं चातुर्वर्ण्यव्यवस्था प्रचलित न हो अथवा वह किसी गिरी दशा में हो; तो वहाँ भी तत्कालीन प्रचलित समाजव्यवस्था के अनुसार समाज के धारणपोषण के जो काम अपने हिस्से में आ पड़ें उन्हें लोकसंग्रह के लिये धैर्य और उत्साह से तथा निष्कामबुद्धि से कर्तव्य समझ-कर करते रहना चाहिये। क्योंकि मनुष्य का जन्म उसी काम के लिये हुआ है; न

कि केवल सुखोपभोग के लिये। कुछ लोग गीता के नीतिधर्म को केवल चातुर्वर्ण्यमूलक समझते हैं; लेकिन उनकी यह समझ ठीक नहीं है। चाहे समाज हिन्दुओं का हो या म्लेच्छों का, चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, चाहे वह पूर्वी हो या पश्चिमी! इसमें सन्देह नहीं, कि यदि उस समाज में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था प्रचलित हो, तो उस व्यवस्था के अनुसार, या दूसरी समाजव्यवस्था जारी हो, तो उस व्यवस्था के अनुसार जो काम अपने हिस्से में आ पड़े अथवा जिसे हम अपनी रुचि के अनुसार कर्तव्य समझकर एक बार स्वीकृत कर लें, वही अपना स्वधर्म हो जाता है। और गीता यह कहती है, कि किसी भी कारण से इस धर्म को ऐन मौके पर छोड़ देना और दूसरे कामों में लग जाना, धर्म की तथा सर्वभूतहित की दृष्टि से निन्दनीय है। यही तात्पर्य "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" (गी. ३. ३५) इस गीतावचन का है--अर्थात् स्वधर्मपालन में यदि मृत्यु हो जाय, तो वह भी श्रेयस्कर है; परन्तु दूसरों का धर्म भयावह होता है। इसी न्याय के अनुसार माधवराव पेशवा को (जिन्होंने ब्राह्मण होकर भी तत्कालीन देश-कालानुरूप क्षात्रधर्म का स्वीकार किया था) रामशास्त्री ने यह उपदेश किया था, कि "स्नानसंध्या और पूजापाठ में सारा समय व्यतीत न कर क्षात्रधर्म के अनुसार प्रजा की रक्षा करने में अपना सब समय लगा देने से ही तुम्हारा उभय लोक में कल्याण होगा।" यह बात महाराष्ट्र-इतिहास में प्रसिद्ध है। गीता का मुख्य उपदेश यह बतलाने का नहीं है, कि समाजधारणा के लिये कैसी व्यवस्था होनी चाहिये। गीताशास्त्र का तात्पर्य यही है, कि समाजव्यवस्था चाहे कैसी भी हो; उसमें जो यथाधिकार कर्म तुम्हारे हिस्से में पड़ जायँ, उन्हें उत्साहपूर्वक करके सर्वभूतहितरूपी आत्मश्रेय की सिद्धि करो। इस तरह से कर्तव्य मानकर गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ पुरुष जो कर्म किया करते हैं, वे स्वभाव से ही लोककल्याण-कारक हुआ करते हैं। गीताप्रतिपादित इस कर्मयोग में और पाश्चात्य आधि-भौतिक कर्ममार्ग में यह एक बड़ा भारी भेद है, कि गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञों के मन में यह अभिमानबुद्धि रहती ही नहीं, कि मैं लोककल्याण अपने कर्मों के द्वारा करता हूँ; बल्कि उनके देहस्वभाव ही में साम्यबुद्धि आ जाती है; और इसी से वे लोग अपने समय की समाजव्यवस्था के अनुसार केवल कर्तव्य समझ कर जो जो कर्म किया करते हैं, वे सब स्वभावतः लोककल्याणकारक हुआ करते हैं; और, आधुनिक पाश्चात्य नीतिशास्त्रकार संसार को सुखमय मानकर कहा करते हैं। कि इस संसार सुख की प्राप्ति के लिये सब लोगों को लोककल्याण का कार्य करना चाहिये।

कुछ सभी पाश्चात्य आधुनिक कर्मयोगी को संसार सुखमय नहीं मानते। शोपेनहर के समान संसार को दुःखप्रधान माननेवाले पण्डित भी वहाँ हैं, जो यह प्रतिपादन करते हैं, कि यथाशक्ति लोगों के दुःख का निवारण करना ज्ञानी पुरुषों का कर्तव्य है। इसलिये संसार को न छोड़ते हुए उनको ऐसा प्रयत्न न करते रहना

चाहिये, जिससे लोगों का दुःख कम होता जावे। अब तो पश्चिमी देशों में दुःख-निवारणेच्छुक कर्मयोगियों का एक अलग पन्थ ही हो गया है। इस पन्थ का गीता के कर्मयोगमार्ग से बहुतकुछ साम्य है। जिस स्थान पर महाभारत में कहा गया है, कि "सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नात्र संशयः" अर्थात् संसार में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है, वहीं पर मनु ने बृहस्पति से तथा नारद ने शुक से कहा है :--

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति ।
अशोचन्प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥

"जो दुःख सार्वजनिक है, उसके लिये शोक करते रहना उचित नहीं। उसका रोना न रोकर उसके प्रतिकारार्थ (ज्ञानी पुरुषों को) कुछ उपाय करना चाहिये" (शां. २०५. ५ और ३३०. १५)। इससे प्रगट होता है, कि यह तत्त्व महाभारतकार को भी मान्य है, कि संसार के दुःखमय होने पर भी, उसमें सब लोगों को होनेवाले दुःख को कम करने का उद्योग चतुर पुरुष करते रहें। परन्तु यह कुछ हमारा सिद्धान्त-पक्ष नहीं है। सांसारिक सुखों की अपेक्षा आत्मबुद्धिप्रसाद से होनेवाले सुख को अधिक महत्त्व देकर, इस आत्मबुद्धिप्रसादरूपी सुख का पूरा अनुभव करते हुए केवल कर्तव्य समझकर ही (अर्थात् ऐसी राजस अभिमानबुद्धि मन में न रखकर कि मैं लोगों का दुःख कम करूँगा) सब व्यावहारिक कर्मों को करने का उपदेश देनेवाले गीता के कर्मयोग की बराबरी करने के लिये, दुःखनिवारणेच्छु पश्चिमी कर्मयोग में भी अभी बहुतकुछ सुधार होना चाहिये। प्रायः सभी पाश्चिमात्य पंडितों के मन में यह बात समाई रहती है, कि स्वयं अपना या सब लोगों का सांसारिक सुख ही मनुष्य का इस संसार में परमसाध्य है--चाहे वह सुख के साधनों को अधिक करने से मिले या दुःखों को कम करने से। इसी कारण से उनके शास्त्रों में गीता के निष्कामकर्मयोग का यह उपदेश कहीं भी नहीं पाया जाता, कि यद्यपि संसार दुःखमय है, तथापि उसे अपरिहार्य समझकर केवल लोकसंग्रह के लिये ही संसार में कर्म करते रहना चाहिये। दोनों कर्ममार्गी हैं तो सही; परन्तु शुद्ध नीति की दृष्टि से देखने पर उनमें यही भेद मालूम होता है, कि पाश्चात्य कर्मयोगी सुखेच्छु या दुःखनिवारणेच्छु होते हैं--कुछ भी कहा जाय; परन्तु वे 'इच्छुक' अर्थात् 'सकाम' अवश्य ही हैं; और गीता के कर्मयोगी हमेशा फलाशा का त्याग करनेवाले अर्थात् निष्काम होते हैं। इसी बात को यदि दूसरे शब्दों में व्यक्त करें, तो यह कहा जा सकता है, कि गीता का कर्मयोग सात्त्विक है; और पाश्चात्य कर्मयोग राजस है (देखो गीता. १८. २३, २४)।

केवल कर्तव्य समझ कर परमेश्वरार्पणबुद्धि से सब कर्मों को करते रहने और उसके द्वारा परमेश्वर के यजन या उपासना को मृत्युपर्यन्त जारी रखने का जो यह गीताप्रतिपादित ज्ञानयुक्त प्रवृत्तिमार्ग या कर्मयोग है, उसे 'भागवतधर्म'

कहते हैं। "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" (गी. १८. ४५)— यही इस मार्ग का रहस्य है। महाभारत के वनपर्व में ब्राह्मण-व्याध-कथा में (वन. २०८) और शान्तिपर्व में तुलाधार-जाजली-संवाद में (शां. २६१) इसी धर्म का निरूपण किया गया है; और, मनुस्मृति (६. ८६, ९७) में भी यतिधर्म का निरूपण करने के अनन्तर इसी मार्ग को वेदसंन्यासियों का कर्मयोग कह कर विहित तथा मोक्षदायक बतलाया है। 'वेदसंन्यासिक' पद से और वेद की संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में जो वर्णन हैं, उनसे यही सिद्ध होता है, कि यह मार्ग हमारे देश में अनादि काल से चला आ रहा है। यदि ऐसा न होता, तो यह देश इतना वैभवशाली कभी हुआ नहीं होता। क्योंकि यह बात प्रगट ही है, कि किसी भी देश के वैभवपूर्ण होने के लिये वहीं के कर्ता या वीर पुरुष कर्ममार्ग के ही अगुआ हुआ करते हैं। हमारे कर्मयोग का मुख्य तत्त्व यही है, कि कोई कर्ता या वीर पुरुष भले ही हों; परन्तु उन्हें भी ब्रह्मज्ञान को न छोड़ उसके साथ-ही-साथ कर्तव्य को स्थिर रखना चाहिये। और यह पहले ही बतलाया जा चुका है, कि इसी बीजरूप तत्त्व का व्यवस्थित विवेचन करके श्रीभगवान् ने इस मार्ग का अधिक दृढीकरण और प्रसार किया था। इसलिये इस प्राचीन मार्ग का ही आगे चल कर 'भागवतधर्म' नाम पड़ा होगा। विपरीत पक्ष में उपनिषदों से तो यही व्यक्त होता है, कि कभी-न-कभी कुछ ज्ञानी पुरुषों के मन का झुकाव पहले ही से स्वभावतः संन्यासमार्ग की ओर रहा करता था; अथवा कम-से-कम इतना अवश्य होता था, कि पहले गृहस्थाश्रम में रह कर अन्त में संन्यास लेने की बुद्धि मन में जागृत हुआ करती थी—फिर चाहे वे लोग सचमुच संन्यास लें या न लें। इस लिये यह भी नहीं कहा जा सकता, कि संन्यासमार्ग नया है। परन्तु स्वभाव-वैचित्र्यादि कारणों से ये दोनों मार्ग यद्यपि हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही प्रचलित हैं, तथापि इस बात की सत्यता में कोई शंका नहीं, कि वैदिक काल में मीमांसकों के कर्ममार्ग की ही लोगों में विशेष प्रबलता थी; और कौरव-पाण्डवों के समय में तो कर्मयोग ने संन्यासमार्ग को पीछे हटा दिया था। कारण यह है, कि हमारे कर्मशास्त्रकारों ने साफ़ कह दिया है, कि कौरव-पाण्डवों के काल के अनन्तर अर्थात् कलियुग में संन्यासधर्म निषिद्ध है। और जब कि धर्मशास्त्र "आचारप्रभवो धर्मः" (म. भा. अनु. १४९, १३७; मनु. १. १०८) इस वचन के अनुसार प्रायः आचार ही का अनुवाद हुआ करता है; तब सहज ही सिद्ध होता है, कि धर्मशास्त्रकारों के उक्त निषेध करने के पहले ही लोकाचार में संन्यासमार्ग गौण हो गया होगा *। परन्तु इस प्रकार यदि कर्मयोग की पहले प्रबलता थी और आखिर कलियुग में संन्यासधर्म को निषिद्ध मानने तक नौबत पहुँच चुकी थी; तो अब यहाँ यही स्वाभाविक शंका होती है, कि इस तेजी से बढ़ते हुए ज्ञानयुक्त कर्म-योग के ह्रास का तथा वर्तमान समय के भक्तिमार्ग में भी संन्यासपक्ष को ही

* पृष्ठ ३४२ की टिप्पणी में दिये गये वचनों को देखो।

श्रेष्ठ माने जाने का कारण क्या है? कुछ लोग कहते हैं, कि यह परिवर्तन श्रीमदाद्यशंकराचार्य के द्वारा हुआ। परन्तु इतिहास को देखने से इस उपपत्ति में सत्यता नहीं देख पड़ती। पहले प्रकरण में हम कह आये हैं, कि श्रीशङ्कराचार्य के संप्रदाय के दो विभाग हैं-- (१) मायावादात्मक अद्वैत ज्ञान, और (२) कर्मसंन्यासधर्म। अब यद्यपि अद्वैत-ब्रह्मज्ञान के साथ साथ संन्यासधर्म का भी प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है, तो भी इन दोनों का कोई नित्यसम्बन्ध नहीं है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता, कि अद्वैत-वेदान्तमत को स्वीकार करने पर संन्यासमार्ग को भी अवश्य स्वीकार करना ही चाहिये। उदाहरणार्थ, याज्ञवल्क्य प्रभृति से अद्वैतवेदान्त की पूरी शिक्षा पाये हुए जनक आदिक स्वयं कर्मयोगी थे। यही क्यों; बल्कि उपनिषदों का अद्वैत-ब्रह्मज्ञान ही गीता का प्रतिपाद्य विषय होने पर भी, गीता में इसी ज्ञान के आधार से संन्यास के बदले कर्मयोग का ही समर्थन किया गया है। इसलिये पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिये, कि शाङ्करसम्प्रदाय पर संन्यासधर्म को उत्तेजन देने का जो आक्षेप किया जाता है, वह इस सम्प्रदायके अद्वैत ज्ञान को उपयुक्त न हो कर उसके अन्तर्गत केवल संन्यासधर्म को ही उपयोगी हो सकता है। तथापि श्रीशङ्कराचार्य ने इस संन्यासमार्ग को नये सिरे से नहीं चलाया है; तथापि कलियुग में निषिद्ध या वर्जित माने जाने के कारण उसमें जो गौणता आ गई थी, उसे उन्होंने अवश्य दूर किया है। परन्तु यदि इसके भी पहले अन्य कारणों से लोगों में संन्यासमार्ग की चाह हुई न होती, तो इसमें सन्देह है, कि आचार्य का संन्यासप्रधान मत इतना अधिक फैलाने पाता या नहीं। ईसा ने कहा है सही, कि 'यदि कोई एक गाल में थप्पड़ मार दे, तो दूसरे गाल को भी उसके सामने कर दो' (ल्यूक. ६. २९)। परन्तु यदि विचार किया जाय, कि इस मत के अनुयायी यूरोप के ईसाई राष्ट्रों में कितने हैं; तो यही देख पड़ेगा, कि किसी बात के प्रचलित होने के लिये केवल इतना ही बस नहीं है, कि कोई धर्मोपदेशक उसे अच्छी कह दे; बल्कि ऐसा होने के लिये--अर्थात् लोगों के मन का झुकाव उधर होनेके लिये--उस उपदेश के पहले ही कुछ सबल कारण उत्पन्न हो जाया करते हैं; और तब फिर लोकाचार में धीरे धीरे परिवर्तन होकर उसी के अनुसार धर्मनियमों में भी परिवर्तन होने लगता है। 'आचार धर्म का मूल है'--इस स्मृतिवचन का तात्पर्य भी यही है। गत शताब्दी में शोपेनहर ने जर्मनी में संन्यासमार्ग का समर्थन किया था। परन्तु उसका बोया हुआ बीज वहाँ अब तक अच्छी तरह से जमने नहीं पाया; और इस समय तो निट्शे के ही मतों की वहाँ धूम मची हुई है। हमारे यहाँ भी देखने से यही मालूम होगा, कि संन्यासमार्ग श्रीशङ्कराचार्य के पहले अर्थात् वैदिककाल में ही यद्यपि जारी हो गया था, तो भी वह उस समय कर्मयोग से आगे अपना क़दम नहीं बढ़ा सका था। स्मृतिग्रन्थों में अन्त में संन्यास लेने को कहा गया है सही; परन्तु उसमें भी पूर्वाश्रमों के कर्तव्यपालन का उपदेश दिया ही गया है। श्रीशङ्कराचार्य के ग्रन्थों का

प्रतिपाद्य विषय कर्मसंन्यास-पक्ष भले ही हो; परन्तु स्वयं उनके जीवनचरित से ही यह बात सिद्ध होती है, कि ज्ञानी पुरुषों को तथा संन्यासियों को धर्मसंस्थापना के समान लोकसंग्रह के काम यथाधिकार करने के लिये उनकी ओर से कुछ मनाही नहीं थी (वे. सू. शां. भा. ३. ३. ३२)। संन्यासमार्ग की प्रबलता का कारण यदि शंकराचार्य का स्मार्त सम्प्रदाय ही होता, तो आधुनिक भागवतसम्प्रदाय के रामानुजाचार्य अपने गीताभाष्य में शंकराचार्य की ही नाईं कर्मयोग को गौण नहीं मानते। परन्तु जो कर्मयोग एकबार तेजी से जारी था, वह जब कि भागवतसम्प्रदाय में भी निवृत्तिप्रधान भक्ति से पीछे हटा दिया गया है, तब तो यही कहना पड़ता है, कि उसके पिछड़ जाने के लिये कुछ ऐसे कारण अवश्य उपस्थित हुए होंगे; जो सभी सम्प्रदायों को अथवा सारे देश को एक ही समान लागू हो सकें। हमारे मतानुसार इनमें से पहला और प्रधान कारण जैन एवं बौद्ध धर्मों का उदय तथा प्रचार है। क्योंकि इन्हीं दोनों धर्मों ने चारों वर्णों के लिये संन्यासमार्ग का दरवाजा खोल दिया था; और इसीलिये क्षत्रियवर्ण में भी संन्यासधर्म का विशेष उत्कर्ष होने लगा था। परन्तु, यद्यपि आरम्भ में बुद्ध ने कर्मरहित संन्यासमार्ग का ही उपदेश दिया था, तथापि गीता के कर्मयोगानुसार बौद्धधर्म में शीघ्र ही यह सुधार किया गया, कि बौद्ध यतियों को अकेले जंगल में जा कर एक कोने में नहीं बैठे रहना चाहिये; बल्कि उनको धर्मप्रचार के लिये तथा परोपकार के अन्य काम करने के लिये सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिये (देखो परिशिष्ट प्रकरण)। इतिहास-ग्रन्थों से यह बात प्रगट है, कि इसी सुधार के कारण उद्योगी बौद्धधर्मीय यतिलोगों के संघ उत्तर में तिब्बत, पूर्व में ब्रह्मदेश, चीन और जापान, दक्षिण में लंका और पश्चिम में तुर्किस्थान तथा उससे लगे हुए ग्रीस इत्यादि यूरोप के प्रान्तों तक जा पहुँचे थे। शालिवाहन शक के लगभग छः सात सौ वर्ष पहले जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवर्तकों का जन्म हुआ था; और श्रीशंकराचार्य का जन्म शालिवाहन शक के छः सौ वर्ष अनन्तर हुआ। इस बीच में बौद्ध यतियों के संघों का अपूर्व वैभव सब लोग अपनी आँखों के सामने देख रहे थे। इसलिये यतिधर्म के विषय में उन लोगों में एक प्रकार की चाह तथा आदरबुद्धि शंकराचार्य के जन्म के पहले ही उत्पन्न हो चुकी थी। शंकराचार्य ने यद्यपि जैन और बौद्धधर्मों का खण्डन किया है; तथापि यतिधर्म के बारे में लोगों में जो आदरबुद्धि उत्पन्न हो चुकी थी, उसका उन्होंने नाश नहीं किया। किन्तु उसी को वैदिक रूप दे दिया; और बौद्धधर्म के बदले वैदिकधर्म की संस्थापना करने के लिये उन्हों ने बहुत से प्रयत्नशील वैदिक संन्यासी तैयार किये। ये संन्यासी ब्रह्मचर्यव्रत से रहते थे; और संन्यास का दण्ड तथा गेरुआ वस्त्र भी धारण करते थे; परन्तु अपने गुरु के समान इन लोगों ने भी वैदिकधर्म की स्थापना का काम आगे जारी रखा था। यति-संघ की इस नई जोड़ी (वैदिक संन्यासियों के संघ) को देख उस समय अनेक लोगों के मन में शङ्का होने लगी थी, कि शांकरमत में और बौद्धमत

में यदि कुछ अन्तर है, तो क्या है। और प्रतीत होता है, कि प्रायः इसी शंका को दूर करने के लिये छांदोग्यपनिषद् के भाष्य में आचार्य ने लिखा है, कि "बौद्धयतिधर्म और सांख्ययतिधर्म दोनों वेदबाह्य तथा खोटे हैं। एवं हमारा संन्यासधर्म वेद के आधार से प्रवृत्त किया गया है, इसलिये यही सच्चा है" (छां. शां. भा. २. २३. १)। जो हो; यह निर्विवाद सिद्ध है, कि कलियुग में पहले पहल जैन और बौद्ध लोगों ने ही यतिधर्म का प्रचार किया था। परन्तु बौद्धयतियों ने भी धर्मप्रसार तथा लोकसंग्रह के लिये आगे चलकर उपर्युक्त कर्म करना शुरू कर दिया था। और इतिहास से मालूम होता है, कि इनको हराने के लिये श्रीशंकराचार्य ने जो वैदिक यतिसंघ तैयार किये थे, उन्हों ने भी कर्म को बिलकुल न त्याग कर अपने उद्योग से ही वैदिक धर्म की फिर से स्थापना की। अनन्तर शीघ्र ही इस देश पर मुसलमानों की चढ़ाइयाँ होने लगीं; और जब इस परचक्र से पराक्रमपूर्वक रक्षा करनेवाले तथा देश के धारणपोषण करनेवाले क्षत्रिय राजाओं की कर्तृत्वशक्ति का मुसलमानों के जमाने में न्हास होने लगा; तब संन्यास और कर्मयोग म से संन्यास-मार्ग ही सांसारिक लोगों को अधिकाधिक ग्राह्य होने लगा होगा। क्योंकि "राम राम" जपते हुए चुप बैठे रहने का एकदेशीय मार्ग प्राचीन समय से ही कुछ लोगों की दृष्टि में श्रेष्ठ समझा जाता था; और अब तो तत्कालीन बाह्य परिस्थिति के लिये भी वही मार्ग विशेष सुभीते का हो गया था। इसके पहले यह स्थिति नहीं थी। क्योंकि, शूद्रकमलाकर में कहे गये विष्णुपुराण के निम्न श्लोक से भी यही मालूम होता है :—

> अपहाय निजं कर्म कृष्ण कृष्णेति वादिनः।
> ते हरेर्द्वेषिणः पापाः धर्मार्थं जन्म यद्धरेः॥ *

अर्थात् "अपने (स्वधर्मोक्त) कर्मों को छोड़ (केवल) कृष्ण कृष्ण कहते रहनेवाले लोग हरि के द्वेषी और पापी हैं। क्योंकि स्वयं हरि का जन्म भी तो धर्म की रक्षा करने के लिये ही होता है।" सच पूछो, तो ये लोग न तो संन्यासनिष्ठ हैं और न कर्मयोगी। क्योंकि ये लोग संन्यासियों के समान ज्ञान अथवा तीव्र वैराग्य से सब सांसारिक कर्मों को नहीं छोड़ते हैं; और संसार में रह कर भी कर्मयोग के अनुसार अपने हिस्से के शास्त्रोक्त कर्तव्य का पालन निष्कामबुद्धि से नहीं करते। इसलिये इन वाचिक संन्यासियों की गणना एक निराली ही तृतीय निष्ठा में होनी चाहिये, जिसका वर्णन गीता में नहीं किया गया है। चाहे किसी भी कारण से हो; जब लोग इस तरह से तृतीय प्रकृति के बन जाते हैं, तब आखिर धर्म का भी नाश हुए बिना नहीं रह सकता। ईरान देश से पारसी धर्म के हटाये जाने के लिये भी ऐसी ही स्थिति कारण हुई थी; और इसी से हिन्दुस्थान में भी वैदिक

* बम्बई के छपे हुए विष्णुपुराण में यह श्लोक हमें नहीं मिला। परन्तु उसका उपयोग कमलाकर सरीखे प्रामाणिक ग्रंथकार ने किया है; इससे यह निराधार भी नहीं कहा जा सकता।

धर्म के 'समूलं च विनश्यति' होने का समय आ गया था। परन्तु बौद्धधर्म के ऱ्हास के बाद वेदान्त के साथ ही गीता के भागवतधर्म का जो पुनरुज्जीवन होने लगा था, उसके कारण हमारे यहाँ यह दुष्परिणाम नहीं हो सका। जब कि दौलताबाद का हिंदु राज्य मुसलमानों से नष्ट भ्रष्ट नहीं किया गया था, उसके कुछ वर्ष पूर्व ही श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने हमारे सौभाग्य से भगवद्गीता को मराठी भाषा में अलङ्कृत कर ब्रह्मविद्या को महाराष्ट्र प्रान्त में अति सुगम कर दिया था; और हिंदुस्थान के अन्य प्रान्तों में भी इसी समय अनेक साधुसन्तों ने गीता के भक्तिमार्ग का उपदेश जारी कर रखा था। यवन-ब्राह्मण-चाण्डाल इत्यादिकों को एक समान और ज्ञानमूलक गीताधर्म का जाज्वल्य उपदेश--चाहे वह वैराग्य-युक्त भक्ति के रूप में ही क्यों न हो--एक ही समय चारों ओर लगातार जारी था; इसलिये हिन्दुधर्म का पूरा ऱ्हास होने का कोई भय नहीं रहा। इतना ही नहीं बल्कि उसका कुछ कुछ प्रभुत्व मुसलमानी धर्म पर भी जमने लगा। कबीर जैसे भक्त इस देश की सन्तमण्डली में मान्य हो गये; और औरंगजेब के बड़े भाई शहाजादा दारा ने इसी समय अपनी देखरेख में उपनिषदों का फारसी में भाषान्तर कराया। यदि वैदिक भक्तिधर्म अध्यात्मज्ञान को छोड़ केवल तांत्रिक श्रद्धा के ही आधार पर स्थापित हुआ होता, तो इस बात का सन्देह है, कि उसमें यह विलक्षण सामर्थ्य रह सकता या नहीं। परन्तु भागवतधर्म का यह आधुनिक पुनरुज्जीवन मुसलमानों के ही जमाने में हुआ है। अतएव यह भी अनेकांशों में केवल भक्ति-विषयक अर्थात् एकदेशीय हो गया है; और मूल भागवतधर्म के कर्मयोग का जो स्वतंत्र महत्त्व एक बार घट गया था, वह उसे फिर प्राप्त नहीं हुआ। फलतः इस समय के भागवतधर्मीय सन्तजन, पण्डित और आचार्य लोग भी यह कहने लगे, कि कर्मयोग भक्तिमार्ग का अङ्ग या साधन है; जैसा पहले संन्यासमार्गीय लोग कहा करते थे, कि कर्मयोग संन्यासमार्ग का अङ्ग या साधन है। उस समय में प्रचलित इस सर्वसाधारण मत या समझ के विरुद्ध केवल श्रीसमर्थ रामदासस्वामी ने अपने 'दासबोध' ग्रन्थ में विवेचन किया है। कर्ममार्ग के सच्चे और वास्तविक महत्त्व का वर्णन शुद्ध तथा प्रासादिक मराठी भाषा में जिसे देखना हो, उसे समर्थकृत इस ग्रन्थ को--विशेषतः उत्तरार्ध को--अवश्य पढ़ लेना चाहिये *। शिवाजी महाराज को श्रीसमर्थ रामदासस्वामी का ही उपदेश मिला था; और मरहठों के जमाने में जब कर्मयोग के तत्त्वों को समझाने तथा उनके प्रचार करने की आवश्यकता मालूम होने लगी, तब शाण्डिल्यसूत्रों तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य के बदले महाभारत का गद्यात्मक भाषान्तर होने लगा, एवं 'बखर' नामक ऐतिहासिक लेखों के रूप में

* हिन्दी प्रेमियों को यह जानकर हर्ष होगा, कि वे अब समर्थ रामदासस्वामी कृत इस 'दासबोध' नामक मराठी ग्रंथ के उपदेशामृत से वंचित नहीं रह सकते। क्योंकि इसका शुद्ध, सरल तथा हृदयग्राही अनुवाद हिन्दी में भी हो चुका है। यह हिन्दी ग्रंथ चित्रशाला प्रेस, पूना से मिल सकता है।

उसका अध्ययन शुरू हो गया। ये भाषांतर तंजौर के पुस्तकालय में आज तक रखे हुए हैं। यदि यही कार्यक्रम बहुत समय तक अबाधित रीति से चलता रहता, तो गीता की सब एकपक्षीय और संकुचित टीकाओं का महत्त्व घट जाता; और कालमान के अनुसार एक बार फिर भी यह बात सब लोगों के ध्यान में आ जाती, कि महाभारत की सारी नीति का सार गीताप्रतिपादित कर्मयोग में कह दिया गया है। परन्तु हमारे दुर्भाग्य से कर्मयोग का यह पुनरुज्जीवन बहुत दिनों तक नहीं ठहर सका।

हिन्दुस्थान के धार्मिक इतिहास का विवेचन करने का यह स्थान नहीं है। ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से पाठकों को मालूम हो गया होगा, कि गीताधर्म में जो एक प्रकार की सजीवता, तेज या सामर्थ्य है, वह संन्यासधर्म के उस दबदबे से भी बिलकुल नष्ट नहीं होने पाया, कि जो मध्यकाल में दैववशात् हो गया है। तीसरे प्रकरण में यह बतला चुके हैं, कि धर्म शब्द का धात्वर्थ "धारणाद्धर्मः" है; और सामान्यतः उसके ये दो भेद होते हैं—एक "पारलौकिक" और दूसरा "व्यावहारिक;" अथवा "मोक्षधर्म" और "नीतिधर्म"। चाहे वैदिक धर्म को लीजिये; बौद्धधर्म को लीजिये; अथवा ईसाई धर्म को लीजिये; सब का मुख्य हेतु यही है, कि जगत् का धारणपोषण हो; और मनुष्य को अन्त में सद्गति मिले। इसीलिये प्रत्येक धर्म में मोक्षधर्म के साथ ही साथ व्यावहारिक धर्मअधर्म का भी विवेचन थोड़ाबहुत किया गया है। यही नहीं; बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है, कि प्राचीन काल में यह भेद ही नहीं किया जाता था, कि 'मोक्षधर्म और व्यावहारिक धर्म भिन्न भिन्न हैं'। क्योंकि उस समय सब लोगों की यही धारणा थी, कि परलोक में सद्गति मिलने के लिये इस लोक में भी हमारा आचरण शुद्ध ही होना चाहिये। वे लोग गीता के कथनानुसार यही मानते थे, कि पारलौकिक तथा सांसारिक कल्याण की जड़ भी एक ही है। परन्तु आधिभौतिक ज्ञान का प्रसार होने पर आजकल पश्चिमी देशों में यह धारणा स्थिर न रह सकी; और इस बात का विचार होने लगा, कि मोक्षधर्मरहित नीति की—अर्थात् जिन नियमों से जगत् का धारणपोषण हुआ करता है उन नियमों की—उपपत्ति बतलाई जा सकती है या नहीं; और फलतः केवल आधिभौतिक अर्थात् दृश्य या व्यक्त आधार पर ही समाजधारणाशास्त्र की रचना होने लगी है। इस पर प्रश्न होता है, कि केवल व्यक्त से ही मनुष्य का निर्वाह कैसे हो सकेगा? पेड़, मनुष्य इत्यादि जातिवाचक शब्दों से भी तो अव्यक्त अर्थ ही प्रगट होता है न। आम का पेड़ या गुलाब का पेड़ एक विशिष्ट दृश्यवस्तु है सही; परन्तु 'पेड़' सामान्य शब्द किसी भी दृश्य अथवा व्यक्त वस्तु को नहीं दिखला सकता। इसी तरह हमारा सब व्यवहार हो रहा है। इससे यही सिद्ध होता है, कि मन में अव्यक्तसम्बन्धी कल्पना की जागृति के लिये पहले कुछ-न-कुछ व्यक्त वस्तु आँखों के सामने अवश्य होनी चाहिये। परन्तु इसे भी

निश्चय ही जानना चाहिये, कि व्यक्त ही कुछ अन्तिम अवस्था नहीं है; और बिना अव्यक्त का आश्रय लिये न तो हम एक क़दम आगे बढ़ा सकते हैं; और न एक वाक्य ही पूरा कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में, अध्यात्मदृष्टि से सर्वभूतात्मैक्य-रूप परब्रह्म की अव्यक्त कल्पना को नीतिशास्त्र का आधार यदि न मानें, तो भी उसके स्थान में "सर्व मानवजाति" को--अर्थात् आँखों से न दिखनेवाली अतएव अव्यक्त वस्तु को--ही अन्त में देवता के समान पूजनीय मानना पड़ता है। आधि-भौतिक पण्डितों का कथन है, कि "सर्व मानवजाति" में पूर्व की तथा भविष्यत् की पीढ़ियों का समावेश कर देने से अमृतत्वविषयक मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति को संतुष्ट हो जाना चाहिये। और अब तो प्रायः वे सभी सच्चे हृदय से यही उपदेश करने लग गये हैं, कि इस (मानवजातिरूपी) बड़े देवता की प्रेमपूर्वक अनन्यभाव से उपासना करना, उसकी सेवा में अपनी समस्त आयु को बिता देना तथा उसके लिये अपने सब स्वार्थों को तिलाञ्जलि दे देना ही प्रत्येक मनुष्य का इस संसार में परम कर्तव्य है। फरेंच पण्डित कोन्ट द्वारा प्रतिपादित धर्म का सार यही है; और इसी धर्म को अपने ग्रन्थ में उसने "सकल मानवजातिधर्म" या संक्षेप में "मानवधर्म" कहा है *। आधुनिक जर्मन पण्डित निट्शे का भी यही हाल है। उसने तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया है, कि उन्नीसवी सदी में "परमेश्वर मर गया है" और अध्यात्मशास्त्र थोथा झगड़ा है। इतना होने पर भी उसने अपने सभी ग्रन्थों में आधिभौतिक दृष्टि से कर्मविपाक तथा पुनर्जन्म को मंजूर करके प्रतिपादन किया है, कि काम ऐसा करना चाहिये, जो जन्मजन्मान्तरों में भी किया जा सके। और समाज की इस प्रकार व्यवस्था होनी चाहिये, कि जिससे भविष्यत् में ऐसे मनुष्यप्राणी पैदा हों, जिनकी सब मनोवृत्तियाँ अत्यन्त विकसित होकर पूर्णावस्था-में पहुँच जावें--बस; इस संसार में मनुष्यमात्र का परमकर्तव्य और परमसाध्य यही है। इससे स्पष्ट है, कि जो लोग अध्यात्मशास्त्र को नहीं मानते, उन्हें भी कर्मअकर्म का विवेचन करने के लिये कुछ-न-कुछ परमसाध्य अवश्य मानना पड़ता है; और वह साध्य एक प्रकार से 'अव्यक्त' ही होता है। इसका कारण यह है, कि यद्यपि आधिभौतिक नीतिशास्त्रज्ञों के ये दो ध्येय हैं-(१) सब मानवजातिरूप महादेव की उपासना करके सब मनुष्यों का हित करना चाहिये; और (२) ऐसा कर्म करना चाहिये, कि जिससे भविष्यत् में अत्यन्त पूर्णावस्था में पहुँचा हुआ मनुष्यप्राणी उत्पन्न हो सके; तथापि जिन लोगों को इन दोनों ध्येयों का उपदेश किया जाता है, उनकी दृष्टि से वे अगोचर या अव्यक्त ही बने रहते हैं। कोन्ट अथवा निट्शे का यह उपदेश ईसाईधर्म सरीखे तत्त्वज्ञानरहित केवल आधिदैवत भक्तिमार्ग का विरोधी भले

* कोन्ट ने अपने धर्म का Religion of Humanity नाम रखा है। उसका विस्तृत विवेचन कोन्ट के A System of Positive Polity (Eng. trans. in four Vols.) नामक ग्रन्थ में किया गया है। इस ग्रन्थ में इस बात की उत्तम चर्चा की गई है, कि केवल आधिभौतिक दृष्टि से भी समाजधारणा किस तरह की जा सकती है।

ही हो; परन्तु जिस धर्म-अधर्म-शास्त्र का अथवा नीतिशास्त्र का परम ध्येय अध्यात्मदृष्टि से सर्वभूतात्मैक्यज्ञानरूप साध्य की या कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ की पूर्णावस्था की नींव पर स्थापित हुआ है, उसके पेट में सब आधिभौतिक साध्यों का विरोधरहित समावेश सहज ही में हो जाता है। इससे कभी इस भय की आशंका नहीं हो सकती, कि अध्यात्मज्ञान से पवित्र किया गया वैदिक धर्म उक्त उपदेश से क्षीण हो जावेगा। अब प्रश्न यह है, कि यदि अव्यक्त उपदेश को ही परम-साध्य मानना पड़ता है, तो वह सिर्फ़ मानवजाति के लिये ही क्यों माना जाय? अर्थात् वह मर्यादित या संकुचित क्यों कर दिया जाय? पूर्णावस्था को ही जब परम साध्य मानना है, तो उसमें ऐसे आधिभौतिक साध्य की अपेक्षा—जो जानवर और मनुष्य दोनों के लिये समान हो—अधिकता ही क्या है! इन प्रश्नोंका उत्तर देते समय अध्यात्मदृष्टिसे निष्पन्न होनेवाले समस्त चराचर सृष्टि के एक अनिर्वाच्य परम तत्त्व की ही शरण में आखिर जाना पडता है। अर्वाचीन काल में आधिभौतिक शास्त्रों की अश्रुतपूर्व उन्नति हुई है; जिससे मनुष्य का दृश्यसृष्टिविषयक ज्ञान पूर्व-काल की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक बढ़ गया है। और यह बात भी निर्विवाद सिद्ध है, कि "जैसे को तैसा" इस नियम के अनुसार जो प्राचीन राष्ट्र इस आधि-भौतिक ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर लेगा, उसका सुधरे हुए नये पाश्चात्य राष्ट्रों के सामने टिकना असंभव है। परन्तु आधिभौतिक शास्त्रों की चाहे जितनी वृद्धि क्यों न हो जावें; यह अवश्य ही कहना होगा, कि जगत् के मूलतत्त्व को समझ लेने की मनुष्य-मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति केवल आधिभौतिकवाद से कभी पूरी तरह संतुष्ट नहीं हो सकती। केवल व्यक्तसृष्टि के ज्ञान से सब बातों का निर्वाह नहीं हो सकता। इस-लिये स्पेन्सर सरीखे उत्क्रान्तिवादी भी स्पष्टतया स्वीकार करते हैं, कि नामरूपात्मक दृश्यसृष्टि की जड़ में कुछ अव्यक्त तत्त्व अवश्य ही होगा। परन्तु उनका यह कहना है, कि इस नित्यतत्त्व के स्वरूप को समझ लेना सम्भव नहीं है। इसलिये इसके आधार से किसी भी शास्त्र की उपपत्ति नहीं बतलाई जा सकती। जर्मन तत्त्ववेत्ता कान्ट भी अव्यक्तसृष्टितत्त्व की अज्ञेयता को स्वीकार करता है। तथापि उसका यह मत है, कि नीतिशास्त्र की उपपत्ति इसी अगम्य तत्त्व के आधार पर बतलाई जानी चाहिये। शोपेनहर इससे भी आगे बढ़कर प्रतिपादन करता है, कि यह अगम्य तत्त्व वासनास्वरूपी है। और, नीतिशास्त्रसम्बन्धी अंग्रेज ग्रन्थकार ग्रीन का मत है, कि यही सृष्टतत्त्व आत्मा के रूप में अंशतः मनुष्य के शरीर में प्रादुर्भूत हुआ है। गीता तो स्पष्ट रीति से कहती है, कि " ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।" हमारे उपनिषत्कारों का यही सिद्धान्त है, कि जगत् का आधारभूत यह अव्यक्ततत्त्व नित्य है, एक है, अमृत है, स्वतंत्र है, आत्मरूपी है—बस; इससे अधिक इसके विषय में और कुछ नहीं कहा जा सकता। और इस बात में सन्देह है, कि उक्त सिद्धान्त से भी आगे मानवी ज्ञान की गति कभी बढ़ेगी या नहीं। क्योंकि जगत् का आधारभूत अव्यक्ततत्त्व इन्द्रियों से अगोचर अर्थात्

निर्गुण हैं। इसलिये उसका वर्णन, गुण, वस्तु या क्रिया दिखानेवाले किसी भी शब्द से नहीं हो सकता; और इसीलिये उसे 'अज्ञेय' कहते हैं। परन्तु अव्यक्तसृष्टि-तत्त्वका जो ज्ञान हमें हुआ करता है, वह यद्यपि शब्दों से अधिक न भी बतलाया जा सके; और इसलिये देखने में यद्यपि वह अल्पसा देख पड़े, तथापि वही मानवी ज्ञान का सर्वस्व है; और इसीलिये लौकिक नीतिमत्ता की उपपत्ति भी उसी के आधार से बतलाई जानी चाहिये। एवं गीता में किये गये विवेचन से साफ़ मालूम हो जाता है, कि ऐसी उपपत्ति उचित रीति से बतलाने के लिये कुछ भी अड़चन नहीं हो सकती। दृश्यसृष्टिके हजारों व्यवहार किस पद्धतिसे चलाये जावें—उदाहरणार्थ, व्यापार कैसे करना चाहिये, लड़ाई कैसी जीतना चाहिये, रोगी को कौन-सी औषधि किस समय दी जावे, सूर्यचंद्रादिकों की दूरी को कैसे जानना चाहिये—इसे भलिभाँति समझने के लिये हमेशा नामरूपात्मक दृश्यसृष्टि के ज्ञान की ही आवश्यकता हुआ करेगी। इसमें कुछ सन्देह भी नहीं, कि इन सब लौकिक व्यवहारों को अधिकाधिक कुशलता से करने के लिये नामरूपात्मक आधिभौतिक शास्त्रों का अधिकाधिक अध्ययन अवश्य करना चाहिये। परन्तु यह कुछ गीता का विषय नहीं है। गीता का मुख्य विषय तो यही है, कि अध्यात्मदृष्टि से मनुष्य की परम श्रेष्ठ अवस्था को बतला कर उसके आधार से यह निर्णय कर दिया जावे, कि कर्मअकर्मरूप नीतिधर्म का मूलतत्त्व क्या है। इनमें से पहले यानी आध्यात्मिक परमसाध्य (मोक्ष)के बारे में आधिभौतिक पन्थ उदासीन भले ही रहे; परन्तु दूसरे विषय का—अर्थात् केवल नीतिधर्म के मूलतत्त्वों का—निर्णय करनेके लिये भी आधिभौतिक पक्ष असमर्थ है। और पिछले प्रकरणों में हम बतला चुके हैं, कि प्रवृत्ति की स्वतंत्रता नीतिधर्म की नित्यता तथा अमृतत्व प्राप्त कर लेने की मनुष्य के मन की स्वाभाविक इच्छा, इत्यादि गहन विषयों का निर्णय आधिभौतिक पन्थ से नहीं हो सकता—इसके लिये आखिर हमें आत्मानात्म-विचार में प्रवेश करना ही पड़ता है। परन्तु अध्यात्मशास्त्र का काम कुछ इतने ही से पूरा नहीं हो जाता। जगत् के आधारभूत अमृतत्व की नित्य उपासना करने से, और अपरोक्षानुभव से मनुष्य के आत्मा को एक प्रकारकी विशिष्ट शान्ति मिलने पर उसके शील स्वभाव में जो परिवर्तन हो जाता है, वही सदाचरण का मूल है। इसलिये इस बात पर ध्यान रखना भी उचित है, कि मानवजाति की पूर्णावस्था के विषय में भी अध्यात्मशास्त्र की सहायता से जैसा उत्तम निर्णय हो जाता है, वैसा केवल आधिभौतिक सुखवाद से नहीं होता। क्योंकि यह बात पहले भी विस्तारपूर्वक बतलाई जा चुकी है, कि केवल विषयसुख तो पशुओं का उद्देश या साध्य है, उससे ज्ञानवान् मनुष्य की बुद्धि का कभी पूरा समाधान हो नहीं सकता सुखदुःख अनित्य हैं तथा धर्म ही नित्य है। इस दृष्टि से विचार करने पर सहज ही ज्ञात हो जावेगा, कि गीता के पारलौकिक धर्म तथा नीतिधर्म दोनों का प्रतिपादन जगत् के आधारभूत नित्य तथा अमृत तत्त्व के आधार से ही किया गया है। इस

लिये यह परमावधि का गीताधर्म, उस आधिभौतिक शास्त्र से कभी हार नहीं खा सकता, जो मनुष्य के सब कर्मों का विचार सिर्फ़ इस दृष्टि से किया करता है, कि मनुष्य केवल एक उच्च श्रेणी का जानवर है। यही कारण है, कि हमारा गीताधर्म नित्य तथा अभय हो गया है; और भगवान् ने ही उसमें ऐसा सुप्रबन्ध कर रखा है, कि हिन्दुओं को इस विषय में किसी भी दूसरे धर्म, ग्रन्थ या मत की ओर मुँह ताकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब सब ब्रह्मज्ञान का निरूपण हो गया, तब याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से कहा है, कि "अभयं वै प्राप्तोऽसि"—अब तू अभय हो गया (बृ. ४. २. ४.); यही बात गीताधर्म के ज्ञान के लिये अनेक ग्रन्थों में अक्षरशः कही जा सकती है।

गीताधर्म कैसा है? वह सर्वतोपरि निर्भय और व्यापक है। वह सम है। अर्थात् वर्ण, जाति, देश या किसी अन्य भेदों के झगड़े में नहीं पड़ता; किन्तु सब लोगों को एकही मापतौल से समान सद्गति देता है। वह अन्य सब धर्मों के विषय में यथोचित सहिष्णुता दिखलाता है। वह ज्ञान, भक्ति, और कर्मयुक्त है। और अधिक क्या कहें; वह सनातनवैदिकधर्मवृक्ष का अत्यन्त मधुर तथा अमृत-फल है। वैदिक धर्म में पहले द्रव्यमय या पशुमय यज्ञों का अर्थात् केवल कर्मकाण्ड का ही अधिक महात्म्य था। परन्तु फिर उपनिषदों के ज्ञान से यह केवल कर्मकाण्डप्रधान श्रौतधर्म गौण माना जाने लगा; और उसी समय सांख्यशास्त्र का भी प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु यह ज्ञान सामान्य जनों को अगम्य था; और इसका झुकाव भी कर्मसंन्यास की ओर ही विशेष रहा करता था। इसलिये केवल औपनिषदिक धर्म से अथवा दोनों की स्मार्तएकवाक्यता से भी सर्वसाधारण लोगों का पूरा समाधान होना सम्भव नहीं था। अतएव उपनिषदों के केवल बुद्धिगम्य ब्रह्मज्ञान के साथ प्रेमगम्य व्यक्त-उपासना के राजगुह्य का संयोग करके कर्म-काण्ड की प्राचीन परम्परा के अनुसार ही अर्जुन को निमित्त करके गीताधर्म सब लोगों को मुक्तकण्ठ से यही कहता है, कि "तुम अपनी अपनी योग्यता के अनुसार अपने अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन लोकसंग्रह के लिये निष्कामबुद्धि से, आत्मौपम्यदृष्टि से, तथा उत्साह से यावज्जीवन करते रहो; और उसके द्वारा ऐसे नित्य परमात्म-देवता का सदा यजन करो, जो पिण्डब्रह्माण्ड में तथा समस्त प्राणियों में एकत्व से व्याप्त है—इसी में तुम्हारा सांसारिक तथा पारलौकिक कल्याण है। इससे कर्म, बुद्धि (ज्ञान) और प्रेम (भक्ति) के बीच का विरोध नष्ट हो जाता है; और सब आयु या जीवन ही को यज्ञमय करने के लिये उपदेश देनेवाले अकेले गीताधर्म में सकल वैदिकधर्म का सारांश आ जाता है। इस नित्यधर्म को पहचान कर, केवल कर्तव्य समझ करके, सर्वभूतहित के लिये प्रयत्न करनेवाले सैकड़ों महात्मा और कर्ता या वीर पुरुष जब इस पवित्र भारतभूमि को अलंकृत किया करते थे, तब यह देश परमेश्वर की कृपा का पात्र बनकर न केवल ज्ञान के वरन् ऐश्वर्य के भी शिखर पर पहुँच गया था। और कहना नहीं होगा, कि जब से दोनों

लोगों का साधक यह श्रेयस्कर धर्म छूट गया है, तभी से इस देश की निकृष्टावस्था का आरम्भ हुआ है । इसलिये ईश्वर से आशापूर्वक अन्तिम प्रार्थना यही है, कि भक्ति का, ब्रह्मज्ञान का और कर्तृत्वशक्ति का यथोचित मेल कर देनेवाले इस तेजस्वी तथा सम गीताधर्म के अनुसार परमेश्वर का यजन-पूजन करनेवाले सत्पुरुष इस देश में फिर भी उत्पन्न हों । और, अन्त में उदार पाठकों से निम्न मन्त्रद्वारा (ऋ. १०. १९१. ४) यह विनंति करके गीता का रहस्यविवेचन यहाँ समाप्त किया जाता है, कि इस ग्रन्थ में कहीं भ्रम से कुछ न्यूनाधिकता हुई हो, तो उसे समदृष्टि से सुधार लीजिये--

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
यथा वः सुसहासति ॥ *

---

* यह मंत्र ऋग्वेद संहिता के अन्त में आया है। यज्ञमण्डप में एकत्रित लोगों को लक्ष्य करके यह कहा गया है। अर्थ--"तुम्हारा अभिप्राय एक समान हो, तुम्हारे अंतःकरण एक समान हो; और तुम्हारा मन एक समान हो, जिससे तुम्हारा सुसाहृय होगा; अर्थात् संघशक्ति की दृढता होगी। " असति = अस्ति, यह वैदिक रूप है। 'यथा वः सुसहासति' इसकी द्विरुक्ति ग्रंथ की समाप्ति दिखलाने के लिये की गई है।

ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ।

परिशिष्ट—प्रकरण।

गीता की बहिरङ्गपरीक्षा।

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वाऽपि पापीयाञ्जायते तु सः॥ *

स्मृति।

पिछले प्रकरणों में इस बात का विस्तृत वर्णन किया गया है, कि जब भारतीय युद्ध में होनेवाले कुलक्षय और ज्ञातिक्षय का प्रत्यक्ष दृश्य पहले पहले आँखों के सामने उपस्थित हुआ, तब अर्जुन अपने क्षात्रधर्म का त्याग करके संन्यास का स्वीकार करने के लिये तैयार हो गया था; और उस समय उसको ठीक मार्ग पर लाने के लिये श्रीकृष्ण ने वेदान्तशास्त्र के आधार पर यह प्रतिपादन किया, कि कर्मयोग ही अधिक श्रेयस्कर है; कर्मयोग में बुद्धि ही की प्रधानता है। इसलिये ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से अथवा परमेश्वरभक्ति से अपने बुद्धि को साम्यावस्था में रख कर उस बुद्धि के द्वारा स्वधर्मानुसार सब कर्म करते रहने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। मोक्ष पाने के लिये इसके सिवा अन्य किसी बात की आवश्यकता नहीं हैं; और, इस प्रकार उपदेश करके, भगवान् ने अर्जुन को युद्ध करने में प्रवृत्त कर दिया। गीता का यही यथार्थ तात्पर्य है। अब "गीता को भारत में सम्मिलित करने का कोई प्रयोजन नहीं" इत्यादि जो शंकाएँ इस भ्रम से उत्पन्न हुई हैं—कि गीताग्रन्थ केवल वेदान्तविषयक और निवृत्तिप्रधान है—उनका निवारण भी आप-ही-आप हो जाता है। क्योंकि, कर्णपर्व में सत्यानृत का विवेचन करके जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युधिष्ठिर के वध से परावृत्त किया है, उसी प्रकार युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश भी आवश्यक था। और, यदि काव्य की दृष्टि से देखा जाय, तो भी यही सिद्ध होता है, कि महाभारत में अनेक स्थानों पर ऐसे ही जो अन्योन्य प्रसङ्ग देख पड़ते हैं, उन सब का मूल-

* "किसी मंत्र के ऋषि, छंद, देवता और विनियोग को न जानते हुए जो (उक्त मंत्र की) शिक्षा देता है अथवा जप करता है वह पापी होता है"—यह किसी न किसी स्मृतिग्रंथ का वचन है; परंतु मालूम नहीं, कि किस ग्रंथ का है। हाँ, उसका मूल आर्षेयब्राह्मण (आर्षेय. १) श्रुतिग्रंथ में पाया जाता है; वह यह है:—यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मंत्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छंति गर्तं वा प्रतिपद्यते।" अर्थात् ऋषि, छंद आदि किसी भी मंत्र के जो बहिरंग हैं उनके बिना मंत्र नहीं कहना चाहिये। यही न्याय गीता सरीखे ग्रंथ के लिए भी लगाया जा सकता है।

तत्त्व कहीं-न-कहीं बतलाना आवश्यक था। इसलिये उसे भगवद्गीता में बतलाकर व्यावहारिक धर्म-अधर्म के अथवा कार्य-अकार्य-व्यवस्थिति के निरूपण की पूर्ति गीता ही में की है। वनपर्व के ब्राह्मण-व्याध-संवाद में व्याध ने वेदान्त के आधार पर इस बात का विवेचन किया है, कि मैं मांस बेचने का रोजगार क्यों करता हूँ;" और, शांतिपर्व के तुलाधार-जाजलि-संवाद में भी, उसी तरह, तुलाधार ने अपने वाणिज्य-व्यवसाय का समर्थन किया है (वन. २०६-२१५ और शां. २६०-२६३)। परन्तु यह उपपत्ति उन विशिष्ट व्यवसायों ही की है। इसी प्रकार अहिंसा, सत्य आदि विषयों का विवेचन यद्यपि महाभारत में कई स्थानों पर मिलता है, तथापि वह भी एकदेशीय अर्थात् उन विशिष्ट विषयों के लिये ही है। इसलिये वह महाभारत का प्रधान भाग नहीं माना जा सकता। इस प्रकार के एकदेशीय विवेचन से यह भी निर्णय नहीं किया जा सकता, कि जिन भगवान् श्रीकृष्ण और पांडवों के उज्ज्वल कार्यों का वर्णन करने के लिये व्यासजी ने महाभारत की रचना की है, उन महानुभावों के चरित्रों को आदर्श मान कर मनुष्य उस प्रकार आचरण करे या नहीं। यदि यही मान लिया जाय, कि संसार निःसार है; और कभी-न-कभी संन्यास लेना ही हितकारक है; तो स्वभावतः ये प्रश्न उपस्थित होते हैं, कि श्रीकृष्ण तथा पांडवों को इतनी झंझट में पड़ने का कारण ही क्या था? और, यदि उनके प्रयत्नों का कुछ हेतु मान भी लिया जाय तो लोकसंग्रहार्थ उनका गौरव करके व्यासजी को तीन वर्ष पर्यन्त लगातार परिश्रम करके (म. भा. आ. ६२–५२) एक लाख श्लोकों के बृहत् ग्रंथ को लिखने का प्रयोजन ही क्या था? केवल इतना ही कह देने से ये प्रश्न यथेष्ट हल नहीं हो सकते, कि वर्णाश्रमकर्म चित्तशुद्धि के लिये किये जाते हैं। क्योंकि चाहे जो कहा जाय; स्वधर्माचरण अथवा जगत् के अन्य सब व्यवहार तो संन्यासदृष्टि से गौण ही माने जाते हैं। इसलिये, महाभारत में जिन महान् पुरुषों के चरित्रों का वर्णन किया गया है, उन महात्माओं के आचरण पर "मूले कुठारः" न्याय से होनेवाले आक्षेप को हटा कर, उक्त ग्रंथ में कहीं–न–कहीं विस्तारपूर्वक यह बतलाना आवश्यक था, कि संसार के सब काम करना चाहिये अथवा नहीं। और यदि कहा जाय, कि करना चाहिये; तो प्रत्येक मनुष्य को अपना अपना कर्म संसार में किस प्रकार करना चाहिये, जिससे वह कर्म उसकी मोक्षप्राप्ति के मार्ग में बाधा न डाल सके। नलोपाख्यान, रामोपाख्यान आदि महाभारत के उपाख्यानों में उक्त बातों का विवेचन करना उपयुक्त न हुआ होता। क्योंकि ऐसा करने से उन उपांगों के सदृश यह विवेचन भी गौण ही माना गया होता। इसी प्रकार वनपर्व अथवा शांतिपर्व के अनेक विषयों की खिचड़ी में यदि गीता को भी सम्मिलित कर दिया जाता, तो उसका महत्त्व अवश्य घट गया होता। अतएव, उद्योगपर्व समाप्त होने पर महाभारत का प्रधान कार्य––भारतीय युद्ध––आरंभ होने के ठीक मौक़े पर ही, उस कार्य पर ऐसे आक्षेप किये गये हैं

जो नीतिधर्म की दृष्टि से अपरिहार्य देख पड़ते हैं; और वहीं यह कर्मअकर्म विवेचन का स्वतन्त्र शास्त्र उपपत्तिसहित बतलाया गया है। सारांश, पढ़नेवाले कुछ देर के लिये यदि यह परंपरागत कथा भूल जायँ, कि श्रीकृष्णजी ने युद्ध के आरम्भ में ही अर्जुन को गीता सुनाई है; और यदि वे इसी बुद्धि से विचार करें, कि महाभारत में धर्मअधर्म का निरूपण करने के लिये रचा गया यह एक आर्ष-महाकाव्य है; तो भी यही देख पड़ेगा, कि गीता के लिये महाभारत में जो स्थान नियुक्त किया गया है, वही गीता का महत्त्व प्रगट करने के लिये काव्य-दृष्टि से भी अत्यन्त उचित है। जब इन बातों की ठीक ठीक उपपत्ति मालूम हो गई, कि गीता का प्रतिपाद्य विषय क्या है; और महाभारत में किस स्थान पर गीता बतलाई गई है; तब ऐसे प्रश्नों का कुछ भी महत्त्व देख नहीं पड़ता, कि "रणभूमि पर गीता का ज्ञान बतलाने की क्या आवश्यकता थी? कदाचित् किसी ने इस ग्रन्थ को महाभारत में पीछे से घुसेड़ दिया होगा! अथवा, भगवद्गीता में दस ही श्लोक मुख्य हैं या सौ?" क्योंकि अन्य प्रकरणों से भी यही देख पड़ता है, कि जब एक बार यह निश्चय हो गया, कि धर्म-निरूपणार्थ 'भारत' का 'महाभारत' करने के लिये अमुक विषय महाभारत में अमुक कारण से अमुक स्थान पर रखा जाना चाहिये; तब महाभारतकार इस बात की परवाह नहीं करते, कि उस विषय के निरूपण में कितना स्थान लग जायगा। तथापि गीता की बहिरङ्गपरीक्षा के सम्बन्ध में जो और दलीलें पेश की जाती हैं, उन पर भी अब प्रसंगानुसार विचार करके उनके सत्यांश की जाँच करना आवश्यक है। इसलिये उनमें से (१) गीता और महाभारत, (२) गीता और उपनिषद्, (३) गीता और ब्रह्मसूत्र, (४) भागवतधर्म का उदय और गीता, (५) वर्तमान गीता का काल, (६) गीता और बौद्धग्रन्थ, (७) गीता और ईसाइयों की बाइबल— इन सात विषयों का विवेचन इस प्रकरण के सात भागों में क्रमानुसार किया गया है। स्मरण रहे, कि उक्त बातों का विचार करते समय, केवल काव्य की दृष्टि से अर्थात् व्यावहारिक और ऐतिहासिक दृष्टि से ही महाभारत, गीता, ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् आदि ग्रन्थों का विवेचन बहिरङ्गपरीक्षक किया करते हैं इसलिये अब उक्त प्रश्नों का विचार हम भी उसी दृष्टि से करेंगे।

भाग १—गीता और महाभारत।

ऊपर यह अनुमान किया है, कि श्रीकृष्णजी सरीखे महात्माओं के चरित्रों का नैतिक समर्थन करने के लिये महाभारत में कर्मयोगप्रधान गीता, उचित कारणों से, स्थान में रखी गई है; और गीता महाभारत का ही एक भाग होना चाहिये। वही अनुमान इन दोनों ग्रन्थों की रचना की तुलना करने से अधिक दृढ़ हो जाता है! परन्तु, तुलना करने के पहले इन दोनों ग्रन्थों के वर्तमान स्वरूप का कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। अपने गीता-भाष्य के आरम्भ में श्रीमच्छङ्कराचार्यजी ने स्पष्ट रीति से कह दिया है, कि गीता

ग्रंथ में सात सौ श्लोक हैं। और, वर्तमान समय की सब पोथियों में भी उतने ही श्लोक पाये जाते हैं। इन सात सौ श्लोकों में से १ श्लोक धृतराष्ट्र का है, ४० संजय के, ८४ अर्जुन के और ५७५ भगवान् के हैं। बम्बई में गणपत कृष्णाजी के छापाखाने में मुद्रित महाभारत की पोथी में भीष्मपर्व में वर्णित गीता के अठारह अध्यायों के बाद जो अध्याय आरम्भ होता है, उसके (अर्थात् भीष्मपर्व के तेंतालीसवें अध्याय के) आरंम्भ में साढ़े पाँच श्लोकों में गीतामहात्म्य का वर्णन किया गया है और उसमें कहा हैः—

> षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
> अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु संजयः ।
> धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ॥

अर्थात् "गीता में केशव के ६२०, अर्जुन के ५७, सञ्जय के ६७ और धृतराष्ट्र का १, इस प्रकार कुल मिलाकर ७४५ श्लोक हैं।" मद्रास इलाखे में जो पाठ प्रचलित है, उसके अनुसार कृष्णाचार्यद्वारा प्रकाशित महाभारत की पोथी में ये श्लोक पाये जाते हैं। परन्तु कलकत्ते में मुद्रित महाभारत में ये नहीं मिलते; और भारत-टीकाकार नीलकंठ ने तो इनके विषय में यह लिखा है, कि इन ५½ श्लोकों को "गौडैः न पठचन्ते"। अतएव प्रतीत होता है, कि ये प्रक्षिप्त हैं। परन्तु, यद्यपि इन्हें प्रक्षिप्त मान लें; तथापि यह नहीं बतलाया जा सकता, कि गीता में ७४५ श्लोक (अर्थात् वर्तमान पोथियों में जो ७०० श्लोक हैं उनसे ४५ श्लोक अधिक) किसे और कब मिले। महाभारत बड़ा भारी ग्रंथ है। इसलिये संभव है, कि इसमें समय समय पर अन्य श्लोक जोड़ दिये गये हों तथा कुछ निकाल डाले गये हों। परन्तु यह बात गीता के विषय में नहीं कही जा सकती। गीताग्रन्थ सदैव पठनीय होने के कारण वेदों के सदृश पूरी गीता को कण्ठाग्र करनेवाले लोग भी पहले बहुत थे, और अब तक भी कुछ हैं। यही कारण है, कि वर्तमान गीता के बहुत-से पाठान्तर नहीं हैं; और जो कुछ भिन्न पाठ हैं, वे सब टीकाकारों को मालूम हैं। इसके सिवा यह भी कहा जा सकता है, कि इसी हेतु से गीताग्रन्थ में बराबर ७०० श्लोक रखे गये हैं, कि इसमें कोई फेरफार न कर सके। अब प्रश्न यह है, कि बम्बई तथा मद्रास में मुद्रित महाभारत की प्रतियों ही में ४५ श्लोक--और वे भी सब भगवान् ही के--ज्यादा कहाँ से आ गये ? सञ्जय और अर्जुन के श्लोकों का जोड़ वर्तमान प्रतियों में, और इस गणना में समान अर्थात् १२४ है; और ग्यारहवें अध्याय के "पश्यामि देवान्०" (११. १५-३१) आदि १७ श्लोकों के साथ मतभेद के कारण सम्भव है, कि अन्य दस श्लोक भी सञ्जय के माने जावें। इसलिये कहा जा सकता है, कि यद्यपि सञ्जय और अर्जुन के श्लोकों का जोड़ समान ही है, तथापि प्रत्येक श्लोक को पृथक् पृथक् गिनने में कुछ फ़र्क़ हो गया होगा। परन्तु इस बात का कुछ पता नहीं लगता, कि वर्तमान प्रतियों में भगवान् के जो ५७५

श्लोक हैं, उनके बदले ६२० (अर्थात् ४५ अधिक) कहाँ से आ गये । यदि यह कहते हैं, कि गीता का 'स्तोत्र' या 'ध्यान' या इसी प्रकार के अन्य किसी प्रकरण का इसमें समावेश किया गया होगा; तो देखते हैं, कि बम्बई में मुद्रित महाभारत की पोथी में वह प्रकरण नहीं है । इतना ही नहीं; किन्तु इस पोथीवाली गीता में भी सात सौ श्लोक हैं । अतएव, वर्तमान सात सौ श्लोकों की गीता ही को प्रमाण मानने के सिवा अन्य मार्ग नहीं है । यह हुई गीता की बात । परन्तु, जब महाभारत की ओर देखते हैं, तो कहना पड़ता है, कि यह विरोध कुछ भी नहीं है । स्वयं भारत ही में यह कहा है, कि महाभारतसंहिता की संख्या एक लाख है । परन्तु रावबहादुर चिंतामणीराव वैद्य ने महाभारत के अपने टीका-ग्रन्थ में स्पष्ट करके बतलाया है, कि वर्तमान प्रकाशित पोथियों में उतने श्लोक नहीं मिलते; और भिन्न भिन्न पर्वों के अध्यायों की संख्या भी भारत के आरम्भ में दी गई अनुक्रमणिका के अनुसार नहीं है । ऐसी अवस्था में गीता और महाभारत की तुलना करने के लिये इन ग्रन्थों की किसी-न-किसी विशेष पोथी का आधार लिये बिना काम नहीं चल सकता । अतएव श्रीमच्छङ्कराचार्य ने जिस सात सौ श्लोकोंवाली गीता को प्रमाण माना है, उसी गीता को और कलकत्ते के बाबू प्रतापचन्द्रराय-द्वारा प्रकाशित महाभारत की पोथी को प्रमाण मान कर हमने इन दोनों ग्रन्थों की तुलना की है; और हमारे इस ग्रन्थ में उद्धृत महाभारत के श्लोकों का स्थाननिर्देश भी, कलकत्ते में मुद्रित उक्त महाभारत के अनुसार ही किया गया है । इन श्लोकों को बम्बई की पोथी में अथवा मद्रास के पाठक्रम के अनुसार प्रकाशित कृष्णाचार्य की प्रति में देखना हो; और यदि वे हमारे निर्दिष्ट किये हुए स्थानों पर न मिले, तो कुछ आगे पीछे ढूँढने से वे मिल जायँगे ।

सात सौ श्लोकों की गीता और कलकत्ते के बाबू प्रतापचन्द्रराय-द्वारा प्रकाशित महाभारत की तुलना करने से प्रथम यही देख पड़ता है, कि भगवद्गीता महाभारत ही का एक भाग है; और इस बात का उल्लेख स्वयं महाभारत में ही कई स्थानों में पाया जाता है । पहला उल्लेख आदिपर्व के आरम्भ में दूसरे अध्याय में दी गई अनुक्रमणिका में किया गया है । पर्ववर्णन में पहले यह कहा है--"पूर्वोक्तं भगवद्गीता पर्व भीष्मवधस्ततः" (म. भा. आ. २. ६९); और फिर अठारह पर्वों के अध्यायों और श्लोकों की संख्या बतलाते समय भीष्मपर्व के वर्णन में पुनश्च भगवद्गीता का स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया गया है :--

> कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः ।
> मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः ॥
>
> (म. भा. आ. २. २४७)

अर्थात् "जिसमें मोक्षगर्भ कारण बतलाकर वासुदेव ने अर्जुन के मन का मोहज कश्मल दूर कर दिया ।" इसी प्रकार आदिपर्व (१. १७९) के पहले अध्याय में

प्रत्येक श्लोक के आरम्भ में "यदाश्रौषं" कहकर, जब धृतराष्ट्र ने बतलाया है, कि दुर्योधन प्रभृति की जयप्राप्ति के विषय में किस किस प्रकार मेरी निराशा होती गई; तब यह वर्णन है, कि "ज्योंही सुना, कि अर्जुन के मन में मोह उत्पन्न होने पर श्रीकृष्ण ने उसे विश्वरूप दिखलाया, त्योंही जय के विषय में मेरी पूरी निराशा हो गई ।" आदिपर्व के इन तीनों उल्लेखों के बाद शान्तिपर्व के अन्त में नारायणीय धर्म का वर्णन करते हुए गीता का फिर भी उल्लेख करना पड़ा है । नारायणीय सात्वत, ऐकान्तिक, और भागवत--ये चारों नामसमानार्थक हैं । नारायणीयोपाख्यान (शां. ३३४-३५१) में उस भक्तिप्रधान प्रवृत्तिमार्ग के उपदेश का वर्णन किया गया है, कि जिसका उपदेश नारायण ऋषि अथवा भगवान् ने श्वेतद्वीप में नारदजी को किया था । पिछले प्रकरणों में भागवतधर्म के इस तत्त्व का वर्णन किया जा चुका है, कि वासुदेव की एकान्तभाव से भक्ति करके इस जगत् के सब व्यवहार स्वधर्मानुसार करते रहने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है; और यह भी बतला दिया गया है, कि इसी प्रकार भगवद्गीता में भी संन्यासमार्ग की अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठतर माना गया है । इस नारायणीय धर्म की परंपरा का वर्णन करते समय वैशंपायन जनमेजय से कहते हैं, कि यह धर्म साक्षात् नारायण से नारद को प्राप्त हुआ है; और यही धर्म "कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पतः" (म. भा. शां. ३४६. १०) हरिगीता अथवा भगवद्गीता में बतलाया गया है । इसी प्रकार आगे चल कर ३४८ वें अध्याय के ८ वें श्लोक में यह बतलाया गया है, कि--

> समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे ।
> अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥

कौरव और पाण्डवों के युद्ध के समय विमनस्क अर्जुन को भगवान् ने ऐकान्तिक अथवा नारायणधर्म की इन विधियों का उपदेश किया था; और, सब युगों में स्थित नारायणधर्म की परम्परा बतला कर पुनश्च कहा है, कि इस धर्म का और यतियों के धर्म अर्थात् संन्यासधर्म का वर्णन 'हरिगीता' में किया गया है (म. भा. शां. ३४८. ५३) । आदिपर्व और शान्तिपर्व में किये गये इन छः उल्लेखों के अतिरिक्त, अश्वमेधपर्व के अनुगीतापर्व में भी और एक बार भगवद्गीता का उल्लेख किया गया है । जब भारतीय युद्ध पूरा हो गया, युधिष्ठिर का राज्याभिषेक भी हो गया; और एक दिन श्रीकृष्ण तथा अर्जुन एकत्र बैठे हुए थे; तब श्रीकृष्ण ने कहा "यहाँ अब मेरे रहने की कोई आवश्यकता नहीं है । द्वारका को जाने की इच्छा है ।" इस पर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की, कि पहले युद्ध के आरम्भ में आपने मुझे जो उपदेश किया था वह मैं भूल गया; इसलिये वह मुझे फिर से बतलाइये (अश्व. १६) । तब इस बिनती के अनुसार--द्वारका को जाने के पहले--श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अनुगीता सुनाई । इस अनुगीता के आरम्भ ही में भगवान् ने कहा है--"दुर्भाग्य-

वश तू उस उपदेश को भूल गया; जिसे मैंने तुझे युद्ध के आरम्भ में बतलाया था। उस उपदेश को फिर से वैसा ही बतलाना अब मेरे लिये भी असम्भव है। इसलिये उसके बदले तुझे कुछ अन्य बातें बतलाता हूँ" (म. भा. अश्व. अनुगीता. १६. ९-१३) यह बात ध्यान देने योग्य है, कि अनुगीता में वर्णित कुछ प्रकरण गीता के प्रकरणों के समान ही हैं। अनुगीता के निर्देश को मिलाकर महाभारत में भगवद्गीता का सात बार स्पष्ट उल्लेख हो गया है। अर्थात् अन्तर्गत प्रमाणों से स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है, कि भगवद्गीता वर्तमान महाभारत का ही एक भाग है।

परन्तु सन्देह की गति निरंकुश रहती है; इसलिये उपर्युक्त सात निर्देशों से भी कई लोगों का समाधान नहीं होता। वे कहते हैं, कि यह कैसे सिद्ध हो सकता है, कि यह उल्लेख भी भारत में पीछे से नहीं जोड़ दिये गये होंगे? इस प्रकार उनके मन में यह शंका ज्यों-की-त्यों रह जाती है, कि गीता महाभारत का भाग है अथवा नहीं। पहले तो यह शंका केवल इसी समझ से उपस्थित हुई है, कि गीताग्रंथ ब्रह्मज्ञान-प्रधान है। परन्तु हमने पहले ही विस्तारपूर्वक बतला दिया है, कि यह समझ ठीक नहीं। अतएव यथार्थ में देखा जाय, तो अब इस शंका के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। तथापि इन प्रमाणों पर ही अवलंबित न रहते हुए हम बतलाना चाहते हैं, कि अन्य प्रमाणों से भी उक्त शंका की अयथार्थता सिद्ध हो सकती है। जब दो ग्रन्थों के विषय में यह शंका की जाती है, कि वे दोनों एक ही ग्रंथकार के हैं या नहीं; तब काव्यमीमांसकगण पहले इन दोनों बातों-- शब्दसादृश्य और अर्थसादृश्य--का विचार किया करते हैं। शब्दसादृश्य में केवल शब्दों ही का समावेश नहीं होता; किन्तु उसमें भाषारचना का भी समावेश किया जाता है। इस दृष्टि से विचार करते समय देखना चाहिये, कि गीता की भाषा और महाभारत की भाषा में कितनी समता है। परन्तु महाभारत ग्रन्थ बहुत बड़ा और विस्तीर्ण है; इसलिये उसमें मौक़े मौक़े पर भाषा की रचना भी भिन्न भिन्न रीति से की गई है। उदाहरणार्थ, कर्णपर्व में कर्ण और अर्जुन के युद्ध का वर्णन पढ़ने से देख पडता है, कि उसकी भाषारचना अन्य प्रकरणों की भाषा से भिन्न है। अतएव यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है, कि गीता और महाभारत की भाषा में समता है या नहीं। तथापि, सामान्यतः विचार करने पर हमें परलोकवासी काशीनाथपन्त तैलंग* के मत से सहमत होकर कहना पड़ता है, कि गीता की भाषा तथा छन्दरचना आर्ष अथवा प्राचीन है। उदाहरणार्थ, काशीनाथपन्त ने यह बतलाया है, कि अन्त (गी. २. १६), भाषा (गी. २. ५४), ब्रह्म (=प्रकृति,

* स्वर्गीय काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग-द्वारा रचित भगवद्गीता का अंग्रेज़ी अनुवाद मैक्समूलर साहब द्वारा संपादित प्राच्यधर्म-पुस्तकमाला (Sacred Books of the East Series, Vol. VIII) में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में गीता पर एक टीकात्मक लेख प्रस्तावना के तौर पर जोड़ दिया गया है। स्वर्गीय तैलंग के मतानुसार इस प्रकरण में जो उल्लेख हैं, वे (एक स्थान को छोड) इस प्रस्तावना को लक्ष्य करके ही किये गये हैं।

गी. १४. ३), योग (=कर्मयोग), पादपूरक अव्यय 'ह' (गी. २. ९.) आदि शब्दों का प्रयोग गीता में जिस अर्थ में किया गया है, उस अर्थ में वे शब्द कालिदास प्रभृति के काव्यों में नहीं पाये जाते । और पाठभेद ही से क्यों न हो; परन्तु गीता के ११. ३५ श्लोक में 'नमस्कृत्वा' यह अपाणिनीय शब्द रखा गया है, तथा गी. ११. ४८ में 'शक्य अहं' इस प्रकार अपाणिनीय संधि भी की गई है। इसी तरह 'सेनानीनामहं स्कंदः' (गी. १०. २४) में जो 'सेनानीनां' षष्ठी कारक है, वह भी पाणिनी के अनुसार शुद्ध नहीं है । आर्ष वृत्तरचना के उदाहरणों को स्वर्गीय तैलंग ने स्पष्ट करके नहीं बतलाया है । परन्तु हमें यह प्रतीत होता है, कि ग्यारहवें अध्यायवाले विश्वरूपवर्णन के (गी. ११.१५-५०) छत्तीस श्लोकों को लक्ष्य करके ही उन्होंने गीता की छन्दरचना को आर्ष कहा है। इन श्लोकों के प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर हैं; परन्तु गणों का कोई नियम नहीं है। एक इन्द्रवज्रा है तो दूसरा उपेन्द्रवज्रा, तीसरा है शालिनी तो चौथा किसी अन्य प्रकार का। इस तरह उक्त छत्तीस श्लोकों में—अर्थात् १४४ चरणों में—भिन्न भिन्न जाति के कुल ग्यारह चरण देख पड़ते हैं। तथापि वहाँ यह नियम भी देख पड़ता है, कि प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर हैं; और उनमें से पहला, चौथा, आठवाँ और अन्तिम दो अक्षर गुरु हैं; तथा छठवाँ अक्षर प्रायः लघु ही है। इससे यह अनुमान किया जाता है, कि ऋग्वेद तथा उपनिषदों के त्रिष्टुप् के ढँग पर ही ये श्लोक रचे गये हैं। ऐसे ग्यारह अक्षरों के विषमवृत्त कालिदास के काव्यों में नहीं मिलते। हाँ, शाकुन्तल नाटक का 'अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः' यह श्लोक इसी छन्द में है; परन्तु कालिदास ही ने उसे 'ऋक्छन्द' अर्थात् ऋग्वेद का छन्द कहा है। इससे यह बात प्रगट हो जाती है, कि आर्षवृत्तों के प्रचार के समय ही में गीताग्रंथ की रचना हुई है । महाभारत के अन्य स्थलों में उक्त प्रकार के आर्ष शब्द और वैदिक वृत्त देख पड़ते हैं । परन्तु इसके अतिरिक्त, इन दोनों ग्रंथों के भाषासादृश्य का दूसरा दृढ प्रमाण यह है, कि महाभारत और गीता में एक ही से अनेक श्लोक पाये जाते हैं। महाभारत के सब श्लोकों की छानबीन कर यह निश्चित करना कठिन है, कि उनमें से गीता में कितने श्लोक उपलब्ध हैं । परन्तु महाभारत पढ़ते समय उसमें जो श्लोक न्यूनाधिक पाठभेद से गीता के श्लोकों के सदृश हमें जान पड़े, उनकी संख्या भी कुछ कम नहीं है; और उनके आधार पर भाषासादृश्य के प्रश्न का निर्णय भी सहज ही हो सकता है । नीचे दिये गये श्लोक और श्लोकार्ध, गीता और महाभारत (कलकत्ता की प्रति) में, शब्दशः अथवा एक-आध शब्द की भिन्नता होकर, ज्यों-के-त्यों मिलते हैं :—

गीता ।	महाभारत ।
१. ९ नानाशस्त्रप्रहरणा० श्लोकार्ध	भीष्मपर्व (५१. ४); गीता के सदृश ही दुर्योधन द्रोणाचार्य से अपनी सेना का वर्णन कर रहा है।

१. १० अपर्याप्तं० पूरा श्लोक ।	भीष्म. ५१. ६
१. १२—१९ तक आठ श्लोक ।	भीष्म ५१. २२–२९; कुछ भेद रहते हुए शेष गीता के श्लोकों के समान ही है ।
१. ४५ अहो बत महत्पापं० श्लोकार्ध ।	द्रोण. १९७. ५०; कुछ शब्दभेद हैं, शेष-गीता के श्लोक के समान ।
२. १९ उभौ तौ न विजानीतः०श्लोकार्ध ।	शान्ति. २२४. १४; कुछ पाठभेद होकर बलि-वासव-संवाद और कठोपनिषद् में (२. १८) है ।
२. २८ अव्यक्तादीनि भूतानि० श्लोक ।	स्त्री. २. ६. ९–११; 'अव्यक्त' के बदले 'अभाव' है, शेष सब समान है ।
२. ३१ धर्म्याद्धि युद्धात्श्रेयो०श्लोकार्ध ।	भीष्म. १२४. ३६; भीष्म कर्ण को यही बतला रहे हैं ।
२. ३२ यदृच्छया० श्लोक ।	कर्ण. ५७. २ 'पार्थ' के बदले 'कर्ण' पद रख कर दुर्योधन कर्ण से कह रहा है ।
२. ४६ यावान् अर्थ उदपाने० श्लोक ।	उद्योग. ४५. २६; सनत्सुजातीय प्रकरण में कुछ शब्दभेद से पाया जाता है ।
२. ५९ विषया विनिवर्तन्ते० श्लोक ।	शान्ति. २०४. १६; मनु-बृहस्पति-संवाद में अक्षरशः मिलता है ।
२. ६७ इन्द्रियाणां हि चरतां० श्लोक ।	वन. २१०. २६; ब्राह्मण-व्याधसंवाद में कुछ पाठभेद से आया है और पहले रथ का रूपक भी दिया गया है ।
२. ७० आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं०श्लोक ।	शान्ति २५०. ९; शुकानुप्रश्न में ज्यों-का-त्यों आया है ।
३. ४२ इन्द्रियाणि पराण्याहुः० श्लोक ।	शान्ति. २४५. ३ और २४७.२ का कुछ पाठभेद से शुकानुप्रश्न में दो बार आया है । परन्तु इस श्लोक का मूल-स्थान कठोपनिषद् में है (कठ. ३. १०) ।
४. ७ यदा यदा हि धर्मस्य० श्लोक ।	वन. १८९. २७; मार्कंडेय प्रश्न में ज्यों-का-त्यों है ।
४. ३१ नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य० श्लोकार्ध ।	शान्ति. २६७. ४०; गोकापिलीयाख्यान में पाया जाता है, और सब प्रकरण यज्ञविषयक ही है ।
४. ४० नायं लोकोऽस्ति न परो० श्लोकार्ध ।	वन. १९९. ११०; मार्कंडेय समस्यापर्व में शब्दशः मिलता है ।

५. ५ यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं० श्लोक ।	शान्ति. ३०५. १९ और ३१६. ४. इन दोनों स्थानों में कुछ पाठभेद से वसिष्ठ-कराल और याज्ञवल्क्य-जनक के संवाद में पाया जाता है ।
५. १८ विद्याविनयसंपन्ने० श्लोक ।	शान्ति. २३८. १९; शुकानुप्रश्न में अक्षरशः मिलता है ।
६. ५ आत्मैव ह्यात्मनो बंधु० श्लोकार्ध । और आगामी श्लोक का अर्ध ।	उद्योग. ३३. ६३, ६४. विदुरनीति में ठीक ठीक मिलता है ।
६. २९ सर्वभूतस्थमात्मानं० श्लोकार्ध ।	शान्ति. २३८. २१; शुकानुप्रश्न, मनुस्मृति (१२. ९१), ईशावास्योपनिषद् (६) और कैवल्योपनिषद् (१, १०) में तो ज्यों–का–त्यों मिलता है ।
६. ४४ जिज्ञासुरपि योगस्य० श्लोकार्ध ।	शान्ति. २३५. ७. शुकानुप्रश्न में कुछ पाठ-भेद करके रखा गया है ।
८. १७ सहस्त्रयुगपर्यन्तं० यह श्लोक पहले युगका अर्थ न बतला कर गीता में दिया गया है ।	शान्ति. २३१. ३१. शुकानुप्रश्न में अक्षरशः मिलता है; और युग का अर्थ बतलानेवाला कोष्टक भी पहले दिया गया है । मनुस्मृति में भी कुछ पाठान्तर से मिलता है (मनु. १. ७३) ।
८. २० यः स सर्वेषु भूतेषु० श्लोकार्ध ।	शान्ति. ३३९. २३. नारायणीय धर्म में कुछ पाठान्तर होकर दो बार आया है ।
९. ३२ स्त्रियो वैश्यास्तथा० यह पूरा श्लोक और आगामी श्लोक का पूर्वार्ध ।	अश्व. १९. ६१. और ६२, अनुगीता में कुछ पाठान्तर के साथ ये श्लोक हैं ।
१३. १३ सर्वतः पाणिपादं० श्लोक ।	शान्ति. २३८. २९. अश्व. १९, ४९; शुकानुप्रश्न, अनुगीता तथा अन्यत्र भी यह अक्षरशः मिलता है । इस श्लोक का मूलस्थान श्वेताश्वतरोपनिषद् (३. १६) है ।
१३. ३० यदा भूतपृथग्भावं० श्लोक ।	शान्ति, १७. २३; युधिष्ठिर ने अर्जुन से येही शब्द कहे हैं ।
१४. १८ उर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था० श्लोक ।	अश्व ३९. १०; अनुगीता के गुरु-शिष्य-संवाद में अक्षरशः मिलता है ।
१६. २१ त्रिविधं नरकस्येदं० श्लोक ।	उद्योग. ३२, ७. विदुरनीति में अक्षरशः मिलता है ।

१७. ३ श्रद्धामयोऽयं पुरुषः० श्लोकार्ध। शान्ति. २६३. १७; तुलाधार-जाजलि-संवाद के श्रद्धाप्रकरण में मिलता है।

१८. १४ अधिष्ठानं तथा कर्ता० श्लोक। शान्ति. ३४७. ८७ नारायणीयधर्म में अक्षरशः मिलता है।

उक्त तुलना से यह बोध होता है, कि २७ पूरे श्लोक और १२ श्लोकार्ध, गीता तथा महाभारत के भिन्न भिन्न प्रकरणों में—कहीं कहीं तो अक्षरशः और कहीं कहीं कुछ पाठान्तर होकर--एक ही से हैं; और, यदि पूरी तौर से जाँच की जावे, तो और भी बहुतेरे श्लोकों तथा श्लोकार्धों का मिलना सम्भव है। यदि यह देखना चाहें, कि दो दो अथवा तीन तीन शब्द अथवा श्लोक के चतुर्थांश (चरण), गीता और महाभारत में कितने स्थानों पर एक-से हैं, तो उपर्युक्त तालिका कहीं अधिक बढ़ानी होगी *। परन्तु इस शब्दसाम्य के अतिरिक्त केवल उपर्युक्त तालिका के श्लोकसादृश्य का विचार करें; तो बिना यह कहे नहीं रहा जा सकता, कि महाभारत के अन्य प्रकरण और गीता ये दोनों एक ही लेखनी के फल हैं। यदि प्रत्येक प्रकरण पर विचार किया जाय, तो यह प्रतीत हो जायगा, कि उपर्युक्त ३३ श्लोकों में से १ मार्कंडेय-प्रश्न में, ½ मार्कंडेय-समस्या में, १ ब्राह्मण-व्याध-संवाद में, २ विदुरनीति में, १ सनत्सुजातीय में, १ मनु-बृहस्पति-संवाद में, ६½ शुकानुप्रश्न में, १ तुलाधार-जाजलीसंवाद में, १ वसिष्ठ-कराल और याज्ञवल्क्य-जनकसंवाद में, १½ नारायणीय धर्म में, २½ अनुगीता में और शेष भीष्म, द्रोण, तथा स्त्रीपर्व में उपलब्ध हैं। इन में से प्रायः सब जगह ये श्लोक पूर्वापर संदर्भ के उक्त उचित स्थानों पर ही मिलते हैं—प्रक्षिप्त नहीं हैं; और यह भी प्रतीत होता है, कि इनमें से कुछ श्लोक गीता ही में समारोप दृष्टि से लिये गये हैं। उदाहरणार्थ, "सहस्रयुग-पर्यन्तम्" (गीता. ८. १७) इस श्लोक के स्पष्टीकरणार्थ पहले वर्ष और युग की व्याख्या बतलाना आवश्यक था; और महाभारत (शां. २३१) तथा मनुस्मृति में इस श्लोक के पहले उनके लक्षण भी कहे गये हैं। परन्तु गीता में यह श्लोक (युग आदि की व्याख्या न बतला कर) एकदम कहा गया है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह नहीं कहा जा सकता, कि महाभारत के अन्य प्रकरणों में ये श्लोक गीता ही से

* यदि इस दृष्टि से संपूर्ण महाभारत देखा जाय, तो गीता और महाभारत में समान श्लोकपाद अर्थात् चरण सौ से भी अधिक देख पड़ेंगे। उनमें से कुछ यहाँ दिये जाते हैं--किं भोगैर्जीवितेन वा (गी. १. ३२), नैतत्त्वय्युपपद्यते (गी. २. ३), त्रायते महतो भयात् (२. ४०), अशान्तस्य कुतः सुखम् (२. ६६), उत्सीदेयुरिमे लोकाः (३. २४) मनो दुर्निग्रहं चलम् (६. ३५), ममात्मा भूतभावनः (९. ५), मोघाशा मोघकर्माणः (९. १२), समः सर्वेषु भूतेषु (९. २९), दीप्तानलार्कद्युतिं. (११. १७), सर्वभूतहिते रताः (१२. ४), तुल्यनिंदास्तुतिः (१२. १९). संतुष्टो येनकेनचित् (१२. १९), समलोष्टाश्मकांचनः (१४. २४), त्रिविधा कर्मचोदना (१८. १८), निर्ममः शान्तः (१८. ५३); ब्रह्मभूयाय कल्पते (१८. ५३) इत्यादि।

उद्धृत किये गये हैं; और, इनके भिन्न भिन्न प्रकरणों में से गीता में इन श्लोकों का लिया जाना भी संभव नहीं है । अतएव, यही कहना पड़ता है, कि गीता और महाभारत के इन प्रकरणों का लिखनेवाला कोई एक ही पुरुष होना चाहिये । यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है, कि जिस प्रकार मनुस्मृति के कई श्लोक महाभारत में मिलते हैं, * उसी प्रकार गीता का यह पूर्ण श्लोक "सहस्रयुगपर्यन्तम्" (८. १७) कुछ हेरफेर के साथ, और यह श्लोकार्थ "श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्" (गी. ३. ३५ और गी १८. ४७)—'श्रेयान्' के बदले 'वरं' पाठान्तर होकर—मनुस्मृति में पाया जाता है, तथा "सर्वभूतस्थमात्मानम्" यह श्लोकार्ध भी (गी. ६. २९) "सर्वभूतेषु चात्मानम्" इस रूप से मनुस्मृति में पाया जाता है (मनु. १-७३; १०. ९७; १२. ९१) । महाभारत के अनुशासनपर्व में तो "मनुनाभिहितं शास्त्रम्" (अनु ४७· ३५) कह कर मनुस्मृति का स्पष्ट रीति से उल्लेख किया गया है ।

शब्दसादृश्य के बदले यदि अर्थसादृश्य देखा जाय, तो भी उक्त अनुवाद दृढ हो जाता है । पिछले प्रकरणों में गीता के कर्मयोगमार्ग और प्रवृत्तिप्रधान भागवतधर्म में व्यक्तसृष्टि की उपपत्ति की जो यह परम्परा बतलाई गई है, कि वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध और अनिरुद्ध से ब्रह्मदेव हुए; वह गीता में नहीं ली गई । इसके अतिरिक्त यह भी सच है, कि गीताधर्म और नारायणीयधर्म में अनेक भेद हैं । परन्तु चतुर्व्यूह परमेश्वर की कल्पना गीता को मान्य भले न हो; तथापि गीता के इन सिद्धान्तों पर विचार करने से प्रतीत होता है, कि गीताधर्म और भागवतधर्म एक ही से हैं । वे सिद्धान्त ये हैं—एकव्यूह वासुदेव की भक्ति ही राजमार्ग है; किसी भी अन्य देवता की भक्ति की जाय, वह वासुदेव ही को अर्पण हो जाती है; भक्त चार प्रकार के होते हैं; स्वधर्म के अनुसार सब कर्म करके भगवद्भक्त को यज्ञचक्र जारी रखना ही चाहिये; और संन्यास लेना उचित नहीं है । पहले यह भी बतलाया जा चुका है, कि विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि सांप्रदायिक परंपरा भी दोनों ओर एक ही है । इसी प्रकार सनत्सुजातीय, शुकानुप्रश्न, याज्ञवल्क्य-जनकसंवाद अनुगीता इत्यादि प्रकरणों को पढ़ने से यह बात ध्यान में आ जायगी, कि गीता में वर्णित वेदान्त या अध्यात्मज्ञान भी उक्त प्रकरणों में प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान से मिलता जुलता है । कापिलसांख्यशास्त्र के २५ तत्त्वों और गुणोत्कर्ष के सिद्धान्त से सहमत होकर भी भगवद्गीता ने जिस प्रकार यह माना है, कि प्रकृति और पुरुष के भी परे कोई नित्यतत्त्व है; उसी प्रकार शान्तिपर्व के वसिष्ठ-कराल-जनक-संवाद में और याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद में विस्तारपूर्वक यह

---

* 'प्राच्यधर्मपुस्तकमाला' में मनुस्मृति का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हुआ है; उसमें बूलर साहब ने एक फेहरिस्त जोड़ दी है; और यह भी बतलाया है, कि मनुस्मृति के कौन कौन-से श्लोक महाभारत में मिलते हैं (S. B. E. Vol. XXV. p. 533 देखो) ।

प्रतिपादन किया गया है, कि सांख्यों के २५ तत्त्वों के परे एक 'छब्बीसवाँ' तत्त्व और है, जिसके ज्ञान के बिना कैवल्य प्राप्त नहीं होता। यह विचारसादृश्य केवल कर्मयोग या अध्यात्म इन्हीं दो विषयों के सम्बन्ध में ही नहीं देख पड़ता; किन्तु इन दो मुख्य विषयों के अतिरिक्त गीता में जो अन्यान्य विषय हैं, उनकी बराबरी के प्रकरण भी महाभारत में कई जगह पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, गीता के पहले अध्याय के आरम्भ में ही द्रोणाचार्य से दोनों सेनाओं का जैसा वर्णन दुर्योधन ने किया है, ठीक वैसा ही वर्णन—आगे भीष्मपर्व के ५१ वें अध्याय में—उसने फिर से द्रोणाचार्य ही के निकट किया है। पहले अध्याय के उत्तरार्ध में अर्जुन को जैसा विषाद हुआ, वैसा ही युधिष्ठिर को शान्तिपर्व के आरम्भ में हुआ है; और जब भीष्म तथा द्रोण का 'योगबल' से वध करने का समय समीप आया, तब अर्जुन ने अपने मुख से फिर भी वैसे ही खेदयुक्त वचन कहे हैं (भीष्म. ९७. ४-७; और १०८. ८८-९४)। गीता (१. ३२, ३३) के आरम्भ में अर्जुन ने कहा है, कि जिनके लिये उपभोग प्राप्त करना है, उन्हीं का वध करके जय प्राप्त करें, तो उसका उपयोग ही क्या होगा? और जब युद्धमें सब कौरवों का वध हो गया, तब यही बात दुर्योधन के मुख से भी निकली है (शल्य. ३१. ४२-५१)। दूसरे अध्याय के आरम्भ में जैसे सांख्य और कर्मयोग ये दोनों निष्ठाएँ बतलाई गई हैं, वैसे ही नारायणीय धर्म में और शान्तिपर्व के जापकोपाख्यान तथा जनक-सुलभा-संवाद में भी इन निष्ठाओं का वर्णन पाया जाता है (शां. १९६ और ३२०)। तीसरे अध्याय में कहा है—अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है, कर्म न किया जाय, तो उपजीविका भी न हो सकेगी, इत्यादि। सो यही बातें वनपर्व के आरम्भ में द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कही हैं (वन. ३२); और उन्हीं तत्त्वों का उल्लेख अनुगीता में फिर से किया गया है। श्रौतधर्म या स्मार्तधर्म यज्ञमय है, यज्ञ और प्रजाको ब्रह्मदेवने एकही साथ निर्माण किया है, इत्यादि गीता का प्रवचन नारायणीय धर्म के अतिरिक्त शान्तिपर्व के अन्य स्थानों में (शां. २६७) और मनुस्मृति (३) में भी मिलता है। तुलाधार-जाजली-संवाद में तथा ब्राह्मण-व्याध-संवाद में भी यही विचार मिलते हैं, कि स्वधर्म के अनुसार कर्म करने में कोई पाप नहीं है (शां. २६०-२६३ और वन. २०६-२१५)। इसके सिवा, सृष्टि की उत्पत्ति का जो थोड़ा वर्णन गीता के सातवें और आठवें अध्यायों में है, उसी प्रकार का वर्णन शान्तिपर्व के शुकानुप्रश्न में भी पाया जाता है (शां. २३१)। और छठवें अध्याय में पातंजलयोग के आसनों का जो वर्णन है, उसी का फिर से शुकानुप्रश्न (शां. २३९) में और आगे चलकर शान्तिपर्व के अध्याय ३०० में तथा अनुगीता में भी विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है (अश्व. १९)। अनुगीता के गुरुशिष्यसंवाद में किये गये मध्यमोत्तम वस्तुओं के वर्णन (अश्व. ४३ और ४४) और गीता के दसवें अध्याय के विभूतिवर्णन के विषय में तो यह कहा जा सकता है, कि इन दोनों का प्रायः एक ही अर्थ है। महाभारत में कहा है, कि गीता में

भगवान् ने अर्जुन को जो विश्वरूप दिखलाया था, वही सन्धि-प्रस्ताव के समय दुर्योधन आदि कौरवों को, और युद्ध के बाद द्वारका को लौटते समय मार्ग में उत्तङ्क को भगवान् ने दिखलाया; और नारायण ने नारद तथा दाशरथि राम ने परशुराम को दिखलाया (उ. १३०; अश्व. ५५; शां, ३३९; वन. ९९)। इसमें सन्देह नहीं, कि गीता का विश्वरूपवर्णन इन चारों स्थानों के वर्णनों से कहीं अधिक सुरस और विस्तृत है; परन्तु सब वर्णनों को पढ़ने से यह सहज ही मालूम हो जाता है, कि अर्थसादृश्य की दृष्टि से उनमें कोई नवीनता नहीं है। गीता के चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायों में इन बातों का निरूपण किया गया है, कि सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों के कारण सृष्टि में भिन्नता कैसे होती है; इन गुणों के लक्षण क्या हैं; और सब कर्तृत्व गुणों ही का है, आत्मा का नहीं; ठीक इसी प्रकार इन तीनों का वर्णन अनुगीता (अश्व. ३६-३९) और शान्तिपर्व में भी अनेक स्थानों में पाया जाता है (शां. २८५ और ३००-३११)। सारांश; गीता में जिस प्रसङ्ग का वर्णन किया गया है, उसके अनुसार गीता में कुछ विषयों का विवेचन अधिक विस्तृत हो गया है; और गीता के सब विचारों से समानता रखनेवाले विचार महाभारत में भी पृथक् पृथक् कहीं-न-कहीं न्यूनाधिक पाये ही जाते हैं। और यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, कि विचारसादृश्य के साथ-ही-साथ थोड़ी बहुत समता शब्दों में भी आप-ही-आप जाती है। मार्गशीर्ष महीने के सम्बन्ध की सादृश्यता तो बहुतही विलक्षण है। गीता में "मासानां मार्गशीर्षोऽहम्" (गी. १०, ३५) कह कर इस मास को जिस प्रकार पहला स्थान दिया है, उसी प्रकार अनुशासनपर्व के दानधर्म-प्रकरण में जहाँ उपवास के लिये महीनों के नाम बतलाने का मौक़ा दो बार आया है, वहाँ प्रत्येक बार मार्गशीर्ष से ही महीनों की गिनती आरम्भ की गई है (अनु. १०६ और १०९)। गीता में वर्णित आत्मौपम्य की या सर्व-भूत-हित की दृष्टि, अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यामिक भेद तथा देवयान और पितृयाण-गति का उल्लेख महाभारत के अनेक स्थानों में पाया जाता है। पिछले प्रकरणों में इनका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है; अतएव यहाँ पर पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं।

भाषासादृश्य की ओर देखिये, या अर्थसादृश्य पर ध्यान दीजिये, अथवा गीता के विषय जो महाभारत में छः सात उल्लेख मिलते हैं, उन पर विचार कीजिये; अनुमान यही करना पड़ता है, कि गीता वर्तमान महाभारत का ही एक भाग है; और जिस पुरुष ने वर्तमान महाभारत की रचना की है, उसी ने वर्तमान गीता का भी वर्णन किया है। हमने देखा है, कि इन सब प्रमाणों की ओर दुर्लक्ष्य करके अथवा किसी तरह उनका अटकल-पच्चू अर्थ लगाकर कुछ लोगों ने गीता को प्रक्षिप्त सिद्ध करने का यत्न किया है। परन्तु जो लोग बाह्यप्रमाणों को नहीं मानते; और अपने ही संशयरूपी पिशाच्च को अग्रस्थान दिया करते हैं, उनकी विचारपद्धति

सर्वथा अशास्त्र अतएव अग्राह्य है। हाँ, यदि इस बात की उपपत्ति ही मालूम न होती, कि गीता को महाभारत में क्यों स्थान दिया गया है; तो बात कुछ और थी। परन्तु (जैसा कि इस प्रकरण के आरम्भ में बतला दिया गया है) गीता केवल वेदान्तप्रधान अथवा भक्तिप्रधान नहीं है। किन्तु महाभारत में जिन प्रमाणभूत श्रेष्ठ पुरुषों के चरित्रों का वर्णन किया गया है, उनके चरित्रों का नीतितत्त्व या मर्म बतलाने के लिये महाभारत में कर्मयोगप्रधान गीता का निरूपण अत्यन्त आवश्यक था; और, वर्तमान समय में महाभारत के जिस स्थान पर वह पाई जाती है, उससे बढ़कर, (काव्यदृष्टि से भी) कोई अधिक योग्य स्थान उसके लिये देख नहीं पड़ता। इतना सिद्ध होने पर अन्तिम सिद्धान्त यही निश्चित होता है, कि गीता महाभारत में उचित कारण से और उचित स्थान पर ही कही गई है—वह प्रक्षिप्त नहीं है। महाभारत के समान रामायण भी सर्वमान्य और उत्कृष्ट आर्ष महाकाव्य है; और उस में भी कथा-प्रसङ्गानुसार सत्य, पुत्रधर्म, मातृधर्म, राजधर्म आदि का मार्मिक विवेचन है। परन्तु यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, कि वाल्मीकि ऋषि का मूलहेतु अपने काव्य को महाभारत के समान "अनेक समयान्वित, सूक्ष्म धर्म-अधर्म के अनेक न्यायों से ओतप्रोत, और सब लोगों को शील तथा सच्चरित्र की शिक्षा देने में सब प्रकार से समर्थ" बनाने का नहीं था। इसलिये धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य या नीति की दृष्टि से महाभारत की योग्यता रामायण से कहीं बढ़कर है। महाभारत केवल आर्ष काव्य या केवल इतिहास नहीं हैं; किन्तु वह एक संहिता है, जिसमें धर्मअधर्म के सूक्ष्म प्रसङ्गों का निरूपण किया गया है। और यदि इस धर्मसंहिता में कर्मयोग का शास्त्रीय तथा तात्त्विक विवेचन न किया जाय, तो फिर वह कहाँ किया जा सकता है? केवल वेदान्तग्रन्थों में यह विवेचन नहीं किया जा सकता। उसके लिये योग्य स्थान धर्मसंहिता ही है। और यदि महाभारतकार ने यह विवेचन न किया होता, तो यह धर्मअधर्म का बृहत् संग्रह अथवा पांचवाँ वेद उतना ही अपूर्ण रह जाता। इस त्रुटि की पूर्ति करने के लिये ही भगवद्गीता महाभारत में रखी गई है। सचमुच यह हमारा बड़ा भाग्य है, कि इस कर्मयोगशास्त्र का मण्डन महाभारतकार जैसे उत्तम ज्ञानी सत्पुरुष ने ही किया है, जो वेदान्तशास्त्र के समान ही व्यवहार में भी अत्यन्त निपुण थे।

इस प्रकार सिद्ध हो चुका, कि वर्तमान भगवद्गीता प्रचलित महाभारत ही का एक भाग है। अब उसके अर्थ का कुछ अधिक स्पष्टीकरण करना चाहिये। भारत और महाभारत शब्दों को हम लोग समानार्थक समझते हैं; परन्तु वस्तुतः वे दो भिन्न भिन्न शब्द हैं। व्याकरण की दृष्टि से देखा जाय, तो 'भारत' नाम उस ग्रन्थ को प्राप्त हो सकता है, जिसमें भरतवंशी राजाओं के पराक्रम का वर्णन हो। रामायण, भागवत आदि शब्दों की व्युत्पत्ति ऐसी ही है। और, इस रीति से भारतीय युद्ध का जिस ग्रन्थ में वर्णन है, उसे केवल 'भारत' कहना यथेष्ट हो सकता है; फिर वह ग्रन्थ चाहे जितना विस्तृत हो। रामायणग्रन्थ कुछ छोटा

नहीं है; परन्तु उसे कोई महारामायण नहीं कहता। फिर भारत ही को 'महाभारत' क्यों कहते हैं? महाभारत के अन्त में यह बतलाया है, कि महत्त्व और भारतत्व इन दो गुणों के कारण, इस ग्रन्थ को महाभारत नाम दिया गया है (स्वर्गा. ५. ४४)। परन्तु 'महाभारत' का सरल शब्दार्थ 'बड़ा भारत' होता है। और ऐसा अर्थ करने से यह प्रश्न उठता है, कि 'बड़े' भारत के पहले क्या कोई 'छोटा' भारत भी था? और, उसमें गीता थी या नहीं? वर्तमान महाभारत के आदिपर्व में लिखा है, कि उपख्यानों के अतिरिक्त महाभारत के श्लोकों की संख्या चौबीस हज़ार है (आ. १. १०१); और आगे चलकर यह भी लिखा है, कि पहले इसका 'जय' नाम था (आ. ६२. २०)। 'जय' शब्द से भारतीय युद्ध में पाण्डवों के जय का बोध होता है; और ऐसा अर्थ करने से यही प्रतीत होता है, कि पहले भारतीय युद्ध का वर्णन 'जय' नामक ग्रन्थ में किया गया था। आगे चल कर उसी ऐतिहासिक ग्रन्थ में अनेक उपाख्यान जोड़ दिये गये; और इस प्रकार महाभारत–एक बड़ा ग्रन्थ–हो गया, जिसमें इतिहास और धर्म-अधर्म-विवेचन का भी निरूपण किया गया है। आश्वलायन गृह्यसूत्रों के ऋषितर्पण में–– "सुमन्तु-जैमिनि-वैशंपायन-पैल-सूत्र-भाष्य-भारत-महाभारत–धर्माचार्याः" (आ. गृ. ३. ४. ४)––भारत और महाभारत दो भिन्न भिन्न ग्रन्थों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है; इससे भी उक्त अनुमान ही दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार छोटे भारत का बड़े भारत में समावेश हो जाने से कुछ काल के बाद छोटा 'भारत' नामक स्वतंत्र ग्रन्थ शेष नहीं रहा; और स्वभावतः लोगों में यह समझ हो गई, कि केवल 'महाभारत' ही एक भारत-ग्रन्थ है। वर्तमान महाभारत की पोथी में यह वर्णन मिलता है, कि व्यासजी ने पहले अपने पुत्र (शुक) को और अनन्तर अपने अन्य शिष्यों को भारत पढ़ाया था (आ. १. १०३); और आगे यह भी कहा, कि सुमन्तु, जैमिनि, पैल, शुक और वैशंपायन, इन पाँच शिष्यों ने पाँच भिन्न भिन्न भारत संहिताओं या महाभारतों की रचना की (आ. ६३. ९०)। इस विषय में यह कथा पाई जाती है, कि इन पाँच महाभारतों में से वैशंपायन के महाभारत को और जैमिनि के महाभारत में से केवल अश्वमेधपर्व ही को व्यासजी ने रख लिया। इससे अब यह भी मालूम हो जाता है, कि ऋषितर्पण में 'भारत–महाभारत' शब्दों के पहले सुमन्तु आदि नाम क्यों रखे गये हैं। परन्तु यहाँ इस विषय में इतने गहरे विचार का कोई प्रयोजन नहीं। रा० ब० चिंतामणिराव वैद्य ने महाभारत के अपने टीकाग्रन्थ में इस विषय का विचार करके जो सिद्धान्त स्थापित किया है, वही हमें सयुक्तिक मालूम होता है। अतएव यहाँ पर इतना कह देना ही यथेष्ट होगा, कि वर्तमान समय में जो महाभारत उपलब्ध है, वह मूल में वैसा नहीं था। भारत या महाभारत के अनेक रूपान्तर हो गये हैं; और उस ग्रन्थ को जो अन्तिम स्वरूप प्राप्त हुआ, वही हमारा वर्तमान महाभारत है। यह नहीं कहा जा सकता, कि मूल-भारत में भी गीता न रही होगी। हाँ, यह प्रगट है, कि सनत्सुजातीय

विदुरनीति, शुकानुप्रश्न, याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद, विष्णुसहस्रनाम, अनुगीता, नारायणीयधर्म आदि प्रकरणों के समान ही वर्तमान गीता को भी महाभारतकार ने पहले ग्रन्थों के आधार पर ही लिखा है--नई रचना नहीं की है। तथापि, यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, कि मूलगीता में महाभारतकार ने कुछ भी हेरफेर न किया होगा। उपर्युक्त विवेचन से यह बात सहज ही समझ में आ सकती है,कि वर्तमान सात सौ श्लोकों की गीता वर्तमान महाभारत ही का एक भाग है; दोनों की रचना भी एक ही ने की है; और वर्तमान महाभारत में वर्तमान गीता को किसी ने बाद में मिला नहीं दिया है। आगे यह भी बतलाया जायगा, कि वर्तमान महाभारत का समय कौन-सा है, और मूलगीता के विषय में हमारा मत क्या है।

भाग २—गीता और उपनिषद् ।

अब देखना चाहिये, कि गीता और भिन्न भिन्न उपनिषदों का परस्पर संबंध क्या है। वर्तमान महाभारत ही में स्थान स्थान पर सामान्य रीति से उपनिषदों का उल्लेख किया गया है; और बृहदारण्यक (१. ३) तथा छांदोग्य (१. २) में वर्णित प्राणेन्द्रियों के युद्ध का हाल भी अनुगीता (अश्व. २३) में है; तथा "न मे स्तेनो जनपदे" आदि कैकेय-अश्वपति राजा के मुख से भी निकले हुए शब्द भी (छां. ५. ११. ५) शान्तिपर्व में उक्त राजा की कथा का वर्णन करते समय ज्यों-के-त्यों पाये जाते हैं (शां. ७७. ८)। इसी प्रकार शान्तिपर्व के जनक-पंचशिख-संवाद में बृहदारण्यक (४. ५. १३) का यह विषय मिलता है, कि "न प्रेत्य संज्ञास्ति" अर्थात् मरने पर ज्ञाता को कोई संज्ञा नहीं रहती। क्योंकि वह ब्रह्म में मिल जाता है; और वहीं अन्त में, प्रश्न (६. ५) तथा मुंडक (३. २. ८) उपनिषदों में वर्णित नदी और समुद्र का दृष्टान्त नाम-रूप से विमुक्त पुरुष के विषय में दिया गया है। इंद्रियों को घोड़े कह कर ब्राह्मण-व्याध-संवाद (वन. २१०) और अनुगीता में बुद्धि को सारथी की जो उपमा दी गई है, वह भी कठोपनिषद् से ही ली गई है (क. १. ३. ३); और कठोपनिषद् के ये दोनों श्लोक-" एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा " (कठ. ३. १२) और " अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात् " (कठ. २. १४)-भी शान्तिपर्व में दो स्थानों पर (१८७. २९ और ३३१. ४४) कुछ फेरफार के साथ पाये जाते हैं। श्वेताश्वतर का "सर्वतः पाणिपादम्० " श्लोक भी, जैसा कि पहले कह आये हैं, महाभारत में अनेक स्थानों पर और गीता में भी मिलता है। परन्तु केवल इतने ही से यह सादृश्य पूरा नहीं हो जाता। इनके सिवा उपनिषदों के और भी बहुत-से वाक्य महाभारत में कई स्थानों पर मिलते हैं। यही क्यों; यह भी कहा जा सकता है, कि महाभारत का अध्यात्मज्ञान प्रायः उपनिषदों से ही लिया गया है।

गीतारहस्य के नौवें और तेरहवें प्रकरणों में हमने विस्तारपूर्वक दिखला दिया है, कि महाभारत के समान ही भगवद्गीता का अध्यात्मज्ञान भी उपनिषदों के

आधार पर स्थापित है । और गीता में भक्तिमार्ग का जो वर्णन है, वह भी इस ज्ञान से अलग नहीं है । अतएव यहाँ उसको दुबारा न लिख कर संक्षेप में सिर्फ़ यही बतलाते हैं, कि गीता के द्वितीय अध्याय में वर्णित आत्मा का अशोच्यत्व, आठवें अध्याय का अक्षरब्रह्मस्वरूप और तेरहवें अध्याय का क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार तथा विशेष करके 'ज्ञेय' परब्रह्म का स्वरूप——इन सब विषयों का वर्णन गीता में अक्षरशः उपनिषदों के आधार पर ही किया गया है । कुछ उपनिषद् गद्य में हैं और कुछ पद्य में हैं । उनमें से गद्यात्मक उपनिषदों के वाक्यों को पद्यमय गीता में ज्यों-का-त्यों उद्धृत करना सम्भव नहीं; तथापि जिन्हों ने छान्दोग्यपनिषद् आदि को पढ़ा है, उनके ध्यान में यह बात सहज ही आ जायगी, कि "जो है सो है; और जो नहीं, सो नहीं;" (गी. २. १६) तथा "यं यं वापि स्मरन् भावम्०" (गी. ८. ६) इत्यादि विचार छांदोग्योपनिषद् से लिये गये हैं; और "क्षीणे पुण्ये" (गी. ९. २१), "ज्योतिषां ज्योतिः" (गी. १३. १७) तथा "मात्रास्पर्शाः" (गी. २. १४) इत्यादि विचार और वाक्य बृहदारण्यक उपनिषद् से लिये गये हैं । परन्तु गद्य उपनिषदों को छोड़ जब हम पद्यात्मक उपनिषदों पर विचार करते हैं, तो यह समता इससे भी अधिक स्पष्ट व्यक्त हो जाती है । क्योंकि, इन पद्यात्मक उपनिषदों के कुछ श्लोक ज्यों-के-त्यों भगवद्गीता में उद्धृत किये गये हैं । उदाहरणार्थ, कठोपनिषद् के छः सात श्लोक अक्षरशः अथवा कुछ शब्दभेद से गीता में लिये गये हैं । गीता के द्वितीय अध्याय का "आश्चर्यवत्पश्यति०" (२. २९) श्लोक, कठोपनिषद् की द्वितीय वल्ली के "आश्चर्यो वक्ता०" (कठ. २. ७) श्लोक के समान है; और "न जायते म्रियते वा कदाचित्०" (गी. २. २०) श्लोक तथा "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति०" (गी. ८. ११) श्लोकार्ध, गीता और कठोपनिषद् में, अक्षरशः एक ही है (कठ. २. १९; २. १५) । यह पहले ही बतला दिया गया है, कि गीता का "इन्द्रियाणि पराण्याहुः०" (३. ४२) श्लोक कठोपनिषद् (कठ. ३. १०) से लिया गया है । इसी प्रकार गीता के पंद्रहवें अध्याय में वर्णित अश्वत्थ-वृक्ष का रूपक कठोपनिषद् से, और "न तद्भासयते सूर्यो०" (गी. १५. ६) श्लोक कठ तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों से——शब्दों में कुछ फेरफार करके——लिया गया है । श्वेताश्वतर उपनिषद् की बहुतेरी कल्पनाएँ तथा श्लोक भी गीता में पाये जाते हैं। नौवें प्रकरण में कह चुके हैं, कि माया शब्द का प्रयोग पहले पहल श्वेताश्वतरोपनिषद् में हुआ है; और वहीं से वह गीता तथा महाभारत में लिया गया होगा। शब्दसादृश्य से यह भी प्रगट होता है, कि गीता के छठवें अध्याय में योगाभ्यास के लिये योग्य स्थल का जो यह वर्णन किया गया है——"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य०" (गी. ६. ११)——वह "समे शुचौ०" आदि (श्वे. २. १०) मन्त्र से लिया गया है; और "समं कायशिरोग्रीवं०" (गी. ६. १३) ये शब्द "त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्" (श्वे. २. ८) इस मन्त्र से लिये हैं। इसी प्रकार "सर्वतः पाणिपादं" श्लोक तथा उसके आगे का श्लोकार्ध भी गीता (१३. १३)

और श्वेताश्वतरोपनिषद् में शब्दशः मिलता है (श्वे. ३. १६); और "अणोरणीयांसम्" तथा "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" पद भी गीता (८. ९) में और श्वेताश्वतरोपनिषद् (३. ९. २०) में एक ही से हैं। इनके अतिरिक्त गीता और उपनिषदों का शब्दसादृश्य यह है, कि "सर्वभूतस्थमात्मानम्" (गी. ६. २९) और "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो" (गी. १५. १५) ये दोनों श्लोकार्ध कैवल्योपनिषद् (१. १०; २. ३) में ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। परन्तु इस शब्दसादृश्य के विषय पर अधिक विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि इस बात का किसी को भी संदेह नहीं है, कि गीता का वेदान्त–विषय उपनिषदों के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। हमें विशेष कर यही देखना है, कि उपनिषदों के विवेचन में और गीता के विवेचन में कुछ अन्तर है या नहीं; और यदि है, तो किस बात में। अतएव, अब उसी पर दृष्टि डालना चाहिये।

उपनिषदों की संख्या बहुत है। उनमें से कुछ उपनिषदों की भाषा तो इतनी अर्वाचीन है, कि उनका और पुराने उपनिषदों का असमकालीन होना सहज ही मालूम पड़ जाता है। अतएव गीता और उपनिषदों में प्रतिपादित विषयों के सादृश्य का विचार करते समय, इस प्रकरण में हमने प्रधानता से उन्हीं उपनिषदों को तुलना के लिये लिया है, जिनका उल्लेख ब्रह्मसूत्रों में है। इन उपनिषदों के अर्थ को और गीता के अध्यात्म को जब हम मिला कर देखते हैं, तब प्रथम यही बोध होता है, कि यद्यपि दोनों में निर्गुण परब्रह्म का स्वरूप एक-सा है, तथापि निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति का वर्णन करते समय, 'अविद्या' शब्द के बदले "माया" या "अज्ञान" शब्द ही का उपयोग गीता में किया गया है। नौवें प्रकरण में इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया गया है, कि 'माया' शब्द श्वेताश्वतरोपनिषद् में आ चुका है; नामरूपात्मक अविद्या के लिये ही यह दूसरा पर्याय शब्द है; तथा यह भी ऊपर बतला दिया गया है, कि श्वेताश्वतरोपनिषद् के कुछ श्लोक गीता में अक्षरशः पाये जाते हैं। इससे पहला यह अनुमान किया जाता है, कि--"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छां. ३. १४. १) या "सर्वमात्मानं पश्यति" (बृ.४. ४. २३) अथवा "सर्वभूतेषुचात्मानम्०" (ईश. ६) इस सिद्धान्त का अथवा उपनिषदों के सारे अध्यात्मज्ञान का यद्यपि गीता में संग्रह किया गया है, तथापि गीताग्रन्थ तब बना होगा, जब कि नामरूपात्मक अविद्या को उपनिषदों में ही 'माया' नाम प्राप्त हो गया होगा।

अब यदि इस बात का विचार करें, कि उपनिषदों के और गीता के उपपादन में क्या भेद है; तो देख पड़ेगा, कि गीता में कापिलसांख्यशास्त्र को विशेष महत्त्व दिया गया है। बृहदारण्यक और छांदोग्य दोनों उपनिषद् ज्ञानप्रधान हैं; परन्तु उनमें तो सांख्यप्रक्रिया का नाम भी देख नहीं पड़ता। और, कठ आदि उपनिषदों में यद्यपि अव्यक्त, महान् इत्यादि सांख्यों के शब्द आये हैं; तथापि यह स्पष्ट है, कि उनका अर्थ सांख्यप्रक्रिया के अनुसार न कर के वेदान्तपद्धति के अनुसार करना चाहिये।

मैत्र्युपनिषद् के उपासना को भी यही न्याय उपयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार सांख्यप्रक्रिया को बहिष्कृत करने की सीमा यहाँ तक आ पहुँची है, कि वेदान्त-सूत्रों में पञ्चीकरण के बदले छांदोग्य उपनिषद् के आधार पर त्रिवृत्करण ही से सृष्टि के नामरूपात्मक वैचित्र्य की उपपत्ति बतलाई गई है, (वे. सू. २. ४. २०)। सांख्यों को एकदम अलग करके अध्यात्म के क्षर-अक्षर का विवेचन करने की यह पद्धति गीता में स्वीकृत नहीं हुई है । तथापि स्मरण रहे, कि गीता में सांख्यों के जो सिद्धान्त ज्यों-के-त्यों नहीं ले लिये गये हैं। त्रिगुणात्मक अव्यक्त प्रकृति से, गुणोत्कर्ष के तत्त्व के अनुसार, व्यक्त सृष्टि की उत्पत्ति होने के विषय से सांख्यों के जो सिद्धान्त हैं, वे गीता को ग्राह्य हैं; और उनके इस मत से भी गीता सहमत है, कि पुरुष निर्गुण हो कर द्रष्टा है। परन्तु द्वैत-सांख्यज्ञान पर अद्वैत-वेदान्त का पहले इस प्रकार प्राबल्य स्थापित कर दिया है, कि प्रकृति और पुरुष स्वतंत्र नहीं है। वे दोनों उपनिषद् में वर्णित आत्मरूपी एक ही परब्रह्म के रूप अर्थात् विभूतियाँ हैं; और फिर सांख्यों ही के क्षरअक्षरविचार का वर्णन गीता में किया गया है। उपनिषदों के ब्रह्मात्मैक्यरूप अद्वैतमत के साथ स्थापित किया हुआ द्वैती सांख्यों के सृष्टयुत्पत्ति-क्रम का यह मेल गीता के समान महाभारत के अन्य स्थानों में किये हुए अध्यात्मविवेचन में भी पाया जाता है। और ऊपर जो अनुमान किया गया है, कि दोनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति के द्वारा रचे गये हैं, वह इस मेल से और भी दृढ हो जाता है।

उपनिषदों की अपेक्षा गीता के उपपादन में जो दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है, वह व्यक्तोपासना अथवा भक्तिमार्ग है। भगवद्गीता के समान उपनिषदों ने भी केवल यज्ञयाग आदि कर्म ज्ञानदृष्टि से गौण ही माने गये हैं। परन्तु व्यक्त मानव-देहधारी ईश्वर की उपासना प्राचीन उपनिषदों में नहीं देख पड़ती। उपनिषत्कार इस तत्त्व से सहमत हैं, कि अव्यक्त और निर्गुण परब्रह्म का आकलन होना कठिन है। इसलिये मन, आकाश, सूर्य, अग्नि, यज्ञ आदि सगुण प्रतीकों की उपासना करनी चाहिये। परन्तु उपासना के लिये प्राचीन उपनिषदों में जिन प्रतीकों का वर्णन किया गया है, उनमें मनुष्यदेहधारी परमेश्वर के स्वरूप का प्रतीक नहीं बतलाया गया है। मैत्र्युपनिषद् (७. ७) में कहा है, कि रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण ये सब परमात्मा ही के रूप हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'महेश्वर' आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं; और "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः" (श्वे. ५. १३) तथा "यस्य देवे परा भक्तिः" (श्वे. ६. २३) आदि वचन भी श्वेताश्वतर में पाये जाते हैं। परन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, कि इन वचनों में नारायण, विष्णु आदि शब्दों से विष्णु के मानवदेहधारी अवतार ही विवक्षित हैं। कारण यह है, कि रुद्र और विष्णु ये दोनों देवता वैदिकअर्थात् प्राचीन-हैं; तब यह कैसे मान लिया जाय, कि "यज्ञो वै विष्णुः" (तै. सं. १. ७. ४) इत्यादि प्रकार से यज्ञयाग ही की विष्णु की उपासना का जो स्वरूप आगे दिया गया है, वही उप-

युक्त उपनिषदों का अभिप्राय नहीं होगा? अच्छा; यदि कोई कहे, कि मानवदेहधारी अवतारों की कल्पना उस समय भी होगी, तो यह कुछ बिलकुल ही असंभव नहीं है। क्योंकि, श्वेताश्वतरोपनिषद्में जो 'भक्ति' शब्द है, उसे यज्ञरूपी उपासना के विषय में प्रयुक्त करना ठीक नहीं जँचता। यह बात सच है, कि महानारायण, नृसिंहतापनी, रामतापनी तथा गोपालतापनी आदि उपनिषदों के वचन श्वेताश्वतरोपनिषद् के वचनों की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट हैं। इसलिये उनके विषय में उक्त प्रकार की शंका करने के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। परन्तु इन उपनिषदों का काल निश्चित करने के लिये ठीक ठीक साधन नहीं है। इसलिये इन उपनिषदों के आधार पर यह प्रश्न ठीक तौर से हल नहीं किया जा सकता, कि वैदिक धर्म में मानवरूपधारी विष्णु की भक्ति का उदय कब हुआ? तथापि अन्य रीति से वैदिक भक्तिमार्ग की प्राचीनता अच्छी तरह सिद्ध की जा सकती है। पाणिनी का एक सूत्र है 'भक्तिः'--अर्थात् जिसमें भक्ति हो (पा. ४. ३. ९५)। इसके आगे "वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्" (पा. ४. ३. ९८) इस सूत्र में कहा गया है, कि जिसकी वासुदेव में भक्ति हो उसे 'वासुदेवक' और जिसकी अर्जुन में भक्ति हो उसे 'अर्जुनक' कहना चाहिये। और पतंजलि के महाभाष्य में इस पर टीका करते समय कहा गया है, कि इस सूत्र में 'वासुदेव' क्षत्रिय का या 'भगवान्' का नाम है। इन ग्रंथों से पातंजलभाष्य के विषय में डॉक्टर भांडारकर ने यह सिद्ध किया है, कि वह ईसाई सन् के लगभग ढाई सौ वर्ष पहले बना है; और इसमें तो सन्देह ही नहीं, कि पाणिनी का काल इससे भी अधिक प्राचीन है। इसके सिवा भक्ति का उल्लेख बौद्धधर्मग्रन्थों में भी किया गया है। और हमने आगे चलकर विस्तारपूर्वक बतलाया है, कि बौद्धधर्म के महायान पंथ में भक्ति के तत्त्वों का प्रवेश होने के लिये श्रीकृष्ण का भागवतधर्म ही कारण हुआ होगा। अतएव यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि कम-से-कम बुद्ध के पहले--अर्थात् ईसाई सन् के पहले लगभग छः सौ से अधिक वर्ष--हमारे यहाँ का भक्तिमार्ग पूरी तरह स्थापित हो गया था। नारदपञ्चरात्र या शांडिल्य अथवा नारद के भक्तिसूत्र उसके बादके हैं। परन्तु इससे भक्तिमार्ग अथवा भागवतधर्म की प्राचीनता में कुछ भी बाधा हो नहीं सकती। गीतारहस्य में किये गये विवेचन से ये बातें स्पष्ट विदित हो जाती हैं, कि प्राचीन उपनिषदों में जिस सगुणोपासना का वर्णन है, उसी से क्रमशः हमारा भक्तिमार्ग निकला है। पातंजलयोग में चित्तको स्थिर करने के लिये किसी-न-किसी व्यक्त और प्रत्यक्ष वस्तु को दृष्टि के सामने रखना पड़ता है। इसलिये उससे भक्तिमार्ग की और भी पुष्टि हो गई है। भक्तिमार्ग किसी अन्य स्थान से हिंदुस्थान में नहीं लाया गया है--और न उसे कहीं से लाने की आवश्यकता ही थी। खुद हिंदुस्थान में इस प्रकार से प्रादुर्भूत भक्तिमार्ग का और विशेषतः वासुदेवभक्ति का उपनिषदों में वर्णित वेदान्त की दृष्टि से मण्डन करना ही गीता के प्रतिपादन का एक विशेष भाग है।

परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण गीता का भाग, कर्मयोग के साथ भक्ति और ब्रह्मज्ञान का मेल कर देना ही है। चातुर्वर्ण्य के अथवा श्रौतयज्ञयाग आदि कर्मों को यद्यपि उपनिषदों ने गौण माना है, तथापि कुछ उपनिषत्कारों का कथन है, कि उन्हें चित्तशुद्धि के लिये तो करना ही चाहिये; और चित्तशुद्धि होने पर भी उन्हें छोड़ देना उचित नहीं। इतना होने पर भी कह सकते हैं, कि अधिकांश उपनिषदों का झुकाव सामान्यतः कर्मसंन्यास की ओर ही है। ईशावास्योपनिषद् के समान कुछ अन्य उपनिषदों में भी "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" जैसे आमरणान्त कर्म करते रहने के विषय में वचन पाये जाते हैं। परन्तु अध्यात्मज्ञान और सांसारिक कर्मों के बीच का विरोध मिटा कर प्राचीन काल से प्रचलित इस कर्मयोग का समर्थन जैसा गीता में किया गया है, वैसा किसी भी उपनिषद् में पाया नहीं जाता। अथवा यह भी कहा जा सकता है, कि इस विषय में गीता का सिद्धान्त अधिकांश उपनिषत्कारों के सिद्धान्तोंसे भिन्न है। गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण में इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। इसलिये उसके बारे में यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

गीता के छठवें अध्याय में जिस योगसाधन का निर्देश किया गया है, उसका विस्तृत और ठीक ठीक विवेचन पातंजलयोगसूत्र में पाया जाता है; और इस समय ये सूत्र ही इस विषय के प्रमाणभूत ग्रन्थ समझे जाते हैं। इन सूत्रों के चार अध्याय हैं। पहले अध्याय के आरम्भ में योग की व्याख्या इस प्रकार की गई है, कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"; और यह बतलाया गया है, कि "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" अर्थात् यह निरोध अभ्यास तथा वैराग्य से किया जा सकता है। आगे चलकर यम-नियम-आसन-प्राणायाम आदि योगसाधनों का वर्णन करके तीसरे और चौथे अध्यायों में इस बात का निरूपण किया है, कि 'असंप्रज्ञात' अर्थात् निर्विकल्प समाधि से अणिमा-लघिमा आदि अलौकिक सिद्धियाँ और शक्तियाँ प्राप्त होती हैं; तथा इसी समाधि से अंत में ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिल जाता है। भगवद्गीता में भी पहले चित्तनिरोध करने की आवश्यकता (गी. ६. २०) बतलाई गई है। फिर कहा है, कि अभ्यास तथा वैराग्य इन दोनों साधनों से चित्त का निरोध करना चाहिये (६. ३५); और अंतमें निर्विकल्प समाधि लगाने की रीति का वर्णन करके, यह दिखलाया है, कि उसमें क्या सुख है। परन्तु केवल इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता, कि पातंजलयोगमार्ग से भगवद्गीता सहमत है; अथवा पातंजलसूत्र भगवद्गीता से प्राचीन है। पातंजलसूत्र की नाईं भगवान् ने यह कहीं नहीं कहा है, कि समाधि सिद्ध होने के लिये नाक पकड़े पकड़े सारी आयु व्यतीत कर देनी चाहिये। कर्मयोग की सिद्धि के लिये बुद्धि की समता होनी चाहिये; और इस समता की प्राप्ति के लिये चित्तनिरोध तथा समाधि होना आवश्यक है। अतएव केवल साधनरूप से इनका वर्णन गीता में किया गया है। ऐसी अवस्था में यही कहना चाहिये, कि इस विषय में पातंजलसूत्रों की अपेक्षा श्वेता-

श्वतरोपनिषद् या कठोपनिषत् के साथ गीता अधिक मिलती जुलती है। ध्यानबिन्दु, छुरिका और योगतत्त्व उपनिषद् भी योगविषयक ही हैं। परन्तु उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय केवल योग है; और उनमें सिर्फ़ योग ही की महत्ता का वर्णन किया गया है। इसलिये केवल कर्मयोग को श्रेष्ठ माननेवाली गीता से इस एकपक्षीय उपनिषदों का मेल करना उचित नहीं; और न वह हो ही सकता है। थामसन साहब ने गीता का अंग्रेज़ी में जो अनुवाद किया है, उसके उपोद्घात में आप कहते हैं, कि गीता का कर्मयोग पातंजलयोग ही का एक रूपान्तर है। परन्तु यह बात असंभव है। इस विषय पर हमारा यही कथन है, कि गीता के 'योग' शब्द का ठीक ठीक अर्थ समझ में न आने के कारण यह भ्रम उत्पन्न हुआ है। क्योंकि इधर गीता का कर्मयोग प्रवृत्तिप्रधान है, तो उधर पातंजलयोग बिलकुल उसके विरुद्ध अर्थात् निवृत्तिप्रधान है। अतएव उनमें से एकता दूसरे से प्रादुर्भूत होना कभी संभव नहीं; और न यह बात गीता में कहीं कही गई है। इतना ही नहीं; यह भी कहा जा सकता है, कि योग शब्द का प्राचीन अर्थ 'कर्मयोग' था; और सम्भव है, कि वही शब्द पातंजलसूत्रों के अनंतर केवल 'चित्तनिरोधनरूपी योग' के अर्थ में प्रचलित हो गया हो। चाहे जो हो; यह निर्विवाद सिद्ध है, कि प्राचीन समय में जनक आदि ने जिस निष्काम कर्माचरण के मार्ग का अवलंबन किया था, उसी के सदृश गीता का योग अर्थात् कर्ममार्ग भी है; और वह मनु-इक्ष्वाकु आदि महानुभावों की परंपरा से चले हुए भागवतधर्म से लिया गया है--वह कुछ पातंजलयोग से उत्पन्न नहीं हुआ है।

अब तक किये गये विवेचन से यह बात समझ में आ जायगी, कि गीताधर्म और उपनिषदों में किन किन बातों की विभिन्नता और समानता है। इनमें से अधिकांश बातों का विवेचन गीतारहस्य में स्थान स्थान पर किया जा चुका है। अतएव यहाँ संक्षेप में यह बतलाया जाता है, कि यद्यपि गीता में प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान उपनिषदों के आधार पर ही बतलाया गया है, तथापि उपनिषदों के अध्यात्मज्ञान का भी निरा अनुवाद न कर उसमें वासुदेवभक्ति का और सांख्यशास्त्र में वर्णित सृष्टयुत्पत्तिक्रम का अर्थात् क्षराक्षरज्ञान का भी समावेश किया गया है; और, उस वैदिक कर्मयोग-धर्म ही का प्रधानता से प्रतिपादन किया गया गया है, जो सामान्य लोगों के लिये आचरण करने में सुगम हो; एवं इस लोक तथा परलोक में श्रेयस्कर हो। उपनिषदों की अपेक्षा गीता में जो कुछ विशेषता है, वह यही है। अतएव ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य बातों में भी संन्यासप्रधान उपनिषदों के साथ गीता का मेल करने के लिये सांप्रदायिक दृष्टि से गीता के अर्थ की खींचातानी करना उचित नहीं है। यह सच है, कि दोनों में अध्यात्मज्ञान एक ही सा है। परन्तु--जैसा कि हमने गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण में स्पष्ट दिखला दिया है--अध्यात्मरूपी मस्तक एक भले हो; तो भी सांख्य तथा कर्मयोग वैदिकधर्म-पुरुष के दो समान बलवाले हाथ हैं; और इनमें से ईशावास्योपनिषद् के अनुसार, ज्ञानयुक्त कर्म ही का प्रतिपादन मुक्तकंठ से गीता में किया गया है।

भाग ३—गीता और ब्रह्मसूत्र ।

ज्ञानप्रधान, भक्तिप्रधान और योगप्रधान उपनिषदों के साथ भगवद्गीता में जो सादृश्य और भेद है, उनका इस प्रकार विवेचन कर चुकने पर यथार्थ में ब्रह्मसूत्रों और गीता की तुलना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि, भिन्न भिन्न उपनिषदों में भिन्न भिन्न ऋषियों के बतलाये हुए अध्यात्म—सिद्धान्तों का नियमबद्ध विवेचन करने के लिये ही बादरायणाचार्य के ब्रह्मसूत्रों की रचना हुई है। इसलिये उनमें उपनिषदों से भिन्न भिन्न विचारों का होना सम्भव नहीं। परन्तु भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार करते समय ब्रह्मसूत्रों का स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥

अर्थात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का "अनेक प्रकार से विविध छंदों के द्वारा (अनेक) ऋषियों ने पृथक् पृथक् और हेतुयुक्त तथा पूर्ण निश्चयात्मक ब्रह्मसूत्रपदों से भी विवेचन किया है" (गी. १३. ४)। और यदि इन ब्रह्मसूत्रों को तथा वर्तमान वेदान्तसूत्रों को एक ही मान लें तो कहना पड़ता है, कि वर्तमान गीता वर्तमान वेदान्तसूत्रों के बाद बनी होगी। अतएव गीता का कालनिर्णय करने की दृष्टि से इस बात का अवश्य विचार करना पड़ता है, कि ब्रह्मसूत्र कौन-से हैं। क्योंकि, वर्तमान वेदान्तसूत्रों के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र नामक कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं पाया जाता; और न उसके विषय में कहीं वर्णन ही है*। और, यह कहना तो किसी प्रकार उचित नहीं जँचता, कि वर्तमान ब्रह्मसूत्रों के बाद गीता बनी होगी। क्योंकि, गीता की प्राचीनता के विषय में परम्परागत समझ चली आ रही है। ऐसा प्रतीत होता है, कि प्रायः इसी कठिनाई को ध्यान में ला कर शांकरभाष्य में "ब्रह्मसूत्रपदैः" का अर्थ "श्रुतियों के अथवा उपनिषदों के ब्रह्मप्रतिपादक वाक्य" किया गया है। परन्तु, इसके विपरीत शांकरभाष्य के टीकाकार आनंदगिरी और रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य प्रभृति गीता के अन्यान्य भाष्यकार यह कहते हैं, कि यहाँ पर "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव" शब्दों से "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इन बादरायणाचार्य के ब्रह्मसूत्रों का ही निर्देश किया गया है; और श्रीधरस्वामी को दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। अतएव इस श्लोक का सत्यार्थ हमें स्वतंत्र रीति से ही निश्चित करना चाहिये। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ विचार "ऋषियों ने अनेक प्रकार से पृथक्" कहा है; और इसके सिवा (चैव), "हेतुयुक्त और विनिश्चयात्मक ब्रह्मसूत्रपदों ने भी" वही अर्थ कहा है; इस प्रकार 'चैव' (और भी) पद से इस बात का स्पष्टीकरण

* इस विषय का विचार परलोकवासी तेलंग ने किया है। इसके सिवा सन् १८९५ में इसी विषय पर प्रो. तुकाराम रामचंद्र अमळनेरकर बी. ए. ने भी एक निबन्ध प्रकाशित किया है।

हो जाता है, कि इस श्लोक में क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार के दो भिन्न भिन्न स्थानों का उल्लेख किया गया है। ये दोनों केवल भिन्न ही नहीं हैं, किन्तु उनमें से पहला अर्थात् ऋषियों का किया हुआ वर्णन "विविध छंदों के द्वारा पृथक् पृथक् अर्थात् कुछ यहाँ और कुछ वहाँ तथा अनेक प्रकार का" है; और उसका अनेक ऋषियों-द्वारा किया जाना 'ऋषिभिः' (इस बहुवचन तृतीयान्त पद) से स्पष्ट हो जाता है। तथा ब्रह्मसूत्रपदों का दूसरा वर्णन "हेतुयुक्त और निश्चयात्मक" है। इस प्रकार इन दोनों वर्णनों की विशेष भिन्नता का स्पष्टीकरण इसी श्लोक में है। 'हेतुमत्, शब्द महाभारत में कई स्थानों पर पाया जाता है; और उसका अर्थ है—"नैय्यायिक पद्धति से कार्यकारणभाव बतलाकर किया हुआ प्रतिपादन।" उदाहरणार्थ, जनक के सन्मुख सुलभा का किया हुआ भाषण, अथवा श्रीकृष्ण जब शिष्टाई के लिये कौरवों की सभा में गये, उस समय का उनका किया हुआ भाषण लीजिये। महाभारत में ही पहले भाषण को "हेतुमत् और अर्थवत्" (शां. ३२०. १९१) और दूसरे को "सहेतुक" (उद्यो. १३१. २) कहा है। इससे यह प्रगट होता है, कि जिस प्रतिपादन में साधकबाधक प्रमाण बतलाकर अन्त में कोई भी अनुमान निस्संदेह सिद्ध किया जाता है, उसी को "हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" विशेषण लगाये जा सकते हैं। ये शब्द उपनिषदों के ऐसे संकीर्ण प्रतिपादन को नहीं लगाये जा सकते, कि जिसमें कुछ तो एकस्थान में हो और कुछ दूसरे स्थान में। अतएव ऋषिभिः बहुधा विविधैः पृथक्" और "हेतुमद्भिः विनिश्चितैः" पदों के विरोधात्मक स्वारस्य को यदि स्थिर रखना हो, तो यही कहना पड़ेगा, कि गीता के उक्त श्लोक में "ऋषियों द्वारा विविध छन्दों में किये गये अनेक प्रकार के पृथक्" विवेचनों से भिन्न भिन्न उपनिषदों के संकीर्ण और पृथक् वाक्य ही अभिप्रेत हैं; तथा "हेतुयुक्त और विनिश्चयात्मक ब्रह्मसूत्रपदों" से ब्रह्मसूत्र-ग्रन्थ का वह विवेचन अभिप्रेत है, कि जिसमें साधकबाधक प्रमाण दिखलाकर अन्तिम सिद्धान्तों का सन्देहरहित निर्णय किया गया है। यह भी स्मरण रहे, कि उपनिषदों के सब विचार इधर उधर बिखरे हुए हैं; अर्थात् अनेक ऋषियों को जैसे सूझते गये, वैसे ही वे कहे गये हैं। उनमें कोई विशेष पद्धति या क्रम नहीं है। अतएव उनकी एकवाक्यता किये बिना उपनिषदों का भावार्थ ठीक ठीक समझ में नहीं आता। यही कारण है, कि उपनिषदों के साथ ही साथ उस ग्रन्थ या वेदान्तसूत्र (ब्रह्मसूत्र) का भी उल्लेख कर देना आवश्यक था, जिसमें कार्यकारणहेतु दिखला कर उनकी (अर्थात् उपनिषदों की) एकवाक्यता की गई है।

गीता के श्लोकों का उक्त अर्थ करने से यह प्रगट हो जाता है, कि उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र गीता के पहले बने हैं। उनमें से मुख्य मुख्य उपनिषदों के विषय में तो कुछ भी मतभेद नहीं रह जाता। क्योंकि इन उपनिषदों के बहुतेरे श्लोक गीता में शब्दशः पाये जाते हैं। परन्तु ब्रह्मसूत्रों के विषय में सन्देह अवश्य किया जा सकता है। क्योंकि ब्रह्मसूत्रों में यद्यपि 'भगवद्गीता' शब्द का उल्लेख प्रत्यक्ष में

नहीं किया गया है; तथापि भाष्यकार यह मानते हैं, कि कुछ सूत्रों में 'स्मृति' शब्दों से भगवद्गीता ही का निर्देश किया गया है। जिन ब्रह्मसूत्रों में शांकरभाष्य के अनुसार, "स्मृति" शब्द से गीता ही का उल्लेख किया गया है, उनमें से नीचे दिये हुए सूत्र मुख्य हैं :--

ब्रह्मसूत्र-अध्याय, पाद और सूत्र ।	गीता-अध्याय और श्लोक ।
१. २. ६ स्मृतेश्च।	गीता १८. ६१ "ईश्वरः सर्वभूतानां०" आदि श्लोक ।
१, ३. २३ अपि च स्मर्यते।	गीता १५.६ 'न तद्भासयते सूर्यः०' आ०।
२. १. ३६ उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च।	गीता १५. ३. "न रूपमस्येह तथोपलभ्यते०" आदि।
२. ३. ४५ अपि च स्मर्यते।	गीता १५. ७ "ममैवांशो जीवलोके जीव भूतः०" आदि०।
३. २. १७ दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते।	गीता १३.१२ "ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि०" आ०
३. ३. ३१ अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्।	गीता ८. २६ "शुक्लकृष्णे गती ह्येते०" आदि०।
४. १. १० स्मरंति च।	गीता ६. ११ "शुचौ देशे०" आदि०।
४. २. २१ योगिनः प्रति च स्मर्यते।	गीता ८- २३ "यत्र कालेत्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः०" आदि०।

उपर्युक्त आठ स्थानों में से कुछ यदि संदिग्ध भी माने जायँ, तथापि हमारे मत से तो चौथे (ब्र. सू. २. ३. ४५) और आठवें (ब्र. सू. ४. २. २१) के विषय में कुछ भी सन्देह नहीं है; और यह भी स्मरण रखने योग्य है, कि इस विषय में--शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य--चारों भाष्यकारों का मत एक ही सा है। ब्रह्मसूत्र के उक्त दोनों स्थानों (ब्र. सू. २. ३. ४५ और ४. २. २१) के विषय में इस प्रसङ्ग पर भी अवश्य ध्यान देना चाहिये--जीवात्मा और परमात्मा के परस्परसम्बन्ध का विचार करते समय, पहले "नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः" (ब्र. सू. २. ३. १७) इस सूत्र ने यह निर्णय किया है, कि सृष्टि के अन्य पदार्थों के समान जीवात्मा परमात्मा से उत्पन्न नहीं हुआ है। उसके बाद "अंशो नानाव्यपदेशात्०" (२.३. ४३) सूत्र से यह बतलाया है, कि जीवात्मा परमात्मा ही का 'अंश' है; और आगे "मंत्रवर्णाच्च" (२. ३. ४४) इस प्रकार श्रुति का प्रमाण देकर अन्त में "अपि च स्मर्यते" (२. ३. ४५)--"स्मृति में भी यही कहा है"--इस सूत्र का प्रयोग किया गया है। सब भाष्यकारों का कथन है, कि यह स्मृति यानी गीता का "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (गी. १५. ७) यह वचन है। परन्तु इसकी अपेक्षा अन्तिमस्थान (अर्थात् ब्रह्मसूत्र ४. २. २१) और भी अधिक निस्सन्देह है। यह पहलेही दसवें प्रकरण में

बतलाया जा चुका है, कि देवयान और पितृयाण गति में क्रमानुसार उत्तरायण के छः महीने और दक्षिणायन के छः महीने होते हैं; और उनका अर्थ कालप्रधान न करके बादरायणाचार्य कहते हैं, कि उन शब्दों से तत्तत्कालाभिमानी देवता अभिप्रेत हैं (वे. सू. ४. ३. ४)। अब यह प्रश्न हो सकता है, कि दक्षिणायन और उत्तरायण शब्दों का कालवाचक अर्थ क्या कभी लिया ही न जावे? इसलिये "योगिनः प्रति च स्मर्यते" (ब्र. सू. ४. २. २१)—अर्थात् ये काल "स्मृति में योगियों के लिये विहित माने गये हैं"—इस सूत्र का प्रयोग किया गया है; और, गीता (८. २३) में यह बात साफ़ साफ़ कह दी गई है, कि "यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः" अर्थात् ये काल योगियों को विहित हैं। इससे भाष्यकारों के मतानुसार यही कहना पड़ता है, कि उक्त दोनों स्थानों पर ब्रह्मसूत्रों में 'स्मृति' शब्द से भगवद्गीता ही विवक्षित है।

परन्तु जब यह मानते हैं, कि भगवद्गीता में ब्रह्मसूत्रों का स्पष्ट उल्लेख है; और ब्रह्मसूत्रों में 'स्मृति' शब्द से भगद्गीता का निर्देश किया गया है; तो दोनों में कालदृष्टि से विरोध उत्पन्न हो जाता है। वह यह हैः—भगवद्गीता में ब्रह्मसूत्रों का साफ़ साफ़ उल्लेख है, इसलिये ब्रह्मसूत्रों का गीता के पहले रचा जाना निश्चित होता है; और ब्रह्मसूत्रोंमें 'स्मृति' शब्दसे गीता का निर्देश माना जाय, तो गीता का ब्रह्मसूत्रों के पहले होना निश्चित हुआ जाता है। ब्रह्मसूत्रों का एक बार गीता के पहले रचा जाना और दूसरी बार उन्हीं सूत्रों का गीता के बाद रचा जाना सम्भव नहीं। अच्छा; अब यदि इस झगड़े से बचने के लिये "ब्रह्मसूत्रपदैः" शब्द से शाङ्करभाष्य में दिये हुए अर्थ को स्वीकार करते हैं, तो "हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" इत्यादि पदों का स्वारस्य ही नष्ट हो जाता है। और यदि यह मानें, कि ब्रह्मसूत्रों के 'स्मृति' शब्द से गीता के अतिरिक्त कोई दूसरा स्मृतिग्रन्थ विवक्षित होगा; तो यह कहना पड़ेगा, कि भाष्यकारों ने भूल की है। अच्छा; यदि उनकी भूल कहें; तो भी यह बतलाया नहीं जा सकता, कि 'स्मृति' शब्द से कौन-सा ग्रन्थ विवक्षित है। तब इस अड़चन से कैसे पार पावें? हमारे मतानुसार इस अड़चन से बचने का केवल एक ही मार्ग है। यदि यह मान लिया जाय, कि जिसने ब्रह्मसूत्रों की रचना की है, उसी ने मूलभारत तथा गीता को वर्तमानस्वरूप दिया है; तो कोई अड़चन या विरोध नहीं रह जाता। ब्रह्मसूत्रों को 'व्याससूत्र' कहने की रीति पड़ गई है; और "शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः" (वे. सू. ३. ४. २) सूत्र पर शाङ्करभाष्य की टीका में आनन्दगिरि ने लिखा है, कि जैमिनि वेदान्तसूत्रकार व्यासजी के शिष्य थे; और आरम्भ के मङ्गलाचरण में भी, "श्रीमद्व्यासपयोनिधिर्निधिरसौ" इस प्रकार उन्हों ने ब्रह्मसूत्रों का वर्णन किया है। यह कथा महाभारत के आधार पर हम ऊपर बतला चुके हैं, कि महाभारतकार व्यासजी के पैल, शुक, सुमंतु, जैमिनि और वैशंपायन नामक पाँच शिष्य थे; और उनको व्यासजी ने महाभारत पढ़ाया था। इन दोनों बातों को मिला कर

विचार करने से यही अनुमान होता है, कि भारत और तदन्तर्गत गीता को वर्तमान स्वरूप देने का तथा ब्रह्मसूत्रों की रचना करने का काम भी एक बादरायण व्यासजी ने ही किया होगा। इस कथन का यह मतलब नहीं, कि बादरायणाचार्य ने वर्तमान महाभारत की नवीन रचना की! हमारे कथनका भावार्थ यह है :-- महाभारतग्रन्थ के अतिविस्तृत होने के कारण सम्भव है, कि बादरायणाचार्य के समय उसके कुछ भाग इधर उधर बिखर गये हों या लुप्त भी हो गये हों। ऐसी अवस्था में तत्कालीन उपलब्ध महाभारत के भागों की खोज करके तथा ग्रन्थ में जहाँ जहाँ अपूर्णता, अशुद्धियाँ और त्रुटियाँ देख पड़ीं, वहाँ वहाँ उनका संशोधन और उनकी पूर्ति करके, तथा अनुक्रमणिका आदि जोड़ कर बादरायणाचार्य ने इस ग्रन्थ का पुनरुज्जीवन किया हो; अथवा उसे वर्तमान स्वरूप दिया हो। यह बात प्रसिद्ध है, कि मराठी साहित्य में ज्ञानेश्वरी-ग्रन्थ का ऐसा ही संशोधन एकनाथ महाराज ने किया था। और यह कथा भी प्रचलित है, कि एक बार संस्कृत का व्याकरणमहाभाष्य प्रायः लुप्त हो गया था; और उसका पुनरुद्धार चन्द्रशेखराचार्य को करना पड़ा। अब इस बात की ठीक ठीक उपपत्ति लग ही जाती है, कि महाभारत के अन्य प्रकरणों में गीता के श्लोक क्यों पाये जाते हैं; तथा यह बात भी सहज ही हल हो जाती है, कि गीतामें ब्रह्मसूत्रों का स्पष्ट उल्लेख और ब्रह्मसूत्रों में 'स्मृति' शब्द से गीता का निर्देश क्यों किया गया है। जिस गीता के आधार पर वर्तमान गीता बनी है, वह बादरायणाचार्य के पहले भी उपलब्ध थी। इसी कारण ब्रह्मसूत्रों में 'स्मृति' शब्द से उनका निर्देश किया गया; और महाभारत का संशोधन करते समय गीता * में यह बतलाया गया, कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का विस्तार-

* पिछले प्रकरणों में हमने यह बतलाया है, कि ब्रह्मसूत्र वेदान्तसंबंधी मुख्य ग्रंथ है; और इसी प्रकार गीता कर्मयोगविषयक प्रधान ग्रंथ है। अब यदि हमारा यह अनुमान सत्य हो, कि ब्रह्मसूत्र और गीता की रचना अकेले व्यासजी ने ही की है; तो इन दोनों शास्त्रों का कर्ता उन्हीं को मानना पड़ता है। हम यह बात अनुमान-द्वारा ऊपर सिद्ध कर चुके हैं; परन्तु कुंभकोणस्थ कृष्णाचार्य ने दाक्षिणात्य पाठ के अनुसार महाभारत की जो एक पोथी हाल ही में प्रकाशित की है, उसमें शान्तिपर्व के २१२ वें अध्याय में (वार्ष्णेयाध्यात्मप्रकरण में) इस बात का वर्णन करते समय--कि युग के आरम्भ में भिन्न भिन्न शास्त्र और इतिहास किस प्रकार निर्मित हुए--३४ वाँ श्लोक इस प्रकार दिया है :--

वेदान्तकर्मयोगं च वेदविद् ब्रह्मवित्प्रभुः।
द्वैपायनो निजग्राह शिल्पशास्त्रं भृगुः पुनः ॥

इस श्लोक में 'वेदान्तकर्मयोग' एकवचनान्त पद है; परन्तु उसका अर्थ 'वेदान्त और कर्मयोग' ही करना पड़ता है। अथवा यह भी प्रतीत होता है, कि 'वेदान्तं कर्मयोगं च' यही मूलपाठ होगा; और लिखते समय या छापते समय 'न्तं' के ऊपरका अनुस्वार छूट गया हो। इस श्लोक में यह साफ़ साफ़ कह दिया गया है, कि वेदान्त और कर्मयोग, दोनों शास्त्र व्यास जी को प्राप्त हुए थे; और शिल्पशास्त्र भृगु को मिला था। परन्तु यह श्लोक बंबई के गणपत कृष्णाजी के

पूर्वक विवेचन ब्रह्मसूत्रों में किया गया है । वर्तमान गीता में ब्रह्मसूत्रों का जो यह उल्लेख है, उसकी बराबरी के ही सूत्रग्रन्थ के अन्य उल्लेख वर्तमान महाभारत में भी हैं। उदाहरणार्थ, अनुशासनपर्व के अष्टावक्र आदि संवाद में "अनृताः स्त्रिय इत्येवं सूत्रकारो व्यवस्यति" (अनु. १९.६) यह वाक्य है । इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण (शांति. ३१८. १६-२३) पञ्चरात्र (शांति. ३३९. १०७), मनु (अनु. ३७. १६) और यास्क के निरुक्त (शांति. ३४२. ७१) का भी अन्यत्र साफ़ साफ़ उल्लेख किया गया है । परन्तु गीता के समान महाभारत के सब भागों को मुखाग्र करने की रीति नहीं थी। इसलिये यह शंका सहज ही उत्पन्न होती है, कि गीता के अतिरिक्त महाभारत में अन्य स्थानों पर जो अन्य ग्रन्थों के उल्लेख हैं, वे कालनिर्णयार्थ कहाँ तक विश्वसनीय माने जायँ । क्योंकि, जो भाग मुखाग्र नहीं किये जाते उनमें क्षेपक श्लोक मिला देना कोई कठिन बात नहीं । परन्तु, हमारे मतानुसार, उपर्युक्त अन्य उल्लेखों का यह बतलाने के लिये उपयोग करना कुछ अनुचित न होगा, कि वर्तमान गीता में किया गया ब्रह्मसूत्रों का उल्लेख केवल अकेला या अपूर्व अतएव अविश्वसनीय नहीं है ।

"ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव" इत्यादि श्लोक के पदों के अर्थ-स्वारस्य की मीमांसा करके हम ऊपर इस बात का निर्णय कर आये हैं, कि भगवद्गीता में वर्तमान ब्रह्मसूत्रों या वेदान्तसूत्रों ही का उल्लेख किया गया है। परन्तु भगवद्गीता में ब्रह्मसूत्रों का उल्लेख होने का--और वह भी तेरहवें अध्यायमें अर्थात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार ही में होने का-- हमारे मत में एक और महत्त्वपूर्ण तथा दृढ कारण है । भगवद्गीता में वासुदेव-भक्ति का तत्त्व यद्यपि मूल भागवत या पाञ्चरात्र-धर्म से लिया गया है, तथापि (जैसा हम पिछले प्रकरणों में कह आये हैं) चतुर्व्यूह-पाञ्चरात्र-धर्म में वर्णित मूल जीव और मन की उत्पत्ति के विषय का यह मत भगवद्गीता को मान्य नहीं है, कि वासुदेव से संकर्षण अर्थात् जीव, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) उत्पन्न हुआ। ब्रह्मसूत्रों का यह सिद्धान्त है, कि जीवात्मा किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न नहीं हुआ है (वे. सू. २. ३. १७)। वह सनातन परमात्मा ही का नित्य 'अंश' है (वे. सू. ३. ४३) । इसलिये ब्रह्मसूत्रों के दूसरे

छापाख़ाने से प्रकाशित पोथी में तथा कलकत्ते की प्रति में भी नहीं मिलता। कुंभकोण की पोथी का शान्तिपर्व का २१२ वाँ अध्याय बंबई और कलकत्ता की प्रति में २१० वाँ है। कुंभकोण पाठ का यह श्लोक हमारे मित्र डॉक्टर गणेश कृष्ण गर्दे ने हमें सूचित किया। अतएव हम उनके कृतज्ञ हैं। उनके मतानुसार इस स्थान पर कर्मयोग शब्द से गीता ही विवक्षित है; और इस श्लोक में गीता और वेदान्तसूत्रों का (अर्थात् दोनों का) कर्तृत्व व्यासजी को ही दिया गया है । महाभारत की तीन पोथियों में से केवल एक ही प्रति में ऐसा पाठ मिलता है । अतएव उसके विषय में कुछ शंका उत्पन्न होती है। इस विषय में चाहे जो कहा जाय; किन्तु इस पाठ से इतना तो अवश्य हो जाता है, कि हमारा यह अनुमान--कि वेदान्त और कर्मयोग का कर्ता एक ही है--कुछ नया या निराधार नहीं ।

अध्याय के दूसरे पाद में पहले कहा है, कि वासुदेव से संकर्षण का होना अर्थात् भागवतधर्मीय जीवसंबंधी उत्पत्ति सम्भव नहीं (वे. सू २. २. ४२); और फिर यह कहा है, कि मन जीव की एक इन्द्रिय है। इसलिये जीव से प्रद्युम्न (मन) का होना भी सम्भव नहीं (वे. सू. २. २. ४३) । क्योंकि लोकव्यवहार की ओर देखने से तो यही बोध होता है, कि कर्ता से कारण या साधन उत्पन्न नहीं होता । इस प्रकार बादरायणाचार्य ने, भागवतधर्म में वर्णित जीव की उत्पत्ति का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है । सम्भव है, कि भागवतधर्मवाले इस पर यह उत्तर दें, कि हम वासुदेव (ईश्वर), संकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन) तथा अनिरुद्ध (अहंकार) को एक ही समान ज्ञानी समझते हैं; और एक से दूसरे की उपपत्ति को लाक्षणिक तथा गौण मानते हैं । परन्तु ऐसा मानने से कहना पड़ेगा, कि एक मुख्य परमेश्वर के बदले चार मुख्य परमेश्वर हैं । अतएव ब्रह्मसूत्रों में कहा है, कि यह उत्तर भी समर्पक नहीं है। और बादरायणाचार्य ने अन्तिम निर्णय यह किया है, कि यह मत--परमेश्वर से जीव का उत्पन्न होना--वेदों अर्थात् उपनिषदों के मत के विरुद्ध अतएव त्याज्य है (वे. सू. २. २. ४४. ४५) । यद्यपि यह बात सच है, कि भागवत-धर्म का कर्मप्रधान भक्तितत्त्व भगवद्गीता में लिया गया है । तथापि गीता का यह भी सिद्धान्त है, कि जीव वासुदेव से उत्पन्न नहीं हुआ । किन्तु वह नित्य परमात्मा ही का 'अंश' है (गी. १५. ७) । जीवविषयक यह सिद्धान्त मूल भागवत धर्म से नहीं लिया गया। इसलिये यह बतलाना आवश्यक था, कि इसका आधार क्या है । क्योंकि यदि ऐसा न किया जाता; तो सम्भव है, कि यह भ्रम उपस्थित हो जाता, कि चतुर्व्यूह भागवतधर्म के प्रवृत्तिप्रधान भक्तितत्त्व के साथ ही साथ जीव की उत्पत्तिविषयक कल्पना से भी गीता सहमत है । अतएव क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचारमें जब जीवात्मा का स्वरूप बतलानेका समय आया, तब--अर्थात् गीता के तेरहवें अध्याय के आरम्भ ही में--यह स्पष्ट रूप से कह देना पड़ा, कि "क्षेत्रज्ञ के अर्थात् जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में हमारा मत भागवतधर्म के अनुसार नहीं; वरन् उपनिषदों में वर्णित ऋषियों के मतानुसार है ।" और फिर उसके साथ ही साथ स्वभावतः यह भी कहना पड़ा है, कि भिन्न भिन्न ऋषियों ने भिन्न भिन्न उपनिषदों में पृथक् पृथक् उपपादन किया है । इसलिये उन सब की ब्रह्मसूत्रों में की गई एक-वाक्यता (वे. सू. २. ३. ४३) ही हमें ग्राह्य है । इस दृष्टि से विचार करने पर यही प्रतीत होगा, कि भागवतधर्म के भक्तिमार्ग का गीता में इस रीति से समावेश किया गया है, जिससे वे आक्षेप दूर हो जायँ, कि जो ब्रह्मसूत्रों में भागवतधर्म पर लाये गये हैं । रामानुजाचार्य ने अपने वेदान्तसूत्रभाष्य में उक्त सूत्रों के अर्थ को बदल दिया है (वे. सू. २. २. ४२–४५ देखो) । परन्तु हमारे मत में ये अर्थ क्लिष्ट अतएव अग्राह्य हैं । थीबो साहब का झुकाव रामानुज-भाष्य में दिये गये अर्थ की ओर ही है; परन्तु उनके लेखों से तो यही ज्ञात होता है, कि इस बात का यथार्थस्वरूप उनके ध्यान में नहीं आया । महाभारत में--शान्तिपर्व के अन्तिम

भाग में नारायणीय अथवा भागवतधर्म का जो वर्णन है, उसमें—यह नहीं कहा है, कि वासुदेव से जीव अर्थात् संकर्षण उत्पन्न हुआ; किन्तु पहले यह बतलाया है, कि "जो वासुदेव है, वही (स एव) संकर्षण अर्थात् जीव या क्षेत्रज्ञ है" (शां. ३३९. ३९ तथा ७१; और ३३४. २८, तथा २९ देखो); और इसके बाद संकर्षण से प्रद्युम्न तक की केवल परस्परा दी गई है। एक स्थान पर तो यह साफ़ साफ़ कह दिया है, कि भागवतधर्म को कोई चतुर्व्यूह, कोई त्रिव्यूह, कोई द्विव्यूह और अन्त में कोई एकव्यूह भी मानते हैं। (म. भा. शां. ३४८. ५७)। परन्तु भागवतधर्म के इन विविध पक्षों को स्वीकार न कर, उनमें से सिर्फ़ वही एक मत वर्तमान गीता में स्थिर किया है, जिसका मेल क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के परस्परसम्बन्ध में उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों से हो सके। और इस बात पर ध्यान देने पर यह प्रश्न ठीक तौर से हल हो जाता है, कि ब्रह्मसूत्रों का उल्लेख गीता में क्यों किया है? अथवा यह कहना भी अत्युक्ति नहीं, कि मूल गीता में यह एक सुधार ही किया गया है।

भाग ४--भागवतधर्म का उदय और गीता।

गीतारहस्य में अनेक स्थानों पर तथा इस प्रकरण में भी पहले यह बतला दिया गया है, कि उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान तथा कापिलसांख्य के क्षरअक्षरविचार के साथ भक्ति और विशेषतः निष्कामकर्म का मेल करके कर्मयोग का शास्त्रीय रीति से पूर्णतया समर्थन करना ही गीता-ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। परन्तु इतने विषयों की एकता करने की गीता की पद्धति जिनके ध्यान में पूरी तरह नहीं आ सकती, तथा जिनका पहले ही से यह मत हो जाता है, कि इतने विषयों की एकता हो ही नहीं सकती; उन्हें इस बात का आभास हुआ करता है, कि गीता के बहुतेरे सिद्धान्त परस्परविरोधी हैं। उदाहरणार्थ, इन आक्षेपकों का यह मत है, कि तेरहवें अध्याय का यह कथन--कि इस जगत् में जो कुछ है, वह सब निर्गुण ब्रह्म है--सातवें अध्याय के इस कथन से बिलकुल ही विरुद्ध है, कि यह सब सगुण वासुदेव ही है। इसी प्रकार भगवान् एक जगह कहते हैं, कि "मुझे शत्रु और मित्र समान हैं" (९. २९); और दूसरे स्थान पर यह भी कहते हैं, कि "ज्ञानी तथा भक्तिमान् पुरुष मुझे अत्यन्त प्रिय हैं" (७. १७. १२. १९)—ये दोनों बातें परस्परविरोधी हैं। परन्तु हमने गीतारहस्य में अनेक स्थानों पर इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया है, कि वस्तुतः य विरोध नहीं हैं; किन्तु एक ही बात पर एक बार अध्यात्मदृष्टि से और दूसरी बार भक्ति की दृष्टि से विचार किया गया है। इसलिये यद्यपि दिखने ही में ये विरोधी बातें कहनी पड़ीं, तथापि अन्त में व्यापक तत्त्वज्ञान की दृष्टि से गीता में उनका मेल भी कर दिया गया है। इस पर भी कुछ लोगों का यह आक्षेप है, कि अव्यक्त ब्रह्मज्ञान और व्यक्त परमे-

श्वर की भक्ति में यद्यपि उक्त प्रकार से मेल कर दिया गया है, तथापि मूल गीता में इस मेल का होना सम्भव नहीं। क्योंकि मूल गीता वर्तमान गीता के समान परस्परविरोधी बातों से भरी नहीं थी—उसमें वेदान्तियों ने अथवा सांख्यशास्त्राभिमानियों ने अपने अपने शास्त्रों के भाग पीछे से घुसेड़ दिये हैं। उदाहरणार्थ प्रो. गार्बे का कथन है, कि मूल गीता में भक्ति का मेल केवल सांख्य तथा योग ही से किया है; वेदान्त के साथ और मीमांसकों के कर्ममार्ग के साथ भक्ति का मेल कर देने का काम किसी ने पीछे से किया है। मूल गीता में इस प्रकार जो श्लोक पीछे से जोड़े गये, उनकी अपने मतानुसार एक तालिका भी उसने जर्मन भाषा में अनुवादित अपनी गीता के अन्त में दी है! हमारे मतानुसार ये सब कल्पनाएँ भ्रममूलक हैं। वैदिकधर्म के भिन्न भिन्न अंगों की ऐतिहासिक परम्परा और गीता के 'सांख्य' तथा 'योग' शब्दों का सच्चा अर्थ ठीक ठीक न समझने के कारण और विशेषतः तत्त्वज्ञानविरहित अर्थात् केवल भक्तिप्रधान ईसाई धर्म ही का इतिहास उक्त लेखकों (प्रो. गार्बे प्रभृति) के सामने रखा रहने के कारण उक्त प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो गये हैं। ईसाई धर्म पहले केवल भक्तिप्रधान था; और ग्रीक लोगों के तथा दूसरों के तत्त्वज्ञान से उसका मेल करने का कार्य पीछे से किया गया है। परन्तु, यह बात हमारे धर्म की नहीं। हिन्दुस्थान में भक्तिमार्ग का उदय होने के पहले ही मीमांसकों का यज्ञमार्ग उपनिषत्कारों का ज्ञान तथा सांख्य और योग--इन सब को परिपक्व दशा प्राप्त हो चुकी थी। इसलिये पहलेही से हमारे देशवासियों को स्वतंत्र रीति से प्रतिपादित ऐसा भक्तिमार्ग कभी भी मान्य नहीं हो सकता था; जो इन सब शास्त्रों से और विशेष करके उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मज्ञान से अलग हो। इस बात पर ध्यान देने से यह मानना पड़ता है, कि गीता के धर्मप्रतिपादन का स्वरूप पहले ही से प्रायः वर्तमान गीता के प्रतिपादन के सदृश ही था। गीतारहस्य का विवेचन भी इसी बात की ओर ध्यान देकर किया गया है। परन्तु यह विषय अत्यंत महत्त्व का है। इसलिये संक्षेप में यहाँ पर यह बतलाना चाहिये, कि गीताधर्म के मूलस्वरूप तथा परम्परा के सम्बन्ध में (ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर) हमारे मत में कौन कौन-सी बातें निष्पन्न होती हैं।

गीतारहस्य के दसवें प्रकरण में इस बात का विवेचन किया गया है, कि वैदिक धर्म का अत्यन्त प्राचीन स्वरूप न तो भक्तिप्रधान, न तो ज्ञानप्रधान और न योगप्रधान ही था; किन्तु वह यज्ञमय अर्थात् कर्मप्रधान था; और वेदसंहिता तथा ब्राह्मणों में विशेषतः इसी यज्ञयाग आदि कर्मप्रधान धर्म का प्रतिपादन किया गया है। आगे चल कर इसी धर्म का व्यवस्थित विवेचन जैमिनि के मीमांसासूत्रों में किया गया है। इसीलिये उसे 'मीमांसकमार्ग' नाम प्राप्त हुआ। परन्तु, यद्यपि 'मीमांसक' नाम नया है; तथापि इस विषय में तो बिलकुल ही सन्देह नहीं, कि यज्ञयाग आदि धर्म अत्यन्त प्राचीन है। इतना ही नहीं, किन्तु उसे ऐतिहासिक

दृष्टि से वैदिकधर्म की प्रथम सीढ़ी कह सकते हैं। 'मीमांसकमार्ग' नाम प्राप्त होने के पहले उसको त्रयीधर्म अर्थात् तीन वेदों द्वारा प्रतिपादित धर्म कहते थे; और इसी नाम का उल्लेख गीता में भी किया गया है (गीता ९. २० तथा २१ देखो)। कर्ममय त्रयीधर्म के इस प्रकार जोर-शोर से प्रचलित रहने पर, कर्म से अर्थात् केवल यज्ञयाग आदि के बाह्य प्रयत्न से परमेश्वर का ज्ञान कैसे हो सकता है? ज्ञान होना एक मानसिक स्थिति है। इसलिये परमेश्वर के स्वरूप का विचार किये बिना ज्ञान होना सम्भव नहीं, इत्यादि विषय और कल्पनाएँ उपस्थित होने लगीं; और धीरे धीरे उन्हीं में वे औपनिषदिक ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। यह बात छांदोग्य आदि उपनिषदों के आरम्भ में जो अवतरण दिये हैं, उनसे स्पष्ट मालूम हो जाती है। इस औपनिषदिक ब्रह्मज्ञान ही को आगे चलकर 'वेदान्त' नाम प्राप्त हुआ। परन्तु, मीमांसा शब्द के समान यद्यपि वेदान्त नाम पीछेसे प्रचलित हुआ है, तथापि उससे यह नहीं कहा जा सकता, कि ब्रह्मज्ञान अथवा ज्ञानमार्ग भी नया है। यह बात सच है, कि कर्मकांड के अनन्तर ही ज्ञानकांड उत्पन्न हुआ! परन्तु स्मरण रहे, कि ये दोनों प्राचीन हैं। इस ज्ञानमार्ग ही की दूसरी, किन्तु स्वतंत्र शाखा 'कापिलसांख्य' है। गीतारहस्य में यह बतला दिया गया है, कि इधर ब्रह्मज्ञान अद्वैती है, तो उधर सांख्य है द्वैती; और सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम के सम्बन्ध में सांख्यों के विचार मूल में भिन्न हैं। परन्तु औपनिषदिक अद्वैती ब्रह्म-ज्ञान तथा सांख्यों का द्वैती ज्ञान, दोनों यद्यपि मूल में भिन्न भिन्न हों, तथापि केवल ज्ञानदृष्टि से देखने पर जान पड़ेगा, कि ये दोनों मार्ग अपने पहले के यज्ञ-याग आदि कर्ममार्ग के एक ही से विरोधी थे। अतएव यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न हुआ, कि कर्म का ज्ञान से किस प्रकार मेल किया जावे? इसी कारण से उपनिष-त्काल ही में इस विषय पर दो दल हो गये थे। उनमें से बृहदारण्यकादिक उपनि-षद् तथा सांख्य यह कहने लगे, कि कर्म और ज्ञान में नित्य विरोध है। इसलिये ज्ञान हो जाने पर कर्म का त्याग करना प्रशस्त ही नहीं; किन्तु आवश्यक भी है। इसके विरुद्ध ईशावास्यादि अन्य उपनिषद् यह प्रतिपादन करने लगे, कि ज्ञान हो जाने पर भी कर्म छोड़ा नहीं जा सकता। वैराग्य से बुद्धि को निष्काम करके जगत् में व्यवहार की सिद्धि के लिये ज्ञानी पुरुष को सब कर्म करना ही चाहिये। इन उप-निषदों के भाष्यों में इस भेद को निकाल डालने का प्रयत्न किया है। परन्तु गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण के अन्त में किये गये विवेचन से यह बात ध्यान में आ जायगी, कि शांकरभाष्य में ये साम्प्रदायिक अर्थ खींचातानी से किये गये हैं; और इसलिये इन उपनिषदों पर स्वतंत्र रीति से विचार करते समय वे अर्थ ग्राह्य नहीं माने जा सकते। यह नहीं कि, केवल यज्ञयागादि कर्म तथा ब्रह्मज्ञान ही में मेल करने का प्रयत्न किया गया हो; किन्तु मैत्र्युपनिषद् के विवेचन से यह बात भी साफ़ साफ़ प्रगट होती है, कि कापिलसांख्य में पहले पहल स्वतंत्र रीति से प्रादु-र्भूत क्षराक्षरज्ञान की तथा उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान की एकवाक्यता--जितनी हो

सकती थी--करने का भी प्रयत्न उसी समय आरम्भ हुआ था। बृहदारण्यकादि प्राचीन उपनिषदों में कापिलसांख्यज्ञान को कुछ महत्त्व नहीं दिया गया है। परन्तु मैत्र्युपनिषद् में सांख्यों की परिभाषा का पूर्णतया स्वीकार करके यह कहा है, कि अन्त में एक परब्रह्म ही से साख्यों के चौबीस तत्त्व निर्मित हुए हैं। तथापि कापिल-सांख्यशास्त्र भी वैराग्यप्रधान अर्थात् कर्म के विरुद्ध है। तात्पर्य यह है, कि प्राचीन काल में ही वैदिकधर्म के तीन दल हो गये थे :--(१) केवल यज्ञयाग आदि कर्म करने का मार्ग; (२) ज्ञान तथा वैराग्य से कर्मसंन्यास करना, अर्थात् ज्ञाननिष्ठा अथवा सांख्यमार्ग; और (३) ज्ञान तथा वैराग्यबुद्धि ही से नित्य कर्म करने का मार्ग, अर्थात् ज्ञानकर्मसमुच्चयमार्ग। इनमें से ज्ञानमार्ग ही से आगे चल कर दो अन्य शाखाएँ--योग और भक्ति--निर्मित हुई हैं। छांदोग्यादि प्राचीन उपनिषदों में यह कहा है, कि परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचिन्तन अत्यन्त आवश्यक है; और यह चिन्तन, मनन तथा ध्यान करने के लिये चित्त एकाग्र होना चाहिये; और, चित्त को स्थिर करने के लिये परब्रह्म का कोई न कोई सगुण प्रतीक पहले नेत्रों के सामने रखना पड़ता है। इस प्रकार ब्रह्मोपासना करते रहनेसे चित्त की जो एकाग्रता हो जाती है, उसी को आगे विशेष महत्त्व दिया जाने लगा; और चित्तनिरोधरूपी योग एक जुदा मार्ग हो गया। और, जब सगुण प्रतीक के बदले परमेश्वर के मानवरूपधारी व्यक्त प्रतीक की उपासना का आरम्भ धीरे धीरे होने लगा, तब अन्त में भक्तिमार्ग उत्पन्न हुआ। यह भक्तिमार्ग औपनिषदिक ज्ञान से अलग, बीच ही में स्वतंत्र रीति से प्रादुर्भूत नहीं हुआ है; और न भक्ति की कल्पना हिन्दुस्थान में किसी अन्य देश से लाई गई है। सब उपनिषदों का अवलोकन करने से यह क्रम देख पड़ता है, कि पहले ब्रह्मचिन्तन के लिये यज्ञ के अंगों की अथवा ॐकार की उपासना थी। आगे चल कर रुद्र, विष्णु आदि वैदिक देवताओं की, (अथवा आकाश आदि सगुण-व्यक्त ब्रह्म-प्रतीक की,) उपासना का आरम्भ हुआ; और अन्त में इसी हेतु से अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति के लिये ही राम, नृसिंह, श्रीकृष्ण, वासुदेव आदि की भक्ति, (अर्थात् एक प्रकार की उपासना) जारी हुई है। उपनिषदों की भाषा से यह बात भी साफ़ साफ़ मालूम होती है, कि उनमें से योगतत्त्वादि योगविषयक उपनिषद् तथा नृसिंहतापनी, रामतापनी आदि भक्ति-विषयक उपनिषद् छांदोग्यादि उपनिषदों की अपेक्षा अर्वाचीन हैं। अतएव ऐति-हासिक दृष्टि से यह कहना पड़ता है, कि छांदोग्यादि प्राचीन उपनिषदों में वर्णित कर्म, ज्ञान अथवा संन्यास और ज्ञानकर्मसमुच्चय—इन तीनों दलों के प्रादुर्भूत हो जाने पर ही आगे योगमार्ग और भक्तिमार्ग को श्रेष्ठता प्राप्त हुई है। परन्तु योग और भक्ति, ये दोनों साधन यद्यपि उक्त प्रकार से श्रेष्ठ माने गये, तथापि उनके पहले के ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता कुछ कम नहीं हुई—और न उसका कम होना सम्भव ही था। इसी कारण योगप्रधान तथा भक्तिप्रधान उपनिषदों में भी ब्रह्म-ज्ञान को भक्ति और योग का अन्तिम साध्य कहा है। और ऐसा वर्णन भी कई

स्थानों में पाया जाता है, कि जिन रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण तथा वासुदेव आदि की भक्ति की जाती है, वे भी परमात्मा के अथवा परब्रह्म के रूप हैं (मैत्र्यु. ७. ७; रामपू. १६; अमृतबिंदु. २२ आदि देखो)। सारांश, वैदिकधर्म में समय समय पर आत्मज्ञानी पुरुषों ने जिन धर्मांगों को प्रवृत्त किया है, वे प्राचीन समय प्रचलित धर्मांगों से ही प्रादुर्भूत हुए हैं; और, नये धर्मांगों का प्राचीन समय में प्रचलित धर्मांगों के साथ मेल करा देना ही वैदिक धर्म की उन्नति का पहले से मुख्य उद्देश रहा है; तथा भिन्न भिन्न धर्मांगों की एकवाक्यता करने के इसी उद्देश को स्वीकार करके, आगे चल कर स्मृतिकारों ने आश्रम व्यवस्थाधर्म का प्रतिपादन किया है। भिन्न भिन्न धर्मांगों की एकवाक्यता करने की इस प्राचीन पद्धति पर जब ध्यान दिया जाता है, तब यह कहना सयुक्तिक नहीं प्रतीत होता, कि उक्त पूर्वापर पद्धति को छोड़ केवल गीताधर्म ही अकेला प्रवृत्त हुआ होगा।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के यज्ञयागादि कर्म, उपनिषदों का ब्रह्मज्ञान, कापिलसांख्य, चित्तनिरोधरूपी योग तथा भक्ति, येही वैदिक धर्म के मुख्य मुख्य अंग हैं; और इनकी उत्पत्ति के क्रम का सामान्य इतिहास ऊपर लिखा गया है। अब इस बात का विचार किया जायगा, कि गीता में इन सब धर्मांगों का जो प्रतिपादन किया गया है, उसका मूल क्या है?—अर्थात् वह प्रतिपादन साक्षात् भिन्न भिन्न उपनिषदों से गीता में लिया गया है अथवा बीच में एक आध सीढ़ी और है। केवल ब्रह्मज्ञान के विवेचन के समय कठ आदि उपनिषदों के कुछ श्लोक गीता में ज्यों–के–त्यों लिये गये हैं; और ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्ष का प्रतिपादन करते समय जनक आदि के औपनिषदिक उदाहरण भी दिये गये हैं। इससे प्रतीत होता है, कि गीता-ग्रन्थ साक्षात् उपनिषदों के आधार पर रचा गया होगा। परन्तु गीता ही में गीताधर्म की जो परम्परा दी गई है, उसमें तो उपनिषदों का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। जिस प्रकार गीता में द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ को श्रेष्ठ माना है (गीता ४. ३३), उसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में भी एक स्थान पर यह कहा है, कि मनुष्य का जीवन एक प्रकार का यज्ञ ही है (छां ३. १६, १७)। और इस प्रकार के यज्ञ की महत्ता का वर्णन करते हुए यह भी कहा है, कि "यह यज्ञ-विद्या घोर आंगिरस नामक ऋषि ने देवकीपुत्र कृष्ण को बतलाई।" इस देवकीपुत्र कृष्ण तथा गीता के श्रीकृष्ण को एक ही व्यक्ति मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। परन्तु यदि कुछ देर के लिये दोनों को एक ही व्यक्ति मान लें; तो भी स्मरण रहे, कि ज्ञानयज्ञ को श्रेष्ठ माननेवाली गीता में घोर आंगिरस का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है। इसके सिवा, बृहदारण्यकोपनिषद् से यह बात प्रगट है, कि जनक का मार्ग यद्यपि ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक था, तथापि उस समय इस मार्ग में भक्ति का समावेश नहीं किया गया था। अतएव भक्तियुक्त ज्ञानकर्मसमुच्चय पन्थ की सांप्रदायिक परम्परामें जनक की गणना नहीं की जा सकती—और न वह गीता में की गई है। गीता के चौथे अध्याय के आरम्भ में कहा है (गी. ४. १-३), कि

युग के आरम्भ में भगवान् ने पहले विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को गीताधर्म का उपदेश किया था; परन्तु काल के हेरफेर से उसका लोप हो जाने के कारण वह फिर से अर्जुन को बतलाना पड़ा । गीताधर्म की परंपरा वा ज्ञान होने के लिये ये श्लोक अत्यंत महत्त्व के हैं । परन्तु टीकाकारोंने शब्दार्थ बतलानेके अतिरिक्त उनका विशेष रीति से स्पष्टीकरण नहीं किया है; और कदाचित् ऐसा करना उन्हें इष्ट भी न रहा हो । क्योंकि, यदि कहा जाय, कि गीताधर्म मूल में किसी एक विशिष्ट पन्थ का है; तो उससे अन्य धार्मिक पन्थों को कुछ-न-कुछ गौणता प्राप्त हो ही जाती है । परन्तु हमने गीतारहस्य के आरम्भ में तथा गीता के चौथे अध्याय के प्रथम दो श्लोकों की टीका में प्रमाणसहित इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया है, कि गीता में वर्णित परंपरा का मेल उस परम्परा के साथ पूरा पूरा देख पड़ता है, कि जो महाभारतान्तर्गत नारायणीयोपाख्यान में वर्णित भागवतधर्म की परम्परा में अन्तिम त्रेतायुगकालीन परम्परा है । भागवतधर्म तथा गीताधर्म की परम्परा की एकता को देखकर कहना पड़ता है, कि गीताग्रन्थ भागवतधर्मीय है; और यदि इस विषयमें कुछ शंका हो, तो महाभारत में दिये गये वैशंपायन के इस वाक्य– "गीता में भागवतधर्म ही बतलाया गया है" (म. भा. शां. ३४६. १०)—से वह दूर हो जाती है । इस प्रकार जब यह सिद्ध हो गया, कि गीता औपनिषदिक ज्ञान का अर्थात् वेदान्त का स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है—उसमें भागवतधर्म का प्रतिपादन किया गया है; तब यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं, कि भागवतधर्म से अलग करके गीता की जो चर्चा की जायगी, वह अपूर्ण तथा भ्रममूलक होगी । अतएव, भागवतधर्म कब उत्पन्न हुआ और उसका मूलस्वरूप क्या था, इत्यादि प्रश्नोंके विषय में जो बातें इस समय उपलब्ध हैं, उनका भी विचार संक्षेप में यहाँ किया जाना चाहिये । गीतारहस्य में हम पहले ही कह आये हैं, कि इस भागवतधर्म के ही नारायणीय, सात्वत, पाञ्चरात्रधर्म आदि अन्य नाम हैं ।

उपनिषत्काल के बाद और बुद्ध के पहले जो वैदिक धर्मग्रंथ बने, उनमें से अधिकांश ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं । इस कारण भागवतधर्म पर वर्तमान समय में जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें से गीता के अतिरिक्त मुख्य ग्रन्थ येही हैं:––महाभारतान्तर्गत शांतिपर्व के अन्तिम अठारह अध्यायों में निरूपित नारायणीयोपाख्यान (म. भा. शां. ३३४–३५१), शांडिल्यसूत्र, भागवतपुराण, नारदपञ्चरात्र, नारदसूत्र, तथा रामानुजाचार्य आदि के ग्रन्थ । इनमें से रामानुजाचार्य के ग्रन्थ तो प्रत्यक्ष में सांप्रदायिक दृष्टि से ही (अर्थात् भागवतधर्म के विशिष्टाद्वैत वेदान्त से मेल करने के लिये विक्रम संवत् १३३५ में (शालिवाहन शक के लगभग बारहवें शतक में) लिखे गये हैं । अतएव भागवतधर्म का मूलस्वरूप निश्चित करने के लिये इन ग्रन्थों का सहारा नहीं लिया जा सकता; और यही बात मध्वादि के अन्य वैष्णव ग्रन्थों की भी है । श्रीमद्भागवतपुराण इसके पहले का है । परन्तु इस पुराण के

आरम्भ में ही यह कथा है (भाग. स्कं. १ अ. ४ और ५ देखो), कि जब व्यासजी ने देखा कि महाभारत में (अतएव गीता में भी) नैष्कर्म्यप्रधान भागवत धर्म का जो निरूपण किया गया है, उसमें भक्ति का जैसा चाहिये वैसा वर्णन नहीं है; और "भक्ति के बिना केवल नैष्कर्म्य शोभा नहीं पाता," तब उनका मन कुछ उदास और अप्रसन्न हो गया। एवं अपने मन की इस तलमलाहट को दूर करने के लिये नारदजी की सूचना से उन्हों ने भक्ति के महात्म्य का प्रतिपादन करनेवाले भागवतपुराण की रचना की। इस कथा का ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर देख पड़ेगा, कि मूलभागवतधर्म में अर्थात् भारतान्तर्गत भागवतधर्म में नैष्कर्म्य को जो श्रेष्ठता दी गयी थी, वह जब समय के हेरफेर से कम होने लगी; और उसके बदले जब भक्ति को प्रधानता दी जाने लगी; तब भागवतधर्म के इस दूसरे स्वरूप का (अर्थात् भक्तिप्रधान भागवतधर्म का) प्रतिपादन करने के लिये यह भागवतपुराणरूपी मेवा पीछे तैयार किया गया है। नारदपञ्चरात्र ग्रंथ भी इसी प्रकार का अर्थात् केवल भक्तिप्रधान है; और उसमें द्वादशस्कन्धों के भागवतपुराण का तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णुपुराण, गीता और महाभारत का नामोल्लेख कर स्पष्ट निर्देश किया गया है (ना. पं. २.७.२८–३२; ३.१४.७३; और ४.३. १५४ देखो)। इसलिये यह प्रगट है, कि भागवतधर्म के मूलस्वरूप का निर्णय करने के लिये इस ग्रन्थ की योग्यता भारतपुराण से भी कम दर्जे की है। नारदसूत्र तथा शाण्डिल्यसूत्र कदाचित् नारदपञ्चरात्र से भी कुछ प्राचीन हों; परन्तु नारदसूत्र में व्यास और शुक (ना. सू. ८३) का उल्लेख है। इसीलये वह भारत और भागवत के बाद का है; और शाण्डिल्यसूत्र में भगवद्गीता के श्लोक ही उद्धृत किये गये हैं (शां. सू. ९, १५ और ८३)। अतएव यह सूत्र यद्यपि नारदसूत्र (८३) से प्राचीन भी हो; तथापि इसमें संदेह नहीं, कि यह गीता और महाभारत के अनन्तर का है। अतएव, भागवतधर्म के मूल तथा प्राचीन स्वरूप का निर्णय अन्त में महाभारतान्तर्गत नारायणीयाख्यान के आधार से ही करना पड़ता है। भागवतपुराण (१. ३. २४) और नारदपञ्चरात्र (४. ३.१५६–१५९; ४.८. ८१) ग्रन्थों में बुद्ध को विष्णु का अवतार कहा है। परन्तु नारायणीयाख्यान में वर्णित दशावतारों में बुद्ध का समावेश नहीं किया गया है-- पहला अवतार हंस का और आगे कृष्ण के बाद एकदम कल्कि अवतार बतलाया है (म. भा. शां. ३३९. १००)। इससे भी यही सिद्ध होता है, कि नारायणीयाख्यान भागवतपुराण से और नारद पञ्चरात्र से प्राचीन है। इस नारायणीयाख्यान में यह वर्णन है, कि नर तथा नारायण (जो परब्रह्म ही के अवतार हैं) नामक दो ऋषियों ने नारायणीय अर्थात् भागवतधर्म को पहले पहल जारी किया; और उनके कहने से जब नारद ऋषि श्वेतद्वीप को गये, तब वहाँ स्वयं भगवान् ने नारद को इस धर्म का उपदेश किया। भगवान् जिस श्वेतद्वीप में रहते हैं, वह क्षीरसमुद्र में है; और वह क्षीरसमुद्र मेरुपर्वत के उत्तर में है; इत्यादि नारायणीयाख्यान की

बातें प्राचीन पौराणिक ब्रह्माण्डवर्णन के अनुसार ही हैं; और इस विषय में हमारे यहाँ किसी को कुछ कहना भी नहीं है। परन्तु वेबर नामक पश्चिमी संस्कृतज्ञ पण्डित ने इस कथा का विपर्यास करके यह दीर्घ शङ्का की थी, कि भागवतधर्म में वर्णित भक्तितत्त्व श्वेतद्वीप से—अर्थात् हिन्दुस्थान के बाहर के किसी अन्य देश से—हिन्दुस्थान में लाया गया है; और भक्ति का यह तत्त्व इस समय ईसाईधर्म के अतिरिक्त और कहीं भी प्रचलित नहीं था; इसलिये ईसाई देशों से ही भक्ति की कल्पना भागवतधर्मियों को सूझी है। परन्तु पाणिनी को वासुदेव-भक्ति का तत्त्व मालूम था; और बौद्ध तथा जैनधर्म में भी भागवतधर्म तथा भक्ति के उल्लेख पाये जाते हैं। एवं यह बात भी निर्विवाद है, कि पाणिनी और बुद्ध दोनों ईसा के पहले हुए थे। इसलिये अब पश्चिमी पण्डितों ने ही निश्चित किया है, कि वेबर साहब की उपर्युक्त शङ्का निराधार है। ऊपर यह बतला दिया गया है, कि भक्तिरूप धर्माङ्ग का उदय हमारे यहाँ ज्ञानप्रधान उपनिषदों के अनन्तर हुआ है। इससे यह बात निर्विवाद प्रगट होती है, कि ज्ञानप्रधान उपनिषदों के बाद तथा बुद्ध के पहले वासुदेवभक्तिसंबंधी भागवतधर्म उत्पन्न हुआ है। अब प्रश्न केवल इतना ही है, कि वह बुद्ध के कितने शतक * पहले हुआ ? अगले विवेचन से यह बात ध्यान में आ जायगी, कि यद्यपि उक्त प्रश्न का पूर्णतया निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता; तथापि स्थूलदृष्टि से उस कालका अंदाज करना कुछ असंभव भी नहीं है।

गीता (४. २) में यह कहा है, कि श्रीकृष्ण ने जिस भागवतधर्म का उपदेश अर्जुन को किया है, उसका पहले लोप हो गया था। भागवतधर्म के तत्त्वज्ञान में परमेश्वर को वासुदेव, जीव को सङ्कर्षण, मन को प्रद्युम्न तथा अहङ्कार को अनिरुद्ध कहा है। इनमें से वासुदेव तो स्वयं श्रीकृष्ण ही का नाम है, सङ्कर्षण उनके ज्येष्ठ भ्राता बलराम का नाम है; तथा प्रद्युम्न और अनिरुद्ध श्रीकृष्ण के पुत्र और पौत्र के नाम हैं। इसके सिवा इस धर्म का जो दूसरा नाम 'सात्वत' भी है वह उस यादवजाति का नाम है, जिसमें श्रीकृष्णजी ने जन्म लिया था। इससे

* भक्तिमान् (पाली—भत्तिमा) शब्द थेरगाथा (श्लो० ३७०) में मिलता है; और एक जातक में भी भक्ति का उल्लेख किया गया है। इसके सिवा, प्रसिद्ध फ्रेंच पाली-पंडित सेनार्त (Senart) ने 'बौद्धधर्म का मूल' इस विषय पर सन् १९०९ में एक व्याख्यान दिया था, जिसमें स्पष्टरूप से यह प्रतिपादन किया है, कि भागवतधर्म बौद्धधर्म के पहले का है। "No one will claim to derive from Buddhism, Vishnuism or the Yoga. Assuredly, Buddhism is the borrower," ... "To sum up if there had not previously existed a religion made up of doctrines of yoga, of Vishnuite legends of devotion to Vishnu, Krishna, worshipped under the title of Bhagavata, Buddhism would not have come to birth at all."

यह बात प्रगट होती है, कि जिस कुल तथा जाति में श्रीकृष्णजी ने जन्म लिया था, उसमें यह धर्म प्रचलित हो गया था; और तभी उन्होंने अपने प्रियमित्र अर्जुन को उसका उपदेश किया होगा --और यही बात पौराणिक कथा में भी कही गई है। यह भी कथा प्रचलित है, कि श्रीकृष्ण के साथही सात्वतजाति का अन्त हो गया। इस कारण श्रीकृष्ण के बाद सात्वतजाति में इस धर्म का प्रसार होना भी संभव नहीं था। भागवतधर्म के भिन्न भिन्न नामों के विषय में इस प्रकार की ऐतिहासिक उपपत्ति बतलाई जा सकती है, कि जिस धर्म को श्रीकृष्णजी ने प्रवृत्त किया था; वह उनके पहले कदाचित् नारायणीय या पञ्चरात्र नामों से न्यूनाधिक अंशों में प्रचलित रहा होगा; और आगे सात्वतजाति में उसका प्रसार होने पर उसे 'सात्वत' नाम प्राप्त हुआ होगा। तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुन को नर-नारायण के अवतार मानकर लोग इस धर्म को 'भागवतधर्म' कहने लगे होंगे। इस विषय के सम्बन्ध में यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं, कि तीन या चार भिन्न भिन्न श्रीकृष्ण हो चुके हैं; और उनमें से हर एक ने इस धर्म का प्रचार करते समय अपनी ओर से कुछ-न-कुछ सुधार करने का प्रयत्न किया है---वस्तुतः ऐसा मानने के लिये कोई प्रमाण भी नहीं है। मूलधर्म में न्यूनाधिक परिवर्तन हो जाने के कारण ही यह कल्पना उत्पन्न हो गई है। बुद्ध, क्राइस्ट तथा मुहम्मद तो अपने अपने धर्म के स्वयं एक ही एक संस्थापक हो गये हैं; और आगे उनके धर्मों में भले बुरे अनेक परिवर्तन भी हो गये हैं। परन्तु इससे कोई यह नहीं मानता, कि बुद्ध, क्राइस्ट या मुहम्मद अनेक हो गये। इसी प्रकार यदि मूलभागवतधर्म को आगे चलकर भिन्न भिन्न स्वरूप प्राप्त हो गये या श्रीकृष्णजी के विषय में आगे भिन्न भिन्न कल्पनाएँ रूढ हो गईं, तो यह कैसे माना जा सकता है, कि उतने ही भिन्न श्रीकृष्ण भी हो गये? हमारे मतानुसार ऐसा मानने के लिये कोई कारण नहीं है। कोई भी धर्म लीजिये; समय के हेरफेर से उसका रूपान्तर हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है। उसके लिये इस बात की आवश्यकता नहीं, कि भिन्न भिन्न कृष्ण, बुद्ध या ईसामसीह

सेनार्त का यह लेख पूने से प्रकाशित होनेवाले The Indian Interpreter नामक मिशनरी त्रैमासिक पत्र के अक्टोबर १९०९ और जनवरी १९१० के अंकों में प्रसिद्ध हुआ है; और ऊपर दिये गये वाक्य जनवरी के अंक के १७७ तथा १७८, पृष्ठों में हैं। डॉ. बूलर ने भी यह कहा है:—The ancient Bhagavata, Satvata or Pancharatra sect devoted to the worship of Narayana and his deified teacher Krisha—Devakiputra dates from a period long antrior to the rise of jainas in the 8th century B. C." India Antiquary. Vol. XXIII. (1894) p. 248. इस-विषय का अधिक विवेचन आगे चल कर इस परिशिष्ट प्रकरण के छठवें भाग में किया गया है।

माने जावें*। कुछ लोग और विशेषतः कुछ पश्चिमी तर्कज्ञानी यह तर्क किया करते हैं, कि श्रीकृष्ण, यादव और पाण्डव, तथा भारतीय युद्ध आदि ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं। ये सब कल्पित कथाएँ हैं। और कुछ लोगों के मत में तो महाभारत अध्यात्म विषय का एक बृहत् रूपक ही है। परन्तु हमारे प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाणों को देखकर किसी भी निष्पक्षपाती मनुष्य को यह मानना पड़ेगा, कि उक्त शङ्काएँ बिलकुल निराधार हैं। यह बात निर्विवाद है, कि इन कथाओं के मूल में इतिहास ही का आधार है। सारांश, हमारा मत यह है, कि श्रीकृष्ण चार पाँच नहीं हुए। वे केवल एक ही ऐतिहासिक पुरुष थे। अब श्रीकृष्णजी के अवतारकाल पर विचार करते समय रा० ब० चिंतामणिराव वैद्य ने यह प्रतिपादन किया है, कि श्रीकृष्ण, यादव, पाण्डव तथा भारतीय युद्धका एक ही काल--अर्थात् कलियुग का आरम्भ--है। पुराणगणना के अनुसार उस काल से अब तक पाँच हज़ार से भी अधिक वर्ष बीत चुके हैं; और यही श्री कृष्णजी के अवतार का यथार्थ काल है**। परन्तु पाण्डवों से लगा कर शककाल तक के राजाओं की पुराणों में वर्णित पीढ़ियों से इस काल का मेल नहीं देख पड़ता। अतएव भागवत तथा विष्णुपुराण में जो यह वचन है, कि "परीक्षित राजा के जन्म से नन्द के अभिषेक तक १११५ अथवा १०१५--वर्ष होते हैं" (भाग. १२. २. २६; और विष्णु. ४. २४. ३२), उसी के आधार पर विद्वानों ने अब यह निश्चित किया है, कि ईसाई सन् के लगभग १४०० वर्ष पहले भारतीय युद्ध और पाण्डव हुए होंगे। अर्थात् श्रीकृष्ण का अवतारकाल भी यही है; और इस काल को स्वीकार कर लेने पर यह बात सिद्ध

* श्रीकृष्ण के चरित्रमें पराक्रम, भक्ति और वेदान्त के अतिरिक्त गोपियों की रासक्रीडा का समावेश होता है; और ये बातें परस्परविरोधी हैं। इसलिये आज कल कुछ विद्वान् यह प्रतिपादन किया करते हैं, कि महाभारत का कृष्ण भिन्न, गीता का भिन्न और गोकुल का कन्हैया भी भिन्न है। डॉ. भांडारकर ने अपने "वैष्णव, शैव आदि पंथ" संबंधी अंग्रेज़ी ग्रंथ में इसी मत को स्वीकार किया है। परन्तु हमारे मत में यह ठीक नहीं है। यह बात नहीं, कि गोपियों की कथा में जो श्रृंगार का वर्णन है, वह बाद में न आया हो। परन्तु केवल उतने ही के लिये यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं, कि श्रीकृष्ण नाम के कई भिन्न भिन्न पुरुष हो गये; और इसके लिये कल्पना के सिवा कोई अन्य आधार भी नहीं है। इसके सिवा, यह भी नहीं, कि गोपियों की कथा का प्रचार पहले भागवतकाल ही में हुआ हो; किन्तु शककाल के आरम्भ में यानी विक्रम संवत् १३६ के लगभग अश्वघोषविरचित बुद्धचरित (४. १४) में और भास कविकृत बालचरित नाटक (३. २) में भी गोपियों का उल्लेख किया गया है। अतएव इस विषय में हमें डॉ. भांडारकर के कथन से चिंतामणिराव वैद्य का मत अधिक सयुक्तिक प्रतीत होता है।

** रावबहादुर चिंतामणिराव वैद्य का यह मत उनके महाभारत के टीकात्मक अंग्रेज़ी ग्रन्थ में है। इसके सिवा इसी विषयपर आपने सन १९१४ में डेक्कन कॉलेज-एनिवर्सरी के समय जो व्याख्यान दिया था, उसमें भी इस बात का विवेचन किया था।

होती है, कि श्रीकृष्ण ने भागवतधर्म को—ईसा से लगभग १४०० वर्ष पहले अथवा बुद्ध से लगभग ८०० वर्ष पहले—प्रचलित किया होगा। इसपर कुछ लोग यह आक्षेप करते हैं, कि श्रीकृष्ण तथा पाण्डवों के ऐतिहासिक पुरुष होन में कोई सन्देह नहीं; परन्तु श्रीकृष्ण के जीवनचरित्र में उनके अनेक रूपान्तर देख पड़ते हैं — जैसे श्रीकृष्ण नामक एक क्षत्रिय योद्धा को पहले महापुरुष का पद प्राप्त हुआ, पश्चात् विष्णु का पद मिला और धीरे धीरे अन्त में पूर्ण परब्रह्म का रूप प्राप्त हो गया—इन सब अवस्थाओं में आरम्भ से अन्त तक बहुत-सा काल बीत चुका होगा। इसीलिये भागवतधर्म के उदय का तथा भारतीय युद्ध का एक ही काल नहीं माना जा सकता। परन्तु यह आक्षेप निरर्थक है। 'किसे देव मानना चाहिये; और किसे नहीं मानना चाहिये' इस विषय पर आधुनिक तर्कज्ञों की समझ में तथा दो चार हजार वर्ष पहले के लोगों की समझ (गी. १०. ४१) में बड़ा अन्तर हो गया है। श्रीकृष्ण के पहले ही बने हुए उपनिषदों में यह सिद्धान्त कहा गया है, कि ज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्ममय हो जाता है (बृ. ४. ४. ६); और मैत्र्युपनिषद् में यह साफ़ साफ़ कह दिया है, कि रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण, ये सब ब्रह्म ही हैं (मैत्र्यु ७. ७.)। फिर श्रीकृष्ण को परब्रह्म प्राप्त होने के लिये अधिक समय लगने का कारण क्या है? इतिहास की ओर देखने से विश्वसनीय बौद्ध ग्रन्थों में भी यह बात देख पड़ती है, कि बुद्ध स्वयं अपने को 'ब्रह्मभूत' (सेलसुत्त, १४; थेरगाथा ८३१) कहता था। उसके जीवनकाल ही में उसे देव के सदृश सन्मान दिया जाता था। उसके स्वर्गस्थ होने के बाद शीघ्र ही उसे 'देवाधिदेव' का अथवा वैदिकधर्म के परमात्मा का स्वरूप प्राप्त हो गया था; और उसकी पूजा भी जारी हो गई थी। यही बात ईसामसीह की भी है। यह बात सच है, कि बुद्ध तथा ईसा के समान श्रीकृष्ण संन्यासी नहीं थे; और न भागवतधर्म ही निवृत्तिप्रधान है। परन्तु केवल इसी आधार पर बौद्ध तथा ईसाईधर्म के मूलपुरुषों के समान भागवतधर्मप्रवर्तक श्रीकृष्ण को भी पहले ही से ब्रह्म अथवा देव का स्वरूप प्राप्त होने में किसी बाधा के उपस्थित होने का कारण देख नहीं पड़ता।

इस प्रकार श्रीकृष्ण का समय निश्चित कर लेने पर उसी को भागवतधर्म का उदयकाल मानना भी प्रशस्त तथा सयुक्तिक है। परन्तु सामान्यतः पश्चिमी पण्डित ऐसा करने में क्यों हिचकिचाते हैं? इसका कारण कुछ और ही है। इन पण्डितों में से अधिकांश का अब तक यही मत है, कि खुद ऋग्वेद का काल ईसा के पहले लगभग १५०० वर्ष या बहुत हुआ तो २००० वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है। अतएव उन्हें अपनी दृष्टि से यह कहना असम्भव प्रतीत होता है, कि भागवतधर्म ईसा के लगभग १४०० वर्ष पहले प्रचलित हुआ होगा। क्योंकि वैदिकधर्मसाहित्य से यह क्रम निर्विवाद सिद्ध है, कि ऋग्वेद के बाद यज्ञयाग आदि कर्मप्रतिपादक यजुर्वेद और ब्राह्मणग्रन्थ बने। तदनन्तर ज्ञानप्रधान उपनिषद् और सांख्य—

शास्त्र निर्मित हुए; और अन्त में भक्तिप्रधान ग्रन्थ रचे गये । और केवल भागवत-धर्म के ग्रन्थों का अवलोकन करने से भी स्पष्ट प्रतीत होता है, कि औपनिषदिक ज्ञान, सांख्यशास्त्र, चित्तनिरोधरूपी योग आदि धर्माङ्ग भागवतधर्म के उदय के पहले ही प्रचलित हो चुके थे । समय की मनमानी खींचातानी करने पर भी यही मानना पड़ता है, कि ऋग्वेद के बाद और भागवतधर्म के उदय के पहले, उक्त भिन्न भिन्न धर्मांगों का प्रादुर्भाव तथा वृद्धि होने के लिये, बीच में कम-से-कम दस बारह शतक अवश्य बीत गये होंगे । परन्तु यदि माना जाय, कि भागवतधर्म को श्रीकृष्ण ने अपने ही समय में—अर्थात् ईसा के लगभग १४०० वर्ष पहले—प्रवृत्त किया होगा; तो उक्त भिन्न भिन्न धर्माङ्गों की वृद्धि के लिये उक्त पश्चिमी पण्डितों के मतानुसार कुछ भी उचित कालावकाश नहीं रह जाता । क्योंकि, ये पण्डित लोग ऋग्वेद-काल ही को ईसा से पहले १५०० तथा २००० वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं मानते । ऐसी अवस्था में उन्हें यह मानना पड़ता है, कि सौ या अधिक से अधिक पाँच छः सौ वर्ष के बाद ही भागवतधर्म का उदय हो गया । इसलिये उपर्युक्त कथनानुसार कुछ निरर्थक कारण बतला कर वे लोग श्रीकृष्ण और भागवतधर्म की समकालीनता को नहीं मानते । और कुछ पश्चिमी पण्डित तो यह कहने के लिये भी उद्यत हो गये हैं, कि भागवतधर्म का उदय बुद्ध के बाद हुआ होगा । परन्तु जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों में ही भागवतधर्म के जो उल्लेख पाये जाते हैं, उनसे तो यही बात स्पष्ट विदित होती है, कि भागवतधर्म बुद्ध से प्राचीन है । अतएव डॉक्टर बूलर ने कहा है, कि भागवत धर्म का उदयकाल बौद्धकाल के आगे हटाने के बदले, हमारे 'ओरायन' ग्रन्थ के प्रतिपादन के अनुसार ऋग्वेदादि ग्रन्थों का काल ही पीछे हटाया जाना चाहिये । पश्चिमी पण्डितों ने अटकलपच्चू अनुमानों से वैदिक ग्रन्थों के जो काल निश्चित किये हैं, वे भ्रममूलक हैं । वैदिककाल की पूर्वमर्यादा ईसा के पहले ४५०० वर्ष से कम नहीं ले जा सकती, इत्यादि बातों को हमने अपने 'ओरायन' ग्रन्थ में वेदों के उदगयन-स्थिति-दर्शक वाक्यों के आधार पर सिद्ध कर दिया है; और इसी अनुमान को अब अधिकांश पश्चिमी पण्डितों ने भी ग्राह्य माना है । इस प्रकार ऋग्वेदकाल को पीछे हटाने से वैदिकधर्म के सब अङ्गों की वृद्धि होने के लिये उचित कालावकाश मिल जाता है; और भागवत धर्मोदयकाल को संकुचित करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता । परलोकवासी शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने भारतीय ज्योतिःशास्त्र (मराठी) के इतिहास में यह बतलाया है, कि ऋग्वेद के बाद ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में कृत्तिका प्रभृति नक्षत्रों की गणना है । इसलिये उनका काल ईसासे लगभग २५०० वर्ष पहले निश्चित करना पड़ता है। परन्तु हमारे देखने में यह अभी तक नहीं आया है, कि उदगयन स्थिति से ग्रन्थों

* डॉक्टर बूलर ने Indian Antiquary, September 1894, (Vol. XXIII pp.-238-294) में हमारे 'ओरायन' ग्रन्थ की जो समालोचना की है, उसे देखो ।

के काल का निर्णय करने की इस रीति का प्रयोग उपनिषदों के विषय में किया गया हो । रामतापनीसरीखे भक्तिप्रधान तथा योगतत्त्वसरीखे योगप्रधान उपनिषदों की भाषा और रचना प्राचीन नहीं देख पड़ती—केवल इसी आधार पर कई लोगों ने यह अनुमान किया है, कि सभी उपनिषद् प्राचीनता में बुद्ध की अपेक्षा चार पाँच सौ वर्ष से अधिक नहीं हैं । परन्तु कालनिर्णय की उपर्युक्त रीति से देखा जाय, तो यह समझ भ्रममूलक प्रतीत होगी । यह सच है, कि ज्योतिष की रीति से सब उपनिषदों का काल निश्चित नहीं किया जा सकता । तथापि मुख्य मुख्य उपनिषदों का काल निश्चित करने के लिये इस रीति का बहुत अच्छा उपयोग किया जा सकता है । भाषा की दृष्टि से देखा जाय, तो प्रो० मैक्समूलर का यह कथन है, कि मैत्र्युपनिषद पाणिनी से भी प्राचीन है । क्योंकि इस उपनिषद् में ऐसी कई शब्दसन्धियों का प्रयोग किया गया है, जो सिर्फ़ मैत्रायणीसंहिता में ही पाई जाती हैं; और जिनका प्रचार पाणिनी के समय बंद हो गया था (अर्थात् जिन्हें छान्दस् कहते हैं) । परन्तु मैत्र्युपनिषद् कुछ सबसे पहला अर्थात् अति प्राचीन उपनिषद् नहीं है । उसमें न केवल ब्रह्मज्ञान और सांख्य का मेल कर दिया है, किन्तु कई स्थानों पर छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, कठ और ईशावास्य उपनिषदों के वाक्य तथा श्लोक भी उसमें प्रमाणार्थ उद्धृत किये गये हैं । हाँ; यह सच है, कि मैत्र्युनिषद् में स्पष्ट रूप से उक्त उपनिषदों के नाम नहीं दिये गये हैं । परन्तु इन वाक्यों के पहले ऐसे पर-वाक्यदर्शक पद रखे गये हैं, जैसे "एवं ह्याह" या " उक्तं च " (= ऐसा कहा है) । इसीलिये इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि ये वाक्य दूसरे ग्रन्थों से लिये गये हैं—स्वयं मैत्र्युपनिषत्कार के नहीं हैं । और अन्य उपनिषदों के दखने से सहज ही मालूम हो जाता है, कि वे वचन कहाँ से उद्धृत किये गये हैं । अब इस मैत्र्युपनिषद् में कालरूपी अथवा संवत्सररूपी ब्रह्म का विवेचन करते समय यह वर्णन पाया जाता है, कि " मघा नक्षत्र के आरम्भ से क्रमशः श्रविष्ठा अर्थात् धनिष्ठा नक्षत्र के आधे भाग पर पहुँचने तक (मघाद्यं श्रविष्ठार्धम्) दक्षिणायन होता है; और सार्प अर्थात् आश्लेषा नक्षत्रसे विपरीत क्रमपूर्वक (अर्थात् आश्लेषा, पुष्य आदि क्रम से) पीछे गिनते हुए धनिष्ठा नक्षत्र के आधे भाग तक उत्तरायण होता है " (मैत्र्यु. ६. १४) । इसमें सन्देह नहीं, कि उदयगन स्थितिदर्शक ये वचन तत्कालीन उदयगन स्थिति को लक्ष्य करके ही कहे गये हैं; और फिर उसे इस उपनिषद् का कालनिर्णय भी गणित की रीति से सहज ही किया जा सकता है । परन्तु देख पड़ता है, कि किसी ने भी उसका इस दृष्टि से विचार नहीं किया है । मैत्र्युपनिषद् में वर्णित यह उदगयन स्थिति वेदाङ्गज्योतिष से कही गई उदगयन स्थिति के पहले की है । क्योंकि वेदाङ्गज्योतिष में यह बात स्पष्ट रूप से कह दी गई है, कि उदगयनका आरम्भ धनिष्ठा नक्षत्र के आरम्भ से होता है; और मैत्र्युप-

---

*See Sacred Books of the East Series, Vol. XV. Intro. pp. xlviii-lii.

निषद् में उसका आरम्भ 'धनिष्ठार्ध' से किया गया है। इस विषय में मतभेद है, कि मैत्र्युपनिषद् के 'श्रविष्ठार्धम्' शब्द में जो 'अर्धम्' पद है, उसका अर्थ 'ठीक आधा' करना चाहिये; अथवा "धनिष्ठा और शततारका के बीच किसी स्थान पर" करना चाहिये? परन्तु चाहे जो कहा जाय; इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं, कि वेदाङ्ग-ज्योतिष के पहले की उदगयन स्थिति का वर्णन मैत्र्युपनिषद् में किया गया है; और वही उस समय की स्थिति होनी चाहिये। अतएव यह कहना चाहिये, कि वेदाङ्ग ज्योतिषकाल का उदगयन, मैत्र्युपनिषद्कालीन उदगयन की अपेक्षा लगभग आधे नक्षत्र से पीछे हट आया था। ज्योतिर्गणित से यह सिद्ध होता है, कि वेदाङ्ग-ज्योतिष में कही गई उदगयनस्थिति ईसाई सन् के लगभग १२०० या १४०० वर्ष पहले की है; और आधे नक्षत्र से उदगयन के पीछे हटने में लगभग ४८० वर्ष लग जाते हैं। इसलिये गणित से यह बात निष्पन्न होती है, कि मैत्र्युपनिषद् ईसा के पहले १८८० से १६८० वर्ष के बीच कभी-न-कभी बना होगा। और कुछ नहीं तो यह उपनिषद् निस्सन्देह वेदाङ्गज्योतिष के पहले का है। अब यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं, कि छान्दोग्यादि जिन उपनिषदों के अवतरण मैत्र्युपनिषद् में दिये गये हैं, वे उससे भी प्राचीन हैं। सारांश, इन सब ग्रन्थों के काल का निर्णय इस प्रकार हो चुका है, कि ऋग्वेद सन ईसवी से लगभग ४५०० वर्ष पहले का है; यज्ञयाग आदिविषयक ब्राह्मण ग्रन्थ सन ईसवी के लगभग २५०० वर्ष पहले के हैं; और छान्दोग्य आदि ज्ञानप्रधान उपनिषद् सन ईसवी के लगभग १६०० वर्ष पुराने हैं। अब यथार्थ में वे बातें अवशिष्ट नहीं रह जातीं, जिनके कारण पश्चिमी पण्डित लोग भागवतधर्म के उदयकाल को इस ओर हटा लाने का यत्न किया करते हैं; और श्रीकृष्ण तथा भागवतधर्म को, गाय और बछड़े की नैसर्गिक जोड़ी के समान एक ही कालरज्जू से बाँधने में कोई भय भी नहीं देख पड़ता। एवं फिर बौद्ध ग्रन्थकारों द्वारा वर्णित तथा अन्य ऐतिहासिक स्थिति से भी ठीक ठीक मेल हो जाता है। इसी समय वैदिककाल की समाप्ति हुई; और सूत्र तथा स्मृतिकाल का आरम्भ हुआ है।

उक्त कालगणना से यह बात स्पष्टतया विदित हो जाती है, कि भागवतधर्म का उदय ईसा के लगभग १४०० वर्ष पहले (अर्थात् बुद्ध के लगभग सात आठ सौ वर्ष पहले) हुआ है। यह काल बहुत प्राचीन है; तथापि यह ऊपर बतला चुके हैं, कि ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित कर्ममार्ग इससे भी अधिक प्राचीन है; और उपनिषदों

---

* वेदांगज्योतिष का कालविषयक विवेचन हमारे Orion (ओरायन) नामक अंग्रेजी ग्रंथ में तथा प. वा. शंकर बालकृष्ण दीक्षित के "भारतीय ज्योतिःशास्त्र का इतिहास" नामक मराठी ग्रंथ (पृ. ८७-९४ तथा १२७-१३९) में किया गया है। उसमें इस बातका भी विचार किया गया है, कि उदगयन से वैदिक ग्रन्थों का कौन-सा काल निश्चित किया जा सकता है।

तथा सांख्यशास्त्र में वर्णित ज्ञान भी भागवतधर्म के उदय के पहले ही प्रचलित हो कर सर्वमान्य हो गया था। ऐसी अवस्था में यह कल्पना करना सर्वथा अनुचित है, कि उक्त ज्ञान तथा धर्माङ्गों की कुछ परवाह न करके श्रीकृष्णसरीखे ज्ञानी और चतुर पुरुष ने अपना धर्म प्रवृत्त किया होगा; अथवा उनके प्रवृत्त करने पर भी यह धर्म तत्कालीन राजर्षियों तथा ब्रह्मर्षियों को मान्य हुआ होगा; और लोगों में उसका प्रसार हुआ होगा। ईसा ने अपने भक्तिप्रधान धर्म का उपदेश पहले पहल जिन यहूदी लोगों को किया था, उनमें उस समय धार्मिक तत्त्वज्ञान का प्रसार नहीं हुआ था। इसलिये अपने धर्म का मेल तत्त्वज्ञान के साथ कर देने की उसे कोई आवश्यकता नहीं थी। केवल यह बतला देने से ईसा का धर्मोपदेशसंबन्धी काम पूरा हो सकता था, कि पुरानी बाईबल में जिस कर्ममय धर्म का वर्णन किया गया है, हमारा यह भक्तिमार्ग भी उसी को लिये हुए है; और उसने प्रयत्न भी केवल इतना ही किया है। परन्तु ईसाईधर्म की इन बातों से भागवतधर्म के इतिहास की तुलना करते समय यह ध्यान में रखना चाहिये, कि जिन लोगों में तथा जिस समय भागवतधर्म का प्रचार किया गया, उस समय के वे लोग केवल कर्ममार्ग ही से नहीं; किन्तु ब्रह्मज्ञान तथा कापिलसांख्यशास्त्र से भी परिचित हो गये थे; और तीनों धर्माङ्गों की एकवाक्यता (मेल) करना भी वे लोग सीख चुके थे। ऐसे लोगों से यह कहना किसी प्रकार उचित नहीं हुआ होता, कि 'तुम अपने कर्मकाण्ड या औपनिषदिक और सांख्यज्ञान को छोड़ दो; और केवल श्रद्धापूर्वक भागवतधर्म को स्वीकार कर लो।' ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थों में वर्णित और उस समय में प्रचलित यज्ञयाग आदि कर्मों का फल क्या है? क्या उपनिषदों का या सांख्यशास्त्र का ज्ञान वृथा है? भक्ति और चित्तनिरोधरूपी योग का मेल कैसे हो सकता है?—इत्यादि उस समय स्वभावतः उपस्थित होनेवाले प्रश्नों का जब तक ठीक ठीक उत्तर न दिया जाता, तब तक भागवतधर्म का प्रचार होना भी संभव नहीं था। अतएव न्याय की दृष्टि से अब यही कहना पड़ेगा, कि भागवतधर्म में आरम्भ ही से इन सब विषयों की चर्चा करना अत्यन्त आवश्यक था; और महाभारतान्तर्गत नारायणीयोपाख्यान के देखने से भी यह सिद्धान्त दृढ हो जाता है। इस आख्यान में भागवतधर्म के साथ औपनिषदिक ब्रह्मज्ञान का और सांख्यप्रतिपादित क्षराक्षरविचार का मेल कर दिया गया है; और यह भी कहा है—"चार वेद और सांख्य या योग, इन पाँचों का उसमें (भागवतधर्म में) समावेश होता है। इसलिये उसे पाञ्चरात्रधर्म नाम प्राप्त हुआ है" (म. भा. शां. ३३९. १०७); और "वेदारण्यकसहित (अर्थात् उपनिषदों को भी ले कर) ये सब (शास्त्र) परस्पर एक दूसरे के अंग हैं" (शां. ३४८–८२)। 'पाञ्चरात्र' शब्द की यह निरुक्ति व्याकरण की दृष्टि से चाहे शुद्ध न हो; तथापि उससे यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है, कि सब प्रकार के ज्ञान की एकवाक्यता भागवतधर्म में आरम्भ ही से की गई थी। परन्तु

भक्ति के साथ अन्य सब धर्मांगों की एकवाक्यता करना ही कुछ भागवतधर्म की प्रधान विशेषता नहीं है। यह नहीं, कि भक्ति के धर्मतत्त्व को पहले पहल भागवतधर्म ही ने प्रवृत्त किया हो। ऊपर दिये हुए मैत्र्युपनिषद् (७. ७) के वाक्यों से यह बात प्रगट है, कि रुद्र की या विष्णु के किसी न किसी स्वरूप की भक्ति, भागवतधर्म का उदय होने के पहले ही जारी हो चुकी थी। और यह भावना भी पहले ही उत्पन्न हो चुकी थी, कि उपास्य कुछ भी हो; वह ब्रह्म ही का प्रतीक अथवा एक प्रकार का रूप है। यह सच है, कि रुद्र आदि उपास्यों के बदले भागवतधर्म में वासुदेव उपास्य माना गया है; परन्तु गीता तथा नारायणीयोपाख्यान में भी यह कहा है, कि भक्ति चाहे जिसकी की जाय; वह एक भगवान् ही के प्रति हुआ करती है--रुद्र और भगवान् भिन्न भिन्न नहीं हैं (गी. ६. २३. म. भा. शां. ३४१. २०-२६)। अतएव केवल वासुदेवभक्ति भागवतधर्म का मुख्य लक्षण नहीं मानी जा सकती। जिस सात्वतजाति में भागवतधर्म प्रादुर्भूत हुआ, उस जाति के सात्यकि आदि पुरुष, परम भगवद्भक्त भीष्म और अर्जुन, तथा स्वयं श्रीकृष्ण भी बड़े पराक्रमी एवं दूसरों से पराक्रम के कार्य करानेवाले हो गये हैं। अतएव अन्य भगवद्भक्तों को उचित है, कि वे भी इसी आदर्श को अपने सन्मुख रखें; और तत्कालीन प्रचलित चातुर्वर्ण्य के अनुसार युद्ध आदि सब व्यावहारिक कर्म करें--बस, यही मूलभागवतधर्म का मुख्य विषय था। यह बात नहीं, कि भक्ति के तत्त्व को स्वीकार करके वैराग्ययुक्त बुद्धि से संसार का त्याग करनेवाले पुरुष उस समय बिलकुल ही न होंगे। परन्तु, यह कुछ सात्वतों के या श्रीकृष्ण के भागवतधर्म का मुख्य तत्त्व नहीं है। श्रीकृष्णजी के उपदेश का सार यही है, कि भक्ति से परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर भगवद्भक्त को परमेश्वर के समान जगत् के धारणपोषण के लिये सदा यत्न करते रहना चाहिये। उपनिषत्काल में जनक आदिकों ने ही यह निश्चित कर दिया था, कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष के लिये भी निष्काम कर्म करना कोई अनुचित बात नहीं। परन्तु उस समय उसमें भक्ति का समावेश नहीं किया गया था; और इसके सिवा ज्ञानोत्तर कर्म करना अथवा न करना हर एक की इच्छा पर अवलम्बित था--अर्थात् वैकल्पिक समझा जाता था (वे. सू. ३. ४. १५)। वैदिक धर्म के इतिहास में भागवतधर्म ने जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और स्मार्तधर्म से विभिन्न कार्य किया, वह यह है, कि उस (भागवतधर्म) ने कुछ कदम आगे बढ़कर केवल निवृत्ति की अपेक्षा निष्कामकर्मप्रधान प्रवृत्तिमार्ग (नैष्कर्म्य) को अधिक श्रेयस्कर ठहराया; और केवल ज्ञान ही से नहीं; किन्तु भक्ति से भी कर्म का उचित मेल कर दिया। इस धर्म के मूलप्रवर्तक नर और नारायण ऋषि भी इसी प्रकार सब काम निष्काम बुद्धि से किया करते थे; और महाभारत (उद्यो. ४८. २१, २२) में कहा है, कि सब लोगों को उनके समान कर्म करना ही उचित है। नारायणीय आख्यान में तो भागवतधर्म का यह लक्षण स्पष्ट बतलाया है, कि "प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो

नारायणात्मकः" (म. भा. शां .३४७.८१)—अर्थात् नारायणीय अथवा भागवत-धर्म प्रवृत्तिप्रधान या कर्मप्रधान है, नारायणीय या मूल भागवतधर्म का जो निष्काम-प्रवृत्ति-तत्त्व है, उसीका नाम नैष्कर्म्य है; और यही मूलभागवतधर्म का मुख्य तत्त्व है। परन्तु, भागवतपुराण से यह बात देख पड़ती है, कि आगे कालान्तर में यह तत्त्व मन्द होने लगा; और इस धर्म में वैराग्यप्रधान वासुदेवभक्ति श्रेष्ठ मानी जाने लगी। नारदपञ्चरात्र में तो भक्ति के साथ मन्त्रतन्त्रों का भी समावेश भागवतधर्म में कर दिया गया है। तथापि, भागवत ही से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि ये सब इस धर्म के मूलस्वरूप नहीं हैं। जहाँ नारायणीय अथवा सात्वतधर्म के विषय में कुछ कहने का मौक़ा आया है, वहाँ भागवत (१.३. ८ और ११. ४. ४६.) में ही यह कहा है, कि सात्वतधर्म या नारायण ऋषि का धर्म (अर्थात् भागवतधर्म) "नैष्कर्म्यलक्षण" है। और आगे यह भी कहा है, कि इस नैष्कर्म्यधर्म में भक्तिको उचित महत्त्व नहीं दिया गया था। इसलिये भक्तिप्रधान भागवतपुराण कहना पड़ा (भाग. १. ५. १२)। इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है, कि मूलभागवतधर्म नैष्कर्म्यप्रधान अर्थात् निष्कामकर्म-प्रधान था; किन्तु आगे समय के हेरफेर से उसका स्वरूप बदल कर वह भक्ति-प्रधान हो गया। गीतारहस्य में ऐसी ऐतिहासिक बातों का विवेचन पहले ही हो चुका है, कि ज्ञान तथा भक्ति से पराक्रम का सदैव मेल रखनेवाले मूलभागवत-धर्म में और आश्रमव्यवस्थारूपी स्मार्तमार्ग में क्या भेद है? केवल संन्यासप्रधान जैन और बौद्धधर्म के प्रसार से भागवतधर्म के कर्मयोग की अवनति हो कर उसे दूसरा ही स्वरूप अर्थात् वैराग्ययुक्त भक्तिस्वरूप कैसे प्राप्त हुआ? और बौद्धधर्म का ह्रास होने के बाद जो वैदिक संप्रदाय प्रवृत्त हुए, उनमें से कुछ ने तो अन्त में भगवद्गीता ही को संन्यासप्रधान, कुछ ने केवल भक्तिप्रधान तथा कुछ ने विशिष्टा-द्वैतप्रधान स्वरूप कैसे दे दिया।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह बात समझ में आ जायगी, कि वैदिक धर्म के सनातन प्रवाह में भागवतधर्म का उदय कब हुआ? और पहले उसके प्रवृत्ति-प्रधान या कर्मप्रधान रहने पर भी आगे चल कर उसे भक्तिप्रधान स्वरूप एवं अन्त में रामानुजाचार्य के समय विशिष्टाद्वैती स्वरूप प्राप्त हो गया। भागवतधर्म के इन भिन्न भिन्न स्वरूपों में से जो मूलारम्भ का अर्थात् निष्काम कर्मप्रधान स्वरूप है, वही गीताधर्म का स्वरूप है। अब यहाँ पर संक्षेप में यह बतलाया जायगा, कि उक्त प्रकार की मूलगीता के काल के विषय में क्या अनुमान किया जा सकता है? श्रीकृष्ण तथा भारतीय युद्ध का काल यद्यपि एक ही है; अर्थात् सन् ईसवी के पहले लगभग १४०० वर्ष है। तथापि नहीं कहा जा सकता, कि भागवतधर्म के ये दोनों प्रधान ग्रन्थ—मूलगीता तथा मूलभारत—उसी समय रचे गये होंगे। किसी भी धर्मग्रन्थ का उदय होने पर तुरन्त ही उस धर्म पर ग्रन्थ रचे नहीं जाते। भारत तथा गीता के विषय में भी यही न्याय पर्याप्त होता है। वर्तमान महा-

भारत के आरम्भ में यह कथा है, कि अब भारतीय युद्ध समाप्त हो चुका; और जब पाण्डवों का पन्ती (पौत्र) जनमेजय सर्पसत्र कर रहा था, तब वहाँ वैशंपायन ने जनमेजय को पहले पहल गीतासहित भारत सुनाया था; और आगे जब सौती ने शौनक को सुनाया, तभी से भारत प्रचलित हुआ। यह बात प्रगट है, कि सौती आदि पौराणिकों के मुख से निकल कर आगे भारत को काव्यमय ग्रन्थ का स्थायी स्वरूप प्राप्त होने में कुछ समय अवश्य बीत गया होगा। परन्तु इस काल का निर्णय करने के लिये कोई साधन उपलब्ध नहीं है। ऐसी अवस्था में यदि यह मान लिया जाय, कि भारतीय युद्ध के बाद लगभग पाँच सौ वर्ष के भीतर ही आर्ष महाकाव्यात्मक मूलभारत निर्मित हुआ होगा; तो कुछ विशेष साहस की बात नहीं होगी। क्योंकि बौद्धधर्म के ग्रन्थ, बुद्ध की मृत्यु के बाद इससे भी जल्दी तैयार हुए हैं। अब आर्ष महाकाव्य में नायक का केवल पराक्रम बतला देने से ही काम नहीं चलता। किन्तु उसमें यह भी बतलाना पडता है, कि नायक जो कुछ करता है, वह उचित है या अनुचित। तना ही क्यों ? संस्कृत के अतिरिक्त अन्य साहित्यों में जो उक्त प्रकार के महाकाव्य हैं, उनसे भी यही ज्ञात होता है, कि नायक के कार्यों के गुणदोषों का विवेचन करना आर्ष महाकाव्य का एक प्रधान भाग होता है। अर्वाचीन दृष्टि से देखा जाय, तो कहना पडेगा, कि नायकों के कार्यों का समर्थन केवल नीतिशास्त्र के आधार पर करना चाहिये। किन्तु प्राचीन समय में धर्म तथा नीति में पृथक् भेद नहीं माना जाता था। अतएव उक्त समर्थन के लिये धर्मदृष्टि के सिवा अन्य मार्ग नहीं था। फिर यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, कि जो भागवतधर्म भारत के नायकों को ग्राह्य हुआ था; अथवा जो उन्हीं के द्वारा प्रवृत्त किया गया था, उसी भागवतधर्म के आधार पर उनके कार्यों का समर्थन करना भी आवश्यक था। इसके सिवा दूसरा कारण यह भी है, कि भागवतधर्म के अतिरिक्त तत्कालीन प्रचलित अन्य वैदिकधर्मपंथ न्यूनाधिक रीति से अथवा सर्वथा निवृत्तिप्रधान थे। इसलिये उनमें वर्णित धर्मतत्त्वों के आधार पर भारत के नायकों की वीरता का पूर्णतया समर्थन करना संभव नहीं था। अतएव कर्मयोगप्रधान भागवतधर्म का निरूपण महाकाव्यात्मक मूलभारत ही में करना आवश्यक था। यही मूलगीता है। और यदि भागवतधर्म के मूलस्वरूप का उपपत्तिसहित प्रतिपादन करनेवाला सब से पहला ग्रन्थ यह न भी हो; तो भी यह स्थूल अनुमान किया जा सकता है, कि यह आदिग्रन्थों में से एक अवश्य है; और इसका काल ईसा के लगभग ९०० वर्ष पहले है। इस प्रकार गीता यदि भागवतधर्मप्रधान पहला ग्रन्थ न हो, तो भी वह मुख्य ग्रन्थों में से एक अवश्य है। इसलिये इस बात का दिग्दर्शन करना आवश्यक था, कि उसमें प्रतिपादित निष्काम कर्मयोग तत्कालीन प्रचलित अन्य धर्मपन्थों से--अर्थात् कर्मकांड से, औपनिषदिक ज्ञान से, सांख्य से, चित्तनिरोधरूपी योग से तथा भक्ति से भी--अविरुद्ध है। इतना ही नहीं; किन्तु यही इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन भी कहा जा सकता

है । वेदान्त और मीमांसाशास्त्र पीछे से बने हैं । इसलिये उनका प्रतिपादन मूल-गीता में नहीं आ सकता । और यही कारण है, कि कुछ लोग यह शंका करते हैं, कि वेदान्त विषय गीता में पीछे मिला दिया गया है । परन्तु नियमबद्ध वेदान्त और मीमांसाशास्त्र पीछे भले ही बने हों ; किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं, कि इन शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषय बहुत प्राचीन हैं--और इस बातका उल्लेख हम ऊपर कर ही आये हैं । अतएव मूलगीता में इन विषयों का प्रवेश होना कालदृष्टि से किसी प्रकार विपरीत नहीं कहा जा सकता । तथापि हम यह भी नहीं कहते, कि जब मूलभारत का महाभारत बनाया गया होगा, तब मूलगीता में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ होगा । किसी भी धर्मपंथ को लीजिये; उसके इतिहास से तो यही बात प्रगट होती है, कि उसमें समय समय पर मतभेद होकर अनेक उपपन्थ निर्माण हो जाया करते हैं । वही बात भागवतधर्म के विषय में कही जा सकती है । नारायणीयोपाख्यान (म. भा. शां. ३४८. ५७) में यह बात स्पष्ट रूप से कह दी गई है, कि भागवतधर्म को कुछ लोग तो चतुर्व्यूह--अर्थात् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, इस प्रकार चार व्यूहों को--मानते हैं; और कुछ लोग त्रिव्यूह, द्विव्यूह या एकव्यूह ही मानते हैं । आगे चल कर ऐसे ही और भी अनेक मतभेद उपस्थित हुए होंगे । इसी प्रकार औपनिषदिक सांख्यज्ञान की भी वृद्धि हो रही थी । अतएव इस बात की सावधानी रखना अस्वाभाविक या मूलगीता के हेतु के विरुद्ध भी नहीं था, कि मूलगीता में जो कुछ विभिन्नता हो, वह दूर हो जावे; और बढ़ते हुए पिण्डब्रह्माण्डज्ञान से भागवत-धर्म का पूर्णतया मेल हो जावे । हमने पहले "गीता और ब्रह्मसूत्र" शीर्षक लेख में यह बतला दिया है, कि इसी कारण से वर्तमान गीता में ब्रह्मसूत्रों का उल्लेख पाया जाता है । इसके सिवा उक्त प्रकार के अन्य परिवर्तन भी मूल-गीता में हो गये होंगे । परन्तु मूलगीताग्रन्थ में ऐसे परिवर्तनों का होना भी सम्भव नहीं था । वर्तमान समय में गीता की जो प्रामाणिकता है, उससे प्रतीत नहीं होता, कि वह उसे वर्तमान महाभारत के बाद मिली होगी । ऊपर कह आये हैं, कि ब्रह्मसूत्रों में "स्मृति" शब्द से गीता को प्रमाण माना है । मूलभारत का महाभारत होते समय यदि मूलगीता में भी बहुत-से परिवर्तन हो गये होते, तो इस प्रामाणिकता में निस्सन्देह कुछ बाधा आ गई होती । परन्तु वैसा नहीं हुआ--और गीताग्रंथ की प्रामाणिकता कहीं अधिक बढ़ गई है । अतएव यही अनुमान करना पड़ता है, कि मूलगीता में जो कुछ परिवर्तन हुए होंगे, वे कोई महत्त्व के न थे; किन्तु ऐसे थे, जिनसे मूलग्रन्थ के अर्थ की पुष्टि हो गई है । भिन्न भिन्न पुराणों में वर्तमान भगवद्गीता के नमूने की जो अनेक गीताएँ कही गई हैं, उनसे यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है, कि उक्त प्रकार से मूलगीता को जो स्वरूप एक बार प्राप्त हो गया था, वही अब तक बना हुआ है--उसके बाद उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ । क्योंकि, इन सब पुराणों में से

अत्यन्त प्राचीन पुराणों के कुछ शतक पहले ही यदि वर्तमान गीता पूर्णतया प्रमाणभूत (और इसीलिये परिवर्तित न होने योग्य) न हो गई होती, तो उसी नमूने की अन्य गीताओं की रचना की कल्पना होना भी सम्भव नहीं था । इसी प्रकार—गीता के भिन्न भिन्न सांप्रदायिक टीकाकारों ने एक ही गीता के शब्दों की खींचातानी करके--यह दिखलाने का जो प्रयत्न किया है, कि गीता का अर्थ हमारे ही साम्प्रदाय के अनुकूल है । उसकी भी कोई आवश्यकता उत्पन्न नहीं होती । वर्तमान गीता के कुछ सिद्धान्तों का परस्पर-विरोध देख कुछ लोग यह शंका करते हैं, कि वर्तमान महाभारतान्तर्गत गीता में भी आगे समय समय पर कुछ परिवर्तन हुआ होगा । परन्तु हम पहले ही बतला चुके हैं, कि वास्तव में यह विरोध नहीं है, किन्तु यह भ्रम है; जो धर्मप्रतिपादन करनेवाली पूर्वापार वैदिक पद्धतियों के स्वरूप को ठीक तौर पर न समझनेसे हुआ है । सारांश, ऊपर किये गये विवेचन से यह बात समझ में आ जायगी, कि भिन्न भिन्न प्राचीन वैदिक धर्मांगों की एकवाक्यता करके प्रवृत्तिमार्ग का विशेष रीति से समर्थन करनेवाले भागवतधर्म का उदय हो चुकने पर लगभग पाँच सौ वर्ष के पश्चात् (अर्थात् ईसा के लगभग ९०० वर्ष पहले) मूलभारत और मूलगीता दोनों ग्रन्थ निर्मित हुए, जिनमें उस मूल भागवतधर्म का ही प्रतिपादन किया गया था; और भारत का महाभारत होते समय यद्यपि इस मूलगीता में तदर्थपोषक कुछ सुधार किये गये हों; तथापि उसके असली रूप में उस समय भी कुछ परिवर्तन नहीं हुआ । एवं वर्तमान महाभारत में जब गीता जोड़ी गई, तब (और उसके बाद भी) उनम कोई नया परिवर्तन नहीं हुआ--और होना भी असम्भव था । मूलगीता तथा मूलभारत के स्वरूप एवं काल का यह निर्णय स्वभावतः स्थूलदृष्टि से एवं अन्दाज से किया गया है । क्योंकि इस समय उसके लिये कोई विशेष साधन उपलब्ध नहीं हैं । परन्तु वर्तमान महाभारत तथा वर्तमान गीता की यह बात नहीं । क्योंकि इनके काल का निर्णय करने के लिये बहुतेरे साधन हैं । अतएव इनकी चर्चा स्वतन्त्र रीति से अगले भाग में की गई है । यहाँ पर पाठकों को स्मरण रखना चाहिये, कि ये दोनों—अर्थात् वर्तमान गीता और वर्तमान महाभारत—वही ग्रन्थ हैं, जिनके मूलस्वरूप में कालान्तर से परिवर्तन होता रहा; और जो इस समय गीता तथा महाभारत के रूप में उपलब्ध हैं । ये उस समय के पहले मूलग्रन्थ नहीं हैं ।

भाग ५ —– वतमान गीता का काल ।

इस बात का विवेचन हो चुका, कि भगवद्गीता भागवतधर्म पर प्रधान ग्रंथ है; और यह भागवतधर्म ईसाई सन् के लगभग १४०० वर्ष पहले प्रादुर्भूत हुआ । एवं स्थूलमान से यह निश्चित किया गया, कि उसके कुछ शतकों के बाद मूलगीता बनी होगी; और यह भी बतलाया गया, कि मूलभागवतधर्म के निष्काम—

कर्मप्रधान होने पर भी आगे उसका भक्तिप्रधान स्वरूप हो कर अंत में विशिष्टाद्वैत का भी उसमें समावेश हो गया। मूलगीता तथा मूलभागवतधर्म के विषय में इस से अधिक हाल निदान वर्तमान समय में तो मालूम नहीं है; और यही दशा पचास वर्ष पहले वर्तमान गीता तथा महाभारत की भी थी। परन्तु डॉक्टर भाण्डारकर, परलोकवासी काशीनाथपंत तैलंग, परलोकवासी शंकर बालकृष्ण दीक्षित तथा रावबहादुर चिंतामणिराव वैद्य प्रभृति विद्वानों के उद्योग से वर्तमान गीता एवं वर्तमान महाभारत का काल निश्चित करने के लिये यथेष्ट साधन उपलब्ध हो गये हैं; और, अभी हालही में स्वर्गवासी त्र्यम्बक गुरुनाथ काळे ने दो-एक प्रमाण और भी बतालाये हैं। इन सब को एकत्रित कर तथा हमारे मत से उनमें जिन बातों का मिलाना ठीक जँचा, उनको भी मिला कर परिशिष्ट का यह भाग संक्षेप में लिखा गया है। इस परिशिष्ट प्रकरण के आरम्भ ही में हमने यह बात प्रमाण-सहित दिखला दी है, कि वर्तमान महाभारत तथा वर्तमान गीता, दोनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति द्वारा रचे गये हैं। यदि ये दोनों ग्रन्थ एक ही व्यक्तिद्वारा रचे गये—अर्थात् एककालीन मान लें—तो महाभारत के काल से गीता का काल भी सहज ही निश्चित हो जाता है। अतएव इस भाग में पहले वे प्रमाण दिये गये हैं; जो वर्तमान महाभारत का काल निश्चित करने में अत्यंत प्रधान माने जाते हैं; और उनके बाद स्वतंत्र रीति से वे प्रमाण दिये गये हैं, जो वर्तमान गीता का काल निश्चित करने में उपयोगी हैं। ऐसा करने का उद्देश यह है, कि महाभारत का कालनिर्णय करने के जो प्रमाण हैं, वे यदि किसी को संदिग्ध प्रतीत हों, तो उनके कारण गीता के काल का निर्णय करने में कोई बाधा न होने पावे।

महाभारत काल निर्णय :—महाभारतग्रन्थ बहुत बड़ा है; और उसी में यह लिखा है, कि वह लक्षश्लोकात्मक है। परन्तु रावबहादुर वैद्य ने महाभारत के अपने टीकात्मक अंग्रेज़ी ग्रन्थ के पहले परिशिष्ट में यह बतलाया है, * कि जो महाभारत ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है, उसमें लाख श्लोकों की संख्या में कुछ न्यूनाधिकता हो गई है; और यदि उनमें हरिवंश के श्लोक मिला दिये जावें, तो भी योगफल एक लाख नहीं होता। तथापि यह माना जा सकता है, कि भारत का महाभारत होने पर जो बृहत् ग्रन्थ तैयार हुआ, वह प्रायः वर्तमान ग्रन्थ ही सा होगा। ऊपर बतला चुके हैं, कि इस महाभारत में यास्क के निरुक्त तथा मनुसंहिता का उल्लेख और भगवद्गीता में तो ब्रह्मसूत्रों का भी उल्लेख पाया जाता है। अब इसके अतिरिक्त, महाभारत के कालनिर्णय करने के लिये जो प्रमाण पाये जाते हैं, वे ये हैं :—

(१) अठारह पर्वों का यह ग्रन्थ तथा हरिवंश, ये दोनों संवत् ५३५ और ६३५ के दर्मियान जावा और बाली द्वीपों में थे; तथा वहाँ की प्राचीन 'कवि' नामक

* The Mahabharata: a criticism p. 185. रा. ब. वैद्य के महाभारत के जिस टीकात्मक ग्रंथ का हमने कहीं कहीं उल्लेख किया है, वह यही पुस्तक है।

भाषा में उनका अनुवाद हुआ है। इस अनुवाद के ये आठ पर्व—आदि, विराट, उद्योग, भीष्म, आश्रमवासी, मुसल, प्रस्थानिक और स्वर्गारोहण—बाली द्वीप में इस समय उपलब्ध हैं; और उनमें से कुछ प्रकाशित भी हो चुके हैं। यद्यपि अनुवाद कविभाषामें किया गया है; तथापि उसमें स्थान स्थान पर महाभारत के मूल संस्कृत श्लोक ही रखे गये हैं। उनमें से उद्योगपर्व के श्लोकों की जाँच हमने की है। वे सब श्लोक वर्तमान महाभारत की कलकत्ते में प्रकाशित पोथी के उद्योगपर्व के अध्यायों में—बीच बीच में क्रमशः—मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है, कि लक्ष-श्लोकात्मक महाभारत संवत् ४३५ के पहले लगभग दो सौ वर्ष तक हिन्दुस्थान में प्रमाणभूत माना जाता था। क्योंकि, यदि वह यहाँ प्रमाणभूत न हुआ होता, तो जावा तथा बाली द्वीपों में उसे न ले गये होते। तिब्बत की भाषा में भी महाभारत का अनुवाद हो चुका है; परन्तु यह उसके बाद का है" * ।

(२) गुप्त राजाओं के समय का एक शिलालेख हाल में उपलब्ध हुआ है। कि जो चेदि संवत् १९७ अर्थात् विक्रमी संवत् ५०२ में लिखा गया था। उसमें इस बात का स्पष्ट रीति से निर्देश किया गया है, कि उस समय महाभारत ग्रन्थ एक लाख श्लोकों का था; और इससे यह प्रगट हो जाता है, कि विक्रमी संवत् ५०२ के लगभग दो सौ वर्ष पहले उसका अस्तित्व अवश्य होगा ** ।

(३) आजकल भास कवि के जो नाटकग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। उनमें से अधिकांश महाभारत के आख्यानों के आधार पर रचे गये हैं। इससे प्रगट है, कि उस समय महाभारत उपलब्ध था; और वह प्रमाण भी माना जाता था। भास कविकृत बालचरित नाटक में श्रीकृष्णजी की शिशु-अवस्था की बातों का तथा गोपियों का उल्लेख पाया जाता है। अतएव यह कहना पड़ता है, कि हरिवंश भी उस समय अस्तित्व में होगा। यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि भास कवि कालिदास से पुराना है। भास कविकृत नाटकों के संपादक पण्डित गणपतिशास्त्री ने स्वप्न-वासवदत्ता नामक नाटक की प्रस्तावना में लिखा है, कि भास चाणक्य से भी प्राचीन है। क्योंकि भास कवि के नाटक का एक श्लोक चाणक्य के अर्थशास्त्र में पाया जाता है; और उसमें यह बतलाया है, कि वह किसी दूसरे का है। परन्तु यह काल यद्यपि कुछ संदिग्ध माना जाय; तथापि हमारे मत से यह बात निर्विवाद है, कि भास कवि का समय सन् ईसवी के दूसरे तथा तीसरे शतक के और भी इस ओर का नहीं माना जा सकता।

---

* जावा द्वीप के महाभारत का ब्योरा The Modern Review July 1914 pp. 32 – 38 में दिया गया है; और तिब्बती भाषा में अनुवादित महाभारत का उल्लेख Rockhill's Life of the Buddha, p. 228 note में किया है।

** यह शिलालेख Inscriptionum Indicarum नामक पुस्तक के तृतीय खंड के पृ० १३४ में पूर्णतया दिया हुआ है; और स्वर्गवासी शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने उसका उल्लेख अपने भारतीय ज्योतिःशास्त्र (पृ. १०८) में किया है।

(४) बौद्ध ग्रन्थों के द्वारा यह निश्चित किया गया है, कि शालिवाहन शक के आरम्भ में अश्वघोष नामक एक बौद्ध कवि हो गया है, जिसने बुद्धचरित और सौन्दरानंद नामक दो बौद्धधर्मीय संस्कृत महाकाव्य लिखे थे। अब ये ग्रन्थ छापकर प्रकाशित किये गये हैं। इन दोनों में भारतीय कथाओं का उल्लेख है। इनके सिवा, वज्रसूचिकोपनिषद् पर अश्वघोष का व्याख्यानरूपी एक और ग्रन्थ है। अथवा यह कहना चाहिये, कि यह वज्रसूचि उपनिषद् उसी का रचा हुआ है। इस ग्रन्थ को प्रोफेसर वेबर ने सन १८६० में जर्मनी में प्रकाशित किया है। इसमें हरिवंश के श्राद्धमाहात्म्य में से "सप्तव्याधा दशार्णेषु०" (हरि. २४. २० और २१) इत्यादि श्लोक, तथा स्वयं महाभारत के भी कुछ अन्य श्लोक (उदाहरणार्थ म. भा. शां. २६१. १७) पाये जाते हैं। इससे प्रगट होता है, कि शक संवत् से पहले हरिवंश को मिलाकर वर्तमान लक्षश्लोकात्मक महाभारत प्रचलित था।

(५) आश्वलायन गृह्यसूत्रों (३. ४. ४) में भारत तथा महाभारत का पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है; और बौधायन धर्मसूत्र में एक स्थान (२. २. २६) पर महाभारत में वर्णित ययाति उपाख्यान का एक श्लोक मिलता है (म. भा. आ. ७८. १०)। बूलर साहब का कथन है, कि केवल एक ही श्लोक के आधार पर यह अनुमान दृढ नहीं हो सकता, कि महाभारत बौधायन के पहले था *। परन्तु यह शङ्का ठीक नहीं। क्योंकि बौधायन के गृह्यसूत्र में विष्णुसहस्रनाम का स्पष्ट उल्लेख है (बौ. गृ. शे. १. २२. ८); और आगे चल कर इसी सूत्र (२. २२-९) में गीता का "पत्रं पुष्पं फलं तोयं०" श्लोक (गीता. ९. २६) भी मिलता है। बौधायनसूत्र में पाये जाने- वाले इन उल्लेखों को पहले पहल परलोकवासी त्र्यंबक गुरुनाथ काळे ने प्रकाशित किया था **। इन सब उल्लेखों से यही कहना पड़ता है, कि बूलर साहब की शंका निर्मूल है। आश्वलायन तथा बौधायन दोनों ही महाभारत से परिचित थे। बूलर ही ने अन्य प्रमाणों से निश्चित किया है, कि बौधायन सन् ईसवी के लगभग ४०० वर्ष पहले हुआ होगा।

(६) स्वयं महाभारत में जहाँ विष्णु के अवतारों का वर्णन किया गया है, वहाँ बुद्ध का नाम तक नहीं है; और नारायणीयोपाख्यान (म. भा. शां. ३३९. १००) में जहाँ दस अवतारों के नाम दिये हैं, वहाँ हंस को प्रथम अवतार कह कर तथा कृष्ण के बाद ही एकदम कल्कि को लाकर पूरे दस गिना दिये हैं। परन्तु वनपर्व में कलियुग की भविष्यत् स्थिति का वर्णन करते समय कहा है, कि "एडूक चिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता" (म. भा. वन. १९०. ६८) —अर्थात् पृथ्वी

---

* See Sacred Books of the East Series, Vol. XIV Intro. p. xli.

** परलोकवासी त्र्यंबक गुरुनाथ काळे का पूरा लेख The Vedic Magazine and Gurukula Samachar, Vol VII Nos. 6–7 pp. 528–532 में प्रकाशित हुआ है। इसमें लेखक का नाम प्रोफेसर काळे लिखा है; पर वह अशुद्ध है।

पर देवालयों के बदले एडूक होंगे । बुद्ध के बाल तथा दाँत प्रभृति किसी स्मारक वस्तु को जमीन में गाड़ कर उस पर जो खंभ, मीनार या इमारत बनाई जाती थी, उसे एडूक कहते थे; और आजकल उसे "डागोबा" कहते हैं । डागोबा शब्द संस्कृत "धातुगर्भ" (=पाली डागब) का अपभ्रंश है; और "धातु" शब्द का अर्थ 'भीतर रक्खी हुई स्मारक वस्तु' है । सीलोन तथा ब्रह्मदेश में ये डागोबा कई स्थानों पर पाये जाते हैं । इससे प्रतीत होता है, कि बुद्ध के बाद--परन्तु अवतारों में उसकी गणना होने के पहले ही--महाभारत रचा गया होगा । महाभारत में 'बुद्ध' तथा 'प्रतिबुद्ध' शब्द अनेक बार मिलते हैं (शां. १९४, ५८; ३०७. ४७; ३४३. ५२) । परन्तु वहाँ केवल ज्ञानी, जाननेवाला अथवा स्थितप्रज्ञ पुरुष, इतना ही अर्थ उन शब्दों से अभिप्रेत है । प्रतीत नहीं होता, कि ये शब्द बौद्धधर्म से लिये गये हों; किन्तु यह मानने के लिये दृढ कारण भी है, कि बौद्धों ने ये शब्द वैदिक धर्म से लिये होंगे ।

(७) कालनिर्णय की दृष्टि से यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, कि महाभारत में नक्षत्रगणना अश्विनी आदि से नहीं है; किन्तु वह कृत्तिका आदि से है (म. भा. अनु. ६४ और ८९); और मेष-वृषभ आदि राशियों का कहीं भी उल्लेख नहीं है । क्योंकि इस बात से यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है, कि यूनानियों के सहवास से हिन्दुस्थान में मेष, वृषभ आदि राशियों के आने के पहले--अर्थात् सिकन्दर के पहले ही--महाभारतग्रन्थ रचा गया होगा । परन्तु इससे भी अधिक महत्त्व की बात श्रवण आदि नक्षत्रगणना के विषय की है । अनुगीता (म. भा. अश्व. ४४. २ और आदि. ७१. ३४) में कहा है, कि विश्वामित्र ने श्रवण आदि की नक्षत्रगणना आरम्भ की; और टीकाकार ने उसका यह अर्थ किया है, कि उस समय श्रवण नक्षत्र से उत्तरायण का आरम्भ होता था--इसके सिवा उसका कोई दूसरा ठीक ठीक अर्थ भी नहीं हो सकता । वेदांगज्योतिष के समय उत्तरायण का आरम्भ धनिष्ठा नक्षत्र से हुआ करता था । धनिष्ठा में उदगयन होने का काल ज्योतिर्गणित की रीति से शक के पहले लगभग १५०० वर्ष आता है; और ज्योतिर्गणित की रीति से उदगयन को एक नक्षत्र पीछे हटने के लिये लगभग हजार वर्ष लग जाते हैं । इस हिसाब से श्रवण के आरम्भ में उदगयन होनेका काल शक के पहले लगभग ५०० वर्ष आता है । सारांश, गणित के द्वारा यह बतलाया जा सकता है, कि शक के पहले ५०० वर्ष के लगभग वर्तमान महाभारत बना होगा । परलोकवासी शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने भारतीय ज्योतिःशास्त्र में यही अनुमान किया है, (भा. ज्यो. पृ. ८७-९०, १११ और १४७ देखो) । इस प्रमाण की विशेषता यह है, कि इसके कारण वर्तमान महाभारत का काल शक के पहले ५०० वर्ष से अधिक पीछे हटाया ही नहीं जा सकता ।

(८) रावबहादुर वैद्य ने महाभारत पर जो टीकात्मक ग्रंथ अंग्रेजी में लिखा है, उसमें यह बतलाया है, कि चंद्रगुप्त के दरबार में (सन ईसवी से लगभग ३२०

वर्ष पहले) रहनेवाल मेगस्थनीज़ नामक ग्रीक वकील को महाभारत की कथाएँ मालूम थीं। मगस्थनीज़ का पूरा ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं है; परन्तु उसके अवतरण कई ग्रंथों में पाये जाते हैं। वे सब एकत्रित करके, पहले जर्मन भाषा में प्रकाशित किये गये; और फिर मेक्‌क्रिडल ने उनका अंग्रेज़ी अनुवाद किया है। इस पुस्तक (पुष्ठ२००-२०५) में कहा है, कि उसमें वर्णित हेरेक्लीज़ ही श्रीकृष्ण है; और मेगस्थनीज़ के समय शौरसेनीय लोग--जो मथुरा के निवासी थे--उसी की पूजा किया करते थे*। उसमें यह भी लिखा है, कि हेरेक्लीज़ अपने मूलपुरुष डायोनिसस से पंद्रहवाँ था। इसी प्रकार महाभारत (अनु. १४७. २५-३३) में भी कहा है, कि श्रीकृष्ण दक्षप्रजापति से पंद्रहवें पुरुष हैं। और, मेगस्थनीज़ ने कर्णप्रावरण, एकपाद, ललाटाक्ष आदि अद्‌भुत लोगों का (पृ. ७४), तथा सोने को ऊपर निकालनेवाली चीटियों (पिपीलिकाओं) का (पृ ९४), जो वर्णन किया है, वह भी महाभारत (सभा. ५१ और ५२) ही में पाया जाता है। इन बातों से और अन्य बातों से प्रगट हो जाता है, कि मेगस्थनीज़ के समय केवल महाभारत ग्रन्थ ही नहीं प्रचलित था; किन्तु श्रीकृष्णचरित्र तथा श्रीकृष्णपूजा का भी प्रचार हो गया था।

यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय, कि उपर्युक्त प्रमाण परस्परसापेक्ष अर्थात् एक दूसरे पर अवलम्बित नहीं हैं; किन्तु वे स्वतंत्र हैं ; तो यह बात निस्सन्देह प्रतीत होगी, कि वर्तमान महाभारत शक के लगभग पाँच सौ वर्ष पहले अस्तित्व में ज़रूर था। इसके बाद कदाचित् किसी ने उसमें कुछ नये श्लोक मिला दिये होंगे; अथवा उसमें से कुछ निकाल भी डाले होंगे। परन्तु इस समय कुछ विशिष्ट श्लोकों के विषय में कोई प्रश्न नहीं है---प्रश्न तो समूचे ग्रन्थ के ही विषय में है; और यह बात सिद्ध है, कि यह समस्त ग्रन्थ शककाल के कम-से-कम पाँच शतक पहले ही रचा गया है। इस प्रकरण के आरम्भ ही में हमने यह सिद्ध कर दिया है, कि

---

*See M 'Crindle's Ancient India–Megasthenes and Arrian pp. 200–205 मेगस्थनीज़ का यह कथन एक वर्तमान खोज के कारण विचित्रतापूर्वक दृढ ो गया है । बंबई सरकार के Archaeological Department का १९१४ ईसवी की Progress Report हाल ही में प्रकाशित हुई है। उसमें एक शिलालेख है , जो ग्वालियर रियासत के भेलसा शहर के पास वेसनगर गाँव में खांबबावा नामक एक गरुडध्वजस्तंभ पर मिला है। इस लेख में यह कहा है , कि हेलिओडोरस नामक एक हिंदु बने हुए यवन अर्थात् ग्रीक ने इस स्तंभ के सामने वासुदेव का मन्दिर बनवाया; और यह यवन वहाँ के भगभद्र नामक राजा के दरबार में तक्षशिला के एँटिआल्किडस नामक ग्रीक राजा के एलची की हैसियत से रहता था। एँटिआल्किडस के सिक्कों से अब यह सिद्ध किया गया है, कि वह ईसा के पहले १४० वें वर्ष में राज्य करता था। इससे यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है , कि उस समय वासुदेवभक्ति प्रचलित थी। केवल इतना ही नहीं ; किन्तु यवन लोग भी वासुदेव के मन्दिर बनवाने लगे थे। यह पहले ही बतला चुके हैं, कि मेगस्थनीज़ ही को नहीं; किन्तु पाणिनी को भी वासुदेवभक्ति मालूम थी।

गीता समस्त महाभारतग्रंथ का एक भाग है--वह कुछ उसमें पीछे नहीं मिलाई गई है । अतएव गीता का भी काल वही मानना पड़ता है, जो कि महाभारत का है। सम्भव है, कि मूलगीता इसके पहले की हो--क्योंकि (जैसा इसी प्रकरण के चौथे भाग में बतलाया गया है) उसकी परम्परा बहुत प्राचीन समय तक हटानी पड़ती है। परंतु, चाहे जो कुछ कहा जाय; यह निर्विवाद सिद्ध है, कि उसका काल महाभारत के बाद का नहीं माना जा सकता । यह नहीं, कि यह बात उपर्युक्त प्रमाणों ही से सिद्ध होती है; किन्तु इसके विषय में स्वतन्त्र प्रमाण भी देख पड़ते हैं । अब आगे उन स्वतंत्र प्रमाणों का ही वर्णन किया जाता है ।

गीताकाल का निर्णय :--ऊपर जो प्रमाण बतलाये गये हैं, उनमें गीता का स्पष्ट अर्थात् नामतः निर्देश नहीं किया गया है । वहाँ गीता के काल का निर्णय महाभारतकाल से किया गया है । अब यहाँ क्रमशः वे प्रमाण दिये जाते हैं, जिनमें गीता का स्पष्टरूप से उल्लेख है । परंतु पहले यह बतला देना चाहिये, कि परलोकवासी तैलंग ने गीता को आपस्तम्ब के पहले की अर्थात् ईसा से कम-से-कम तीन सौ वर्ष से अधिक प्राचीन कहा है । डॉक्टर भांडारकर ने अपने "वैष्णव, शैव आदि पन्थ" नामक अंग्रेजी ग्रंथ में प्रायः इसी काल को स्वीकार किया है । प्रोफेसर गार्बे* के मतानुसार तैलंग-द्वारा निश्चित किया गया काल ठीक नहीं । उनका यह कथन है, कि मूलगीता ईसा के पहले दूसरी सदी में हुई; और ईसा के बाद दूसरे शतक में उसमें कुछ सुधार किये गये हैं । परन्तु नीचे लिखे प्रमाणों से यह बात भली भाँति प्रगट हो जायगी, कि गार्बे का उक्त कथन ठीक नहीं है ।

(१) गीता पर जो टीकाएँ तथा भाष्य उपलब्ध हैं, उनमें शांकरभाष्य अत्यन्त प्राचीन है। श्रीशंकराचार्य ने महाभारत के सनत्सुजातीय प्रकरण पर भी भाष्य लिखा है; और उनके ग्रन्थों में महाभारत के मनुबृहस्पतिसंवाद, शुकानुप्रश्न और अनुगीता में से बहुतेरे वचन अनेक स्थानों पर प्रमाणार्थ लिये गये हैं । इससे यह बात प्रगट है, कि उनके समय में महाभारत और गीता दोनों ग्रंथ प्रमाणभूत माने जाते थे। प्रोफेसर काशीनाथ बापू पाठक ने एक साम्प्रदायी श्लोक के आधार पर श्रीशंकराचार्य का जन्मकाल ८४५ विक्रमी संवत् (७१०) निश्चित किया है। परन्तु हमारे मत से इस काल को सौ वर्ष और भी पीछे हटाना चाहिये । क्योंकि, महानुभाव पंथ के "दर्शनप्रकाश" नामक ग्रंथ में यह कहा है, कि "युग्मपयोधिरसान्वितशाके" अर्थात् शक ६४२ (विक्रमी संवत् ७७७) में, श्रीशंकराचार्य ने गुहा में प्रवेश किया; और उस समय उनकी आयु ३२ वर्ष की थी । अतएव यह सिद्ध होता है, कि उनका जन्म शक ६१० (संवत् ७४५) में हुआ । हमारे मत में

---

* See Telang's Bhagavadgita S. B. E. Vol. VIII Intro. pp.21 and 34, Dr. Bhandarkar's Vaishnavism, Shaivism and other Sects, p. 13; Dr. Garbe's Die Bhagavadgita, p. 64.

यही समय–प्रोफ़ेसर पाठक द्वारा निश्चित किये हुए काल से–कहीं अधिक सयुक्तिक प्रतीत होता है। परन्तु, यहाँ पर उसके विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन नहीं किया जा सकता। गीता पर जो शाङ्करभाष्य है, उसमें पूर्व समय के अधिकांश टीकाकारों का उल्लेख किया गया है; और उक्त भाष्य के आरम्भ ही में श्री शंकराचार्य ने कहा है, कि इन टीकाकारों के मतों का खण्डन करके हमने नया भाष्य लिखा है। अतएव आचार्य का जन्मकाल चाहे शक ६१० लीजिये या ७१०; इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं, कि उस समय के कम-से-कम दो तीन सौ वर्ष पहले—अर्थात् ४०० शक के लगभग—गीता प्रचलित थी। अब देखना चाहिये, कि इस काल के भी और पहले कैसे और कितना जा सकते हैं।

(२) परलोकवासी तैलंग ने यह दिखलाया है, कि कालिदास और बाणभट्ट गीता से परिचित थे। कालिदासकृत रघुवंश (१०. ३१) में विष्णु की स्तुति के विषय में जो "अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते" यह श्लोक है, वह गीता के (३. २२) "नानवाप्तमवाप्तव्यं०" श्लोक से मिलता है। और बाणभट्ट की कादम्बरी के "महाभारतमिवानन्तगीताकर्णनानन्दितनरं" इस एक श्लेषप्रधान वाक्य में गीता का स्पष्टरूप से उल्लेख किया गया है। कालिदास और भारवि का उल्लेख स्पष्टरूप से संवत् ६९१ के एक शिलालेख में पाया जाता है। और अब यह भी निश्चित हो चुका है, कि बाणभट्ट संवत् ६६३ के लगभग हर्ष राजा के पास था। इस बात का विवेचन परलोकवासी पांडुरङ्ग गोविंद शास्त्री पारखी ने बाणभट्ट पर लिखे हुए अपने एक मराठी निबन्ध में किया है।

(३) जावा द्वीप में जो महाभारत ग्रन्थ यहाँ से गया है, उसके भीष्मपर्व में एक गीता प्रकरण है, जिसमें गीता के भिन्न भिन्न अध्यायों के लगभग सौ सव्वा सौ श्लोक अक्षरशः मिलते हैं। सिर्फ़ १२, १५, १६ और १७ इन चार अध्यायों के श्लोक उसमें नहीं हैं। इससे यह कहने में कोई आपत्ति नहीं देख पड़ती, कि उस समय भी गीता का स्वरूप वर्तमान गीता के स्वरूप के सदृश ही था। क्योंकि, कविभाषा में यह गीता का अनुवाद है; और उसमें जो संस्कृत श्लोक मिलते हैं, वे बीच-बीच में उदाहरण तथा प्रतीक के तौर पर ले लिये गये हैं। इससे यह अनुमान करना युक्तिसङ्गत नहीं, कि उस समय गीता में केवल उतने ही श्लोक थे। जब डॉक्टर नरहर गोपाल सरदेसाई जावा द्वीप को गये थे, तब उन्हों ने इस बात की खोज की है। इस विषय का वर्णन कलकत्ते के मॉडर्न रिव्यू नामक मासिक पत्र के जुलाई १९१४ के अङ्क में तथा अन्यत्र भी प्रकाशित हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है, कि शक चार-पाँच सौ के पहले कम-से-कम दो सौ वर्ष तक महाभारत के भीष्मपर्व में गीता थी; और उसके श्लोक भी वर्तमान गीताश्लोकों के क्रमानुसार ही थे।

(४) विष्णुपुराण, और पद्मपुराण आदि ग्रन्थों में भगवद्गीता के नमूने पर बनी हुई जो अन्य गीताएँ देख पड़ती हैं, अथवा उनके उल्लेख पाये जाते हैं, उनका

वर्णन इस ग्रन्थ के पहले प्रकरण में किया गया है। इससे यह बात स्पष्टतया विदित होती है, कि उस समय भगवद्गीता प्रमाण तथा पूजनीय मानी जाती थी। इसी लिये उसका उक्त प्रकार से अनुकरण किया गया है; और यदि ऐसा न होता, तो उसका कोई भी अनुकरण न करता। अतएव सिद्ध है, कि इन पुराणों में जो अत्यन्त प्राचीन पुराण हैं, उनसे भी भगवद्गीता कम-से-कम सौ-दो-सौ वर्ष अधिक प्राचीन अवश्य होगी। पुराण-काल का आरम्भ-समय सन् ईसवी के दूसरे शतक से अधिक अर्वाचीन नहीं माना जा सकता। अतएव गीता का काल कम-से-कम शकारम्भ के कुछ थोड़ा पहले ही मानना पड़ता है।

(५) ऊपर यह बतला चुके हैं, कि कालिदास और बाण गीता से परिचित थे। कालिदास से पुराने भास कवि के नाटक हाल ही में प्रकाशित हुए हैं। उनमें से 'कर्णभार' नामक नाटक में बारहवाँ श्लोक इस प्रकार है :—

हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः।
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे ॥

यह श्लोक गीता के "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम् ०" (गी. २. ३७) श्लोक के समानार्थक है। और, जब कि भास कवि के अन्य नाटकों से यह प्रगट होता है, कि वह महाभारत से पूर्णतया परिचित था; तब तो यही अनुमान किया जा सकता है, कि उपर्युक्त श्लोक लिखते समय उसके मन में गीता का उक्त श्लोक अवश्य आया होगा। अर्थात् यह सिद्ध होता है, कि भास कवि के पहले भी महाभारत और गीता का अस्तित्व था। पंडित त० गणपतिशास्त्री ने यह निश्चित किया है, कि भास कवि का काल शक के दो-तीन सौ वर्ष पहले रहा होगा। परन्तु कुछ लोगों का यह मत है, कि वह शक के सौ-दो-सौ वर्ष बाद हुआ है। यदि इस दूसरे मत को सत्य मानें; तो भी उपर्युक्त प्रमाण से सिद्ध हो जाता है, कि भास से कम-से-कम सौ-दो-सौ वर्ष पहले –– अर्थात् शककाल के आरम्भ में महाभारत और गीता, दोनों ग्रन्थ सर्वमान्य हो गये थे।

(६) परन्तु प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा गीता के श्लोक लिये जाने का और भी अधिक दृढ प्रमाण, परलोकवासी त्र्यंबक गुरुनाथ काळे ने गुरुकुल की 'वैदिक मेगज़ीन' नामक अंग्रेज़ी मासिक पुस्तक (पुस्तक ७, अंक ६-७ पृष्ठ ५२८––५३२ मार्गशीर्ष और पौष, संवत् १९७०) में प्रकाशित किया है। इसके पहले पश्चिमी संस्कृत पण्डितों का यह मत था, कि संस्कृत काव्य तथा पुराणों की अपेक्षा किन्हीं अधिक प्राचीन ग्रन्थों में––उदाहरणार्थ सूत्रग्रन्थों में भी––गीता का उल्लेख नहीं पाया जाता; और इसलिये यह कहना पड़ता है, कि सूत्रकाल के बाद––अर्थात् अधिक से अधिक सन् ईसवी के पहले दूसरी सदी में गीता बनी होगी। परन्तु परलोकवासी काळे ने प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है, कि यह मत ठीक नहीं है। बौधायनगृह्यशेषसूत्र (२. २२. ९) में गीता का (९. २६) श्लोक "तदाह भगवान्" कह कर स्पष्टरूप से लिया गया है। जैसे :––

देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यान्मनसा वार्चयेदिति । तदाह भगवान्—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ इति

और आगे चल कर कहा है, कि भक्ति से नम्र हो कर इन मंत्रों को पढ़ना चाहिये— " भक्तिनम्रः एतान् मन्त्रानधीयीत " । उसी गृह्यशेषसूत्रके तीसरे प्रश्न के अन्त में यह भी कहा है, कि " ॐ नमो भगवते वासुदेवाय इस द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करने से अश्वमेध का फल मिलता है । इससे यह बात पूर्णतया सिद्ध होती है, कि बौधायन के पहले गीता प्रचलित थी ; और वासुदेवपूजा भी सर्वमान्य समझी जाती थी। इसके सिवा बौधायन के पितृमेधसूत्र के द्वितीय प्रश्न के आरम्भ ही में यह वाक्य है:—

जातस्य वै मनुष्यस्य ध्रुवं मरणमिति विजानीयात्तस्माज्जाते

न प्रहृष्येन्मृते च न विषीदेत् ।

इससे सहज ही देख पड़ता है, कि यह गीता के " जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्यच । तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि " इस श्लोक से सूझ पड़ा होगा; और उसमें उपर्युक्त " पत्रं पुष्पं " श्लोक का योग देने से तो कुछ शंका ही नहीं रह जाती। ऊपर बतला चुके हैं, कि स्वयं महाभारत का एक श्लोक बौधायन सूत्रों में पाया जाता है । बूलर साहब ने निश्चित किया है, * कि बौधायन का काल आपस्तम्ब के सौ-दो-सौ वर्ष पहले होगा; और आपस्तम्ब का काल ईसा के पहले तीन सौ वर्ष से कम हो नहीं सकता । परन्तु हमारे मतानुसार उसे कुछ इस ओर हटाना चाहिये । क्योंकि महाभारत में मेष-वृषभ आदि राशियाँ नहीं हैं; और कालमाधव में तो बौधायन का " मीनमेषयोर्वृषभयोर्वा वसन्तः " यह वचन दिया गया है। यही वचन परलोकवासी शंकर बालकृष्ण दीक्षित के भारतीय ज्योतिः-शास्त्र (पृ० १०२) में भी लिखा गया है। इससे भी यही निश्चित अनुमान किया जाता है, कि महाभारत बौधायन के पहले का है। शकारम्भ के कम-से-कम चार सौ वर्ष पहले बौधायन का समय होना चाहिये; और पाँच सौ वर्ष पहले महाभारत तथा गीता का अस्तित्व था । परलोकवासी काळे ने बौधायन का काल ईसा के सात-आठ सौ वर्ष पहले का निश्चित किया है; किन्तु यह ठीक नहीं है। जान पड़ता है, कि बौधायन का राशिविषयक वचन उनके ध्यान में न आया होगा ।

(७) उपर्युक्त प्रमाणों से यह बात किसी को भी स्पष्टरूप से विदित हो जायगी, कि वर्तमान गीता शक के लगभग पाँच सौ वर्ष पहले अस्तित्व में थी; बौधायन तथा आश्वलायन भी उससे परिचित थे; और उस समय से श्री शंकराचार्य के समय तक उसकी परम्परा अविच्छिन्न रूप में दिखलाई जा सकती है। परन्तु

* See Sacred Books of the East, Series, Vol. II. Intro. p. xlii and also the same Series, Vol. XIV. Intro. p. xliii.

अब तक जिन प्रमाणों का उल्लेख दिया गया है, वे सब वैदिक धर्म के ग्रन्थों से लिये गये हैं। अब आगे चल कर जो प्रमाण दिया जायगा, वह वैदिक धर्मग्रन्थों से भिन्न अर्थात् बौद्ध साहित्य का है। इससे गीता की उपर्युक्त प्राचीनता स्वतंत्र रीति से और भी अधिक दृढ़ तथा निःसन्दिग्ध हो जाती है। बौद्धधर्म के पहले ही भागवतधर्म का उदय हो गया था। इस विषय में बूलर और प्रसिद्ध फ्रेंच पण्डित सेनार्त के मतों का उल्लेख पहले हो चुका है; तथा प्रस्तुत प्रकरण के अगले भाग में इन बातों का विवेचन स्वतंत्र रीति से किया जायगा, कि बौद्धधर्म की वृद्धि कैसे हुई ? तथा हिन्दूधर्म से उसका क्या सम्बन्ध है ? यहाँ केवल गीताकाल के सम्बन्ध में ही आवश्यक उल्लेख संक्षिप्त रूप से किया जायगा। भागवतधर्म बौद्धधर्म के पहले का है। केवल इतना कह देने से ही इस बात का निश्चय नहीं किया जा सकता, कि गीता भी बुद्ध के पहले थी। क्योंकि यह कहने के लिये कोई प्रमाण नहीं है, कि भागवतधर्म के साथ ही साथ गीता का भी उदय हुआ। अतएव यह देखना आवश्यक है, कि बौद्ध ग्रन्थकारों ने गीताग्रन्थ का स्पष्ट उल्लेख कहीं किया है या नहीं ? प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में यह स्पष्ट रूपसे लिखा है, कि बुद्ध के समय चार वेद, वेदाङ्ग, व्याकरण, ज्योतिष, इतिहास, निघंटु आदि वैदिक धर्मग्रन्थ प्रचलित हो चुके थे। अतएव इसमें सन्देह नहीं, कि बुद्ध के पहले ही वैदिक धर्म पूर्णावस्था में पहुँच चुका था। इसके बाद बुद्ध ने जो नया पन्थ चलाया, वह अध्यात्म की दृष्टि से अनात्मवादी था; परन्तु उसमें—जैसा अगले भाग में बतलाया जायगा—आचरणदृष्टि से उपनिषदों के संन्यासमार्ग ही का अनुकरण किया गया था। अशोक के समय बौद्धधर्म की यह दशा बदल गई थी। बौद्ध भिक्षुओं ने जंगलों में रहना छोड़ दिया था। धर्मप्रसारार्थ तथा परोपकार का काम करने के लिये वे लोग पूर्व की ओर चीन में; और पश्चिम की ओर अलेक्जेंड्रिया तथा ग्रीस तक चले गये थे। बौद्धधर्म के इतिहास में यह एक अत्यन्त महत्त्व का प्रश्न है, कि जंगलों में रहना छोड़ कर लोकसंग्रह का काम करने के लिये बौद्ध यति कैसे प्रवृत्त हो गये ? बौद्धधर्म के प्राचीन ग्रन्थों पर दृष्टि डालिये। सुत्तनिपात के खग्गविसाणसुत्त में कहा है, कि जिस भिक्षु ने पूर्ण अर्हतावस्था प्राप्त कर ली है, वह कोई भी काम न करे; केवल गेंडे के सदृश जंगल में निवास किया करे। और महावग्ग (५. १. २७) में बुद्ध के शिष्य सोनकोलीविस कथा में कहा है, कि " जो भिक्षु निर्वाणपद तक पहुँच चुका है, उसके लिये न तो कोई काम ही अवशिष्ट रह जाता है; और न किया हुआ कर्म ही भोगना पड़ता है--' कतस्स पटिचयो नत्थि करनीयं न विज्जति '। यह शुद्ध संन्यासमार्ग है; और हमारे औपनिषदिक संन्यासमार्ग से इसका पूर्णतया मेल मिलता है। यह " करणीयं न विज्जति " वाक्य गीता के इस " तस्य कार्यं न विद्यते " वाक्य से केवल समानार्थक ही नहीं है; किन्तु शब्दशः भी एक ही है। परन्तु बौद्ध भिक्षुओं का जब यह मूल संन्यासप्रधान आचार बदल गया; और जब वे परोपकार के काम करने लगे, तब नये तथा

पुराने मत में झगड़ा हो गया। पुराने लोग अपने को 'थेरवाद' (वृद्धपंथ) कहने लगे; और नवीन मतवादी लोग अपने पन्थ का 'महायान' नाम रख करके पुराने पंथ को 'हीनयान' (अर्थात् हीन पंथ के) नाम से सम्बोधित करने लगे। अश्वघोष महायान पंथ का था; और वह इस मत को मानता था, कि बौद्ध यति लोग परोपकार के काम किया करें। अतएव सौंदरानंद (१८. ५४) काव्य के अन्त में, जब नन्द अर्हतावस्था में पहुँच गया, तब उसे बुद्ध ने जो उपदेश दिया है, उसमें पहले यह कहा है:—

अवाप्तकार्योऽसि परां गतिं गतः न तेऽस्ति किंचित्करणीयमण्वपि।

अर्थात् "तेरा कर्तव्य हो चुका। तुझे उत्तम गति मिल गई। अब तेरे लिये तिल भर भी कर्तव्य नहीं रहा।" और आगे स्पष्ट रूप से यह उपदेश किया है; कि —

विहाय तस्मादिह कार्यमात्मनः कुरु स्थिरात्मन्परकार्यमप्यथो ॥

अर्थात् "अतएव अब तू अपना कार्य छोड़ बुद्धि को स्थिर करके परकार्य किया कर (सौं. १८. ५७)। बुद्ध के कर्मत्यागविषयक उपदेश में—कि जो प्राचीन धर्म-ग्रंथों में पाया जाता है—तथा इस उपदेश में (कि जिसे सौंदरानन्द काव्य में अश्वघोष ने बुद्ध के मुख से कहलाया है) अत्यन्त भिन्नता है। और, अश्वघोषकी इन दलीलों में तथा गीता के तीसरे अध्याय में जो युक्ति प्रयुक्तियाँ हैं, उनमें—"तस्य कार्यं न विद्यते .... तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर" अर्थात् तेरे लिये कुछ रह नहीं गया है। इसलिये जो कर्म प्राप्त हो, उनको निष्कामबुद्धि से किया कर (गी. ३. १७, १९)— न केवल अर्थदृष्टि से ही; किन्तु शब्दशः समानता है। अतएव इससे यह अनुमान होता है, कि ये दलीलें अश्वघोष को गीता ही से मिली हैं। इसका कारण ऊपर बतला ही चुके हैं, कि अश्वघोष से भी पहले महाभारत था। इसे केवल अनुमान ही न समझिये। बुद्धधर्मानुयायी तारानाथ ने बुद्धधर्मविषयक इतिहाससम्बन्धी जो ग्रंथ तिब्बती भाषा में लिखा है, उसमें लिखा है, कि बौद्धों के पूर्वकालीन संन्यासमार्ग में महायान पंथ ने जो कर्मयोग-विषयक सुधार किया था, उसे ज्ञानी श्रीकृष्ण और गणेश' से महायान पंथ के मुख्य पुरस्कर्ता नागार्जुन के गुरु राहुलभद्र ने जाना था। इस ग्रंथ का अनुवाद रूसी भाषा से जर्मन भाषामें किया गया है—अंग्रेजी में अभी तक नहीं हुआ है। डॉक्टर केर्न ने १८९६ ईसवी में बुद्ध धर्म पर एक पुस्तक लिखी थी। यहाँ उसी से हमने यह अवतरण लिया है। डॉक्टर केर्न का भी यही मत है, कि यहाँ पर श्रीकृष्ण के नाम से भगवद्गीता ही उल्लेख किया गया है। महायान पंथ के बौद्ध ग्रंथों में से, 'सद्धर्मपुण्डरीक' नामक ग्रंथ में भी भगवद्गीता के श्लोकों के

---

* See Dr. Kern's Manual of Indian Buddhism, Grundriss, III. 8. P. 122 महायान पंथ के 'अमितायुसुत्त' नामक मुख्य ग्रंथ का अनुवाद चीनी भाषा में सन १४८ के लगभग किया गया था।

समान कुछ श्लोक हैं। परन्तु इन बातों का और अन्य बातों का विवेचन अगले भाग में किया जायगा। यहाँ पर केवल यही बतलाना है, कि बौद्ध ग्रन्थकारों के ही मतानुसार मूल बौद्धधर्म के संन्यासप्रधान होने पर भी इसमें भक्तिप्रधान तथा कर्मप्रधान महायान पंथ की उत्पत्ति भगवद्गीता के कारण ही हुई है; और अश्वघोष के काव्य से गीता की जो ऊपर समता बतलाई गई है, उससे इस अनुमान को और भी दृढ़ता प्राप्त हो जाती है। पश्चिमी पंडितों का निश्चय है, कि महायान पंथ का पहला पुरस्कर्ता नागार्जुन शक के लगभग सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले हुआ होगा। और यह तो स्पष्ट ही है, कि इस पंथ का बीजारोपण अशोक के राजशासन के समय में हुआ होगा। बौद्ध ग्रंथों से तथा स्वयं बौद्ध ग्रंथकारों के लिखे हुए उस धर्म के इतिहास से यह बात स्वतन्त्र रीति से सिद्ध हो जाती है, कि भगवद्गीता महायान पंथ के जन्म से पहले-- अशोक से भी पहले--यानी सन् ईसवी से लगभग ३०० वर्ष पहले ही अस्तित्व में थी।

इन सब प्रमाणों पर विचार करने से इसमें कुछ भी शंका नहीं रह जाती, कि वर्तमान भगवद्गीता शालिवाहन शक के लगभग पाँच सौ वर्ष पहले ही अस्तित्व में थी। डॉक्टर भांडारकर, परलोकवासी तैलंग, रावबहादुर चिन्तामणिराव वैद्य और परलोकवासी दीक्षित का मत भी इससे बहुत कुछ मिलता जुलता है; और उसी को यहाँ ग्राह्य मानना चाहिये। हाँ; प्रोफेसर गार्बे का मत भिन्न है। उन्हों ने उसके प्रमाण में गीता के चौथे अध्यायवाले सम्प्रदायपरम्परा के श्लोकों में से इस 'योगो नष्टः' --योग का नाश हो गया--वाक्य को ले कर योग शब्द का अर्थ 'पातञ्जल योग' किया है। परन्तु हमने प्रमाणसहित बतला दिया है, कि वहाँ योग शब्द का अर्थ 'पातंजल योग' नहीं--'कर्मयोग' है। इसलिये प्रो० गार्बे का मत भ्रममूलक अतएव अग्राह्य है। यह बात निर्विवाद है, कि वर्तमान गीता का काल शालिवाहन शक के पाँच सौ वर्ष पहले की अपेक्षा और कम नहीं माना जा सकता। पिछले भाग में यह बतला ही आये हैं, कि मूलगीता इससे भी कुछ सदियों से पहले की होनी चाहिये।

भाग ६ — गीता और बौद्ध ग्रंथ।

वर्तमान गीता का काल निश्चित करने के लिये ऊपर जिन बौद्ध ग्रन्थों के प्रमाण दिये गये हैं, उनका पूरा पूरा महत्त्व समझने के लिये गीता और बौद्ध ग्रन्थ या बौद्धधर्म की साधारण समानता तथा विभिन्नता पर भी यहाँ विचार करना आवश्यक है। पहले कई बार बतला आये हैं, कि गीताधर्म की विशेषता यह है, कि गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ प्रवृत्तिमार्गावलंबी रहता है। परन्तु इस विशेष गुण को थोड़ी देर के लिये अलग रख दें; और उक्त पुरुष के केवल मानसिक तथा नैतिक गुणों ही का विचार करें, तो गीता में स्थितप्रज्ञ (गी. २. ५५-७२), ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के (४.

१६–२३; ५. १८–२८) और भक्तियोगी पुरुष (१२. १३–१६) के जो लक्षण बतलाये हैं उनमें—और निर्वाणपद के अधिकारी अर्हतों के (अर्थात् पूर्णावस्था को पहुँचे हुए बौद्ध भिक्षुओं के) जो लक्षण भिन्न भिन्न बौद्ध ग्रंथों में दिये हुए हैं, उनमें–विलक्षण समता देख पड़ती है (धम्मपद श्लो. ३६०–४२३ और सुत्तनिपातों में से मुनिसुत्त तथा धम्मिकसुत्त देखो)। इतना ही नहीं; किन्तु इन वर्णनों के शब्दसाम्य से देख पड़ता है, कि स्थितप्रज्ञ एवं भक्तिमान् पुरुष के समान ही सच्चा भिक्षु भी 'शान्त,' 'निष्काम,' 'निर्मम,' 'निराशी' (निरिस्सित), 'समदुःखसुख,' 'निरारंभ,' 'अनिकेतन,' या 'अनिवेशन' अथवा 'समनिन्दास्तुति,' और 'मान-अपमान तथा लाभ-अलाभ को समान माननेवाला' रहता है (धम्मपद ४०, ४१ और ६१; सुत्तनि. मुनिसुत्त १. ७ और १४; द्वयतानुपस्सनसुत्त २१—२३; और विनयपिटक चुल्लवग्ग ७. ४. ७. देखो)। द्वयतानुपस्सनसुत्त के ४० वें श्लोक का यह विचार—कि ज्ञानी पुरुष के लिये जो वस्तु प्रकाशमान् है, वही अज्ञानी को अंधकार के सदृश है—गीता के (२. ६९) "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी" इस श्लोकांतर्गत विचार के सदृश है। और मुनिसुत्त के १० वें श्लोक का यह वर्णन–"अरोसनेय्यो न रोसेति" अर्थात् न तो स्वयं कष्ट पाता है; और न दूसरों को कष्ट देता है—गीता के "यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः" (गी. १२. १५) इस वर्णन के समान है। इसी प्रकार सेल्लसुत्त के ये विचार कि "जो कोई जन्म लेता है, वह मरता है;" और "प्राणियों का आदि तथा अंत अव्यक्त है। इसलिये उसका शोक करना वृथा है" (सेल्लसुत्त १ और ९ तथा गी. २.२७ और २८) कुछ शब्दों के हेरफेर से गीता के ही विचार हैं। गीता के दसवें अध्याय में अथवा अनुगीता (म. भा. अश्व. ४३; ४४) में "ज्योतिमानों में सूर्य, नक्षत्रों में चन्द्र, और वेदमन्त्रों में गायत्री" आदि जो वर्णन है, वही सेल्लसुत्त के २१ वें और २२ वें श्लोकों में तथा महावग्ग (६. ३५.८) में ज्यों-का-त्यों आया है। इसके सिवा शब्दसादृश्य के तथा अर्थसमता के छोटे मोटे उदाहरण, परलोकवासी तैलंग ने गीता के अपने अंग्रेजी अनुवाद की टिप्पणियों में दे दिये हैं। तथापि प्रश्न होता है, कि यह सदृशता हुई कैसे? ये विचार असल में बौद्धधर्म के हैं या वैदिकधर्म के? और, इनसे अनुमान क्या निकलता है? किन्तु इन प्रश्नों को हल करने के लिये उस समय जो साधन उपलब्ध थे, वे अपूर्ण थे। यही कारण है, जो उपर्युक्त चमत्कारिक शब्दसादृश्य और अर्थसादृश्य दिखला देने के सिवा परलोकवासी तैलंग ने इस विषय में और कोई विशेष बात नहीं लिखी। परन्तु अब बौद्धधर्म की जो अधिक बातें उपलब्ध हो गई हैं, उनसे उक्त प्रश्न हल किये जा सकते हैं। इसलिये यहाँ पर बौद्धधर्म की उन बातों का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। परलोकवासी तैलंगकृत गीता का अंग्रेजी अनुवाद जिस "प्राच्यधर्मग्रन्थमाला" में प्रकाशित हुआ था, उसी में आगे चलकर पश्चिमी विद्वानों ने बौद्धधर्म-ग्रंथों के अंगेजी अनुवाद प्रसिद्ध किये हैं। ये बातें प्रायः उन्हीं से एकत्रित की गई

हैं; और प्रमाण में जो बौद्ध ग्रंथों के स्थल बतलाये गये हैं, उनका सिलसिला इसी माला के अनुवादों में मिलेगा। कुछ स्थानों पर पाली शब्दों तथा वाक्यों के अवतरण मूल पाली ग्रन्थों से ही उद्धृत किये गये हैं।

अब यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है, कि जैनधर्म के समान बौद्धधर्म भी अपने वैदिक धर्मरूप पिता का ही पुत्र है, कि जो अपनी संपत्ति का हिस्सा ले कर किसी कारण से विभक्त हो गया है; अर्थात् वह कोई पराया नहीं है--किन्तु उसके पहले यहाँ पर जो ब्राह्मणधर्म था, उसी की यही उपजी हुई यह एक शाखा है। लंका में महावंश या दीपवंश आदि प्राचीन पाली भाषा के ग्रन्थ हैं। उनमें बुद्ध के पश्चाद्वर्ती राजाओं तथा बौद्ध आचार्यों की परंपरा का जो वर्णन है, उसका हिसाब लगा कर देखनेसे ज्ञात होता है, कि गौतमबुद्ध ने अस्सी वर्ष की आयु पाकर ईसवी सन् से ५४३ वर्ष पहले अपना शरीर छोड़ा। परन्तु इसमें कुछ बातें असंबद्ध हैं। इसलिये प्रोफेसर मेक्समूलर ने इस गणना पर सूक्ष्म विचार करके बुद्ध का यथार्थ निर्वाण काल इसवी सन् से ४७३ वर्ष पहले बतलाया है; और डॉक्टर बूलर भी अशोक के शिलालेखों से इसी काल का सिद्ध होना प्रमाणित करते हैं। तथापि प्रोफेसर र्‍हिसडेविड्स और डा० केर्न के समान कुछ खोज करनेवाले इस काल को उस काल से ६५ तथा १०० वर्ष और भी आगे की ओर हटलाना चाहते हैं। प्रोफेसर गायगर ने हाल ही में इन सब मतों की जाँच करके बुद्ध का यथार्थ निर्वाण-काल ईसवी सन् से ४८३ वर्ष पहले माना है *। इनमें से कोई भी काल क्यों न स्वीकार कर लिया जाय? यह निर्विवाद है, कि बुद्ध का जन्म होने के पहले ही वैदिक धर्म पूर्ण अवस्था में पहुँच चुका था; और न केवल उपनिषद् ही; किन्तु धर्म-सूत्रों के समान ग्रन्थ भी उसके पहले ही तैयार हो चुके थे। क्योंकि, पाली भाषा के प्राचीन बौद्ध धर्मग्रन्थों ही में लिखा है, कि-- "चारों वेद, वेदांग, व्याकरण-ज्योतिष, इतिहास और निघंटु" आदि विषयों में प्रवीण सत्त्वशील गृहस्थ ब्राह्मणों, तथा जटिल तपस्वियों से गौतम बुद्ध न वाद करके उनको अपने धर्म की दीक्षा दी (सुत्तनिपातों में सेल्लसुत्त के सेल्ल का वर्णन तथा वथ्थुगाथा ३०--४५ देखो)। कठ आदि उपनिषदों में (कठ १.१८; मुंड. १. २. १०); तथा उन्हीं को लक्ष्य करके गीता (२. ४०--४५; ९. २०-२१) में जिस प्रकार यज्ञयाग आदि श्रौत-कर्मों की गौणता का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार तथा कई अंशों में उन्हीं शब्दों के द्वारा तेविज्जसुत्तों (त्रैविद्यसूत्रों) में बुद्ध ने भी अपने मतानुसार 'यज्ञ-

* बुद्ध-निर्वाणकालविषयक वर्णन प्रो० मेक्समूलर ने अपने धम्मपद के अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना में (S. B. E. Vol X. Intro. pp. xxxv-xiv.) किया है; और उसकी परीक्षा डॉ. गायगर ने सन् १९१२ में प्रकाशित अपने महावंश के अनुवाद की प्रस्तावना में की है (The Mahavamsa by Dr. Geiger, Pali Text Society, Intro. p. xxiif).

यागादि ' को निरुपयोगी तथा त्याज्य बतलाया है; और इस बात का निरूपण किया है, कि ब्राह्मण जिसे ब्रह्मसहव्यताय ' (ब्रह्मसहव्यत्यय = ब्रह्मसायुज्यता) कहते हैं, वह अवस्था कैसे प्राप्त होती है ? इससे यह बात स्पष्ट विदित होती है, कि ब्राह्मणधम के कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड--अथवा गार्हस्थ्यधर्म और संन्यासधर्म अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति--इन दोनों शाखाओं के पूर्णतया रूढ हो जाने पर उनमें सुधार करने के लिये बौद्धधर्म उत्पन्न हुआ। सुधार के विषय में सामान्य नियम यह है, कि उसमें कुछ पहले की बातें स्थिर रह जाती हैं; और कुछ बदल जाती हैं। अतएव इस न्याय के अनुसार इस बात का विचार करना चाहिये, कि बौद्धधर्म में वैदिकधर्म की किन किन बातों को स्थिर रख लिया है; और किन किन को छोड़ दिया है। यह विचार दोनों--गार्हस्थ्यधर्म और संन्यास--की पृथक् पृथक् दृष्टि से करना चाहिये। परन्तु बौद्धधर्म मूल में संन्यासमार्गीय अथवा केवल निवृत्तिप्रधान है। इसलिये पहले दोनों के संन्यासमार्ग का विचार करके अनन्तर दोनों के गार्हस्थ्यधर्म के तारतम्य पर विचार किया जायगा।

वैदिक संन्यासधर्म पर दृष्टि डालने से देख पड़ता है, कि कर्ममय सृष्टि के सब व्यवहार तृष्णामूलक अतएव दुःखमय हैं। उससे अर्थात् जन्ममरण के भवचक्र से आत्मा का सर्वथा छुटकारा होने के लिये मन निष्काम और विरक्त करना चाहिये; तथा उसको दृश्यसृष्टि के मूल में रहनेवाले आत्मस्वरूपी नित्य परब्रह्म में स्थिर करके सांसारिक कर्मों का सर्वथा त्याग करना उचित है। इस आत्मनिष्ठ स्थिति ही में सदा निमग्न रहना संन्यासधर्म का मुख्य तत्त्व है। दृश्यसृष्टि नामरूपात्मक तथा नाशवान् है; और कर्मविपाक के कारण ही उसका अखण्डित व्यापार जारी है।

कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा (प्रजा)।
कम्मनि बंधना सत्ता (सत्त्वानि) रथस्साऽणीव यायतो ॥

अर्थात् " कर्म ही से लोग और प्रजा जारी हैं। इस प्रकार चलती हुई गाड़ी रथ की कील से नियन्त्रित रहती है, उसी प्रकार प्राणिमात्र कर्म से बँधा हुआ है " (सुत्तनि, वासेठसुत्त. ६१)। वैदिकधर्म के ज्ञानकाण्ड का उक्त तत्त्व अथवा जन्म-मरण का चक्कर या ब्रह्मा, इन्द्र, महेश्वर, ईश्वर, यम आदि अनेक देवता और उनके भिन्न भिन्न स्वर्ग-पाताल आदि लोकों का ब्राह्मणधर्म में वर्णित अस्तित्व बुद्ध को मान्य था; और इसी कारण नामरूप, कर्मविपाक, अविद्या, उपादान और प्रकृति वगैरह वेदान्त या सांख्यशास्त्र के शब्द तथा ब्रह्मादि वैदिक देवताओं की कथाएँ भी (बुद्ध की श्रेष्ठता को स्थिर रख कर) कुछ हेरफेर से बौद्धग्रन्थों में पाई जाती हैं। यद्यपि बुद्ध को वैदिकधर्म के कर्मसृष्टिविषयक ये सिद्धान्त मान्य थे, कि दृश्य-सृष्टि नाशवान् और अनित्य है। एवं उसके व्यवहार कर्मविपाक के कारण जारी हैं; तथापि वैदिकधर्म अर्थात् उपनिषत्कारों का यह सिद्धान्त उन्हें मान्य न था, कि नाम रूपात्मक नाशवान् सृष्टि के मूलमें नामरूप से व्यतिरिक्त आत्मस्वरूपी परब्रह्म के

समान एक नित्य और सर्वव्यापक वस्तु है। इन दोनों धर्मों में जो विशष भिन्नता है, वह यही है। गौतम बुद्ध ने यह बात स्पष्टरूप से कह दी है, कि आत्मा या ब्रह्म यथार्थ में कुछ नहीं है --केवल भ्रम है। इसलिये आत्म-अनात्म के विचार में या ब्रह्मचिन्तन के पचड़े में पड़ कर किसी को अपना समय न खोना चाहिये (सब्बासवसुत्त ९-१३ देखो)। दीघनिकायों के ब्रह्मजालसुत्तों से भी यही बात स्पष्ट होती है, कि आत्मविषयक कोई भी कल्पना बुद्ध को मान्य न थी *। इन सुत्तों में पहले कहा है, कि आत्मा और ब्रह्म एक है या दो ? फिर ऐसे ही भेद बतलाते हुए आत्मा की भिन्न भिन्न ६२ प्रकार की कल्पनाएँ बतला कर कहा है, कि ये सभी मिथ्या 'दृष्टि' हैं; और मिलिंदप्रश्न (२,३,६, और २,७,१५,) में भी बौद्धधर्म के अनुसार नागसेन ने यूनानी मिलिन्द (मिनांदर) से साफ़ साफ़ कह दिया है, कि "आत्मा तो कोई यथार्थ वस्तु नहीं है"। यदि मान लें, कि आत्मा और उसी प्रकार ब्रह्म भी दोनों भ्रम ही हैं, यथार्थ नहीं हैं; तो वस्तुतः धर्म की नींव ही गिर जाती है। क्योंकि, फिर सभी अनित्य वस्तुएँ बच रहती हैं; और नित्यसुख या उसका अनुभव करनेवाला कोई भी नहीं रह जाता। यही कारण है, जो श्रीशंकराचार्य ने तर्कदृष्टि से इस मत को अग्राह्य निश्चित किया है। परन्तु अभी हमें केवल यही देखना है, कि असली बुद्धधर्म क्या है ? इसलिये इस वाद को यहीं छोड़ कर देखेंगे, कि बुद्ध ने अपने धर्म की क्या उपपत्ति बतलाई है। यद्यपि बुद्ध को आत्मा का अस्तित्व मान्य न था; तथापि इन दो बातों से वे पूर्णतया सहमत थे, कि (१) कर्मविपाक के कारण नामरूपात्मक देह को (आत्मा को नहीं) नाशवान् जगत् के प्रपंच में बार बार जन्म लेना पड़ता है; और (२) पुनर्जन्म का यह चक्कर या सारा संसार ही दुःखमय है। इससे छुटकारा पा कर स्थिर शान्ति या सुख को प्राप्त कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार इन दो बातों--अर्थात् सांसारिक दुःख के अस्तित्व और उसके निवारण करने की आवश्यकता --को मान लेने से वैदिकधर्म का यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना रहता है, कि दुःखनिवारण करके अत्यन्त सुख प्राप्त कर लेने का मार्ग कौन-सा है ? और उसका कुछ-न-कुछ ठीक ठीक उत्तर देना आवश्यक हो जाता है। उपनिषत्कारों ने कहा है, कि यज्ञयाग आदि कर्मों के द्वारा संसारचक्र से छुटकारा हो नहीं सकता। और बुद्ध ने इससे भी कहीं आगे बढ़कर इन सब कर्मों को हिंसात्मक अतएव सर्वथा त्याज्य और निषिद्ध बतलाया है। इसी प्रकार यदि स्वयं 'ब्रह्म' ही को एक बड़ा भारी भ्रम मानें; तो दुःखनिवारणार्थ जो ब्रह्मज्ञानमार्ग है, वह भी भ्रान्तिकारक तथा असम्भव निर्णित होता है। फिर दुःखमय भवचक्र से छूटने का मार्ग कौन-सा है ? बुद्ध ने इसका यह उत्तर दिया है, कि किसी रोग को दूर करने के लिये उस रोग का मूलकारण ढूंढ कर उसी को हटाने का प्रयत्न जिस प्रकार चतुर

---

* ब्रह्मजालसुत्त का अंग्रेजी में अनुवाद नहीं है; परन्तु उसका संक्षिप्त विवेचन व्हिसडेविड्स ने S. B. E. Vol. XXVI. Intro. pp. xxiii-xxv में किया है।

वैद्य किया करता है, उसी प्रकार सांसारिक दुःख के रोग को दूर करने के लिये (३) उसके कारण को जान कर, (४) उसी कारण को दूर करनेवाले मार्ग का अवलम्ब बुद्धिमान् पुरुष को करना चाहिये। इन कारणों का विचार करने से देख पड़ता है, कि तृष्णा या कामना ही इस जगत् के सब दुःखों की जड़ है; [और एक नामरूपात्मक शरीर का नाश हो जाने पर बचे हुए इस वासनात्मक बीज ही से अन्यान्य नामारूपात्मक शरीर पुनः पुनः उत्पन्न हुआ करते हैं। और फिर बुद्ध ने निश्चित किया है, कि पुनर्जन्म के दुःखमय संसार से पिण्ड छुडाने के लिये इन्द्रियनिग्रह से, ध्यान से तथा वैराग्य से तृष्णा का पूर्णतया क्षय करके संन्यासी या भिक्षु बन जाना ही एक यथार्थ मार्ग है; और इसी वैराग्ययुक्त संन्यास से अचल शान्ति एवं सुख प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है, कि यज्ञयाग आदि की, तथा आत्म-अनात्म-विचार की झंझट में न पड़ कर, इन चार दृश्य बातों पर ही बौद्धधर्म की रचना की गई है। वे चार बातें ये हैं:--सांसारिक दुःखका अस्तित्व, उसका कारण, उसके निरोध या निवारण करने की आवश्यकता, और उसे समूल नष्ट करने के लिये वैराग्यरूप साधन; अथवा बौद्ध की परिभाषा के अनुसार क्रमशः दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग। अपने धर्म के इन्हीं चार मूलतत्त्वों को बुद्ध ने "आर्य-सत्य" नाम दिया है। उपनिषद् के आत्मज्ञान के बदले चार आर्यसत्यों की दृश्य नींव के ऊपर यद्यपि इस प्रकार बौद्धधर्म खड़ा किया गया है; तथापि अचल शान्ति या सुख पाने के लिये तृष्णा अथवा वासना का क्षय करके मन को निष्काम करने के जिस मार्ग (चौथा सत्य) का उपदेश बुद्ध ने किया है, वह मार्ग--और मोक्षप्राप्ति के लिये उपनिषदों में वर्णित मार्ग--दोनों वस्तुतः एक ही हैं। इसलिये यह बात स्पष्ट है, कि दोनों धर्मों का अन्तिम दृश्यसाध्य मन की निर्विषय स्थिति ही है। परन्तु इन दोनों धर्मों में भेद यह है, कि ब्रह्म तथा आत्मा को एक माननेवाले उपनिषत्कारों ने मन की इस निष्काम अवस्था को 'आत्मनिष्ठा', 'ब्रह्मसंस्था', 'ब्रह्मभूतता,' 'ब्रह्मनिर्वाण' (गी. ५. १७-२५; छां. २. २३. १) अर्थात् ब्रह्मा में आत्मा का लय होना आदि अन्तिम आधारदर्शक नाम दिये हैं; और बुद्ध ने उसे केवल 'निर्वाण' अर्थात् "विराम पाना या दीपक बुझ जाने के समान वासना का नाश होना" यह क्रियादर्शक नाम दिया है। क्योंकि, ब्रह्म या आत्मा को भ्रम कह देने पर यह प्रश्न ही नहीं रह जाता, कि "विराम कौन पाता है? और किस में पाता है"? (सुत्तनिपात में रतनसुत १४ और वंगीससुत्त २२ तथा १३ देखो), एवं बुद्ध ने तो यह स्पष्ट रीति से कह दिया है, कि चतुर मनुष्य को इस गूढ प्रश्न का विचार भी न करना चाहिये (सब्बासवसुत्त ९-१३ और मिलिन्दप्रश्न ४. २. ४ एवं ५ देखो)। यह स्थिति प्राप्त होने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता। इसलिये एक शरीर के नष्ट होने पर दूसरे शरीर को पाने की सामान्य क्रिया के लिये प्रयुक्त होनेवाले 'मरण शब्द का उपयोग बौद्धधर्म के अनुसार 'निर्वाण' के लिये किया भी नहीं जा सकता। निर्वाण तो 'मृत्यु की मृत्यु,' अथवा उपनिषदों के वर्णनानुसार 'मृत्यु को पार कर

जाने का मार्ग' है--निरी मौत नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४. ४. ७) में यह दृष्टान्त दिया है, कि जिस प्रकार सर्प को अपनी केंचली छोड़ देने पर उसकी कुछ परवाह नहीं रहती, उसी प्रकार जब कोई मनुष्य इस स्थिति में पहुँच जाता है, तब उसे भी अपने शरीर की कुछ चिन्ता नहीं रह जाती। और इसी दृष्टान्त का आधार असली भिक्षु का वर्णन करते समय सुत्तनिपात में उरगसुत्त के प्रत्येक श्लोक में लिया गया है। वैदिकधर्म का यह तत्त्व (कौषी. ब्रा. ३. १), कि "आत्मनिष्ठ पुरुष पाप-पुण्य से सदैव अलिप्त रहता है (बृ. ४. ४. २३); इसलिये उसे मातृवध तथा पितृवधसरीखे पातकों का भी दोष नहीं लगता", धम्मपद में शब्दशः ज्यों-का-त्यों बतलाया गया है (धम्म. २९४ और २९५ तथा मिलिन्दप्रश्न. ४. ५. ७ देखो)। सारांश, यद्यपि ब्रह्म तथा आत्मा का अस्तित्व बुद्ध को मान्य नहीं था; तथापि मन को शान्त, विरक्त तथा निष्काम करना प्रभृति मोक्षप्राप्ति के जिन साधनों का उपनिषदों में वर्णन है, वे ही साधन बुद्ध के मत से निर्वाणप्राप्ति के लिये भी आवश्यक हैं। इसीलिये बौद्ध यति तथा वैदिक संन्यासियों के वर्णन मानसिक स्थिति की दृष्टि से एक ही से होते हैं। और इसी कारण पापपुण्य की ज़बाबदारी के संबंध में तथा जन्ममरण के चक्कर से छुटकारा पाने के विषय में वैदिक संन्यास धर्म के जो सिद्धान्त हैं, वे ही बौद्धधर्म में भी स्थिर रखे गये हैं। परन्तु वैदिकधर्म गौतम बुद्ध से पहले का है। अतएव इस विषय में कोई शंका नहीं, कि ये विचार असल में वैदिकधर्म के ही हैं।

वैदिक तथा बौद्ध संन्यासधर्मों की विभिन्नता का वर्णन हो चुका। अब देखना चाहिये, कि गार्हस्थ्यधर्म के विषय में बुद्ध ने क्या कहा है। आत्म-अनात्म-विचार के तत्त्वज्ञान को महत्त्व न दे कर सांसारिक दुःखों के अस्तित्व आदि दृश्य आधार पर ही यद्यपि बौद्धधर्म खड़ा किया गया है; तथापि स्मरण रखना चाहिये, कि कोंटसरीखे आधुनिक पश्चिमी पण्डितों के निरे आधिभौतिक धर्म के अनुसार--अथवा गीताधर्म के अनुसार भी--बौद्धधर्म मूल में प्रवृत्तिप्रधान नहीं है। यह सच है, कि बुद्ध को उपनिषदों के आत्मज्ञान की 'तात्त्विक दृष्टि' मान्य नहीं है। परन्तु बृहदारण्यक उपनिषद् (४. ४. ६) वर्णित याज्ञवल्क्य का यह सिद्धान्त कि, "संसार को बिलकुल छोड़ करके मन को निर्विषय तथा निष्काम करना ही इस जगत् में मनुष्य का केवल एक परम कर्तव्य है," बौद्धधर्म में सर्वथा स्थिर रखा गया है। इसीलिये बौद्धधर्म मूल में केवल संन्यासप्रधान हो गया है। यद्यपि बुद्ध के समग्र उपदेशों का तात्पर्य यह है, कि संसार का त्याग किये बिना--केवल गृहस्थाश्रम में ही बने रहने से--परमसुख तथा अर्हतावस्था कभी प्राप्त हो नहीं सकती; तथापि यह न समझ लेना चाहिये, कि उसमें गार्हस्थ्य-वृत्ति का बिलकुल विवेचन ही नहीं है। जो मनुष्य बिना भिक्षु बने बुद्ध, उसके धर्म, बौद्ध भिक्षुओं के संघ अर्थात् मेले या मण्डलियाँ, इन तीनों पर विश्वास रखे; और "बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि" इस संकल्प

के उच्चारण द्वारा उक्त तीनों की शरण में जाय, उसको बौद्ध ग्रंथों में उपासक कहा है। येही लोग बौद्धधर्मावलंबी गृहस्थ हैं। प्रसंग प्रसंग पर स्वयं बुद्ध ने कुछ स्थानों पर उपदेश किया है, कि उन उपासकों को अपना गार्हस्थ्य व्यवहार कैसा रखना चाहिये (महापरिनिब्बाणसुत्त १. २४)। वैदिक गार्हस्थ्यधर्म में से हिंसात्मक श्रौतयज्ञयाग और चारों वर्णों का भेद बुद्ध को ग्राह्य नहीं था। इन बातों को छोड़ देने से स्मार्त, पञ्चमहायज्ञ, दान आदि परोपकार धर्म और नीतिपूर्वक आचरण करना ही गृहस्थ का कर्तव्य रह जाता है; तथा गृहस्थों के धर्म का वर्णन करते समय केवल इन्हीं बातों का उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में पाया जाता है। बुद्ध का मत है, कि प्रत्येक गृहस्थ अर्थात् उपासक को पञ्चमहायज्ञ करना ही चाहिये। उनका स्पष्ट कथन है, कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सर्वभूतानुकंपा और (आत्मा मान्य न हो, तथापि) आत्मौपम्यदृष्टि, शौच या मन की पवित्रता, तथा विशेष करके सत्पात्रों यानी बौद्ध भिक्षुओं को एवं बौद्ध भिक्षुसंघों को अन्नवस्त्र आदि का दान देना प्रभृति नीतिधर्मों का पालन बौद्ध उपासकों को करना चाहिये। बौद्धधर्म में इसी को 'शील' कहा है; और दोनों की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि पंचमहायज्ञ के समान ये नीतिधर्म भी ब्राह्मणधर्म के धर्मसूत्रों तथा प्राचीन स्मृतिग्रन्थों से (मनु. ६. ९२ और १०. ६३ देखो) बुद्ध ने लिये हैं *। और तो क्या? इस आचरण के विषय में प्राचीन ब्राह्मणों की स्तुति स्वयं बुद्ध ने ब्राह्मणधम्मिकसुत्तों में की है; तथा मनुस्मृति के कुछ श्लोक तो धम्मपद में अक्षरशः पाये जाते हैं (मनु. २. १२१ और ५. ४५ तथा धम्मपद १०९ और १३१ देखो)। बौद्धधर्म में वैदिक ग्रंथों से न केवल पञ्चमहायज्ञ और नीतिधर्म ही लिये गये हैं; किन्तु वैदिक धर्म में पहले कुछ उपनिषत्कारों द्वारा प्रतिपादित इस मत को भी बुद्ध ने स्वीकार किया है, कि गृहस्थाश्रम में पूर्ण मोक्षप्राप्ति कभी भी नहीं होती। उदाहरणार्थ, सुत्तनिपातों के धम्मिकसुत्त में भिक्षु के साथ उपासक की तुलना करके बुद्ध ने साफ़ साफ़ कह दिया है, कि गृहस्थ को उत्तम शील के द्वारा बहुत हुआ तो 'स्वयंप्रकाश' देवलोक की प्राप्ति हो जावेगी; परन्तु जन्ममरण के चक्कर से पूर्णतया छुटकारा पाने के लिये संसार तथा लड़के-बच्चे स्त्री आदि को छोड़ करके अन्त में उसको भिक्षुधर्म ही स्वीकार करना चाहिये (धम्मिकसुत्त १७. २९; और बृ. ४. ४. ६. तथा म. भा. वन. २. ६३ देखो)। तेविज्जसुत्त (१. ३५. ३. ५) में यह वर्णन है, कि कर्ममार्गीय वैदिक ब्राह्मणों से वाद करते समय अपने उक्त संन्यासप्रधान मत को सिद्ध करने के लिये बुद्ध ऐसी युक्तियाँ पेश किया करते थे, कि "यदि तुम्हारे ब्रह्म के बाल-बच्चे तथा क्रोध-लोभ नहीं हैं, तो स्त्रीपुत्रों में रह कर तथा यज्ञयाग आदि काम्य कर्मों के द्वारा

* See Dr. Kern's Manual of Bunddhism (Grundriess III. 8) p. 68.

तुम्हें ब्रह्म की प्राप्ति होगी ही कैसे ? " और यह भी प्रसिद्ध है, कि स्वयं बुद्ध ने युवावस्था में ही अपनी स्त्री, अपने पुत्र तथा राजपाट भी त्याग दिया था। एवं भिक्षुधर्म स्वीकार कर लेने पर छः वर्ष के पीछे उन्हें बुद्धावस्था प्राप्त हुई थी। बुद्ध के समकालीन (परन्तु उनसे पहले ही समाधिस्थ हो जानेवाले) महावीर नामक अंतिम जैन तीर्थंकर का भी ऐसा ही उपदेश है। परन्तु वह बुद्ध के समान अनात्मवादी नहीं था। और इन दोनों धर्मों में महत्त्व का भेद यह है, कि वस्त्रप्रावरण आदि ऐहिक सुखों का त्याग और अहिंसाव्रत प्रभृति धर्मों का पालन बौद्ध भिक्षुओं की अपेक्षा जैन यति अधिक दृढता से किया करते थे; एवं अब भी करते रहते हैं। खाने ही की नियत से जो प्राणी न मारे गये हों, उनके 'पवत्त' (सं. प्रवृत्त) अर्थात् 'तैयार किया हुआ मांस' (हाथी, सिंह, आदि कुछ प्राणियों को छोड़कर) को बुद्ध स्वयं खाया करते थे; और 'पवत्त' मांस तथा मछलियाँ खाने की आज्ञा बौद्ध भिक्षुओं को भी दी गई है; एवं बिना वस्त्रों के नंग-धडंग घूमना बौद्धभिक्षु-धर्म के नियमानुसार अपराध है (महावग्ग. ६. ३१. १४. और ८. २८. १)। सारांश, यद्यपि बुद्ध का निश्चित उपदेश था, कि अनात्मवादी भिक्षु बनो; तथापि कायक्लेश-मय उग्र तपसे बुद्ध सहमत नहीं थे (महावग्ग. ५. १. १६ और गी. ६. १६)। बौद्ध भिक्षुओं के विहारों अर्थात् उनके रहने के मठों की सारी व्यवस्था भी ऐसी रखी जाती थी, कि जिससे उनको कोई विशेष शारीरिक कष्ट न सहना पड़े; और प्राणायाम आदि योगाभ्यास सरलतापूर्वक हो सके। तथापि बौद्धधर्म में यह तत्त्व पूर्णतया स्थिर है, कि अर्हतावस्था या निर्वाणसुख की प्राप्ति के लिये गृहस्थाश्रम को त्यागना ही चाहिये। इसलिये यह कहने में कोई प्रत्यवाय नहीं, कि बौद्धधर्म संन्यासप्रधान धर्म है।

यद्यपि बुद्ध का निश्चित मत था, कि ब्रह्मज्ञान तथा आत्मअनात्मविचार भ्रम का एक बड़ा-सा जाल है; तथापि इस दृश्य कारण के लिये—अर्थात् दुःखमय संसारचक्र से छूट कर निरन्तर शांति तथा सुख प्राप्त करने के लिये—उपनिषदों में वर्णित संन्यासमार्गवालों के इसी साधन को उन्होंने मान लिया था, कि वैराग्य से मन को निर्विषय रखना चाहिये। और जब यह सिद्ध हो गया, कि चातुर्वर्ण्यभेद तथा हिंसात्मक यज्ञयाग को छोड़ कर बौद्धधर्म में वैदिक गार्हस्थ्यधर्म के नीति-नियम ही कुछ हेरफेर करके ले लिये गये हैं; तब यदि उपनिषद् तथा मनुस्मृति आदि ग्रंथों में वैदिक संन्यासियों के जो वर्णन हैं, वे वर्णन (एवं बौद्ध भिक्षुओं या अर्हतों के वर्णन) अथवा अहिंसा आदि नीतिधर्म, दोनों धर्मों में एक ही से—और कई स्थानों पर शब्दशः एक ही से—देख पड़े, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ये सब बातें मूल वैदिकधर्म ही की हैं। परन्तु बौद्धों ने केवल इतनी ही बातें वैदिकधर्म से नहीं ली हैं; प्रत्युत बौद्धधर्म के दशरथजातक के समान जातकग्रंथ भी प्राचीन वैदिक पुराण-इतिहास की कथाओं के, बुद्धधर्म के अनुकूल तैयार किये हुए रूपांतर हैं। न केवल बौद्धों ने ही; किन्तु जैनों ने भी अपने अभिनवपुराणों में

वैदिक कथाओं के ऐसे ही रूपान्तर कर लिये हैं। सेल * साहब ने तो यह लिखा है, कि ईसा के अनन्तर प्रचलित हुए मुहम्मदी धर्म में ईसा के चरित्र का इसी प्रकार विपर्यास कर लिया गया है। वर्तमान समय की खोज से यह सिद्ध हो चुका है, कि पुरानी बाईबल में सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय तथा नूह आदि की जो कथाएँ हैं, वे सब प्राचीन खाल्दीजाति की धर्मकथाओं के रूपान्तर हैं, कि जिनका वर्णन यहूदी लोगों का किया हुआ है। उपनिषद्, प्राचीन धर्मसूत्र, तथा मनुस्मृति में वर्णित कथाएँ अथवा विचार जब बौद्ध ग्रंथों में इस प्रकार—कई बार तो बिलकुल शब्दशः—लिये गये हैं, तब यह अनुमान सहज ही हो जाता है, कि ये असल में महाभारत के ही हैं। बौद्ध ग्रन्थप्रणेताओं ने इन्हें वहीं से उद्धृत कर लिया होगा। वैदिक धर्मग्रन्थों के जो भाव और श्लोक बौद्ध ग्रंथों में पाये जाते हैं, उनके कुछ उदाहरण ये हैं :—" जय से बैर की वृद्धि होती है; और बैर से बैर शांत नहीं होता " (म. भा. उद्यो. ७१. ५९. और ६३), " दूसरे के क्रोध को शांति से जीतना चाहिये " आदि विदुरनीति (म. भा. उद्यो. ३८. ७३) तथा जनक का यह वचन कि "यदि मेरी एक भुजा में चन्दन लगाया जाय; और दूसरी काट कर अलग कर दी जाय, तो भी मुझे दोनों बातें समान ही हैं " (म. भा. शां. ३२०. ३६); इनके अतिरिक्त महाभारत के और भी बहुत-से श्लोक बौद्ध ग्रंथों में शब्दशः पाये जाते हैं (धम्मपद ५ और २२३ तथा मिलिन्दप्रश्न ७. ३. ५.)। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा मनुस्मृति आदि वैदिक ग्रंथ बुद्धकी अपेक्षा प्राचीन हैं। इसलिये उनके जो विचार तथा श्लोक बौद्ध ग्रंथों में पाये जाते हैं, उनके विषय में विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है, कि उन्हें बौद्ध ग्रंथकारों ने उपर्युक्त वैदिक ग्रंथों ही से लिया है। किन्तु यह बात महाभारत के विषय में नहीं कही जा सकती। महाभारत में ही बौद्ध डागोबाओं का जो उल्लेख है, उससे स्पष्ट होता है, कि महाभारत का अन्तिम संस्करण बुद्ध के बाद रचा गया है। अतएव केवल श्लोक के सादृश्य के आधार पर यह निश्चय नहीं किया जा सकता, कि वर्तमान महाभारत बौद्ध ग्रंथों के पहले ही का है; और गीता महाभारत का एक भाग है। इसलिये वही न्याय गीता को भी उपर्युक्त हो सकेगा। इसके सिवा, यह पहले ही कहा जा चुका है, कि गीता में ही ब्रह्मसूत्रों का उल्लेख है; और ब्रह्मसूत्रों में है बौद्धधर्म का खण्डन। अतएव स्थितप्रज्ञ के वर्णन प्रभृति की (वैदिक और बौद्ध) दोनों की समता को छोड़ देते हैं; और यहाँ इस बात का विचार करते हैं, कि उक्त शंका को दूर करने एवं गीता को निर्विवाद रूप से बौद्ध ग्रंथों से पुरानी सिद्ध करने के लिये बौद्ध ग्रंथों में कोई अन्य साधन मिलता है या नहीं।

ऊपर कह आये हैं, कि बौद्धधर्म का मूलस्वरूप शुद्ध निरात्मवादी और

* See Sele's Koran, " To the Reader " (Preface), p. x. the Preliminary Discourse, See IV. p. 58. (Chandos Classics Edition).

निवृत्तिप्रधान है । परन्तु उसका यह स्वरूप बहुत दिनों तक टिक न सका। भिक्षुओं के आचरण के विषय में मतभेद हो गया; और बुद्ध के मृत्यु के पश्चात् उसमें अनेक उपपन्थों का ही निर्माण नहीं होने लगा; किन्तु धार्मिक तत्त्वज्ञान के विषय में भी इसी प्रकार का मतभेद उपस्थित हो गया । आजकल कुछ लोग तो यह भी कहने लगे हैं, कि " आत्मा नहीं है " इस कथन के द्वारा बुद्ध को मन से यही बतलाना है, कि " अचिन्त्य आत्मज्ञान के शुष्कवाद में मत पड़ो । वैराग्य तथा अभ्यास के द्वारा मन को निष्काम करने का प्रयत्न पहले करो । आत्मा हो चाहे न हो। मन के निग्रह करने का कार्य मुख्य है; और उसे सिद्ध करने का प्रयत्न पहले करना चाहिये । " उनके कहने का यह मतलब नहीं है, कि ब्रह्म या आत्मा बिलकुल है ही नहीं । क्योंकि' तेविज्जसुत्त में स्वयं बुद्ध ने 'ब्रह्मसहव्यताय' स्थिति का उल्लेख किया है; और सेल्लसुत्त तथा थेरगाथा में उन्हों ने स्वयं कहा है, कि 'मैं ब्रह्मभूत हूँ (सेल्लसु. १४; थेरगा. ८३१ देखो) । परन्तु मूलहेतु चाहे जो हो; यह निर्विवाद है, कि ऐसे अनेक प्रकार के मत, वाद तथा आग्रही पन्थ तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से निर्मित हो गये; जो कहते थे कि " आत्मा या ब्रह्म में से कोई भी नित्य वस्तु जगत् के मूल में नहीं है । जो कुछ देख पडता है वह क्षणिक या शून्य है; अथवा " जो कुछ देख पड़ता है, वह ज्ञान है । ज्ञान के अतिरिक्त जगत् में कुछ भी नहीं है, " इत्यादि (वे. सू. शां. भा. २. २. १८-२६ देखो) । इस निरीश्वर तथा अनात्मवादी बौद्धमत को ही क्षणिकवाद, शून्यवाद और विज्ञानवाद कहते हैं । यहाँ पर इन सब पन्थों के विचार करने का कोई प्रयोजन नहीं है । हमारा प्रश्न ऐतिहासिक है । अतएव उसका निर्णय करने के लिये 'महायान' नामक पन्थ का वर्णन (जितना आवश्यक है उतना) यहाँ पर किया जाता है। बुद्ध के मूल उपदेश में आत्मा या ब्रह्म (अर्थात् परमात्मा या परमेश्वर) का अस्तित्व ही अग्राह्य अथवा गौण माना गया है । इसलिये स्वयं बुद्ध की उपस्थिति में भक्ति के द्वारा पर-मेश्वर की प्राप्ति करने के मार्ग का उपदेश किया जाना सम्भव नहीं था; और जब तक बुद्ध की भव्य मूर्ति एवं चरित्रक्रम लोगों के सामने प्रत्यक्ष रीतसे उपस्थित था, तब तक उस मार्ग की कुछ आवश्यकता ही नहीं थी । परन्तु फिर यह आवश्यक हो गया, कि यह धर्म सामान्य जनों को प्रिय हो; और उसका अधिक प्रसार भी होवे। अतः घरदार छोड़, भिक्षु बन करके मनोनिग्रह से बैठे बिठाये निर्वाण पाने— यह न समझ कर कि किसमें ? --के इन निरीश्वर निवृत्तिमार्ग की अपेक्षा किसी सरल और प्रत्यक्ष मार्ग की आवश्यकता हुई । बहुत सम्भव है, कि साधारण बुद्ध भक्तों ने तत्कालीन प्रचलित वैदिक भक्तिमार्ग का अनुकरण करके बुद्ध की उपा-सना का आरम्भ पहले पहल स्वयं कर दिया हो । अतएव बुद्ध के निर्वाण पाने के पश्चात् शीघ्रही बौद्ध पण्डितों ने बुद्ध ही को "स्वयम्भू तथा अनादि; अनन्त पुरु-षोत्तम " का रूप दे दिया; और वे कहने लगे, कि बुद्ध का निर्वाण होना तो उन्हीं की लीला है, " असली बुद्ध का कभी नाश नहीं होता--वह तो सदैव ही अचल

रहता है"। इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों में यह प्रतिपादन किया जाने लगा, कि असली बुद्ध "सारे जगत् का पिता है; और जनसमूह उसकी सन्तान है"। इसलिये वह सभी को "समान है, न वह किसी पर प्रेम ही करता है; और न किसी से द्वेष ही करता है"। "धर्म की व्यवस्था बिगड़ने पर वह 'धर्मकृत्य' के लिये ही समय समय पर बुद्ध के रूप से प्रगट हुआ करता है;" और इस देवातिदेव बुद्ध की "भक्ति करने से, उनके ग्रंथों की पूजा करने से और उसके डागोबा के सन्मुख कीर्तन करने से" अथवा "उसे भक्तिपूर्वक दो चार कमल या एक फूल समर्पण कर देने ही से" मनुष्य को सद्गति प्राप्त होती है (सद्धर्मपुण्डरीक २, ७७-९८; ५.२२; १५. ५-२२ और मिलिन्दप्रश्न ३. ७. ७. देखो) *। मिलिन्दप्रश्न (३. ७. २) में यह भी कहा है, कि "किसी मनुष्य की सारी उम्र दुराचरणों में क्यों न बीत गई हो; परन्तु मृत्यु के समय यदि वह बुद्ध की शरण में जावे, तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति अवश्य होगी"। और सद्धर्मपुण्डरीक के दूसरे तथा तीसरे अध्याय में इस बात का विस्तृत वर्णन है, कि सब लोगों का "अधिकार, स्वभाव तथा ज्ञान एक ही प्रकार का नहीं होता; इसलिये अनात्मपर निवृत्तिप्रधान मार्ग के अतिरिक्त भक्ति के इस मार्ग (यान) को बुद्ध ने दया करके अपनी 'उपायचातुरी' से निर्मित किया है"। स्वयं बुद्ध के बतलाये हुए इस तत्त्व को एकदम छोड़ देना कभी भी सम्भव नहीं था, कि निर्वाणपद की प्राप्ति होने के लिये भिक्षुधर्म ही को स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि यदि ऐसा किया जाता, तो मानों बुद्ध के मूल उपदेश पर ही हरताल फेरा जाता। परन्तु यह कहना कुछ अनुचित नहीं था, कि भिक्षु हो गया तो क्या हुआ; उसे जंगल में 'गेंडे' के समान अकेले तथा उदासीन न बना रहना चाहिये। किन्तु धर्मप्रसार आदि लोकहित तथा परोपकार के काम 'निरिस्सित' बुद्धि से करते जाना ही बौद्ध भिक्षुओं का कर्तव्य है**; इसी मत का प्रतिपादन महायान पन्थ के सद्धर्मपुण्डरीक आदि ग्रंथों में किया गया है। और नागसेन ने मिलिन्द से कहा है, कि "गृहस्थाश्रम में रहते हुए निर्वाणपद को पा लेना बिलकुल अशक्य नहीं है--और उसके कितने ही उदाहरण भी हैं" (मि. प्र. ६. २. ४)। यह बात किसी के भी ध्यान में सहज ही आ जायगी, कि ये विचार अनात्मवादी तथा केवल संन्यासप्रधान मूल बौद्धधर्म के नहीं हैं; अथवा शून्यवाद या विज्ञानवाद को स्वीकार करके भी इनकी उपपत्ति नहीं जानी जा सकती; और पहले पहल अधिकांश बौद्धधर्मवालों को स्वयं मालूम पडता था, कि ये

---

* प्राच्यधर्मपुस्तकमाला के २१ वें खंड में 'सद्धर्मपुंडरीक' ग्रंथ का अनुवाद प्रकाशित हुआ है। यह ग्रंथ संस्कृत भाषा का है। अब मूल संस्कृत ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुका है।

** सुत्तनिपात में खग्गविसाणसुत्त के ४१ वें श्लोक का ध्रुवपद "एको चरे खग्गविसाणकप्पो" है। उसका यह अर्थ है, कि खग्गविसाण यानी गेंडा; और उसी के समान बौद्ध भिक्षु को जंगल में अकेला रहना चाहिये।

विचार बुद्ध के मूल उपदेश से विरुद्ध हैं। परन्तु फिर यही नया मत स्वभाव से अधिकाधिक लोकप्रिय होने लगा; और बुद्ध के मूल उपदेश के अनुसार आचरण करनेवाले को 'हीनयान' (हलका मार्ग) तथा इस नये पन्थ को 'महायान' (बड़ा मार्ग) नाम प्राप्त हो गया*। चीन, तिब्बत और जपान आदि देशों में आजकल जो बौद्धधर्म प्रचलित है, वह महायान पन्थ का है; और बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् महायानपन्थी भिक्षुसंघ के दीर्घोद्योग के कारण ही बौद्धधर्म का इतनी शीघ्रता से फैलाव हो गया। डॉक्टर केर्न की राय है, कि बौद्धधर्म में इस सुधार की उत्पत्ति शालिवाहन शक के लगभग तीन सौ वर्ष पहले हुई होगी**। क्योंकि बौद्ध ग्रन्थों में इसका उल्लेख है, कि शकराजा कनिष्क के शासनकाल में बौद्धभिक्षुओं की जो एक महापरिषद् हुई थी, उसमें महायान पन्थ के भिक्षु उपस्थित थे। इस महायान पन्थ के 'अमितायुसुत्त' नामक प्रधान सूत्रग्रन्थ का वह अनुवाद अभी उपलब्ध है, जो कि चीनी भाषा में सन १४८, ईसवी के लगभग किया गया था। परन्तु हमारे मतानुसार यह काल इससे भी प्राचीन होना चाहिये। क्योंकि, सन् ईसवी से लगभग २३० वर्ष पहले प्रसिद्ध किये गये अशोक के शिलालेखों में संन्यासप्रधान निरीश्वर बौद्धधर्म का विशेष रीति से कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनमें सर्वत्र प्राणिमात्र पर दया करनेवाले प्रवृत्तिप्रधान बौद्धधर्म ही का उपदेश किया गया है। तब यह स्पष्ट है, कि उसके पहले ही बौद्धधर्म को महायान पन्थ के प्रवृत्ति-

---

* हीनयान और महायान पन्थों का भेद बतलाते हुए डॉक्टर केर्न ने कहा है कि :--

"Not the Arhat, who has shaken off all human feeling, but the generous self-sacrificing, aective Bodhisattva is the ideal of the Mahayanists, and this attractive side of the creed has, more perhaps than anything else, contributed to their wide conquests whereas S. Buddhism has not been able to make converts except where the soil had been prepared by Hinduism and Mahayanism–'Manual of Indian Buddhism, p 69. Southern Buddhism अर्थात् हीनयान है। महायान पन्थ में भक्ति का भी समावेश हो चुका था। "Mahayanist lays a great stress on devotion in this respect as in many others harmonising with current of feeling in India which led to the growing importance of Bhakti, Ibid p. 124.

** See Dr. Kern's Manual of Indian Buddhism, pp 6. 69 and 119, मिलिंद (मिनँडर नामी यूनानी राजा) सन् ईसवी से लगभग १४० या १५० वर्ष पहले हिंदुस्थान के वायव्य की ओर, बॅक्ट्रिया देश में राज्य करता था। मिलिंदप्रश्न में इस बात का उल्लेख है, कि नागसेन ने इसे बौद्धधर्म की दीक्षा दी थी। बौद्धधर्म फैलाने के ऐसे काम महायान पंथ के लोग ही किया करते थे। इसलिये स्पष्ट ही है, कि तब महायान पंथ प्रादुर्भूत हो चुका था।

प्रधान स्वरूप का प्राप्त होना आरम्भ हो गया था। बौद्ध यति नागार्जुन इस पन्थ का मुख्य पुरस्कर्ता था, न कि मूल उत्पादक।

ब्रह्म या परमात्मा के अस्तित्व को न मान कर (उपनिषदों के मतानुसार) केवल मन को निर्विषय करनेवाले निवृत्तिमार्ग के स्वीकारकर्ता मूल निरीश्वरवादी बुद्धधर्म ही में से यह कब सम्भव था, कि आगे क्रमशः स्वाभाविक रीति से भक्तिप्रधान प्रवृत्तिमार्ग निकल पड़ेगा? इसलिये बुद्ध का निर्वाण हो जाने पर बौद्धधर्म को शीघ्र ही जो यह कर्मप्रधान भक्तिस्वरूप प्राप्त हो गया, उससे प्रगट होता है, कि इसके लिये बौद्धधर्म के बाहर का तत्कालीन कोई न कोई अन्य कारण निमित्त हुआ होगा; और इस कारण को ढूँढते समय भगवद्गीता पर दृष्टि पहुँचे बिना नहीं रहती। क्योंकि—जैसा हमने गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण में स्पष्टीकरण कर दिया है—हिन्दुस्थान में तत्कालीन प्रचलित धर्मों में से जैन तथा उपनिषद् धर्म पूर्णतया निवृत्तिप्रधान ही थे; और वैदिकधर्म के पाशुपत अथवा शैव आदि पन्थ यद्यपि भक्तिप्रधान थे तो सही; पर प्रवृत्तिमार्ग और भक्ति का मेल भगवद्गीता के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं पाया जाता था। गीता में भगवान् ने अपने लिये पुरुषोत्तम नाम का उपयोग किया है; और ये विचार भगवद्गीता में ही आये हैं, कि "मैं पुरुषोत्तम ही सब लोगों का 'पिता' और 'पितामह' हूँ (९. १७)। सब को 'सम' हूँ, मुझे न तो कोई द्वेष्य ही है; और न कोई प्रिय (९. २९)। मैं यद्यपि अज और अव्यय हूँ, तथापि धर्मसंरक्षणार्थ समय समय पर अवतार लेता हूँ (४. ६–८)। मनुष्य कितना ही दुराचारी क्यों न हो; पर मेरा भजन करने से वह साधु हो जाता है (९. ३०); अथवा मुझे भक्तिपूर्वक एक-आध फूल, पत्ता या थोड़ा-सा पानी अर्पण कर देने से भी मैं उसे बड़े ही संतोषपूर्वक ग्रहण करता हूँ (९. २६); और अज्ञ लोगों के लिये भक्ति एक सुलभ मार्ग है (१२. ५.) इत्यादि। इसी प्रकार इस तत्त्व का विस्तृत प्रतिपादन गीता के अतिरिक्त कहीं भी नहीं किया गया है, कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष लोकसंग्रह के लिये प्रवृत्तिधर्म ही को स्वीकार करें। अतएव यह अनुमान करना पड़ता है, कि जिस प्रकार मूल बुद्धधर्म में वासना के क्षय करने का निरा निवृत्तिप्रधान मार्ग उपनिषदों से लिया गया है, उसी प्रकार जब महायान पन्थ निकला, तब उसमें प्रवृत्तिप्रधान भक्तितत्त्व भी भगवद्गीता ही से लिया गया होगा। परन्तु यह बात कुछ अनुमानों पर ही अवलम्बित नहीं है। तिब्बती भाषा में बौद्धधर्म के इतिहास पर बौद्धधर्मी तारानाथ लिखित जो ग्रंथ है, उसमें स्पष्ट लिखा है, कि महायान पन्थ के मुख्य पुरस्कर्ता का अर्थात् "नागार्जुन का गुरु राहुलभद्र नामक बौद्ध पहले ब्राह्मण था; और इस ब्राह्मण को (महायान पन्थ की) कल्पना सूझ पड़ने के लिये ज्ञानी श्रीकृष्ण तथा गणेश कारण हुए"। इसके सिवा, एक दूसरे तिब्बती ग्रंथ में भी यही उल्लेख पाया जाता है *। यह सच है, कि तारानाथ का ग्रन्थ प्राचीन नहीं है;

* See Dr. Kern's Manual of indian Buddhism, p. 122. "He (Nagarjuna) was a pupil of the Brahmana Rahulabhadra;

परन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि उसका वर्णन प्राचीन ग्रंथों के आधार को छोड़ कर नहीं किया गया है । क्योंकि, यह सम्भव नहीं है, कि कोई भी बौद्ध ग्रन्थकार स्वयं अपने धर्मपन्थ के तत्त्वों को बतलाते समय (बिना किसी कारण के) परधर्मियों का इस प्रकार उल्लेख कर दे । इसलिये स्वयं बौद्ध ग्रन्थकारों के द्वारा इस विषय में श्रीकृष्ण के नाम का उल्लेख किया जाना बड़े महत्त्व का है । क्योंकि, भगवद्गीता के अतिरिक्त श्रीकृष्णोक्त दूसरा प्रवृत्तिप्रधान भक्तिग्रन्थ वैदिक धर्म में है ही नहीं। अतएव इससे यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है, कि महायान पंथ के अस्तित्व में आने से पहले ही न केवल भागवतधर्म किन्तु भागवतधर्मविषयक श्रीकृष्णोक्त ग्रन्थ अर्थात् भगवद्गीता भी उस समय प्रचलित थी; और डॉक्टर केर्न भी इसी मत का समर्थन करते हैं । सब गीता का अस्तित्व बुद्धधर्मीय महायान पन्थ से पहले का निश्चित हो गया; तब अनुमान किया जा सकता है, कि उसके साथ महाभारत भी रहा होगा । बौद्धग्रन्थों में कहा गया है, कि बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही उनके मतों का संग्रह कर लिया गया; परन्तु इससे वर्तमान समय में पाये जानेवाले अत्यन्त प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों का भी उसी समय में रचा जाना सिद्ध नहीं होता । महापरिनिब्बाणसुत्त को वर्तमान बौद्ध ग्रन्थों में प्राचीन मानते हैं । परन्तु उनमें पाटलिपुत्र शहर के विषय में जो उल्लेख है, उसमें प्रोफेसर र्‍हिसडेविड्स ने दिखलाया हैं, कि यह ग्रन्थ बुद्ध का निर्वाण हो चुकने पर कम-से-कम सौ वर्ष पहले तैयार न किया गया होगा । और बुद्ध के अनन्तर सौ वर्ष बीतने पर बौद्धधर्मीय भिक्षुओं की जो दूसरी परिषद् हुई थी, उसका वर्णन विनयपिटका में चुल्लवग्ग ग्रन्थ के अन्त में है । इससे विदित होता है ** कि लंका द्वीप के पाली भाषा में लिखे हुए, विनयपिटकादि प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ इस परिषद् के हो चुकने पर रचे गये हैं । इस विषय में बौद्ध ग्रन्थकारों ही ने कहा है, कि अशोक के पुत्र महेन्द्र ने ईसा की सदी से लगभग २३१ वर्ष पहले जब सिंहलद्वीप में बौद्धधर्म का प्रचार करना आरम्भ किया, तब ये ग्रन्थ भी वहाँ पहुँचाये गये; और फिर कोई डेढ़ सौ वर्ष के बाद ये वहाँ पहले पहल पुस्तक के आकार में लिखे गये । यदि मान लें, कि

---

who himself was a Mahayanist. This Brahmana was much indebted to the sage Krishna and still more to Ganesha. This quassihistorical notice, reduced to its less allegorical expression, means that Mahayanism is much indebted to the Bhagavadgita and more even to Shivaism" जान पड़ता है कि डॉ. केर्न गणेश ' शब्द से शैव पंथ समझते हैं । डॉ. केर्न ने प्राच्यधर्मपुस्तकमाला में सद्धर्मपुंडरीकग्रंथ का अनुवाद किया है; और उसकी प्रस्तावना में इसी मत का प्रतिपादन किया है । (S. B. E. Vol. XXI. Intro. pp. xxv–xxviii).

** See S. B. E. Vol. XI. Intro. pp. xv–xx and p. 58.

इन ग्रन्थों को मुखाग्र रट डालने की चाल थी । इसलिये महेन्द्र के समय से उनमें कुछ भी फेरफार न किया गया होगा। तो भी यह कैसे कहा जा सकता है, कि बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् ये ग्रन्थ जब पहले पहल तैयार किये गये, तब अथवा आगे महेन्द्र या अशोककाल तक तत्कालीन प्रचलित वैदिक ग्रन्थों से इनमें कुछ भी नहीं लिया गया? अतएव यदि महाभारत बुद्ध के पश्चात् का हो, तो भी अन्य प्रमाणों से उसका सिकंदर बादशाह से पहले का अर्थात् सन ३२४ ईसवी से पहले का होना सिद्ध है। इसलिये मनुस्मृति के श्लोक के समान महाभारत के श्लोक का भी उन पुस्तकों में पाया जाना सम्भव है, कि जिसको महेन्द्र सिंहलद्वीप में ले गया था। सारांश, बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उसके धर्म का प्रसार होते देख कर शीघ्र ही प्राचीन वैदिक गाथाओं तथा कथाओं का महाभारत में एकत्रित संग्रह किया गया है। उसके जो श्लोक बौद्ध ग्रन्थों में शब्दशः पाये जाते हैं, उनको बौद्ध ग्रन्थकारों ने महाभारत से ही लिया है; न कि स्वयं महाभारतकार ने बौद्ध ग्रन्थों से। परन्तु यदि मान लिया जाय, कि बौध्द ग्रन्थकारों ने इन श्लोकों को महाभारत से नहीं लिया है; बल्कि उन पुराने वैदिक ग्रन्थों से लिया होगा, कि जो महाभारत के भी आधार हैं; परन्तु वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हैं। और इस कारण महाभारत के काल का निर्णय उपर्युक्त श्लोकसमानता से पूरा नहीं होता। तथापि नीचे लिखी हुई चार बातों से इतना तो निस्सन्देह सिद्ध हो जाता है, कि बौद्धधर्म में महायान पन्थ का प्रादुर्भाव होने से पहले केवल भागवतधर्म ही प्रचलित न था; बल्कि उस समय भगवद्गीता भी सर्वमान्य हो चुकी थी; और इसी गीता के आधार पर महायान पन्थ निकला है। एवं श्रीकृष्णप्रणीत गीता के तत्त्व बौद्धधर्म से नहीं लिये गये हैं। वे चार बातें इस प्रकार हैं:—(१) केवल अनात्मवादी तथा संन्यासप्रधान मूल बुद्धधर्म ही से आगे चल कर क्रमशः स्वाभाविक रीति पर भक्तिप्रधान तथा प्रवृत्तिप्रधान तत्त्वों का निकलना सम्भव नहीं है, (२) महायानपन्थ की उत्पत्ति के विषय में स्वयं बौद्ध ग्रन्थकारोंने श्रीकृष्ण के नाम का स्पष्टतया निर्देश किया है, (३) गीता के भक्तिप्रधान तथा प्रवृत्तिप्रधान तत्त्वों की महायानपन्थ के मतों से अर्थतः तथा शब्दशः समानता है; और (४) बौध्दधर्म के साथ ही साथ तत्कालीन प्रचलित अन्यान्य जैन तथा वैदिक पन्थों में प्रवृत्तिप्रधान भक्तिमार्ग का प्रचार न था। उपर्युक्त प्रमाणों से वर्तमान गीता का जो काल निर्णित हुआ है, वह इससे पूर्णतया मिलता जुलता है।

भाग ७ – गीता और ईसाइयों की बाइबल।

ऊपर बतलाई हुई बातों से निश्चित हो गया, कि हिन्दुस्थान में भक्तिप्रधान भागवतधर्म का उदय ईसा से लगभग १४ सौ वर्ष पहले हो चुका था; और ईसा के पहले प्रादुर्भूत संन्यासप्रधान मूल बौद्धधर्म में प्रवृत्तिप्रधान भक्तितत्त्व का प्रवेश बौद्ध

ग्रन्थकारों के ही मतानुसार, श्रीकृष्णप्रणीत गीता ही के कारण हुआ है । गीता के बहुतेरे सिद्धान्त ईसाईयों की नई बाईबल में भी देख जाते हैं। बस; इसी बुनियाद पर कई क्रिश्चियन ग्रन्थों में यह प्रतिपादन रहता है, कि ईसाईधर्म के ये तत्त्व गीता में ले लिये होंगे। और विशेषत: डॉक्टर लारिनसर ने गीता के उस जर्मन भाषानुवाद में–कि जो सन् १८६९ ईसवी में प्रकाशित हुआ था–जो कुछ प्रतिपादन किया है, उसका निर्मूलत्व अब आप-ही-आप सिद्ध हो जाता है। लारिनसर ने अपनी पुस्तक के (गीता के जर्मन अनुवाद के) अन्त में भगवद्गीता और बाइबल--विशेष कर नई बाइबल--के शब्दसादृश्य के कोई एक सौ से अधिक स्थल बतलाये हैं; और उनमें से कुछ तो विलक्षण एवं ध्यान देने योग्य भी हैं। एक उदाहरण लीजिये-- "उस दिन तुम जानोगे, कि मैं अपने पिता में, तुम मुझ में और मैं तुम में हूँ" (जान, १४. २०) । यह वाक्य गीता के नीचे लिखे हुए वाक्यों से समानार्थक ही नहीं है; प्रत्युत शब्दश: भी एक ही है। वे वाक्य ये हैं:--"येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि" (गीता ४. ३५); और "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति" (गीता ६. ३०) । इसी प्रकार जान का आगे का यह वाक्य भी "जो मुझ पर प्रेम करता है, उसी पर मैं प्रेम करता हूँ" (१४. २१), गीता के "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं अहं स च मम प्रिय:" (गी. ७. १७) वाक्य के बिलकुल ही सदृश है। इनकी, तथा इन्हीं से मिलते-जुलते हुए कुछ एक-से ही वाक्यों की बुनियाद पर डॉक्टर लारिनसर ने अनुमान करके कह दिया है, कि गीताकार बाइबल से परिचित थे; और ईसा के लगभग पाँच सौ वर्षों के पीछे गीता बनी होगी। डॉ. लारिनसर की पुस्तक के इस भाग का अंग्रेज़ी अनुवाद 'इंडियन एंटिक्वेरी' की दूसरी पुस्तक में उस समय प्रकाशित हुआ था। और परलोकवासी तैलंग ने भगवद्गीता का जो पद्यात्मक अंग्रेज़ी अनुवाद किया है, उसकी प्रस्तावना में उन्हों ने लारिनसर के मत का पूर्णतया खंडन किया है* । डॉ. लारिनसर पश्चिमी संस्कृतज्ञ पण्डितों में न लेखे जाते थे; और संस्कृत की अपेक्षा उन्हें ईसाईधर्म का ज्ञान तथा अभिमान कहीं अधिक था। अतएव उनके मत--न केवल परलोकवासी तैलंग ही को, किन्तु मेक्समूलरप्रभृति मुख्य मुख्य पश्चिमी संस्कृत पण्डितों को भी— अग्राह्य हो गये थे। बेचारे लारिनसर को यह कल्पना भी न हुई होगी, कि ज्यों ही एक बार गीता का समय ईसा से प्रथम निस्सन्दिग्ध निश्चित हो गया, त्योंही गीता और बाइबल के जो सैकड़ों अर्थसादृश्य और शब्दसादृश्य मैं दिखला रहा हूँ, वे भूतों के समान उलटे मेरे ही गले से आ लिपटेंगे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि जो बात कभी स्वप्न में भी नहीं देख पड़ती, वही कभी कभी आँखों के सामने नाचने लगती है। और सचमुच देखा जाय, तो अब डॉक्टर लारिनसर को उत्तर देने की

* See Bhagavadgita translated into English Blank Verse with Notes & c. by K. T. Telang. 1875. (Bombay). This book is different from the translation in S. B. E; series.

कोई आवश्यकता ही नहीं है । तथापि कुछ बड़े बड़े अंग्रेजी ग्रंथों में अभी तक इसी असत्य मत का उल्लेख देख पड़ता है । इसलिये यहाँ पर उस अर्वाचीन खोज के परिणाम का संक्षेप में दिग्दर्शन करा देना आवश्यक प्रतीत होता है, कि जो इस विषय में निष्पन्न हुआ है । पहले यह ध्यान में रखना चाहिये, कि जब कोई दो ग्रंथों के सिद्धान्त एक-से होते हैं, तब केवल इन सिद्धान्तों की समानता ही के भरोसे यह निश्चय नहीं किया जा सकता, कि अमुक ग्रंथ पहले रचा गया; और अमुक पीछे । क्योंकि यहाँ पर दोनों बातें सम्भव हैं, कि (१) इन दोनों ग्रंथों में से पहले ग्रंथ के विचार दूसरे ग्रंथ से लिये गये होंगे; अथवा (२) दूसरे ग्रंथ के विचार पहले से । अतएव पहले जब दोनों ग्रंथों के काल का स्वतन्त्र रीति से निश्चय कर लिया जाय, तब फिर विचारसादृश्य से यह निर्णय करना चाहिये, कि अमुक ग्रंथकार ने अमुक ग्रंथ से अमुक विचार लिये हैं। इसके सिवा, दो भिन्न भिन्न देशों के दो ग्रंथकारों को एक ही से विचारों का एक ही समय में (अथवा कभी आगे–पीछे भी) स्वतन्त्र रीति से सूझ पड़ना कोई बिलकुल अशक्य बात नहीं है । इसलिये उन दोनों ग्रंथों की समानता को जाँचते समय यह विचार भी करना पड़ता है, कि वे स्वतन्त्र रीति से आविर्भूत होने के योग्य हैं या नहीं ? और जिन दो देशों में ये ग्रन्थ निर्मित हुए हों उनसे उस समय आवागमन हो कर एक देश के विचारों का दूसरे देश में पहुँचना सम्भव था या नहीं ? इस प्रकार चारों ओर से विचार करने पर देख पड़ता है, कि ईसाईधर्म से किसी भी बात का गीता में लिया जाना सम्भव ही नहीं था; बल्कि गीता के तत्त्वों के समान जो कुछ तत्त्व ईसाइयों की बाइबल में पाये जाते हैं, उन तत्त्वों को ईसा ने अथवा उसके शिष्योंने बहुत करके बौद्धधर्म से--अर्थात् पर्याय से गीता या वैदिकधर्म ही से—बाईबल में ले लिया होगा ; और अब इस बात को कुछ पश्चिमी पंडित लोग स्पष्टरूप से कहने भी लग गये हैं । इस तराजू का फिरा हुआ पलड़ा देख कर ईसा के कट्टर भक्तों को आश्चर्य होगा; और यदि उनके मन का झुकाव इस बात को स्वीकृत न करने की ओर हो जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं है । परन्तु ऐसे लोगों से हमें इतना ही कहना हैं, कि यह प्रश्न धार्मिक नहीं--ऐतिहासिक है । इसलिये इतिहास की सार्वकालिक पद्धति के अनुसार हाल में उपलब्ध हुई बातों पर शान्तिपूर्वक विचार करना आवश्यक है। फिर इससे निकलनेवाले अनुमानों को सभी लोग--और विशेषत: वे, कि जिन्होंने यह विचारसादृश्य का प्रश्न उपस्थित किया है--आनन्दपूर्वक तथा पक्षपातरहित बुद्धि से ग्रहण करें । यही न्याय्य तथा युक्तिसंगत है ।

नई बाईबल का ईसाईधर्म यहूदी बाईबल अर्थात् प्राचीन बाईबल में प्रतिपादित प्राचीन यहूदीधर्म का सुधरा हुआ रूपान्तर है । यहूदी भाषा में ईश्वर को 'इलोहा' (अरबी 'इलाह') कहते हैं। परन्तु मोजेस ने जो नियम बना दिये हैं, उनके अनुसार यहूदीधर्म के मुख्य उपास्य देवता की विशेष संज्ञा 'जिहोवा' है । पश्चिमी पंडितों ने ही अब निश्चय किया है, कि यह 'जिहोवा' शब्द असल

में यहूदी नहीं है; किन्तु खाल्दी भाषा के ' यवे ' (संस्कृत यह्व) शब्द से निकला है। यहूदी लोग मूर्तिपूजक नहीं हैं। उनके धर्म का मुख्य आचार यह है, कि अग्नि में पशु या अन्य वस्तुओं का हवन करें। ईश्वर के बतलाये हुए नियमों का पालन करके जिहोवा को सन्तुष्ट करें; और उसके द्वारा इस लोक में अपना तथा अपनी जाति का कल्याण प्राप्त करें। अर्थात् संक्षेप में कहा जा सकता है, कि वैदिकधर्मीय कर्मकांड के अनुसार यहूदीधर्म भी यज्ञमय तथा प्रवृत्तिप्रधान है। उसके विरुद्ध ईसा का अनेक स्थानों पर उपदेश है, कि 'मुझे (हिंसाकारक) यज्ञ नहीं चाहिये। मैं (ईश्वर की) कृपा चाहता हूँ। '(मैथ्यू. ६. १३); ' ईश्वर तथा द्रव्य दोनों को साध लेना सम्भव नहीं ' (मैथ्यू. ६. २४) । ' जिसे अमृतत्व की प्राप्ति कर लेनी हो, उसे बाल बच्चे छोड़ करके मेरा भक्त होना चाहिये ' (मैथ्यू. १९. २१) । और जब ईसाने शिष्यों को धर्मप्रचारार्थ देश-विदेश में भेजा, तब संन्यासधर्म के इन नियमों का पालन करने के लिये उनको उपदेश किया, कि " तुम अपने पास सोना, चाँदी तथा बहुत–से वस्त्रप्रावरण भी न रखना " (मैथ्यू. १०. ९–१३) । यह सच है, कि अर्वाचीन ईसाई राष्ट्रों ने ईसा के इन सब उपदेशों को लपेट कर ताक में रख दिया है। परन्तु जिस प्रकार आधुनिक शंकराचार्य के हाथी-घोड़े रखने से शांकरसम्प्रदाय दरबारी नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार अर्वाचीन ईसाई राष्ट्रों के इस आचरण से मूल ईसाईधर्म के विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता, कि वह धर्म भी प्रवृत्तिप्रधान था। मूलवैदिकधर्म के कर्मकांडात्मक होने पर भी जिस प्रकार उसमें आगे चल कर ज्ञानकांड का उदय हो गया, उसी प्रकार यहूदी तथा ईसाईधर्म का भी सम्बन्ध है। परन्तु वैदिक कर्मकांड में क्रमशः ज्ञानकांड की और फिर भक्तिप्रधान भागवतधर्म की उत्पत्ति एवं वृद्धि सैकड़ों वर्षों तक होती रही है; किन्तु यह बात ईसाईधर्म में नहीं है। इतिहास से पता चलता है, कि ईसा के अधिक से अधिक, लगभग दो सौ वर्ष पहले एसी या एसीन नामक संन्यासियों का पन्थ यहूदियों के देश में एकाएक आविर्भूत हुआ था। ये एसी लोग थे तो यहूदीधर्म के ही; परन्तु हिंसात्मक यज्ञयाग को छोड़ कर ये अपना समय किसी शान्त स्थान में बैठे परमेश्वर के चिन्तन में बिताया करते थे; और उदरपोषणार्थ कुछ करना पड़ा, तो खेतों के समान निरुपद्रवी व्यवसाय किया करते थे। क्वाँरे रहना, मद्यमांस से परहेज रखना, हिंसा न करना, शपथ न खाना, संघ के साथ मठ में रहना और जो किसी को कुछ द्रव्य मिल जाय, तो उसे पूरे संघ की सामाजिक आमदनी समझना आदि उनके पन्थके मुख्य तत्त्व थे। जब कोई उस मंडली में प्रवेश करना चाहता था, तब उसे तीन वर्ष तक उम्मेदवारी करके फिर कुछ शर्तें मंजूर करनी पड़ती थीं। उनका प्रधान मठ मृतसमुद्र के पश्चिमी किनारे पर एंगदी में था। वहीं पर वे संन्यासवृत्ति से शांतिपूर्वक रहा करते थे। स्वयं ईसा ने तथा उसके शिष्यों ने नई बाइबल में एसी पंथ के मतों का जो मान्यतापूर्वक निर्देश किया है (मैथ्यू. ५. ३४; १९. १२; जेम्स. ५. १२ कृत्य ४. ३२–३५), उससे देख

पड़ता है, कि ईसा भी इसी पंथ का अनुयायी था; और इसी पंथ के संन्यासधर्म का उसने अधिक प्रचार किया है । यदि ईसा के संन्यासप्रधान भक्तिमार्ग की परम्परा इस प्रकार एसी पंथ की परम्परा से मिला दी जावे, तो भी ऐतिहासिक दृष्टि से इस बात की कुछ-न-कुछ सयुक्तिक उपपत्ति बतलाना आवश्यक है, कि मूल कर्ममय यहूदीधर्म से संन्यासप्रधान एसी पंथ का उदय कैसे हो गया ? इस पर कुछ लोग कहते हैं, कि ईसा एसीनपंथी नहीं था । अब जो इस बात को सच मान लें, तो यह प्रश्न नहीं टाला जा सकता, कि नई बाइबल में जिस संन्यासप्रधान धर्म का वर्णन किया गया है, उसका मूल क्या है ? अथवा कर्मप्रधान यहूदीधर्म में उसका प्रादुर्भाव एकदम कैसे हो गया ? इसमें भेद केवल इतना होता है, कि एसीनपंथ की उत्पत्तिवाले प्रश्न के बदले इस प्रश्न को हल करना पड़ता है । क्योंकि, अब समाजशास्त्र का यह मामूली सिद्धान्त निश्चित हो गया है, कि "कोई भी बात किसी स्थान में एकदम उत्पन्न नहीं हो जाती । उसकी वृद्धि धीरे धीरे तथा बहुत दिन पहले से हुआ करती है । और जहाँ पर इस प्रकार की बाढ़ देख नहीं पड़ती, वहाँ पर वह बात प्रायः पराये देशों या पराये लोगों से ली हुई होती है । " कुछ यह नहीं है, कि प्राचीन ईसाई ग्रंथकारों के ध्यान में यह अड़चन आई ही न हो । परन्तु यूरोपियन लोगों को बौद्धधर्म का ज्ञान होने के पहले--अर्थात् अठारहवीं सदी तक--शोधक ईसाई विद्वानों का यह मत था, कि यूनानी तथा यहूदी लोगों का पारस्परिक निकटसम्बन्ध हो जाने पर यूनानियों के--विशेषतः पाइथागोरस के--तत्त्वज्ञान के बदौलत कर्ममय यहूदीधर्म में एसी लोगों के संन्यासमार्ग का प्रादुर्भाव हुआ होगा । किन्तु अर्वाचीन शोधों से यह सिद्धान्त सत्य नहीं माना जा सकता । इससे सिद्ध होता है, कि यज्ञमय यहूदीधर्म ही में एकाएक संन्यासप्रधान एसी या ईसाईधर्म की उत्पत्ति हो जाना स्वभावतः सम्भव नहीं था; और उसके लिये यहूदीधर्म से बाहर का कोई न कोई अन्य कारण निमित्त हो चुका है--यह कल्पना नई नहीं है; किन्तु ईसा की अठारहवीं सदी से पहले के ईसाई पंडितों को भी मान्य हो चुकी थी ।

कोलब्रुक साहब *ने कहा है, कि पाइथागोरस के तत्त्वज्ञान के साथ बौद्ध धर्म के तत्त्वज्ञान की कहीं अधिक समता है । अतएव यदि उपर्युक्त सिद्धान्त सच मान लिया जाय, तो भी कहा जा सकेगा, कि एसीपंथ का जनकत्व परम्परा से हिंदुस्थान को ही मिलता है । परन्तु इतनी आनाकानी करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है । बौद्ध ग्रंथों के साथ नई बाइबल की तुलना करने पर स्पष्ट ही देख पड़ता है, कि एसी या ईसाईधर्म की पाइथागोरियन मंडलियों से जितनी समता है, उससे कहीं अधिक और विलक्षण समता केवल एसीधर्म की ही नहीं; किन्तु ईसा के चरित्र और ईसा के उपदेश की बुद्ध के धर्म से है । जिस प्रकार ईसा को भ्रम में फँसाने का प्रयत्न शैतान ने किया था; और जिस प्रकार सिद्धावस्था प्राप्त होने के समय उसने ४० दिन उपवास किया था, उसी प्रकार बुद्धचरित्र में भी यह वर्णन

* See Colebrooke's Miscellaneous Essays, Vol. I. pp. 399, 400

है, कि बुद्ध को मार का डर दिखला कर मोह में फँसाने का प्रयत्न किया गया था; और उस समय बुद्ध ४९ दिन (सात सप्ताह) तक निराहार रहा था। इसी प्रकार पूर्णश्रद्धा के प्रभाव से पानी पर चलना, मुख तथा शरीर की कान्ति को एकदम सूर्य-सदृश बना लेना अथवा शरणागत चोरों तथा वेश्याओं को भी सद्गति देना इत्यादि बातें बुद्ध और ईसा, दोनों के चरित्रों में एक ही सी मिलती हैं। और ईसा के जो ऐसे मुख्य मुख्य नैतिक उपदेश हैं, कि "तू अपने पड़ोसियों तथा शत्रुओं पर भी प्रेम कर," वे भी ईसा से पहले ही कहीं मूलबुद्धधर्म में बिलकुल अक्षरशः आ चुके हैं। ऊपर बतला ही आये हैं, कि भक्ति का तत्त्व मूलबुद्धधर्म में नहीं था; परन्तु वह भी आगे चल कर—अर्थात् कम-से-कम ईसा से दो-तीन सदियों से पहले ही--महायान बौद्धपंथ में भगवद्गीता से लिया जा चुका था। मि० आर्थर लिली ने अपनी पुस्तक में आधारपूर्वक स्पष्ट करके दिखला दिया है, कि यह साम्य केवल इतनी ही बातों में नहीं है; बलिक इसके सिवा बौद्ध तथा ईसाई धर्म की अन्यान्य सैकड़ों छोटी-मोटी बातों में उक्त प्रकार का ही साम्य वर्तमान है। यही क्यों; सूली पर चढ़ा कर ईसा का वध किया गया था; इसलिये ईसाई जिस सूली के चिन्ह को पूज्य तथा पवित्र मानते हैं, उसी सूली के चिन्ह को 'स्वस्तिक' 卐 (साँथिया) के रूप में वैदिक तथा बौद्धधर्मवाले ईसा के सैकड़ों वर्ष पहले से ही शुभदायक चिन्ह मानते थे। और प्राचीन शोधकों ने यह निश्चय किया है, कि मिश्र आदि, पृथ्वी के पुरातन खंडों के देशों ही में नहीं; किन्तु कोलंबस से कुछ शतक पहले अमेरिका के पेरू तथा मेक्सिको देश में भी स्वस्तिक चिन्ह शुभदायक माना जाता था*। इससे यह अनुमान करना पड़ता है, कि ईसा के पहले ही सब लोगों को स्वस्तिक चिन्ह पूज्य हो चुका था। उसी का उपयोग आगे चल कर ईसा के भक्तों ने एक विशेष रीति से कर लिया है। बौद्ध भिक्षु और प्राचीन ईसाई धर्मोपदेशकों की—विशेषतः पुराने पादड़ियों की--पोशाक और धर्मविधि में भी कहीं अधिक समता पाई जाती है। उदाहरणार्थ, 'बप्तिस्मा' अर्थात् स्नान के पश्चात् दीक्षा देने की विधि भी ईसा से पहले ही प्रचलित थी। अब सिद्ध हो चुका है, कि दूर दूर के देशों में धर्मोपदेशक भेज कर धर्मप्रसार करने की पद्धति--ईसाई धर्मोपदेशकों से पहले ही--बौद्ध भिक्षुओं को पूर्णतया स्वीकृत हो चुकी थी।

किसी भी विचारवान् मनुष्य के मन में यह प्रश्न होना बिलकुल ही साहजिक है, कि बुद्ध और ईसा के चरित्रों में--उनके नैतिक उपदेशों में और उनके धर्मों की धार्मिक विधियों तक में--जो यह अद्भुत और व्यापक समता पाई जाती है उसका क्या कारण है? ** बौद्धधर्मग्रंथों का अध्ययन करने से जब पहले पहल

---

* See The Secret of the Pacific by C. Reginald Enock 1912. pp. 248-252.

** इस विषय पर मि. आर्थर लिली ने Buddhism in Christendom नामक

यह समता पश्चिमी लोगों को देख पड़ी, तब कुछ ईसाई पण्डित कहने लगे, कि बौद्ध धर्मवालों ने इन तत्त्वों को 'नेस्टोरियन' नामक ईसाई पंथ से लिया होगा, कि जो एशियाखण्ड में प्रचलित था; परन्तु यह बात ही सम्भव नहीं है। क्योंकि, नेस्टार पंथ का प्रवर्तक ही ईसा से लगभग सवा चार सौ वर्ष के पश्चात् उत्पन्न हुआ था; और अब अशोक के शिलालेखों से भली भाँति सिद्ध हो चुका है, कि ईसा के लगभग पाँच सौ वर्ष पहले--और नेस्टार से तो लगभग नौ सौ वर्ष पहले--बुद्ध का जन्म हो गया था। अशोक के समय--अर्थात् सन् ईसवी से निदान ढाई सौ वर्ष पहले--बौद्धधर्म हिन्दुस्थान में और आसपास के देशों में तेजी से फैला हुआ था। एवं बुद्धचरित्र आदि ग्रन्थ भी इस समय तैयार हो चुके थे। इस प्रकार जब बौद्धधर्म की प्राचीनता निर्विवाद है, तब ईसाई तथा बौद्धधर्म में देख पड़ने-वाले साम्य के विषय में दो ही पक्ष रह जाते हैं; (१) वह साम्य स्वतंत्र रीति से दोनों ओर उत्पन्न हुआ हो; अथवा (२) इन तत्त्वों को ईसा ने या उसके शिष्यों ने बौद्धधर्म से लिया हो। इस पर प्रोफेसर र्‍हिसडेविड्स का मत है, कि बुद्ध और ईसा की परिस्थिति एक ही सी होने के कारण दोनों ओर यह सादृश्य आप-ही-आप स्वतन्त्र रीति से हुआ है *। परन्तु, थोड़ा-सा विचार करने पर यह बात सब के ध्यान में आ जावेगी, कि यह कल्पना समाधानकारक नहीं है। क्योंकि, जब कोई नई बात किसी भी स्थान पर स्वतन्त्र रीति से उत्पन्न होती है, तब उसका उदय सदैव क्रमशः हुआ करता है; और इसलिये उसकी उन्नति का क्रम भी बतलाया जा सकता है। उदाहरण लीजिये--सिलसिलेवार ठीक तौर पर यह बतलाया जा सकता है, कि वैदिक कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड, और ज्ञानकाण्ड अर्थात् उपनिषदों ही से आगे चल कर भक्ति, पातंजलयोग अथवा अन्त में बौद्धधर्म कैसे उत्पन्न हुआ? परन्तु यज्ञमय यहूदीधर्म में संन्यासप्रधान एसी या ईसाईधर्म का उदय उक्त प्रकार से हुआ नहीं है। वह एकदम उत्पन्न हो गया है। ऊपर बतला ही चुके हैं, कि प्राचीन ईसाई पंडित भी यह मानते हैं, कि इस रीति से उसके एकदम उदय हो जाने में यहूदीधर्म के अतिरिक्त कोई अन्य बाहरी कारण निमित्त रहा होगा। इसके सिवा, बौद्ध तथा ईसाईधर्म में जो समता देख पड़ती है, वह इतनी विलक्षण और पूर्ण है, कि वैसी समता का स्वतंत्र रीति से उत्पन्न होना सम्भव भी नहीं है। यदि यह बात सिद्ध हो गई होती, कि उस समय यहूदी लोगों को बौद्ध-

---

एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है। इसके सिवा Buddha and Buddhism नामक ग्रन्थ के अन्तिम चार भागों में उन्होंने अपने मत का संक्षिप्त निरूपण स्पष्ट रूप से किया है। हमने परिशिष्ट के इस भाग में जो विवेचन किया है, उसका आधार विशेषतया यही दूसरा ग्रन्थ है। Buddha and Buddhism ग्रंथ The Word's Epoch-makers' Series में सन १९०० ईसवी में प्रसिद्ध हुआ है। इस के दसवें भाग में बौद्ध और ईसाईधर्म के कोई ५० समान उदाहरणों का दिग्दर्शन कराया है।

* See Buddhist Suttas S. B. E. Series, Vol. XI. p. 163.

धर्म का ज्ञान होना ही सर्वथा असम्भव था, तो बात दूसरी थी। परन्तु इतिहास से सिद्ध होता है, कि सिकंदर के समय से आगे--और विशेष कर अशोक के तो समय में ही (अर्थात् ईसा से लगभग २५० वर्ष पहले)--पूर्व की ओर मिश्र के एलेक्जेंड्रिया तथा यूनान तक बौद्ध यतियों की पहुँच हो चुकी थी। अशोक के एक शिलालेख में यह बात लिखी है, कि यहूदी लोगों के तथा आसपास के देशों के यूनानी राजा एंटिओकस से उसने सन्धि की थी। इसी प्रकार बाइबल (मैथ्यू. २. १) में वर्णन है, कि जब ईसा पैदा हुआ, तब पूर्व की ओर कुछ ज्ञानी पुरुष जेरूसलम गये थे। ईसाई लोग कहते हैं, कि ये ज्ञानी पुरुष मगी अर्थात् ईरानी धर्म के होंगे--हिंदुस्थानी नहीं। परन्तु चाहे जो कहा जाय; अर्थ तो दोनों का एक ही है। क्योंकि, इतिहास से यह बात स्पष्टतया विदित होती है, कि बौद्धधर्म का प्रसार इस समय से पहले ही काश्मीर और काबूल में हो गया था। एवं वह पूर्व की ओर ईरान तथा तुर्किस्थान तक भी पहुँच चुका था। इसके सिवा प्लूटार्क * ने साफ़ साफ़ लिखा है, कि ईसा के समय में हिंदुस्थान का एक यति लालसमुद्र के किनारे और एलेक्जेन्ड्रिया के आसपास के प्रदेशों में प्रतिवर्ष आया करता था। तात्पर्य, इस विषय में अब कोई शंका नहीं रह गई है, कि ईसा से दो-तीन-सौ वर्ष पहले ही यहूदियों के देश में बौद्ध यतियों का प्रवेश होने लगा था। और जब यह सम्भव सिद्ध हो गया, तब यह बात सहज ही निष्पन्न हो जाती है, कि यहूदी लोगों में संन्यासप्रधान एसी पंथ का और फिर आगे चल कर संन्यासयुक्त भक्तिप्रधान ईसाईधर्म का प्रादुर्भाव होने के लिये बौद्धधर्म ही विशेष कारण हुआ होगा। अंग्रेज़ी ग्रंथकार लिली ने भी यही अनुमान किया है; और इसकी पुष्टि में फरेंच पंडित एमिल् बुर्नफ़् और रोस्नी** के इसी प्रकार के मतों का अपने ग्रंथों में हवाला दिया है। एवं जर्मन देश में लिपज़िक के तत्त्वज्ञानशास्त्राध्यापक प्रोफेसर सेडन ने इस विषय के अपने ग्रन्थ में उक्त मत ही का प्रतिपादन किया है। जर्मन प्रोफेसर

---

* See Plutarch's Morals—Theosophical Essays translated by C. N. King (George Bell & Sons) pp. 96. 97. पाली भाषा के महावंश (२९. ३९.) में यवनों अर्थात् यूनानियों के अलसंदा (योन नगराऽलसंदा) नामक शहर का उल्लेख है। उसमें यह लिखा है, कि ईसा की सदी से कुछ वर्ष पहले जब सिंहलद्वीप में एक मंदिर बन रहा था, तब वहाँ बहुत-से बौद्ध यति उत्सवार्थ पधारे थे। महावंश के अंग्रेज़ी अनुवादक अलसंदा शब्द से मिश्र देश के एलेक्जेन्ड्रिया शहर को नहीं लेते। वे इस शब्द से यहाँ उस अलसंदा नामक गाँव को ही विवक्षित बतलाते हैं, कि जिसे सिकंदरने काबूल में बसाया था; परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि इस छोटे-से गाँव को किसी ने भी यवनों का नगर कहा होता। इसके सिवा ऊपर बतलाये हुए अशोक के शिलालेख ही में यवनों के राज्यों में बौद्ध भिक्षुओं के भेजे जाने का स्पष्ट उल्लेख है।

** See Lillie's Buddha and Buddhism pp. 158 ff.

अडर ने अपने एक निबंध में कहा है, कि ईसाई तथा बौद्धधर्म सर्वथा एक-से नहीं हैं । यद्यपि उन दोनों की कुछ बातों में समता हो, तथापि अन्य बातों में वैषम्य भी थोडा नहीं है; और इसी कारण बौद्धधर्म से ईसाईधर्म का उत्पन्न होना नहीं माना जा सकता । परन्तु यह कथन विषय से बाहर का है । इसलिये इसमें कुछ भी जान नहीं है । यह कोई भी नहीं कहता, कि ईसाई तथा बौद्धधर्म सर्वथा एक-से ही हैं । क्योंकि यदि ऐसा होता, तो ये दोनों धर्म पृथक् पृथक् न माने गये होते । मुख्य प्रश्न तो यह है, कि जब मूल में यहूदीधर्म केवल कर्ममय है, तब उसमें सुधार के रूप से संन्यासयुक्त भक्तिमार्ग के प्रतिपादक ईसाईधर्म की उत्पत्ति होने के लिये कारण क्या हुआ होगा ? और ईसा की अपेक्षा बौद्धधर्म सचमुच प्राचीन है । उसके इतिहास पर ध्यान देने से यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से भी संभव नहीं प्रतीत होता, कि संन्यासप्रधान भक्ति और नीति के तत्त्वों को ईसा ने स्वतंत्र रीति से ढूँढ निकाला हो । बाइबल में इस बात का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता, कि ईसा अपनी आयु के बारहवें वर्ष से ले कर तीस वर्ष की आयु तक क्या करता था ? और कहाँ था ? इससे प्रगट है, कि उसने अपना यह समय ज्ञानार्जन, धर्मचिंतन और प्रवास में बिताया होगा । अतएव विश्वासपूर्वक कौन कह सकता है, कि आयु के इस भाग में उसका बौद्ध भिक्षुओं से प्रत्यक्ष या पर्याय से कुछ भी सम्बन्ध हुआ ही न होगा ? क्योंकि, उस समय बौद्ध यतियों का दौरदौरा यूनान तक हो चुका था । नेपाल के एक बौद्ध मठ के ग्रंथ में स्पष्ट वर्णन है, कि उस समय ईसा हिन्दुस्थान में आया था । और वहाँ उसे बौद्धधर्म का ज्ञान प्राप्त हुआ । यह ग्रन्थ निकोलस नोटोविश नाम के एक रूसी के हाथ लग गया था; उसने फरेंच भाषा में इसका अनुवाद सन १८९४ ईसवी में प्रकाशित किया है । बहुतेरे ईसाई पण्डित कहते हैं, कि नोटोविश का अनुवाद सच भले ही हो; परन्तु मूलग्रन्थ का प्रणेता कोई लफंगा है, जिसने यह बनावटी ग्रन्थ गढ़ डाला है । हमारा भी कोई विशेष आग्रह नहीं है, कि उक्त ग्रन्थ को ये पण्डित लोग सत्य ही मान लें । नोटोविश को मिला हुआ ग्रन्थ सत्य हो या प्रक्षिप्त; परन्तु हमने केवल ऐतिहासिक दृष्टि से जो विवेचन ऊपर किया है, उससे यह बात स्पष्टतया विदित हो जायगी, कि यदि ईसा को नहीं, तो निदान उसके भक्तों को, कि जिन्होंने नई बाइबल में उसका चरित्र लिखा है--बौद्धधर्म का ज्ञान होना असम्भव नहीं था; और यदि यह बात असम्भव नहीं है, तो ईसा और बुद्ध के चरित्र तथा उपदेश में जो विलक्षण समता पाई जाती है, उसकी स्वतन्त्र रीति से उत्पत्ति मानना भी युक्तिसङ्गत नहीं जँचता । सारांश यह है, कि मीमांसकों का

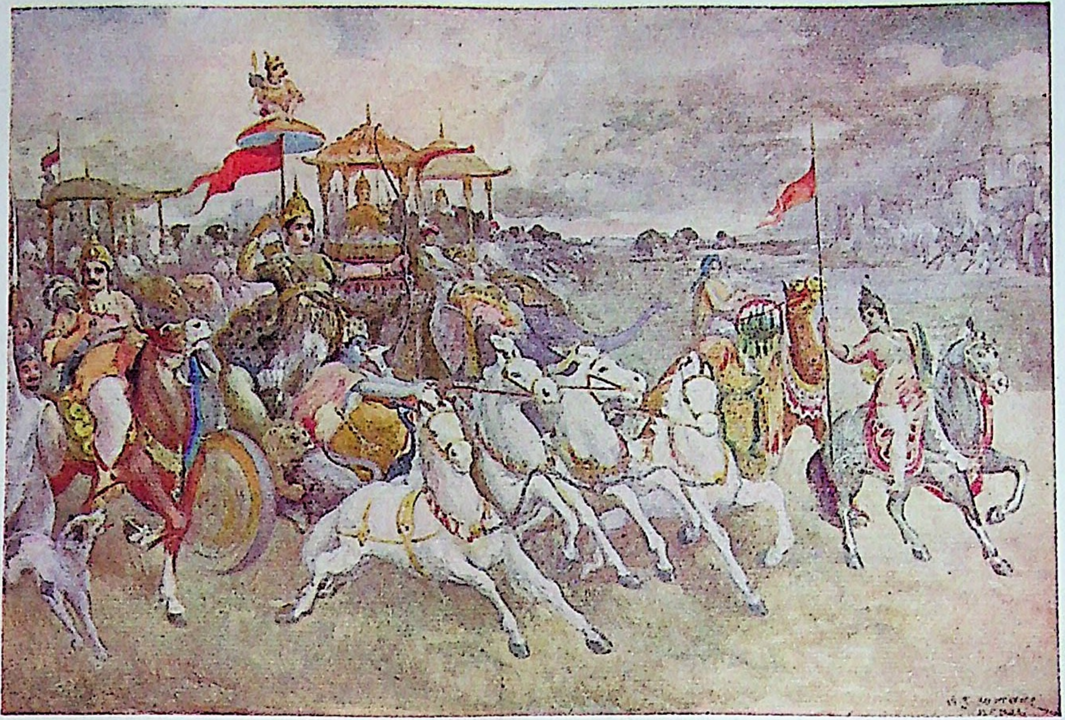
* बाबू रमेशचन्द्र दत्त का भी यही मत है । उन्हों ने उसका विस्तारपूर्वक विवेचन अपने ग्रन्थ में किया है । Ramesh Chander Dutt's History of Civilization in Ancient India Vol. II. Chap. XX. pp. 328-340.

केवल कर्ममार्ग, जनक आदि का ज्ञानयुक्त कर्मयोग (नैष्कर्म्य), उपनिषत्कारों तथा सांख्यों की ज्ञाननिष्ठा और संन्यास, चित्तनिरोधरूपी पातंजल योग, एवं पाञ्चरात्र वा भागवतधर्म अर्थात् भक्ति--ये सभी धार्मिक अङ्ग और तत्त्व मूल में प्राचीन वैदिक धर्म के ही हैं। इन में से ब्रह्मज्ञान, कर्म और भक्ति को छोड़ कर, चित्तनिरोधरूपी योग तथा कर्मसंन्यास इन्हीं दोनों तत्त्वों के आधार पर बुद्ध ने पहले पहल अपने संन्यासप्रधान धर्म का उपदेश चारों वर्णों को किया था। परन्तु आगे चल कर उसी में भक्ति तथा निष्काम कर्म को मिला कर बुद्ध के अनुयायियों ने उसके धर्मका चारों ओर प्रसार किया। अशोक के समय बौद्धधर्म का इस प्रकार प्रचार हो जाने के पश्चात् शुद्ध कर्मप्रधान यहूदीधर्म में संन्यासमार्ग के तत्त्वों का प्रवेश होना आरम्भ हुआ; और अन्त में, उसी में भक्ति को मिला कर ईसा ने अपना धर्म प्रवृत्त किया। इतिहास से निष्पन्न होनेवाली इस परम्परा पर दृष्टि देने से डाक्टर लारिनसर का यह कथन तो असत्य सिद्ध होता ही है, कि गीता में ईसाईधर्म से कुछ बातें ली गई हैं। किन्तु इसके विपरीत, यह बात अधिक सम्भव ही नहीं; बल्कि विश्वास करने योग्य भी है, कि आत्मौपम्यदृष्टि, संन्यास, निर्वैरत्व तथा भक्ति के जो तत्त्व नई बाइबल में पाये जाते हैं, वे ईसाईधर्म में बौद्धधर्म से--अर्थात् परम्परा से वैदिकधर्म से--लिये गये होंगे। और यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है, कि इसके लिये हिन्दुओं को दूसरों का मुँह ताकने की कभी आवश्यकता थी ही नहीं।

इस प्रकार इस प्रकरण के आरम्भ में दिये हुए सात प्रश्नों का विवेचन हो चुका। अब इन्हीं के साथ महत्त्व के कुछ ऐसे प्रश्न होते हैं, कि हिंदुस्थान में जो भक्तिपन्थ आजकल प्रचलित हैं, उन पर भगवद्गीता का क्या परिणाम हुआ है? परन्तु इन प्रश्नों को गीताग्रन्थसम्बन्धी कहने की अपेक्षा यही कहना ठीक है, कि ये हिन्दूधर्म के अर्वाचीन इतिहास से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये--और विशेषतः यह परिशिष्ट प्रकरण थोड़ा थोड़ा करने पर भी हमारे अंदाज़ से अधिक बढ़ गया है इसलिये--अब यहीं पर गीता की बहिरंग परीक्षा समाप्त की जाती है।

[illegible]

The sacred battle-field of Kuru-Kshetra.



ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ । माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

....कपिध्वजः ।....धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥ सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापयमेऽच्युत ॥ २१ ॥ अ. १.

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य ।

गीता के मूल श्लोक, हिन्दी अनुवाद
और टिप्पणियाँ ।

उपोद्घात

ज्ञान से और श्रद्धा से--पर इसमें भी विशेषतः भक्ति के सुलभ राजमार्ग से--जितनी हो सके उतनी समबुद्धि करके लोकसंग्रह के निमित्त स्वधर्मानुसार अपने अपने कर्म निष्कामबुद्धि से मरणपर्यन्त करते रहना ही प्रत्येक मनुष्य का परम कर्तव्य है। इसी में उसका सांसारिक और पारलौकिक परम कल्याण है; तथा उसे मोक्ष की प्राप्ति के लिये कर्म छोड़ बैठने की अथवा और कोई भी दूसरा अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है। समस्त गीताशास्त्र का यही फलितार्थ है, जो गीतारहस्य में प्रकरणशः विस्तारपूर्वक प्रतिपादित हो चुका है। इसी प्रकार चौदहवें प्रकरण में यह भी दिखला आये हैं, कि उल्लिखित उद्देश से गीता के अठारहों अध्यायों का मेल कैसा अच्छा और सरल मिल जाता है? एवं इस कर्मयोगप्रधान गीताधर्म में अन्यान्य मोक्षसाधनों के कौन कौन-से भाग किस प्रकार आये हैं? इतना कर चुकने पर वस्तुतः इस से अधिक काम नहीं रह जाता, कि गीता के श्लोकों का क्रमशः हमारे मतानुसार भाषा में सरल अर्थ बतला दिया जावे। किन्तु गीतारहस्य के सामान्य विवेचन में यह बतलाते न बनता था, कि गीता के प्रत्येक अध्याय के विषय का विभाग कैसे हुआ है? अथवा टीकाकारों ने अपने सम्प्रदाय की सिद्धि के लिये कुछ विशेष श्लोकों के पदों की किस प्रकार खींचातानी की है? अतः इन दोनों बातों का विचार करने--और जहाँ का तहीं पूर्वापर सन्दर्भ दिखला देने--के लिये भी अनुवाद के साथ साथ आलोचना के ढंग पर कुछ टिप्पणियों के देने की आवश्यकता हुई। फिर भी जिन विषयों का गीतारहस्य में विस्तृत वर्णन हो चुका है, उनका केवल दिग्दर्शन करा दिया है; और गीतारहस्य के जिस प्रकरण में उस विषय का विचार किया गया है, उसका सिर्फ़ हवाला दे दिया है। ये टिप्पणियाँ मूलग्रन्थ से अलग पहचान ली जा सके, इसके लिये ये [ ] चौकोने ब्रैकिटों के भीतर रखी गई हैं; श्लोकों का अनुवाद--जहाँ तक बन पड़ा है--शब्दशः किया गया है; और कितने ही स्थलों पर तो मूल के ही शब्द रख दिये गये हैं। एवं "अर्थात्, यानी" से जोड़ कर उनका अर्थ खोल दिया है; और छोटी-मोटी टिप्पणियों का काम अनुवाद से ही निकाल लिया गया है। इतना करने पर भी संस्कृत की और भाषा की प्रणाली भिन्न भिन्न होती है इस कारण, मूल संस्कृत श्लोक का अर्थ भी भाषा में व्यक्त करने के लिये कुछ अधिक शब्दों का प्रयोग अवश्य करना पड़ता है; और अनेक स्थलों पर मूलके शब्द को अनुवाद में प्रमाणार्थ लेना पड़ता है। इन शब्दों पर ध्यान जमने के लिये ( ) ऐसे कोष्टक में ये शब्द रखे गये हैं। संस्कृत ग्रन्थों में श्लोक

का नम्बर श्लोक के अन्त में रहता है; परन्तु अनुवाद में हमने यह नम्बर पहले ही आरम्भ में रखा है । अतः किसी श्लोक का अनुवाद देखना हो, तो अनुवाद में उस नम्बर के आगे का वाक्य पढ़ना चाहिये । अनुवाद की रचना प्रायः ऐसी की गई है, कि टिप्पणी छोड़ कर निरा अनुवाद ही पढ़ते जायँ, तो अर्थ में कोई व्यतिक्रम न पड़े । इसी प्रकार जहाँ मूल में एक ही वाक्य एक से अधिक श्लोकों में पूरा हुआ है, वहाँ उतने ही श्लोकों के अनुवाद में यह अर्थ पूर्ण किया गया है । अतएव कुछ श्लोकों का अनुवाद मिला कर ही पढ़ना चाहिये । ऐसे श्लोक जहाँ जहाँ हैं, वहाँ वहाँ श्लोक के अनुवाद में पूर्णविरामचिन्ह (।) खड़ी पाई नहीं लगाई गई है । फिर भी यह स्मरण रहे, कि अनुवाद अन्त में अनुवाद ही है । हमने अपने अनुवाद में गीता के सरल, खुले और प्रधान अर्थ को ले आने का प्रयत्न किया है सही; परन्तु संस्कृत शब्दों में और विशेषतः भगवान् की प्रेमयुक्त, रसीली, व्यापक और प्रतिक्षणमें नई रुचि देनेवाली वाणी में लक्षणा से अनेक व्यंग्यार्थ उत्पन्न करने का जो सामर्थ्य है, उसे ज़रा भी न घटा-बढ़ा कर दूसरे शब्दों में ज्यों-का-त्यों झलका देना असम्भव है । अर्थात् संस्कृत जाननेवाला पुरुष अनेक अवसरों पर लक्षणा से गीता के श्लोकों का जैसा उपयोग करेगा, वैसा गीता का निरा अनुवाद पढ़नेवाले पुरुष नहीं कर सकेंगे । अधिक क्या कहें ? सम्भव है, कि वे गोता भी खा जायँ । अतएव सब लोगों से हमारी आग्रहपूर्वक विनंति है, कि गीताग्रन्थ का संस्कृत में ही अवश्य अध्ययन कीजिये; और अनुवाद के साथ ही साथ मूल श्लोक रखने का प्रयोजन भी यही है । गीता के प्रत्येक अध्याय के विषय का सुविधा से ज्ञान होने के लिये इन सब विषयों की––अध्यायों के क्रम से प्रत्येक श्लोक की–– अनुक्रमणिका भी अलग दे दी है । यह अनुक्रमणिका वेदान्तसूत्रों की अधिकरण-माला के ढँग की है । प्रत्येक श्लोक को पृथक् पृथक् न पढ़ कर अनुक्रमणिका के इस सिलसिले से गीता के श्लोक एकत्र पढ़ने पर गीता के तात्पर्य के सम्बन्ध में जो भ्रम फैला हुआ है, वह कई अंशों में दूर हो सकता है । क्योंकि, साम्प्रदायिक टीकाकारों ने गीता के श्लोकों की खींचातानी कर अपने सम्प्रदाय की सिद्धि के लिये कुछ श्लोकों के जो निराले अर्थ कर डाले हैं, वे प्रायः इस पूर्वापर सन्दर्भ की ओर दुर्लक्ष्य करके ही किये गये हैं । उदाहरणार्थ, गीता ३. १९; ६. ३. और १८. २ देखिये । इस दृष्टि से देखें तो यह कहने में कोई हानि नहीं, कि गीता का यह अनुवाद और गीतारहस्य, दोनों परस्पर एक दूसरे की पूर्ति करते हैं; और जिसे हमारा वक्तव्य पूर्णतया समझ लेना हो, उसे इन दोनों ही भागों का अवलोकन करना चाहिये । भगवद्गीता ग्रन्थ को कण्ठस्थ कर लेने की रीति प्रचलित है । इसलिये उसमें महत्त्व के पाठभेद कहीं भी नहीं पाये जाते हैं । फिरभी यह बतलाना आवश्यक है, कि वर्तमानकाल में गीता पर उपलब्ध होनेवाले भाष्यों में जो सब से प्राचीन भाष्य है, उसी शांकरभाष्य के मूल पाठ को हमने प्रमाण माना है।

गीता के अध्यायों की श्लोकशः विषयानुक्रमणिका।

[नोट :—इस अनुक्रमणिका में गीता के अध्यायों के श्लोकों के क्रम से जो विभाग किये गये हैं, वे मूल संस्कृत श्लोकों के पहले § § इस चिन्ह से दिखलाये गये हैं; और अनुवाद में ऐसे श्लोकों से अलग पैरिग्राफ़ शुरू किया गया है।]

तीसरा अध्याय—कर्मयोग

१, २ अर्जुन का यह प्रश्न, कि कर्मों को छोड़ देना चाहिये या करते रहना चाहिये; सच क्या है ? ३–८ यद्यपि सांख्य (कर्मसंन्यास) और कर्मयोग जो निष्ठाएँ हैं, तो भी कर्म किसी से नहीं छूटते। इसलिये कर्मयोग की श्रेष्ठता सिद्ध करके अर्जुन को इसी के आचरण करने का निश्चित उपदेश। ९–१६ मीमांसकों के यज्ञार्थ कर्म को भी आसक्ति छोड़ कर करने का उपदेश, यज्ञचक्र का अनादित्व और जगत् के धारणार्थ उसकी आवश्यकता। १७–१९ ज्ञानी पुरुष में स्वार्थ नहीं होता, इसीलिये वह प्राप्त कर्मों को निःस्वार्थ अर्थात् निष्कामबुद्धि से किया करे। क्योंकि कर्म किसी से भी नहीं छूटते। २०–२४ जनक आदि का उदाहरण। लोकसंग्रह का महत्त्व और स्वयं भगवान् का दृष्टान्त। २५–२९ ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मों में भेद। एवं यह आवश्यकता कि ज्ञानी मनुष्य निष्काम कर्म करके अज्ञानी को सदाचरण का आदर्श दिखलावे। ३० ज्ञानी पुरुष के समान परमेश्वरार्पणबुद्धि से युद्ध करने का अर्जुन को उपदेश। ३१, ३२ भगवान् के इस उपदेश के अनुसार श्रद्धापूर्वक बर्ताव करने अथवा न करने का फल। ३३, ३४ प्रकृति की प्रबलता और इन्द्रियनिग्रह। ३५ निष्काम कर्म भी स्वधर्म का ही करें। उसमें यदि मृत्यु हो जाय, तो कोई परवाह नहीं। ३६–४१ काम ही मनुष्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध पाप करने के लिये उकसाता है; इन्द्रियसंयम से उसका नाश। ४२, ४३ इन्द्रियों की श्रेष्ठता का क्रम और आत्मज्ञानपूर्वक उनका नियमन। ...... पृ.६४७–६६७

चौथा अध्याय—ज्ञानकर्मसंन्यासयोग।

१–३ कर्मयोग की सम्प्रदायपरम्परा। ४–८ जन्मरहित परमेश्वर माया से दिव्य जन्म अर्थात् अवतार कब और किस लिये लेता है—इसका वर्णन। ९, १० इस दिव्य जन्म का और कर्म का तत्त्व जान लेने से पुनर्जन्म छूट कर भगवत्प्राप्ति। ११, १२ अन्य रीति से भजे तो वैसा फल। उदाहरणार्थ, इस लोक के फल पाने के लिये देवताओं की उपासना। १३–१५ भगवान् के चातुर्वर्ण्य आदि निर्लेप कर्म उनके तत्त्व को जान लेने से कर्मबन्ध का नाश और वैसे कर्म करने के लिये उपदेश। १६–२३ कर्म, अकर्म और विकर्म का भेद। अकर्म ही निःसङ्ग कर्म है। वही सच्चा कर्म है; और उसी से कर्मबन्ध का नाश होता है। २४–३३ अनेक प्रकार के लाक्षणिक यज्ञों का वर्णन; और ब्रह्मबुद्धि से किये हुए यज्ञ की अर्थात् ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता। ३४–३७ ज्ञाता से ज्ञानोपदेश, ज्ञान से आत्मौपम्यदृष्टि और पापपुण्य का नाश। ३८–४० ज्ञानप्राप्ति के उपाय—बुद्धि (योग) और श्रद्धा। इसके अभाव में नाश। ४१, ४२ (कर्म-) योग और ज्ञान का पृथक् उपयोग बतला कर दोनों के आश्रय से युद्ध करने के लिये उपदेश .... पृ. ६६८–६८७

पाँचवाँ अध्याय—संन्यासयोग।

१,२ यह स्पष्ट प्रश्न, कि संन्यास श्रेष्ठ है या कर्मयोग ? इस पर भगवान् का

यह निश्चित उत्तर कि मोक्षप्रद तो दोनों हैं; पर कर्मयोग ही श्रेष्ठ है । ३–६ सङ्कल्पों को छोड़ देने से कर्मयोगी नित्य संन्यासी ही होता है; और बिना कर्म के संन्यास भी सिद्ध नहीं होता । इसलिये तत्त्वतः दोनों एक ही हैं । ७–१३ मन सदैव संन्यस्त रहता है; और कर्म केवल इंद्रियाँ किया करती हैं । इसलिये कर्मयोगी सदा अलिप्त, शान्त और मुक्त रहता है । १४,१५ सच्चा कर्तृत्व और भोक्तृत्व प्रकृति का है । परन्तु अज्ञान से आत्मा का अथवा परमेश्वर का समझा जाता है । १६,१७ इस अज्ञान के नाश से पुनर्जन्म से छुटकारा । १८–२३ ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होनेवाले समदर्शित्व का, स्थिर बुद्धि का और सुखदुःख की क्षमता का वर्णन । २४–२८ सर्वभूतहितार्थ कर्म करते रहने पर भी कर्मयोगी इसी लोक में सदैव ब्रह्मभू, समाधिस्थ और मुक्त है । २९ (कर्तृत्व अपने ऊपर न लेकर) परमेश्वर को यज्ञतप का भोक्ता और सब भूतों का मित्र जान लेने का फल...पृ. ६८७–६९६

छठवाँ अध्याय—ध्यानयोग ।

१, २ फलाशा छोड़ कर कर्तव्य करनेवाला ही सच्चा संन्यासी और योगी है । संन्यासी का अर्थ निरग्नि और अक्रिय नहीं है । ३,४ कर्मयोगी की साधनावस्था में और सिद्धावस्था में शम एवं कर्म के कार्यकारण का बदल जाना तथा योगारूढ का लक्षण । ५, ६ योग को सिद्ध करने के लिये आत्मा की स्वतन्त्रता । ७–९ जितात्मा योगयुक्तों में भी समबुद्धि की श्रेष्ठता । १०–१७ योगसाधन के लिये आवश्यक आसन और आहारविहार का वर्णन । १८–२३ योगी के और योगसमाधि के आत्यन्तिक सुख का वर्णन । २४–२६ मन को धीरे धीरे समाधिस्थ, शान्त और आत्मनिष्ठ कैसे करना चाहिये ? २७,२८ योगी ही ब्रह्मभूत और अत्यन्त सुखी है । २९–३२ प्राणिमात्र में योगी की आत्मौपम्यबुद्धि । ३३–३६ अभ्यास और वैराग्य से चंचल मन का निग्रह । ३७–४५ अर्जुन के प्रश्न करने पर इस विषय का वर्णन, कि योगभ्रष्ट को अथवा जिज्ञासु को भी जन्मजन्मान्तर में उत्तम फल मिलने से अन्त में पूर्ण सिद्धि कैसे मिलती है ? ४६, ४७ तपस्वी, ज्ञानी और निरे कर्मी की अपेक्षा कर्मयोगी––और उसमें भी भक्तिमान् कर्मयोगी––श्रेष्ठ है । अतएव अर्जुन को (कर्म-) योगी होने के विषय में उपदेश । ... पृ. ६९६–७१५

सातवाँ अध्याय—ज्ञानविज्ञानयोग ।

१–३ कर्मयोग की सिद्धि के लिये ज्ञान-विज्ञान के निरूपण का आरम्भ । सिद्धि के लिये प्रयत्न करनेवालों का कम मिलना । ४–७ क्षराक्षरविचार । भगवान् की अष्टधा, अपरा और जीवरूपी परा प्रकृति । इससे आगे सारा विस्तार । ८–१२ विस्तार के सात्त्विक आदि सब भागों में गुंथे हुए परमेश्वरस्वरूप का दिग्दर्शन । १३–१५ परमेश्वर की यही गुणमयी और दुस्तर माया है; और उसी के शरणागत होने पर माया से उद्धार होता है । १५–१९ भक्त चतुर्विध हैं । इनमें ज्ञानी श्रेष्ठ हैं । अनेक जन्मों से ज्ञान की पूर्णता और भगवत्प्राप्तिरूप नित्य फल । २०–२३

अनित्य काम्यफलों के निमित्त देवताओं की उपासना। परन्तु इसमें भी उनकी श्रद्धा का फल भगवान् ही देते हैं। २४-२८ भगवान् का सत्यस्वरूप अव्यक्त है। परन्तु माया के कारण और द्वन्द्वमोह के कारण वह दुर्ज्ञेय है। मायामोह के नाश से स्वरूप का ज्ञान। २९, ३० ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म और अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ सब एक परमेश्वर ही है—यह जान लेने से अन्त तक ज्ञानसिद्धि हो जाती है। ... . पृ. ७१५-७२६

आठवाँ अध्याय—अक्षरब्रह्मयोग।

१-४ अर्जुन के प्रश्न करने पर ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ और अधिदेह की व्याख्या। उन सब में एक ही ईश्वर है। ५-८ अन्तकाल में भगवत्स्मरण से मुक्ति। परन्तु जो मन में नित्य रहता है, वही अन्तकाल में भी रहता है; अतएव सदैव भगवान् का स्मरण करने और युद्ध करने के लिये उपदेश। ९-१३ अन्तकाल में परमेश्वर का अर्थात् ॐकार का समाधिपूर्वक ध्यान और उसका फल। १४-१६ भगवान् का नित्य चिन्तन करने से पुनर्जन्म-नाश। ब्रह्मलोकादि गतियाँ नित्य नहीं हैं। १७-१९ ब्रह्मा का दिन-रात, दिन के आरम्भ में अव्यक्त से सृष्टि की उत्पत्ति और रात्रि के आरम्भ में उसी में लय। २०-२२ इस अव्यक्त से भी परे का अव्यक्त और अक्षर पुरुष। भक्ति से उसका ज्ञान और उसकी प्राप्ति से पुनर्जन्म का नाश। २३-२६ देवयान और पितृयाणमार्ग। पहला पुनर्जन्म-नाशक है; और दूसरा इसके विपरीत है। २७, २८ इन मार्गों के तत्त्व को जाननेवाले योगी को अत्युत्तम फल मिलता है। अतः तदनुसार सदा व्यवहार करने का उपदेश। ... ... पृ. ७२७-७३७.

नौवाँ अध्याय—राजविद्याराजगुह्ययोग।

१-३ ज्ञानविज्ञानयुक्त भक्तिमार्ग मोक्षप्रद होने पर भी प्रत्यक्ष और सुलभ है। अतएव राजमार्ग है। ४-६ परमेश्वर का अपार योगसामर्थ्य। प्राणिमात्र में रह कर भी उनमें नहीं है; और प्राणिमात्र भी उसमें रह कर नहीं हैं। ७-१० मायात्मक प्रकृति के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति और संहार, भूतों की उत्पत्ति और लय। इतना करने पर भी वह निष्काम है। अतएव अलिप्त है। ११, १२ इसे बिना पहचाने, मोह में फँस कर मनुष्यदेहधारी परमेश्वर की अवज्ञा करनेवाले मूर्ख और आसुरी हैं। १३-१५ ज्ञानयज्ञ के द्वारा अनेक प्रकार से उपासना करनेवाले दैवी हैं। १६-१९ ईश्वर सर्वत्र है। वही जगत् का माँ-बाप है। स्वामी है। पोषक और भले-बुरे का कर्ता है। २०-२२ श्रौत यज्ञयाग आदि का दीर्घ उद्योग यद्यपि स्वर्गप्रद है, तो भी वह फल अनित्य है। योगक्षेम के लिये यदि ये आवश्यक समझे जायँ, तो वह भक्ति से भी साध्य है। २३-२५ अन्यान्य देवताओं की भक्ति पर्याय से परमेश्वर की ही होती है। परन्तु जैसी भावना होगी और जैसा देवता होगा, फल भी वैसा ही मिलेगा। २६ भक्ति हो, तो परमेश्वर फूल की पँखुरी से

भी सन्तुष्ट हो जाता है। २७, २८ सब कर्मों को ईश्वरार्पण करने का उपदेश। उसी के द्वारा कर्मबन्ध से छुटकारा और मोक्ष। २९–३३ परमेश्वर सब को एक-सा है। दुराचारी हो या पापयोनि; स्त्री हो या वैश्य या शूद्र; निःसीम भक्त होने पर सब को एक ही गति मिलती है। ३४ यही मार्ग अङ्गीकार करने के लिये अर्जुन को उपदेश। ... ... पृ. ७३८–७४९

दसवाँ अध्याय––विभूतियोग।

१–३ यह जान लेने से पाप का नाश होता है, कि अजन्मा परमेश्वर देवताओं से और ऋषियों से भी पूर्व का है। ४–६ ईश्वरी विभूति और योग। ईश्वर से ही बुद्धि आदि भावों की, सप्तर्षियों की और मनु की एवं परम्परा से सब की उत्पत्ति। ७–११ इसे जाननेवाले भगवद्भक्तों को ज्ञानप्राप्ति; परन्तु उन्हें भी बुद्धि-सिद्धि भगवान् ही देते हैं। १२–१८ अपनी विभूति और योग बतलाने के लिये भगवान् से अर्जुन की प्रार्थना। १९–४० भगवान् की अनन्त विभूतियों में से मुख्य मुख्य विभूतियों का वर्णन। ४१, ४२ जो कुछ विभूतिमत्, श्रीमत् और ऊर्जित है, वह सब परमेश्वरी तेज है; परन्तु अंश से है। ... ... पृ. ७५०–७६१

ग्यारहवाँ अध्याय––विश्वरूपदर्शन योग।

१–४ पूर्व अध्याय में बतलाये हुए अपने ईश्वरी रूप को दिखलाने के लिये भगवान् से प्रार्थना। ५–८ इस आश्चर्यकारक और दिव्य रूप को देखने के लिये अर्जुन को दिव्यदृष्टिज्ञान। ९–१४ विश्वरूप का सञ्जयकृत वर्णन। १५–३१ विस्मय और भय से नम्र होकर अर्जुनकृत विश्वरूपस्तुति; और यह प्रार्थना कि प्रसन्न होकर बतलाइये कि 'आप कौन हैं'? ३२–३४ पहले यह बतला कर कि 'मैं काल हूँ' फिर अर्जुन को उत्साहजनक ऐसा उपदेश कि पूर्व से ही इस काल के द्वारा ग्रसे हुए वीरों को तुम निमित्त बन कर मारो। ३५–४६ अर्जुनकृत स्तुति, क्षमा, प्रार्थना और पहले का सौम्य रूप दिखलाने के लिये विनय। ४७–५१ बिना अनन्यभक्ति के विश्वरूप का दर्शन मिलना दुर्लभ है। फिर पूर्वस्वरूपधारण। ५२–५४ बिना भक्ति के विश्वरूप का दर्शन देवताओं को भी नहीं हो सकता। ५५ अतः भक्ति से निस्सङ्ग और निर्वैर होकर परमेश्वरार्पणबुद्धि के द्वारा कर्म करने के विषय में अर्जुन को सर्वार्थसारभूत अन्तिम उपदेश। ... ... पृ. ७६२–७७३

बारहवाँ अध्याय––भक्तियोग।

१ पिछले अध्याय के अन्तिम सारभूत उपदेश पर अर्जुन का प्रश्न––व्यक्तोपासना श्रेष्ठ है या अव्यक्तोपासना? २–८ दोनों में गति एक ही है; परन्तु अव्यक्तोपासना क्लेशकारक है; और व्यक्तोपासना सुलभ एवं शीघ्र फलप्रद है। अतः निष्काम कर्मपूर्वक व्यक्तोपासना करने के विषय में उपदेश। ९–१२ भगवान् में चित्त को स्थिर करने का अभ्यास, ज्ञान-ध्यान इत्यादि उपाय और इनमें कर्मफलत्याग की श्रेष्ठता। १३–१९ भक्तिमान् पुरुष की स्थिति का वर्णन और भगवत्-

प्रियता । २० इस धर्म का आचरण करनेवाले श्रद्धालु भक्त भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं ।... ... ...पृ. ७७३-७८०

तेरहवाँ अध्याय-- क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग ।

१, २ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की व्याख्या । इनका ज्ञान ही परमेश्वर का ज्ञान है । ३, ४ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार उपनिषदों का और ब्रह्मसूत्रों का है । ५, ६ क्षेत्रस्वरूपलक्षण। ७-११ ज्ञान का स्वरूपलक्षण। तद्विरुद्ध अज्ञान । १२-१७ ज्ञेय के स्वरूप का लक्षण । १८ इस सब को जान लेने का फल । १९-२१ प्रकृतिपुरुषविवेक । करने-धरनेवाली प्रकृति है। पुरुष अकर्ता किन्तु भोक्ता, द्रष्टा इत्यादि है । २२, २३ पुरुष ही देह में परमात्मा है । इस प्रकृतिपुरुषज्ञान से पुनर्जन्म नष्ट होता है । २४, २५ आत्मज्ञान के मार्ग--ध्यान, सांख्ययोग, कर्मयोग और श्रद्धापूर्वक श्रवण से भक्ति । २६-२८ क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के संयोग से स्थावर-जंगम सृष्टि । इसमें जो अविनाशी है, वही परमेश्वर है। अपने प्रयत्न से उसकी प्राप्ति । २९, ३० करने-धरनेवाली प्रकृति है; और आत्मा अकर्ता है । सब प्राणिमात्र एक में हैं; और एक से सब प्राणिमात्र होते हैं । यह जान लेने से ब्रह्मप्राप्ति । ३१-३३ आत्मा अनादि और निर्गुण है । अतएव यद्यपि वह क्षेत्र का प्रकाशक है, तथापि निर्दोष है । ३४ क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के भेद को जान लेने से परम सिद्धि । ... ... पृ. ७८१-७९२

चौदहवाँ अध्याय—गुणत्रयविभागयोग ।

१, २ ज्ञानविज्ञानान्तर्गत प्राणिवैचित्र्य का गुणभेद से विचार । वह भी मोक्षप्रद है । ३-४ प्राणिमात्र का पिता परमेश्वर है; और उसके अधीनस्थ प्रकृति माता है। ५-९ प्राणिमात्र पर सत्त्व, रज और तम के होनेवाले परिणाम । १०-१३ एक एक गुण अलग नहीं रह सकता । कोई दो को दबा कर तीसरे की वृद्धि; और प्रत्येक की वृद्धि के लक्षण । १४-१८ गुणप्रवृद्धि के अनुसार कर्म के फल और मरने पर प्राप्त होनेवाली गति । १९, २० त्रिगुणातीत हो जाने से मोक्षप्राप्ति । २१-२५ अर्जुन के प्रश्न करने पर त्रिगुणातीत के लक्षण का और आचार का वर्णन । २६, २७ एकान्तभक्ति से त्रिगुणातीत अवस्था की सिद्धि और फिर सब मोक्ष के, धर्म के, एवं सुख के अन्तिम स्थान परमेश्वर की प्राप्ति । ... ...पृ. ७९३-७९९

पन्द्रहवाँ अध्याय--पुरुषोत्तमयोग ।

१, २ अश्वत्थरूपी ब्रह्मवृक्ष के वेदोक्त और सांख्योक्त वर्णन का मेल । ३-६ असङ्ग से इसको काट डालना ही इससे परे के अव्यक्त पद को प्राप्ति का मार्ग है । अव्यय पदवर्णन । ७-११ जीव और लिङ्गशरीर का स्वरूप एवं संबंध । ज्ञानी के लिये गोचर है । १२-१५ परमेश्वर की सर्वव्यापकता । १६-१८ क्षराक्षरलक्षण उससे परे पुरुषोत्तम । १९, २० इस गुह्य पुरुषोत्तमज्ञान से सर्वज्ञता और कृतकृत्यता । ... ...पृ. ८००-८०८

सोलहवाँ अध्याय—दैवासुरसम्पाद्विभागयोग ।

१–३ दैवी सम्पत्ति के छब्बीस गुण । ४ आसुरी सम्पत्ति के लक्षण । ५ दैवी सम्पत्ति मोक्षप्रद और आसुरी बन्धनकारक है । ६–२० आसुरी लोगों का विस्तृत वर्णन । उनको जन्म-जन्म में अधोगति मिलती है । २१,२२ नरक के त्रिविध द्वार—काम, क्रोध और लोभ । इनसे बचने में कल्याण है । २३, २४ शास्त्रानुसार कार्याकार्य का निर्णय और आचरण करने के विषय में उपदेश । ....पृ. ८०६–८१५

सत्रहवाँ अध्याय––श्रद्धात्रयविभागयोग ।

१–४ अर्जुन के पूछने पर प्रकृतिस्वभावानुसार सात्त्विक आदि त्रिविध श्रद्धा का वर्णन । जैसी श्रद्धा वैसा पुरुष । ५, ६ इनसे भिन्न आसुर । ७-१० सात्त्विक, राजस और तामस आहार । ११–१३ त्रिविध यज्ञ । १४–१६ तप के तीन भेद––शारीर, वाचिक और मानस । १७–१९ इनमें सात्त्विक आदि भेदों से प्रत्येक त्रिविध हैं । २०-२२ सात्त्विक आदि त्रिविध दान । २३ ॐ तत्सत् ब्रह्मनिर्देश । २४–२७ इनमें 'ॐ' से आरम्भसूचक, 'तत्' से निष्काम और 'सत्' से प्रशस्त कर्म का समावेश होता है । २८ शेष (अर्थात् असत्) इहलोक और परलोक में निष्फल है । पृ. ८१६–८२४

अठारहवाँ अध्याय––मोक्षसंन्यासयोग ।

१, २ अर्जुन के पूछने पर संन्यास और त्याग की कर्मयोगमार्गान्तर्गत व्याख्याएँ । ३–६ कर्म का त्याज्य-अत्याज्यविषयक निर्णय; यज्ञयाग आदि कर्मों को भी अन्यान्य कर्मों के समान निःसङ्गबुद्धि से करना ही चाहिये । ७–९ कर्मत्याग के तीन भेद––सात्त्विक, राजस और तामस । फलाशा छोड़ कर कर्तव्यकर्म करना ही सात्त्विक त्याग है । १०, ११ कर्मफलत्यागी ही सात्त्विक त्यागी है । क्योंकि कर्म तो किसी से भी छूट ही नहीं सकता । १२ कर्म का त्रिविध फल सात्त्विक त्यागी पुरुष को बन्धक नहीं होता । १३–१५ कोई भी कर्म होने के पाँच कारण हैं । केवल मनुष्य ही कारण नहीं है । १६, १७ अतएव यह अहंकारबुद्धि––कि मैं करता हूँ—छूट जाने से कर्म करने पर भी अलिप्त रहता है । १८,१९ कर्मचोदना और कर्मसंग्रह का सांख्योक्त लक्षण और उनके तीन भेद । २०–२२ सात्त्विक आदि गुण–भेद से ज्ञान के तीन भेद । 'अविभक्तं विभक्तेषु' यह सात्त्विक ज्ञान है । २३–२५ कर्म की त्रिविधता । फलाशारहित कर्म सात्त्विक है । २६–२८ कर्ता के तीन भेद । निःसंग कर्ता सात्त्विक है । २९–३२ बुद्धि के तीन भेद । ३३–३५ धृति के तीन भेद । ३६–३९ सुख के तीन भेद । आत्मबुद्धिप्रसादज सात्त्विक सुख है । ४० गुणभेद से सारे जगत् के तीन भेद । ४१–४४ गुणभेद से चातुर्वर्ण्य की उपपत्ति । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के स्वभावजन्य कर्म । ४५, ४६ चातुर्वर्ण्यविहित स्वकर्माचरण से ही अन्तिम सिद्धि । ४७–४९ परधर्म भयावह है । स्वकर्म सदोष होने पर भी

अत्याज्य है। सारे कर्म स्वधर्म के अनुसार निस्सङ्गबुद्धि के द्वारा करन से ही नैष्कर्म्य-सिद्धि मिलती है। ५०–५६ इस बात का निरूपण कि सारे कर्म करते रहने से भी सिद्धि किस प्रकार मिलती है? ५७, ५८ इसी मार्ग को स्वीकार करने के विषय में अर्जुन को उपदेश। ५९–६३ प्रकृतिधर्म के सामने अहंकार की एक नहीं चलती। ईश्वर की ही शरण में जाना चाहिये। अर्जुन को यह उपदेश कि इस गुह्य को समझ कर फिर जो दिल में आवे सो कर। ६४–६६ भगवान् का यह अन्तिम आश्वासन कि सब धर्म छोड़ कर "मेरी शरण में आ।" सब पापों से "मैं तुझे मुक्त कर दूंगा।" ६७–६९ कर्मयोगमार्ग की परम्परा को आगे प्रचलित रखने का श्रेय। ७०, ७१ उसका फलमहात्म्य। ७२, ७३ कर्तव्यमोह नष्ट हो कर अर्जुन की युद्ध करन के लिये तैयारी। ७४–७८ धृतराष्ट्र को यह कथा सुना चुकने पर सञ्जयकृत उपसंहार। ... ... पृ. ८२४–८५२

श्रीमद्भगवद्गीता।

प्रथमोऽध्यायः।

धृतराष्ट्र उवाच।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

पहला अध्याय।

[भारतीय युद्ध के आरम्भ में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जिस गीता का उपदेश किया है, उसका लोगों में प्रचार कैसे हुआ ? उसकी परम्परा वर्तमान महाभारत ग्रन्थ में ही इस प्रकार दी गई है :-युद्ध आरम्भ होने से प्रथम व्यासजी ने धृतराष्ट्र से जाकर कहा, कि "यदि तुम्हारी इच्छा युद्ध देखने की हो, तो मैं अपनी दृष्टि तुम्हें देता हूँ।" इसपर धृतराष्ट्र ने कहा, कि "मैं अपने कुलका क्षय अपनी दृष्टि से नहीं देखना चाहता।" तब एक ही स्थान पर बैठे बैठे, सब बातों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने के लिये सञ्जय नामक सूत को व्यासजी ने दिव्यदृष्टि दे दी। इस सञ्जय के द्वारा युद्ध के अविकल वृत्तान्त धृतराष्ट्र को अवगत करा देने का प्रबन्ध करके व्यासजी चले गये (म. भा. भीष्म. २)। जब आगे युद्ध में भीष्म आहत हुए; और उक्त प्रबन्ध के अनुसार समाचार सुनाने के लिये पहले सञ्जय धृतराष्ट्र के पास गया, तब भीष्म के बारे में शोक करते हुए धृतराष्ट्र ने सञ्जय को आज्ञा दी, कि युद्ध की सारी बातों का वर्णन करो। तदनुसार सञ्जय ने पहले दोनों दलों की सेनाओं का वर्णन किया; और फिर धृतराष्ट्र के पूछने पर गीता बतलाना आरम्भ किया है। आगे चल कर यह सब वार्ता व्यासजी ने अपने शिष्यों को, उन शिष्यों में से वैशम्पायन ने जनमेजय को और अन्त में सौती ने शौनक को सुनाई। महाभारत की सभी छपी हुई पोथियों में भीष्मपर्व के २५ वें अध्याय से ४२ वें अध्याय तक यही गीता कही गई है। इस परम्परा के अनुसार :—]

धृतराष्ट्र ने पूछा-(१) हे सञ्जय ! कुरुक्षेत्र की पुण्यभूमि में एकत्रित मेरे और पाण्डु के युद्धेच्छुक पुत्रों ने क्या किया ?

[हस्तिनापुर के चहुँ ओर का मैदान कुरुक्षेत्र है। वर्तमान दिल्ली शहर इसी मैदान पर बसा हुआ है। कौरव पाण्डवों का पूर्वज कुरु नाम का राजा इस मैदान को हल से बड़े कष्टपूर्वक जोता करता था। अतएव इसको क्षेत्र (या खेत) कहते हैं। जब इन्द्र ने कुरु को यह वरदान दिया, कि इस

संजय उवाच।

§ § दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः॥ ५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

क्षेत्र में जो लोग तप करते करते या युद्ध में मर जावेंगे, उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी। तब उसने इस क्षेत्र में हल चलाना छोड़ दिया (म. भा. शल्य. ५३)। इन्द्र के इस वरदान के कारण ही यह क्षेत्र धर्मक्षेत्र या पुण्यक्षेत्र कहलाने लगा। इस मैदान के विषय में यह कथा प्रचलित है, कि यहाँ पर परशुराम ने एक्कीस बार सारी पृथ्वी को निःक्षत्रिय करके पितृतर्पण किया था; और अर्वाचीन काल में भी इसी क्षेत्र पर बड़ी बड़ी लडाइयाँ हो चुकी हैं।]

सञ्जय ने कहा—(२) उस समय पाण्डवों की सेना को व्यूह रच कर (खड़ी) देख, राजा दुर्योधन (द्रोण) आचार्य के पास गया; और उनसे कहने लगा, कि —

[महाभारत (म. भा. भी. १९. ४–७; मनु. ७. १९१) के उन अध्यायों में—कि जो गीता से पहले लिखे गये हैं—यह वर्णन है, कि जब कौरवों की सेना का भीष्म-द्वारा रचा हुआ व्यूह पाण्डवों ने देखा; और जब उनको अपनी सेना कम देख पड़ी, तब उन्हों नें युद्धविद्या के अनुसार वज्र नामक व्यूह रचकर अपनी सेना खड़ी की। युद्ध में प्रतिदिन ये व्यूह बदला करते थे।]

(३) हे आचार्य ! पाण्डुपुत्रों की इस बड़ी सेना को देखिये, कि जिसकी व्यूह-रचना तुम्हारे बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र (धृष्टद्युम्न) ने की है। (४) इसमें शूर-महाधनुर्धर और युद्ध में भीम तथा अर्जुनसरीखे युयुधान (सात्यकि), विराट और महारथी द्रुपद (५) धृष्टकेतु, चेकितान और वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित् कुन्तिभोज और नरश्रेष्ठ शैब्य, (६) इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्यु और वीर्यशाली उत्तमौजा, एवं सुभद्रा के पुत्र (अभिमन्यु) तथा द्रौपदी के (पाँच) पुत्र—ये सभी महारथी हैं।

[दस हजार धनुर्धारी योद्धाओं के साथ अकेले युद्ध करनेवाले को महारथी कहते हैं। दोनों ओर की सेनाओं में जो रथी, महारथी अथवा अति-

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

रथी थे, उनका वर्णन उद्योगपर्व (१६४ से १७१तक) आठ अध्यायों में किया गया है। वहाँ बतला दिया है, कि धृष्टकेतु शिशुपाल का बेटा था। इसी प्रकार पुरुजित् कुन्तिभोज, ये दो भिन्न भिन्न पुरुषों के नाम नहीं हैं। जिस कुन्तिभोज राजा को कुन्ती गोद दी गई थी, पुरुजित् उसका औरस पुत्र था; और अर्जुन का मामा था (म. भा.उ. १७१.२)। युधामन्यु और उत्तमौजा, दोनों पांचाल्य थे; और चेकितान एक यादव था। युधामन्यु और उत्तमौजा, दोनों अर्जुन के चक्ररक्षक थ। शैब्य शिबी देश का राजा था।]

(७) हे द्विजश्रेष्ठ ! अब हमारी ओर सेना के जो मुख्य मुख्य नायक हैं, उनके नाम भी मैं आपको सुनाता हूँ; ध्यान दे कर सुनिये। (८) आप और भीष्म, कर्ण और रणजीत कृप, अश्वत्थामा और विकर्ण (दुर्योधन के सौ भाइयों में से एक) तथा सोमदत्त का पुत्र (भूरिश्रवा), (९) एवं इनके सिवा बहुतेरे अन्यान्य शूर मेरे लिये प्राण देने को तैयार हैं; और सभी नाना प्रकार के शस्त्र चलाने में निपुण तथा युद्ध में प्रवीण हैं। (१०) इस प्रकार हमारी यह सेना--जिसकी रक्षा स्वयं भीष्म कर रहे हैं--अपर्याप्त अर्थात् अपरिमित या असर्यादित है। किन्तु उन (पाण्डवों) की वह सेना --जिसकी रक्षा भीम कर रहा है--पर्याप्त अर्थात् परिमित या मर्यादित है।

[इस श्लोक में 'पर्याप्त' और 'अपर्याप्त' शब्दों के अर्थ के विषय में मत-भेद है। 'पर्याप्त' का सामान्य अर्थ 'बस' या 'काफ़ी' होता है। इसलिये कुछ लोग यह अर्थ बतलाते हैं, कि "पाण्डवों की सेना काफ़ी है; और हमारी काफ़ी नहीं है।" परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। पहले उद्योगपर्व में धृतराष्ट्र से अपनी सेना का वर्णन करते समय उक्त मुख्य सेनापतियों के नाम बतला कर दुर्योधन ने कहा है, कि "मेरी सेना बड़ी और गुणवान् है। इसलिये जीत मेरी ही होगी" (उ. ५४.६०-७०)। इसी प्रकार आगे चल कर भीष्मपर्व में (जिस समय द्रोणाचार्य के पास दुर्योधन फिरसे सेना का वर्णन कर रहा था, उस समय भी) गीता के उपर्युक्त श्लोकों के समान ही श्लोक उसने अपने मुँह से ज्यों--के-त्यों कहे हैं (भीष्म.५१.४-६)। और तीसरी बात यह है, कि सब सैनिकों को

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

प्रोत्साहित करने के लिये ही हर्षपूर्वक यह वर्णन किया गया है । इन सब बातों का विचार करने से इस स्थान पर 'अपर्याप्त' शब्द का "अमर्यादित, अपार या अगणित" के सिवा और कोई अर्थ ही हो नहीं सकता । 'पर्याप्त' शब्द का धात्वर्थ "चहुँ ओर (परि-) वेष्टन करने योग्य (आप् = प्रापणे)" है । परन्तु "अमुक काम के लिये पर्याप्त" या "अमुक मनुष्य के लिये पर्याप्त" इस प्रकार पर्याप्त शब्द के पीछे चतुर्थी अर्थ के दूसरे शब्द जोड़ कर प्रयोग करने से पर्याप्त शब्द का यह अर्थ हो जाता है—"उस काम के लिये या मनुष्य के लिये भरपूर अथवा समर्थ ।" और, यदि 'पर्याप्त' के पीछे कोई दूसरा शब्द न रखा जावे, तो केवल 'पर्याप्त' शब्द का अर्थ होता है "भरपूर, परिमित या जिसकी गिनती की जा सकती है" । प्रस्तुत श्लोक में पर्याप्त शब्द के पीछे दूसरा कोई शब्द नहीं है । इसलिये यहाँ पर उसका उपर्युक्त दूसरा अर्थ (परिमित या मर्यादित) विवक्षित है; और महाभारत के अतिरिक्त अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग किये जाने के उदाहरण ब्रह्मानन्दगिरिकृत टीका में दिये गये हैं । कुछ लोगों ने यह उपपत्ति बतलाई है, कि दुर्योधन भय से अपनी सेना को 'अपर्याप्त' अर्थात् 'बस नहीं' कहता है । परन्तु यह ठीक नहीं है । क्योंकि, दुर्योधन के डर जाने का वर्णन कहीं भी नहीं मिलता । किन्तु इसके विपरीत यह वर्णन पाया जाता है, कि दुर्योधन की बड़ी भारी सेना को देख कर पाण्डवों ने वज्र नामक व्यूह रचा; और कौरवों की अपार सेना को देख युधिष्ठिर को बहुत खेद हुआ था (म. भा. भीष्म. १९. ५ और २१. १) । पाण्डवों की सेना का सेनापति धृष्टद्युम्न था । परन्तु "भीम रक्षा कर रहा है" कहने का कारण यह है, कि पहले दिन पाण्डवों ने जो वज्र नाम का व्यूह रचा था, उसकी रक्षा के लिये इस व्यूह के अग्रभाग में भीम ही नियुक्त किया गया था । अतएव सेनारक्षक की दृष्टि से दुर्योधन को वही सामने दिखाई दे रहा था । (म. भा. भीष्म० १९. ४-११, ३३, ३४) । और इसी अर्थ में इन दोनों सेनाओं के विषय में महाभारत से गीता के पहले के अध्यायों में "भीमनेत्र" और "भीष्मनेत्र" कहा गया है (देखो म. भा. भी. २०. १) ।]

(११) (तो अब) नियुक्त के अनुसार सब अयनों में—अर्थात् सेना के भिन्न भिन्न प्रवेशद्वारों में—रह कर तुम सब को मिल करके भीष्म की ही सभी ओर से रक्षा करनी चाहिये ।

[सेनापति भीष्म स्वयं पराक्रमी और किसी से भी हार जानेवाले न थे । 'सभी ओर से सब को उनकी रक्षा करनी चाहिये,' इस कथन का कारण दुर्योधन ने दूसरे स्थल पर (म. भा. भी. १५. १५; २०-९९. ४०, ४१) यह

§§ तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥
ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनंतविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।

बतलाया है, कि भीष्म का निश्चय था, कि हम शिखण्डी पर शस्त्र न चलावेंगे। इसलिये शिखण्डी की ओर से भीष्म का घात होने की सम्भावना थी। अतएव सब को सावधानी रखनी चाहिये :—

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाबलम् ।
मा सिंहं जम्बुकेनेव घातयेथाः शिखण्डिना ॥

"महाबलवान् सिंह की रक्षा न करें, तो भेड़िया उसे मार डालेगा; इसलिये जम्बुक सदृश शिखण्डी से सिंह का घात न होने दो"। शिखण्डी को छोड़ और दूसरे किसी की भी ख़बर लेने के लिये भीष्म अकेले ही समर्थ थे। किसी की सहायता की उन्हें अपेक्षा न थी।]

(१२) (इतने में) दुर्योधन को हर्षाते हुए प्रतापशाली वृद्ध कौरव पितामह (सेनापति भीष्म) ने सिंह की ऐसी बड़ी गर्जना कर (लड़ाई की सलामी के लिये) अपना शंख फूँका। (१३) इसके साथ ही अनेक शंख, भेरी (नौबतें), पणव, आनक और गोमुख (ये लड़ाई के बाजे) एकदम बजने लगे; और इन बाजों का नाद चारों ओर ख़ूब गूँज उठा। (१४) अनन्तर सफ़ेद घोड़ों से जुते हुए बड़े रथ में बैठे हुए माधव (श्रीकृष्ण) और पाण्डव (अर्जुन) ने (यह सूचना करने के लिये—कि अपने पक्ष की भी तैयारी है—प्रत्युत्तर के ढ़ंग पर) दिव्य शंख बजाये। (१५) हृषीकेश अर्थात् श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य (नामक शंख), अर्जुन ने देवदत्त, भयङ्कर कर्म करनेवाले वृकोदर अर्थात् भीमसेन ने पौण्ड्र नामक बड़ा शंख फूँका। (१६) कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय, नकुल और सहदेव ने सुघोष, एवं मणिपुष्पक, (१७) महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट तथा अजेय

सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥
§§ अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

सात्यकि, (१८) द्रुपद और द्रौपदी के (पाँचों) बेटे, तथा महाबाहु सौभद्र (अभिमन्यु) इन सब ने, हे राजा (धृतराष्ट्र)! चारों ओर अपने अपने अलग अलग शंख बजाये। (१९) आकाश और पृथिवी को दहला देनेवाली उस तुमुल आवाज़ ने कौरवों का कलेजा फाड़ डाला।

(२०) अनन्तर कौरवों को व्यवस्था से खड़े देख, परस्पर एक दूसरे पर शस्त्रप्रहार होने का समय आने पर कपिध्वज पाण्डव अर्थात् अर्जुन, (२१) हे राजा धृतराष्ट्र! श्रीकृष्ण से ये शब्द बोला :—अर्जुन ने कहा :—हे अच्युत! मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच ले चल कर खड़ा करो, (२२) इतने में युद्ध की इच्छा से तैयार हुए इन लोगों को मैं अवलोकन करता हूँ; और मुझे इस रणसंग्राम में किनके साथ लड़ना है? एवं (२३) युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन का कल्याण करने की इच्छा से यहाँ जो लड़नेवाले जमा हुए हैं, उन्हें मैं देख लूँ। संजय बोला :—(२४) हे धृतराष्ट्र! गुडाकेश अर्थात् आलस्य को जीतनेवाले अर्जुन के इस प्रकार कहने पर हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी श्रीकृष्ण ने (अर्जुन के) उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के मध्यभाग में ला कर खड़ा कर दिया; और :—

[हृषीकेश और गुडाकेश शब्दों के जो अर्थ ऊपर दिये गये हैं, वे टीकाकारों के मतानुसार हैं। नारदपञ्चरात्र में भी 'हृषीकेश' की यह निरुक्ति है, कि हृषीक = इन्द्रियाँ और उनका ईश = स्वामी (ना.पञ्च.५.८.१७)। और अमरकोश

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बधूनवस्थितान् ॥ २७ ॥

पर क्षीरस्वामी की जो टीका है, उसमें लिखा है, कि हृषीक (अर्थात् इन्द्रियाँ) शब्द हृष् = आनन्द देना, इस धातु से बना है। इन्द्रियाँ मनुष्य को आनन्द देती हैं। इसलिये उन्हें हृषीक कहते हैं। तथापि, यह शङ्का होती है, कि हृषीकेश और गुडाकेश का जो अर्थ ऊपर दिया गया है, वह ठीक है या नहीं ? क्योंकि, हृषीक (अर्थात् इन्द्रियाँ) और गुडाका (अर्थात् निद्रा या आलस्य) ये शब्द प्रचलित नहीं हैं। हृषीकेश और गुडाकेश इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति दूसरी रीति से भी लग सकती है। हृषीक + ईश और गुडाका + ईश के बदले हृषी + केश और गुडा + केश ऐसा भी पदच्छेद किया जा सकता है; और फिर यह अर्थ हो सकता है, कि हृषी अर्थात् हर्ष से खड़े किये हुए या प्रशस्त जिसके केश (बाल) हैं, वह श्रीकृष्ण; और गुडा अर्थात् गूढ या घने जिसके केश हैं, वह अर्जुन। भारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने गुडाकेश शब्द का यह अर्थ, गी. १०. २० पर अपनी टीका में विकल्प से सूचित किया है। और सूत के बाप का जो रोमहर्षण नाम है, उससे हृषीकेश शब्द की उल्लिखित दूसरी व्युत्पत्ति को भी असम्भवनीय नहीं कह सकते। महाभारत के शान्तिपर्वान्तर्गत नारायणीयोपाख्यान में विष्णु के मुख्य मुख्य नामों की निरुक्ति देते हुए यह अर्थ किया है, कि हृषी अर्थात् आनन्ददायक; और केश अर्थात् किरण। और कहा है, कि सूर्यचन्द्ररूप अपनी विभूतियों की किरणों से समस्त जगत् को हर्षित करता है; इसलिये उसे हृषीकेश कहते हैं (शान्ति. ३४१.४७ और ३४२.६४,६५ देखो; उद्यो. ६९.९)। और पहले श्लोकों में कहा गया है, कि इसी प्रकार केशव शब्द भी केश अर्थात् किरण शब्द से बना है (शां. ३४१. ४७)। इनमें कोई भी अर्थ क्यों न लें ? पर श्रीकृष्ण और अर्जुन के ये नाम रखे जाने के सभी अंशों में योग्य कारण बतलाये जा नहीं सकते। लेकिन यह दोष नैरुक्तिकों का नहीं है। जो व्यक्तिवाचक या विशेष नाम अत्यन्त रूढ हो गये हैं, उनकी निरुक्ति बतलाने में इस प्रकार की अड़चनों का आना या मतभेद हो जाना बिलकुल सहज बात है।]

(२५) भीष्म, द्रोण तथा सब राजाओं के सामने (वे) बोले, कि "अर्जुन ! यहाँ एकत्रित हुए इन कौरवों को देखो"। (२६) तब अर्जुन को दिखाई दिया, कि वहाँ पर इकठ्ठे हुए सब (अपने ही) बड़े-बूढ़े, आजा, आचार्य, मामा, भाई, बेटे, नाती, मित्र, (२७) ससुर और स्नेही दोनों ही सेनाओं में हैं। (और इस प्रकार) यह देख

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच ।

§§ दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।

कर--कि वे सभी एकत्रित हमारे बान्धव हैं--कुन्तीपुत्र अर्जुन (२८) परम करुणा से व्याप्त होता हुआ खिन्न हो कर यह कहने लगा :—

अर्जुन ने कहा :--हे कृष्ण ! युद्ध करने की इच्छा से (यहाँ) जमा हुए इन स्वजनों को देख कर (२९) मेरे गात्र शिथिल हो रहे हैं, मुँह सूख रहा है, शरीर में कँपकँपी उठ कर रोएँ भी खडे हो गये हैं; (३०) गाण्डीव (धनुष्य) हाथ से गिर पड़ता है; और शरीर में भी सर्वत्र दाह हो रहा है। खड़ा नहीं रहा जाता और मेरा मन चक्कर-सा खा गया है। (३१) इसी प्रकार हे केशव ! (मुझे सब) लक्षण विपरीत दिखते हैं; और स्वजनों को युद्ध में मार कर श्रेय अर्थात् कल्याण (होगा ऐसा) नहीं देख पड़ता (३२) हे कृष्ण ! मुझे विषय की इच्छा नहीं, न राज्य चाहिये और न सुख ही। हे गोविन्द !. राज्य, उपभोग या जीवित रहने से ही हमें उसका क्या उपयोग है ? (३३) जिनके लिये राज्य की, उपभोगों की और सुखों की इच्छा करनी थी, वे ही ये लोग जीव और सम्पत्ति की आशा छोड़ कर युद्ध के लिये खड़े हैं। (३४) आचार्य, बड़े-बूढे, लड़के, दादा, मामा, ससुर, नाती, साले और सम्बन्धी, (३५) यद्यपि ये (हमें) मारने के लिये खड़े हैं, तथापि हे मधुसूदन ! त्रैलोक्य के राज्य तक के लिये, मैं (इन्हें) मारने की इच्छा नहीं करता। फिर

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।। ३६ ।।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।। ३७ ।।
§§ यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।। ३८ ।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।। ३९ ।।

पृथ्वी की बात है क्या चीज़ ? (३६) हे जनार्दन ! इन कौरवों को मार कर हमारा कौन-सा प्रिय होगा ? यद्यपि ये आततायी हैं, तो भी इनको मारने से हमें पाप ही लगेगा । (३७) इसलिये हमें अपने ही बान्धव कौरवों को मारना उचित नहीं है । क्योंकि, हे माधव ! स्वजनों को मारकर हम सुखी क्योंकर होंगे ?

[अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः ।। (वसिष्ठस्मृ. ३.१६) अर्थात् घर जलाने के लिये आया हुआ, विष देनेवाला, हाथ में हाथियार ले कर मारने के लिये आया हुआ, धन लूट कर ले जानेवाला और स्त्री या खेत का हरणकर्ता—ये छः आततायी हैं । मनु ने भी कहा है, कि इन दुष्टों को बेधड़क जान से मार डालें, इसमें कोई पातक नहीं है (मनु. ८. ३५०, ३५१) ।

(३८) लोभ से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, उन्हें कुल के क्षय से होनेवाला दोष और मित्रद्रोह का पातक यद्यपि दिखाई नहीं देता, (३९) तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षय का दोष हमें स्पष्ट देख पड़ रहा है । अतः इस पाप से पराङमुख होने की बात हमारे मन में आवे बिना कैसे रहेगी ?

[प्रथम से ही यह प्रत्यक्ष हो जाने पर—कि युद्ध में गुरुवध, सुहृद्वध और कुलक्षय होगा—लड़ाईसम्बन्धी अपने कर्तव्य के विषय में अर्जुन को जो व्यामोह हुआ, उसका क्या बीज है ? गीता में जो आगे प्रतिपादन है, उससे इसका क्या सम्बन्ध है ? और उस दृष्टि से प्रथमाध्याय का कौन-सा महत्त्व है ? इन सब प्रश्नों का विचार गीतारहस्य के पहले और फिर चौदहवें प्रकरण में हमने किया है, उसे देखो । इस स्थान पर ऐसी साधारणयुक्तियों का उल्लेख किया गया है । जैसे, लोभ से बुद्धि नष्ट हो जाने के कारण दुष्टों को अपनी दुष्टता जान न पडती हो, तो चतुर पुरुषों को दुष्टों के फन्दे में पड़ कर दुष्ट न होना चाहिये—न पापे प्रतिपापः स्यात्—उन्हें चुप रहना चाहिये । इन साधारणयुक्तियों का ऐसे प्रसङ्ग पर कहाँ तक उपयोग किया जा सकता है, अथवा करना चाहिये ?—यह भी ऊपर के समान ही एक महत्त्व का प्रश्न है । और इसका गीता के अनुसार जो उत्तर है, उसका हमने गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृष्ठ ३९०–३९६) में निरूपण किया है । गीता के अगले अध्यायों में जो विवेचन है, वह अर्जुन की

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥
§§ अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

उन शङ्काओं की निवृत्ति करने के लिये है, कि जो उसे पहले अध्याय में हुई थीं। इस बात पर ध्यान दिये रहने से गीता का तात्पर्य समझने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। भारतीय युद्ध में एक ही राष्ट्र और धर्म के लोगों में फूट हो गई थी; और वे परस्पर मरने-मारने पर उतारू हो गये थे। इसी कारण से उक्त शङ्काएँ उत्पन्न हुई हैं। अर्वाचीन इतिहास में जहाँ जहाँ ऐसे प्रसङ्ग आये हैं, वहाँ वहाँ ऐसे ही प्रश्न उपस्थित हुए हैं। अस्तु; आगे कुलक्षय से जो जो अनर्थ होते हैं, उन्हें अर्जुन स्पष्ट कर कहता है।]

(४०) कुल का क्षय होने से सनातन कुलधर्म नष्ट होते हैं, (कुल-) धर्मों के छूटने से समूचे कुल पर अधर्म की धाक जमती है। (४१) हे कृष्ण ! अधर्म के फैलने से कुलस्त्रियाँ बिगड़ती हैं। हे वार्ष्णेय ! स्त्रियों के बिगड़ जाने पर वर्ण-सङ्कर होता है। (४२) और वर्णसङ्कर होने से वह कुलघातक को और (समग्र) कुल को निश्चय ही नरक में ले जाता है; एवं पिण्डदान और तर्पणादि क्रियाओं के लुप्त हो जाने से उनके पितर भी पतन पाते हैं। (४३) कुलघातकों के इन वर्णसङ्कर कारक दोषों से पुरातन जातिधर्म और कुलधर्म उत्सन्न होते हैं। (४४) और हे जनार्दन ! हम ऐसा सुनते आ रहे हैं, कि जिन मनुष्यों के कुलधर्म विच्छिन्न हो जाते हैं, उनको निश्चय ही नरकवास होता है।

(४५) देखो तो सही ! हम राज्य-सुख-लोभ से स्वजनों को मारने के लिये उद्यत हुए हैं, (सचमुच) यह हमने एक बड़ा पाप करने की योजना की है ! (४६) इसकी अपेक्षा मेरा अधिक कल्याण तो इसमें होगा, कि मैं निःशस्त्र हो कर प्रतिकार करना छोड़ दूँ; (और ये) शस्त्रधारी कौरव मुझे रण में मार डालें। सञ्जय ने कहा:--

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

—०—

(४७) इस प्रकार रणभूमि में भाषण कर, शोक से व्यथितचित्त अर्जुन (हाथ का) धनुष्य-बाण त्याग कर रथ में अपने स्थान पर योंही बैठ गया !

[रथ में खड़े हो कर युद्ध करने की प्रणाली थी। अतः 'रथ में अपने स्थान पर बैठ गया' इन शब्दों से यही अर्थ अधिक व्यक्त होता है, कि खिन्न हो जाने के कारण युद्ध करने की उसे इच्छा न थी। महाभारत में कुछ स्थलों पर इन रथों का जो वर्णन है, उससे देख पड़ता है, कि भारतकालीन रथ प्रायः दो पहियों के होते थे; बड़े-बड़े रथों में चार चार घोड़े जोते जाते थे; और रथी एवं सारथी--दोनों अगले भाग में परस्पर एक दूसरे की आजूबाजू में बैठते थे। रथ की पहचान के लिये प्रत्येक रथ पर एक प्रकार की विशेष ध्वजा लगी रहती थी। यह बात प्रसिद्ध है, कि अर्जुन की ध्वजा पर प्रत्यक्ष हनुमान ही बैठे थे।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए--अर्थात् कहे हुए-- उपनिषद् में ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग--अर्थात् कर्मयोग--शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में अर्जुनविषादयोग नामक पहला अध्याय समाप्त हुआ।

[गीतारहस्य के पहले (पृष्ठ ३), तीसरे (पृष्ठ ५९), और ग्यारहवें (पृष्ठ ३५१) प्रकरण में इस सङ्कल्प का ऐसा अर्थ किया गया है, कि गीता में केवल ब्रह्मविद्या ही नहीं है, किन्तु उसमें ब्रह्मविद्या के आधार पर कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है । यद्यपि यह सङ्कल्प महाभारत में नहीं है, परन्तु यह गीता पर संन्यासमार्गी टीका होने के पहले का होगा। क्योंकि, संन्यासमार्ग का कोई भी पण्डित ऐसा सङ्कल्प न लिखेगा। और इससे यह प्रगट होता है, कि गीता में संन्यासमार्ग का प्रतिपादन नहीं है। किन्तु कर्मयोग का शास्त्र समझ कर संवादरूप से विवेचन है। संवादात्मक और शास्त्रीय पद्धति का भेद रहस्य के चौदहवें प्रकरण के आरम्भ में बतलाया गया है।]

———

द्वितीयोऽध्यायः ।

--: ० :--

संजय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

§§ कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

दूसरा अध्याय ।

सञ्जय ने कहा :--(१) इस प्रकार करुणा से व्याप्त, आँखों में आँसू भरे हुए और विषाद पानेवाले अर्जुन से मधुसूदन (श्रीकृष्ण) यह बोले--श्रीभगवान् ने कहा :--(२) हे अर्जुन ! सङ्कट के इस प्रसङ्ग पर तेरे (मन में) यह मोह (कश्मल) कहाँ से आ गया, जिसका कि आर्य अर्थात् सत्पुरुषों ने (कभी) आचरण नहीं किया, जो अधोगति को पहुँचानेवाला है, और जो दुष्कीर्तिकारक है ? (३) हे पार्थ ! ऐसा नामर्द मत हो ! यह तुझे शोभा नहीं देता। अरे शत्रुओं को ताप देनेवाले ! अन्तःकरण की इस क्षुद्र दुर्बलता को छोड़ कर (युद्ध के लिये) खड़ा हो !

[इस स्थान पर हम ने परन्तप शब्द का अर्थ कर तो दिया है; परन्तु बहुतेरे टीकाकारों का यह मत हमारी राय में युक्तिसङ्गत नहीं है, कि अनेक स्थानों पर आनेवाले विशेषणरूपी संबोधन या कृष्ण-अर्जुन के नाम गीता में हेतुगर्भित अथवा अभिप्रायसहित प्रयुक्त हुए हैं। हमारा मत है, कि पद्यरचना के लिये अनुकूल नामों का प्रयोग किया गया है; और उनमें कोई विशेष अर्थ उद्दिष्ट नहीं है। अतएव कई बार हम ने श्लोक में प्रयुक्त नामों का ही हूबहू अनुवाद न कर 'अर्जुन' या 'श्रीकृष्ण' ऐसा साधारण अनुवाद कर दिया है।]

अर्जुन ने कहा:--(४) हे मधुसूदन ! मैं (परम-) पूज्य भीष्म और द्रोण के साथ युद्ध में बाणों से कैसे लड़ूँगा ? (५) महात्मा गुरु लोगों को न मार कर इस लोक में भीख माँग करके पेट पालना भी श्रेयस्कर है; परन्तु अर्थलोलुप

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृध्दं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

संजय उवाच।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।

(हों तो भी) गुरु लोगों को मार कर इसी जगत् में मुझे उनके रक्त से सने हुए भोग भोगने पड़ेंगे।

['गुरु लोगों' इस बहुवचनान्त शब्द से 'बड़े बूढ़ों' का ही अर्थ लेना चाहिये। क्योंकि, विद्या सिखानेवाला गुरु एक द्रोणाचार्य को छोड़ सेना में और कोई दूसरा न था। युद्ध छिड़ने के पहले जब ऐसे गुरु लोगों--अर्थात् भीष्म, द्रोण और शल्य--की पादवन्दना कर उनका आशीर्वाद लेने के लिये युधिष्ठिर रणाङ्गण में अपना कवच उतार कर नम्रता से उनके समीप गये, तब शिष्ट-सम्प्रदाय का उचित पालन करनेवाले युधिष्ठर का अभिनन्दन कर सब ने इसका कारण बतलाया, कि दुर्योधन की ओर से हम क्यों लड़ेंगे?

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

'सच तो यह है, कि मनुष्य अर्थ का गुलाम है। अर्थ किसी का गुलाम नहीं। इसलिये, हे युधिष्ठिर महाराज! कौरवों ने मुझे अर्थ से जकड़ रखा है' (म.भा. भी. अ. ४३, श्लो. ३५, ५०, ७६)। ऊपर जो यह "अर्थलोलुप" शब्द है, वह इसी श्लोक के अर्थ का द्योतक है।]

(६) हम जय प्राप्त करें या हमें (वे लोग) जीत लें--इन दोनों बातों में श्रेयस्कर कौन है, यह भी समझ नहीं पड़ता। जिन्हें मार कर फिर जीवित रहने की इच्छा नहीं, वे ही ये कौरव (युद्ध के लिये) सामने डटे हैं!

['गरीयः' शब्द से प्रगट होता है, कि अर्जुन के मन में 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' के समान कर्म और अकर्म की लघुता-गुरुता ठहराने की कसौटी थी। पर वह इस बात का निर्णय नहीं कर सकता था, कि उस कसौटी के अनुसार किसकी जीत होने में भलाई है? गीतारहस्य प्र. ४, पृ. ८३-८५ देखो।]

(७) दीनता से मेरी स्वाभाविक वृत्ति नष्ट हो गई है। (मुझे अपने) धर्म अर्थात् कर्तव्य का मन में मोह हो गया है। इसलिये मैं तुमसे पूछता हूँ। जो निश्चय से श्रेयस्कर हो, वह मुझे बतलाओ। मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। मुझ शरणागत को समझाइये। (८) क्योंकि पृथ्वी का निष्कण्टक समृद्ध राज्य या देवताओं (स्वर्ग) का भी

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूर्ष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥
श्रीभगवानुवाच ।
§ § अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

स्वामित्व मिल जाय, तथापि मुझे ऐसा कुछ भी (साधन) नहीं नजर आता, कि जो इन्द्रियों को सुखा डालनेवाले मेरे इस शोक को दूर करे। सञ्जय ने कहा :--(९) इस प्रकार शत्रुसन्तापी गुडाकेश अर्थात् अर्जुन ने हृषीकेश (श्रीकृष्ण) से कहा; और "मैं न लडूँगा" कह कर वह चुप हो गया। (१०) (फिर) हे भारत (धृतराष्ट्र)! दोनों सेनाओं के बीच खिन्न होकर बैठे हुए अर्जुन से श्रीकृष्ण कुछ हँसते हुए से बोले।

[एक ओर तो क्षत्रिय का स्वधर्म और दूसरी ओर गुरुहत्या एवं कुलक्षय के पातकों का भय--इस खींचातानी में 'मरें या मारें'--के झमेले में पड़ कर भिक्षा माँगने के लिये तैयार हो जानेवाले अर्जुन को अब भगवान् इस जगत् में उसके सच्चे कर्तव्य का उपदेश करते हैं। अर्जुन की शंका थी, कि लड़ाई जैसे कर्म से आत्मा का कल्याण न होगा। इसी से जिन उदार पुरुषों ने परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर अपने आत्मा का पूर्ण कल्याण कर लिया है, वे इस दुनिया में कैसा बर्ताव करते हैं? यहीं से गीता के उपदेश का आरम्भ हुआ है। भगवान् कहते हैं, कि संसार की चाल-ढाल के परखने से देख पड़ता है, कि आत्मज्ञानी पुरुषों के जीवन बिताने के अनादिकाल से दो मार्ग चले आ रहे हैं (गी. ३.३; और गीता र. प्र. ११ देखो)। आत्मज्ञान सम्पादन करने पर शुकसरीखे पुरुष संसार छोड़ कर आनन्द से भिक्षा माँगते फिरते हैं, तो जनकसरीखे दूसरे आत्मज्ञानी ज्ञान के पश्चात् भी स्वधर्मानुसार लोगों के कल्याणार्थ संसार के सैकड़ों व्यवहारों में अपना समय लगाया करते हैं। पहले मार्ग को सांख्य या सांख्यनिष्ठा कहते हैं; और दूसरे को कर्मयोग या योग कहते हैं (श्लोक. ३९ देखो)। यद्यपि दोनों निष्ठाएँ प्रचलित हैं, तथापि इनमें कर्मयोग ही अधिक श्रेष्ठ है--गीता का यह सिद्धान्त आगे बतलाया जावेगा (गी. ५. २)। इन दोनों निष्ठाओं में से अब अर्जुन के मन की चाह संन्यासनिष्ठा की ओर ही अधिक बढ़ी हुई थी। अतएव उसी मार्ग के तत्त्वज्ञान से पहले अर्जुन की भूल उसे सुझा दी गई है; और आगे ३९ वें श्लोक से कर्मयोग का प्रतिपादन करना भगवान् ने आरम्भ कर दिया है। सांख्य-मार्गवाले पुरुष ज्ञान के पश्चात् कर्म भले ही न करते हों; पर उनका ब्रह्मज्ञान और कर्मयोग का ब्रह्मज्ञान कुछ जुदा-जुदा नहीं। तब सांख्यनिष्ठा के अनुसार देखने पर भी आत्मा यदि अविनाशी और नित्य है, तो फिर यह बकबक व्यर्थ है, कि "मैं अमुक को कैसे मारूँ?"। इस प्रकार निश्चित उपहासपूर्वक अर्जुन से भगवान् का प्रथम कथन है।]

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

श्रीभगवान् ने कहा :—(११) जिनका शोक न करना चाहिये, तू उन्हीं का शोक कर रहा है; और ज्ञान की बातें करता है ! किसी के प्राण (चाहे) जायँ या (चाहे) रहें; ज्ञानी पुरुष उनका शोक नहीं करते ।

[इस श्लोक में यह कहा गया है, कि पण्डित लोग प्राणों के जाने या रहने का शोक नहीं करते । इसमें जाने का शोक करना तो मामूली बात है । उसे न करने का उपदेश करना उचित है । पर टीकाकारों ने प्राण रहने का शोक कैसा और क्यों करना चाहिये ? यह शङ्का करके बहुतकुछ चर्चा की है; और कई एकों ने कहा है, कि मूर्ख एवं अज्ञानी लोगों का प्राण रहना, यह शोक का ही कारण है । किन्तु इतनी बाल की खाल निकालते रहने की अपेक्षा 'शोक करना' शब्द का ही 'भला या बुरा लगना' अथवा 'परवाह करना' ऐसा व्यापक अर्थ करने से कोई भी अड़चन रह नहीं जाती । यहाँ इतना ही वक्तव्य है, कि ज्ञानी पुरुष को दोनों बातें एक ही सी होती हैं ।]

(१२) देखो न; ऐसा तो है ही नहीं, कि मैं (पहले) कभी न था । तू और ये राजा लोग (पहले) न थे । और ऐसा भी नहीं हो सकता, कि हम सब लोक अब आगे न होंगे ।

[इस श्लोक पर रामानुज भाष्य में जो टीका है, उसमें लिखा है :—इस श्लोक से ऐसा सिद्ध होता है, कि 'मैं' अर्थात् परमेश्वर और "तू एवं राजा लोग" अर्थात् अन्यान्य आत्मा, दोनों यदि पहले (अतीतकाल में) थे; और आगे होनेवाले हैं, तो परमेश्वर और आत्मा, दोनों ही पृथक्, स्वतंत्र और नित्य हैं । किन्तु यह अनुमान ठीक नहीं है; साम्प्रदायिक आग्रह का है । क्योंकि, इस स्थान पर प्रतिपाद्य इतना ही है, कि सभी नित्य हैं । उनका पारस्परिक सम्बन्ध यहाँ बतलाया नहीं है; और बतलाने की कोई आवश्यकता भी न थी। जहाँ वैसा प्रसङ्ग आया है, वहाँ गीता में ही ऐसा अद्वैत सिद्धान्त (गीता ८.४; १३.३१) स्पष्ट रीति से बतला दिया है, कि समस्त प्राणियों के शरीरों में देहधारी आत्मा मैं अर्थात् एक ही परमेश्वर हूँ ।]

(१३) जिस प्रकार देह धारण करनेवाले को इस देह में बालपन, जवानी और बुढ़ापा प्राप्त होता है, उसी प्रकार (आगे) दूसरी देह प्राप्त हुआ करती है । (इसलिये) इस विषय में ज्ञानी पुरुष को मोक्ष नहीं होता ।

[अर्जुन के मन में यही तो बड़ा डर या मोह था, कि "अमुक को मैं कैसे

§ § मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

मारूँ ? । इसलिये उसे दूर करने के निमित्त तत्त्व की दृष्टि से भगवान् पहले इसी का विचार बतलाते हैं, कि मरना क्या है और मारना क्या है (श्लोक ११–३०) ? मनुष्य केवल देहरूपी निरी वस्तु ही नहीं है; वरन् देह और आत्मा का समुच्चय है। इनमें–अहङ्काररूप से व्यक्त होनेवाला आत्मा नित्य और अमर है। वह आज है, कल था और कल भी रहेगा ही । अतएव मरना या मारना शब्द उसके लिये उपयुक्त ही नहीं किये जा सकते; और उसका शोक भी न करना चाहिये । अब बाक़ी रह गई देह; सो यह प्रगट ही है, कि वह अनित्य और नाशवान् है। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो सौ वर्ष में सही; उसका तो नाश होने ही का है––अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः (भाग. १०. १.३८); और एक देह छूट भी गई, तो कर्मों के अनुसार आगे दूसरी देह मिले बिना नहीं रहती। अतएव उसका भी शोक करना उचित नहीं। सारांश देह या आत्मा, दोनों दृष्टियों से विचार करें, तो सिद्ध होता है, कि मरे हुए का शोक करना पागलपन है। पागलपन भले ही हो; पर यह अवश्य बतलाना चाहिये, कि वर्तमान देह का नाश होते समय जो क्लेश होते हैं, उनके लिये शोक क्यों न करें ? अतएव अब भगवान् इस कायिक सुखदुःखों का स्वरूप बतला कर दिखलाते हैं, कि उनका भी शोक करना उचित नहीं है।]

(१४) हे कुन्तिपुत्र ! शीतोष्ण या सुखदुःख देनेवाले, मात्राओं अर्थात् बाह्य-सृष्टि के पदार्थों के (इन्द्रियों से) जो संयोग हैं, उनकी उत्पत्ति होती है; और नाश होता है। (अतएव) वे अनित्य अर्थात् विनाशवान् हैं । हे भारत ! (शोक न करके) उनको तू सहन कर। (१५) क्योंकि, हे नरश्रेष्ठ ! सुख और दुःख को समान माननेवाले जिस ज्ञानी पुरुष को उनकी व्यथा नहीं होती, वही अमृतत्व अर्थात् अमृत ब्रह्म की स्थिति को प्राप्त कर लेने में समर्थ होता है ।

[जिस पुरुष को ब्रह्मात्मैक्यज्ञान नहीं हुआ और इसीलिये जिसे नाम-रूपात्मक जगत् मिथ्या नहीं जान पड़ा ह, वह बाह्य पदार्थों और इन्द्रियों के संयोग से होनेवाले शीत-उष्ण आदि या सुखदुःख आदि विकारों को सत्य मान कर आत्मा में उनका अध्यारोप किया करता है; और इस कारण से उसको दुःख की पीड़ा होती है। परन्तु जिसने यह जान लिया है, कि ये सभी विकार प्रकृति के हैं. (आत्मा अकर्ता और अलिप्त है), उसे सुख और दुःख एक ही से हैं। अब अर्जुन से भगवान् यह कहते हैं, कि इस समबुद्धि से तू उनको सहन कर । और यही अर्थ अगले अध्याय में अधिक विस्तार से वर्णित है । शाङ्करभाष्य में

§§ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

'मात्रा' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है :-- 'मीयते एभिरिति मात्राः' अर्थात् जिनसे बाहरी पदार्थ मापे जाते हैं या ज्ञात होते हैं, उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। पर मात्रा का इन्द्रिय अर्थ न करके कुछ लोग ऐसा भी अर्थ करते हैं, कि इन्द्रियों से मापे जानेवाले शब्द-रूप आदि बाह्य पदार्थों को मात्रा कहते हैं; और उनका इन्द्रियों से जो स्पर्श अर्थात् संयोग होता है, उसे मात्रास्पर्श कहते हैं। इसी अर्थ को हमने स्वीकृत किया है। क्योंकि, इस श्लोक के विचार गीता में आगे जहाँ पर आये हैं (गी. ५. २१-२३) वहाँ 'बाह्यस्पर्श' शब्द है। और 'मात्रास्पर्श' शब्द का हमारे किये हुए अर्थ के समान अर्थ करने से इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही सा हो जाता है। तथापि इस प्रकार ये दोनों शब्द मिलते-जुलते हैं, तो भी मात्रास्पर्श शब्द पुराना देख पड़ता है। क्योंकि मनुस्मृति (६-५७) में इसी अर्थ में मात्रासंग शब्द आया है; और बृहदारण्याकोपनिषद् में वर्णन है, कि मरने पर ज्ञानी पुरुष के आत्मा का मात्राओं से असंसर्ग (मात्राऽसंसर्गः) होता है। अर्थात् वह मुक्त हो जाता है; और उसे संज्ञा नहीं रहती (बृ. माध्यं. ४. ५. १४; वेसू. शां. भा. १. ४. २२) । शीतोष्ण और सुखदुःख पद उपलक्षणात्मक हैं। इनमें राग-द्वेष, सत्-असत् और मृत्यु-अमरत्व इत्यादि परस्परविरुद्ध द्वन्द्वों का समावेश होता है। ये सब मायासृष्टि के द्वन्द्व हैं। इसलिये प्रगट है, कि अनित्य मायासृष्टि के इन द्वन्द्वों को शान्तिपूर्वक सह कर इन द्वन्द्वों से बुद्धि को छुडाये बिना ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती (गी. २. ४५; ७. २८ और गी. र. प्र. ९ पृ. २२४ और २४३-२४६ देखो)। अब अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से इसी अर्थ को व्यक्त कर दिखलाते हैं :--]

(१६) जो नहीं (असत्) है, वह हो ही नहीं सकता; और जो है, (सत्) उसका अभाव नहीं होता। तत्त्वज्ञानी पुरुषों ने 'सत् और असत्' दोनों का अन्त देख लिया है--अर्थात् अन्त देख कर उनके स्वरूप का निर्णय किया है।

[इस श्लोक के 'अन्त' शब्द का अर्थ और 'राद्धान्त' 'सिद्धान्त, एवं 'कृतान्त' शब्दों (गी. १८. १३) के 'अन्त' का अर्थ एक ही है। शाश्वतकोश (३८१) में 'अन्त' शब्द के ये अर्थ हैं--"स्वरूपप्रान्तयोरन्तमन्तिकेऽपि प्रयुज्यते"। इस श्लोक में सत् का अर्थ ब्रह्म और असत् का अर्थ नामरूपात्मक दृश्य जगत् है (गी. र. प्र. ९ पृ. २२३-२२४; और २४३-२४५ देखो)। स्मरण रहे, कि "जो है, उसका अभाव नहीं होता" इत्यादि तत्त्व देखने में यद्यपि सत्कार्यवाद के समान देख पड़े, तो भी उनका अर्थ कुछ निराला है। जहाँ एक वस्तु से दूसरी वस्तु निर्मित होती है--उदा० बीज से वृक्ष--वहाँ सत्कार्यवाद

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

का तत्त्व उपयुक्त होता है । प्रस्तुत श्लोक में इस प्रकार का प्रश्न नहीं है । वक्तव्य इतना ही है, कि सत् अर्थात् जो है, उसका अस्तित्व (भाव) और असत् अर्थात् जो नहीं है उसका अभाव, ये दोनों नित्य यानी सदैव क़ायम रहनेवाले हैं । इस प्रकार क्रम से दोनों के भाव-अभाव को नित्य मान लें, तो आगे फिर आप-ही-आप कहना पड़ता है, कि जो 'सत्' है, उसका नाश हो कर उसका 'असत्' नहीं हो जाता । परन्तु यह अनुमान, और सत्कार्यवाद में पहले ही ग्रहण की हुई एक वस्तु से दूसरी वस्तु की कार्यकारणरूप उत्पत्ति, ये दोनों एक-सी नहीं हैं (गी. र. प्र. ७ पृ. १५६)। माध्वभाष्य में इस श्लोक के 'नासतो विद्यते भावः' इस पहले चरण के 'विद्यते' भावः, का 'विद्यते + अभावः' ऐसा पदच्छेद है । और उसका यह अर्थ किया है, कि असत् यानी अव्यक्त-प्रकृति का अभाव, अर्थात् नाश नहीं होता । और, जब कि दूसरे चरण में यह कहा है, कि सत् का भी नाश नहीं होता, तब अपने द्वैती संम्प्रदाय के अनुसार मध्वाचार्य ने इस श्लोक का ऐसा अर्थ किया है, कि सत् और असत् दोनों नित्य हैं ! परन्तु यह अर्थ सरल नहीं है । इसमें खींचातानी है । क्योंकि, स्वाभाविक रीति से देख पड़ता है, कि परस्परविरोधी असत् और सत् शब्दों के समान ही अभाव और भाव ये दो विरोधी शब्द भी इस स्थल पर प्रयुक्त हैं । एवं दूसरे चरण में अर्थात् 'नाभावो विद्यते सतः' यहाँ पर नाभावो में यदि अभाव शब्द ही लेना पड़ता है, तो प्रगट है, कि पहले में भाव शब्द ही रहना चाहिये । इसके अतिरिक्त यह कहने के लिये––कि असत् और सत् ये दोनों नित्य हैं––'अभाव' और 'विद्यते' इन पदों के दो बार प्रयोग करने की कोई आवश्यकता न थी । किन्तु मध्वाचार्य के कथनानुसार यदि इस द्विरुक्ति को आदरार्थ मान भी लें, तो आगे अठारहवें श्लोक में स्पष्ट कहा है, कि व्यक्त या दृश्यसृष्टि में आनेवाले मनुष्य का शरीर नाशवान् अर्थात् अनित्य है। अतएव आत्मा के साथ ही साथ भगवद्गीता के अनुसार, देह को भी नित्य नहीं मान सकते। प्रगट रूप से सिद्ध होता है, कि एक नित्य है; और दूसरा अनित्य । पाठकों को यह दिखलाने के लिये––कि साम्प्रदायिक दृष्टि से कैसीखीं चतानी की जाती है ? ––हमने नमूने के ढंग पर यहाँ इस श्लोक का मध्वभाष्यवाला अर्थ लिख दिया है । अस्तु; जो सत् है, वह कभी नष्ट होने का नहीं । अतएव सत्स्वरूपी आत्मा का शोक न करना चाहिये । और तत्त्व की दृष्टि से नामरूपात्मक देह आदि अथवा सुखदुःख आदि विकार मूल में ही विनाशी हैं । इसलिये उनके नाश होने का शोक करना भी उचित नहीं । फलतः आरम्भ में अर्जुन से जो यह कहा है––कि "जिसका शोक न करना चाहिये, उसका तू शोक कर रहा है"––वह सिद्ध हो गया । अब 'सत्' और 'असत्' के अर्थों को ही अगले दो श्लोकों में और भी स्पष्ट कर बतलाते हैं :—]

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।

(१७) स्मरण रहे, कि यह (जगत्) जिसने फैलाया अथवा व्याप्त किया है, वह (मल आत्मस्वरूप ब्रह्म) अविनाशी है। इस अव्यक्त तत्त्व का विनाश करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं है।

[पिछले श्लोक में जिसे सत् कहा है, उसी का यह वर्णन है। यह बतला दिया गया, कि शरीर का स्वामी अर्थात् आत्मा ही 'नित्य' श्रेणी में आता है। अब यह बतलाते हैं, कि अनित्य या असत् किसे कहना चाहिये—]

(१८) कहा है, कि जो शरीर का स्वामी (आत्मा) नित्य, अविनाशी और अचिन्त्य है, उसे प्राप्त होनेवाले ये शरीर नाशवान् अर्थात् अनित्य हैं। अतएव हे भारत! तू युद्ध कर।

[सारांश, इस प्रकार नित्य-अनित्य का विवेक करने से तो यह भाव ही झूठा होता है, कि "मैं अमुक को मारता हूँ," और युद्ध न करने के लिये अर्जुन ने जो कारण दिखलाया था, वह निर्मूल हो जाता है। इसी अर्थ को अब और अधिक स्पष्ट करते हैं—]

(१९) (शरीर के स्वामी या आत्मा) को ही जो मारनेवाला मानता है या ऐसा समझता है, कि वह मारा जाता है; उन दोनों को ही सच्चा ज्ञान नहीं है। (क्योंकि) यह (आत्मा) न तो मारता है और न मारा ही जाता है।

[क्योंकि यह आत्मा नित्य और स्वयं अकर्ता है। खेल तो सब प्रकृति का ही है। कठोपनिषद्में यह और अगला श्लोक आया है (कठ. २. १८, १९)। इसके अतिरिक्त महाभारत के अन्य स्थानों में भी ऐसा वर्णन है, कि काल से सब ग्रसे हुए हैं। इस काल की क्रीडा को ही यह "मारने और मरने" की लौकिक संज्ञाएँ हैं, (शां. २५. १५)। गीता (११. ३३) में भी आगे भक्तिमार्ग की भाषा से यही तत्त्व भगवान् ने अर्जुन को फिर बतलाया है, कि भीष्म-द्रोण आदि को कालस्वरूप से मैंने ही पहले मार डाला है। तू केवल निमित्त हो जा।]

(२०) यह (आत्मा) न तो कभी जन्मता है और न मरता ही है। ऐसा भी नहीं है, कि यह (एक बार) हो कर फिर होने का नहीं। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। एवं शरीर का वध हो जाय तो भी मारा नहीं जाता। (२१) हे

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।। २१ ।।
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। २२ ।।
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।। २३ ।।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।। २४ ।।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।। २५ ।।
§§ अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

पार्थ ! जिसने जान लिया, कि यह आत्मा अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय है, वह पुरुष किसी को कैसे मरवावेगा और किसी को कैसे मारेगा ? (२२) जिस प्रकार (कोई) मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नये ग्रहण करता है, उसी प्रकार देही अर्थात् शरीर का स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्याग कर दूसरे नये शरीर धारण करता है।

[वस्त्र की यह उपमा प्रचलित है। महाभारत में एक स्थान पर, एक घर (शाला) छोड़ कर दूसरे घर में जाने का दृष्टांत पाया जाता है (शां. १५ ५६); और एक अमेरिकन ग्रन्थकार ने यही कल्पना पुस्तक में नई जिल्द बाँधने का दृष्टान्त देकर व्यक्त की है। पिछले तेरहवें श्लोक में बालपन, जवानी और बुढ़ापा, इन तीन अवस्थाओं को जो न्याय उपयुक्त किया गया है, वही अब सब शरीर के विषय में किया गया है।]

(२३) इसे अर्थात् आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते; इसे आग जला नहीं सकती; वैसे ही इसे पानी भिगा या गला नहीं सकता और वायु सुखा भी नहीं सकती है। (२४) (कभी भी) न कटनेवाला, न जलनेवाला, न भीगनेवाला और न सूखनेवाला यह (आत्मा) नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन अर्थात् चिरन्तन है। (२५) इस आत्मा को ही अव्यक्त (अर्थात् जो इन्द्रियों को गोचर नहीं हो सकता), अचिन्त्य (अर्थात् जो मन से भी जाना नहीं जा सकता), और अविकार्य (अर्थात् जिसे किसी भी विकार की उपाधि नहीं है) कहते हैं। इसलिये उसे (आत्मा को) इस प्रकार का समझ कर उसका शोक करना तुझे उचित नहीं है।

[यह वर्णन उपनिषदों से लिया है। यह वर्णन निर्गुण आत्मा का है, सगुण का नहीं। क्योंकि अविकार्य या अचिन्त्य विशेषण सगुण को लग नहीं सकते (गीतारहस्य प्र. ९ देखो)। आत्मा के विषय में वेदान्तशास्त्र का जो अन्तिम सिद्धान्त है, उसके आधार से शोक न करने के लिये यह उपपत्ति बतलाई गई है। अब कदाचित् कोई ऐसा पूर्वपक्ष करे, कि हम आत्मा को नित्य नहीं समझते, इसलिये तुम्हारी उपपत्ति हमें ग्राह्य नहीं; तो इस पूर्वपक्ष का प्रथम उल्लेख करके भगवान् उसका यह उत्तर देते हैं, कि—]

तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्यच ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥
§§ अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

(२६) अथवा, यदि तू ऐसा मानता हो, कि यह आत्मा (नित्य नहीं, शरीर के साथ ही) सदा जन्मता या सदा मरता है, तो भी हे महाबाहु ! उसका शोक करना तुझे उचित नहीं। (२७) क्योंकि जो जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है, और जो मरता है, उसका जन्म निश्चित है । इसलिये (इस) अपरिहार्य बात का (ऊपर उल्लिखित तेरे मत के अनुसार भी) शोक करना तुझ को उचित नहीं ।

[स्मरण रहे, कि ऊपर के दो श्लोकों में बतलाई हुई उपपत्ति सिद्धान्तपक्ष की नहीं है । यह 'अथ च = अथवा' शब्द से बीच में ही उपस्थित किये हुए पूर्वपक्ष का उत्तर है । आत्मा को नित्य मानो चाहे अनित्य; दिखलाना इतना ही है, कि दोनों ही पक्षों में शोक करने का प्रयोजन नहीं है । गीता का यह सच्चा सिद्धान्त पहले ही बतला चुके हैं, कि आत्मा सत्, नित्य, अज, अविकार्य और अचिन्त्य या निर्गुण है । अस्तु; देह अनित्य है, अतएव शोक करना उचित नहीं । इसी को, सांख्यशास्त्र के अनुसार दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं—]

(२८) सब भूत आरम्भ में अव्यक्त, मध्य में व्यक्त और मरणसमय में फिर अव्यक्त होते हैं । (ऐसी यदि सभी की स्थिति है) तो हे भारत ! उसमें शोक किस बात का ?

['अव्यक्त' शब्द का ही अर्थ है–'इन्द्रियों को गोचर न होनेवाला'। मूल एक अव्यक्त द्रव्य से ही आगे क्रम-क्रम से समस्त व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है; और अन्त में अर्थात् प्रलयकाल में सब व्यक्त सृष्टि का फिर अव्यक्त में ही लय हो जाता है (गी. ८. १८); इस सांख्यसिद्धान्त का अनुसरण कर, इस श्लोक की दलीलें हैं । सांख्यमतवालों के इस सिद्धान्त का खुलासा गीता-रहस्य के सातवें और आठवें प्रकरण में किया गया है। किसी भी पदार्थ की व्यक्त स्थिति यदि इस प्रकार कभी न कभी नष्ट होनेवाली है, तो जो व्यक्त स्वरूप निसर्ग से ही नाशवान् है, उसके विषय में शोक करने की कोई आवश्यकता ही नहीं । यही श्लोक 'अव्यक्त' के बदले 'अभाव' शब्द से संयुक्त हो कर महाभारत के स्त्रीपर्व (म.भा. स्त्री. २६) में आया है । आगे "अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः । न ते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना ॥" (स्त्री. २. १३) इस श्लोक में 'अदर्शन' अर्थात् 'नज़र से दूर हो जाना' इस शब्द का भी मृत्यु को उद्देश कर उपयोग किया गया है । सांख्य और वेदान्त, दोनों शास्त्रों के अनुसार शोक करना यदि व्यर्थ सिद्ध होता है, और आत्मा को अनित्य मानने से भी यदि यही बात सिद्ध होती है, तो फिर लोग मृत्यु के विषय में शोक क्यों करते हैं ? आत्म-स्वरूपसम्बन्धी अज्ञान ही इसका उत्तर है । क्योंकि—]

§§ आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

(२९) मानों कोई तो आश्चर्य (अद्भुत वस्तु) समझ कर इसकी ओर देखते हैं; कोई आश्चर्य सरीखा इसका वर्णन करता है; और कोई मानों आश्चर्य समझ कर सुनता है। परन्तु (इस प्रकार देख कर, वर्णन कर और) सुन कर भी (इनमें) कोई इसे (तत्त्वतः) नहीं जानता है।

[अपूर्व वस्तु समझ कर बडे-बडे लोग आश्चर्य से आत्मा के विषय में कितना ही विचार क्यों न किया करें, पर उसके सच्चे स्वरूप को जाननेवाले लोग बहुत ही थोड़े हैं। इसी से बहुतेरे लोग मृत्यु के विषय में शोक किया करते हैं। इससे तू ऐसा न करके, पूर्ण विचार से आत्मस्वरूप को यथार्थ रीति पर समझ ले और शोक करना छोड़ दे। इसका यही अर्थ है। कठोपनिषद् (२. ७) में आत्मा का वर्णन इसी ढँग का है।]

(३०) सब के शरीर में (रहनेवाले) शरीर का स्वामी (आत्मा) सर्वदा अवध्य अर्थात् कभी भी वध न किया जानेवाला है। अतएव हे भारत (अर्जुन)! सब अर्थात् किसी भी प्राणी के विषय में शोक करना तुझे उचित नहीं है।

[अबतक यह सिद्ध किया गया, कि सांख्य या संन्यासमार्ग के तत्त्वज्ञानानुसार आत्मा अमर है; और देह तो स्वभाव से ही अनित्य है। इस कारण कोई मरे या मारे उसमें, 'शोक' करने की कोई आवश्यकता नहीं है; परन्तु यदि कोई इससे यह अनुमान कर ले, कि कोई किसी को मारे तो इसमें भी 'पाप' नहीं तो वह भयंकर भूल होगी। मरना या मारना, इन दो शब्दों के अर्थों का यह पृथक्करण है, मरने या मारने में जो डर लगता है उसे पहले दूर करनेके लिये ही वह ज्ञान बतलाया है। मनुष्य तो आत्मा और देह का समुच्चय है। इनमें आत्मा अमर है, इसलिये मरना या मारना ये दोनों शब्द उसे उपयुक्त नहीं होते। बाकी रह गई देह; सो वह तो स्वभाव से ही अनित्य है। यदि उसका नाश हो जाय, तो शोक करने योग्य कुछ है नहीं। परन्तु यदृच्छा या काल की गति से कोई मर जाय। या किसी को कोई मार डाले, तो उसका सुख दुःख न मान कर शोक करना छोड़ दें; तो भी इस प्रश्न का निपटारा हो नहीं जाता, कि युद्ध जैसा घोर कर्म करने के लिये जानबूझ कर, प्रवृत्त हो कर लोगों के शरीरों का नाश हम क्यों करें। क्योंकि देह यद्यपि अनित्य है, तथापि आत्मा का पक्का कल्याण का मोक्ष सम्पादन कर देने के लिये देह ही तो एक साधन है, अतएव आत्महत्या करना, अथवा बिना योग्य कारणों के किसी दूसरे को मार डालना, ये दोनों शास्त्रानुसार घोर पातक ही हैं। इसलिये मरे हुए का शोक करना यद्यपि उचित

§§ स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यासि॥ ३३॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ ३४॥

नहीं है; तो भी इसका कुछ-न-कुछ प्रबल कारण बतलाना आवश्यक है, कि एक दूसरे को क्यों मारे। इसी का नाम धर्माधर्म-विवेक है, और गीता का वास्तविक प्रतिपाद्य विषय भी यही है। अब, जो चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था सांख्यमार्ग को ही सम्मत है, उस के अनुसार भी युद्ध करना क्षत्रियों का कर्तव्य है। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि तू मरने-मारने का शोक मत कर। इतना ही नहीं, बल्कि लड़ाई में मरना या मार डालना, ये दोनों बातें क्षत्रियधर्मानुसार तुझ को आवश्यक ही हैं–]

(३१) इसके सिवा स्वधर्म की ओर देखें; तो भी (इस समय) हिम्मत हारना तुझे उचित नहीं है। क्योंकि धर्मोचित युद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय को श्रेयस्कर और कुछ है ही नहीं।

[स्वधर्म की यह उपपत्ति आगे भी दो बार (गी. ३. ३५ और १८. ४७) बतलाई गई है। संन्यास अथवा सांख्य-मार्ग के अनुसार यद्यपि कर्मसंन्यासरूपी चतुर्थ आश्रम अन्त की सीढ़ी है, तो भी मनु आदि स्मृति-कर्ताओं का कथन है, कि इसके पहले चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण को ब्राह्मणधर्म और क्षत्रिय को क्षत्रियधर्म का पालन कर गृहस्थाश्रम पूरा करना चाहिये। अतएव इस श्लोक का और आगे के श्लोक का तात्पर्य यह है, कि गृहस्थाश्रमी अर्जुन को युद्ध करना आवश्यक है।]

(३२) और हे पार्थ! यह युद्ध आप ही आप खुला हुआ स्वर्ग का द्वार ही है। ऐसा युद्ध भाग्यवान् क्षत्रियों ही को मिला करता है। (३३) अतएव यदि तू (अपने) धर्म के अनुकूल यह युद्ध न करेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति खो कर पाप बटोरेगा। (३४) यही नहीं, बल्कि (सब) लोग तेरी अक्षय्य दुष्कीर्ति गाते रहेंगे, और अपयश तो सम्भावित पुरुष के लिये मृत्यु से भी बढ़ कर है।

[श्रीकृष्णने यही तत्त्व उद्योगपर्व में युधिष्ठिर को भी बतलाया है (म.भा. उ. ७२. २४)। वहाँ यह श्लोक है–"कुलीनस्य च या निन्दा वधो वाऽमित्रकर्षणम्। महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा कुजीविका॥" परन्तु गीता में इसकी अपेक्षा यह अर्थ संक्षेप में है; और गीता ग्रंथ का प्रचार भी अधिक है। इस कारण गीता के "सम्भावितस्य०" इत्यादि वाक्य का कहावत का सा उपयोग

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निंदन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

होने लगा है । गीता के और बहुतेरे श्लोक भी इसी के समान सर्वसाधारण लोगों में प्रचलित हो गये हैं । अब दुष्कीर्ति का स्वरूप बतलाते हैं--]

(३५) (सब) महारथी समझेंगे, कि तू डर कर रण से भाग गया; और जिन्हें (आज) तू बहुमान्य हो रहा है, वे ही तेरी योग्यता कम समझने लगेंगे। (३६) ऐसे ही तेरे सामर्थ्य की निन्दा कर, तेरे शत्रु ऐसी ऐसी अनेक बातें (तेरे विषय में) कहेंगे जो न कहनी चाहिये । इससे अधिक दुःखकारक और है ही क्या ? (३७) मर गया, तो स्वर्ग को जावेगा, और जीत गया, तो पृथ्वी (का राज्य) भोगेगा । इसलिये हे अर्जुन ! युद्ध का निश्चय करके उठ ।

[उल्लिखित विवेचन से न केवल यही सिद्ध हुआ, कि सांख्य-ज्ञान के अनुसार मरने-मारने का शोक न करना चाहिये । प्रत्युत यह भी सिद्ध हो गया, कि स्वधर्म के अनुसार युद्ध करना ही कर्तव्य है । तो भी अब इस शंका का उत्तर दिया जाता है, कि लड़ाई में होनेवाली हत्या का 'पाप' कर्ता को लगता है या नहीं । वास्तव में इस उत्तर की युक्तियाँ कर्मयोगमार्ग की हैं । इसलिये उस मार्ग की प्रस्तावना यहीं हुई है ।]

(३८) सुख-दुःख, नफ़ा-नुकसान और जय-पराजय को एक-सा मान कर फिर युद्ध में लग जा। ऐसा करने से तुझे (कोई भी) पाप लगने का नहीं।

[संसार में आयु बिताने के दो मार्ग हैं-एक सांख्य और दूसरा योग। इनमें जिस सांख्य अथवा संन्यास-मार्ग के आचार को ध्यान में ला कर अर्जुन युद्ध छोड़ भिक्षा माँगने के लिये तैयार हुआ था, उस संन्यास मार्ग के तत्त्वज्ञानानुसार ही आत्मा का या देह का शोक करना उचित नहीं है । भगवान् ने अर्जुन को सिद्ध कर दिखलाया है, कि सुख और दुःखों को समबुद्धि से सह लेना चाहिये । एवं स्वधर्म की ओर ध्यान दे कर युद्ध करना ही क्षत्रिय को उचित है, तथा समबुद्धि से युद्ध करने में कोई भी पाप नहीं लगता । परन्तु इस मार्ग (सांख्य) का मत है, कि कभी-न-कभी संसार छोड़ कर संन्यास ले लेना ही प्रत्येक मनुष्य का इस जगत् में परम कर्तव्य है । इसलिये इष्ट जान पड़े तो अभी ही युद्ध छोड कर संन्यास क्यों न ले लें; अथवा स्वधर्म का पालन ही क्यों करें ?

§§ एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥
§§ नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

इत्यादि शंकाओं का निवारण सांख्यज्ञान से नहीं होता; और इसी से यह कह सकते हैं, कि अर्जुन का मूल आक्षेप ज्यों का त्यों बना है। अतएव अब भगवान् कहते हैं—]

(३९) सांख्य अर्थात् संन्यासनिष्ठा के अनुसार तुझे यह बुद्धि अर्थात् ज्ञान या उपपत्ति बतलाई गई। अब जिस बुद्धि से युक्त होने पर (कर्मों के न छोड़ने पर भी) हे पार्थ! तू कर्मबन्ध छोड़ेगा, ऐसी यह (कर्म-) योग की बुद्धि अर्थात् ज्ञान (तुझ से बतलाता हूँ) सुन।

[भगवद्गीता का रहस्य समझने के लिये यह श्लोक अत्यन्त महत्त्व का है। सांख्य शब्द से कपिल का सांख्य या निरा वेदान्त, और योग शब्द से पातंजल योग यहाँ पर उद्दिष्ट नहीं है—सांख्य से संन्यासमार्ग, और योग से कर्ममार्ग ही का अर्थ यहाँ पर लेना चाहिये। यह बात गीता के ३. ३ श्लोक से प्रगट होती है। ये दोनों मार्ग स्वतन्त्र हैं। इनके अनुयायियों को भी क्रम से 'सांख्य' = संन्यासमार्गी, और 'योग' = कर्मयोगमार्गी कहते हैं (गी. ५.५.)। इनमें सांख्यनिष्ठावाले लोग कभी-न-कभी अन्त में कर्मों को छोड़ देना ही श्रेष्ठ मानते हैं। इसलिये इस मार्ग के तत्त्वज्ञान से अर्जुन की इस शंका का पूरा पूरा समाधान नहीं होता, कि युद्ध क्यों करें। अतएव जिस कर्मयोगनिष्ठा का ऐसा मत है, कि संन्यास न लेकर ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् भी निष्काम बुद्धि से सदैव कर्म करते रहना ही प्रत्येक का सच्चा पुरुषार्थ है, उसी कर्मयोग का (अथवा संक्षेप में योगमार्ग का) ज्ञान बतलाना अब आरम्भ किया गया है; और गीता के अंतिम अध्याय तक, अनेक कारण दिखलाते हुए, अनेक शंकाओं का निवारण कर, इसी मार्ग का पुष्टीकरण किया गया है। गीता के विषय-निरूपण का, स्वयं भगवान् का किया हुआ, यह स्पष्टीकरण ध्यान में रखने से इस विषय में कोई शंका रह नहीं जाती, कि कर्मयोग ही गीता में प्रतिपाद्य है। कर्मयोग के मुख्य मुख्य सिद्धांतों का पहले निर्देश करते हैं—]

(४०) यहाँ अर्थात् इस कर्मयोग में (एक बार) आरम्भ किये हुए कर्म का नाश नहीं होता, और (आगे) विघ्न भी नहीं होते। इस धर्म का थोड़ा–सा भी (आचरण) बड़े भय से संरक्षण करता है।

[इस सिद्धान्त का महत्त्व गीतारहस्य के दसवें प्रकरण (पृ. २८४) में दिखलाया गया है; और अधिक खुलासा आगे गीता में भी किया गया है (गी ६. ४०–४६)। इसका यह अर्थ है, कि कर्मयोगमार्ग में यदि एक जन्म में सिद्धि न मिले, तो किया हुआ कर्म व्यर्थ न जा कर अगले जन्म में उपयोगी होता है; और

§§ व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुध्दयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥
§§ यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

प्रत्येक जन्म में इसकी बढ़ती होती है, एवं अंत में कभी-न-कभी सच्ची सद्गति मिलती ही है । अब कर्मयोगमार्ग का दूसरा महत्त्व-पूर्ण सिद्धान्त बतलाते हैं—]

(४१) हे कुरुनन्दन ! इस मार्ग में व्यवसाय-बुद्धि अर्थात् कार्य और अकार्य का निश्चय करनेवाली (इन्द्रियरूपी) बुद्धि एक अर्थात एकाग्र रखनी पड़ती है; क्योंकि जिनकी बुद्धि का (इस प्रकार एक) निश्चय नहीं होता, उनकी बुद्धि अर्थात् वासनाएँ अनेक शाखाओं से युक्त और अनन्त (प्रकार की) होती हैं ।

[संस्कृत में बुद्धि शब्द के अनेक अर्थ हैं । ३९ वें श्लोक में यह शब्द ज्ञान के अर्थ में आया है; और आगे ४९ वें श्लोक में इस 'बुद्धि' शब्द का ही "समझ, इच्छा, वासना, या हेतु" अर्थ है; परन्तु बुद्धि शब्द के पीछे 'व्यवसायात्मिका' विशेषण है। इसलिये इस श्लोक के पूर्वार्ध में उसी शब्द का अर्थ यों होता है। व्यवसाय अर्थात् कार्य-अकार्य का निश्चय करनेवाली बुद्धि-इन्द्रिय (गीतार. प्र. ६. पृ. १३३-१३८ देखो) । पहले इस बुद्धि-इन्द्रिय से किसी भी बात का भला-बुरा विचार कर लेने पर फिर तदनुसार कर्म करने की इच्छा या वासना मन में हुआ करती है । अतएव इस इच्छा या वासना को भी बुद्धि ही कहते हैं; परन्तु उस समय 'व्यवसायात्मिका' यह विशेषण उसके पीछे नहीं लगाते । भेद दिखलाना ही आवश्यक हो, तो 'वासनात्मक' बुद्धि कहते हैं । इस श्लोक के दूसरे चरण में सिर्फ़ 'बुद्धि' शब्द है, उसके पीछे 'व्यवसायात्मक' यह विशेषण नहीं है । इसलिये बहुवचनान्त 'बुद्धयः' से "वासना, कल्पनातरङ्ग" अर्थ होकर पूरे श्लोक का यह अर्थ होता है, कि "जिसकी व्यवसायात्मक बुद्धि अर्थात् निश्चय करनेवाली बुद्धि-इन्द्रिय स्थिर नहीं होती, उसके मन में क्षण-क्षण में नई तरङ्गें या वासनाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं ।" बुद्धि शब्द के 'निश्चय करनेवाली इन्द्रिय' और 'वासना' इन दोनों अर्थों को ध्यान में रखे बिना कर्मयोग की बुद्धि के विवेचन का मर्म भली भाँति समझ में आने का नहीं । व्यवसायात्मक बुद्धि के स्थिर या एकाग्र न रहने से प्रतिदिन भिन्न भिन्न वासनाओं से मन व्यग्र हो जाता है; और मनुष्य ऐसी अनेक झंझटों में पड़ जाता है, कि आज पुत्र-प्राप्ति के लिये अमुक कर्म करो, तो कल स्वर्ग की प्राप्ति के लिये अमुक कर्म करो । बस, अब इसी का वर्णन करते हैं—]

(४२) हे पार्थ ! (कर्मकाण्डात्मक) वेदों के (फलश्रुति-युक्त) वाक्यों में भूले हुए और यह कहनेवाले मूढ़ लोग कि इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है; बढ़ा

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥
§§ त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

कर कहा करते हैं, कि--(४३) "अनेक प्रकार के (यज्ञ-याग आदि) कर्मों से ही (फिर) जन्मरूप फल मिलता है, और (जन्म-जन्मान्तर में) भोग तथा ऐश्वर्य मिलता है;"--स्वर्ग के पीछे पड़े हुए वे काम्य-बुद्धिवाले (लोग), (४४) उल्लिखित भाषण की ओर ही उनके मन आकर्षित हो जाने से भोग और ऐश्वर्य में ही गर्क रहते हैं। इस कारण उनकी व्यवसायात्मक अर्थात् कार्य-अकार्य का निश्चय करने वाली बुद्धि (कभी भी) समाधिस्थ अर्थात् एक स्थान में स्थिर नहीं रह सकती।

[ऊपर के तीनों श्लोकों का मिल कर एक वाक्य है। उसमें उन ज्ञानविरहित कर्मठ मीमांसामार्गवालों का वर्णन है, जो श्रौत-स्मार्त कर्मकाण्ड के अनुसार आज अमुक हेतु की सिद्धि के लिये, तो कल और किसी हेतु से-सदैव स्वार्थ के लिये ही-यज्ञ-याग आदि कर्म करने में निमग्न रहते हैं। यह वर्णन उपनिषदों के आधार पर किया गया है। उदाहरणार्थ, मुण्डकोपनिषद् में कहा है--

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

"इष्टापूर्त ही श्रेष्ठ है। दूसरा कुछ भी श्रेष्ठ नहीं। यह माननेवाले मूढ लोग स्वर्ग में पुण्य का उपभोग कर चुकने पर फिर नीचे के इस मनुष्य-लोक में आते हैं" (मुण्ड. १. २. १०)। ज्ञानविरहित कर्मों की इसी ढङ्ग की निन्दा ईशावास्य और कठ उपनिषदों में भी की गई है (कठ. २. ५; ईश. ९. १२)। परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त न करके केवल कर्मों में ही फँसे रहनेवाले इन लोगों को (देखो गी. ९.२१) अपने अपने कर्मों के स्वर्ग आदि फल मिलते तो हैं, पर उनकी वासना आज एक कर्म में, तो कल किसी दूसरे ही कर्म में रत होकर चारों ओर घुडदौड़-सी मचाये रहती है। इस कारण उन्हें स्वर्ग का आवागमन नसीब हो जाने पर भी मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष की प्राप्ति के लिये बुद्धि-इन्द्रिय को स्थिर या एकाग्र रहना चाहिये। आगे छठे अध्याय में विचार किया गया है, कि इसको एकाग्र किस प्रकार करना चाहिये। अभी तो इतना ही कहते हैं, कि-]

(४५) हे अर्जुन! (कर्मकाण्डात्मक) वेद (इस रीति से) त्रैगुण्य की बातों से भरे पड़े हैं। इसलिये तू निस्त्रैगुण्य अर्थात् त्रिगुणों से अतीत, नित्यसत्त्वस्थ और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से अलिप्त हो। एवं योगक्षेम आदि स्वार्थों में न पड़कर आत्मनिष्ठ हो।

[सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से मिश्रित प्रकृति की सृष्टि को

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।

त्रैगुण्य कहते हैं। सृष्टि, सुख-दुःख आदि अथवा जन्म-मरण आदि विनाशवान् द्वन्द्वों से भरी हुई हैं; और सत्य ब्रह्म इसके परे है। यह बात गीतारहस्य (पृ. २२८ और २५५) में स्पष्ट कर दिखलाई गई है। इसी अध्याय के ४३ वे श्लोक में कहा है, कि प्रकृति के अर्थात् माया के, इस संसार के सुखों की प्राप्ति के लिये मीमांसक-मार्गवाले लोग श्रौत, यज्ञ-याग आदि क्रिया करते हैं; और वे इन्हीं में निमग्न रहा करते हैं। कोई पुत्र-प्राप्ति के लिये एक विशेष यज्ञ करता है,-तो कोई पानी बरसाने के लिये दूसरी इष्टि करता है। ये सब कर्म इस लोक में संसारी व्यवहारों के लिये। अर्थात् अपने योग-क्षेम के लिये हैं। अतएव प्रगट ही है, कि जिसे मोक्ष प्राप्त करना हो, वह वैदिक कर्मकाण्ड के इन-त्रिगुणात्मक और निरे योग-क्षेम सम्पादन करनेवाले कर्मों को छोड़ कर अपना चित्त इसके परे परब्रह्म की ओर लगावे। इसी अर्थ में 'निर्द्वन्द्व' और 'निर्योगक्षेमवान्–' शब्द ऊपर आये हैं। यहाँ ऐसी शंका हो सकती है, कि वैदिक कर्मकाण्ड के इन काम्य कर्मों को छोड़ देने से योग-क्षेम (निर्वाह) कैसे होगा (गी. र. पृ. २९३ और ३८४ देखो)? किन्तु इसका उत्तर यहाँ नहीं दिया। यह विषय आगे फिर नवें अध्याय में आया है। वहाँ कहा है, कि इस योग-क्षेम को भगवान् करते है; और इन्हीं दो स्थानों पर गीता में 'योग-क्षेम' शब्द आया है (गी. ९. २२ और उस पर हमारी टिप्पणी देखो)। नित्यसत्त्वस्थ पद का ही अर्थ त्रिगुणातीत होता है। क्योंकि आगे कहा है, कि सत्त्वगुण के नित्य उत्कर्ष से ही फिर त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त होती है; जो कि सच्ची सिद्धावस्था है (गी. १४. १४ और २०, गी. र. पृ. १६६ और १६७ देखो)। तात्पर्य यह है, कि मीमांसकों के योग-क्षेमकारक त्रिगुणात्मक काम्य कर्म छोड़ कर एवं सुख-दुःख-के द्वन्द्वों से निपट कर ब्रह्मनिष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ होने के विषय में यहाँ उपदेश किया गया है; किन्तु इस बात पर फिर भी ध्यान देना चाहिये, कि आत्मनिष्ठ होने का अर्थ सब कर्मों को स्वरूपतः एकदम छोड़ देना नहीं है। ऊपर के श्लोक में वैदिक काम्य कर्मों की जो निन्दा की गई है, या जो न्यूनता दिखलाई गई है, वह कर्मों की नहीं; बल्कि उन कर्मों के विषय में जो काम्यबुद्धि होती है, उस की है। यदि यह काम्यबुद्धि मन में न हो, तो निरे यज्ञ-याग किसी भी प्रकारसे मोक्ष के लिये प्रतिबन्धक नहीं होते (गी. र. पृ. २९२–२९५)। आगे अठारहवें अध्याय के आरम्भ में भगवान् ने अपना निश्चित और उत्तम मत बतलाया है, कि मीमांसकों के इन्हीं यज्ञ-याग आदि कर्मों को फलाशा और सङ्ग छोड़ कर चित्त की शुद्धि और लोकसंग्रह के लिये अवश्य करना चाहिये (गी. १८. ६)। गीता की इन दो स्थानों की बातों को एकत्र करने से यह प्रगट हो जाता है; कि इस अध्याय के श्लोक में मीमांसकों के कर्मकाण्ड की जो न्यनता दिखलाई गई है, वह उनकी काम्यबुद्धि को उद्देश करके है—क्रिया

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।। ४६ ।।

के लिये नहीं है। इसी अभिप्राय को मन में ला कर भागवत में भी कहा है--

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ।।

"वेदोक्त कर्मों की वेद में जो फलश्रुति कही है, वह रोचनार्थ है। अर्थात् इसी लिये है, कि कर्ता को ये कर्म अच्छे लगें। अतएव इन कर्मों को उस फल-प्राप्ति के लिये न करे, किन्तु निःसङ्ग बुद्धि अर्थात् फल की आशा छोड़कर ईश्वरार्पण बुद्धि से करे। जो पुरुष ऐसा करता है, उसे नैष्कर्म्य से प्राप्त होनेवाली सिद्धि मिलती है" (भाग ११. ३. ४६)। सारांश, यद्यपि वेदों में कहा है, कि अमुक अमुक कारणों के निमित्त यज्ञ करे, तथापि इसमें न भूल कर केवल इसी लिये यज्ञ करे, कि वे यष्टव्य हैं। अर्थात् यज्ञ करना अपना कर्तव्य है। काम्यबुद्धि को तो छोड़ दे, पर यज्ञ को न छोड़े (गी. १७. ११); और इसी प्रकार अन्यान्य कर्म भी किया करे। यह गीता के उपदेश का सार है; और यही अर्थ अगले श्लोक में व्यक्त किया गया है।

(४६) चारों ओर पानी की बाढ़ आ जाने पर कुएँ का जितना अर्थ या प्रयोजन रह जाता है (अर्थात् कुछ भी काम नहीं रहता), उतना ही प्रयोजन ज्ञान-प्राप्त ब्राह्मण को सब (कर्मकाण्डात्मक) वेद का रहता है (अर्थात् सिर्फ़ काम्यकर्मरूपी वैदिक कर्मकाण्ड की उसे कुछ आवश्यकता नहीं रहती)।

[इस श्लोक के फलितार्थ के सम्बन्ध में मतभेद नहीं है। पर टीकाकारों ने इसके शब्दों की नाहक़ खींचातानी की है। 'सर्वतः संप्लुतोदके' यह सप्तम्यन्त सामासिक पद है। परन्तु इसे निरी सप्तमी या उदपान का विशेषण भी न समझ कर 'सति सप्तमी' मान लेने से, "सर्वतः संप्लुतोदके सति उदपाने यावानर्थः (न स्वल्पमपि प्रयोजनं विद्यते) तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु अर्थः"--इस प्रकार किसी भी बाहर के पद को अध्याहृत मानना नहीं पड़ता। सरल, अन्वय लग जाता है; और उसका यह सरल अर्थ भी हो जाता है, कि "चारों ओर पानी ही पानी होने पर (पीने के लिये कहीं भी बिना प्रयत्न के यथेष्ट पानी मिलने लगने पर) जिस प्रकार कुएँ को कोई भी नहीं पूछता, उसी प्रकार ज्ञान-प्राप्त पुरुष को यज्ञ-याग आदि केवल वैदिककर्म का कुछ भी उपयोग नहीं रहता"। क्योंकि, वैदिककर्म केवल स्वर्ग-प्राप्ति के लिये ही नहीं, बल्कि अन्त में मोक्षसाधक ज्ञान-प्राप्ति के लिये करना होता है; और इस पुरुष को तो ज्ञान-प्राप्ति पहले ही हो जाती है। इस कारण इसे वैदिककर्म करके कोई नई वस्तु पाने के लिये शेष रह नहीं जाती। इसी हेतु से आगे तीसरे अध्याय (३. १७) में कहा है, कि ("जो ज्ञानी हो गया, उसे इस जगत् में कर्तव्य शेष नहीं रहता"। बड़े भारी तालाब या नदी पर अनायास ही, जितना चाहिये

§§ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

उतना, पानी पीने की सुविधा होने पर कुएँ की ओर कौन झाँकेगा ? ऐसे समय कोई भी कुएँ की अपेक्षा नहीं रखता। सनत्सुजातीय के अन्तिम अध्याय (म.भा. उद्योग. ४५. २६) में यही श्लोक कुछ थोड़े-से शब्दों के हेरफेर से आया है। माधवाचार्य ने इसकी टीका में वैसा ही अर्थ किया है, जैसा कि हमने ऊपर किया है; एवं शुकानुप्रश्न में ज्ञान और कर्म के तारतम्य का विवेचन करते समय साफ़ कह दिया है;—"न ते (ज्ञानिनः) कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिबन्निव"—अर्थात् नदी पर जिसे पानी मिलता है, वह जिस प्रकार कुएँ की परवाह नहीं करता उसी प्रकार 'ते' अर्थात् ज्ञानी पुरुष कर्म की कुछ परवाह नहीं करते (म.भा. शां. २४०. १०)। ऐसे ही पाण्डवगीता के सत्रहवें श्लोक में कुएँ का दृष्टान्त यों दिया है—जो वासुदेव को छोड़ कर दूसरे देवता की उपासना करता है, वह "तृषितो जान्हवीतीरे कूपं वांछति दुर्मतिः" भागीरथी के तट पर पीने के लिये पानी मिलने पर भी, कुएँ की इच्छा करनेवाले प्यासे पुरुष के समान मूर्ख है। यह दृष्टान्त केवल वैदिक संस्कृत ग्रन्थों में ही नहीं है, प्रत्युत पाली के बौद्ध ग्रन्थों में भी उसके प्रयोग हैं। यह सिद्धान्त बौद्धधर्म को भी मान्य है, कि जिस पुरुष ने अपनी तृष्णा समूल नष्ट कर डाली हो, उसे आगे और कुछ प्राप्त करने के लिये नहीं रह जाता; और इस सिद्धान्त को बतलाते हुए उदान नामक पाली ग्रन्थ के (७. ९) उस श्लोक में यह दृष्टान्त दिया है—"किं कयिरा उदपानेन आपा चे सब्बदा सियुम्"—सर्वदा पानी मिलने योग्य हो जाने से कुएँ को लेकर क्या करना है ? आजकल बड़े-बड़े शहरों में यह देखा ही जाता है, कि घर में नल हो जाने से फिर कोई कुएँ की परवाह नहीं करता। इससे और विशेष कर शुकानुप्रश्न के विवेचन से गीता के दृष्टान्त का स्वारस्य ज्ञात हो जायगा; और यह दीख पड़ेगा, कि हमने इस श्लोक का ऊपर जो अर्थ किया है वही सरल और ठीक है। परन्तु, चाहे इस कारण से हो, कि ऐसे अर्थ से वेदों को कुछ गौणता आ जाती है; अथवा इस साम्प्रदायिक सिद्धान्त की ओर दृष्टि देनेसे हो, कि ज्ञान में ही समस्त कर्मों का समावेश रहने के कारण ज्ञानी को कर्म करने की ज़रूरत नहीं। गीता के टीकाकार इस श्लोक के पदों का अन्वय कुछ निराले ढँग से लगाते हैं। वे इस श्लोक के पहले चरण में 'तावान्' और दूसरे चरण में 'यावान्' पदों को अध्याहृत मान कर ऐसा अर्थ लगाते हैं "उदपाने यावानर्थः तावानेव सर्वतः संप्लुतोदके यथा सम्पद्यते तथा यावान्सर्वेषु वेदेषु अर्थः तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य सम्पद्यते।" अर्थात् स्नान-पान आदि कर्मों के लिये कुएँ का जितना उपयोग होता है, उतना ही बड़े तालाब में (सर्वतः संप्लुतोदके) भी हो सकता है। इसी प्रकार वेदों का जितना उपयोग है, उतना सब ज्ञानी पुरुष को उसके ज्ञान से हो सकता है। परन्तु इस अन्वय में पहली श्लोक-पंक्ति में 'तावान्' और दूसरी पंक्ति में 'यावान्' इन

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

दो पदों के अध्याहार कर लेने की आवश्यकता पड़ने के कारण हमने उस अन्वय और अर्थ को स्वीकृत नहीं किया। हमारा अन्वय और अर्थ किसी भी पद के अध्याहार किये बिना ही लग जाता है; और पूर्व के श्लोक से सिद्ध होता है, कि इसमें प्रतिपादित वेदों के कोरे अर्थात् ज्ञानव्यतिरिक्त कर्मकाण्ड का गौणत्व इस स्थल पर विवक्षित है। अब ज्ञानी पुरुष को यज्ञ-याग आदि कर्मों की कोई आवश्यकता न रह जाने से कुछ लोग जो यह अनुमान किया करते हैं, कि इन कर्मों को ज्ञानी पुरुष न करे, बिलकुल छोड़ दे। यह बात गीता को सम्मत नहीं हैं। क्योंकि, यद्यपि इन कर्मों का फल ज्ञानी पुरुष को अभीष्ट नहीं, तथापि फल के लिये न सही; तो भी यज्ञ-याग आदि कर्मों को अपने शास्त्रविहित कर्तव्य समझ कर वह कभी छोड़ नहीं सकता। अठारहवें अध्याय में भगवान् ने अपना निश्चित मत स्पष्ट कह दिया है, कि फलाशा न रहे, तो भी अन्यान्य निष्काम कर्मों के अनुसार यज्ञ-याग आदि कर्म भी ज्ञानी पुरुष को निःसङ्ग बुद्धि से करना ही चाहिये (पिछले श्लोक पर और गी. ३. १९ पर हमारी जो टिप्पणी है उसे देखो)। यही निष्काम–विषयक अर्थ अब अगले श्लोक में व्यक्त कर दिखलाते हैं—]

(४७) कर्म करने का मात्र तेरा अधिकार है। फल (मिलना या न मिलना) कभी भी तेरे अधिकार अर्थात् ताबे में नहीं। (इसलिये मेरे कर्म का) अमुक फल मिले, यह हेतु (मन में) रख कर काम करनेवाला न हो; और कर्म न करने का भी तू आग्रह न कर।

[इस श्लोक के चारों चरण परस्पर एक दूसरे के अर्थ के पूरक हैं। इस कारण अतिव्याप्ति न हो कर कर्मयोग का सारा रहस्य थोड़े में उत्तम रीति से बतला दिया गया है। और तो क्या, यह कहने में भी कोई हानि नहीं, कि ये चारों चरण कर्मयोग की चतुःसूत्री ही हैं। यह पहले कह दिया है, कि "कर्म करने का मात्र तेरा अधिकार है।" परन्तु इस पर यह शंका होती है, कि कर्म का फल कर्म से ही संयुक्त होने के कारण 'जिसका पेड़ उसी का फल' इस न्याय से जो कर्म करने का अधिकारी है, वही फल का भी अधिकारी होगा। अतएव इस शंका को दूर करने के निमित्त दूसरे चरण में स्पष्ट कह दिया है, कि "फल में तेरा अधिकार नहीं है"। फिर इससे निष्पन्न होनेवाला तीसरा यह सिद्धान्त बतलाया है, कि "मन में फलाशा रख कर कर्म करनेवाला मत हो।" (कर्मफलहेतुः कर्मफले हेतुर्यस्य स कर्मफलहेतुः, ऐसा बहुव्रीहि समास होता है।) परन्तु कर्म और उसका फल दोनों संलग्न होते हैं। इस कारण यदि कोई ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादन करने लगे, कि फलाशा के साथ ही साथ फल को भी छोड़ ही देना चाहिये। तो इसे भी सच न मानने के लिये अन्त में स्पष्ट उपदेश किया है, कि फलाशा को तो छोड़ दे, पर इसके साथ ही कर्म न करन का

§§ योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

अर्थात् कर्म छोड़ने का आग्रह न कर।" सारांश, 'कर्म कर'; कहने से कुछ यह अर्थ नहीं होता, कि फल की आशा रख; और 'फल की आशा को छोड़' कहने से यह अर्थ नहीं हो जाता, कि कर्मों को छोड़ दे। अतएव इस श्लोक का यह अर्थ है, कि फलाशा छोड़ कर कर्तव्यकर्म अवश्य करना चाहिये; किन्तु न तो कर्म की आसक्ति में फँसे और न कर्म ही छोड़े–'त्यागो न युक्त इह कर्मसु नापि रागः (योग. ५. ५. ५४)। और यह दिखला कर कि मिलने की बात अपने वश में नहीं है; किन्तु उसके लिये और अनेक बातों की अनुकूलता आवश्यक है। अठारहवें अध्याय में फिर यही अर्थ और भी दृढ किया गया है (गी. १८. १४–१६ और रहस्य पृ. ११४ एवं प्र. १२ देखो)। अब कर्मयोग का स्पष्ट लक्षण बतलाते हैं, कि इसेही योग अथवा कर्मयोग कहते हैं—]

(४८) हे धनंजय! आसक्ति छोड़ कर और कर्म की सिद्धि हो या असिद्धि, दोनों को समान ही मान कर, 'योगस्थ' हो करके कर्म कर। (कर्म के सिद्ध होने या निष्फल होने में रहनेवाली) समता की (मनो–) वृत्ति को ही (कर्म–) योग कहते हैं। (४९) क्योंकि, हे धनंजय! बुद्धि के (साम्य) योग की अपेक्षा (बाह्य) कर्म बहुत ही कनिष्ठ है। अतएव इस (साम्य) बुद्धि की शरण में जा। फलहेतुके अर्थात् फल पर दृष्टि रख कर काम करनेवाले लोग कृपण अर्थात् दीन या निचले दर्जे के हैं। (५०) जो (साम्य–) बुद्धि से युक्त हो जायँ, वह इस लोक में पाप और पुण्य दोनों से अलिप्त रहता है। अतएव योग का आश्रय कर। (पाप-पुण्य से बच कर) कर्म करने की चतुराई (कुशलता या युक्ति) को ही (कर्मयोग) कहते हैं।

[इन श्लोकों में कर्मयोग का जो लक्षण बतलाया है, वह महत्त्व का है। इस सम्बन्ध में गीता-रहस्य के तीसरे प्रकरण (पृष्ठ ५५–६३) में जो विवेचन किया गया है, उसे देखो। इसमें भी कर्मयोग का जो तत्त्व— 'कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है' —४९ वें श्लोक में बतलाया है, वह अत्यन्त महत्त्व का है। 'बुद्धि' शब्द के पीछे 'व्यवसायात्मिका' विशेषण नहीं है। इसलिये इस श्लोक में उसका अर्थ 'वासना' या 'समझ' होना चाहिये। कुछ लोग बुद्धि का 'ज्ञान' अर्थ करके इस श्लोक का ऐसा अर्थ किया चाहते हैं, कि ज्ञान की अपेक्षा कर्म हलके दर्जे का है; परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि, पीछे ४८ वें

§§ कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

श्लोक में समत्व का लक्षण बतलाया है, और ४६ वें तथा अगले श्लोक में भी वही वर्णित है। इस कारण यहाँ बुद्धि का अर्थ समत्वबुद्धि ही करना चाहिये। किसी भी कर्म की भलाई-बुराई कर्म पर अवलम्बित नहीं होती। कर्म एक ही क्यों न हो, पर करनेवाले की भली या बुरी बुद्धि के अनुसार वह शुभ अथवा अशुभ हुआ करता है। अतः कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ है। इत्यादि नीति के तत्त्वों का विचार गीतारहस्य के चौथे, बारहवें और पन्द्रहवें प्रकरण में (पृ. ८७, ३८०–३८१ और ४७३–४७८) किया गया है। इस कारण यहाँ और अधिक चर्चा नहीं करते। ४१ वें श्लोक में बतलाया ही है, कि वासनात्मक बुद्धि को सम और शुद्ध रखने के लिये कार्य-अकार्य का निर्णय करनेवाली व्यवसायात्मक बुद्धि पहले ही स्थिर हो जानी चाहिये। इसलिये 'साम्यबुद्धि' इस शब्द से ही स्थिर व्यवसायात्मक बुद्धि, और शुद्ध वासना (वासनात्मक बुद्धि) इन दोनों का बोध हो जाता है। यह साम्यबुद्धि ही शुद्ध आचरण अथवा कर्मयोग की जड़ है। इसलिये ३९ वें श्लोक में भगवान् ने पहले जो यह कहा है, कि कर्म करके भी कर्म की वाधा न लगनेवाली युक्ति अथवा योग तुझे बतलाता हूँ। उसी के अनुसार इस श्लोक में कहा है, कि "कर्म करते समय बुद्धि को स्थिर, पवित्र, सम और शुद्ध रखना ही" वह 'युक्ति' या 'कौशल्य' है; और इसी को 'योग' कहते हैं। इस प्रकार योग शब्द की दो बार व्याख्या की गई है। ५० वें श्लोक के "योगः कर्मसु कौशलम्" इस पद का इस प्रकार सरल अर्थ लगने पर भी, कुछ लोगों ने ऐसी खींचातानी से अर्थ लगाने का प्रयत्न किया है, कि "कर्मसु योगः कौशलम्"—कर्म में जो योग है, उसको कौशल कहते हैं। पर "कौशल" शब्द की व्याख्या करने का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। 'योग' शब्द का लक्षण बतलाना ही अभीष्ट है। इसलिये यह अर्थ सच्चा नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त जब कि 'कर्मसु कौशलम्' ऐसा सरल अन्वय लग सकता है, तब "कर्मसु योगः" ऐसा औंधा–सीधा अन्वय करना ठीक भी नहीं है। अब बतलाते हैं, कि इस प्रकार साम्यबुद्धि में समस्त कर्म करते रहने से व्यवहार का लोप नहीं होता; और पूर्ण सिद्धि अथवा मोक्ष प्राप्त हुए बिना नहीं रहता—]

(५१) (समत्व) बुद्धि से युक्त (जो) ज्ञानी पुरुष कर्मफल का त्याग करते हैं वे जन्म के बन्ध से मुक्त होकर (परमेश्वर के) दुःखविरहित पद को जा पहुँचते हैं। (५२) जब तेरी बुद्धि मोह के गँदले आवरण से पार हो जायगी, तब उन बातों से तू विरक्त हो जायगा जो सुनी हैं और सुनने की हैं।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
§§ स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

[अर्थात् तुझे कुछ अधिक सुनने की इच्छा न होगी। क्योंकि इन बातों के सुनने से मिलनेवाला फल तुझे पहले ही प्राप्त हो चुका होगा। 'निर्वेद' शब्द का उपयोग प्रायः संसारी प्रपंच से उकताहट या वैराग्य के लिये किया जाता है। इस श्लोक में उसका सामान्य अर्थ "ऊब जाना" या "चाह न रहना" ही है। अगले श्लोक से दीख पड़ेगा, कि यह उकताहट, विशेष करके पीछे बतलाये हुए, त्रैगुण्यविषयक श्रौतकर्मों के सम्बन्ध में है।]

(५३) (नाना प्रकार के) वेदवाक्यों से घबड़ाई हुई तेरी बुद्धि जब समाधि-वृत्ति, में स्थिर और निश्चल होगी, तब (यह साम्यबुद्धिरूप) योग तुझे प्राप्त होगा।

(सारांश, द्वितीय अध्याय के ४४ वें श्लोक के अनुसार, जो लोग वेद-वाक्य की फलश्रुति में भूले हुए हैं, और जो लोग किसी विशेष फल की प्राप्ति-के लिये कुछ कर्म करने की धुन में लगे रहते हैं, उनकी बुद्धि स्थिर नहीं होती--और भी अधिक गड़बड़ा जाती है। इसलिये अनेक उपदेशों का सुनना-छोड़ कर चित्त को निश्चल समाधि अवस्था में रख। ऐसा करने से साम्यबुद्धिरूप कर्मयोग तुझे प्राप्त होगा; और अधिक उपदेश की ज़रूरत न रहेगी। एवं कर्म करने पर भी तुझे उनका कुछ पाप न लगेगा। इस रीति से जिस कर्मयोगी की बुद्धि या प्रज्ञा स्थिर हो जाय, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। अब अर्जुन का प्रश्न है, कि उसका व्यवहार कैसा होता है।]

अर्जुन ने कहा--(५४) हे केशव! (मुझे बतलाओ कि) समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ किसे कहें? उस स्थितप्रज्ञ का बोलना, बैठना, और चलना कैसा रहता है?

[इस श्लोक में 'भाषा' शब्द 'लक्षण' के अर्थ में प्रयुक्त है और हमने उसका भाषान्तर, उसकी भाष् धातु के अनुसार "किसे कहें" किया है। गीता रहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३६६-३७७) में स्पष्ट कर दिया है, कि स्थित-प्रज्ञ का बर्ताव कर्मयोगशास्त्र का आधार है; और इससे अगले वर्णन का महत्त्व ज्ञात हो जायगा।]

श्रीभगवान् ने कहा :--(५५) हे पार्थ! जब (कोई मनुष्य अपने) मन के समस्त

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

काम अर्थात् वासनाओं को छोड़ता है; और अपने आप में ही सन्तुष्ट होकर रहता है, तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। (५६) दुःख में जिसके मन को खेद नहीं होता, सुख में जिसकी आसक्ति नहीं; और प्रीति, भय एवं क्रोध जिसके छूट गये हैं, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं। (५७) सब बातों में जिसका मन निःसङ्ग हो गया; और यथाप्राप्त शुभ-अशुभ का जिसे आनन्द या विषाद भी नहीं; (कहना चाहिये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हुई। (५८) जिस प्रकार कछुवा अपने (हाथ-पैर आदि) अवयव सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के (शब्द स्पर्श आदि) विषयों से (अपनी) इन्द्रियों को खींच लेता है, तब (कहना चाहिये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हुई। (५९) निराहारी पुरुष के विषय छूट जावें, तो भी (उनका) रस अर्थात् चाह नहीं छूटती। परन्तु परब्रह्म का अनुभव होने पर चाह भी छूट जाती है—अर्थात् विषय और उनकी चाह दोनों छूट जाते हैं।

[अन्न से इन्द्रियों का पोषण होता है। अतएव निराहार या उपवास करने से इन्द्रियाँ अशक्त होकर अपने अपने विषयों का सेवन करने में असमर्थ हो जाती हैं। पर इस रीति से विषयोपभोग का छूटना केवल जबर्दस्ती की अशक्तता की बाह्यक्रिया हुई। इससे मन की विषयवासना (रस) कुछ कम नहीं होती। इसलिये यह वासना जिससे नष्ट हो, उस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करना चाहिये। इस प्रकार ब्रह्म का अनुभव हो जाने पर मन एवं उसके साथ ही साथ इन्द्रियाँ भी आप-ही-आप ताबे में रहती हैं। इन्द्रियों को ताबे में रखने के लिये निराहार आदि उपाय आवश्यक नहीं,—यही इस श्लोक का भावार्थ है। और यही अर्थ आगे छठे अध्याय के श्लोक में स्पष्टता से वर्णित है (गीता ६. १६. १७ और ३. ६, ७ देखो), कि योगी का आहार नियमित रहे। वह आहार-विहार आदि को बिलकुल ही न छोड़ दे। सारांश, गीता का यह सिद्धान्त ध्यान में रखना चाहिये, कि शरीर को कृश करनेवाले निराहार आदि साधन एकाङ्गी हैं अतएव वे त्याज्य हैं। नियमित आहार-विहार और ब्रह्मज्ञान ही इन्द्रिय-निग्रह का उत्तम साधन है। इस श्लोक में रस शब्द का 'जिह्वा से अनुभव

यततो ह्यपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

किये जानेवाला मीठा, कड़ुवा, इत्यादि रस ' ऐसा अर्थ करके कुछ लोग यह अर्थ करते हैं, कि उपवासों से शेष इन्द्रियों के विषय यदि छूट भी जायँ, तो भी जिह्वा वा रस अर्थात् खाने-पीने की इच्छा कम न होकर बहुत दिनों के निराहार से और भी अधिक तीव्र हो जाती है; और, भागवत में ऐसे अर्थ का एक श्लोक भी है (भाग. ११. ८. २०)। पर हमारी राय में गीता के इस श्लोक का ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं। क्योंकि दूसरे चरण से वह मेल नहीं रखता। इसके अतिरिक्त भागवत में ' रस ' शब्द नहीं, ' रसनं ' है; और गीता के श्लोक का दूसरा चरण भी वहाँ नहीं है। अतएव भागवत और गीता के श्लोक को एकार्थक मान लेना उचित नहीं है। अब आगे के दो श्लोकों में और अधिक स्पष्ट कर बतलाते हैं, कि बिना ब्रह्मसाक्षात्कार के पूरा पूरा इन्द्रियनिग्रह हो नहीं सकता है :—]

(६०) कारण यह है, कि केवल (इन्द्रियों के दमन करने के लिये) प्रयत्न करनेवाले विद्वान् के भी मन को, हे कुन्तीपुत्र ! ये प्रबल इन्द्रियाँ बलात्कार से मनमानी ओर खींच लेती हैं। (६१) (अतएव) इन सब इन्द्रियों का संयमन कर युक्त अर्थात् योगयुक्त और मत्परायण होकर रहना चाहिये। इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ अपने स्वाधीन हो जायँ (कहना चाहिये कि), उसकी बुद्धि स्थिर हो गई।

[इस श्लोक में कहा है, कि नियमित आहार से इन्द्रियनिग्रह करके साथ ही साथ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये मत्परायण होना चाहिये। अर्थात् ईश्वर में चित्त लगाना चाहिये। और ५९ वें श्लोक का हमने जो अर्थ किया है, उससे प्रगट होगा, कि उसका हेतु क्या है ? मनु ने भी निरे इन्द्रियनिग्रह करनेवाले पुरुष को यह इशारा किया है, कि " बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति " (मनु. २. २१५); और उसी का अनुवाद ऊपर के ६० वें श्लोक में किया है। सारांश, इन तीन श्लोकों का भावार्थ यह है, कि जिसे स्थितप्रज्ञ होना हो, उसे अपना आहार-विहार नियमित रख कर ब्रह्मज्ञान ही प्राप्त करना चाहिये। ब्रह्मज्ञान होने पर ही मन निर्विषय होता है। शरीरक्लेश के उपाय तो ऊपरी हैं— सच्चे नहीं। 'मत्परायण' पद से यहाँ भक्तिमार्ग का भी आरम्भ हो गया है (गी. ९. ३४ देखो)। ऊपर के श्लोक में जो ' युक्त ' शब्द है, उसका अर्थ ' योग से तैयार या बना हुआ ' है। गीता ६. १७ में ' युक्त ' शब्द है, उसका अर्थ ' नियमित ' है। पर गीता में इस शब्द का सदैव का अर्थ है—" साम्यबुद्धि का जो योग गीता में बतलाया गया है, उसका उपयोग करके तदनुसार समस्त सुख-

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

दुःखों को शान्तिपूर्वक सहन कर, व्यवहार करने में चतुर पुरुष " (गी. ५. २३ देखो) । इस रीति से निष्णात हुए पुरुष को ही 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं। उसकी अवस्था ही सिद्धावस्था कहलाती है; और इस अध्याय के तथा पाँचवें एवं बारहवें अध्याय के अन्त में इसी का वर्णन है । यह बतला दिया, कि विषयों की चाह छोड़ कर स्थितप्रज्ञ होने के लिये क्या आवश्यक है ? अब अगले श्लोकों में यह वर्णन करते हैं, कि विषयों में चाह कैसे उत्पन्न होती है ? इसी चाह से आगे चलकर काम-क्रोध आदि विकार कैसे उत्पन्न होते हैं? और अन्त में उससे मनुष्य का नाश कैसे हो जाता है ? एवं इनसे छुटकारा किस प्रकार मिल सकता है ?---]

(६२) विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष का इन विषयों में संग बढ़ता जाता है। फिर इस संग से यह वासना उत्पन्न होती है, कि हमको काम (अर्थात् वह विषय) चाहिये । और (इस काम की तृप्ति होने में विघ्न होने से) उस काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है; (६३) क्रोध से संमोह अर्थात् अविवेक होता है, संमोह से स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से (पुरुष का) सर्वस्वनाश हो जाता है । (६४) परन्तु अपना आत्मा अर्थात् अन्तःकरण जिसके क़ाबू में है, वह (पुरुष) प्रीति और द्वेष से छूटी हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों से विषयों में बर्ताव कवके भी (चित्त से) प्रसन्न रहता है। (६५) चित्त प्रसन्न रहने से उसके सब दुःखों का नाश होता है । क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है, उसकी बुद्धि भी तत्काल स्थिर होती है ।

[इन दो श्लोकों में स्पष्ट वर्णन है, कि विषय या कर्म को न छोड़ स्थितप्रज्ञ केवल उनका संग छोड़ कर विषय में ही निःसंगबुद्धि से बर्तता रहता है। और उसे जो शान्ति मिलती है, वह कर्मयोग से नहीं; किन्तु फलाशा के त्याग से प्राप्त होती है । क्योंकि इसके सिवा अन्य बातों में इस स्थितप्रज्ञ में और संन्यास मार्गवाले स्थितप्रज्ञ में कोई भेद नहीं है । इन्द्रियसंयमन, निरिच्छा और शान्ति ये गुण दोनों को ही चाहिये । परन्तु इन दोनों में महत्त्व का भेद यह है, कि गीता का स्थितप्रज्ञ कर्मों का संन्यास नहीं करता । किन्तु लोक-

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥
इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥ ६७ ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

संग्रह के निमित्त समस्त कर्म निष्कामबुद्धि से किया करता है; और संन्यासमार्ग-वाला स्थितप्रज्ञ करता ही नहीं है (देखो गी. ३. २५) । किन्तु गीता के संन्यासमार्गीय टीकाकार इस भेद को गौण समझ कर साम्प्रदायिक आग्रह से प्रतिपादन किया करते हैं, कि स्थितप्रज्ञ का उक्त वर्णन संन्यासमार्ग का ही है । अब इस प्रकार जिसका चित्त प्रसन्न नहीं, उसका वर्णन कर स्थितप्रज्ञ के स्वरूप को और भी अधिक व्यक्त करते हैं :--]

(६६) जो पुरुष उक्त रीति से युक्त अर्थात् योगयुक्त नहीं हुआ है, उसमें (स्थिर-) बुद्धि और भावना अर्थात् दृढबुद्धिरूप निष्ठा भी नहीं रहती । जिसे भावना नहीं उसे शान्ति नहीं; और जिसे शान्ति नहीं, उसे सुख मिलेगा कहाँ से ? (६७) (विषयोंमें) सञ्चार अर्थात् व्यवहार करनेवाले इन्द्रियों के पीछे पीछे मन जो जाने लगता है, वही पुरुष की बुद्धि को ऐसे हरण किया करता है, जैसे कि पानी में नौका को वायु खींचती है । (६८) अतएव हे महाबाहु अर्जुन ! इन्द्रियों के विषयों से जिसकी इन्द्रियाँ चहुँ ओर से हटी हुई हों, (कहना चाहिये कि) उसी की बुद्धि स्थिर हुई ।

[सारांश, मन के निग्रह के द्वारा इन्द्रियों का निग्रह करना सब साधनों का मूल है । विषयों में व्यग्र होकर इन्द्रियाँ इधर-उधर दौड़ती रहें, तो आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने की (वासनात्मक) बुद्धि ही नहीं हो सकती । अर्थ यह है, कि बुद्धि न हो, तो उसके विषय में दृढ उद्योग भी नहीं होता; और फिर शान्ति एवं सुख भी नहीं मिलता । गीतारहस्य के चौथे प्रकरण में दिखलाया है, कि इन्द्रियनिग्रह का यह अर्थ नहीं है, कि इन्द्रियों को एकाएक दबा कर सब कर्मों को बिलकुल छोड़ दे । किन्तु गीता का अभिप्राय यह है, कि ६४ वें श्लोक में जो वर्णन है, उसके अनुसार निष्कामबुद्धि से कर्म करते रहना चाहिये ।]

(६९) सब लोगों की जो रात है, उसमें स्थितप्रज्ञ जागता है; और जब समस्त प्राणिमात्र जागते रहते हैं, तब इस ज्ञानवान् पुरुष को रात मालूम होती है ।

[यह विरोधाभासात्मक वर्णन अलङ्कारिक है । अज्ञान अन्धकार को और ज्ञान प्रकाश को कहते हैं (गी. १४. ११) । अर्थ यह है, कि अज्ञानी लोगों को जो वस्तु अनावश्यक प्रतीत होती है (अर्थात् उन्हें जो अन्धकार है), वही

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥
§§ विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

ज्ञानियों को आवश्यक होती है; और जिसमें अज्ञानी लोग उलझे रहते हैं—उन्हें जहाँ उजेला मालूम होता है—वहीं ज्ञानी को अँधेरा देख पड़ता है—अर्थात् वह ज्ञानी को अभीष्ट नहीं रहता। उदाहरणार्थ, ज्ञानी पुरुष काम्यकर्मों को तुच्छ मानता है, तो सामान्य लोग उसमें लिपटे रहते हैं; और ज्ञानी पुरुष को जो निष्काम कर्म चाहिये, उसकी औरों को चाह नहीं होती।]

(७०) चारों ओर से (पानी) भरते जाने पर भी जिसकी मर्यादा नहीं डिगती, ऐसे समुद्र में जिस प्रकार सब पानी चला जाता है, उसी प्रकार जिस पुरुष में समस्त विषय (उसकी शान्ति भंग हुए बिना ही) प्रवेश करते हैं, उसे ही (सच्ची) शान्ति मिलती है। विषयों की इच्छा करनेवाले को (यह शान्ति) नहीं (मिलती)।

[इस श्लोक का यह अर्थ नहीं है, कि शांति प्राप्त करने के लिये कर्म न करना चाहिये। प्रत्युत भावार्थ यह है, कि साधारण लोगों का मन फलाशा से या काम्यवासना से घबड़ा जाता है; और उनके कर्मों से उनके मन की शान्ति बिगड़ जाती है। परन्तु जो सिद्धावस्था में पहुँच गया है, उसका मन फलाशा से क्षुब्ध नहीं होता। कितने ही कर्म करने को क्यों न हों? पर उसके मन की शांति नहीं डिगती। वह समुद्रसरीखा शांत बना रहता है; और सब काम किया करता है। अतएव उसे सुखदुःख की व्यथा नहीं होती। (उक्त ६४ वाँ श्लोक और गी. ४.१९ देखो)। अब इस विषय का उपसंहार करके बतलाते ह, कि स्थितप्रज्ञ की इस स्थिति का क्या नाम है?—]

(७१) जो पुरुष सब काम (अर्थात् आसक्ति) छोड़ कर और निःस्पृह हो करके (व्यवहार में) बर्तता है, एवं जिसे ममत्व और अहंकार नहीं होता, उसे ही शांति मिलती है।

[संन्यासमार्ग के टीकाकार इस 'चरित' (बर्तता है) पद का "भीख माँगता फिरता है" ऐसा अर्थ करते हैं; परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। पिछले ६४ वें और ६७ वें श्लोक में 'चरन्' एवं 'चरतां' का जो अर्थ है, वही अर्थ यहाँ भी करना चाहिये। गीता में ऐसा उपदेश कहीं भी नहीं है, कि स्थितप्रज्ञ भिक्षा माँगा करे। हाँ; इसके विरुद्ध ६४ वें श्लोक में यह स्पष्ट कह दिया है, कि स्थितप्रज्ञ पुरुष इन्द्रियों को अपने स्वाधीन रख कर 'विषयों में बर्ते'। अतएव 'चरित' का ऐसा ही अर्थ करना चाहिये, कि 'बर्तता है;' अर्थात् 'जगत् के व्यवहार करता है'। श्रीसमर्थ रामदासस्वामी ने दासबोध के उत्तरार्ध में इस बात का उत्तम वर्णन किया है, कि 'निःस्पृह' चतुर पुरुष (स्थितप्रज्ञ) व्यवहार में कैसे बर्तता है? और गीतारहस्य के चौदहवें प्रकरण का विषय ही वही है।]

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

---

(७२) हे पार्थ ! ब्राह्मी स्थिति यही है । इसे पा जाने पर कोई भी मोह में नहीं फँसता; और अन्तकाल में अर्थात् मरने के समय में भी इस स्थिति में रह कर ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्म में मिल जाने के स्वरूप का मोक्ष पाता है ।

[यह ब्राह्मी स्थिति कर्मयोग की अन्तिम और अत्युत्तम स्थिति है (देखो गी. र. प्र. ९. पृ. २३१ और २४६); और इसमें विशेषता यह है, कि इसमें प्राप्त हो जाने से फिर फिर मोह नहीं होता । यहाँ पर इस विशेषता के बतलाने का कुछ कारण है । वह यह कि, यदि किसी दिन दैवयोग से घड़ी-दो-घड़ी के लिये इस ब्राह्मी स्थिति का अनुभव हो सके, तो उससे कुछ चिरकालिक लाभ नहीं होता । क्योंकि किसी भी मनुष्य की यदि मरते समय यह स्थिति न रहेगी, तो मरणकाल में जैसी वासना रहेगी, उसी के अनुसार पुनर्जन्म होगा (देखो गीता रहस्य प्र. ९ पृ. २८८) । यही कारण है, जो ब्राह्मी स्थिति का वर्णन करते हुए इस श्लोक में स्पष्टतया कह दिया है, कि 'अन्तकालेऽपि' = अन्तकाल में भी स्थितप्रज्ञ की यह अवस्था स्थिर बनी रहती है । अन्तकाल में मन के शुद्ध रहने की विशेष आवश्यकता का वर्णन उपनिषदों में (छां. ३. १४. १; प्र. ३. १०) और गीता में भी (गी. ८. ५–१०) है । यह वासनात्मक कर्म अगले अनेक जन्मों के मिलने का कारण है । इसलिये प्रगट ही है, कि अन्ततः मरने के समय तो वासना शून्य हो जानी चाहिये । और फिर यह भी कहना पड़ता है, कि मरणसमय में वासना शून्य होने के लिये पहले से ही वैसा अभ्यास हो जाना चाहिये । क्योंकि वासना को शून्य करने का कर्म अत्यन्त कठिन है । और बिना ईश्वर की विशेष कृपा के उसका किसी को भी प्राप्त हो जाना न केवल कठिन है; वरन् असम्भव भी है । यह तत्त्व वैदिकधर्म में ही नहीं है, कि मरणसमय में वासना शुद्ध होनी चाहिये; किंतु अन्यान्य धर्मों में भी यह तत्त्व अंगीकृत हुआ है । देखो गीतारहस्य प्र.१३, पृ. ४३९ ।]

इस प्रकार श्री भगवान् के गाये हुए––अर्थात् कहे हुए––उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग––अर्थात् कर्मयोग––शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

[इस अध्याय में, आरम्भ में सांख्य अथवा संन्यासमार्ग का विवेचन है । इस कारण इसको सांख्ययोग नाम दिया गया है । परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये, कि पूरे अध्याय में वही विषय है । एक ही अध्याय में प्रायः अनेक

तृतीयोऽध्यायः ।

—०×०—

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ॥
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

§§ लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

विषयों का वर्णन होता है। जिस अध्याय में जो विषय आरम्भ में आ गया है, अथवा जो विषय उसमें प्रमुख है, उसी के अनुसार उस अध्याय का नाम रख दिया जाता है ! देखो गीतारहस्य प्रकरण १४, पृ. ४४४ ।]

तीसरा अध्याय ।

[अर्जुन को यह भय हो गया था, कि मुझे भीष्म-द्रोण आदि को मारना पड़ेगा । अतः सांख्यमार्ग के अनुसार आत्मा की नित्यता और अशोच्यत्व से यह सिद्ध किया गया, कि अर्जुन का भय वृथा है। फिर स्वधर्म का थोड़ा-सा विवेचन करके गीता के मुख्य विषय कर्मयोग का दूसरे अध्याय में ही आरम्भ किया गया है। और कहा गया है, कि कर्म करने पर भी उनके पाप-पुण्य से बचने के लिये केवल यही एक युक्ति या योग है, कि वे कर्म साम्यबुद्धि से किये जावें। इसके अनन्तर अंत में उस कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ का वर्णन भी किया गया है, कि जिसकी बुद्धि इस प्रकार सम हो गई हो। परन्तु इतने से ही कर्मयोग का विवेचन पूरा नहीं हो जाता । यह बात सच है, कि कोई भी काम समबुद्धि से किया जावे, तो उसका पाप नहीं लगता; परन्तु जब कर्म की अपेक्षा समबुद्धि की ही श्रेष्ठता विवादरहित सिद्ध होती है (गी. २. ४९), तब फिर स्थितप्रज्ञ की नाईं बुद्धि को सम कर लेने से ही काम चल जाता है। इससे यह सिद्ध नहीं होता, कि कर्म करना ही चाहिये । अतएव जब अर्जुन ने यही शंका प्रश्नरूप में उपस्थित की, तब भगवान् इस अध्याय में तथा अगले अध्याय में प्रतिपादन करते हैं, कि "कर्म करना ही चाहिये ।"]

अर्जुन ने कहा :—(१) हे जनार्दन ! यदि तुम्हारा यही मत है, कि कर्म की अपेक्षा (साम्य-) बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तो हे केशव ! मुझे (युद्ध के) घोर कर्म में क्यों लगाते हो ? (२) (देखने में) व्यामिश्र अर्थात् सन्दिग्ध भाषण करके तुम मेरी बुद्धि को भ्रम में डाल रहे हो ! इसलिये तुम ऐसी एक ही बात निश्चित करके मुझे बतलाओ, जिससे मुझे श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त हो ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥
न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् ने कहा :––(३) हे निष्पाप अर्जुन ! पहले (अर्थात् दूसरे अध्याय में) मैंने यह बतलाया है, कि इस लोक में दो प्रकार की निष्ठाएँ हैं––अर्थात् ज्ञानयोग से सांख्यों की और कर्मयोग से योगियों की ।

[हमने 'पुरा' शब्द का अर्थ "पहले" अर्थात् "दूसरे अध्याय में" किया है । यही अर्थ सरल है । क्योंकि दूसरे अध्याय में पहले सांख्यनिष्ठा के अनुसार ज्ञान का वर्णन करके फिर कर्मयोगनिष्ठा का आरम्भ किया गया है । परन्तु 'पुरा' शब्द का अर्थ "सृष्टि के आरम्भ में" भी हो सकता है । क्योंकि महाभारत में, नारायणीय या भागवतधर्म के निरूपण में यह वर्णन है, कि सांख्य और योग (निवृत्ति और प्रवृत्ति) दोनों प्रकार की निष्ठाओं को भगवान् ने जगत् के आरम्भ में ही उत्पन्न किया है (देखो शां. ३४० और ३४७) । 'निष्ठा' शब्द के पहले 'मोक्ष' शब्द अध्याहृत है । 'निष्ठा' शब्द का अर्थ वह मार्ग है, कि जिस से चलने पर अन्त में मोक्ष मिलता है । गीता के अनुसार ऐसी निष्ठाएँ दो ही हैं; और वे दोनों स्वतंत्र हैं, कोई किसी का अंग नहीं है––इत्यादि बातों का विस्तृत विवेचन गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण (पृ. ३०४–३१५) में किया गया है । इसलिये उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है । ग्यारहवें प्रकरण के अन्त (पृष्ठ ३५२) में नक्शा देकर इस बात का भी वर्णन कर दिया गया है, कि दोनों निष्ठाओं में भेद क्या है ? मोक्ष की दो निष्ठाएँ बतला दी गईं । अब तदंगभूत नैष्कर्म्यसिद्धि का स्वरूप स्पष्ट करके बतलाते हैं :—]

(४) परन्तु कर्मो का प्रारम्भ न करने से ही पुरुष को नैष्कर्म्यप्राप्ति नहीं हो जाती; और कर्मों का प्रारम्भ त्याग न करने से ही सिद्धि नहीं मिल जाती । (५) क्योंकि कोई मनुष्य कुछ-न-कुछ कर्म किये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता । प्रकृति के गुण प्रत्येक परतन्त्र मनुष्य को सदा कुछ-न-कुछ कर्म करने में लगाया ही करते हैं ।

[चौथे श्लोक के चरण में जो 'नैष्कर्म्य' पद है, उसका 'ज्ञान' अर्थ मान कर संन्यासमार्गवाले टीकाकारों ने इस श्लोक का अर्थ अपने सम्प्रदाय के अनुकूल इस प्रकार बना लिया है :—"कर्मों का आरम्भ न करने से ज्ञान नहीं होता, अर्थात् कर्मों से ही ज्ञान होता है । क्योंकि कर्म ज्ञानप्राप्ति का साधन है ।" परन्तु यह अर्थ न तो सरल है; और न ठीक है । नैष्कर्म्य शब्द का उपयोग वेदान्त और मीमांसा दोनों शास्त्रों में कई बार किया गया है; और

सुरेश्वराचार्य का " नैष्कर्म्यसिद्धि " नामक इस विषय पर एक ग्रंथ भी है । तथापि नैष्कर्म्य के ये तत्त्व कुछ नये नहीं हैं । न केवल सुरेश्वराचार्य ही के; किन्तु मीमांसा और वेदान्त के सूत्र बनने के भी पूर्व से ही उनका प्रचार होता आ रहा है । यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं, कि कर्म बन्धक होता ही है ; इसलिये पारे का उपयोग करने के पहले उसे मार कर जिस प्रकार वैद्य लोग शुद्ध कर लेते हैं, उसी प्रकार कर्म करने के पहले ऐसा उपाय करना पड़ता है, कि जिससे उसका बन्धकत्व या दोष मिट जायँ । और ऐसी युक्ति से कर्म करने की स्थिति को ही ' नैष्कर्म्य ' कहते हैं । इस प्रकार बन्धकत्वरहित कर्म मोक्ष के लिये बाधक नहीं होते । अतएव मोक्षशास्त्र का यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, कि यह स्थिति कैसे प्राप्त की जाय ? मीमांसक लोग इसका यह उत्तर देते हैं, कि नित्य और (निमित्त होने पर) नैमित्तिक कर्म तो करना चाहिये; पर काम्य और निषिद्ध कर्म नहीं करना चाहिये । इससे कर्म का बन्धकत्व नहीं रहता; और नैष्कर्म्यावस्था सुलभ रीति से प्राप्त हो जाती है । परन्तु वेदान्तशास्त्र ने सिद्धान्त किया है, कि मीमांसकों की यह युक्ति गलत है; और इस बात का विवेचन गीतारहस्य के दसवें प्रकरण (पृ. २७४) में किया गया है । कुछ और लोगों का कथन है, कि यदि कर्म किये ही न जावें, तो उनसे बाधा कैसे हो सकती है ? इसलिये, उनके मतानुसार नैष्कर्म्य अवस्था प्राप्त करने के लिये सब कर्मों ही को छोड़ देना चाहिये । इनके मत से कर्मशून्यता को ही ' नैष्कर्म्य ' कहते हैं । चौथे श्लोक में बतलाया गया है, कि यह मत ठीक नहीं है । इससे तो सिद्धि अर्थात् मोक्ष भी नहीं मिलता; और पाँचवें श्लोक में इसका कारण भी बतला दिया है । यदि हम कर्म को छोड़ देनें का विचार करें, तो जब तक यह देह है, तब तक सोना, बैठना इत्यादि कर्म कभी रुक ही नहीं सकते (गी. ५.९ और १८.११) । इसलिये कोई भी मनुष्य कर्मशून्य कभी नहीं हो सकता । फलतः कर्मशून्यरूपी नैष्कर्म्य असम्भव है । सारांश, कर्मरूपी बिच्छू कभी नहीं मरता । इसलिये ऐसा कोई उपाय सोचना चाहिये, कि जिससे वह विषरहित हो जाय । गीता का सिद्धान्त है, कि कर्मों में से अपनी आसक्ति को हटा लेना ही इसका एकमात्र उपाय है । आगे अनेक स्थानों में इसी उपाय का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है । परन्तु इस पर भी शङ्का हो सकती है, कि यद्यपि कर्मों को छोड़ देना नैष्कर्म्य नहीं है, तथापि संन्यासमार्गवाले तो सब कर्मों का संन्यास अर्थात् त्याग करके ही मोक्ष प्राप्त करते हैं । अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिये कर्मों का त्याग करना आवश्यक है । इसका उत्तर गीता इस प्रकार देती है, कि संन्यासमार्गवालों को मोक्ष तो मिलता है सही; परन्तु वह कुछ उन्हें कर्मों का त्याग करने से नहीं मिलता । किन्तु मोक्षसिद्धि उनके ज्ञान का फल है । यदि केवल कर्मों का त्याग करने से ही मोक्षसिद्धि होती हो, तो फिर पत्थरों को

> इंद्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
> यस्त्विद्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
> कर्मेंद्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

भी मुक्ति मिलनी चाहिये ! इससे ये तीन बातें सिद्ध होती हैं :–(१) नैष्कर्म्य कुछ कर्मशून्यता नहीं है, (२) कर्मों को बिलकुल त्याग देने का कोई कितना भी प्रयत्न क्यों न करे ? परन्तु वे छूट नहीं सकते; और (३) कर्मों का त्याग देना सिद्धि प्राप्त करने का उपाय नहीं है। येही बातें ऊपर के श्लोक में बतलाई गई हैं। जब ये तीनों बातें सिद्ध हो गईं, तब अठारहवें अध्याय के कथनानुसार 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' की (देखो गी. १८. ४८ और ४६) प्राप्ति के लिये यही एक मार्ग शेष रह जाता है, कि कर्म करना तो छोड़े नहीं; पर ज्ञान के द्वारा आसक्ति का क्षय करके सब कर्म सदा करता रहे। क्योंकि ज्ञान मोक्ष का साधन है तो सही; पर कर्मशून्य रहना भी कभी सम्भव नहीं। इसलिये कर्मों के बन्धकत्व (बन्धन) को नष्ट करने के लिये आसक्ति छोड़ कर उन्हें करना आवश्यक होता है। इसी को कर्मयोग कहते हैं। और अब बतलाते हैं, कि यही ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक मार्ग विशेष योग्यता का––अर्थात् श्रेष्ठ है :––]

(६) जो मूढ (हाथ पैर आदि) कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन किया करता है, उसे मिथ्याचारी अर्थात् दाम्भिक कहते हैं। (७) परन्तु हे अर्जुन ! उसकी योग्यता विशेष अर्थात् श्रेष्ठ है, कि जो मनसे इन्द्रियों का आकलन करके (केवल) कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्तबुद्धि से 'कर्मयोग' का आरम्भ करता है।

[पिछले अध्याय में जो यह बतलाया गया है, कि कर्मयोग में कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है (गी. २. ४६), उसी का इन दोनों श्लोकों में स्पष्टीकरण किया गया है। यहाँ साफ़ साफ़ कह दिया है, कि जिस मनुष्य का मन तो शुद्ध नहीं है; पर केवल दूसरों के भय से या इस अभिलाषा से––कि दूसरे मुझे भला कहें––केवल बाह्येन्द्रियों के व्यापार को रोकता है, वह सच्चा सदाचारी नहीं है। वह ढोंगी है। जो लोग इस वचन का प्रमाण देकर––कि "कलौ कर्ता च लिप्यते" कलियुग में दोष बुद्धि में नहीं, किन्तु कर्म में रहता है––यह प्रतिपादन किया करते हैं, कि बुद्धि चाहे जैसी हो; परन्तु कर्म बुरा न हो; उन्हें इस श्लोक में वर्णित गीता के तत्त्व पर विशेष ध्यान देना चाहिये। सातवें श्लोक से यह बात प्रगट होती है, कि निष्कामबुद्धि से कर्म करने के योग को ही गीता में 'कर्मयोग' कहा है। संन्यासमार्गीय कुछ टीकाकार इस श्लोक का ऐसा अर्थ करते हैं, कि यद्यपि यह कर्मयोग छठे श्लोक में बतलाये हुए दांभिक मार्ग से श्रेष्ठ है, तथापि यह संन्यासमार्ग से श्रेष्ठ नहीं है। परन्तु यह युक्ति साम्प्रदायिक आग्रह की है। क्योंकि न केवल इसी श्लोक में, वरन् फिर पाँचवें अध्याय के आरम्भ में (और अन्यत्र भी) यह स्पष्ट कह दिया गया है, कि संन्यासमार्ग से भी कर्मयोग अधिक

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

योग्यता का या श्रेष्ठ है (गीतार. प्र. ११, पृ. ३०७-३०८)। इस प्रकार जब कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, तब अर्जुन को इसी मार्ग का आचरण करने के लिये उपदेश करते हैं :--]

(८) (अपने धर्म के अनुसार) नियत अर्थात् नियमित कर्म को तू कर। क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना कहीं अधिक अच्छा है । इसके अतिरिक्त (यह समझ ले कि यदि) तू कर्म न करेगा, तो (भोजन भी न मिलने से) तेरा शरीरनिर्वाह तक न हो सकेगा ।

['अतिरिक्त' और 'तक' (अपि च) पदों से शरीरयात्रा को कम-से-कम हेतु कहा है । अब यह बतलाने के लिये यज्ञप्रकरण का आरम्भ किया जाता है, कि 'नियत' अर्थात् नियत किया हुआ 'कर्म' कौन-सा है ? और दूसरे किस महत्त्व के कारण उसका आचरण अवश्य करना चाहिये ? आजकल यज्ञ-याग आदि श्रौतधर्म लुप्त-सा हो गया है । इसलिये इस विषय का आधुनिक पाठकों को कोई विशेष महत्त्व मालूम नहीं होता । परन्तु गीता के समय में इन यज्ञयागों का पूरा पूरा प्रचार था; और 'कर्म' शब्द से मुख्यतः इन्हीं का बोध हुआ करता था । अतएव गीताधर्म में इस बात का विवेचन करना अत्यावश्यक था, कि ये धर्मकृत्य किये जावें या नहीं ? और यदि किये जावें, तो किस प्रकार ? इसके सिवा, यह भी स्मरण रहे, कि यज्ञ शब्द का अर्थ केवल ज्योतिष्टोम आदि श्रौतयज्ञ या अग्नि में किसी भी वस्तु का हवन करना ही नहीं है (देखो गी. ४. ३२) । सृष्टि निर्माण करके उसका काम ठीक ठीक चलते रहने के लिये (अर्थात् लोकसंग्रहार्थ) प्रजा को ब्रह्मा ने चातुर्वर्ण्यविहित जो जो काम बाँट दिये हैं, उन सब का 'यज्ञ' शब्द में समावेश होता है (देखो म. भा. अनु. ४८. ३; और गी. र. प्र. १० पृ. २८९-२९५)। धर्मशास्त्रों में इन्हीं कर्मों का उल्लेख है; और इस 'नियत' शब्द से वे ही विवक्षित हैं । इसलिये कहना चाहिये, कि यद्यपि आज-कल यज्ञयाग लुप्तप्राय हो गये हैं, तथापि यज्ञचक्र का यह विवेचन अब भी निरर्थक नहीं है । शास्त्रों के अनुसार ये सब कर्म काम्य हैं--अर्थात् इसलिये बत-लाये गये हैं, कि मनुष्य का इस जगत् में कल्याण होवे और उसे सुख मिले । परन्तु पीछे दूसरे अध्याय (गी. २. ४१-४४) में यह सिद्धान्त है, कि मीमांसकों के ये सहेतुक या काम्यकर्म मोक्ष के लिये प्रतिबन्धक हैं, अतएव वे नीचे दर्जे के हैं; और मानना पड़ता है, कि अब तो उन्हीं कर्मों को करना चाहिये । इसलिये अगले श्लोकों में इस बात का विस्तृत विवेचन किया गया है, कि कर्मों का शुभा-शुभ लेप अथवा बन्धकत्व कैसे मिट जाता है ? और उन्हें करते रहने पर भी नैष्कर्म्यावस्था क्योंकर प्राप्त होती है ? यह समग्र विवेचन भारत में वर्णित नारायणीय या भागवतधर्म के अनुसार है (देखो म. भा. शां. ३४०) ।]

§§ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

(९) यज्ञ के लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कर्मों से यह लोक बँधा हुआ है। तदर्थ अर्थात् यज्ञार्थ (किये जानेवाले) कर्म (भी) तू आसक्ति या फलाशा छोड़ कर करता जा।

[इस श्लोक के पहले चरण में मीमांसकों का और दूसरे में गीता का सिद्धान्त बतलाया गया है। मीमांसकों का कथन है, कि जब वेदों ने ही यज्ञ-यागादि कर्म मनुष्यों के लिये नियत कर दिये हैं; और जब कि ईश्वरनिर्मित सृष्टि का व्यवहार ठीक ठीक चलते रहने के लिये यह यज्ञचक्र आवश्यक है, तब कोई भी इन कर्मों का त्याग नहीं कर सकता। यदि कोई इनका त्याग कर देगा, तो समझना होगा, कि वह श्रौतधर्म से वञ्चित हो गया। परन्तु कर्मविपाक-प्रक्रिया का सिद्धान्त है, कि प्रत्येक कर्म का फल मनुष्य को भोगना ही पड़ता है। उसके अनुसार कहना पड़ता है, कि यज्ञ के लिये मनुष्य जो जो कर्म करेगा, उसका भला या बुरा फल भी उसे भोगना ही पड़ेगा। मीमांसकों का इस पर यह उत्तर है, कि वेदों की ही आज्ञा है, कि 'यज्ञ' करना चाहिये। इसलिये यज्ञार्थ जो जो कर्म किये जावेंगे, वे सब ईश्वरसम्मत होंगे। अतः उन कर्मों से कर्ता बद्ध नहीं हो सकता। परन्तु यज्ञों के सिवा दूसरे कर्मों के लिये--उदाहरणार्थ, केवल अपना पेट भरने के लिये मनुष्य जो कुछ करता है, वह यज्ञार्थ नहीं हो सकता। उसमें तो केवल मनुष्य का ही निजी लाभ है। यही कारण है, जो मीमांसक उसे 'पुरुषार्थ' कर्म कहते हैं। और उन्हों ने निश्चित किया है, कि ऐसे यानी यज्ञार्थ के अतिरिक्त अन्य कर्म अर्थात् पुरुषार्थ कर्म का जो कुछ भला या बुरा फल होता है, वह मनुष्य को भोगना पड़ता है--यही सिद्धान्त उक्त श्लोक की पहली पंक्ति में है (देखो गीतार. प्र. ३. पृ. ५२-५५)। कोई कोई टीकाकार यज्ञ = विष्णु ऐसा गौण अर्थ करके कहते हैं, कि यज्ञार्थ शब्द का अर्थ विष्णुप्रीत्यर्थ या परमेश्वरार्पणपूर्वक है। परन्तु हमारी समझ में यह अर्थ खींचातानी का और क्लिष्ट है। यहाँ पर प्रश्न होता है, कि यज्ञ के लिये जो कर्म करने पड़ते हैं, उनके सिवा यदि मनुष्य दूसरे कर्म कुछ भी न करे, तो क्या वह कर्म-बंधन से छूट सकता है? क्योंकि यज्ञ भी तो कर्म ही है। और उसका स्वर्गप्राप्ति-रूप जो शास्त्रोक्त फल है, वह मिले बिना नहीं रहता। परन्तु गीता के दूसरे ही अध्याय में स्पष्ट रीति से बतलाया गया है, कि यह स्वर्गप्राप्तिरूप फल मोक्ष-प्राप्ति के विरुद्ध है (देखो गी. २.४०-४४; और ९. २०, २१)। इसीलिये उक्त श्लोक के दूसरे चरण में यह बात फिर बतलाई गई है, कि मनुष्य को यज्ञार्थ जो कुछ नियत कर्म करना होता है, उसे भी वह फल की आशा छोड़ कर अर्थात् केवल कर्तव्य समझ कर करे; और इसी अर्थ का प्रतिपादन आगे सात्त्विक

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥
इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यज्ञ की व्याख्या करते समय किया गया है (देखो गी. १७. ११ और १८.६)। इस श्लोक का भावार्थ यह है, कि इस प्रकार सब कर्म यज्ञार्थ और सो भी फलाशा छोड़कर करने से, (१) वे मीमांसकों के न्यायानुसार ही किसी भी प्रकार मनुष्य को बद्ध नहीं करते। क्योंकि वे तो यज्ञार्थ किये जाते हैं। और (२) उनका स्वर्गप्राप्तिरूप शास्त्रोक्त एवं अनित्य फल मिलने के बदले मोक्षप्राप्ति होती है। क्योंकि वे फलाशा छोड़ कर किये जाते हैं। आगे १९ वें श्लोक में और फिर चौथे अध्याय के २३ वें श्लोक म यही अर्थ दुबारा प्रतिपादित हुआ है। तात्पर्य यह है, कि मीमांसकों के इस सिद्धान्त--" यज्ञार्थ कर्म करने चाहिये। क्योंकि वे बन्धक नहीं होते "--में भगवद्गीता ने और भी यह सुधार कर दिया है, कि " जो कर्म यज्ञार्थ किये जावें, उन्हें भी फलाशा छोड़ कर करना चाहिये ! किन्तु इस पर भी यह शंका होती है, कि मीमांसकों के सिद्धान्त को इस प्रकार सुधारने का प्रयत्न करके यज्ञयाग आदि गार्हस्थ्यवृत्ति को जारी रखने की अपेक्षा क्या यह अधिक अच्छा नहीं है, कि कर्मों की झंझट से छूट कर मोक्षप्राप्ति के लिये सब कर्मों को छोड़ कर संन्यास ले लें ? भगवद्गीता इस प्रश्न का साफ़ यही एक उत्तर देती है, कि 'नहीं'। क्योंकि यज्ञचक्र के बिना इस जगत् के व्यवहार जारी नहीं रह सकते। अधिक क्या कहें ? जगत् के धारण-पोषण के लिये ब्रह्मा ने इस चक्र को प्रथम उत्पन्न किया है। और जब कि जगत् की सुस्थिति या संग्रह ही भगवान् को इष्ट है, तब इस यज्ञचक्र को कोई भी नहीं छोड़ सकता। अब यही अर्थ अगले श्लोक में बतलाया गया है। इस प्रकरण में पाठकों को स्मरण रखना चाहिये, कि यज्ञ शब्द यहाँ केवल श्रौतयज्ञ के ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। किन्तु उसमें स्मार्तयज्ञों का तथा चातुर्वर्ण्य आदि के यथाधिकार सब व्यावहारिक कर्मों का समावेश है।

(१०) आरम्भ में यज्ञ के साथ साथ प्रजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने (उनसे) कहा, " इस (यज्ञ) के द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो--यह (यज्ञ) तुम्हारी कामधेनु होवे--अर्थात् यह तुम्हारे इच्छित फलों को देनेवाला होवे। (११) तुम इस से देवताओं को संतुष्ट करते रहो, (और) वे देवता तुम्हें संतुष्ट करते रहें। (इस प्रकार) परस्पर एक दूसरे को संतुष्ट करते हुए (दोनों) परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त कर लो "। (१२) क्योंकि, यज्ञ से संतुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित (सब)

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

भोग तुम्हें देंगे। उन्हीं का दिया हुआ उन्हें (वापिस) न दे कर जो (केवल स्वयं) उपभोग करता है, वह सचमुच चोर है।

[जब ब्रह्मा ने इस सृष्टि अर्थात् देव आदि सब लोगों को उत्पन्न किया, तब उसे चिंता हुई, कि इन लोगों का धारण-पोषण कैसे होगा ? महाभारत के नारायणीय धर्म में वर्णन है, कि ब्रह्मा ने इसके बाद हज़ार वर्ष तक तप करके भगवान् को संतुष्ट किया। तब भगवान् ने सब लोगों के निर्वाह के लिये प्रवृत्ति-प्रधान यज्ञचक्र उत्पन्न किया। और देवता तथा मनुष्य दोनों से कहा, कि इस प्रकार बर्ताव करके एक दूसरे की रक्षा करो । उक्त श्लोक में इसी कथा का कुछ शब्दभेद से अनुवाद किया गया है (देखो म. भा. शां. ३४०. ३८ से ६२) । इससे यह सिद्धान्त और भी अधिक दृढ हो जाता है, कि प्रवृत्तिप्रधान भागवतधर्म के तत्त्व का ही गीता में प्रतिपादन किया गया है। परन्तु भागवत-धर्म में यज्ञों में की जानेवाली हिंसा गर्ह्य मानी गई है (देखो. म.भा. शां. ३३६ और ३३७) । इसलिये पशुयज्ञ के स्थान में प्रथम द्रव्यमय यज्ञ शुरू हुआ। और अंत में यह मत प्रचलित हो गया, कि जपमय यज्ञ अथवा ज्ञानमय यज्ञ ही सब में श्रेष्ठ है (गी. ४. २३–३३)। यज्ञ शब्द से मतलब चातुर्वण्य के सब कर्मों से है। और यह बात स्पष्ट है, कि समाज का उचित रीति से धारण-पोषण होने के लिये इस यज्ञकर्म या यज्ञचक्र को अच्छी तरह जारी रखना चाहिये (देखो मनु. १. ८७) । अधिक क्या कहें ? यह यज्ञचक्र आगे बीसवें श्लोक में वर्णित लोकसंग्रह का ही एक स्वरूप है (देखो. गीता र. प्र. ११) । इसीलिये स्मृतियों में भी लिखा है, कि देवलोक और मनुष्यलोक दोनों के संग्रहार्थ भगवान् ने ही प्रथम जिस लोकसंग्रहकारक कर्म को निर्माण किया है, उसे आगे अच्छी तरह प्रचलित रखना मनुष्य का कर्तव्य है; और यही अर्थ अब अगले श्लोक में स्पष्ट रीति से बतलाया गया है :—]

(१३) यज्ञ करके शेष बचे हुए भाग को ग्रहण करनेवाले सज्जन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। परन्तु (यज्ञ न करके केवल) अपने ही लिये जो (अन्न) पकाते हैं, वे पापी लोक पाप भक्षण करते हैं।

[ऋग्वेद के १०.११७. ६ मंत्र में भी यही अर्थ है । उसमें कहा है, कि "नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी "—अर्थात् जो मनुष्य अर्यमा या सखा का पोषण नहीं करता, अकेला ही भोजन करता है, उसे केवल पापी समझना चाहिये। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी कहा है, कि " अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात् । यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ।।" (३. ११८)—अर्थात् जो मनुष्य अपने लिये ही (अन्न) पकाता है, वह केवल

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

पाप भक्षण करता है । यज्ञ करने पर जो शेष रह जाता है, उसे 'अमृत' और दूसरों के भोजन कर चुकने पर जो शेष रहता है (भुक्तशेष) उसे 'विघस' कहते हैं (मनु. ३. २८५) । और भले मनुष्यों के लिये यही अन्न विहित कहा गया है (देखो गी. ४. ३१) । अब इस बात का और भी स्पष्टीकरण करते हैं, कि यज्ञ आदि कर्म न तो केवल तिल और चावलों को आग में झोंकने के लिये ही हैं और न स्वर्गप्राप्ति के लिये ही; वरन् जगत् का धारण-पोषण होने के लिये उनकी बहुत आवश्यकता है, अर्थात् यज्ञ पर ही सारा जगत् अवलम्बित है—]

(१४) प्राणिमात्र की उत्पत्ति अन्न से होती है, अन्न पर्जन्य से उत्पन्न होता है, पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होता है; और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है ।

[मनुस्मृति म भी मनुष्य की और उसके धारण के लिये आवश्यक अन्न की उत्पत्ति के विषय में इसी प्रकार का वर्णन है । मनु के श्लोक का भाव यह है :— "यज्ञ की आग में दी हुई आहुति सूर्य को मिलती है; और फिर सूर्य से (अर्थात् परस्परा द्वारा यज्ञ से ही) पर्जन्य उपजता है । पर्जन्य से अन्न, और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है" (मनु. ३. ७६) । यही श्लोक महाभारत में भी है (देखो म.भा. शां. २६२.११) तैत्तिरीय उपनिषद् (२. १) में यह पूर्वपरम्परा इससे भी पीछे हटा दी गई है; और ऐसा क्रम दिया गया है :—"प्रथम परमात्मा से आकाश हुआ; और फिर क्रम से वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति हुई । पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ ।" अतएव इस परम्परा के अनुसार प्राणिमात्र की कर्मपर्यन्त बतलाई हुई पूर्वपरम्परा को—अब कर्म के पहले प्रकृति और प्रकृति के पहले ठेठ अक्षरब्रह्मपर्यन्त पहुँचा कर—पूरी करते हैं :—]

(१५) कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से अर्थात् प्रकृति से हुई; और यह ब्रह्म अक्षर से अर्थात् परमेश्वर से हुआ है । इसलिये (यह समझो कि) सर्वगत ब्रह्म ही यज्ञ में सदा अधिष्ठित रहता है ।

[कोई कोई इस श्लोक के 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'प्रकृति' नहीं समझते । वे कहते हैं, कि यहाँ ब्रह्म का अर्थ 'वेद' है । परन्तु 'ब्रह्म' शब्द का 'वेद' अर्थ करने से यद्यपि इस वाक्य में आपत्ति नहीं हुई, कि "ब्रह्म अर्थात् 'वेद' परमेश्वर से हुए हैं;" तथापि वैसा अर्थ करने से "सर्वगत ब्रह्म यज्ञ में है" इसका अर्थ ठीक ठीक नहीं लगता । इसलिये "मम योनिर्महत् ब्रह्म" (गी. १४. ३) श्लोक में "ब्रह्म" पद का जो प्रकृति अर्थ है, उसके अनुसार रामानुज-

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥
§§ यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

भाष्य में यह अर्थ किया गया है, कि इस स्थान में भी 'ब्रह्म' शब्द से जगत् की मूलप्रकृति विवक्षित है। वही अर्थ हमें भी ठीक मालूम होता है। इसके सिवा महाभारत के शान्तिपर्व में यज्ञप्रकरण में यह वर्णन है, कि "अनुयज्ञं जगत्सर्वं यज्ञश्चानुजगत्सदा" (शां. २६७. ३४)--अर्थात् यज्ञ के पीछे जगत् है; और जगत् के पीछे पीछे यज्ञ है। ब्रह्म का अर्थ 'प्रकृति' करने से इस वर्णन का भी प्रस्तुत श्लोक से मेल हो जाता है। क्योंकि जगत् ही प्रकृति है। गीतारहस्य के सातवें और आठवें प्रकरण में यह बात विस्तारपूर्वक बतलाई गई है, कि परमेश्वर से प्रकृति और त्रिगुणात्मक प्रकृति से जगत् के सब कर्म कैसे निष्पन्न होते हैं? इसी प्रकार पुरुषसूक्त में भी यह वर्णन है, कि देवताओं ने प्रथम यज्ञ करके ही सृष्टि को निर्माण किया है।]

(१६) हे पार्थ! इस प्रकार जगत् के धारणार्थ चलाये हुए कर्म या यज्ञ के चक्र को जो इस जगत् में आगे नहीं चलाता, उसकी आयु पापरूप है। उस इन्द्रियलम्पट का (अर्थात् देवताओं को न देकर स्वयं उपभोग करनेवाले का) जीवन व्यर्थ है।

[स्वयं ब्रह्मा ने ही--मनुष्यों ने नहीं--लोगों के धारण-पोषण के लिये यज्ञमय कर्म या चातुर्वर्ण्यवृत्ति उत्पन्न की है। इस सृष्टि का क्रम चलते रहने के लिये (श्लोक १४) और साथ ही साथ अपना निर्वाह होने के लिये (श्लोक ८) इन दोनों कारणों से इस वृत्ति की आवश्यकता है। इससे सिद्ध होता है, कि यज्ञचक्र को अनासक्तबुद्धि से जगत् में सदा चलाते जाना चाहिये। अब यह बात मालूम हो चुकी, कि मीमांसकों का या त्रयीधर्म का कर्मकाण्ड (यज्ञचक्र) गीताधर्म में अनासक्तबुद्धि की युक्ति से कैसे स्थिर रखा गया है (देखो गीतार. प्र. ११. पृ. ३४५-३४६)? कई संन्यासमार्गवाले वेदान्ती इस विषय में शंका करते हैं, कि आत्मज्ञानी पुरुष को जब यहाँ मोक्ष प्राप्त हो जाता है; और उसे जो कुछ प्राप्त करना होता है, वह सब उसे यहीं मिल जाता है, तब उसे कुछ भी कर्म करने की आवश्यकता नहीं है--और उसको कर्म करना भी न चाहिये। इस का उत्तर अगले तीन श्लोकों में दिया जाता है।]

(१७) परन्तु जो मनुष्य केवल आत्मा में ही रत, आत्मा में ही तृप्त और आत्मा में ही संतुष्ट हो जाता है, उसके लिये (स्वयं अपना) कुछ भी कार्य (शेष) नहीं रह जाता; (१८) इसी प्रकार यहाँ अर्थात्, इस जगत् में (कोई काम) करने से या न करने से भी उसका लाभ नहीं होता; और सब प्राणियों में

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

उसका कुछ भी (निजी) मतलब अटका नहीं रहता । (१९) तस्मात् अर्थात् जब ज्ञानी पुरुष इस प्रकार कोई भी अपेक्षा नहीं रखता, तब तू भी (फल की) आसक्ति छोड़ कर अपना कर्तव्यकर्म सदैव किया कर । क्योंकि आसक्ति छोड़ कर कर्म करनेवाले मनुष्य को परमगति प्राप्त होती है ।

[१७ से १९ तक के श्लोकों का टीकाकारों ने बहुत विपर्यास कर डाला है । इसलिये हम पहले उनका सरल भावार्थ ही बतलाते हैं । तीनों श्लोक मिल कर हेतुअनुमानयुक्त एक ही वाक्य है । इनमें से १७ वें और १८ वें श्लोकों में पहले उन कारणों का उल्लेख किया गया है, कि जो साधारणरीति से ज्ञानी पुरुष के कर्म करने के विषय में बतलाये जाते हैं । और इन्हीं कारणों से गीता ने जो अनुमान निकाला है, वह १९ वें श्लोक में कारणबोधक 'तस्मात्' शब्द का प्रयोग करके बतलाया गया है । इस जगत् में सोना, बैठना, उठना या जिन्दा रहना आदि सब कर्मों को कोई छोड़ने की इच्छा करे, तो वे छूट नहीं सकते । अतः इस अध्याय के आरम्भ में चौथे और पाँचवें श्लोकों में स्पष्ट कह दिया गया है, कि कर्म को छोड़ देने से न तो नैष्कर्म्य होता है; और न वह सिद्धि प्राप्त करने का उपाय ही है । परन्तु इस पर संन्यासमार्गवालों की यह दलील है, कि "हम कुछ सिद्धि प्राप्त करने के लिये कर्म करना नहीं छोड़ते हैं । प्रत्येक मनुष्य इस जगत् में जो कुछ करता है, वह अपने या पराये लाभ के लिये ही करता है । किन्तु मनुष्य का स्वकीय परमसाध्य सिद्धावस्था अथवा मोक्ष है; और वह ज्ञानी पुरुष को उसके ज्ञान से प्राप्त हुआ करता है । इसलिये उसको ज्ञानप्राप्त हो जाने पर कुछ प्राप्त करने के लिये नहीं रहता (श्लोक १७) । ऐसी अवस्था में चाहे वह कर्म करे या न करे--उसे दोनों बातें समान हैं । अच्छा; यदि कहें, कि उसे लोकोपयोगार्थ कर्म करना चाहिये, तो उसे लोगों से भी कुछ लेना-देना नहीं (श्लो. १८) । फिर वह कर्म करे ही क्यों ?" इसका उत्तर गीता यों देती है, कि जब कर्म करना और न करना तुम्हें दोनों एक-से हैं, तब कर्म न करने का ही इतना हठ तुम्हें क्यों है ? जो कुछ शास्त्र के अनुसार प्राप्त होता जाय, उसे आग्रहविहीनबुद्धि से करके छुट्टी पा जाओ । इस जगत् में कर्म किसी से भी छूटते नहीं हैं । फिर चाहे वह ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी । अब देखने में तो यह बड़ी जटिल समस्या जान पड़ती है, कि कर्म तो छूटने से रहे; और ज्ञानी पुरुष को स्वयं अपने लिये उनकी आवश्यकता नहीं ! परन्तु गीता को यह समस्या कुछ कठिन नहीं जँचती । गीता का कथन यह है, कि जब कर्म छूटता है ही नहीं, तब उसे करना ही चाहिये । किन्तु अब स्वार्थबुद्धि न रहने से उसे निःस्वार्थ अर्थात् निष्कामबुद्धि से किया करो । १९ वें श्लोक में 'तस्मात्' पद का प्रयोग करके यही उपदेश अर्जुन को किया गया है; एवं इसकी पुष्टि में आगे

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

२२ वें श्लोक में यह दृष्टान्त दिया गया है, कि सब से श्रेष्ठ ज्ञानी भगवान् स्वयं अपना कुछ भी कर्तव्य न होने पर भी कर्म ही करते हैं। सारांश, संन्यासमार्ग के लोग ज्ञानी पुरुष की जिस स्थिति का वर्णन करते हैं, उसे ठीक मान लें, तो गीता का यह वक्तव्य है, कि उसी स्थिति से कर्मसंन्यासपक्ष सिद्ध होने के बदले सदा निष्काम कर्म करते रहने का पक्ष ही और भी दृढ हो जाता है। परन्तु संन्यासमार्गवाले टीकाकारों को कर्मयोग की उक्त युक्ति और सिद्धान्त (श्लो. ७,८,९) मान्य नहीं हैं। इसलिये वे उक्त कार्यकारणभाव को अथवा समूचे अर्थप्रवाह को. या आगे बतलाये हुए भगवान् के दृष्टान्त को भी नहीं मानते (श्लो. २२,२५ और ३०)। उन्होंने तीनों श्लोकों को तोड़ मरोड़ कर स्वतंत्र मान लिया है। और इनमें से पहले दो श्लोकों में जो यह निर्देश है, कि "ज्ञानी पुरुष को स्वयं अपना कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता।" इसी को गीता का अन्तिम सिद्धान्त मान कर इसी आधार पर यह प्रतिपादन किया है, कि भगवान् ज्ञानी पुरुष से कहते हैं, कि कर्म छोड़ दे ! परन्तु ऐसा करने से तीसरे अर्थात् १९ वें श्लोक में अर्जुन को जो लगे हाथ यह उपदेश किया है, कि "आसक्ति छोड़ कर कर्म कर" यह अलग हुआ जाता है; और इसकी उपपत्ति भी नहीं लगती। इस पेंच से बचने के लिये इन टीकाकारों ने यह अर्थ करके अपना समाधान कर लिया है, कि अर्जुन को कर्म करने का उपदेश तो इसलिये किया है, कि वह अज्ञानी था ! परन्तु इतनी माथापच्ची करने पर भी १९ वें श्लोक का 'तस्मात्' पद निरर्थक ही रह जाता है। और संन्यासमार्गवालों का किया हुआ यह अर्थ इसी अध्याय के पूर्वापर सन्दर्भ से भी विरुद्ध होता है। एवं गीता के अन्यान्य स्थलों के इस उल्लेख से भी विरुद्ध हो जाता है, कि ज्ञानी पुरुष को भी आसक्ति छोड़ कर कर्म करना चाहिये; तथा आगे भगवान ने जो अपना दृष्टान्त दिया है, उससे भी यह अर्थ विरुद्ध हो जाता है (देखो गी. २. ४७; ३. ७, २५; ४. २३; ६. १; १८. ६–९; और गी. र. प्र. ११ पृ. ३२१–३२४)। इसके सिवा एक बात और भी है। वह यह कि इस अध्याय में उस कर्मयोग का विवेचन चल रहा है, कि जिसके कारण कर्म करने पर भी वे बन्धक नहीं होते (२. ३९)। इस विवेचन के बीच में ही यह बेसिरपैर की-सी बात कोई भी समझदार मनुष्य न कहेगा, कि "कर्म छोड़ना उत्तम है"। फिर भला भगवान् यह बात क्यों कहने लगे ? अतएव निरे साम्प्रदायिक आग्रह के और खींचतानी के ये अर्थ माने नहीं जा सकते। योगवासिष्ठ में लिखा है, कि जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष को भी कर्म करना चाहिये। और जब राम ने पूछा—'मुझे बतलाइये, कि मुक्त पुरुष कर्म क्यों करें'? तब वसिष्ठ ने उत्तर दिया है :—

ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैः नार्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ ॥

§ § कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

" ज्ञ अर्थात् ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ने या करने से कोई लाभ नहीं उठाना होता। अतएव वह जो जैसा प्राप्त हो जाय, उसे वैसा किया करता है" (योग. ६ उ. १९९. ४)। इसी ग्रन्थ के अन्त में उपसंहार में फिर गीता के ही शब्दों में पहले यह कारण दिखलाया है :—

मम नास्ति कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
यथाप्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः ॥

" किसी बात का करना या न करना मुझे एक-सा ही है;" और दूसरी ही पंक्ति में कहा है, कि जब दोनों बातें एक ही सी हैं, तब फिर "कर्म न करने का आग्रह ही क्यों है ? जो जो शास्त्र की रीति से प्राप्त होता जाय, उसे मैं करता रहता हूँ" (यो. ६.उ.२१६. १४)। इसी प्रकार इसके पहले, योगवासिष्ठ में "नैव तस्य कृतेनार्थो०" आदि गीता का श्लोक ही शब्दशः लिया गया है। आगे के श्लोक में कहा है, कि "यद्यथा नाम सम्पन्नं तत्तथाऽस्त्वितरेण किम्"—जो प्राप्त हो, उसे ही (जीवन्मुक्त) किया करता है; और कुछ प्रतीक्षा करता हुआ नहीं बैठता (यो. ६ उ. १२५. ४९. ५०)। योगवासिष्ठ में ही नहीं; किन्तु गणेशगीता में इसी अर्थ के प्रतिपादन में यह श्लोक आया है :—

किञ्चिदस्य न साध्यं स्यात् सर्वजन्तुषु सर्वदा ।
अतोऽसक्ततया भूप कर्तव्यं कर्म जन्तुभिः ॥

"उसका अन्य प्राणियों में कोई साध्य (प्रयोजन) शेष नहीं रहता। अतएव हे राजन् लोगों को अपने अपने कर्तव्य असक्तबुद्धि से करते रहना चाहिये" (गणेश-गीता २. १८)। इन सब उदाहरणों पर ध्यान देने से ज्ञात होगा, कि यहाँ पर गीता के तीनों श्लोकों का जो कार्यकारणसम्बन्ध हमने ऊपर दिखलाया है, वही ठीक है। और गीता के तीनों श्लोकों का पूरा अर्थ योगवासिष्ठ के एक ही श्लोक में आ गया। अतएव उसके कार्यकारणभाव के विषय में शंका करने के लिये स्थान ही नहीं रह जाता। गीता की इन्हीं युक्तियों को महायानपन्थ के बौद्ध ग्रन्थकारों ने भी पीछे से ले लिया है (देखो गी.र.परि.पृ ५६८–५६९ और ५८३)। ऊपर जो यह कहा गया है, कि स्वार्थ न रहने के कारण से ही ज्ञानी पुरुष को अपना कर्तव्य निष्कामबुद्धि से करना चाहिये; और इस प्रकार से किये हुए निष्काम कर्म का मोक्ष में बाधक होना तो दूर रहा, उसी से सिद्धि मिलती है—इसी की पुष्टि के लिये अब दृष्टान्त देते हैं :—]

(२०) जनक आदि ने भी इस प्रकार कर्म से ही सिद्धि पाई है। इसी प्रकार लोकसंग्रह पर भी दृष्टि दे कर तुझे कर्म करना ही उचित है।

[पहले चरण में इस बात का उदाहरण दिया है, कि निष्काम कर्म से सिद्धि मिलती है; और दूसरे चरण से भिन्न रीति के प्रतिपादन का आरम्भ कर

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

दिया है। यह तो सिद्ध किया, कि ज्ञानी पुरुषों का लोगों में कुछ अटका नहीं रहता; तो भी जब उनके कर्म छूट ही नहीं सकते, तब तो उन्हें निष्काम कर्म ही करना चाहिये। परन्तु, यद्यपि यह युक्ति नियमसङ्गत है, कि कर्म जब छूट नहीं सकते हैं, तब उन्हें करना ही चाहिये। तथापि सिर्फ़ इसी से साधारण मनुष्यों का पूरा पूरा विश्वास नहीं हो जाता। मन में शंका होती है, कि क्या कर्म टाले नहीं टलते हैं; इसी लिये उन्हें करना चाहिये ? उस में और कोई साध्य नहीं है ? अतएव इस श्लोक के दूसरे चरण में यह दिखलाने का आरम्भ कर दिया है, कि इस जगत् में अपने कर्म से लोकसंग्रह करना ज्ञानी पुरुष का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रत्यक्षसाध्य है । "लोकसंग्रहमेवापि" के 'एवापि' पद का यह तात्पर्य है। और इससे स्पष्ट होता है, कि अब भिन्नरीति के प्रतिपादन का आरम्भ हो गया है। 'लोकसंग्रह' शब्द में 'लोक' का अर्थ व्यापक है। अतः इस शब्द में न केवल मनुष्यजाति को ही, वरन् सारे जगत् को सन्मार्ग पर लाकर उसको नाश से बचाते हुए संग्रह करना--अर्थात् भली भाँति धारण, पोषणपालन या बचाव करना इत्यादि सभी बातों का समावेश हो जाता है। गीता रहस्य के ग्यारहवें प्रकरण (पृ. ३२८–३३६) में इन बातों का विस्तृत विचार किया गया है। इसलिये हम यहाँ उसकी पुनरुक्ति नहीं करते। अब पहले यह बतलाते हैं, कि लोकसंग्रह करने का यह कर्तव्य या अधिकार ज्ञानी पुरुष का ही क्यों है ? :--]

(२१) श्रेष्ठ (अर्थात् आत्मज्ञानी कर्मयोगी पुरुष) जो कुछ करता है, वही अन्य -- अर्थात् साधारण मनुष्य -- भी किया करते हैं। वह जिसे प्रमाण मान कर अंगीकार करता है, लोग उसी का अनुकरण करते हैं।

[तैत्तिरीय उपनिषद् में भी पहले 'सत्यं वद,' 'धर्मं चर' इत्यादि उपदेश किया है। और फिर अन्त में कहा है, कि "जब संसार में तुम्हें सन्देह हो, कि यहाँ कैसा बर्ताव करें ? तब वैसा ही बर्ताव करो, कि जैसा ज्ञानी, युक्त और धर्मिष्ठ ब्राह्मण करते हों" (तै. १. ११. ४)। इसी अर्थ का एक श्लोक नारायणीय धर्म में भी है (म. भा. शां. ३४१. २५); और इसी आशय का मराठी में एक श्लोक है, जो इसी का अनुवाद है। और जिसका सार यह है "लोककल्याणकारी मनुष्य जैसे बर्ताव करता है, वैसे ही इस संसार में सब लोग भी किया करते हैं।" यही भाव इस प्रकार प्रगट किया जा सकता है--"देख भलों की चाल को बर्ते सब संसार"। यही लोककल्याणकारी पुरुष गीता का 'श्रेष्ठ' कर्मयोगी है। श्रेष्ठ शब्द का अर्थ 'आत्मज्ञानी संन्यासी' नहीं है (देखो गी. ५. २)। अब भगवान् स्वयं अपना उदाहरण दे कर इसी अर्थ को और भी दृढ करते हैं,

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥
§ § सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

कि आत्मज्ञानी पुरुष की स्वार्थबुद्धि छूट जाने पर भी लोककल्याण के कर्म उससे छूट नहीं जाते :--]

(२२) हे पार्थ ! (देखो, कि) त्रिभुवन में न तो मेरा कुछ कर्तव्य (शेष) रहा है, (और) न कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करने को रह गई है । तो भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ । (२३) क्योंकि जो मैं कदाचित् आलस्य छोड़ कर कर्मों में न बर्तूंगा, तो हे पार्थ ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही पथ का अनुकरण करेंगे ।(२४)जो मैं कर्म न करूँ, तो ये सारे लोक उत्सन्न अर्थात् नष्ट हो जावेंगे, मैं संकरकर्ता होऊँगा और इन प्रजाजनों का मेरे हाथ से नाश होगा ।

[भगवान् ने अपना उदाहरण दे कर इस श्लोक में भली भाँति स्पष्ट कर दिखला दिया है, कि लोकसंग्रह कुछ पाखण्ड नहीं है । इसी प्रकार हमने ऊपर १७ से १९ वें श्लोक तक का जो यह अर्थ किया है, कि ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कुछ कर्तव्य भले न रह गया हो; फिर भी ज्ञाता को निष्कामबुद्धि से सारे कर्म करते रहना चाहिये । वह भी स्वयं भगवान् के इस दृष्टान्त से पूर्णतया सिद्ध हो जाता है । यदि ऐसा न हो, तो यह दृष्टान्त भी निरर्थक हो जायगा (देखो गी. र. प्र. ११, पृ. ३२२-३२३)। सांख्यमार्ग और कर्ममार्ग में यह बड़ा भारी भेद है, कि सांख्यमार्ग के ज्ञानी पुरुष सारे कर्म छोड़ बैठते है । फिर चाहे इस कर्मत्याग से यज्ञचक्र डूब जाय; और जगत् का कुछ भी हुआ करे--उन्हें इसकी कुछ परवाह नहीं होती । और कर्ममार्ग के ज्ञानी पुरुष स्वयं अपने लिये आवश्यक न भी हो, तो भी लोकसंग्रह को महत्त्वपूर्ण आवश्यक साध्य समझ कर तदर्थ अपने धर्म के अनुसार सारे काम किया करते हैं (देखो गीतारहस्य प्रकरण ११, पृ. ३५२-३५५) । यह बतला दिया गया, कि स्वयं भगवान् क्या हैं ? अब ज्ञानियों और अज्ञानियों के कर्मों का भेद दिखला कर बतलाते हैं, कि अज्ञानियों को सुधारने के लिये ज्ञाता का आवश्यक कर्तव्य क्या है ? : --]

(२५) हे अर्जुन ! लोकसंग्रह करने की इच्छा रखनेवाले ज्ञानी पुरुष को आसक्ति छोड़ कर उसी प्रकार बर्तना चाहिये, जिस प्रकार कि (व्यावहारिक) कर्म में आसक्त अज्ञानी लोग बर्ताव करते हैं । (२६) कर्म में आसक्त अज्ञानियों की

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

बुद्धि में ज्ञानी पुरुष भेदभाव उत्पन्न न करे; (आप स्वयं) युक्त अर्थात् योगयुक्त हो कर सभी काम करे; और लोगों से खुशी से करावे ।

[इस श्लोक का यह अर्थ है, कि अज्ञानियों की बुद्धि में भेदभाव उत्पन्न न करें; और आगे चल कर २९ वें श्लोक में भी यही बात फिर से कही गई है । परन्तु इसका मतलब यह नहीं है, कि लोगों को अज्ञान में बनाये रखें । २५ वें श्लोक में कहा है, कि ज्ञानी पुरुष को लोकसंग्रह करना चाहिये । लोकसंग्रह का अर्थ ही लोगों को चतुर बनाना है । इस पर कोई शंका करे, कि जो लोकसंग्रह ही करना हो, तो फिर यह आवश्यक नहीं कि ज्ञानी पुरुष स्वयं कर्म करे । लोगों को समझा देने--ज्ञान का उपदेश कर देने--से ही काम चल जाता है । इसका भगवान् यह उत्तर देते हैं, कि जिनको सदाचरण का दृढ अभ्यास हो नहीं गया है, (और साधारण लोग ऐसे ही होते हैं) उनको यदि केवल मुँह से उपदेश किया जाय--सिर्फ़ ज्ञान बतला दिया जाय--तो वे अपने अनुचित बर्ताव के समर्थन में ही इस ब्रह्मज्ञान का दुरुपयोग किया करते हैं । और वे उलटे ऐसी व्यर्थ बातें कहते-सुनते सदैव देखे जाते हैं, कि " अमुक ज्ञानी पुरुष तो ऐसा कहता है "। इसी प्रकार यदि ज्ञानी पुरुष कर्मों को एकाएक छोड़ बैठे, तो वह अज्ञानी लोगों को निरुद्योगी बनने के लिये एक उदाहरण ही बन जाता है । मनुष्य का उस प्रकार बातूनी, गोच-पेंच लड़ानेवाला अथवा निरुद्योगी हो जाना ही बुद्धिभेद है; और मनुष्य की बुद्धि में इस प्रकार से भेदभाव उत्पन्न कर देना ज्ञाता पुरुष को उचित नहीं है । अतएव गीता ने यह सिद्धान्त किया है, कि जो पुरुष ज्ञानी हो जाय, वह लोकसंग्रह के लिये--लोगों को चतुर और सदाचरणी बनाने के लिये--स्वयं संसार में रह कर निष्काम कर्म अर्थात् सदाचरण का प्रत्यक्ष नमूना लोगों को दिखलावे; और तदनुसार उनसे आचरण करावे इस जगत् में उसका यही बड़ा महत्त्वपूर्ण काम है (देखो. गीतार.प्र.१२,पृ.४०१) किन्तु गीता के इस अभिप्राय को बेसमझेबुझे कुछ टीकाकार इस का यों विपरीत अर्थ किया करते हैं, कि " ज्ञानी पुरुष को अज्ञानियों के समान ही कर्म करने का स्वाँग इसलिये करना चाहिये, कि जिसमें कि अज्ञानी लोग नादान बने रह कर ही अपने कर्म करते रहें ! " मानों दम्भाचरण सिखलाने अथवा लोगों को अज्ञानी बने रहने दे कर जानवरों के समान उनसे कर्म करा लेने के लिये ही गीता प्रवृत्त हुई है ! जिनका यह दृढ निश्चय है, कि ज्ञानी पुरुष कर्म न करे; सम्भव है, कि उन्हें लोकसंग्रह एक ढोंग-सा प्रतीत हो । परन्तु गीता का वास्तविक अभिप्राय ऐसा नहीं है । भगवान् कहते हैं, कि ज्ञानी पुरुष के कामों में लोकसंग्रह एक महत्त्वपूर्ण काम है । और ज्ञानी पुरुष अपने उत्तम आदर्श के द्वारा उन्हें सुधारने के लिये--नादान बनाये रखने के लिये नहीं--कर्म ही किया करे (देखो

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मंदान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

गीतारहस्य प्र. ११.१२)। अब यह शंका हो सकती है, कि यदि आत्मज्ञानी पुरुष इस प्रकार लोकसंग्रह के लिये सांसारिक कर्म करने लगे, तो वह भी अज्ञानी ही बन जायगा। अतएव स्पष्ट कर बतलाते हैं, कि यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों भी संसारी बन जायँ, तथापि इन दोनों के बर्ताव में भेद क्या है? और ज्ञानवान् से अज्ञानी को किस बात की शिक्षा लेनी चाहिये?—]

(२७) प्रकृति के (सत्त्व-रज-तम) गुणों से सब प्रकार कर्म हुआ करते हैं। पर अहङ्कार से मोहित (अज्ञानी पुरुष) समझता है, कि मैं कर्ता हूँ; (२८) परन्तु हे महाबाहु अर्जुन! "गुण और कर्म दोनों ही मुझ से भिन्न हैं" इस तत्त्व को जानने वाला (ज्ञानी पुरुष) यह समझ कर इनमें आसक्त नहीं होता, कि गुणों का यह खेल आपस में हो रहा है। (२९) प्रकृति के गुणों से बहके हुए लोग गुण और कर्मों में ही आसक्त रहते हैं। इन असर्वज्ञ और मन्द जनों को सर्वज्ञ पुरुष (अपने कर्मत्याग से किसी अनुचित मार्ग में लगा कर) बिचला न दे।

[यहाँ २६ वें श्लोक के अर्थ का ही अनुवाद किया गया है। इस श्लोक में जो ये सिद्धान्त हैं, कि प्रकृति भिन्न है और आत्मा भिन्न है। प्रकृति अथवा माया ही सब कुछ करती है, आत्मा कुछ करता-धरता नहीं है। जो इस तत्त्व को जान लेता है, वही बुद्ध अथवा ज्ञानी हो जाता है। उसे कर्म का बन्धन नहीं होता इत्यादि-वे मूल में कापिलसांख्यशास्त्र के हैं। गीतारहस्य के ७ वें प्रकरण (पृ. १६४–१६६) में इनका पूर्ण विवेचन किया गया है; उसे देखिये। २८ वें श्लोक का कुछ लोग यों अर्थ करते हैं, कि गुण यानी इन्द्रियाँ गुणों में यानी विषयों में बर्तती हैं। यह अर्थ कुछ शुद्ध नहीं है। क्योंकि सांख्यशास्त्र के अनुसार ग्यारह इंद्रियाँ और शब्दस्पर्श आदि पाँच विषय मूलप्रकृति के २३ गुणों में से ही गुण हैं। परन्तु इससे अच्छा अर्थ तो यह है, कि प्रकृति के समस्त अर्थात् चौबीसों गुणों को लक्ष्य करके ही यह "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" का सिद्धान्त स्थिर किया गया है (देखो गी. १३. १९–२२; और १४.२३)। हमने उसका शब्दशः और व्यापक रीति से अनुवाद किया है। भगवान् ने यह बतलाया है, कि ज्ञानी और अज्ञानी एक ही कर्म करें, तो भी इनमें बुद्धि की दृष्टि से बहुत बड़ा भेद रहता है (गीतार. प्र. ११, पृ. ३१० और ३२८)। अब इस पूरे विवेचन के साररूप से यह उपदेश करते हैं:—]

§ § मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥
§ § ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥
§ § सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥
इंद्रियस्यें‌द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३४ ॥

(३०) (इसलिये हे अर्जुन !) मुझ में अध्यात्मबुद्धि से सब कर्मों का संन्यास अर्थात् अर्पण करके और (फल की) आशा एवं ममता छोड़ कर तू निश्चिन्त हो करके युद्ध कर ।

[अब यह बतलाते हैं, कि इस उपदेश के अनुसार बर्ताव करने से क्या फल मिलता है ? और बर्ताव न करने से कैसी गति होती है ? :—]

(३१) जो श्रद्धावान् (पुरुष) दोषों को न खोज कर मेरे इस मत के अनुसार नित्य बर्ताव करते हैं, वे भी कर्म से अर्थात् कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं । (३२) परन्तु जो दोषदृष्टि से शंकाएँ करके मेरे इस मत के अनुसार नहीं बर्तते, उन सर्वज्ञानविमूढ अर्थात् पक्के मूर्ख अविवेकियों को नष्ट हुए समझो ।

[कर्मयोग निष्कामबुद्धि से कर्म करने के लिये कहता है । उसकी श्रेयस्करता के सम्बन्ध में ऊपर अन्वयव्यतिरेक से जो फलश्रुति बतलाई गई है, उससे पूर्णतया व्यक्त हो जाता है, कि गीता में कौन-सा विषय प्रतिपादन है ? इसी कर्मयोगनिरूपण की पूर्ति के हेतु भगवान् प्रकृति की प्रबलता का और फिर उसे रोकने के लिये इन्द्रियनिग्रह का वर्णन करते हैं :—]

(३३) ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार बर्तता है । सभी प्राणी (अपनी अपनी) प्रकृति के अनुसार रहते हैं (वहाँ) निग्रह (जबर्दस्ती) क्या करेगा ? (३४) इंद्रिय और उसके (शब्द-स्पर्श आदि) विषयों में प्रीति एवं द्वेष (दोनों) व्यवस्थित हैं—अर्थात् स्वभावतः निश्चित हैं । प्रीति और द्वेष के वश में न जाना चाहिये । (क्योंकि) ये मनुष्य के शत्रु हैं ।

[तेतीसवें श्लोक के 'निग्रह' शब्द का अर्थ 'निरा संयमन' ही नहीं है; किन्तु उसका अर्थ 'जबर्दस्ती' अथवा 'हठ' है । इन्द्रियों का योग्य संयमन तो गीता को इष्ट है । किन्तु यहाँ पर कहना यह है, कि हठ से या जबर्दस्ती से इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति को ही एकदम मार डालना सम्भव नहीं है । उदाहरण लीजिये; जब तक देह, तब तक भूख-प्यास आदि धर्म प्रकृतिसिद्ध

§ § श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

होने के कारण, छूट नहीं सकते। मनुष्य कितना ही ज्ञानी क्यों न हो? भूख लगते ही भिक्षा माँगने के लिये उसे बाहर निकलना पड़ता है। इसलिये चतुर पुरुषों का यही कर्तव्य है, कि ज़बर्दस्ती से इन्द्रियों को बिलकुल ही मार डालने का वृथा हठ न करें; और योग्य संयम के द्वारा उन्हें अपने वश में करके उनकी स्वभावसिद्ध वृत्तियों का लोकसंग्रहार्थ उपयोग किया करें। इसी प्रकार ३४ वें श्लोक के 'व्यवस्थित' पद से प्रगट होता है, कि सुख और दुःख दोनों विकार स्वतंत्र हैं; एक दूसरे का अभाव नहीं है (देखो गीतार. प्र. ४, पृ. ९९ और ११३)। प्रकृति अर्थात् सृष्टि के अखण्डित व्यापार में कई बार हमें ऐसी बातें भी करनी पड़ती हैं, कि जो हमें स्वयं पसन्द नहीं (देखो गी. १८. ५९); और यदि नहीं करते हैं, तो निर्वाह नहीं होता। ऐसे समय ज्ञानी पुरुष इन कर्मों को निरिच्छबुद्धि से केवल कर्तव्य समझ कर करता जाता है। अतः पापपुण्य से अलिप्त रहता है; और अज्ञानी उसी में आसक्ति रख कर दुःख पाता है। भास कवि के वर्णनानुसार बुद्धि की दृष्टि से यही इन दोनों में बड़ा भारी भेद है। परन्तु अब एक और शंका होती है, कि यद्यपि यह सिद्ध हो गया, कि इन्द्रियों को ज़बरदस्ती मार कर कर्मत्याग न करे; किन्तु निःसंगबुद्धि से सभी काम करता जावे। परन्तु यदि ज्ञानी पुरुष युद्ध के समान हिंसात्मक घोर कर्म करने की अपेक्षा खेती, व्यापार या भिक्षा माँगना आदि कोई निरुपद्रवी और सौम्य कर्म करे, तो क्या अधिक प्रशस्त नहीं है? भगवान् इसका यह उत्तर देते हैं :—]

(३५) पराये धर्म का आचरण सुख से करते बने, तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्यविहित कर्म ही अधिक श्रेयस्कर है; (फिर चाहे) वह विगुण अर्थात् सदोष भले ही हो। स्वधर्म के अनुसार (बर्तने में) मृत्यु हो जावे, तो भी उसमें कल्याण है। (परन्तु) परधर्म भयंकर होता है।

[स्वधर्म वह व्यवसाय है, कि जो स्मृतिकारों की चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को शास्त्रद्वारा नियत कर दिया गया है। स्वधर्म का अर्थ मोक्षधर्म नहीं है। सब लोगों के कल्याण के लिये ही गुणधर्म के विभाग से चातुर्वर्ण्यव्यवस्था को (गी. १८. ४१) शास्त्रकारों ने प्रवृत्त कर दिया है। अतएव भगवान् कहते हैं, कि ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि ज्ञानी हो जाने पर भी अपना अपना व्यवसाय करते रहें। इसी में उनका और समाज का कल्याण है। इस व्यवस्था में बार बार गड़बड़ करना योग्य नहीं है (देखो गीतार. प्र. ११, पृ. ३३४ और प्र. १५, पृ. ४९५–४९६)। "तेली का काम तँबोली करे, दैव न मारे आप मरे" इस प्रचलित लोकोक्ति का भावार्थ भी यही है। जहाँ चातुर्वर्ण्यव्यवस्था का

अर्जुन उवाच ।

§§ अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

चलन नहीं है, वहाँ भी सब को यही श्रेयस्कर जँचेगा, कि जिसने सारी जिन्दगी फ़ौजी मुहकमे में बिताई हो, उसे यदि फिर काम पड़े, तो उसको सिपाही का पेशा ही सुभीते का होगा; न कि दर्ज़ी का रोजगार। और यही न्याय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के लिये भी उपयोगी है। यह प्रश्न भिन्न है, कि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था भली है या बुरी? और वह यहाँ उपस्थित भी नहीं होता। यह बात तो निर्विवाद है, कि समाज का समुचित धारण-पोषण होने के लिये खेती के ऐसे निरुपद्रवी और सौम्य व्यवसाय की ही भाँति अन्यान्य कर्म भी आवश्यक हैं। अतएव जहाँ एक बार किसी उद्योग को अंगीकार किया--फिर चाहे उसे चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के अनुसार स्वीकार करो या अपनी मर्ज़ी से--कि वह धर्म हो गया। फिर किसी विशेष अवसर पर उसमें मीन-मेख निकाल कर अपना कर्तव्यकर्म छोड़ बैठना अच्छा नहीं है। आवश्यकता होने पर उसी व्यवसाय में ही मर जाना चाहिये। बस; यही इस श्लोक का भावार्थ है। कोई भी व्यापार या रोजगार हो; उसमें कुछ-न-कुछ दोष सहज ही निकाला जा सकता है (देखो गी. १८. ४८)। परन्तु इस नुक्ताचीनी के मारे अपना नियत कर्तव्य ही छोड़ देना कुछ धर्म नहीं है। महाभारत के ब्राह्मणव्याधसंवाद में और तुलाधार-जाजलिसंवाद में भी यही तत्त्व बतलाया गया है। एवं यहाँ के ३५ वें श्लोक का पूर्वार्ध मनुस्मृति (१०. ९७) में और गीता (१८.४७) में भी आया है। भगवान् ने ३३ वें श्लोक में कहा है, कि "इन्द्रियों को मारने का हठ नहीं चलता"। इस पर अब अर्जुन ने पूछा है, कि इन्द्रियों को मारने का हठ क्यों नहीं चलता? और मनुष्य अपनी मर्ज़ी न होने पर भी बुरे कामों की ओर क्यों घसीटा जाता है? :--]

अर्जुन ने कहा :--(३६) हे वार्ष्णेय (श्रीकृष्ण)! अब (यह बतलाओ कि) मनुष्य अपनी इच्छा न रहने पर भी किस की प्रेरणा से पाप करता है? मानों कोई जबर्दस्ती सी करता हो! श्रीभगवान् ने कहा :--(३७) इस विषय में यह समझो, कि रजोगुण से उत्पन्न होनेवाला बड़ा पेटू और बड़ा पापी यह काम एवं यह क्रोध ही शत्रु है। (३८) जिस प्रकार धुएँ से अग्नि, धूलि से दर्पण और झिल्ली से गर्भ

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौंतेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥
इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥
§ § इंद्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

ढँका रहता है, उसी प्रकार इससे यह सब ढँका हुआ है । (३९) हे कौन्तेय ! ज्ञाता का यह कामरूपी नित्यवैरी कभी भी तृप्त न होनेवाला अग्नि ही है । इसने ज्ञान को ढँक रखा है ।

[यह मनु के ही कथन का अनुवाद है । मनु ने कहा है, कि " न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते " (मनु. २. ९४)—काम के उपभोगों से काम कभी अघाता नहीं है; बल्कि इंधन डालने पर अग्नि जैसा बढ़ जाता है, उसी प्रकार यह भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है (देखो गीतार.प्र. ५, पृ. १०५) ।]

(४०) इन्द्रियों को, मन को और बुद्धि को इसका अधिष्ठान अर्थात् घर या गढ़ कहते हैं । इनके आश्रय से ज्ञान को लपेट कर (ढँक कर) यह मनुष्य को भुलावे में डाल देता है । (४१) अतएव हे भरतश्रेष्ठ ! पहले इन्द्रियों का संयम करके ज्ञान (अध्यात्म) और विज्ञान (विशेष ज्ञान) का नाश करनेवाले इस पापी को तू मार डाल ।

(४२) कहा है, कि (स्थूल बाह्य पदार्थों के मान से उनको जाननेवाली) इन्द्रियाँ पर अर्थात् परे हैं । इन्द्रियों के परे मन है । मन से भी परे (व्यवसायात्मक) बुद्धि है; और जो बुद्धि से भी परे है, वह आत्मा है । (४३) हे महाबाहु अर्जुन ! इस प्रकार (जो) बुद्धि से परे है, उसको पहचान कर और अपने आपको रोक करके दुरासा कामरूपी शत्रु को तू मार डाल ।

[कामरूपी आसक्ति को छोड़ कर स्वधर्म के अनुसार लोकसंग्रहार्थ समस्त

चतुर्थोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

कर्म करने के लिये इन्द्रियों पर अपनी सत्ता होनी चाहिये। वे अपने क़ाबू में रहें। बस; यहाँ इतना ही इन्द्रियनिग्रह विवक्षित है । यह अर्थ नहीं है, कि इन्द्रियों को जबर्दस्ती से एकदम मार करके सारे कर्म छोड़ दे (देखो गीतार.प्र.५,पृ.११४)। गीतारहस्य (परि. पृ. ५२६) में दिखलाया गया है, कि "इंद्रियाणि पराण्याहुः०' इत्यादि ४२ वाँ श्लोक कठोपनिषद् का है; और उपनिषद् के अन्य चार पाँच श्लोक भी गीता में लिये गये हैं । क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार का यह तात्पर्य है, कि बाह्य पदार्थों के संस्कार ग्रहण करना इंद्रियों का काम है, मन का काम इनकी व्यवस्था करना है; और फिर बुद्धि इनको अलग अलग छाँटती है। एवं आत्मा इन सब से परे है तथा सब से भिन्न है। इस विषय का विस्तारपूर्वक विचार गीतारहस्य के छठे प्रकरण के अन्त (पृ. १३१-१४८) में किया गया है। कर्मविपाक के ऐसे गूढ प्रश्नों का विचार गीतारहस्य के दसवें प्रकरण (पृ. २२७-२८५) में किया गया है, कि अपनी इच्छा न रहने पर भी मनुष्य काम-क्रोध आदि प्रवृत्ति-धर्मों के कारण कोई काम करने में क्योंकर प्रवृत्त हो जाता है ? और आत्म-स्वतन्त्रता के कारण इन्द्रियनिग्रहरूप साधन के द्वारा इससे छुटकारा पाने का मार्ग कैसे मिल जाता है ? गीता के छठे अध्याय में विचार किया गया है, कि इंद्रियनिग्रह कैसे करना चाहिये ? :—]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए—अर्थात् कहे हुए—उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

चौथा अध्याय ।

[कर्म किसी से छूटते नहीं हैं। इसलिये निष्कामबुद्धि हो जाने पर भी कर्म करना ही चाहिये। कर्म के मानी ही यज्ञयाग आदि कर्म हैं। पर मीमांसकों के ये कर्म स्वर्गप्रद हैं। अतएव एक प्रकार से बन्धक हैं। इस कारण इन्हें आसक्ति छोड़ करके करना चाहिये। ज्ञान से स्वार्थबुद्धि छूट जावे, तो भी कर्म छूटते नहीं हैं। अतएव ज्ञाता को भी निष्काम कर्म करना ही चाहिये। लोकसंग्रह के लिये यह आवश्यक है—इत्यादि प्रकार से अब तक कर्मयोग का जो विवेचन किया गया, उसी को इस अध्याय में दृढ किया है। कहीं यह शंका न हो, कि आयुष्य बिताने का यह मार्ग अर्थात् निष्ठा अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये नई बतलाई गई है। एतदर्थ इस मार्ग की प्राचीन गुरुपरम्परा पहले बतलाते हैं :—]

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् ने कहा :—(१) अव्यय अर्थात् कभी भी क्षीण न होनेवाला अथवा त्रिकाल में भी अबाधित और नित्य यह (कर्म-) योग (-मार्ग) मैंने विवस्वान् अर्थात् सूर्य को बतलाया था। विवस्वान् ने (अपने पुत्र) मनु को और मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु को बतलाया। (२) ऐसी परम्परा से प्राप्त हुए इस (योग) को राजर्षियों ने जाना। परन्तु हे शत्रुतापन (अर्जुन) ! दीर्घकाल के अनन्तर वही योग इस लोक में नष्ट हो गया। (३) (सब रहस्यों में) उत्तम रहस्य समझ कर इस पुरातन योग (कर्मयोगमार्ग) को मैंने तुझे आज इसलिये बतला दिया, कि तू मेरा भक्त और सखा है।

[गीतारहस्य के तीसरे प्रकरण (पृ. ५५–६४) में हम ने सिद्ध किया है, कि इन तीनों श्लोकों में 'योग' शब्द से, आयु बिताने के उन दोनों मार्गों में से --कि जिन्हें सांख्य और योग कहते हैं, --योग अर्थात् कर्मयोग यानी साम्यबुद्धि से कर्म करने का मार्ग ही अभिप्रेत है। गीता के उस मार्ग की परम्परा ऊपर के श्लोक में बतलाई गई है। वह यद्यपि इस मार्ग की जड़ को समझने के लिये अत्यन्त महत्त्व की है, तथापि टीकाकारों ने उसकी विशेष चर्चा नहीं की है। महाभारत के अन्तर्गत नारायणीयोपाख्यान में भागवतधर्म का जो निरूपण है, उसमें जनमेजय से वैशम्पायन कहते हैं, कि यह धर्म पहले श्वेतद्वीप में भगवान् से ही :—

नारदेन तु संप्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः ।
एष धर्मो जगन्नाथात्साक्षान्नारायणान्नृप ॥
एवमेष महान्धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥

" नारद को प्राप्त हुआ। हे राजा ! वही महान् धर्म तुझे हरिगीता अर्थात् भगवद्गीता में समासविधिसहित बतलाया है"--(म. भा. शां. ३४६.९.१०)। और फिर कहा है, कि " युद्ध में विमनस्क हुए अर्जुन को यह धर्म बतलाया गया है" (म. भा. शां. ३४८. ८)। इससे प्रगट होता है, कि गीता का योग अर्थात् कर्मयोग भागवतधर्म का है (गीतार. प्र. १, पृ. ८–१०)। विस्तार हो जाने के भय से गीता में उसकी सम्प्रदायपरम्परा सृष्टि के मूल आरम्भ से नहीं दी है; विवस्वान्, मनु और इक्ष्वाकु इन्हीं तीनों का उल्लेख कर दिया है। परन्तु इसका सच्चा अर्थ नारायणीय धर्म की समस्त परम्परा देखने से स्पष्ट मालूम हो जाता है। ब्रह्मा के कुल सात जन्म हैं। इनमें से पहल छः जन्मों की नारायणीय धर्म में कथित पर-

अर्जुन उवांच ।

§ § अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।

म्परा का वर्णन हो चुकन पर जब ब्रह्मा के सातवें-- अर्थात् वर्तमान-- जन्म का कृतयुग समाप्त हुआ, तब :--

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ॥
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः ।
गमिष्यति क्षयान्ते च पुनर्नारायणं नृप ॥
यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥

"त्रेतायुग के आरम्भ में विवस्वान् ने मनु को (वह धर्म) दिया, मनु ने लोकधारणार्थ यह अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया; और इक्ष्वाकु से आगे सब लोगों में फैल गया। हे राजा! सृष्टि का क्षय होने पर (यह धर्म) फिर नारायण के यहाँ चला जावेगा। यह धर्म 'यतीनां चापि' अर्थात् इसके साथ ही संन्यासधर्म भी तुझ से पहले भगवद्गीता में कह दिया है"--ऐसा नारायणीय धर्म में ही वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा है (म.भा. शां. ३४८. ५१-५३)। इससे देख पड़ता है, कि जिस द्वापारयुग के अन्त में भारतीय युद्ध हुआ था, उससे पहले त्रेतायुगभर की ही भागवतधर्म की परम्परा गीता में वर्णित है। विस्तारभय से अधिक वर्णन नहीं किया है। यह भागवतधर्म ही योग या कर्मयोग है; और मनु को इस कर्मयोग के उपदेश किये जाने की कथा न केवल गीता में है; प्रत्युत भागवतपुराण (८. २४. ५५) में भी इस कथा का उल्लेख है। मत्स्यपुराण के ५२ वें अध्याय में मनु को उपदिष्ट कर्मयोग का महत्त्व भी बतलाया गया है। परन्तु इनमें से कोई भी वर्णन नारायणीयोपाख्यान में किये गये वर्णन के समान पूर्ण नहीं है। विवस्वान्, मनु और इक्ष्वाकु की परम्परा सांख्यमार्ग को बिलकुल ही उपयुक्त नहीं होती; और सांख्य एवं योग दोनों के अतिरिक्त तीसरी निष्ठा गीता में वर्णित ही नहीं है। इस बात पर लक्ष देने से दूसरी रीति से भी सिद्ध होता है, कि यह परम्परा कर्मयोग की ही है (गी. २. ३९)। परन्तु सांख्य और योग दोनों निष्ठाओं की परम्परा यद्यपि एक न हो, तो भी कर्मयोग अर्थात् भागवतधर्म के निरूपण में ही सांख्य या संन्यासनिष्ठा के निरूपण का पर्याय से समावेश हो जाता है (गीतार. प्र. १४, पृ. ४६७ देखो) इस कारण वैशम्पायन ने कहा है, कि भगवद्गीता में यतिधर्म अर्थात् संन्यासधर्म भी वर्णित है। मनुस्मृति में चार आश्रमधर्मों का जो वर्णन है, उसके छठे अध्याय में पहले यति अर्थात् संन्यास आश्रम का धर्म कह चुकने पर विकल्प से "वेदसंन्यासिकों का कर्मयोग" इस नाम से भागवतधर्म के

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

श्री भगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

कर्मयोग का वर्णन है । और स्पष्ट कहा है, कि " निःस्पृहता से अपना कार्य करते रहने से ही अन्त में परमसिद्धि मिलती है " (मनु. ६. ९६) । इससे स्पष्ट देख पड़ता है, कि कर्मयोग मनु को भी ग्राह्य था। इसी प्रकार अन्य स्मृतिकारों को भी यह मान्य था; और इस विषय के अनेक प्रमाण गीतारहस्य के ११ वें प्रकरण के अन्त (पृ. ३६१–३६५) में दिये गये हैं । अब अर्जुन को इस पर म्परा पर यह शंका है कि :—]

अर्जुन ने कहा :— (४) तुम्हारा जन्म तो अभी हुआ है; और विवस्वान् का इससे बहुत पहले हो चुका है । (ऐसी दशा में) मैं यह कैसे जानूँ, कि तुमने (यह योग) पहले बतलाया ?

[अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् अपने अवतारों के कार्यों का वर्णन कर आसक्तिविरहित कर्मयोग या भागवतधर्म का ही फिर समर्थन करते हैं, कि " इस प्रकार मैं भी कर्मों को करता आ रहा हूँ " :—]

श्री भगवान् ने कहा :—(५) हे अर्जुन ! मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं। उन सब को मैं जानता हूँ । (और) हे परन्तप ! तू नहीं जानता (यही भेद है)। (६) मैं (सब) प्राणियों का स्वामी और जन्मविरहित हूँ । यद्यपि मेरे आत्मस्वरूप में कभी भी व्यय अर्थात् विकार नहीं होता, तथापि अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित होकर मैं अपनी माया से जन्म लिया करता हूँ ।

[इस श्लोक के अध्यात्मज्ञान में कापिलसांख्य और वेदान्त दोनों ही मतों का मेल कर दिया गया है । सांख्यमतवालों का कथन है, कि प्रकृति आप ही स्वयं सृष्टि निर्माण करती है । परन्तु वेदान्ती लोग प्रकृति को परमेश्वर का ही एक स्वरूप समझ कर यह मानते हैं, कि प्रकृति में परमेश्वर के अधिष्ठित होने पर प्रकृति से व्यक्तसृष्टि निर्मित होती है । अपने अव्यक्त स्वरूप से सारे जगत् को निर्माण करने की परमेश्वर की इस अचिन्त्य शक्ति को ही गीता में ' माया ' कहा है । और इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी ऐसा वर्णन है :—"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् " । अर्थात् प्रकृति ही माया है; और उस माया का अधिपति परमेश्वर है (श्वे. ४. १०); और ' अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् '— इससे माया का अधिपति सृष्टि उत्पन्न करता है (श्वे. ४. ९) । प्रकृति को माया

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
§ § जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

क्यों कहते हैं ? इस माया का स्वरूप क्या है ? और इस कथन का क्या अर्थ, कि माया से सृष्टि उत्पन्न होती है ?—इत्यादि प्रश्नों का अधिक विवरण गीतारहस्य के ९ वें प्रकरण में किया गया है। यह बतला दिया, कि अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त कैसे होता है ? अर्थात् कर्म उपजा हुआ-सा कैसे देख पड़ता है ? अब इस बात का खुलासा करते हैं, कि यह ऐसा कब और किसलिये करता है ? :—]

(७) हे भारत ! जब जब धर्म की ग्लानि होती है; और अधर्म की प्रबलता फैल जाती है, तब (तब) मैं स्वयं ही जन्म (अवतार) लिया करता हूँ। (८) साधुओं की संरक्षा के निमित्त और दुष्टों का नाश करने के लिये युग युग में धर्म की संस्थापना के अर्थ मैं जन्म लिया करता हूँ।

[इन दोनों श्लोकों में 'धर्म' शब्द का अर्थ केवल पारलौकिक वैदिक धर्म नहीं है। किन्तु चारों वर्णों के धर्म, न्याय और नीति प्रभृति बातों का भी उसमें मुख्यता से समावेश होता है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है, कि जगत् में जब अन्याय, अनीति, दुष्टता और अँधाधुन्धी मच कर साधुओं को कष्ट होने लगता है; और जब दुष्टों का दबदबा बढ़ जाता है, तब अपने निर्माण किये हुए जगत् की सुस्थिति को स्थिर कर उसका कल्याण करने के लिये तेजस्वी और पराक्रमी पुरुष के रूप से (गी. १०. ४१.) अवतार ले कर भगवान् समाज की बिगड़ी हुई व्यवस्था को फिर ठीक कर दिया करते हैं। इस रीति से अवतार ले कर भगवान् जो काम करते हैं, उसी को 'लोकसंग्रह' भी कहते हैं। पिछले अध्याय में कह दिया गया है, कि यही काम अपनी शक्ति और अधिकार के अनुसार आत्मज्ञानी पुरुषों को भी करना चाहिये (गी. ३. २०)। यह बतला दिया गया, कि परमेश्वर कब और किसलिये अवतार लेता है ? अब यह बतलाते हैं, कि इस तत्त्व को परख कर जो पुरुष तदनुसार बर्ताव करते हैं, उनको कौन-सी गति मिलती है ? :—]

(९) हे अर्जुन ! इस प्रकार के मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्म के तत्त्व को जो जानता है, वह देह त्यागने के पश्चात् फिर जन्म न लेकर मुझसे आ मिलता है। (१०) प्रीति, भय और क्रोध से छूटे हुए, मत्परायण और मेरे आश्रय में आये हुए,

§ § ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥
कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

अनेक लोग (इस प्रकार) ज्ञानरूप तप से शुद्ध होकर मेरे स्वरूप में आकर मिल गये हैं ।

[भगवान् के दिव्य जन्म को समझने के लिये यह जानना पड़ता है, कि अव्यक्त परमेश्वर माया से सगुण कैसे होता है ? और इसके जान लेने से अध्यात्म ज्ञान हो जाता है; एवं दिव्य कर्म को जान लेने पर कर्म करके भी अलिप्त रहने का—अर्थात् निष्कामकर्म के तत्त्व का—ज्ञान हो जाता है । सारांश, परमेश्वर के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म को पूरा पूरा जान लें, तो अध्यात्मज्ञान और कर्मयोग दोनों की पूरी पूरी पहचान हो जाती है; और मोक्ष की प्राप्ति के लिये इसकी आवश्यकता होने के कारण ऐसे मनुष्य को अन्त में भगवत्प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती । अर्थात् भगवान् के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म जान लेने में सब कुछ आ गया । फिर अध्यात्मज्ञान अथवा निष्काम कर्मयोग दोनों का अलग अलग अध्ययन नहीं करना पड़ता । अतएव वक्तव्य यह है, कि भगवान् के जन्म और कृत्य का विचार करो; एवं उसके तत्त्व को परख कर बर्ताव करो । भगवत्प्राप्ति होने के लिये दूसरा कोई साधन अपेक्षित नहीं है । भगवान् की यही सच्ची उपासना है । अब इसकी अपेक्षा नीचे के दर्जे की उपासनाओं के फल और उपयोग बतलाते हैं :—]

(११) जो मुझे जिस प्रकार से भजते हैं, उन्हें मैं उसी प्रकार के फल देता हूँ । हे पार्थ ! किसी भी ओर से हो, मनुष्य मेरे ही मार्ग में आ मिलते हैं ।

['मम वर्त्मानुर्तन्ते' इत्यादि उत्तरार्ध पहले (३. २३) कुछ निराले अर्थ में आया है; और इससे ध्यान में आवेगा, कि गीता में पूर्वापर सन्दर्भ के अनुसार अर्थ कैसे बदल जाता है ? यद्यपि यह सच है, कि किसी मार्ग से जाने पर भी मनुष्य परमेश्वर की ही ओर जाता है; तो भी यह जानना चाहिये, कि अनेक लोग अनेक मार्गों से क्यों जाते हैं ? अब इसका कारण बतलाते हैं :—]

(१२) (कर्मबन्धन के नाश की नहीं, केवल) कर्मफल की इच्छा करनेवाले लोग इस लोक में देवताओं की पूजा इसलिये किया करते हैं, कि (ये) कर्मफल (इसी) मनुष्यलोक में शीघ्र ही मिल जाते हैं ।

[यही विचार सातवें अध्याय (गी.७.२१, २२) में फिर आये हैं । परमेश्वर की आराधना का सच्चा फल है मोक्ष । परन्तु वह तभी प्राप्त होता है, कि जब कालान्तर से एवं दीर्घ और एकान्त उपासना से कर्मबन्ध का पूर्ण नाश हो जाता है । परन्तु इतने दूरदर्शी और दीर्घ उद्योगी पुरुष बहुत ही थोड़े होते हैं । इस श्लोक का

§ § चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥
न मां कर्माणि लिंपन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते ॥ १४ ॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।

भावार्थ यह है, कि बहुतेरों को तो अपने उद्योग अर्थात् कर्म से इसी लोक में कुछ-न-कुछ प्राप्त करना होता है; और ऐसे ही लोग देवताओं की पूजा किया करते हैं (गीतार.प्र.१३, पृ.४२२ देखो)। गीता का यह भी कथन है, कि पर्याय से यह भी तो परमेश्वर का ही पूजन होता है; और बढ़ते बढ़ते इस योग का पर्यवसान निष्कामभक्ति में होकर अन्त में मोक्ष प्राप्त हो जाता है (गी. ७. १९)। पहले कह चुके हैं, कि धर्म की संस्थापना करने के लिये परमेश्वर अवतार लेता है। अब संक्षेप में बतलाते हैं, कि धर्म की संस्थापना करने के लिये क्या करना पड़ता है? :—]

(१३) (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस प्रकार) चारों वर्णों की व्यवस्था गुण और कर्म के भेद से मैंने निर्माण की है। इसे तू ध्यान में रख, कि मैं उसका कर्ता भी हूँ; और अकर्ता अर्थात् उसे न करनेवाला अव्यय (मैं ही) हूँ।

[अर्थ यह है, कि परमेश्वर कर्ता भले ही हो; पर अगले श्लोक के वर्णनानुसार वह सदैव निःसङग हैं। इस कारण अकर्ता ही है (गी. ५. १४ देखो)। परमेश्वर के स्वरूप के 'सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' ऐसे दूसरे भी विरोधाभासात्मक वर्णन हैं (गी. १३. १४)। चातुर्वर्ण्य के गुण और भेद का निरूपण आगे अठारहवें अध्याय (१८. ४१–४९) में किया गया है। अब भगवान् ने "करके न करनेवाला" ऐसा जो अपना वर्णन किया है, उसका मर्म बतलाते हैं :—]

(१४) मुझे कर्म का लेप अर्थात् बाधा नहीं होती। (क्योंकि) कर्म के फल में मेरी इच्छा नहीं है। जो मुझे इस प्रकार जानता है, उसे कर्म की बाधा नहीं होती।

[ऊपर नवम श्लोक में जो दो बातें कही हैं, कि मेरे 'जन्म' और 'कर्म' को जो जानता है, वह मुक्त हो जाता है। उनमें से कर्म के तत्त्व का स्पष्टीकरण इस श्लोक में किया है। 'जानता' है शब्द से यहाँ "जान कर तदनुसार बर्तने लगता है" इतना अर्थ विवक्षित है। भावार्थ यह है, कि भगवान् को उनके कर्म की बाधा नहीं होती। इसका यह कारण है, कि वे फलाशा रख कर काम ही नहीं करते। और इसे जान कर तदनुसार जो बर्तता है, उसको कर्मों का बन्धन नहीं होता। अब इस श्लोक के सिद्धान्त को ही प्रत्यक्ष उदाहरण से दृढ करते हैं :—]

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥
§ § किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

(१५) इसे जान कर प्राचीन समय के मुमुक्षु लोगों ने भी कर्म किया था । इसलिये पूर्व के लोगों के किये हुए अति प्राचीन कर्म को ही तू कर ।

[इस प्रकार मोक्ष और कर्म का विरोध नहीं है । अतएव अर्जुन को निश्चित उपदेश किया है, कि तू कर्म कर । परन्तु संन्यासमार्गवालों का कथन है, कि " कर्मों के छोड़ने से अर्थात् अकर्म से ही मोक्ष मिलता है । " इस पर यह शंका होती है, कि ऐसे कथन का बीज क्या है ? अतएव अब कर्म और अकर्म के विवेचन का आरम्भ करके तेईसवें श्लोक में सिद्धान्त करते हैं, कि अकर्म कुछ कर्मत्याग नहीं है, निष्कामकर्म को ही अकर्म कहना चाहिये ।]

(१६) इस विषय में बड़े बड़े विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है, कि कौन कर्म है और कौन अकर्म ? (अतएव) वैसा कर्म तुझे बतलाता हूँ, कि जिसे जान लेने से तू पाप से मुक्त होगा ।

'अकर्म' नञ् समास है । व्याकरण की रीति से उसके अ = नञ् शब्द के 'अभाव' अथवा 'अप्राशस्त्य' दो अर्थ हो सकते हैं । और यह नहीं कह सकते, कि इस स्थल पर ये दोनों ही अर्थ विवक्षित न होंगे । परन्तु अगले श्लोक में 'विकर्म' नाम से कर्म का एक और तीसरा भेद किया है । अतएव इस श्लोक में अकर्म शब्द से विशेषतः वही कर्मत्याग उद्दिष्ट है, जिसे संन्यासमार्गवाले लोग 'कर्म का स्वरूपतः त्याग' कहते हैं । संन्यासमार्गवाले कहते हैं, कि 'सब कर्म छोड़ दो'! परन्तु १८ वें श्लोक की टिप्पणी से देख पड़ेगा, कि इस बात को दिखलाने के लिये ही यह विवेचन किया गया है, कि कर्म को बिलकुल ही त्याग देने की कोई आवश्यकता नहीं है । संन्यामार्गवालों का कर्मत्याग सच्चा 'अकर्म' नहीं है । अकर्म का मर्म ही कुछ और है ।

(१७) कर्म की गति गहन है । (अतएव) यह जान लेना चाहिये, कि कर्म क्या है ? और समझना चाहिये, कि विकर्म (विपरीत कर्म) क्या है ? और यह भी ज्ञात कर लेना चाहिये, कि अकर्म (कर्म न करना) क्या है ? (१८) कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म जिसे देख पड़ता है, वह पुरुष सब मनुष्यों में ज्ञानी और वही युक्त अर्थात् योगयुक्त एवं समस्त कर्म करनेवाला है ।

[इसमें और अगले पाँच श्लोकों में कर्म, अकर्म एवं विकर्म का खुलासा किया गया है । इसमें जो कुछ कमी रह गई है, वह अगले अठारहवें अध्याय

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

में कर्मत्याग, कर्म और कर्ता के त्रिविध भेदवर्णन में पूरी कर दी गई है (गी. १८. ४-७; १८. २३-२५; १८. २६-२८)। यहाँ संक्षेप में स्पष्टतापूर्वक यह बतला देना आवश्यक है, कि दोनों स्थलों के कर्मविवेचन से कर्म, अकर्म और विकर्म के सम्बन्ध में गीता के सिद्धान्त क्या हैं ? क्योंकि, टीकाकारों ने इस सम्बन्ध में बड़ी गड़बड़ कर दी है। संन्यासमार्गवालों को सब कर्मों का स्वरूपतः त्याग इष्ट है। इसलिये वे गीता के 'अकर्म' पद का अर्थ खींचातानी से अपने मार्ग की ओर लाना चाहते हैं। मीमांसकों को यज्ञयाग आदि काम्यकर्म इष्ट हैं। इसलिये उन्हें उनके अतिरिक्त और सभी कर्म 'विकर्म' जँचते हैं। इसके सिवा मीमांसकों के नित्यनैमित्तिक आदि कर्मभेद भी इसी में आ जाते हैं; और फिर इसी में धर्मशास्त्री अपनी ढाई चावल की खिचड़ी पकाने की इच्छा रखते हैं। सारांश, चारों ओर से ऐसी खींचतानी होने के कारण अन्त में यह जान लेना कठिन हो जाता है, कि गीता 'अकर्म' किसे कहती है ? और 'विकर्म' किसे ? अतएव पहले से ही इस बात पर ध्यान दिये रहना चाहिये, कि गीता में जिस तात्त्विक दृष्टि से इस प्रश्न का विचार किया गया है, वह दृष्टि निष्काम कर्म करनेवाले कर्मयोगी की है। काम्यकर्म करनेवाले मीमांसकों की या कर्म छोड़नेवाले संन्यासमार्गियों की नहीं है। गीता की इस दृष्टि को स्वीकार कर लेने पर पहले तो यही कहना पड़ता है, कि 'कर्मशून्यता' के अर्थ में 'अकर्म' इस जगत् में कहीं भी नहीं रह सकता। अथवा कोई भी मनुष्य कभी कर्मशून्य नहीं हो सकता (गी. ३. ५. १८. ११)। क्योंकि सोना, उठना, बैठना और जीवित रहना तक किसी से भी छूट नहीं जाता। और यदि कर्मशून्यता होना सम्भव नहीं है, तो यह निश्चय करना पड़ता है, कि अकर्म कहें किसे ? इसके लिये गीता का यह उत्तर है, कि कर्म का मतलब निरी क्रिया न समझ कर उससे होनेवाले शुभ-अशुभ आदि परिणामों का विचार करके कर्म का कर्मत्व या अकर्मत्व निश्चित करो। यदि सृष्टि के मानी ही कर्म है, तो मनुष्य जब तक सृष्टि में है, तब तक उससे कर्म नहीं छूटते। अतः कर्म और अकर्म का जो विचार करना हो, वह इतनी ही दृष्टि से करना चाहिये, कि मनुष्य को वह कर्म कहाँ तक बद्ध करेगा ? करने पर भी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता, उसके विषय में कहना चाहिये, कि उसका कर्मत्व अथवा बन्धकत्व नष्ट हो गया। और यदि किसी भी कर्म का बन्धकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जाय, तो फिर वह कर्म 'अकर्म' ही हुआ। अकर्म का प्रचलित सांसारिक अर्थ कर्मशून्यता ठीक है। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर उसका यहाँ मेल नहीं मिलता। क्योंकि हम देखते हैं, कि चुपचाप बैठना अर्थात् कर्म न करना भी कई बार कर्म ही हो जाता है। उदाहरणार्थ, अपने माँ-बाप को कोई मारता-पीटता हो, तो उसको न रोक कर चुप्पी मारे बैठा रहना, उस समय व्यावहारिक दृष्टि से अकर्म अर्थात्

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।

कर्मशून्यता हो, तो भी कर्म ही--अधिक क्या कहें? विकर्म--है; और कर्मविपाक की दृष्टि से उसका अशुभ परिणाम हमें भोगना ही पड़ेगा । अतएव गीता इस श्लोक में विरोधाभास की रीति से बड़ी खूबी के साथ कहती है, कि ज्ञानी वही है, जिसने जान लिया, कि अकर्म में भी (कभी कभी तो भयानक) कर्म हो जाता है; और कर्म करके भी वह कर्मविपाक की दृष्टि से मरा-सा, अर्थात् अकर्म होता है; तथा यही अर्थ अगले श्लोक में भिन्न भिन्न रीतियों से वर्णित है । कर्म के फल का बन्धन न लगने के लिये गीताशास्त्र के अनुसार यही एक सच्चा साधन है; कि निःसंगबुद्धि से अर्थात् फलाशा छोड कर निष्कामबुद्धि से कर्म किया जावे (गीता-रहस्य प्र.५, पृ.११०-११४; प्र.१० पृ. २८५ देखो)। अतः इस साधन का उपयोग कर निःसंगबुद्धि से जो कर्म किया जाय, वही गीता के अनुसार प्रशस्त--सात्त्विक--कर्म है (गी. १८. ९); और गीता के मत में वही सच्चा 'अकर्म' है। क्योंकि उसका कर्मत्व--(अर्थात् कर्मविपाक की क्रिया के अनुसार बन्धकत्व) निकल जाता है । मनुष्य जो कुछ कर्म करते हैं (और 'करते हैं' पद में चुप-चाप निठल्ले बैठे रहने का भी समावेश करना चाहिये) उनमें से उक्त प्रकार के अर्थात् 'सात्त्विक कर्म '(अथवा गीता के अनुसार अकर्म) घटा देने से बाक़ी जो कर्म रह जाते हैं, उनके दो भाग हो सकते हैं। एक राजस और दूसरा तामस। इनमें तामस कर्म मोह और अज्ञान से हुआ करते हैं । इसलिये उन्हें विकर्म कहते हैं--फिर यदि कोई कर्म मोह से छोड़ दिया जाय, तो भी वह विकर्म ही है; अकर्म नहीं (गी. १८. ७) । अब रह गये राजस कर्म । ये कर्म पहले दर्जे के अर्थात् सात्त्विक नहीं हैं । अथवा ये वे कर्म भी नहीं हैं, जिन्हें गीता सचमुच 'अकर्म' कहती है । गीता इन्हें 'राजस' कर्म कहती है। परन्तु यदि कोई चाहे, तो ऐसे राजस कर्मों को केवल 'कर्म' भी कह सकता है । तात्पर्य, क्रियात्मक स्वरूप अथवा कोरे धर्मशास्त्र से कर्म-अकर्म का निश्चय नहीं होता । किन्तु कर्म के बन्धकत्व से यह निश्चय किया जाता है, कि कर्म है या अकर्म ? अष्टावक्रगीता संन्यासमार्ग की है । तथापि उसमें भी कहा है :--

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते ।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी

अर्थात मूर्खों की निवृत्ति (अथवा हठसे या मोह के द्वारा कर्म से विमुखता) ही वास्तव में प्रवृत्ति अर्थात् कर्म है और पण्डित लोगों की प्रवृत्ति (अर्थात् निष्काम कर्म) से ही निवृत्ति यानी कर्मत्याग का फल मिलता है (अष्टा. १८. ६१) । गीता के उक्त श्लोक में यही अर्थ विरोधभासरूपी अलंकार की रीति से बड़ी सुन्दरता से बतलाया गया है । गीता के अकर्म के इस लक्षण को भली भाँति समझे बिना गीता के कर्म-अकर्म के विवेचन का मर्म कभी समझ में आने का नहीं । अब इसी अर्थ को अगले श्लोकों में अधिक व्यक्त करते हैं :--]

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ १९ ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।

(१९) ज्ञानी पुरुष उसी को पण्डित कहते हैं, कि जिसके सभी समारम्भ अर्थात् उद्योग फल की इच्छा से विरहित होते हैं; और जिसके कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं।

['ज्ञान से कर्म भस्म होते हैं' इसका अर्थ कर्मों को छोड़ना नहीं है। किन्तु इस श्लोक से प्रगट होता है, कि फल की इच्छा छोड़ कर कर्म करना, यही अर्थ यहाँ लेना चाहिये (गीतार. प्र. १०, पृ. २८५–२८९)। इसी प्रकार आगे भगवद्भक्त के वर्णन में जो "सर्वारम्भपरित्यागी"—समस्त आरम्भ या उद्योग छोड़नेवाला — पद आया है (गी. १२. १६. १४. २५), उसके अर्थ का निर्णय भी इससे हो जाता है। अब इसी अर्थ को अधिक स्पष्ट करते हैं :—]

(२०) कर्म की आसक्ति छोड़ कर जो सदा तृप्त और निराश्रय है—अर्थात् जो पुरुष कर्मफल के साधन की आश्रयभूत ऐसी बुद्धि नहीं रखता, कि अमुक कार्य की सिद्धि के लिये अमुक काम करता हूँ—कहना चाहिये, कि वह कर्म करने में निमग्न रहने पर भी कुछ नहीं करता। (२१) आशीः अर्थात् फल की वासना छोडनेवाला, चित्त का नियमन करनेवाला और सर्वसंग से मुक्त पुरुष केवल शारीर अर्थात् शरीर या कर्मेंद्रियों से ही कर्म करते समय पाप का भागी नहीं होता।

[कुछ लोग बीसवें श्लोक के निराश्रय शब्द का अर्थ घरगृहस्थी न रखनेवाला (संन्यासी) करते हैं; पर वह ठीक नहीं है। आश्रय को घर या डेरा कह सकेंगे; परन्तु इस स्थान पर कर्ता के स्वयं रहने का ठिकाना विवक्षित नहीं है। अर्थ यह है, कि वह जो कर्म करता है, उसका हेतुरूप ठिकाना (आश्रय) कहीं न रहे। यही अर्थ गीता के ६. १ श्लोक में 'अनाश्रितः कर्मफलं' इन शब्दों से स्पष्ट व्यक्त किया गया है। और वामन पण्डित ने गीता की यथार्थदीपिका नामक अपनी मराठी टीका में इसे स्वीकार किया है। ऐसे ही २१ वें श्लोक में 'शारीर' के मानी सिर्फ़ शरीरपोषण के लिये भिक्षाटन आदि कर्म नहीं हैं। आगे पाँचवें अध्याय में" योगी अर्थात् कर्मयोगी लोग आसक्ति अथवा काम्यबुद्धि को मन में रख कर केवल इन्द्रियों से कर्म किया करते हैं" (५. ११) ऐसा जो वर्णन है, उसके समानार्थक ही "केवलं शारीरं कर्म" इन पदों का सच्चा अर्थ है। इन्द्रियाँ कर्म करती हैं, पर बुद्धि सम रहने के कारण उन कर्मों का पापपुण्य कर्ता को नहीं लगता।]

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते ॥ २२ ॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

(२२) यदृच्छा से जो प्राप्त हो जाय, उसमें सन्तुष्ट, हर्ष (शोक आदि) द्वन्दों से मुक्त, निर्मत्सर और (कर्म की) सिद्धि या असिद्धि को एक-सा ही माननेवाला पुरुष (कर्म) करके भी (उनके पापपुण्य से) बद्ध नहीं होता। (२३) आसङ्गरहित, (रागद्वेष से) मुक्त, (साम्यबुद्धिरूप) ज्ञान में स्थिर चित्तवाले और (केवल) यज्ञ ही के लिये (कर्म) करनेवाले पुरुष के समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं।

[तीसरे अध्याय (३. ९) में जो यह भाव है—कि मीमांसकों के मत में यज्ञ के लिये किये हुए कर्म बन्धक नहीं होते; और आसक्ति छोड़ कर करने से वे ही कर्म स्वर्गप्रद न होकर मोक्षप्रद होते हैं—वही इस श्लोक में बतलाया गया है। "समग्र विलीन हो जाते हैं," में 'समग्र' पद महत्त्व का है। मीमांसक लोग स्वर्गसुख को ही परमसाध्य मानते हैं; और उनकी दृष्टि से स्वर्गसुख को प्राप्त कर देनेवाले कर्म बन्धक नहीं होते। परन्तु गीता की दृष्टि से परे अर्थात् मोक्ष पर है; और इस दृष्टि से स्वर्गप्रद कर्म भी बन्धक ही होते हैं। अतएव कहा है, कि यज्ञार्थ कर्म भी अनासक्तबुद्धि से करने पर 'समग्र' लय पाते हैं अर्थात् स्वर्गप्रद न हो कर मोक्षप्रद हो जाते हैं। तथापि इस अध्याय में यज्ञ-प्रकरण के प्रतिपादन में और तीसरे अध्यायवाले यज्ञप्रकरण के प्रतिपादन में एक बड़ा भारी भेद है। तीसरे अध्याय में कहा है, कि श्रौतस्मार्त अनादि यज्ञ-चक्र को स्थिर रखना चाहिये। परन्तु अब भगवान् कहते हैं, कि यज्ञ का इतना ही संकुचित अर्थ न समझो, कि देवता के उद्देश से अग्नि में तिल-चावल या पशु का हवन कर दिया जावें। अथवा चातुर्वर्ण्य के कर्म स्वधर्म के अनुसार काम्यबुद्धि से किये जावें। अग्नि में आहुति छोड़ते समय अन्त में 'इदं न मम'—यह मेरा नहीं—इन शब्दों का उच्चारण किया जाता है। इनमें स्वार्थत्यागरूप निर्ममत्व का जो तत्त्व है, वही यज्ञ में प्रधान भाग है। इस रीति से "न मम" कह कर अर्थात् ममतायुक्त बुद्धि छोड़कर ब्रह्मार्पणपूर्वक जीवन के समस्त व्यवहार करना भी एक बड़ा यज्ञ या होम ही हो जाता है। इस यज्ञ से देवाधिदेव परमेश्वर अथवा ब्रह्म का यजन हुआ करता है। सारांश, मीमांसकों के द्रव्ययज्ञसम्बन्धी जो सिद्धान्त हैं, वे इस बड़े यज्ञ के लिये भी उपयुक्त होते हैं; और लोकसंग्रह के निमित्त जगत् के आसक्तिविरहित कर्म करनेवाला पुरुष कर्म के 'समग्र' फल से मुक्त होता हुआ अन्त में मोक्ष पाता है (गीतार. प्र. ११; पृ. ३४४-३४७ देखो)। ब्रह्मार्पण-रूपी बड़े यज्ञ का ही वर्णन पहले इस श्लोक में किया गया है। और फिर इसकी अपेक्षा कम योग्यता के अनेक लाक्षणिक यज्ञों का स्वरूप बतलाया गया है; एवं तेतीसवें श्लोक में समग्र प्रकरण का उपसंहार कर कहा गया है, कि ऐसा 'ज्ञान-यज्ञ ही सब में श्रेष्ठ है'।]

§ § ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इंद्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥
सर्वाणींद्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।

(२४) अर्पण अथवा हवन करने की क्रिया ब्रह्म है । हवि अर्थात् अर्पण करने का द्रव्य ब्रह्म है, ब्रह्माग्नि में ब्रह्म ने हवन किया है—(इस प्रकार) जिसकी बुद्धि में (सभी) कर्म ब्रह्ममय हैं, उसको ब्रह्म ही मिलता है ।

[शाङ्करभाष्य में 'अर्पण' शब्द का अर्थ 'अर्पण' करने का साधन अर्थात् आचमनी इत्यादि है; परन्तु यह जरा कठिन है । इसकी अपेक्षा, अर्पण = अर्पण करने की या हवन करने की क्रिया, यह अर्थ अधिक सरल है । यह ब्रह्मार्पणपूर्वक अर्थात् निष्कामबुद्धि से यज्ञ करनेवालों का वर्णन हुआ । अब देवता के उद्देश से अर्थात् काम्यबुद्धि से किये हुए यज्ञ का स्वरूप बतलाते हैं :—]

(२५) कोई कोई (कर्म-)योगी (ब्रह्मबुद्धि के बदले) देवता आदि के उद्देश से यज्ञ किया करते हैं; और कोई ब्रह्माग्नि में यज्ञ से ही यज्ञ का यजन करते हैं ।

[पुरुषसूक्त में विराट्रूपी यज्ञपुरुष के देवताओं द्वारा यजन होने का जो वर्णन है—"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः । (ऋ. १०.९०.१६), उसी को लक्ष्य कर इस श्लोक का उत्तरार्ध कहा गया है । 'यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति' ये पद ऋग्वेद के 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' से समानार्थक ही देख पड़ते हैं । प्रगट है, कि इस यज्ञ में (जो सृष्टि के आरम्भ में हुआ था) जिस विराट्रूपी पशु का हवन किया गया था वह पशु और जिस देवता का यजन किया गया था वह देवता, ये दोनों ब्रह्मस्वरूपी होंगे । सारांश, चौबीसवें श्लोक का यह वर्णन ही तत्त्वदृष्टि से ठीक है, कि सृष्टि के सब पदार्थों में सदैव ही ब्रह्म भरा हुआ है । इस कारण इच्छा-रहित बुद्धि से सब व्यवहार करते करते ब्रह्म से ही सदा ब्रह्म का यजन होता रहता है । केवल बुद्धि वैसी होनी चाहिये । पुरुषसूक्त को लक्ष्य कर गीता में यही एक श्लोक नहीं है; प्रत्युत आगे दसवें अध्याय (१०.४२) में भी इस सूक्त के अनुसार वर्णन है । देवता के उद्देश से किये हुए यज्ञ का वर्णन हो चुका । अब अग्नि, हवि इत्यादि शब्दों के लाक्षणिक अर्थ लेकर बतलाते हैं, कि प्राणायाम आदि पातंजलयोग की क्रिया अथवा तपश्चरण भी एक प्रकार का यज्ञ होता है :—]

(२६) और कोई श्रोत्र आदि (कान, आँख आदि) इंद्रियों का संयमरूप अग्नि में होम करते हैं; और कुछ लोग इंद्रियरूप अग्नि में (इन्द्रियों के) शब्द आदि विषयों का हवन करते हैं । (२७) और कुछ लोग इन्द्रियों तथा प्राणों के सब

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।

कर्मों को अर्थात् व्यापारों को ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयमरूपी योग की अग्नि में हवन किया करते हैं।

[इन श्लोकों में दो-तीन प्रकार के लाक्षणिक यज्ञों का वर्णन है। जैसे (१) इन्द्रियों का संयमन करना अर्थात् उनको योग्य मर्यादा के भीतर अपने अपने व्यवहार करने देना। (२) इन्द्रियों के विषय अर्थात् उपभोग के पदार्थ सर्वथा छोड़ कर इन्द्रियों को बिलकुल मार डालना। (३) न केवल इन्द्रियों के व्यापार को; प्रत्युत प्राणों के भी व्यापार को बन्द कर पूरी समाधि लगा करके केवल आत्मानन्द में ही मग्न रहना। अब इन्हें यज्ञ की उपमा दी जाय, तो पहले भेद में इन्द्रियों को मर्यादित करने की क्रिया (संयमन) अग्नि हुई। क्योंकि दृष्टान्त से यह कहा जा सकता है, कि इस मर्यादा के भीतर जो कुछ आ जाय, उसका उसमें हवन हो गया। इसी प्रकार दूसरे भेद में साक्षात् इन्द्रियाँ होमद्रव्य हैं। और तीसरे भेद में इन्द्रियाँ एवं प्राण दोनों मिल कर होम करने के द्रव्य हो जाते हैं; और आत्मसंयमन अग्नि होता है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे हैं, जो निरा प्राणायाम ही किया करते हैं। उनका वर्णन उनतीसवें श्लोक में है। 'यज्ञ' शब्द के मूल अर्थ द्रव्यात्मक यज्ञ को लक्षणा से विस्तृत और व्यापक कर तप, संन्यास, समाधि एवं प्राणायाम प्रभृति भगवत्प्राप्ति के सब प्रकार के साधनों का एक 'यज्ञ' शीर्षक में ही समावेश कर दिया गया है। भगवद्गीता की यह कल्पना कुछ अपूर्व नहीं है। मनुस्मृति के चौथे अध्याय में गृहस्थाश्रम के वर्णन के सिलसिले में पहले यह बतलाया गया ह, कि ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञ--इन स्मार्त पञ्चमहायज्ञों को कोई गृहस्थ न छोड़े। और फिर कहा है, कि इनके बदले कोई कोई "इन्द्रियों में वाणी का हवन कर वाणी में प्राण का हवन करके अन्त में ज्ञानयज्ञ से भी परमेश्वर का यजन करते हैं" (मनु. ४. २१-२४)। इतिहास की दृष्टि से देखें, तो विदित होता है, कि इन्द्र-वरुण प्रभृति देवताओं के उद्देश से जो द्रव्यमय यज्ञ श्रौत ग्रन्थों म कहे गये हैं, उनका प्रचार धीरे धीरे घटता गया। और जब पातञ्जलयोग से, संन्यास से अथवा आध्यात्मिक ज्ञान से परमेश्वर की प्राप्ति कर लेने के मार्ग अधिक अधिक प्रचलित होने लगे, तब 'यज्ञ' ही शब्द का अर्थ विस्तृत कर उसी में मोक्ष के समग्र उपायों का लक्षणा से समावेश करने का आरम्भ हुआ होगा। इसका मर्म यही है, कि पहले जो शब्द धर्म की दृष्टि से प्रचलित हो गये थे, उन्हीं का उपयोग अगले धर्ममार्ग के लिये भी किया जावे। कुछ भी हो; मनुस्मृति के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि गीता के पहले, या अन्ततः उस काल में उक्त कल्पना सर्वमान्य हो चुकी थी।]

(२८) इस प्रकार तीक्ष्ण व्रत का आचरण करनेवाले यति अर्थात् संयमी पुरुष

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

कोई द्रव्यरूप, कोई तपरूप, कोई योगरूप, कोई स्वाध्याय अर्थात् नित्य स्वकर्मानुष्ठानरूप और कोई ज्ञानरूप यज्ञ किया करते हैं । (२९) प्राणायाम में तत्पर हो कर प्राण और अपान की गति को रोक करके कोई प्राणवायु का अपान में (हवन किया करते हैं) और कोई अपानवायु का प्राण में हवन किया करते हैं ।

[इस श्लोक का तात्पर्य यह है, कि पातंजलयोग के अनुसार प्राणायाम करना भी एक यज्ञ ही है । यह पातञ्जलयोगरूप यज्ञ उनतीसवें श्लोक में बतलाया गया है । अतः अट्ठाईसवें श्लोक के "योगरूप यज्ञ" पद का अर्थ कर्मयोगरूपी यज्ञ करना चाहिये । प्राणायाम शब्द के प्राण शब्द से श्वास और उच्छ्वास, दोनों क्रियाएँ प्रगट होती हैं । परन्तु जब प्राण और अपान का भेद करना होता है, तब प्राण = बाहर जानेवाली अर्थात् उच्छ्वास वायु, और अपान = भीतर आनेवाली श्वास, यह अर्थ किया जाता है (वे. सू. शां. भा. २. ४. १२; और छान्दोग्य. शां.भा. १. ३. ३) । ध्यान रहे, कि प्राण और अपान के ये अर्थ प्रचलित अर्थ से भिन्न हैं । इस अर्थ से अपान में, अर्थात् भीतर खींची हुई श्वास में प्राणका—उच्छ्वास का—होम करने से पूरक नाम का प्राणायाम होता है; और इसके विपरीत प्राण में अपान का होम करने से रेचक प्राणायाम होता है । प्राण और अपान दोनों के ही निरोध से वही प्राणायाम कुम्भक हो जाता है । अब इनके सिवा व्यान, उदान और समान ये तीनों बच रहे । इनमें से व्यान प्राण और अपान के सन्धिस्थलों में रहता है; जो धनुष खींचने, वजन उठाने आदि दम खींच कर या आधी श्वास छोड़ करके शक्ति के काम करते समय व्यक्त होता है (छां. १. ३. ५) । मरणसमय में निकल जानेवाली वायु को उदान कहते हैं (प्रश्न. ३. ६), और सारे शरीर में सब स्थानों पर एक-सा अन्नरस पहुँचानेवाली वायु को समान कहते हैं (प्रश्न. ३. ५) । इस प्रकार वेदान्तशास्त्र में इन शब्दों के सामान्य अर्थ दिये गये हैं; परन्तु कुछ स्थलों पर इसकी अपेक्षा निराले अर्थ अभिप्रेत होते हैं । उदाहरणार्थ, महाभारत (वनपर्व) के २१२ वें अध्याय में प्राण आदि वायु के निराले ही लक्षण हैं । उसमें प्राण का अर्थ मस्तक की वायु और अपान का अर्थ नीचे सरकनेवाली वायु है (प्रश्न. ३. ५) और मैत्र्यु. २. ६) । ऊपर के श्लोक में जो वर्णन है, उसका यह अर्थ है, कि इनमेंसे जिस वायुका निरोध करते हैं, उसका अन्य वायुमें होम होता है ।:—]

(३०-३१) और कुछ लोग आहार को नियमित कर प्राणों में प्राणों का ही होम किया करते हैं । ये सभी लोग सनातन ब्रह्म में जा मिलते हैं, कि जो यज्ञ के जानने-

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

वाले हैं, जिनके पाप यज्ञ से क्षीण हो गये हैं (और जो), अमृत का (अर्थात् यज्ञ से बचे हुए का) उपभोग करनेवाले हैं। यज्ञ न करनेवाले को (जब) इस लोक में सफलता नहीं होती। (तब) फिर हे कुरुश्रेष्ठ ! (उसे) परलोक कहाँ से (मिलेगा)?

[सारांश, यज्ञ करना यद्यपि वेद की आज्ञा के अनुसार मनुष्य का कर्तव्य है, तो भी यह यज्ञ एक ही प्रकार का नहीं होता। प्राणायाम करो, तप करो, वेद का अध्ययन करो, अग्निष्टोम करो, पशुयज्ञ करो, तिल-चावल अथवा घी का हवन करो, पूजापाठ करो या नैवेद्य-वैश्वदेव आदि पाँच गृहयज्ञ करो; फलासक्ति के छूट जाने पर ये सब व्यापक अर्थ में यज्ञ ही हैं। और फिर यज्ञशेष भक्षण के विषय में मीमांसकों के जो सिद्धान्त हैं, वे सब इनमें से प्रत्येक यज्ञ के लिये उपयुक्त हो जाते हैं। इनमें से पहला नियम यह है, कि "यज्ञ के अर्थ किया हुआ कर्म बन्धक नहीं होता" और इसका वर्णन तेईसवें श्लोक में हो चुका है (गी. ३. ९ पर टिप्पणी देखो)। अब दूसरा नियम यह है, कि प्रत्येक गृहस्थ पञ्चमहायज्ञ कर अतिथि आदि के भोजन कर चुकने पर फिर अपनी पत्नी-सहित भोजन करें; और इस प्रकार बर्तने से गृहस्थाश्रम सफल होकर सद्गति देता है। " विघसं भुक्तशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम् " (मनु. ३.२८५)—अतिथि वगैरह के भोजन कर चुकने पर जो बचे, उसे 'विघस' और यज्ञ करने से जो शेष रहे, उसे 'अमृत' कहते हैं। इस प्रकार व्याख्या करके मनुस्मृति और अन्य स्मृतियों में भी कहा है, कि प्रत्येक गृहस्थ को नित्य विघसाशी और अमृताशी होना चाहिये (गी. ३. १३ और गीतारहस्य प्र.१०,पृ. २९१ देखो)। अब भगवान् कहते हैं, कि सामान्य गृहस्थ को उपयुक्त होनेवाला यह सिद्धान्त ही सब प्रकार के उक्त यज्ञों को उपयोगी होता है। यज्ञ के अर्थ किया हुआ कोई भी कर्म बन्धक नहीं होता। यही नहीं बल्कि उन कर्मों में से अवशिष्ट काम यदि अपने निजी उपयोग में आ जावें, तो भी वे बन्धक नहीं होते (देखो गीतार. प्र.१२,पृ. ३८४)। " बिना यज्ञ के इहलोक भी सिद्ध नहीं होता " यह वाक्य मार्मिक और महत्त्व का है। इसका अर्थ उतना ही नहीं है, कि यज्ञ के बिना पानी नहीं बरसता; और पानी के न बरसने से इस लोक की गुजर नहीं होती। किन्तु 'यज्ञ' शब्द का व्यापक अर्थ लेकर इस सामाजिक तत्त्व का भी इसमें पर्याय से समावेश हुआ है, कि कुछ अपनी प्यारी बातों को छोड़े बिना न तो सब को एक-सी सुविधा मिल सकती है; और न जगत् के व्यवहार ही चल सकते हैं। उदाहरणार्थ—पश्चिमी समाजशास्त्रप्रणेता जो यह सिद्धान्त बतलाते हैं, कि अपनी अपनी स्वतन्त्रता को परिमित किये बिना औरों को एक-सी स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती है, वही इस तत्त्व का एक उदाहरण है। और, यदि गीता की परिभाषा से इसी अर्थ को कहना हो, तो इस स्थल पर ऐसी यज्ञप्रधान भाषा का ही प्रयोग

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

करना पड़ेगा, कि " जब तक प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता के कुछ अंश का भी यज्ञ न करे, तब तक इस लोक के व्यवहार चल नहीं सकते "। इस प्रकार के व्यापक और विस्तृत अर्थ से जब यह निश्चय हो चुका, कि यज्ञ ही सारी समाजरचना का आधार है, तब कहना नहीं होगा, कि केवल कर्तव्य की दृष्टि से 'यज्ञ' करना जब तक प्रत्येक मनुष्य न सीखेगा, तब तक समाज की व्यवस्था ठीक न रहेगी ।]

(३२) इस प्रकार भाँति भाँति के यज्ञ ब्रह्म के (ही) मुख में जारी हैं। यह जानो, कि वे सब कर्म से निष्पन्न होते हैं । यह ज्ञान हो जाने से तू मुक्त हो जायगा ।

[ज्योतिष्टोम आदि द्रव्यमय श्रौतयज्ञ अग्नि में हवन करके किये जाते हैं। और शास्त्र में कहा है, कि देवताओं का मुख अग्नि है। इस कारण ये यज्ञ उन देवताओं को मिल जाते हैं । परन्तु यदि कोई शङ्का करे, कि देवताओं के मुख-- अग्नि--में उक्त लाक्षणिक यज्ञ नहीं होते। अतः इन लाक्षणिक यज्ञों से श्रेय-प्राप्ति होगी कैसे ? तो उसे दूर करने के लिये कहा है, कि ये साक्षात् ब्रह्म के ही मुख में होते हैं। दूसरे चरण का भावार्थ यह है, कि जिस पुरुष ने यज्ञविधि के इस व्यापक स्वरूप को--केवल मीमांसकों के संकुचित अर्थ को ही नहीं--जान लिया, उसकी बुद्धि संकुचित नहीं रहती। किन्तु वह ब्रह्म के स्वरूप को पहचानने का अधिकारी हो जाता है। अब बतलाते हैं, कि इन सब यज्ञों में श्रेष्ठ यज्ञ कौन है ? :-]

(३३) हे परन्तप ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है । क्योंकि, हे पार्थ ! सब प्रकार के समस्त कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में होता है ।

[गीता में 'ज्ञानयज्ञ' शब्द दो बार आगे भी आया है (गी. ९. १५ और १८. ७०) । हम जो द्रव्यमय यज्ञ करते हैं, वह परमेश्वर की प्राप्ति के लिये किया करते हैं। परन्तु परमेश्वर की प्राप्ति उसके स्वरूप का ज्ञान हुए बिना नहीं होती । अतएव परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर उस ज्ञान के अनुसार आचरण करके परमेश्वर की प्राप्ति कर लेने के इस मार्ग या साधन को 'ज्ञानयज्ञ' कहते हैं । यह यज्ञ मानस और बुद्धिसाध्य है । अतः द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा इसकी योग्यता अधिक समझी जाती है । मोक्षशास्त्र में ज्ञानयज्ञ का यह ज्ञान ही मुख्य है; और इसी ज्ञान से सब कर्मों का क्षय हो जाता है। कुछ भी हो; गीता का यह स्थिर सिद्धान्त है, कि अन्त में परमेश्वर का ज्ञान होना चाहिये। बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं मिलता । तथापि " कर्म का पर्यवसान ज्ञान में होता है " इस वचन का यह अर्थ नहीं है, कि ज्ञान के पश्चात् कर्मों को छोड़ देना चाहिये—यह बात गीतारहस्य के दसवें और ग्यारहवें प्रकरण में विस्तारपूर्वक

§ § तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥
§ § न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

प्रतिपादन की गई है । अपने लिये नहीं, तो लोकसंग्रह के निमित्त कर्तव्य समझ कर सभी कर्म करना ही चाहिये । और जब कि वे ज्ञान एवं समबुद्धि से किये जाते हैं, तब उनके पापपुण्य की बाधा कर्ता को नहीं होती (देखो आगे ३७ वाँ श्लोक); और यह ज्ञानयज्ञ मोक्षप्रद होता है । अतः गीता का सब लोगों को यही उपदेश है, कि यज्ञ करो; किन्तु उन्हें ज्ञानपूर्वक निष्कामबुद्धि से करो । :—]

(३४) ध्यान में रख, कि प्रणिपात से, प्रश्न करने से और सेवा से तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे; (३५) जिस ज्ञान को पाकर हे पाण्डव ! फिर तुझे ऐसा मोह नहीं होगा; और जिस ज्ञान के योग से समस्त प्राणियों को तू अपने में और मुझ में भी देखेगा ।

[सब प्राणियों को अपने में और अपने को सब प्राणियों में देखने का समस्त प्राणिमात्र में एकता का जो ज्ञान आगे वर्णित है (गी. ६. २९), उसी का यहाँ उल्लेख किया गया है । मूल में आत्मा और भगवान् दोनों एकरूप हैं । अतएव आत्मा में सब प्राणियों का समावेश होता है । अर्थात् भगवान् में भी उनका समावेश होकर आत्मा (मैं), अन्य प्राणि और भगवान् यह त्रिविध भेद नष्ट हो जाता है । इसीलिये भागवतपुराण में भगवद्भक्तों का लक्षण देते हुए कहा है, "सब प्राणियों को भगवान् में और अपने में जो देखता है, उसे उत्तम भागवत कहना चाहिये" (भाग. ११. २, ४५) । इस महत्त्व के नीतितत्त्व का अधिक खुलासा गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३८६. ३९७) में और भक्ति-दृष्टि से तेरहवें प्रकरण (पृ. ४२९–४३०) में किया गया है । :—]

(३६) सब पापियों से यदि अधिक पाप करनेवाला हो, तो भी (उस) ज्ञाननौका से ही तू सब पापों को पार कर जावेगा । (३७) जिस प्रकार प्रज्वलित की हुई अग्नि (सब) इंधन को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार हे अर्जुन ! (यह) ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मों को (शुभ-अशुभ बन्धनों को) जला डालती है ।

[ज्ञान की महत्ता बतला दी । अब बतलाते हैं, कि इस ज्ञान की प्राप्ति किन उपायों से होती है ? :—]

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥ ३८ ॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छाति ॥ ३९ ॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥
§ § योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।

(३८) इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र सचमुच और कुछ भी नहीं है। काल पा कर उस ज्ञान को वह पुरुष आप ही अपने में प्राप्त कर लेता है, जिसका योग अर्थात् कर्मयोग सिद्ध हो गया है।

[३७ वें श्लोक में 'कर्मों' का अर्थ 'कर्म का बन्धन' है (गी.४.१९ देखो) । अपनी बुद्धि से आरम्भ किये हुए निष्काम कर्मों के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति कर लेना ज्ञान की प्राप्ति का मुख्य या बुद्धिगम्य मार्ग है। परन्तु जो स्वयं इस प्रकार अपनी बुद्धि से ज्ञान को प्राप्त न कर सके, उसके लिये अब श्रद्धा का दूसरा मार्ग बतलाते हैं :—]

(३९) जो श्रद्धावान् पुरुष इंद्रियसंयम करके उसी के पीछे पड़ा रहे, उसे भी यह ज्ञान मिल जाता है; और ज्ञान प्राप्त हो जाने से तुरन्त ही उसे परम शान्ति प्राप्त होती है।

[सारांश, बुद्धि से जो ज्ञान और शान्ति प्राप्त होगी, वही श्रद्धा से भी मिलती है (देखो गी. १३, २५) । :—]

(४०) परन्तु जिसे न स्वयं ज्ञान है; और न श्रद्धा ही है, उस संशयग्रस्त मनुष्य का नाश हो जाता है। संशयग्रस्त को न यह लोक है (और) न परलोक, एवं सुख भी नहीं है।

[ज्ञानप्राप्ति के ये दो मार्ग बतला चुके; एक बुद्धि का और दूसरा श्रद्धा का। अब ज्ञान और कर्मयोग का पृथक् उपयोग दिखला कर समस्त विषय का उपसंहार करते हैं :—]

(४१) हे धनञ्जय ! उस आत्मज्ञानी पुरुष को कर्म बद्ध नहीं कर सकते, कि जिसने (कर्म-) योग के आश्रय से कर्म अर्थात् कर्मबन्धन त्याग दिये हैं; और ज्ञान से जिसके (सब) सन्देह दूर हो गये हैं। (४२) इसलिये अपने हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुए इस संशय को ज्ञानरूप तलवार से काट कर (कर्म-) योग का आश्रय कर। (और) हे भारत ! (युद्ध के लिये) खड़ा हो।

[ईशावास्य उपनिषद् में 'विद्या' और 'अविद्या' का पृथक् उपयोग दिखला कर जिस प्रकार दोनों को बिना छोड़े ही आचरण करने के लिये कहा

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

गया है (ईश. ११; गी. र. प्र. ११, पृ. ३५६ देखो); उसी प्रकार गीता के इन दो श्लोकों में ज्ञान और (कर्म-) योग का पृथक् उपयोग दिखला कर उनके अर्थात् ज्ञान और योग के समुच्चय से ही कर्म करने के विषय में अर्जुन को उपदेश दिया गया है। इन दोनों का पृथक् पृथक् उपयोग यह है, कि निष्कामबुद्धियोग के द्वारा कर्म करने पर उनके बन्धन टूट जाते हैं; और वे मोक्ष के लिये प्रतिबन्धक नहीं होते; एवं ज्ञान से मन का सन्देह दूर होकर मोक्ष मिलता है। अतः अन्तिम उपदेश यह है, कि अकेले कर्म या अकेले ज्ञान को स्वीकार न करो; किन्तु ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक कर्मयोग का आश्रय करके युद्ध करो। अर्जुन को योग का आश्रय करके युद्ध के लिये खड़ा रहना था। इस कारण गीतारहस्य के प्र. ३, पृष्ठ ५८ में दिखलाया गया है, कि योग शब्द का अर्थ यहाँ 'कर्मयोग' ही लेना चाहिये। ज्ञान और योग का यह मेल ही "ज्ञानयोगव्यवस्थितिः" पद से दैवी सम्पत्ति के लक्षण (गी. १६. १) में फिर बतलाया गया है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए--अर्थात् कहे हुए--उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग--अर्थात् कर्मयोग--शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जन के संवाद में ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

[ध्यान रहे, कि 'ज्ञान-कर्म-संन्यास' पद में 'संन्यास' शब्द का अर्थ स्वरूपतः 'कर्मत्याग' नहीं है। किन्तु निष्कामबुद्धि से परमेश्वर में कर्म का संन्यास अर्थात् 'अर्पण करना' अर्थ है। और आगे अठारहवें अध्याय के आरम्भ में उसी का खुलासा किया गया है।]

पाँचवाँ अध्याय।

[चौथे अध्याय के सिद्धान्त पर संन्यासमार्गवालों की जो शंका हो सकती है, उसे ही अर्जुन के मुख से प्रश्नरूप से कहला कर इस अध्याय में भगवान् ने उसका स्पष्ट उत्तर दे दिया है। यदि समस्त कर्मों का पर्यवसान ज्ञान है (४.३३), यदि ज्ञान से ही सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं (४. ३७); और यदि द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है (४. ३३); तो दूसरे ही अध्याय में यह कह कर--कि "धर्म्य युद्ध करना ही क्षत्रिय को श्रेयस्कर है" (२. ३१)--चौथे अध्याय के उपसंहार में यह बात क्यों कही गई, कि "अतएव तू कर्मयोग का आश्रय कर युद्ध

पञ्चमोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
तच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

श्रीभगवानुवाच।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।

के लिये उठ खड़ा हो" (४.४२)? इस प्रश्न का गीता यह उत्तर देती है, कि समस्त सन्देहों को दूर कर मोक्षप्राप्ति के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। और यदि मोक्ष के लिये कर्म आवश्यक न हों, तो भी कभी न छूटने के कारण वे लोकसंग्रहार्थ आवश्यक हैं; इस प्रकार ज्ञान और कर्म, दोनों के ही समुच्चय की नित्य अपेक्षा है (४.४१)। परन्तु इस पर भी शंका होती है, कि यदि कर्मयोग और सांख्य दोनों ही मार्ग शास्त्र में विहित हैं, तो इनमें से अपनी इच्छा के अनुसार सांख्यमार्ग को स्वीकार कर कर्मों का त्याग करने में हानि ही क्या है? अर्थात् इसका पूरा निर्णय हो जाना चाहिये, कि इन दोनों मार्गों में श्रेष्ठ कौन-सा है? और अर्जुन के मन में यही शंका हुई है। उसने तीसरे अध्याय के आरम्भ में जैसा प्रश्न किया था, वैसा ही अब भी वह पूछता है, कि :—]

(१) अर्जुन ने कहा :—हे कृष्ण! (तुम) एक बार संन्यास को और दूसरी बार कर्मों के योग को (अर्थात् कर्म करते रहने के मार्ग को ही) उत्तम बतलाते हो। अब निश्चय कर मुझे एक ही (मार्ग) बतलाओ, कि जो इन दोनों में सचमुच ही श्रेष्ठ अर्थात् अधिक प्रशस्त हो। (२) श्रीभगवान् ने कहा :—कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों निष्ठाएँ या मार्ग निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्ष प्राप्त करा देनेवाले हैं; परन्तु (अर्थात् मोक्ष की दृष्टि से दोनों की योग्यता समान होने पर भी) इन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की योग्यता विशेष है।

[उक्त प्रश्न और उत्तर दोनों निःसंदिग्ध और स्पष्ट हैं। व्याकरण की दृष्टि से पहले श्लोक के 'श्रय' शब्द का अर्थ अधिक प्रशस्त या बहुत अच्छा है। दोनों मार्गों के तारतम्य-भावविषयक अर्जुन के प्रश्न का ही यह उत्तर है, कि 'कर्मयोगो विशिष्यते'—कर्मयोग की योग्यता विशेष है। तथापि यह सिद्धान्त सांख्यमार्ग को इष्ट नहीं है। क्योंकि उसका कथन है, कि ज्ञान के पश्चात् सब कर्मों का स्वरूपतः संन्यास ही करना चाहिये। इस कारण इन स्पष्ट अर्थवाले प्रश्नोत्तरों की व्यर्थ खींचातानी कुछ लोगों ने की है। जब यह खींचातानी करने पर भी निर्वाह न हुआ, तब उन लोगों ने यह तुर्रा लगा कर किसी प्रकार अपना समाधान कर लिया कि 'विशिष्यते' (योग्यता या विषेशता) पद से भगवान् ने कर्मयोग की अर्थवादात्मक अर्थात् कोरी स्तुति कर दी है—असल में भगवान् का ठीक अभिप्राय

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

§ § ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।

वैसा नहीं है ! यदि भगवान् का यह मत होता, कि ज्ञान के पश्चात् कर्मों की आवश्यकता नहीं है । तो क्या वे अर्जुन को यह उत्तर नहीं दे सकते थे, कि "इन दोनों में संन्यास श्रेष्ठ है"? परन्तु ऐसा न करके उन्होंने दूसरे श्लोक के पहले चरण में बतलाया है, कि "कर्मों का करना और छोड़ देना, ये दोनों मार्ग एक ही से मोक्षदाता हैं ।" और आगे 'तु' अर्थात् 'परन्तु' पद का प्रयोग करके जब भगवान् ने निःसन्दिग्ध विधान किया है, कि 'तयोः' अर्थात् इन दोनों मार्गों में कर्म छोड़ने के मार्ग की अपेक्षा कर्म करने का पक्ष ही अधिक प्रशस्त (श्रेय) है । तब पूर्णतया सिद्ध हो जाता है, कि भगवान् को यही मत ग्राह्य है, कि साधनावस्था में ज्ञानप्राप्ति के लिये किये जानेवाले निष्काम कर्मों को ही ज्ञानी पुरुष आगे सिद्धावस्था में भी लोकसंग्रह के अर्थ मरणपर्यन्त कर्तव्य समझ कर करता रहे । यही अर्थ गीता ३. ७ में वर्णित है । यही 'विशिष्यते' पद वहाँ है । और उसके अगले श्लोक में अर्थात् गीता ३. ८ में ये स्पष्ट शब्द फिर भी हैं, कि "अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है ।" इसमें संदेह नहीं, कि उपनिषदों में कई स्थलों पर (बृ. ४. ४. २२) वर्णन है, कि ज्ञानी पुरुष लोकैषणा और पुत्रैषणा प्रभृति न रख कर भिक्षा माँगते हुए घूमा करते हैं । परन्तु उपनिषदों में भी यह नहीं कहा है, कि ज्ञान के पश्चात् यह एक ही मार्ग है— दूसरा नहीं है । अतः केवल उल्लिखित उपनिषद् वाक्य से ही गीता की एकवाक्यता करना उचित नहीं है । गीता का यह कथन नहीं है, कि उपनिषदों में वर्णित यह संन्यासमार्ग मोक्षप्रद नहीं है; किन्तु यद्यपि कर्मयोग और संन्यास, दोनों मार्ग एक-से ही मोक्षप्रद हैं, तथापि (अर्थात् मोक्ष की दृष्टि से दोनों का फल एक ही होने पर भी) जगत् के व्यवहार का विचार करने पर गीता का यह निश्चित मत है, कि ज्ञान के पश्चात् भी निष्कामबुद्धि से कर्म करते रहने का मार्ग ही अधिक प्रशस्त या श्रेष्ठ है। हमारा किया हुआ यह अर्थ गीता के बहुतेरे टीकाकारों को मान्य नहीं है । उन्होंने कर्मयोग को गौण निश्चित किया है । परन्तु हमारी समझ में ये अर्थ सरल नहीं हैं । और गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण (विशेष कर पृ. ३०४-३१२) में इसके कारणों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है । इस कारण यहाँ उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार दोनों में से अधिक प्रशस्त मार्ग का निर्णय कर दिया गया । अब यह सिद्ध कर दिखलाते हैं, कि ये दोनों मार्ग व्यवहार में यदि लोगों को भिन्न देख पड़ें, तो भी तत्त्वतः वे दो नहीं हैं :—]

(३) जो (किसी का भी) द्वेष नहीं करता; और (किसी की भी) इच्छा नहीं करता, उस पुरुष को (कर्म करने पर भी) नित्यसंन्यासी समझना चाहिये ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
सांख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पंडिता: ।
एकमप्यास्थित: सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यै: प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥
संन्यासस्तु महाबाहो दु:खमाप्तुमयोगत: ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥
§§ योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेंद्रिय: ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

क्योंकि हे महाबाहु अर्जुन! जो (सुखदु:ख आदि) द्वन्द्वों से मुक्त हो जाय, वह अनायास ही (कर्मों के सब) बन्धों से मुक्त हो जाता है। (४) मूर्ख लोग कहते हैं, कि सांख्य (कर्मसंन्यास) और योग (कर्मयोग) भिन्न भिन्न हैं; परन्तु पंडित लोग ऐसा नहीं कहते। किसी भी एक मार्ग का भली भाँति आचरण करने से दोनों का फल मिल जाता है (५) जिस (मोक्ष) स्थान में सांख्य-(मार्गवाले लोग) पहुँचते हैं, वहीं योगी अर्थात् कर्मयोगी भी जाते हैं। (इस रीति से ये दोनों मार्ग) सांख्य और योग एक ही हैं। जिसने यह जान लिया, उसी ने (ठीक तत्त्व को) पहचाना। (६) हे महाबाहु! योग अर्थात् कर्म के बिना संन्यास को प्राप्त कर लेना कठिन है। जो मुनि कर्मयोगयुक्त हो गया, उसे ब्रह्म की प्राप्ति होने में विलम्ब नहीं लगता।

[सातवें अध्याय से ले कर सत्रहवें अध्याय तक इस बात का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, कि सांख्यमार्ग से जो मोक्ष मिलता है, वही कर्मयोग से अर्थात् कर्मों के न छोड़ने पर भी मिलता है। यहाँ तो इतना ही कहना है, कि मोक्ष की दृष्टि से दोनों में कुछ फ़र्क़ नहीं है। इस कारण अनादि काल से चलते आये हुए इन मार्गों का भेदभाव बढ़ा कर झगड़ा करना उचित नहीं है। और आगे भी येही युक्तियाँ पुनः पुनः आई हैं (गी. ६. २ और १८.१,२ एवं उनकी टिप्पणी देखो)। "एकं सांख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति" यह श्लोक कुछ शब्दभेद से महाभारत में भी दो बार आया ह (शां. ३०५. १९; ३१६. ४)। संन्यासमार्ग में ज्ञान को प्रधान मान लेने पर भी उस ज्ञान की सिद्धि कर्म किये बिना नहीं होती। और कर्ममार्ग में यद्यपि कर्म किया करते हैं, तो भी वे ज्ञानपूर्वक होते हैं। इस कारण ब्रह्मप्राप्ति में कोई बाधा नहीं होती (गी. ६. २)। फिर इस झगड़े को बढाने में क्या लाभ है, कि दोनों मार्ग भिन्नभिन्न हैं? यदि कहा जाय, कि कर्म करना ही बन्धक है; तो अब बतलाते हैं, कि वह आक्षेप भी निष्काम कर्म के विषय में नहीं किया जा सकता :—]

(७) जो (कर्म) योगयुक्त हो गया, जिसका अन्त:करण शुद्ध हो गया, जिसने अपने मन और इन्द्रियों को जीत लिया और सब प्राणियों का आत्मा ही जिसका

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन् शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १० ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिंद्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

आत्मा हो गया, वह सब कर्म करता हुआ भी (कर्मों के पुण्यपाप से) अलिप्त रहता है। (८) योगयुक्त तत्त्ववेत्ता पुरुष को समझना चाहिये, कि "मैं कुछ भी नहीं करता।" (और) देखने में, सुनने में, स्पर्श करने में, खाने में, सूँघने में, चलने में, सोने में, साँस लेने-छोड़ने में, (९) बोलने में, विसर्जन करने में, लेने में, आँखों के पलक खोलने और शब्द करने में भी ऐसी बुद्धि रख कर व्यवहार करे, कि (केवल) इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में बर्तती हैं।

[अन्त के दो श्लोक मिल कर एक वाक्य बना है; और उसमें बतलाये हुए सब कर्म भिन्न भिन्न इन्द्रियों के व्यापार हैं। उदाहरणार्थ, विसर्जन करना गुद का, लेना हाथ का, पलक गिराना प्राणवायु का, देखना आँखों का इत्यादि। "मैं कुछ भी नहीं करता" इसका यह मतलब नहीं, कि इन्द्रियों को चाहे जो करने दे; किन्तु मतलब यह है, कि 'मैं' इस अहङ्कारबुद्धि के छूट जाने से अचेतन इन्द्रियाँ आप ही आप कोई बुरा काम नहीं कर सकतीं--और वे आत्मा के क़ाबू में रहती हैं। सारांश, कोई पुरुष ज्ञानी हो जाय, तो भी श्वासोच्छ्वास आदि इन्द्रियों के कर्म उसकी इन्द्रियाँ करती ही रहेंगी। और तो क्या? पलभर जीवित रहना भी कर्म ही है। फिर यह भेद कहाँ रह गया, कि संन्यासमार्ग का ज्ञानी पुरुष कर्म छोड़ता है; और कर्मयोगी करता है? कर्म तो दोनों को करना ही पड़ता है। पर अहङ्कारयुक्त आसक्ति छूट जाने से वे ही कर्म बन्धक नहीं होते। इस कारण आसक्ति का छोड़ना ही इसका मुख्य तत्त्व है; और उसी का अब अधिक निरूपण करते हैं:--]

(१०) जो ब्रह्म में अर्पण कर आसक्तिविरहित कर्म करता है, उसको वैसे ही पाप नहीं लगता, जैसे कि कमल के पत्ते को पानी नहीं लगता। (११) (अतएव) कर्मयोगी (ऐसी अहङ्कारबुद्धि न रख कर कि "मैं करता हूँ" केवल) शरीर से, (केवल) मन से, (केवल) बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी, आसक्ति छोड़ कर आत्मशुद्धि के लिये कर्म किया करते हैं।

[कायिक, वाचिक, मानसिक आदि कर्मों के भेदों को लक्ष्य कर इस श्लोक में शरीर, मन और बुद्धि शब्द आये हैं। मूल में यद्यपि 'केवलैः' विशेषण 'इन्द्रियैः'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥
§ § न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जंतवः ॥ १५ ॥

शब्द के पीछे है, तथापि वह शरीर, मन और बुद्धि को भी लागू है (गी. ४.२१ देखो)। इसी से अनुवाद में उसे 'शरीर' शब्द के समान ही अन्य शब्दों के पीछे भी लगा दिया है। जैसे ऊपर के आठवें और नौवें श्लोक में कहा है, वैसे ही यहाँ भी कहा है, कि अहंकारबुद्धि एवं फलाशा के विषय में आसक्ति छोड़ कर केवल कायिक, केवल वाचिक या केवल मानसिक कोई भी कर्म किया जाय, तो कर्ता को उसका दोष नहीं लगता (गीता ३.२७; १३.२९ और १८.१६ देखो)। अहंकार के न रहने से जो कर्म होते हैं, वे सिर्फ़ इन्द्रियों के हैं; और मन आदिक सभी इन्द्रियाँ प्रकृति के ही विकार हैं। अतः ऐसे कर्मों का बन्धन कर्ता को नहीं लगता । अब इसी अर्थ को शास्त्रानुसार सिद्ध करते हैं :--]

(१२) जो युक्त अर्थात् योगयुक्त हो गया, वह कर्मफल छोड़कर अन्त की पूर्ण शांति पाता है; और जो अयुक्त है (अर्थात् योगयुक्त नहीं है), वह काम से अर्थात् वासना से फल के विषय में सक्त हो कर (पापपुण्य से) बद्ध हो जाता है। (१३) सब कर्मों का मन से (प्रत्यक्ष नहीं) संन्यास कर, जितेन्द्रिय देहवान् (पुरुष) नौ द्वारों के इस (देहरूपी) नगर में न कुछ करता और न कराता हुआ आनन्द से पड़ा रहता है।

[वह जानता है, कि आत्मा अकर्ता है, खेल तो सब प्रकृति का है; और इस कारण स्वस्थ या उदासीन पड़ा रहता है (गीता १३. २० और १८. ५९ देखो)। दोनों आँखें, दोनों कान, नासिका के दोनों छिद्र, मुख, मूत्रेन्द्रिय, और गुद--ये शरीर के नौ द्वार या दरवाजे समझे जाते हैं। अध्यात्मदृष्टि से यही उपपत्ति बतलाते हैं, कि कर्मयोगी कर्मों को करके भी मुक्त कैसे बना रहता है ? :--]

(१४) प्रभु अर्थात् आत्मा या परमेश्वर लोगों के कर्तृत्व को, उनके कर्म को (या उनको प्राप्त होनवाले) कर्मफल के संयोग को भी निर्माण नहीं करता। स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही (सब कुछ) किया करती है। (१५) विभु अर्थात् सर्वव्यापी आत्मा या परमेश्वर किसी का पाप और किसी का पुण्य भी नहीं लेता। ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ा रहने के कारण (अर्थात् माया से) प्राणी मोहित हो जाते हैं।

[इन दोनों श्लोकों का तत्त्व असल में सांख्यशास्त्र का है (गीतार. प्र. ७,

§ § ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥
§ § विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

पृ. १६२–१६५) । वेदान्तियों के मत में आत्मा का अर्थ परमेश्वर है । अतः वेदान्ती लोग परमेश्वर के विषय में भी 'आत्मा अकर्ता है' इस तत्त्व का उपयोग करते हैं । प्रकृति और पुरुष ऐसे दो तत्त्व मान कर सांख्यमतवादी समग्र कर्तृत्व प्रकृति का मानते हैं; और आत्मा को उदासीन कहते हैं । परन्तु वेदान्ती लोग इसके आगे बढ़ कर यह मानते हैं, कि इन दोनों ही का मूल एक निर्गुण परमेश्वर है; और वह सांख्यवालों के आत्मा के समान उदासीन और अकर्ता है । एवं सारा कर्तृत्व माया (अर्थात् प्रकृति) का है (गीतार. प्र.९, पृ. २६७) । अज्ञान के कारण साधारण मनुष्य को ये बातें जान नहीं पड़तीं; परन्तु कर्मयोगी, कर्तृत्व और अकर्तृत्व का भेद जानता है । इस कारण वह कर्म करके भी अलिप्त ही रहता है । अब यही कहते हैं :—]

(१६) परन्तु ज्ञान से जिनका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है, उनके लिये उन्हीं का ज्ञान परमार्थतत्त्व को सूर्य के समान प्रकाशित कर देता है। (१७) और उस परमार्थतत्त्व में ही जिनकी बुद्धि रँग जाती है, वहीं जिनका अन्तःकरण रम जाता है; और जो तन्निष्ठ एवं तत्परायण हो जाते हैं, उनके पाप ज्ञान से बिलकुल धुल जाते हैं; और वे फिर जन्म नहीं लेते ।

[इस प्रकार जिसका अज्ञान नष्ट हो जाय, उस कर्मयोगी की (संन्यासी की नहीं) ब्रह्मभूत या जीवनमुक्त अवस्था का अब अधिक वर्णन करते हैं :—]

(१८) पण्डितों की अर्थात् ज्ञानियों की दृष्टि विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, ऐसे ही कुत्ता और चण्डाल, सभी के विषय में समान रहती है। (१९) इस प्रकार जिनका मन साम्यावस्था में स्थिर हो जाता है, वे यहीं के यहीं— अर्थात् मरण की प्रतीक्षा न कर—मृत्युलोक को जीत लेते हैं । क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है । अतः ये (साम्यबुद्धिवाले) पुरुष (सदैव) ब्रह्म में स्थित—अर्थात् यहीं के यहीं—ब्रह्मभूत हो जाते हैं ।

[जिसने इस तत्त्व को जान लिया, कि 'आत्मस्वरूपी परमेश्वर अकर्ता है; और सारा खेल प्रकृति का है,' वह 'ब्रह्मसंस्थ' हो जाता है; और उसी को मोक्ष मिलता है—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छां. २. २३. १) । उक्त वर्णन

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यंतवंतः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

उपनिषदों में है; और उसीका अनुवाद ऊपर के श्लोकों में किया गया है । परन्तु इस अध्याय के १–१२ श्लोकों से गीता का यह अभिप्राय प्रगट होता है, कि इस अवस्था में भी कर्म नहीं छूटते । शंकराचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् के उक्त वाक्य का संन्यासप्रधान अर्थ किया है । परन्तु मूल उपनिषद् का पूर्वापर सन्दर्भ देखने से विदित होता है, कि 'ब्रह्मसंस्थ' होने पर भी तीन आश्रमों के कर्म करनेवाले के विषय में ही यह वाक्य कहा गया होगा; और इस उपनिषद् के अन्त में यही अर्थ स्पष्टरूप से बतलाया गया है (छां. ८. १५. १ देखो) । ब्रह्मज्ञान हो चुकने पर यह अवस्था जीते जी प्राप्त हो जाती है । अतः इसे ही जीवन्मुक्तावस्था कहते हैं (गीतार. प्र. १०, पृ. २९५–३०० देखो) । अध्यात्मविद्या की यही पराकाष्ठा है । चित्तवृत्ति-निरोधरूपी जिन योगसाधनों से यह अवस्था प्राप्त हो सकती है, उनका विस्तारपूर्वक वर्णन अगले अध्याय में किया गया है । इस अध्याय में केवल इसी अवस्था का अधिक वर्णन है :—]

(२०) जो प्रिय अर्थात् इष्टवस्तु को पा कर प्रसन्न न हो जावे; और अप्रिय को पाने से खिन्न भी न होवे, (इस प्रकार) जिसकी बुद्धि स्थिर है; और जो मोह में नहीं फँसता, उसी ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्म में स्थित हुआ समझो । (२१) बाह्य पदार्थों के (इंद्रियों से होनेवाले) संयोग में अर्थात् विषयोपभोग में जिसका मन आसक्त नहीं, उसे (ही) आत्मसुख मिलता है; और वह ब्रह्मयुक्त पुरुष अक्षय सुख का अनुभव करता है । (२२) (बाहरी पदार्थों के) संयोग से ही उत्पन्न होनेवाले भोगों का आदि और अन्त हैं; अतएव वे दुःख के ही कारण हैं । हे कौंतेय ! उन में पण्डित लोग रत नहीं होते । (२३) शरीर छूटने के पहले अर्थात् मरणपर्यन्त कामक्रोध से होनेवाले वेग को इस लोक में ही सहन करने में (इन्द्रियसंयम से) जो समर्थ होता है, वही युक्त और वही (सच्चा) सुखी है ।

[गीता के दूसरे अध्याय में भगवान् ने कहा है, कि तुझे सुखदुःख सहना चाहिये (गी. २. १४) यह उसी का विस्तार और निरूपण है । गीता २. १४ में सुखदुःखों को 'आगमापायिनः' विशेषण लगाया है, तो यहाँ २२ वें श्लोक में उनको 'आद्यन्तवन्तः' कहा है; और 'मात्र' शब्द के बदले

§ § योऽतःसुखोंऽतरारामस्तथांतर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेंद्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

'बाह्य' शब्द का प्रयोग किया है। इसी में 'युक्त' शब्द की व्याख्या भी आ गई है। सुखदुःखों का त्याग न कर समबुद्धि से उनको सहते रहना ही युक्तता का सच्चा लक्षण है। गीता २. ६१ पर टिप्पणी देखो।]

(२४) इस प्रकार (बाह्य सुखदुःखों की अपेक्षा न कर) जो अन्तःसुखी अर्थात् अन्तःकरण में ही सुखी हो जाय, जो अपने आप में ही आराम पाने लगे; और ऐसे ही जिसे (यह) अन्तःप्रकाश मिल जाय, वह (कर्म-) योगी ब्रह्मरूप हो जाता है। एवं उसे ही ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्म में मिल जाने का मोक्ष प्राप्त हो जाता है। (२५) जिन ऋषियों की द्वन्द्वबुद्धि छूट गई है --अर्थात् जिन्होंने इस तत्त्व को जान लिया है, कि सब स्थानों में एक ही परमेश्वर है--जिनके पाप नष्ट हो गये हैं; और जो आत्मसंयम से सब प्राणियों का हित करने में रत हो गये हैं, उन्हें वह ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिलता है। (२६) कामक्रोधविरहित, आत्मसंयमी और आत्मज्ञानसम्पन्न यतियों को अभितः -- अर्थात् आसपास या सन्मुख रखा हुआ-सा (बैठे बिठाये)--ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिल जाता है। (२७) बाह्यपदार्थों के (इन्द्रियों के सुखदुःखदायक) संयोग से अलग हो कर दोनों भौंहों के बीच में दृष्टि को जमाकर और नाक से चलनेवाले प्राण एवं अपान को सम करके (२८) जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धि का संयम कर लिया है, तथा जिसके भय, इच्छा और क्रोध छूट गये हैं, वह मोक्षपरायण मुनि सदा-सर्वदा मुक्त ही है।

[गीतारहस्य के नवम (पृ. २३३, २४६) और दशम (पृ. २९९) प्रकरणों से ज्ञात होगा, कि यह वर्णन जीवन्मुक्तावस्था का है। परन्तु हमारी राय में टीकाकारों का यह कथन ठीक नहीं, कि यह वर्णन संन्यासमार्ग के पुरुष का है। संन्यास और कर्मयोग, दोनों मार्गों में शान्ति तो एक ही सी रहती है; और उतने ही के लिये यह वर्णन संन्यासमार्ग को उपयुक्त हो सकेगा। परन्तु इस अध्याय के आरम्भ के कर्मयोग को श्रेष्ठ निश्चित कर फिर २५ वें श्लोक में जो यह कहा ह, कि ज्ञानी पुरुष सब प्राणियों का हित करने में प्रत्यक्ष मग्न रहते हैं,

§ § भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इससे प्रगट होता है, कि यह समस्त वर्णन कर्मयोगी जीवन्मुक्त का ही है-- संन्यासी का नहीं (गी. र. प्र. १२, पृ. ३७३ देखो)। कर्ममार्ग में भी सर्वभूतान्तर्गत परमेश्वर को पहचानना ही परमसाध्य है। अतः भगवान् अन्त में कहते हैं, कि :--]

(२९) जो मुझ को (सब) यज्ञों और तपों का भोक्ता, (स्वर्ग आदि) सब लोकों का बड़ा स्वामी, एवं सब प्राणियों का मित्र जानता है, वही शान्ति पाता है।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए--अर्थात् कहे हुए--उपनिषद् में ब्रह्म-विद्यान्तर्गतयोग--अर्थात् कर्मयोग--शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में संन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

छठा अध्याय।

[इतना तो सिद्ध हो गया, कि मोक्षप्राप्ति होने के लिये और किसी की भी अपेक्षा न हो, तो भी लोकसंग्रह की दृष्टि से ज्ञानी पुरुष को ज्ञान के अनन्तर भी कर्म करते रहना चाहिये। परन्तु फलाशा छोड़ कर उन्हें समबुद्धिसे इसलिये करे, ताकि वे बन्धक न हो जावें। इसे ही कर्मयोग कहते हैं। और कर्मसंन्यासमार्ग की अपेक्षा यह अधिक श्रेयस्कर है। तथापि इतने से ही कर्मयोग का प्रतिपादन समाप्त नहीं होता। तीसरे ही अध्याय में भगवान् ने अर्जुन से काम-क्रोध आदि का वर्णन करते हुये कहा है, कि ये शत्रु मनुष्य की इन्द्रियों में, मन में और बुद्धि में घर करके ज्ञान-विज्ञान का नाश कर देते हैं (३. ४०), अतः तू इन्द्रियों के निग्रह से इनको पहले जीत ले। इस उपदेश को पूर्ण करने के लिये इन दो प्रश्नों का खुलासा करना आवश्यक था, कि (१) इन्द्रियनिग्रह कैसे करें? और (२) ज्ञान-विज्ञान किसे कहते हैं? परन्तु बीच में ही अर्जुन के प्रश्नों से यह बतलाना पड़ा, कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग में अधिक अच्छा मार्ग कौन-सा है? फिर इन दोनों मार्गों की यथाशक्य एकवाक्यता करके यह प्रतिपादन किया गया है, कि कर्मों को न छोड़ कर निःसङ्गबुद्धि से करते जाने पर ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष क्योंकर मिलता है? अब इस अध्याय में उन साधनों के निरूपण करने का आरम्भ किया गया है, जिनकी आवश्यकता कर्मयोग में भी उक्त, निःसङ्ग या ब्रह्मनिष्ठ स्थिति प्राप्त करने में होती है। तथापि स्मरण रहे, कि यह निरूपण भी कुछ स्वतन्त्र रीति से पातञ्जलयोग का उपदेश करने के लिये नहीं किया गया है। और यह बात पाठकों के

षष्ठोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

ध्यान में आ जाय, इसलिये यहाँ पिछले अध्यायों में प्रतिपादन की हुई बातों का ही प्रथम उल्लेख किया गया है। जैसे --फलाशा छोड़कर कर्म करनेवाले पुरुष को ही सच्चा संन्यासी समझना चाहिये; कर्म छोड़नेवाले को नहीं (५. ३) इत्यादि।]

(१) कर्मफल का आश्रय न करके (अर्थात् मन में फलाशा को न टिकने दे कर जो (शास्त्रानुसार अपने विहित) कर्तव्यकर्म करता है, वही संन्यासी और वही कर्मयोगी है। निरग्नि अर्थात् अग्निहोत्र आदि कर्मों को छोड़ देनेवाला अथवा अक्रिय अर्थात् कोई भी कर्म न करके निठल्ले बैठनेवाला (सच्चा संन्यासी और योगी) नहीं है। (२) हे पाण्डव ! जिसे संन्यास कहते हैं, उसी को (कर्म-) योग समझो। क्योंकि संकल्प अर्थात् काम्यबुद्धिरूप फलाशा का संन्यास (= त्याग) किये बिना कोई भी (कर्म-) योगी नहीं होता।

[पिछले अध्याय में जो कहा है, कि "एकं सांख्यं च योगं च" (५. ५) या "बिना योग के संन्यास नहीं होता" (५. ६); अथवा "ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी" (५. ३), उसी का यह अनुवाद है; और आगे अठारहवें अध्याय (१८. २) में समग्र विषय का उपसंहार करते हुए इसी अर्थ का फिर भी वर्णन किया है। गृहस्थाश्रम में अग्निहोत्र रख कर यज्ञयाग आदि कर्म करने पड़ते हैं; पर जो संन्यासाश्रमी हो गया हो, उसके लिये मनुस्मृति में कहा है, कि उसको इस प्रकार अग्नि की रक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इस कारण वह 'निरग्नि' हो जाय; और जङ्गल में रह कर भिक्षा से पेट पाले जगत् के व्यवहार में न पड़े (मनु. ६. २५ इत्यादि)। पहले श्लोक में मनु के इसी मत का उल्लेख किया गया है; और इस पर भगवान् का कथन है, कि निरग्नि और निष्क्रिय होना कुछ सच्चे संन्यास का लक्षण नहीं है। काम्यबुद्धि का या फलाशा का त्याग करना ही सच्चा संन्यास है। संन्यास बुद्धि में है; अग्नित्याग अथवा कर्मत्याग की बाह्यक्रिया में नहीं है। अतएव फलाशा अथवा संकल्प का त्याग कर कर्तव्यकर्म करनेवाले को ही सच्चा संन्यासी कहना चाहिये। गीता का यह सिद्धान्त स्मृतिकारों के सिद्धान्त से भिन्न है। गीतारहस्य के ११ वें प्रकरण (पृ. ३४६-३४९) में स्पष्ट कर दिखला दिया है, कि गीता ने स्मृतिकारों से इसका मेल कैसे किया है ? इस प्रकार सच्चा संन्यास बतला कर अब यह बतलाते हैं,

§ § आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।

कि ज्ञान होने के पहले अर्थात् साधनावस्था में जो कर्म किये जाते हैं उनमें, और ज्ञानोत्तर अर्थात् सिद्धावस्था में फलाशा छोड़ कर जो कर्म किये हैं उनमें क्या भेद है ? :--]

(३) (कर्म-) योगारूढ होने की इच्छा रखनेवाले मुनि के लिये कर्म को (शम का) कारण अर्थात् साधन कहा है; और उसी पुरुष के योगारूढ अर्थात् पूर्ण योगी हो जाने पर उसके लिये (आगे) शम (कर्म का) कारण हो जाता है ।

[टीकाकारों ने इस श्लोक के अर्थ का अनर्थ कर डाला है । श्लोक के पूर्वार्ध में योग = कर्मयोग यही अर्थ है; और यह बात सभी को मान्य है, कि उसकी सिद्धि के लिये पहले कर्म ही कारण होता है । किन्तु " योगारूढ होने पर उसी के लिये शम कारण हो जाता है " इसका अर्थ टीकाकारों ने संन्यासप्रधान कर डाला है । उनका कथन यों है :--' शम ' = कर्म का 'उपशम'; और जिसे योग सिद्ध हो जाता है, उसे कर्म छोड़ देना चाहिये ! क्योंकि उनके मत में कर्मयोग संन्यास का अङ्ग अर्थात् पूर्वसाधन है । परन्तु यह अर्थ साम्प्रदायिक आग्रह का है, जो ठीक नहीं है । इसका पहला कारण यह है, कि (१) अब इस अध्याय के पहले ही श्लोक में भगवान् ने कहा है, कि कर्मफल का आश्रय न करके 'कर्तव्य-कर्म ' करनेवाला पुरुष ही सच्चा योगी अर्थात् योगारूढ है--कर्म न करनेवाला (अक्रिय) सच्चा योगी नहीं है; तब यह मानना सर्वथा अन्याय्य है, कि तीसरे श्लोक में योगारूढ पुरुष को कर्म का शम करने के लिये या कर्म छोड़ने के लिये भगवान् कहेंगे । संन्यासमार्ग का यह मत भले ही हो, कि शान्ति मिल जाने पर योगारूढ पुरुष कर्म न करे; परन्तु गीता को यह मत मान्य नहीं है । गीता में अनेक स्थानों पर स्पष्ट उपदेश किया गया है, कि कर्मयोगी सिद्धावस्था में भी यावज्जीवन भगवान् के समान निष्कामबुद्धि से सब कर्म केवल कर्तव्य समझ कर करता रहे (गी. २. ७१; ३. ७ और १९; ४. १९-२१; ५. ७-१२; १२. १२; १८. ५६, ५७; तथा गीतार. प्र. ११ और १२ देखो) । (२) दूसरा कारण यह है, कि ' शम ' का अर्थ ' कर्म का शम ' कहाँ से आया ? भगवद्गीता में 'शम' शब्द दो चार बार आया है । (गी. १०. ४; १८. ४२) वहाँ और व्यवहार में भी उसका अर्थ ' मन की शान्ति ' है । फिर इसी श्लोक में ' कर्म की शान्ति ' अर्थ क्यों लें ? इस कठिनाई को दूर करने के लिये गीता के पैशाचभाष्य में ' योगारूढस्य तस्यैव ' के ' तस्यैव ' इस दर्शक सर्वनाम का सम्बन्ध ' योगा-रूढस्य ' से न लगा कर ' तस्य ' को नपुंसकलिंग की षष्ठी विभक्ति समझ करके ऐसा अर्थ किया है, कि " तस्यैव कर्मणः शमः " (तस्य अर्थात् पूर्वार्ध के कर्म का शम) ! किन्तु यह अन्वय भी सरल नहीं है । क्योंकि, इसमें कोई सन्देह नहीं, कि योगाभ्यास करनेवाले जिस पुरुष का वर्णन इस श्लोक के पूर्वार्ध में किया

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

गया है, उसकी जो स्थिति अभ्यास पूरा हो चुकने पर होती है, उसे बतलाने के लिये उत्तरार्ध का आरम्भ हुआ है। अतएव 'तस्यैव' पदों से 'कर्मणः एव' यह अर्थ लिया नहीं जा सकता। अथवा यदि ले ही लें, तो उसका सम्बन्ध 'शमः' से न जोड़ कर "कारणमुच्यते" के साथ जोड़ने से ऐसा अन्वय लगता है, "शमः योगरूढस्य तस्यैव कर्मणः कारणमुच्यते;" और गीता के संपूर्ण उपदेश के अनुसार उसका यह अर्थ भी ठीक लग जायगा, कि "अब योगारूढ के कर्म का ही शम कारण होता है"। (३) टीकाकारों के अर्थ को त्याज्य मानने का तीसरा कारण यह है, कि संन्यासमार्ग के अनुसार योगारूढ पुरुष को कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उसके सब कर्मों का अन्त शम में ही होता है। और जो यह सच है, तो 'योगरूढ को शम कारण होता है' इस वाक्य का 'कारण' शब्द बिलकुल ही निरर्थक हो जाता है। 'कारण' शब्द सदैव सापेक्ष है। 'कारण' कहने से उसको कुछ-न-कुछ 'कार्य' अवश्य चाहिये। और संन्यासमार्ग के अनुसार योगारूढ को तो कोई भी 'कार्य' शेष नहीं रह जाता। यदि शम को मोक्ष का 'कारण' अर्थात् साधन कहें, तो मेल नहीं मिलता। क्योंकि मोक्ष का साधन ज्ञान है, शम नहीं। अच्छा; शम को ज्ञानप्राप्ति का 'कारण' अर्थात् साधन कहें, तो यह वर्णन योगारूढ अर्थात् पूर्णावस्था को ही पहुँचे हुए पुरुष का है। इसलिये उसको ज्ञानप्राप्ति तो कर्म के साधन से पहले ही हो चुकती है। फिर यह शम 'कारण' है ही किसका? संन्यासमार्ग के टीकाकारों से इस प्रश्न का कुछ भी समाधानकारक उत्तर देते नहीं बनता। परन्तु उनके इस अर्थ को छोड़ कर विचार करने लगें, तो उत्तरार्ध का अर्थ करने में पूर्वार्ध का 'कर्म' पद सान्निध्य-सामर्थ्य से सहज ही मन में आ जाता है। और फिर यह अर्थ निष्पन्न होता है, कि योगारूढ पुरुष को लोकसंग्रहकारक कर्म करने के लिये अब 'शम' 'कारण', या साधन हो जाता है। क्योंकि यद्यपि उसका कोई स्वार्थ शेष नहीं रह गया है, तथापि लोकसंग्रहकारक कर्म किसी से छूट नहीं सकते (देखो गी. ३. १७-१६)। पिछले अध्याय में जो यह वचन है, कि "युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्" (गी. ५. १२)—कर्मफल का त्याग करके योगी पूर्ण शान्ति पाता है—इससे भी यही अर्थ सिद्ध होता है। क्योंकि, उसमें शान्ति का सम्बन्ध कर्मत्याग से न जोड़ कर केवल फलाशा के त्याग से ही वर्णित है। वहीं पर स्पष्ट कहा है, कि योगी जो कर्मसंन्यास करे, वह 'मनसा' अर्थात् मनसे करे (गी. ५. १३), शरीर के द्वारा या केवल इन्द्रियों के द्वारा उसे कर्म करना ही चाहिये। हमारा यह मत है, कि अलंकारशास्त्र के अन्योन्यालंकार का सा अर्थचमत्कार या सौरस्य इस श्लोक में सध गया है; और पूर्वार्ध में यह बतला कर—कि 'शम' का कारण 'कर्म' कब होता है?—उत्तरार्ध में इसके विपरीत वर्णन किया है, कि 'कर्म' का कारण

यदा हि नेंद्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्यते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥
§ § उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

'शम' कब होता है ? भगवान् कहते हैं, कि प्रथम साधनावस्था में 'कर्म' ही शम का अर्थात् योगसिद्धि का कारण है । भाव यह है, कि यथाशक्ति निष्कामकर्म करते करते ही चित्त शान्त होकर उसी के द्वारा अन्त में पूर्ण योगसिद्धि हो जाती है । किन्तु योगी के योगारू होकर सिद्धावस्था में पहुँच जाने पर कर्म और शम का उक्त कार्यकारणभाव बदल जाता है; यानी कर्म शम का कारण नहीं होता; किन्तु शम ही कर्म का कारण बन जाता है । अर्थात् योगारूढ पुरुष अपने सब काम अब कर्तव्य समझ कर (फल की आशा न रख करके) शान्तचित्त से किया करता है । सारांश :—इस श्लोक का भावार्थ यह नहीं है, कि सिद्धावस्था में कर्म छूट जाते हैं । गीता का कथन है, कि साधनावस्था में 'कर्म' और 'शम' के बीच जो कार्यकारणभाव होता है, सिर्फ़ वही सिद्धावस्था में बदल जाता है (गीतारहस्य प्र. ११, पृ. ३२२, ३२३) । गीता में यह कहीं भी नहीं कहा, कि कर्मयोगी को अन्त में कर्म छोड़ देना चाहिये; और ऐसा कहने का उद्देश भी नहीं है । अतएव अवसर पा कर किसी ढंग से गीता के बीच के ही किसी श्लोक का संन्यासप्रधान अर्थ लगाना उचित नहीं है । आजकल गीता बहुतेरों को दुर्बोध-सी हो गई है; इसका कारण भी यही है । अगले श्लोक की व्याख्या में यही अर्थ व्यक्त होता है, कि योगारूढ पुरुष को कर्म करना चाहिये । वह श्लोक यह है :—]

(४) क्योंकि जब वह इंद्रियों के (शब्द-स्पर्श आदि) विषयों में और कर्मों में अनुषक्त नहीं होता तथा सब संकल्प अर्थात् काम्यबुद्धिरूप फलाशा का (प्रत्यक्ष कर्मों का नहीं) संन्यास करता है, तब उसको योगारूढ कहते हैं ।

[कह सकते हैं, कि यह श्लोक पिछले श्लोक के साथ और पहले तीनों श्लोकों के साथ भी मिला हुआ है । इससे गीता का यह अभिप्राय स्पष्ट होता है, कि योगारूढ पुरुष को कर्म न छोड़ कर केवल फलाशा या काम्यबुद्धि छोड़ करके शान्त चित्त से निष्काम कर्म करना चाहिये । 'संकल्प का संन्यास' ये शब्द ऊपर दूसरे श्लोक में आये हैं । वहाँ इनका जो अर्थ है, वही इस श्लोक में भी लेना चाहिये । कर्मयोग में ही फलाशात्यागरूपी संन्यास का समावेश होता है; और फलाशा छोड़ कर कर्म करनेवाले पुरुष को सच्चा संन्यासी और योगी अर्थात् योगारूढ कहना चाहिये । अब यह बतलाते हैं, कि इस प्रकार के निष्काम कर्म-योग या फलाशासंन्यास की सिद्धि प्राप्त कर लेना प्रत्येक मनुष्य के अधिकार में है । जो स्वयं प्रयत्न करेगा, उसे इसका प्राप्त हो जाना कुछ असम्भव नहीं :—]

(५) (मनुष्य) अपना उद्धार आप ही करे । अपने आप को (कभी भी) गिरने न दे । क्योंकि (प्रत्येक मनुष्य) स्वयं ही अपना बन्धु (अर्थात् सहायक) या

आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥
बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥
§ § जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

स्वयं अपना शत्रु है। (६) जिसने अपने आपको जीत लिया, वह स्वयं अपना बन्धु है। परन्तु जो अपने आप को नहीं पहचानता, वह स्वयं अपने साथ शत्रु के समान बैर करता है।

[इन दो श्लोकों में आत्मस्वतन्त्रता का वर्णन है; और इस तत्त्व का प्रतिपादन है, कि हर एक को अपना उद्धार आप ही कर लेना चाहिये। और प्रकृति कितनी ही बलवती क्यों न हो ? उसको जीत कर आत्मोन्नति कर लेना हर एक के स्वाधीन है (गीतार. प्र.१०, पृ.२७७–२८२ देखो)। मन में इस तत्त्व के भली भाँति जम जाने के लिये ही एक बार अन्वय से और फिर व्यतिरेक से—दोनों रीतियों से—वर्णन किया है, कि आत्मा अपना ही मित्र कब होता है ? और आत्मा अपना शत्रु कब हो जाता है ? और यही तत्त्व फिर १३.२८ श्लोक में भी आया है। संस्कृत में 'आत्मा' शब्द के ये तीन अर्थ होते हैं (१) अन्तरात्मा (२) मैं स्वयं और (३) अन्तःकरण या मन। इसी से यह आत्मा शब्द इनमें और अगले श्लोकों में अनेक बार आया है। अब बतलाते हैं, कि आत्मा को अपने अधीन रखने से क्या फल मिलता है ? :—]

(७) जिसने अपने आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को जीत लिया हो और जिसे शान्ति प्राप्त हो गई हो, उसका 'परमात्मा' शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान में समाहित अर्थात् सम एवं स्थिर रहता है।

[इस श्लोक में 'परमात्मा' शब्द आत्मा के लिये ही प्रयुक्त है। देह का आत्मा सामान्यतः सुखदुःख की उपाधि में मग्न रहता है; परन्तु इन्द्रियसंयम से उपाधियों को जीत लेने पर यही आत्मा प्रसन्न हो करके परमात्मरूपी या परमेश्वरस्वरूपी बना करता है। परमात्मा कुछ आत्मा से विभिन्न स्वरूप का पदार्थ नहीं है। आगे गीता में ही (गी. १३. २२ और ३१) कहा है, कि मानवी शरीर में रहनेवाला आत्मा ही तत्त्वतः परमात्मा है ! महाभारत में यह वर्णन है :—

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥

" प्राकृत अर्थात् प्रकृति के गुणों से (सुखदुःख आदि विकारोंसे) बद्ध रहने के कारण आत्मा को ही क्षेत्रज्ञ या शरीर का जीवात्मा कहते हैं; और इन गुणों से मुक्त होने पर वही परमात्मा हो जाता है " (म. भा. शां. १८७. २४)। गीतारहस्य के ९ वें प्रकरण से ज्ञात होगा, कि अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त भी

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥
§ § योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

यही है । जो कहते हैं, कि गीता में अद्वैत मत का प्रतिपादन नहीं है; विशिष्टाद्वैत या शुद्ध द्वैत ही गीता को ग्राह्य है । वे 'परमात्मा' को एक पद न मान 'परं' और 'आत्मा' ऐसे दो पद करके 'परं' को 'समाहितः' का क्रिया-विशेषण समझते हैं ! यह अर्थ क्लिष्ट है; परन्तु इस उदाहरण से समझ में आ जावेगा, कि साम्प्रदायिक टीकाकार अपने मत के अनुसार गीता की कैसी खींचातानी करते हैं ? :—]

(८) जिसका आत्मा ज्ञान और विज्ञान अर्थात् विविध ज्ञान से तृप्त हो जाय, जो अपनी इन्द्रियों को जीत ले, जो कूटस्थ अर्थात् मूल में जा पहुँचे और मिट्टी, पत्थर एवं सोने को एक-सा मानने लगे, उसी (कर्म-) योगी पुरुष को 'युक्त' अर्थात् सिद्धावस्था को पहुँचा हुआ कहते हैं । (९) सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करने योग्य, बान्धव, साधु और दुष्ट लोगों के विषय में भी जिसकी बुद्धि सम हो गयी हो, वही (पुरुष) विशेष योग्यता का है ।

[प्रत्युपकार की इच्छा न रख कर सहायता करनेवाले स्नेही को सुहृद् कहते हैं । जब दो दल हो जायँ, तब किसी की भी बुराई-भलाई न चाहनेवाले को उदासीन कहते हैं । दोनों दलों की भलाई चाहनेवाले को मध्यस्थ कहते हैं; और सम्बन्धी को बन्धु कहते हैं । टीकाकारों ने ऐसे ही अर्थ किये हैं । परन्तु इन अर्थों से कुछ भिन्न अर्थ भी कर सकते हैं । क्योंकि, इन शब्दों का प्रयोग प्रत्येक में कुछ भिन्न अर्थ दिखलाने के लिये ही नहीं किया गया है । किन्तु अनेक शब्दों की यह योजना सिर्फ़ इसलिये की गई है, कि सब के मेल से व्यापक अर्थ का बोध हो जाय—उसमें कुछ भी न्यूनता न रहने पावे । इस प्रकार संक्षेप से बतलाया दिया, कि योगी, योगारूढ या युक्त किसे कहना चाहिये (गी. २, ६१; ४ १८ और ५. २३ देखो)? और यह भी बतला दिया, कि इस कर्मयोग को सिद्ध कर लेने के लिये प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र है । उसके लिये किसी का मुँह जोहने की कोई जरूरत नहीं । अब कर्मयोग की सिद्धि के लिये अपेक्षित साधन का निरूपण करते हैं :—)

(१०) योगी अर्थात् कर्मयोगी एकान्त में अकेला रह कर चित्त और आत्मा का संयम करे, किसी भी काम्यवासना को न रख कर परिग्रह अर्थात् पाश छोड़ करके निरन्तर अपने योगाभ्यास में लगा रहे ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

[अगले श्लोक से स्पष्ट होता है, कि यहाँ पर 'युञ्जीत' पद से पातञ्जल सूत्र का योग विवक्षित है। तथापि इसका यह अर्थ नहीं, कि कर्मयोग को प्राप्त कर लेने की इच्छा करनेवाला पुरुष अपनी समस्त आयु पातञ्जलयोग में बिता दे। कर्मयोग के लिये आवश्यक साम्यबुद्धि को प्राप्त करने के लिये साधनस्वरूप पातञ्जलयोग इस अध्याय में वर्णित है; और इतने ही के लिये एकान्तवास भी आवश्यक है। प्रकृतिस्वभाव के कारण सम्भव नहीं, कि सभी को पातञ्जलयोग की समाधि एक ही जन्म में सिद्ध हो जाय। इसी अध्याय के अन्त में भगवान् ने कहा है, कि जिन पुरुषों को समाधि सिद्ध नहीं हुई है, वे अपनी सारी आयु पातञ्जलयोग में ही न बिता दें। किन्तु जितना हो सके, उतना बुद्धि को स्थिर करके कर्मयोग का आचरण करते जावें। इसी से अनेक जन्मों में उनको अन्त में सिद्धि मिल जायगी। गीतार. प्र. १०, पृ. २८२–२८५ देखो।]

(११) योगाभ्यासी पुरुष शुद्ध स्थान पर अपना स्थिर आसन लगावें, जो कि न बहुत ऊँचा हो; और न नीचा। उस पर पहले दर्भ, फिर मृगछाला और फिर वस्त्र बिछावें। (१२) वहाँ चित्त और इन्द्रियों के व्यापार को रोक कर तथा मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिये आसन पर बैठ कर योग का अभ्यास करें। (१३) काय अर्थात् पीठ, मस्तक और गर्दन को सम करके अर्थात् सीधी खड़ी रेखा में निश्चल करके, स्थिर होता हुआ, दिशाओं को यानी इधर-उधर न देखें; और अपनी नाक की नोक पर दृष्टि जमा कर, (१४) निडर हो, शान्त अन्तःकरण से ब्रह्मचर्यव्रत पाल कर तथा मन का संयम करके मुझ में ही चित्त लगा कर मत्परायण होता हुआ युक्त हो जाय।

['शुद्ध स्थान में' और 'शरीर, ग्रीवा एवं शिर को सम कर' ये शब्द श्वेताश्वतर उपनिषद् के हैं (श्वे. २. ८ और १० देखो); और ऊपर का समचा वर्णन भी हठयोग का नहीं है। प्रस्तुत पुराने उपनिषदों में जो योग का वर्णन है, उससे अधिक मिलता-जुलता है। हठयोग में इन्द्रियों का निग्रह बलात्कार से किया जाता है; पर आगे इसी अध्याय के २४ वें श्लोक में कहा है, कि ऐसा न करके "मनसैव इन्द्रियग्रामं विनियम्य"—मन से ही इन्द्रियों को रोके। इससे प्रगट

> युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
> शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥
> नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः ।
> न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥
> युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
> युक्तस्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

है, कि गीता में हठयोग विवक्षित नहीं । ऐसे ही इस अध्याय के अन्त में कहा है, कि इस वर्णन का यह उद्देश नहीं, कि कोई अपनी सारी ज़िन्दगी योगाभ्यास में ही बिता दे । अब इस योगाभ्यास के फल का अधिक निरूपण करते हैं :—]

(१५) इस प्रकार सदा अपना योगाभ्यास जारी रखने से मन क़ाबू में होकर (कर्म) योगी को मुझमें रहनेवाली और अन्त में निर्वाणपद अर्थात् मेरे स्वरूप में लीन कर देनेवाली शान्ति प्राप्त होती है ।

[इस श्लोक में 'सदा' पद से प्रतिदिन के २४ घण्टों का मतलब नहीं ! इतना ही अर्थ विवक्षित है, कि प्रतिदिन यथाशक्ति घड़ी घड़ी भर यह अभ्यास करे (श्लोक १० की टिप्पणी देखो) । कहा है, कि इस प्रकार योगाभ्यास करता हुआ 'मच्चित्त' और "मत्परायण' । हो इसका कारण यह है, कि पातञ्जल-योग मन के निरोध करने की एक युक्ति या क्रिया है । इस क़सरत से यदि मन स्वाधीन हो गया, तो वह एकाग्र मन भगवान् में न लगा कर और दूसरी बात की ओर भी लगाया जा सकता है । पर गीता का कथन है, कि चित्त की एकाग्रता का ऐसा दुरुपयोग न कर इस एकाग्रता या समाधि का उपयोग परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में होना चाहिये; और ऐसा होने से ही यह योग सुखकारक होता है; अन्यथा ये निरे क्लेश हैं । यही अर्थ आगे २९ वें, ३० वें एवं अध्याय के अन्त में ४७ वें श्लोक में आया है । परमेश्वर में निष्ठा न रख जो लोग केवल इन्द्रिनिग्रह का योग या इन्द्रियों की क़सरत करते हैं, वे लोगों को क्लेशप्रद जारण, मारण या वशीकरण वगैरह कर्म करने में ही प्रवीण हो जाते हैं । यह अवस्था न केवल गीता को ही, प्रत्युत किसी भी मोक्षमार्ग को इष्ट नहीं । अब फिर इसी योगक्रिया का अधिक खुलासा करते हैं :—]

(१६) हे अर्जुन ! अतिशय खानेवाले या बिलकुल न खानेवाले और खूब सोने-वाले अथवा जागरण करनेवाले को (यह) योग सिद्ध नहीं होता । (१७) जिसका आहारविहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा-तुला है; और सोना-जागना परिमित है, उसको (यह) योग दुःखघातक अर्थात् सुखावह होता है ।

[इस श्लोक में 'योग' से पातञ्जलयोग की क्रिया और 'युक्त' से नियमित नपी-तुली अथवा परिमित का अर्थ है । आगे भी दो एक स्थानों पर योग-से पातञ्जलयोग का ही अर्थ है । तथापि इतने ही से यह नहीं समझ लेना चाहिये,

§ § यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥
सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम् ।

कि इस अध्याय में पातञ्जलयोग ही स्वतन्त्र रीति से प्रतिपाद्य है । पहले स्पष्ट बतला दिया है, कि कर्मयोग को सिद्ध कर लेना जीवन का प्रधान कर्तव्य है; और उसके साधन मात्र के लिये पातंजलयोग का यह वर्णन है । इस श्लोक के " कर्म के उचित आचरण " इन शब्दों से भी प्रगट होता है, कि अन्यान्य कर्मों को करते हुए इस योग का अभ्यास करना चाहिये । अब योगी का थोड़ा-सा वर्णन करके समाधिसुख का स्वरूप बतलाते हैं :—]

(१८) जब संयत मन आत्मा में ही स्थिर हो जाता है और किसी भी उपभोग की इच्छा नहीं रहती, तब कहते हैं, कि वह ' युक्त ' हो गया । (१९) वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक की ज्योति जैसी निश्चल होती है, वही उपमा चित्त को संयत करके योगाभ्यास करनेवाले योगी को दी जाती है ।

[इस उपमा के अतिरिक्त महाभारत (शान्ति. ३००, ३२-३४) में ये दृष्टान्त हैं—" तेल से भरे हुए पात्र को जीने पर से ले जाने में या तूफान के समय नाव का बचाव करने में मनुष्य जैसा ' युक्त ' अथवा एकाग्र होता है, योगी का मन वैसा ही एकाग्र रहता है " । कठोपनिषद् का सारथी और रथ के घोड़ोंवाला दृष्टान्त तो प्रसिद्ध ही है; और यद्यपि यह दृष्टान्त गीता में स्पष्ट आया नहीं है, तथापि दूसरे अध्याय के ६७ और ६८ तथा इसी अध्याय का २५ वाँ श्लोक, ये उस दृष्टान्त को मनमें रख कर ही कहे गये हैं । यद्यपि योग का गीता का पारिभाषिक अर्थ कर्मयोग है; तथापि उस शब्द के अन्य अर्थ भी गीता में आये हैं । उदाहरणार्थ, ९. ५ और १०. ७ श्लोक में योग का अर्थ है, " अलौकिक अथवा चाहे जो करने की शक्ति " । यह भी कह सकते हैं, कि योग शब्द के अनेक अर्थ होने के कारण ही गीता में पातंजलयोग और सांख्यमार्ग को प्रतिपाद्य बतलाने की सुविधा उन उन सम्प्रदायवालों को मिल गई है । १९ वें श्लोक में वर्णित चित्तनिरोधरूपी पातंजलयोग की समाधि का स्वरूप ही अब विस्तार से कहते हैं :—]

(२०) योगानुष्ठान से चित्त जिस स्थान में रम जाता है; और जहाँ स्वयं आत्मा को देख कर आत्मा में ही सन्तुष्ट हो रहता है, (२१) जहाँ (केवल) बुद्धिगम्य और इन्द्रियों को अगोचर अत्यन्त सुख का उसे अनुभव होता है; और जहाँ

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥
§§ संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेंद्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

वह (एक बार) स्थिर हुआ, तो तत्त्व से कभी नहीं डिगता; (२२) ऐसे ही जिस स्थिति को पाने से उसकी अपेक्षा दूसरा कोई भी लाभ उसे अधिक नहीं जँचता; और जहाँ स्थिर होने से कोई भी बड़ा भारी दुःख (उसको) वहाँ से बिचला नहीं सकता, (२३) उसको दुःख के स्पर्श से वियोग अर्थात् 'योग' नाम की स्थिति कहते हैं; और इस 'योग' का आचरण मन को उकताने न देकर निश्चय से करना चाहिये ।

[इन चारों श्लोकों का एक ही वाक्य है । २३ वें श्लोक के आरम्भ के 'उसको' (तं) इस दर्शक सर्वनाम से पहले तीन श्लोकों का वर्णन उद्दिष्ट है; और चारों श्लोकों में 'समाधि' का वर्णन पूरा किया गया है । पातंजलयोगसूत्र में योग का यह लक्षण है, कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"—चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं । इसी के सदृश २० वें श्लोक के आरम्भ के शब्द हैं । अब इस 'योग' शब्द का नया लक्षण जानबूझ कर दिया है, कि समाधि इसी चित्तवृत्ति-निरोध की पूर्णावस्था है; और इसी को 'योग' कहते हैं । उपनिषद् और महाभारत में कहा है, कि निग्रहकर्ता और उद्योगी पुरुष को सामान्यरीति से यह योग छः महीने में सिद्ध होता है (मैत्र्यु. ६. २८; अमृतनाद. २९; म. भा. अश्व. अनुगीता १९.६६) । किन्तु पहले २० वें और २८ वें श्लोक में स्पष्ट कह दिया है, कि पातंजलयोग की समाधि से प्राप्त होनेवाला सुख न केवल चित्तनिरोध से, प्रत्युत चित्तनिरोध के द्वारा अपने आप आत्मा की पहचान कर लेने पर होता है । इस दुःखरहित स्थिति को ही 'ब्रह्मानन्द' या 'आत्मप्रसादज सुख' अथवा 'आत्मानन्द' कहते हैं (गी. १८. ३७; और गीतार. प्र.९, पृ.२३३ देखो) । अगले अध्यायों में इसका वर्णन है, कि आत्मज्ञान होने के लिये आवश्यक चित्त की यह समता एक पातंजलयोग से ही नहीं उत्पन्न होती; किन्तु चित्तशुद्धि का यह परिणाम ज्ञान और भक्ति से भी हो जाता है । यही मार्ग अधिक प्रशस्त और सुलभ समझा जाता है । समाधि का लक्षण बतला चुके । अब बतलाते हैं, कि उसे किस प्रकार लगाना चाहिये ? :—]

(२४) संकल्प से उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओं अर्थात् वासनाओं का निःशेष त्याग कर और मन से ही सब इन्द्रियों का चारों ओर से संयम कर

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ २५ ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥
§ § प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥
युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
§ § सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

(२५) धैर्ययुक्त बुद्धि से धीरे धीरे शान्त होता जावे; और मन को आत्मा में स्थिर करके कोई भी विचार मन में न आने दे। (२६) (इस रीति से चित्त को एकाग्र करते हुए) चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ जहाँ बाहर जावे, वहाँ वहाँ से रोक कर उसको आत्मा के ही स्वाधीन करे।

[मन की समाधि लगाने की क्रिया का यह वर्णन कठोपनिषद् में दी गई रथ की उपमा से (कठ. १. ३. ३) अच्छा व्यक्त होता है। जिस प्रकार उत्तम सारथी रथ के घोड़ों को इधर-उधर न जाने दे कर सीधे रास्ते से ले जाता है, उसी प्रकार का प्रयत्न मनुष्य को समाधि के लिये करना पड़ता है। जिसने किसी भी विषय पर अपने मन को स्थिर कर लेने का अभ्यास किया है, उसकी समझ में ऊपरवाले श्लोक का मर्म तुरन्त आ जावेगा। मन को एक ओर से रोकने का प्रयत्न करने लगें, तो वह दूसरी ओर खिसक जाता है; और वह आदत रुके बिना समाधि लग नहीं सकती। अब, योगाभ्यास से चित्त स्थिर होने का जो फल मिलता है, उसका वर्णन करते हैं :—]

(२७) इस प्रकार शान्तचित्त, रज से रहित, निष्पाप और ब्रह्मभूत (कर्म-) योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है। (२८) इस रीति से निरन्तर अपना योगाभ्यास करनेवाला (कर्म-) योगी पापों से छूट कर ब्रह्मसंयोग से प्राप्त होनेवाले अत्यन्त सुख का आनन्द से उपभोग करता है।

[इन दो श्लोकों में हमने योगी का कर्मयोगी अर्थ किया है। क्योंकि कर्म-योग का साधन समझ कर ही पातञ्जलयोग का वर्णन किया गया है। अतः पातंजलयोग के अभ्यास करनेवाले उक्त पुरुष से कर्मयोगी ही विवक्षित है। तथापि योगी का अर्थ 'समाधि लगाये बैठा हुआ पुरुष' भी कर सकते हैं। किन्तु स्मरण रहे, कि गीता का प्रतिपाद्य मार्ग इससे भी परे है। यही नियम अगले दो-तीन श्लोकों को लागू है। इस प्रकार निर्वाण ब्रह्मसुख का अनुभव होने पर सब प्राणियों के विषय में जो आत्मौपम्यदृष्टि हो जाती है, अब उसका वर्णन करते हैं :—]

(२९) (इस प्रकार) जिसका आत्मा योगयुक्त हो गया है, उसकी दृष्टि सम

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

हो जाती है। और उसे सर्वत्र ऐसा देख पड़ने लगता है, कि मैं सब प्राणियों में हूँ; और सब प्राणी मुझ में हैं। (३०) जो मुझ (परमेश्वर परमात्मा) को सब स्थानों में और सब को मुझ में देखता है, उससे मैं कभी नहीं बिछुड़ता; और न वही मुझ से कभी दूर होता है।

[इन दो श्लोकों में पहला वर्णन 'आत्मा' शब्द का प्रयोग कर अव्यक्त अर्थात् आत्मदृष्टि से और दूसरा वर्णन प्रथमपुरुषदर्शक 'मैं' पद के प्रयोग से व्यक्त अर्थात् भक्तिदृष्टि से किया गया है। परन्तु अर्थ दोनों का एक ही है (देखो गी.र. प्र.१३,पृ. ४२९–४३२)। मोक्ष और कर्मयोग इन दोनों का एक ही आधार यह ब्रह्मात्मैक्यदृष्टि ही है। २९ वें श्लोक का पहला अर्धांश कुछ फ़र्क़ से मनुस्मृति (१२. ९१), महाभारत (शां. २३८. २१ और २६८. २२) और उपनिषदों (कैव. १. १०; ईश ६) में भी पाया जाता है। हमने गीतारहस्य के १२ वें प्रकरण में विस्तारसहित दिखलाया है, कि सर्वभूतात्मैक्यज्ञान ही समग्र अध्यात्म और कर्मयोग का मूल है, (देखो पृ. ३८५ प्रभृति) । यह ज्ञान हुए बिना इन्द्रियनिग्रह का सिद्ध हो जाना भी व्यर्थ है; और इसीलिये अगले अध्याय से परमेश्वर का ज्ञान बतलाना आरम्भ कर दिया है।]

(३१) जो एकत्वबुद्धि अर्थात् सर्वभूतात्मैक्यबुद्धि को मन में रख सब प्राणियों में रहनेवाले मुझ को (परमेश्वर को) भजता है, वह (कर्म-) योगी सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मुझ में रहता है। (३२) हे अर्जुन! सुख हो या दुःख; अपने समान औरों को भी होता है। जो ऐसी (आत्मौपम्य) दृष्टि से सर्वत्र देखने लगे, वह (कर्म-) योगी परम अर्थात् उत्कृष्ट माना जाता है।

['प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है' यह दृष्टि सांख्य और कर्मयोग दोनों मार्गों में एक-सी है। ऐसे ही पातंजलयोग में भी समाधि लगा कर परमेश्वर की पहचान हो जाने पर यही साम्यावस्था प्राप्त होती है। परन्तु सांख्य और पातंजलयोगी दोनों को ही सब कर्मों का त्याग इष्ट है। अतएव वे व्यवहार में इस साम्यबुद्धि के उपयोग करने का मौक़ा ही नहीं आने देते। और गीता का कर्मयोगी ऐसा न कर––अध्यात्मज्ञान से प्राप्त हुई इस साम्यबुद्धि का व्यवहार में भी नित्य उपयोग करके––जगत् के सभी काम लोकसंग्रह के लिये किया करता

अर्जुन उवाच।

§ § योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥
चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

है। यही इन दोनों में बड़ा भारी भेद है। और इसी से इस अध्याय के अन्त में (श्लोक ४६) स्पष्ट कहा है, कि तपस्वी अर्थात् पातंजलयोगी और ज्ञानी अर्थात् सांख्यमार्गी, इन दोनों की अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है। साम्ययोग के इस वर्णन को सुन कर अब अर्जुन ने यह शंका की :--]

अर्जुन ने कहा :--(३३) हे मधुसूदन! साम्य अथवा साम्यबुद्धि से प्राप्त होनेवाला जो यह (कर्म-) योग तुमने बतलाया, मैं नहीं देखता, कि (मन की) चञ्चलता के कारण वह स्थिर रहेगा। (३४) क्योंकि हे कृष्ण! यह मन चंचल, हठीला, बलवान् और दृढ है। वायु के समान (अर्थात् हवा की गठरी बाँधने के समान) इसका निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर दिखता है।

[३३ वें श्लोक के 'साम्य' अथवा 'साम्यबुद्धि' से प्राप्त होनेवाला, इस विशेषण से यहाँ योग शब्द का कर्मयोग ही अर्थ है। यद्यपि पहले पातंजलयोग की समाधि का वर्णन आया है, तो भी इस श्लोक में 'योग' शब्द से पातंजलयोग विवक्षित नहीं। क्योंकि दूसरे अध्याय में भगवान् ने ही कर्मयोग की ऐसी व्याख्या की है, "समत्वं योग उच्यते" (२. ४८)--"बुद्धि की समता या समत्व को ही योग कहते हैं"। अर्जुन की कठिनाई को मान कर भगवान् कहते हैं :--]

श्रीभगवान् ने कहा :-(३५) हे महाबाहु अर्जुन! इसमें सन्देह नहीं, कि मन चञ्चल है; और उसका निग्रह करना कठिन है। परन्तु हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से वह स्वाधीन किया जा सकता है। (३६) मेरे मत में जिसका अन्तःकरण क़ाबू में नहीं, उसको इस (साम्यबुद्धिरूप) योग का प्राप्त होना कठिन है। किन्तु अन्तःकरण को क़ाबू में रख कर प्रयत्न करते रहने पर उपाय से (इस योग का) प्राप्त होना सम्भव है।

[तात्पर्य, पहले जो बात कठिन देख पड़ती है, वही अभ्यास से और दीर्घ उद्योग से अन्त में सिद्ध हो जाती है। किसी भी काम को बारबार करना

अर्जुन उवाच ।

§ § अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥
कच्चिन्नो भयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

'अभ्यास' कहलाता है; और 'वैराग्य' का मतलब है राग या प्रीति न रखना; अर्थात् इच्छाविहीनता। पातंजलयोगसूत्र में आरम्भ में ही योग का लक्षण यह बतलाया है कि— "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"— चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं (इसी अध्याय का २० वाँ श्लोक देखो) और फिर अगले सूत्र में कहा है, कि "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" — अभ्यास और वैराग्य से चित्त-वृत्ति का निरोध हो जाता है। येही शब्द गीता में आये हैं; और अभिप्राय भी यही है; परन्तु इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता, कि गीता में ये शब्द पातंजलयोगसूत्र से लिये गये हैं (देखो गीतार. परि. पृ. ५३०)। इस प्रकार यदि मनोनिग्रह करके समाधि लगाना सम्भव हो; और कुछ निग्रही पुरुषों को छः महीने के अभ्यास से यदि यह सिद्धि प्राप्त हो सकती हो; तो भी अब यह दूसरी शङ्का होती है, कि प्रकृतिस्वभाव के कारण अनेक लोग दो-एक जन्मों में भी इस परमावस्था में नहीं पहुँच सकते— फिर ऐसे लोग इस सिद्धि को क्योंकर पावें? क्योंकि एक जन्म में जितना हो सका, उतना इन्द्रियनिग्रह का अभ्यास कर कर्मयोग का आचरण करने लगें, तो वह मरते समय अधूरा ही रह जायगा; और अगले जन्म में फिर पहले से आरम्भ करें, तो फिर आगे के जन्म में भी वही हाल होगा। अतः अर्जुन का दूसरा प्रश्न है, कि इस प्रकार के पुरुष क्या करें? :—

अर्जुन ने कहा :—(३७) हे कृष्ण! श्रद्धा (तो) हो, परन्तु (प्रकृति स्वभाव से) पूरा प्रयत्न अथवा संयम न होने के कारण जिसका मन (साम्यबुद्धिरूप कर्म-) योग से बिचल जावे, वह योगसिद्धि न पा कर किस गति को जा पहुँचता है? (३८) हे महाबाहु श्रीकृष्ण! यह पुरुष मोहग्रस्त हो कर ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में स्थिर न होने के कारण दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाने पर छिन्न-भिन्न बादल के समान (बीच में ही) नष्ट तो नहीं हो जाता? (३९) हे कृष्ण! मेरे इस सन्देह को तुम्हें ही निःशेष दूर करना चाहिये। तुम्हें छोड़ कर इस सन्देह का मेटनेवाला दूसरा कोई न मिलेगा।

[यद्यपि नञ् समास में आरम्भ के नञ् (अ) पद का साधारण अर्थ 'अभाव' होता है, तथापि कई बार अल्प अर्थ में भी उसका प्रयोग हुआ

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

करता है, इस कारण ३७ वें श्लोक के 'अयति' शब्द का अर्थ " अल्प अर्थात् अधूरा प्रयत्न या संयम करनेवाला " है । ३८ वें श्लोक में जो कहा है, कि " दोनों ओर का आश्रय छूटा हुआ " अथवा " इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः " उस का अर्थ भी कर्मयोगप्रधान ही करना चाहिये । कर्म के दो प्रकार के फल हैं (१) साम्यबुद्धिसे किन्तु शास्त्र की आज्ञा के अनुसार कर्म करने पर तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है; और (निष्काम) बुद्धि से करने पर वह बन्धक न होकर मोक्ष-दायक हो जाता है । परन्तु इस अधूरे मनुष्य को कर्म के स्वर्ग आदि काम्यफल नहीं मिलते । क्योंकि उसका ऐसा हेतु ही नहीं रहता; और साम्यबुद्धि पूर्ण न होने के कारण उसे मोक्ष मिल नहीं सकता । इसलिये अर्जुन के मन में यह शङ्का उत्पन्न हुई, कि उस बेचारे को न तो स्वर्ग मिला और न मोक्ष—कहीं उसकी ऐसी स्थिति तो नहीं हो जाती, कि दोनों दीन से गये पाँडे, हलुवा मिले न माँडे ? यह शंका केवल पातंजलयोगरूपी कर्मयोग के साधन के लिये ही नहीं की जाती । अगले अध्याय में वर्णन है, कि कर्मयोगसिद्धि के लिये आवश्यक साम्यबुद्धि कभी पातंजलयोग से, कभी भक्ति से और कभी ज्ञान से प्राप्त होती है । और जिस प्रकार पातंजलयोगरूपी यह साधन एक ही जन्म में अधूरा रह सकता है, उसी प्रकार भक्ति या ज्ञानरूपी साधन भी एक जन्म में अपूर्ण रह सकते हैं । अतएव कहना चाहिये, कि अर्जुन के उक्त प्रश्न का भगवान् ने जो उत्तर दिया है, वह कर्मयोगमार्ग के सभी साधनों को साधारणरीति से उपयुक्त हो सकता है :—]

श्रीभगवान् ने कहा :—(४०) हे पार्थ ! क्या इस लोक में और क्या परलोक में ऐसे पुरुष का कभी विनाश होता ही नहीं । क्योंकि हे तात ! कल्याणकारक कर्म करनेवाले किसी भी पुरुष की दुर्गति नहीं होती । (४१) पुण्यकर्ता पुरुषों को मिलनेवाले (स्वर्ग आदि) लोकों को पा कर और (वहाँ) बहुत वर्षों तक निवास करके फिर यह योगभ्रष्ट अर्थात् कर्मयोग से भ्रष्ट पुरुष पवित्र, श्रीमान् लोगों के घर में जन्म लेता है; (४२) अथवा बुद्धिमान् (कर्म-) योगियों के ही कुल में जन्म पाता है । इस प्रकार का जन्म (इस) लोक में बड़ा दुर्लभ है ।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

(४३) उसमें अर्थात् इस प्रकार प्राप्त हुए जन्म में वह पूर्वजन्म के बुद्धिसंस्कार को पाता है; और हे कुरुनन्दन! यह उससे भूयः अर्थात् अधिक (योग-) सिद्धि पाने का प्रयत्न करता है। (४४) अपने पूर्वजन्म के उस अभ्यास से ही अवश अर्थात् अपनी इच्छा न रहने पर भी वह (पूर्ण सिद्धि की ओर) खींचा जाता है। जिसे (कर्म-) योग की जिज्ञासा (अर्थात् जान लेने की इच्छा) हो गई है, वह भी शब्दब्रह्म के परे चला जाता है। (४५) (इस प्रकार) प्रयत्नपूर्वक उद्योग करते करते पापों से शुद्ध होता हुआ (कर्म-) योगी अनेक जन्मों के अनन्तर सिद्धि पा कर अन्त में उत्तम गति पा लेता है!

[इन श्लोकों में योग, योगभ्रष्ट और योगी शब्द कर्मयोग से भ्रष्ट और कर्मयोगी के अर्थ में ही व्यवहृत हैं। क्योंकि श्रीमान् कुल में जन्म लेने की स्थिति दूसरों को इष्ट होना सम्भव ही नहीं है। भगवान् कहते हैं, कि पहले से (जितना हो सके उतना) शुद्धबुद्धि से कर्मयोग का आचरण करना आरम्भ करे। थोड़ा ही क्यों न हो? पर इस रीति से जो कर्म किया जावेगा, वही इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में इस प्रकार अधिक अधिक सिद्धि मिलने के लिये उत्तरोत्तर कारणीभूत होगा; और उसीसे अन्त में पूर्ण सद्गति मिलती है। "इस धर्म का थोड़ा-सा भी आचरण किया जाय, तो वह बड़े भय से रक्षा करता है" (गी. २. ४०); और "अनेक जन्मों के पश्चात् वासुदेव की प्राप्ति होती है" (७. १९), ये श्लोक उसी सिद्धान्त के पूरक हैं। अधिक विवेचन गीतारहस्य के प्र. १०, पृ. २८२-२८५ में किया गया है। ४४ वें श्लोक के शब्दब्रह्म का अर्थ है 'वैदिक यज्ञयाग आदि काम्यकर्म।' क्योंकि ये कर्म वेदविहित हैं; और वेदों पर श्रद्धा रख कर ही ये किये जाते हैं; तथा वेद अर्थात् सब सृष्टि के पहले पहल का शब्द यानी शब्दब्रह्म है। प्रत्येक मनुष्य पहले पहल सभी कर्म काम्यबुद्धि से किया करता है। परन्तु इस कर्म से जैसी जैसी चित्तशुद्धि होती जाती है; वैसे ही वैसे आगे निष्काम-बुद्धि से कर्म करने की इच्छा होती है। इसी से उपनिषदों में और महाभारत में भी (मैत्र्यु. ६. २२. अमृतबिन्दु. १७; म. भा. शां. २३१. ६३; २६९. १) यह वर्णन है कि:—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

§§ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

" जानना चाहिये, कि ब्रह्म दो प्रकार का है; एक ब्रह्म और दूसरा उससे परे का (निर्गुण) । शब्दब्रह्म में निष्णात हो जाने पर फिर इससे परे का (निर्गुण) ब्रह्म प्राप्त होता है " । शब्दब्रह्म के काम्यकर्मों से उकता कर अन्त में लोकसंग्रह के अर्थ इन्हीं कर्मों को करानेवाले कर्मयोग की इच्छा होती है; और फिर तब इस निष्काम कर्मयोग का थोड़ा थोड़ा आचरण होने लगता है । अनन्तर ' स्वल्पारम्भाः क्षेमकराः ' के न्याय से ही थोड़ा-सा आचरण उस मनुष्य को इस मार्ग में धीरे धीरे खींचता जाता है; और अन्त में क्रमक्रम से पूर्ण सिद्धि करा देता है । ४४ वें श्लोक में जो यह कहा है, कि " कर्मयोग के जान लेने की इच्छा होने से भी वह शब्दब्रह्म के परे जाता है " उसका तात्पर्य भी यही है । क्योंकि यह जिज्ञासा कर्मयोगरूपी चरखे का मुँह है; और एक बार इस चरखे के मुँह में लग जाने पर (फिर इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में, कभी न कभी) पूर्ण सिद्धि मिलती है; और वह शब्दब्रह्म से परे के ब्रह्म तक पहुँचे विना नहीं रहता। पहले पहल जान पड़ता है, कि यह सिद्धि जनक आदि को एक ही जन्म में मिल गई होगी । परन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखने पर पता चलता है, कि उन्हें भी यह फल जन्मजन्मान्तर के पूर्वसंस्कार से ही मिला होगा। अस्तु; कर्मयोग का थोड़ा-सा आचरण, यहाँ तक कि जिज्ञासा भी सदैव कल्याणकारक है, इसके अतिरिक्त अन्त में मोक्षप्राप्ति भी निःसंदेह इसी से होती है। अतः अब भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि :--]

(४६) तपस्वी लोगों की अपेक्षा (कर्म-) योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानी पुरुषों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है; और कर्मकाण्डवालों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझा जाता है । इसलिये हे अर्जुन ! तू योगी अर्थात् कर्मयोगी हो ।

[जंगल में जा कर उपवास आदि शरीर को क्लेशदायक व्रतों से अथवा हठयोग के साधनों से सिद्धि पानेवाले लोगों को इस श्लोक में तपस्वी कहा है; और सामान्यरीति से इस शब्द का यही अर्थ है । " ज्ञानयोगेन सांख्यानां० " (गी. ३.३) में वर्णित ज्ञान से (अर्थात् सांख्यमार्ग) से कर्म छोड़ कर सिद्धि प्राप्त कर लेनेवाले सांख्यनिष्ठ लोगों को ज्ञानी माना है । इसी प्रकार गी. २.४२. ४४ और ९. २०, २१ में वर्णित निरे काम्यकर्म करनेवाले स्वर्गपरायण कर्मठ मीमांसकों को कर्मी कहा है । इन तीनों पन्थों में से प्रत्येक यही कहता है, कि हमारे ही मार्ग से सिद्धि मिलती है । किन्तु अब गीता का यह कथन है, कि तपस्वी हो, चाहे कर्मठ मीमांसक हो या ज्ञाननिष्ठ सांख्य हो; इनमें प्रत्येक की अपेक्षा कर्मयोगी--अर्थात् कर्मयोगमार्ग भी--श्रेष्ठ है । और पहले यही सिद्धान्त "अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है०" (गी. ३. ८) एवं " कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्म-

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना ।

योग विशेष है०" (गी.५.२) इत्यादि श्लोकों में वर्णित है (देखो गीतारहस्य प्रकरण ११, पृ. ३०७, ३०८)। और तो क्या? तपस्वी, मीमांसक अथवा ज्ञानमार्गी इनमें से प्रत्येक की अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है, 'इसीलिये' पीछे जिस प्रकार अर्जुन को उपदेश किया है, कि 'योगस्थ हो कर कर्म कर' (गी. २ ४८; गीतार. प्र.३, पृ. ५६) अथवा "योग का आश्रय करके खड़ा हो" (४.४२), उसी प्रकार यहाँ भी फिर स्पष्ट उपदेश किया है, कि "तू (कर्म-) योगी हो।" यदि इस प्रकार कर्मयोग को श्रेष्ठ न मानें, तो "तस्मात् तू योगी हो" इस उपदेश का 'तस्मात् = इसीलिये' पद निरर्थक हो जावेगा। किन्तु संन्यासमार्ग के टीकाकारों को यही सिद्धान्त कैसे स्वीकृत हो सकता है? अतः उन लोगों ने 'ज्ञानी' शब्द का अर्थ बदल दिया है; और वे कहते हैं, कि ज्ञानी शब्द का अर्थ है शब्दज्ञानी; अथवा वे लोग, कि जो सिर्फ़ पुस्तकें पढ़ कर ज्ञान की लम्बी चौड़ी बातें छाँटा करते हैं। किन्तु यह अर्थ निरे साम्प्रदायिक आग्रह का है। ये टीकाकार गीता के इस अर्थ को नहीं चाहते, कि कर्म छोड़नेवाले ज्ञानमार्ग को गीता कम दर्जे का समझती है। क्योंकि इससे उनके सम्प्रदाय को गौणता आती है। और इसी लिये "कर्मयोगो विशिष्यते" (गी. ५.२) का भी अर्थ उन्होंने बदल दिया है। परन्तु उसका पूरा पूरा विचार गीतारहस्य के ११ वें प्रकरण में कर चुके हैं। अतः इस श्लोक का जो अर्थ हमने किया है, उसके विषय में यहाँ अधिक चर्चा नहीं करते। हमारे मत में यह निर्विवाद है, कि गीता के अनुसार कर्मयोगमार्ग ही सब में श्रेष्ठ है। अब आगे के श्लोक में बतलाते हैं, कि कर्मयोगियों में भी कौन-सा तारतम्य भाव देखना पड़ता है? :—]

(४७) तथापि सब (कर्म-) योगियों में भी मैं उसे ही सब में उत्तम युक्त अर्थात् उत्तम सिद्ध कर्मयोगी समझता हूँ, कि जो मुझ में अन्तःकरण रख कर श्रद्धा से मुझ को भजता है।

[इस श्लोक का यह भावार्थ है, कि कर्मयोग में भी भक्ति का प्रेमपूरित मेल हो जाने से यह योगी भगवान् को अत्यन्त प्रिय हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है, कि निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है। क्योंकि आगे बारहवें अध्याय में भगवान् ने ही स्पष्ट कह दिया है, कि ध्यान की अपेक्षा कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है (गी. १२. १२)। निष्काम कर्म और भक्ति के समुच्चय को श्रेष्ठ कहना एक बात है; और सब निष्काम कर्मयोग को व्यर्थ कह कर भक्ति ही को श्रेष्ठ बतलाना दूसरी बात है। गीता का सिद्धान्त पहले ढँग का है; और भागवतपुराण का पक्ष दूसरे ढँग का है। भागवत (१. ५. ३४) में सब प्रकार के क्रियायोग को आत्मज्ञानविघातक निश्चित कर कहा है :—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

नैष्कर्म्य अर्थात् निष्काम कर्म भी (भाग. ११.३.४६)। बिना भगवद्भक्ति के शोभा नहीं देता, वह व्यर्थ है (भाग. १.५.१२ और १२.१२.५२)। इससे व्यक्त होगा, कि भागवतकार का ध्यान केवल भक्ति के ही ऊपर होने के कारण वे विशेष प्रसंग पर भगवद्गीता के भी आगे कैसी चौकड़ी भरते हैं? जिस पुराण का निरूपण इस समझ से किया गया है, कि महाभारत में और इससे गीता में भी भक्ति का जैसा वर्णन होना चाहिये, वैसा नहीं हुआ। उसमें यदि उक्त वचनों के समान और भी कुछ बातें मिलें, तो कोई आश्चर्य नहीं। पर हमें तो देखना है गीता का तात्पर्य; न कि भागवत का कथन। दोनों का प्रयोजन और समय भी भिन्न भिन्न है। इस कारण बात-बात में उनकी एकवाक्यता करना उचित नहीं है। कर्मयोग की साम्यबुद्धि प्राप्त करने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता है, उनमें से पातंजलयोग के साधनों का इस अध्याय में निरूपण किया गया। ज्ञान और भक्ति भी अन्य साधन हैं। अगले अध्याय से इनके निरूपण का आरम्भ होगा।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए -- अर्थात् कहे हुए --उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग--अर्थात् कर्मयोग--शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में ध्यानयोग नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

सातवाँ अध्याय।

[पहले यह प्रतिपादन किया गया, कि कर्मयोग सांख्यमार्ग के समान ही मोक्षप्रद है। परन्तु स्वतन्त्र है और उससे श्रेष्ठ है। और यदि इस मार्ग का थोड़ा भी आचरण किया जाय, तो वह व्यर्थ नहीं जाता। अनन्तर इस मार्ग की सिद्धि के लिये आवश्यक इन्द्रियनिग्रह करने की रीति का वर्णन किया गया है। किन्तु इन्द्रिय-निग्रह से मतलब निरी बाह्यक्रिया से नहीं है। जिसके लिये इन्द्रियों की यह कसरत करनी है, उसका अब तक विचार नहीं हुआ। तीसरे अध्याय में भगवान् ने ही अर्जुन को इंद्रियनिग्रह का यह प्रयोजन बतलाया है, कि "काम-क्रोध आदि शत्रु इंद्रियों में अपना घर बना कर ज्ञान-विज्ञान का नाश करते हैं" (३.४०,४१)। इसलिये पहले तू इन्द्रियनिग्रह करके इन शत्रुओं को मार डाल। और पिछले अध्याय में योगयुक्त पुरुष का यों वर्णन किया है, कि इन्द्रियनिग्रह के द्वारा

सप्तमोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।

" ज्ञान-विज्ञान से तृप्त हुआ " (६, ८) योगयुक्त पुरुष " समस्त प्राणियों में परमेश्वर को और परमेश्वर में समस्त प्राणियों को देखता है " (६.२९)। अतः जब इन्द्रियनिग्रह करने की विधि बतला चुके, तब यह बतलाना आवश्यक हो गया, कि 'ज्ञान' और 'विज्ञान' किसे कहते हैं? और परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होकर कर्मों को न छोड़ते हुए भी कर्मयोगमार्ग की किन विधियों से अन्त में निःसंदिग्ध मोक्ष मिलता है? सातवें अध्याय से लेकर सत्रहवें अध्याय के अन्तपर्यन्त-- ग्यारह अध्यायों में--इसी विषय का वर्णन है; और अन्त के अर्थात् अठारहवें अध्याय में सब कर्मयोग का उपसंहार है। सृष्टि में अनेक प्रकार के अनेक विनाशवान् 'पदार्थों में एक ही अविनाशी परमेश्वर समा रहा है--इस समझ का नाम है 'ज्ञान;' और एक ही नित्य परमेश्वर से विविध नाशवान् पदार्थों की उत्पत्ति को समझ लेना 'विज्ञान' कहलाता है (गी. १३. ३०)। एवं इसी को क्षर-अक्षर का विचार कहते हैं। इसके सिवा अपने शरीर में अर्थात् क्षेत्र में जिसे आत्मा कहते हैं, उसके सच्चे स्वरूप को जान लेने से भी परमेश्वर के स्वरूप का बोध हो जाता है। इस प्रकार के विचार को क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार कहते हैं। इनमें से पहले क्षर-अक्षर के विचार का वर्णन करके फिर तेरहवें अध्याय में क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के विचार का वर्णन किया है। यद्यपि परमेश्वर एक है, तथापि उपासना की दृष्टि से उसमें दो भेद होते हैं। उसका अव्यक्त स्वरूप केवल बुद्धि से ग्रहण करने योग्य है; और व्यक्त स्वरूप प्रत्यक्ष अवगम्य है। अतः इन दोनों मार्गों या विधियों को इसी निरूपण में बतलाना पड़ा, कि बुद्धि से परमेश्वर को कैसे पहचानें? और श्रद्धा या भक्ति से व्यक्त स्वरूप की उपासना करने से उनके द्वारा अव्यक्त का ज्ञान कैसे होता है? तब इस समूचे विवेचन में यदि ग्यारह अध्याय लग गये, तो कोई आश्चर्य नहीं है। इसके सिवा, इन दो मार्गों से परमेश्वर के ज्ञान के साथ ही इन्द्रियनिग्रह भी आप-ही-आप हो जाता है। अतः केवल इन्द्रियनिग्रह करा देनेवाले पातंजलयोगमार्ग की अपेक्षा मोक्षधर्म में ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग की योग्यता भी अधिक मानी जाती है। तो भी स्मरण रहे, कि यह सारा विवेचन कर्मयोगमार्ग के उपपादन का एक अंश है, वह स्वतंत्र नहीं है। अर्थात् गीता के पहले छः अध्यायों में कर्म, दूसरे षट्क में भक्ति और तीसरी षड्ध्यायी में ज्ञान। इस प्रकार गीता के जो तीन स्वतन्त्र विभाग किये जाते हैं, वे तत्त्वतः ठीक नहीं हैं। स्थूलमान से देखने में ये तीनों विषय गीता में आये हैं सही; परन्तु वे स्वतन्त्र नहीं हैं। किन्तु कर्मयोग के अंगों के रूप से ही उनका विवेचन किया गया है। इस विषय का प्रतिपादन गीतारहस्य के चौदहवें प्रकरण (पृ. ४५२-४५७) में किया गया है। इसलिये यहाँ उसकी पुनरावृत्ति

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

नहीं करते। अब देखना चाहिये, कि सातवें अध्याय का आरम्भ भगवान् किस प्रकार करते हैं ? :--]

श्रीभगवान् ने कहा :--(१) हे पार्थ मुझ में चित्त लगा कर और मेरा ही आश्रय करके (कर्म-) योग का आचरण करते हुए तुझे जिस प्रकार से या जिस विधि से मेरा पूर्ण और संशयविहीन ज्ञान होगा, उसे सुन। (२) विज्ञानसमेत इस पूरे ज्ञान को मैं तुझ से कहता हूँ, कि जिसके जान लेने से इस लोक में फिर और कुछ भी जानने के लिये नहीं रह जाता।

[पहले श्लोक के "मेरा ही आश्रय करके" इन शब्दों से और विशेष कर 'योग' शब्द से प्रगट होता है, कि पहले के अध्यायों में वर्णित कर्मयोग की सिद्धि के लिये ही अगला ज्ञान-विज्ञान कहा है--स्वतन्त्र रूप से नहीं बतलाया है (देखो गीतार. प्र.१४, पृ. ४५४-४५५)। न केवल इसी श्लोक में, प्रत्युत गीता में अन्यत्र भी कर्मयोग को लक्ष्य कर ये शब्द आये हैं 'मद्योगमाश्रितः' (गी. १२. ११), 'मत्परः' (गी. १८.५७ और ११.५५); अतः इस विषय में कोई शंका नहीं रहती, कि परमेश्वर का आश्रय करके जिस योग का आचरण करने के लिये गीता कहती है, वह पीछे के छः अध्यायों में प्रतिपादित कर्मयोग ही है। कुछ लोग विज्ञान का अर्थ अनुभविक ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं। परन्तु ऊपर के कथनानुसार हमें ज्ञात होता है, कि परमेश्वरी ज्ञान के ही समष्टिरूप (ज्ञान) और व्यष्टिरूप (विज्ञान) ये दो भेद हैं। इस कारण ज्ञानविज्ञान शब्द से भी उन्हीं का अभिप्राय है (गी. १३. ३० और १८. २० देखो)। दूसरे श्लोक " फिर और कुछ भी जानने के लिये नहीं रह जाता " उपनिषद् के आधार से लिये गये हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु से उनके बाप ने यह प्रश्न किया है कि " येन ... अविज्ञातं विज्ञातं भवति " वह क्या है, कि जिस एक के जान लेने से सब कुछ लिया जाता है ? और फिर आगे उसका इस प्रकार खुलासा किया है " यथा सौम्यैकेन मृत्पिडेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् " (छां. ६, १.४) --हे तात ! जिस प्रकार मिट्टी के एक गोले के भीतरी भेद को जान लेने से ज्ञात हो जाता है, कि शेष मिट्टी के पदार्थ उसी मृत्तिका के विभिन्न नामरूप धारण करनेवाले विकार हैं; और कुछ नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म को जान लेने से दूसरा कुछ भी जानने के लिये नहीं रहता। मुण्डक उपनिषद् (१.१.३) में भी आरम्भ में ही यह प्रश्न है, कि " कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" -किसका ज्ञान हो जाने से अन्य सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है ? इससे व्यक्त होता है, कि

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत: ॥ ३ ॥
§ § भूमिरापोऽनलो वायु: खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्त: परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।

अद्वैत वेदान्त का यही तत्त्व यहाँ अभिप्रेत है, कि एक परमेश्वर का ज्ञानविज्ञान हो जाने से इस जगत् में और कुछ भी जानने के लिये रह नहीं जाता। क्योंकि जगत् का मूलतत्त्व तो एक ही है। नाम और रूप के भेद से वही सर्वत्र समाया हुआ है। सिवा उसके और कोई दूसरी वस्तु दुनिया में है ही नहीं। यदि ऐसा न हो, तो दूसरे श्लोक की प्रतिज्ञा सार्थक नहीं होती।]

(३) हजारों मनुष्यों में कोई एक-आध ही सिद्धि पाने का यत्न करता है; और प्रयत्न करनेवाले इन (अनेक) सिद्ध पुरुषों में से एक-आध को ही मेरा सच्चा ज्ञान हो जाता है।

[ध्यान रहे, कि यहाँ प्रयत्न करनेवालों को यद्यपि सिद्ध पुरुष कह दिया है, तथापि परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर ही उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है; अन्यथा नहीं। परमेश्वर के ज्ञान के क्षर-अक्षर-विचार और क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार ये दो भाग हैं। इनमें से अब क्षर-अक्षर-विचार का आरम्भ करते हैं :—]

(४) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (ये पाँच सूक्ष्म भूत), मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ प्रकारों में मेरी प्रकृति विभाजित है। (५) यह अपरा अर्थात् निम्न श्रेणी की (प्रकृति) है। हे महाबाहु अर्जुन! यह जानो कि इससे भिन्न, जगत् को धारण करनेवाली परा अर्थात् उच्च श्रेणी की जीवनस्वरूपी मेरी दूसरी प्रकृति है। (६) समझ रखो, कि इन्हीं दोनों से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। सारे जगत् का प्रभाव अर्थात् मूल और प्रलय अर्थात् अन्त मैं ही हूँ। (७) हे धनञ्जय! मुझ से परे और कुछ नहीं है। धागे में पिरोये हुए मणियों के समान मुझ में यह सब गूँथा हुआ है।

[इन चारों श्लोकों में सब क्षर-अक्षर-ज्ञान का सार आ गया है; और अगले श्लोकों में इसी का विस्तार किया है। सांख्यशास्त्र में सब सृष्टि के अचेतन अर्थात् जड़प्रकृति और सचेतन पुरुष ये दो स्वतन्त्र तत्त्व बतला कर प्रतिपादन किया है, कि इन दोनों तत्त्वों से सब पदार्थ उत्पन्न हुए —इन दोनों से परे तीसरा तत्त्व नहीं है। परन्तु गीता को यह द्वैत मंजूर नहीं। अतः प्रकृति और पुरुष को एक

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

ही परमेश्वर की दो विभूतियाँ मान कर चौथे और पाँचवें श्लोक में वर्णन किया है, कि इनमें जड़प्रकृति निम्न श्रेणी की विभूति है; और जीव अर्थात् पुरुष श्रेष्ठ श्रेणी की विभूति है। और कहा है, कि इन दोनों से समस्त स्थावरजङ्गम सृष्टि उत्पन्न होती है (देखो गी. १३. २६)। इनमें से जीवभूत श्रेष्ठ प्रकृति का विस्तार-सहित विचार क्षेत्रज्ञ की दृष्टि से आगे तेरहवें अध्याय में किया है। अब रह गई जड़प्रकृति। सो गीता का सिद्धान्त है (देखो गीता: ९. १०) कि वह स्वतन्त्र नहीं; परमेश्वर की अध्यक्षता में उससे समस्त सृष्टि की उत्पत्ति होती है। यद्यपि गीता में प्रकृति को स्वतन्त्र नहीं माना है, तथापि सांख्यशास्त्र में प्रकृति के जो भेद हैं, उन्हीं को कुछ हेरफेर से गीता में ग्राह्य कर लिया है (गीतार.प्र.८,पृ.१७९–१८३)। और परमेश्वर से माया के द्वारा जड़प्रकृति उत्पन्न हो चुकने पर (गी.७. १४) सांख्यों का किया हुआ यह वर्णन, कि प्रकृति से सब पदार्थ कैसे निर्मित हुए? अर्थात् गुणोत्कर्ष का तत्त्व भी गीता को मान्य है (देखो गीतार. प्र. ६, पृ. २४२)। सांख्यों का कथन है, कि प्रकृति और पुरुष मिल कर कुल पच्चीस तत्त्व हैं। इनमें प्रकृति से ही तेईस तत्त्व उपजते हैं। इन तेईस तत्त्वोंमें पाँच स्थूल भूत, दस इन्द्रियाँ और मन ये सोलह तत्त्व शेष सात तत्त्वों से निकले हुए अर्थात् उनके विकार हैं। अतएव यह विचार करते समय (कि 'मूलतत्त्व' कितने हैं?) इन सोलह तत्त्वों को छोड़ देते हैं; और इन्हें छोड़ देने से बुद्धि (महान्) अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राएँ (सूक्ष्मभूत) मिल कर सात ही मूलतत्त्व बचे रहते हैं। सांख्यशास्त्र में इन्हीं सातों को "प्रकृतिविकृति" कहते हैं। ये सात प्रकृति-विकृति और मूलप्रकृति मिल कर अब आठ ही प्रकार की प्रकृति हुई; और महाभारत (शां. ३१०. १०–१५) में इसी को अष्टधा प्रकृति कहा है। परंतु सात प्रकृतिविकृतियों के सात ही मूलप्रकृति की गिनती कर लेना गीता को योग्य नहीं जँचा। क्योंकि ऐसा करने से यह भेद नहीं दिखलाया जाता, कि एक मूल है; और उसके सात विकार हैं। इसी से गीता के इस वर्गीकरण में--कि सात प्रकृतिविकृति और मन मिल कर अष्टधा मूलप्रकृति है--और महाभारत के वर्गीकरण में थोड़ा-सा भेद किया गया है (गीतार.प्र.८, पृ.१८३)। सारांश, यद्यपि गीता को सांख्यवालों की स्वतन्त्र प्रकृति स्वीकृत नहीं; तथापि स्मरण रहे, कि उसके अगले विस्तार का निरूपण दोनों ने वस्तुतः समान ही किया है। गीता के समान उपनिषद् में भी वर्णन है, कि सामान्यतः परब्रह्म से ही--

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

"इस (पर पुरुष) से प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्व को धारण करनेवाली पृथ्वी--ये (सब) उत्पन्न होते हैं" (मुण्ड. २. १. ३; कै. १. १५; प्रश्न ६. ४)। अधिक जानना हो, तो गीतारहस्य का ८ वाँ

§ § रसोऽहमप्सु कौंतेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

प्रकरण देखो । चौथे श्लोक में कहा है, कि पृथ्वी, आप प्रभृति पञ्चतत्त्व मैं ही हूँ--और अब यह कह कर, कि इन तत्त्वों में जो गुण हैं, वे भी मैं ही हूँ--ऊपर के इस कथन का स्पष्टीकरण करते हैं, कि ये सब पदार्थ एक ही धागे में मणियों के समान पिरोये हुए हैं :--]

(८) हे कौन्तेय ! जल में रस मैं हूँ । चन्द्रसूर्य की प्रभा मैं हूँ । सब वेदों में प्रणव अर्थात् ॐकार मैं हूँ । आकाश में शब्द मैं हूँ और सब पुरुषों का पौरुष मैं हूँ । (९) पृथ्वी में पुण्यगन्ध अर्थात् सुगन्धि एवं अग्नि का तेज मैं हूँ । सब प्राणियों की जीवनशक्ति और तपस्वियों का तप मैं हूँ । (१०) हे पार्थ ! मुझ को सब प्राणियों का सनातन बीज समझ । बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज भी मैं हूँ । (११) काम (वासना) और राग अर्थात् विषयासक्ति (इन दोनों को) घटा कर बलवान् लोगों का बल मैं हूँ; और हे भरतश्रेष्ठ ! प्राणियों में--धर्म के विरुद्ध न जानेवाला--काम भी मैं हूँ । (१२) और यह समझ, कि जो कुछ सात्त्विक, राजस या तामस भाव अर्थात् पदार्थ हैं, वे सब मुझ से ही हुए हैं । परन्तु वे मुझ में हैं; मैं उनमें नहीं हूँ ।

[" वे मुझ में हैं, मैं उनमें नहीं हूँ " इसका अर्थ बड़ा ही गम्भीर है । पहला अर्थात् प्रगट अर्थ यह है, कि सभी पदार्थ परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं । इसलिये मणियों में धागे के समान इन पदार्थों का गुणधर्म भी यद्यपि परमेश्वर ही है, तथापि परमेश्वर की व्याप्ति इसी में नहीं चुक जाती । समझना चाहिये, कि इनको व्याप्त कर इनके परे भी यही परमेश्वर है; और यही अर्थ आगे "इस समस्त जगत् को मैं एकांश से व्याप्त कर रहा हूँ " (गी. १०. ४२) इस श्लोक में वर्णित है । परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा भी अर्थ सदैव विवक्षित रहता है । वह यह, कि त्रिगुणात्मक जगत् का नानात्व यद्यपि मुझ से निर्गुण हुआ देख पड़ता है, तथापि वह नानात्व मेरे निर्गुण स्वरूप में नहीं रहता; और इस दूसरे अर्थ को मन में रख कर " भूतभृत् नच भूतस्थः " (९. ४ और ५) इत्यादि

§ § त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥
§ § चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

परमेश्वर की अलौकिक शक्तियों के वर्णन किये गये हैं (गी. १३. १४–१६)। इस प्रकार यदि परमेश्वर की व्याप्ति समस्त जगत् से भी अधिक है, तो प्रगट है, कि परमेश्वर के सच्चे स्वरूप को पहचानने के लिये इस मायिक जगत् से भी परे जाना चाहिये; और अब उसी अर्थ को स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं :—]

(१३) (सत्त्व, रज और तम) इन तीन गुणात्मक भावों से अर्थात् पदार्थों से मोहित हो कर यह सारा संसार इनसे परे के (अर्थात् निर्गुण) मुझ अव्यय (परमेश्वर) को नहीं जानता ।

[माया के सम्बन्ध में गीतारहस्य के ९ वें प्रकरण में यह सिद्धान्त है, कि माया अथवा अज्ञान त्रिगुणात्मक देहेन्द्रिय का धर्म है; न कि आत्मा का। आत्मा तो ज्ञानमय और नित्य है। इन्द्रियाँ उसको भ्रम में डालती हैं—उसी अद्वैती सिद्धान्त को ऊपर के श्लोक में कहा है। देखो गीता. ७. २४. और गी. र. प्र. ९ पृ. २३६–२४७]

(१४) मेरी यह गुणात्मक और दिव्य माया दुस्तर है। अतः इस माया को वे पार कर जाते हैं, जो मेरी ही शरण में आते हैं ।

[इससे प्रगट होता है, कि सांख्यशास्त्र की त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही गीता में भगवान् अपनी माया कहते हैं। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में कहा है, कि नारद को विश्वरूप दिखला कर अन्त में भगवान् बोले कि :—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैव त्वं ज्ञातुमर्हसि ॥

"हे नारद ! तुम जिसे देख रहे हो, वह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। तुम मुझे सब प्राणियों के गुणों से युक्त मत समझो" (शां. ३३९. ४४)। वही सिद्धान्त अब यहाँ भी बतलाया गया है। गीतारहस्य के ९ वें और १० वें प्रकरण में बतला दिया है, कि माया क्या चीज है ?]

(१५) माया ने जिनका ज्ञान नष्ट कर दिया है, ऐसे मूढ और दुष्कर्मी नराधम आसुरी बुद्धि में पड़ कर मेरी शरण में नहीं आते ।

[यह बतला दिया, कि माया में डूबे रहनेवाले लोग परमेश्वर को भूल जाते हैं; और नष्ट हो जाते हैं। अब ऐसा न करनेवाले अर्थात् परमेश्वर की शरण में जा कर उसकी भक्ति करनेवाले लोगों का वर्णन करते हैं।]

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥
बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

(१६) हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! चार प्रकार के पुण्यात्मा लोग मेरी भक्ति किया करते हैं:—१—आर्त अर्थात् रोग से पीड़ित, २—जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर लेने की इच्छा करनेवाले, ३—अर्थार्थी अर्थात् द्रव्य आदि काम्य वासनाओं को मन में रखने-वाले और ४—ज्ञानी अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान पा कर कृतार्थ हो जाने से आगे कुछ प्राप्त न करना हो, तो भी निष्कामबुद्धि से भक्ति करनेवाले। (१७) इनमें एकभक्ति अर्थात् अनन्यभाव से मेरी भक्ति करनेवाले और सदैव युक्त यानी निष्कामबुद्धि से बर्तनेवाले ज्ञानी की योग्यता विशेष है। ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ; और ज्ञानी मुझे (अत्यन्त) प्रिय है। (१८) ये सभी भक्त उदार अर्थात् अच्छे हैं; परन्तु मेरा मत है, कि इनमें ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है। क्योंकि युक्तचित्त हो कर (सब की) उत्तमोत्तम गतिस्वरूप मुझ में ही वह ठहरा रहता है। (१९) अनेक जन्मों के अनन्तर यह अनुभव हो जाने से—कि "जो कुछ है, वह सब वासुदेव ही है"—ज्ञानवान् मुझे पा लेता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

[क्षर-अक्षर की दृष्टि से भगवान् ने अपने स्वरूप का यह ज्ञान बतला दिया, कि प्रकृति और पुरुष दोनों मेरे ही स्वरूप हैं; और चारों ओर मैं ही एकता से भरा हूँ। इसके साथ ही भगवान् ने ऊपर जो यह बतलाया है—कि इस स्वरूप की भक्ति करने से परमेश्वर की पहचान हो जाती है—उसके तात्पर्य को भली भाँति स्मरण रखना चाहिये। उपासना सभी को चाहिये। फिर चाहे व्यक्त की करो, चाहे अव्यक्त की। परन्तु व्यक्त की उपासना सुलभ होने के कारण यहाँ उसी का वर्णन है; और उसी का नाम भक्ति है। तथापि स्वार्थबुद्धि को मन में रख कर किसी विशेष हेतु के लिये परमेश्वर की भक्ति करना निम्नश्रेणी की भक्ति है। परमेश्वर का ज्ञान पाने के हेतु से भक्ति करनेवाले (जिज्ञासु) को भी सच्चा ही समझना चाहिये। क्योंकि उसकी जिज्ञासुत्व-अवस्था से ही व्यक्त होता है, कि अभी तक उसको परिपूर्ण ज्ञान नहीं हुआ। तथापि कहा है, कि ये सब भक्ति करनेवाले होने के कारण उदार अर्थात् अच्छे मार्ग से जानेवाले हैं (श्लो. १८)। पहले तीन श्लोकों का तात्पर्य है, कि ज्ञानप्राप्ति से कृतार्थ हो करके जिन्हें इस जगत् में कुछ करने अथवा पाने के लिये नहीं रह जाता (गी. ३. १७-१९), ऐसे ज्ञानी पुरुष निष्कामबुद्धि से जो भक्ति करते हैं (भाग. १. ७.

§ § कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥
अंतवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।

१०) वही सब में श्रेष्ठ है। प्रह्लाद-नारद आदि की भक्ति इसी श्रेष्ठ श्रेणी की है; और इसी से भागवत में भक्ति का लक्षण " भक्तियोग अर्थात् परमेश्वर की निर्हेतुक और निरन्तर भक्ति " माना है (भाग.३.२९.१२; और गीतार. प्र.१३ पृ.४०९–४१०) । १७ वें और १९ वें श्लोक के ' एकभक्तिः ' और ' वासुदेवः पद भागवतधर्म के हैं । और यह कहने में भी कोई क्षति नहीं, कि भक्तों का उक्त सभी वर्णन भागवतधर्म का ही है । क्योंकि महाभारत (शां. ३४१.३३–३५) में इस धर्म के वर्णन में चतुर्विध भक्तों का उल्लेख करते हुए कहा है, कि :—

चतुर्विधा मम जना भक्ता एवं हि मे श्रुतम् ।
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः ॥
अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम् ।
ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः ॥
सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक् ।

अनन्यदैवत और एकान्तिक भक्त जिस प्रकार निराशीः अर्थात् फलाशारहित कर्म करता है, उस प्रकार अन्य तीन भक्त नहीं करते। वे कुछ-न-कुछ हेतु मन में रख कर भक्ति करते हैं। इसी से वे तीनों च्यवनशील हैं; और एकान्ती प्रतिबुद्ध (जानकार) हैं। एवं आगे 'वासुदेव' शब्द की आध्यात्मिक व्युत्पत्ति यों की है :— " सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् "–मैं प्राणिमात्र में वास करता हूँ; इसी से मुझको वासुदेव कहते हैं (शां. ३४१.४०) । अब यह वर्णन करते हैं, कि यदि सर्वत्र एक ही परमेश्वर है, तो लोग भिन्न भिन्न देवताओं की उपासना क्यों करते हैं ? और ऐसे उपासकों को क्या फल मिलता है ? :—]

(२०) अपनी अपनी प्रकृति के नियमानुसार भिन्न भिन्न (स्वर्ग आदि फलों की) कामवासनाओं से पागल हुए लोग भिन्न भिन्न (उपासनाओं के) नियमों को पाल कर दूसरे देवताओं को भजते रहते हैं। (२१) जो भक्त जिस रूप की अर्थात् देवता की श्रद्धा से उपासना किया चाहता है, उसकी उसी श्रद्धा को मैं स्थिर कर देता हूँ। (२२) फिर उस श्रद्धा से युक्त होकर वह उस देवता की आराधना करने लगता है। एवं उसको मेरे ही निर्माण किये हुए कामफल मिलते हैं। (२३) परन्तु (इन) अल्पबुद्धि लोगों को मिलनेवाले ये फल नाशवान् हैं (मोक्ष के समान

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

§ § अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

स्थिर रहनेवाले नहीं हैं)। देवताओं को भजनेवाले उनके पास जाते हैं; और मेरे भक्त मेरे यहाँ आते हैं ।

[साधारण मनुष्यों की समझ होती है, कि यद्यपि परमेश्वर मोक्षदाता है, तथापि संसार के लिये आवश्यक अनेक इच्छित वस्तुओं को देने की शक्ति देवताओं में ही है; और उनकी प्राप्ति के लिये इन्हीं देवताओं की उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार जब यह समझ दृढ हो गई, कि देवताओं की उपासना करनी चाहिये; तब अपनी अपनी स्वाभाविक श्रद्धाके अनुसार (देखो गी. १७.१–६) कोई पीपल पूजते हैं, कोई किसी चबूतरे की पूजा करते हैं; और कोई किसी बड़ी भारी शिला को सिंदूर से रँग कर पूजते हैं। इस बात का वर्णन उक्त श्लोकों में सुन्दर रीति से किया गया है। इसमें ध्यान देने योग्य पहली बात यह है, कि भिन्न भिन्न देवताओं की आराधना से जो फल मिलता है, उसे आराधक समझते हैं, कि उसके देनेवाले वे ही देवता हैं। परन्तु पर्याय से वह परमेश्वर की पूजा हो जाती है (गी. ९. २३); और तात्त्विक दृष्टि से वह फल भी परमेश्वर ही दिया करता है(श्लो. २२)। यही नहीं, इस देवता का आराधन करने की बुद्धि भी मनुष्य के पूर्वकर्मानुसार परमेश्वर ही देता है(श्लो. २१)। क्योंकि इस जगत् में परमेश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वेदान्तसूत्र (३. २. ३८–४१) और उपनिषद् (कौषी. ३.८) में भी यही सिद्धान्त है। इन भिन्न भिन्न देवताओं की भक्ति करते करते बुद्धि स्थिर और शुद्ध हो जाती है; तथा अन्त में एक एवं नित्य परमेश्वर का ज्ञान होता है–– यही इन भिन्न भिन्न उपासनाओं का उपयोग है। परन्तु इससे पहले जो फल मिलते हैं, वे सभी अनित्य होते हैं। अतः भगवान् का उपदेश है, कि इन फलों की आशा में न उलझकर 'ज्ञानी' भक्त होने की उमङ्ग प्रत्येक मनुष्य को रखनी चाहिये। माना, कि भगवान् सब बातों के करनेवाले और फलों के दाता हैं। पर वे जिसके जैसे कर्म होंगे तदनुसार ही तो फल देंगे (गी. ४.११)। अतः तात्त्विक दृष्टि से यह भी कहा जाता है, कि वे स्वयं कुछ भी नहीं करते (गी. ५. १४)। गीतारहस्य के १० वें (पृ. २६७) और १३ वें प्रकरण (पृ. ४२६–४२७) में इस विषय का अधिक विवेचन है; उसे देखो। कुछ लोग यह भूल जाते हैं, कि देवताराधन का फल भी ईश्वर ही देता है; और वे प्रकृतिस्वभाव के अनुसार देवताओं की धुन में लग जाते हैं। अब ऊपर के इसी वर्णन का स्पष्टीकरण करते हैं :––]

(२४) अबुद्धि अर्थात् मूढ लोग मेरे श्रेष्ठ, उत्तमोत्तम और अव्यय रूप को न

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

जान कर मुझ अव्यक्त को व्यक्त हुआ मानते हैं ! (२५) मैं अपनी योगरूप माया से आच्छादित रहने के कारण सब को (अपने स्वरूप से) प्रगट नहीं देखता । मूढ लोग नहीं जानते, कि मैं अज और अव्यय हूँ ।

[अव्यक्त स्वरूप को छोड़ कर व्यक्त स्वरूप धारण कर लेने की युक्ति को योग कहते हैं (देखो गी. ४. ६; ७. १५; ९. ७)। वेदान्ती लोग इसी को माया कहते हैं। इस योगमाया से ढँका हुआ परमेश्वर व्यक्तस्वरूपधारी होता है। सारांश--इस श्लोक का भावार्थ यह है, कि व्यक्तसृष्टि मायिक अथवा अनित्य है; और अव्यक्त परमेश्वर सच्चा या नित्य है। परन्तु कुछ लोग इस स्थान पर और अन्य स्थानों पर भी 'माया' का 'अलौकिक' अथवा 'विलक्षण' अर्थ मान कर प्रतिपादन करते हैं, कि यह माया मिथ्या नहीं--परमेश्वर के समान ही नित्य है। गीतारहस्य के नौवें प्रकरण में माया के स्वरूप का विस्तारसहित विचार किया है। इस कारण यहाँ इतना ही कह देते हैं, कि यह बात अद्वैत वेदान्त को भी मान्य है, कि माया परमेश्वर की ही कोई विलक्षण और अनादि लीला है। क्योंकि, माया यद्यपि इन्द्रियों का उत्पन्न किया हुआ दृश्य है, तथापि इन्द्रियाँ भी परमेश्वर की ही सत्ता से यह काम करती हैं। अतएव अन्त में इस माया को परमेश्वर की लीला ही कहना पड़ता है। वाद है केवल इसके तत्त्वतः सत्य या मिथ्या होने में। सो उक्त श्लोकों से प्रगट होता है, कि इस विषय में अद्वैत वेदान्त के समान ही गीता का भी यही सिद्धान्त है, कि जिस नामरूपात्मक माया से अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त माना जाता है, वह माया--फिर चाहे उसे अलौकिक शक्ति कहो या और कुछ--'अज्ञान' से उपजी हुई दिखाऊ वस्तु या 'मोह' है; सत्य परमेश्वरतत्त्व इससे पृथक् है। यदि ऐसा न हो, तो 'अबुद्धि' और 'मूढ' शब्दों के प्रयोग करने का कोई कारण नहीं देख पड़ता। सारांश, माया सत्य नहीं--सत्य है एक परमेश्वर ही। किन्तु गीता का कथन है, कि इस माया में भूले रहने से लोग अनेक देवताओं के फन्दे में पड़े रहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (१.४.१०) में इसी प्रकार का वर्णन है। वहाँ कहा है, कि जो लोग आत्मा और ब्रह्म को एक ही न जान कर भेदभाव से भिन्न भिन्न देवताओं के फंदे में पड़े रहते हैं, वे 'देवताओं के पशु' हैं--अर्थात् गाय आदि पशुओं से जैसे मनुष्य को फ़ायदा होता है, वैसे ही इन अज्ञानी भक्तों से सिर्फ़ देवताओं का ही फ़ायदा है। उनके भक्तों को मोक्ष नहीं मिलता। माया में उलझ कर भेदभाव से अनेक देवताओं की उपासना करनेवालों का वर्णन हो चुका। अब बतलाते हैं, कि इस माया से धीरे धीरे छुटकारा क्योंकर होता है ? :--]

(२६) हे अर्जुन ! भूत, वर्तमान और भविष्यत् (जो हो चुके हैं उन्हें, मौजूद और आगे होनेवाले) सभी प्राणियों को मैं जानता हूँ। परन्तु मुझे कोई भी नहीं जानता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥
§ § जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

---

(२७) क्योंकि हे भारत ! (इन्द्रियों के) इच्छा और द्वेष से उपजनेवाले (सुखदुःख आदि) द्वन्द्वों के मोह से इस सृष्टि में समस्त प्राणी, हे परन्तप ! भ्रम में फँस जाते हैं। (२८) परन्तु जिन पुण्यात्माओं के पाप का अन्त हो गया है, वे (सुखदुःख आदि) द्वन्द्वों के मोह से छूट कर दृढव्रत हो करके मेरी भक्ति करते हैं।

[इस प्रकार माया से छुटकारा हो चुकने पर आगे उनकी जो स्थिति होती है, उसका वर्णन करते हैं :—]

(२९) (इस प्रकार) जो मेरा आश्रय कर जरामरण अर्थात् पुनर्जन्म के चक्कर से छूटने के लिये प्रयत्न करते हैं, वे (सब) ब्रह्म, (सब) अध्यात्म और सब कर्म को जान लेते हैं। (३०) और अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञसहित (अर्थात् इस प्रकार, कि मैं ही सब हूँ) जो मुझे जानते हैं, वे युक्तचित्त (होने के कारण) मरणकाल में भी मुझे जानते हैं।

[अगले अध्याय में अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ का निरूपण किया है। धर्मशास्त्र का और उपनिषदों का सिद्धान्त है, कि मरणकाल में मनुष्य के मन में जो वासना प्रबल रहती है, उसके अनुसार उसे आगे जन्म मिलता है। इस सिद्धान्त को लक्ष्य करके अन्तिम श्लोक में "मरणकाल में भी" शब्द हैं; तथापि उक्त श्लोक के 'भी' पद से स्पष्ट होता है, कि मरने से प्रथम परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान हुए बिना केवल अन्तकाल में ही यह ज्ञान नहीं हो सकता (देखो गी. २. ७२)। विशेष विवरण अगले अध्याय में है। कह सकते हैं, कि इन दो श्लोकों में अधिभूत आदि शब्दों से आगे के अध्याय की प्रस्तावना ही की गई है।]

इस प्रकार श्री भगवान् के गाये हुए—अर्थात् कहे हुए—उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में ज्ञानविज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

आठवाँ अध्याय ।

[इस अध्याय में कर्मयोग के अन्तर्गत ज्ञानविज्ञान का ही निरूपण हो रहा है; और पिछले अध्याय में ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ, ये जो परमेश्वर के स्वरूप के विविध भेद कहे हैं, पहले उनका अर्थ बतलाकर विवेचन किया है, कि उनमें क्या तथ्य है ? परन्तु यह विवेचन इन शब्दों की केवल व्याख्या करके अर्थात् अत्यन्त संक्षिप्त रीति से किया गया है। अतः यहाँ पर उक्त विषय का कुछ अधिक खुलासा कर देना आवश्यक है। बाह्यसृष्टि के अवलोकन से उसके कर्ता की कल्पना अनेक लोग अनेक रीतियों से किया करते हैं। १–कोई कहते हैं, कि सृष्टि के सब पदार्थ पञ्चमहाभूतों के ही विकार हैं; और इन पञ्चमहाभूतों को छोड़ मूल में दूसरा कोई भी तत्त्व नहीं है। २–दूसरे कुछ लोग (जैसा कि गीता के चौथे अध्याय में वर्णन है) यह प्रतिपादन करते हैं, कि यह समस्त जगत् यज्ञ से हुआ है; और परमेश्वर यज्ञनारायणरूपी है। यज्ञ से ही उसकी पूजा होती है। ३–और कुछ लोगों का कहना है, कि स्वयं जड़ पदार्थ सृष्टि के व्यापार नहीं करते; किन्तु उनमें से प्रत्येक में कोई-न-कोई सचेतन पुरुष या देवता रहते हैं; जो कि इन व्यवहारों को किया करते हैं। और इसीलिये हमें उन देवताओं की आराधना करनी चाहिये। उदाहरणार्थ, जड़ पाँचभौतिक सूर्य के गोले में सूर्य नाम का जो पुरुष है, वही प्रकाश देने वगैरह का काम किया करता ह; अतएव वही उपास्य है। ४–चौथे पक्ष का कथन है, कि प्रत्येक पदार्थ में उस पदार्थ से भिन्न किसी देवता का निवास मानना ठीक नहीं है। जैसे मनुष्य के शरीर में आत्मा है, वैसे ही प्रत्येक वस्तु में उसी वस्तु का कुछ-न-कुछ सूक्ष्मरूप अर्थात् आत्मा के समान सूक्ष्म शक्ति वास करती है। वही उसका मूल और सच्चा स्वरूप है। उदाहरणार्थ, पंच स्थूलमहाभूतों में पंच सूक्ष्म तन्मात्राएँ और हाथपैर आदि स्थूल इन्द्रियों में सूक्ष्म इन्द्रियाँ मूलभूत रहती हैं। इसी चौथे तत्त्व पर सांख्यों का यह मत भी अवलम्बित है, कि प्रत्येक मनुष्य का आत्मा भी पृथक् पृथक् है; और पुरुष असंख्य हैं। परन्तु जान पड़ता है, कि यहाँ इस सांख्य मत का 'अधिदेह' वर्ग में समावेश किया गया है। उक्त चार पक्षों को ही क्रम से अधिभूत, अधियज्ञ, अधिदैवत और अध्यात्म कहते हैं। किसी भी शब्द के पीछे 'अधि' उपसर्ग रहने से यह अर्थ होता है—'तमधिकृत्य,' 'तद्विषयक,' 'उस सम्बन्ध का' या "उसमें रहनेवाला'। इस अर्थ के अनुसार अधिदैवत अनेक देवताओं मे रहनेवाला तत्त्व है। साधारणतया अध्यात्म उस शास्त्र को कहते हैं, जो यह प्रतिपादन करता है, कि सर्वत्र एक ही आत्मा है। किन्तु यह अर्थ सिद्धान्तपक्ष का है। अर्थात् पूर्वपक्ष के इस कथन की जाँच करके "अनेक वस्तुओं या मनुष्यों में भी अनेक आत्मा हैं" वेदान्तशास्त्र ने आत्मा की एकता के सिद्धान्त को ही निश्चित कर दिया है। अतः पूर्वपक्ष का जब विचार करना होता है, तब माना जाता है, कि प्रत्येक पदार्थ का सूक्ष्म स्वरूप या आत्मा पृथक् पृथक् है; और यहाँ पर अध्यात्म शब्द

अष्टमोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।

से यही अर्थ अभिप्रेत है । महाभारत में मनुष्य को इन्द्रियों का उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया है, कि अध्यातम, अधिदैवत और अधिभूत-दृष्टि से एक ही विवेचन के इस प्रकार भिन्न भिन्न भेद क्योंकर होते हैं ? (देखो म. भा. शां. ३१३; और अश्व. ४१) । महाभारतकार कहते हैं, कि मनुष्य की इन्द्रियों का विवेचन तीन तरह से किया जा सकता है । जैसे--अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवत । इन इन्द्रियों के द्वारा जो विषय ग्रहण किये जाते हैं--उदाहरणार्थ, हाथों से जो लिया जाता है, कानों से जो सुना जाता है, आँखों से जो देखा जाता है और मन से जिसका चिन्तन किया जाता है--वे सब अधिभूत हैं; और हाथपैर आदि के (सांख्यशास्त्रोक्त) सूक्ष्म स्वभाव अर्थात् सूक्ष्म इन्द्रियाँ इन इन्द्रियों के अध्यातम हैं । परन्तु इन दोनों दृष्टियों को छोड़ कर अधिदैवतदृष्टि से विचार करने पर--अर्थात् यह मान करके, कि हाथों के देवता इन्द्र, पैरों के विष्णु, गुद के मित्र, उपस्थ के प्रजापति, वाणी के अग्नि, आँखों के सूर्य, कानों के आकाश अथवा दिशा, जीभ के जल, नाक के पृथ्वी, त्वचा के वायु, मन के चन्द्रमा, अहंकार के बुद्धि और बुद्धि के देवता पुरुष हैं--कहा जाता है, कि येही देवता लोग अपनी-अपनी इन्द्रियों के व्यापार किया करते हैं । उपनिषदों में भी उपासना के लिये ब्रह्म-स्वरूप के जो प्रतीक वर्णित हैं, उनमें मन को अध्यातम और सूर्य अथवा आकाश को अधिदैवत प्रतीक कहा है (छां. ३. १८. १) । अध्यातम और अधिदैवत का यह भेद केवल उपासना के लिये ही नहीं किया गया है; बल्कि अब इस प्रश्न का निर्णय करना पड़ा, कि वाणी, चक्षु और श्रोत्र प्रभृति इंद्रियों एवं प्राणों में श्रेष्ठ कौन है ? तब उपनिषदों में भी (बृ. १.५. २१–२३; छां. १. २, ३; कौषी.४.१२.१३) एक बार वाणी, चक्षु और श्रोत्र इन सूक्ष्म इन्द्रियों को ले कर अध्यात्मदृष्टि से विचार किया गया है; तथा दूसरी बार उन्हीं इन्द्रियों के देवता अग्नि, सूर्य और आकाश को ले कर अधिदैवतदृष्टि से विचार किया गया है । सारांश यह है, कि अधिदैवत, अधि-भूत और अध्यातम आदि भेद प्राचीन काल से चले आ रहे हैं; और यह प्रश्न भी इसी ज़माने का है, कि परमेश्वर के स्वरूप की इन भिन्न भिन्न कल्पनाओं में से सच्ची कौन है ? तथा उसका तथ्य क्या है ? बृहदारण्यक उपनिषद् (३. ७) में याज्ञवल्क्य ने उद्दालक आरुणि से कहा है, कि सब प्राणियों में, सब देवताओं में, समग्र अध्यातम में, सब लोगों में, सब यज्ञों में और सब देहों में व्याप्त होकर उनके न समझने पर भी उनको नचानेवाला एक ही परमात्मा है । उपनिषदों का यही सिद्धान्त वेदान्तसूत्र के अन्तर्यामी अधिकरण में है (वे. सू. १. २. १८–२०) । वहाँ भी सिद्ध किया है, कि सब के अंतःकरण में रहनेवाला यह तत्त्व सांख्यों की प्रकृति

अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

या जीवात्मा नहीं है; किन्तु परमात्मा है। इसी सिद्धान्त के अनुरोध से भगवान् अब अर्जुन से कहते हैं, कि मनुष्य की देह में, सब प्राणियों में (अधिभूत), सब यज्ञों में (अधियज्ञ), सब देवताओं में (अधिदैवत), सब कर्मों में और सब वस्तुओं के सूक्ष्म स्वरूप (अर्थात् अध्यात्म) में एक ही परमेश्वर समाया हुआ है-- यज्ञ इत्यादि नानात्व अथवा विविध ज्ञान सच्चा नहीं है। सातवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने अधिभूत आदि जिन शब्दों का उच्चारण किया है, उनका अर्थ जानने की अर्जुन को इच्छा हुई। अतः वह पहले पूछता है :--]

अर्जुन ने कहा :--(१) हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म के मानी क्या है ? अधिभूत किसे कहना चाहिये ? और अधिदैवत किसको कहते हैं ? (२) अधियज्ञ कैसा होता है ? हे मधुसूदन ! इस देह में (अधिदेह) कौन है ? और अन्तकाल में इन्द्रियनिग्रह करनेवाले लोग तुमको कैसे पहचानते हैं ?

[ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत और अधियज्ञ शब्द पिछले अध्याय में आ चुके हैं। इनके सिवा अब अर्जुन ने यह नया प्रश्न किया है, कि अधिदेह कौन है ? इस पर ध्यान देने से आगे के उत्तर का अर्थ समझने में कोई अड़चन न होगी।]

श्रीभगवान् न कहा :--(३) (सब से) परम अक्षर अर्थात् कभी भी नष्ट न होनेवाला तत्त्व ब्रह्म है, (और) प्रत्येक वस्तु का मूलभाव (स्वभाव) अध्यात्म कहा जाता है। (अक्षरब्रह्म से) भूतमात्रादि (चर-अचर) पदार्थों की उत्पत्ति करनेवाला विसर्ग अर्थात् सृष्टिव्यापार कर्म है। (४) (उपजे हुए सब प्राणियों की) क्षर अर्थात् नामरूपात्मक नाशवान् स्थिति अधिभूत है; और (इस पदार्थ में) जो पुरुष अर्थात् सचेतन अधिष्ठाता है; वही अधिदैवत है। (जिसे) अधियज्ञ (सब यज्ञों का अधिपति कहते हैं, वह) मैं ही हूँ। हे देहधारियों में श्रेष्ठ ! मैं इस देह में (अधिदेह) हूँ।

§ § अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

[तीसरे श्लोक का 'परम' शब्द ब्रह्म का विशेषण नहीं है; किन्तु अक्षर का विशेषण है। सांख्यशास्त्र में अव्यक्तप्रकृति को भी 'अक्षर' कहा है (गी. १५. १६)। परन्तु वेदान्तियों का ब्रह्म इस अव्यक्त और अक्षर प्रकृति के भी परे का है (इसी अध्याय का २० वाँ और ३१ वाँ श्लोक देखो); और इसी कारण अकेले 'अक्षर' शब्द के प्रयोग से सांख्यों की प्रकृति अथवा ब्रह्म दोनों अर्थ हो सकते हैं। इसी सन्देह को मेटने के लिये 'अक्षर' शब्द के आगे 'परम' विशेषण रख कर ब्रह्म की व्याख्या की है (देखो गीतार. प्र. ६, पृ. २०१-२०२)। हमने 'स्वभाव' शब्द का अर्थ महाभारत में दिये हुए उदाहरणों के अनुसार किसी भी पदार्थ का 'सूक्ष्मस्वरूप' किया है। नासदीय सूक्त में दृश्य जगत् को परब्रह्म की विसृष्टि (विसर्ग) कहा है (गी. र. प्र. ६, पृ. २५४); और विसर्ग शब्द का वही अर्थ यहाँ लेना चाहिये। विसर्ग का अर्थ 'यज्ञ का हविरुत्सर्ग' करने की कोई जरूरत नहीं है। गीतारहस्य में दसवें प्रकरण (पृ. २६२) में विस्तृत विवेचन किया गया है, कि इस दृश्यसृष्टि को ही कर्म क्यों कहते हैं? पदार्थमात्र के नामरूपात्मक विनाशी स्वरूप को 'क्षर' कहते हैं; और इससे परे जो अक्षर तत्त्व है, उसी को ब्रह्म समझना चाहिये। 'पुरुष' शब्द से सूर्य का पुरुष, जल का देवता या वरुणपुरुष इत्यादि सचेतन सूक्ष्म देहधारी देवता विवक्षित हैं; और हिरण्यगर्भ का भी उसमें समावेश होता है। यहाँ भगवान् ने 'अधियज्ञ' शब्द की व्याख्या नहीं की। क्योंकि, यज्ञ के विषय में तीसरे और चौथे अध्यायों में विस्तारसहित वर्णन हो चुका है। और फिर आगे भी कहा है, कि "सब यज्ञों का प्रभु और भोक्ता मैं ही हूँ" (देखो गी. ६. २४; ५. २६; और म. भा. शां. ३४०)। इस प्रकार अध्यात्म आदि के लक्षण बतला कर अन्त में संक्षेप से कह दिया है, कि इस देह में 'अधियज्ञ' मैं ही हूँ—अर्थात् मनुष्यदेह में अधिदैव और अधियज्ञ भी मैं हूँ। प्रत्येक देह में पृथक् पृथक् आत्मा (पुरुष) मान कर सांख्यवादी कहते हैं, कि वे असंख्य हैं। परन्तु वेदान्तशास्त्र को यह मत मान्य नहीं है। उसने निश्चय किया है, कि यद्यपि देह अनेक हैं तथापि आत्मा सब में एक ही है (गीतार. प्र. ७, पृ. १६५-१६६)। 'अधिदेह में ही हूँ' इस वाक्य में यही सिद्धान्त दर्शाया है; तो भी इस वाक्य के "मैं ही हूँ" शब्द केवल अधियज्ञ अथवा अधिदेह को ही उद्देश करके प्रयुक्त नहीं हैं; उनका सम्बन्ध अध्यात्म आदि पूर्वपदों से भी है। अतः समग्र अर्थ ऐसा होता है, कि अनेक प्रकार के यज्ञ, अनेक पदार्थों के अनेक देवता, विनाशवान् पंचमहाभूत, पदार्थमात्र के सूक्ष्म भाग अथवा विभिन्न आत्मा, ब्रह्म, कर्म अथवा भिन्न भिन्न मनुष्यों की देह—इन सब में 'मैं ही हूँ।' अर्थात् सब में एक ही परमेश्वरतत्त्व है। कुछ लोगों का कथन है, कि यहाँ 'अधिदेह' स्वरूप

य: प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय: ।। ५ ।।
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावित: ।। ६ ।।

का स्वतंत्र वर्णन नहीं है; अधियज्ञ की व्याख्या करने में अधिदेह का पर्याय से उल्लेख हो गया है। किन्तु हमें यह अर्थ ठीक नहीं जान पड़ता। क्योंकि न केवल गीता में ही, प्रत्युत उपनिषदों और वेदान्तसूत्रों में भी (बृ. ३.७; वे. सू. १.२.२०) जहाँ यह विषय आया है, वहाँ अधिभूत आदि स्वरूपों के साथ ही साथ शारीर आत्मा का भी विचार किया है; और सिद्धान्त किया है, कि सर्व एक ही परमात्मा है। ऐसे ही गीता में जब कि अधिदेह के विषय में पहले ही प्रश्न हो चुका है, तब यहाँ उसी के पृथक् उल्लेख को विवक्षित मानना युक्तिसंगत है। यदि यह सच है, कि सब कुछ परब्रह्म ही है; तो पहलेपहल ऐसा बोध होना सम्भव है, कि उसके अधिभूत आदि स्वरूपों का वर्णन करते समय उसमें परब्रह्म को भी शामिल कर लेने की कोई जरूरत न थी। परन्तु नानात्वदर्शक यह वर्णन उन लोगों को लक्ष्य करके किया गया है, कि जो ब्रह्म, आत्मा, देवता और यज्ञ-नारायण आदि अनेक भेद करके नाना प्रकार की उपासनाओं में उलझे रहते हैं। अतएव पहले वे लक्षण बतलाये गये हैं, कि जो उन लोगों की समझ के अनुसार होते हैं। और फिर सिद्धान्त किया गया है, कि "यह सब मैं ही हूँ"। उक्त बात पर ध्यान देने से कोई भी शंका नहीं रह जाती। अस्तु; इस भेद का तत्त्व बतला दिया गया, कि उपासना के लिये अधिभूत, अधिदैवत, अध्यात्म, अधियज्ञ और अधिदेह प्रभृति अनेक भेद करनेपर भी यह नानात्व सच्चा नहीं है। वास्तव में एक ही परमेश्वर सब में व्याप्त है। अब अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हैं, कि अन्तकाल में सर्वव्यापी भगवान् कैसे पहचाना जाता है? :—]

(५) और अन्तकाल में जो मेरा स्मरण करता हुआ देह त्यागता है, वह मेरे स्वरूप में निःसन्देह मिल जाता है। (६) अथवा हे कौन्तेय! सदा जन्मभर उसी में रँगे रहने से मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर त्यागता है, वह उसी भाव में जा मिलता है।

[पाँचवें श्लोक में मरणसमय में परमेश्वर के स्मरण करने की आवश्यकता और फल बतलाया है। सम्भव है, इसमें कोई यह समझ ले, कि केवल मरण-काल में यह स्मरण करने से ही काम चल जाता है। इसी हेतु से छठे श्लोक में यह बतलाया है, कि जो बात जन्मभर मन में रहती है, वह मरणकाल में भी नहीं छूटती। अतएव न केवल मरणकाल में, प्रत्युत जन्मभर परमेश्वर का स्मरण और उपासना करने की आवश्यकता है (गीतार. प्र.१०, पृ.२८८)। इस सिद्धान्त को मान लेने से आप ही सिद्ध हो जाता है, कि अन्तकाल में परमेश्वर को भजनेवाले परमेश्वर को पाते हैं; और देवताओं का स्मरण करनेवाले देवताओं

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ८ ॥
§ § कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिंत्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

को पाते हैं (गी. ७. २३; ८. १३ और ९. २५)। क्योंकि, छान्दोग्य उपनिषद् के कथनानुसार " यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति " (छां. ३. १४. १)–इसी श्लोक में मनुष्य का जैसा क्रतु अर्थात् संकल्प होता है, मरने पर उसे वैसी ही गति मिलती है। छांदोग्य के समान और उपनिषदों में भी ऐसे ही वाक्य हैं (प्र. ३. १०; मैत्र्यु. ४. ६)। परन्तु गीता अब यह कहती है, कि जन्मभर एक ही भावना से मन को रँगे बिना अंतकाल की यातना के समय वही भावना स्थिर नहीं रह सकती। अतएव आमरणान्त (जिन्दगी भर) परमेश्वर का ध्यान करना आवश्यक है (वे. सू. ४. १. १२)––इस सिद्धान्त के अनुसार अर्जुन से भगवान् कहते हैं, कि :––]

(७) इसलिये सर्वकाल––सदैव ही––स्मरण करता रह; और युद्ध कर। मुझमें मन और बुद्धि अर्पण करने से (युद्ध करनेपर भी) मुझमें ही निःसन्देह आ मिलेगा। (८) हे पार्थ ! चित्त को दूसरी ओर न जाने देकर अभ्यास की सहायता से उसको स्थिर करके दिव्य परम पुरुष का ध्यान करते रहने से मनुष्य उसी पुरुष में जा मिलता है।

[जो लोग भगवद्गीता में इस विषय का प्रतिपादन बतलाते हैं, कि संसार को छोड़ दो; और केवल भक्ति का ही अवलम्ब करो, उन्हें सातवें श्लोक के सिद्धान्त की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। मोक्ष तो परमेश्वर की ज्ञानयुक्त भक्ति से मिलता है। और यह निर्विवाद है, कि मरणसमय में भी उसी भक्ति के स्थिर रहने के लिये जन्मभर वही अभ्यास करना चाहिये। गीता का यह अभिप्राय नहीं, कि इसके लिये कर्मों को छोड़ देना चाहिये। इसके विरुद्ध गीताशास्त्र का सिद्धान्त है, कि भगवद्भक्त को स्वधर्म के अनुसार जो कर्म प्राप्त होते जायँ, उन सब को निष्कामबुद्धि से करते रहना चाहिये। और उसी सिद्धान्त को इन शब्दों से व्यक्त किया है, कि " मेरा सदैव चिन्तन कर; और युद्ध कर "। अब बतलाते हैं, कि परमेश्वरार्पणबुद्धि से जन्मभर निष्काम कर्म करनेवाले कर्मयोगी अन्तकाल में भी दिव्य परमपुरुष का चिन्तन किस प्रकार से करते हैं ? :––]

(९–१०) जो (मनुष्य) अन्तकाल में (इन्द्रियनिग्रहरूप) योग के सामर्थ्य से भक्तियुक्त हो कर मन को स्थिर करके दोनों भौहों के बीच में प्राण को भली भाँति रख कर कवि अर्थात् सर्वज्ञ, पुरातन, शास्ता, अणु से भी छोटे, सब के धाता

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

§ § अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।

अर्थात् आधार या कर्ता, अचिन्त्यस्वरूप और अन्धकार से परे सूर्य के समान देदीप्यमान् पुरुष का स्मरण करता है, वह (मनुष्य) उसी दिव्य परमपुरुष में जा मिलता है। (११) वेद के जाननेवाले जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग हो कर यति लोग जिसमें प्रवेश करते हैं; और जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करते हैं, वह पद अर्थात् ॐकार ब्रह्म तुझे संक्षेप से बतलाता हूँ । (१२) सब (इन्द्रियरूपी) द्वारों का संयम कर और मन का हृदय में निरोध करके (एवं) मस्तक में प्राण ले जा कर समाधियोग में स्थित होनेवाला, (१३) इस एकाक्षर ब्रह्म ॐ का जप और मेरा स्मरण करता हुआ जो (मनुष्य) देह छोड़ कर जाता है, उसे उत्तम गति मिलती है ।

[श्लोक ९–११ में परमेश्वर के स्वरूप का जो वर्णन है, वह उपनिषदों से लिया गया है। नौवें श्लोक का "अणोरणीयान्" पद और अन्त का चरण श्वेताश्वतर उपनिषद् का है (श्वे. ३. ८ और ९)। एवं ग्यारहवें श्लोक का पूर्वार्ध अर्थतः और उतरार्ध शब्दशः कठ उपनिषद् का है (कठ. २. १५)। कठ उपनिषद् में " तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि " इस चरण के आगे " ओमित्येतत् " स्पष्ट कहा गया है। इससे प्रगट होता है, कि ११ वें श्लोक के 'अक्षर' और 'पद' शब्दों का अर्थ ॐ वर्णाक्षररूपी ब्रह्म अथवा ॐ शब्द लेना चाहिये । और १३ वें श्लोक से भी प्रगट होता है, कि यहाँ ॐकारोपासना ही उद्दिष्ट है (देखो प्रश्न. ५)। तथापि यह नहीं कह सकते, कि भगवान् के मन में ' अक्षर ' = अविनाशी ब्रह्म; और 'पद' = परम स्थान, ये अर्थ भी न होंगे। क्योंकि, ॐ वर्णमाला का एक अक्षर है। इसके सिवा यह कहा जा सकेगा, कि वह ब्रह्म के प्रतीक के नाते अविनाशी भी है (२१ वाँ श्लोक देखो)। इसलिये ११ वें श्लोक के अनुवाद में ' अक्षर ' और ' पद ' ये दुहरे अर्थवाले मूलशब्द ही हमने रख लिये हैं। अब इस उपासना से मिलनेवाली उत्तम गति का अधिक निरूपण करते हैं :—]

(१४) हे पार्थ ! अनन्यभाव से सदा-सर्वदा जो मेरा नित्य स्मरण करता

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौंतेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥
§ § सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रांतां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

रहता है, उस नित्ययुक्त (कर्म) योगी को मेरी प्राप्ति सुलभ रीति से होती है । (१५) मुझमें मिल जाने पर परमसिद्धि पाये हुए महात्मा उस पुनर्जन्म को नहीं पाते, कि जो दुःखों का घर है; और अशाश्वत है । (१६)हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक (स्वर्ग आदि) जितने लोक हैं, वहाँ से (कभी न कभी इस लोक में) पुनरावर्तन अर्थात् लौटना (पड़ता) है। परन्तु हे कौन्तेय ! मुझमें मिल जाने से पुनर्जन्म नहीं होता।

[सोलहवें श्लोक के 'पुनरावर्तन' शब्द का अर्थ पुण्य चुक जाने पर भूलोक में लौट आना है (देखो गी. ९. २१; म. भा. वन. २६०)। यज्ञ, देवताराधन और वेदाध्ययन प्रभृति कर्मों से यद्यपि इन्द्रलोक, वरुणलोक, सूर्यलोक और हुआ तो ब्रह्मलोक प्राप्त हो जावे; तथापि पुण्यांश के समाप्त होते ही वहाँ से फिर इस लोक में जन्म लेना पड़ता है (बृ. ४. ४. ६.)। अथवा अन्ततः ब्रह्मलोक का नाश हो जाने पर पुनर्जन्मचक्र में तो जरूर ही गिरना पड़ता है । अतएव उक्त श्लोक का भावार्थ यह है, कि ऊपर लिखी हुई सब गतियाँ कम दर्जे की हैं; और परमेश्वर के ज्ञान से ही पुनर्जन्म नष्ट होता है । इस कारण वही गति सर्वश्रेष्ठ है (गी. ६. २०, २१) । अन्त में जो यह कहा है, कि ब्रह्मलोक की प्राप्ति भी अनित्य है; उसके समर्थन में बतलाते हैं, कि ब्रह्मलोक तक समस्त सृष्टि की उत्पत्ति और लय वारंवार कैसे होता रहता है ? :—]

(१७)अहोरात्र को (तत्त्वतः) जाननेवाले पुरुष समझते हैं, कि (कृत, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगों का एक महायुग होता है; और ऐसे) हजार (महा-) युगों का समय ब्रह्मदेव का एक दिन है; और (ऐसे) ही हजार युगों की (उसकी) एक रात्रि है ।

[यह श्लोक इससे पहले के युगमान का हिसाब न देकर गीता में आया है । इसका अर्थ अन्यत्र बतलाये हुए हिसाब से करना चाहिये । यह हिसाब और गीता का यह श्लोक भी भारत (शां. २३१. ३१) और मनुस्मृति (१. ७३) में हैं; तथा यास्क के निरुक्त में भी यही अर्थ वर्णित है (निरुक्त. १४. ९) । ब्रह्मदेव के दिन को ही कल्प कहते हैं । अगले श्लोक में अव्यक्त का अर्थ सांख्यशास्त्र की अव्यक्त प्रकृति है । अव्यक्त का अर्थ परब्रह्म नहीं है । क्योंकि २० वें श्लोक में स्पष्ट बतला दिया है, कि ब्रह्मरूपी अव्यक्त १८ वें श्लोक में वर्णित अव्यक्त से परे

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥
§ § परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

का और भिन्न है । गीतारहस्य के आठवें प्रकरण (पृ. १९३ में) इसका पूरा खुलासा है, कि अव्यक्त से व्यक्तसृष्टि कैसे होती है ? और कल्प के कालमान का हिसाब भी वहीं लिखा है ।]

(१८) (ब्रह्मदेव के) दिन का आरम्भ होने पर अव्यक्त से सब व्यक्त (पदार्थ) निर्मित होते हैं । और रात्रि होने पर उसी पूर्वोक्त अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । (१९) हे पार्थ ! भूतों का यही समुदाय (इस प्रकार) बार बार उत्पन्न होकर अवश होता हुआ—अर्थात् इच्छा हो या न हो—रात होते ही लीन हो जाता है; और दिन होने पर (फिर) जन्म लेता है ।

[अर्थात् पुण्यकर्मों से नित्य ब्रह्मलोकवास प्राप्त भी हो जाय, तो भी प्रलयकाल में ब्रह्मलोक ही नाश हो जाने से फिर नये कल्प के आरम्भ में प्राणियों का जन्म लेना नहीं छूटता । इससे बचने के लिये जो एक ही मार्ग है, उसे बतलाते हैं :—]

(२०) किन्तु इस ऊपर बतलाये हुए अव्यक्त से परे दूसरा सनातन अव्यक्त पदार्थ है, कि जो सब भूतों के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता, (२१) जिस अव्यक्त को ' अक्षर' (भी) कहते हैं, जो परम अर्थात् उत्कृष्ट या अन्त की गति कहा जाता है (और) जिसे पाकर फिर (जन्म में) लौटते नहीं हैं, (वही) मेरा परम स्थान है । (२२) हे पार्थ ! जिसके भीतर (सब) भूत हैं; और जिसने इस सब को फैलाया अथवा व्याप्त कर रखा है, वह पर अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष अनन्यभक्ति से ही प्राप्त होता ह ।

[बीसवाँ और इक्कीसवाँ श्लोक मिल कर एक वाक्य बना है । २० वें श्लोक का 'अव्यक्त' शब्द पहले सांख्यों की प्रकृति को—अर्थात् १८ वें श्लोक के अव्यक्त द्रव्य को लक्ष्य करके प्रयुक्त है; और आगे वही शब्द सांख्यों की प्रकृति से परे परब्रह्म के लिये भी उपयुक्त हुआ है; तथा २१ वें श्लोक में कहा है, कि इसी दूसरे अव्यक्त को 'अक्षर' भी कहते हैं। अध्याय के आरम्भ में भी "अक्षर

§ § यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

ब्रह्म परमं" यह वर्णन है। सारांश, 'अव्यक्त' शब्द के समान ही गीता में 'अक्षर' शब्द का भी दो प्रकार से उपयोग किया गया है। कुछ यह नहीं, कि सांख्यों की प्रकृति ही अव्यक्त और अक्षर है; किन्तु परमेश्वर या ब्रह्म भी, कि जो "सब भूतों का नाश हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता" अव्यक्त तथा अक्षर है। पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम के लक्षण बतलाते हुए जो यह वर्णन है, कि वह क्षर और अक्षर से परे का है, उससे प्रगट है, कि वहाँ का 'अक्षर' शब्द सांख्यों की प्रकृति के लिये उद्दिष्ट है (देखो गीता. १५.१६–१८)। ध्यान रहे, कि 'अव्यक्त' और 'अक्षर' दोनों विशेषणों का प्रयोग गीता में कभी सांख्यों की प्रकृति के लिये और कभी प्रकृति से परे परब्रह्म के लिये किया गया है (देखो गीतार. प्र. ९, पृ. २०१ और २०२)। व्यक्त और अव्यक्त से परे जो परब्रह्म है, उसका स्वरूप गीतारहस्य के नौवें प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है। उस 'अक्षरब्रह्म' का वर्णन हो चुका, कि जिस स्थान में पहुँच जाने से मनुष्य पुनर्जन्म की सपेट से छूट जाता है। अब मरने पर जिन्हें लौटना नहीं पड़ता (अनावृत्ति); और जिन्हें स्वर्ग से लौट कर जन्म लेना पड़ता है (आवृत्ति) उनके बीज के समय का और गति का भेद बदलाते हैं :—]

(२३) हे भरतश्रेष्ठ ! अब तुझे मैं वह काल बतलाता हूँ, कि जिस काल में (कर्म-) योगी मरने पर (इस लोक में जन्मने के लिये) लौट नहीं आते; और (जिस काल में मरने पर) लौट आते हैं। (२४) अग्नि, ज्योति अर्थात् ज्वाला, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीनों में मरे हुए ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्म को पाते हैं (लौट कर नहीं आते)। (२५) (अग्नि), धुआँ, रात्रि, कृष्णपक्ष (और) दक्षिणायन के छः महीनों में मरा हुआ (कर्म-) योगी चन्द्र के तेज में अर्थात् चंद्रलोक में जा कर (पुण्यांश घटने पर) लौट आता है। (२६) इस प्रकार जगत् की शुक्ल और कृष्ण अर्थात् प्रकाशमय और अन्धकारमय दो शाश्वत गतियाँ यानी स्थिर मार्ग हैं। एक मार्ग से जाने पर लौटना नहीं पड़ता; और दूसरे से फिर लौटना पड़ता है।

[उपनिषदों में इन दोनों गतियों को देवयान (शुक्ल) और पितृयाण (कृष्ण), अथवा अर्चिरादि मार्ग और धूम्र आदि मार्ग कहा है; तथा ऋग्वेद

§ § नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

म भी इन मार्गों का उल्लेख है । मरे हुए मनुष्य की देह को अग्नि में जला देने पर अग्नि से ही इन मार्गों का आरम्भ हो जाता है । अतएव पच्चीसवें श्लोक में 'अग्नि' पद का पहले श्लोक से अध्याहार कर लेना चाहिये । पच्चीसवें श्लोक का हेतु यही बतलाना है, कि प्रथम श्लोकों में वर्णित मार्ग में और दूसरे मार्ग में कहाँ भेद होता है ? इसी से 'अग्नि' शब्द की पुनरावृत्ति इसमें नहीं की गई । गीता-रहस्य के दसवें प्रकरण के अन्त (पृ. २९५–२९८) में इस सम्बन्ध की अधिक बातें हैं। उनसे उल्लिखित श्लोक का भावार्थ खुल जावेगा। अब बतलाते हैं, कि इन दोनों मार्गों का तत्त्व जान लेने से क्या फल मिलता है ? :—]

(२७) हे पार्थ ! इन दोनों सृती अर्थात् मार्गों को (तत्त्वतः) जाननेवाला कोई भी (कर्म-) योगी मोह में नहीं फँसता । अतएव हे अर्जुन ! तू सदा सर्वदा (कर्म-) योगयुक्त हो। (२८) इसे (उक्त तत्त्व को) जान लेने से वेद, यज्ञ, तप और दान में जो पुण्यफल बतलाया है, (कर्म-) योगी उस सब को छोड़ जाता है; और उसके परे आद्यस्थान को पा लेता है ।

[जिस मनुष्य ने देवयान और पितृयाण दोनों के तत्त्व को जान लिया —अर्थात् यह ज्ञात कर लिया, कि देवयानमार्ग से मोक्ष मिल जाने पर फिर पुनर्जन्म नहीं मिलता; और पितृयाणमार्ग स्वर्गप्रद हो, तो भी मोक्षप्रद नहीं है—वह इनमें से अपने सच्चे कल्याण के मार्ग का ही स्वीकार करेगा । वह मोह से निम्नश्रेणी के मार्ग को स्वीकार न करेगा । इसी बात को लक्ष्य कर पहले श्लोक में " इन दोनों सृती अर्थात् मार्गों को (तत्त्वतः) जाननेवाला " ये शब्द आये हैं । इन श्लोकों का भावार्थ यों है :—कर्मयोगी जानता है, कि देवयान और पितृयाण दोनों मार्गों में से कौन मार्ग कहाँ जाता है ? तथा इसी में से जो मार्ग उत्तम है, उसे ही वह स्वभावतः स्वीकार करता है । एवं स्वर्ग के आवागमन से बच कर इससे परे मोक्षप्रद की प्राप्ति कर लेता है । और २७ वें श्लोक में तद-नुसार व्यवहार करने का अर्जुन को उपदेश भी किया गया है ।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए—अर्थात् कहे हुए—उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

नवमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

नौवाँ अध्याय ।

[सातवें अध्याय में ज्ञानविज्ञान का निरूपण यह दिखलाने के लिये किया गया है, कि कर्मयोग का आचरण करनेवाले पुरुष को परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान हो कर मन की शान्ति अथवा मुक्त-अवस्था कैसे प्राप्त होती है ? अक्षर और अव्यक्त पुरुष का स्वरूप भी बतला दिया गया है । पिछले अध्याय में कहा गया है, कि अन्तकाल में भी उसी स्वरूप को मन में स्थिर बनाये रखने के लिये पातंजलयोग से समाधि लगा कर, अन्त में ॐकार की उपासना की जावे । परन्तु पहले तो अक्षरब्रह्म का ज्ञान होना ही कठिन है; और फिर उसमें भी समाधि की आवश्यकता होने से साधारण लोगों को यह मार्ग ही छोड़ देना पड़ेगा । इस कठिनाई पर ध्यान देकर अब भगवान् ऐसा राजमार्ग बतलाते हैं, कि जिससे सब लोगों को परमेश्वर का ज्ञान सुलभ हो जावे । इसी को भक्तिमार्ग कहते हैं । गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण में हमने उसका विस्तारसहित विवेचन किया है । इस मार्ग में परमेश्वर का स्वरूप प्रेमगम्य और व्यक्त अर्थात् प्रत्यक्ष जानने योग्य रहता है । उसी व्यक्त स्वरूप का विस्तृत निरूपण नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें अध्यायों में किया गया है । तथापि स्मरण रहे, कि यह भक्तिमार्ग भी स्वतन्त्र नहीं है--कर्मयोग की सिद्धि के लिये सातवें अध्याय में जिस ज्ञानविज्ञान का आरम्भ किया गया है, उसी का यह भाग है । और अध्याय का आरम्भ भी पिछले ज्ञानविज्ञान के अङ्ग की दृष्टि से ही किया गया है ।]

श्रीभगवान् ने कहा :--(१) अब तू दोषदर्शी नहीं है; इसलिये गुह्य से भी गुह्य विज्ञानसहित ज्ञान तुझे बतलाता हूँ, कि जिसके जान लेने से पाप से मुक्त होगा । (२) यह (ज्ञान) समस्त गुह्यों में राजा अर्थात् श्रेष्ठ है । यह राजविद्या अर्थात् सब विद्याओं में श्रेष्ठ, पवित्र, उत्तम और प्रत्यक्ष बोध देनेवाला है । यह आचरण करने में सुखकारक, अव्यय और धर्म्य है । (३) हे परन्तप ! इस पर श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझे नहीं पाते । वे मृत्युयुक्त संसार के मार्ग में लौट आते हैं (अर्थात् उन्हें मोक्ष नहीं मिलता) ।

§ § मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित: ॥ ४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन: ॥ ५ ॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायु: सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

[गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण (पृ. ४११-४१६) में दूसरे श्लोक के 'राजविद्या,' 'राजगुह्य,' और 'प्रत्यक्षावगम' पदों के अर्थों का विचार किया गया है। ईश्वरप्राप्ति के साधनों को उपनिषदों में 'विद्या' कहा है; और यह विद्या गुप्त रखी जाती थी। कहा है, कि भक्तिमार्ग अथवा व्यक्त की उपासनारूपी विद्या सब गुह्य विद्याओं में श्रेष्ठ अथवा राजा है। इसके अतिरिक्त यह धर्म आँखों से प्रत्यक्ष देख पड़नेवाला और इसी से आचरण करने में सुलभ है। तथापि इक्ष्वाकु प्रभृति राजाओं की परम्परा से ही इस योग का प्रचार हुआ है (गी. ४. २)। इसलिये इस मार्ग को राजाओं अर्थात् बड़े आदमियों की विद्या--राजविद्या--कह सकेंगे। कोई भी अर्थ क्यों न लीजिये! प्रगट है, कि अक्षर या अव्यक्त ब्रह्म के ज्ञान को लक्ष्य करके यह वर्णन नहीं किया गया है; किन्तु राजविद्या शब्द से यहाँ पर भक्तिमार्ग ही विवक्षित है। इस प्रकार आरम्भ में ही इस मार्ग की प्रशंसा कर भगवान् अब विस्तार से उसका वर्णन करते हैं :--]

(४) मैंने अपने अव्यक्त स्वरूप से इस समग्र जगत् को फैलाया अथवा व्याप्त किया है। मुझमें सब भूत हैं (परन्तु) मैं उनमें नहीं हूँ। (५) और मुझमें सब भूत भी नहीं हैं! देखो, (यह कैसी) मेरी ईश्वरी करनी या योगसामर्थ्य है! भूतों को उत्पन्न करनेवाला मेरा आत्मा, उनका पालन करके भी (फिर) उनमें नहीं है! (६) सर्वत्र बहनेवाली महान् वायु जिस प्रकार सर्वदा प्रकाश में रहती है, उसी प्रकार सब भूतों को मुझमें समझ।

[यह विरोधाभास इसलिये होता है, कि परमेश्वर निर्गुण भी है; और सगुण भी है (सातवें अध्याय के १२ वें श्लोक की टिप्पणी, और गीतारहस्य प्र. ९, पृ. २०५, २०८ और २०९ देखो)। इस प्रकार अपने स्वरूप का आश्चर्यकारक वर्णन करके अर्जुन की जिज्ञासा को जागृत कर चुकने पर अब भगवान् फिर कुछ फेरफार से वही वर्णन प्रसंगानुसार करते हैं, कि जो सातवें और आठवें अध्याय में पहले किया जा चुका है--अर्थात् हम से व्यक्तसृष्टि किस प्रकार होती है? और हमारे व्यक्तरूप कौन-से हैं (गी. ७. ४-१८; ८. १७-२०)? 'योग' शब्द का अर्थ यद्यपि अलौकिक सामर्थ्य या युक्ति किया जाय, तथापि स्मरण रहे, कि अव्यक्त से व्यक्त होने के इस योग अथवा युक्ति को ही माया कहते हैं। इस विषय का प्रतिपादन गीता. ७. २५ की टिप्पणी में और रहस्य के नौवें प्रकरण (२३६-२४०) में

§ § सर्वभूतानि कौंतेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौंतेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

हो चुका है। परमेश्वर को यह 'योग' अत्यन्त सुलभ है; किंबहुना यह परमेश्वर का दास ही है। इसलिये परमेश्वर को योगेश्वर (गी. १८. ७५) कहते हैं। अब बतलाते हैं, कि इस योगसामर्थ्य से जगत् की उत्पत्ति और नाश कैसे हुआ करते हैं? :—]

(७) हे कौंतेय! कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति में आ मिलते हैं; और कल्प के आरम्भ में (ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में) उनको मैं ही फिर निर्माण करता हूँ। (८) मैं अपनी प्रकृति को हाथ में ले कर, (अपने अपने कर्मों से बँधे हुए) भूतों के इस समूचे समुदाय को पुनः पुनः निर्माण करता हूँ, कि जो (उस) प्रकृति के क़ाबू में रहने से अवश अर्थात् परतन्त्र है। (९) (परन्तु) हे धनञ्जय! इस (सृष्टिनिर्माण करने के) काम में मेरी आसक्ति नहीं है। मैं उदासीन-सा रहता हूँ। इस कारण मुझे वे कर्म बन्धक नहीं होते। (१०) मैं अध्यक्ष हो कर प्रकृति से सब चराचर सृष्टि उत्पन्न करवाता हूँ। हे कौंतेय! इस कारण जगत् का यह बनना-बिगड़ना हुआ करता है।

[पिछले अध्याय में बतला आये हैं, कि ब्रह्मदेव के दिन का (कल्प का) आरम्भ होते ही अव्यक्तप्रकृति से व्यक्तसृष्टि बनने लगती है (८. १८)। यहाँ इसी का अधिक खुलासा किया है, कि परमेश्वर प्रत्येक के कर्मानुसार उसे भला-बुरा जन्म देता है। अतएव वह स्वयं इन कर्मों से अलिप्त है। शास्त्रीय प्रतिपादन में ये सभी तत्त्व एक ही स्थान में बतला दिये जाते हैं। परन्तु गीता की पद्धति संवादात्मक है। इस कारण प्रसंग के अनुसार एक विषय थोड़ा-सा यहाँ और थोड़ा-सा वहाँ इस प्रकार वर्णित है। कुछ लोगों की दलील है, कि दसवें श्लोक में 'जगद्विपरिवर्तते' पद विवर्तवाद को सूचित करते हैं। परन्तु 'जगत् का बनना-बिगड़ना हुआ करता है'—अर्थात् 'व्यक्त का अव्यक्त और फिर अव्यक्त का व्यक्त होता रहता है।' हम नहीं समझते, कि इसकी अपेक्षा 'विपरिवर्तते' पद का कुछ अधिक अर्थ हो सकता है। और शांकरभाष्य में भी और कोई विशेष अर्थ नहीं बतलाया गया है। गीतारहस्य के दसवें प्रकरण में विवेचन किया गया है, कि मनुष्य कर्म से अवश कैसे होता है?]

§§ अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥
§§ महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥
ज्ञानेयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥
§§ अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषध ् ।

(११) मूढ लोग मेरे परम स्वरूप को नहीं जानते, कि जो सब भूतों का महान् ईश्वर है। वे मुझे मानवतनुधारी समझ कर मेरी अवहेलना करते हैं। (१२) उनकी आशा व्यर्थ, कर्म फ़िज़ूल, ज्ञान निरर्थक और चित्त भ्रष्ट है। वे मोहात्मक राक्षसी और आसुरी स्वभाव का आश्रय किये रहते हैं।

[यह आसुरी स्वभाव का वर्णन है। अब दैवी स्वभाव का वर्णन करते हैं :—]

(१३) परन्तु हे पार्थ ! दैवी प्रकृति का आश्रय करनेवाले महातमा लोग सब भूतों के अव्यय आदिस्थान मुझको पहचान कर अनन्यभाव से मेरा भजन करते हैं; (१४) और यत्नशील, दृढव्रत एवं नित्य योगयुक्त हो सदा मेरा कीर्तन और वन्दना करते हुए भक्ति से मेरी उपासना किया करते हैं। (१५) ऐसे ही और कुछ लोग एकत्व से अर्थात् अभेदभाव से, पृथक्त्व से अर्थात् भेदभाव से या अनेक भाँति के ज्ञानयज्ञ से यजन कर मेरी—जो सर्वतोमुख हूँ—उपासना किया करते हैं।

[संसार में पाये जानेवाले दैवी और राक्षसी स्वभावों के पुरुषों का यहाँ जो संक्षिप्त वर्णन है, उसका विस्तार आगे सोलहवें अध्याय में किया गया है। पहले बतला ही आये हैं, कि ज्ञानयज्ञ का अर्थ परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान से ही आकलन करके उसके द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेना" है (गी. ४. ३३ की टिप्पणी देखो)। किन्तु परमेश्वर का यह ज्ञान भी द्वैतअद्वैत आदि भेदों से अनेक प्रकार का हो सकता है। इस कारण ज्ञानयज्ञ भी भिन्न भिन्न प्रकार से हो सकते हैं। इस प्रकार यद्यपि ज्ञानयज्ञ अनेक हों, तो भी पन्द्रहवें श्लोक का तात्पर्य यह है, कि परमेश्वर के विश्वतोमुख होने के कारण ये सब यज्ञ उसे ही पहुँचते हैं। 'एकत्व,' 'पृथक्त्व' आदि पदों से प्रगट है, कि द्वैतअद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सम्प्रदाय यद्यपि अर्वाचीन हैं, तथापि ये कल्पनाएँ प्राचीन हैं। इस श्लोक में परमेश्वर का एकत्व और पृथक्त्व बतलाया गया है। अब उसी का अधिक निरूपण कर बतलाते हैं, कि पृथक्त्व में क्या है ? :—]

मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥
पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

(१६) ऋतु अर्थात् श्रौतयज्ञ मैं हूँ । यज्ञ अर्थात् स्मार्तयज्ञ मैं हूँ । स्वधा अर्थात् श्राद्ध से पितरों को अर्पण किया हुआ अन्न मैं हूँ । औषध अर्थात् वनस्पति से (यज्ञ के अर्थ) उत्पन्न हुआ अन्न मैं हूँ । (यज्ञ में हवन करते समय पढ़े जानेवाले) मन्त्र मैं हूँ । घृत, अग्नि (अग्नि में छोड़ी हुई) आहुति मैं ही हूँ ।

[मूल में ऋतु और यज्ञ दोनों शब्द समानार्थक ही हैं । परन्तु जिस प्रकार 'यज्ञ' शब्द का अर्थ व्यापक हो गया; और देवपूजा, वैश्वदेव, अतिथिसत्कार प्राणयाम एवं जप इत्यादि कर्मों को भी 'यज्ञ' कहने लगे (गी. ४. २३–३०), उस प्रकार 'ऋतु' शब्द का अर्थ बढ़ने नहीं पाया । श्रौतधर्म में अश्वमेध आदि जिन यज्ञों के लिये यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका वही अर्थ आगे भी स्थिर रहा है । अतएव शांकरभाष्य में कहा है, कि इस स्थल पर 'ऋतु' शब्द से 'श्रौत' यज्ञ और 'यज्ञ' शब्द से 'स्मार्त' यज्ञ समझना चाहिये । और ऊपर हमने यही अर्थ किया है । क्योंकि ऐसा न करें, तो 'ऋतु' और 'यज्ञ' शब्द समानार्थक होकर इस श्लोक में उनकी अकारण द्विरुक्ति करने का दोष लगता है ।]

(१७) इस जगत् का पिता, माता, धाता, (आधार), पितामह (बाबा) मैं हूँ । जो कुछ पवित्र या जो कुछ ज्ञेय है, वह और ॐकार, ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद भी मैं हूँ । (१८) (सब की) गति, (सब का) पोषक, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सखा, उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, निधान और अव्यय बीज भी मैं हूँ । (१९) हे अर्जुन ! मैं उष्णता देता हूँ । मैं पानी को रोकता और बरसाता हूँ । अमृत और मृत्यु, सत् और असत् भी मैं हूँ ।

[परमेश्वर के स्वरूप का ऐसा ही वर्णन फिर विस्तारसहित १०, ११ और १२ अध्यायों में है । तथापि यहाँ केवल विभूति न बतला कर यह विशेषता दिखलाई है, कि परमेश्वर का और जगत् के भूतों का सम्बन्ध माँ-बाप और मित्र इत्यादि के समान है । इन दो स्थानों के वर्णनों में यही भेद है । ध्यान रहे, कि पानी को बरसाने और रोकने में एक क्रिया चाहे हमारी दृष्टि से फ़ायदे की और दूसरी नुक़सान की हो । तथापि तात्त्विक दृष्टि से दोनों को परमेश्वर ही करता है । इसी अभिप्राय को मन में रख कर पहले (गी. ७. १२) भगवान् ने कहा है, कि सात्त्विक, राजस और तामस सब पदार्थ मैं ही उत्पन्न करता हूँ । और आगे

§ § त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥
अनन्याश्चिंतयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

चौदहवें अध्याय में विस्तारसहित वर्णन किया है, कि गुणत्रयविभाग से सृष्टि में नानात्व उत्पन्न होता है । इस दृष्टि से २१ वें श्लोक के सत् और असत् पदों का क्रम से 'भला' और 'बुरा' यह अर्थ किया जा सकेगा; और आगे गीता (१७.२६--२८) में एक बार ऐसा अर्थ किया भी गया है । परन्तु जान पड़ता है इन शब्दों के सत् = अविनाशी और असत् = विनाशी या नाशवान् ये जो सामान्य अर्थ हैं (गी.२.१६), वे ही इस स्थान में अभीष्ट होंगे; और ' मृत्यु और अमृत ' के समान ' सत् और असत् ' द्वन्द्वात्मक शब्द ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से सूझ पड़े होंगे । तथापि दोनों में भेद है । नासदीय सूक्त में ' सत् ' शब्द का उपयोग दृश्यसृष्टि के लिये किया गया है; और गीता 'सत्' शब्द का उपयोग परब्रह्म के लिये करती है । एवं दृश्यसृष्टि को असत् कहती है (देखो गीतार. प्र.९, पृ. २४३–२४६) । किन्तु इस प्रकार परिभाषा का भेद हो, तो भी 'सत्' और 'असत्' दोनों शब्दों की एक साथ योजना से प्रगट हो जाता है, कि इनमें दृश्यसृष्टि और परब्रह्म दोनों का एकत्र समावेश होता है । अतः यह भावार्थ भी निकाला जा सकेगा, कि परिभाषा के भेद से किसी को भी 'सत्' और 'असत्' कहा जाय; किन्तु यह दिखलाने के लिये, कि दोनों परमेश्वर के ही रूप हैं--भगवान् ने 'सत्' और 'असत्' शब्दों की व्याख्या न दे कर सिर्फ़ यह वर्णन कर दिया है, कि 'सत्' और 'असत्' मैं ही हूँ (देखो गी. ११, ३७ और १३.१२) । इस प्रकार यद्यपि परमेश्वर के रूप अनेक हैं, तथापि अब बतलाते हैं, कि उनकी एकत्व से उपासना करने और अनेकत्व से करने में भेद है :--]

(२०) जो त्रैविद्य अर्थात् ऋक्, यजु और साम इन तीन वेदों के कर्म करनेवाले, सोम पीनेवाले अर्थात् सोमयाजी, तथा निष्पाप (पुरुष) यज्ञ से मेरी पूजा करके स्वर्गलोगप्राप्ति की इच्छा करते हैं, वे इन्द्र के पुण्यलोक में पहुँच कर स्वर्ग में देवताओं के अनेक दिव्य भोग भोगते हैं । (२१) और उस विशाल स्वर्गलोक का उपभोग करके पुण्य का क्षय हो जाने पर वे (फिर जन्म लेकर) मृत्युलोक में आते हैं। इस प्रकार त्रयीधर्म अर्थात् तीनों वेदों के यज्ञयाग आदि श्रौतधर्म के पालनेवाले और काम्य उपभोग की इच्छा करनेवाले लोगों को (स्वर्ग का) आवागमन प्राप्त होता है ।

[यह सिद्धान्त पहले कई बार आ चुका है, कि यज्ञयाग आदि धर्म से या नाना प्रकार के देवताओं की आराधना से कुछ समय तक स्वर्गवास मिल

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥
§ § येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौंतेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।

जाय, तो भी पुएयांश चुक जाने पर उन्हें फिर जन्म लेकरके भूलोक में आना पड़ता है (गी. २. ४२-४४; ४.३४; ६. ४१; ७. २३; ८,१६ और २५)। परन्तु मोक्ष में वह झंझट नहीं है। वह नित्य है--अर्थात् एक बार परमेश्वर को पा लेने पर फिर जन्ममरण के चक्कर में नहीं आना पड़ता। महाभारत (वन. २६०) में स्वर्गसुख का जो वर्णन है, वह भी ऐसा ही है। परन्तु यज्ञयाग आदि से पर्जन्य प्रभृति की उत्पत्ति होती है, अतएव शङ्का होती है, कि इनको छोड़ देने से इस जगत् का योगक्षेम अर्थात् निर्वाह कैसे होगा ? (देखो गी. २. ४५ की टिप्पणी और गीतार. प्र. १०, पृ. २९२)। इसलिये अब ऊपर के श्लोकों से मिला कर ही इसका उत्तर देते हैं :--]

(२२) जो अनन्यनिष्ठ लोग मेरा चिन्तन कर मुझे भजते हैं, उन नित्य योगयुक्त पुरुषों का योगक्षेम मैं किया करता हूँ।

[जो वस्तु मिली नहीं है, उसको जुटाने का नाम है योग; और मिली हुई वस्तु की रक्षा करना है क्षेम। शाश्वतकोश में भी (देखो १०० और २९२ श्लोक) योगक्षेम की ऐसी ही व्याख्या है; और उसका पूरा अर्थ 'सांसारिक नित्य निर्वाह है। गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३८३--३८४) में इसका विचार किया गया है, कि कर्मयोगमार्ग में इस श्लोक का क्या अर्थ होता है ? इसी प्रकार नारायणीय धर्म (म. भा. शां. ३४८. ७२) में भी वर्णन है, कि :--

मनीषिणो हि ये केचित् यतयो मोक्षधर्मिणः ।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः ॥

ये पुरुष एकान्तभक्त हों, तो भी प्रवृत्तिमार्ग के हैं--अर्थात् निष्कामबुद्धि से कर्म किया करते हैं। अब बतलाते हैं, कि परमेश्वर की बहुत्व से सेवा करनेवालों की अन्त में कौन गति होती है ? :--]

(२३) हे कौन्तेय! श्रद्धायुक्त होकर अन्य देवताओं के भक्त बन करके जो लोग यजन करते हैं, वे भी विधिपूर्वक न हों, तो भी (पर्याय से) मेरा ही यजन करते हैं। (२४) क्योंकि सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ। किन्तु वे तत्त्वतः मुझे नहीं जानते। इसलिये वे लोग गिर जाया करते हैं।

[गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण (पृ. ४१९--४२३) में यह विवेचन है, कि इन दोनों श्लोकों के सिद्धान्त का महत्त्व क्या है ? वैदिक धर्म में यह तत्त्व

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।। २५ ।।

बहुत पुराने समय से चला आ रहा है, कि कोई भी देवता हो; वह भगवान् का ही एक स्वरूप है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में ही कहा है, कि "एकं सद्विप्रा बहुधा वदंत्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" (ऋ.१. १६४.४६)—परमेश्वर एक है। परन्तु पण्डित लोग उसी को अग्नि, यम, मातरिश्वा (वायु) कहा करते हैं; और इसी के अनुसार आगे के अध्याय में परमेश्वर के एक होनेपर भी उसकी अनेक विभूतियों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार महाभारत के अन्तर्गत नारायणीयोपाख्यान में चार प्रकार के भक्तों में कर्म करनेवाले एकान्तिक भक्त को श्रेष्ठ (गी. ७. १९ की टिप्पणी देखो) बतलाकर कहा है :—

ब्रह्माणं शितिकंठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः
प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत्परम् ।।

"ब्रह्मा को, शिव को, अथवा और दूसरे देवताओं को भजनेवाले साधु पुरुष भी मुझमें ही आ मिलते हैं (म.भा. शां. ३४१. ३५); और गीता के उक्त श्लोकों का अनुवाद भागवतपुराण में भी किया गया है (देखो भाग. १०. पू. ४०. ८–१०)। इसी प्रकार नारायणीयोपाख्यान में फिर भी कहा है :—

ये यजन्ति पितृन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा ।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं तथा ।।
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते ।

"देव, पितर, गुरु, अतिथि, ब्राह्मण और गौ प्रभृति की सेवा करनेवाले पर्याय से विष्णु का ही यजन करते हैं (म. भा. शां. ३४५. २६, २७)। इस प्रकार भागवतधर्म के स्पष्ट कहने पर भी—कि भक्ति को मुख्य मानो। देवतारूप प्रतीक गौण है। यद्यपि विधिभेद हो, तथापि उपासना तो एक ही परमेश्वर की होती है—यह बड़े आश्चर्य की बात है, कि भागवतधर्मवाले शैवों से झगड़ा किया करते हैं! यद्यपि यह सत्य है, कि किसी भी देवता की उपासना क्यों न करें? पर वह पहुँचती भगवान् को ही है; तथापि यह ज्ञान न होने से—कि सभी देवता एक हैं—मोक्ष की राह छूट जाती है; और भिन्न भिन्न देवताओं के उपासकों को उनकी भावना के अनुसार भगवान् ही भिन्न भिन्न फल देते हैं :—]

(२५) देवताओं का व्रत करनेवाले देवताओं के पास, पितरों का व्रत करनेवाले पितरों के पास, (भिन्न भिन्न) भूतों को पूजनेवाले (उन) भूतों के पास जाते हैं; और मेरा यजन करनेवाले मेरे पास आते हैं।

[सारांश, यद्यपि एक ही परमेश्वर सर्वत्र समाया हुआ है, तथापि उपासना का फल प्रत्येक के भाव के अनुरूप न्यूनाधिक योग्यता का मिला करता है। फिर भी इस पूर्वकथन को भूल न जाना चाहिये, कि यह फलदान का कार्य देवता नहीं करते—परमेश्वर ही करता है (गी. ७. २०–२३)। ऊपर २४ वें

§ § पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

श्लोक में भगवान् ने जो यह कहा है, कि "सब यज्ञों का भोक्ता मैं ही हूँ" उसका तात्पर्य यही है । महाभारत में भी कहा है :—

यस्मिन यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम् ।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥

"जो पुरुष जिस भाव में निश्चय रखता है, वह उस भाव के अनुरूप ही फल पाता है" (शां. ३५२. ३); और श्रुति भी है "यं यथा यथोपासते तदेव भवति" (गी. ८. ६ की टिप्पणी देखो) । अनेक देवताओं की उपासना करने-वाले को (नानात्व से) जो फल मिलता है, उसे पहले चरण में बतला कर दूसरे चरण में यह अर्थ वर्णन किया है, कि अनन्यभाव से भगवान् की भक्ति करनेवालों को ही सच्ची भगवत्प्राप्ति होती है । अब भक्तिमार्ग के महत्त्व का यह तत्त्व बतलाते हैं, कि भगवान् इस ओर न देख कर—कि हमारा भक्त हमें क्या समर्पण करता है ?—केवल उसके भाव की ही ओर दृष्टि दे करके उसकी भक्ति को स्वीकार करते हैं :—]

(२६) जो मुझे भक्ति से एक-आध पत्र, पुष्प, फल अथवा (यथाशक्ति) थोड़ा-सा जल भी अर्पण करता है, उस प्रयतात्म अर्थात् नियतचित्त पुरुष की भक्ति की भेंट को मैं (आनन्द से) ग्रहण करता हूँ ।

[कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है (गी. २. ४९)—यह कर्मयोग का तत्त्व है । इसका जो रूपान्तर भक्तिमार्ग में हो जाता है, उसी का वर्णन उक्त श्लोक में है (देखो गीतार.प्र.१५, पृ.४७३–४७५) । इस विषय में सुदामा के तन्दुलों की बात प्रसिद्ध है; और यह श्लोक भागवतपुराण में सुदामाचरित के उपाख्यान में भी आया है (भाग. १०. उ. ८१. ४) । इसमें सन्देह नहीं, कि पूजा के द्रव्य अथवा सामग्री का न्यूनाधिक होना सर्वथा और सर्वदा मनुष्य के हाथ में नहीं भी रहता । इसी से शास्त्र में कहा है, कि यथाशक्ति प्राप्त होनेवाले स्वल्प पूजा-द्रव्य से ही नहीं, प्रत्युत शुद्ध भाव से समर्पण किये हुए मानसिक पूजाद्रव्यों से भी भगवान् सन्तुष्ट हो जाते हैं । देवता भाव का भूखा है; न कि पूजा की सामग्री का । मीमांसकमार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग में जो कुछ विशेषता है, वह यही है । यज्ञयाग करने के लिये बहुत-सी सामग्री जुटानी पड़ती है; और उद्योग भी बहुत करना पड़ता है । परन्तु भक्तियज्ञ एक तुलसीदल से भी हो जाता है । महाभारत में कथा है, कि जब दुर्वासिऋषि घर पर आये; तब द्रौपदी ने इसी प्रकार के यज्ञ से भगवान् को सन्तुष्ट किया था । भगवद्भक्त जिस प्रकार अपने कर्म करता है, अर्जुन को उसी प्रकार करने का उपदेश देकर बतलाते हैं, कि इससे क्या फल मिलता है ? :—]

§ § यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः॥
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥
§ § समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

(२७) हे कौन्तेय ! तू जो (कुछ) करता है, जो खाता है, होम-हवन करता है, जो दान करता है (और) जो तप करता है, वह (सब) मुझे अर्पण किया कर। (२८) इस प्रकार बर्तने से (कर्म करके भी) कर्मों के शुभ-अशुभ फल-रूप बन्धनों से तू मुक्त रहेगा; और (कर्मफलों के) संन्यास करने के इस योग से युक्तात्मा अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण हो कर मुक्त हो जायगा; एवं मुझमें मिल जायगा।

[इससे प्रगट होता है, कि भगवद्भक्त भी कृष्णार्पणबुद्धि से समस्त कर्म करे; उन्हें छोड़ न दे। इस दृष्टि से ये दोनों श्लोक महत्त्व के हैं। " ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः " यह ज्ञानयज्ञ का तत्त्व है (गी. ४. २४)। इसे ही भक्ति की परिभाषा के अनुसार इस श्लोक में बतलाया है (देखो गीतार. प्र.१३, पृ. ४३० और ४३१)। तीसरे ही अध्याय में अर्जुन से कह दिया है, कि " मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य " (गीता. ३. ३०) —मुझ में सब कर्मों का संन्यास करके—युद्ध कर; और पाँचवें अध्याय में फिर कहा है, कि " ब्रह्म में कर्मों को अर्पण करके सङ्ग-रहित कर्म करनेवाले को कर्म का लेप नहीं लगता " (५. १०)। गीता के मतानुसार यही यथार्थ संन्यास है। (गी. १८. २)। इस प्रकार अर्थात् कर्म-फलाशा छोड़कर (संन्यास) सब कर्मों को करनेवाला पुरुष ही 'नित्यसंन्यासी' है (गी. ५. ३); कर्मत्यागरूप संन्यास गीता को सम्मत नहीं है। पीछे अनेक स्थलों पर कह चुके हैं, कि इस रीति से किये हुए कर्म मोक्ष के लिये प्रतिबन्धक नहीं होते (गी. २. ६४; ३. १९; ४.२३; ५. १२; ६. १; ८. ७); और इस २८ वें श्लोक में उसी बात को फिर कहा है। भागवतपुराण में ही नृसिंहरूपी भगवान् ने प्रह्लाद को यह उपदेश किया हैं, कि "मय्यावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः "—मुझमें चित्त लगा कर सब काम किया कर (भाग. ७. १०. २३)। और आगे एकादश स्कन्ध में भक्तियोग का यह तत्त्व बतलाया है, कि भगवद्भक्त सब कर्मों को नारायणार्पण कर दे (देखो भाग. ११. २. ३६ और ११. ११. २४)। इस अध्याय के आरम्भ में वर्णन किया है, कि भक्ति का मार्ग सुख-कारक और सुलभ है। अब उसके समत्वरूपी दूसरे बड़े और विशेष गुण का वर्णन करते हैं :—]

(२९) मैं सब को एक-सा हूँ। न मुझे (कोई) द्वेष्य अर्थात् अप्रिय है; और न (कोई) प्यारा। भक्ति से जो मेरा भजन करते हैं, वे मुझ में हैं; और मैं भी

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।। ३० ।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।। ३१ ।।
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।। ३२ ।।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।। ३३ ।।

उनमें हूँ । (३०) बड़ा दुराचारी ही क्यों न हो ? यदि वह मुझे अनन्यभाव से भजता है, तो उसे बड़ा साधु ही समझना चाहिये । क्योंकि उसकी बुद्धि का निश्चय अच्छा रहता है । (३१) वह जल्दी धर्मात्मा हो जाता है; और नित्य शान्ति पाता है । हे कौन्तेय ! तू खूब समझे रह, कि मेरा भक्त (कभी भी) नष्ट नहीं होता ।

[तीसवें श्लोक का भावार्थ ऐसा न समझना चाहिये, कि भगवद्भक्त यदि दुराचारी हों, तो भी वे भगवान् को प्यारे ही रहते हैं । भगवान् इतना ही कहते हैं, कि पहले कोई मनुष्य दुराचारी भी रहा हो; परन्तु जब एक बार उसकी बुद्धि का निश्चय परमेश्वर का भजन करने में हो जाता है, तब उसके हाथ से फिर कोई भी दुष्कर्म नहीं हो सकता । और वह धीरे धीरे धर्मात्मा हो कर सिद्धि पाता है; तथा इसी सिद्धि से उसके पाप का बिलकुल नाश हो जाता है । सारांश, छठे अध्याय (६. ४४) में जो यह सिद्धान्त किया था, कि कर्मयोग के जानने की सिर्फ़ इच्छा होने से ही लाचार हो कर मनुष्य शब्दब्रह्म से परे चला जाता है । अब उसे ही भक्तिमार्ग के लिये लागू कर दिखलाया है । अब इस बात का अधिक खुलासा करते हैं, कि परमेश्वर सब भूतों को एक-सा कैसे है ? :—]

(३२) क्योंकि हे पार्थ ! मेरा आश्रय करके स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र अथवा अन्त्यज आदि जो पापयोनि हों, वे भी परमगति पाते हैं । (३३) फिर पुण्यवान् ब्राह्मणों की, मेरे भक्तों की और राजर्षियों, क्षत्रियों की बात क्या कहनी है ? तू इस अनित्य और असुख अर्थात् दुःखकारक मृत्युलोक में है । इस कारण मेरा भजन कर ।

[३२ वें श्लोक के 'पापयोनि' शब्द को स्वतन्त्र न मान कुछ टीकाकार कहते हैं, कि वह स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों को भी लागू है । क्योंकि पहले कुछ-न-कुछ पाप किये बिना कोई भी स्त्री, वैश्य या शूद्र का जन्म नहीं पाता । उनके मत में पापयोनि शब्द साधारण है; और उसके भेद बतलाने के लिये स्त्री, वैश्य तथा शूद्र उदाहरणार्थ दिये गये हैं । परन्तु हमारी राय में यह अर्थ ठीक नहीं है । पापयोनि शब्द से वह जाति विवक्षित है; जिसे कि आजकल राज-दरबार में "जरायम-पेशा क़ौम" कहते हैं । इस श्लोक का सिद्धान्त यह है, कि इस

§ § मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

जाति के लोगों को भी भगवद्भक्ति से सिद्धि मिलती है । स्त्री, वैश्य और शूद्र कुछ इस वर्ग के नहीं हैं । उन्हें मोक्ष मिलने में इतनी ही बाधा है, कि वे वेद सुनने के अधिकारी नहीं हैं । इसी से भागवतपुराण में कहा है, कि :--

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥

" स्त्रियों, शूद्रों अथवा कलियुग के नामधारी ब्राह्मणों के कानों में वेद नहीं पहुँचता । इस कारण उन्हें मूर्खता से बचाने के लिये व्यास मुनि ने कृपालु होकर उनके कल्याणार्थ महाभारत की--अर्थात् गीता की भी--रचना की " (भाग. १. ४. २५) । भगवद्गीता के ये श्लोक कुछ पाठभेद से अनुगीता में भी पाये जाते हैं (मभा. अश्व. १९. ६१, ६२) । जाति का, वर्ण का, स्त्री-पुरुष आदि का अथवा काले-गोरे रङ्ग प्रभृति का कोई भी भेद न रख कर सब को एक ही से सद्गति देने-वाले भगवद्भक्ति के इस राजमार्ग का ठीक बड़प्पन इस देश की--और विशेषतः महाराष्ट्र की--सन्तमण्डली के इतिहास से किसी को भी ज्ञात हो सकेगा । उल्लिखित श्लोक का अधिक खुलासा गीतारहस्य के प्र. १३, पृ. ४३७–४४० में देखो । उस प्रकार के धर्म का आचरण करने के विषय में ३३ वें श्लोक के उत्तरार्ध में अर्जुन को जो उपदेश किया गया है, अगले श्लोक में भी वही चल रहा है ।]

(३४) मुझमें मन लगा । मेरा भक्त हो । मेरी पूजा कर; और मुझे नमस्कार कर । इस प्रकार मत्परायण हो कर योग का अभ्यास करने से मुझे ही पावेगा ।

[वास्तव में इस उपदेश का आरम्भ ३३ वें श्लोक में ही हो गया है । ३३ वें श्लोक में 'अनित्य' पद अध्यात्मशास्त्र के इस सिद्धान्त के अनुसार आया है, कि प्रकृति का फैलाव अथवा नामरूपात्मक दृश्यसृष्टि अनित्य है; और एक परमात्मा ही नित्य है । और 'असुख' पद में इस सिद्धान्त का अनुवाद है, कि इस संसार में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है । तथापि यह वर्णन अध्यात्म का नहीं है; भक्तिमार्ग का है । अतएव भगवान् ने परब्रह्म अथवा परमात्मा शब्द का प्रयोग न करके ' मुझे भज, मुझमें मन लगा, मुझे नमस्कार कर, ' ऐसे व्यक्तस्वरूप के दर्शानेवाले प्रथम पुरुष का निर्देश किया है । भगवान् का अन्तिम कथन है, कि हे अर्जुन ! इस प्रकार भक्ति करके मत्परायण होता हुआ योग अर्थात्

दशमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

कर्मयोग का अभ्यास करता रहेगा, तो (देखो गी. ७. १) तू कर्मबन्धन से मुक्त हो करके निसःन्देह मुझे पा लेगा । इसी उपदेश की पुनरावृत्ति ग्यारहवें अध्याय के अन्त में की गई है । गीता का रहस्य भी यही है । भेद इतना ही है, कि इस रहस्य को एक बार अध्यात्मदृष्टि से और एक बार भक्तिदृष्टि से बतला दिया है ।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए--अर्थात् कहे हुए--उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग--अर्थात् कर्मयोग--शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में राजविद्या राजगुह्ययोग नामक नौवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

दसवाँ अध्याय ।

[पिछले अध्याय में कर्मयोग की सिद्धि के लिये परमेश्वर के व्यक्तस्वरूप की उपासना का जो राजमार्ग बतलाया गया है, उसी का इस अध्याय में वर्णन हो रहा है । और अर्जुन के पूछने पर परमेश्वर के अनेक व्यक्त रूपों अथवा विभूतियों का वर्णन किया गया है । इस वर्णन को सुन कर अर्जुन के मन में भगवान् के प्रत्यक्ष स्वरूप को देखने की इच्छा हुई । अतः ११ वें अध्याय में भगवान् ने उसे विश्वरूप दिखला कर कृतार्थ किया है ।]

श्रीभगवान् ने कहा :--(१) हे महाबाहु ! (मेरे भाषण से) सन्तुष्ट होनेवाले तुझसे तेरे हितार्थ मैं फिर (एक) अच्छी बात कहता हूँ; उसे सुन । (२) देवताओं के गण और महर्षि भी मेरी उत्पत्ति को नहीं जानते । क्योंकि देवताओं और महर्षि का सब प्रकार से मैं ही आदिकारण हूँ । (३) जो जानता है, कि मैं (पृथिवी आदि सब) लोकों का बड़ा ईश्वर हूँ; और मेरा जन्म तथा आदि नहीं है, मनुष्यों में वही मोहविरहित हो कर सब पापों से मुक्त होता है ।

[ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में यह विचार पाया जाता है, कि भगवान् या परब्रह्म देवताओं के भी पहले का है; देवता पीछे से हुए (देखो गीतार. प्र. ९, पृ. २५४) । इस प्रकार प्रस्तावना हो गई । अब भगवान् इसका निरूपण करते हैं, कि मैं सब का महेश्वर कैसे हूँ ? :--]

§ § बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।

(४) बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव (उत्पत्ति) अभाव (नाश), भय, अभय, (५) अहिंसा, समता, तुष्टि (सन्तोष), तप, दान, यश और अयश आदि अनेक प्रकार के प्राणिमात्र के भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं।

['भाव' शब्द का अर्थ है 'अवस्था,' 'स्थिति' या 'वृत्ति' और सांख्यशास्त्र में 'बुद्धि के भाव' एवं 'शारीरिक भाव' ऐसा भेद किया गया है । सांख्यशास्त्री पुरुष को अकर्ता और बुद्धि को प्रकृति का एक विकार मानते हैं । इस लिये वे कहते हैं, कि लिङ्गशरीर को पशुपक्षी आदि के भिन्न भिन्न जन्म मिलने का कारण लिङ्गशरीर में रहनेवाली बुद्धि की विभिन्न अवस्थाएँ अथवा भाव ही हैं (देखो गीतार. प्र. ८, पृ.१६१ और सां. का. ४०–५५); और ऊपर के दो श्लोकों में इन्हीं भावों का वर्णन है । परन्तु वेदान्तियों का सिद्धान्त है, कि प्रकृति और पुरुष से भी परे परमात्मरूपी एक नित्यतत्त्व है; और (नासदीय सूक्त के वर्णनानुसार) उसी के मन में सृष्टि निर्माण करने की इच्छा उत्पन्न होने पर सारा दृश्य जगत् उत्पन्न होता है । इस कारण वेदान्तशास्त्र में भी कहा है, कि सृष्टि के मायात्मक सभी पदार्थ परब्रह्म के मानस भाव हैं (अगला श्लोक देखो) । तप, दान और यज्ञ आदि शब्दों से तन्निष्ठक बुद्धि के भाव ही उद्दिष्ट हैं । भगवान् और कहते हैं कि :—]

(६) सात महर्षि, उनके पहले के चार, और मनु मेरे ही मानस, अर्थात् मन से निर्माण किये हुए भाव हैं, कि जिनसे (इस) लोक में यह प्रजा हुई है ।

[यद्यपि इस श्लोक के शब्द सरल हैं, तथापि जिन पौराणिक पुरुषों को उद्देश्य करके यह श्लोक कहा गया है, उनके सम्बन्ध से टीकाकारों में बहुत ही मतभेद है । विशेषतः अनेकों ने इसका निर्णय कई प्रकार से किया है, कि 'पहले के (पूर्वे) और 'चार' (चत्वारः) पदों का अन्वय किस पद से लगाना चाहिये ? सात महर्षि प्रसिद्ध हैं, परन्तु ब्रह्मा के एक कल्प में चौदह मन्वन्तर (देखो गीतार. प्र. ८, पृ. १६१) होते हैं; और प्रत्येक मन्वन्तर के मनु, देवता एवं सप्तर्षि भिन्न भिन्न होते हैं (देखो हरिवंश १.७; विष्णु. ३.१; और मत्स्य. ६)। इसीसे 'पहले के' शब्द को सात महर्षियों का विशेषण मान कई लोगों ने ऐसा अर्थ किया है, कि आजकल के (अर्थात् वैवस्वत मन्वन्तर से पहले के) चाक्षुष मन्वन्तरवाले सप्तर्षि यहाँ विवक्षित हैं । इन सप्तर्षियों के नाम भृगु, नभ, विवस्वान्, सुधामा, विरजा, अतिनामा और सहिष्णु हैं । किन्तु हमारे मत में यह अर्थ ठीक नहीं है । क्योंकि,

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

आजकल के—वैवस्वत अथवा जिस मन्वन्तर में गीता कही गई, उससे—पहले के मन्वन्तरवाले सप्तर्षियों की बतलाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। अतः वर्तमान मन्वन्तर के ही सप्तर्षियों को लेना चाहिये। महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में इनके ये नाम हैं:—मरीचि, अङ्गिरस, अत्रि, पुलस्त्य पुलह, क्रतु और वसिष्ठ (म. भा. शां. ३३५. २८.२९; ३४०.६४ और ६५)। तथापि यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है, कि मरीचि आदि सप्तर्षियों के उक्त नामों में कहीं कहीं अङ्गिरस के बदले भृगु का नाम पाया जाता है। और कुछ स्थानों पर तो ऐसा वर्णन है, कि कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और वसिष्ठ वर्तमान युग के सप्तर्षि हैं (विष्णु. ३. १. ३२ और ३३; मत्स्य. ९. २७ और २८; म.भा. अनु. ९३. २१)। मरीचि आदि ऊपर लिखे हुए सात ऋषियों में ही भृगु और दक्ष को मिला कर विष्णुपुराण (१. ७. ५. ६) में नौ मानसपुत्रों का और इन्हीं में नारद को भी जोड़ कर मनुस्मृति में ब्रह्मदेव के दस मानसपुत्रों का वर्णन है (मनु. १. ३४, ३५)। इस मरीचि आदि शब्दों की व्युपत्ति भारत में की गई है (म. भा. अनु. ८५)। परन्तु हमें अभी इतना ही देखना है, कि सात महर्षि कौन कौन हैं? इस कारण इन नौ-दस मानसपुत्रों का अथवा इनके नामों की व्युत्पत्ति का विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। प्रगट है, कि 'पहले के' इस पद का अर्थ 'पूर्व मन्वन्तर के सात महर्षि' लगा नहीं सकते। अब देखना है, कि 'पहले के चार' इन शब्दों को मनु का विशेषण मान कर कई एकों ने जो अर्थ किया है, वह कहाँ तक युक्तिसंगत है? कुल चौदह मन्वन्तर हैं; और इनके चौदह मनु हैं। इनमें सात-सात के दो वर्ग हैं। पहले सातों के नाम स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तमी, तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत हैं; तथा ये स्वायम्भुव आदि मनु कहे जाते हैं (मनु. १. ६२ और ६३)। इनमें से छः मनु हो चुके। और आजकल सातवाँ अर्थात् वैवस्वत मनु चल रहा है। इसके समाप्त होने पर आगे जो सात मनु आवेंगे (भाग. ८. १३. ७) उनको सावर्णि मनु कहते हैं। उनके नामः—सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि, और इन्द्रसावर्णि—हैं (विष्णु. ३. २; भागवत. ८. १३ हरिवंश १.७)। इस प्रकार प्रत्येक मनु के सात सात होने पर कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता, कि किसी भी वर्ग के 'पहले के' 'चार' ही गीता में क्यों विवक्षित होंगे? ब्रह्माण्डपुराण (४.१) में कहा है, कि सावर्णि मनुओं में पहले मनु को छोड़ कर अगले चार अर्थात् दक्ष-, ब्रह्म-, धर्म-, और रुद्रसावर्णि एक ही समय में उत्पन्न हुए। और इसी आधार से कुछ लोग कहते हैं, कि येही चार सावर्णि मनु

§ § एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

गीता में विवक्षित हैं । किन्तु इस पर दूसरा आक्षेप यह है, कि ये सब सावर्णि मनु भविष्य में होनेवाले हैं । इस कारण यह भूतकालदर्शक अगला वाक्य "जिनसे इस लोक में यह प्रजा हुई" भावी सावर्णि मनुओं को लागू नहीं हो सकता । इसी प्रकार 'पहले के चार' शब्दों का सम्बन्ध 'मनु' पद से जोड़ देना ठीक नहीं है । अतएव कहना पड़ता है, कि 'पहले के चार' ये दोनों शब्द स्वतन्त्ररीति से प्राचीन काल के कोई चार ऋषियों अथवा पुरुषों का बोध कराते हैं । और ऐसा मान लेने से यह प्रश्न सहज ही होता है, कि ये पहले के चार ऋषि या पुरुष कौन हैं? जिन टीकाकारों ने इस श्लोक का ऐसा अर्थ किया है, उनके मत में सनक, सनन्द, सनातन और सनत्कुमार (भागवत ३. १२. ४) येही वे चार ऋषि हैं । किन्तु इस अर्थ पर आक्षेप यह है, कि यद्यपि ये चारों ऋषि ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं, तथापि ये सभी जन्म से ही संन्यासी होने के कारण प्रजावृद्धि न करते थे; और इससे ब्रह्मा इन पर क्रुद्ध हो गये थे (भाग. ३.१२; विष्णु. १.७)। अर्थात् यह वाक्य इन चार ऋषियों को बिलकुल ही उपयुक्त नहीं होता, कि "जिनसे इस लोक में यह प्रजा हुई"—येषां लोक इमाः प्रजाः । इसके अतिरिक्त कुछ पुराणों में यद्यपि यह वर्णन है, कि ये ऋषि चार ही थे; तथापि भारत के नारायणीय अर्थात् भागवतधर्म में कहा है, कि इन चारों में सन, कपिल और सनत्सुजात को मिला लेने से जो सात ऋषि होते हैं, वे सब ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं; और वे पहले से ही निवृत्तिधर्म के थे (म. भा. शां. ३४०. ६७, ६८) । इस प्रकार सनक आदि ऋषियों को सात मान लेने से कोई कारण नहीं देख पड़ता, कि इनमें से चार ही क्यों लिये जायँ । फिर 'पहले के चार' हैं कौन? हमारे मत में इस प्रश्न का उत्तर नारायणीय अथवा भागवतधर्म की पौराणिक कथा से ही दिया जाना चाहिये । क्योंकि यह निर्विवाद है, कि गीता में भागवतधर्म ही का प्रतिपादन किया गया है । अब यदि यह देखें, कि भागवतधर्म में सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना किस प्रकार की थी? तो पता लगेगा, कि मरीचि आदि सात ऋषियों के पहले वासुदेव (आत्मा), संकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन), और अनिरुद्ध (अहंकार) ये चार मूर्तियाँ उत्पन्न हो गई थीं । और कहा है, कि इनमें से पिछले अनिरुद्ध से अर्थात् अहंकार से या ब्रह्मदेव से मरीचि आदि पुत्र उत्पन्न हुए (म. भा. शां. ३३९. ३४–४० और ६०–७२; ३४०, २७–३१) । वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन्हीं चार मूर्तियों को 'चतुर्व्यूह' कहते हैं । और भागवतधर्म के एक पन्थ का मत है, कि ये चारों मूर्तियाँ स्वतन्त्र थीं; तथा दूसरे कुछ लोग इनमें से तीन अथवा दो को ही प्रधान मानते हैं । किन्तु भगवद्गीता को ये कल्पनाएँ मान्य नहीं हैं । हमने गीतारहस्य (प्र. ८, पृ. १६५ और

सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥
तेषामेवानुकपार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

परि. ५३७–५३८) में दिखलाया है, कि गीता एकव्यूह-पन्थ की है––अर्थात् एक ही परमेश्वर से चतुर्व्यूह आदि सब कुछ की उत्पत्ति मानती है । अतः व्यूहात्मक वासुदेव आदि मूर्तियों को स्वतंत्र न मान कर इस श्लोक में दर्शाया है, कि ये चारों व्यूह एक ही परमेश्वर अर्थात् सर्वव्यापी वासुदेव के (गी. ७.१९)'भाव' हैं। इस दृष्टि से देखने पर विदित होगा, कि भागवतधर्म के अनुसार 'पहले के चार' इन शब्दों का उपयोग वासुदेव आदि चतुर्व्यूह के लिये किया गया है, कि जो सप्तर्षियों के पूर्व उत्पन्न हुए थे । भारत में ही लिखा है, कि भागवतधर्म के चतुर्व्यूह आदि भेद पहले से ही प्रचलित थे (म. भा. शां. ३४८. ५७)। यह कल्पना कुछ हमारी ही नई नहीं है । सारांश, भारतान्तर्गत नारायणीयाख्यान के अनुसार हमने इस श्लोक का अर्थ यों लगाया है :––'सात महर्षि' अर्थात् मरीचि आदि; 'पहले के चार' अर्थात् वासुदेव आदि चतुर्व्यूह; और 'मनु' अर्थात् जो उस समय से पहले हो चुके थे और वर्तमान, सब मिला कर स्वायम्भुव आदि सात मनु। अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार आदि चार मूर्तियों को परमेश्वर के पुत्र मानने की कल्पना भारत में और अन्य स्थानों में भी पाई जाती हैं (देखो म. भा. शां. ३११. ७. ८) । परमेश्वर के भावों का वर्णन हो चुका। अब बतलाते हैं, कि इन्हें ज्ञात करके उपासना करने से क्या फल मिलता है ? :––]

(७) जो मेरी इस विभूति अर्थात् विस्तार; और योग अर्थात् विस्तार करने की शक्ति या सामर्थ्य के तत्त्व को जानता है, उसे निस्सन्देह स्थिर (कर्म-) योग प्राप्त होता है । (८) यह जान कर––कि मैं सब का उत्पत्तिस्थान हूँ; और मुझसे सब वस्तुओं की प्रवृत्ति होती है––ज्ञानी पुरुष भावयुक्त होते हुए मुझको भजते हैं। (९) वे मुझमें मन जमा कर और प्राणों को लगा कर परस्पर बोध करते हुए एवं मेरी कथा कहते हुए (उसी में) सदा संतुष्ट और रममाण रहते हैं। (१०) इस प्रकार सदैव युक्त होकर अर्थात् समाधान से रह कर जो लोग मुझे प्रीतिपूर्वक भजते हैं, उनको मैं ही ऐसी (समत्व-) बुद्धि का योग देता हूँ, कि जिससे वे मुझे पा लेंगे। (११) और उन पर अनुग्रह करने के लिये ही मैं उनके आत्मभाव अर्थात्

अर्जुन उवाच

§ § परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

अन्तःकरण में पैठ कर तेजस्वी ज्ञानदीप से (उनके) अज्ञानमूलक अन्धकार का नाश करता हूँ ।

[सातवें अध्याय में कहा है, कि भिन्न भिन्न देवताओं की श्रद्धा भी परमेश्वर ही देता है (७.२१) । उसी प्रकार अब ऊपर के दसवें श्लोक में भी वर्णन है, कि भक्तिमार्ग में लगे हुए मनुष्य की समत्वबुद्धि को उन्नत करने का काम भी परमेश्वर ही करता है । और पहले (गी.६.४४) जो यह वर्णन है—कि जब मनुष्य के मन में एक बार कर्मयोग की जिज्ञासा जागृत हो जाती है, तब वह आप-ही-आप पूर्ण सिद्धि की ओर खींचा चला जाता है—उसके साथ भक्तिमार्ग का यह सिद्धान्त समानार्थक है । ज्ञान की दृष्टि से अर्थात् कर्मविपाकप्रक्रिया के अनुसार कहा जाता है, कि यह कर्तृत्व आत्मा की स्वतन्त्रता से मिलता है । पर आत्मा भी तो परमेश्वर ही है । इस कारण भक्तिमार्ग में ऐसा वर्णन हुआ करता है, कि इस फल अथवा बुद्धि को परमेश्वर ही प्रत्येक मनुष्य के पूर्वकर्मों के अनुसार देता है (देखो गी.७.२० और गीतार. प्र. १३, पृ. ४२७) । इस प्रकार भगवान् के भक्तिमार्ग का तत्त्व बतला चुकने पर :—]

अर्जुन ने कहा :—(१२–१३) तुम ही परम ब्रह्म, श्रेष्ठ स्थान और पवित्र वस्तु (हो)। सब ऋषि, ऐसे ही देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास भी तुमको दिव्य एवं शाश्वत पुरुष, आदिदेव, अजन्मा, सर्वविभु, अर्थात् सर्वव्यापी कहते हैं; और स्वयं तुम भी मुझसे वही कहते हो । (१४) हे केशव ! तुम मुझसे जो कहते हो, उस सब को मैं सत्य मानता हूँ । हे भगवन् ! तुम्हारा व्यक्ति अर्थात् तुम्हारा मूल देवताओं को विदित नहीं; और दानवों को विदित नहीं। (१५) सब भूतों के उत्पन्न करनेवाले हे भूतेश ! देवदेव जगत्पते ! हे पुरुषोत्तम ! तुम स्वयं ही अपने आप को जानते हो । (१६) अतः तुम्हारी जो दिव्य विभूतियाँ हैं, जिन विभूतियों

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिंतयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिंत्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

§ § हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यंतो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

से इन सब लोकों को तुम व्याप्त कर रहे हो, उन्हें आप ही (कृपा कर) पूर्णता से बतलावें। (१७) हे योगिन्! (मुझे यह बतलाइये कि) सदा तुम्हारा चिन्तन करता हुआ मैं तुम्हें कैसे पहचानूँ? और हे भगवन्! मैं किन किन पदार्थों में तुम्हारा चिन्तन करूँ? (१८) हे जनार्दन! अपनी विभूति और योग मुझे फिर विस्तार से बतलाओ क्योंकि अमृततुल्य (तुम्हारे भाषण को) सुनते सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती।

[विभूति और योग दोनों शब्द इसी अध्याय के सातवें श्लोक में आये हैं; और यहाँ अर्जुन ने उन्हीं को दुहरा दिया है। 'योग' शब्द का अर्थ पहले (गी. ७, २५) दिया जा चुका है; उसे देखो। भगवान् की विभूतियों को अर्जुन इसलिये नहीं पूछता, कि भिन्न भिन्न विभूतियों का ध्यान देवता समझ कर किया जावें। किन्तु सत्रहवें श्लोक के इस कथन को स्मरण रखना चाहिये, कि उक्त विभूतियों में सर्वव्यापी परमेश्वर की ही भावना रखने के लिये उन्हें पूछा है। क्योंकि, भगवान् यह पहले ही बतला आये हैं (गी. ७. २०–२५; ९.२२–२८), कि एक ही परमेश्वर को सब स्थानों में विद्यमान् जानना एक बात है; और परमेश्वर की अनेक विभूतियों को भिन्न भिन्न देवता मानना दूसरी बात है। इन दोनों में भक्तिमार्ग की दृष्टि से महान् अन्तर है।]

श्रीभगवान् ने कहा :—(१९) अच्छा; तो अब हे कुरुश्रेष्ठ! अपनी दिव्य विभूतियों में से तुम्हें मुख्य मुख्य बतलाता हूँ। क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है।

[इस विभूतिवर्णन के समान ही अनुशासनपर्व (१४.३११–३२१) में और अनुगीता (अश्व. ४३ और ४४) में परमेश्वर के रूप का वर्णन है। परन्तु गीता का वर्णन उसकी अपेक्षा अधिक सरस है। इस कारण इसी का अनुकरण और स्थलों में भी मिलता है। उदाहरणार्थ, भागवतपुराण के एकादश स्कन्ध के सोलहवें अध्याय में इसी प्रकार का विभूतिवर्णन भगवान् ने उद्धव को समझाया है; और वहीं आरम्भ में (भाग. ११. १६.६–८) कह दिया गया है, कि यह वर्णन गीता के इस अध्यायवाले वर्णन के अनुसार है।]

(२०) हे गुडाकेश! सब भूतों के भीतर रहनेवाला आत्मा मैं हूँ; और सब भूतों

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥ २० ॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ । (२१) (बारह) आदित्यों में विष्णु मैं हूँ । तेजस्वियों में किरणशाली सूर्य, (सात अथवा उनचास) मरुतों में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा मै हूँ । (२२) मैं वेदों में सामवेद हूँ । देवताओं में इन्द्र हूँ; और इन्द्रियों में मन हूँ । भूतों में चेतना अर्थात् प्राण की चलनशक्ति मैं हूँ ।

[यहाँ वर्णन है, कि मैं वेदों में सामवेद हूँ—अर्थात् सामवेद मुख्य है । ठीक ऐसा ही महाभारत के अनुशासन पर्व (१४. ३१७) में भी " सामवेदश्च वेदानां यजुषां शतरुद्रियम् " कहा है । पर अनुगीता में 'ॐकारः सर्ववेदानाम्' (अश्व. ४४. ६) इस प्रकार सब वेदों में ॐकार को ही श्रेष्ठता दी है; तथा पहले गीता (७. ८) में भी " प्रणवः सर्ववेदेषु " कहा है । गीता ९ १७ के " ऋक्सामयजुरेव च " इस वाक्य में सामवेद की अपेक्षा ऋग्वेद को अग्रस्थान दिया गया है; और साधारण लोगों की समझ भी ऐसी ही है । इन परस्परविरोधी वर्णनों पर कुछ लोगों ने अपनी कल्पना को खूब सरपट दौड़ाया है। छान्दोग्य उपनिषद् में ॐकार ही का नाम उद्गीथ है । और लिखा है, कि " यह उद्गीथ सामवेद का सार है; और सामवेद ऋग्वेद का सार है " (छां. १. १. २) । सब वेदों में कौन वेद श्रेष्ठ है ? इस विषय के भिन्न भिन्न उक्त विधानों का मेल छान्दोग्य के इस वाक्य से हो सकता है। क्योंकि सामवेद के मन्त्र भी मूल ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। पर इतने ही से सन्तुष्ट न हो कर कुछ लोग कहते हैं, कि गीता में सामवेद को यहाँ पर जो प्रधानता दी गई है, इसका कुछ-न-कुछ गूढ कारण होना चाहिये। यद्यपि छान्दोग्य उपनिषद् में सामवेद को प्रधानता दी है, तथापि मनु ने कहा है, कि " सामवेद की ध्वनि अशुचि है " (मनु. ४. १२४) । अतः एक ने अनुमान किया है, कि सामवेद को प्रधानता देनेवाली गीता मनु से पहले की होगी; और दूसरा कहता है, कि गीता बनानेवाला सामवेदी होगा । इसी से उसने यहाँ पर सामवेद को प्रधानता दी होगी । परन्तु हमारी समझ " मैं वेदों में सामवेद हूँ " इसकी उपपत्ति लगाने के लिये इतनी दूर जाने की आवश्यकता नहीं है । भक्तिमार्ग में परमेश्वर की गानयुक्त स्तुति को सदैव प्रधानता दी जाती है । उदाहरणार्थ नारायणीय धर्म में नारद ने भगवान् का वर्णन किया है, कि " वेदेषु सपुराणेषु साङ्गोपाङ्गेषु गीयसे " (म. भा. शां. ३३४. २३); और वसु राजा " जप्यं जगौ "—जप्य गाता था (देखो शां. ३३७, २७; और ३४२. ७० और ८१) — इस प्रकार 'गै' धातुका

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेंद्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।

ही प्रयोग फिर किया गया है । अतएव भक्तिप्रधान धर्म में--यज्ञयाग आदि क्रियात्मक वेदों की अपेक्षा--गानप्रधान वेद अर्थात् सामवेद को अधिक महत्त्व दिया गया हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं; और " मैं वेदों में सामवेद हूँ " इस कथन का हमारे मत में सीधा और सहज कारण यही है ।]

(२३) (ग्यारह) रुद्रों में शङ्कर मैं हूँ । यक्ष और राक्षसों में कुबेर हूँ । (आठ) वसुओं में पावक हूँ । (और सात) पर्वतों में मेरु हूँ । (२४) हे पार्थ ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति मुझको समझ । मैं सेनानायकों में स्कन्द (कार्तिकेय); और जलाशयों में समुद्र हूँ । (२५) महर्षियों में मैं भृगु हूँ । वाणी में एकाक्षर अर्थात् ॐकार हूँ । यज्ञों में जपयज्ञ मैं हूँ । स्थावर अर्थात् स्थिर पदार्थों में हिमालय हूँ ।

[" यज्ञों में जपयज्ञ मैं हूँ " यह वाक्य महत्त्व का है । अनुगीता (म. भा. अश्व. ४४. ८) में कहा है, कि "यज्ञानां हुतमुत्तमम्"--अर्थात् यज्ञों में (अग्नि में) हवि समर्पण करके सिद्ध होनेवाला यज्ञ उत्तम है; और वही वैदिक कर्मकाण्डवालों का मत है । पर भक्तिमार्ग में हविर्यज्ञ की अपेक्षा नामयज्ञ या जपयज्ञ का विशेष महत्त्व है । इसी से गीता "मेंयज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" कहा है । मनु ने भी एक स्थान पर (२. ८७) कहा है, कि "और कुछ करे या न करे; केवल जप सेही ब्राह्मण सिद्धि पाता है " । भागवत में "यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं" पाठ है ।]

(२६) मैं सब वृक्षों में अश्वत्थ अर्थात् पीपल और देवर्षियों में नारद हूँ । गंधर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ । (२७) घोड़ों में (अमृतमन्थन के समय निकला हुआ) उच्चैःश्रवा मुझे समझो । मैं गजेन्द्रों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा हूँ । (२८) मैं आयुधों में वज्र, गौओं में कामधेनु और प्रजा उत्पन्न करनेवाला काम

पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेंद्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ।
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥
सर्गाणामादिरंतश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

मैं हूँ। सर्पों में वासुकि हूँ। (२९) नागों में अनन्त मैं हूँ। यादस् अर्थात् जलचर प्राणियों में वरुण और पितरों में अर्यमा मैं हूँ। मैं नियमन करनेवालों में यम हूँ।

[वासुकि = सर्पों का राजा और अनन्त = 'शेष' ये अर्थ निश्चित हैं; और अमरकोश तथा महाभारत में भी येही अर्थ दिये गये हैं (देखो म. भा. आदि ३५–३९)। परन्तु निश्चयपूर्वक नहीं बतलाया जा सकता, कि नाग और सर्प में क्या भेद है? महाभारत के आस्तिक-उपाख्यान में इन शब्दों का प्रयोग समानार्थक ही है। तथापि जान पड़ता है, कि यहाँ पर सर्प और नाग शब्दों से सर्प के साधारण वर्ग की दो भिन्न भिन्न जातियाँ विवक्षित हैं। श्रीधरी टीका में सर्प को विषैला और नाग को विषहीन कहा है। एवं रामानुजभाष्य में सर्प को एक सिरवाला और नाग को अनेक सिरोंवाला कहा है। परन्तु ये दोनों भेद ठीक नहीं जँचते। क्योंकि कुछ स्थलों पर नागों के ही प्रमुख कुल बतलाते हुए उन में अनन्त और वासुकि को पहले गिनाया है; और वर्णन किया है, कि दोनों ही अनेक सिरोंवाले एवं विषधर हैं। किन्तु अनन्त है अग्निवर्ण का; और वासुकि है पीला। भागवत का पाठ गीता के समान ही है।]

(३०) मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ। मैं ग्रसनेवालों में काल, पशुओं में मृगेन्द्र अर्थात् सिंह और पक्षियों में गरुड हूँ। (३१) मैं वेगवानों में वायु हूँ। मैं शस्त्रधारियों में राम, मछलियों में मगर और नदियों में भागरथी हूँ। (३२) हे अर्जुन! सृष्टिमात्र का आदि, अन्त और मध्य भी मैं हूँ। विद्याओं में अध्यात्मविद्या और वाद करनेवालों का वाद मैं हूँ।

[पीछे २० वें श्लोक में बतला दिया है, कि सचेतन भूतों का आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ; तथा अब कहते हैं, कि सब चराचर सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ; यही भेद है।]

(३३) मैं अक्षरों में अकार और समासों में (उभयपदप्रधान) द्वन्द्व हूँ। (निमेष, मुहूर्त आदि) अक्षय काल और सर्वतोमुख अर्थात् चारों ओर से मुखोंवाला धाता यानी ब्रह्मा मैं हूँ। (३४) सबका क्षय करनेवाली मृत्यु और आगे जन्म

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥
दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।

लेनेवालों का उत्पत्तिस्थान मैं हूँ। स्त्रियों में कीर्ति, श्री और वाणी, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा मैं हूँ।

[कीर्ति, श्री, वाणी इत्यादि शब्दों से वेही देवता विवक्षित हैं । महाभारत (आदि. ६६. १३, १४) में वर्णन है, कि इनमें से वाणी और क्षमा को छोड़ शेष पाँच और दूसरी पाँच (पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, लज्जा और मति) दोनों मिल कर कुल दशों दक्ष की कन्याएँ हैं। धर्म के साथ ब्याही जाने के कारण इन्हें धर्मपत्नी कहते हैं।]

(३५) साम अर्थात् गाने के योग्य वैदिक स्तोत्रों में बृहत्साम, (और) छन्दों में गायत्री छन्द मैं हूँ। महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त हूँ।

[महीनों में मार्गशीर्ष को प्रथम स्थान इसलिये दिया गया है, कि उन दिनों में बारह महीनों को मार्गशीर्ष से ही गिनने की रीति थी,—जैसे कि आजकल चैत्र से है—(देखो म.भा.अनु. १०६ और १०९; एवं वाल्मीकिरामायण ३. १६)। भागवत ११. १६, २७ में भी ऐसा ही उल्लेख है। हमने अपने 'ओरायन' ग्रन्थ में लिखा है, कि मृगशीर्ष नक्षत्र को अग्रहायणी अथवा वर्षारम्भ का नक्षत्र कहते थे। जब मृगादि नक्षत्रगणना का प्रचार था, तब मृगनक्षत्र को प्रथम अग्रस्थान मिला; और इसी से फिर मार्गशीर्ष महीने को भी श्रेष्ठता मिली होगी। इस विषय को यहाँ विस्तार के भय से अधिक बढ़ाना उचित नहीं है।]

(३६) मैं छलियों में द्यूत हूँ। तेजस्वियों का तेज, (विजयशाली पुरुषों का) विजय, (निश्चयी पुरुषों का) निश्चय और सत्त्वशीलों का सत्त्व मैं हूँ। (३७) मैं यादवों में वासुदेव, पाण्डवों में धनञ्जय, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्राचार्य कवि हूँ। (३८) मैं शासन करनेवालों का दंड, जय की इच्छा करनेवालों की नीति और गुह्यों में मौन हूँ। ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ। (३९) इसी प्रकार हे अर्जुन ! सब भूतों का

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥
नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥
§ § यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

जो कुछ बीज है वह मैं हूँ। ऐसा कोई चर-अचर भूत नहीं है, जो मुझे छोड़े हो। (४०) हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। विभूतियों का यह विस्तार मैंने (केवल) दिग्दर्शनार्थ बतलाया है।

[इस प्रकार मुख्य मुख्य विभूतियाँ बतला कर अब इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं :--]

(४१) जो वस्तु वैभव, लक्ष्मी या प्रभाव से युक्त है, उसको तुम मेरे तेज के अंश से उपजी हुई समझो। (४२) अथवा हे अर्जुन! तुम्हें इस फैलाव को जान कर करना क्या है? (संक्षेप में बतलाये देता हूँ, कि) मैं अपने एक (ही) अंश से इस सारे जगत् को व्याप्त कर रहा हूँ।

[अन्त का श्लोक पुरुषसूक्त की इस ऋचा के आधार पर कहा गया है "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (ऋ. १०. ९०. ३); और यह मन्त्र छान्दोग्य उपनिषद् (३. १२. ६) में भी है। 'अंश' शब्द के अर्थ का खुलासा गीतारहस्य के नौवें प्रकरण के अन्त (पृ. २४६ और २४७) में किया गया है। प्रगट है, कि जब भगवान् अपने एक ही अंश से इस जगत् में व्याप्त हो रहा है, तब इसकी अपेक्षा भगवान् की पूरी महिमा बहुत ही अधिक होगी; और उसे बतलाने के हेतु से ही अन्तिम श्लोक कहा गया है। पुरुषसूक्त में तो स्पष्ट ही कह दिया है, कि "एतावान् अस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः"—यह इतनी इसकी महिमा हुई। पुरुष तो इस की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए--अर्थात् कहे हुए--उपनिषद् में ब्रह्मविद्यांतर्गत योग--अर्थात् कर्मयोग--शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

एकादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

ग्यारहवाँ अध्याय ।

[जब पिछले अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया, तब उसे सुन कर अर्जुन को परमेश्वर का विश्वरूप देखने की इच्छा हुई । भगवान् ने उसे जिस विश्वरूप का दर्शन कराया, उसका वर्णन इस अध्याय में है । यह वर्णन इतना सरस है, कि गीता के उत्तम भागों में इसकी गिनती होती है; और अन्यान्य गीताओं की रचना करनेवालों ने इन्हीं का अनुकरण किया है । प्रथम अर्जुन पूछता है, कि :—]

अर्जुन ने कहा :—(१) मुझ पर अनुग्रह करने के लिये तुमने अध्यात्मसंज्ञक जो परम गुप्त बात बतलाई, उससे मेरा यह मोह जाता रहा । (२) इसी प्रकार हे कमल-पत्राक्ष ! भूतों की उत्पत्ति, लय और (तुम्हारा) अक्षय माहात्म्य भी मैंने तुमसे विस्तारसहित सुन लिया । (३) (अब) हे परमेश्वर ! तुमने अपना जैसा वर्णन किया है, हे पुरुषोत्तम ! मैं तुम्हारे उस प्रकार के ईश्वरी स्वरूप को (प्रत्यक्ष) देखना चाहता हूँ । (४) हे प्रभो ! यदि तुम समझते हो, कि उस प्रकार का रूप मैं देख सकता हूँ, तो हे योगेश्वर ! तुम अपना अव्यय स्वरूप मुझे दिखलाओ ।

[सातवें अध्याय में ज्ञानविज्ञान का आरम्भ कर सातवें और आठवें में परमेश्वर के अक्षर अथवा अव्यक्त रूप का तथा नौवें एवं दसवें में अनेक व्यक्त रूपों का जो ज्ञान बतलाया है, उसे ही अर्जुन ने पहले श्लोक में 'अध्यात्म' कहा है । एक अव्यक्त से अनेक व्यक्त पदार्थों के निमित्त होने का जो वर्णन सातवें (४–१५), आठवें (१६–२१), और नौवें (४–८) अध्यायों में है, वही 'भूतों की उत्पत्ति और लय' इन शब्दों से दूसरे श्लोक में अभिप्रेत है । तीसरे श्लोक के दोनों अर्धांशों को दो भिन्न भिन्न वाक्य मान कर कुछ लोग उनका ऐसा अर्थ करते हैं, कि "परमेश्वर ! तुमने अपना जैसा (स्वरूप का) वर्णन किया, वह सत्य है (अर्थात् मैं समझ गया) । अब हे पुरुषोत्तम ! "मैं तुम्हारे

श्रीभगवानुवाच ।

§ § पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥
पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

§ § एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।

ईश्वरी स्वरूप को देखना चाहता हूँ" (देखो गीता १०.१४) । परन्तु दोनों पंक्तियों को मिला कर एक वाक्य मानना ठीक जान पड़ता है; और परमार्थप्रपा टीका में ऐसा किया भी गया है । चौथे श्लोक में जो 'योगेश्वर' शब्द है, उसका अर्थ योगों का (योगियों का नहीं) ईश्वर है (१८. ७५) । योग का अर्थ पहले (गी. ७. २५ और ६. ५) अव्यक्त रूप से व्यक्तसृष्टि निर्माण करने का सामर्थ्य अथवा युक्ति किया जा चुका है । अब उस सामर्थ्य से ही विश्वरूप दिखलाना है, इस कारण यहाँ 'योगेश्वर' सम्बोधन का प्रयोग सहेतुक है ।]

श्रीभगवान् ने कहा :—(५) हे पार्थ ! मेरे अनेक प्रकार के अनेक रङ्गों के और आकारों के (इन) सैकड़ों अथवा हज़ारों दिव्य रूपों को देखो । (६) ये देखो (बारह) आदित्य, (आठ) वसु, (ग्यारह) रुद्र, (दो) अश्विनी कुमार और (४९) मरुद्गण । हे भारत ! ये अनेक आश्चर्य देखो, कि जो पहले कभी न देखे होंगे ।

[नारायणीय धर्म में नारद को जो विश्वरूप दिखलाया गया है, उसमें यह विशेष वर्णन है, कि बाँई ओर बारह आदित्य, सन्मुख आठ वसु, दहिनी ओर ग्यारह रुद्र और पिछली ओर दो अश्विनीकुमार थे (शां. ३३९. ५०–५२) । परन्तु कोई आवश्यकता नहीं, कि यही वर्णन सर्वत्र विवक्षित हो (देखो म. भा. उ. १३०) । आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार और मरुद्गण ये वैदिक देवता हैं; और देवताओं के चातुर्वर्ण्य का भेद महाभारत (शां. २०८. २३, २४) में यों बतलाया ह, कि आदित्य क्षत्रिय हैं, मरुद्गण वैश्य हैं; और अश्विनीकुमार शूद्र हैं । देखो शतपथब्राह्मण १४. ४. २. २३ ।]

(७) हे गुडाकेश ! आज यहाँ पर एकत्रित सब चर-अचर जगत् देख ले; और भी जो कुछ तुझे देखने की लालसा हो, वह मेरी (इस) देह में देख ले ! (८) परन्तु तू अपनी इसी दृष्टि से मुझे देख न सकेगा । तुझे मैं दिव्य दृष्टि देता हूँ । (इससे) मेरे इस ईश्वरी योग अर्थात् योगसामर्थ्य को देख ।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगंधानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥ १३ ॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

§ § पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥
अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ।
नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

सञ्जय ने कहा :—(९) फिर हे राजा धृतराष्ट्र ! इस प्रकार कह करके योगों के ईश्वर हरि ने अर्जुन को (अपना) श्रेष्ठ ईश्वरी रूप अर्थात् विश्वरूप दिखलाया। (१०) उसके अर्थात् विश्वरूप के अनेक मुख और नेत्र थे; और उसमें अनेक अद्भुत दृश्य देख पड़ते थे। उस पर अनेक प्रकार के दिव्य अलंकार थे; और उस में नानाप्रकार के दिव्य आयुध सज्जित थे। (११) उस अनन्त, सर्वतोमुख और सब आश्चर्यों से भरे हुए देवता के दिव्य सुगन्धित उबटन लगा हुआ था; और वह दिव्य पुष्प एवं वस्त्र धारण किये हुए था। (१२) यदि आकाश में एक हजार सूर्यों की प्रभा एकसाथ हो, तो वह उस महात्मा की कान्ति के समान (कुछ कुछ) देख पड़े ! (१३) तब देवाधिदेव के इस शरीर में नाना प्रकार से बँटा हुआ सारा जगत् अर्जुन को एकत्रित दिखाई दिया। (१४) फिर आश्चर्य में डूबने से उसके शरीर पर रोमांच खड़े हो आये; और मस्तक नमा कर नमस्कार करके एवं हाथ जोड़कर उस अर्जुन ने देवता से कहा :—

अर्जुन ने कहा :—(१५) हे देव ! तुम्हारी इस देह में सब देवताओं को और नानाप्रकार के प्राणियों के समुदायों को, ऐसे ही कमलासन पर बैठे हुए (सब देवताओं के) स्वामी ब्रह्मदेव, सब ऋषियों और (वासुकि प्रभृति) सब दिव्य सर्पों को भी मैं देख रहा हूँ। (१६) अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्रधारी, अनन्तरूपी तुम्हीं को मैं चारों ओर देखता हूँ; परन्तु हे विश्वेश्वर विश्व,

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १८॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनंतबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९॥
द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २०॥
अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥

रूप! तुम्हारा न तो अन्त, न मध्य और न आदि ही मुझे (कहीं) देख पड़ता है। (१७) किरीट, गदा और चक्र धारण करनेवाले, चारों ओर प्रभा फैलाये हुए, तेजःपुंज, दमकते हुए अग्नि और सूर्य के समान देदीप्यमान्, आँखों से देखने में भी अशक्य और अपरंपार (भरे हुए) तुम्हीं मुझे जहाँ-तहाँ देख पड़ते हो। (१८) तुम्हीं अन्तिम ज्ञेय अक्षर (ब्रह्म), तुम्हीं इस विश्व के अन्तिम आधार, तुम्हीं अव्यय और तुम्हीं शाश्वत धर्म के रक्षक हो। मुझे सनातन पुरुष तुम्हीं जान पड़ते हो। (१९) जिसके न आदि है, न मध्य और न अन्त, अनन्त जिसके बाहु हैं, चंद्र और सूर्य जिसके नेत्र हैं, प्रज्वलित अग्नि जिसका मुख है, ऐसे अनन्त शक्तिमान् तुम ही अपने तेज से इस समस्त जगत् को तपा रहे हो। तुम्हारा ऐसा रूप में देख रहा हूँ। (२०) क्योंकि आकाश और पृथ्वी के बीच का यह (सब) अन्तर और सभी दिशाएँ अकेले तुम्हीं ने व्याप्त कर डाली हैं। हे महात्मन्! तुम्हारे इस अद्भुत और उग्र रूप को देख कर त्रैलोक्य (डर से) व्यथित हो रहा है। (२१) यह देखो, देवताओं के समूह तुममें प्रवेश कर रहे हैं। (और) कुछ भय से हाथ जोड़ कर प्रार्थना कर रहे हैं। (एवं) 'स्वस्ति, स्वस्ति' कह कर महर्षि और सिद्धों के समुदाय अनेक प्रकार के स्तोत्रों से तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं। (२२) रुद्र और आदित्य, वसु और साध्यगण, विश्वेदेव, (दोनों) अश्विनिकुमार, मरुद्गण, उष्मपा अर्थात् पितर और गन्धर्व, यक्ष, राक्षस एवं सिद्धों के झुण्ड के झुण्ड विस्मित हो कर तुम्हारी ओर देख रहे हैं।

[श्राद्ध में पितरों को जो अन्न अर्पण किया जाता है, उसे वे तभी तक ग्रहण करते हैं, जब तक कि वह गरमागरम रहे। इसी से उनको 'उष्मपा' कहते हैं (मनु. ३. २३७)। मनुस्मृति (३, १९४–२००) में इन्हीं पितरों के सोमसद, अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोमपा, हविष्मान्, आज्यपा और सुकालिन् ये

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ॥२४॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।

सात प्रकार के गण बतलाये है। आदित्य आदि देवता वैदिक हैं (ऊपर का छठा श्लोक देखो) । बृहदारण्यक उपनिषद् (३. ९. २) में यह वर्णन है, कि आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और इन्द्र तथा प्रजापति को मिला कर ३३ देवता होते हैं; और महाभारत आदिपर्व अ. ६५ एवं ६६ में तथा शान्ति-पर्व अ. २०८ में इनके नाम और इनकी उत्पत्ति बतलाई गई है ।]

(२३) हे महाबाहु ! तुम्हारे इस महान्, अनेक मुखों के, अनेक आँखों के, अनेक भुजाओं के, अनेक जङ्घाओं के, अनेक पैरों के, अनेक उदरों के और अनेक डाढ़ों के कारण विकराल दिखनेवाले रूप को देख कर सब लोगों को और मुझे भी भय हो रहा है । (२४) आकाश से भिड़े हुए, प्रकाशमान, अनेक रंगों के, जबड़े फैलाये हुए और बड़े चमकीले नेत्रों से युक्त तुमको देख कर अन्तरात्मा घबड़ा गया है। इससे हे विष्णो ! मेरा धीरज छूट गया; और शान्ति भी जाती रही ! (२५) डाढ़ों से विकराल तथा प्रलयकालीन अग्नि के समान तुम्हारे (इन) मुखों को देखते ही मुझे दिशाएँ नहीं सूझतीं; और समाधान भी नहीं होता । हे जगन्निवास, देवाधि-देव ! प्रसन्न हो जाओ । (२६) यह देखो ! राजाओं के झुण्डोंसमेत धृतराष्ट्र के सब पुत्र, भीष्म, द्रोण और वह सूतपुत्र (कर्ण), हमारी भी ओर के मुख्य मुख्य योद्धाओं के साथ (२७) तुम्हारी विकराल डाढ़ोंवाले इन अनेक भयङ्कर मुखों में धड़ाधड़ घुस रहे हैं; और कुछ लोग दाँतों में दब कर ऐसे दिखाई दे रहे हैं, कि जिनकी खोपड़ियाँ चूर हैं। (२८) तुम्हारे अनेक प्रज्वलित मुखों में मनुष्यलोक के ये वीर वैसे ही घुस रहे हैं, जैसे कि नदियों के बड़े बड़े प्रवाह समुद्र की ही ओर चले जाते हैं। (२९) जलती हुई अग्नि में भरने के लिये बड़े वेग से जिस प्रकार

तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समंताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ॥
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

§§ कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

पतङ्ग कूदते हैं, वैसे ही तुम्हारे भी अनेक जबड़ों में (ये) लोग मरने के लिये बड़े वेग से प्रवेश कर रहे हैं। (३०) हे विष्णो ! चारों ओर से सब लोगों को अपने प्रज्वलित मुखों से निगल कर तुम जीभ चाट रहे हो ! और तुम्हारी उग्र प्रभाएँ तेज से समूचे जगत् को व्याप्त कर (चारों ओर) चमक रही हैं। (३१) मुझे बतलाओ, कि इस उग्र रूप को धारण करनेवाले तुम कौन हो ? हे देवदेवश्रेष्ठ ! तुम्हें नमस्कार करता हूँ ! प्रसन्न हो जाओ ! मैं जानना चाहता हूँ, कि तुम आदिपुरुष कौन हो ? क्योंकि मैं तुम्हारी इस करनी को (बिलकुल) नहीं जानता।

श्रीभगवान् ने कहा :—(३२) मैं लोकों का क्षय करनेवाला और बढ़ा हुआ 'काल' हूँ। यहाँ लोगों का संहार करने आया हूँ। तू न हो, तो भी (अर्थात् तू कुछ न करे, तो भी) सेनाओं में खड़े हुए ये सब योद्धा नष्ट होनेवाले (मरनेवाले) हैं। (३३) अतएव तू उठ, यश प्राप्त कर; और शत्रुओं को जीत करके समृद्ध राज्य का उपभोग कर। मैंने इन्हें पहले ही मार डाला है। (इसलिये अब) हे सव्यसाची (अर्जुन) ! तू केवल निमित्त के लिये (आगे) हो ! (३४) मैं द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा ऐसे ही अन्यान्य वीर योद्धाओं को (पहले ही) मार चुका हूँ। उन्हें तू मार। घबड़ाना नहीं ! युद्ध कर ! तू युद्ध में शत्रुओं को जीतेगा।

[सारांश, जब श्रीकृष्ण सन्धि के लिये गये थे, तब दुर्योधन को मेल की कोई भी बात सुनते न देख भीष्म ने श्रीकृष्ण से केवल शब्दों में कहा था, कि "कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन" (म. भा. उ. १२७. ३२)—ये सब क्षत्रिय कालपक्व हो गये हैं। उसी कथन का यह प्रत्यक्ष दृश्य श्रीकृष्ण ने अपने विश्वरूप से अर्जुन को दिखला दिया है (ऊपर २६–३१ श्लोक देखो)। कर्मविपाकप्रक्रिया का यह सिद्धान्त भी ३३ वें श्लोक में आ गया है, कि दुष्ट

संजय उवाच ।

§ § एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६ ॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनंत देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।

मनुष्य अपने कर्मों से ही मरते हैं। उनको मारनेवाला तो सिर्फ़ निमित्त है। इसलिये मारनेवाले को उसका दोष नहीं लगता ।]

सञ्जय ने कहा :—(३५) केशव के इस भाषण को सुन कर अर्जुन अत्यन्त भयभीत हो गया। गला रुँध कर काँपते काँपते हाथ जोड़ नमस्कार करके उसने श्रीकृष्ण से नम्र हो कर फिर कहा :—अर्जुन ने कहा :—(३६) हे हृषीकेश ! (सब) जगत् तुम्हारे (गुण-) कीर्तन से प्रसन्न होता है; और (उसमें) अनुरक्त रहता है। राक्षस तुमको डर कर (दशों) दिशाओं में भाग जाते हैं; और सिद्धपुरुषों के संघ तुम्हीं को नमस्कार करते हैं, यह (सब) उचित ही है। (३७) हे महात्मन् ! तुम ब्रह्मदेव के भी आदि कारण और उससे भी श्रेष्ठ हो। तुम्हारी वन्दना वे कैसे न करेंगे ? हे अनन्त ! हे देवदेव ! हे जगन्निवास ! सत् और असत् तुम्हीं हो; और इन दोनों से परे जो अक्षर है, वह भी तुम्हीं हो।

[गीता ७. २४; ८. २०; और १५. १६ से देख पड़ेगा, कि सत् और असत् शब्दों के अर्थ वहाँ पर क्रम से व्यक्त और अव्यक्त अथवा क्षर और अक्षर इन शब्दों के अर्थों के समान हैं। सत् और असत् से परे जो तत्त्व है, वही अक्षर ब्रह्म है। इसी कारण गीता १३.१२ में स्पष्ट वर्णन है, कि 'मैं न तो सत् हूँ; और न असत्'। गीता में 'अक्षर' शब्द कभी प्रकृति के लिये और कभी ब्रह्म के लिये उपयुक्त होता है। गीता ६. १६; १३. १२; और १५. १६ की टिप्पणी देखो।]

(३८) तुम आदिदेव, (तुम) पुरातन पुरुष, इस जगत् के परम आधार, तुम ज्ञाता और ज्ञेय तथा तुम श्रेष्ठस्थान हो; और हे अनन्तरूप ! तुम्हीं ने (इस) विश्व को विस्तृत अथवा व्याप्त किया है। (३९) वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति

अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ४३ ॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीडयम् ।

अर्थात् ब्रह्मा और परदादा भी तुम्हीं हो। तुम्हें हजार बार नमस्कार है। और फिर भी तुम्हीं को नमस्कार है!

[ब्रह्मा से मरीचि आदि सात मानसपुत्र उत्पन्न हुए; और मरीचि से कश्यप तथा कश्यप से सब प्रजा उत्पन्न हुई है (म. भा. आदि. ६५. ११)। इसलिये इन मरीचि आदि को ही प्रजापति कहते हैं (शां. ३४०. ६५)। इसी से कोई कोई प्रजापति शब्द का अर्थ कश्यप आदि प्रजापति करते हैं। परन्तु यहाँ प्रजापति शब्द एकवचनान्त है। इस कारण प्रजापति का अर्थ ब्रह्मदेव ही अधिक ग्राह्य देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा, मरीचि आदि के पिता अर्थात् सब के पितामह (दादा) हैं, अतः आगे का 'प्रपितामह' (परदादा) पद भी आप-ही-आप प्रगट होता है; और उसकी सार्थकता व्यक्त हो जाती है।]

(४०) हे सर्वात्मक! तुम्हें सामने से नमस्कार है, पीछे से नमस्कार है और सभी ओर से तुमको नमस्कार है। तुम्हारा वीर्य अनन्त है; और तुम्हारा पराक्रम अतुल है। सब को यथेष्ट होने के कारण तुम्हीं 'सर्व' हो।

[सामने से नमस्कार, पीछे से नमस्कार, ये शब्द परमेश्वर की सर्वव्यापकता दिखलाते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म का ऐसा वर्णन है, कि "ब्रह्मैवेदं अमृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्" (मुं. २. २. ११; छां. ७. २५) उसी के अनुसार भक्तिमार्ग की यह नमनात्मक स्तुति है।]

(४१) तुम्हारी इस महिमा को बिना जाने, मित्र समझ कर प्यार से या भूल से 'अरे कृष्ण,' 'ओ यादव,' 'हे सखा,' इत्यादि जो कुछ मैंने कह डाला हो; (४२) और हे अच्युत! आहार-विहार में अथवा सोने-बैठने में, अकेले में या दस मनुष्यों के समक्ष मैंने हँसी-दिल्लगी में तुम्हारा जो अपमान किया हो, उसके लिये मैं तुमसे क्षमा माँगता हूँ (४३) इस चराचर जगत् के पिता तुम्हीं हो। तुम पूज्य हो; और गुरु के भी गुरु हो! त्रैलोक्यभर में तुम्हारी बराबरी का कोई नहीं है। फिर हे अतुलप्रभाव! अधिक कहाँ से होगा? (४४) तुम्हीं स्तुत्य और समर्थ हो। इसलिये मैं शरीर झुका कर नमस्कार करके तुमसे प्रार्थना करता हूँ, कि "प्रसन्न

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।

हो जाओ "। जिस प्रकार पिता अपने पुत्रके अथवा सखा अपने सखा के अपराध क्षमा करता है, उसी प्रकार हे देव ! प्रेमी (आप) को प्रिय के (अपने प्रेमपात्र के अर्थात् मेरे सब) अपराध क्षमा करना चाहिये ।

[कुछ लोग " प्रियः प्रियायार्हसि " इन शब्दों का " प्रिय पुरुष जिस प्रकार अपनी स्त्री के " ऐसा अर्थ करते हैं। परन्तु हमारे मत में यह ठीक नहीं है। क्योंकि व्याकरण की रीति से ' प्रियायार्हसि ' के प्रियायाः + अर्हसि अथवा प्रियायै + अर्हसि ऐसे पद नहीं टूटते; और उपमाद्योतक 'इव' शब्द भी इस श्लोक में दो बार ही आया है। अतः ' प्रियः प्रियायार्हसि ' को तीसरी उपमा न समझ कर उपमेय मानना ही अधिक प्रशस्त है। 'पुत्र के' (पुत्रस्य), 'सखा के'(सख्युः), इन दोनों उपमानात्मक षष्ठचन्त शब्दों के समान यदि उपमेय में भी ' प्रियस्य ' (प्रिय के) यह षष्ठचन्त पद होता, तो बहुत अच्छा होता। परन्तु अब ' स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया ' इस न्याय के अनुसार यहाँ व्यवहार करना चाहिये। हमारी समझ में यह बात बिलकुल युक्तिसंगत नहीं देख पड़ती, कि 'प्रियस्य' इस षष्ठचन्त स्त्रीलिंग पद के अभाव में व्याकरण के विरुद्ध 'प्रियायाः' यह षष्ठचन्त स्त्रीलिंग का पद किया जावे; और जब वह अर्जुन के लिये लागू न हो सके तब, ' इव ' शब्द को अध्याहार मान कर ' प्रियः प्रियायाः'—— प्रेमी अपनी प्यारी स्त्री के——ऐसी तीसरी उपमा मानी जावे; और वह भी श्रृङ्गारिक अतएव अप्रासंगिक हो। इसके सिवा एक और बात है, कि पुत्रस्य, सख्युः, प्रियायाः, इन तीनों पदों के उपमान में चले जाने से उपमेय में षष्ठचन्त पद बिलकुल ही नहीं रह जाता; और 'मे' अथवा 'मम' पद का फिर भी अध्याहार करना पड़ता है। एवं इतनी माथापच्ची करने पर उपमान और उपमेय में जैसे तैसे विभक्ति की समता हो गई, तो दोनों में लिङ्ग की विषमता का नया दोष बना ही रहता है। दूसरे पक्ष में——अर्थात् प्रियाय + अर्हसि ऐसे व्याकरण की रीति से शुद्ध और सरल पद किये जायँ, तो उपमेय में——जहाँ षष्ठी होनी चाहिये, वहाँ 'प्रियाय' यह चतुर्थी आती है, ——बस; इतना ही दोष रहता है; और यह दोष कोई विशेष महत्त्व का नहीं है। क्योंकि षष्ठी का अर्थ यहाँ चतुर्थी का सा है; और अन्य भी कई बार ऐसा होता है। इस श्लोक का अर्थ परमार्थप्रपा टीका में वैसा ही है, जैसा कि हमने किया है।]

(४५) कभी न देखे हुए रूप को देखकर मुझे हर्ष हुआ है ! और भय से मेरा मन व्याकुल भी हो गया है ! हे जगन्निवास, देवाधिदेव ! प्रसन्न हो जाओ ! और हे,

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच

§ § मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९॥

संजय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

देव! अपना वही पहले का स्वरूप दिखलाओ। (४६) मैं पहले के समान ही किरीट और गदा धारण करनेवाले, हाथ में चक्र लिये हुए तुमको देखना चाहता हूँ। (अतएव) हे सहस्रबाहु, विश्वमूर्ति! उसी चतुर्भुज रूप से प्रगट हो जाओ।

श्रीभगवान् ने कहा :—(४७) हे अर्जुन! (तुझ पर) प्रसन्न होकर यह तेजोमय, अनन्त, आद्य और परम विश्वरूप अपने योगसामर्थ्य से मैंने तुझे दिखलाया है। इसे तेरे सिवा और किसी ने पहले नहीं देखा। (४८) हे कुरुवीरश्रेष्ठ! मनुष्यलोक में मेरे इस प्रकार का स्वरूप कोई भी वेद से, यज्ञों से, स्वाध्याय से, दान से, कर्मों से अथवा उग्र तप से नहीं देख सकता, कि जिसे तू ने देखा है। (४९) मेरे ऐसे घोर रूप को देख कर अपने चित्त में व्यथा न होने दे; और मूढ मत हो जा। डर छोड़ कर सन्तुष्ट मन से मेरे उसी स्वरूप को फिर देख ले। सञ्जय ने कहा :—(५०) इस प्रकार भाषण करके वासुदेव ने अर्जुन को फिर अपना (पहले का) स्वरूप दिखलाया; और फिर सौम्य रूप धारण करके उस महात्मा ने डरे हुए अर्जुन को धीरज बँधाया।

[गीता के द्वितीय अध्याय के ५ वें से ८ वें, २० वें, २२ वें, २९ वें और ७० वें श्लोक, आठवें अध्याय के ९ वें, १० वें, ११ वें और २८ वें श्लोक, नौवें अध्याय के २० और २१ वें श्लोक, पन्द्रहवें अध्याय के २ रे से ५ वें और १५ वें श्लोक का छन्द विश्वरूपवर्णन के उक्त ३६ श्लोकों के छन्द के समान है। अर्थात् इसके प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर हैं। परन्तु इनमें गणों का कोई एक नियम नहीं है। इससे कालिदास प्रभृति के काव्यों के इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, दोधक, शालिनी आदि छन्दों की चाल पर ये श्लोक नहीं कहे जा सकते। अर्थात् यह वृत्तरचना आर्ष यानी वेदसंहिता के त्रिष्टुप् वृत्त के नमूने पर की गई है। इस कारण यह

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

§ § सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानासि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥
§ § मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।

सिद्धान्त और भी सुदृढ हो जाता है, कि गीता बहुत प्राचीन होगी । देखो गीता-रहस्य परिशिष्ट प्रकरण पृ. ५१६ ।]

अर्जुन ने कहा :-(५१) हे जनार्दन ! तुम्हारे इस सौम्य और मनुष्यदेहधारी रूप को देख कर अब मन ठिकाने आ गया; और मैं पहले की भाँति सावधान हो गया हूँ ।

श्रीभगवान् ने कहा :—(५२) मेरे जिस रूप को तू ने देखा है, उसका दर्शन मिलना बहुत कठिन है । देवता भी इस रूप को देखने की सदैव इच्छा किये रहते हैं । (५३) जैसा तू ने मुझे देखा है, वैसा मुझे वेदों से, तप से, दान से अथवा यज्ञ से भी (कोई) देख नहीं सकता । (५४) हे अर्जुन ! केवल अनन्यभक्ति से ही इस प्रकार मेरा ज्ञान होना, मुझे देखना और हे परन्तप ! मुझमें तत्त्व से प्रवेश करना सम्भव है ।

[भक्ति करने से परमेश्वर का पहले ज्ञान होता है; और फिर अन्त में पर-मेश्वर के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है । यही सिद्धान्त पहले ४. २९ में और आगे १८. ५५ में फिर आया है । इसका खुलासा हमने गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण (पृ. ४२६–४२८) में किया है । अब अर्जुन को पूरी गीता के अर्थ का सार बतलाते हैं :—]

(५५) हे पाण्डव ! जो इस बुद्धि से कर्म करता है, कि सब कर्म मेरे अर्थात् परमेश्वर के हैं, जो मत्परायण और सङ्गविरहित है; और जो सब प्राणियों के विषय में निर्वैर है, वह मेरा भक्त मुझमें मिल जाता है ।

[उक्त श्लोक का आशय यह है, कि जगत् के सब व्यवहार भगवद्भक्त को परमेश्वरार्पणबुद्धि से करना चाहिये (ऊपर ३३ वाँ श्लोक देखो) । अर्थात् उसे सारे व्यवहार इस निरभिमानबुद्धि से करना चाहिये, कि जगत् के सभी कर्म परमेश्वर

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विश्वरूपदर्शनं नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

के हैं, सच्चा कर्ता और करानेवाला वही है; किन्तु हमें निमित्त बना कर वह ये कर्म हम से करवा रहा है। ऐसा करने से वे कर्म शांति अथवा मोक्षप्राप्ति में बाधक नहीं होते। शाङ्करभाष्य में भी यही कहा है, कि इस श्लोक में पूरे गीताशास्त्र का तात्पर्य आ गया है। इससे प्रगट है, कि गीता का भक्तिमार्ग यह नहीं कहता, कि आराम से 'राम राम' जपा करो; प्रत्युत उसका कथन है, कि उत्कट भक्ति के साथ-ही-साथ उत्साह से सब निष्काम कर्म करते रहो। संन्यास-मार्गवाले कहते हैं, कि 'निर्वैर' का अर्थ निष्क्रिय है। परन्तु यह अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है। इसी बात को प्रगट करने के लिये उसके साथ 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् 'सब कर्मों को परमेश्वर के (अपने नहीं) समझ कर परमेश्वरार्पणबुद्धि से करनेवाला' विशेषण लगाया गया है। इस विषय का विस्तृत विचार गीता-रहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३९२-३९७) में किया है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए--अर्थात् कहे हुए--उपनिषद् में ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग--अथवा कर्मयोग--शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

बारहवाँ अध्याय।

[कर्मयोग की सिद्धि के लिये सातवें अध्याय में ज्ञानविज्ञान के निरूपण का आरम्भ कर आठवें में अक्षर, अनिर्देश्य और अव्यक्त ब्रह्म का स्वरूप बतलाया है। फिर नौवें अध्याय में भक्तिरूप प्रत्यक्ष राजमार्ग के निरूपण का प्रारम्भ करके दसवें और ग्यारहवें में तदन्तर्गत 'विभूतिवर्णन' एवं 'विश्वरूपदर्शन' इन दो उपाख्यानों का वर्णन किया है। और ग्यारहवें अध्याय के अन्त में सार रूप से अर्जुन को उपदेश किया है, कि भक्ति से एवं निःसङ्गबुद्धि से समस्त कर्म करते रहो। अब इस पर अर्जुन का प्रश्न है, कि कर्मयोग की सिद्धि के लिये सातवें और आठवें अध्याय में क्षरअक्षरविचारपूर्वक परमेश्वर के अव्यक्त रूप को श्रेष्ठ सिद्ध करके अव्यक्त की अथवा अक्षर की उपासना (७,१९ और २४; ८. २१) बतलाई है। और उपदेश किया है, कि युक्तचित्त से युद्ध कर (८.७); एवं नौवें अध्याय में व्यक्त उपासनारूप प्रत्यक्ष धर्म बतला कर कहा है, कि परमेश्वरार्पणबुद्धि से सभी कर्म करना चाहिये (९.२७,३४ और ११.५५); तो अब इन दोनों में श्रेष्ठमार्ग कौन-सा है

द्वादशोध्यायः

अर्जुन उवाच ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

§ § मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहंसमुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

इस प्रश्न में व्यक्तोपासना का अर्थ भक्ति है । परन्तु यहाँ भक्ति से भिन्न भिन्न अनेक उपास्यों का अर्थ विवक्षित नहीं है । उपास्य अथवा प्रतीक कोई भी हो; उसमें एक ही सर्वव्यापी परमेश्वर की भावना रख कर जो भक्ति की जाती है, वही सच्ची व्यक्त-उपासना है; और इस अध्याय में वही उद्दिष्ट है ।]

अर्जुन ने कहा :—(१) इस प्रकार सदा युक्त अर्थात् योगयुक्त हो कर जो भक्त तुम्हारी उपासना करते हैं; और जो अव्यक्त, अक्षर अर्थात् ब्रह्म की उपासना करते हैं, उनमें उत्तम (कर्म-) योगवेत्ता कौन हैं ?

श्रीभगवान् ने कहा—(२) मुझमें मन लगा कर सदा युक्तचित्त हो करके परम श्रद्धा से मेरी जो उपासना करते हैं, वे मेरे मत में सब से उत्तम युक्त अर्थात् योगी हैं (३–४) परन्तु जो अनिर्देश्य अर्थात् सब के मूल में रहनेवाले, अचल अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य और कूटस्थ अर्थात् प्रत्यक्ष न दिखलाये जानेवाला और नित्य अक्षर अर्थात् ब्रह्म की उपासना सब इन्द्रियों को रोक कर सर्वत्र समबुद्धि रखते हुए करते हैं, वे सब भूतों के हित में निमग्न (लोग भी) मुझे ही पाते हैं; (५) (तथापि) उनके चित्त अव्यक्त में आसक्त रहने के कारण उनके क्लेश अधिक होते हैं । क्योंकि (व्यक्त देहधारी मनुष्यों को) अव्यक्त उपासना का मार्ग कष्ट से सिद्ध होता है । (६) परन्तु जो मुझमें सब कर्मों का संन्यास अर्थात् अर्पण करके

भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥
§ § अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

मत्परायण होते हुए अनन्य योग से मेरा ध्यान कर मुझे भजते हैं। (७) हे पार्थ ! मुझमें चित्त लगानेवाले उन लोगों का, मैं इस मृत्युमय संसारसागर से बिना विलम्ब किये उद्धार कर देता हूँ। (८) (अतएव) मुझमें ही मन लगा। मुझमें बुद्धि को स्थिर कर। इससे तू निःसन्देह मुझमें ही निवास करेगा।

[इसमें भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। दूसरे श्लोक में पहले यह सिद्धान्त किया है, कि भगवद्भक्त उत्तम योगी है। फिर तीसरे श्लोक में पक्षान्तरबोधक 'तु' अव्यय का प्रयोग कर इसमें और चौथे श्लोक में कहा है, कि अव्यय की उपासना करनेवाले भी मुझे ही पाते हैं। परन्तु इसके सत्य होने पर भी पाँचवें श्लोक में यह बतलाया है, कि अव्यक्त-उपासकों का मार्ग अधिक क्लेशदायक होता है। छठे और सातवें श्लोक में वर्णन किया है, कि अव्यक्त की अपेक्षा व्यक्त की उपासना सुलभ होती है; और आठवें श्लोक में इसके अनुसार व्यवहार करने का अर्जुन को उपदेश किया है। सारांश, ग्यारहवें अध्याय के अन्त (गी. ११.५५) में जो उपदेश कर आये हैं, यहाँ अर्जुन के प्रश्न करने पर उसी को दृढ कर दिया है। इसका विस्तारपूर्वक विचार—कि भक्तिमार्ग में सुलभता क्या है?—गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण में कर चुके हैं। इस कारण यहाँ हम उसकी पुनरुक्ति नहीं करते। इतना ही कह देते हैं, कि अव्यक्त की उपासना कष्टमय होने पर भी मोक्षदायक ही है; और भक्तिमार्गवालों को स्मरण रखना चाहिये, कि भक्तिमार्ग में भी कर्म न छोड़ कर ईश्वरार्पणपूर्वक अवश्य करना पड़ता है। इसी हेतु से छठे श्लोक में "मुझे ही सब कर्मों का संन्यास करके" ये शब्द रखे गये हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है, कि भक्तिमार्ग में भी कर्मों को स्वरूपतः न छोड़े, किन्तु परमेश्वर में उन्हें (अर्थात् उनके फलों को) अर्पण कर दे। इससे प्रगट होता है, कि भगवान् ने इस अध्याय के अन्त में जिस भक्तिमान् पुरुष को अपना प्यारा बतलाया है, उसे भी इसी अर्थात् निष्काम कर्मयोगमार्ग का ही समझना चाहिये। यह स्वरूपतः कर्मसंन्यासी नहीं है। इस प्रकार भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता और सुलभता बतला कर अब परमेश्वर में ऐसी भक्ति करने के उपाय अथवा साधन बतलाते हुए उनके तारतम्य का भी खुलासा करते हैं:—]

(९) अब (इस प्रकार) मुझमें भली भाँति चित्त को स्थिर करते न बन पड़े, तो हे धनञ्जय ! अभ्यास की सहायता से अर्थात् बारम्बार प्रयत्न करके मेरी

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनंतरम् ॥ १२ ॥

प्राप्ति कर लेने की आशा रख । (१०) यदि अभ्यास करने में भी तू असमर्थ हो, तो मदर्थ अर्थात् मेरी प्राप्ति के अर्थ (शास्त्रों में बतलाते हुए ज्ञान-ध्यान-भजन-पूजा-पाठ आदि) कर्म करता जा। मदर्थ (ये) कर्म करने से भी तू सिद्धि पावेगा। (११) परन्तु यदि इसके करने में भी तू असमर्थ हो, तो मद्योग--मदर्पणपूर्वक योग यानी कर्मयोग--का आश्रय करके यतात्मा होकर अर्थात् धीरे धीरे चित्त को रोकता हुआ, (अन्त में) सब कर्मों के फलों का त्याग कर दे । (१२) क्योंकि अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान अधिक अच्छा है । ज्ञान की अपेक्षा ध्यान की योग्यता अधिक है । ध्यान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है; और (इस कर्मफल के) त्याग से तुरंत ही शांति प्राप्त होती है ।

[कर्मयोग की दृष्टि से ये श्लोक अत्यन्त महत्त्व के हैं । इन श्लोकों में भक्ति-युक्त कर्मयोग के सिद्ध होने के लिये अभ्यास, ज्ञान-भजन आदि साधन बतला कर इसके और अन्य साधनों के तारतम्य का विचार करके अन्त में--अर्थात् १२ वें श्लोक में--कर्मफल के त्याग की--अर्थात् निष्कामकर्मयोग की--श्रेष्ठता वर्णित है । निष्काम कर्मयोगी की श्रेष्ठता का वर्णन कुछ यहीं नहीं है; किन्तु तीसरे (३. ८), पाँचवें (५, २), छठे (६. ४६) अध्यायों में भी यही अर्थ स्पष्ट रीति से वर्णित है; और उसके अनुसार फलत्यागरूप कर्मयोग का आचरण करने के लिये स्थान स्थान पर अर्जुन को उपदेश भी किया है (देखो गीतार. प्र. ११, पृ. ३०७-३०८) । परन्तु गीताधर्म से जिनका सम्प्रदाय जुदा है, उनके लिये यह बात प्रतिकूल है । इसलिये उन्होंने ऊपर के श्लोकों का और विशेषतया १२ वें श्लोक के पदों का अर्थ बदलने का प्रयत्न किया है । निरे ज्ञानमार्गी अर्थात् सांख्य-टीकाकारों को यह पसन्द नहीं है, कि ज्ञान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ बतलाया जावे । इसलिये उन्होंने कहा है, कि या तो ज्ञान शब्द से 'पुस्तकों का ज्ञान' लेना चाहिये; अथवा कर्मफलत्याग की इस प्रशंसा को अर्थवादात्मक यानी कोरी प्रशंसा समझनी चाहिये । इसी प्रकार पातंजलयोगमार्गवालों को अभ्यास की अपेक्षा कर्मफलत्याग का बड़प्पन नहीं सुहाता; और कोरे भक्तिमार्गवालों को--अर्थात् जो कहते हैं, कि भक्ति को छोड़, दूसरे कोई भी कर्म न करो, उनको--ध्यान की अपेक्षा अर्थात् भक्ति की अपेक्षा कर्मफलत्याग की श्रेष्ठता मान्य नहीं है । वर्तमान समय में गीता का भक्तियुक्त कर्मयोग सम्प्रदाय लुप्त-सा हो गया है, कि जो पातञ्जलयोग, ज्ञान और भक्ति इन तीनों सम्प्रदायों से भिन्न है,

§ § अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।

और इसी से उस सम्प्रदाय का कोई टीकाकार भी नहीं पाया जाता है । अतएव आजकल गीता पर जितनी टीकाएँ पाई जाती हैं, उनमें कर्मफलत्याग की श्रेष्ठता अर्थवादात्मक समझी गई है। परन्तु हमारी राय में यह भूल है। गीता में निष्काम कर्मयोग को ही प्रतिपाद्य मान लेने से इस श्लोक के अर्थ के विषय में कोई भी अड़चन नहीं रहती । यदि मान लिया जाय, कि कर्म छोड़ने से निर्वाह नहीं होता, निष्काम कर्म करना ही चाहिये; तो स्वरूपतः कर्मों को त्यागनेवाला ज्ञानमार्ग पातञ्जलयोग कर्मयोग से हलका जँचने लगता है; और सभी कर्मों को छोड़ देने-वाला भक्तिमार्ग भी कर्मयोग की अपेक्षा कम योग्यता का सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता प्रमाणित हो जाने पर यही प्रश्न रह जाता है, कि कर्मयोग में आवश्यक भक्तियुक्त साम्यबुद्धि को प्राप्त करने के लिये उपाय क्या है ? ये उपाय तीन हैं--अभ्यास, ज्ञान और ध्यान । इनमें यदि किसी से अभ्यास न सधे, तो वह ज्ञान अथवा ध्यान में से किसी भी उपाय को स्वीकार कर ले । गीता का कथन है, कि इन उपायों का आचरण करना यथोक्त क्रम से सुलभ है । १२ वें श्लोक में कहा है, कि यदि इनमें से एक भी उपाय न सधे, तो मनुष्य को चाहिये, कि वह कर्मयोग के आचरण करने का ही एकदम आरम्भ कर दे । अब यहाँ एक शंका यह होती है, कि जिससे अभ्यास नहीं सधता; और जिससे ज्ञान-ध्यान भी नहीं होता, वह कर्मयोग करेगा ही कैसे ? कई एकों ने निश्चय किया है, कि फिर कर्मयोग को सब की अपेक्षा सुलभ कहना ही निरर्थक है । परन्तु विचार करने से देख पड़ेगा, कि इस आक्षेप में कुछ भी जान नहीं है। १२ वें श्लोक में यह नहीं कहा है, कि सब कर्मों के फलों का 'एकदम त्याग कर दे; वरन् यह कहा है, कि पहले भगवान् के बतलाये हुए कर्मयोग का आश्रय करके (ततः) तदनन्तर धीरे धीरे इस बात को अन्त में सिद्ध कर ले। और ऐसा अर्थ करने से कुछ भी विसंगति नहीं रह जाती । पिछले अध्यायों में कह आये हैं, कि कर्मफल के स्वल्प आचरण से ही नहीं (गी. २. ४०), किन्तु जिज्ञासा (देखो गी. ६. ४४ और हमारी टिप्पणी) हो जाने से भी मनुष्य आप ही आप अन्तिम सिद्धि की ओर खींचा चला जाता है । अतएव उस मार्ग की सिद्धि पाने का पहला साधन या सीढ़ी यही है, कि कर्मयोग का आश्रय करना चाहिये--अर्थात् इस मार्ग से जाने की मन में इच्छा होनी चाहिये । कौन कह सकता है, कि यह साधन अभ्यास, ज्ञान और ध्यान की अपेक्षा सुलभ नहीं है ? और १२ वें श्लोक का भावार्थ है भी यही । न केवल भगवद्गीता में किन्तु सूर्य-गीता में भी कहा है :--

ज्ञानादुपास्तिरुत्कृष्टा कर्मोत्कृष्टमुपासनात्

इति यो वेद वेदान्तैः स एव पुरुषोत्तमः ॥

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥

"जो इस वेदान्ततत्त्व को जानता है, कि ज्ञान की अपेक्षा उपासना अर्थात् ध्यान या भक्ति उत्कृष्ट है; एवं उपासना की अपेक्षा कर्म अर्थात् निष्काम कर्म श्रेष्ठ है, वही पुरुषोत्तम है" (सूर्यगी. ४. ७७)। सारांश, भगवद्गीता का निश्चित मत यह है, कि कर्मफलत्यागरूपी योग—अर्थात् ज्ञानभक्तियुक्त निष्काम कर्मयोग—ही सब मार्गों में श्रेष्ठ है; और इसके अनुकूल ही नहीं, प्रत्युत पोषक युक्तिवाद १२वें श्लोक में है। यदि किसी दूसरे सम्प्रदाय को वह न रुचे, तो वह उसे छोड़ दे; परन्तु अर्थ की व्यर्थ खींचातानी न करे। इस प्रकार कर्मफलत्याग को श्रेष्ठ सिद्ध करके उस मार्ग से जानेवाले को (स्वरूपतः कर्म छोड़नेवाले को नहीं) जो सम और शान्त स्थिति अन्त में प्राप्त होती है, उसीका वर्णन करके अब भगवान् बतलाते हैं, कि ऐसा भक्त ही मुझे अत्यन्त प्रिय है :—]

(१३) जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो सब भूतों के साथ मित्रता से बर्तता है, जो कृपालु है, जो ममत्वबुद्धि और अहंकार से रहित है, जो दुःख और सुख में समान एवं क्षमाशील है, (१४) जो सदा सन्तुष्ट, संयमी तथा दृढ-निश्चयी है, जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझमें अर्पण कर दिया है, वह मेरा (कर्म-) योगी भक्त मुझको प्यारा है। (१५) जिससे न तो लोगों को क्लेश होता है; और न जो लोगों से क्लेश पाता है, ऐसे ही जो हर्ष, क्रोध, भय और विषाद से अलिप्त है, वही मुझे प्रिय है। (१६) मेरा वही भक्त मुझे प्यारा है, कि जो निरपेक्ष, पवित्र और दक्ष है—अर्थात् किसी भी काम को आलस्य छोड़ कर करता है—जो (फल के विषय में) उदासीन है, जिसे कोई भी विकार डिगा नहीं सकता और जिसने (काम्यफल के) सब आरम्भ यानी उद्योग छोड़ दिये हैं। (१७) जो न आनन्द मानता है, न द्वेष करता है, जो न शोक करता है; और न इच्छा रखता है, जिसने (कर्म के) शुभ और अशुभ (फल) छोड़ दिये हैं, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है। (१८) जिसे शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और

तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

गर्मी, सुख और दुःख समान है; और जिसे (किसी में भी) आसक्ति नहीं है, (१९) जिसे निन्दा और स्तुति दोनों एक-सी हैं, जो मितभाषी है, जो कुछ मिल जावे उसी में सन्तुष्ट है; एवं जिसका चित्त स्थिर है, जो अनिकेत है अर्थात् जिसका (कर्मफलाशारूप) ठिकाना कहीं भी नहीं रह गया है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्यारा है।

['अनिकेत' शब्द उन यतियों के वर्णनों में भी अनेक बार आया करता है, कि जो गृहस्थाश्रम छोड़, संन्यास धारण करके भिक्षा माँगते हुए घूमते रहते हैं (देखो मनु. ६. २५) और इनका धात्वर्थ 'बिना घरवाला' है। अतः इस अध्याय के 'निर्मम,' 'सर्वारम्भपरित्यागी' और 'अनिकेत' शब्दों से, तथा अन्यत्र गीता में 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' (४. २१), अथवा विविक्तसेवी, (१८. ५२) इत्यादि जो शब्द हैं, उनके आधार से संन्यासमार्गवाले टीकाकार कहते हैं, कि हमारे मार्ग का यह परम ध्येय "घर-द्वार छोड़ कर बिना किसी इच्छा के जंगलों में आयु के दिन बिताना" ही गीता में प्रतिपाद्य है; और वे इसके लिये स्मृतिग्रन्थों के संन्यास-आश्रम प्रकरण के श्लोकों का प्रमाण दिया करते हैं। गीतावाक्यों के ये निरे संन्यासप्रतिपादक अर्थ संन्याससम्प्रदाय की दृष्टि से महत्त्व के हो सकते हैं, किन्तु वे सच्चे नहीं हैं। क्योंकि गीता के अनुसार 'निरग्नि' अथवा 'निष्क्रिय' होना सच्चा संन्यास नहीं है। पीछे कई बार गीता का यह स्थिर सिद्धान्त कहा जा चुका है (देखो गी.५. २ और ६.१, २), कि केवल फलाशा को छोड़ना चाहिये, न कि कर्म को। अतः 'अनिकेत' पद का घर-द्वार छोड़ना अर्थ न करके ऐसा करना चाहिये, कि जिसका गीता के कर्मयोग के साथ मेल मिल सके। गी. ४. २० वें श्लोक में कर्मफल की आशा न रखनेवाले पुरुष को ही 'निराश्रय' विशेषण लगाया गया है; और गी. ६. १. में उसी अर्थ में "अनाश्रितः कर्मफलं" शब्द आये हैं। 'आश्रय' और 'निकेत' इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। अतएव अनिकेत का गृहत्यागी अर्थ न करके ऐसा करना चाहिये, कि गृह आदि में जिसके मन का स्थान फँसा नहीं है। इसी प्रकार ऊपर १६ वें श्लोक में जो 'सर्वारम्भपरित्यागी' शब्द है, उसका भी अर्थ "सारे कर्म या उद्योगों को छोड़नेवाला" नहीं करना चाहिये। किन्तु गीता ४. १९ में जो यह कहा है, कि "जिसके समारम्भ फलाशाविरहित हैं उसके कर्म ज्ञान से दग्ध हो जाते हैं" वैसा ही अर्थ यानी "काम्य आरम्भ अर्थात् कर्म छोड़नेवाला" करना चाहिये। यह बात गी. १८. २ और १८. ४८ एवं ४९ से सिद्ध होती है। सारांश, जिसका चित्त घर-गृहस्थी में, बालबच्चों में अथवा संसार के अन्यान्य कामों में उलझा रहता है, उसी को आगे दुःख होता है। अतएव गीता का इतना ही कहना है, कि इन सब बातों में चित्त को फँसने न दो। और

§ § ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

मन की इसी वैराग्य स्थिति को प्रगट करने के लिये गीता में 'अनिकेत' और 'सर्वारंभपरित्यागी' आदि शब्द स्थितप्रज्ञ के वर्णन में आया करते हैं । येही शब्द यतियों के अर्थात् कर्म त्यागनेवाले संन्यासियों के वर्णनों में भी स्मृतिग्रन्थों में आये हैं । पर सिर्फ़ इसी बुनियाद पर यह नहीं कहा जा सकता, कि कर्मत्याग-रूप संन्यास ही गीता में प्रतिपाद्य है । क्योंकि, इसके साथ ही गीता का यह दूसरा निश्चित सिद्धान्त है, कि जिनकी बुद्धि में पूर्ण वैराग्य भिद गया हो, उस ज्ञानी पुरुष को भी इसी विरक्तबुद्धि से फलाशा छोड़ कर शास्त्रतः प्राप्त होनेवाले सब कर्म करते ही रहना चाहिये । इस समूचे पूर्वापर सम्बन्ध को बिना समझे गीता में जहाँ कहीं "अनिकेत" की जोड़ के वैराग्यबोधक शब्द मिल जावें, उन्हीं पर सारा दारमदार रख कर यह कह देना ठीक नहीं है, कि गीता में कर्मसंन्यास-प्रधान मार्ग ही प्रतिपाद्य है ।]

(२०) ऊपर बतलाये हुए इस अमृततुल्य धर्म का जो मत्परायण होते हुए श्रद्धा से आचरण करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं ।

[यह वर्णन हो चुका है (गी. ६. ४७; ७. १८), कि भक्तिमान् ज्ञानी पुरुष सब से श्रेष्ठ है; उसी वर्णन के अनुसार भगवान् ने इस श्लोक में बतलाया है, कि हमें अत्यन्त प्रिय कौन है ? अर्थात् यहाँ परम भगवद्भक्त कर्मयोगी का वर्णन किया है । पर भगवान् ही गी. ९·२९ वें श्लोक में कहते हैं, कि "मुझे सब एक-से हैं, कोई विशेष प्रिय अथवा द्वेष्य नहीं" । देखने में यह विरोध प्रतीत होता है सही ? पर यह जान लेने से कोई विरोध नहीं रह जाता, कि एक वर्णन सगुण उपासना का अथवा भक्तिमार्ग का है; और दूसरा अध्यात्मदृष्टि अथवा कर्मवि-पाकदृष्टि से किया गया है । गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण के अन्त (पृ. ४२९—४३०) में इस विषय का विवेचन है ।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए—अर्थात् कहे हुए—उपनिषद् में ब्रह्मविद्या न्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

त्रयोदशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

तेरहवाँ अध्याय ।

[पिछले अध्याय में यह बात सिद्ध की गई है, कि अनिर्देश्य और अव्यक्त परमेश्वर का (बुद्धि से) चिन्तन करने पर अन्त में मोक्ष तो मिलता है । परन्तु उसकी अपेक्षा श्रद्धा से परमेश्वर के प्रत्यक्ष और व्यक्त स्वरूप की भक्ति करके परमेश्वरार्पणबुद्धि से सब कर्मों को करते रहने पर वही मोक्ष सुलभ रीति से मिल जाता है । परन्तु इतने ही से ज्ञानविज्ञान का वह निरूपण समाप्त नहीं हो जाता, कि जिसका आरम्भ सातवें अध्याय में किया गया है । परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होने के लिये बाहरी सृष्टि के क्षर-अक्षर-विचार के साथ ही साथ मनुष्य के शरीर और आत्मा का अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भी विचार करना पड़ता है। ऐसे ही यदि सामान्य रीति से जान लिया, कि सब व्यक्त पदार्थ जड़प्रकृति से उत्पन्न होते हैं; तो भी यह बतलाये बिना ज्ञानविज्ञान का निरूपण पूरा नहीं होता, कि प्रकृति के किस गुण से यह विस्तार होता है ? और उसका क्रम कौन-सा है ? अतएव तेरहवें अध्याय में पहले क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का विचार--और फिर आगे चार अध्यायों में गुणत्रय का विभाग--बतला कर अठारहवें अध्याय में समग्र विषय का उपसंहार किया गया है । सारांश, तीसरी षड्ध्यायी स्वतन्त्र नहीं है । कर्मयोगसिद्धि के लिये जिस ज्ञानविज्ञान के निरूपण का सातवें अध्याय में आरम्भ हो चुका है, उसी की पूर्ति इस षड्ध्यायी में की गई है । देखो गीतारहस्य प्र.१४, पृ.४५६-४६१ । गीता की कई एक प्रतियों में इस तेरहवें अध्याय के आरम्भ में यह श्लोक पाया जाता है। "अर्जुन उवाच—प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च। एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ।। " और उसका अर्थ यह है—" अर्जुन ने कहा :--मुझे प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय के जानने की इच्छा है, सो बतलाओ । " परन्तु स्पष्ट देख पड़ता है, कि किसी ने यह न जान कर--कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विचार गीता में आया कैसे है--पीछे से यह श्लोक गीता में घुसेड़ दिया है । टीकाकार इस श्लोक को क्षेपक मानते हैं; और क्षेपक न मानने से गीता के श्लोकों की संख्या भी सात सौ से एक अधिक बढ़ जाती है । अतः इस श्लोक को हमने भी प्रक्षिप्त ही मान कर शांकरभाष्य के अनुसार इस अध्याय का आरम्भ किया है ।]

श्रीभगवान् ने कहा :--(१) हे कौन्तेय ! इसी शरीर को क्षेत्र कहते हैं । इसे (शरीर को) जो जानता है, उसे तद्विद अर्थात् इस शास्त्र के जाननेवाले, क्षेत्रज्ञ

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥
§ § तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

कहते हैं। (२) हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही समझ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मेरा (परमेश्वर का) ज्ञान माना गया है ।

[पहले श्लोक में 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' इन दो शब्दों का अर्थ दिया है; और दूसरे श्लोक में क्षेत्रज्ञ का स्वरूप बतलाया है, कि क्षेत्रज्ञ मैं परमेश्वर हूँ; अथवा जो पिण्ड में है, वही ब्रह्मांड में है। दूसरे श्लोक के चापि = भी शब्दों का अर्थ यह है-–न केवल क्षेत्रज्ञ ही, प्रत्युत क्षेत्र भी मैंही हूँ। क्योंकि जिन पञ्च-महाभूतों से क्षेत्र या शरीर बनता है, वे प्रकृति से बने रहते हैं; और सातवें तथा आठवें अध्याय में बतला आये हैं, कि यह प्रकृति परमेश्वर की ही कनिष्ठ विभूति है (देखो ७.४; ८.४; ९.८)। इस रीति से क्षेत्र या शरीर के पञ्च-महाभूतों से बने हुए रहने के कारण क्षेत्र का समावेश उस वर्ग में होता है, जिसे क्षर-अक्षर-विचार में 'क्षर' कहते हैं; और क्षेत्रज्ञ ही परमेश्वर है। इस प्रकार क्षराक्षरविचार के समान ही क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का विचार भी परमेश्वर के ज्ञान का एक भाग बन जाता है(देखो गीतार. प्र.६,पृ. १४२–१४८)। और इसी अभि-प्राय को मन में ला कर दूसरे श्लोक के अन्त में यह वाक्य आया है, कि " क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मेरा अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान है।" जो अद्वैत वेदान्त को नहीं मानते, उन्हें "क्षेत्रज्ञ भी मैं हूँ" इस वाक्य की खींचातानी करनी पड़ती है; और प्रतिपादन करना पड़ता है, कि इस वाक्य से 'क्षेत्रज्ञ' तथा 'मैं परमेश्वर' का अभेदभाव नहीं दिखलाया जाता। और कई लोग 'मेरा' (मम) इस पद का अन्वय 'ज्ञान' शब्द के साथ न लगा 'मतं' अर्थात् 'माना गया है' शब्द के साथ लगा कर यों अर्थ करते हैं, कि "इनके ज्ञान को मैं ज्ञान समझता हूँ।" पर ये अर्थ सहज नहीं हैं। आठवें अध्याय के आरम्भ में ही वर्णन है, कि देह में निवास करनेवाला आत्मा (अधिदेव) मैं ही हूँ अथवा 'जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है;" और सातवें में भी भगवान् ने 'जीव' को अपनी ही परा प्रकृति कहा है (७.५)। इसी अध्याय के २२ वें और ३१ वें श्लोक में भी ऐसा ही वर्णन है। अब बतलाते हैं, कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का विचार कहाँ पर और किसने किया है ? :-–]

(३) क्षेत्र क्या है ? वह किस प्रकार का है ? उसके कौन कौन विकार हैं ? (उसमें भी) किससे क्या होता है ? ऐसे ही वह अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है ? और उसका प्रभाव क्या है ?-–इसे मैं संक्षेप से बतलाता हूँ; सुन। (४) ब्रह्मसूत्र के पदों से भी यह

§ § महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इंद्रियाणि दशैकं च पञ्च चेंद्रियगोचरा: ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेष: सुखं दु:खं संघातश्चेतना धृति: ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

विषय गाया गया है, कि जिन्हें बहुत प्रकार से विविध छन्दों में पृथक् पृथक् (अनेक) ऋषियों ने (कार्यकारणरूप) हेतु दिखला कर पूर्ण निश्चित किया है ।

[गीतारहस्य के परिशिष्ट प्रकरण (पृ. ५३२-५३६) में हमने विस्तारपूर्वक दिखलाया है, कि इस श्लोक में ब्रह्मसूत्र शब्द से वर्तमान वेदान्तसूत्र उद्दिष्ट हैं । उपनिषद् किसी एक ऋषि का कोई एक ग्रन्थ नहीं है । अनेक ऋषियों को भिन्न भिन्न काल या स्थान में जिन अध्यात्मविचारों का स्फुरण हो आया, वे विचार बिना किसी पारस्परिक सम्बन्ध के भिन्न भिन्न उपनिषदों में वर्णित हैं । इसलिये उपनिषद् संकीर्ण हो गये हैं; और कई स्थानों पर वे परस्परविरुद्ध से जान पड़ते हैं । ऊपर के श्लोक के पहले चरण में जो 'विविध' और 'पृथक्' शब्द हैं, वे उपनिषदों के इसी संकीर्ण स्वरूप का बोध करते हैं । इन उपनिषदों के संकीर्ण और परस्परविरुद्ध होने के कारण आचार्य बादरायण ने उनके सिद्धान्तों की एक-वाक्यता करने के लिये ब्रह्मसूत्रों या वेदान्तसूत्रों की रचना की है । और इन सूत्रों में उपनिषदों के सब विषयों को लेकर प्रमाणसहित—अर्थात् कार्यकारण आदि हेतु दिखला करके—पूर्ण रीति से सिद्ध किया है, कि प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में सब उपनिषदों से एक ही सिद्धान्त कैसे निकाला जाता है ? अर्थात् उपनिषदों का रहस्य समझने के लिये वेदान्तसूत्रों की सदैव जरूरत पड़ती है । अतः इस श्लोक में दोनों ही का उल्लेख किया गया है । ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय में, तीसरे पाद के पहले १६ सूत्रों में क्षेत्र का विचार और फिर उस पाद के अन्त तक क्षेत्रज्ञ का विचार किया गया है । ब्रह्मसूत्रों में यह विचार है; इसलिये उन्हें 'शारीरक सूत्र' अर्थात् शरीर या क्षेत्र का विचार करनेवाले सूत्र भी कहते हैं। यह बतला चुके, कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का विचार किसने कहाँ किया है ? अब बतलाते हैं, कि क्षेत्र क्या है ? :—]

(५) (पृथिवी आदि पाँच स्थूल) महाभूत, अहंकार, बुद्धि (महान्), अव्यक्त (प्रकृति), दश (सूक्ष्म) इन्द्रियाँ और एक (मन); तथा (पाँच) इन्द्रियों के पाँच (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये सूक्ष्म) विषय, (६) इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, संघात, चेतना अर्थात् प्राण आदि का व्यक्त, व्यापार, और धृति यानी धैर्य, इस (३१ तत्त्वों के) समुदाय को सविकार क्षेत्र कहते हैं ।

[यह क्षेत्र और उसके विकारों का लक्षण है । पाँचवें श्लोक में सांख्य मत-वालों के पच्चीस तत्त्व में से पुरुष को छोड़ शेष चौबीस तत्त्वों आ गये हैं । इन्हीं चौबीस तत्त्वों में मन का समावेश होने के कारण इच्छा, द्वेष आदि मनोधर्मों

§ § अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

को अलग बतलाने की जरूरत न थी । परन्तु कणादमतानुयायियों के मत से ये धर्म आत्मा के हैं । इस मत को मान लेने से शंका होती है, कि इन गुणों का क्षेत्र में ही समावेश होता है या नहीं ? अतः क्षेत्र शब्द की व्याख्या को निःसन्दिग्ध करने के लिये यहाँ स्पष्ट रीति से क्षेत्र में ही इच्छा-द्वेष आदि द्वन्द्वों का समावेश कर लिया है; और उसी में भय-अभय आदि अन्य द्वन्द्वों का भी लक्षणा से समावेश हो जाता है । यह दिखलाने के लिये--कि सब का संघात अर्थात् समूह क्षेत्र से स्वतन्त्र कर्ता नहीं है--उसकी गणना क्षेत्र में ही की गई है । कई बार 'चेतना' शब्द का 'चैतन्य' अर्थ होता है । परन्तु यहाँ चेतना से 'जड़ देह में प्राण आदि के देख पड़नेवाले व्यापार, अथवा जीवितावस्था की चेष्टा,' इतना ही अर्थ विवक्षित है; और ऊपर दूसरे श्लोक में कहा है, कि जड़वस्तु में यह चेतना जिससे उत्पन्न होती है, वह चिच्छक्ति अथवा चैतन्य क्षेत्रज्ञरूप से क्षेत्र से अलग रहता है । 'धृति' शब्द की व्याख्या आगे गीता (१८. ३३) में ही की है; उसे देखो । छठे श्लोक के 'समावेश' पद का अर्थ "इन सब का समुदाय" है । अधिक विवरण गीतारहस्य के आठवें प्रकरण के अन्त (पृ. १४३ और १४४) में मिलेगा । पहले 'क्षेत्रज्ञ' के मानी 'परमेश्वर' बतला कर फिर खुलासा किया है, कि 'क्षेत्र' क्या है ? अब मनुष्य के स्वभाव पर ज्ञान के जो परिणाम होते हैं, उनका वर्णन करके यह बतलाते हैं, कि ज्ञान किसको कहते हैं ? और आगे ज्ञेय का स्वरूप बतलाया है । ये दोनों विषय देखने में भिन्न देख पड़ते हैं अवश्य; पर वास्तविक रीति से वे क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विचार के ही दो भाग हैं । क्योंकि, आरम्भ में ही क्षेत्रज्ञ का अर्थ परमेश्वर बतला आये हैं । अतएव क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही परमेश्वर का ज्ञान है; और उसी का स्वरूप अगले श्लोकों में वर्णित है--बीच में ही कोई मनमाना विषय नहीं धर घुसेड़ा है ।]

(७) मानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता, मनोनिग्रह; (८) इन्द्रियों के विषयों में विराग, अहंकारहीनता और जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा-व्याधि एवं दुःखों को (अपने पीछे लगे हुए) दोष समझना; (९) (कर्म में) अनासक्ति, बालबच्चों और घरगृहस्थी आदि में लम्पट न होना, इष्ट या अनिष्ट की प्राप्ति से चित्त की सर्वदा एक ही सी वृत्ति रखना,

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

(१०) और मुझमें अनन्यभाव से अटल भक्ति, 'विविक्त' अर्थात् चुने हुए अथवा एकान्त स्थान में रहना, साधारण लोगों के जमाव को पसन्द न करना, (११) अध्यात्म ज्ञान को नित्य समझना और तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तों का परिशीलन, —इनको ज्ञान कहते हैं; इसके व्यतिरिक्त जो कुछ है, वह सब अज्ञान है ।

[सांख्यो के मत में क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही प्रकृतिपुरुष के विवेक का ज्ञान है; और उसे इसी अध्याय में आगे बतलाया है (१३, १९—२३; १४. १९) । इसी प्रकार अठारहवें अध्याय (१८.२०) में ज्ञान के स्वरूप का यह व्यापक लक्षण बतलाया है—"अविभक्तं विभक्तेषु" । परन्तु मोक्षशास्त्र में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान का अर्थ बुद्धि से यही जान लेना नहीं होता, कि अमुक अमुक बातें अमुक प्रकार की हैं । अध्यात्मशास्त्र का सिद्धान्त यह है, कि उस ज्ञान का देह के स्वभाव पर साम्यबुद्धिरूप परिणाम होना चाहिये; अन्यथा वह ज्ञान अपूर्ण या कच्चा है । अतएव यह नहीं बतलाया, कि बुद्धि से अमुक अमुक जान लेना ही ज्ञान है; बल्कि, ऊपर पाँच श्लोकों में ज्ञान की इस प्रकार व्याख्या की गई है, कि जब उक्त श्लोकों में बतलाये हुए बीस गुण (मान और दम्भ का छूट जाना, अहिंसा, अनासक्ति, समबुद्धि इत्यादि) मनुष्य के स्वभाव में देख पड़ने लगें, तब उसे ज्ञान कहना चाहिये (गीतार. प्र. ९, पृ. २४० और २४८) । दसवें श्लोक में " विविक्तस्थान में रहना और जमाव को नापसन्द करना " भी ज्ञान का एक लक्षण कहा है । इससे कुछ लोगों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है, कि गीता को संन्यासमार्ग ही अभीष्ट है । किन्तु हम पहले ही बतला आये हैं (देखो गी. १२. १९ की टिप्पणी और गीतार. प्र. १०, पृ. २८३), कि यह मत ठीक नहीं है; और ऐसा अर्थ करना उचित भी नहीं है । यहाँ इतना ही विचार किया है, कि 'ज्ञान' क्या है; और वह ज्ञान बाल-बच्चों में, घर-गृहस्थी में अथवा लोगों के जमाव में अनासक्ति है । एवं इस विषय में कोई वाद भी नहीं है । अब अगला प्रश्न यह है, कि इस ज्ञान के हो जाने पर इसी अनासक्तबुद्धि से बाल-बच्चों में अथवा संसार में रह कर प्राणिमात्र के हितार्थ जगत् के व्यवहार किये जायँ अथवा न किये जायँ; और केवल ज्ञान की व्याख्या से ही इसका निर्णय करना उचित नहीं है । क्योंकि गीता में ही भगवान् ने अनेक स्थलों पर कहा है, कि ज्ञानी पुरुष कर्मों में लिप्त न होकर उन्हें असक्तबुद्धि से लोकसंग्रह के निमित्त करता रहे; और इसकी सिद्धि के लिये जनक के बर्ताव का और अपने व्यवहार का उदाहरण भी दिया है (गी. ३. १९–२५; ४. १४) । समर्थ

§ § ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥ १५ ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च यज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

श्रीरामदास स्वामी के चरित्र से यह बात प्रगट होती है, कि शहर में रहने की लालसा न रहने पर भी जगत् के व्यवहार केवल कर्तव्य समझकर कैसे किये जा सकते हैं? (देखो दासबोध १९. ६. २९ और १९, ९. ११)। यह ज्ञान का लक्षण हुआ। अब ज्ञेय का स्वरूप बतलाते हैं :—]

(१२) (अब तुझे) वह बतलाता हूँ (कि), जिसे जान लेने से 'अमृत' अर्थात् मोक्ष मिलता है। (वह) अनादि (सब से) परे का ब्रह्म है। न उसे 'सत्' कहते हैं; और न 'असत्' ही। (१३) उसके, सब ओर हाथ-पैर हैं; सब ओर आँखें, सिर और मुँह हैं। सब ओर कान हैं; और वही इस लोक में सब को व्याप रहा है। (१४) (उसमें) सब इन्द्रियों के गुणों का आभास है; पर उसके कोई भी इन्द्रिय नहीं है। वह (सब से) असक्त अर्थात् अलग हो कर भी सब का पालन करता है; और निर्गुण होने पर भी गुणों का उपभोग करता है। (१५) (वह) सब भूतों के भीतर और बाहर भी है; अचर है और चर भी है; सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है; और दूर होकर भी समीप है। (१६) वह (तत्त्वतः) 'अविभक्त' अर्थात् अखंडित होकर भी सब भूतों में मानों (नानात्व से) विभक्त हो रहा है; और (सब) भूतों का पालन करनेवाला, ग्रसनेवाला एवं उत्पन्न करनेवाला भी उसे ही समझना चाहिये। (१७) उसे ही तेज का भी तेज और अन्धकार से परे का कहते हैं; ज्ञान, जो जानने योग्य है वह (ज्ञेय); और ज्ञानगम्य अर्थात् ज्ञान से (ही) विदित होनेवाला भी (वही) है। सब के हृदय में वही अधिष्ठित है।

[अचिन्त्य और अक्षर परब्रह्म—जिसे कि क्षेत्रज्ञ अथवा परमात्मा भी कहते हैं—(गी. १३. २२) का जो वर्णन ऊपर है, वह आठवें अध्यायवाले अक्षरब्रह्म के वर्णन के समान (गी. ८. ९–११) उपनिषदों के आधार पर किया गया है। पूरा तेरहवाँ श्लोक (श्वे. ३. १६) और अगले श्लोक का यह अर्धांश कि

§ § इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

"सब इन्द्रियों के गुणों का भास होनेवाला, तथापि सब इन्द्रियों से विरहित" श्वेताश्वतर उपनिषद् (३.१७.) में ज्यों-का-त्यों है । एवं "दूर होने पर भी समीप" ये शब्द ईशावास्य (५) और मुण्डक (३. १. ७) उपनिषदों में पाये जाते हैं। ऐसे ही "तेज का तेज" ये शब्द बृहदारण्यक (४. ४. १६) के हैं; और "अन्धकार से परे का" ये शब्द श्वेताश्वतर (३. ८) के हैं । इसी भाँति यह वर्णन कि "जो न तो सत् कहा जाता है; और न असत् कहा जाता है" ऋग्वेद के "नासदासीत् नो सदासीत्" इस ब्रह्मविषयक प्रसिद्ध सूक्त को (ऋ. १०, १२९) लक्ष्य कर किया गया है । 'सत्' और 'असत्' शब्दों के अर्थों का विचार गीतारहस्य प्र. ९, पृ. २४३–२४४ में विस्तारसहित किया गया है; और फिर गीता ९. १९ वें श्लोक की टिप्पणी में भी किया है । गीता. ९. १९ में कहा है, कि 'सत्' और 'असत्' मैं ही हूँ। अब यह वर्णन विरुद्ध-सा जँचता है, कि सच्चा ब्रह्म न 'सत्' है; और न 'असत्' । परन्तु वास्तव में यह विरोध सच्चा नहीं है । क्योंकि 'व्यक्त' (क्षर) सृष्टि और 'अव्यक्त' (अक्षर) सृष्टि ये दोनों यद्यपि परमेश्वर के ही स्वरूप हों, तथापि सच्चा परमेश्वरतत्त्व इन दोनों से परे अर्थात् पूर्णतया अज्ञेय है । यह सिद्धान्त गीता में ही पहले "भूतभृन्नच भूतस्थ" (गी. ९. ५) में और आगे फिर (१५. १६, १७) पुरुषोत्तमलक्षण में स्पष्टतया बतलाया गया है । निर्गुण ब्रह्म किसे कहते हैं ? और जगत् में रह कर भी वह जगत् से बाहर कैसे है ? अथवा वह 'विभक्त' अर्थात् नानारूपात्माक देख पड़ने पर भी मूल में अविभक्त अर्थात् एक ही कैसे है ? इत्यादि प्रश्नों का विचार गीता-रहस्य के नौवें प्रकरण में (पृ. २०८ से आगे) किया जा चुका है । सोलहवें श्लोक में 'विभक्तमिव' का अनुवाद यह है—"मानों विभक्त हुआ-सा देख पड़ता है" । यह 'इव' शब्द उपनिषदों में अनेक बार इसी अर्थ में आया है, कि जगत् का नानात्व भ्रान्तिकारक है; और एकत्व ही सत्य है । उदाहरणार्थ "द्वैतमिव भवति," "य इह नानेव पश्यति" इत्यादि (बृ. २. ४. १४; ४. ४. १९; ४. ३. ७) । अतएव प्रगट है, कि गीता में यह अद्वैत सिद्धान्त ही प्रतिपाद्य है, कि नाना नामरूपात्मक माया भ्रम है; और उसमें अविभक्त से रहनेवाला ब्रह्म ही सत्य है । गीता. १८. २० में फिर बतलाया है, कि 'अविभक्तं विभक्तेषु' अर्थात् नानात्व में एकत्व देखना सात्त्विक ज्ञान का लक्षण है । गीतारहस्य के अध्यात्म प्रकरण में वर्णन है, कि यही सात्त्विक ज्ञान ब्रह्म है । देखो गीतार. प्र. ९, पृ. २१४, २१५; और प्र. ६, पृ. १३१–१३२ ।]

(१८) इस प्रकार संक्षेप से बतला दिया, कि क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय किसे कहते हैं ? मेरा भक्त इसे जान कर मेरे स्वरूप को पाता है ।

§§ प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

[अध्यात्म या वेदान्तशास्त्र के आधार से अब तक क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का विचार किया गया। इनमें 'ज्ञेय' ही क्षेत्रज्ञ अथवा परब्रह्म है; और 'ज्ञान' दूसरे श्लोक में बतलाया हुआ क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञान है। इस कारण यही संक्षेप में परमेश्वर के सब ज्ञान का निरूपण है। १८ वें श्लोक में यह सिद्धान्त बतला दिया है, कि जब क्षेत्रज्ञेत्रज्ञविचार ही परमेश्वर का ज्ञान है, तब आगे यह आप ही सिद्ध है, कि उसका फल भी मोक्ष ही होना चाहिये। वेदान्तशास्त्र का क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार यहाँ समाप्त हो गया। परन्तु प्रकृति से ही पाञ्चभौतिक विकारवान् क्षेत्र उत्पन्न होता है इसलिये; और सांख्य जिसे 'पुरुष' कहते हैं, उसे ही अध्यात्मशास्त्र में 'आत्मा' कहते हैं इसलिये; सांख्य की दृष्टि से क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार ही प्रकृतिपुरुष का विवेक होता है। गीताशास्त्र प्रकृति और पुरुष को सांख्य के समान दो स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानता। सातवें अध्याय (७. ४, ५) में कहा है, कि ये एक ही परमेश्वर के (कनिष्ठ और श्रेष्ठ) दो रूप हैं। परन्तु सांख्यों के द्वैत के बदले गीताशास्त्र के इस द्वैत को एक बार स्वीकार कर लेने पर फिर प्रकृति और पुरुष के परस्परसम्बन्ध का सांख्यों का ज्ञान गीता को अमान्य नहीं है। और यह भी कह सकते हैं, कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के ज्ञान का ही रूपान्तर प्रकृतिपुरुष का विवेक है (देखो गीतार. प्र. ७)। इसीलिये अब तक उपनिषदों के आचार से जो क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का ज्ञान बतलाया गया, उसे ही अब सांख्यों की परिभाषा में— किन्तु सांख्यों के द्वैत को अस्वीकार करके—प्रकृतिपुरुषविवेक के रूप से बतलाते हैं :—]

(१९) प्रकृति और पुरुष, दोनों को ही अनादि समझ। विकार और गुणों को प्रकृति से ही उपजा हुआ ज्ञान जान।

[सांख्यशास्त्र के मत में प्रकृति और पुरुष, दोनों न केवल अनादि हैं; प्रत्युत स्वतन्त्र और स्वयंभू भी हैं। वेदान्ती समझते हैं, कि प्रकृति परमेश्वर से ही उत्पन्न हुई है, अतएव वह न स्वयम्भू है; और न स्वतन्त्र है (गी. ४. ५, ६)। परन्तु यह नहीं बतलाया जा सकता, कि परमेश्वर से प्रकृति कब उत्पन्न हुई? और पुरुष (जीव) परमेश्वर का अंश है (गी. १५. ७); इस कारण वेदान्तियों को इतना मान्य है, कि दोनों अनादि हैं। इस विषय का अधिक विवेचन गीतारहस्य के ७ वें प्रकरण में और विशेषतः पृ. १६१–१६७ में, एवं १० वें प्रकरण के पृ. २६२–२६५ में किया है।]

(२०) कार्य अर्थात् देह के और कारण अर्थात् इन्द्रियों के कर्तृत्व के लिये प्रकृति

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥
§ § उपद्रष्टाऽनुमंता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

कारण कही जाती है; और (कर्ता न होने पर भी) सुखदुःखों को भोगने के लिये पुरुष (क्षेत्रज्ञ) कारण कहा जाता है।

[इस श्लोक में 'कार्यकरण' के स्थान में 'कार्यकारण' भी पाठ है; और तब उसका यह अर्थ होता है:--सांख्यों के महत् आदि तेईस तत्त्व एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा इस कार्यकारण क्रम से उपज कर सारी व्यक्तसृष्टि प्रकृति से बनती है। यह अर्थ भी बेजा नहीं है; परन्तु क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के विचार में क्षेत्र की उत्पत्ति बतलाना प्रसंगानुसार नहीं है। प्रकृति से जगत् के उत्पन्न होने का वर्णन तो पहले ही सातवें और नौवें अध्याय में हो चुका है। अतएव 'कार्यकरण' पाठ ही यहाँ अधिक प्रशस्त देख पड़ता है। शाङ्करभाष्य में यही 'कार्यकरण' पाठ है।]

(२१) क्योंकि पुरुष प्रकृति में अधिष्ठित हो कर प्रकृति के गुणों का उपभोग करता है; और (प्रकृति के) गुणों का यह संयोग पुरुष को भली-बुरी योनियों में जन्म लेने के लिये कारण होता है।

[प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध का और भेद का यह वर्णन सांख्यशास्त्र का है (देखो गीतार. प्र. ७, पृ. १५४-१६२)। अब यह कह कर--कि वेदान्ती लोग पुरुष को परमात्मा कहते हैं--सांख्य और वेदान्त का मेल कर दिया गया है; और ऐसा करने से प्रकृतिपुरुषविचार एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार की पूरी एकवाक्यता हो जाती है।]

(२२) (प्रकृति के गुणों के) उपद्रष्टा अर्थात् समीप बैठ कर देखनेवाले, अनुमोदन करनेवाले, भर्ता अर्थात् (प्रकृति के गुणों को) बढ़ानेवाले और उपभोग करनेवाले को ही इस देह में परपुरुष, महेश्वर और परमात्मा कहते हैं। (२३) इस प्रकार पुरुष (निर्गुण) और प्रकृति को ही जो गुणोंसमेत जानता है, वह कैसा ही बर्ताव क्यों न किया करे! उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

[(२२)वें श्लोक में जब यह निश्चय हो चुका, कि पुरुष ही देह में परमात्मा है; तब सांख्यशास्त्र के अनुसार पुरुष का जो उदासीनत्व और अकर्तृत्व है, वही आत्मा का अकर्तृत्व हो जाता है; और इस प्रकार सांख्यों की उपपत्ति से वेदान्त की एकवाक्यता हो जाती है। कुछ वेदान्तवाले ग्रन्थकारों की समझ है, कि सांख्यवादी वेदान्त के शत्रु हैं। अतः बहुतेरे वेदान्ती सांख्य-उपपत्ति को सर्वथा

§§ ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥
§§ यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

त्याज्य मानते हैं । किन्तु गीता ने ऐसा नहीं किया। एक ही विषय क्षेत्रक्षत्रज्ञ-विचार का एक बार वेदान्त की दृष्टि से और दूसरी बार (वेदान्त के अद्वैत मत को बिना छोड़े ही) सांख्यदृष्टि से प्रतिपादन किया है । इससे गीताशास्त्र की समबुद्धि प्रगट हो जाती है। यह भी कह सकते हैं, कि उपनिषदों के और गीता के विवेचन में यह एक महत्त्व का भेद है,(देखो गी. र. परिशिष्ट, पृ.५२७)। इससे प्रगट होता है, कि यद्यपि सांख्यों का द्वैतवाद गीता को मान्य नहीं है; तथापि उनके प्रतिपादन में जो कुछ युक्तिसङ्गत जान पड़ता है, वह गीता को अमान्य नहीं है। दूसरे ही श्लोक में कह दिया है, कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही परमेश्वर का ज्ञान है । अब प्रसङ्ग के अनुसार संक्षेप से पिण्ड का ज्ञान और देह के परमेश्वर का ज्ञान सम्पादन कर मोक्ष प्राप्त करने के मार्ग बतलाते हैं :—]

(२४) कुछ लोग स्वयं अपने आप में ही ध्यान से आत्मा को देखते हैं। कोई सांख्ययोग से देखते हैं; और कोई कर्मयोग से। (२५) परन्तु इस प्रकार जिन्हें (अपने आप ही) ज्ञान नहीं होता, वे दूसरे से सुन कर (श्रद्धा से) परमेश्वर का भजन करते हैं। सुनी हुई बात को प्रमाण मान कर बर्तनेवाले ये पुरुष भी मृत्यु को पार कर जाते हैं ।

[इन दो श्लोकों में पातंजलयोग के अनुसार ध्यान, सांख्यमार्ग के अनुसार ज्ञानोत्तर कर्मसंन्यास, कर्मयोगमार्ग के अनुसार निष्कामबुद्धि से परमेश्वरार्पण-पूर्वक कर्म करना और ज्ञान न हो, तो भी श्रद्धा से आप्तों के वचनों पर विश्वास रख कर परमेश्वर की भक्ति करना (गी. ४. ३९), ये आत्मज्ञान के भिन्न भिन्न मार्ग बतलाये गये हैं । कोई किसी भी मार्ग से जावें; अन्त में उसे भगवान् का ज्ञान हो कर मोक्ष मिल ही जाता है। तथापि पहले जो यह सिद्धान्त किया गया है, कि लोकसंग्रह की दृष्टि से कर्मयोग श्रेष्ठ है, वह इससे खण्डित नहीं होता । इस प्रकार साधन बतला कर सामान्यरीति से समग्र विषय का अगले श्लोक में उपसंहार किया है; और उसमें भी वेदान्त से कापिलसांख्य का मेल मिला दिया है ।]

(२६) हे भरतश्रेष्ठ ! स्मरण रख, कि स्थावर या जङ्गम किसी भी वस्तु का निर्माण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से होता है । (२७) सब भूतों में एक-सा रहने-

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥
§ § प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥
§ § अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौंतेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

वाला और सब भूतों का नाश हो जाने पर भी जिसका नाश नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को जिसने देख लिया, कहना होगा, कि उसीने (सच्चे तत्त्व को) पहचाना। (२८) ईश्वर को सर्वत्र एक-सा व्याप्त समझ कर (जो पुरुष) अपने आप ही घात नहीं करता—अर्थात् अपने आप अच्छे मार्ग में लग जाता है—वह इस कारण से उत्तम गति पाता है।

[२७ वें श्लोक में परमेश्वर का जो लक्षण बतलाया है, वह पीछे गी. ८. २० वें श्लोक में आ चुका है; और उसका खुलासा गीतारहस्य के नौवें प्रकरण में किया गया है (देखो गीतार. प्र.९, पृ.२१८ और २५५)। ऐसे ही २८ वें श्लोक में फिर वही बात कही है, जो पीछे (गी. ६. ५–७) कही जा चुकी है, कि आत्मा अपना बन्धु है; और वही अपना शत्रु है। इस प्रकार २६, २७ और २८ वें श्लोकों में सब प्राणियों के विषय में साम्यबुद्धिरूप भाव का वर्णन कर चुकने पर बतलाते हैं, कि इसके जान लेने से क्या होता है? :—]

(२९) जिसने यह जान लिया, कि (सब) कर्म सब प्रकार से केवल प्रकृति से ही किये जाते हैं; और आत्मा अकर्ता है—अर्थात् कुछ भी नहीं करता। कहना चाहिये, कि उसने (सच्चे तत्त्व को) पहचान लिया। (३०) जब सब भूतों का पृथक्त्व अर्थात् नानात्व एकता से (दीखने लगे) और इस (एकता) से ही (सब) विस्तार दीखने लगे, तब ब्रह्म प्राप्त होता है।

[अब बतलाते हैं, कि आत्मा निर्गुण, अलिप्त और अक्रिय कैसे है? :—]

(३१) हे कौन्तेय! अनादि और निर्गुण होने के कारण यह अव्यक्त परमात्मा शरीरमें रह कर भी कुछ करता-धरता नहीं है; और उसे (किसी भी कर्म का) लेप अर्थात् बन्धन नहीं लगता। (३२) जैसे आकाश चारों ओर भरा हुआ है; परन्तु सूक्ष्म होने के कारण उसे (किसी का भी) लेप नहीं लगता, वैसे ही देह

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥
§ § क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

में सर्वत्र रहने पर भी आत्मा को (किसी का भी) लेप नहीं लगता । (३३) हे भारत ! जैसे एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्र को अर्थात् शरीर को प्रकाशित करता है ।

(३४) इस प्रकार ज्ञानचक्षु से अर्थात् ज्ञानरूप नेत्र से नेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को—एवं सब भूतों की (मूल) प्रकृति के मोक्ष को—जो जानते हैं, वे परब्रह्म को पाते हैं ।

[यह पूरे प्रकरण का उपसंहार है । 'भूतप्रकृतिमोक्ष' शब्द का अर्थ हमने सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तानुसार किया है । सांख्यों का सिद्धान्त है, कि मोक्ष का मिलना या न मिलना आत्मा की अवस्थाएँ नहीं हैं । क्योंकि वह तो सदैव अकर्ता और असङ्ग है । परन्तु प्रकृति के गुणों के सङ्ग से वह अपने में कर्तृत्व का आरोप किया करता है । इसलिये जब उसका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब उसके साथ लगी हुई प्रकृति छूट जाती है—अर्थात् उसी का मोक्ष हो जाता है—और इसके पश्चात् उसका पुरुष के आगे नाचना बन्द हो जाता है । अतएव सांख्यमतवाले प्रतिपादन किया करते हैं, कि तात्त्विक दृष्टि से बन्ध और मोक्ष दोनों अवस्थाएँ प्रकृति की ही हैं (देखो सांख्यकारिका ६२ और गीतारहस्य प्र. ७, पृ. १६४–१६५) । हमें जान पड़ता है, कि सांख्य के ऊपर लिखे हुए सिद्धान्त के अनुसार ही इस श्लोक में 'प्रकृति का मोक्ष' ये शब्द आये हैं । परन्तु कुछ लोग इन शब्दों का यह अर्थ भी लगाते हैं, कि "भूतेभ्यः प्रकृतेश्च मोक्षः"—पञ्चमहाभूत और प्रकृति से अर्थात् मायात्मक कर्मों से आत्मा का मोक्ष होता है । यह क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेक ज्ञानचक्षु से विदित होनेवाला है (गी. १३.३४) । नौवें अध्याय की राजविद्या प्रत्यक्ष अर्थात् चर्मचक्षु से ज्ञात होनेवाली है (गी. ९. २); और विश्वरूपदर्शन परम भगवद्भक्त को भी केवल दिव्यचक्षु से ही होनेवाला है (गी. ११.८) । नौवें, ग्यारहवें और तेरहवें अध्याय के ज्ञानविज्ञान निरूपण का उक्त भेद ध्यान देने योग्य है ।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए—अर्थात् कहे हुए—उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में प्रकृति पुरुषविवेक अर्थात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग योगनामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

चतुर्दशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥
§ § ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।

चौदहवाँ अध्याय ।

[तेरहवें अध्याय में क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का विचार एक बार वेदान्त की दृष्टि से और दूसरी बार सांख्य की दृष्टि से बतलाया है । एवं उसी में प्रतिपादन किया है, कि सब कर्तृत्व प्रकृति का ही है; पुरुष अर्थात् क्षेत्रज्ञ उदासीन रहता है । परन्तु इस बात का विवेचन अब तक नहीं हुआ, कि प्रकृति का यह कर्तृत्व क्योंकर चला करता है ? अतएव इस अध्याय में बतलाते हैं, कि एक ही प्रकृति से विविध सृष्टि--विशेषतः सजीव सृष्टि--कैसे उत्पन्न होती है ? केवल मानवी सृष्टि का ही विचार करें, तो यह विषय क्षेत्रसम्बन्धी अर्थात् शरीर का होता है; और उसका समावेश क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविचार में हो सकता है । परन्तु जब स्थावर सृष्टि भी त्रिगुणात्मक प्रकृति का ही फैलाव है, तब प्रकृति के गुणभेद का यह विवेचन क्षरअक्षरविचार का भी भाव हो सकता है । अतएव इस संकुचित 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार' नाम को छोड़ कर सातवें अध्याय में जिस ज्ञानविज्ञान के बतलाने का आरम्भ किया था, उसी को स्पष्ट रीति से फिर भी बतलाने का आरम्भ भगवान् ने इस अध्याय में किया है । सांख्यशास्त्र की दृष्टि से इस विषय का विस्तृत निरूपण गीतारहस्य के आठवें प्रकरण में किया गया है । त्रिगुण के विस्तार का यह वर्णन अनुगीता और मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में भी है ।]

श्रीभगवान् ने कहा :--(१) और फिर सब ज्ञानों से उत्तम ज्ञान बतलाता हूँ, कि जिसको जान कर सब मुनि लोग इस लोक से परम सिद्ध पा गये हैं । (२) इस ज्ञान का आश्रय करके मुझसे एकरूपता पाये हुए लोग सृष्टि के उत्पत्तिकाल में भी नहीं जन्मते; और प्रलयकाल में भी व्यथा नहीं पाते (अर्थात् जन्ममरण से एकदम छुटकारा पा जाते हैं ।

[यह हुई प्रस्तावना । अब पहले बतलाते हैं, कि प्रकृति मेरा ही स्वरूप है । फिर सांख्यों के द्वैत को अलग कर वेदान्तशास्त्र के अनुकूल यह निरूपण करते हैं, कि प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से सृष्टि के नाना प्रकार के व्यक्त पदार्थ किस प्रकार निर्मित होते हैं ? :--]

(३) हे भारत ! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी ही योनि है । मैं उसमें गर्भ

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥
§ § सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौंतेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्माणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

रखता हूँ। फिर उससे समस्त भूत उत्पन्न होने लगते हैं। (४) हे कौन्तेय! (पशु-पक्षी आदि) सब योनियों में जो मूर्तियाँ जन्मती हैं, उनकी योनि महत् ब्रह्म है; और मैं बीजदाता पिता हूँ।

(५) हे महाबाहु! प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्व, रज और तम गुण देह में रहनेवाले अव्यय अर्थात् निर्विकार आत्मा को देह में बाँध लेते हैं। (६) हे निष्पाप अर्जुन! इन गुणों में निर्मलता के कारण प्रकाश डालनेवाला और निर्दोष सत्त्वगुण सुख और ज्ञान के साथ (प्राणी को) बाँधता है। (७) रजोगुण का स्वभाव रागात्मक है। इससे तृष्णा और आसक्ति की उत्पत्ति होती है। हे कौन्तेय! वह प्राणी को कर्म करने के (प्रवृत्तिरूप) सङ्ग से बाँध डालता है। (८) किन्तु तमोगुण अज्ञान से उपजता है। वह सब प्राणियों को मोह में डालता है। हे भारत! वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा से (प्राणी को) बाँध लेता है। (९) सत्त्वगुण सुख में और रजोगुण कर्म में आसक्ति उत्पन्न करता है। परन्तु हे भारत! तमोगुण ज्ञान को ढँक कर प्रमाद अर्थात् कर्तव्यमूढता में या कर्तव्य के विस्मरण में आसक्ति उत्पन्न करता है।

[सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों के ये पृथक् लक्षण बतलाये गये हैं। किन्तु ये गुण पृथक् पृथक कभी भी नहीं रहते। तीनों सदैव एकत्र रहा करते हैं। उदाहरणार्थ—कोई भी भला काम करना यद्यपि सत्त्व का लक्षण है, तथापि भले काम को करने की प्रवृत्ति होना रज का धर्म है। इस कारण सात्त्विक स्वभाव में भी थोड़े-से रज का मिश्रण सदैव रहता ही है। इसी से अनुगीता में इन गुणों का इस प्रकार मिथुनात्मक वर्णन है, कि तम का जोड़ा सत्त्व है; और

§ § रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

§ § यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

सत्त्व का जोड़ा रज है (मभा. अश्व. ३६)। और कहा है, कि इनके अन्योन्य अर्थात् पारस्परिक आश्रय से अथवा झगड़े से सृष्टि के सब पदार्थ बनते हैं (देखो सां. का. १२ और गीतार. प्र. ७, पृ. १५७ और १५८)। अब पहले इसी तत्त्व को बतला कर फिर सात्त्विक, राजस और तामस स्वभाव के लक्षण बतलाते हैं :—]

(१०) रज और तम को दबा कर सत्त्व (अधिक) होता है (तब उसे सात्त्विक कहना चाहिये)। एवं इसी प्रकार सत्त्व और तम को दबा कर रज तथा सत्त्व और रज को हटा कर तम (अधिक हुआ करता है)। (११) जब इस देह के सब द्वारों में (इन्द्रियों में) प्रकाश अर्थात् निर्मल ज्ञान उत्पन्न होता है, समझना चाहिये, कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है। (१२) हे भरतश्रेष्ठ ! रजोगुण बढ़ने से लोभ, कर्म की ओर प्रवृत्ति और उसका आरम्भ, अतृप्ति एवं इच्छा उत्पन्न होती है। (१३) और हे कुरुनन्दन ! तमोगुण की वृत्ति होने पर अँधेरा, कुछ भी न करने की इच्छा, प्रमाद अर्थात् कर्तव्य की विस्मृति और मोह भी उत्पन्न होता है।

[यह बतला दिया, कि मनुष्य की जीवितावस्था में त्रिगुणों के कारण उसके स्वभाव में कौन कौन-से फ़र्क़ पड़ते हैं। अब बतलाते हैं, कि इन तीन प्रकार के मनुष्यों को कौन-सी गति मिलती है ? :—]

(१४) सत्वगुण के उत्कर्षकाल में यदि प्राणी मर जावे, तो उत्तम तत्त्व जानने-वालों के—अर्थात् देवता आदि के—निर्मल (स्वर्ग प्रभृति) लोक उस को प्राप्त होते हैं। (१५) रजोगुण की प्रबलता में मरे, तो जो कर्मों में आसक्त हों, उनमें (जनों में) जन्म लेता है; और तमोगुण में मरे, तो (पशुपक्षी आदि) मूढ योनियों में उत्पन्न होता है। (१६) कहा है, कि पुण्यकर्म का फल निर्मल और सात्त्विक होता है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
उर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥
§ § नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।

परन्तु राजस कर्म का फल दुःख और तामस कर्म का फल अज्ञान होता है। (१७) सत्त्व से ज्ञान और रजोगुण से केवल लोभ उत्पन्न होता है। तमोगुण से न केवल प्रमाद और मोह ही उपजता है, प्रत्युत अज्ञान की भी उत्पत्ति होती है। (१८) सात्त्विक पुरुष ऊपर के--अर्थात् स्वर्ग आदि--लोकों को जाते हैं। राजस मध्यम लोक में अर्थात् मनुष्यलोक में रहते हैं; और कनिष्ठगुण वृत्ति के तामस अधोगति पाते हैं।

[सांख्यकारिका में भी यह वर्णन है, कि धार्मिक और पुण्यकर्म-कर्ता होने के कारण सत्त्वस्थ मनुष्य स्वर्ग पाता है; और अधर्माचरण करके तामस पुरुष अधोगति पाता है (सां. का. ४४)। इसी प्रकार यह १८ वाँ श्लोक अनुगीता के त्रिगुणवर्णन में भी ज्यों-का-त्यों आया है (देखो म.भा. अश्व. ३९.१०; और मनु. १२. ४०)। सात्त्विक कर्मों से स्वर्गप्राप्ति हो भले जावे; पर स्वर्गसुख है तो अनित्य ही। इस कारण परम पुरुषार्थ की सिद्धि इससे नहीं होती है। सांख्यों का सिद्धान्त है, कि इस परम पुरुषार्थ या मोक्ष की प्राप्ति के लिये उत्तम सात्त्विक स्थिति तो रहे ही; इसके सिवा यह ज्ञान होना भी आवश्यक है, कि प्रकृति अलग है; और मैं (पुरुष) जुदा हूँ। सांख्य इसी को त्रिगुणातीत अवस्था कहते हैं। यद्यपि यह स्थिति सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से भी परे की है, तो भी यह सात्त्विक अवस्था की ही पराकाष्ठा है; इस कारण इसका समावेश सामान्यतः सात्त्विक वर्ग में ही किया जाता है। इसके लिये एक नया चौथा वर्ग बनाने की आवश्यकता नहीं है (देखो गीतार. प्र.७, पृ. १६७-१६८)। परन्तु गीता को यह प्रकृतिपुरुषवाला सांख्यों का द्वैत मान्य नहीं है। इसलिये सांख्यों के उक्त सिद्धान्त का गीता में इस प्रकार रूपान्तर हो जाता है, कि प्रकृति और पुरुष से परे जो एक आत्मस्वरूप परमेश्वर या परब्रह्म है, उस निर्गुण ब्रह्म को जो पहचान लेता है, उसे त्रिगुणातीत कहना चाहिये। यही अर्थ अगले श्लोकों में वर्णित है :--]

(१९) द्रष्टा अर्थात् उदासीनता से देखनेवाला पुरुष, जब जान लेता है, कि (प्रकृति) गुणों के अतिरिक्त दूसरा कोई कर्ता नहीं है; और जब (तीनों) गुणों से परे (तत्त्व को) पहचान जाता है, तब वह मेरे स्वरूप में मिल जाता है।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच ।

§ § कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

§ § प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥ २३ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।

(२०) देहधारी मनुष्य देह की उत्पत्ति के कारण (स्वरूप) उन तीनों गुणों को अतिक्रमण करके जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से विमुक्त होता हुआ अमृत का ---अर्थात् मोक्ष का--अनुभव करता है।

[वेदान्त में जिसे माया कहते हैं, उसी को सांख्यमतवाले त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं। इसलिये त्रिगुणातीत होना ही माया से छूट कर परब्रह्म को पहचान लेना है (गी. २. ४५); और इसी को ब्राह्मी अवस्था कहते हैं (गी. २. ७२; १८. ५३)। अध्यात्मशास्त्र में बतलाये हुए त्रिगुणातीत के इस लक्षण को सुन कर उसका और अधिक वृत्तान्त जानने की अर्जुन को इच्छा हुई। और द्वितीय अध्याय (२. ५४) में जैसा उसने स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में प्रश्न किया था वैसा ही यहाँ भी वह पूछता है :---]

अर्जुन ने कहा :--(२१) हे प्रभो ! किन लक्षणों से (जाना जाय, कि वह) इन तीन गुणों के पार चला जाता है ? (मुझे बतलाइये, कि) वह (त्रिगुणातीत का) आचार क्या है ? और वह इन तीन गुणों के परे कैसे जाता है ? श्रीभगवान् ने कहा :-(२२) हे पाण्डव ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (अर्थात् क्रम से सत्त्व, रज और तम इन गुणों के कार्य अथवा फल) होने से जो उनका द्वेष नहीं करता; और प्राप्त न हों, तो उनकी आकांक्षा नहीं रखता; (२३) जो (कर्मफल के सम्बन्ध में) उदासीन-सा रहता है; (सत्त्व, रज और तम) गुण जिसे चलबिचल नहीं कर सकते; जो इतना ही मान कर स्थिर रहता है, कि गुण (अपना अपना) काम करते हैं; जो डिगता नहीं है--अर्थात् विकार नहीं पाता है; (२४) जिसे सुखदुःख एक-से ही हैं; जो स्वस्थ है--अर्थात् अपने में ही स्थिर है; मिट्टी, पत्थर और सोना जिसे समान है; प्रिय-अप्रिय, निन्दा और अपनी स्तुति जिसे समसमान है; जो

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥
§ § मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

सदा धैर्य से युक्त है; (२५) जिसे मान-अपमान या मित्र और शत्रुदल तुल्य हैं-- अर्थात् एक-से हैं; और (इस समझ से कि प्रकृति सब कुछ करती है) जिसके सब (काम्य) उद्योग छूट गये हैं; --उस पुरुष को गुणातीत कहते हैं ।

[यह इन दो प्रश्नों का उत्तर हुआ, कि त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण क्या हैं ? और आचार कैसा होता है ? ये लक्षण और दूसरे अध्याय में बतलाये हुए स्थितप्रज्ञ के लक्षण (२. ५५-६२), एवं बारहवें अध्याय (१२. १३-२०) में बतलाये हुए भक्तिमान् पुरुष के लक्षण सब एक-से ही हैं । अधिक क्या कहें ? 'सर्वारम्भपरित्यागी,' 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' और 'उदासीनः' प्रभृति कुछ विशेषण भी दोनों या तीनों स्थानों में एक ही हैं । इससे प्रगट होता है, कि पिछले अध्याय में बतलाये हुए (१३. २४, २५) चार मार्गों में से किसी भी मार्ग के स्वीकार कर लेने पर सिद्धिप्राप्त पुरुष का आचार और उसके लक्षण सब मार्गों में एक ही से रहते हैं । तथापि तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायों में जब यह दृढ और अटल सिद्धान्त किया है, कि निष्काम कर्म किसी से भी नहीं छूट सकते; तब स्मरण रखना चाहिये, कि ये स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त या त्रिगुणातीत सभी कर्मयोगमार्ग के हैं । 'सर्वारम्भपरित्यागी' का अर्थ १२ वें अध्याय के १६ वें श्लोक की टिप्पणी में बतला आये हैं । सिद्धावस्था में पहुँचे हुए पुरुषों के इन वर्णनों को स्वतन्त्र मान कर संन्यासमार्ग के टीकाकार अपने ही सम्प्रदाय को गीता में प्रतिपाद्य बतलाते हैं । परन्तु यह अर्थ पूर्वापर सन्दर्भ के विरुद्ध है; अतएव ठीक नहीं है । गीतारहस्य के ११ वें और १२ वें प्रकरण में (पृ. ३२४- ३२५ और ३७३) इस बात का हमने विस्तारपूर्वक प्रतिपादन कर दिया है । अर्जुन के दोनों प्रश्नों के उत्तर हो चुके । अब यह बतलाते हैं, कि ये पुरुष इन तीन गुणों से परे कैसे जाते हैं ? :--]

(२६) और जो (मुझे ही सब कर्म अर्पण करने के) अव्यभिचार अर्थात् एकनिष्ठ, भक्तियोग से मेरी सेवा करता है, वह इन तीन गुणों को पार करके ब्रह्मभूत अवस्था पा लेने में समर्थ हो जाता है ।

[सम्भव है, इस श्लोक से यह शंका हो, कि जब त्रिगुणातीत अवस्था सांख्यमार्ग की है, तब वही अवस्था कर्मप्रधान भक्तियोग से कैसे प्राप्त हो जाती है ? इसी से भगवान् कहते हैं :--]

(२७) क्योंकि, अमृत और अव्यय ब्रह्म का, शाश्वत धर्म का, एवं एकान्तिक अर्थात् परमावधि के अत्यन्त सुख का अन्तिम स्थान मैं ही हूँ ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

[इस श्लोक का भावार्थ यह है, कि सांख्यों के द्वैत को छोड़ देने पर सत्र एक ही परमेश्वर रह जाता है। इस कारण उसी की भक्ति से त्रिगुणात्मक अवस्था भी प्राप्त होती है। और, एक ही ईश्वर मान लेने से साधनों के सम्बन्ध में गीता का कोई भी आग्रह नहीं है (देखो गी. १३. २४ और २५)। गीता में भक्ति-मार्ग को सुलभ अतएव सब लोगों के लिये ग्राह्य कहा सही है; पर यह कहीं भी नहीं कहा है, कि अन्यान्य मार्ग त्याज्य हैं। गीता में केवल भक्ति, केवल ज्ञान अथवा केवल योग ही प्रतिपाद्य है--ये मत भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के अभिमानियों ने पीछे से गीता पर लाद दिये हैं। गीता का सच्चा प्रतिपाद्य विषय तो निराला ही है। मार्ग कोई भी हो; गीता में मुख्य प्रश्न यही है, कि परमेश्वर का ज्ञान हो चुकने पर संसार के कर्म लोकसंग्रहार्थ किये जावें या छोड़ दिये जावें? और इसका साफ़ साफ़ उत्तर पहले ही दिया जा चुका है, कि कर्मयोग श्रेष्ठ है।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए--अर्थात् कहे हुए--उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग--अर्थात् कर्मयोग--शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

पंद्रहवाँ अध्याय।

[क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के विचार के सिलसिले में तेरहवें अध्याय में उसी क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचार के सदृश सांख्यों के प्रकृतिपुरुष का विवेक बतलाया है। चौदहवें अध्याय में यह कहा है, कि प्रकृति के तीन गुणों से मनुष्य मनुष्य में स्वभावभेद कैसे उत्पन्न होता है? और उससे सात्त्विक आदि गतिभेद क्योंकर होते हैं? फिर यह विवेचन किया है, कि त्रिगुणातीत अवस्था अथवा अध्यात्मदृष्टि से ब्राह्मी स्थिति किसे कहते हैं? और वह कैसे प्राप्त की जाती हैं? यह सब निरूपण सांख्यों की परिभाषा में है अवश्य; परन्तु सांख्यों के द्वैत को स्वीकार न करते हुए जिस एक ही परमेश्वर की विभूति प्रकृति और पुरुष दोनों हैं, उस परमेश्वर का ज्ञानविज्ञानदृष्टि से निरूपण किया गया है। परमेश्वर के स्वरूप के इस वर्णन के अतिरिक्त आठवें अध्याय में अधियज्ञ, अध्यात्म और अधिदैवत आदि भेद दिखलाया जा चुका है। और, यह पहले ही कह आये हैं, कि सब स्थानों में एक ही परमात्मा व्याप्त है। एवं क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ भी वही है। अब इस अध्याय में पहले यह बतलाते हैं, कि परमेश्वर की ही रची हुई सृष्टि के विस्तार का अथवा परमेश्वर के नामरूपात्मक विस्तार का ही कभी

पञ्चदशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

कभी वृक्षरूप से या वनरूप से जो वर्णन पाया जाता है, उसका बीज क्या है ? फिर परमेश्वर के सभी रूपों में श्रेष्ठ पुरुषोत्तमस्वरूप का वर्णन किया है ।]

श्रीभगवान् ने कहा :—(१) जिस अश्वत्थ वृक्ष का ऐसा वर्णन करते हैं, कि जड़ (एक) ऊपर है; और शाखाएँ (अनेक) नीचे हैं, (जो) अव्यय अर्थात् कभी नाश नहीं पाता, (एवं) छन्दांसि अर्थात् वेद जिसके पत्ते हैं, उसे (वृक्ष को) जिसने जान लिया, वह पुरुष सच्चा वेदवेत्ता है ।

[उक्त वर्णन ब्रह्मवृक्ष का अर्थात् संसारवृक्ष का है । इस संसार को ही सांख्यमतवादी "प्रकृति का विस्तार" और वेदान्ती "भगवान् की माया का पसारा" कहते हैं । एवं अनुगीता में इसे ही 'ब्रह्मवृक्ष या ब्रह्मवन' (ब्रह्मारण्य) कहा है (देखो म. भा. अश्व. ३५ और ४७)। एक बिलकुल छोटे–से बीज से जिस प्रकार बड़ा भारी गगनचुम्बी वृक्ष निर्माण हो जाता है, उसी प्रकार एक अव्यक्त परमेश्वर से दृश्यसृष्टिरूप भव्य वृक्ष उत्पन्न हुआ है । यह कल्पना अथवा रूपक न केवल वैदिक धर्म में ही है; प्रत्युत अन्य प्राचीन धर्मों में भी पाया जाता है । यूरोप की पुरानी भाषाओं में इसके नाम 'विश्ववृक्ष' या 'जगद्वृक्ष' हैं । ऋग्वेद (१. २४. ७) में वर्णन है, कि वरुणलोक में एक ऐसा वृक्ष है, कि जिसकी किरणों की जड़ ऊपर (ऊर्ध्व) है; और उसकी किरण ऊपर से नीचे (निचीनाः) फैलती हैं । विष्णुसहस्रनाम में "वारुणो वृक्षः" (वरुण के वृक्ष) को परमेश्वर के हज़ार नामों में से ही एक नाम कहा है । यम और पितर जिस "सुपलाश वृक्ष" के नीचे बैठ कर सहपान करते हैं (ऋ. १०. १३५. १) अथवा जिसके 'अग्रभाग में स्वादिष्ट पीपल है ; और जिस पर दो सुपर्ण अर्थात् पक्षी रहते हैं" (ऋ. १. १६४. २२), या "जिस पिप्पल (पीपल) को वायुदेवता (मरुद्‌गण) हिलाते हैं" (ऋ. ५. ५४. १२), वह वृक्ष भी यही है । अथर्ववेद में जो यह वर्णन है, कि "देवसदन अश्वत्थ वृक्ष तीसरे स्वर्गलोक में (वरुणलोक में) है" (अथर्व ५. ४. ३; और १९. ३९. ६), वह भी इसी वृक्ष के सम्बन्ध में जान पड़ता है । तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ८. १२.२) में अश्वत्थ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है :—पितृयाणकाल में अग्नि अथवा यज्ञप्रजापति देवलोक से नष्ट हो कर इस वृक्ष में अश्व (घोड़े) का रूप धर कर एक वर्ष तक छिपा रहा था । इसी से इस वृक्ष का अश्वत्थ नाम हो गया (देखो म. भा. अनु. ८५) ; कई एक नैरुक्तिकों का यह भी मत है, कि पितृयाण की लम्बी रात्रि में सूर्य के घोड़े यमलोक में इस वृक्ष के नीचे विश्राम किया करते हैं । इस-

छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।। १ ।।

लिये इनको अश्वत्थ (अर्थात् घोड़े का स्थान) नाम प्राप्त हुआ होगा । 'अ' = नहीं, 'श्व' = कल और 'त्थ' = स्थिर--यह आध्यात्मिक निरुक्ति पीछे की कल्पना है। नामरूपात्मक माया का स्वरूप जब कि विनाशवान् अथवा हर घड़ी में पलटनेवाला है, तब उसको "कल तक न रहनेवाला" तो कह सकेंगे; परन्तु 'अव्यय'--अर्थात् जिसका कभी भी व्यय नहीं होता--विशेषण स्पष्ट कर देता है, कि यह अर्थ यहाँ अभिमत नहीं है। पहले पीपल के वृक्ष को ही अश्वत्थ कहते थे । कठोपनिषद् (६. १) में जो यह ब्रह्ममय अमृत अश्वत्थवृक्ष कहा गया है :--

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।।

वह भी यही है; और "ऊर्ध्वमूलमधःशाखं" इस पदसादृश्य से ही व्यक्त होता है, कि भगवद्गीता का वर्णन कठोपनिषद् के वर्णन से ही लिया गया है। परमेश्वर स्वर्ग में है; और उससे उपजा हुआ जगद्वृक्ष नीचे अर्थात् मनुष्यलोक में है। अतः वर्णन किया गया है, कि इस वृक्ष का मूल (अर्थात् परमेश्वर) ऊपर है; और इसकी अनेक शाखाएँ (अर्थात् जगत् का फैलाव) नीचे विस्तृत हैं । परन्तु प्राचीन धर्मग्रन्थों में एक और कल्पना पाई जाती है, कि यह संसारवृक्ष वटवृक्ष होगा; न कि पीपल। क्योंकि बड़ के पेड़ के पाये ऊपर से नीचे को उलटे आते हैं । उदाहरण के लिये यह वर्णन है, कि अश्वत्थवृक्ष आदित्य का वृक्ष है; और "न्यग्रोधो वारुणो वृक्षः"--न्यग्रोध अर्थात् नीचे (न्यक्) बढ़नेवाला (रोध) बड़ का पेड़ वरुण का वृक्ष है (गोभिलगृह्य. ४. ७. २४) । महाभारत में लिखा है, कि मार्कण्डेयऋषि ने प्रलयकाल में बालरूपी परमेश्वर को एक (उस प्रयलकाल में भी नष्ट न होनेवाले, अतएव) अव्यय न्यग्रोध अर्थात् बड़ के पेड़ की टहनी पर देखा था (म. भा. वन. १८८. ९१)। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में यह दिखलाने के लिये--कि अव्यक्त परमेश्वर से अपार दृश्य जगत् कैसे निर्मित होता है--जो दृष्टान्त दिया है, वह भी न्यग्रोध के ही बीज का है (छां. ६.१२.१)। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी विश्ववृक्ष का वर्णन है (श्वे. ६.६) ; परन्तु वहाँ खुलासा नहीं बतलाया, कि यह कौन-सा वृक्ष है । मुण्डक उपनिषद् (३. १) में ऋग्वेद का ही यह वर्णन ले लिया है, कि वृक्ष पर दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) बैठे हुए हैं; जिनमें एक पिप्पल अर्थात् पीपल के फलों को खाता है । पीपल और बड़ को छोड़ इस संसारवृक्ष के स्वरूप की तीसरी कल्पना औदुम्बर की है; एवं पुराणों में यह दत्तात्रेय का वृक्ष माना गया है । सारांश, प्राचीन ग्रन्थों में ये तीनों कल्पनाएँ हैं, कि परमेश्वर की माया से उत्पन्न हुआ जगत् एक बड़ा पीपल, बड़ या गूलर है; और इसी कारण से विष्णुसहस्रनाम में विष्णु के ये तीन

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके ।। २ ।।

वृक्षात्मक नाम दिये हैं—"न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थः" (मभा. अनु. १४९. १०१) एवं समाज में ये तीनों वृक्ष देवात्मक और पूजने-योग्य माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त विष्णुसहस्रनाम और गीता, दोनों ही महाभारत के भाग हैं, जब कि विष्णुसहस्रनाम में गूलर, बरगद (न्यग्रोध) और अश्वत्थ ये तीन पृथक् नाम दिय गये हैं, तब गीता में 'अश्वत्थ' शब्द का पीपल ही (गूलर या बरगद नहीं) अर्थ लेना चाहिये; और मूल का अर्थ भी वही है। " छन्दांसि अर्थात् वेद जिसके पत्ते हैं " इस वाक्य के ' छन्दांसि ' शब्द में छद् = ढँकना धातु मान कर (देखो छां. १. ४. २) वृक्ष को ढँकनेवाले पत्तों से वेदों की समता वर्णित है; और अन्त में कहा है, कि जब यह सम्पूर्ण वर्णन वैदिक परम्परा के अनुसार है, तब इसे जिसने जान लिया, उसे वेदवेत्ता कहना चाहिये। इस प्रकार वैदिक वर्णन हो चुका। अब इसी वृक्ष का दूसरे प्रकार से--अर्थात् सांख्यशास्त्र के अनुसार--वर्णन करते हैं :--]

(२) नीचे और ऊपर भी उसकी शाखाएँ फैली हुई हैं, कि जो (सत्त्व आदि तीनों) गुणों से पली हुई हैं; और जिनसे (शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध-रूपी) विषयों के अंकुर फूटे हुए हैं; एवं अन्त में कर्म का रूप पानेवाली उसकी जड़ नीचे मनुष्यलोक में भी बढ़ती गहरी चली गई है।

[गीतारहस्य के आठवें प्रकरण (पृ. १७९) में विस्तारसहित निरूपण कर दिया है, कि सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति और पुरुष ये ही दो मूलतत्त्व हैं; और जब पुरुष के आगे त्रिगुणात्मक प्रकृति अपना ताना-बाना फैलाने लगती है, तब महत् आदि तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं; और उनसे यह ब्रह्माण्ड वृक्ष बन जाता है। परन्तु वेदान्तशास्त्र की दृष्टि से प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है। वह परमेश्वर का ही एक अंश है। अतः त्रिगुणात्मक प्रकृति के इस फैलाव को स्वतन्त्र वृक्ष न मान कर यह सिद्धान्त किया है, कि ये शाखाएँ 'उर्ध्वमूल' पीपल की ही हैं। अब इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ निराले स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है, कि पहले श्लोक में वर्णित वैदिक 'अधःशाख' वृक्ष की " त्रिगुणों से पली हुई" शाखाएँ न केवल 'नीचे' ही, प्रत्युत 'ऊपर' भी फैली हुई हैं; और इसमें कर्मविपाकप्रक्रिया का धागा भी अन्त में पिरो दिया है। अनुगीतावाले ब्रह्मवृक्ष के वर्णन में केवल सांख्यशास्त्र के चौबीस तत्त्वों का ही ब्रह्मवृक्ष बतलाया गया है; उसमें इस वृक्ष के वैदिक और सांख्य वर्णनों का मेल नहीं मिलाया गया है (देखो म.भा.अश्व.३५.२२,२३; और गीतार.प्र.८, पृ.१७९)। परन्तु गीता में ऐसा नहीं किया। दृश्यसृष्टिरूप वृक्ष के नाते से वेदों में पाये जानेवाले परमेश्वर के वर्णन का और सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृति के विस्तार या ब्रह्माण्डवृक्ष के वर्णन

§ § न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

का, इन दो श्लोकों में मेल कर दिया है । मोक्षप्राप्ति के लिये त्रिगुणात्मक और ऊर्ध्वमूल वृक्ष के इस फैलाव से मुक्त हो जाना चाहिये । परन्तु यह वृक्ष इतना बड़ा है, कि इसके ओर-छोर का पता ही नहीं चलता । अतएव अब बतलाते हैं, कि इस अपार वृक्ष का नाश करके इसके मूल में वर्तमान अमृततत्त्व को पहचानने का कौन-सा मार्ग है ?:--]

(३) परन्तु इस लोक में (जैसा कि ऊपर वर्णन किया है) वैसा उसका स्वरूप उपलब्ध नहीं होता; अथवा अन्त, आदि और आधारस्थान भी नहीं मिलता। अत्यन्त गहरी जड़ोंवाले इस अश्वत्थ (वृक्ष) को अनासक्तिरूप सुदृढ तलवार से काट कर (४) फिर उस स्थान को ढूँढ निकालना चाहिये कि जहाँ जाने से फिर लौटना नहीं पड़ता; और यह संकल्प करना चाहिये, कि (सृष्टिक्रम की यह) "पुरातन प्रवृत्ति जिससे उत्पन्न हुई है, उसी आद्य पुरुष की ओर मैं जाता हूँ ।"

[गीतारहस्य के दसवें प्रकरण में विवेचन किया है, कि सृष्टि का फैलाव ही नामरूपात्मक कर्म है; और यह कर्म अनादि है । आसक्तिबुद्धि छोड़ देने से इसका क्षय हो जाता है; और किसी भी उपाय से इसका क्षय नहीं होता । क्योंकि यह स्वरूपतः अनादि और अव्यय है (देखो गी. र. प्र. १०, पृ. २८५--२८६)। तीसरे श्लोक के "उसका स्वरूप या आदि अन्त नहीं मिलता" इन शब्दों से यही सिद्धान्त व्यक्त किया गया है, कि कर्म अनादि है; और आगे चल कर इस कर्म-वृक्ष का क्षय करने के लिये एक अनासक्ति ही को साधन बतलाया है । ऐसे ही उपासना करते समय जो भावना मन में रहती है, उसी के अनुसार आगे फल मिलता है (गी. ८. ६.) । अतएव चौथे श्लोक में स्पष्ट कर दिया है, कि वृक्ष-छेदन की यह क्रिया होते समय मन में कौन-सी भावना रहनी चाहिये ? शांकरभाष्य में "तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये" पाठ है । इसमें वर्तमानकाल प्रथम पुरुष के एकवचन का 'प्रपद्ये' क्रियापद है, जिससे यह अर्थ करना पड़ता है; और इसमें 'इति' सरीखे किसी न किसी पद का अध्याहार भी करना पड़ता है । इस कठिनाई को काट डालने के लिये रामानुजभाष्य में लिखित "तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्येद्यतः प्रवृत्तिः" पाठान्तर को स्वीकार कर लें, तो ऐसा अर्थ किया जा सकेगा, कि "जहाँ जाने पर फिर पीछे नहीं लौटना पड़ता; उस स्थान को खोजना चाहिये; (और) जिससे सब सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, उसी में मिल जाना चाहिये"। किन्तु 'प्रपद्' धातु है नित्य आत्मनेपदी । इससे उसका विध्यर्थक अन्य पुरुष का रूप 'प्रपद्येत्' हो नहीं सकता । 'प्रपद्येत्' परस्मैपद का रूप है; और वह

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥
§ § ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।

व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है । प्रायः इसी कारण से शांकरभाष्य में यह पाठ स्वीकार नहीं किया गया है; और यही युक्तिसंगत है । छान्दोग्य उपनिषद् के कुछ मन्त्रों में 'प्रपद्ये' पद का बिना 'इति' के इसी प्रकार उपयोग किया गया है (छां. ८. १४. १) । 'प्रपद्ये' क्रियापद प्रथमपुरुषान्त हो, तो कहना न होगा कि वक्ता से अर्थात् उपदेशकर्ता श्रीकृष्ण से उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता । अब यह बतलाते हैं, कि इस प्रकार बर्तने से क्या फल मिलता है ? :—]

(५) जो मान और मोह से विरहित हैं, जिन्होंने आसक्ति-दोष को जीत लिया है, जो अध्यात्मज्ञान में सदैव स्थिर रहते हैं, जो निष्काम और सुखदुःखसंज्ञक द्वन्द्वों से मुक्त हो गये हैं, वे ज्ञानी पुरुष उस अव्यय-स्थान को जा पहुँचते हैं (६) जहाँ जा कर फिर लौटना नहीं पड़ता; (ऐसा) वह मेरा परम स्थान है । उसे न तो सूर्य, न चन्द्रमा (और) न अग्नि ही प्रकाशित करते हैं ।

[इनमें छठा श्लोक श्वेताश्वतर (६. १४), मुण्डक (२. २. १०) और कठ (५. १५) इन तीनों उपनिषदों में पाया है । सूर्य, चन्द्र या तारे, ये सभी तो नामरूप की श्रेणी में आ जाते हैं; और परब्रह्म इन सब नामरूपों से परे है । इस कारण सूर्यचन्द्र आदि को परब्रह्म के ही तेज से प्रकाश मिलता है । फिर यह प्रगट ही है, कि परब्रह्म को प्रकाशित करने के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा ही नहीं है । ऊपर के श्लोक में 'परम स्थान' शब्द का अर्थ 'परब्रह्म' और इस ब्रह्म में मिल जाना ही ब्रह्मनिर्वाण मोक्ष है । वृक्ष का रूपक लेकर अध्यात्मशास्त्र में परब्रह्म का जो ज्ञान बतलाया जाता है, उसका विवेचन समाप्त हो गया । अब पुरुषोत्तमस्वरूप का वर्णन करना है । परन्तु अन्त में जो यह कहा है कि "जहाँ जा कर लौटना नहीं पड़ता" इससे सूचित होनेवाली जीव की उत्क्रान्ति और उसके साथ ही जीव के स्वरूप का पहले वर्णन करते हैं :—]

(७) जीवलोक (कर्मभूमि) में मेरा ही सनातन अंश जीव होकर प्रकृति में रहनेवाली मनसहित छः, अर्थात् मन और पाँच, (सूक्ष्म) इन्द्रियों को (अपनी ओर) खींच लेता है । (इसी को लिंगशरीर कहते हैं) । (८) ईश्वर अर्थात् जीव जब (स्थूल) शरीर पाता है; और जब वह (स्थूलशरीर से) निकल जाता है, तब यह जीव इन्हें (मन और पाँच इन्द्रियों को) वैसे ही

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

साथ ले जाता है जैसे कि (पुष्प आदि) आश्रय से गन्ध को वायु ले जाती है । (९) कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन में ठहर कर यह (जीव) विषयों को भोगता है ।

[इन तीन श्लोकों में से, पहले में यह बतलाया है, कि सूक्ष्म या लिंगशरीर क्या है ? फिर इन तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है, कि लिंगशरीर स्थूलदेह में कैसे प्रवेश करता है ? वह उससे बाहर कैसे निकलता है ? और उसमें रह कर विषयों का उपभोग कैसे करता है ? सांख्यमत के अनुसार यह सूक्ष्मशरीर महान् तत्त्व से लेकर सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राओं तक के अठारह तत्त्वों से बनता है; और वेदान्तसूत्रों (३.१.१) में कहा है, कि पञ्च सूक्ष्मभूतों का और प्राण का भी उसमें समावेश होता ह (देखो गीतारहस्य प्र.८.पृ.१८७-१९१)। मैत्र्युपनिषद् (६.१०) में वर्णन है, कि सूक्ष्मशरीर अठारह तत्त्वों का बनता है । इससे कहना पड़ता है कि "मन और पाँच इन्द्रियाँ" इन शब्दों से सूक्ष्मशरीर में वर्तमान दूसरे तत्त्वों का संग्रह भी यहाँ अभिप्रेत है। वेदान्तसूत्रों (वे. सू. २. ३. १७ और ४३) में भी 'नित्य' और 'अंश' दो पदों का उपयोग करके ही यह सिद्धान्त बतलाया है, कि जीवात्मा परमेश्वर से बारंबार नये सिरे से उत्पन्न नहीं हुआ करता । वह परमेश्वर का "सनातन अंश" है (देखो गी. २. २४) । गीता के तेरहवें अध्याय (१३. ४) में जो यह कहा है, कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार ब्रह्मसूत्रों से लिया गया है, उसका इससे दृढीकरण हो जाता है (देखो गी. र. परि. पृ. ५३७-५३८) । गीतारहस्य के नौवें प्रकरण (पृ.२४६) में दिखलाया है, कि 'अंश' शब्द का अर्थ 'घटाकाशादि'-वत् अंश समझना चाहिये; न कि खण्डित 'अंश' । इस प्रकार शरीर को धारण करना, उसका छोड़ देना, एवं उपभोग करना--इन तीनों क्रियाओं के जारी रहने पर :--]

(१०) (शरीर से) निकल जानेवाले को, रहनेवाले को अथवा गुणों से युक्त हो कर (आप ही नहीं) उपभोग करनेवाले को मूर्ख लोग नहीं जानते । ज्ञानचक्षु से देखनेवाले लोग (उसे) पहचानते हैं । (११) इसी प्रकार प्रयत्न करनेवाले योगी अपने आप में स्थित आत्मा को पहचानते हैं । परन्तु वे अज्ञ लोग, कि जिनका आत्मा अर्थात् बुद्धि संस्कृत नहीं है, प्रयत्न करके भी उसे नहीं पहचान पाते ।

§ § यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चंद्रमासि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

[१० वें और ११ वें श्लोक में ज्ञानचक्षु या कर्मयोगमार्ग से आत्मज्ञान की प्राप्ति का वर्णन कर जीव की उत्क्रान्ति का वर्णन पूरा किया है । पिछले सातवें अध्याय में जैसा वर्णन किया गया है (देखो गी. ७. ८–१२), वैसा ही अब आत्मा की सर्वव्यापकता का थोड़ा-सा वर्णन प्रस्तावना के ढंग पर करके सोलहवें श्लोक से पुरुषोत्तमस्वरूप का वर्णन किया है ।]

(१२) जो तेज सूर्य में रह कर सारे जगत् को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में है, उसे मेरा ही तेज समझ । (१३) इसी प्रकार पृथ्वी में प्रवेश कर मैं ही, (सब) भूतों को अपने तेज से धारण करता हूँ; और रसात्मक सोम (चन्द्रमा) हो कर सब औषधियों का अर्थात् वनस्पतियों का पोषण करता हूँ ।

[सोम शब्द के 'सोमवल्ली' और 'चन्द्र' अर्थ ;तथा वेदों में वर्णन है, कि चन्द्र जिस प्रकार जलात्मक, अंशुमान्, और शुभ्र है, उसी प्रकार सोमवल्ली भी है । दोनों ही को 'वनस्पतियों का राजा' कहा है । तथापि पूर्वापर सन्दर्भ से यहाँ चन्द्र ही विवक्षित है । इस श्लोक में यह कह कर––कि चन्द्र का तेज मैं ही हूँ––फिर इसी श्लोक में बतलाया है, कि वनस्पतियों को पोषण करने का चन्द्र का जो गुण है, वह भी मैं ही हूँ । अन्य स्थानों में भी ऐसे वर्णन हैं, कि जलमय होने से चन्द्र में यह गुण है। इसी कारण वनस्पतियों की बाढ़ होती है ।]

(१४) मैं वैश्वानररूप अग्नि होकर प्राणियों की देहों में रहता हूँ; और प्राण एवं अपान से युक्त होकर (भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय) चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ । (१५) इसी प्रकार मैं सब के हृदय में अधिष्ठित हूँ । स्मृति और ज्ञान एवं अपोहन अर्थात् उनका नाश मुझमें ही होता है; तथा सब वेदों से जानने योग्य मैं ही हूँ । वेदान्त का कर्ता और वेद जाननेवाला भी मैं ही हूँ ।

[इस श्लोक का दूसरा चरण कैवल्य उपनिषद् (२. ३) में है । उसमें "वेदैश्च सर्वैः" के स्थान में "वेदैरनेकैः" इतना ही पाठभेद है । तब जिन्होंने गीताकाल में 'वेदान्त' शब्द का प्रचलित होना न मान कर ऐसी दलीलें की हैं, कि या तो यह श्लोक ही प्रक्षिप्त होगा या इसके 'वेदान्त' शब्द का कुछ

§ § द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षर: सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥
उत्तम: पुरुषस्त्वन्य: परमात्मेत्युदाहृत: ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर: ॥ १७ ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम: ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम: ॥ १८ ॥

और ही अर्थ लेना चाहिये । वे सब दलीलें बे-जड़-बुनियाद की हो जाती हैं । 'वेदान्त' शब्द मुण्डक (३. २. ६) और श्वेताश्वतर (६. २२) उपनिषदों में आया है; तथा श्वेताश्वतर के तो कुछ मन्त्र ही गीता में हूबहू आ गये हैं । अब निरुक्तिपूर्वक पुरुषोत्तम का लक्षण बतलाते हैं :—]

(१६) (इस) लोक में 'क्षर' और 'अक्षर' दो पुरुष हैं । सब (नाशवान्) भूतों को क्षर कहते हैं; और कूटस्थ को—अर्थात् इन सब भूतों के मूल (कूट) में रहनेवाले (प्रतिरूप अव्यक्त तत्त्व) को अक्षर कहते हैं । (१७) परन्तु उत्तम पुरुष (इन दोनों से) भिन्न है । उसको परमात्मा कहते हैं । वही अव्यय ईश्वर त्रैलोक्य में प्रविष्ट होकर (त्रैलोक्य का) पोषण करता है । (१८) जब कि मैं क्षर से भी परे का और अक्षर से भी उत्तम (पुरुष) हूँ, लोकव्यवहार में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से मैं प्रसिद्ध हूँ ।

[सोलहवें श्लोक में 'क्षर' और 'अक्षर' शब्द सांख्यशास्त्र के व्यक्त और अव्यक्त—अथवा व्यक्तसृष्टि और अव्यक्त प्रकृति—इन दो शब्दों से समानार्थक हैं । प्रगट है, कि इनमें क्षर ही नाशवान् पंचमहाभूतात्मक व्यक्त पदार्थ है । स्मरण रहे, कि 'अक्षर' विशेषण पहले कई बार जब परब्रह्म को भी लगाया गया है (देखो गी. ८. ३; ८. २१; ११. ३७; १२. ३), तब पुरुषोत्तम के उल्लिखित लक्षण में ' अक्षर ' शब्द का अर्थ का अक्षरब्रह्म नहीं है । किन्तु उसका अर्थ सांख्यों की अक्षरप्रकृति है; और इस गड़बड़ से बचाने के लिये ही सोलहवें श्लोक में 'अक्षर अर्थात् कूटस्थ (प्रकृति)' यह विशेष व्याख्या की है (गीतारहस्य प्र. ९, पृ. २०१–२०४) । सारांश, व्यक्तसृष्टि और अव्यक्त प्रकृति के परे का अक्षर ब्रह्म (गी. ८. २०–२२ पर हमारी टिप्पणी देखो) और ' क्षर ' (व्यक्तसृष्टि) एवं 'अक्षर' (प्रकृति) से परे का पुरुषोत्तम, वास्तव में ये दोनों एक ही हैं । तेरहवें अध्याय (१३. ३१) में कहा गया है, कि इसे ही परमात्मा कहते हैं; और यही परमात्मा शरीर में क्षेत्रज्ञ रूप से रहता है । इससे सिद्ध होता है, कि क्षरअक्षरविचार में जो मूलतत्त्व अक्षरब्रह्म अन्त में निष्पन्न होता है, वही क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार का भी पर्यवसान है; अथवा " पिण्ड में और ब्रह्माण्ड में " एक ही पुरुषोत्तम है । इसी प्रकार यह भी बतलाया गया है, कि अधिभूत और अधियज्ञ प्रभृति का अथवा प्राचीन अश्वत्थ वृक्ष का तत्त्व भी यही है । इस

§§ यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

ज्ञानविज्ञान प्रकरण का अन्तिम निष्कर्ष यह है, कि जिसने जगत् की इस एकता को जान लिया, कि सब भूतों में एक आत्मा है" (गी. ६. २९) और जिसके मन में यह पहचान जिन्दगीभर के लिये स्थिर हो गई (वे.सू. ४.१.१२; गी.८.६), वह कर्मयोग का आचरण करते ही परमेश्वर की प्राप्ति कर लेता है। कर्म न करने पर केवल परमेश्वरभक्ति से भी मोक्ष मिल जाता है। परन्तु गीता के ज्ञानविज्ञाननिरूपण का यह तात्पर्य नहीं है । सातवें अध्याय के आरम्भ में ही कह दिया है, कि ज्ञानविज्ञान के निरूपण का आरम्भ यही दिखलाने के लिये किया गया है, कि ज्ञान से अथवा भक्ति से शुद्ध हुई निष्कामबुद्धि के द्वारा संसार के सभी कर्म करने चाहिये; और इन्हें करते हुए ही मोक्ष मिलता है। अब बतलाते हैं, कि इसे जान लेने से क्या फल मिलता है ? :—]

(१९) हे भारत! इस प्रकार बिना मोह के जो मुझे ही पुरुषोत्तम समझता है, वह सर्वज्ञ होकर सर्वभाव से मुझे ही भजता है। (२०) हे निष्पाप भारत! यह गुह्य से भी गुह्य शास्त्र मैंने बतलाया है । इसे जान कर (मनुष्य) बुद्धिमान् अर्थात् बुद्ध या जानकार और कृतकृत्य हो जावेगा।

[यहाँ बुद्धिमान् का 'बुद्ध अर्थात् जानकार' अर्थ है। क्योंकि भारत (शां. २४८. ११) में इसी अर्थ में 'बुद्ध' और 'कृतकृत्य' शब्द आये हैं । महाभारत में 'बुद्ध' शब्द का रूढार्थ 'बुद्धावतार' कहीं भी नहीं आया है। देखो गीतार. परिशिष्ट पृ. ५६१ ।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए--अर्थात् कहे हुए--उपनिषद में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग--अर्थात् कर्मयोग--शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में पुरुषोत्तमयोगनामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

षोडशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

सोलहवाँ अध्याय ।

[पुरुषोत्तमयोग से क्षर-अक्षर-ज्ञान की परमावधि हो चुकी। सातवें अध्याय में जिस ज्ञानविज्ञान के निरूपण का आरम्भ यह दिखलाने के लिये किया गया था, कि कर्मयोग का आचरण करते रहने से ही परमेश्वर का ज्ञान होता है; और उसी से मोक्ष मिलता है, उसकी यहाँ समाप्ति हो चुकी; और अब यहीं उसका उपसंहार करना चाहिये । परन्तु नौवें अध्याय (९. १२) में भगवान् ने जो यह बिलकुल संक्षेप में कहा था, कि राक्षसी मनुष्य मेरे अव्यक्त और श्रेष्ठ स्वरूप को नहीं पहचानते, उसी का स्पष्टीकरण करने के लिये इस अध्याय का आरम्भ किया गया है; और अगले अध्याय में इसका कारण बतलाया गया है, कि मनुष्य-मनुष्य में भेद क्यों होते हैं ? और अठारहवें अध्याय में पूरी गीता का उपसंहार है ।]

श्रीभगवान् ने कहा :--(१) अभय (निडर), शुद्ध सात्त्विक वृत्ति, ज्ञानयोग-व्यवस्थिति अर्थात् ज्ञान (-मार्ग) और (कर्म-) योग की तारतम्य से व्यवस्था, दान दम, यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् स्वधर्म के अनुसार आचरण, तप, सरलता (२) अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्मफल का त्याग, शान्ति, अपैशुन्य अर्थात् क्षुद्रदृष्टि छोड़ कर उदार भाव रखना, सब भूतों में दया, तृष्णा न रखना, मृदुता, (बुरे काम की) लाज, अचपलता अर्थात् फ़िज़ूल कामों का छूट जाना, (३) तेजस्विता, क्षमा, धृति, शुद्धता, द्रोह न करना, अतिमान न रखना--हे भारत! (ये) गुण दैवी सम्पत्ति में जन्मे हुए पुरुषों को प्राप्त होते हैं ।

[दैवी सम्पत्ति के ये छब्बीस गुण और तेरहवें अध्याय में बतलाये हुए ज्ञान के बीस लक्षण (गी. १३. ७-११) वास्तव में एक ही हैं; और इसी से आगे के श्लोक में 'अज्ञान' का समावेश आसुरी लक्षणों में किया गया है । यह नहीं कहा जा सकता, कि छब्बीस गुणों की इस फ़ेहरिस्त में प्रत्येक शब्द का अर्थ दूसरे शब्द के अर्थ से सर्वथा भिन्न होगा; और हेतु भी ऐसा नहीं है । उदाहरणार्थ, कोई कोई अहिंसा के ही कायिक, वाचिक और मानसिक भेद

§ § दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥
§ § दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

करके क्रोध से किसी के दिल दुखा देने को भी एक प्रकार की हिंसा ही समझते हैं । इसी प्रकार शुद्धता को भी त्रिविध मान लेने से मन की शुद्धि में अक्रोध और द्रोह न करना आदि गुण भी आ सकते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में १६० अध्याय से ले कर १६३ अध्याय तक क्रम से दम, तप, सत्य और लोभ का विस्तृत वर्णन है । वहाँ दम में ही क्षमा, धृति, अहिंसा, सत्य, आर्जव और लज्जा आदि पच्चीस तीस गुणों का व्यापक अर्थ में समावेश किया है (शां. १६०); और सत्य के निरूपण (शां. १६२) में कहा है कि सत्य, समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूयता, याग, ध्यान, आर्यता (लोककल्याण की इच्छा), धृति और दया, इन तेरह गुणों का एक सत्य में ही समावेश होता है; और वहीं इन शब्दों की व्याख्या भी कर दी गई है । इस रीति से एक ही गुण में अनेकों का समावेश कर लेना पाण्डित्य का काम है; और ऐसा विवेचन करने लगें, तो प्रत्येक गुण पर एक एक ग्रन्थ लिखना पड़ेगा । ऊपर के श्लोकों में इन सब गुणों का समुच्चय इसीलिये बतलाया गया है, कि जिसमें दैवी सम्पत्ति के सात्त्विकरूप की पूरी कल्पना हो जावे; और यदि एक शब्द में कोई अर्थ छूट गया हो, तो दूसरे शब्दमें उसका समावेश हो जावे । अस्तु; ऊपर की फ़ेहरिस्त के 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' शब्द का अर्थ हमने गीता. ४. ४१ और ४२ वें श्लोक के आधार पर कर्मयोगप्रधान किया है । त्याग और धृति की व्याख्या स्वयं भगवान् ने ही १८ वें अध्याय में कर दी है (१८. ४ और २९) । यह बतला चुके, कि दैवी सम्पत्ति में किन गुणों का समावेश होता है ? अब इसके विपरीत आसुरी या राक्षसी सम्पत्ति का वर्णन करते हैं :—]

(४) हे पार्थ ! दम्भ, दर्प, अतिमान, क्रोध, पारुष्य अर्थात् निष्ठुरता और अज्ञान आसुरी यानी राक्षसी सम्पत्ति में जन्मे हुए को प्राप्त होते हैं ।

[महाभारत-शान्तिपर्व के १६४ और १६५ अध्यायों में इनमें से कुछ दोषों का वर्णन है; और अन्त में यह भी बतला दिया है, कि नृशंस किसे कहना चाहिये ? इस श्लोक में 'अज्ञान' को आसुरी सम्पत्ति का लक्षण कह देने से प्रगट होता है, कि 'ज्ञान' दैवी सम्पत्ति का लक्षण है । जगत् में पाये जानेवाले दो प्रकार के स्वभावों का इस प्रकार वर्णन हो जाने पर :—]

(५) (इनमें से) दैवी सम्पत्ति (परिणाम में) मोक्षदायक और आसुरी बन्धनदायक मानी जाती है। हे पाण्डव ! तू दैवी सम्पत्ति में जन्मा हुआ है। शोक मत कर ।

§§ द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।

[संक्षेप में यह बतला दिया कि इन दो प्रकार के पुरुषों को कौन-सी गति मिलती है ? अब विस्तार से आसुरी पुरुषों का वर्णन करते हैं :--]

(६) इस श्लोक में दो प्रकार के प्राणी उत्पन्न हुआ करते हैं। (एक) दैव और दूसरे आसुर। (इनमें) दैव (श्रेणी का) वर्णन विस्तार से कर दिया। (अब) हे पार्थ ! मैं आसुर (श्रेणी का) वर्णन करता हूँ; सुन।

[पिछले अध्यायों में यह बतलाया गया है, कि कर्मयोगी कैसा बर्ताव करे ? और ब्राह्मी अवस्था कैसी होती है ? या स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त अथवा त्रिगुणातीत किसे कहना चाहिये ? और यह भी बतलाया गया है, कि ज्ञान क्या है ? इस अध्याय के पहले तीन श्लोकों में दैवी सम्पत्ति का जो लक्षण है, वही दैव-प्रकृति के पुरुष का वर्णन है। इसी से कहा है, कि दैव श्रेणी का वर्णन विस्तार से पहले कर चुके हैं। आसुर सम्पत्ति का थोड़ा-सा उल्लेख नौवें अध्याय (९. ११ और १२) में आ चुका है। परन्तु वहाँ का वर्णन अधूरा रह गया है; इस कारण इस अध्याय में उसी को पूरा करते हैं :--]

[(७) आसुर लोग नहीं जानते, कि प्रवृत्ति क्या है ? और निवृत्ति क्या है ? अर्थात् वे यह नहीं जानते, कि क्या करना चाहिये ? और क्या न करना चाहिये ? उनमें न शुद्धता रहती है, न आचार और सत्य ही। (८) ये (आसुर लोग) कहते हैं, कि सारा जगत् असत्य है, अप्रतिष्ठ अर्थात् निराधार है, अनीश्वर यानी बिना परमेश्वर का है, अपरस्परसम्भूत अर्थात् एक दूसरे के बिना ही हुआ है। (अतएव) काम को छोड़--अर्थात् मनुष्य की विषयवासना के अतिरिक्त इसका और क्या हेतु हो सकता है ?

[यद्यपि इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट है, तथापि इसके पदों का अर्थ करने में बहुतकुछ मतभेद है। हम समझते हैं, कि यह वर्णन उन चार्वाक आदि नास्तिकों के मतों का है, कि जो वेदान्तशास्त्र या कापिलसांख्यशास्त्र के सृष्टि-रचनाविषयक सिद्धान्त को नहीं मानते; और यही कारण है, कि इस श्लोक के पदों का अर्थ सांख्य और अध्यात्मशास्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध है। जगत् को नाशवान् समझ कर वेदान्ती उसके अविनाशी सत्य की--सत्यस्य सत्यं (बृ. २ ३. ६)--खोजता है; और उसी सत्य तत्त्व को जगत् का मूल आधार या प्रतिष्ठा मानता है--ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा (तै. २. ५)। परन्तु आसुरी लोग कहते हैं, कि यह जग असत्य है--अर्थात् इसमें सत्य नहीं है--और इसीलिये वे इस जगत् को

अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

अप्रतिष्ठ भी कहते हैं—अर्थात् इसकी न प्रतिष्ठा है और न आधार। यहाँ शंका हो सकती है, कि इस प्रकार अध्यात्मशास्त्र में प्रतिपादित अव्यक्त परब्रह्म यदि आसुरी लोगों को सम्मत न हो, तो उन्हें भक्तिमार्ग का व्यक्त ईश्वर मान्य होगा। इस से अनीश्वर (अन् + ईश्वर) पद का प्रयोग करके कह दिया है, कि आसुरी लोग जगत् में ईश्वर को भी नहीं मानते। इस प्रकार जगत् का कोई मूल आधार न मानने से उपनिषदों में वर्णित यह सृष्टयुत्पत्तिक्रम छोड़ देना पड़ता है, कि "आत्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्यः अन्नं। अन्नात्पुरुषः।" (तै. २. १) और सांख्यशास्त्रोक्त इस सृष्टयुत्पत्तिक्रम को भी छोड़ देना पड़ता है, कि प्रकृति और पुरुष, ये दो स्वतन्त्र मूलतत्त्व हैं। एवं सत्त्व, रज और तम गुणों के अन्योन्य आश्रय से अर्थात् परस्पर मिश्रण से सब व्यक्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि यदि इस श्रृंखला या परम्परा को मान लें, तो दृश्यसृष्टि के पदार्थों से इस जगत् का कुछ-न-कुछ मूलतत्त्व मानना पड़ेगा। इसी से आसुरी लोग जगत् के पदार्थों को अपरस्परसम्भूत मानते हैं—अर्थात् वे यह नहीं मानते, कि ये पदार्थ एक दूसरे से किसी क्रम से उत्पन्न हुए हैं। जगत् की रचना के सम्बन्ध में एक बार ऐसी समझ हो जाने पर मनुष्य प्राणी ही प्रधान निश्चित हो जाता है। और फिर यह विचार आप-ही-आप हो जाता है, कि मनुष्य की कामवासना को तृप्त करने के लिये ही जगत् के सारे पदार्थ बने हैं, उनका और कुछ भी उपयोग नहीं है; और यही अर्थ इस श्लोक के अन्त में "किमन्यत्काम हैतुकम्"—काम को छोड़ उसका और क्या हेतु होगा?—इन शब्दों से, एवं आगे के श्लोकों में भी वर्णित है। कुछ टीकाकार "अपरस्परसम्भूत" पद का अन्वय "किमन्यत्" से लगा कर यह अर्थ करते हैं, कि "क्या ऐसा भी कुछ देख पड़ता है, जो परस्पर अर्थात् स्त्रीपुरुष के संयोग से उत्पन्न न हुआ हो? नहीं; और जब ऐसा पदार्थ ही नहीं देख पड़ता, तब यह जगत् कामहेतुक अर्थात् स्त्रीपुरुष की कामेच्छा से ही निर्मित हुआ है"। एवं कुछ लोग "अपरश्च परश्च अपरस्परौ" ऐसा अद्भुत विग्रह करके इन पदों का यह अर्थ लगाया करते हैं, कि "अपरस्पर" ही स्त्री-पुरुष हैं, इन्हीं से यह जगत् उत्पन्न हुआ है, इसलिये स्त्रीपुरुषों का काम ही इसका हेतु है। और कोई कारण नहीं है"। परन्तु यह अन्वय सरल नहीं है और 'अपरश्च परश्च' का समास 'अपर-पर' होगा; बीच में सकार न आने पावेगा। इसके अतिरिक्त असत्य और अप्रतिष्ठ इन पहले आये हुए पदों को देखने से यही ज्ञात होता है, कि अपरस्परसम्भूत नञ् समास ही होना चाहिये। और फिर कहना पड़ता है, कि सांख्यशास्त्र में 'परस्परसम्भूत' शब्द से जो 'गुणों से गुणों का अन्योन्य जनन, वर्णित है, वही यहाँ विवक्षित है (देखो गीतारहस्य प्र. ७,

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

पृ. १५७ और १५८) 'अन्योन्य' और 'परस्पर' दोनों शब्द समानार्थक हैं। सांख्यशास्त्र में गुणों के पारस्परिक झगड़े का वर्णन करते समय ये दोनों शब्द आये हैं (देखो म. भा. शां. ३०५; सां. का. १२ और १३)। गीता पर जो माध्व-भाष्य है, उसमें इसी अर्थ को मान कर यह दिखलाने के लिये कि जगत् की वस्तुएँ एक दूसरी से कैसे उपजती हैं ? गीता का यही श्लोक दिया गया है— "अन्नाद्भवन्ति भूतानि" इत्यादि—(अग्नि में छोड़ी हुई आहुति सूर्य को पहुँचती है, अतः) यज्ञ से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है (देखो गी. ३. १४; मनु. ३. ७६) । परन्तु तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन इसकी अपेक्षा अधिक प्राचीन और व्यापक है। इस कारण उसी को हमने ऊपर प्रमाण में दिया है। तथापि हमारा मत है, कि गीता के इस 'अ-परस्परसम्भूत' पद से उपनिषद् के सृष्टयुत्पत्तिक्रम की अपेक्षा सांख्यों का सृष्टयुत्पत्तिक्रम ही अधिक विवक्षित है। जगत् की रचना के विषय में ऊपर जो आसुरी मत बतलाया गया है, उसका इन लोगों के बर्ताव पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका वर्णन करते हैं। ऊपर के श्लोक में अन्त में जो 'कामहैतुकं' पद है उसी का यह अधिक स्पष्टीकरण है।]

(९) इस प्रकार की दृष्टि को स्वीकार करके ये अल्पबुद्धिवाले नष्टात्मा और दुष्ट लोग क्रूर कर्म करते हुए जगत् का क्षय करने के लिये उत्पन्न हुआ करते हैं; (१०) (और) कभी भी पूर्ण न होनेवाले काम अर्थात् विषयोपभोग की इच्छा का आश्रय करके ये (आसुरी लोग) दम्भ मान और मद से व्याप्त हो कर मोह के कारण झूठमूठ विश्वास अर्थात् मनमानी कल्पना करके गंदे काम करने के लिये प्रवृत्त रहते हैं। (११) इसी प्रकार आमरणान्त (सुख भोगने की) अगणित चिन्ताओं से ग्रसे हुए, कामोपभोग में डूबे हुए और निश्चयपूर्वक उसी को सर्वस्व माननेवाले (१२) सैकड़ों आशापाशों से जकड़े हुए, कामक्रोधपरायण (ये आसुरी लोग) सुख लूटने के लिये अन्याय से बहुत-सा अर्थसञ्चय करने की तृष्णा करते हैं। (१३) मैंने आज यह पा लिया। (कल) उस मनोरथ को सिद्ध करूँगा; यह धन (मेरे

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥
§§ त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

पास) है, और फिर वह भी मेरा होगा (१४) इस शत्रु को मैंने मार लिया; एवं औरों को भी मारूँगा। मैं ईश्वर, मैं(ही) भोग करनेवाला, मैं सिद्ध, बलाढ्य और सुखी हूँ। (१५) मैं सम्पन्न और कुलीन हूँ। मेरे समान और है कौन ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा—इस प्रकार अज्ञान से मोहित, (१६) अनेक प्रकार की कल्पनाओं में भूले हुए, मोह के फन्दे में फँसे हुए और विषयोपभोग में आसक्त (ये आसुरी लोग) अपवित्र नरक में गिरते हैं ! (१७) आत्मप्रशंसा करनेवाले ऐंठ से बर्तनेवाले, धन और मान के मद से संयुक्त ये (आसुरी) लोग दम्भ से, शास्त्रविधि छोड़ कर केवल नाम के लिये यज्ञ किया करते हैं। (१८) अहङ्कार से, बल से, दर्प से, काम से और क्रोध से फूल कर अपनी और पराई देह में वर्तमान मेरा (परमेश्वर का) द्वेष करनेवाले, निन्दक, (१९) और अशुभ कर्म-करनेवाले (इन) द्वेषी और क्रूर अधम नरों को मैं (इस) संसार की आसुर अर्थात् पापयोनियों में ही सदैव पटकता रहता हूँ। (२०) हे कौन्तेय ! (इस प्रकार) जन्म जन्म में आसुरयोनि को ही पा कर ये मूर्ख लोग मुझे बिना पाये ही अन्त में अत्यन्त अधोगति को जा पहुँचते हैं।

[आसुरी लोगों का और उनको मिलनेवाली गति का वर्णन हो चुका। अब इससे छुटकारा पाने की युक्ति बतलाते हैं :—]

(२१) काम, क्रोध और लोभ, ये तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं। ये हमारा

एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥
§ § यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

नाश कर डालते हैं; इसलिये इन तीनों का त्याग करना चाहिये। (२२) हे कौंतेय ! इन तीन तमोद्वारों से छूट कर मनुष्य वही आचरण करने लगता है, कि जिसमें उसका कल्याण हो; और फिर उत्तम गति पा जाता है।

[प्रगट है, कि नरक के तीनों दरवाजे छूट जान पर सद्गति मिलनी ही चाहिये। किन्तु यह नहीं बतलाया, कि कौन-सा आचरण करन से ये छूट जाते हैं। अतः अब उसका मार्ग बतलाते हैं :—]

(२३) जो शास्त्रोक्त विधि छोड़ कर मनमाना करने लगता है, उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है; और न उत्तम गति ही मिलती है। (२४) इसलिये कार्यअकार्यव्यवस्थिति का अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करने के लिये तुझे शास्त्रों का प्रमाण मानना चाहिये। और शास्त्रों में जो कुछ कहा है, उसको समझ कर तदनुसार इस लोक में कर्म करना तुझे उचित है।

[इस श्लोक के 'कार्याकार्यव्यवस्थिति' पद से स्पष्ट होता है, कि कर्तव्य शास्त्र की अर्थात् नीतिशास्त्र की कल्पना को दृष्टि के आगे रख कर गीता का उपदेश किया गया है। गीतारहस्य (प्र. २, पृ. ४८–५०) में स्पष्ट कर दिखला दिया है, कि इसी को कर्मयोगशास्त्र कहते हैं।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए—अर्थात् कहे हुए—उपनिषद् में ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग—अर्थात कर्मयोग—शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में दैवासुरसम्पद्विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

सप्तदशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।

सत्रहवाँ अध्याय ।

[यहाँ तक इस बात का वर्णन हुआ, कि कर्मयोगशास्त्र के अनुसार संसार का धारणपोषण करनेवाले पुरुष किस प्रकार के होते हैं ? और संसार का नाश करनेवाले मनुष्य किस ढँग के होते हैं ? अब यह प्रश्न सहज ही होता है, कि मनुष्य मनुष्य में इस प्रकार के भेद होते क्यों हैं ? इस प्रश्न का उत्तर सातवें अध्याय के " प्रकृत्या नियताः स्वया " पद में दिया गया है; जिसका अर्थ यह है, कि यह प्रत्येक मनुष्य का प्रकृतिस्वभाव है (७. २०)। परन्तु वहाँ सत्त्व-रज-तममय तीनों गुणों का विवेचन किया नहीं गया था । अतएव वहाँ इस प्रकृतिजन्य भेद की उपपत्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन भी न हो सका । यही कारण है जो चोदहवें अध्याय में त्रिगुणों का विवेचन किया गया है; और अब इस अध्याय में वर्णन किया गया है, कि त्रिगुणों से उत्पन्न होनेवाली श्रद्धा आदि के स्वभावभेद क्योंकर होते हैं ? और फिर उसी अध्याय में ज्ञानविज्ञान का सम्पूर्ण निरूपण समाप्त किया गया है । इसी प्रकार नौवें अध्याय में भक्तिमार्ग के जो अनेक भेद बतलाये गये हैं, उनके कारण भी इस अध्याय की उपपत्ति से समझ में आ जाते हैं (देखो ९. २३, २४)। पहले अर्जुन यों पूछता है, कि :--]

अर्जुन ने कहा :--(१) हे कृष्ण ! जो लोग श्रद्धा से युक्त होकर, शास्त्रनिर्दिष्ट विधि को छोड़ करके यजन करते हैं, उनकी निष्ठा अर्थात् (मन की) स्थिति कैसी है--सात्त्विक है, या राजस है, या तामस ?

[पिछले अध्याय के अन्त में जो यह कहा गया था, कि शास्त्र की विधि का अथवा नियमों का पालन अवश्य करना चाहिये; उसी पर अर्जुन ने यह शंका की है । शास्त्रों पर श्रद्धा रखते हुए भी मनुष्य अज्ञान से भूल कर बैठता है । उदाहरणार्थ, शास्त्रविधि यह है, कि सर्वव्यापी परमेश्वर का भजनपूजन करना चाहिये; परन्तु वह इसे छोड़ कर देवताओं की धुन में लग जाता है (गी. ९. २३) । अतः अर्जुन का प्रश्न है, कि ऐसे पुरुष की निष्ठा अर्थात् अवस्था अथवा स्थिति कौन-सी समझी जावे । यह प्रश्न उन आसुरी लोगों के विषय में नहीं है, कि जो शास्त्र का और धर्म का अश्रद्धापूर्वक तिरस्कार किया करते हैं। तो भी इस अध्याय में प्रसङ्गानुसार उनके कर्मों के फलों का भी वर्णन किया गया है ।]

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

श्रीभगवन् ने कहा कि --(२) प्राणिमात्र की श्रद्धा स्वभावतः तीन प्रकार की होती है, एक सात्त्विक, दूसरी राजस और तीसरी तामस । उनका वर्णन सुनो । (३) हे भारत ! सब लोगों की श्रद्धा अपने अपने सत्त्व के अनुसार अर्थात् प्रकृति-स्वभाव के अनुसार होती है । मनुष्य श्रद्धामय है । जिसकी जैसी श्रद्धा रहती है, वह वैसा ही होता है ।

[दूसरे श्लोक में 'सत्त्व' शब्द का अर्थ देहस्वभाव, बुद्धि अथवा अन्तःकरण है । उपनिषद् में 'सत्त्व' शब्द इसी अर्थ में आया है (कठ. ६. ७); और वेदान्तसूत्र के शांकरभाष्य में भी 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ' पद के स्थान में 'सत्त्वक्षेत्रज्ञ' पद का उपयोग किया गया है (वे.सू. शां.भा. १. २. १२) । तात्पर्य यह है, कि दूसरे श्लोक का 'स्वभाव' शब्द और तीसरे श्लोक का 'सत्त्व' शब्द यहाँ दोनों ही समानार्थक हैं । क्योंकि सांख्य और वेदान्त दोनों को ही यह सिद्धान्त मान्य है, कि स्वभाव का अर्थ प्रकृति है । इसी प्रकृति से बुद्धि एवं अन्तःकरण उत्पन्न होते हैं । "यो यच्छ्रद्धः स एव सः"--यह तत्त्व "देवताओं की भक्ति करनेवाले देवताओं को पाते हैं" प्रभृति पूर्ववर्णित सिद्धान्तों का ही साधारण अनुवाद है (७. २०-२३; ९. २५) । इस विषय का विवेचन हमने गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण में किया है (देखिये गीतार. पृ.४२१-४२७) । तथापि जब यह कहा, कि जिसकी जैसी बुद्धि हो, उसे वैसा फल मिलता है; और वैसी बुद्धि का होना या न होना प्रकृतिस्वभाव के अधीन है; तब प्रश्न होता है, कि फिर वह बुद्धि सुधर क्योंकर सकती है ? इसका यह उत्तर है, कि आत्मा स्वतन्त्र है, अतः देह का यह स्वभाव क्रमशः अभ्यास और वैराग्य के द्वारा धीरे धीरे बदला जा सकता है । इस बात का विवेचन गीतारहस्य के दसवें प्रकरण में किया गया है (पृ. २७७-२८२) । अभी तो यही देखना है, कि श्रद्धा में भेद क्यों और कैसे होते हैं ? इसी से कहा गया है, कि प्रकृतिस्वभावनुसार श्रद्धा बदलती है । अब बतलाते हैं, कि जब प्रकृति भी सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंसे युक्त है, तब प्रत्येक मनुष्य में श्रद्धा के भी त्रिधा भेद किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ? और उनके परिणाम क्या होते हैं ? :--]

(४) जो पुरुष सात्त्विक हैं--अर्थात् जिनका स्वभाव सत्त्वगुण-प्रधान है--वे देवताओं का यजन करते हैं । राजस पुरुष यक्षों और राक्षसों का यजन करते हैं । एवं इसके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं, वे प्रेतों और भूतों का यजन करते हैं ।

§ § अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्धयासुरनिश्चयान् ॥६॥
§ § आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

[इस प्रकार शास्त्र पर श्रद्धा रखनेवाले मनुष्यों के भी सत्त्व आदि प्रकृति के गुणभेदों से जो तीन भेद होते हैं, उनका और उनके स्वरूपों का वर्णन हुआ । अब बतलाते हैं, कि शास्त्र पर श्रद्धा न रखनेवाले कामपरायण और दाम्भिक लोग किस श्रेणी में आते हैं? यह तो स्पष्ट है, कि ये लोग सात्त्विक नहीं हैं; परन्तु ये निरे तामस भी नहीं कहे जा सकते । क्योंकि यद्यपि इनके कर्म शास्त्रविरुद्ध होते हैं, तथापि इनमें कर्म करने की प्रवृत्ति होती है; और वह रजोगुण का धर्म है । तात्पर्य यह है, कि ऐसे मनुष्यों को न सात्त्विक कह सकते हैं, न राजस और न तामस । अतएव दैवी और आसुरी नामक दो कक्षाएँ बना कर उक्त दुष्ट पुरुषों का आसुरी कक्षा में समावेश किया जाता है । यही अर्थ अगले दो श्लोकों में स्पष्ट किया गया है ।]

(५) परन्तु जो लोग दम्भ और अहङ्कार से युक्त होकर काम एवं आसक्ति के बल पर शास्त्र के विरुद्ध घोर तप किया करते हैं (६) तथा जो न केवल शरीर के पञ्चमहाभूतों के समूह को ही, वरन् शरीर के अन्तर्गत रहनेवाले मुझको भी कष्ट देते हैं, उन्हें अविवेकी आसुरी बुद्धि के जानो ।

[इस प्रकार अर्जुन के प्रश्नों के उत्तर हुए । इन श्लोकों का भावार्थ यह है, कि मनुष्य की श्रद्धा उसके प्रकृतिस्वभावानुसार सात्त्विक, राजस अथवा तामस होती है; और उसके अनुसार उसके कर्मों में अन्तर होता है; तथा उन कर्मों के अनुरूप ही उसे पृथक् पृथक् गति प्राप्त होती है । परन्तु केवल इतने से ही कोई आसुरी कक्षा में लेख नहीं लिया जाता । अपनी स्वाधीनता का उपयोग कर और शास्त्रानुसार आचरण करके प्रकृतिस्वभाव को धीरे धीरे सुधारते जाना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है । हाँ; जो ऐसा नहीं करते और दुष्ट प्रकृतिस्वभाव का ही अभिमान रख कर शास्त्र के विरुद्ध आचरण करते हैं, उन्हें आसुरी बुद्धि के कहना चाहिये; यह इन श्लोकों का भावार्थ है । अब यह वर्णन किया जाता है, कि श्रद्धा के समान ही आहार, यज्ञ, तप और दान के सत्त्व-रज-तममय प्रकृति के गुणों से भिन्न भिन्न भेद कैसे हो जाते हैं ? एवं इन भेदों से स्वभाव की विचित्रता के साथ-ही-साथ क्रिया की विचित्रता भी कैसे उत्पन्न होती है ? :—]

(७) प्रत्येक की रुचि का आहार भी तीन प्रकार का होता है । और यही

आयु:सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥
§§ अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

हाल यज्ञ, तप एवं दान का भी है। सुनो, उनका भेद बतलाता हूँ। (८) आयु, सात्त्विक वृत्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति की वृद्धि करनेवाले, रसीले, स्निग्ध, शरीर में भिद कर चिरकाल तक रहनेवाले और मन को आनन्ददायक आहार सात्त्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं। (९) कटु अर्थात् चरपरे, खट्टे, खारे, अत्युष्ण, तीखे, रूखे, दाहकारक तथा दुःख-शोक और रोग उपजानेवाले आहार राजस मनुष्य को प्रिय होते हैं।

[संस्कृत में कटु शब्द का अर्थ चरपरा और तिक्त का अर्थ कडुआ होता है। इसी के अनुसार संस्कृत के वैद्यक ग्रन्थों में काली मिरच कटु तथा नींब तिक्त कही गई है (देखो वाग्भट सूत्र, अ. १०)। हिन्दी के कडुए और तीखे शब्द क्रमानुसार कटु और तिक्त शब्दों के ही अपभ्रंश हैं।]

(१०) कुछ काल रखा हुआ अर्थात् ठण्डा, नीरस, दुर्गन्धित, बासा, जूठा तथा अपवित्र भोजन तामस पुरुष को रुचता हैं।

[सात्त्विक मनुष्य को सात्त्विक, राजस को राजस तथा तामस को तामस भोजन प्रिय होता है। इतना ही नहीं, यदि आहार शुद्ध अर्थात् सात्त्विक हो, तो मनुष्य की वृत्ति भी क्रम-क्रम से शुद्ध या सात्त्विक हो सकती है। उपनिषदों में कहा है, कि 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' (छां. ७. २६. २)। क्योंकि मन और बुद्धि प्रकृति के विकार हैं। इसलिये जहाँ सात्त्विक आहार हुआ वहाँ बुद्धि भी आप–ही–आप सात्त्विक बन जाती है। ये आहार के भेद हुए। इसी प्रकार अब यज्ञ के तीन भेद का भी वर्णन करते हैं :—]

(११) फलाशा की आकांक्षा छोड़ कर अपना कर्तव्य समझ करके शास्त्र की विधि के अनुसार, शान्त चित्त से जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक यज्ञ है। (१२) परन्तु हे भरतश्रेष्ठ! उसको राजस यज्ञ समझो कि जो फल की इच्छा से अथवा दम्भ के हेतु अर्थात् ऐश्वर्य दिखलाने के लिये किया जाता है। (१३) शास्त्र-

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

§ § देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

§ § श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।

विधिरहित, अन्नदानविहीन बिना मन्त्रों का, बिना दक्षिणा का और श्रद्धा से शून्य यज्ञ तामस यज्ञ कहलाता है ।

[आहार और यज्ञ के समान तप के भी तीन भेद हैं । पहले, तप के कायिक, वाचिक और मानसिक ये तीन भेद किये हैं; फिर इन तीनों में से प्रत्येक में सत्त्व, रज और तम गुणों से जो त्रिविधता होती है, उसका वर्णन किया है । यहाँ पर, तप शब्द से यह संकुचित अर्थ विवक्षित नहीं है, कि जङ्गल में जा कर पातञ्जलयोग के अनुसार शरीर को कष्ट दिया करे । किन्तु मनु का किया हुआ ' तप ' शब्द का यह व्यापक अर्थ ही गीता के निम्नलिखित श्लोकों में अभिप्रेत है, कि यज्ञयाग आदि कर्म, वेदाध्ययन, अथवा चातुर्वर्ण्य के अनुसार जिसका जो कर्तव्य हो—जैसे क्षत्रिय का कर्तव्य युद्ध करना है और वैश्य का व्यापार इत्यादि—वही उसका तप है (मनु. ११. २३६) ।]

(१४) देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शारीर अर्थात् कायिक तप कहते हैं । (१५) (मन को) उद्वेग न करनेवाले सत्य, प्रिय और हितकारक सम्भाषण को तथा स्वाध्याय अर्थात् अपने कर्म के अभ्यास को वाङमय (वाचिक) तप कहते हैं । (१६) मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन अर्थात् मुनियों के समान वृत्ति रखना, मनोनिग्रह और शुद्ध भावना—इनको मानस तप कहते हैं ।

[जान पड़ता है, कि पन्द्रहवें श्लोक में सत्य, प्रिय और हित तीनों शब्द मनु के इस वचन को लक्ष्य कर कहे गये हैं :—" सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् । प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ " (मनु. ४. १३८)—यह सनातन धर्म है, कि सच और मधुर (तो) बोलना चाहिये; परंतु अप्रिय सच न बोलना चाहिये । तथापि महाभारत में ही विदुर ने दुर्योधन से कहा है, कि " अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः " (देखो सभा- ६३. १७) । अब कायिक, वाचिक और मानसिक तपों के जो भेद फिर भी होते हैं, वे यों हैं :—]

(१७) इन तीनों प्रकार के तपों को यदि मनुष्य फल की आकांक्षा न रख कर

अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥
§ § दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दियते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

उत्तम श्रद्धा से तथा योगयुक्त बुद्धि से करे, तो वे सात्त्विक कहलाते हैं। (१८) जो तप (अपने) सत्कार, मान या पूजा के लिये अथवा दम्भ से किया जाता है, वह चंचल और अस्थिर तप शास्त्रों में राजस कहा जाता है ।(१९)मूढ आग्रह से, स्वयं कष्ट उठा कर अथवा (जारण-मारण आदि कर्मों के द्वारा) दूसरों को सताने के हेतु से किया हुआ तप तामस कहलाता है ।

[ये तप के भेद हुए । अब दान के त्रिविध भेद बतलाते हैं :—]

(२०) वह दान सात्त्विक कहलाता है कि जो कर्तव्यबुद्धि से किया जाता है; जो (योग्य) स्थल-काल और पात्र का विचार करके किया जाता है; एवं जो अपने ऊपर प्रत्युपकार न करनेवाले को दिया जाता है। (२१) परन्तु (किये हुए) उपकार के बदले में अथवा किसी फल की आशा रख, बड़ी कठिनाई से जो दान दिया जाता है, वह राजस दान है।(२२) अयोग्य स्थान में, अयोग्य काल में, अपात्र मनुष्य को, बिना सत्कार के अथवा अवहेलनापूर्वक जो दान दिया जाता है, वह तामस दान कहलाता है ।

[आहार, यज्ञ, तप और दान के समान ही ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख की त्रिविधता का वर्णन अगले अध्याय में किया गया है (गी. १८. २०–३९) इस अध्याय का गुणभेद-प्रकरण यहीं समाप्त हो चुका। अब ब्रह्म-निर्देश के आधार पर उक्त सात्त्विक कर्म की श्रेष्ठता और संग्राह्यता सिद्ध की जावेगी । क्योंकि उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन पर सामान्यतः यह शङ्का हो सकती है, कि कर्म सात्त्विक हो या राजस, या तामस, कैसा भी क्यों न हो ? है तो वह दुःखकारक और दोषमय ही; इस कारण सारे कर्मों का त्याग किये बिना ब्रह्म-प्राप्ति नहीं हो सकती । और जो यह बात सत्य है, तो फिर कर्म के सात्त्विक, राजस आदि भेद करने से लाभ ही क्या ह ? इस आक्षेप पर गीता का यह उत्तर है, कि कर्म के सात्त्विक, राजस और तामस भेद परब्रह्म से अलग नहीं हैं। जिस

§ § ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥
§ § तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।

सङ्कल्प में ब्रह्म का निर्देश किया गया है, उसी में सात्त्विक कर्मों का और सत्कर्मों का समावेश होता है । इससे निर्विवाद सिद्ध है, कि ये कर्म अध्यात्मदृष्टि से भी त्याज्य नहीं हैं (देखो गीतार.प्र.६,पृ.२४५)। परब्रह्म के स्वरूप का मनुष्य को जो कुछ ज्ञान हुआ है, वह सब "ॐ तत्सत्" इन तीन शब्दों के निर्देश में ग्रथित है। इनमें से ॐ अक्षर ब्रह्म है; और उपनिषदों में इसका भिन्न भिन्न अर्थ किया गया है (प्रश्न ५; कठ. २. १५–१७; तै. १. ८; छां १. १; मैत्र्यु. ६. ३, ४; मांडूक्य १–१२)। और जब यह वर्णाक्षररूपी ब्रह्म ही जगत् के आरम्भ में था, तब सब क्रियाओं का आरम्भ वहीं से होता है। "तत् = वह" शब्द का अर्थ है सामान्य कर्म से परे का कर्म—अर्थात् निष्कामबुद्धि से फलाशा छोड़ कर किया हुआ सात्त्विक कर्म—और 'सत्' का अर्थ वह कर्म है, कि जो यद्यपि फलाशासहित हो, तो भी शास्त्रानुसार किया गया हो और शुद्ध हो। इस अर्थ के अनुसार निष्कामबुद्धि से किये हुए सात्त्विक कर्म का ही नहीं, वरन् शास्त्रानुसार किये हुए सत् कर्म का भी परब्रह्म के सामान्य और सर्वमान्य सङ्कल्प में समावेश होता है; अतएव इन कर्मों को त्याज्य कहना अनुचित है। अन्त में 'तत्' और 'सत्' कर्मों के अतिरिक्त एक 'असत्' अर्थात् बुरा कर्म बच रहा। परन्तु वह दोनों लोकों में गर्ह्य माना गया है। इस कारण अन्तिम श्लोक में सूचित किया है, कि उस कर्म का इस संकल्प में समावेश नहीं होता। भगवान् कहते हैं कि :—]

(२३) (शास्त्र में) परब्रह्म का निर्देश 'ॐ तत्सत्' यों तीन प्रकार से किया जाता है। उसी निर्देश से पूर्वकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुए हैं।

[पहले कह आये हैं, कि सम्पूर्ण सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मदेवरूपी पहला ब्राह्मण, वेद और यज्ञ उत्पन्न हुए (गी. ३. १०)। परन्तु ये सब जिस परब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, उस परब्रह्म का स्वरूप 'ॐ तत्सत्' इन तीन शब्दों में है। अतएव इस श्लोक का यह भावार्थ है, कि 'ॐ तत्सत्' सङ्कल्प ही सारी सृष्टि का मूल है। अब इस सङ्कल्प के तीनों पदों का कर्मयोग की दृष्टि से पृथक निरूपण किया जाता है :—]

(२४) तस्मात् अर्थात् जगत् का आरम्भ इस संकल्प से हुआ है। इस कारण ब्रह्मवादी लोगों के यज्ञ, दान, तप तथा अन्य शास्त्रोक्त इस सदा ॐ के उच्चार के साथ हुआ करते हैं (२५) 'तत्' शब्द के उच्चारण से फल की आशा न रख

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥
§ § अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

कर मोक्षार्थी लोग यज्ञ, दान, तप आदि अनेक प्रकार की क्रियाएँ किया करते हैं। (२६) अस्तित्व और साधुता अर्थात् भलाई के अर्थ में 'सत्' शब्द का उपयोग किया जाता है। और हे पार्थ ! इसी प्रकार प्रशस्त अर्थात् अच्छे कर्मों के लिये भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है । (२७) यज्ञ, तप और दान में स्थिति अर्थात् स्थिर भावना रखने को भी 'सत्' कहते हैं, तथा इनके निमित्त जो कर्म करना हो, उस कर्म का नाम भी 'सत्' ही है ।

[यज्ञ, तप और दान मुख्य धार्मिक कर्म हैं तथा इनके निमित्त जो कर्म किया जाता है, उसी को मीमांसक लोग सामान्यतः यज्ञार्थ कर्म कहते हैं। इन कर्मों को करते समय यदि फल की आशा हो, तो भी वह धर्म के अनुकूल रहती है। इस कारण ये कर्म 'सत्' श्रेणी में गिने जाते हैं; और सब निष्काम कर्म तत् (= वह अर्थात् परे की) श्रेणी में लेखे जाते हैं। प्रत्येक कर्म के आरम्भ में जो यह 'ॐ तत्सत्' ब्रह्मसङ्कल्प कहा जाता है, उसमें इस प्रकार से दोनों प्रकार के कर्मों का समावेश होता है। इसलिये इन दोनों कर्मों को ब्रह्मानुकूल ही समझना चाहिये। देखो गीतारहस्य प्र. ९, पृ. २४५। अब असत् कर्म के विषय में कहते हैं :—]

(२८) अश्रद्धा से जो हवन किया हो, (दान) दिया हो, तप किया हो या जो कुछ (कर्म) किया हो, वह 'असत्' कहा जाता है। हे पार्थ ! वह (कर्म) न मरने पर (परलोक में); और न इस लोक में हितकारी होता है ।

[तात्पर्य यह है, कि ब्रह्मस्वरूप के बोधक इस सर्वमान्य सङ्कल्प में ही निष्कामबुद्धि से अथवा कर्तव्य समझ कर किये हुए सात्त्विक कर्म का—और शास्त्रानुसार सद्बुद्धि से किये हुए प्रशस्त कर्म अथवा सत्कर्म का—समावेश होता है। अन्य सब कर्म वृथा हैं। इससे सिद्ध होता है, कि उस कर्म को छोड़ देने का उपदेश करना उचित नहीं है, कि जिस कर्म का ब्रह्मनिर्देश में ही समावेश होता है; और जो ब्रह्मदेव के साथ ही उत्पन्न हुआ है (गी. ३. १०); तथा जो किसी से छूट भी नहीं सकता। "ॐ तत्सत्" रूपी ब्रह्मनिर्देश के उक्त कर्मयोग-प्रधान अर्थ को इसी अध्याय में कर्मविभाग के साथ ही बतलाने का हेतु भी यही है। क्योंकि केवल ब्रह्मस्वरूप का वर्णन तो तेरहवें अध्याय में और उसके पहले भी हो चुका है। गीतारहस्य के नौवें प्रकरण के अन्त (पृ. २४५) में बतला चुके है कि 'ॐ तत्सत्' पद का असली अर्थ क्या होना चाहिये? आज-

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥
इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

कल ' सच्चिदानन्द ' पद से ब्रह्मनिर्देश करने की प्रथा है। परन्तु स्वीकार न करके यहाँ जब उस ' ॐ तत्सत् ' ब्रह्मनिर्देश का ही उपयोग किया गया है, तब इससे यह अनुमान निकल सकता है, कि ' सच्चिदानन्द ' पदरूपी ब्रह्मनिर्देश गीता ग्रन्थ के निर्मित हो चुकने पर साधारण ब्रह्मनिर्देश के रूप से प्रायः प्रचलित हुआ होगा।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए——अर्थात् कहे हुए——उपनिषद् में ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग——अर्थात् कर्मयोग——शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

अठारहवाँ अध्याय।

[अठारहवाँ अध्याय पूरे गीताशास्त्र का उपसंहार है। अतः यहाँ तक जो विवेचन हुआ है, उसका हम इस स्थान में संक्षेप से सिंहावलोकन करते हैं (अधिक विस्तार गीतारहस्य के १४ वें प्रकरण में देखिये)। पहले अध्याय से स्पष्ट होता है, कि स्वधर्म के अनुसार प्राप्त हुए युद्ध को छोड़ भीख माँगने पर उतारू होनेवाले अर्जुन को अपने कर्तव्य में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया गया है। अर्जुन को शंका थी, कि गुरुहत्या आदि सदोष कर्म से आत्मकल्याण कभी न होगा। अतएव आत्मज्ञानी पुरुषों के स्वीकृत किये हुए आयु बिताने के दो प्रकार के मार्गों का——सांख्य (संन्यास) मार्ग का और कर्मयोग (योग) मार्ग का——वर्णन दूसरे अध्याय के आरम्भ में ही किया गया है। और अन्त में यह सिद्धान्त किया गया है, कि यद्यपि ये दोनों ही मोक्ष देते हैं, तथापि इनमें से कर्मयोग ही अधिक श्रेयस्कर है (गी. ५. २)। फिर तीसरे अध्याय से ले कर पाँचवें अध्याय तक इन युक्तियों का वर्णन है, कि कर्मयोग में बुद्धि श्रेष्ठ समझी जाती है। बुद्धि के स्थिर और सम होने से कर्म की बाधा नहीं होती। कर्म किसी से भी नहीं छूटते; तथा उन्हें छोड़ देना भी किसी को उचित नहीं। केवल फलाशा को त्याग देना ही काफी है। अपने लिये न सही; तो भी लोकसंग्रह के हेतु कर्म करना आवश्यक है। बुद्धि अच्छी हो, तो ज्ञान और कर्म के बीच विरोध नहीं होता; तथा पूर्व-परम्परा देखी जाय तो ज्ञात होगा, कि जनक आदि ने इसी मार्ग का आचरण किया है। अनन्तर इस बात का विवेचन किया है, कि कर्मयोग की सिद्धि के

अष्टादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।

लिये बुद्धि की जिस समता की आवश्यकता होती है, उसे कैसे प्राप्त करना चाहिये ? और इस कर्मयोग का आचरण करते हुए अन्त में उसी के द्वारा मोक्ष कैसे प्राप्त होता है ? बुद्धि की इस समता को प्राप्त करने के लिये इन्द्रियों का निग्रह करके पूर्ण-तया यह जान लेना आवश्यक है, कि एक ही परमेश्वर सब प्राणियों में भरा हुआ है— इसके अतिरिक्त और दूसरा मार्ग नहीं है । अतः इन्द्रियनिग्रह का विवेचन छठवें अध्याय में किया गया है । फिर सातवें अध्याय से सत्रहवें अध्याय तक बतलाया है, कि कर्मयोग का आचरण करते हुए ही परमेश्वर का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ? और वह ज्ञान क्या है ? सातवें और आठवें अध्याय में क्षर-अक्षर अथवा व्यक्त-अव्यक्त के ज्ञानविज्ञान का विवरण किया गया है । नौवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक इस अभिप्राय का वर्णन किया गया है, कि यद्यपि परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अव्यक्त स्वरूप श्रेष्ठ है, तो भी इस बुद्धि को न डिगने दे, कि पर-मेश्वर एक ही है; और व्यक्त स्वरूप की ही उपासना प्रत्यक्ष ज्ञान देनेवाली अतएव सब के लिये सुलभ है । अनन्तर तेरहवें अध्याय में क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का विचार किया गया है, कि क्षर-अक्षर के विवेक में जिसे अव्यक्त कहते हैं, वही मनुष्य के शरीर में अन्तरात्मा है । इसके पश्चात् चौदहवें अध्याय से ले कर सत्रहवें अध्याय तक, चार अध्यायों में क्षरअक्षरविज्ञान के अन्तर्गत इस विषय का विस्तारसहित विचार किया गया है, कि एक ही अव्यक्त से प्रकृति के गुणों के कारण जगत् में विविध स्वभावों के मनुष्य कैसे उपजते हैं ? अथवा और अनेक प्रकार का विस्तार कैसे होता है ? एवं ज्ञानविज्ञान का निरूपण समाप्त किया गया है । तथापि स्थान स्थान पर अर्जुन को यही उपदेश है, कि तू कर्म कर; और यही कर्मयोगप्रधान आयु बिताने का मार्ग सब में उत्तम माना गया है, कि जिसमें शुद्ध अन्तःकरण से परमेश्वर की भक्ति करके 'परमेश्वरार्पणपूर्वक स्वधर्म के अनुसार केवल कर्तव्य समझ कर मरणपर्यन्त कर्म करते रहने' का उपदेश है । इस प्रकार ज्ञानमूलक और भक्तिप्रधान कर्मयोग का सांगोपांग विवेचन कर चुकने पर अठारहवें अध्याय में उसी धर्म का उपसंहार करके अर्जुन को स्वेच्छा से युद्ध करने के लिये प्रवृत्त किया है । गीता के इस मार्ग में—कि जो गीता म सर्वोत्तम कहा गया है—अर्जुन से यह नहीं कहा गया, कि 'तू चतुर्थ आश्रम को स्वीकार करके संन्यासी हो जा' । हाँ; यह अवश्य कहा है, कि इस मार्ग से आचरण करनेवाला मनुष्य 'नित्य संन्यासी' है (गी. ५. ३) । अतएव अब अर्जुन का प्रश्न है, कि चतुर्थ आश्रम-रूपी संन्यास ले कर किसी समय सब कर्मों को सचमुच त्याग देने का तत्त्व इसः

त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥
श्रीभगवानुवाच ।
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

कर्मयोगमार्ग में है या नहीं ? और नहीं है तो, 'संन्यास' एवं 'त्याग' शब्दों का अर्थ क्या है ? देखो गीतारहस्य प्र. ११, पृ. ३४६-३४९ ।]

अर्जुन ने कहा :—(१) हे महाबाहु, हृषीकेश ! मैं संन्यास का तत्त्व और हे केशिदैत्य-निषूदन ! त्याग का तत्त्व पृथक् पृथक् जानना चाहता हूँ ।

[संन्यास और त्याग शब्दों के उन अर्थों अथवा भेदों को जानने के लिये यह प्रश्न नहीं किया गया है, कि जो कोशकारों ने किये हैं । यह न समझना चाहिये, कि अर्जुन यह भी न जानता था, कि दोनों का धात्वर्थ "छोड़ना" है । परन्तु बात यह है, कि भगवान् कर्म छोड़ देने की आज्ञा कहीं भी नहीं देते; बल्कि चौथे, पाँचवें अथवा छठवें अध्याय (४.४१; ५.१३; ६.१) में या अन्यत्र जहाँ कहीं संन्यास का वर्णन है, वहाँ उन्हों ने यही कहा है, कि केवल फलाशा का 'त्याग' करके (गी. १२.११) सब कर्मों का 'संन्यास' करो—अर्थात् सब कर्म परमेश्वर को समर्पण करो (३.३०; १२.६)। और उपनिषदों में देखें, तो कर्मत्याग-प्रधान संन्यासधर्म के ये वचन पाये जाते हैं, कि 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (कै.१.२; नारायण १२.३) । सब कर्मों का स्वरूपतः 'त्याग' करने से ही कई एकों ने मोक्ष प्राप्त किया है; अथवा "वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः" (मुण्डक ३.२. ६)—कर्मत्यागरूपी 'संन्यास' योग से शुद्ध होनेवाले 'यति' या "किं प्रजया करिष्यामः" (बृ. ४. ४. २२)—हमें पुत्रपौत्र आदि प्रजा से क्या काम है ? अतएव अर्जुन ने समझा कि भगवान् स्मृतिग्रन्थों में प्रतिपादित चार आश्रमों में से कर्मत्यागरूपी संन्यास आश्रम के लिये 'त्याग' और 'संन्यास' शब्दों का उपयोग नहीं करते; किन्तु वे और किसी अर्थ में उन शब्दों का उपयोग करते हैं । इसी से अर्जुन ने चाहा, कि उस अर्थ का पूर्ण स्पष्टीकरण हो जाय । इसी हेतु से उसने उक्त प्रश्न किया है । गीता-रहस्य के ग्यारहवें प्रकरण (पृ. ३४६-३४९) में इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है ।

श्रीभगवान् ने कहा :—२ (जितने) काम्य कर्म हैं, उनके न्यास अर्थात् छोड़ने को ज्ञानी लोग संन्यास समझते हैं (तथा) समस्त कर्मों के फलों के त्याग को पण्डित लोग त्याग कहते हैं ।

[इस श्लोक में स्पष्टतया बतला दिया है, कि कर्मयोगमार्ग में संन्यास और त्याग किसे कहते हैं ? परन्तु संन्यासमार्गीय टीकाकारों को यह मत ग्राह्य नहीं । इस कारण उन्हों ने इस श्लोक की बहुत कुछ खींचातानी की है । श्लोक में प्रथम ही 'काम्य' शब्द आया है । अतएव इन टीकाकारों का मत है, कि यहाँ मीमांसकों के

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध प्रभृति कर्मभेद विवक्षित हैं; और उनकी समझ में भगवान् का अभिप्राय यह है, कि उनमें से केवल काम्य 'कर्मों ही को छोड़ना चाहिये'। परन्तु संन्यासमार्गीय लोगों को नित्य और नैमित्तिक कर्म भी नहीं चाहिय। इसलिये उन्हें यों प्रतिपादन करना पड़ा है, कि यहाँ नित्य और नैमित्तिक कर्मों का काम्य कर्मों में ही समावेश किया गया है। इतना करनेपर भी इस श्लोक के उत्तरार्ध में जो कहा गया है, कि फलाशा छोड़ना चाहिये; न कि कर्म (आगे छठा श्लोक देखिये), उसका मेल मिलता ही नहीं। अतएव अन्त में इन टीकाकारों ने अपने ही मन से यों कह कर समाधान कर लिया है, कि भगवान् ने यहाँ कर्मयोग-मार्ग की कोरी स्तुति की है। उनका सच्चा अभिप्राय तो यही है, कि कर्मों को छोड़ ही देना चाहिये! इससे स्पष्ट होता है, कि संन्यास आदि सम्प्रदायों की दृष्टि से इस श्लोक का अर्थ ठीक ठीक नहीं लगता। वास्तव में इसका अर्थ कर्मयोगप्रधान ही करना चाहिये—अर्थात् फलाशा छोड़ कर मरणपर्यंत सारे कर्म करते जाने का जो तत्त्व गीता में पहले अनेक बार कहा गया है, उसी के अनुरोध से यहाँ भी अर्थ करना चाहिये; तथा यही अर्थ सरल है और ठीक ठीक जमता भी है। पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिये, कि 'काम्य' शब्द से इस स्थान में मीमांसकों का नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध कर्मविभाग अभिप्रेत नहीं है। कर्मयोगमार्ग में सब कर्मों के दो ही विभाग किये जाते हैं। एक 'काम्य' अर्थात् फलाशा से किये हुए कर्म और दूसरे 'निष्काम' अर्थात् फलाशा छोड़ कर किये हुए कर्म। मनुस्मृति में उन्हीं को क्रम से प्रवृत्त कर्म और 'निवृत्त' कर्म कहा है (देखो मनु. १२. ८८ और ८९)। कर्म चाहे नित्य हों, नैमित्तिक हों, काम्य हों, कायिक हों, वाचिक हों, मानसिक हों, अथवा सात्त्विक आदि भेद के अनुसार और किसी प्रकार के हों, उन सब को 'काम्य' अथवा 'निष्काम' इन दो में से किसी एक विभाग में आना ही चाहिये। क्योंकि काम अर्थात् फलाशा का होना अथवा न होना, इन दोनों के अतिरिक्त फलाशा की दृष्टि से तीसरा भेद हो ही नहीं सकता। शास्त्र में जिस कर्म का जो फल कहा गया है— जैसे पुत्रप्राप्ति के लिये पुत्रेष्टि—उस फल की प्राप्ति के लिये वह कर्म किया जाय, तो वह 'काम्य' है; तथा मन में उस फल की इच्छा न रख कर वही कर्म केवल कर्तव्य समझ कर किया जाय, तो वह 'निष्काम' हो जाता है। इस प्रकार सब कर्मों के 'काम्य' और 'निष्काम' (अथवा मनु की परिभाषा के अनुसार प्रवृत्त और निवृत्त) येही दो भेद सिद्ध होते हैं। अब कर्मयोगी सब 'काम्य' कर्मों को सर्वथा छोड़ देता है। अतः सिद्ध हुआ, कि कर्मयोग में भी काम्यकर्म का संन्यास करना पड़ता है। फिर बच रहे निष्काम कर्म। सो गीता में कर्मयोगी को निष्काम कर्म करने का निश्चित उपदेश किया गया है सही; उसमें भी 'फलाशा' का सर्वथा त्याग करना पड़ता है (गी. ६. २)। अतएव त्याग का

§ § त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥४॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

तत्त्व भी गीताधर्म में स्थिर ही रहता है। तात्पर्य यह है, कि सब कर्मों को न छोड़ने पर भी कर्मयोगमार्ग में 'संन्यास' और 'त्याग' दोनों तत्त्व बने रहते हैं। अर्जुन को यही बात समझा देने के लिये इस श्लोक में संन्यास और त्याग दोनों की व्याख्या यों की गई है, कि 'संन्यास' का अर्थ 'काम्यकर्मों को सर्वथा छोड़ देना' है; और 'त्याग' का यह मतलब है, कि 'जो कर्म करना हो, उनकी फलाशा न रखे'। पीछे जब यह प्रतिपादन हो रहा था, कि संन्यास (अथवा सांख्य) और योग दोनों तत्त्वतः एक ही हैं; तब 'संन्यासी' शब्द का अर्थ (गी. ५. ३-६ और ६. १, २ देखो) तथा इसी अध्याय में आगे 'त्यागी' शब्द का अर्थ भी (गी. १८. ११) इसी भाँति किया गया है; और इस स्थान में वही अर्थ इष्ट है। यहाँ स्मार्तों का यह मत प्रतिपाद्य नहीं है, कि क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ आश्रम का पालन करने पर "अन्त में प्रत्येक मनुष्य को सर्व-त्यागरूपी संन्यास अथवा चतुर्थाश्रम लिये बिना मोक्षप्राप्ति हो ही नहीं सकती"। इससे सिद्ध होता है, कि कर्मयोगी यद्यपि संन्यासियों का गेरुआ भेष धारण कर सब कर्मों का त्याग नहीं करता, तथापि वह संन्यास के सच्चे सच्चे तत्त्व का पालन किया करता है। इसलिये कर्मयोग का स्मृतिग्रन्थ से कोई विरोध नहीं होता। अब संन्यासमार्ग और मीमांसकों के कर्मसम्बन्धी वाद का उल्लेख करके कर्मयोगशास्त्र का (इस विषय में) अन्तिम निर्णय सुनाते हैं :—]

(३) कुछ पंडितों का कथन है, कि कर्म दोषयुक्त है। अतएव उसका (सर्वथा) त्याग करना चाहिये; तथा दूसरे कहते हैं, कि यज्ञ, दान, तप और कर्म को कभी न छोड़ना चाहिये। (४) अतएव हे भरतश्रेष्ठ ! (५) त्याग के विषय में मेरा निर्णय सुन। हे पुरुषश्रेष्ठ ! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है। (५) यज्ञ, दान, तप और कर्म का त्याग न करना चाहिये। इन (कर्मों) को करना ही चाहिये। यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों के लिये (भी) पवित्र अर्थात् चित्तशुद्धिकारक हैं। (६) अतएव इन (यज्ञ, दान आदि) कर्मों को भी बिना आसक्ति रखे, फलों का त्याग करके (अन्य निष्काम कर्मों के समान ही लोकसंग्रह के हेतु) करते रहना चाहिये। हे पार्थ ! इस प्रकार मेरा निश्चित मत (है, तथापि) उत्तम है।

§§ नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्।

[कर्म का दोष अर्थात् बन्धकता कर्म में नहीं, फलाशा में है। इसलिये पहले अनेक बार जो कर्मयोग का यह तत्त्व कहा गया है—कि सभी कर्मों को फलाशा छोड़ कर निष्कामबुद्धि से करना चाहिये—उसका वह उपसंहार है। संन्यासमार्ग का यह मत गीता को मान्य नहीं है, कि सब कर्म दोषयुक्त, अतएव त्याज्य हैं (देखो गी. १८. ४८ और ४९)। गीता केवल काम्यकर्मों का संन्यास करने के लिये कहती है। परन्तु धर्मशास्त्र में जिन कर्मों का प्रतिपादन है, वे सभी काम्य ही हैं (गी. २. ४२–४४)। इसलिये अब कहना पड़ता है, कि उनका भी संन्यास करना चाहिये; और यदि ऐसा करते हैं, तो यह यज्ञचक्र बन्द हुआ जाता है (३.१६)। एवं इससे सृष्टि के उद्ध्वस्त होने का भी अवसर आया जाता है। प्रश्न होता है, कि तो फिर करना क्या चाहिये ? गीता इसका यों उत्तर देती है, कि यज्ञ, दान प्रभृति कर्म स्वर्गादि फलप्राप्ति के हेतु करने के लिये यद्यपि शास्त्र में कहा है, तथापि ऐसी बात नहीं है, कि यही कर्म लोकसंग्रह के लिये इस निष्काम बुद्धि से न हो सकते हों, कि यज्ञ करना, दान देना और तप करना आदि मेरा कर्तव्य है (देखो गी. १७. ११, १७ और २०)। अतएव लोकसंग्रह के निमित्त स्वधर्म के अनुसार जैसे अन्यान्य निष्काम कर्म किये जाते हैं, वैसे ही यज्ञ, दान आदि कर्मों को भी फलाशा और आसक्ति छोड़ कर करना चाहिये। क्योंकि वे सदैव 'पावन' अर्थात् चित्तशुद्धिकारक अथवा परोपकारबुद्धि बढ़ानेवाले हैं। मूल श्लोक में जो "एतान्यपि = ये भी" शब्द हैं, उनका अर्थ यही है, कि "अन्य निष्काम कर्मों के समान यज्ञ, दान आदि कर्म करना चाहिये।" इस रीति से ये सब कर्म फलाशा छोड़ कर अथवा भक्तिदृष्टि से केवल परमेश्वरार्पणबुद्धि-पूर्वक किये जावें, तो सृष्टि का चक्र चलता रहेगा; और कर्ता के मन की फलाशा छूट जाने के कारण ये कर्म मोक्षप्राप्ति में बाधा भी नहीं डाल सकते। इस प्रकार सब बातों का ठीक ठीक मेल मिल जाता है। कर्म के विषय में कर्मयोगशास्त्र का यही अन्तिम और निश्चित सिद्धान्त है (गी. २.४५ पर हमारी टिप्पणी देखो)। मीमांसकों के कर्ममार्ग और गीता के कर्मयोग का भेद गीतारहस्य (प्र.१०,पृ.२९२–२९५ और प्र. ११, पृ. ३४४–३४६) में अधिक स्पष्टता से दिखाया गया है। अर्जुन के प्रश्न करने पर संन्यास और त्याग के अर्थों का कर्मयोग की दृष्टि से इस प्रकार स्पष्टीकरण हो चुका। अब सात्त्विक आदि भेदों के अनुसार कर्म करने की भिन्न भिन्न रीतियों का वर्णन करके उसी अर्थ को दृढ करते हैं :—].

(७) जो कर्म (स्वधर्म के अनुसार) नियत अर्थात् स्थिर कर दिये गये हैं, उनका संन्यास यानी त्याग करना (किसी को भी) उचित नहीं है। उनका मोह

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥
§ § न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्यते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

से किया त्याग तामस कहलाता है । (८) शरीर को कष्ट होने के डर से अर्थात् दुःख कारक होने के कारण ही यदि कोई कर्म छोड़ दें, तो उसका वह त्याग राजस हो जाता है, (तथा) त्याग का फल उसे नहीं मिलता । (९) हे अर्जुन ! (स्वधर्मानुसार) नियत कर्म जब कार्य अथवा कर्तव्य समझ कर और आसक्ति एवं फल को छोड़ कर किया जाता है, तब वह सात्त्विक त्याग समझा जाता है ।

[सातवें श्लोक के 'नियत' शब्द का अर्थ कुछ लोक नित्यनैमित्तिक आदि भेदों में से 'नित्य' कर्म समझते हैं; किन्तु वह ठीक नहीं है, 'नियतं कुरु कर्म त्वं' (गी. ३. ८) पद में 'नियत' शब्द का जो अर्थ है वही अर्थ यहाँ पर भी करना चाहिये। हम ऊपर कह चुके हैं, कि यहाँ मीमांसकों की परिभाषा विवक्षित नहीं है । गी. ३.१९ में 'नियत' शब्द के स्थान में 'कार्य' शब्द आया है; और यहाँ नौवें श्लोक में "कार्य" एवं "नियत" दोनों शब्द एकत्र आ गये हैं । इस अध्याय के आरम्भ में दूसरे श्लोक में यह कहा गया है, कि स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले किसी भी कर्म को न छोड़ कर उसी को कर्तव्य समझ कर करते रहना चाहिये (देखो गी. ३.१९), इसी को सात्त्विक त्याग कहते हैं; और कर्मयोग-शास्त्र में इसी को 'त्याग' अथवा 'संन्यास' कहते हैं । इसी सिद्धान्त का इस श्लोक में समर्थन किया गया है । इस प्रकार त्याग और संन्यास के अर्थों का स्पष्टीकरण हो चुका अब इसी तत्त्व के अनुसार बतलाते हैं, कि वास्तविक त्यागी और संन्यासी कौन है ? :—]

(१०) जो किसी अकुशल अर्थात् अकल्याणकारक कर्म का द्वेष नहीं करता, तथा कल्याणकारक अथवा हितकारी कर्म में अनुषक्त नहीं होता, उसे सत्त्वशील, बुद्धिमान् और सन्देहविरहित त्यागी अर्थात् संन्यासी कहना चाहिये । (११) जो देहधारी है, उसके कर्मों का निःशेष त्याग होना सम्भव नहीं है । अतएव जिसने (कर्म न छोड़ कर) केवल कर्मफलों का त्याग किया हो, वही (सच्चा) त्यागी अर्थात् संन्यासी है ।

[अब यह बतलाते हैं, कि उक्त प्रकार से—अर्थात् कर्म न छोड़ कर केवल फलाशा छोड़ करके—जो त्यागी हुआ हो, उसे उसके कर्म के कोई भी फल बन्धक नहीं होते :—]

§ § अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२॥
§ § पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥ १४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥ १५॥
§ § तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबद्धयते ॥ १७॥

(१२) मृत्यु के अनन्तर अत्यागी मनुष्य को अर्थात् फलाशा का त्याग न करनेवाले को तीन प्रकार के फल मिलते हैं; अनिष्ट, इष्ट और (कुछ इष्ट और कुछ अनिष्ट मिला हुआ) मिश्र । परन्तु संन्यासी को अर्थात् फलाशा छोड़ कर कर्म करनेवाले को (ये फल) नहीं मिलते अर्थात् बाधा नहीं कर सकते ।

[त्याग, त्यागी और संन्यासी-सम्बन्धी उक्त विचार पहले (गी. ३.४–७; ५. २–१०; ६. १) कई स्थानों में आ चुके हैं, उन्हीं का यहाँ उपसंहार किया गया है । समस्त कर्मों का संन्यास गीता को भी इष्ट नहीं है । फलाशा का त्याग करनेवाला पुरुष ही गीता के अनुसार सच्चा अर्थात् नित्यसंन्यासी है (गी ५.३ समतायुक्त फलाशा का अर्थात् अहंकारबुद्धि का त्याग ही सच्चा त्याग है । इसी सिद्धान्त को दृढ करने के लिये अब और कारण दिखलाते हैं :—]

(१३) हे महाबाहु ! कोई भी कर्म होने के लिये सांख्यों के सिद्धान्त में पाँच कारण कहे गये हैं; उन्हें मैं बतलाता हूँ; सुन । (१४) अधिष्ठान (स्थान) तथा कर्ता, भिन्न भिन्न करण यानी साधन, (कर्ता की) अनेक प्रकार की पृथक् पृथक् चेष्टाएँ अर्थात् व्यापार और उसके साथ ही साथ पाँचवाँ (कारण) दैव है । (१५) शरीर से, वाणी से अथवा मन से मनुष्य जो जो कर्म करता है—फिर चाहे वह न्याय्य हो या विपरीत अर्थात् अन्याय्य—उसके उक्त पाँच कारण हैं ।

(१६) वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी जो संस्कृत बुद्धि न होने के कारण यह समझे, कि मैं ही अकेला कर्ता हूँ (समझना चाहिये कि), वह दुर्मति कुछ भी नहीं जानता । (१७) जिसे यह भावना ही नहीं है, कि 'मैं कर्ता हूँ' तथा जिसकी बुद्धि अलिप्त है, वह यदि इन लोगों को मार डाले, तथापि (समझना चाहिये कि) उसने किसी को नहीं मारा; और यह (कर्म) उसे बन्धक भी नहीं होता ।

§ § ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।

[कई टीकाकारों ने तेरहवें श्लोक के 'सांख्य' शब्द का अर्थ वेदान्तशास्त्र किया है। परन्तु अगला अर्थात् चौदहवाँ श्लोक नारायणीयधर्म (म. भा. शां. ३४७. ८७) में अक्षरशः आया है; और वहाँ उसके पूर्व कापिलसांख्य के तत्त्व--प्रकृति और पुरुष--का उल्लेख है। अतः हमारा यह मत है, कि 'सांख्य शब्द से इस स्थान में कापिलसांख्यशास्त्र ही अभिप्रेत है। पहले गीता में यह सिद्धान्त अनेक बार कहा गया है, कि मनुष्य को न तो कर्मफल की आशा करनी चाहिये; और न ऐसी अहंकारबुद्धि मन में रखनी चाहिये, कि मैं अमुक करूँगा (गी.२.१९; २.४७; ३.२७; ५. ८-११; १३, २९)। यहाँ पर वही सिद्धान्त यह कह कर दृढ किया गया है, कि "कर्म का फल होने के लिये मनुष्य ही अकेला कारण नहीं है" (देखो गीतार. प्र. ११)। चौदहवें श्लोक का अर्थ यह है, कि मनुष्य इस जगत् में हो या न हो; प्रकृति के स्वभाव के अनुसार जगत् का अखण्डित व्यापार चलता ही रहता है। और जिस कर्म को मनुष्य अपनी करतूत समझता है, वह केवल उसी के यत्न का फल नहीं है; वरन् उसके यत्न और संसार के अन्य व्यापारों अथवा चेष्टाओं की सहायता का परिणाम है। जैसे कि खेती केवल मनुष्य के ही यत्न पर निर्भर नहीं है; उसकी सफलता के लिये धरती, बीज, पानी, खाद और बैल आदि के गुणधर्म अथवा व्यापारों की सहायता आवश्यक होती है। इसी प्रकार, मनुष्य के प्रयत्न की सिद्धि होने के लिये जगत् के जिन विविध व्यापारों की सहायता आवश्यक है, उनमें से कुछ व्यापारों को जान कर, उनकी अनुकूलता पा कर ही मनुष्य यत्न किया करता है। परन्तु हमारे प्रयत्नों के लिये अनुकूल अथवा प्रतिकूल, सृष्टि के औरभी कई व्यापार हैं, कि जिनका हमें ज्ञान नहीं है। इसी को दैव कहते हैं; और कर्म की घटना का यह पाँचवाँ कारण कहा गया है। मनुष्य का यत्न सफल होने के लिये जब इतनी सब बातों की आवश्यकता है; तथा जब उनमें से कई या तो हमारे वश की नहीं या हमें ज्ञात भी नहीं रहती, तब यह बात स्पष्टतया सिद्ध होती है, कि मनुष्य का ऐसा अभिमान रखना निरी मूर्खता है, कि मैं अमुक काम करूँगा; अथवा ऐसी फलाशा रखना भी मूर्खता का लक्षण है, कि मेरे कर्म का फल अमुक ही होना चाहिये (देखो गीतार. प्र. ११, ३२६-३२७)। तथापि सत्रहवें श्लोक का अर्थ यों भी न समझ लेना चाहिये, कि जिसकी फलाशा छूट जाय, वह चाहे जो कुकर्म कर सकता है। साधारण मनुष्य जो कुछ करते हैं, वह स्वार्थ के लोभ से करते हैं; इसलिये उनका बर्ताव अनुचित हुआ करता है। परन्तु जिसका स्वार्थ या लोभ नष्ट हो गया है; अथवा फलाशा पूर्णतया विलीन हो गई है और जिसे प्राणिमात्र समान ही हो गये हैं, उससे किसी का भी अनहित नहीं हो सकता। कारण यह है, कि दोष बुद्धि में रहता है, न कि कर्म में। अतएव जिसकी बुद्धि पहले से शुद्ध और पवित्र हो गई हो, उसका किया हुआ

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

कोई कर्म यद्यपि लौकिक दृष्टि से विपरीत भले ही दिखलाई दे; तो भी न्यायतः कहना पड़ता है, कि उसका बीज शुद्ध ही होगा। फलतः उस काम के लिये फिर उस शुद्ध बुद्धिवाले मनुष्य को जवाबदार न समझना चाहिये। सत्रहवें श्लोक का यही तात्पर्य है। स्थितप्रज्ञ, अर्थात् शुद्ध बुद्धिवाले, मनुष्य की निष्पापता के इस तत्त्व का वर्णन उपनिषदों में भी है (कौषी. ३. १ और पंचदशी. १४. १६ और १७ देखो)। गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३७०—३७४) में इस विषय का पूर्ण विवेचन किया गया है; इसलिये यहाँ पर उससे अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न करने पर संन्यास और त्याग शब्दों के अर्थ की मीमांसा द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि स्वधर्मानुसार जो कर्म प्राप्त होते जायँ, उन्हें अहङ्कारबुद्धि और फलाशा छोड़ कर करते रहना ही सात्त्विक अथवा सच्चा त्याग है। कर्मों को छोड़ बैठना सच्चा त्याग नहीं है। अब सत्रहवें अध्याय में कर्म के सात्त्विक आदि भेदों का जो विचार आरम्भ किया गया था, उसी को यहाँ कर्मयोग की दृष्टि से पूरा करते हैं।]

(१८) कर्मचोदना तीन प्रकार की है—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता तथा कर्मसंग्रह तीन प्रकार का है—करण, कर्म और कर्ता। (१९) गुणसंख्यानशास्त्र में अर्थात् कापिलसांख्यशास्त्र में कहा है, कि ज्ञान, कर्म और कर्ता (प्रत्येक सत्त्व, रज और तम इन तीन) गुणों के भेदों से तीन प्रकार के हैं। उन (प्रकारों) को ज्यों-के-त्यों (तुझे बतलाता हूँ;) सुन।

[कर्मचोदना और कर्मसंग्रह पारिभाषिक शब्द हैं। इन्द्रियों के द्वारा कोई भी कर्म होने के पूर्व मन से उसका निश्चय करना पड़ता है। अतएव इस मानसिक विचार को 'कर्मचोदना' अर्थात् कर्म करने की प्राथमिक प्रेरणा कहते हैं। और, वह स्वभावतः ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञाता के रूप से तीन प्रकार की होती है। एक उदाहरण लीजिये :—प्रत्यक्ष घड़ा बनाने के पूर्व कुम्हार (ज्ञाता) अपने मन से निश्चय करता है, कि मुझे अमुक बात (ज्ञेय) करनी है; और वह अमुक रीति से (ज्ञान) होगी। यह क्रिया कर्मचोदना हुई। इस प्रकार मन का निश्चय हो जाने पर वह कुम्हार (कर्ता) मिट्टी, चाक इत्यादि साधन (करण) इकठ्ठे कर प्रत्यक्ष घडा (कर्म) तैयार करता है। यह कर्मसंग्रह हुआ। कुम्हार का कर्म घट तो है; पर उसी को मिट्टी का कार्य भी कहते हैं। इससे मालूम होगा, कि कर्मचोदना शब्द से मानसिक अथवा अन्तःकरण की क्रिया का बोध होता है; और कर्मसंग्रह शब्द से उसी मानसिक क्रिया की जोड़ की बाह्यक्रियाओं का बोध होता है। किसी भी कर्म का पूर्ण

§ § सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धिराजसम् ॥२१॥
यत्तु कृत्स्नवदेकास्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

विचार करना हो, तो 'चोदना' और 'संग्रह' दोनों का विचार करना चाहिये। इनमें से ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ) के लक्षण प्रथम ही तेरहवें अध्याय (१३.१८) में अध्यात्मदृष्टि से बतला आये हैं। परन्तु क्रियारूपी ज्ञान का लक्षण कुछ पृथक् होने के कारण अब इस त्रयी में से ज्ञान की और दूसरी त्रयी में से कर्म एवं कर्ता की व्याख्याएँ दी जाती हैं :—]

(२०) जिस ज्ञान से यह मालूम होता है, कि विभक्त अर्थात् भिन्न भिन्न सब प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव अथवा तत्त्व है, उसे सात्त्विक ज्ञान जानो। (२१) जिस ज्ञान से पृथकत्व का बोध होता है, कि समस्त प्राणिमात्र में भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक भाव हैं, उसे राजस ज्ञान समझो। (२२) परन्तु जो निष्कारण और तत्त्वार्थ को बिना जानेबूझे एक ही बात में यह समझ कर आसक्त रहता है—कि यही सब कुछ है—वह अल्प ज्ञान तामस कहा गया है।

[भिन्न भिन्न ज्ञानों के लक्षण, बहुत व्यापक हैं। अपने बाल-बच्चों और स्त्री को ही सारा संसार समझना तामस ज्ञान है। इससे कुछ ऊँची सीढ़ी पर पहुँचने से दृष्टि अधिक होती जाती ह; और अपने गाँव का अथवा देश का मनुष्य भी अपना-सा जँचने लगता है; तो भी यह बुद्धि बनी ही रहती है, कि भिन्न भिन्न गाँवों अथवा देशों के लोग भिन्न भिन्न हैं। यही ज्ञान राजस कहलाता है। परन्तु इससे भी ऊँचे जाकर प्राणिमात्र में एक ही आत्मा को पहचानना पूर्ण और सात्त्विक ज्ञान है। सार यह हुआ, कि 'विभक्त में अविभक्त' अथवा 'अनेकता में एकता' को पहचानना ही ज्ञान का सच्चा लक्षण है। और, बृहदारण्यक एवं कठोपनिषदों के वर्णनानुसार जो यह पहचान लेता है, कि इस जगत् में नानात्व नहीं है—"नेह नानास्ति किंचन" वह मुक्त हो जाता है। परन्तु जो इस जगत् में अनेकता देखता है, वह जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है—"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (बृ. ४. ४. १९; कठ. ४. ११)। इस जगत् में जो कुछ ज्ञान प्राप्त करना है, वह यही है (गी. १३. १६); और ज्ञान की यही परम सीमा है। क्योंकि सभी के एक हो जाने पर फिर एकीकरण की ज्ञानक्रिया को आगे बढ़ने के लिये स्थान ही नहीं रहता (देखो गीतार. प्र.९, पृ. २३२–२३३)। एकीकरण करने की इस ज्ञानक्रिया का निरूपण गीतारहस्य के नौवें प्रकरण (पृ. २१५–२१६) में किया गया है।

§ § नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

जब यह सात्त्विक ज्ञान मन में भली भाँति प्रतिबिम्बित हो जाता है, तब मनुष्य के देहस्वभाव पर उसके कुछ परिणाम होते हैं। इन्हीं परिणामों का वर्णन दैवी-सम्पत्ति गुणवर्णन के नाम से सोलहवें अध्याय के आरम्भ में किया गया है। और तेरहवें अध्याय (१३.७–११) में ऐसे देहस्वभाव का नाम ही 'ज्ञान' बतलाया है। इससे जान पड़ता है कि 'ज्ञान' शब्द से (१) एकीकरण की मानसिक क्रिया की पूर्णता तथा (२) उस पूर्णता का देहस्वभाव पर होनेवाला परिणाम,--ये दोनों अर्थ गीता में विवक्षित हैं। अतः बीसवें श्लोक में वर्णित ज्ञान का लक्षण यद्यपि बाह्यतः मानसिक क्रियात्मक दिखाई देता है, तथापि उसी में इस ज्ञान के कारण देहस्वभाव पर होनेवाले परिणाम का भी समावेश करना चाहिये। यह बात गीतारहस्य के नौवें प्रकरण के अन्त (पृ. २४७–२४८) में स्पष्ट कर दी गई है। अस्तु; ज्ञान के भेद हो चुके। अब कर्म के भेद बतलाये जाते हैं :—]

(२३) फलप्राप्ति की इच्छा न करनेवाला मनुष्य, (मन में) न तो प्रेम और द्वेष रख कर, बिना आसक्ति के (स्वधर्मानुसार) जो नियम अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म करता है, उस (कर्म) को सात्त्विक कहते हैं।(२४) परन्तु काम अर्थात् फलाशा की इच्छा रखनेवाला अथवा अहङ्कारबुद्धि का (मनुष्य) बड़े परिश्रम से जो कर्म करता है, उसे राजस कहते हैं। (२५) तामस कर्म वह है कि जो मोह से बिना इन बातों का विचार किये आरम्भ किया जाता है, कि अनुबन्धक अर्थात् आगे क्या होगा, पौरुष यानी अपना सामर्थ्य कितना है और (होनहार में) नाश अथवा हिंसा होगी या नहीं।

[इन तीन भाँति के कर्मों में सभी प्रकार के कर्मों का समावेश हो जाता है। निष्काम कर्मों को ही सात्त्विक अथवा उत्तम क्यों कहा है ? इस का विवेचन गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण में किया गया है; उसे देखो और अकर्म भी सचमुच यही है (गीता. ४. १६ पर हमारी टिप्पणी देखो)। गीता का सिद्धान्त है, कि कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है। अतः कर्म के उक्त लक्षणों का वर्णन करते समय बार बार कर्ता की बुद्धि का उल्लेख किया गया है। स्मरण रहे, कि कर्म का सात्त्विकपन या तामसपन केवल उसके बाह्य परिणाम से निश्चित नहीं किया गया है (देखो गीतार. प्र.१२, पृ. ३८०–३८१)। इसी प्रकार २५ वें श्लोक से यह भी

§ § मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ॥
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥
§ § बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।

सिद्ध है, कि फलाशा के छूट जाने पर यह न समझना चाहिये, कि अगला-पिछला या सारासार विचार किये बिना ही मनुष्य को चाहे जो कर्म करने की छुट्टी हो गई। क्योंकि २५ वें श्लोक में यह निश्चय किया है, कि अनुबन्धक और फल का विचार किये बिना जो कर्म किया जाता है, वह तामस है; न कि सात्त्विक (गीतार. प्र. १२, पृ. ३८०, ३८१ देखो)। अब इसी तत्त्व के अनुसार कर्ता के भेद बतलाते हैं :--]

(२६) जिसे आसक्ति नहीं रहती, जो 'मैं' और 'मेरा' नहीं कहता, कार्य की सिद्धि हो या न हो; (दोनों परिणामों के समय) जो (मन से) विकाररहित होकर धृति और उत्साह के साथ कर्म करता है, उसे सात्त्विक (कर्ता) कहते हैं। (२७) विषयासक्त, लोभी, (सिद्धि के समय) हर्ष और (असिद्धि के समय) शोक से युक्त, कर्मफल पाने की इच्छा रखनेवाला, हिंसात्मक और अशुचि कर्ता राजस कहलाता है। (२८) अयुक्त अर्थात् चञ्चल बुद्धिवाला, असभ्य, गर्व से फूलनेवाला, ठग, नैष्कृतिक यानी दूसरों की हानि करनेवाला, आलसी, अप्रसन्न-चित्त और दीर्घसूत्री अर्थात् देरी लगानेवाला या घड़ी भर के काम को महीने भर में करनवाला कर्ता तामस कहलाता है।

[२८ वें श्लोक में नैष्कृतिक (निस् + कृत = छेदन करना, काटना) शब्द का अर्थ दूसरों के काम छेदन करनेवाला अथवा नाश करनेवाला है। परन्तु इसके बदले कोई लोग 'नैकृतिक' पाठ मानते हैं। अमरकोश में 'निकृत' का अर्थ शठ लिखा हुआ है। परन्तु इस श्लोक में शठ विशेषण पहले आ चुका है, इसलिये हमने नैष्कृतिक पाठ को स्वीकार किया है। इन तीन प्रकार के कर्ताओं में से सात्त्विक कर्ता ही अकर्ता, अलिप्त-कर्ता अथवा कर्मयोगी है। ऊपरवाले श्लोक से प्रगट है कि फलाशा छोड़ने पर ही कर्म करने की आशा, उत्साह और सारासारविचार उस कर्मयोगी में बना ही रहता है। जगत् के त्रिविध विस्तार का यह वर्णन ही अब बुद्धि, धृति और सुख के विषय में भी किया जाता है। इन श्लोकों में बुद्धि का अर्थ वही व्यवसायात्मिका बुद्धि अथवा निश्चय करने-वाली इन्द्रिय अभीष्ट है, कि जिसका वर्णन दूसरे अध्याय (२. ४१) में हो चुका है। इसका स्पष्टीकरण गीतारहस्य के छठे प्रकरण (पृ. १३८-१४१) में किया गया है।]

(२९) हे धनञ्जय! बुद्धि और धृति के भी गुणों के अनुसार जो तीन प्रकार

प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥
§ § धृत्या यया धारयते मनः प्राणेंद्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥
यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

के भिन्न भिन्न भेद होते हैं, इन सब को तुझसे कहता हूँ; सुन । (३०) हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति (अर्थात् किसी कर्म के करने) और निवृत्ति (अर्थात् न करने) को जानती है, एवं यह जानती है, कि कार्य अर्थात् करने के योग्य क्या है और अकार्य अर्थात् करने के अयोग्य क्या है ? किससे डरना चाहिये और किससे नहीं ? किससे बन्धन होता है और किससे मोक्ष ? वह बुद्धि सात्त्विक है । (३१) हे पार्थ ! वह बुद्धि राजसी है, कि जिससे धर्म और अधर्म का अथवा कार्य और अकार्य का यथार्थ निर्णय नहीं होता । (३२) हे पार्थ ! वह बुद्धि तामसी है, कि जो तम से व्याप्त हो कर अधर्म को धर्म समझती है; और सब बातों में विपरीत यानी उलटी समझ कर देती है ।

[इस प्रकार बुद्धि के विभाग करनेपर सदसद्विवेकबुद्धि कोई स्वतन्त्र देवता नहीं रह जाती; किन्तु सात्त्विक बुद्धि में ही उसका समावेश हो जाता है । यह विवेचन गीतारहस्य के प्रकरण ६, पृष्ठ १४१ में किया गया है । बुद्धि के विभाग हो चुके; अब धृति के विभाग बतलाते हैं :--]

(३३) हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी अर्थात् इधर उधर न डिगनेवाली धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापार, (कर्मफल-त्यागरूपी) योग के द्वारा (पुरुष) करता है, वह धृति सात्त्विक है । (३४) हे अर्जुन ! प्रसंगानुसार फल की इच्छा रखनेवाला पुरुष जिस धृति से अपने धर्म, काम और अर्थ (पुरुषार्थ) को सिद्ध कर लेता है, वह धृति राजस है । (३५) हे पार्थ ! जिस धृति से मनुष्य दुर्बुद्धि हो कर निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद नहीं छोड़ता, वह धृति तामस है ।

['धृति' शब्द का अर्थ धैर्य है; परन्तु यहाँ पर शारीरिक धैर्य से अभिप्राय नहीं है । इस प्रकरण में धृति शब्द का अर्थ मन का दृढ़निश्चय है ।

§ § सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥
विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।

निर्णय करना बुद्धि का काम है सही; परन्तु इस बात की भी आवश्यकता है, कि बुद्धि जो योग्य निर्णय करे, वह सदैव स्थिर रहे। बुद्धि के निर्णय को ऐसा स्थिर या दृढ करना मन का धर्म है। अतएव कहना चाहिये, कि धृति अथवा मानसिक धैर्य का गुण मन और बुद्धि दोनों की सहायता से उत्पन्न होता है। परन्तु इतना ही कह देने से सात्त्विक धृति का लक्षण पूर्ण नहीं हो जाता, कि अव्यभिचारी अर्थात् इधर उधर विचलित न होनेवाले धैर्य के बल पर मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापार करना चाहिये। बल्कि यह भी बतलाना चाहिये, कि ये व्यापार किस वस्तु पर होते हैं? अथवा इन व्यापारों का कर्म क्या है? वह 'कर्म'-योग शब्द से सूचित किया गया है। अतः 'योग' शब्द का अर्थ केवल 'एकाग्र'-चित्त कर देने से काम नहीं चलता। इसीलिये हमने इस शब्द का अर्थ, पूर्वापर सन्दर्भ के अनुसार, कर्मफलत्यागरूपी योग किया है। सात्त्विक कर्म के और सात्त्विक कर्ता आदि के लक्षण बतलाते समय [जैसे 'फल की आसक्ति छोड़ने' को प्रधान गुण माना है, वैसे ही सात्त्विक धृति का लक्षण बतलाने में भी उसी को प्रधान मानना चाहिये। इसके सिवा अगले ही श्लोक में यह वर्णन है, कि राजस धृति फलाकाङ्क्षी होती है। अतः इस श्लोक से भी सिद्ध होता है, कि सात्त्विक धृति, राजस धृति के विपरीत अफलाकाङ्क्षी होनी चाहिये। तात्पर्य यह है, कि निश्चय की दृढता तो निरी मानसिक क्रिया है, उसके भली या बुरी होने का विचार करने के अर्थ यह देखना चाहिये, कि जिस कार्य के लिये उस क्रिया का उपयोग किया जाता है, वह कार्य कैसा है? नींद और आलस्य आदि कामों में ही दृढनिश्चय किया गया हो, तो वह तामस है; फलाशा-पूर्वक नित्यव्यवहार के काम करने में लगाया गया हो तो राजस है; और फलाशा-त्यागरूपी योग में वह दृढ निश्चय किया गया हो, तो सात्त्विक है। इस प्रकार ये धृति के भेद हुए। अब बतलाते हैं, कि गुणभेदानुसार सुख के तीन प्रकार कैसे होते हैं? :—]

(३६) अब हे भरतश्रेष्ठ! मैं सुख के भी तीन भेद बतलाता हूँ; सुन। अभ्यास से अर्थात् निरन्तर परिचय से (मनुष्य) जिसमें रम जाता है; और जहाँ दुःख का अन्त होता है, (३७) जो आरम्भ में (तो) विष के समान जान पड़ता है, परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है, जो आत्मनिष्ठबुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होता है, उस (आध्यात्मिक) सुख को सात्त्विक कहते हैं। (३८) इन्द्रियों और उनके

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥
यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥
§ § न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

विषयों के संयोग से होनेवाला (अर्थात् आधिभौतिक) सुख राजस कहा जाता है, कि जो पहले तो अमृत के समान है; पर अन्त में विष-सा रहता है। (३९) और जो आरम्भ में एवं अनुबन्ध अर्थात् परिणाम में भी मनुष्य को मोह में फँसाता है; और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद अर्थात् कर्तव्य की भूल से उपजता है, उसे तामस सुख कहते हैं।

[३७ वें श्लोक में आत्मबुद्धि का अर्थ हमने 'आत्मनिष्ठबुद्धि' किया है। परन्तु 'आत्म' का अर्थ 'अपना' करके उसी पद का अर्थ 'अपनी बुद्धि' भी हो सकेगा। क्योंकि पहले (६. २१) कहा गया है, कि अत्यन्त सुख केवल 'बुद्धि से ही ग्राह्य' और 'अतीन्द्रिय' होता है। परन्तु अर्थ कोई भी क्यों न किया जाय ? तात्पर्य एक ही है। कहा तो है, कि सच्चा और नित्य सुख इन्द्रियोपभोग में नहीं है; किन्तु वह केवल बुद्धिग्राह्य है। परन्तु जब विचार करते हैं, कि बुद्धि को सच्चा और अत्यन्त सुख प्राप्त होने के लिये क्या करना पड़ता है ? तब गीता के छठे अध्याय से (६. २१. २२) प्रगट होता है, कि यह परमावधि का सुख आत्मनिष्ठबुद्धि हुए बिना प्राप्त नहीं होता। 'बुद्धि' एक ऐसी इन्द्रिय है, कि वह एक ओर से त्रिगुणात्मक प्रकृति के विस्तार की ओर देखती है; और दूसरी ओर से उसको आत्मस्वरूपी परब्रह्म का भी बोध हो सकता है, कि जो इस प्रकृति के विस्तार के मूल में अर्थात् प्राणिमात्र में समानता से व्याप्त है। तात्पर्य यह है, कि इन्द्रियनिग्रह के द्वारा बुद्धि को त्रिगुणात्मक प्रकृति के विस्तार से हटा कर जहाँ अन्तर्मुख और आत्मनिष्ठ किया—और पातञ्जलयोग के द्वारा साधनीय विषय यही है—तहाँ वह बुद्धि प्रसन्न हो जाती है; और मनुष्य को सत्य एवं अत्यन्त सुख का अनुभव होने लगता है। गीतारहस्य के ५ वें प्रकरण (पृ. ११५-११७) में आध्यात्मिक सुख की श्रेष्ठता का विवरण किया जा चुका है। अब सामान्यतः यह बतलाते हैं, कि जगत् में उक्त त्रिविध भेद ही भरा पड़ा है:—]

(४०) इस पृथ्वी पर, आकाश में अथवा देवताओं में अर्थात् देवलोक में भी ऐसी कोई वस्तु नहीं, कि जो प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त हो।

[अठारहवें श्लोक से यहाँ तक ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के भेद बतला कर अर्जुन की आँखों के सामने इस बात का एक चित्र रख दिया है, कि सम्पूर्ण जगत् में प्रकृति के गुणभेद से विचित्रता कैसे उत्पन्न होती है ?

§ § ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।

तथा फिर यह प्रतिपादन किया है, कि इन सब भेदों में सात्त्विक भेद श्रेष्ठ और ग्राह्य है। इन सात्त्विक भेदों में भी जो सब से श्रेष्ठ स्थिति है, उसी को गीता में त्रिगुणातीत अवस्था कहा है। गीतारहस्य के सातवें प्रकरण (पृ. १६७–१६८) में हम कह चुके हैं, कि त्रिगुणातीत अथवा निर्गुण अवस्था गीता के अनुसार कोई स्वतन्त्र या चौथा भेद नहीं है। इसी न्याय के अनुसार मनुस्मृति में भी सात्त्विक गति के ही उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन भेद करके कहा गया है, कि उत्तम सात्त्विक गति मोक्षप्रद है; और मध्यम सात्त्विक गति स्वर्गप्रद है (मनु. १२. ४८–५० और ८९–९१ देखो)। जगत् में जो प्रकृति है, उसकी विचित्रता का यहाँ तक वर्णन किया गया। अब इस गुणविभाग से ही चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की उत्पत्ति का निरूपण किया जाता है। यह बात पहले कई बार कही जा चुकी है कि (देखो १८. ७–९, २३; और ३. ८) स्वधर्मानुसार प्रत्येक मनुष्य को अपना अपना 'नियत' अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म फलाशा छोड़ कर, परन्तु धृति, उत्साह और सारासारविचार के साथ साथ, करते जाना ही संसार में उसका कर्तव्य है। परन्तु जिस बात से कर्म 'नियत' होता है, उसका बीज अब तक कहीं भी नहीं बतलाया गया। पीछे एक बार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का कुछ थोड़ा-सा उल्लेख कर (४. १३) कहा गया है, कि कर्तव्य अकर्तव्य का निर्णय शास्त्र के अनुसार करना चाहिये (गी. १६. २४)। परन्तु जगत् के व्यवहार को किसी नियमानुसार जारी रखने के हेतु (देखो गीतार. प्र. ११-१२, पृ. ३३४.३९७ और प्र. १५, ४९५–४९६) जिस गुणकर्मविभाग के तत्त्व पर चातुर्वर्ण्यरूपी शास्त्रव्यवस्था निर्मित की गई है, उसका पूर्ण स्पष्टीकरण उस स्थान में नहीं किया गया। अतएव जिस संस्था से समाज में हर एक मनुष्य का कर्तव्य नियत होता है, अर्थात् स्थिर किया जाता है, उस चातुर्वर्ण्य की, गुणत्रय-विभागके अनुसार, उपपत्ति के साथ ही साथ अब प्रत्येक वर्ण के नियत किये हुए कर्तव्य भी कहे जाते हैं :—]

(४१) हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म उनके स्वभाव जन्य अर्थात् प्रकृतिसिद्ध गुणों के अनुसार पृथक् पृथक् बँटे हुए हैं। (४२) ब्राह्मण का स्वभावजन्य कर्म शम, दम, तप, पवित्रता, शान्ति, सरलता (आर्जव), ज्ञान अर्थात् अध्यात्मज्ञान, विज्ञान यानी विविध ज्ञान और आस्तिक्यबुद्धि है। (४३) शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और (प्रजा पर)

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।। ४३ ।।
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।। ४४ ।।
§ § स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ।।४५।।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।४६।।

हुकमत करना क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है। (४४) कृषि अर्थात् खेतों, गोरक्षा यानी पशुओं को पालने का उद्यम और वाणिज्य अर्थात् व्यापार वैश्यों का स्वभावजन्य कर्म है। और, इसी प्रकार सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है।

[चातुर्वर्ण्यव्यवस्था स्वभावजन्य गुणभेद से निर्मित हुई है। यह न समझा जाय, कि यह उपपत्ति पहले पहल गीता में ही बतलाई गई है। किन्तु महाभारत के वनपर्वान्तर्गत नहुष-युधिष्ठिरसंवाद में और द्विज-व्याध संवाद (वन. १८० और २११) में, शान्तिपर्व के भृगु-भारद्वाजसंवाद (शां. १८८) में, अनुशासनपर्व के उमा-महेश्वर संवाद (अनु. १४३) में और अश्वमेधपर्व (३९.११) की अनुगीता में गुणभेद की यही उपपत्ति कुछ अन्तर से पाई जाती है। यह पहले ही कहा जा चुका है, कि जगत् के विविध व्यवहार प्रकृति के गुणभेद से हो रहे हैं। फिर सिद्ध किया गया है, कि मनुष्य का यह कर्तव्यकर्म —कि किसे क्या करना चाहिये—जिस चातुर्वर्ण्यव्यवस्था से नियत किया जाता है, वह व्यवस्था भी प्रकृति के गुणभेद का परिणाम है। अब यह प्रतिपादन करते हैं, कि उक्त कर्म हरएक मनुष्य को निष्कामबुद्धि से अर्थात् परमेश्वरार्पणबुद्धि से करना चाहिये। अन्यथा जगत् का कारोबार नहीं चल सकता; तथा मनुष्य के आचरण से ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। सिद्धि पाने के लिये और कोई दूसरा अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है :—]

(४५) अपने अपने (स्वभावजन्य गुणों के अनुसार प्राप्त होनेवाले) कर्मों में नित्य रत (रहनेवाला) पुरुष (उसी से) परम सिद्धि पाता है। सुनो, अपने कर्मों में तत्पर रहने से सिद्धि कैसे मिलती है? (४६) प्राणिमात्र की जिससे प्रवृत्ति हुई है और जिसने सारे जगत् का विस्तार किया है अथवा जिससे सब जगत् व्याप्त है, उसकी अपने (स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले) कर्मों के द्वारा (केवल वाणी अथवा फूलों से ही नहीं) पूजा करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।

[इस प्रकार प्रतिपादन किया गया कि चातुर्वर्ण्य के अनुसार प्राप्त होनेवाले कर्मों को निष्कामबुद्धि से अथवा परमेश्वरार्पणबुद्धि से करना विराटस्वरूपी परमेश्वर का एक प्रकार का यजन-पूजन ही है; तथा इसी से सिद्धि मिल जाती है (गीतार. प्र. १२ पृ. ४३६–४३७)। अब उक्त गुणभेदानुसार स्वभावतः प्राप्त

§ § श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।। ४७ ।।
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।। ४८ ।।
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।। ४९ ।।

होनेवाला कर्तव्य किसी दूसरी दृष्टि से सदोष, अश्लाघ्य, कठिन अथवा अप्रिय भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, इस अवसर पर क्षत्रियधर्म के अनुसार युद्ध करने में हत्या होने के कारण वह सदोष दिखाई देगा। तो ऐसे समय पर मनुष्य को क्या करना चाहिये ? क्या वह स्वधर्म को छोड़ कर अन्य धर्म स्वीकार कर ले (गी. ३. ३५)? या कुछ भी हो, स्वकर्म को ही करता जावे ? यदि स्वकर्म ही करना चाहिये, तो कैसे करे ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर उसी न्याय के अनुरोध से बतलाया जाता है, कि जो इस अध्याय में प्रथम (१८.६) यज्ञयाग आदि कर्मों के सम्बन्ध में कहा गया है :—]

(४७) यद्यपि परधर्म का आचरण सहज हो, तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्यविहित कर्म, विगुण यानी सदोष होने पर भी अधिक कल्याण-कारक है। स्वभावसिद्ध अर्थात् गुणस्वभावानुसार निर्मित की हुई चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था द्वारा नियत किया हुआ अपना कर्म करने में कोई पाप नहीं लगता। (४८) हे कौन्तेय ! जो कर्म सहज है, अर्थात् जन्म से ही गुणकर्मविभागानुसार नियत हो गया है, वह सदोष हो तो भी उसे (कभी) न छोड़ना चाहिये। क्योंकि सम्पूर्ण आरम्भ अर्थात् उद्योग (किसी न किसी) दोष से वैसे ही व्याप्त रहते हैं, जैसे कि धुएँ से आग घिरी रहती है। (४९) अतएव कहीं भी आसक्ति न रख कर मन को वश में करके निष्कामबुद्धि से चलने पर (कर्मफल के) संन्यास द्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त हो जाती है।

[इस उपसंहारात्मक अध्याय में पहले बतलाये हुए उन्हीं विचारों को अब फिर से व्यक्त कर दिखलाया है, कि पराये धर्म की अपेक्षा स्वधर्म भला है (गी. ३. ३५) और नैष्कर्म्यसिद्धि पाने के लिये कर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं है (गी. ३. ४) इत्यादि। हम गीता के तीसरे अध्याय में चौथे श्लोक की टिप्पणी में ऐसे प्रश्नों का स्पष्टीकरण कर चुके हैं, कि नैष्कर्म्य क्या वस्तु है ? और सच्ची नैष्कर्म्यसिद्धि किसे कहना चाहिये ? उक्त सिद्धान्त की महत्ता इस बात पर ध्यान दिये रहने से सहज ही समझ में आ जावेगी, कि संन्यासमार्गवालों की दृष्टि केवल मोक्ष पर ही रहती है ; और भगवान् की दृष्टि मोक्ष एवं लोक-संग्रह दोनों पर समान ही है। लोकसंग्रह के लिये अर्थात् समाज के धारण और पोषण के निमित्त ज्ञानविज्ञानयुक्त पुरुष; अथवा रण में तलवार का

§§ सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौंतेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।

जौहर दिखलानेवाले शूर क्षत्रिय, तथा किसान, वैश्य, रोजगारी, लुहार, बढ़ई, कुम्हार और मांसविक्रेता व्याध तक की भी आवश्यकता है। परन्तु यदि कर्म छोड़े बिना सचमुच मोक्ष नहीं मिलता, तो सब लोगों को अपना अपना व्यवसाय छोड़ कर संन्यासी बन जाना चाहिये। कर्मसंन्यासमार्ग के लोग इस बात की ऐसी कुछ परवाह नहीं करते। परन्तु गीता की दृष्टि इतनी संकुचित नहीं है। इसलिये गीता कहती है, कि अपने अधिकार के अनुसार प्राप्त हुए व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे के व्यवसाय को भला समझ करके करने लगना उचित नहीं है। कोई भी व्यवसाय लीजिये; उसमें कुछ-न-कुछ त्रुटि अवश्य रहती ही है। जैसे ब्राह्मण के लिये विशेषतः विहित जो क्षान्ति है (१८. ४२), उसमें भी एक बड़ा दोष यह है, कि ' क्षमावान् पुरुष दुर्बल समझा जाता है ' (म. भा. शां. १६०. ३४); और व्याध के पेशे में मांस बेचना भी एक झंझट ही है (म. भा. वन. २०६)। परन्तु इन कठिनाइयों से उकता कर कर्म को ही छोड़ बैठना उचित नहीं है। किसी भी कारण से क्यों न हो; जब एक बार किसी कर्म को अपना लिया, तो फिर उसकी कठिनाई या अप्रियता की परवाह न करके उसे आसक्ति छोड़ कर करना ही चाहिये। क्योंकि, मनुष्य की लघुतामहत्ता उसके व्यवसाय पर निर्भर नहीं है। किन्तु जिस बुद्धि से वह अपना व्यवसाय या कर्म करता है, उसी बुद्धि पर उसकी योग्यता अध्यात्मदृष्टि से अवलम्बित रहती है (गी. २. ४९)। जिसका मन शान्त है, और जिसने सब प्राणियों के अन्तर्गत एकता को पहचान लिया है, वह मनुष्य जाति या व्यवसाय से चाहे व्यापारी हो, चाहे कसाई; निष्कामबुद्धि से व्यवसाय करनेवाला वह मनुष्य स्नान-सन्ध्याशील ब्राह्मण, अथवा शूर क्षत्रिय की बराबरी का माननीय और मोक्ष का अधिकारी है, यही नहीं, वरन् ४९ वें श्लोक में स्पष्ट कहा है, कि कर्म छोड़ने से जो सिद्धि प्राप्त की जाती है, वही निष्कामबुद्धि से अपना अपना व्यवसाय करनेवालों को भी मिलती है। भागवतधर्म का जो कुछ रहस्य है, वह यही है; तथा महाराष्ट्र देश के साधुसन्तों के इतिहास से स्पष्ट होता है, कि उक्त रीति से आचरण करके निष्कामबुद्धि के तत्त्व को अमल में लाना कुछ असम्भव नहीं है (देखो गीतार. प्र. १३, पृ. ४३८)। अब बतलाते हैं, कि अपने अपने कर्मों में तत्पर रहने से ही अन्त में मोक्ष कैसे प्राप्त होता है ? :—]

(५०) हे कौन्तेय ! (इस प्रकार) सिद्धि प्राप्त होने पर (उस पुरुष को) ज्ञान की परम निष्ठा— ब्रह्म—जिस रीति से प्राप्त होती है, उसका मैं संक्षेप से वर्णन करता हूँ; सुन। (५१) शुद्ध बुद्धि से युक्त हो करके धैर्य से आत्मसंयमन कर,

शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥ ५५ ॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

शब्द आदि (इन्द्रियों के) विषयों को छोड़ करके और प्रीति एवं द्वेष को दूर कर (५२) 'विविक्त' अर्थात् चुने हुए अथवा एकान्त स्थल में रखनेवाला, मिताहारी, काया-वाचा और मन को वश में रखनेवाला, नित्य ध्यानयुक्त और विरक्त, (५३) (तथा) अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह अर्थात् पाश को छोड़ कर शान्त एवं ममता से रहित मनुष्य ब्रह्मभूत होने के लिये समर्थ होता है। (५४) ब्रह्मभूत हो जाने पर प्रसन्नचित्त हो कर वह न तो किसी की आकांक्षा ही करता है; और न किसी का द्वेष ही; तथा समस्त प्राणिमात्र में सम हो कर मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है। (५५) भक्ति से उसको मेरा तात्त्विक ज्ञान हो जाता है, कि मैं कितना हूँ ? और कौन हूँ; इस प्रकार मेरी तात्त्विक पहचान हो जाने पर वह मुझमें ही प्रवेश करता है; (५६) और मेरा ही आश्रय कर सब कर्म करते रहने पर भी उसे मेरे अनुग्रह से शाश्वत एवं अव्यय स्थान प्राप्त होता है।

[ध्यान रहे कि सिद्धावस्था का उक्त वर्णन कर्मयोगियों का है--कर्मसंन्यास करनेवाले पुरुषों का नहीं। आरम्भ में ही ४५ वें और ४९ वें श्लोक में कहा है, कि उक्त वर्णन आसक्ति छोड़ कर कर्म करनेवालों का है; तथा अन्त के ५६ वें श्लोक में " सब कर्म करते रहने पर भी " शब्द आये हैं। उक्त वर्णन भक्तों के अथवा त्रिगुणातीतों के वर्णन के ही समान है। यहाँ तक कि, कुछ शब्द भी उसी वर्णन से लिये गये हैं। उदाहरणार्थ, ५३ वें श्लोक का 'परिग्रह' शब्द छठवें अध्याय (६. १०) में योगी के वर्णन में आया है; ५४वें श्लोक का " न शोचति न कांक्षति " पद बारहवें अध्याय (१२. १७) में भक्तिमार्ग के वर्णन में है; और विविक्त (अर्थात् चुने हुए, एकान्त स्थल में रहना) शब्द १३ वें अध्याय के १० वें श्लोक में आ चुका है। कर्मयोगी को प्राप्त होनेवाली उपर्युक्त अन्तिम स्थिति और कर्मसंन्यासमार्ग से प्राप्त होनेवाली अन्तिम स्थिति

§ § चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

दोनों केवल मानसिक दृष्टि से एक ही हैं। इसी से संन्यासमार्गीय टीकाकारों को यह कहने का अवसर मिल गया है, कि उक्त वर्णन हमारे ही मार्ग का है। परन्तु हम कई बार कह चुके हैं; कि यह सच्चा अर्थ नहीं है। अस्तु; इस अध्याय के आरम्भ में प्रतिपादन किया गया है, कि संन्यास का अर्थ कर्मत्याग नहीं है, किन्तु फलाशा के त्याग को ही संन्यास कहते हैं। जब संन्यास शब्द का इस प्रकार अर्थ हो चुका, तब यह सिद्ध है, कि यज्ञ, दान आदि कर्म चाहे काम्य हों, चाहे नित्य हों या नैमित्तिक, उनको अन्य सब कर्मों के समान ही फलाशा छोड़ कर उत्साह और समता से करते जाना चाहिये। तदनन्तर संसार के कर्म, कर्ता, बुद्धि आदि सम्पूर्ण विषयों की गुणभेद से अनेकता दिखला कर उनमें सात्त्विक को श्रेष्ठ कहा है; और गीताशास्त्र का इत्यर्थ यह बतलाया है, कि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के द्वारा स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले समस्त कर्मों को आसक्ति छोड़ कर करते जाना ही परमेश्वर का यजनपूजन करना है। एवं क्रमशः इसी से अन्त में परब्रह्म अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है--मोक्ष के लिये कोई दूसरा अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है; अथवा कर्मत्यागरूपी संन्यास लेने की भी ज़रूरत नहीं है। केवल इस कर्मयोग से ही मोक्षसहित सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। अब इसी कर्मयोगमार्ग का स्वीकार कर लेने के लिये अर्जुन को फिर एक बार अन्तिम उपदेश करते हैं :--]

(५७) मन से सब कर्मों को मुझमें 'संन्यस्य' अर्थात् समर्पित करके मत्परायण होता हुआ (साम्य) बुद्धियोग के आश्रय से हमेशा मुझमें चित्त रख।

[बुद्धियोग शब्द दूसरे ही अध्याय (२.४९) में आ चुका है; और वहाँ उसका अर्थ फलाशा में बुद्धि न रख कर कर्म करने की युक्ति अथवा समत्वबुद्धि है। यही अर्थ यहाँ भी विवक्षित है। दूसरे अध्याय में जो यह कहा था, कि कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है; उसी सिद्धान्त का यह उपसंहार है। इसी में कर्मसंन्यास का अर्थ भी इन शब्दों के द्वारा व्यक्त किया गया है, कि "मन से (अर्थात् कर्म का प्रत्यक्ष त्याग न करके, केवल बुद्धि से) मुझमें सब कर्म समर्पित कर।" और वही अर्थ पहले गीता ३. ३० एवं ५. १३ में भी वर्णित है।]

(५८) मुझमें चित्त रखनेपर तू मेरे अनुग्रह से सङ्कटों को अर्थात् कर्म के शुभाशुभ फलों को पार कर जावेगा। परन्तु यदि अहङ्कार के वश हो मेरी न सुनेगा तो (अलबत) नाश पावेगा।

§ § यदहंकारमाश्रित्य नयोत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥
स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छासि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

[५८ वें श्लोक के अन्त में अहङ्कार का परिणाम बतलाया है; अब यहाँ उसी का अधिक स्पष्टीकरण करते हैं :—]

(५९) तू अहङ्कार से जो यह मानता (कहता) है, कि मैं युद्ध न करूँगा; (सो) तेरा यह निश्चय व्यर्थ है । प्रकृति अर्थात् स्वभाव तुझसे वह [युद्ध] करावेगा । (६०) हे कौन्तेय ! अपने स्वभावजन्य कर्म से बद्ध होने के कारण, मोह के वश होकर तू जिसे न करने की इच्छा करता है, पराधीन (अर्थात् प्रकृति के अधीन) हो करके तुझे वही करना पड़ेगा । (६१) हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रह कर (अपनी) माया से प्राणिमात्र को (ऐसे) घुमा रहा है । मानो सभी (किसी) यन्त्र पर चढ़ाये गये हों । (६२) इसलिये हे भारत ! तू सर्व भाव से उसी की शरण में जा । उसके अनुग्रह से परम शान्ति और नित्यस्थान प्राप्त होगा । (६३) इस प्रकार मैंने यह गुह्य से भी गुह्य ज्ञान तुझसे कहा है । इसका पूर्ण विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर ।

[इन श्लोकों में कर्मपराधीनता का जो गूढ तत्त्व बतलाया गया है, उसका विचार गीतारहस्य के १० वें प्रकरण में विस्तारपूर्वक हो चुका है । यद्यपि आत्मा स्वयं स्वतन्त्र है, तथापि जगत् के अर्थात् प्रकृति के व्यवहार को देखने से मालूम होता है, कि उस कर्म के चक्र पर आत्मा का कुछ भी अधिकार नहीं है, कि जो अनादि काल से चल रहा है । जिनकी हम इच्छा नहीं करते, बल्कि जो हमारी इच्छा के विपरीत भी हैं, ऐसी सैकडों–हज़ारों बातें संसार में हुआ करती हैं; तथा उनके व्यापार के परिणाम भी हम पर होते रहते हैं । अथवा उक्त व्यापारों का ही कुछ भाग हमें करना पड़ता है । यदि इन्कार करते हैं, तो बनता नहीं है । ऐसे अवसर पर ज्ञानी मनुष्य अपनी बुद्धि को निर्मल रख कर और सुख या दुःख को एक-सा समझ कर सब कर्म किया करता है; किन्तु मूर्ख मनुष्य उनके फन्दे में फँस जाता है । इन दोनों के आचरण में

§ § सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यासि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

यही महत्त्वपूर्ण भेद है। भगवान् ने तीसरे ही अध्याय में कह दिया है, कि "सभी प्राणी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार चलते रहते हैं; वहाँ निग्रह क्या करेगा?" (गी. ३. ३३)। ऐसी स्थिति में मोक्षशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र इतना उपदेश कर सकता है, कि कर्म में आसक्ति मत रखो। इससे अधिक वह कुछ नहीं कह सकता। यह अध्यात्मदृष्टि से विचार हुआ। परन्तु भक्ति की दृष्टि से प्रकृति भी तो ईश्वर का ही अंश है। अतः यही सिद्धान्त ६१ वें और ६२ वें श्लोक में ईश्वर को सारा कर्तृत्व सौंप कर बतलाया गया है। जगत् में जो कुछ व्यवहार हो रहे हैं, उन्हें परमेश्वर जैसे चाहता है, वैसे करता रहा है। इसलिये ज्ञानी मनुष्य को उचित है, कि अहङ्कारबुद्धि छोड़ कर अपने आप को सर्वथा परमेश्वर के ही हवाले कर दे। ६३ वें श्लोक में भगवान् ने कहा है सही, कि "जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर," परन्तु उसका अर्थ बहुत गम्भीर है। ज्ञान अथवा भक्ति के द्वारा जहाँ बुद्धि साम्यावस्था में पहुँची, वहाँ फिर बुरी इच्छा बचने ही नहीं पाती। अतएव ऐसे ज्ञानी पुरुष का 'इच्छा-स्वातंत्र्य' (इच्छा की स्वाधीनता) उसे अथवा जगत् को कभी अहितकारक नहीं हो सकता। इसलिये उक्त श्लोक का ठीक ठीक भावार्थ यह है, कि "ज्यों ही तू इस ज्ञान को समझ लेगा (विमृश्य), त्यों ही तू स्वयंप्रकाश हो जायगा; और फिर (पहले से नहीं) तू अपनी इच्छा से जो कर्म करेगा, वही धर्म्य एवं प्रमाण होगा; तथा स्थितप्रज्ञ की ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर तेरी इच्छा को रोकने की आवश्यकता ही न रहेगी"। अस्तु; गीतारहस्य के १४ वें प्रकरण में हम दिखला चुके हैं, कि गीता में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार अब सम्पूर्ण गीताशास्त्र का भक्तिप्रधान उपसंहार करते हैं :--]

(६४) (अब) अन्त की एक बात और सुन, कि जो सब से गुह्य है। तू मुझे अत्यन्त प्यारा है। इसलिये मैं तेरे हित की बात कहता हूँ। (६५) मुझमें अपना मन रख। मेरा भक्त हो। मेरा यजन कर और मेरी वन्दना कर; मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, कि (इससे) तू मुझमें ही आ मिलेगा। (क्योंकि) तू मेरा प्यारा (भक्त) है। (६६) सब धर्मों को छोड़ कर तू केवल मेरी ही शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा; डर मत।

§ § इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥
य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

[कोरे ज्ञानमार्ग के टीकाकारों को यह भक्तिप्रधान उपसंहार प्रिय नहीं लगता । इसलिये वे धर्म शब्द में ही अधर्म का समावेश करके कहते हैं, कि यह श्लोक कठ उपनिषद् के इस उपदेश से ही समानार्थक है, कि "धर्म-अधर्म, कृत-अकृत, और भूत-भव्य, सब को छोड़ कर इनके परे रहनेवाले परब्रह्म को पहचानो" (कठ, २. १४); तथा इसमें निर्गुण ब्रह्म की शरण में जाने का उपदेश है । निर्गुण ब्रह्म का वर्णन करते समय कठ उपनिषद का श्लोक महाभारत में भी आया है (शां. ३२९. ४०; ३३१. ४४)। परन्तु दोनों स्थानों पर धर्म और अधर्म दोनों पद जैसे स्पष्टतया पाये जाते हैं, वैसे गीता में नहीं हैं । यह सच है, कि गीता निर्गुण ब्रह्म को मानती है; और उसमें यह निर्णय भी किया है, कि परमेश्वर का वही स्वरूप श्रेष्ठ है (गी. ७. २४)। तथापि गीता का यह भी तो सिद्धान्त है कि व्यक्तोपासना सुलभ और श्रेष्ठ है (१२. ५)। और यही भगवान् श्रीकृष्ण अपने व्यक्त स्वरूप के विषय में ही कह रहे हैं । इस कारण हमारा यह दृढ मत है, कि यह उपसंहार भक्तिप्रधान ही है । अर्थात् यहाँ निर्गुण ब्रह्म विवक्षित नहीं है । किन्तु कहना चाहिये, कि यहाँ पर धर्म शब्द से परमेश्वरप्राप्ति के लिये शास्त्रों में जो अनेक मार्ग बतलाये गये हैं,—जैसे अहिंसाधर्म, सत्यधर्म, मातृपितृसेवाधर्म, गुरुसेवाधर्म, यज्ञयागधर्म, दानधर्म, संन्यासधर्म आदि—वेही अभिप्रेत हैं । महाभारत के शान्तिपर्व (३५४) में एवं अनुगीता (अश्व. ४९) में जहाँ इस विषय की चर्चा हुई है, वहाँ धर्म शब्द से मोक्ष के इन्हीं उपायों का उल्लेख किया गया है । परन्तु इस स्थान पर गीता के प्रतिपाद्य धर्म के अनुरोध से भगवान् का यह निश्चयात्मक उपदेश है, कि उक्त नाना धर्मों की गड़बड़ में न पड़ कर "मुझे अकेले को ही भज; मैं तेरा उद्धार कर दूँगा; डर मत" (देखो गीतार. पृ. ४४०)। सार यह है, कि अन्त में अर्जुन को निमित्त बना कर भगवान् सभी को आश्वासन देते हैं, कि मेरी दृढ भक्ति करके मत्परायणबुद्धि से स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्म करते जाने पर इहलोक और परलोक दोनों जगह तुम्हारा कल्याण होगा; डरो मत । यही कर्मयोग कहलाता है; और सब गीताधर्म का सार भी यही है । अब बतलाते हैं, कि इस गीताधर्म की अर्थात् ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग की परम्परा आगे कैसे जारी रखी जावे :—]

(६७) जो तप नहीं करता, भक्ति नहीं करता और सुनने की इच्छा नहीं रखता; तथा जो मेरी निन्दा करता हो उसे यह (गुह्य) कभी मत बतलाना ! (६८) जो यह परम गुह्य मेरे भक्तों को बतलावेगा, उसकी मुझ पर परम भक्ति

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥
§ § अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥
§ § कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥
अर्जुन उवाच ।
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

होगी और वह निस्सन्देह मुझमें ही आ मिलेगा। (६९) उसकी अपेक्षा मेरा अधिक प्रिय करनेवाला सम्पूर्ण मनुष्यों में दूसरा कोई भी न मिलेगा; तथा इस भूमि में मुझे उसकी अपेक्षा अधिक प्रिय और कोई न होगा।

[परम्परा की रक्षा के इस उपदेश के साथ ही अब फल बतलाते हैं :—]

(७०) हम दोनों के इस धर्मसंवाद का जो अध्ययन करेगा, मैं समझूँगा कि उसने ज्ञानयज्ञ से मेरी पूजा की। (७१) इसी प्रकार दोष न ढूँढ कर श्रद्धा के साथ जो कोई इसे सुनेगा, वह भी (पापों से) मुक्त होकर उन शुभ लोकों में जा पहुँचेगा, कि जो पुण्यवान् लोगों को मिलते हैं।

[यहाँ उपदेश समाप्त हो चुका। अब यह जाँचने के लिये, कि यह धर्म अर्जुन को समझ में ठीक ठीक आ गया है या नहीं? भगवान् उससे पूछते हैं :—]

(७२) हे पार्थ! तुमने इसे एकाग्र मन से सुन तो लिया है न? (और) हे धनञ्जय! तुम्हारा अज्ञानरूपी मोह अब सर्वथा नष्ट हुआ कि नहीं? अर्जुन ने कहा :—(७३) हे अच्युत! तुम्हारे प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया; और मुझे (कर्तव्यधर्म की) स्मृति हो गई। मैं (अब) निःसन्देह हो गया हूँ। आपके उपदेशानुसार (युद्ध) करूँगा।

[जिनकी साम्प्रदायिक समझ यह है, कि गीताधर्म में भी संसार को छोड़ देने का उपदेश किया गया है, उन्होंने इस अन्तिम अर्थात् ७३ वें श्लोक की बहुत कुछ निराधार खींचातानी की है। यदि विचार किया जाय, कि अर्जुन को किस बात की विस्मृति हो गई थी? तो पता लगेगा, कि दूसरे अध्याय (२. ७) में उसने कहा है, कि "अपना धर्म अथवा कर्तव्य समझने में मेरा मन असमर्थ हो गया है" (धर्मसंमूढचेताः)। अतः उक्त श्लोक का सरल अर्थ यही है, कि उसी

संजय उवाच।

§ § इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्‌भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्‌गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

(भूले हुए) कर्तव्यधर्म की अब उसे स्मृति हो आई है। अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया गया है; और स्थान स्थान पर ये शब्द कहे गये हैं, कि "इसलिये तू युद्ध कर" (गी. २. १८; २. ३७; ३.३०; ८. ७; ११. ३४)। अतएव इस "आपके आज्ञानुसार करूँगा" पद का अर्थ 'युद्ध करता हूँ' ही होता है। अस्तु; श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद समाप्त हुआ। अब महाभारत की कथा के संदर्भानुसार सञ्जय धृतराष्ट्र को यह कथा सुना कर उपसंहार करता है:--]

सञ्जय ने कहा:--(७४) इस प्रकार शरीर को रोमाञ्चित करनेवाला वासुदेव और महात्मा अर्जुन का यह अद्‌भुत संवाद मैंने सुना। (७५) व्यासजी के अनुग्रह से मैंने यह परम गुह्य--यानी योग अर्थात् कर्मयोग--साक्षात् योगेश्वर स्वयं श्रीकृष्ण ही के मुख से सुना है।

[पहले ही लिखे आये हैं, कि व्यास ने सञ्जय को दिव्यदृष्टि दी थी; जिससे रणभूमि पर होनेवाली सारी घटनाएँ उसे घर बैठे ही दिखाई देती थीं। और उन्हीं का वृत्तान्त वह धृतराष्ट्र से निवेदन कर देता था। श्रीकृष्ण ने जिस 'योग' का प्रतिपादन किया, वह कर्मयोग है (गी. ४. १--३); और अर्जुन ने पहले उसे 'योग' (साम्ययोग) कहा है (गी. ६. ३३); तथा अब सञ्जय भी श्रीकृष्णार्जुन के संवाद को इस श्लोक में 'योग' ही कहता है। इससे स्पष्ट है, कि श्रीकृष्ण, अर्जुन और सञ्जय, तीनों के मतानुसार 'योग' अर्थात् कर्मयोग ही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। और अध्यायसमाप्तिसूचक संकल्प में भी वही--अर्थात् योगशास्त्र--शब्द आया है। परन्तु योगेश्वर शब्द में 'योग' शब्द का अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक है। योग का साधारण अर्थ कर्म करने की युक्ति, कुशलता या शैली है। उसी अर्थ के अनुसार कहा जाता है, कि बहुरूपिया योग से अर्थात् कुशलता से अपने स्वांग बना जाता है। परन्तु जब कर्म करने की युक्तियों में श्रेष्ठ युक्ति को खोजते हैं, तब कहना पड़ता है, कि जिस युक्ति से परमेश्वर मूल में अव्यक्त होने पर भी वह अपने आप को व्यक्त स्वरूप देता है, वही युक्ति अथवा योग सब में श्रेष्ठ है। गीता में इसी को 'ईश्वरी योग' (गी. ९. ५; ११. ८) कहा है। और वेदान्त में जिसे माया कहते हैं, वह भी वही है (गी. ७. २५)। यह अलौ-

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ॥

कि अथवा अघटित योग जिसे साध्य हो जाय, उसे अन्य सब युक्तियाँ तो हाथ का मैल है। परमेश्वर इन योगों का अथवा माया का अधिपति है। अतएव उसे योगेश्वर अर्थात् योगों का स्वामी कहते हैं। 'योगेश्वर' शब्द में योग का अर्थ पातञ्जलयोग नहीं है।]

(७६) हे राजा (धृतराष्ट्र)! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत एवं पुण्यकारक संवाद का स्मरण होकर मुझे बार बार हर्ष हो रहा है; (७७) और हे राजा! श्रीहरि के उस अत्यन्त अद्भुत विश्वरूप की भी बार बार स्मृति होकर मुझे बड़ा विस्मय होता है; और बार बार हर्ष होता है। (७८) मेरा मत है, कि जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर अर्जुन है वहीं श्री, विजय, शाश्वत ऐश्वर्य और नीति हैं।

[सिद्धान्त का सार यह है, कि जहाँ युक्ति और शक्ति दोनों एकत्रित होती हैं, वहाँ निश्चय ही ऋद्धि-सिद्धि निवास करती हैं। कोरी शक्ति से अथवा केवल युक्ति से काम नहीं चलता। जब जरासन्ध का वध करने के लिये मन्त्रणा हो रही थी, तब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से कहा है, कि "अन्धं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः" (सभा. २०. १६)-बल अन्धा और जड़ है, बुद्धिमानों को चाहिये, कि उसे मार्ग दिखलावें; तथा श्रीकृष्ण ने भी यह कह कर, कि "मयि नीतिर्बलं भीमे" (सभा. २०. ३)-मुझमें नीति है; और भीमसेन के शरीर में बल है--भीमसेन को साथ ले उसके द्वारा जरासन्ध का वध युक्ति से कराया है। केवल नीति बतलानेवाले को आधा चतुर समझना चाहिये। अर्थात् योगेश्वर यानी योग या युक्ति के ईश्वर और धनुर्धर अर्थात् योद्धा, ये दोनों विशेषण इस श्लोक में हेतुपूर्वक दिये गये हैं।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए--अर्थात् कहे हुए--उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग--अर्थात् कर्मयोग--शास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

[ध्यान रहे, कि मोक्षसंन्यासयोग शब्द में संन्यास शब्द का अर्थ 'काम्य कर्मों का संन्यास' है; जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में कहा गया है। चतुर्थ आश्रमरूपी संन्यास यहाँ विवक्षित नहीं है; इस अध्याय में प्रतिपादन किया गया है, कि स्वधर्म को न छोड़ कर उसे परमेश्वर में मन से संन्यास अर्थात्

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

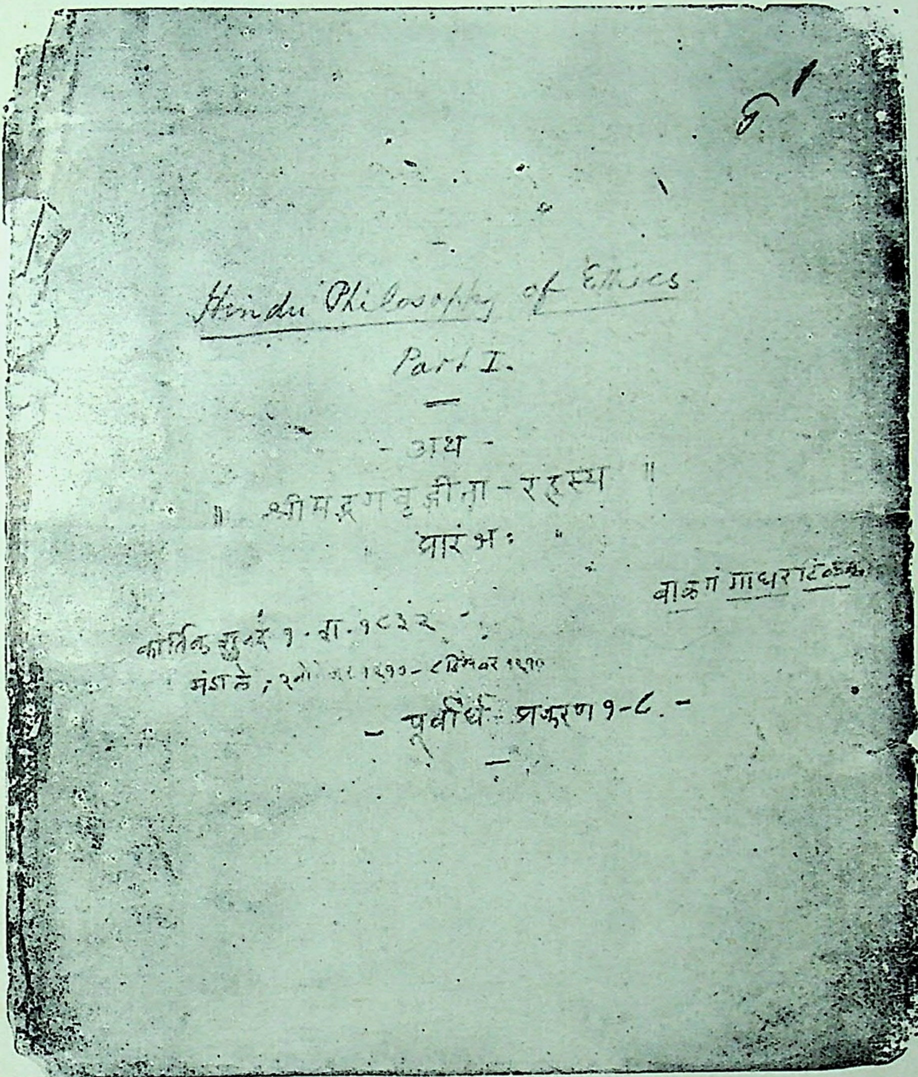
समर्पित कर देने से मोक्ष प्राप्त हो जाता है । अतएव इस अध्याय का मोक्षसंन्यासयोग नाम रखा गया है ।]

इस प्रकार बाल गंगाधर तिलककृत श्रीमद्भगवद्गीता का रहस्यसञ्जीवन नामक प्राकृत अनुवाद टिप्पणीसहित समाप्त हुआ ।

गंगाधर-पुत्र पूना-वासी महाराष्ट्र विप्र,
वैदिक तिलक बाल बुध ते विधीयमान ।
" गीतारहस्य " किया श्रीश को समर्पित यह,
७ ३ ८ १
वार काल योग भूमि शक मे सुयोग जान ॥

॥ ॐ तत्सद् ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

॥ शान्तिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु ॥



मंडाले तुरुंगांत लिहिलेल्या गीतारहस्याच्या मूळ हस्तलिखित प्रतींतील
पहिल्या वहीचें पहिलें पान

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ तत्सत्.

- श्रीमद्भगवद्गीता - रहस्य -

अथवा

- कर्मयोग - शास्त्र. -

- प्रकरण १लें.

विषयप्रवेश.

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
महाभारत. आदिमश्लोक.

श्रीमद्भगवद्गीता हा आमच्या धर्मग्रंथांपैकी एक अत्यंत तेजस्वी व निर्मल हिरा आहे. पिंडब्रह्मांडज्ञानपूर्वक आत्मविद्येचीं पवित्र तत्त्वें थोडक्यांत पण असंदिग्ध रीतीनें सांगून त्यांच्या आधारें [illegible] आध्यात्मिक पूर्णावस्थेची म्हणजे परमपुरुषार्थाची ओळख करून देणारा, व [illegible] भक्ति [illegible] [illegible] निष्काम कर्तव्याचरणास, [illegible] दुसरा ग्रंथ संस्कृतांतच काय पण जगांतील इतर वाङ्मयांत हि सांपडणें दुर्मिळ होय. केवळ काव्य या दृष्टीनें जरी

गीता के श्लोकों की सूची।

आ

सूची।

इस सूचीपत्र की ऊपर ऊपर से छानबीन करने से वाचक उसकी रचना की कल्पना कर सकेंगे। ग्रंथ और ग्रंथकारों के नाम अक्षरानुक्रम से दिये हैं। एक ही स्वरूप के ग्रन्थों की एक ही तालिका दी गई है यह वाचकों के समझ में आ जायगा। गीता के रहस्य के स्पष्टीकरण के लिये विषयविवेचन के अनुरोध में आनेवाली व्यक्तियों का निर्देश स्वतन्त्र शीर्षक के नीचे किया गया है। और पारिभाषिक शब्दों का समावेश व्याख्याओं में करने में आया है। टी. से टीप का तात्पर्य है।

व्यक्तिनिर्देश

युरोपियन ग्रंथकार :—

व्याख्या (पारिभाषिक शब्द)

अ

आ

हिन्दू धर्मग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय ।

हिन्दूधर्म के मूलभूत ग्रन्थोंमें महत्त्व और कालानुक्रम दृष्टि से वेद यह श्रेष्ठ और आद्य ग्रन्थ है; और संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषदों का उसमें ही समावेश किया जाता है। यज्ञयागादि के कर्मकाण्ड और परमार्थ विचारों के ज्ञानकाण्ड इन दोनों का मूल इन तीनों में है । तथापि ज्ञानकाण्ड के मूलभूत आधारग्रन्थ उपनिषद् हैं। हिन्दूधर्म के सामाजिक व्यवहारोंका नियन्त्रण स्मृतिग्रन्थों के द्वारा किया जाता है । परन्तु उनके मूल आधार गृह्यसूत्र हैं। गृह्यसूत्रों के सिवा और भी अनेक सूत्रग्रन्थ हैं। परन्तु उनका धर्मव्यवहार से सम्बध नहीं, किन्तु विश्व के स्वरूप के बारेमें उद्घाटन करनेवाली विविध विचारपरम्परा से हैं। इन विविध विचारपरम्पराओंको ही षड्दर्शन कहते हैं । गौतम के न्यायसूत्र, वैशेषिक सूत्र, जैमिनी के पूर्वमीमांसा सूत्र, बादरायण के वेदान्त अथवा ब्रह्मसूत्र, पतंजली के योगसूत्र इत्यादि का षड्दर्शन में समावेश होता है; परन्तु षड्दर्शन के सिवा भी अन्य अनेक सूत्रग्रन्थ हैं। उनमें पाणिनीसूत्र, शाण्डिल्यसूत्र और नारदसूत्र इत्यादि की गणना होती है। प्राचीन मूर्तिपूजारहित और निर्मल पारमार्थिक स्वरूप का वैदिक धर्म में परिवर्तन होकर उपास्य देवताओं को मानने की प्रवृत्ति जारी होने के बाद पुराणों का जन्म हुआ। महाभारत और रामायण ये पुराण नहीं, किन्तु इतिहास हैं। पुराणों में ही गीता का समावेश होता है। गीतारहस्य ग्रन्थ में इस विषय का प्रसंगानुसार ऊहापोह किया है। परन्तु वाचकों को उसका एकत्र ज्ञान होवे इस उद्देश से इसका परिचय तालिका के स्वरूप में नीचे सादर किया जाता है।

(१) वेद अथवा श्रुतिग्रन्थ :—

संहिता (ऋचाओं का अथवा मन्त्रों का संग्रह) } कर्म अथवा यज्ञकाण्ड ।

ब्राह्मण (आरण्यक)

उपनिषदें । (ज्ञानकाण्ड) ।

(२) शास्त्र :—

(१) धर्मग्रन्थ :—गृह्यसूत्र, स्मृतिग्रन्थ (मनु, याज्ञवल्क्य और हारीत)।

(२) सूत्र :—(षड्दर्शन), जैमिनी (मीमांसा अथवा पूर्वमीमांसा)। ब्रह्म (वेदान्त, शारीरक अथवा उत्तर मीमांसा), न्याय (गौतम) योग (पातंजल), सांख्य-वैशेषिक (सांख्यकारिका)।

(३) अन्य सूत्र :—व्याकरण (पाणिनी), (नारद, शाण्डिल्य) भक्तिमार्ग के सूत्रग्रन्थ।

(४) इतिहास :—रामायण महाभारत (हरिवंश)।

(५) पुराण :—अष्टादश महापुराण, उपपुराण और गीता। इसी युग में अष्टादश महापुराण और अष्टादश उपपुराण ऐसे वर्गीकरण किय गये हैं। और पृथक् पृथक् गीताओं का जन्म हुआ। गीतारहस्य में निर्देश किये हुए वेदस्मृति पुराणादि ग्रन्थों की तालिकाएँ अगले पृष्ठोंपर दी गयी हैं।

वेद :—

अथर्व

ऋग्वेद

संहिता :—

तैत्तिरीय

मनु

वाजसनेयी

सूत

ब्राह्मण :—

आर्षेय

ऐतरेय

कौषिक

तैत्तिरीय

कौषीतकी

शतपथ

उपनिषद् :—

अमृतबिन्दु

ईश (ईशावास्य)

ऐतरेय

कठ

केन

कैवल्य

कौषीतकी (कौ. ब्राह्मण)

गर्भ

गोपालतापनी

छान्दोग्य

छुरिका

जाबाल संन्यास

तैत्तिरीय

ध्यानबिंदु

नारायणीय

नृसिंहोत्तर तापनीय

प्रश्न

बृहदारण्यक

महानारायण

माण्डूक्य

मुण्डक (मुण्ड)

मैत्री (मैत्रायणी)

योगतत्त्व

रामपूर्व (तापनी)

वज्रसूची

श्वेताश्वतर

सर्व

स्मृति :—

मनु

याज्ञवल्क्य

हारीत

सूत्र :—

आपस्तम्ब
अमितायुसुत्त
आश्वलायन
गृह्यशेष
गौतम–न्याय
तैत्तिरीय
नारद
नारदपंचरात्र
पाणिनी
पातंजलयोग
बौधायनधर्म
बौधायनगृह्य
ब्रह्म (वेदान्त, शारीरक)
मीमांसा
वेदान्त (ब्रह्म, शारीरक)
शारीरक (ब्रह्म)
शाण्डिल्य

कारिका :—

सांख्यकारिका

व्याकरण :—

पाणिनी

इतिहास :—

रामायण
महाभारत (हरिवंश)

पुराण :—

अग्नि
कूर्म
गणेश
गरुड
गौडीय पद्मोत्तर
देवी भागवत
नारद
नृसिंह
पद्म
ब्रह्माण्ड
भागवत
मत्स्य
मार्कण्डेय
लिङ्ग
वराह
विष्णु
स्कन्द
हरिवंश

गीताएँ :—

अवधूत
अष्टावक्र
ईश्वर
उत्तर
कपिल
गणेश
देवी
पराशर
पाण्डव
पिङ्गल
ब्रह्म
बोध्य
भिक्षु
मंकि
यम
राम
विचिख्यु
व्यास
वृत्र
शिव

ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः सुतं समादाय स सूतिकागृहात् ।
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा या योगमायाजनि नन्दजायया ।
तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु द्वाःस्थेषु पौरेष्वपि शायितेष्वथ
द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः ।
ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यवर्यन्त यथा तमो रवेः
ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः शेषोऽन्वगाद् वारि निवारयन् फणैः ।
मघोनि वर्षत्यसकृद् यमानुजा गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला
भयानकावर्तशताकुला नदी मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः ।
नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान् गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया
सुतं यशोदाशयने निधाय तत्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात् ।

दीर्घेण कालेन अनुष्ठातॄणां कामोद्भवात् हीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेन अधर्मेण अभिभूयमाने धर्मे प्रवर्धमाने च अधर्मे जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुः भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवात् अंशेन कृष्णः किल संबभूव। ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्यात् वैदिको धर्मः तदधीनत्वाद् वर्णाश्रमभेदानाम्। स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा संपन्नः त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजः अव्ययो भूतानां ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः अपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् इव लक्ष्यते।
स्वप्रयोजनाभावे अपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि धर्मद्वयं, अर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नाय उपदिदेश, गुणाधिकैः हि गृहीतः अनुष्ठीयमानः च धर्मः प्रचयं गमिष्यति इति।

भये प्रगट कृपाला दीनदयाला
ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै ।।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै
विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ।

जीवो जीवस्य जीवनम्
survival of the fittest

سولجند   اوقم

بے ہوم

مبارک مد مبارک پانہ کو نغوشت ئھ اور السور -

سرہی ون بورہ بن کھت دورہ بیھ شاہ داما در -

دزدن بیستو ھیریرہ ہم ستر جاں بیستو بیھ سستو دم

دلودن بیستو بیھ ونزن ہم ہیرداں وبہ دیاس یادر

مبادی لھیر مدماں سمسٹ لودن سمھار ب -

بیمکے ترتم ہھ دردے ذداں زن رسن واما در

سلاسم شنہ باوکز بیھ رزکھ ریع ما ر -

بیھ ملصہ درر گردلد بیھ مامکر بدرع لوساس -

شیع ارنک بے کوماہ معصوب دنب صاعم ھما -

کردن تمارعل ہماہا فرزلسک ہم رشیم وکصید

عطار ون شرہ لھما نیوری بوکرمیں کرم ہوکا